वीर म

दिल्ल।

★

विषय-सूची



श्याम शर्मा

विषपान



(जीवन जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका)

आत्म-समर्पण होत जहँ, जहँ विशुद्ध बलिदान ।
सब सिद्धन को साध जहँ, तहँ हैं श्रीभगवान ॥

वर्ष २	सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर ।	अंक १
खण्ड १	आश्विन संवत् १९८५	पूर्ण अंक १३

प्रभात

चल पड़ी चुपचाप, 'सन-सन-सन' हुआ, डालियों को यों चिताने-सी लगी ।
पुतलियां-कलियां, अरी खोलो जरा, लिपटना छोड़ो—मनाने-सी लगी ।
बेलियां सिमटीं, पखुड़ियां खुल पड़ीं, हिल स्वपनियों को जगाने-सी लगी ।
पत्तियों की चुटकियां बजने लगीं, डालियां कुछ डुलमुलाने-सी लगीं ।
जग उठा तरु-वृन्द-जग, सुन घोषणा, पंछियों में चहचहाहट मच गई ।
वायु का झोंका जहां आया, —अहा ! विश्व-भर में सनसनाहट मच गई ।

बिलासपुर-जेल
सन् १९२१ ई०

[redacted]रतीय आत्मा

रावी से कुमारी तक

(१)

बहुत समय से मेरा इरादा था कि एक बार मलाबार जाऊँ और वहाँ रह कर अछूतों का समस्या का नजदीक से अभ्यास करूँ। इसलिए गत फरवरी महीने मे जब अखिल–केरल–किसान परिषद् के प्रधान मन्त्री मेरे पास आये और उन्होने मुझसे अप्रेल मे होने वाले परिषद् के जलसे का सभापतित्व स्वीकार करने का अनुरोध किया तो मैंने तुरन्त अपनी स्वीकृति दे दी। लेकिन जब अधिवेशन का समय निकट आया तो गर्मी इतनी पड रही थी कि उसका असर मेरी तन्दुरुस्ती पर पड़ने लगा, मैं डगमगाने लगा। फिर भी दिया हुआ वचन तो पालना था ही। १० अप्रेल को बम्बई से मद्रास के लिए रवाना हुआ। रास्ते मे, मैं, ठण्ड की लपेट मे आ गया और मद्रास पहुँचते–पहुँचते अधिक सफ़र करने की शक्ति मुझमे न रही। इसके पहले मैं दो बार मद्रास जा चुका था। वहाँ नागरिकों ने सहृदयता पूर्वक मेरा स्वागत किया और बिना मेरी राय लिये उसी दिन शाम को मेरे भाषण करने की सूचना शहर मे कर दी। मेरा विचार उसी शाम को मद्रास से आगे बढ जाने का था किन्तु मद्रास-कौंसिल की डेपुटी-प्रेसीडेण्ट (उपाध्यक्षा) श्रीमती मुथू लक्ष्मी की अध्यक्षता मे वहाँ की कुछ शिक्षित बहनों का एक डेपूटेशन मेरे पास पहुँचा और दूसरे दिन बहनों की सभा मे भाषण देने के लिए बहुत आग्रह करने लगा। मैंने स्वीकृति दे दी और १३ अप्रैल को गोखले-भवन मे स्त्री-पुरुषों की एक सभा मे भारतीय स्त्रियों की समस्या पर व्याख्यान भी दिया।

विशाल मन्दिर

मद्रास से मैं त्रिचनापली के लिए रवाना हुआ। यह वही स्थान है जहाँ दक्षिण भारत का सबसे बड़ा श्रीरङ्गम-देवालय बना हुआ है। यह मन्दिर एक टापू पर है जो कावेरी नदी की धारा के दो भागों मे बँट जाने के कारण वहाँ बन गया है। यहाँ की शोभा बड़ी दिलकश (चित्ताकर्षक) है और मन्दिर तो दक्षिण भारत की शुद्ध हिन्दू-शिल्पकला का एक खूबसूरत नमूना है। मन्दिर की इमारत बड़ी भव्य और विशाल है, जिसमें कई पवित्र स्थान हैं और बड़े-बड़े भवन भी हैं जिनमे धर्म-चर्चा सुनने अथवा प्रतिष्ठित देवता के दर्शन करने के लिए झुण्ड के झुण्ड आदमी एकत्र होते हैं। उत्तर भारत के मन्दिरों की बनिस्बत मद्रास के मन्दिरों मे एक खास विशेषता यह देखी जाती है कि वे विशाल होते है और उनमे अनेक चौडे कमरे भी होते हैं। वृन्दावन के कुछ मन्दिरों को छोड कर उत्तर भारत के प्राय सब मन्दिर संकीर्ण छोटे मकान कहे जा सकते है, जिनमे विशाल-जन-समुदाय की भावना का लेश भी नही रहता। लेकिन मद्रास के मन्दिर खूब कुशादा होते है, जिनमे धार्मिक सम्मेलनों के लिए काफी जगह तो रहती ही है, साथ ही यात्रियों के विशाल समुदायों के अस्थायी आश्रय का भी उनमे अच्छा इंतजाम होता है।

उत्सव-रथ

ये मन्दिर दो तरह के होते है शैव और वैष्णव। इनका बाहरी ढाँचा करीब-करीब एकसा ही रहता है। इन मन्दिरों के बडे-बड़े बाहरी दरवाजों पर यात्री को पौराणिक कथाओं का चित्रमय प्रदर्शन दिखाई पडता है इन चित्रों मे महाभारत और रामायण की कथाओं का भी समावेश है। हर एक मन्दिर के अपने अलग-अलग रथ रहते है जिनपर साल मे अनेक बार, उत्सवों के अवसर पर मन्दिर के देवी देवताओं की सवारी निकला करती है। इस रथ-यात्रा के साथ गाने बजाने और नाचने का भी प्रबन्ध रहता है। प्रत्येक मन्दिर मे एक खास देवता और देवी रहती है, जिनको आपस मे मिलने का मौका किसी मन्दिर मे दिन मे दो बार, कही एक बार और कहीं इससे भी कम अर्थात् वर्ष मे केवल एक बार दिया जाता है। इस मुलाकात के वक्त पवित्र भजनों का गान, वाद्यों का बजाना और नर्तकियों का नाच होता रहता है। इसके बारे में तफसील से लिखने की सामग्री मेरे पास नही है। मैंने नोट्स नहीं लिए थे। इस

समय सिर्फ याददाश्त (स्मृति) के सहारे लिख रहा हूँ। फिर भी खास बातें बिलकुल ठीक हैं।

अपनी इस यात्रा मे मैंने दो मन्दिर तो बाहर मे देखे और दो भीतर से। श्रीरगम का देवालय एक वैष्णव-तीर्थ है और उसका सम्बन्ध रामानुज सम्प्रदाय से माना जाता है। मन्दिर मे शेषशायी भगवान् की एक विशालकाय मूर्ति है। एक पवित्र स्थान श्रीरामानुजाचार्य की स्मृति मे बना हुआ है, यहाँ उनकी एक मूर्ति भी है जिसका पूजन देव-भावना से ही किया जाता है। इस देवालय मे सन्तों के दस पवित्र स्थान और है जिनमे दो स्थान शूद्र-जन्मा सन्तों के हैं। चैतन्य और नानक की भाँति रामानुज ने भी 'एक ब्रह्म' का उपदेश दिया था,—जाति-पाँति के दल-दल से वे बिल्कुल दूर और विरक्त थे। उन्हे किसी भी जाति मे सम्मिलित होते सकोच न होता था। फिर भी हमारी बदकिस्मती ने ऐसा गुल खिलाया है कि इन्हीं स्थानो मे अछूतो के आने जाने की कतई मुमानियत (निषेध) है, वे लोग मन्दिर के भीतर बने हुए अछूत सन्तो की मूर्त्तियों की पूजा के अधिकार से भी वचित है।

दक्षिण के आयगर प्राय रामानुजीय होते है और अपनी पेशानी (ललाट) पर के एक खास तरह के तिलक की वजह से तुरन्त पहचान लिये जाते है। अगर मैं भूल नहीं रहा हूँ तो वहाँ के ऐयर प्राय शैव होते है और उनका तिलक आयगरो के तिलक मे भिन्न होता है। श्रीरगम-देवालय का भीतरी भाग उतना साफ और स्वच्छ नहीं है जितना मदुरा-देवालय का है। मन्दिर के भीतर के पवित्र स्थान इतने अधकार मे और ऐसी अ-स्वास्थ्यकर दशा मे है कि उनमें पक्षियो और चूहों के समाज ने अड्डा बना रखा है और मौके बेमौके वे पवित्र प्रतिमाओं को दूषित करने मे भी नही चूकते। श्रीरगम् के मन्दिर से मदुरा का मन्दिर कहीं बड़ा है। उसका सिर्फ एक हॉल १,००० स्तम्भो पर बना हुआ है। इसके सिवा भी मन्दिर मे अनेक विशाल भवन बने हुए है। लकड़ी, पत्थर और चूने पर किया हुआ काम बहुत बढिया है। रथों पर लकड़ी की खुदाई का काम अत्यन्त मनोहर है।

भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूने

त्रिवेन्द्रम और सुचीन्द्रम के देवालयों को मैंने बाहर से देखा। दोनों ही दक्षिण भारत की शिल्पकला के बहुत सुन्दर नमूने है। यहाँ मुझे मालूम हुआ कि विलायत यात्रा से लौटे हुए लोगो के लिए मन्दिर-प्रवेश निषिद्ध है। ऐसे लोग अछूतों के समान ही घृणा की दृष्टि से देखे जाते है। इनमें के एक मन्दिर मे मुझसे कपड़े उतार कर, केवल धोती पहने हुए, दर्शनार्थ जाने के लिए कहा गया, किन्तु इस प्रकार की आज्ञा से लाभ उठाना मैंने अस्वीकृत कर दिया क्योंकि मुझे डर था कि कहीं बेचारे पुजारी पर आफत न आ जाय।

एक दृष्टि से इन देवालयो पर मुझे नाज (अभिमान) है। वे भारतीय शिल्पकला के अत्युत्तम उदाहरण हैं। उन मे विचारों-कल्पनाओ—की विशालता और कार्य की आश्चर्य-जनक कुशलता का अद्भुत परिचय प्राप्त होता है। इनकी तुलना उत्तर-भारत के मुस्लिम तीर्थ-स्थानों की बनावट और सुन्दरता से भलीभाँति की जा सकती है। मुझे उन भाइयो से कुछ नही कहना है जिन्हे मूर्ति-पूजा में श्रद्धा है और जो धर्म की अपनी धारणा मे सच्चे हैं। व्यक्तिगत रूप से मैं किसी भी मत या सम्प्रदाय मे विश्वास नहीं रखता। मेरे लिए तो धर्म एक दूसरा ही मानी (अर्थ) रखता है। मेरी समझ मे धर्म आध्यात्मिकता लाने वाली एक शक्ति है जो मनुष्य को धार्मिक बनाती और न केवल विचारो को बल्कि उसकी वाणी और उसके कार्य को भी ऊंचा उठाती है। वह मनुष्य की धारणा को विस्तृत करती और उसे विनम्र, सौम्य, शुद्ध और पवित्र बनाती है। किसी तरह की धार्मिक विधियाँ मुझमे कौतूहल पैदा नहीं करती। बाहरी विधि-विधानो का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पडता, वे मुझे 'अपील' नही करते। मुमकिन है इन थोडी सी धार्मिक विधियो से लोगो का सामाजिक जीवन आकर्षक और जीवनप्रद हो जाता हो। दूसरी दृष्टि से भी इनका अपना खास इस्तेमाल (विशिष्ट उपयोग) है, क्षेत्र है। लेकिन बहुधा यही देखा गया है कि धार्मिक रूढियां और विधि-विधानों के कारण ससार के प्राय समस्त देशों मे, लोगो

की बुद्धि की तीव्रता मन्द हुई, उनकी आत्मा का घुट-घुट कर पतन हुआ है, लोग एक पक्षीय खुद-पसन्द, घमण्डी, उद्धत और आत्म-हीन बने है।

आचारिकता का सांघातिक बोझ

धर्मों के इतिहास इस बात के साक्षी है। श्रीरामानुचार्य के उपदेशों को ही ले लीजिये। आज उन्हीं के द्वारा जाति-भेद के बन्धनों को सुदृढ़ और स्थायी बनाया जा रहा है और जो पवित्र स्थान अछूत कहे जाने वाले साधु सन्तों की स्मृति के परिचायक है उन्हीं को वर्तमान अछूतों की छाया से बचाया जाता है। रामानुज, नानक और चैतन्य ने धार्मिक रूढ़ियों और विधि-विधानों के विरुद्ध लड़ाई ठानी थी। लेकिन आज हम क्या देख रहे है? उनके अनुयायिओं ने कठोर और निर्गल विधि विधानों की चहार दीवारी के अन्दर अपने आप को बन्द कर रक्खा है। इन महात्माओं की शिक्षायें तो मानवी सहृदयता और दया के निष्कलङ्क एव निर्मल दूध से भरी है, वे मनुष्यो की बन्धुता का उपदेश करती और सदाचार-पूर्ण पवित्र जीवन बिताने का आग्रह करती है। यह बिलकुल ठीक है कि साधारण मानव-मस्तिष्क को कोरे धार्मिक तत्त्व ज्ञान से सन्तोष नही होता। उसे थोडे विधि-विधानों और कुछ ऐसी बातो की आवश्यकता रहती है जो उसके जीवन को सुखी और केन्द्रित कर सके। लेकिन सारी दुनिया का यह अनुभव है कि धर्म-शिक्षको या उनके अनुयायिओं के किसी एक मार्ग पर अग्रसर होने के पश्चात उसका अन्त एक ऐसी सकरी गली मे होता है कि न तो उधर से लौटा ही जा सकता है और न कोई दूसरा उपमार्ग ही खोजा जा सकता है। वहाँ जाकर तो प्रकाश और वायु के सारे मार्ग अवरुद्ध हो जाते है और भीतर की सब वस्तुयें जड बन जाती है।

अपने मद्रासी हिन्दू मित्रो की प्रतिष्ठा की पूरी कदर करते हुए भी मैं मद्रास से इन्हीं विचारों को लेकर लौटा कि मद्रास के हिन्दुओं मे प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों, विधि-विधानो, रीतियों और धार्मिक तत्त्वज्ञान के पीछे लोगों का जो मनोवृत्ति छिपी हुई है वह न तो वहाँ के सामाजिक जीवन मे और न राजनैतिक जीवन ही मे लोगों को प्रजातंत्र की ओर ले जा सकती है। तात्पर्य वहाँ का वायुमण्डल प्रजातंत्र की भावना के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। इस पर सर सी० पी० रामस्वामी ऐय्यर जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ वकील बहुत कुछ कह सकते है, लेकिन मेरा तो यही विश्वास है। मैं अपनी इस बात को परिस्थिति के वास्तविक प्रमाणों का हवाला देकर, जो मैने मद्रास और मलाबार के थोड़े दिनों के प्रवास मे अपनी आँखो देखे है, और अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा अगले लेख मे करूँगा।

लाला लाजपतराय

ब्रह्म-विवेक

१

एक मे अनेकता, अनेकता मे एकता है,
एकता अनेकता का मेल चकाचूर है।
चेतना मे जडता को, जडता मे चेतना को,
भिन्न करे कौनसा प्रमाता—महाशूर है॥
ठोस को, न छोड़े पोल पोल को न त्यागे ठोस,
ठोस नाचती है, टिकी पोल मे न दूर है।
भाव रूप—सत्ता मे असत्ता है, अभाव रूप,
'शंकर' यों अत्ता मे महत्ता भरपूर है॥

२

सत्य-रूप—सत्ता की महत्ता का न अंत कहीं,
नेति नेति बार बार वेद ने बखानी है।
चेतन स्वयम्भू सारे लोको मे समाय रहा,
जीव प्यारे पुत्र है, प्रकृति महारानी है॥
जीवन के चारों फल बाँटे भक्त योगियो को,
पूरण प्रसिद्ध ऐसा दूसरा न दानी है।
'शंकर' जो राजा महाराजों का महेश उसी,
विश्वनाथ ब्रह्म की बड़ाई मनमानी है॥

श्री नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर'

हमारा आभूषण

[केवल 'त्यागभूमि' के लिए]

सम्राट जार्ज के मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य सर-विलियम जान्सन हिक्स ने किसी दिन कहा था—"ग्रेट ब्रिटेन में बनी हुई चीजों के लिए एक बाजार कायम रखने की दृष्टि से ही हमने भारत को अपने अधीन किया है। तलवार के बल हमने उसे पराजित किया और अब तलवार ही के बल पर हम उसकी रक्षा भी करेंगे। मैं इतना धूर्त नहीं हूँ जो यह कहता फिरूँ कि हमने हिन्दुस्थान को भारतीयों के भले के लिए ही अपने अधीन कर रक्खा है। भारत, अंग्रेजी माल का आम तौर पर और लंकाशायर के कपड़ों का खासकर एक उत्तम बाजार है और इसीलिए हम उस पर काबू किये हुए हैं।"

लंकाशायर ने भारत में जो विशाल व्यापार-जाल फैलाया, सुदृढ़ किया और तलवार की नोक पर जिसे वह अनिश्चित काल तक सुरक्षित रखना चाहता है उसका राष्ट्रीय परिणाम क्या हुआ है? ७ लाख गावों के १० लाख वर्गमील से अधिक क्षेत्रफल में रह कर लोगों का कष्ट-पूर्ण, आधे पेट जीवन बिताना ही इस माया जाल का परिणाम है। जो लोग देश में वर्षों से इस दीर्घकालिक आपत्ति के शिकार हो रहे हैं उनकी संख्या २३ करोड़ से कुछ ऊपर ही है।

× + ×

उपर्युक्त बात आश्चर्यजनक प्रतीत होगी। लोग सहज ही प्रश्न करेंगे कि विलायत से आनेवाले सस्ते कपड़े से देश के कष्टों में वृद्धि कैसे हो सकती है? सन् १८०० ईस्वी तक भारत की ९० प्रतिशत जनता खेती के साथ-साथ देश के लिए कपड़ा की जरूरत पूरी करने के उद्देश्य से कताई का काम भी किया करती थी। खेती तो वर्ष के कुछ ही महीनों में समाप्त हो जाने वाला एक देश-व्यापी धन्धा है, जिसमें देश के किसानों का वर्ष में बहुत कम समय बीतता है। अपने बचे हुए समय का उपयोग तो वे देश में पैदा होनेवाले कपास से सूत तैयार करने में करते थे। और अपने काते हुए सूत को पीढ़ियों से बुनाई का काम करने वाले होशियार जुलाहों से बुनवा लेते थे। जब विलायत के यन्त्रों से बने हुए कपड़े ने देश के हाथ द्वारा कते-बुने कपड़े का स्थान ग्रहण कर लिया, तभी से उसके किसानों का यह सहायक धंधा नष्ट हो गया। अपनी परिस्थिति के अनुकूल दूसरा कोई सहायक धंधा न मिलने का जो घातक परिणाम हुआ वह देश के किसानों की विवश बेकारी, दीर्घ-दारिद्र्य और देश-व्यापी भूखमरी के रूप में अब भी विद्यमान है।

× × ×

इस देश का एक-एक प्रकाशक (Publicist)—जिसमें ऊँचे सरकारी अधिकारी भी सम्मिलित हैं—इस बात को स्वीकार कर चुका है कि भारत के देहात में बसने वाली उसकी कुल आबादी की ९० प्रतिशत जनता घोर दरिद्रता में अपना जीवन बिताती है। एक भारतीय की औसत आमदनी प्रतिदिन डेढ़ आने से लेकर ढाई आने तक है। अतः कोई भी विचारशील व्यक्ति इस बात को कबूल करने में देर न करेगा कि एक भारतीय की अधिक से अधिक अनुमानित दैनिक औसत आय भी गरीब से गरीब हालत के लोगों के जीवन निर्वाह के लिए अपर्याप्त है। यह तो औसत की बात है, परन्तु देश के एक बड़े भाग में निवास करनेवाली जनता तो अपना जीवन असहाय की भाँति चिरकालिक दारिद्र्य में व्यतीत कर रही है। गरीबी के साथ साथ देश में चारों ओर बेकारी का भी दौर दौरा है। यह बेकारी विदेशों की बेकारी नहीं है, जहाँ जनता का कुछ भाग थोड़े समय के लिए कभी कभी बेकार हो जाता है। यहाँ तो जनता के समूह के समूह वर्ष के अधिकांश महीनों बेकार रहते हैं—जहाँ सिंचाई होती है वहाँ बेकारी के महीनों की संख्या वर्ष में

अगर तीन महीने है तो उन भागों मे, जहाँ सिंचाई के बिना खेती होती है किसान छ महीना बेकार बैठे रहते हैं। अगर हमें अपने किसानों की वर्तमान दशा सुधारनी है तो शीघ्र ही उनका वह सहायक धन्धा उन्हे लौटा देना चाहिए, जिसे वर्षों से खो चुके हैं। हमे चाहिए कि हम देश के अन्न-वस्त्र को विदेशी लूट, और जुल्म से सुरक्षित रखें और अपने किसान भाइयों को जीवन के लिए आवश्यक इन दोनों पदार्थों की खेती करने का अधिकार सौंपें। खादी-आन्दोलन इस ग्रामीण-अर्थशास्त्र की पुन प्रतिष्ठा का आन्दोलन है और इसके बिना भारत का आर्थिक सघटन सदैव प्राणहीन रहेगा।

× × ×

यह कहा जा सकता है कि आजकल के उद्योग-युग मे भूत-काल की प्रारंभिक दशा मे लौट जाना असभव है, और यदि संभव भी हो तो अवांछनीय है। यह सच है कि मानवी परिश्रम के बदले मे काम करनेवाली यन्त्रशक्ति काम को यत्र-तत्र बांट देती और देश की सामाजिक अवस्था को बदल डालती है। उन देशों मे जहाँ परिस्थिति पुनर्योग (re-adjustment) के अनुकूल होती है फल स्वरूप किसी तरह की स्थायी आपत्ति पैर नही जमा पाती और अगर यंत्रो द्वारा उत्पन्न चीजों के लिए दुनिया के बाजार मे काफी मॉग बनी रहती है तो परिणाम-स्वरूप देश की सारी जनता को न केवल काम मिलने लगता है बल्कि उसे बढी हुई मजदूरी भी मिलने लगती है। परन्तु भारतवर्ष के लिए यह बात ठीक नही है। इस देश की जैसी परिस्थिति है उसके कारण यहाँ के किसान दूसरे धंधो को किसी तरह अपना नही सकते। जिस प्रकार सारा का सारा इग्लैण्ड उद्योग-मय हो गया उसी तरह भारतवर्ष का भी औद्योगिक हो जाना सभव नही है। परिश्रम को घटाने वाले उपायो का प्रयोग केवल उन्हीं देशो के लिए उपयोगी हो सकता है जहाँ मजदूरो की मिहनत सचमुच ही बचाली जाती है। हमे तो आज अपने मजदूर भाइयो की भुखमरी और बेकारी मिटानी है, उनके काम को घटाना नहीं। अगर हमारी सरकार साम्यवादी (Socialist) सरकार होती तो यह समझ मे आ सकता था कि मजदूरी के घटाने से होने वाला सारा लाभ जनता मे बँट सकेगा, लेकिन आज की दशा में तो इन मजदूरी घटाने वाले प्रयोगो से पूँजीपतियों के पैसे बचते और गरीबो की बेकारी बढती है।

अगर हम भारतीय उद्योग-धधों के इतिहास की ओर थोडा दृष्टिपात करें और विचारें तो हमे पता चलेगा कि जहाँ १०० वर्ष के प्रयत्नो के बाद भी देश के औद्योगिक कारखानो मे काम करनेवाले श्रमिको की सख्या १५ लाख से कुछ कम ही है वहाँ ३१ करोड़ जनता अकेले कृषि-कार्य से अपना जीवन बिताती है। और अगर घरू कताई के काम का पुनरुद्धार न किया गया तो उसका एक ही परिणाम होगा और हुआ है—वह है देशकी अधिकाश जनता की दीर्घकालिक बेकारी।

× + ×

चर्खा या कताई—आन्दोलन के आलोचकों मे से अबतक किसी एक ने भी ऐसा दूसरा घरेलू धधा नहीं बताया है जो खेती के साथ देश के किसानों का एक सहायक धधा बन सके। आज भी देश के ५० लाख कृषक-कुटुम्ब जीवन के लिए अनिवार्यत आवश्यक एक ऐसे काम मे लगाये जा सकते है जो अन्न के बाद ही हमारे जीवन के लिए सबसे अधिक आवश्यक है। वह काम है, कपडा या खादी का। कुछ लोग—खास कर विदेशी धर्म-प्रचारक—इस बात का दावा करते हैं कि वे हमारे देहात मे फैली हुई बेकारी को दूर करने मे बढ़ईगिरी, सिलाई, कसीदा, कारचोबी, मिल के सूत की बुनाई, मधुमक्खी और मुर्गामुर्गी के पालन आदि धधो के सगठन द्वारा सहायता पहुँचा रहे हैं। जहाँ ये धधे बिलकुल नये होते है वहाँ इनका क्षेत्र इतना सकुचित रहता है कि देश की ग्रामीण समस्याओं को हल करने मे उनसे ज्यादा सहायता नही मिल सकती। यह ठीक है कि इन धधो मे से कुछ से अधिक लाभ उठाया जाता है, फिर भी वे बहुत थोडे लोगो की मॉग पूरी करते है और उनके द्वारा देश के लाखो करोडो गरीब बेकार अपनी जीविका नहीं चला सकते। ऊपर-ऊपर से सफल दीखनेवाले कुछ धंधे—जैसे 'कैबिनेट' बनाना और बुनना,—केवल थोड़े से व्यक्तियो

या विशेष व्यक्ति-समूहों को सहायता पहुँचा सकते हैं, लेकिन वह भी दूसरे व्यक्तियों और व्यक्ति-समूहों के मुँह का कौर छीन कर। इस तरह के जोखिम-भरे प्रयोगों का राष्ट्रीय समस्या के हल करने में कोई महत्व नही रहता। राष्ट्र की समस्या तो तभी हल हो सकती है जब हम अपने किसानों के लिए कुछ ऐसा काम ढूँढ निकाले, जिससे वे देश मे ही उन चीजो को पैदा कर सकें जिनकी राष्ट्र भर में बहुत अधिक मॉग बनी रहती है।

इस सम्बन्ध मे, यहाँ थोडी देर ठहर कर बुनाई और कताई के बीच की दीर्घकालिक उलझन पर प्रकाश डालना अनुचित न होगा। सूत से कपडा तैयार करने का काम सुशिक्षित कारीगरो—जुलाहों का काम है जो भारत में अनेक परम्परागत जुलाहा कुटुम्बो के द्वारा वर्षो से किया जा रहा है। बुनाई का काम न तो पहले कभी किसानो का देश व्यापी सहायक धधा हो सका है और न भविष्य मे ही कभी हो सकेगा। हरएक कर्घे के लिए कम से कम एक होशियार कुटुम्ब की मेहनत की जरूरत होती है और भारत मे इस तरह के पीढी-जात जुलाहा-कुटुम्बो की कमी नही है। प्रत्येक कर्घे के लिए कम से कम बारह चर्खा कातनेवाले चाहिएँ। अत कताई ही एक ऐसा धधा है जो किसी समय देश के किसानो का सर्वव्यापी सहायक धधा था और आगे भी हो सकता है।

कृषि-कमीशन ने तो सभवत इस समस्या को असाध्य जानकर बिलकुल भुला दिया है। उसने कताई के सभावित परिणामो को खोजने से कतई इन्कार कर दिया है। देश के खादी-कार्यकर्त्ता कृषि-सुधार और सहकार-वृद्धि के विषयो से प्रेम न रखते हों यह बात नही है। उनका यह दावा ठीक ही है कि उनके प्रचार-कार्य के कारण ही लोगों का ध्यान नगरो से उठ कर देहाती भाइयों की दशा की ओर आकर्षित हुआ है। जिस कार्यक्रम से देश के किसानों का सचमुच हित हो सकता है उस कार्यक्रम का वे सर्व प्रथम स्वागत करने को तैयार रहेंगे। लेकिन अक्सर यह देखा गया है कि कृषि-सुधार, सहकारिता और अन्य छोटे-छोटे उद्योग धधो की बात, खादी के विरोध में अपना बचाव करने के लिए ही दुहराई जाती है, ठोस काम कर गुजरने की दृष्टि से नही। यह तो स्पष्ट ही है कि हाथ की कताई एक ऐसा काम है, जो न तो कृषि-सुधार में ही बाधक होता है और न किसी दूसरे अधिक लाभप्रद धंधे के मार्ग में रुकावट ही डालता है। हाथ-कताई का तो केवल यही काम है कि वह किसानों को उनकी बेकारी के घण्टों में और फ़ुरसत के वक्त सहायता पहुँचावे, क्योंकि इससे अधिक फ़ायदेमन्द कोई धन्धा उस समय किसानो को नहीं मिल सकता।

यह तो साधारण परिस्थिति की बात हुई। लेकिन दुर्भिक्ष जैसे असाधारण समय में भारतीय परिस्थिति का ध्यान रखते हुए, कताई ही एक ऐसा श्रेष्ठ और अद्वितीय साधन है जो लोगों को उनके कष्ट में सहायता दे सकता है। खादी-सम्बन्धी प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण और व्यावहारिक है। और अखिल-भारत-चर्खा-संघ का यही एकमात्र कर्तव्य है कि वह अपने इस सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत कर दिखावे।

सन् १९२१ की राष्ट्रीय जाग्रति के समय खादी आंदोलन का जन्म उसके एक महत्वपूर्ण अग के रूप में हुआ था। इससे जहाँ एक ओर राष्ट्रीय विचारवाले भारतीयों मे खादी-प्रेम बढ़ने लगा था, वहाँ विदेशियों और उन भारतीयों के हृदय में जो सरकार के सहारे जीते हैं, खादी के प्रति एक तरह का द्वेष बढ़ता जा रहा था। अब चूकि खादी-आन्दोलन स्वावलम्बी हो गया है, और अखिल-भारत-चर्खा-सघ के रूप में उसका अपना स्वतंत्र संघटन भी बन चुका है—जो दलबन्दी से एक दम परे है—यह आशा की जाती है कि जो लोग भारत की जनता की आर्थिक उन्नति के पक्षपाती और उसमे लगन से भाग लेने वाले हैं, वे खादी के साथ न्याय करने, दूसरे शब्दों में उसे अपनाने, लगेंगे। गत छ वर्षों में चर्खा सघ देश के लगभग ४००० गावों में पहुँच कर ६० हजार कातनेवालों को काम दे सका है जिसके कारण २४ लाख रुपयो के लागत की खादी देश में प्रतिवर्ष तैयार होने लगी है। कताई-काम की विशाल संभावनाओं का यह एक अच्छा-सा प्रमाण है। खादी-काम को जिन सुविधाओं की ज़रूरत होती है वे हर जगह प्राप्त हैं। क्योंकि हर एक प्रान्त में कपास की खेती होती है; हर एक झोंपड़े मे एकाध होनहार सूत्रकार निकल आता है; और कई

प्रदेशों में तो चर्खे की परम्परा और उसका व्यवहार अभी तक जीवित है।

इसमें शक नहीं कि काम कठिन है और उसे सफल बनाने के लिए कठिन परिश्रम तथा धैर्य की आवश्यकता है। लेकिन भारत में प्रत्येक नये धंधे को आरम्भ करते समय लगभग यही समस्या रहती है। देश में तब तक कोई भी धंधा फल फूल नहीं सकता जब तक उसके पोषण तथा उसकी सुरक्षा का ठीक-ठीक प्रबन्ध नहीं हो जाता। जमशेदपुर के लोहे के कारखाने-जैसा बड़े पैमाना वाला धंधा भी मुक्त-व्यापार-नीति के कारण यहाँ सफलतापूर्वक नहीं चल सकता। फिर खादी की तो बिसात ही क्या? उसे तो बाहरी स्पर्धा से बचाना ही पड़ेगा और जब तक देश के कृषकों को इसके अतिरिक्त कोई दूसरा सहायक धंधा नहीं मिलता है तब तक भारत के प्रत्येक हितेच्छु का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह राजनीति या अन्य बातों को भूल कर खादी को आश्रय दे, उसकी सहायता करे।

कुछ लोग कहते हैं कि खादी मोटी, क़ीमती और कम टिकाऊ होती है। ऐसी दशा में मशीन से बने हुए सुन्दर, चिकने, मुलायम और सस्ते कपड़े को छोड़ कर कोई खादी क्यों पसन्द करेगा? एक नष्टप्राय देशी धंधे को फिर से जिलाने के मार्ग में मूल कठिनाइयाँ तो होती ही हैं, इनका मुकाबला करने के लिए देश के सम्पन्न लोगों की देश-भक्ति और उनका राष्ट्रीय त्याग ही एक-मात्र साधन है। देश के ऐसे कुटुम्बों को काम देने के लिए जो आधेपेट रह कर जी रहे हैं, हमें तब तक मोटा कपड़ा पहनना चाहिए, जबतक वे उससे अधिक अच्छा कपड़ा तैयार न कर सकें। अगर इस तरह के कपड़े को प्रोत्साहन देने का उद्देश्य भली-भाँति जान लिया जाय तो जो मोटा कपड़ा कहा जाता है वही सभ्यों के वस्त्र की-- उनके आभूषण की गिनती में आने लगेगा।

जहाँ क़ीमत का सवाल खड़ा होता है वहाँ तो यही कहना उचित है कि कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ हाथ की बनी चीजें यन्त्रों की बनी चीजों से सस्ती होती हों। लेकिन राष्ट्रीय हित की तुलना में इस अधिक मूल्य का महत्व बहुत कम हो जाता है। हमारा यह शिशु-उद्योग बड़े भारी राष्ट्रीय महत्व की चीज़ है, लेकिन हमारे पास वह सरकार नहीं है जो उसकी रक्षा करने के लिए उत्सुक हो। ऐसी हालत में जो रक्षा सरकार से नहीं मिल सकती, उसकी पूर्ति जनता की देशभक्ति द्वारा होनी चाहिए।

मिल के कपड़े के बदले खादी खरीदना और उसके दाम चुकाना, राष्ट्र की सेवा करना और उसके पुनर्संघटन में सहायता करना है। इस तरह की सेवा का आधार त्याग है। कोई भी राष्ट्र अपनी समस्याओं को तबतक हल नहीं कर सकता और न अपनी हालत ही सुधार सकता है जबतक उसकी सम्पन्न और सामर्थ्यशील जनता त्याग के लिए तैयार न हो जाय। उन्नति अपने आप नहीं हो सकती और न बिना मूल्य चुकाये वह मिल ही सकती है।

खादी के टिकाऊपन के सम्बन्ध में लोगों की शंका का कारण वह खादी है जो नौसिखुये हाथों से बनी रहती है। हाथ के बने कपड़े के सम्बन्ध में श्री० रिवेट कारनाक ने सन् १८७० में लिखा था—

'यन्त्रों द्वारा बनाया हुआ कपड़ा देहाती—देशी—कपड़े को बाज़ार से हटा देने में अबतक कामयाब नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि देशी कपड़ा जितनी अच्छी तरह से देश के धोबियों की फटकार सहन और गरमी, बरसात तथा ठण्ड से शरीर की रक्षा करता है उतना विदेशी कपड़ा नहीं कर सकता।''

हमारे सूत्रधार अब अच्छे से अच्छा सूत कातने लगे हैं और जो लोग आजकल खादी पहनते हैं वे खादी के टिकाऊपन की प्रशंसा ही करते हैं।

जिन लोगों की रुचि महीन और रंग-बिरंगे कपड़ों को पहनने की ओर दौड़ती है, और जो देश के लाखों करोड़ों भाइयों को बेकार बना कर विदेशी कपड़े को अपनाते और सन्तुष्ट होते हैं, उनकी रुचि को विवश होकर बिगड़ी हुई, अविचार-पूर्ण और गुलामी की रुचि या प्रवृत्ति कहना पड़ता है। सुरुचि का यह मतलब तो कदापि नहीं हो सकता कि उसके कारण हमारे राष्ट्र को, जिसके हम एक अंग हैं क्षति उठानी पड़े। सुरुचि और राष्ट्र-हित एक देश में एक ही भावना के दो अंग होते हैं जो पूर्णतया सभ्य और उन्नत है।

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

पूर्व और पश्चिम

['त्यागभूमि' के लिए]

भारत महासागर के मानसूनी समुद्रो की तूफानी यात्रा के बाद लाल सागर के शांत जल मे प्रवेश करना स्वर्ग के समान सुखद मालूम हुआ। मंद समीरण के झोके चँवर डुला रहे थे अतएव जल मे असह्य गरमी न थी। मार्सलीज तक यही आनन्द-दायक मौसिम हम लोगो का साथ देता रहा और इस प्रकार यात्रा के पूर्वार्द्ध की असुविधाओ की पूर्ति उत्तरार्द्ध द्वारा हो गई।

फ्रान्स की भूमि पर पैर रखने के बाद मैंने देखा कि महायुद्ध के बाद से पश्चिम यूरोप मे फैली हुई भारत सम्बन्धी धारणायें अब बहुत बदल गई हैं। उस समय पश्चिम किसी ऐसे नूतन संदेश के लिए पूर्व की ओर बड़े आग्रह-पूर्वक देख रहा था जो यूरोप मे उत्पन्न कष्ट के कठिन समय मे उसको मार्ग दिखा सके।

पाश्चात्य-ससार पहले से अब कही अधिक कठोर और भौतिक बन गया है। पूर्वकालिक भावनाओ और भाव-प्रवणताओ का उसने एकदम त्याग कर दिया है। आठ नौ वर्ष पहले यह बात न थी। अब तो वह ठोस व्यापार मे लग गया है। फ्रांस मे मैंने कमखर्ची की भावना चारो ओर फैली हुई पाई। इसके साथ ही लोग अपने रहन-सहन को ऊँची मर्यादा पर स्थापित करने और अपने जीवन को अधिक से अधिक सुखी और भोगमय बनाने को तुले बैठे है। अपनी इस स्वार्थपूर्ण धुन मे दूसरी जातियो, राष्ट्रों या देशो के हिताहित का प्रश्न उनके सामने क्यो आने लगा? इसमे सन्देह नही कि यूरोप की जनता आज की भाति पहले कभी इस तरह द्रव्योपार्जन के पीछे हाथ धोकर नही पड़ी थी।

जब कवि रवीन्द्रनाथ १९२०-२१ मे यूरोप में थे, उस समय वहाँ की जनता ने उनका जो शानदार स्वागत किया था, उसकी तुलना किसी महान् सम्राट् या देव-दूत के स्वागत मे की जा सकती थी। उनके शब्द बड़े ध्यान और उत्सुकता से सुने जाते थे। चारो ओर से उनसे एक ही बात पूछी जाती थी और वह थी पूर्वीय सन्देश की माँग, जो उन्हे कष्ट और निराशा के समय धीरज बँधा सके उत्साहित कर सके।

अब लोगो में वह प्रेरणा, वह आकर्षण नहीं रह गया है। सारा यूरोप एक बार फिर अपने में ही मस्त बन गया है और उत्सुकतापूर्वक उद्योगी जीवन बिता रहा है। यूरोपीय राजनीतिज्ञो का यह निश्चित मत है कि वर्तमान कठिनाइयों से मुक्त होने के लिए भौतिक साधनो और भौतिक स्रोतो के अतिरिक्त और कोई मार्ग नही है। उधर का प्रत्येक देश अधिक से अधिक सम्पत्तिशाली बनने की भरसक कोशिश कर रहा है। इसका मतलब यह है कि लोगों को कारखानो और कार्यालयो मे दिन भर कठोर परिश्रम करना पड़ता है, और जब काम का समय बीत जाता है, सुखोपभोग की बारी आती है, आधी-आधी रात तक लोग आमोद-प्रमोद और विहार-विलास मे लगे रहते हैं। इस महादेश के पास से जाते हुए और यहाँ लंडन मे-जहाँ आज कल मै रह रहा हूँ—मैने जैसी दिनचर्या इन लोगो की देखी है, वह उद्योग और उपभोग के लिए निरन्तर परिश्रम के सिवा और कुछ नहीं है। सूर्योदय से लगाकर

सूर्यास्त तक का सारा दिन और रात के कई घण्टे लोग या तो आमोद-प्रमोद मे व्यतीत करते हैं या पैसा कमाने में। नीद, आराम, या आत्म-चिंतन के लिए तो उन्हे बिलकुल नहीं-के बाराबर समय मिलता है।

पूर्वीय संसार, जिस ढङ्ग से, आज कल अपना जीवन बिता रहा है, पाश्चात्यो का जीवन उससे कही भिन्न प्रकार का है। आधुनिक जीवन की जिस प्रगतिका अनुभव पेरिस या लण्डन मे किया जारहा है वैसा जीवन बिताना पूर्वी देशो के लिए एकदम असभव है। वहां की जलवायु ऐसे जीवन के अनुकूल नही है, उसके कारण वह एकदम असह्य हो उठेगा। किन्तु इन बातो को छोड़ दे तो भी कहा जासकता है कि ऐसे आध्यात्मिक उद्देश्यो और प्रयत्नो से शून्य जीवन के विरोध मे वहाँ की आत्माये क्रान्ति कर बैठेगी।

भारतीय जीवन के २५ वर्षों के दीर्घ अनुभव के बाद, खुद मेरे लिए आजका पश्चिमी रहन सहन, उसकी जल्दबाजी, प्रगति और मिथ्या अभिमान असह्य से उठा है। क्योंकि, निःसन्देह परमात्मा यह नहीं चाहता कि मनुष्य केवल अपनी जिन्दगी के लिए रात दिन दौड़ धूप करता रहे, पैसा कमाने और खर्च करने के सिवा उसके जीवन का और कोई ध्येय ही न रहे। ईश्वर की यह इच्छा तो कभी नही रही कि मनुष्य सृष्टि की अनन्तता और जीवन की अन्य गंभीर बातो पर पल भर भी विचार न कर अपने दिन यो ही बिताता रहे। पूर्वी जगत, पाश्चात्य जगत् से उस की उतावली गति से बढ़ने वाली भौतिक सम्पत्ति मे, अपेक्षाकृत निर्धन भले ही हो किन्तु उसने अपने अन्तर्जीवन का बहुमूल्य मोती नहीं खोया है।

इसमें सदेह नहीं कि खुद पश्चिम-जगत् के सारे सदाशय व्यक्ति एकमत होकर आधुनिक जीवन की धींगाधींगी और हायतोबा पर पश्चात्ताप प्रकट कर रहे हैं, दुःखी हैं। ये लोग आध्यात्मिक उद्देश्य से शून्य वर्तमान पाश्चात्य जीवन की निरर्थकता पुकार-पुकार कर सिद्ध कर रहे हैं, लेकिन अपनी इस विरोधी पुकार में ये स्वय ही इतने तन्मय हो जाते हैं कि उनके शाश्वत पश्चात्ताप का कोई तात्कालिक परिणाम नही होता।

परिणाम क्या होगा? कुछ कहते नही बनता। वर्तमान धांधली और विषय-लालसा का अंत क्या होगा, कहना कठिन है। लेकिन कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि एक बार अपने वर्तमान मार्ग की बुराइयो का कटुतम फल पा चुकने के बाद पाश्चात्य-जगत् पुनः पूर्व की ओर अपनी दृष्टि लगावेगा, इस बार की दृष्टि मे पहले की अपेक्षा अधिक गंभीरता और स्थिरता होगी और जब यह समय आवेगा तब पूर्वी जगत् को भी अपना सन्देश स्पष्ट और सच्ची भाषा में उसे सुनाना पड़ेगा और हमे आशा है कि वह पाश्चात्य जगत् की कठिनाइयो तथा परीक्षाओं में उसके साथ अधिक सहानुभूति प्रदर्शित कर सकेगा।

सी० एफ० एण्ड्र्यूज, (लण्डन)

"उन लोगों की प्रार्थना, जिनकी जिह्वा तो अमृतमय है किन्तु हृदय मे विष भरा हुआ है, कभी नहीं सुनी जाती अतएव जो ईश्वर से प्रार्थना करते हों या करना चाहते हों, पहले अपना हृदय स्वच्छ करें।" —महात्मा गांधी

त्याग-भूमि

(१)

बन गया मूर्ति-मान-आतंक
बहु-प्रबल भूत पाप-परि-पाक ।
सत्यता-सूत्र हो गया छिन्न ।
धूल मे मिली धर्म की धाक ॥

(२)

किन्तु किसके खुल पाये नेत्र ?
किया किस जनने उसका त्राण ।
बिंधा किस धर्म-वीर का मर्म ?
दिया किस धर्म-प्राण ने प्राण ॥

(३)

पूजता जिसको निर्जर-वृन्द ।
अब कलुष-जर्जर है वह जाति ।
नरक-दुख का वह बना निकेत ।
स्वर्ग जैसी जिसमे थी शान्ति ॥

(४)

देख यह कौन हुआ कटि-बद्ध ।
किया किस जन ने कर्म-महान ।
हो सका सत्य-भाव से कौन ।
त्याग-बलि-बेदी पर बलि-दान ॥

(५)

जहां थे साम्य-वाद के सिद्ध ।
जहां का था स्वतंत्रता-मंत्र ।
बहन कर पराधीनता वृत्ति ।
वहा का जन-जन है परतत्र ॥

(६)

पर इसे कौन सका अवलोक ।
आज भी निद्रा हुई न भग ।
न संकट-पोत कर सकी भग्न ।
त्याग-जल-निधि-उत्ताल-तरंग ॥

(७)

लोक-प्रियता है बिदलित-प्राय ।
है प्रबल-भूत विविध-परिताप ।
आर्य-गौरव-रवि है गत-तेज ।
काल-कवलित है कीर्ति-कलाप ॥

(८)

खड़े हो सके न तो भी कान ।
गर्म हो सका न तो भी रक्त ।
रगो मे सकी न बिजली दौड़ ।
हुआ उर शतधा नहीं बिभक्त ॥

(९)

हुआ खंडित मणि-मंडित क्रीट ।
हो गया छिन्न रत्न-चय-हार ।
छिन गया पारस बहु-श्रम-प्राप्त ।
लुटा कनकाचल-सम-संभार ॥

(१०)

कर सका कौन आत्म-उत्सर्ग ।
किया किसने उर-रक्त-प्रदान ।
जाति देकर कपाल की माल ।
कर सकी कब शिव का सम्मान ॥

(११)

देश जिससे बनता है स्वर्ग ।
कहाँ उर मे है वह अनुराग ?
त्यागियो का सुनते हैं नाम ।
कहाँ है त्याग-भूमि मे त्याग ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय

ममता

(१)

रोहतास दुर्ग के एक प्रकोष्ठ में बैठी हुई युवती ममता, शोण के तीक्ष्ण गम्भीर प्रवाह को देख रही है। ममता विधवा थी। उसका यौवन शोण के समान ही उमड़ रहा था। मन में वेदना, मस्तक में आँधी, आँखों में पानी का बरसात लिये, वह सुख के कंटक-शयन में विकल थी। वह रोहतास दुर्ग-पति के मन्त्री चूणामणि की अकेली दुहिता थी, फिर उसके लिये कुछ अभाव होना असम्भव था, परन्तु वह विधवा थी, हिन्दू विधवा—संसार में सबसे तुच्छ निराश्रय प्राणी—तब उसकी विडम्बना का कहाँ अन्त था?

चूणामणि ने चुप-चाप उसके प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। शोण के प्रवाह में, उसके कल-नाद में, अपना जीवन मिलाने में वह बेसुध थी। पिता का आना न जान सकी। चूणामणि व्यथित हो उठे। स्नेह-पालिता पुत्री के लिये क्या करें, यह स्थिर न कर सकने थे। लौट कर बाहर चले गये। ऐसा प्राय होता, पर आज मंत्री के मन में बड़ी दुश्चिन्ता थी। पैर सीधे न पड़ते थे।

एक पहर बीत जाने पर फिर वे ममता के पास आये। उस समय उनके पीछे दस सेवक चांदी के बड़े थालों में कुछ लिये हुए खड़े थे, कितने ही मनुष्यों के पद-शब्द सुन ममता ने घूम कर देखा। मन्त्री ने सब थालों को रखने का संकेत किया। अनुचर थाल रख कर चले गये।

ममता ने पूछा—"यह क्या है पिता जी?"

"तेरे लिये बेटी! उपहार है।" कह कर चूणामणि ने उसका आवरण उलट दिया। स्वर्ण का पीलापन उस सुनहली संध्या में विकीर्ण होने लगा, ममता चौंक उठी।

"इतना स्वर्ण! यह कहाँ से आया?"

"चुप रहो ममता, यह तुम्हारे लिये है।"

"तो क्या आपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया? पिता जी, यह अनर्थ है, अर्थ नहीं, लौटा दीजिये पिता जी, हम लोग ब्राह्मण हैं, इतना सोना लेकर क्या करेंगे?"

"इस पतनोन्मुख प्राचीन सामन्त वंश का अन्त समीप है। बेटी, किसी भी दिन शेरशाह रोहिताश्व पर अधिकार कर सकता है। उस दिन मन्त्रित्व न रहेगा, तबके लिये बेटी!"

"हे भगवान! तब के लिये! विपद के लिये! इतना आयोजन! परमपिता की इच्छा के विरुद्ध इतना साहस! पिता जी क्या भीख न मिलेगी, क्या कोई हिन्दू भूपृष्ठ पर न बचा रह जायगा, जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके? यह असम्भव है, फेर दो पिता जी, मैं कांप रही हूँ—इसकी चमक आँखों को अन्धा बना रही है।"

"मूर्ख है" कह कर चूणामणि चले गये।

* * *

दूसरे दिन जब डोलियों का तांता भीतर आ रहा था, ब्राह्मण मन्त्री चूडामणि का हृदय धक-धक करने लगा। वह अपने को न रोक सका। उसने जाकर रोहिताश्व दुर्ग के तोरण पर डोलियों का आवरण खुलवाना चाहा। पठानों ने कहा—

"यह महिलाओं का अपमान करना है।" बात बढ़ गई। तलवारें खिंची, ब्राह्मण वहीं मारा गया और राजा रानी, कोष सब छली शेरशाह के हाथ पड़े, निकल गई ममता। डोली में भरे हुए पठान सैनिक दुर्ग-भर में फैल गये, पर ममता न मिली।

(२)

काशी के उत्तर धर्म-चक्र बिहार मौर्य और गुप्त सम्राटों की कीर्ति का खँडहर था। भग्न चूड़ा, तृण-गुल्मों से ढके हुए प्राचीर, ईंटों की ढेर में बिखरी हुई भारतीय शिल्प की विभूति, ग्रीष्म-रजनी की चन्द्रिका में अपने को शीतल कर रही थी।

जहाँ पञ्चवर्गीय भिक्षु, गौतम का उपदेश ग्रहण करने के लिए पहले मिले थे, उसी स्तूप के भग्नावशेष की मलिन

छाया में एक झोपड़ी के दीपालोक मे एक स्त्री पाठकर रही थी—" उपनन्याश्चिनायन्ते मां भोजना पर्युपासते। तेषां नित्या. . . . .

पाठ रुक गया। एक भीषण और हताश आकृति दीप के मन्द प्रकाश में सामने खड़ी थी। स्त्री उठी, उसने कपाट बन्द करना चाहा। परन्तु उस व्यक्ति ने कहा—"माता! मुझे आश्रय चाहिये।"

"तुम कौन हो?" स्त्री ने पूछा।

"मैं मुगल हूँ। चौसा-युद्ध मे शेरशाह से विपन्न होकर रक्षा चाहता हूँ। इस रात अब आगे चलने में असमर्थ हूँ।"

"क्या शेरशाह से!" स्त्री ने अपने ओठ काट लिये।

"हाँ, माता।"

"परन्तु तुम भी वैसे ही क्रूर हो, वही भीषण रक्त की प्यास, वही निष्ठुर प्रतिबिम्ब तुम्हारे मुख पर है! नहीं, सैनिक! मेरी कुटी में स्थान नहीं, जाओ कहीं दूसरा आश्रय खोज लो।"

"गला सूख रहा है, साथी छूट गये हैं, अश्व गिर पड़ा है—इतना थका हुआ हूँ, इतना"—कहते-कहते वह व्यक्ति धम से बैठ गया और उसके सामने ब्रह्माण्ड घूमने लगा। स्त्री ने सोचा यह विपत्ति कहाँ से आई। उसने जल दिया। मुगल के प्राणों की रक्षा हुई। स्त्री सोचने लगी—'सब विधर्मी दया के पात्र नहीं। मेरे पिता का वध करने वाले आततायी!' घृणा से उसका मन विरक्त हो गया।

स्वस्थ होकर मुग़ल ने कहा—"माता! तो फिर मैं चला जाऊँ?"

स्त्री विचार कर रही थी—"मैं ब्राह्मणी हूँ, मुझे तो अपने धर्म—अतिथि देव की उपासना—का पालन करना चाहिए। परन्तु यहाँ. नहीं नहीं, सब विधर्मी दया के पात्र नहीं। परन्तु यह दया तो नहीं .कर्तव्य करना है। तब?"

मुग़ल अपनी तलवार टेक कर उठ खड़ा हुआ। ममता ने कहा—"क्या आश्चर्य है कि तुम भी छल करो, ठहरो।"

"छल! नहीं, तब नहीं स्त्री! जाता हूँ, तैमूर का वंशधर स्त्री से छल करेगा? जाता हूँ। भाग्य का खेल है।"

ममता ने मन मे कहा—"यहाँ कौन दुर्ग है? यही झोपड़ी न, जो चाहे ले ले, मुझे तो अपना कर्तव्य करना पड़ेगा।" वह बाहर चली आई और मुगल से बोली—"जाओ भीतर थके हुए भयभीत पथिक! तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ। मै ब्राह्मण-कुमारी हूँ, सब अपना धर्म छोड दें तो मैं भी क्यों छोड दूँ?" मुगल ने चन्द्रमा के मन्द प्रकाश मे वह महिमामय मुखमंडल देखा, उसने मन ही मन नमस्कार किया।

ममता पास की टूटी हुई दीवारों मे चली गई। भीतर, थके पथिक ने झोपड़ी में विश्राम किया।

× × ×

प्रभात मे खंडहर की सन्धि से ममता ने देखा, सैकड़ों अश्वारोही उस प्रान्त मे घूम रहे हैं। वह अपनी मूर्खता पर अपने को कोसने लगी।

अब उस झोपड़ी से निकल कर उस पथिक ने कहा—"मिरज़ा! मैं यहाँ हूँ।" शब्द सुनते ही प्रसन्नता की चीत्कार-ध्वनि से वह प्रान्त गूंज उठा। ममता अधिक भयभीत हुई। पथिक ने कहा, "वह स्त्री कहाँ है? उसे खोज निकालो।" ममता छिपने के लिए अधिक सचेष्ट हुई। वह मृगदाव मे चली गयी। दिन भर उसमे से न निकली। संध्या मे जब उन लोगों के जाने का उपक्रम हुआ, तब ममता ने सुना, पथिक घोड़े पर सवार होते हुए कह रहा है—"मिरज़ा! उस स्त्री को मैं कुछ दे न सका। उसका घर बनवा देना, क्योंकि मैंने विपत्ति मे यहाँ विश्राम पाया था। यह स्थान भूलना मत।" इसके बाद वे चले गये।

× × ×

चौसा के मुग़ल-पठान-युद्ध को बहुत दिन बीत गये। ममता अब सत्तर वर्ष की वृद्धा है। वह अपनी झोपड़ी मे एक दिन पड़ी थी। शीत-काल का प्रभात था। उसका जीर्ण कंकाल खांसी से गूंज रहा था। ममता की सेवा के लिए गाँव की दो तीन स्त्रियाँ उसे घेर कर बैठी थीं, क्योंकि वह आजीवन सब के सुख-दुःख की समभागिनी रही।

ममता ने जल पीना चाहा। एक स्त्री ने सीपी से जल पिलाया। सहसा एक अश्वारोही उसी झोपड़ी के द्वार पर दिखाई पड़ा। वह अपनी धुन मे कहने लगा—

"मिरज़ा ने जो चित्र बनाकर दिया है वह तो इसी

जगह का होना चाहिए। वह बुढ़िया मर गई होगी। अब किस से पूछूं कि एक दिन शाहंशाह हुमायूं किस छप्पर के नीचे बैठे थे? यह घटना भी तो ४७ वर्ष से ऊपर की हुई।"

ममता ने अपने बिकल कानों से सुना। उसने पास की स्त्री से कहा—"उसे बुलाओ।"

अश्वारोही पास आया। ममता ने रुक-रुक कर कहा—"मैं नहीं जानती कि वह शाहंशाह था, या साधारण मुगल, पर एक दिन इसी झोपड़ी के नीचे वह रहा, मैंने सुना था कि वह मेरा घर बनवाने की आज्ञा दे चुका था, मैं आजीवन अपनी झोपड़ी खोदवाने के डर से भीत रही थी! भगवान ने सुन लिया, मैं आज इसे छोड़े जाती हूँ। अब तुम चाहे इसका मकान बनाओ या महल! मैं अपने चिर-विश्राम-गृह मे जाती हूँ।"

वह अश्वारोही अवाक् खड़ा था। बुढ़िया के प्राण-पक्षी अनन्त में उड़ गये।

× × ×

वहाँ एक अष्टकोण मन्दिर बना, और उसपर शिला-लेख लगाया गया—

"सातों देश के नरेश हुमायूँ ने एक दिन यहाँ विश्राम किया था। उनके पुत्र अकबर ने उनकी स्मृति मे यह गगन-चुम्बी मन्दिर बनाया।"

पर उसमें ममता का कहीं नाम नहीं।

जयशंकर 'प्रसाद'

बृहत्तर भारत

['त्यागभूमि' के लिए]

१

इण्डोचीन और मलाया-द्वीपसमूह (जावा, सुमात्रा, बाली आदि) में भारतीय संस्कृति के प्रसार का ज्ञान हमे चीन के राजकीय इतिहासों (चाइनीज इम्पीरियल क्रानिकल्स) से प्राप्त होता है। उपर्युक्त देशों के चीनी राजदूतों के विवरणो से पता चलता है कि ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दि मे कौन्डिन्य नामक ब्राह्मण ने मध्य इण्डोचीन में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की थी। इस राज्य को चीनी, फूनन कहते थे। चम्पा (वर्तमान अनाम) मे पाये गये ७वी शताब्दि के एक शिलालेख से भी इसकी पुष्टि होती है। इस शिलालेख मे उपर्युक्त राज्य की राजधानी भवपुर की स्थापना का उल्लेख करते हुए लिखा है—"यही वह स्थान था, जहाँ ब्राह्मणों मे सर्वश्रेष्ठ, कौन्डिन्य ने अपना वह भाला रोपा जिसे उसने द्रोणपुत्र अश्वत्थामा से प्राप्त किया था। नाग-सम्राट् की सोमा नाम की एक कन्या थी, जिसने इस भूमि पर एक शाही जाति को बसाया। ब्राह्मण-श्रेष्ठ कौन्डिन्य ने आचार-धर्म के पालन के लिए उसके साथ विवाह किया।" इससे मालूम होता है कि ब्राह्मण कौन्डिन्य ने एक देशी इण्डोचीनी राजकुमारी से शादी करके एक राजवंश की स्थापना की थी।

धीरे-धीरे हिन्दू संस्कृति-प्रधान अन्य राज्य भी इण्डोचीन में कायम हो गये। फरासीसी विद्वानों ने इनमे से कम्बोज (वर्तमान कम्बोडिया), चम्पा (अनाम), द्वारावती (दक्षिण स्याम मे), हंसावती (ब्रह्मास्थित पेगू) तथा अरिमर्दनपुर (ब्रह्मास्थित पागन) इत्यादि राज्यों का ज़िक्र किया है। मलाया-द्वीप-समूह मे भारतीय संस्कृति द्वारा प्रभावित स्थानों की खोज डच विद्वानों ने की है और उनके मतानुसार ऐसे स्थानों मे बोर्नियो,—जहाँ चतुर्थ शताब्दि का ऐसा संस्कृत शिलालेख मिला है जिसमें वहाँ एक वैदिक यज्ञ होने का वर्णन है—पश्चिम जावा या यवद्वीप, बाली (बली) और संस्कृत ग्रन्थों मे सुवर्णद्वीप के नाम से विख्यात सुमात्रा-मुख्य हैं। बाद मे तो मध्य और पूर्व जावा मे कई हिन्दू संस्कृति-प्रधान राज्य स्थापित हुए। सुमात्रा के श्रीविजय के शैलेन्द्र सम्राटों का राज्य शताब्दियों तक भारत और चीन के बीच का सबसे अधिक शक्तिमान राष्ट्र था। आठवीं शताब्दि में जब यह राष्ट्र अपनी शक्ति के मध्यान्ह काल में था, श्रीविजय के सम्राट् सुमात्रा, जावा तथा मलय प्रायद्वीप के अधिकांश भागों और मलाया द्वीप-समूह के अनेक द्वीपों पर राज्य करते थे। १४वीं शताब्दि तक भी मजपहित् (संस्कृत का विल्व-

लिक) के शक्तिमान हिन्दू-बौद्ध-राज्य ने सम्पूर्ण मलाया द्वीप-समूह तथा मलय-प्रायद्वीप के अधिकाश भागों पर अधिकार जमा रखा था। पूर्व में आस्ट्रेलिया से लेकर उत्तर में फिलीपाइन द्वीप-समूह के बीच फैले हुए अगणित द्वीपों मे यह राज्य अपनी सघटित और योग्य जलसेना द्वारा शासन-व्यवस्था और शान्ति की रक्षा करता था।

चम्पा, कम्बोडिया (कम्बोज), बोर्नियो, जावा (यव द्वीप) सुमात्रा, बाली इत्यादि मे जो सस्कृत शिलालेख मिले हैं, उनमें बृहत्तर भारत के इतिहास के पुनर्निर्माण की पर्याप्त सामग्री मिलती है। इण्डोचीन में फरासीसी विद्वानों और जावा मे डच शोधकों ने इन शिलालेखों को खोजने एवं उनका सपादन करने में बड़ा परिश्रम किया है और आश्चर्य-जनक सफलता प्राप्त की है। इस विषय पर अंग्रेजी भाषा मे कोई साहित्य नहीं है, यही कारण है कि हम भारतवासी इसके सम्बन्ध में इतना कम ज्ञान रखते हैं।

छठीं शताब्दि के मध्य भाग मे कम्बोडिया (कम्बोज) ने अपने गले से फूनन साम्राज्य का जुआ उतार फेंका और बहुत शीघ्र वहाँ के युद्ध-प्रिय राजवश के अधिकार मे एक शक्तिशाली राज्य बन गया। इस भूखण्ड में लगभग पाँच सौ शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनमे कुछ तो बहुत बडे और विशुद्ध एवं निर्दोष संस्कृत में है। इनके द्वारा हमें हिंदू संस्कृति-प्रधान इस महान् राज्य के, छठीं शताब्दि से लेकर चौदहवीं शताब्दि तक के सास्कृतिक, और अनेकांश मे राजनैतिक भी, इतिहास के पुनर्निर्माण की पर्याप्त सामग्री मिलती है। कम्बोडिया के पूर्व में चम्पा नामक एक दूसरा हिन्दू सस्कृति-प्रधान राज्य था जिसका इतिहास अनेक बहुरगी उपकरणों से पूर्ण है क्योंकि चीनी एव अनामी आक्रमणकारियों से निरंतर इसका युद्ध चलता रहता था। सस्कृत तथा चाम भाषाओं के लगभग डेढ़ सौ शिलालेख तथा उनके पूरक चीनी एवं अनामी विवरण इस मनोरजक राज्य का एक सुसम्बद्ध इतिहास हमारे सामने उपस्थित करते हैं। यह केवल फ़रासीसी शोधकों के परिश्रम का फल है कि हमें इण्डोचीन के हिन्दू-काल सम्बन्धी इन शोधों का ज्ञान हुआ है।

जावा एव सुमात्रा इत्यादि के सम्बन्ध में जो शिलालेख संस्कृत वा कवि (जावा की प्राचीन साहित्यिक भाषा) भाषाओं में मिलते हैं, उनकी सख्या अधिक नहीं है किन्तु कवि भाषा के दो ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रथ प्राप्त हुए हैं जिनमें सिंगासरी एवं मजपहित् राज्यों का, तेरहवीं से लेकर पन्द्रवीं शताब्दि तक का, विवरण मिलता है। यह काल जावा के इतिहास का सब से गौरव-पूर्ण काल था। डच शोधकों ने न केवल जावा के हिन्दूकालिक इतिहास की सामग्री जुटाने में कठिन परिश्रम किया है वरन् इस सुन्दर द्वीप के मदिरों, खंडहरों और स्मृति-स्तंभों की रक्षा करके हमारा बडा उपकार किया है।

कम्बोडिया में अगकोर वाट का महान विष्णु-मदिर, जिसे द्वितीय सूर्य वर्मन ने बारहवीं शताब्दि के प्रथमार्द्ध मे बनवाया था, आज ससार के आश्चर्यों में से एक समझा जाता है। यह अद्भुत मंदिर, आयनिक (Tropical) जंगलों से घिर जाने के कारण विस्मृति के गर्भ में विलीन-सा हो गया था। आँरि मूहो (Henri Mouhot) नामक फ़रासीसी विद्वान ने १८६० ई० में इसे खोजकर निकाला। एक अगम्य जंगल के बीच इस महान् मंदिर की अभूतपूर्व छटा देखकर अपनी डायरी में उसने लिखा था—"दुनिया मे यह एक परमाश्चर्य-जनक निर्माण है, जिसके जोड की इमारत ग्रीस और रोम कभी न बना सके। यहाँ (अंकोर वाट) की प्रत्येक वस्तु ऊँची मर्यादा पर स्थित है।" मंदिर के चारों ओर जो खाई है, उसकी चौड़ाई ७०० फुट है। पत्थर की जिस दीवार से मदिर घिरा हुआ है वह पूर्व-पश्चिम ¾ मील और उत्तर-दक्षिण आध मील लम्बी है। मदिर तीन चबूतरों पर उठा हुआ है और बहुत ऊँचे आकाश से बाते करने वाले बुर्ज एवं कँगूरे उसकी महानता का परिचय देते हैं। भीतर की दीवारों पर कम्बोडीय सम्राटों के दरबार एवं रामायण, महाभारत तथा हरिवंश की अनेक कथाओं और दृश्यों के सुन्दर चित्र खुदे हुए हैं।

जावा में बोरोबोदुर की दीवारे बुद्ध के जीवन से सबंध रखने वाली घटनाओं से चित्रित हैं। सच पूछिये तो यह बोरोबोदुर एक पूरी पहाड़ी ही है जो तराश कर बौद्ध स्तूप में परिणत कर दी गयी है। मध्य जावा के प्रम्बानन मंदिर में रामायण महाकाव्य के प्रथम पाँच सर्ग दीवारों की खोदाई

मे अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से चित्रित हुए हैं। जावा अपने मंदिरों पर उतना गर्व नही कर सकता जितना कम्बोडिया अपने महान मंदिरों पर कर सकता है, फिर भी जावा की मूर्ति-कला निश्चय ही कम्बोडिया की अपेक्षा श्रेष्ठ है। दुनिया में बहुत थोड़ी मूर्तियां हैं जो जावा मे प्राप्त प्रज्ञापारमिता और अवलोकितेश्वर की मूर्तियों की तुलना में रक्खी जा सकती हैं।

विजनराज चटर्जी
(पी० एच० डी, डी० लिट्)

विस्मृता उर्म्मिला

(प्रथम सर्ग)

प्रोत्साहन

(१)

चलो, ऐ मेरी टूटी कलम,
चलो उस ओर किसी के पास,
छोड़ दो कलि की स्याही यहीं
करो त्रेता-युग मे कुछ वास,
किसी के हृदय खण्ड की व्यथा—
सुनो, करदो न्योछावर प्राण,
किसी की धीमी धीमी आह
करे तुम को कुछ कुछ म्रियमाण,
अश्रु का बिन्दु, शोक का सिन्धु,
व्यथा का असिरूपी नव इन्दु,—
जहाँ है उदित, क्षुब्ध निर्भरित
उधर को चलो छोड़ भवसिन्धु ॥

(२)

तुम्हारे पीछे पीछे चला—
आ रहा हूँ मैं भी चंचले
पुरातन त्रेता युग का मार्ग—
हुआ है लोप निशीथाञ्चले,
कहीं इस घनी कुहू को देख
न रहना बैठ, न जाना हार,
ढूँढने निकली हो तुम आज—
मूक भावों का प्यारा प्यार,
ढूँढ लाओ उसको तुम, अरी
लेखनी, हो जाओ कृत्यकृत्य।
आज हो उठे शुष्क कागद के
कोनों मे करुणा का नृत्य ॥

(३)

पुरातन वाल्मीकि के गूढ—
भाव-भृङ्गों के मुखरित झुण्ड,—
अछूता छोड गये जो पुष्प,
उसी के रस से पूरित कुण्ड
विकल हो ढूँढ निकालो, और—
करो पीयूष-चरित का पान,
बनो उन्मत्त, सुनाओ अखिल—
विश्व को उन्मत्तों की तान,
न हो आलस्य, न हो उद्रेक,
न लाओ अपने मन मे भ्रान्ति।
उर्म्मिला की आहों को सुना
करुण रस मे कर दो कुछ क्रान्ति ॥

(४)

पूज्य तुलसी, की माला बड़ी—
बडे मनकों से गुम्फित हुई
राम सीता के अविचल भक्ति—
भाव मे ही है चुम्बित हुई,
लेखनी, यह छोटा मन का, न
कहीं दिखलाई पड़ता वहाँ,

हृदय की आकुलता कह रही—
आह !—यह छोटा मनका कहाँ ?
न लाओ बेर, लगाओ टेर,
सुनेगी वह मिथिला-नन्दिनी।
सुमित्रा माँ की वह प्रिय बहू,
लखन के जीवन की चाँदनी।

(५)

कई शत वर्ष गए हैं बीत
सहस्रों की गिनती हो रही,
सुभग साकेत हुआ है खेत,
हाय ! मिथिला शिथिला हो रही
और वे भव्य भूरि प्रासाद—
याद मे भी कुछ कुछ मिट गये
किन्तु लेखनी, आज भी वही—
गान हम को तो हैं नित नये,
इसीसे तुम से मैं बहु बार,
कह रहा हूँ—तुम डूबो आज।
अगम सम्पूर्ण भूत के गर्भ-सिन्धु मे,
सज जीवन के साज ॥

(६)

'सुनेगा कौन ?'—अरी दुर्वृत्ति,
विश्व-गायन को किसने सुना ?
प्रकृति-माता की शीतल पवन—
लोरियों को किस किसने सुना ?
दुधमुँहे बच्चे की फर्याद—
कौन सुनता है ? देखो अरे,
अनोखी विकृत बावली तान
सदा है शुष्क बुद्धि से परे
नही होगा यह कोई काव्य—
अरे यह तो है स्पन्दन मात्र।
कहीं यदि काँपा—तो फिर
देख सिहर उट्ठेंगे सारे गात्र ॥

(७)

कई अव्यक्त भावना भरे—
बज उठेंगे व्रीड़ा के तार;
कई प्यारे फूलो से गुँथे—
हिल उठेंगे क्रीड़ा के हार;
कई कोमल चुम्बन से पगे—
कँपेंगे नव बीड़ा के प्यार;
कई हृत्खण्ड बंधन तुम
होगे कट्टर पीडा के वार
लेखनी, टूटी हो ? हाँ, बनी रहो,
सह जाओ यह गुरु भार।
उर्म्मिला के पुनीत चरणों की
रज पहुँचावेगी उस पार !

× × × ×

जबाँ दो टूक है तेरी य' इस दिल को हिला डाले।
मेरी फीकी सियाही को जरा फिर से मिला डाले ॥

प्रार्थना

देवि उर्म्मिले तेरी अकथित गाथा गाता हूँ मैं,
किंवा तव चरिताम्बुधि मे मज्जन को आता हूँ मैं;
अति अगम्य बलवती लहर है, थाह न पाता हूँ मैं;
हृदय-शिला पर तव चरणों को देवि बिठाता हूँ मैं॥१॥

सती, मुझे वरदो कि भारती मेरी हो कल्याणी,
मैं लघु शिशु हूँ विद्या-बुद्धि-विहीन और अज्ञानी;
वैया नही—असंस्कृत है मेरी यह दुर्बल वाणी
किन्तु कृपा की भीख माँगता हूँ, हे लक्ष्मण-रानी ॥२॥

यह कर्कश रव रुके और मैं सुनूँ वही झंकार—
वह स्वर—जिसको रोते है तेरे चरणालंकार।
निपट बली तेरे प्रियतम के धन्वा की टंकार—
और सती तव पदनख दूर करे मूढाऽहंकार ॥३॥

कोटि-कोटि कटुता में जीवन कटता है दिन रात,
शुष्क शूल कीर्णित है यत्र तत्र, छिलते है गात,

उद्विग्ना चित्त प्रवृत्ति-भटकाती सायं प्रात ।
किससे कहे ? कौन सुनता है ? किसके जोड़ें हाथ ?४॥
जनक-नन्दिनी देवि उर्म्मिले, तू करुणा की मूर्त्ति,
तव चरणो का ध्यान हृदय को देता है सुस्फूर्त्ति,
तेरे आशीर्वचन करें मेरी इच्छा-सम्पूर्त्ति ।
भ्रमित चित्त मेरा होवे तव करुण-शान्ति की मूर्त्ति ॥५॥
तेरे अटल भरोसे पे मैंने ओढा यह भार,
तव मृदु चरणों में वन्दना यही मेरी इस बार--
ये भाव-प्रसून, जिनपे गूँथूँगा मैं यह हार—
सूख न जावें, हो निर्विघ्न सुमाला यह तैयार ॥६॥

ध्यान

श्रुति विहीन, है खचित शोक-रेखा जिसके आभरणों में—
अलकावलो ग्रथित श्रीहृत कुण्डल हैं जिसके कर्णों मे
अकथित कथा वही जाती है जिसके कल-कल झरनो मे
नत होजा, हे नास्तिक-मस्तक उसके मृदु युग चरणो मे ।

पुर-प्रदक्षिणा

(१)

चलो देखें जनक की राजधानी
विराग सुभोग की नगरी पुरानी,
नृपति जिस देश के हैं तत्वज्ञानी,—
जिन्हे सम हैं ज्वलित अगार पानी ।

(२)

शिथिल-सी कल्पने, यह पुण्य धाम—
करुणरस मूर्त्ति का है पितृ-ग्राम,
ठहर प्राचीर बाहर एक याम—
करो सुप्रदक्षिणा नयनाभिराम ।

(३)

नगर प्राचीभिमुख है 'ब्रह्मद्वार'
जिसे प्रति प्रात बालातप निहार—
सुमन से मृदु करों का विमल हार—
मुदित मन दे रहा है बार बार ।

(४)

विमोहक जगन्नाटक सूत्रधार—
सुगूढ़ ज्ञेय तत्त्वो का प्रसार—
सदा क्यो कर रहा है बार बार ?
यही सबेत करता पूर्व-द्वार ।

(५)

न तुम भूलो कि यह है आर्य्य नगरी,
यहाँ, ऐ कल्पने, हो जा सजग, री,
निपट सकेत-मय है यह सु-भग, री;
यहाँ है गूढ़ आशय-युक्त डगरी ।

(६)

सुदृढ है, शक्ति शाली द्वार यह है,
प्रतापी राज-असि की धार यह है,
चतुर कारीगरी का सार यह है,
धरा-धारी-धनुप का भार यह है ।

(७)

अनेको क्रुद्ध रिपुओं के दलो को—
दलित करके चखाया कटुफलो को—
वही प्राचीर यह, आर्य्य-स्थलो को,
सुरक्षित कर रही है निर्म्मलो को ।

(८)

विपुल शस्त्रास्त्रो से पोषिता है,
शतघ्नी घोष से उद्घोषिता है;
सुधन्वा धीर नर से ऊशिता है,
धनुष भाले गदा से भूषिता है ।

(९)

द्विशत पादावाली के अन्तरों पर—
बने है शिखरधारी बुर्ज सुन्दर,
जहाँ से नौबतों की चोब सुनकर
जनक-रिपु काँपते हैं भीत थर थर ।

(१०)

इधर यह 'दक्षिणेन्द्र द्वार' नव है—
जनाता चण्ड रवि का खर ।विभव है

विदेही नृपति का यह कीर्त्ति-रव है—
जलाता जड़ अकर्म्मों का कुरव है।

(११)

नृपति ने दिशा दक्षिण द्वार वर को—
निवेदित है किया इन्द्र प्रवर को,
प्रखर-संकेत कर प्रति आर्य्य नर को—
दिखाता कर्म्म-पथ शरचाप-धर को।

(१२)

पुनीता साँझ को वन्दन समय जब—
जिधर मुख फेरतीं नर-नारियाँ सब—
उधर को दीखता 'यम-द्वार' है अब,
कि मानो दीखता है विश्व-विप्लव।

(१३)

उधर यह पूर्व 'ब्रह्म-द्वार' प्यारा
दिखा उत्पत्ति तत्वों का पसारा—
बहाता नव्य रस की गान-धारा
इधर 'यम द्वार' ने लय को सँभारा।

(१४)

उधर उत्पत्ति है तो इधर लय है;
उधर जीवन-नवल का यदि प्रणय है—
इधर तव क्षुब्ध सरिता शान्ति मय है,
जनक नगरी अहो निर्भ्रान्तिमय है।

(१५)

सुपश्चिम द्वार बनवा कर नृपति ने,—
समर्पित है किया यम को सुमति ने,
कि मानो पथ दिखाया समय-गति ने,
सुरति का हाथ पकड़ा या विरति ने।

(१६)

उधर है उत्तरीय द्वार भारी,—
सुसेनापति षड़ानन ध्रुव प्रहारी—
जिसे रक्षित किये रिपु मान-हारी—
भगाते हैं व्यथायें दूर सारी।

(१७)

इसे शुभ 'कार्त्तिकेय-द्वार' कह कर
नगरवासी सिहाते हैं निरन्तर,
ध्वजा फहरा रही है यह मनोहर
बताती है रणाङ्गन मार्ग सत्वर।

(१८)

नगर चहुँ ओर सुन्दर क्षेत्र सारे,
मनोहर हरित सा परिधान धारे
पवन संग कर रहे हैं नृत्य प्यारे
कि मानो जलधि कल्लोलित हुआ रे।

(१९)

कहीं बैठे मुदित हैं भूमि-स्वामी,
कहीं वे हो रहे वृषभानुगामी
कहीं गायें चराते हैं अकामी,
मधुर यह स्थान 'गोपुर धाम' नामी।

(२०)

विमल उपवन इधर को आ मिले हैं—
सुरभिमय पुष्प जिनमे ये खिले हैं,
जुही के भुज समीरण से हिले हैं,
चमेली-नयन-सम्पुट अधखिले हैं।

(२१)

निपट निःशंक विहगों की अवलियाँ—
हठीली चूमती हैं फूल-कलियाँ,
निनादित हो रही हैं कुञ्ज गलियाँ
चतुर मालिन चुने है फूल डलिया।

(२२)

थकित सी कल्पने सुप्रदक्षिणा यह—
हुई सम्पूर्ण लो अब दक्षिणा यह—
चलो देखें पुरी सुविचक्षणा यह—
जनक-नृप-रक्षिता शुभ लक्षणा यह।

'नवीन'

सांची

How changed the busy scene of former days,
When twice five thousand monks obey'd the call
To general thanksgiving and to praise,
When the stone cloisters echoed, and the hall
Resounded with the solemn festival,
And gay processions filled each gargeous gate

—A Cunningham

स्तूप-निर्माण

पचास शताब्दियाँ बीत गईं, बौद्ध सम्राट् अशोक ने आराध्य देव मे अपनी भक्ति को चिर-स्थायी बनाने के हेतु घोषित किया होगा "एक विशाल स्तूप की निर्माण-शिला कल स्थापित की जावेगी। उस उत्सव पर सभी उपस्थित हो, भगवान के लिए भेट एव पुष्प-मालायें लावें।"

पूर्ण चद्र से सिंचित रात्रि के अवसान के बाद प्रात-काल राजनगरी विदिशा से साँची-पर्वत तक सुसज्जित मार्ग पर सचिवों, सैनिकों, गायक-गायिकाओं के साथ सम्राट् अशोक का जुलूस बड़ी शान से निकला होगा। हजारों बौद्ध भिक्षुकों और प्रजाजनों की उपस्थिति मे आधार-शिला की स्थापना करके राजा ने कारीगरों का आह्वान करते हुए कहा होगा "तुम लोग कैसा चैत्य निर्मित करना चाहते हो?" सम्पुट मे जल लेकर, उसे स्वर्ण-पात्र मे डालकर, उठे हुए बुद्‌बुद की ओर संकेत करके कारीगर ने उत्तर दिया होगा—"इस प्रकार का अर्द्ध-गोलाकार चैत्य मैं बनाऊँगा।" जय-मंगल-गान होने लगे होंगे, सहस्रों वस्त्र भिक्षुकोंको बँटने लगे होंगे। सोने और चाँदी की ईंटों से साँची के इस विशाल स्तूप की आधार-शिला का निर्माण किया गया होगा।

उसी सध्या को पुन एक जुलूस निकला होगा। स्तूप पर छत्र चढ़ाकर सम्राट ने भक्तिभाव से कहा होगा—"जगत् का कल्याण करने वाले, देव-मानव और शाश्वत शांति की छत्र-त्रयी धारण करने वाले भगवान् को मैं अपना समस्त राज्य तीन बार अर्पित करता हूँ।" स्तूप, भिक्षुवर्ग, आदि की प्रदक्षिणा करके अशोक ने भेट की वस्तुयें स्तूप के मध्य भाग मे स्थापित कर दी होगी। जन-समूह की भेंट स्तूप पर चढ़ाई गई होगी। रात भर भिक्षुकों की प्रार्थना आराधना के बाद बड़े उत्साह से और आनन्द की उमग मे स्तूप-निर्माण का उत्सव सम्पन्न हुआ होगा।*

स्तूप तीन प्रकार के होते हैं—समर्पण की भावना से निर्मित, स्मृति-रक्षा के लिए निर्मित और अस्थि-अवशेष की स्थापना के लिए निर्मित। साँची का जो सब से बड़ा स्तूप है वह पहली भावना से ही स्थापित स्तूप है। पुरातत्त्व-वेत्ताओं की खोज मे इस स्तूप मे कोई अस्थि-अवशेष नहीं मिले। ऐसा मालूम होता है कि अदृश्य आदि भगवान को एक स्तूप समर्पित करने की भावना से ही इस स्तूप का निर्माण किया गया था। बड़े स्तूप के समीप ही एक छोटा स्तूप और है जिसमे बुद्ध के प्रख्यात शिष्यों के अस्थि-अवशेष मिले हैं। इससे उस स्तूप का तीसरे प्रकार का होना सिद्ध होता है। पहाड़ी से थोड़े नीचे आने पर एक स्तूप और है वह भी पुरातत्त्ववेत्ताओं की खोज के अनुसार अस्थि-अवशेष की स्थापना के उद्देश्य से निर्मित किया गया था। बुद्ध भगवान् की जीवन घटनाओं से सम्बन्ध रखने वाले स्थानों पर स्मारक अधिकाश रूप मे मिलते हैं, जैसे बुद्ध-गया, सारनाथ आदि। परन्तु, साँची से बुद्ध भगवान की जीवन-घटना का कोई सम्पर्क नहीं है। तो भी, साँची, भारत के पुरातत्त्व-विभाग के प्रधान सर जान मार्शल के शब्दों मे, बौद्ध-कला की दृष्टि से उतना ही महत्व रखती है जितना मुगल-कला मे ताजमहल, हिंदूकला मे कोनारक के पैगोडा और एलोरा का कैलाश मदिर!

* महावश मे लकाधिपति दुथ्थगामिनि द्वारा निर्मित स्तूप के निर्माण-उत्सव का ऐसा ही सविस्तर वर्णन मिलता है जिससे अनुमान किया जाता है कि साँची का निर्माणोत्सव भी वैसा ही हुआ होगा।



प्रथम स्तूप [ऊपर वाला]
दक्षिण-द्वार के समीप 'देवानाम्पिय' आदि शिलालेख
चित्र [नीचे वाला] प्रदक्षिणा-पथ की सीढ़ी

ऐतिहासिक विवेचन

ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन करने पर, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, विदित होता है कि प्रधान स्तूप का निर्माण अशोक के शासन में हुआ होगा। जिस पहाड़ी पर आजकल साँची है उसको पहले चैत्यगिरि कहा करते थे। चैत्यगिरि के समीप ही सुप्रख्यात विदिशा नगरी थी; जो आज भी भिलसा के नाम से प्रसिद्ध है। भिलसा का विदिशा ही होना वहाँ के बौद्ध भवनों आदि से स्पष्ट सिद्ध होता है। बेस और बेतवा नदी का संगम भी इसी नगरी के समीप है। विदिशा अशोक के शासन काल में एक उन्नतिशील नगरी थी। अशोक की महारानी देवी यहीं की थी और कहा जाता है कि उन्हीं के पुत्र महेन्द्र के लिए चैत्यगिरि पर मठ आदि बनाये गये थे।

जिस प्रकार मुगलों में शाहजहाँ को भवन-निर्माण का शौक था उसी प्रकार, और संभव हो सकता है उससे भी अधिक, अशोक को भी इस बात की धुन थी। बौद्ध धर्म में प्रवेश करते ही उसने इस विषय में अपनी रुचि दिखाई। महावंश से प्रमाणित होता है कि कादयप के आदेश से अजातशत्रु ने बौद्ध-श्रमणादि के अस्थि-अवशेष राजगृह में एकत्र करवाये थे। अशोक ने समस्त भारत में बौद्ध स्मारक स्थापित करने के उद्देश्य से उन अवशेषों को भिन्न भिन्न स्थानों पर भेजना ठीक समझा। महावंश में तो यह प्रमाण मिलता है कि अशोक ने ८४ हजार बौद्ध स्मारक बनवाने का विचार किया। पर, चाहे जो कुछ हो इससे यह स्पष्ट होता है कि अशोक की इस विषय में अत्यधिक रुचि थी। इसका समर्थन हु-एन-शाग भी अपनी यात्रा के विवरण में करता है। उसने काबुल नदी के उद्गम स्थान अदराब से काँजीवरम्, सिंध नदी के प्रवाह से गंगा के मुहाने तक अनेक स्थानों में पचासों स्तूप और अनेक विहारों का उल्लेख किया है, जिन सबका श्रेय उसने अशोक को ही दिया है। अशोक के स्तम्भ तो जगत्-प्रसिद्ध हैं ही। साँची पर्वत पर भी एक स्तम्भ भग्नावस्था में मिला है जो साँची और अशोक का स्पष्ट सम्बन्ध बतला रहा है।

हु-एन-शाँग ने अशोक की इस रुचि का उल्लेख तो किया है पर उसके यात्रा-विवरण में साँची का नामोल्लेख नहीं है। फाहियान के यात्रा-विवरण से इसके सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिल सकती है। फाहियान ने लिखा है कि कि ओई-कन्नोज—से बिदा होकर वह गंगा के उस ओर २० मील गया। "वहाँ से नैऋत्य कोण में दस योजन जाने पर साँची के विशाल राज्य में तुम पहुँचोगे" और 'वहाँ से दक्षिण दिशा में आठ योजन पर कै-सा-लो—कौसल—राज की शेन्वी-अयोध्या-नगरी में।'* वर्त्तमान भौगोलिक स्थिति के अनुसार फाहियान का दिशा तथा दूरी का हिसाब गलत है जिसका कारण फ्रेंच अनुवादक का भ्रम हो सकता है पर इस विवरण में साँची का स्पष्ट नामोल्लेख ही नहीं मिलता, वरन् उससे यह भी मालूम होता है कि यह एक विशाल राज्य की राजधानी थी।

साची शब्द का चीनी भाषा में अर्थ है शांति। बड़े स्तूप के दक्षिण द्वार पर यह शिलालेख मिलता है, जिसके आरंभ में मगधराज की ओर से चैत्यगिरि निवासियों को अभिवादन करने के पश्चात् अंत में लिखा है—"इच्छांहि मे सान्ति (?) सघम समगे मिलथिति के सियाति" जिसका अभिप्राय यह है कि शाँति संघ सदा एकता-पूर्वक रहे। इस शिला-लेख में शांति संघ ध्यान देने योग्य है।† चैत्यगिरि निवासी उस समय 'शांति संघ' के नाम से प्रख्यात होंगे। 'शांति' शब्द चीनी यात्री फाहियान के द्वारा आने पर साची और बाद में साँची हो गया होगा।

साँची नामक गाँव अब तक स्तूप वाली पहाड़ी की तलैटी में विद्यमान है। यद्यपि इस समय यह गाँव बहुत ही छोटा और दरिद्र दशा में है परन्तु साँची और कानखेरा के बीच में फैले हुए भग्नावशेषों से स्पष्ट मालूम होता है कि फ़ाहियान के वर्णनानुसार उस ज़माने में यह एक विशाल नगरी रही होगी।

---

*प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में मध्य प्रदेश को भी महा-कोसल लिखा है। संभव है कै-सा-लो से उसका अभिप्राय इसी प्रांत से रहा हो। यह प्रान्त साँची से नज़दीक भी है। जिन अंग्रेजी लेखकों का आश्रय इस लेख के लेखक ने लिया है, वे स्वयं भ्रम में पड़े हुए जान पड़ते हैं। †यहाँ बौद्धों का एक संघ था, इस संघ का ही नाम शांति-संघ रहा होगा। 'त्या० भू०'-सम्पादक।



(१) द्वितीय स्तूप— अस्थि-अवशेषों की पेटी पर लिखा आलेख
(२) प्रवेश-द्वार

अब इस समय तो उस विशाल नगरी का और चैत्य-गिरि का भग्नावशेष मात्र रह गया है, वह भी यदि पुरातत्ववेत्ताओं की दृष्टि में न आता तो अब तक काल के गाल में विलीन हो गया होता। लेफ्टिनैंट मैसी की सहायता से श्री एलेग्झेंडर कनिंघम ने आज से ७५ वर्ष पहले इसे खोज निकाला था। तभी से इसके जीर्णोद्धार तथा अन्वेषण-संबंधी कार्य का आरम्भ हुआ। सरकारी पुरातत्व विभाग की देख-रेख में इसका बहुत सा काम हुआ और अब यह, भूपाल की सीमा में होने से, वहाँ के राज्य की देख रेख में सुरक्षित है। स्तूपों के पास ही पहाड़ी पर तत्संबंधी एक संग्रहालय भी बना दिया गया है। बाहर से आने वाले दर्शकों के लिए पहाड़ी के नीचे डाक बँगले में निवास-स्थान का भी सुप्रबंध है। अशोक द्वारा निर्मित जिन अनेक स्थानों का उल्लेख मिलता है उनमें से जिस प्रकार अनेक भूगर्भ में विलीन हो गये, उसी प्रकार साँची के स्तूप भी विलीन हो गए होते; परन्तु शोधकों के परिश्रम से अब तो ये कला-प्रेमियों को दूर दूर से आकर्षित करते है और अपनी महत्ता की छाप उनके दिलों पर लगा देने में बेजोड़ सिद्ध हो रहे हैं।

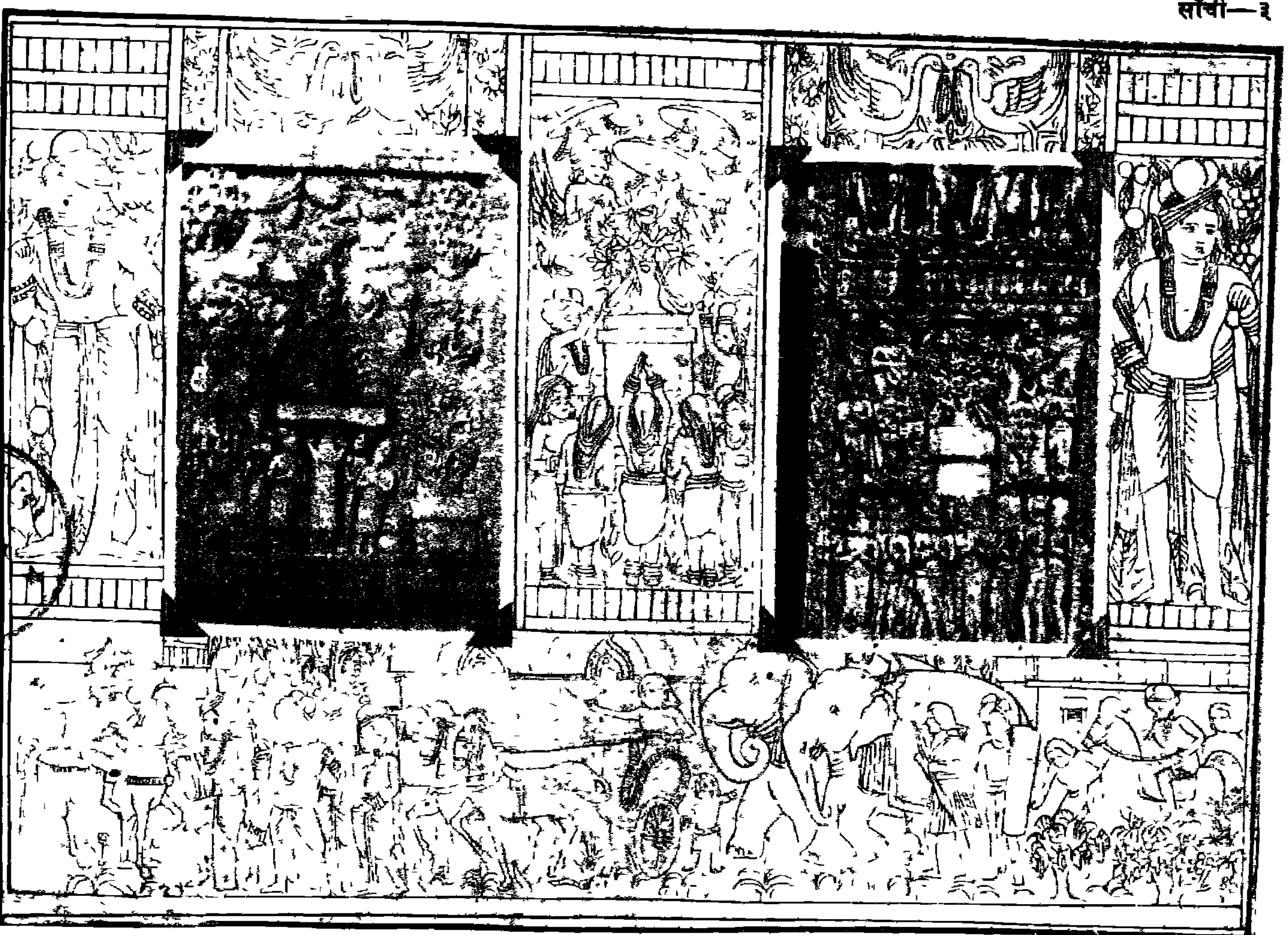
भौगोलिक परिचय

साँची भूपाल से ईशानकोण में २० मील की दूर पर है। वहाँ से ५-५॥ मील की दूरी पर नैऋत्यकोण में भिलसा, प्राचीन वितस्ता, है। बेतवा नदी उससे थोड़ी दूर पर बायें तरफ़ है। सांची जी आई पी रेलवे का एक स्टेशन है जो बंबई से ८९७ और कलकत्ते १११६ मील दूर है। साँची के स्तूप ३०० फुट ऊँची एक पहाड़ी पर बने हैं, उसी की तलेटी में रेलवे स्टेशन और डाक बंगला है। पहाड़ी विन्ध्य पर्वत की एक छोटी सी शाखा है। उसके आस-पास ऐसी ही और भी पहाड़ियाँ हैं। इस पहाड़ी में कोई विशेषता नहीं, हाँ इसका पत्थर कुछ नरम है जिस पर खुदाई का काम सरलता से हो सकता है। पत्थरों के विभिन्न रंग और हरे हरे वन-वृक्षों से इस पहाड़ी के सौन्दर्य में बहुत अभिवृद्धि हुई है। वे प्राचीन स्मारक तो इसके बहुमूल्य अलंकार हैं ही पर यहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य भी कुछ कम नहीं। खिरनी और ढाक के वृक्षों से आच्छादित पहाड़ी अत्यन्त नयनाभिराम है। चारों ओर हरा भरा जंगल, दूर पर पहाड़ों की माला और एक ओर बेतवा की पतलीसी जलधारा ये सब दृश्य कम से कम उन लोगों को तो अवश्य रोचक मालूम होते हैं जो कोलाहल-पूर्ण समय बिता कर एक दो दिन शांति और नीरवता से, मानव और ईश्वरीय कला के बीच बिताने की सदिच्छा से वहाँ तक जाते हैं।

साँची के मन्दिर मठ आदि

साँची के भवनों को चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है, यथा—चैत्य-भवन, स्तूप, स्मारक स्तम्भ और मठालय। इन भवनों में स्तूपों का ही प्राधान्य है और उन्हीं का सविस्तर वर्णन यहाँ देना आवश्यक है पर उसके पहले चैत्य भवन आदि का परिचय दे देना ठीक होगा। बड़े स्तूप के दक्षिण प्रवेश-द्वार के ठीक सामने भग्नावस्था में एक चैत्य भवन है। पश्चिम भारत और दक्षिण में पहाड़ियों में खोदे हुए बहुत से चैत्य भवन मिलते हैं जो सचमुच असाधारण हैं परन्तु पहाड़ी की चोटी पर बने हुए इस चैत्य-भवन का ढंग उन सबसे निराला ही रहा होगा। पहाड़ी खोदकर बनाये हुए चैत्यों में तो एक ही द्वार रहता है, पर इस चैत्य का बाहरी दृश्य उन सबसे निराला ही रहा होगा। यह भवन अब इतना जीर्ण-शीर्ण हो गया है कि उसके वास्तविक स्वरूप का अनुमान नहीं किया जा सकता। गिरे हुए कुछ खंभे खड़े कर दिये गये हैं। उनसे स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि यह एक विशाल चैत्य था और अपने ढंग का अनूठा था।

पूर्व दिशा में जो मंदिर है वह बहुत ही रोचक है। उसे सरसरी निगाह से देखने से यही अनुमान होता है कि वह हिन्दू मंदिर है। जिस किसी ने दक्षिण के मंदिर और उनके आगे के विशाल द्वार देखे हैं वह तो बिना किसी संकोच के कहेगा कि यह वैसे ही किसी मन्दिर का भग्नावशेष है, पर बात ऐसी नहीं है। बोधि-वृक्ष के नीचे दाहिने चरण से पृथ्वी का स्पर्श करके उसे अपनी मार-विजय का साक्षी बनाते हुए भगवान बुद्ध की मूर्ति इस मन्दिर में है। इस मूर्ति तथा अन्य मूर्तियों से ही इसके बौद्ध मन्दिर होने का पता चलता है, शकल-सूरत से तो यह दक्षिण के हिन्दू मन्दिरों से



(१) स्तूप के पूर्वीय प्रवेश-द्वार पर नौकारोहण का दृश्य

(२) प्रवेश-द्वार पर अंकित बोधि-वृक्ष की पूजा का दृश्य

समता रखता है। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि इस मन्दिर की बाँयी ओर जो मठ बने हुए है उन पर कुछ वीभत्स चित्र भी खुदे हुए है। सरसरी तौर पर देखने वालो की दृष्टि मे वे न पडें पर खुदाई के प्रत्येक काम को देखने मे वे दृष्टि में आये बिना न रहेंगे। इसका क्या कारण होसकता है? ग्यारहवीं शताब्दि मे बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म से पूर्णतया प्रभावान्वित हो गया था। वह प्रभाव कई रूपों मे प्रकट हुआ और उसी के फलस्वरूप इस मन्दिर का भी निर्माण हुआ होगा, ऐसा पुरातत्व-वेत्ताओ का मत है।* उन वीभत्स चित्रों को देखने से तो यह भी अनुमान होता है कि जगन्नाथ मन्दिर के निर्माताओं की वृ यहाँ के कारीगरों को भी लग गई थी।

बडे स्तूप के दक्षिण मे और मन्दिर के ठीक सामने अशोक-स्तम्भ खडा था, जो अब विध्वसावस्था मे पडा है। स्तम्भ टूट फूट गया है तो भी ब्राह्मी-लिपि मे अकित एक शिलालेख उस पर दीख पडता है। स्तम्भ की चिकनाई देखकर तो बड़ा आश्चर्य होता है। इतना प्राचीन और इस हालत मे पडे रहने पर भी उसकी चिकनाई मे किंचित अन्तर नहीं आया है। यह चिकनाई मौर्य-कला का एक नमूना है। अशोक के ऐसे अनेक स्तम्भ स्थान-स्थान पर मिलते है और पत्थर की यह चिकनाई देखकर लोग आश्चर्य प्रकट किये बिना नही रहत। इन स्तम्भो के ऊपर भी अन्य सब स्तम्भो की भाँति तीन सिह बने है।

बडे स्तूप के पूर्व और दक्षिण ओर बौद्ध भिक्षुओ तथा यात्रियों आदि के निवास के लिए बहुत से मठालय बने हुए थे जिनके भग्नावशेष अबसे कुछ वर्ष पहले ही खोदकर निकाले गये है। कुछ काठ के बने हुए मठालय भी थे परन्तु वे नष्ट-प्राय हो चुके हैं। इन्ही मठालयों के समीप दक्षिण मे एक छोटा चौरस मन्दिर और है।

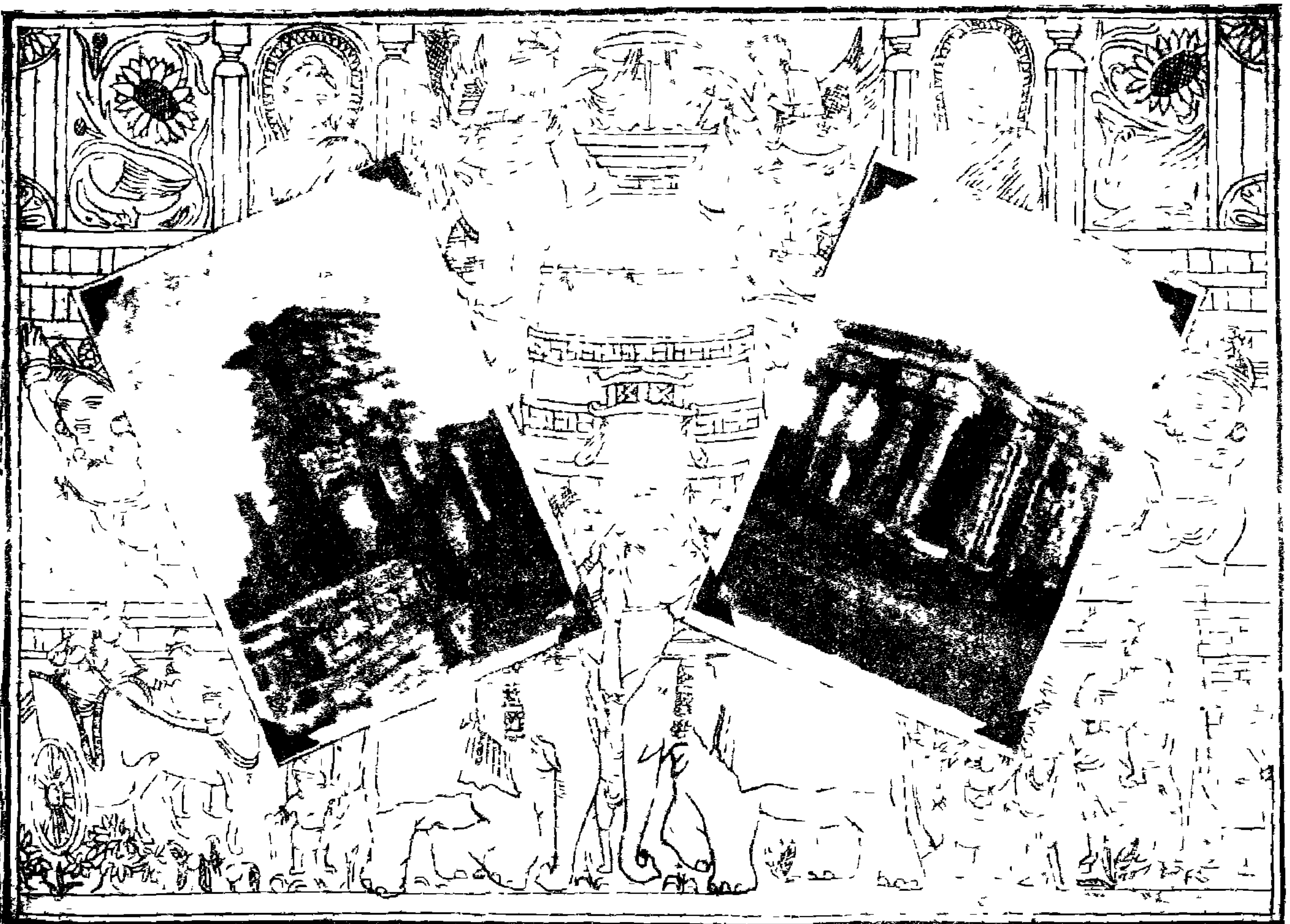
अब हमें साँची के मुख्य वर्णनीय विषय की ओर आना चाहिए। जिनके सम्बन्ध में पुरातत्ववेत्ताओं ने खोज की है तथा जो आज अच्छी अवस्था मे विद्यमान हैं, ऐसे तीन स्तूप साँची में मिलते हैं इनमें पहला स्तूप ही मुख्य है और उसी का वर्णन सबसे पहिले किया जाना चाहिए।

प्रथम स्तूप

पहाड़ी का पश्चिमी हिस्सा समतल करके १५०×१०० गज लम्बे-चौडे मैदान मे इस विशाल स्तूप का निर्माण किया गया था। १४ फुट ऊँचा चबूतरा बनाकर उस पर अर्धगोलाकार स्तूप बनाया गया है, जिसकी ऊँचाई ४२ फुट है और वृत्तरेखा १०६ फुट। नीचे के स्तूप की वृत्तरेखा १५० फुट लम्बी है। स्तूप के चार द्वार हैं। इन द्वारों पर किया हुआ खुदाई का काम कला-प्रेमियों के लिए अत्यधिक आकर्षण की वस्तु है। ऊपर जहाँ से अर्ध-गोलाकार स्तूप आरम्भ होता है उसके चारों ओर एक प्रदक्षिणा-पथ बना हुआ है, जो पत्थर की बनी हुई सुदर और आकर्षक बाड (Railing) से वेष्टित है। इस प्रदक्षिणा-पथ तक पहुँचने के लिए दक्षिण द्वार के सामने सीढियाँ बनी है। पूर्व-पश्चिम दोनों ओर से उतरने की सीढियाँ हैं। इन सीढियों के नीचे स्तूप के चारो ओर दूसरा परिक्रमा-पथ है। चारों दिशाओ मे जो प्रवेश द्वार बने है उनको स्तूप के चारों ओर मिलाते हुए ऊपर की भांति यहाँ भी ऊँची और बडी उसी प्रकार की बाड़ है। प्राचीन बौद्ध भग्नावशेषो में इस प्रकार की बाड़ बहुत जगह पाई जाती है। लेख के साथ प्रकाशित चित्रो से इस बाड़ का स्वरूप जाना जा सकता है। बोधि-वृक्ष के चारों ओर भी ऐसी ही बाड लगाई गई थी। पत्थर की बनी हुई यह बाड सादी है, पर है बडी सुन्दर। इस बाड से वेष्टित एक विशाल स्तूप का दृश्य जब देखने को मिलता है तो बौद्ध धर्म की महत्ता का एक चित्रपट आंखो के सम्मुख आ जाता है।

"इस विशाल स्तूप के नीचे क्या है?" इस कौतूहल के समाधान के लिए कुछ शौकीन पुरातत्त्व-प्रेमियों ने इसकी

* बात ऐसी नहीं है। प्रत्येक धर्म के ह्रास के समय ऐसे वासना-प्रधान सम्प्रदायो का उदय होना ही हैं। पिछले काल मे बौद्ध धर्म मे भी अनेक अवांछनीय रूढियाँ प्रचलित हो गई थी। इसके फलस्वरूप तन्त्रवाद का बडा प्रसार हुआ। अब भी उत्तरीय तिब्बत का बौद्ध धर्म तन्त्रवाद में लिपटा हुआ है। स्वय जगन्नाथ मन्दिर पर भी अतिम काल की इस विकृति का प्रभाव पडा है।—'त्यागभूमि'—सपादक



(१) पूर्व दिशा का मन्दिर

(२) गुप्तकालिक मन्दिर

खुदाई की, परन्तु स्तूप को थोड़ी सी हानि पहुँचाने के अतिरिक्त उन्होंने कोई सफलता प्राप्त नहीं की। कुछ वर्ष बाद लेफ्टिनेंट मेसी और मेजर एलेक्जेण्डर कनिंघम ने इसकी खुदाई की। खुदाई मे उन्हे कोई विशेष वस्तु प्राप्त नहीं हुई जिससे अनुमान किया जा सकता कि अमुक वस्तु पर इस स्तूप का निर्माण किया गया था। परन्तु, नीचे की ईंटें, चूना सीप के टुकड़े आदि जो कुछ मिले, उससे स्तूप के निर्माण काल का अन्दाज लगाने मे उन्हे सहायता मिली। साथ ही उन्होंने यह भी अनुमान किया है कि यह स्तूप बुद्ध के स्मृति-स्वरूप बनाया गया था और ऐसे महत्वपूर्ण स्थान में बुद्धदेव के अस्थि-अवशेष भी अवश्य रहे होंगे। इसका समाधान उन्होंने इस प्रकार किया है कि अस्थि-अवशेष ऐसे स्थान मे रहे होंगे जहाँ से उनके दर्शन सरलता से हो सके। बौद्ध भिक्षु-मन्दिरों के उस जीवन से पतित हो जाने के बाद अस्थि-अवशेष भी इधर उधर हो गये होंगे। कोई उन्हे ले गया होगा अथवा वे काल के गाल मे विलीन हो गये होंगे। यह स्तूप आदि बुद्ध के स्मृति-स्वरूप है, इसका एक पुष्ट प्रमाण है।

चारो द्वारो मे प्रवेश करते ही सामने एक-एक मूर्त्ति मिलती है। मूर्त्तियों पर बनी छत्रियाँ ही नहीं वरन् मूर्त्तियाँ भी बहुत कुछ क्षत-विक्षत हो गई हैं। पूर्व दिशा के द्वार मे जो मूर्त्ति है वह ककुछंद की है। बुद्ध ने पहला शरीर मृत्युलोग, ककुछद के रूप मे धारण किया था। दक्षिण दिशा की मूर्त्ति के मुख के चारो ओर ज्योति-मण्डल दिखाया गया है। दक्षिण और वाम पार्श्व मे दो सेवक है और छोटा सा हाथी भी। अनुमान किया जाता है कि यह मूर्त्ति दूसरे बुद्धावतार कनक की है। पश्चिम दिशा मे तीसरे बुद्धावतार कश्यप की मूर्त्ति बहुत भग्न दशा में है, उसका शिरोभाग तो बिल्कुल ही नष्ट हो गया है। चौथी मूर्त्ति पलथी मारे दोनो हाथो को गोद मे रखे हुए है, सेवक, चँवर आदि भी हैं। यह मूर्त्ति निश्चित् रूप से शाक्यसिंह की उस अवस्था की है जब उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया था। जो चैत्य आदि बुद्ध को समर्पित किया जाता है उसमे अब भी उसी प्रकार चार ध्यानी बुद्ध-मूर्त्तियों की स्थापना करने की प्रथा नेपाल के बौद्धो मे है। इन चारों मूर्त्तियो को दीप-दान करने की चर्चा भी है। यह शिलालेख 'हरिस्वामिनि-शिलालेख' के नाम से प्रसिद्ध है। अब तो वह भी बहुत क्षीण हो गया है। इसमें तिथि का जहाँ उल्लेख किया गया है, वह स्पष्ट नहीं पढ़ा जा सकता, पर अनुमानतः यह शक अथवा विक्रम संवत् ३००-४०० के बीच का है।

स्तूप के गर्भ-भाग में जो ईंटें आदि मिली हैं वे कम से कम २४००-२५०० वर्ष पूर्व की होनी चाहिएं। भिन्न-भिन्न शिलालेखों तथा ईंट पत्थर और खुदाई आदि के काम से अनुमान किया जाता है कि सब से पहिले स्तूप विक्रम संवत् के ४००-५०० वर्ष पूर्व, चारो ओर की बाड़ अशोक के शासन काल मे विक्रम सवत् के २०० वर्ष पूर्व; और प्रवेशद्वार, श्रीशतकर्णी के शासन काल मे विक्रम संवत् के १०० वर्ष बाद, बने थे। वेस्सनगर और चैत्य इन दो नामों का परिचय प्राप्त करने मे स्तूप का निर्माण-काल जानने मे बड़ी सरलता होगी। भिलसा से दो मील दूर बेसनगर नामक स्थान है जो वेस्सनगर ही है, चैत्य—चैत्यगिरि—साँची है ही। पाटलिपुत्र और उज्जैन के मार्ग मे अशोक इन स्थानो मे ठहरा करते थे। बुद्धघोष ने इसे वेस्सनगर और महानाम ने चैत्य लिखा है। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि स्तूप, अशोक के समय में विक्रम सवत् के २०० वर्ष पूर्व तो विद्यमान था। चारों ओर की बाड़ पर जो शिलालेख हैं उसकी लिपि से मालूम होता है कि वह अशोक के शासन-काल की है। इसका पुष्ट प्रमाण इस लेख मे है—"सुबाहितस गोतिपुतस राजलिपीकरस दानम्" अर्थात् राजकीय लेखक गोतिपुत्र सुवासित का दान। गोति कोदिनि का वंशज था। कोदिनि बुद्ध का एक प्रमुख शिष्य था। गोतिपुत्र के शिष्य मोगलिपुत्र ने तृतीय धार्मिक महोत्सव का संचालन किया था जो विक्रम सवत् के २०० से भी पहले हुआ था। प्रवेशद्वारों का निर्माण भी एक शिलालेख की सहायता से निश्चित् होता है। दक्षिणद्वार मे यह लेख मिलता है—

"राजन्य सीरी सातकनिस। अवेसनिस वासिथिपुतस। अनन्दस दानम्" अर्थात् श्री शतकर्णी के राज्य मे नवदीक्षित वशिष्ठ के पुत्र आनन्द का दान। यह आनन्द राजकुमार, मगध के आन्ध्र-शासको मे तीसरा था और इसका

शासन-काल पुरातत्ववेत्ताओं ने सर्व-सम्मति से विक्रम प्रथम शताब्दि मे माना है।

प्रथम स्तूप के प्रवेश द्वार

जैसा ऊपर लिखा गया है, स्तूप के प्रवेश-द्वार ही, विशेष महत्व के हैं। चारो दिशाओं मे बाड़ से घिरे हुए प्रदक्षिणा-पथ मे प्रवेश करने के लिए चार द्वार बने है। दो चौकोर पत्थर के खम्भों पर तीन-तीन लम्बे चौकोर महराबदार पत्थर रखे हैं। सब के ऊपर चक्र बने हुए है। द्वारों के खम्भों के शिरो-भागों मे विभिन्नता पाई जाती है। पश्चिम-द्वार पर चार बौने मनुष्य, दक्षिणद्वार पर चार सिंह और दूसरे दोनो द्वारों पर सवारों-सहित हाथी हैं। ऊपर की बाहर निकली हुई शिलाओं को पत्तो के समूह आदि का सहारा दिया गया है। उसके नीचे एक नर्त्तकी खोदी गई है। उस नर्त्तकी के बाल और विशेषत: किंकिणि को देखकर श्री कनिघम ने उसकी समता वर्त्तमान तिब्बती स्त्री से की है। जिन दिनो इसका निर्माण किया गया था उन दिनों इण्डो सीथियन सम्पर्क भारत मे स्थापित हो चुका था। इसलिए उन्होने, तथा कैप्टेन ईरे ने भी, इनका इन्डो-सीथियन—तातार—संबंध स्थापित किया है। ऊपर पखदार सिंह, छोटे छोटे हाथी और घुड़सवार और नर्त्तकियो की अन्य प्रतिमायें भी हैं। ऊपर जिस चक्र का उल्लेख किया गया है वह बौद्ध-धर्म-चक्र है और चार हाथियों के आधार पर स्थित है। यह चक्र बौद्ध धर्म के नियमो का द्योतक है। सबसे पहले काशी के समीप जब बुद्ध भगवान ने उपदेश किया था, तब यह चक्र चलाया था। इस चक्र के दोनो ओर चॅवर लिये सेवक तथा त्रिरत्न के द्योतक चिन्ह बने है। बुद्ध, धर्म और सघ का सम्मिलित नाम त्रिरत्न है।

प्रवेश-द्वारो मे जो खुदाई का काम है उनमे ये विषय मुख्य है—सैनिक घेरे, शहर के बारह आते तथा जाते हुए विजय के जुलूस, स्तूप और वृक्षो की पूजा, अस्थि-अवशेष की स्थापना के जुलूस, वन का साधु जीवन आदि। प्रत्येक दृश्य का परिचय तो यहाँ दिया जाना सम्भव नहीं परन्तु कुछ मुख्य-मुख्य भागों का सक्षिप्त परिचय यहाँ दे देना जरूरी है।

पूर्वीय द्वार के बाहरी ओर सेवकों और सचिवो-सहित राजपरिवार के दृश्य हैं। दृश्य चार जगह खोदे गये हैं और सारा दृश्य एक छ मंजिले राज-भवन का मालूम होता है। बाये खभे की धर्म चिन्ह-अंकित एक वेदी पर किन्नर चॅवर ढुला और भेट चढ़ा रहे हैं। मदिर के दोनों ओर राज-परिवार के दो व्यक्ति है। भीतर की ओर जो आकर्षक दृश्य है वह एक नौका का है। पानी मे एक नौका है जिसमे एक यात्री और दो खेने वाले है। सभी उच्च श्रेणी के बौद्ध भिक्षुओं की पोशाक पहने है। दाये बाये वृक्ष-समूह हैं। पानी मे कमल तथा अन्य जलचर दिखाये गये हैं। नीचे की ओर चार भक्तजन है। उनमे से एक ऊपर हाथ उठाकर प्रणाम कर रहा है। दाहिनी ओर एक वृक्ष है, जिसके नीचे वेदी है। अनुमान किया जाता है कि यह दृश्य भगवान् बुद्ध के निर्वाण का है। इस दृश्य का यह अर्थ भी लगाया जाता है कि एकबार नैरंजन नदी मे बाढ़ आई। बाढ मे बुद्ध देव को बचाने के लिए कश्यप और उनके दो साथी एक नाव मे जा रहे है। नीचे की ओर वे लोग जमीन पर आकर बुद्ध देव को नमस्कार कर रहे है। इसी के पास दूसरा दृश्य कपिला से जाते हुए राज-कुमार का है। इस द्वार के भीतरी खुदाई के काम मे, माया का स्वप्न मुख्य है। ऊपर माया देवी सो रही है, छ:दंत गज अपनी सूँड से उनका स्पर्श कर रहा है। नीचे की ओर सिद्धार्थ-कुमार रथ मे बैठे शहर के परकोट के बाहर जा रहे हैं। हाथी, घोड़े, गायक आदि का समुदाय उनके पीछे है। पीछे के बाँये खभे पर गार्हस्थ जीवन का एक सुन्दर दृश्य अकित किया गया है। उसमे एक रसोई का दृश्य है। कूटने, छानने तथा रसोई बनाने का सारा काम करती हुई स्त्रियाँ दिखाई गई है। इसी के पास अग्नि-रूप मे आदि-बुद्ध की पूजा का दृश्य भी विशेष महत्व का है। मन्दिर मे एक वेदी पर अग्नि-पात्र है और उसे एक पचमुखी नाग ने आच्छादित कर रखा है, मन्दिर की छत मे छोटे-छोटे द्वार हैं, उनमे से अग्नि-निकल रही है। मन्दिर के आस पास अन्य दृश्य भी है। नैपाल के वर्त्तमान बौद्ध अब भी ऐसा मानते है कि आदि बुद्ध को समर्पित प्रत्येक चैत्य के मध्य भाग में वैरोचन प्रकाश वास करता है। तिब्बती ग्रथो मे बुद्ध के 'विश्वप्रकाशक सूर्य', 'सब धर्मों के दीपक' विशेषण बहुतायत से पाये जाते है। बुद्ध के लिए 'चक्खु' का प्रयोग तो होता ही था। इन सबका

अभिप्राय प्रकाश के रूप में बुद्ध को देखना है। स्पष्ट रूप से मूर्त्ति-पूजा न होने के कारण इसी रूप मे बुद्ध की मूर्त्ति-पूजा करने का यह प्रमाण है। यहाँ तीसरा दृश्य आदि बुद्ध की स्मृति मे स्तूप-निर्माण का तथा भिक्षुओं के वन्य जीवन का है। द्वार के खंभों के ऊपर जो शिलायें है उनमे बुद्ध के चरणो की प्रतिमा का जुलूस और गज आदि पशुओ के द्वारा बोधि-वृक्ष की पूजा के दृश्य ध्यान देने लायक है।

दक्षिणद्वार के बाहरी ओर धर्म के त्रिरत्नो से सुशोभित एक वेदी, मन्दिर मे दिखाई गई है। राज-प्रासाद के एक साधारण दृश्य के अतिरिक्त अस्थि-अवशेष की पूजा करते हुए एक राज-परिवार का दृश्यभी है। एक दृश्य स्तूपों की पूजा का भी है, इसीमे वह शिलालेख है जिसमे श्री शातकर्णी का उल्लेख है। एक दूसरा दृश्य भी स्तूप-पूजन का है, उसमे एक शिलालेख है जिसका आशय है—धर्म के प्रवचन करने वाले आर्य क्षुद्र के शिष्य बलमित्र का दान। इस द्वार की बहुत कुछ क्षति हो गई है पर इसमें एक सैनिक घेरे का तथा अस्थि-अवशेष के जुलूस का अच्छा दृश्य अंकित है। हाथी पर चढा हुआ एक राजा अस्थि-अवशेष की पेटी की रक्षा कर रहा है। सामने एक भवन पर से तीर आदि चल रहे हैं। ऐसा मालूम होता है, अस्थि-अवशेष की रक्षा अथवा उन्हे छीन ले जाने के लिए यह युद्ध हो रहा है। इस दृश्य के द्वारा उस समय के सैनिक जीवन का अच्छा अध्ययन किया जा सकता है।

पश्चिम द्वार पर सब से पहले शस्त्र-सचालन के एक दृश्य पर, दृष्टि पडती है। एक धनुर्धारी नदी के बाये तट से नदी के उस तट की एक शिला को बाण से बेध रहा है। शिला से जल-स्रोत प्रवाहित हो रहा है। बांये तट पर एक वृक्ष मे एक कपि झूल रहा है। नदी के तट पर दो अन्य साथी, सेवक आदि भी है। इस दृश्य की कथा भी पाठकों को रोचक मालूम होगी। फाहियान ने इस कथा का उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि कपिला के परकोटे के बाहर तीस ली—५ मील—की दूरी की एक शिला को सिद्धार्थ कुमार ने अपने बाण से बेध दिया, उससे पानी निकलने लगा। बाद मे लोगो ने वहाँ पथिकों के लिए कुऍं बनवा दिये। विक्रम संवत् के २०० वर्ष पूर्व अशोक-पुत्र महेन्द्र जिस बौद्ध ग्रन्थको लेकर लंका गया था, उसमें इस घटना का बड़ा रोचक वर्णन मिलता है। सिद्धार्थ-कुमार ने जब यौवन प्राप्त किया तो राजा ने उनके विवाह के लिए आस-पास के सरदारो के यहाँ संदेश भेजे। कुमार सुंदर तो थे परन्तु लोगो को यह संदेह था कि उन्हे शारीरिक शिक्षा नहीं दी गई है, इसलिए किसी ने अपनी कन्या उन्हे देना स्वीकार नहीं किया। एक दिन राजकुमार ने पूछा—'शक्ति-प्रदर्शन के लिए मुझे क्या करना चाहिए ?' उनके पिता ने कहा—"जिस धनुष को चढाने मे एकसौ मनुष्यो की आवश्यकता है उसे अकेले चढ़ा देना।" राजकुमार ने धनुष मॅगवाया, उसे चढ़ा कर इतना खींचा कि धनुष टूट गया। वज्र-गर्जन के समान भीषण निनाद सुनकर शहर के बाहर अधिकाधिक सख्या मे लोग एकत्र हो गये। राजकुमार ने फिर पूछा—"मुझे अब और क्या करना चाहिए ?" लोगों के आग्रह से आठ इंच मोटे लोहे के तवे को बाण से छेद कर कुमार ने फिर पूछा—"और ?" कुमार ने अपनी शक्ति के प्रदर्शक अन्य काम किये। उन्हे देखकर शाक्यवंश वालो ने अपनी कुमारियाँ सजा कर उनके पास भेजी। नृत्य और गायन करती हुई चालीस हजार कुमारियाँ एकत्र होगईं। एक राजकुमारी ने पटरानी का पद पाया जो बाद मे राहुल की जननी हुई। इस कथा मे शिला-छेदन से पानी निकलने का उल्लेख नही है। परन्तु, अपने भाई देवदत्त और नन्द के साथ सिद्धार्थकुमार की प्रतियोगिता का उल्लेख चीनी यात्रा-वर्णन मे एक जगह और मिलता है। उसमे इसी प्रकार लोहे के तवो को छेद कर पृथ्वी मे जल-स्रोत प्रवाहित कर देने का वर्णन किया गया है।

पश्चिम द्वार के बाहरी ओर बोधि-वृक्ष की पूजा के दो दृश्य और है। बाँये खभे पर एक सामाजिक दृश्य है। एक दम्पति भवन मे बैठे है, उनके पास एक सेवक भी है। एक दूसरे दृश्य मे भी दो प्रेमी दम्पति है। बाँये खभे पर भिक्षु-जीवन और बोधि-वृक्षोत्सव के दो दृश्य है। पहले दृश्य मे एक ध्यान मग्न श्रमण है। एक दूसरी झोंपड़ी मे एक श्रमणा है। दोनो के बीच मे एक अग्नि-पात्र है और उसके पीछे एक बन्दर ! दूसरे दो अन्य भिक्षु तथा दो राज-परिवार के व्यक्ति

भी हैं। दूसरी ओर एक वृक्ष के नीचे दो भैंसें हैं, एक छोटे राजकुमार को कोई व्यक्ति प्रणाम कर रहा है। उनके बाँये एवं पानी के उस ओर दो धनुर्धारी हैं। यह शाक्य-कुमार के बाल्य जीवन का कोई दृश्य होना चाहिए। बोधि-वृक्षोत्सव के अतिरिक्त यहाँ एक और दृश्य है जिसमे समुद्र मे तैरती हुई एक नौका है। नौका में नीचे छत्र, चँवर, सिंहासनादि हैं, पर वे हैं खाली। अनुमान किया जाता है कि बौद्धों का यह सिद्धांत, कि हमारी पृथ्वी पानी मे नौका की भाँति है, व्यक्त किया गया है। परन्तु उसमे तैरते हुए लोगों के लिए क्या अनुमान किया जाय? रिक्त सिंहासन से तो चक्रवर्ती शाक्य के बुद्धत्व प्राप्त करने की अभिव्यक्ति का अनुमान किया जा सकता है। इस द्वार के खभो के ऊपर के पत्थरो की खुदाई मे भी, अस्थि-अवशेष के जुलूस, बुद्ध-धर्म-चिन्ह की पूजा, हाथियों की बोधि-वृक्ष की पूजा, स्तूप-पूजन, विजयोत्सव, मन्दिर आदि के दृश्य अंकित है।

उत्तरीय द्वार के बाहर की ओर लम्बी सीढ़ियों के ऊपर वृक्ष का दृश्य खुदा है। दूसरे खभे पर भी बोधि-वृक्ष-पूजन तथा अन्य छोटे छोटे दृश्यो के अतिरिक्त दो मुख्य दृश्य हैं। एक मे एक बालक के सम्मान का दृश्य है। अनुमानतः मगध-राज बिम्बिसार, शाक्य देव को प्रणाम कर रहा है। दूसरे मे शाक्य देव के चार गार्हस्थ दृश्य अंकित है। एक जगह वे अपनी पत्नी यशोधरा के साथ विनोदपूर्ण अवस्था मे बैठे हैं। दूसरे मे यशोधरा स्नान करते समय सारंगी बजा रही है। तीसरे मे वह हाथी पर चढ़ रही है और उसके चढ़ने में वे सहायता कर रहे हैं। चौथे मे दोनों हाथी पर बैठे हैं। यह दृश्य बड़ा सुन्दर है। जगली चट्टानों के बीच में से जलस्रोत प्रवाहित होकर बह रहा है। यशोधरा एक चट्टान पर बैठ कर पानी में पैर लटकाये हुए है। इन्हीं खभों के भीतर की ओर बोधि-वृक्ष के पूजन एवं गुफा-मन्दिर आदि के अन्य दृश्य भी अंकित है।

द्वार के ऊपर की शिलाओं मे अंकित बोधि-वृक्ष की पूजा के दृश्यो मे से एक मे स्वयं सम्राट् अशोक और तिष्य-रक्षिता के होने का वर्णन भी जॉन मार्शल ने किया है। बुद्ध गया के बोधि-वृक्ष के प्रति सम्राट अशोक का अटूट प्रेम और भक्तिभाव देखकर रानी तिष्यरक्षिता ने ईर्ष्यावश उसके विनाश के प्रयत्न किये। उसके इस अनुचित कार्य का प्रतीकार करने के लिए सम्राट ने उसे साथ लेकर बड़े भक्तिभाव से बोधि-वृक्ष की पूजा की थी। उसी का दृश्य यहाँ अंकित है। कहा जाता है, सम्राट् अशोक की मूर्ति इसके सिवाय और कहीं नहीं है।

दूसरा और तीसरा स्तूप

प्रथम स्तूप के ईशानकोण में ५० गज की दूरी पर एक दूसरा स्तूप है। यह स्तूप पहले स्तूप से छोटा है और उसमे उतना खुदाई का काम भी नहीं है परन्तु यह कम महत्व का नहीं। इस स्तूप का गर्भभाग खोदने से इसमे कुछ महत्वपूर्ण चीजें प्राप्त हुई थीं। स्तूप को खोदने से पत्थर का एक चौकोर सन्दूक मिला, जिसमे चार छोटी छोटी डिब्बियाँ थी पत्थर के बाक्स पर यह शिलालेख पाया गया है—"सविना विनयकान अरण कासप। गोतम उपादिय अरण च वाछि। सुविजयतं विनायक।" अर्थात 'विनय के सब प्रकारों के शिक्षक उपाध्याय अर्हत काश्यप गोत्र और विनय के शिक्षक अर्हत वाछि सुविजयत।' इस पत्थर के बाक्स के भीतर जो चार डिब्बियाँ है उन पर खुदे नामों से अस्थि-अवशेष का पता चलता है। पहली डिब्बी पर काश्यप गोत्र, मध्यम और हरितिपुत्र के नाम, दूसरी पर वाछी सुविजयत और काकनव प्रभासन, तीसरी पर महावनाय, आपगिर और कौडिन्य* तथा चौथी पर कौशिकीपुत्र, गोतिपुत्र और मौद्गलपुत्र के नाम खुदे हैं।

अस्थि-अवशेषो की इन पेटियों मे स्फटिक, मोती आदि रत्न भी मिले हैं। स्तूप के नीचे की बाड़ बिलकुल नष्ट हो गई है। स्तूप के अन्य भग्नावशेषों से उसका पुनर्निर्माण किया गया है। एक प्रवेश-द्वार भी फिर से खड़ाकर दिया गया है। स्तूप के भग्नावशेषों से पता लगता है कि वह

---

* इण्डोचीन मे प्राप्त शिलालेखों तथा अन्य ऐतिहासिक विवरणों में कौंडिन्य का नाम आता है। कौंडिन्य ब्राह्मण था और उसने मध्य इण्डोचीन में एक शक्तिमान राज्य कायम किया था। इस कौंडिन्य का समय ईसा की प्रथम शताब्दि माना गया है। बहुत सभव है कि यह वही कौंडिन्य हो। 'त्यागभूमि'-सम्पादक

इन दिनों चूने से लीपकर संदला किया हुआ था। स्तूप के चारों ओर सदले में फूल पत्ते बनाये गये थे और भांतिभांति के सुनहले और तेज रग से सुसज्जित थे।

तीसरा स्तूप पहाड़ी के पश्चिम ओर कुछ नीचे उतर कर आधे रास्ते मे है। यह स्तूप भी दूसरे स्तूप के बराबर है। इस स्तूप के प्रवेशद्वार, प्रथम दो स्तूपो की भाँति नहीं बने हैं। हाँ, इसके चारो ओर की बाढ़ मे खुदाई का बहुत ही सुन्दर काम है। भारतीय कला के पुराने और मौलिक उदाहरण यहाँ देखने को मिलते हैं, ऊपर के प्रवेशद्वारों से तुलना करने से भिन्नता स्पष्ट दिखाई देती है जो अत्यन्त रोचक है। यहाँ जो मानव-आकृतियाँ तथा बेलबूटे खुदे है वे विकृत से है। मारशल का मत है कि जब तक ग्रीकों का प्रभाव भारत की उत्तर-पश्चिम कला पर नही पड़ा था तबतक भारत के कलाकारो ने मानव-आकृतियों को चित्रित करना नहीं सीखा! यह उनका अपना मत है। उन्होंने ऊपर और नीचे की खुदाई की तुलना करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका मत ठीक हो सकता है पर उसी के साथ यह भी तो सभव है कि यह तीसरा स्तूप साधारण कारीगरों द्वारा बनाया गया हो!

इस स्तूप को खोदने से इसमे भी दूसरे स्तूप की भाँति अस्थि-अवशेष मिले है—पेटियों पर सारिपुत्र और महामोगलन के नाम अंकित मिले है। सारिपुत्र के अस्थि-अवशेष के साथ सात मूल्यवान धातु व रत्न पाये गये हैं। सारिपुत्र की जीवन-कथा बहुत ही रोचक और उपदेशप्रद है। इस वर्णन के साथ उनकी जीवन-कथा सक्षेप मे दे देना आवश्यक है।

राजगृह के दरबार के विद्वान्-पडित तिष्य की पत्नी सारिका के नेत्र सारस पक्षी के समान सुन्दर थे। उन्हीं के पुत्र का नाम सारिपुत्र हुआ। पुत्र भी अपने माता-पिता के समान बड़ा विद्वान् था। सारिपुत्र की विद्वत्ता की स्वय भगवान् बुद्ध ने प्रशसा की थी। उसके सहपाठी कात्यायन ने तो यहाँ तक लिखा है कि उन से षोडशाश मे भी कोई विद्वान् इस पृथ्वी पर नही था। सारिपुत्र ने सभी विख्यात् विद्यालयों की ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त की थी। अत मे बुद्ध के उपदेश सुनकर वे उनके अनुयायी होगये। जापानियों के मत के अनुसार बुद्ध के ज्ञान प्राप्त करने के ४ वर्ष बाद अर्थात् वि० स० के ५२७ वर्ष पूर्व वे बुद्ध के शिष्य हुए थे।

सारिपुत्र को जब यह मालूम हुआ कि भगवान् बुद्ध का निर्वाण-काल समीप है तो उन्होने उनसे कहा—"आपका निर्वाण देखना मेरे लिए सम्भव नहीं है।" उनकी ऐसी भावना देख बुद्ध ने कहा कि यदि तुम मानते हो कि तुम्हारा निर्वाण काल आ गया तो तुम भी निर्वाण प्राप्त कर सकते हो। यह आज्ञा प्राप्त करके वे अपने देश राजगृह गये। वहाँ उन्होंने अपनी इच्छा सब पर प्रकट कर दी। एक ऐसे विद्वान् का इस प्रकार निर्वाण सुनकर सभी लोग शोकाकुल हो गये। पर वे दृढ़ निश्चय कर चुके थे। महाराज अजातशत्रु ने आकर ऐसा न करने का उनसे आग्रह किया पर उन्होंने समझाया कि 'सबका विनाश होगा, सबका अत मृत्यु है। तुम भी इस ससार के प्राणी हो, तुम भी सदा नही बने रहोगे। मृत्यु एक न दिन आवेगी ही और तुम्हारे जीवन का अंत कर देगी। अपने आपको सौभाग्यशाली समझो कि तुमने बुद्ध के जीवनकाल मे जन्म पाया है और सो भी मानव शरीर मे। इस ससार से मुक्त होने का प्रयास क्यो नही करते?' उपदेश सुनकर सब लोग लौट गये। मध्य रात्रि के समय सारिपुत्र ने निर्वाण प्राप्त कर लिया। देवाधिपति अपने हजारों सेवको के साथ आये। मृत विद्वान के ऊपर सादर पुष्प चढाये गये, लोगो की आंखो मे आसुओं की वर्षा-सी होने लगी। ऐसे प्रभावशाली विद्वान के अस्थिअवशेष को सुरक्षित रखने वाले स्तूप के निकट खड़ा होकर कौन उस विद्वान को श्रद्धा और भक्ति से प्रणाम नहीं करेगा।

साञ्ची की कला

यह तो हुआ स्तूप आदि का संक्षिप्त परिचय। बौद्ध काल में पहले स्तूप के प्रवेश-द्वार बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं यह हम पहले ही लिख चुके है। इसलिए कला की दृष्टि से इनका थोड़ा सा विवेचन कर देना भी आवश्यक मालूम होता है। किसी प्रकार की आलोचना विवेचना करने के पहले हम भारतीय पुरातत्व विभाग के सचालक श्री जान मारशल के शब्दों का अविकल अनुवाद दे देना उचित समझते हैं। आपने लिखा है—"जिस कला को साची के

कलाकारों ने जन्म दिया है वह निस्सन्देह उस समय की राष्ट्रीयकला का प्रमाण-स्वरूप है। उसका मूल साधारण लोगों के हृदय और विश्वास में है। यह कला उन लोगों के आध्यात्मिक विश्वास और प्रकृति के गहरे ज्ञान और प्रेम के बोलते हुए प्रमाण के समान है। कृत्रिमता और आदर्शवाद से परे इसका उद्देश्य था, धर्म को उज्ज्वल करना। सो भी भारत के माध्यमिक काल की कला के समान आध्यात्मिक भावनाओं को शारीरिक स्वरूप के द्वारा अंकित किये बिना केवल सीधी-सादी पर प्रभावोत्पादक 'भाषा' में, जिस पर उस समय के कारीगरों की छैनी को अधिकार था, बौद्ध धर्म की आख्यायिकायें कहकर! यह उन लोगों के प्रेम और पवित्र आत्म-विश्वास का ही फल है कि ये खुदाई के काम बड़ी सचाई के साथ उनकी आत्मा का प्रतिबिम्ब प्रदर्शित कर रहे हैं और हमारी भावनाओं को भली प्रकार जागृत करने में अब भी समर्थ हैं।"

कला के विश्लेषण कर्त्ताओं ने बिना किसी मतभेद के स्वीकार किया है कि जितने आध्यात्मिक तत्वों का समावेश बौद्ध कला में है उतना और किसी में नहीं। साँची में भी इसकी सत्यता प्रमाणित होती है। वहाँ की खुदाई में राज्य-वैभव, सामाजिक और गार्हस्थ्य दृश्यों का चित्राङ्कण पाया जाता है पर वह भी या तो उनके आराध्य देव भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले हैं, अथवा उन्हीं के किसी अनुयायी के जीवन से। धार्मिक दृश्यों की अधिकता में तो कोई सन्देह है ही नहीं। भारतीय जीवन का वातावरण धार्मिक और आध्यात्मिक तत्वों से सदा परिपूर्ण रहा है। बौद्ध काल में तो भारत ने इस विषय में अच्छी उन्नति की थी, फिर उस समय के कलाकारों की कला उन तत्वों से विहीन हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है? और देशों की बात जाने दें, भारत की मुग़ल और राजपूत-कला में भावों की यह उच्चता कहाँ है? मुग़लों का अधिकांश जीवन ऐशो-आराम में बीतता था, उनके ज़माने की चित्रकला में उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। राजपूत चित्रकला राजपूतों के थोड़े बहुत धार्मिक प्रेम और ऐशो-आराम के प्रभाव से वंचित् नहीं। उसी प्रकार बौद्धकला बौद्धों की धार्मिक भावना के दर्पण के समान है। साँची के पत्थरों में कला के इस स्वरूप का हम स्पष्ट दर्शन कर सकते हैं।

यह तो हुआ साँची की कला के भावों का विवेचन; पर उसके स्वरूप का क्या मूल्य है? आँखों को वह कितना सुख देती है? कलाकार के मन के साथ ही साथ उसके हाथ की कारीगरीकी कितनी प्रशंसा करने को वह हमें प्रेरित करती है? यहाँ अपने एक मित्र के एक कटु अनुभव की बात हमें याद आती है। कहीं से आते हुए वे मार्ग में बड़ी उत्सुकता से साँची ठहरे थे। उन्होंने तो साँची के सौन्दर्य का अनुभव किया पर उनके कुछ साथी बड़े खिन्न हुए थे। उन्हें वे पत्थर केवल नीरस ही नहीं मालूम हुए थे, वरन् उनमें कुछ भी दिखाई नहीं दिया था। ऐसे लोगों के प्रति हमें क्या कहना है! परन्तु जो कला से थोड़ा भी प्रेम रखते हैं, वे साँची के कलाकारों की उच्च भावना का अनुभव करते प्रसन्न तो होंगे ही पर उसका बाह्य स्वरूप भी उन्हें कम आकर्षक नहीं मालूम पड़ेगा। कला के केवल उच्च भावों को ही महत्व देकर उसके बाह्य स्वरूप को नगण्य मानने वाले भी कला-प्रेमी हैं, पर वे भी, हमारा खयाल है, अपनी आँखों के साथ उसी प्रकार अन्याय करते हैं, जिस प्रकार पहली श्रेणी के लोग अपनी बुद्धि के साथ! हमें मानना होगा कि साँची की खुदाई में वह सौन्दर्य नहीं जो बोलता हो! पाश्चात्य तथा देशी ऐसी कई मूर्त्तियाँ हमारे देखने में आई, जो बोलती हैं, किसी भाव विशेष को स्पष्ट व्यक्त करती हैं। परन्तु, हमें यह कहते संकोच नहीं कि, साँची के खुदाई के काम में वह सौन्दर्य नहीं। हाँ, कुछ मूर्त्तियाँ वैसी भी हैं और उस दृष्टि से भी बहुमूल्य हैं।

अजंता में, चित्रों में, बौद्ध कलाविदों ने अपने मनोभाव व्यक्त किये हैं, और साँची में पत्थर पर खुदे हुए दृश्यों द्वारा। परन्तु, अजंता की चित्रकला जितनी आकर्षक और प्रौढ़ मालूम होती है, साँची की यह कला नहीं। चित्रांकण में कलाकार को विविध रंगों की सहायता सुलभ है, पर पत्थर पर छेनी चलाने वाले को उसके अभाव का सामना करना पड़ता है। साँची के कलाकारों को स्थान का संकोच भी था। उन्हें प्रवेश-द्वारों के खम्भों की छोटी-सी

जगह में ही बहुत कुछ अंकित करना पड़ा है । तो भी, साँची के कलाकार एक अति कमनीय कला को जन्म देने में समर्थ हुए हैं, इसमें संदेह नहीं ।

भारत को अपनी इस प्राचीन कला का स्वाभाविक गर्व है । यह कला भारत की प्राचीन उन्नति की द्योतक मात्र नहीं, वरन् उस समय के जीवन के एक हूबहू चित्र-पट के समान है । उस चित्रपट में अपने प्राचीन गौरव का दृश्य देखकर हमें हर्ष ही नहीं होता बल्कि कुछ सीखने को भी मिलता है । इन पंक्तियों के लेखक को भी उस गौरवमय स्थान के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था । हजारों वर्ष के उन प्राचीन पत्थरों का नयन-सुख ही नहीं पर स्पर्श सुख लाभ करने में भी कितना कौतूहल था ! स्तूप के प्रदक्षिणा-पथ पर खड़े होकर इस बात की कल्पना में कि किसी समय सम्राट् अशोक भी ठीक इसी स्थान पर आये होंगे, भारत का मुखोज्ज्वल करने वाले उस सम्राट के चरण यहीं कहीं पड़े होंगे; कितना आनन्द है ! कितना कौतूहल है ! पहाड़ी के एक कोने में बैठ कर अर्द्ध-निमीलित नेत्रों से साँची के वे स्तूप, भिक्षुगृहों के वे भग्नावशेष देखते हुए कल्पना की आँखों से हजारों भिक्षुगणों के उस समुदाय, भक्तिभाव समन्वित राजा महाराजा और नरनारीगण की पूजा अर्चना के वे दृश्य, देखने में कितना सुख है ? बाहरी आँखों से देखने वाले के लिए, सचमुच, वे नीरस पत्थर हैं, पुराने पत्थरों के ढेर मात्र हैं परन्तु जो भीतर की आँखों से देखेगा उसके लिए तो वह बौद्धों की अहिंसा का पदार्थ-पाठ हैं, दुनिया के दुःखों को दूर करने की आतुरता के चेष्टा-चिन्ह हैं ! तलहटी में खड़े होकर, ध्यानस्थ हो, गिरि-शिखर पर बने स्तूपों पर अहिंसा के विराट् आन्दोलन के संचालक के त्याग और तप की आभा के दर्शन क्या दुर्लभ हैं ? वह त्याग और तप तो वहाँ स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित है ।*

श्रीगोपाल नेवटिया

* इस लेख के लिखने में मुझे अन्य पुस्तकों के अतिरिक्त श्री कनिंघम और जान मारशल के साँची-वर्णनों से अधिक सहायता मिली है अतएव मैं उनका आभारी हूँ ।

कामना

हरे ! तुम्हारी करुणा–धारा–
तारा–हाराकारा,
धोती रहे धरा के धब्बे,
बहे ग्लानि-श्रम मारा ।
जीवन–सुधा पिये यह वसुधा,
रहे भवाब्धि न खारा,
प्रेम–वृष्टि, सविवेक-दृष्टि हो,—
सृष्टि एक परिवारा ।
हरे–भरे सब क्षेत्र निहारें—
हम निज नेत्रों द्वारा,
मुक्ति–शुक्तियाँ फले निरन्तर,
तके स्वर्ग बेचारा ।
मनोमीन हो जाय मग्न, हाँ
रहे न कूल–किनारा,
भय शान्त हो सब तृष्णायें,
घट भर जाय हमारा ॥

मैथिलीशरण गुप्त

पेरिस का एक दृश्य

पेरिस सभ्यता का केन्द्र, ऐश्वर्य की राजधानी है। मैंने भी निश्चय किया कि अपने अमूल्य समय का कुछ भाग पेरिस में चल कर व्यतीत करूँ। दुर्भाग्यवश ट्रेन सेंट लजा स्टेशन पर रात्रि के चार बजे पहुँची। सूर्योदय तक मैंने स्टेशन पर ही रहना निश्चय किया। पेरिस के वैभव, उसकी सुन्दरता और ऐश्वर्य की मन ही मन कल्पना करने लगा। नगर देखने की उत्सुकता बढ़ती जाती थी। तीन घण्टे बड़ी अधीरता से व्यतीत किये।

मुझे तो पेरिस देखने की धुन थी। सब से पहले एक होटल में गया। जल्दी-जल्दी शौच आदि से निपट कर सुबह का भोजन किया और किराये की मोटर लेकर शहर घूमने चल पड़ा।

सिनेमा की तस्वीरों के समान पेरिस की बड़ी बड़ी अट्टालिकायें और दुकानें मेरी आँखों के सामने फिरती जाती थीं। सचमुच नगर का सौन्दर्य जैसा सुना था वैसा ही निकला। पहला दिन मोटर से नगर की परिक्रमा करने में ही बीता। दिन भर के तूफान और गर्द में काफी थक गया था। अत होटल लौट आया। भोजन किया। फिर बाहर निकलने की इच्छा ही न हुई। पेरिस नगर का स्वप्न देखते देखते मैं निद्रा देवी की गोद में सब कुछ भूल गया।

दूसरे दिन 'पेरिस गाइड' उठाया और देखने योग्य स्थानों पर निशान करने लगा। अगला दिन ल्वाग्रे आदि मुख्य-मुख्य चित्र और कला-भवन देखने में व्यतीत हुआ। यह नगर पुराने एवं विश्व-विख्यात चित्रों और मूर्त्तियों का खजाना है। ल्वाग्रे में ससार का सब से बड़ा चित्र-सग्रह है। यहाँ पहुँचते-पहुँचते शाम हो गयी। खाना खाने में मेरा एक घण्टे का समय व्यर्थ नष्ट हुआ। रेस्ट्राँ के मुख्य सेवक और एक स्त्री में कुछ झगड़ा खड़ा हो गया था। सेवक काफी मोटा ताजा था। वह जितना लम्बा था उससे करीब कुछ ही कम चौड़ा भी था। स्त्री उससे भी बढ़ कर थी। मैं उस झगड़े का सर-पैर कुछ न समझ सका। स्त्री और पुरुषों की काफी भीड़ एकत्र हो गई थी। वहाँ के झगड़े की कल्पना वही लोग कर सकते हैं जिन लोगों ने काशी में तरकारीवालियों, या उपले बेचने वालियों का झगड़ा देखा होगा। काफी का प्याला पीने के बहाने मैं लगभग एक घंटे तक बड़े आनन्द के साथ वहाँ का वाग्युद्ध देखता रहा।

अगला दिन भी ल्वाग्रे का अपूर्व चित्र-सग्रहालय देखने में ही व्यतीत हुआ। कला-प्रेमियों के लिए यह स्थान बड़े महत्व का है। वे इन स्थानों में सप्ताह क्या महीनों व्यतीत कर सकते हैं पर मेरी तबियत तो शाम तक इस सग्रहालय को देखते देखते ऊब गई।

अगले दो एक दिन पेरिस के आसपास के स्थान देखने में बिताये। वारसैल्स आदि मुख्य नगर देखे। वारसैल्स का नाम हमारे सामने यूरोपीय महायुद्ध को लाकर खड़ा कर देता है। यह बड़ा ही दर्शनीय स्थान है। लुईवंश के नरेशों ने इसे अपने वैभव का केन्द्र बनाया था। इस के विशाल और दर्शनीय महल में 'गाइड' बड़े गौरव से अब भी वह मेज दिखलाता है जहाँ बैठकर सन् १९१८ ई० में लायडजार्ज, वुडो विलसन, मोशिये क्लेमेन्शो आदि, राजनैतिक-ससार के महान् पुजारियों ने सन्धिपत्र के ऊपर हस्ताक्षर किये थे।

इस तरह छ सात दिन में पेरिस और उसके आस-पास के नगरों की सैर कर ली। रात में वहाँ के मशहूर थियेटर आदि भी देखे। एक बार फिर मैंने 'गाइड' उठा कर देखा कि कोई ऐसा स्थान तो नहीं है जिसे मैंने न देखा हो। पर ऐसा कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिला। खाली दिन था। बड़ी बड़ी दो चार दूकानों की सैर की। कुछ कपड़े आदि भी खरीदे। किसी तरह से यह दिन भी व्यतीत हुआ। यहाँ भी दूकानों में स्त्री-पुरुषों की बहुत भीड़ रहती है। सभी तरह के आदमी यहाँ आते हैं। अमीर से अमीर, ग़रीब से ग़रीब, और जेबकट से लेकर फ्रेंच प्रजातंत्र के प्रधान तक आते हैं। फ्रेंच लोगों के सुन्दर मुस्कराते हुए

मुख और उनके बातचीत करने के लखनवी तरीके देख कर तबियत प्रसन्न हो जाती है। काले और गोरे का फ्रान्स मे अधिक भेद नहीं है। कहीं-कहीं पर हबशी अपनी श्वेतांग पत्नी और परिवार-सहित दिखाई देते हैं और कहीं-कहीं कोई श्वेतांग साहब अपनी कृष्णवर्ण अफ्रीकन पत्नी के साथ नज़र आते है।

सायंकाल को मेरे सामने एक कठिन प्रश्न उपस्थित हुआ। अब मै पेरिस मे क्या करू? मैंने सोचा था कि कम से कम एक महीना यहाँ रहूँगा पर यहाँ एक ही सप्ताह मे सब कुछ समाप्त हो गया। मेरे होटल के सामने एक बडा पार्क था। मैं वहाँ चला गया। और घूमने के पश्चात् एक खाली बेंच पर बैठ गया।

जिन लोगों ने कभी विदेश-यात्रा की होगी वे ही समझ सकते है कि कभी-कभी अकेलापन कितना अखरता है, कैसा असह्य हो जाता है। चित्त बहुत उद्विग्न हो रहा था। जी चाहता था कि पार्क मे रखी हुई पत्थर की मूर्तियों से ही कुछ बात करूँ। कभी सोचता कि कल यहाँ से डेरा-डंडा उठाना चाहिए। इन्हीं विचारो मे लीन था कि इतने मे एक पुरुष मेरे पास आकर बैठ गया। उस अंधेरे मे वह खूब स्वस्थ नज़र आया। उसके चेहरे की बनावट भी सुन्दर मालूम होती थी। अपनी वेष-भूषा से भी वह सज्जन मालूम पडता था। उसकी उम्र भी मेरे ही इतनी अर्थात् पच्चीस छब्बीस वर्ष की थी। बैठते ही उसने बडी नम्रता से पूछा—"आप किस देश के निवासी है?"

इग्लैण्ड मे अधिक दिन ठहरने से मुझे अंग्रेजों की एक आदत पड़ गई थी अर्थात् अपरिचित आदमी से मै बात चीत न करता था। इग्लैण्डवासी बड़े अ-सामाजिक होते हैं। * उनके वातावरण ने मुझे भी उसी साँचे मे ढाल लिया था अतएव जब उपर्युक्त सज्जन ने मुझ से मेरे देश का नाम पूछा तो पहला विचार, जो मेरे मन मे आया, यह था कि यह आदमी शिष्टाचार के नियमों से सर्वथा अपरिचित है। पर तुरंत मुझे ख़याल आया कि यह मनहूस शिष्टाचार ब्रिटिश-द्वीप तक ही परिमित है और मैंने अपने को सँभाल कर उदासीन भाव से "भारतवर्ष" कह चुप्पी साधने की चेष्टा की। इस समय भी मुझे लण्डन की एक घटना की याद आ रही थी† अतएव पहले मैंने इस संक्षिप्त उत्तर से ही अपना छुटकारा करना चाहा पर अकेला-पन इतना खल रहा था कि सम्पूर्ण तर्क-वितर्क को ताक पर रख कर उससे बात-चीत करने का निश्चय मैंने कर लिया।

जिस नम्रता से उसने प्रश्न किया था, उसी नम्रता से मैंने उत्तर दिया—"मैं भारत वर्ष का एक तुच्छ निवासी हूँ"।

---

* इंगलैंड मे साहबों के साथ एक ही बेंच पर चार-चार घण्टे बैठकर देखा है कि वहाँ के लोग किसी प्रकार अपने विकृत दाँत देखने का मौक़ा अजनबी आदमियों को नहीं देते। वे अपना मनहूस चेहरा लिए अपने मन में ही अपनी खिचड़ी पकाते रहेंगे। ये लोग सामाजिकता की शुद्ध वायु से अपने को इतना अलग रखते है कि इनके समाज मे रहकर प्रत्येक आदमी मे उनके रोग का असर पडना स्वाभाविक है। मुझ पर तो यह असर खूब ही पड़ चुका था। फ्रांस मे यह बात नहीं है। वहाँ यदि घण्टे दो घण्टे का भी रेल का सफर हो तो डब्बे के तमाम मुसाफ़िरो की आप से घनिष्टता हो जायगी। पर एक बात है, अ-सामाजिकता की इस अंग्रेजी आदत से कभी कभी समय की बडी बचत हो जाती है। मुझे स्वयं इस आदत के कारण लम्बी यात्राओ में अध्ययन का खूब मौका मिलता रहा है।

† एक दिन वाटिका मे मैं एक बेंच पर बैठा फूलों और भँवरों का खेल देख रहा था कि अचानक एक सुन्दर वस्त्र-धारी पुरुष ने आकर मुझको सलाम किया और 'कैसा सुन्दर दिन है' कहकर मुझ से "लन्दन कैसा है?" प्रश्न करने लगा। तब तक मैंने बिना परिचय के न बोलने की अंग्रेजी आदत ग्रहण न की थी। मैंने समझा कि यह तो बड़े उदार-हृदय मालूम होते है, पर थोड़ी सी बात-चीत के बाद उन्होंने मुझसे एक पौंड सहायता-स्वरूप माँगा तब तो मैं चकित रह गया। मेरे कहने पर कि इस समय मेरे एक पास पौंड नहीं है, उसने आधे पौंड की दरख्वास्त की। अन्त मे ढाई शिलिंग देकर मैंने उससे छुटकारा पाया। उसने दूसरे दिन उसे लौटाने का वादा भी किया। पर कितने दिन और कितनी रातें बीत गई, उसके दर्शन दुर्लभ ही रहे।

भारतवर्ष का नाम लेते ही वह चौकन्ना-सा होगया। पीछे उसने कहा कि मैं भारतवासियों से मिलने को बहुत उत्सुक रहता हूँ। वह रवींद्रनाथ की सब रचानाओ का आस्वादन कर चुका था। महात्मा गाधी के असहयोग आन्दोलन से भी उसे बड़ी दिलचस्पी थी। प्रसिद्ध फ्रेंच मनस्वी रोम्याँ रोलाँ की लिखी हुई महात्मा गांधी की जीवनी वह पढ़ चुका था। हम लोग लगभग तीन घण्टे तक वहीं बैठकर रवींद्रनाथ और गांधी की 'फिलासफी' पर बातचीत करते रहे। जब मै उठने लगा तो मोशिये मार्टिन्यू (यहीं उस सज्जन का नाम था) ने मुझसे अपने साथ भोजन करने को निमन्त्रित किया। पहले तो मैंने अस्वीकार किया क्योंकि मेरा सन्देह अभी दूर नहीं हुआ था। यद्यपि उसकी बातचीत से यह स्पष्ट होगया कि वह खूब पढ़ा लिखा और विचारशील पुरुष है। पर मेरे संदिग्ध हृदय को निमन्त्रण मे चाल मालूम पड़ती थी।

मार्टिन्यू के अधिक आग्रह करने पर मैने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। भोजन के पश्चात् मार्टिन्यू भी होटल तक मेरे साथ आया। उसके विदा होने तक मेरी जेब मे उतने ही शिलिंग थे जितना मिलने के पहले। मैंने सोचा यह या तो कोई शरीफ़ आदमी है या पूरा लफंगा और मुझे गहरे पानी में डुबायेगा। यूरोप के बडे नगरो के परदे मे भी एक प्रच्छन्न नगर रहता है। उसमे क्या होता है यह सीधे-सादे यात्री क्या जाने। फिर भी हिम्मत रखकर मैंने मार्टिन्यू, को अगले दिन सुबह काफी पीने को निमंत्रित कर दिया। उसे सुबह कुछ काम था इसलिए वह मेरे साथ दोपहर का भोजन करने को तैयार होगया।

सीन नदी का पुल

मार्टिन्यू नियत समय पर होटल मे मेरे साथ भोजन करने आया। मार्टिन्यू के पूछने पर कि पेरिस मे क्या क्या देखा, मैंने बडे गर्व से कहा, "सब दर्शनीय स्थान देख लिये है।" इस पर वह हँसा और बोला—"अभी आपने पेरिस का कुछ नही देखा है।" उसने प्रस्ताव किया कि सायकाल को सीन नदी के पुलो के नीचे भी सैर करने चला जाय। इस प्रस्ताव पर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ सीन। नदी पेरिस के बीच से होकर जाती है। नदी के दोनो ओर सुन्दर सड़कें, मकान और दूकानें हैं। थोड़े-थोड़े फासले पर नदी पार करने के लिए बड़े-बड़े पुल हैं। कई बार मैने ये पुल पार किये थे, सुन्दर सड़कों पर भ्रमण किया। पर देखने योग्य कोई वस्तु मुझे न दिखलाई पड़ी थी। मार्टिन्यू का प्रस्ताव मैंने स्वीकार तो कर लिया पर मुझे यह भय था कि पुल के नीचे कहीं यह मेरा जेब खाली न कराले अथवा कपडे न उतरवाले। आखिर सायकाल को पुलों के नीचे घूमने से उसका क्या मतलब हो सकता है?

सायकाल को चलते समय मैंने अपनी जेब मे उतने ही पैसे रखे जितने से मोटर किराया कर होटल लौट सकता था। कोट भी मैंने पुराना ही पहना। होटल वालों को भी कह आया कि मेरा सामान बिना मेरी आज्ञा के किसी को न दिया जाय। नियत समय पर मार्टिन्यू मुझे पुल के नीचे मिला। उसके हँसते हुए मुखमण्डल पर शोक की आभा मालूम हुई—वह पहले से अधिक गम्भीर था। उसकी यह सब गम्भीरता देखकर मेरा सन्देह और भी बढ़ गया कि कहीं वह मुझसे छल न करे। पर मेरे पास उस समय कोई ऐसी वस्तु न थी जिसके जाने का मुझे रंज हो। न मैं किसी बडी जायदाद का वारिस ही होने वाला था, न किसी के प्रेम मे विघ्न ही डाल रहा था जो पुल के नीचे अंधेरे मे ले जाकर मार्टिन्यू मेरा काम समाप्त करना चाहता है, यह विचार कर मुझे कुछ हिम्मत हुई और उसके पीछे-पीछे नदी की ओर उतरने लगा। मैंने पहले कभी नही देखा था कि नदी के किनारे दोनों तरफ़ कुछ खराब सडकें भी है। और वे ऊपर की सुन्दर सडको के किनारे दूर तक फैली हुई है।

पर यह क्या? पुल के नीचे मैने जो दृश्य देखा, वह कभी न भुलाया जा सकेगा। सडको पर कितने ही बाल-वृद्ध, युवा, स्त्री-पुरुष फैले हुए थे। दो एक स्त्रियो की गोद मे बालक भी थे। इनके कपड़े चिथडे-चिथड़े हो रहे थे—जूते तो उनकी बदकिस्मती के खास शिकार मालूम होते थे। कुछ के पास तो वे भी न थे। ये लोग ज़ोर से, चिल्ला-चिल्लाकर बात कर रहे थे। पहले तो मैंने समझा, लड रहे है पर बाद मे मालूम हुआ कि उनकी बातचीत का ढंग ही ऐसा है। इनमे अधिकतर बासी सूखी रोटियाँ चबा रहे थे। मैंने सोचा, चंद कदम पर ही जो हवेलियाँ दिखाई दे रही है, उनके

कुत्ते भी ऐसी रोटियाँ सूँघ कर छोड़ देंगे। बाज-बाज के पास शराब की बोतलें भी रखी हुई थी। फ्रांस मे शराब पानी की तरह पी जाती है—सस्ती भी मिलती है। कुछ के पास केवल सीन नदी का जल था जिसके सहारे वे सूखी रोटियाँ गलेके नीचे उतार रहे थे।

दो घण्टे पूर्व मैं किस पेरिस मे था ! उस मे और इसमे कैसा भीषण और रोमांचकारी अंतर था ! वे अट्टालिकायें और ये मिट्टी के टुकडे, वह रास-रंग और यह दलित मानवता का उत्पीडन ! कितना भेद था, कितना अंतर था। दस ही कदम पर शोरगुल मे मस्त, अपनी दीवानगी मे बेकल पेरिस की हँसी खेल रही थी, और यहाँ यह ! जीवन की चंचलता और मृत्यु का सूनापन कितने नजदीक आ गये थे।

पेरिस का यह नारकीय दृश्य देखकर मैं सहम गया। अर्थशास्त्री होने के कारण मुझे ऐसे विषयों मे विशेष रुचि थी। मैंने ठहर कर जरा गौर से उन लोगो की हालत देखनी चाही पर मार्टिन्यू ने मेरे कान मे कहा—"खड़े हो कर इनकी और अधिक न देखो अन्यथा इनमे से कोई बोतल खींच कर मार देगा। ऐसे ही चले आओ, जिससे इन लोगो को यह मालूम हो कि हम लोग किसी काम से उस ओर जा रहे है।'

उस पुल से निकल कर हम लोग आगे चले। दूसरे पुल के नीचे भी वैसा ही दृश्य था। अंधेरा हो चला था। अब तो ये लोग भोजन करके नदी के किनारे आ-आकर लोटने लगे। यहाँ इनकी संख्या अधिक थी। कहीं-कहीं पर स्त्री-पुरुषों मे लडाई भी हो रही थी। अधिकाश व्यक्ति नशे मे बेहोश थे। कई पुलों के नीचे होते हुए हम दूर तक निकल गये हरएक पुल के नीचे वही नारकीय दृश्य नजर आता था। एक पुल के नीचे पहुँचने पर मार्टिन्यू ने किसी का नाम लेकर पुकारा। एक व्यक्ति कुछ ऊँघता-सा उसके पास आया। और उसने एक दूसरे व्यक्ति की ओर इशारा किया। वह लेटा पडा था। मार्टिन्यू उसके पास गया। वह बिलकुल बेहोश था। और उसके बदन के कपडे भी खुले थे। मार्टिन्यू उसकी ओर झुका और चुपके से कुछ दाम उसकी जेब में डाल आया। उस समय मुझे मार्टिन्यू मे देवत्व का आभास हुआ। उसकी दबी आह मेरे कानों तक आई।

इसके बाद उसने मुझ से वापस चलने को कहा। उस अंधेरे से निकल कर हम लोग ऊपर की सुन्दर सड़क पर आये। मार्टिन्यू का मुख मंडल सहानुभूति और दुःख से गम्भीर था। उसने उस समय मुझ से अधिक बातें न कीं और फिर मिलने का वादा कर चला गया।

अभी तक मैंने पेरिस का हँसना और चमकता हुआ भाग देखा था। अब मैंने पेरिस का वह नारकीय और गंदा हिस्सा भी देखा। मुझे स्वप्न मे भी यह ध्यान न आया था कि सीन नदी के सुन्दर पुलों के नीचे दरिद्रता से दबे सहस्रो स्त्री और पुरुष निवास करते हैं। सीन नदी का तट उनका शयनागार है और पत्थर के टुकड़े उनके लिए तकियों का काम देते है। घोर व्यभिचार-पूर्ण जीवन ही उनका एक मात्र आनन्द है। पेट की क्षुधा से व्याकुल ऐसी नंगी भीड मैंने यूरोप मे पहली बार देखी थी। यह उस नगर मे देखा जिसके वैभव और शान-शौकत से आँखें चकाचौंध हो जाती है। लन्दन मे टेम्स नदी के किनारे भी रात्रि मे आधे भूखे और आधे नंगे कुछ स्त्री-पुरुष अपनी रातें उस के किनारे पड़ी बेंचो पर बिताते है। पुलिस उनको खदेड़ती रहती है वे एक बेंच छोड़ दूसरी, दूसरी छोड़ तीसरी पर जा लेटते हैं।

कई वर्ष बीत गये पर अब भी जब मैं उन दृश्यों की याद करता हूँ तो कलेजा काँप जाता है। यूरोपीय प्रणाली पर संघटित समाज के अंदर कितना विष एकत्र हो रहा है, इसे आज कौन समझता है ! पर मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि पेरिस (तथा उसका अनुकरण करने वाली आधुनिक दुनिया) क्या इसी स्तंभ पर खड़ी है ?

हरिश्चन्द्र सेठ

(एम० ए०, पी० एच, डी०, लण्डन)

" किसी समय मे और कहीं भी, घृणा, घृणा मे नष्ट नहीं होती। वह केवल प्रेम ही है, जिससे घृणा का नाश होता है। यह सनातन धर्म (नियम) है।" —धम्मपद

रण की ओर

(१)
जय के दृढ विश्वास-युक्त थे
दीप्तिमान जिनके मुखमण्डल ।
पर्वत को भी खण्ड-खण्ड कर
रज-कण कर देने को चञ्चल ।
फड़क रहे थे अति प्रचण्ड
भुज-दण्ड शत्रु-मर्दन को विह्वल ।
ग्राम-ग्राम मे निकल-निकल कर
ऐसे युवक चले दल के दल ॥

(२)
अपने शयनागार बन्द कर दिये
नवोढ़ाओं ने तत्त्तण ।
बाँध दिये पतियों की कटि मे
असि, कलाइयो मे रण-कङ्कण ।
माताओं ने विजय-तिलक कर
छिड़के थे जिन पर पवित्र जल ।
ग्राम-ग्राम मे निकल-निकल कर
ऐसे युवक चले दल के दल ॥

(३)
जिनकी नस-नस मे विद्युत थी
आँखो मे था क्रोध प्रज्वलित ।
छाती मे उत्साह भरा था
वाणी मे था प्राण प्रवाहित ।
मातृभूमि के लिए हृदय में
जिनके भरी भक्ति थी अविरल ।
ग्राम-ग्राम से निकल-निकल कर
ऐसे युवक चले दल के दल ॥

(४)
माँ ने कहा—दूध की मेरे
लज्जा रखना रण मे हे सुत !
स्त्री ने कहा—लौटना घर को
आर्य पुत्र ! तुम विजय-श्री-युत ।
इन वचनो से गूँज रहे थे
जिनके श्रवण और अन्तस्तल ।
ग्राम-ग्राम से निकल-निकल कर
ऐसे युवक चले दल के दल ॥

(५)
रहता था उत्साह पवाहित
गावो मे राहो पर दिन भर ।
घर से निकल खड़ी रहती थी
माताये भोजन-जल लेकर ।
सैनिक युवको को रणवर्ती
निज पुत्रो के तुल्य मानकर ।
खिला-पिला कर सुख पाती थी
प्रेम-सहित दृग मूँद ध्यान धर ॥

(६)
बहनें कहती थी—हे भाई !
बैरी का अभिमान चूर्णकर ।
विजयी योद्धा के बानक मे
इसी राह होकर जाना घर ।
हम गायेगी गीत विजय के
फूल और लाजा बरसा कर ।
बहनो को आनन्दित करना
हर्ष हमारा सुना-सुना कर ॥

(७)
बहुयें भूख-प्यास बिसराकर
पथ पर निर्निमेष दृग देकर ।
देख सैनिको के राजधज निज
पतियो की छवि दृग मे लेकर ।
पथ की ओर खोल वातायन
बार बार चुप-चाप आह भर ।
किसी कल्पना मे बेसुध-सी
वही खड़ी रहती थी दिन भर ॥

(८)

युद्ध जीत कर वीर वेष मे
आयेंगे मेरे प्राणेश्वर ।
पहनाऊँगी यह जय-माला
इसी भावना को उर मे धर ।
प्रातःकाल नित्य उठ करके
उपवन से नव-कुसुम चयन कर ।
हार गूँथ कर वे रखती थी
प्रेम-वारि से पूर्ण नयन कर ॥

(९)

गाँव गाँव में चौराहों पर
प्रतिदिन सन्ध्या को नारी-नर ।
एकत्रित हो युद्ध-भूमि के
अति रोचक वृत्तान्त श्रवण कर ।
हो जाते थे हर्ष-विमोहित
रोमांचित गर्वित आनन्दित ।
कभी-कभी चिन्तित, आन्दोलित
उत्तेजित विक्षोभ—विकम्पित ॥*

रामनरेश त्रिपाठी

अवसर

(एक बीज की जबानी)

जब किसान अपने खेत का झाड-झंखाड बटोर कर खाद के गढ़े में फेंकने लगा, तब मैं उन्हीं मे की एक पतली-सी टहनी से चिपट कर उसी गढे मे जा पड़ा और अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

कृषक दिन भर का परिश्रम करके आनन्द से गाता हुआ घर लौटा। उसे केवल परिश्रम का ही आनन्द न था उसने आज ढेर-का-ढेर खाद का सामान भी जुटा लिया था। निःसन्देह अगले साल फ़स्ल दूनी होगी। यही नहीं, उसने अपनी खेती के शत्रु, हमारे स्वयरुह वनस्पति-वंश का भी समूल नाश कर डाला था। परन्तु उसे मेरे अस्तित्व का पता न था।

खलिहान समाप्त हुआ। गरमी आई। ऋण, ब्याज और देन-पाते के भार से लदे हुए कृषक अपने पेट काट कर बनियों के हाथ अनाज बेंचने लगे और उसके मोल मे से वे अपने रक्त चूसने वाले भू-स्वामि पितरों का तर्पण करे करें कि लग्न के दिन आ पहुँचे और उस धन का बहुत बड़ा अंश वैवाहिक अग्नि में हवन हो गया। खेतिहर अपने आमोद में मग्न थे—'चरैं हरित तृन बलि-पसु जैसे'।

भूमिपाल का जो वज्र अभी उन पर घहराने वाला था, जम का जकात जो खूब ज़ोरों से वसूल किया जा रहा था उसकी ओर उनका ध्यान भी न था। और कहाँ तक! जब यह नित्य का भाग्य ठहरा तो कब तक कोई हाय-हाय करे। अच्छा है जो बिचारे इतनी हँसी-खुशी तो मना लेते हैं।

हाँ तो, खेतिहर अपने आमोद मे उलझे हुए थे और उन पर दैवी एवं मानुषी आपत्तियों के मेघ मँडरा रहे थे। मैं उसी गढे मे से उझक-उझक यह लीला देखकर इस प्रतिहिंसा वृत्ति से प्रसन्न हो रहा था कि तुम हमारे कृतान्त हो, तो तुम्हारे वे हैं।

धीरे-धीरे लू के सर्राटे बढने लगे और सारा संसार एक जलता हुआ आवाँ हो उठा। ऐसे ही समय में, मैं, एक जीरे से भी नन्हा और दुबला-पतला सींकिया मैं, जलती हुई हवा के बवण्डर पर सवार होकर अपना कर्मक्षेत्र खोजने निकल पडा।

हवा पर सवार, अपनी धुन मे मस्त, प्रतिहिंसा का बीज मंत्र मैं, आतशबाज़ी के बाण की तरह सपाटे से चला जा रहा था कि मुझे एक ठिकाना दिखाई दिया और मैंने एक कलाबाज़ी ली तथा उसमे पहुँच कर छिप बैठा।

दो खेतों के बीच एक ऊँची-सी मेड़ थी। बात यह थी

---

* अप्रकाशित 'स्वप्न' काव्य मे।

कि दोनों खेत-वालों में आपस में मेल न था इसीलिए उन्होंने, अपनी खुशी से नहीं, अपनी इच्छाओं को एक तीसरे के पास बंधक रख कर यह मेड बनवा ली थी। उसी विरोध के देहरे में मैं उनके सर्वनाश के देवता की तरह, एक छोटे से छिद्र में, स्थापित हो गया और अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। क्योंकि उनकी जड़ उखाडने के लिए मुझे अपनी जड जमानी थी। लू के झटके ने अपने गर्म ओठों से मुझे चूमा और न जाने कहाँ चला गया। उसकी गर्मी मेरी नस-नस मे दौड़ गई। प्रतिहिंसा के लिए मेरा खून उबलने लगा।

एक दिन आकाश मे घटा घिर आई। बूँदे पडने लगी। पृथ्वी ने एक सोंधी उसास ली और प्रकृति-बाजीगरनी के 'भानुमती-के पिटारे,' हम बीज, अपना इन्द्रजाल पसारने लगे। दो-ही चार दिन मे अंकुरित होकर खल्वाट पृथ्वी को हमने गहरी हरी कुन्तल-राशि से आच्छादित करना शुरू किया।

मैं भी पनपने लगा। मेरी दृढता देखकर अन्तरिक्ष मुझे पयोदान करने लगा। मनुष्यों की जलती हुई आँखें ठंडी हुई। किन्तु किसानो को वह हरियाली अंगारे की तरह मालूम होने लगी जिसे वे अपने उपयोग में न ला सकते हो। वे धीरे-धीरे हमारी सफाई करने लगे।

परन्तु मेरा भाग्य मेरे भाई बन्दो से भिन्न था। मैं ऐसी जगह जमा था जहाँ की परवाह मेरे दोनो ओर के ही कृषकों को न थी। वह मेड थी, उन लोगो के परतन्त्र अधिकारो की बेडी थी। उसकी ओर हाथ बढाने की उनकी मजाल न थी, जहाँ मनुष्य की शक्ति काम नही करती, वहाँ वह उदासीनता के बल पर विजय पाने की आशा करता है। किन्तु उदासीनता से ही दूसरो का काम बनता है।

इस भाँति पूर्ण स्वतन्त्रता से मैं अपने उत्साह की तरह बढ़ने लगा। पूर्बी हवा के झकोरों पर पेंगें मारने लगा, आनन्द-गान गाने लगा और उस दिन की प्रतीक्षा करने लगा, जब मैं एक से अनेक होकर मनुष्य की सहारैषणा पर पानी फेर दूँ।

किन्तु, मनुष्य के भूमि-अधिकारों के आगे पशुओ ने सर नहीं झुकाया है। मनुष्य की राजनीति, राष्ट्र-विभाजन, भूमि-क्षेत्रण पशुओं के लिए मान्य नहीं। चाहे मनुष्य दिन-रात उन्हें जोतता रहे पर वे पृथ्वी पर अपने स्वाभाविक जन्म-सिद्ध अधिकारों से वञ्चित होने के लिए प्रस्तुत नहीं। राजप्रसादों के प्रचण्ड प्रहरी कीट-पतंगों के आक्रमण और अधिकार से उसकी रखवाली नहीं कर सकते।

सो, उन किसानों के बैलों ने मुझे कवलित कर जाना चाहा। एक ने मुझ पर मुँह चलाया। किन्तु हमारी आत्म-रक्षा की कामना ने लाखों ही बरस पहले से इसका प्रतीकार कर रक्खा था। हमने अपनी नसों में एक ऐसा उग्र गंध पैदा कर लिया था कि कोई पशु हमे मुँह में ले ही नहीं सकता था। हमारी यह परम्परागत प्रतिक्रिया उस क्षण मेरे काम आई और उस बैल ने अपने नथनों से फुफकारते हुए मेरी ओर से मुँह फेर लिया।

परन्तु इसी प्रसङ्ग में न जाने क्रुद्ध होकर या अकस्मात् उसने मुझे कुचल दिया और मेरा कोमल हरा शिशु-शरीर छिन्न-भिन्न हो उठा। उस समय मुझे जो पीड़ा हुई, उसका अनुभव शायद दलित मानवता को हो तो हो। जो हो, उससे मेरा एक लाभ हुआ, मेरी बहिर्मुख-शक्ति अन्तर्मुख हो उठी और मेरी सारी पनपने और बढ़ने की शक्ति मेरी जड़ों में समा कर उन्हें पुष्ट और गहरी बनाने लगी। इस प्रकार जब कुछ दिनों में उस शक्ति ने मेरी नींव बिलकुल अचल कर ली, तब उसका ध्यान मेरी ऊपरी बाढ़ की ओर गया और हेमंत के धुँधले प्रभात मे मैं गहगहा कर पनप उठा।

किसान अपने काम में लगे थे। उनकी फ़सल उनकी सेवा से बाढ़ ले रही थी और मैं 'राम भरोसे जो रहे जंगल मे हरियायँ' के अनुसार अपने सुयोग के लिए सन्नद्ध हो रहा था।

धीरे-धीरे शिशिर ने अपना राज्य फैलाया और वह अत्याचार किया कि किसानों के सारे किये-कराये पर तुषा-रपात हो गया। किन्तु मैं अपने मौज में कलिया रहा था।

जब वसन्त आया तब मैंने उसे अपने छोटे-छोटे कासनी फूलों की भेंट दी। और उसने मेरी भीनी-भीनी महक को अपने पवन द्वारा इधर-उधर वितरित करा दिया। अपनी इस कीर्त्ति से मुझे उतनी प्रसन्नता न हुई, जितनी उस बसन्त के संगीत से, जिसके प्रत्येक स्वर में मुझे अपनी तपश्चर्या की सिद्धि की मन्द ध्वनि सुनाई पड़ रही थी।

कृषक बेचारे दुखी थे। उनकी फसल मारी गई थी। यों ही दाने-दाने को मुहताज हो रहे थे। अब तो दाने भी नहीं, बक्कल के मुहताज होने की बारी आ गई थी। यद्यपि मुझे उनसे कोई सहानुभूति न थी पर मैं उनके दुःख से दुखी जरूर था। और यदि वे मेरी भाषा समझ सकते तो मैं उन्हें अवश्य अपने हृदय की वेदना कह सुनाता।

अन्य पार्थिवों के साथ पारस्परिक व्यवहार पर मैं उन्हें एक उपदेश भी दिया चाहता था। पर दुर्भाग्य कि हमारी भाषायें भिन्न थीं। जो हो, मैं इन विचारों में मग्न ही था कि वसन्त बीत चला और ग्रीष्म के आगमन के साथ मेरे फूलों की पँखुड़ियाँ भी बीजों में परिणत हो उठीं।

चैती हवा बह रही थी, और मारे प्रसन्नता के मेरी छाती फूली जा रही थी। मेरे असंख्य बीज अपने उस मुरझाते हुए पुष्प-कोष में रहने के लिये तैयार न थे। मैंने भी कहा—"ठीक है 'एकोहं बहुस्याम्' की सिद्धि हो ही चुकी अब तुम देर न करो, नहीं तो कहीं फिर खाद के गढ़े में पहुँच गये तो जाने कहाँ-के-कहाँ हो जाओगे और यह तैयार सेना कम-से-कम एक साल के लिए तितर-बितर जायगी। अतएव अभी तुम सब यहाँ फैल जाओ और इस कृषि-समृद्धि के तहस-नहस के लिये अभी से मोर्चा-बंदी कर लो।"

इसी समय पवन के एक-एक झोंके ने आकर उन्हें बखेर ही नहीं दिया प्रत्युत ठीक-ठीक उन स्थानों पर ले जाकर स्थापित कर दिया जहाँ से उनमें एक भी नष्ट न हो सके। सच है—

उद्यम साहस धैर्यं बुद्धि शक्तिः पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र देवस्सहायकृत्॥

राय कृष्णदास

हमारा साप्ताहिक साहित्य

हिन्दी के समाचार पत्रों में साप्ताहिक पत्रों का स्थान सब से अधिक महत्वपूर्ण है। देश की अधिकांश जनता देहातों की रहने वाली है, देहातों में डाक आदि की व्यवस्था त्रुटिपूर्ण है। इसलिए वहाँ की जनता को दैनिक पत्र, जो अन्यथा सब से अधिक प्रभावशाली और उपयोगी सम्पत्ति होती है, सुगमता-पूर्वक नहीं मिलते है। वे लोग यदि दैनिक पत्र मंगाते भी हैं तो उनको तीन-तीन चार-चार दिन के और कहीं-कहीं एक-एक सप्ताह के पत्र एक साथ मिलते है। साप्ताहिक पत्र सुगमता-पूर्वक सप्ताह में एक दिन प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी दशा में वे स्वभावतः दैनिक पत्र मँगवा कर अधिक व्यय करना पसंद नहीं करते और साप्ताहिक पत्र मंगवाना अधिक उचित समझते हैं। इस प्रकार देहाती जनता में, जिसकी संख्या शहराती जनता की अपेक्षा कई गुनी होगी साप्ताहिक पत्रों का ही अधिक प्रचार पाया जाता है। इसीलिए हमारे साप्ताहिक पत्र अन्य सब प्रकार के पत्रों से अधिक महत्वपूर्ण है। देश का सारगर्भ काम जितना साप्ताहिक पत्रों द्वारा हो सकता है, उतना अन्य प्रकार के समाचार-पत्रों द्वारा नहीं हो सकता। हाँ, जो काम केवल नगर-निवासियों के लिए हो, वह दैनिक पत्रों द्वारा, साप्ताहिकों की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से अवश्य हो सकता है। हिन्दी में साप्ताहिक पत्रों के अधिक महत्वपूर्ण होने का एक कारण यह भी है कि उनमें समाचार और विचार दोनों का अच्छा सम्मेलन रहता है। यह बात अंग्रेजी आदि भाषाओं के पत्रों में उतनी नहीं है जितनी हिन्दी के पत्रों में। अंग्रेजी-वालों में (मेरा इशारा विशेषतः विदेशों से प्रकाशित होनेवाले साप्ताहिकों की ओर है, क्योंकि यहाँ के अधिकांश अंग्रेजी साप्ताहिक भी समाचार और विचार दोनों को काफी स्थान देते हैं) अधिकांश में विचार ही रहते हैं, समाचार बहुत कम। यह प्रवृत्ति बढ़-सी रही है। परन्तु हर्ष की बात है कि हिंदी के साप्ताहिक पत्रों की प्रवृत्ति, आन्दोलन के रूप में यत्र-तत्र एकाध आवाज सुनाई पड़ने पर भी, इस ओर नहीं है। उनमें समाचारों का बहुत अच्छा संकलन रहता है। यह ठीक है कि इस सम्बन्ध में दैनिक पत्रों में जितना मसाला

पढ़ने को मिलता है उतना साप्ताहिको में नहीं मिलता—मिल भी नहीं सकता। फिर भी जो कुछ है, उतने ही की आवश्यकता है। हमारी जनता अभी इतनी पढ़ी-लिखी भी नहीं जो इससे अधिक की आवश्यकता हो। इस हालत मे तो, जबकि लम्बा लेख देख कर पाठक घबड़ाते हैं, छोटे-छोटे आकार में जो समाचार प्रकाशित होते है वे ही अधिक रुचिकर और काम के होते हैं। यह बात साप्ताहिकों मे प्रचुर परिमाण मे पायी जाती है। इसलिए भी वे सब से अधिक महत्व की चीज हैं।

साप्ताहिक पत्रों के इतिहास की प्राचीनता के सम्बन्ध में कोई बात निश्चित रूपसे मालूम नहीं होती। निश्चित रूपसे मासिक पत्र प्रकाशित होने के पूर्व प्रकाशित होने वाले पत्रों का जहाँ पर उल्लेख मिलता है वहाँ यह बात स्पष्ट नही की गयी कि वे समाचार पत्र साप्ताहिक थे, पाक्षिक थे या मासिक थे। स्वर्गीय श्री बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी के समाचार पत्रो के सम्बन्ध मे जो निबन्ध लिखे थे और जिन मे अनुमानत उन्होंने स्वर्गीय श्री राधाकृष्णदास की हिन्दी के समाचार-पत्रो से सम्बन्ध रखने वाली पूर्व-प्रकाशित पुस्तक मे भी सहायता ली थी, उसमे उन्होंने बाबू हरिश्चन्द्र के मासिक-पत्र (जो बाद मे पाक्षिक और फिर साप्ताहिक भी हो गया था) 'कवि-वचन-सुधा' के पहले दो समाचार-पत्रों का उल्लेख किया है। पहला समाचार पत्र था 'बनारस अखबार', जो सन् १८४५ ई० मे स्वर्गीय राजा शिवप्रसाद की सहायता से काशी मे निकला था और दूसरा पत्र सन् १८५० ई० मे 'सुधाकर' नाम से निकला था। यह पत्र भी काशी से ही निकला था। इसके निकालने वाले एक बगाली सज्जन थे जिनका नाम था श्री तारा मोहन मित्र। इन दोनों पत्रो के सम्बन्ध मे गुप्त जी ने यह बात स्पष्ट नहीं की कि वे साप्ताहिक थे या नहीं। ये पत्र अधिक दिन तक चले भी नहीं और इन मे कोई महत्व-पूर्ण बात भी नही थी। इनकी महत्ता केवल इसी मे है कि ये हिन्दी के सर्व-प्रथम पत्र थे। विशेष रूप से उल्लेख के योग्य जो साप्ताहिक समाचार-पत्र हिन्दी में सर्व-प्रथम प्रकाशित हुआ वह था अलमोड़ा से प्रकाशित होने वाला 'अलमोड़ा अखबार'। यह पत्र भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के 'कवि-वचन-सुधा' से, जो १८६८ ई० में काशी से प्रकाशित हुआ था, तीन साल बाद प्रकाशित हुआ था। फिर भी मैं इसको सर्व-प्रथम साप्ताहिक पत्र मानता हूँ। इसका कारण यह है कि 'कवि-वचन-सुधा' मासिक पत्र था और बाद में साप्ताहिक हुआ था जब कि यह जन्म से ही साप्ताहिक निकला। 'अलमोड़ा अखबार' ने अधिक प्रतिष्ठा कभी प्राप्त नहीं की। उलटा, प्रतिष्ठा के विचार से, यह उन्नति के स्थान पर बराबर अवनति ही करता गया। यद्यपि यह बहुत दिनों तक जीवित रहा तथापि कभी इसे प्रतिष्ठा नहीं मिली। इस का प्रधान कारण यह था कि इसने समय के साथ अपने रंग-रूप मे कभी परिवर्तन ही नही किये। जैसा प्रारम्भ में निकला वैसा ही अत तक बना रहा। निःसन्देह यह एक खास बात थी परन्तु इससे अधिक उसमें और कुछ नहीं था। भारतेन्दु बाबू का 'कवि-वचन-सुधा' पूर्व-कालिक पत्रों में सब से अधिक प्रतिष्ठित था। अपनी प्रतिष्ठा के कारण ही यह मासिक से साप्ताहिक हो गया था। इस में राज-नीति समाज-नीति, साहित्य आदि से सम्बन्ध रखने वाले लेख प्रकाशित होते थे। इसके बाद और भी कई पत्र निकले जो अपने-अपने ढग से जनता की सेवा करते रहे। ये सब पत्र पुराने ढर्रे के थे और इनमे समाचारों और विचारों का अपेक्षित सकलन नही था। इसके बाद एक समय आया जब उर्दू पत्रों की देखा देखी (जिनकी पत्रकार-कला का इतिहास हिन्दी की पत्रकार-कला के इतिहास से अधिक पुराना है।) हिन्दी के समाचार-पत्रो ने भी अपने रंग-रूप में परिवर्तन किया। इस समय मे 'मित्र-विलास', 'सार-सुधा-निधि' 'उचित वक्ता,' 'भारत-मित्र' आदि पत्रों का जन्म हुआ। इन पत्रों ने विचार और समाचार दोनो अगो पर आवश्यक ध्यान दिया और राजनैतिक प्रगति के साथ मिल कर चलने की प्रवृत्ति धारण की। इनमे काम करने वाले भी बड़े योग्य-योग्य व्यक्ति थे। इन्हीं महानुभावो के उद्योग से इनमे रोचकता, महत्ता, उपयोगिता आदि बातें आई। इस समय के जिन पत्रो में उसी प्रकार के महानुभाव बराबर काम करते गये वे पत्र अपनी पूर्वकालिक महत्ता अत तक बनाये रहे। इस जमाने के कुछ समाचार-पत्र अब तक जीवित हैं। यद्यपि उन मे से कोई भी इस समय उस सम्मान और प्रतिष्ठा का भागी नहीं है। अस्तु।

समय की गति धीरे-धीरे बदलती गयी और इन पत्रों के अलावा अन्यान्य पत्र प्रचार में आये। उनमें समय की आवश्यकता और रुचि के अनुसार नये-नये परिवर्तन भी होते गये। इस प्रकार वर्तमान ढंग के पत्रों का जन्म हुआ। पूर्वकाल में लेख और समाचार-सकलन सम्बन्धी त्रुटियों के अतिरिक्त और त्रुटियाँ भी थी। उस समय समाचार-पत्रों का काग़ज़, उनकी छपाई, आदि अच्छी नहीं होती थी। इस पर भी क़ीमत बहुत अधिक रखी जाती थी। यहाँ तक कि स्वर्गीय श्री राधाकृष्ण दास को अपनी पुस्तक में यह शिकायत करनी पड़ी थी कि समाचार पत्रों का मूल्य अधिक रखा जाता है। ये त्रुटियाँ पीछे वाले समाचार-पत्रों में दूर होती गईं। कागज भी अच्छा लगने लगा, छपाई भी अच्छी होने लगी, चित्र आदि भी निकलने लगे, समाचार-सकलन में भी अधिक योग्यता प्रदर्शित होने लगी और इतना सब होने पर भी क़ीमत को कम से कम रखने का प्रयत्न होने लगा। इस प्रवृत्ति ने यहाँ तक प्रभाव डाला है कि जनता अधिक साफ़ सुथरा, अधिक आकर्षक और साथ ही साथ अधिक सस्ते पत्र पसन्द करने लगी है। इससे समाचार-पत्रों के सञ्चालक बड़ी कठिन परिस्थिति में पड़ गये हैं। अब समय यह आ गया है कि अधिकांश समाचार पत्र, जिनके संचालक इतने धनवान नहीं है जो घाटा बरदाश्त कर सके, या जिनके पास काफ़ी ग्राहक-संख्या नहीं है, या जिन्हें काफ़ी विज्ञापन प्राप्त नहीं होता, उनका काम चला ले जाना तक दुस्साध्य हो रहा है। आगे चलकर तो ऐसा मालूम होता है कि ऐसा जमाना आवेगा जब ऊपर दी गयी तीन शर्तों में काफ़ी ग्राहक होने वाली शर्त भी कोई काम न कर सकेगी क्योंकि जनता की प्रवृत्ति दिन-दिन कम क़ीमत पर बढ़िया चीज लेने की ओर झुक रही है। कुछ समाचार-पत्र-सञ्चालक उनकी इस रुचि की पूर्ति के लिए प्रयत्न-शील भी हैं। इसलिए यह आशंका बराबर बनी रहती है कि ऐसा समय आ जायगा जब पत्रों की क़ीमत उनकी लागत से भी कम रखनी पड़ेगी। मूल्य लागत की चरम सीमा तक तो अभी पहुँच गया है। विदेशों में वह लागत से कम भी हो गया है। वह लहर यहाँ भी आवे तो कोई आश्चर्य नहीं।

यह बात तो हुई साप्ताहिकों के बाह्य आकार-प्रकार के सम्बन्ध की। उनके नीति-परिवर्तन की बात भी बड़ी आकर्षक है। प्रारम्भ में जब समाचार-पत्रों का जन्म हुआ था तब उनकी कोई निश्चित नीति न थी। समाचारों का संकलन तक ठीक न होता था। अधिकांश में साहित्यिक लेख ही प्रकाशित होते थे। राजनीति का विषय तो छुआ भी न जाता था। बाबू हरिश्चन्द्र के पत्र 'कवि-वचन-सुधा' ने इस नीति में थोड़ासा परिवर्तन किया। उसमें राजनीति की चर्चा होने लगी। भारतेन्दुजी स्वतन्त्र विचार के मनुष्य थे। उन्होंने स्वतंत्र भाव से राजनीतिक लेख छापने शुरू किये। सरकार को इनकी यह बात पसन्द नहीं आई। उसने आक्षेप किये। किन्तु भारतेन्दु बाबू इन धमकियों की अवहेलना करके अपने स्वतन्त्र विचार पर डटे रहे। उसका नतीजा यह हुआ कि उन्हें सरकार की ओर से जो सहायता मिलती थी वह बन्द कर दी गई। भारतेन्दु बाबू पर सरकार की इस धाँधागर्दी का बड़ा विरोधात्मक प्रभाव पड़ा। वे ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट थे। उन्होंने जब अपने पत्र के विरुद्ध हाकिमों का ऐसा बर्ताव देखा, तब इस पद को छोड़कर अलग हो गये और दत्त-चित्त से पत्र की उन्नति में लग गये। 'कवि-वचन-सुधा' के बाद 'भारतमित्र', 'सार सुधा-निधि', 'उचित वक्ता' आगे आये। इन पत्रों के जन्मदाता वस्तुतः एक ही सज्जन थे। पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ने ही वास्तव में इन तीनों पत्रों को जन्म दिया था। इसलिए नीति के विचार से ये तीनों पत्र एक ही प्रकार के थे। पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र हिन्दी पत्रकार कला के आदि अध्यापकों में थे। उनकी प्रौढ़ और ओजस्विनी लेखनी ने समाचार पत्र संसार में युग-परिवर्तन का काम किया। अब समाचार-पत्रों में राजनीतिक चर्चा काफ़ी होने लगी। फिर भी नीति कुछ दबी हुई ही थी। इसी बीच में कांग्रेस का जन्म हुआ। उधर कालाकाँकर से राजा रामपालसिंह का 'हिन्दुस्थान' नामक दैनिक पत्र निकला। इस पत्र ने कांग्रेस का पूरा समर्थन किया (यद्यपि कुछ दिन बाद उसकी यह नीति बिलकुल बदल गयी थी।) इससे दूसरे पत्रों को उदाहरण और शिक्षा मिली—और समाचार पत्रों में राजनीतिक चर्चा जोरों से होने लगी। यह प्रगति कांग्रेस-आन्दोलन के साथ-साथ बढ़ती गयी

और जो नये समाचार-पत्र निकले इनमें से अधिकांश ने इस नीति को अपनाया। फिर भी प्रेस एक्ट वगैरह के बन्धन इतने कठिन थे और नौकरशाही के वार इतनी निष्ठुरता से होते थे कि बहुत ही कम पत्र स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने विचार प्रकट कर सके। परन्तु प्रवृत्ति उस ओर बनी ही रही। इस प्रवृत्ति ने समाज से ऐसे नर-रत्न खोज निकाले, जो साहस के साथ तमाम कठिनाइयोंका सामना करते हुए अपनी सच्ची बात स्वतंत्रता और निर्भीकता-पूर्वक कहने मे अग्रसर हुए। इस श्रेणी के नर-रत्नो में श्रद्धेय गणेशशंकरजी विद्यार्थी का नाम सर्वोपरि उल्लेखनीय है। उनके प्रसिद्ध पत्र 'प्रताप' के साथ निर्भीक सम्पादन-प्रणाली का जन्म हुआ। 'प्रताप' सरकारी वारों और आघातों की अवहेलना करके निर्भीकता पूर्वक अपनी बात कहने, बड़े से बड़े आदमी और बडी से बडी शक्ति के अन्यायो का विरोध करने तथा न्याय और सत्य का पक्ष समर्थन करने मे सदैव सब से अधिक आगे रहा और आज भी सब से अधिक आगे है। 'प्रताप' के जन्म के बाद इस प्रवृत्ति को बहुत उत्तेजना मिली। फिर असहयोग का ज़माना आया, इसमे जन-साधारण मे स्वतंत्रता और स्वाधीनता के भावो का बहुत प्रचार हुआ। इसका प्रभाव समाचार-पत्रो पर भी पडा। उधर प्रेस एक्ट भी उठा लिया गया। इससे निर्भीकता-पूर्वक विचार प्रकट करने की प्रवृति कुछ और भी बढ़ी और वह बढ़कर वर्तमान स्थिति तक पहुँची। यह स्थिति भी अभी सन्तोषप्रद नही है। सर्व-साधारण को इसका अनुभव भी हो रहा है और लोग पत्रो की स्वतन्त्रता—पूर्ण स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न भी कर रहे हैं।

नीति-परिवर्तन के साथ साथ पत्रो के अन्यान्य अंगो मे भी परिवर्तन हुए। जहाँ पहले कुछ समाचार और कुछ साहित्यिक और सामाजिक लेख आदि देकर ही पत्र सम्पादक-गण अपने कर्तव्य की इति-श्री समझते थे, वहाँ अब अनेकानेक विषयों का समावेश करना आवश्यक समझा जाने लगा है। यह बात साप्ताहिकों के अतिरिक्त मासिक, दैनिक आदि अन्य पत्रो के सम्बन्ध मे भी समान रूप से लागू है। अब समाचार-पत्रों में राजनीति, साहित्य, धर्म, मनोरंजन आदि अनेक विषयों का समावेश हो गया है। जनता की जब जैसी प्रवृत्ति रही या पत्र संचालकों को जब जिस प्रकार के कार्यों से अधिक सफलता की आशा हुई तब उसी प्रकार के समाचार-पत्र निकाले गये। इसी प्रकार इन भिन्न-भिन्न विषय वाले पत्रों का जन्म हुआ। किसी पत्र में राजनीति की चर्चा होने लगी, किसी में धर्म की, किसी में साहित्य की, किसी में मनोरंजन की और किसी में किसी अन्य विषय की। राजनैतिक पत्रों में 'प्रताप' 'सैनिक' 'कर्मवीर', 'विश्वमित्र' (साप्ताहिक), 'अभ्युदय', 'स्वदेश', 'देश', 'श्रीकृष्ण-संदेश,' आदि, धार्मिक पत्रो में 'आर्यमित्र', 'भारत धर्म,' आदि साहित्यिक पत्रों मे 'शिक्षा' आदि; मनोरंजन सम्बन्धी पत्रो मे 'मतवाला', 'हिन्दू पंच' आदि पत्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पत्रो मे अन्य विषयो पर कुछ नहीं होता, यह बात नहीं है। परन्तु इनमे अपने-अपने विषय की बहुलता होती है। अधिकांश पत्र तो ऐसे हैं जिनमें एक ही पत्र में अनेक विषयो पर यथा-स्थान और यथावश्यकता विचार प्रकट किये जाते है। किंतु इस दशा मे एक बहुत व्यापक त्रुटि यह रहती है कि प्रायः एक ही सम्पादक सब विषयों पर लिखा करते हैं! भिन्न-भिन्न विषयो के लिए विभिन्न सम्पादक जिस प्रकार विदेशों में होते हैं, उस प्रकार हमारे यहा नही होते। इससे विषयों का वैसा सुन्दर विवेचन, जैसा होना चाहिए, बहुत कम हो पाता है।

उपर्युक्त विषय-भेद के अलावा भी समाचार-पत्रों के कुछ और भेद होते है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि समाचार-पत्रो का जीवन की प्रत्येक दिशा से सम्बन्ध रहता है। राजनीति से तो पत्रों का सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ट है। राजनीति मे तथा अन्य क्षेत्रों में भी दल-बन्दियाँ दिनों-दिन बढ़ रही हैं। इन दलबन्दियो ने समाचार-पत्रो को दो बहुत स्पष्ट श्रेणियों में बाँट दिया है। ये श्रेणियाँ है—एक साधारण समाचार-पत्रों की और एक दलबन्दी के समाचार पत्रों की। साधारण समाचार-पत्र किसी दल विशेष से कोई सम्बन्ध न रख कर विषय-विवेचन मे निष्पक्ष और न्याय-नीति का अनुकरण करते हैं और दूसरी श्रेणी वाले पत्र अपने सम्बन्धित दल के साथ उचित (और अनुचित भी) पक्षपात-पूर्वक अपने मन्तव्य

प्रकाशित करते हैं। अपने दल का समर्थन करना उनका हर हालत मे कर्त्तव्य माना जाता है। राजनैतिक दल-बन्दियों के अलावा साहित्यिक, धार्मिक, सामाजिक आदि और दलबन्दियाँ भी है और इनके समर्थन मे भी अलग-अलग समाचार-पत्र प्रकाशित होते है। ऐसे (दलबन्दी वाले) समाचार-पत्र कुछ तो नये होते हैं और कुछ पुराने ही अपनी नीति मे परिवर्तन करके दल-विशेष के समर्थक बन जाते हैं।

इन दलबन्दियों के कारण समाचार पत्रों को हानि होने की अपेक्षा लाभ ही अधिक हुआ है। प्राय प्रत्येक दल अपने मुख पत्र को अधिक आकर्षक बनाने के विचार से उस में अधिकाधिक सुधार करने लगा। कागज अच्छा लगाया जाने लगा, छपाई अच्छी की जाने लगी, चित्र आदि देकर भी आकर्षण की मात्रा बढाई जाने लगी और साथ ही साथ इस विचार से कि पत्रका अधिक प्रचार हो और गरीब से गरीब भी उसे पढ सके, कीमत भी कम रखी जाने लगी। यह बात प्राय सभी दलों के समाचार पत्रों में पैदा हुई। इससे सामूहिक रूप से पत्रों के बाह्य रूप-रग मे बहुत उन्नति हुई।

हमारे साप्ताहिक सदैव इस बात का प्रयत्न करते रहते हैं कि वे देश विदेश की तमाम जानने योग्य बातें पाठकों के सामने रखे। यह भाव इसलिए और भी अधिक बढ गया और बढ रहा है कि प्रतिद्वन्दिता की जटिलता के कारण प्रत्येक पत्र को यह पडी है कि वह जनता की अधिक से अधिक जिज्ञासा तृप्त करे। तथापि बहुत थोडे पत्र ऐसे है जो अपने इस प्रयत्न मे सफल हुए है। इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से जो बात खटकने की हैं वह है देशी राज्यों और विदेशी राष्ट्रों से सम्बन्ध रखने वाले समाचारों की बात। ससार की राजनीति की उन्नति के साथ साथ हमारी राजनीति मे जो उन्नति हुई है उसमे अब यह नितान्त आवश्यक हो गया है कि हम अपने यहाँ के राज्यो मे, जिनको इससे अलग रखने की कोशिश की जाती है, और विदेशी राष्ट्रों में, होने वाली घटनाओं और वहा की परिस्थितियों का पूरा-पूरा परिचय रखें। इस ओर हमारे सुयोग्य सम्पादकों का ध्यान भी गया है। वे इसको पूरा करने का प्रयत्न भी करते हैं। किन्तु इसके लिए आवश्यक साधन जुटाने मे अभी उन्हें सफलता नही मिली। देशी राज्यों के समाचार और तत्सम्बन्धी अन्यान्य बातों को प्रकाशित करने के लिए कुछ समाचार पत्र अलग प्रकाशित होते हैं। ऐसे पत्रों में 'तरुण-राजस्थान', 'जयाजी प्रताप' आदि मुख्य हैं। इनमें रियासतों से सम्बन्ध रखने वाले समाचार और विचार प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जाता है। इनके अतिरिक्त 'प्रताप', 'सैनिक', 'कर्मवीर' आदि पत्र विशेष रूप से प्रयत्न करते हैं कि रियासतों से सम्बन्ध रखने वाले समाचार उनमें उचित परिमाण मे और उचित रीति से प्रकाशित हों। इन पत्रों मे ऐसे समाचार दिये भी जाते हैं। परन्तु इनको देखने से जो बात मालूम होती है वह यह है कि समाचार-प्राप्ति के लिए उचित और पर्याप्त साधन किसी के पास नही हैं। जब तक समाचार पत्रों के सम्वाददाता प्राय प्रत्येक बडी रियासत मे न होंगे तब तक इन साधनो का प्राप्त होना असम्भव रहेगा और समाचार-पत्र केवल दूसरे समाचार पत्रों में प्रकाशित-समाचारो और लेखों के आधार पर ही या कभी-कभी किसी रियासत के किसी रहने वाले के द्वारा स्वत ही भेजी हुई किसी सूचना के आधार पर, जो सच्ची भी हो सकती है और कभी-कभी नितान्त भ्रमपूर्ण और अनिष्ट भी हो सकती है, जनता की इस जिज्ञासा की तृप्ति कर सकेंगे। हो सकता है कि इस प्रकार रियासतों मे सम्वाददाताओं को नियुक्त करने आदि मे पत्रों का व्यय-भार कुछ अधिक भारी हो जाय परन्तु उससे पत्रो मे जो सम्पन्नता और उपादेयता आ जायगी वह उस खर्च के कष्ट के मुकाबले मे कहीं अधिक श्रेयस्कर होगी।

विदेशी समाचारो के सम्बन्ध की बात भी ऐसी ही है। हमारे साप्ताहिक उन समाचारों को देने का प्रयत्न करते हैं। उन्हे देते भी है। परन्तु पहले तो यह होता है कि वे नियमित रूप से प्रति अङ्क मे दिये नहीं जाते, दूसरे यदि कोई पत्र इस नियम का पालन भी करते हैं तो उनमें समाचार की मात्रा और उनकी सत्यासत्य-समीक्षा की कमी रहती है। विदेशी राष्ट्रों के समाचार देना, देखने में भले ही बहुत कठिन मालूम हो किन्तु उनका प्राप्त करना देशी राज्यों के समाचारों को प्राप्त करने की अपेक्षा सरल

है। रूटर और अंग्रेज़ी भाषा के देशी समाचार-पत्र जो विदेशी समाचार देते हैं, केवल उन्हीं पर आश्रित होना हमारे लिए बहुत लाभप्रद नहीं है। यह ठीक है कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती किन्तु केवल इन्हीं को विदेशी समाचारो का आधार बना लेना ठीक नहीं है। साथ ही विदेशी समाचारों के लिए देशी राज्यों के समाचारों की भाँति सम्वाद-दाता नियुक्त करना भी आसान काम नहीं है और न उससे कोई बहुत लाभ ही हो सकता है। इस सम्बन्ध में तो मेरे विचार से इतना पर्याप्त है कि कुछ खास खास विदेशी समाचार पत्र मंगाये जायँ, उनका अध्ययन किया जाय और फिर जिस परिणाम पर पहुँचा जाय उसका उल्लेख अपने पत्रों में किया जाय। फ़िल-हाल यही रीति विदेशी समाचारो के देने के लिए काफी है। अस्तु।

ऊपर जिन त्रुटियों का उल्लेख किया गया है उनके अलावा और भी कई त्रुटियां हैं। किन्तु सब त्रुटियों का उल्लेख करने के लिए यहाँ पर अवकाश नहीं है। फिर भी कुछ ऐसी त्रुटियों का दिग्दर्शन करा देना आवश्यक प्रतीत होता है। हमारे पत्रो में सरकारी रिपोर्टों आदि की चर्चा बहुत कम होती है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में इन रिपोर्टों की आलोचना की प्रथा डाल कर मार्ग-प्रदर्शन भी कर दिया, फिर भी अभी इस ओर आवश्यक—आवश्यक क्या, तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया। जनता मे शासन सम्बन्धी ज्ञान बढ़ाने और सरकारी कारगुजारियों से उसे परिचित कराने के लिए, सरकारी रिपोर्टों पर आलोचनात्मक लेख प्रकाशित करते रहने की आवश्यकता है।

दूसरी बात आन्दोलन के सम्बन्ध की है। हमारे पत्र आंदोलन करते हैं, कम से कम करने का दम भरते हैं। परन्तु अधिकांश पत्र केवल यदा-कदा एकाध समाचार दे देने से ही इति-कर्तव्यता समझ लेते हैं। यह आन्दोलन की विधि नहीं है। आवश्यकता यह है कि जब से आन्दोलन उठे और जब से पत्र उसको उठावे तब से लेकर जब तक उसका अन्त न हो जाय तब तक भिन्न-भिन्न रूप से—समाचारो से, विचार-प्रदर्शन से, चित्रों से, हर प्रकार से उस सम्बन्ध की चर्चा बराबर करता रहे। यह ठीक नहीं है कि आज एक आन्दोलन को उठाया, कल छोड़ दिया। परसों जब पिनक से फिर जगे तो फिर कुछ लिख दिया और फिर नशे में आ गये। इससे आन्दोलन में कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। आन्दोलन के लिए तो अपने मत का निरन्तर प्रचार ही आवश्यक होता है।

आलोचना और समाचार संकलन सम्बन्धी त्रुटियों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। हमें पुस्तकों की आलोचना किंचित विस्तार के साथ और सदैव निष्पक्ष होकर करनी चाहिए। वह यह कि केवल उन्हीं पुस्तकों की आलोचना करके ही कर्तव्य समाप्त न माना जाय, जो समाचार-पत्रों के कार्यालयों मे प्रकाशक या लेखक द्वारा भेजी जायँ, प्रत्युत ऐसी पुस्तकों की आलोचना की भी व्यवस्था होनी चाहिए, जो चाहे भेजी गयी हो चाहे न भेजी गयी हों किन्तु जिनका जनता में अधिक प्रचार हो रहा हो या जिनके प्रचार की आवश्यकता हो।

समाचार-संकलन के सम्बन्ध में, जैसा कि अभी हाल ही में श्री रामानन्द चटर्जी ने अपने एक लेख में लिखा था, हमें इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि जो समाचार प्रकाशित करें वे केवल ऐसे ही न हों जिनसे उत्तेजना, भय, आतंक आदि भावों का ही प्रदर्शन और उद्दीपन हो प्रत्युत ऐसे भी हो जिनसे दया, करुणा, परोपकारिता, क्षमा, आदि हमारे सद्भावो को भी उद्दीपन प्राप्त हो। जनता के हित के लिए इन सद्भावों को जाग्रत करना आवश्यक है। समाचार पत्रों का उद्देश्य केवल धनोपार्जन ही न होना चाहिए। उनका प्रधान लक्ष्य तो जनता का हित-साधन ही है। और हर्ष की बात है कि अन्य देशो के लिए चाहे जो कुछ हो, इस देश मे समाचार-पत्रो का जन्म इस सदुद्देश्य को लेकर हुआ है। जो पत्र निकले वे देश-सेवा या जनता की सेवा का भाव लेकर ही निकले। पहले के पत्र तो केवल इसी उद्देश्य से निकले थे। अब अवश्य कुछ परिवर्तन हो गया है और पत्र धनोपार्जन के लिए भी निकलने लगे हैं। फिर भी समाचार पत्रो का लक्ष्य जनता की हित-साधना ही होना चाहिए। इसी से उनका और जनता का दोनों का कल्याण है।

विष्णुदत्त शुक्ल

भागलपुरी टसर का व्यवसाय

ईश्वर की माया विचित्र है। इन दिनों जब कि गाँधीजी अपने चर्खा-संघ द्वारा हर प्रकार के हाथ के कते और हाथ के बुने कपड़े को उत्तेजन देकर उसे दिनो-दिन तरक्की पर चढा रहे हैं, सुन्दर भागलपुरी टसर के व्यवसाय का भविष्य एक दम अन्धकारमय मालूम पड़ता है। अभी कुछ ही दिन बीते, इस असहयोग-आन्दोलन के पहले, यह व्यवसाय पूर्ण रूप से उन्नत था, और इसका भविष्य बडा उज्ज्वल मालूम पड़ता था। जितने ताँती (हिन्दू कपड़ा बुनने वाले) और मोमिन (मुसलमान कपड़ा बुनने वाले) इस व्यवसाय मे लगे हुए थे, सब के सब खुशहाल थे। ये लोग पुराने ढर्रे के "माकू" से कपड़ा बुनते थे, और वह माकू जो कि आज-कल फ्लाय-सटल नाम से विख्यात है, अभी इन लोगो तक नहीं पहुँचा था। अभी तक टसर के कोए के सूत निकालने से लेकर 'बुनकर' टसर या वाफते का थान तैयार करने तक का सारा काम जुलाहो के परिवार में ही किया जाता था, जिसमे स्त्रियाँ तथा बच्चे सब सम्मिलित होकर काम करते थे, और किसी भी बाहरी आदमी से उन लोगो को किसी तरह की सहायता नहीं लेनी पड़ती थी। टसर के कोए अधिकतर संथाल परगना और छोटा नागपुर के जंगलों में तैयार होते हैं, जिनको संथाल तथा उराँव और मुंड लोग बडे यत्न से पालते हैं। वे इन्हे व्यापारियो के हाथ बेंच डालते हैं और व्यापारी इन्हींको थोड़े मुनाफे पर जुलाहों के हाथ बेचते हैं। जुलाहों के परिवार मे अधिकतर स्त्रियाँ तथा छोटे बच्चे ही कोओ को उबालकर उनसे धागा निकालते हैं, और नरी भरकर पुरुषों को कपड़ा बुनने के लिए देते हैं, जिससे टसर और वाफता नामक पहले दो प्रकार का ही कपड़ा तैयार होता था।

जिस कपड़े मे दोनो सूत तानी और भरनी का रेशमी होता है, उसको "टसर" कहते हैं। यह शुद्ध रेशमी वस्त्र बहुत ही पवित्र और टिकाऊ होता है। यद्यपि आरम्भ में इसका कोरा थान देखने में कुछ रूखा मालूम पडता है परन्तु एक ही धुलाई के बाद देखने में सुन्दर, मुलायम और चमकीला हो जाता है, और अपने हलके सुनहले स्वाभाविक रङ्ग मे बड़ा मनोहर दीखने लगता है। इस कपड़े का मूल्य प्राय डेढ़ रुपये गज से लेकर कपड़े की श्रेणी और बुनावट के अनुसार साढ़े तीन रुपये गज तक होता है। इस दाम पर सबके लिए उसका उपयोग करना सम्भव नहीं, अतएव, इसका एक सस्ता सस्करण भी तैयार किया जाता है, जिसे वाफता कहते है। इस वाफता मे ताना रेशमी सूत का होता है और भरनी मे देशी अथवा विलायती मिल के कपास का सूत काम में लाया जाता है। यह कपड़ा शुरू मे ही देखने में बढ़िया जँचता है, और इसका मूल्य भी कुछ सस्ता अर्थात् बारह आने गज से लेकर दो रुपये गज तक होता है।

यह दो मुख्य प्रकार का रङ्ग-विरङ्गा टसर भागलपुर मे तैयार होकर भारतवर्ष के प्राय सभी प्रान्तों—सुदूर सीमान्तप्रदेश से लेकर बम्बई, मद्रास तथा लङ्का तक मे—विकता था। पञ्जाब और सीमा-प्रांत मे साफा और लुङ्गी के रूप मे तथा बम्बई और मद्रास मे साड़ी, कमीज और कोट के कपड़े के लिए इसका व्यवहार होता था और आज भी होता है। शुद्ध टसर के मोटे थान का सूत भी बहुत बढ़िया तैयार

होता है, इसलिए यूरोपियन लोग भी इसे बड़े प्रेम से खरीदते थे।

असहयोग-आंदोलन के समय इस व्यवसाय पर लोगो की दृष्टि विशेष रूप से पड़ी और कुछ मारवाडी सज्जन इसके व्यापार मे लग गये।

इन लोगो ने ही पहले पहल वाफता की भरनी के कपास के सूत के स्थान पर एक क़िस्म का जापानी 'मर्रासलाइज्ड' सूत, जो काशी-सिल्क कहलाता है, इस्तेमाल करना आरम्भ किया। इससे कपडा देखने मे अधिक सुन्दर और दाम में भी सस्ता पडने लगा। सिर्फ इसका वह टिकाऊपन जाता रहा। किंतु इस फ़ैशन के युग मे चमक-दमक को छोडकर टिकाऊपन पर कौन ध्यान देता है ? आजकल लोग दरिद्रता के कारण दाम पर भी विशेष ध्यान रखते हैं। दाम तो सस्ता हो ही गया। बस, अब क्या था ? यह कपड़ा खूब चलने लगा, कुछ दिन तक तो इस काशी-सिल्क का केवल भरनी मे ही इस्तेमाल होता रहा, और तानी मे टसर का ही सूत चलता रहा। अबतक यह उद्योग जुलाहो के घरो पर ही होता था, और शुद्ध घरेलू व्यवसाय के रूप मे था। धीरे-धीरे इसके व्यापारियो ने फ़ैक्टरी चलाना आरम्भ किया। कुछ दिनो बाद फैक्टरी वालो को तानी के लिए कोए से टसर का सूत निकालने मे झंझट मालूम पडने लगी, क्योकि इस कार्य मे तो केवल जुलाहो के परिवार ही सिद्ध-हस्त होते थे। इसलिए धीरे-धीरे तानी मे भी टसर के स्थान पर काशी-सिल्क का व्यवहार होने लगा। फिर इस जापानी काशी-सिल्क के बाद इटालियन-सिल्क और इटालियन-सिल्क के बाद चीनी-सिल्क से काम लिया जाने लगा। और अब हालत यह है कि सारा का सारा बाज़ार इन विलायती रेशमी सूत के कपडो से भर गया है। इन विलायती रेशमों के बने हुए कपड़े देखने मे ऐसे सुन्दर और लुभावने होते हैं, और इनका दाम भी इतना कम पड़ता है, कि इन दिनो बाज़ार मे इनकी माँग बहुत ज्यादा बढ़ गई है। फल यह हुआ है कि शुद्ध टसर के कपड़ो को, जो इनसे कही अधिक टिकाऊ होते है, भद्दा होने के कारण कोई नही पूछता। इसलिए अब जुलाहे भी फैक्टरियो की देखा-देखी इनको ही बुनने लगे हैं, और इसका परिणाम यह हुआ है कि जहां बाज़ार में विलायती रेशम के बने हुए हजारो थान तैयार मिलते है वहाँ अब बहुत मुश्किल से खोजने पर दो-चार थान शुद्ध टसर के मिल सकते है। इन दिनो फैक्टरियो और जुलाहो मे ऐसी कड़ी प्रति-स्पर्द्धा लगी हुई है कि बहुत से जुलाहे केवल पेट के लिए अपने पूर्वजो के इस पवित्र व्यवसाय से वंचित हो कर अपने बाल-बच्चो को छोड़, दूर कलकत्ता तथा उसके आस पास के कल-कारखानो मे शरण ले रहे हैं। इस प्रकार भागलपुरी टसर का व्यवसाय, जो अभी कुछ वर्ष पूर्व एक जीता जागता घरेलू धन्धा था, अब क्रमश. फैक्टरियो मे परिणत होता जा रहा है, जिसमें शुद्ध विलायती रेशम के सूत से कपडे तैयार होते हैं। सबसे अधिक शोचनीय बात तो यह है कि बहुत से लोग जो इस कपड़े का व्यवहार करते हैं, अज्ञानतावश भागलपुरी होने के कारण इसे स्वदेशी समझते हैं। ऐसे भी अनेक व्यक्ति हैं जो इन सब बातो को जानते हुए भी स्वदेशी की कल्पना द्वारा अपने को सांत्वना दे लेते हैं।

इस सम्बन्ध मे एक बात ऐसी है, जो बहुतों को रुचिकर न होते हुए भी कुछ लोगो के लिए ख़ास तौर पर दिलचस्पी रखती है, और वह यह कि रेशमी वस्त्र हिंसात्मक है वा अहिंसात्मक ? अर्थात् कीड़ो को मार कर बनाया जाता है अथवा यो ही ? सच्ची बात यह है कि अधिकतर कपड़े कीड़ो को मारकर ही बनाये जाते हैं। यद्यपि एक प्रकार का

रेशम ऐसा भी होता है, जिसमे बिना कीड़ों को मारे ही कपड़ा तैयार होता है। ऐसे रेशम को 'एरी' कहते हैं। टसर में भी कीडों को बिना मारे ही कपड़ा तैयार किया जा सकता है, लेकिन उस हालत में कपड़ा घटिया क़िस्म का होगा, और रेशम बहुत बरबाद जायगा।

रामबिहारीलाल

रानी

(मनोविज्ञानिक विकास की एक कहानी)

(१)

जब वह छोटी बच्ची थी तभी मालिकिन बहू ने उसका नाम रक्खा था रानी। उसके कृश शरीर मे सभी अवयव अपने क्षीण अस्तित्व का परिचय दे रहे थे, अपने छोटे से बिछौने पर इस काली-कुरूप लड़की को देख कर उसकी माँ कह उठती 'भला मालिकिन बहू ने इसका नाम रक्खा है रानी!' उसे बड़ा आश्चर्य मालूम पड़ता। उसकी प्रेममय विरक्ति गर्वित हो जाती।

रानी की माँ मजदूरनी थी, मासिक तो ३) रुपये ही मिलते थे पर उसका निर्वाह यहाँ भली-भाँति हो जाता था। यह मालिकिन बहू के पीहर से आई थी इससे इसका सभी ख़याल करते।

रानी इसी घर में पल रही थी, उसका हड्डियो मे हँसता हुआ बाल्यकाल सभी के प्रमोद की सामग्री थी परन्तु मनोहर बाबू के बच्चे—किशोर का खेल तो उसके बिना अधूरा रहता, होता ही नही था। इस परिवार में वही किशोर की संगिनी थी, अबोध किशोर के पचवय जीवन की अस्पष्ट, सारहीन किन्तु हृदस्पर्शिनी, वह मानों तुतली भाषा थी—सच्चे हृदय से दुःख में दुखी सुख मे सुखी रहने वाली रात दिन की साथिन थी। यदि यह कुरूपा बालिका रानी सूर्यमुखी थी तो किशोर सूर्य था। वह उसी का मुँह देखा करती। दोनों बच्चों का प्रेम सरल तथा अटूट था।

किशोर जब रात्रि में सोने जाता तो रानी कहानी कहने बैठती। रानी कहती—"एक राजा थे। उसे एक कौवा-हँकनी रानी थी।"

किशोर हँस कर पूछता—"कौवा-हँकनी रानी थी? रानी कौवा हँकनी!! क्यो रानी?"

"नहीं, नही उस राजा के दो रानियाँ थी, एक से राजा नाराज होकर कौवा उड़वाते थे।। वही कौवा-हँकनी रानी कहलाती थी" बालिका चकपका कर अबोध धार्मिकों की नाई दृढ़ स्वर मे कहानी का उपक्रम मिला कर फिर कहने लगती।

किशोर चतुर तार्किकों की भाँति बीच मे ही गम्भीर होकर प्रश्न करता—"कौवा-हँकनी रानी इसके लिए राजा से कभी बिनती न करती—? क्या उसे यह बुरा न लगता था।"

रानी और चिनती करती, जैसे उस बालिका को यह असह्य मालूम पड़ता। वह ऊब कर कहती—'जाओ तुम कहानी न सुनोगे? मैं भी सोने जाती हूँ—!" वह रूठकर उठने का उपक्रम करने लगती।

किशोर चतुर राजनीतिज्ञों की तरह अवसर पर संधि कर लेता, चुपचाप कहानी सुनता। सो जाता। इसी तरह दिन-रात बीत रहे थे, समय अपना काम करता बढ़ता जाता था।

(२)

रानी की माँ असमय ही इहलोक से पयान कर गई। आकांक्षाओं से भरी तरी काल के एक ही झकोरे में उलट पड़ी। मरते समय उसने मालिकिन बहू को बुला कर बड़े कष्ट से इतना कहा—"बहिन, अब इस अभागिन रानी की रक्षा तुम्हारे ही हाथ है और इस दुनिया में ऐसा मेरा कौन है जिसे इस का हाथ पकड़ा जाऊँ? इसे तुम्हारा ही

आश्रय है।" कहते कहते उसका गला भर आया, बेचारी मृत्यु के समीप पहुँच चुकी थी, एक बार लड़खड़ाते हुए शब्दों में उसने फिर कहा—"लड़का होता तो कहीं इधर उधर माँग-जाँच कर पेट भर लेता पर यह क्या करेगी ?" उसकी बोली बन्द होने लगी। लड़की के स्नेह ने जैसे उसके प्राण दबा रखे हों। वह किशोर की माँ की ओर याचना की एक दृष्टि डालकर बोली—'तुम्हे क्या समझाऊँ ? तुम्हीं इस अनाथिनी की सर्वस्व हो। ऐसा करना, जिससे इसका निर्वाह होजाय" विधवा की आँखें आँसू गिराने लगीं, उसका शरीर शिथिल पड़ गया, मुँह पीला हो चला।

किशोर की माँ किंकर्त्तव्य विमूढ़ की नाईं अभी तक खड़ी थी, उन्हे जैसे कुछ सूझता ही नहो था। उनके समीप ही रानी प्रतिमा-सदृश खड़ी सूनी आँखों से यह दृश्य देख रही थी, मानो उसका अनियंत्रित मन सघन अनिश्चित तम में डूब रहा हो। सरला (किशोर की माँ) का हृदय उमड़ आया, उसने उसे खींच कर अपनी छाती से चिमटा लिया और बड़े करुणस्वर मे बोली—"डर मत बेटी, मैं तो तेरी माँ हूँ ही। तू घबड़ाती क्यों है ?" आगे उससे कुछ कहा न गया, रानी सिसकियाँ भरने लगी।

रानी की माँ के प्राण मानों इन्हीं वचनों को सुनने के लिये रुके थे, वे अब अपने गन्तव्य स्थल को विदा हो गये। सरला से वहाँ रुका न गया, वह बाहर निकल आई। वहाँ रानी को एक दूसरी दासी के सुपुर्द कर दिया और आप अपने कमरे मे जा बिस्तरे पर पड़ रही। आज उसके हृदय को मृत्यु का पहला आघात लगा था। उसकी समस्त करुणा फूट पड़ी थी, वह रोने लगी।

किशोर ने ऐसा विप्लव कभी न देखा था, उसकी समझ में न आता था कि क्या करे ? सामने रानी रो रही थी, जैसे ज़बर्दस्ती कोई सारी सम्पत्ति लुटा रहा हो, और वह कुछ न बोल सके। सभी उद्विग्न थे। ७ वर्ष का बालक अपनी करुणा में डूबने उतराने लगा। बेचारा रानी को कुछ भी सान्त्वना न दे सका, धीरे-धीरे अपनी माँ के कमरे की ओर चला गया। ऐसे अवसर पर माँ की शान्ति-दायिनी गोद से बढ़कर कदाचित् दूसरी विश्राम की जगह नहीं, जहाँ अपना धैर्य आश्वासन पा सके। किशोर ने माँ को पलँग पर चादर ओढ़े पड़ी पाया, वह उन्हीं के समीप बैठकर उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगा। सरला ने चादर उठाकर देखा, किशोर उदास मुँह बैठा है। उसकी चेतना-हीन करुणा एक बार तलमला उठी। वह अपने किशोर की उदासी के कारण जैसे सचेत हो गयी हो,—उसे खींच अपनी छाती मे जोरो से चिमटा लिया। किशोर ने कहा—"माँ आज रानी बड़ा रोती है। तुम उसे चुप न करा दोगी ?" किशोर उसके दुःख से विकल था। सरला ने कहा—"तुम अभी मेरे ही पास सो रहो, फिर मैं कुछ करूँगी बेटा ! अभी मेरी तबीयत ठीक नहीं है।" किशोर चुप-चाप आँखें मूँद कर जैसे डर के मारे सो रहा—आज अनाथिनी रानी ने सभी को अपने दुख मे स्नेह-कातर बना दिया है।

(३)

मनोहर बाबू अपने जिले के मशहूर रईस है। सिविल लाइन मे उनका दिव्य प्रासाद, मनोहर बगीचे के बीच शोभित है। वह सब तरह से सुखी हैं। श्री—सुयश-सम्पन्न, स्त्री-पुत्र सभी उनके अनुकूल, अब और वे इस जीवन मे क्या चाहते ? रानी की माँ जब से मरी तब से उससे उसके दुःख-सुख के बारे मे कभी-कभी पूछ लिया करते, पर वह उसपर किसी तरह का अपना शासन नहीं रखना चाहते थे।

रानी किशोर के सग रहती और उसी का कुछ छोटा-मोटा काम कर दिया करती। वही उसके लिये यथेष्ट भी था। किशोर के संसर्ग से उसे हिन्दी पढना लिखना मज़े में आ गया था—अब वह अंग्रेज़ी का अक्षरारम्भ कर चुकी थी। इस पढ़ाने मे किशोर भी विशेष आनन्द का अनुभव करता। रानी भी पढ़ने मे मुदित-मन रहती।

किशोर बड़ा भावुक लड़का था। मनोहर बाबू उसे पढ़ाने का उचित ध्यान रखते। स्कूल के अतिरिक्त घर पर भी एक प्राइवेट ट्यूटर उसे पढ़ाने आते तथा एक संगीत शिक्षक भी उसे १ घण्टे गान-वाद्य की शिक्षा देते थे। रानी का गला रसीला देखकर शिक्षक महोदय उसे गाने में साथ ले लिया करते थे, कहना न होगा कि किशोर की ही इसमें विशेष उत्कंठा थी। रानी यद्यपि कुछ खिचकर गाती थी तथापि उसका गाना सुनने वालो को बड़ा सरस मालूम पड़ता था। एक बार स्वयं मनोहर बाबू उसका गाना सुन

कर चकित हो गये थे। मास्टर से उस समय उन्होंने कहा—"यह लड़की अच्छा गा लेती है। इसका गला भी मधुर है।" रानी को लज्जित होते देख उन्होंने हँसते हुए कहा—"क्योंरी ! तूने मुझे अपना गाना कभी नहीं सुनाया, अच्छा अब सुनाया करना भला।"। किशोर बीच में बोल उठा—"बाबू जी यह मजे मे किताबें पढ़ लेती है। किसी दिन पढ़वा कर सुनिये तो।" किशोर गर्व से उत्फुल्ल था। "अच्छा सुनूँगा' कहते हुए मनोहर बाबू चले गये।

इन्हीं परिस्थितियों मे रानी का जीवन बीत रहा था। दयावती सरला के समीप उसे अपनी माँ की याद भूली जा रही थी। सरला का स्नेह उसे स्निग्ध किये रहता था। दोपहर के खाली समय मे वह इससे अच्छे उपन्यास पढ़वा कर सुनती। सरला स्वयं भी व्युत्पन्न थी। एक दिन रानी, बंकिम बाबू का 'कृष्णकान्त का बिल का अनुवाद पढ़कर सुना रही थी—"भ्रमर से गोविन्द लाल का, वह 'भ्रमर, भौंर, भोमर, भोम काला चाँद, काला सोना, काला माणिक, कालिन्दी इत्यादि नित्य नये-नये स्नेह से भरे हुए सुखपूर्ण प्रिय सम्बोधन नहीं, बिना काम का अब पुकारना नहीं" उसका कलेजा भर आया। उसने सरला से कहा—"माँ अब आज यहीं तक रहने दें ?" सरला बैठी मोजा बिन रही थी, उसने ध्यान बटाकर देखा, लड़की की आँखे भर आई हैं। उसने कहा-"क्यो, पढ़ती क्यो नहीं, प्रसङ्ग तो अच्छा मालूम पड़ता है।

"अच्छा पढ़ती हूँ, माँ।' किताब खोलते हुए रानी ने कहा।

सरला ने देखा, रानी अन्य-मनस्क भाव से पढ़ने की चेष्टा कर रही है। तब वे बोलीं—"तबीयत नहीं लगती है तो जाने दे, मै भी तो अब उठूँगी।" रानी कुछ लज्जित होकर कहने लगी—"नहीं यों ही कह दिया था माँ, यह कहानी बड़ी सुन्दर है सुनो न।" इतने में मनोहर बाबू कचहरी से आ गये। "देखो वह आ गये, मैं अब बैठके मे जाती हूँ।" कहकर सरला उठ खड़ी हुई। रानी भी किशोर के कमरे मे जाकर अव्यवस्थित पुस्तकों को यथाक्रम रखने लगी।

× × ×

मनोहर बाबू के जलपान का सामान लेकर जब सरला उनके कमरे में आई, उस समय वह एक कुरसी पर बैठे सामने के शीशे में अपना रूप निहार रहे थे। सामान एक छोटे से टेबल पर रख कर सरला ने टेबल उनके सामने कर दिया और बोली—"लो जलपान कर लो"। फिर उनके सामने ही एक कुरसी खींच कर बैठ गई। मनोहर बाबू जलपान करते-करते बोले—"अभी तुम क्या कर रही थी ?" "योंही बैठ कर किशोर के लिए एक मोजा बुन रही थी और रानी से एक उपन्यास पढ़वा रही थी। वह मजे में किताबें पढ़ लेती है। है भी बड़े अच्छे स्वभाव की।" सरला ने हार्दिक सहानुभूति दिखलाते हुए कहा—" अब वह बड़ी हो चली, उसके लिए किसी अच्छे लड़के की तजवीज करनी चाहिए"। वह अपनी बातों का प्रभाव देखने के लिए चुप होकर मनोहर बाबू के मुँह की ओर देखने लगी।

मनोहर बाबू बोले—"मैं स्वयं भी कुछ दिनों से यही सोच रहा हूँ। और किसी अच्छे लड़के की खोज मे भी हूँ।" फिर कुछ चुप रहकर बोले एक लड़का मेरी निगाह में है भी। वह मिडिल पास करके यहीं कहीं, प्राइमरी स्कूल मे मास्टर हो गया है। तुम कहो तो उसी से शादी की बातचीत करूँ।" सरला ने कहा—' मिडिल पास और मास्टर होना, यही जानते हो, या यह भी मालूम है कि उसके घर और कोई उसका सगा वगैरह है। कुछ आमदनी का जरिया भी वहाँ है या नहीं ?" मनोहर बाबू बात—काट कर बोल उठे— मैं सभी बातें समझ बूझकर कह रहा हूँ। उसके लिए इससे उपयुक्त दूसरा घर-वर मिलना कठिन है।"

सरला ने प्रसन्न होकर कहा—"यदि तुम इसे अच्छा समझते हो, तो यही मेरे सन्तोष के लिए काफ़ी है। मैं फिर क्या पूछना चाहूँगी ?'

मनोहर बाबू ने कहा—"लड़का सुन्दर, शीलवान और सच्चरित्र मालूम होता है। उसका बाप यहीं स्टेशन से नौकर है, उसकी स्त्री कुछ दिन हुए मर गई। बुड्ढा बेचारा भला आदमी है। बुड्ढे के पास कुछ रुपया जरूर होगा। न होगा, तो उस लड़के को मास्टरी से छुड़ा कर कहीं यहीं एक दुकान करवा देंगे। सौ-पचास की मदद क्या तुम न कर दोगी ? ईश्वर चाहेगा तो अपनी छोटी-सी गृहस्थी में रानी सुख से रहेगी और अपने यहाँ भी आ जा सकेगी।

इन्हीं सब बातों को सोच-समझ कर मैंने इसे अच्छा समझा है।"

सरला ध्यान लगाकर सब बातें सुन रही थी। बात समाप्त होने पर बोली—"ठीक है। ऐसा हो तो बड़ा अच्छा होगा। मैं तो यही चाहती हूँ कि गरीब की बेटी है ज़रा सुख से रहे।"

(४)

मनोहर बाबू के लिए यह काम कोई मुश्किल नहीं था। उन्होंने उसके दूसरे ही दिन बुड्ढे को बुला कर रानी की शादी उस लड़के से ठीक कर ली। सरला ने बड़े हर्षोत्साह के साथ उसके विवाह की तैयारी की, मानो यह उसी की लड़की की शादी हो। मनोहर बाबू की तरफ़ से भी कोई कमी न थी। यथा अवसर सभी कार्य होने लगे। ठीक समय पर रानी के कन्या-दान का आयोजन होने लगा, मनोहर बाबू स्वयं इस कृत्य के लिये तैयार थे।

मंडप में किशोर खड़ा यह सब, कौतुक की तरह देख रहा था। उसके बाल्य-बन्धु कैलास ने चुप-चाप खड़े देख कर उसे अपनी ओर खींचते हुए कहा—"क्या देख रहे हो किशोर?"

किशोर ने अपनी मीठी हँसी बखेरते हुए कहा—"कुछ विशेष तो नहीं। मैं भी तो वही देख रहा था जो कि यह हरिश-कलश, गौरी-गणेश, मेरे घर की दीवारें तथा आकाश के तारे चुपचाप इस क्षुद्र दीपक के प्रकाश में देखने का प्रयत्न कर रहे हैं। तुम्हें मेरा ही देखना क्यों आश्चर्य मालूम पड़ा कैलास? क्या मेरे लिये यह देखना पाप है? यदि ऐसा ही तो चलो, मैं भी सोने जाऊँगा, मुझे नींद आ रही है।" किशोर की भावुकता ने उसे गोला बना दिया।

कैलास अपनी बात के उत्तर में इतना बड़ा व्याख्यान सुनकर चकित रह गया। उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। केवल हँसते हुए बाहर चला आया।

शादी हो जाने पर लड़के के बाप ने बहुत चाहा कि लड़की को तुरत बिदा करा ले चलें, पर सरला ने कहा—"यह नहीं, जैसे विवाह किया है उसी तरह गौना देंगे। हम अभी बिदा नहीं कर सकते।" मनोहर बाबू ने सब को समझा बुझा कर विदा कर दिया। सभी प्रसन्न थे।

शादी के तीन चार दिन बाद एक दिन किशोर अपने कमरे में बैठा ड्राइंग खींच रहा था। रानी भी वहीं बैठी कुछ पढ़ रही थी। किशोर ने एक बार नर उठा कर रानी को देखा। बोला—"क्यों जी! तुम्हारा विवाह हुआ है। तुमने मुझे कुछ दिया भी नहीं, खिलाया भी नहीं। कम से कम तुम्हें मुझ को इस तरह नहीं भूल जाना चाहिये था।" वह अपनी हँसी दबाये हुए था।

रानी ने कहा—"मैं तुम्हें क्या दे सकती हूँ और क्या खिला सकती हूँ किशोर!" वह आगे कुछ न कह सकी। अपने उत्तर से मानो वह स्वयं लज्जित हो गई थी।

"तुमने ऐसा रूखा उत्तर तो कभी नहीं दिया था रानी'। धीरे से किशोर ने कहा। वह कुछ न बोली। चुपचाप बैठी रही। फिर उठकर चल दी। उसका मन लज्जा से गड़ा जा रहा था। आज उसने अपने से किशोर को बहुत दूर पाया। इसी का दुःख मानो उसके मन में खेल रहा था। किशोर ने देखा, रानी चली गई। वह अनायास ही हँस पड़ा।

(५)

दुर्भाग्य क्या लेकर आयेगा और क्या कर जायगा, इसे कोई नहीं जानता। रानी का ब्याह हुए आज आठ महीने ही बीते हैं। मनोहर बाबू रात में ब्यालू करके सोने की तैयारी कर रहे थे कि नौकर ने खबर दी कि रानी का ससुर रोता हुआ आया है और आप से मिलना चाहता है। मनोहर बाबू घबराये हुए बाहर निकले, तो देखा बुड्ढे का रोते-रोते गला बैठ गया है। उसकी हालत बुरी जान पड़ी। बात करने पर उसने जो कुछ बतलाया उसका निष्कर्ष यही था कि "आज शाम को चार पाँच गोरे शराब के नशे में मस्त होकर प्लेटफार्म पर घूम रहे थे। उसी समय उधर से दुर्गा (रानी का पति) आया। उससे उन सबों ने कुछ छेड़-छाड़ की। बात बढ़ गई। अंत में मार-पीट की नौबत आ गई। दुर्गा अकेला था। उसे उन सबों ने खूब मारा और मार कर चले गये। वह वहीं बेहोश पड़ा रहा। कुलियों के बतलाने पर स्टेशन मास्टर और पुलिस के दारोगा एक मोटर में बिठाकर उसे अस्पताल ले गये हैं। कुलियों का कहना है कि वह बचेगा नहीं। मरा समझ कर ही वे सब उसे छोड़ भागे हैं।"

मनोहर बाबू तुरत अस्पताल जाने के लिए तैयार हो गये। जाते समय सरला ने कहा—"जो बात हो, जल्दी खबर देना"। किशोर भी संग जा रहा था। उसने कहा—"माँ मैं अभी आकर खबर दूंगा, घबडाना मत।"

पर जो होना था, वही हुआ। अभागिनी रानी विधवा हो गई। सभी बातों का ख्याल करके मनोहर बाबू ने किसी किस्म का मुकदमा चलाना गैर मुनासिब समझा। डाक्टर की राय, ऐसी ही थी कि कुछ सुनवाई न होती। अकेला बुड्ढा बेचारा क्या कर सकता था। मनोहर बाबू के समझाने से वह भी यही उचित समझ, आह मार कर रह गया।

और रानी के लिए क्या कहे? उसने इस दुःख को कहाँ तक अपनाया, वही जाने। देखने वाले तो कुछ न समझ सके। दरिद्रा के आँसू हृदय में ही कदाचित सूख गये थे।

(६)

उस दिन चाँदनी आकाश से बिछली पड़ती थी, लहरों पर दौड़ रही थी, फूलों पर हँस रही थी। सारा संसार एक कुहक बना था। मनोहर बाबू की वाटिका वसन्त की नव-विभावरी की छाया में फूल उठी थी। उसी में चिन्ता-शील किशोर न जाने टहल कर क्या देख रहा था? रानी सामने आकर खड़ी हो गई। किशोर ने उस चाँदनी में देखा, उसका रूप भरे हुए प्याले की तरह छलक रहा है और न जाने किस अभाव का सात्विक विषाद उसके जीवन में समा गया है।

"आज बड़ी अच्छी रात है।" रानी ने एक तरफ देखते हुए कहा।

किशोर कुछ न कह कर केवल रानी को देख रहा था, उसने जैसे कुछ सुना ही नहीं।

रानी ने फिर पूछा—"क्या सोच रहे हो जी?'

किशोर ने कहा—"मैं क्या सोचूं, तुम्हीं बतलाओ?"

रानी हँस पड़ी। कहने लगी—"मैं क्या बतलाऊँ, कि तुम यह सोचो। बड़े भले-मानुस हो।" फिर मुसकराते हुए बोली "तुम्हारी शादी के लिए बहुत से लोग आते और लौट जाते हैं। तुम्हारे, शादी न करने से माँ को अत्यन्त कष्ट है। आज वह बाबू जी से कहती थी कि तुम्हें डाट-डपट कर शादी करदें। भला तुम शादी क्यों नहीं करते? बोलो—।"

युवती रानी, बालिका की तरह पूछ रही थी!

किशोर ने जैसे सचेत होकर पूछा—"क्या बतलाऊँ रानी?"

रानी ने कहा—'तुम शादी क्यों नहीं करते, यही बतलाओ।'

"मैं किसी रानी के साथ ब्याह करना चाहता हूँ, यदि ऐसा हो तो तैयार हो जाऊँगा रानी!" किशोर ने दूसरी तरफ सुदूर आकाश की ओर देखते हुए कहा।

रानी को जैसे काठ मार गया। उसने अपने को सँभालते हुए कहा—"तुम्हारी यह हँसी मेरे लिए विष हो जायगी, जानते हो?—" उसकी मर्मव्यथा आँखों में उतर आई।

किशोर सहम कर बोला—"तुम्हें कष्ट न हो, इसीलिए तो मैं कुछ कहता नहीं। सभी को शादी करना आवश्यक नहीं है, यही जान लेना तुम्हारे लिए बहुत है।"

रानी जैसे भीता होकर पूछने लगी—"मुझे कष्ट न हो! तुम क्या चाहते हो किशोर? मैं विधवा हूँ, तुम्हारी आश्रिता हूँ। बोलो तुम क्या चाहते हो?" उसके स्वर में स्त्री का आत्माभिमान फूट कर बह रहा था।

किशोर घूम पड़ा, उसकी आँखों से आँसू गिर रहे थे। उसने कहा—"तुम से अब मैं क्या कहूँ? मैंने अपने हृदय की सारी दुनिया तुम्हारे प्रेम की आग में जला रक्खी है। तुम इसे न जान कर भी एक बार जान लो। यदि तुम्हारी आशा भी मेरे लिए मृगतृष्णा होगी तो निश्चय इस मरुभूमि में मेरा विनाश होगा।'

रानी आगे कुछ न सुन सकी। वहीं बेहोश होकर गिर पड़ी किशोर ने बढ़ कर उसे सहारा दिया। अपनी चेतनावस्था में किशोर को देखकर रानी काँपने लगी। बड़ी प्रार्थना-पूर्ण वाणी में उसने कहा—"देखो तुम लड़के नहीं हो किशोर! जो तुम्हें कुछ समझाने की आवश्यकता हो। मेरी रक्षा तुम्हारे हाथ है। एक विधवा का अपमान करके तुम्हें क्या मिलेगा? मैं विशेष क्या कहूँ।" इसके आगे वह कुछ कह न सकी, उठ खड़ी हुई और फिर बँगले की ओर चली गई।

किशोर वहीं बैठा रहा।

× × ×

आज मनोहर बाबू का परिवार नाटक देखने गया था, रानी सर-दर्द का बहाना करके नहीं गई। उसे जैसे अपने से अरुचि होगई थी। मन मारे बिस्तरे पर पड़ी, छत की कड़ियाँ गिन रही थी। फिर न जाने उसके मन में क्या आया! एकाएक उठी और लालटेन तेजकर एक पत्र लिखने लगी।

"प्रिय × ×,

आज तुम्हे यह पत्र लिखकर सूचना दिये जाती हूँ कि मैं अब यहाँ तुम्हारे घर मे न रह सकूँगी। बाहर जा रही हूँ। आशा है मेरी इस धृष्टता को आप लोग क्षमा कर देंगे। मैं जानती हूँ, मेरे यों जाने के कारण मेरे सम्बन्ध मे नाना प्रकार के अपवाद फैल जांयगे, पर इससे क्या ? वह अपमान मुझे विचलित न कर सकेगा। मुझे यहाँ से जाने में ही सुख है। पर तुम से मेरा एक अनुरोध है, आशा करती हूँ अभागी विधवा की इस प्रार्थना को निष्फल न जाने दोगे ! तुम अपनी शादी अवश्य कर लेना, अन्यथा माँ को अत्यन्त कष्ट होगा। मेरी भी एक अन्तिम लालसा है और वह तुम्हारे शादी करने से ही पूर्ण हो सकती है। वह है तुम्हारे लड़के को खेलाने की। इसे तुम हँसी में न टाल देना, अन्यथा मेरी स्मृति तुम्हारे क्षुब्ध हृदय मे दौड़ा करेगी। तुम भी सुखी होगे; शादी कर लेना। मेरी खोज करना भी व्यर्थ होगा। मैं कहाँ जाऊँगी, स्वयं नहीं जानती। हाँ, यदि शादी कर लोगे, तो अवश्य एक बार तुम्हारी पत्नी के चरणों में आश्रय खोजूँगी।

तुम्हारी
अभागिनी रानी।"

पत्र लिख चुकने पर उसने उसे एक बार पढ़ा। पढ़ते-पढ़ते आखों मे आँसू आगये। उसे वह किशोर के बिस्तरे पर रख आई। बग़ीचे मे आकर उसने एक बार उस घर की ओर देखा। फिर बाहर निकल आई और उन्मादिनी-सी एक ओर को बढ़ती चली गई।

उधर रंगमंच पर किशोर भीष्म की प्रतिज्ञा सुन रहा था।

वाचस्पति पाठक

भारत की देशी रियासतों का प्रश्न

स्वराज्य का प्रश्न ज्यों-ज्यों हमारे निकट आता जाता है, देशी रियासतों का प्रश्न भी अधिक महत्व धारण करता जाता है। इन देशी रियासतों का भारत की केन्द्रीय सरकार (Cen ral Government) के साथ भविष्य मे क्या सम्बन्ध होगा यह एक महत्वपूर्ण और गम्भीर प्रश्न है। जब-जब भारत के भावी शासन-विधान के मूलभूत सिद्धान्त व आदर्श निश्चित करने का सवाल सामने आता है, उस समय एक मुख्य प्रश्न यह भी होता है कि इन रियासतों के सम्बन्ध मे क्या सिद्धान्त निर्धारित किये जांय।

इस समय इन देशी रियासतों की स्थिति बहुत ही विचित्र है। कहने को वे सीधे इग्लैंड के सम्राट् के अधीन हैं; जिस प्रकार भारत सरकार सम्राट् के अधीन है। इस लिहाज़ से उनकी स्थिति (Status) भारत सरकार के बराबर ही होनी चाहिए और भारत सरकार का उन पर कोई प्रभुत्व न होना चाहिए। परन्तु क्रियात्मक रूप से ऐसा नही होता। भारत सरकार और वाइसराय इन देशी राजाओं पर खूब रोब जमाते है। इस दृष्टि से इन राजाओं की स्थिति सर्वथा अस्पृहणीय है। इस स्थिति के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि वायसराय भारत के सम्राट् का प्रतिनिधि है, इसलिए ये राजा लोग सम्राट् के प्रति राजभक्ति, वाइसराय के द्वारा ही प्रकट करते हैं, सम्राट् के प्रतिनिधि का सम्मान करके वे सम्राट् का सम्मान करते है। भारत मे वाइसराय के दो भिन्न-भिन्न कर्तव्य हैं। पहला, भारतसरकार का सचालन करना, दूसरा, सम्राट् के प्रतिनिधि रूप से देशी रियासतों-सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन करना। परन्तु सम्राट् के प्रतिनिधि के प्रति सम्मान प्रकट करते-करते ही काफ़ी अर्से के बाद ये राजा लोग धीरे-धीरे वाइसराय के दबाव में आते गये और चूँकि वाइसराय ही भारत सरकार का भी मुखिया है इसलिए भारत सरकार

का प्रभुत्व भी इन देशी रियासतों पर बढ़ता गया। इसका परिणाम यह हुआ है कि चाहे कानूनी दृष्टि से ये राजे-महाराजे वाइसराय से नीची स्थिति न रखते हों, परन्तु क्रियात्मक रूप से ये उनके नीचे ही समझे जाते है। कोई समय था जब सरकारी लेखो मे इन्हे 'सम्राट् का मित्र' लिखा जाता था, परन्तु अब प्रभुत्व और प्रभाव (Prestige) के खयाल से इस शब्द का प्रयोग नहीं होता और उसके स्थान पर 'राजभक्त' (Loyal) शब्द का प्रयोग होता है।

देशी रियासतों की यह स्थिति क्यो और किस प्रकार हो गयी, यहाँ इस प्रश्न की गहराई मे हमे नहीं जाना है। यहाँ पर हमें केवल इस प्रश्न पर विचार करना है कि भविष्य मे इनकी स्थिति क्या हो सकती है और क्या होनी चाहिए। इस प्रश्न के दो पहलू है। पहला बिलकुल लाक्षणिक (Technical) और कानूनी पहलू है। दूसरा भावी भारतीय राष्ट्र के आदर्श, हित, और प्रभुत्व की दृष्टि मे राजनैतिक पहलू है।

भारत की इन रियासतों के साथ अंग्रेजी सरकार ने भिन्न-भिन्न समय मे कई सुलहनामे किये है। ये सुलहनामे भिन्न-भिन्न रियासतों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। भारत में अंग्रेजो की राजनैतिक सत्ता की स्थिरता और रक्षा की दृष्टि से भिन्न-भिन्न समय की आवश्यकतानुसार, तथा भिन्न-भिन्न देशी राज्यो की स्थिति एवं महत्व के अनुसार ये सन्धियां भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। इन सन्धियों के अनुसार देशी राजाओं के कुछ अधिकार और स्वत्व स्वीकृत किये गये हैं। सम्राट् उन अधिकारो की रक्षा के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं। इन सन्धियों के द्वारा देशी रियासतों की अक्षुण्णता (integrity) भी स्वीकार की गयी है। सम्राट् इन सन्धियों का उल्लंघन नहीं कर सकता और भारतसरकार तो किसी हालत में भी भारतीय राजाओं के इन अधिकारों को क़ानूनन नहीं छीन सकती।

ब्रिटिश सरकार के साथ इन रियासतों का जो सम्बन्ध है वस्तुत भारत के इतिहास मे,—जहाँ तक इतिहास साक्षी है—उसका और कोई उदाहरण नहीं मिलता। केन्द्रीय शक्ति के अधीन पहले भी छोटे-छोटे खुद-मुख्तार राजा होते थे, परन्तु उन्हे अपनी राजभक्ति केवल भारत की केन्द्रीय सरकार के प्रति प्रकट करनी पड़ती थी—उनका सम्बन्ध इस केन्द्रीय सरकार के साथ सीधा होता था। दूसरे, उनके अधिकार सुरक्षित होने पर भी केन्द्रीय सरकार हमेशा के लिए उनके अधिकार सुरक्षित रखने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध न थी। शासन की सुव्यवस्था और हित की दृष्टि से उन्हे इन अधिकारो से वंचित भी किया जा सकता था। उनकी स्थिति प्राय केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि या गवर्नर की सी ही होती थी। इस समय उनकी एक विचित्र ही स्थिति है। कानूनन उनका सम्बन्ध सीधा इंग्लैण्ड के सम्राट् के साथ है, अतएव भारत सरकार से वह सर्वथा स्वतंत्र है। भारत सरकार भी इंग्लैण्ड के सम्राट् के ही अधीन है—इसलिए अंग्रेजी शासन के हित की दृष्टि से क्रियात्मक रूप से कोई कठिनाई पैदा नहीं होती।

परन्तु अगर देशी रियासतो की उपर्युक्त कानूनी स्थिति को क्रियात्मक रूप मे स्वीकार कर लिया जाय—जैसा कि इस समय देशी रियासतो के राजा लोग प्रयत्न कर रहे हैं—तो प० मोतीलालजी के शब्दो मे भारत मे यह एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि भारत दो—परस्पर सर्वथा स्वतंत्र—भागों मे बॅट जाता है। इस स्थिति का अभिप्राय यह है कि स्वराज्य मिलने के बाद भारत के राजनैतिक दृष्टि से दो भाग हो जायगे। एक ओर तो स्वराज्य सरकार जनसत्तात्मक सिद्धान्तो के आधार पर स्थापित होगी अर्थात वहाँ की सरकार का अन्तिम उत्तरदायित्व जनता के प्रति होगा और दूसरा भाग वर्तमान देशी रियासतों का होगा, जो इंग्लैण्ड के सम्राट् के प्रति उत्तरदाता होंगी। राजनैतिक दृष्टि से यह स्थिति कितनी अवाछनीय है, यह बात छोटी से छोटी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति भी जानता है। राजनीतिशास्त्र का यह एक सिद्धान्त है कि एक देश में, अर्थात् एक भौगोलिक सीमाबद्ध राष्ट्र मे राजनैतिक प्रभुत्व (Sovereignty) एक ही राष्ट्रीय सरकार मे केन्द्रित होना चाहिए। जिस प्रकार एक घर में दो स्वामी नहीं रह सकते, एक राष्ट्र में दो सरकारें नहीं रह सकती।

हमने ऊपर कहा है कि वर्तमान समय में यह कठिनाई प्राय उत्पन्न नहीं होती—क्योंकि कानूनी दृष्टि से थोड़ा बहुत भेद होने पर भी क्रियात्मक दृष्टि से भारत

सरकार का ही देशी रियासतों पर प्रभुत्व है—परन्तु स्वराज्य स्थापित होने पर यह कठिनाई बहुत ही गम्भीर हो जायगी। उस अवस्था में स्वभावत राष्ट्रीय-सरकार और देशी-रियासतों में बहुत-सी बातों पर मतभेद और विरोध उपस्थित होगा। और चूँकि देशी राज्य इंग्लैण्ड के प्रति उत्तरदाता होंगे, इंग्लैण्ड को भारतीय मामलो मे हस्तक्षेप करने का मौका मिलेगा। स्वराज्य-सरकार स्थापित हो जाने पर भी इंग्लैण्ड अपने आर्थिक एवं राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति, भारत की भूमि पर देशी रियासतो के द्वारा किया करेगा। स्वराज्य-सरकार के सामने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का जो महत्वपूर्ण कार्य होगा उसके मार्ग में यह बहुत बड़ी रुकावट खड़ी होगी। इंग्लैंड को जान बूझकर राष्ट्रीय सरकार और देशी रियासतों में झगड़े उत्पन्न करने का भी मौका मिला करेगा। इसलिए प० मोतीलालजी का यह भय प्रदर्शित करना कि इंग्लैंड भारत को सदा के लिए दो भागों मे बाँट देना चाहता है, सर्वथा उचित था। यह दुर्भाग्य की बात है कि देशी राजा और शासक लोग अपनी मूर्खता, अदूरदर्शिता और क्षणिक स्वार्थों से प्रेरित होकर इंग्लैण्ड के इशारों पर खेल रहे हैं।

परन्तु जहाँ हमें उपर्युक्त स्थिति तर्क की दृष्टि से ठीक मालूम होती है, वहाँ जब हम भारत की भावी राजनैतिक प्रगति की क्रियात्मक दृष्टि से कल्पना करते हैं तब हमें उपर्युक्त स्थिति के उपस्थित होने की सम्भावना प्रतीत नहीं होती। अगर ऐसी स्थिति आवेगी भी तो वह देर तक न रह सकेगी। हमें विश्वास है कि ब्रिटिश-भारत में जनतन्त्रवाद की जो लहर आयेगी उसका प्रभाव देशी रियासतों की प्रजा पर भी पड़े बिना नहीं रह सकेगा। हमारी दृष्टि में यह बात असम्भव प्रतीत होती है कि ब्रिटिश-भारत में जनतन्त्र शासन स्थापित हो और देशी रियासतों की प्रजा एकतन्त्र के अत्याचारों को हमेशा के लिए सहन करती जाय। उस समय जनता के विरुद्ध देशी राजाओं की रक्षा भारत की स्वराज्य सरकार न करेगी, जिस प्रकार आजकल बहुत कुछ जानबूझकर या अनजान में ब्रिटिश सरकार करती है। इंग्लैण्ड के लिए भी इतनी दूर से इनकी रक्षा करना असम्भव ही होगा। इसलिए स्वभावतः जनता की आवाज़ के सामने इन्हे दबना पड़ेगा।

पिछले दिनों लार्ड इरविन ने कहा था कि प्रजा की उठती हुई जनतन्त्रवाद की उमंगों को हमेशा के लिए कुचलते जाना देशी राजाओं के लिए असम्भव है। पटियाला नरेश ने भी इस उक्ति को दुहराया था। हमारा भी विचार है कि देशी नरेश, ब्रिटिश सरकार या संसार की कोई शक्ति जनता की उठती हुई उमंगों को देर तक कुचल नहीं सकती। बुद्धिमत्ता इसमें है कि समय की इस लहर को रोकने के बजाय उसके साथ चला जाय। देशी रियासतों के शासकों के लिए भी यह बुद्धिमत्ता की बात होगी कि वे अंग्रेज़ी सरकार के पास रक्षा के लिए दौड़ने की अपेक्षा उस लहर का साथ दें क्योंकि जो अंग्रेज़ी सरकार इस लहर से स्वयं अपना बचाव नहीं कर सकी वह उनका क्या बचाव करेगी?

इस समय चाहे देशी रियासतों की प्रजा इन शासकों से कितनी ही खिन्न हो फिर भी ब्रिटिश-भारत की जनता इन देशी राजाओं को स्वदेश भाई होने के कारण प्रेम और पक्षपात की दृष्टि से देखती है, और जब भारत सरकार इनके साथ कोई कठोर व्यवहार करती है उस समय उचित या अनुचित की परीक्षा किये बिना ही ब्रिटिश भारत की जनता इनके साथ सहानुभूति प्रकट करती है! नाभा नरेश, इंदौर नरेश तथा भरतपुर नरेश की आपत्तियों में ब्रिटिश-भारत के बहुत से समाचार-पत्रों ने उनका पक्ष लिया। नाभा-नरेश के लिए तो बहुत से राष्ट्रीय नेताओं ने भी प्रयत्न किया और राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) तक ने उनका पक्ष समर्थन किया। परन्तु देशी नरेश इसका उलटा बदला यह देते हैं कि बहुत से ब्रिटिश-भारत के समाचार-पत्र राज्य में आने से रोक देते हैं और राष्ट्रीय नेताओं के साथ भी कहीं-कहीं बहुत बुरा व्यवहार करते हैं। अगर देशी नरेशों में कुछ भी बुद्धि और दूरदर्शिता हो तो वे भारतीय जनता की सहानुभूति और प्रेम के पात्र बहुत जल्दी बन सकते हैं। यह निश्चित है कि भविष्य में ब्रिटिश-शक्ति उनकी रक्षा नहीं कर सकती, जनता का प्रेम और सहानुभूति ही उनकी रक्षा कर सकते हैं।

हम देशी रियासतों को बिलकुल मिटा देने के पक्ष में नहीं। अगर देशी रियासतें जर्मन राष्ट्र की रियासतों की तरह भारतीय राष्ट्र का अंग बन कर रह सकें, तो हमें कोई आपत्ति नहीं परन्तु इसके साथ यह आवश्यक होगा कि

यहाँ भी जनता को उसी प्रकार की स्वतन्त्रता हो और उसी प्रकार अधिकार प्राप्त हों जैसे स्वराज्य सरकार मे ब्रिटिश भारत की जनता को प्राप्त होंगे। वर्तमान परिस्थिति में तो हमारी राय में देशी रियासतों का बने रहना ही अधिक लाभ-प्रद है, बशर्ते कि उन रियासतों के शासक प्रगतिशील विचारों के हों और अपने राज्य मे उन विचारों को क्रियात्मक रूप दें। ब्रिटिश सरकार के स्वार्थ इग्लैण्ड की दृष्टि से हैं और इग्लैण्ड के स्वार्थों की रक्षा के लिए उनका भारत को शीघ्र स्वतन्त्र न होने देना उनकी दृष्टि से युक्तियुक्त है। परन्तु देशी रियासतो के स्वार्थ तो इसी देश में है। जब वे अपने आन्तरिक प्रबन्ध में स्वतन्त्र समझे जाते हैं, तो क्यो न वे अपने यहाँ अनिवार्य शिक्षा का प्रचार करें? क्यो न वे अपने देश की आर्थिक और औद्योगिक उन्नति करने मे अग्रसर हों? क्यों न वे अपने यहाँ की सामाजिक कुरीतियो को दूर करें? क्यों न वे अपने देश की जनता में राजनैतिक शिक्षा का प्रचार करें, और अपने शासन को अधिकाधिक उत्तरदायी बनायें। ये बातें ब्रिटिश सरकार अपने शासन मे नही करती क्योंकि इससे उसके स्वार्थों को हानि पहुँचती है परन्तु देशी राजा लोग यह सुधार क्यो नही करते? इसका उत्तर यह है कि इससे उनके व्यक्तिगत स्वार्थों को हानि पहुँचती है, वे स्वेच्छाचारी रहना चाहते हैं।

अब यह प्रश्न देशी राजाओं के सामने है। उनके सामने दोनो मार्ग खुले हैं। वे जनता के प्रेम-पात्र बन कर उचित मर्यादा में अपने हितों की रक्षा भी कर सकते है, और जनता को अपना शत्रु बनाकर भविष्य को अपने लिए अंधकार-मय भी बना सकते हैं। इस समय मैसूर, त्रावणकोर और थोड़ा बहुत बड़ोदा को छोडकर शेष रियासतों के शासकों ने जनता के लिए प्राय कुछ भी नहीं किया। जैसा कि हमने ऊपर कहा है कि अगर चाहे तो ये शासक अपने राज्यों को ब्रिटिश भारत के शासन के लिए आदर्श बना सकते हैं और इस प्रकार जनता का सम्मान प्राप्त कर सकते हैं। और इसी दृष्टि से इन रियासतो का बना रहना ब्रिटिश भारतीय जनता की दृष्टि से भी बहुत लाभ-दायक है। राज्य-प्रबन्ध एव सैन्य-सचालन आदि की शिक्षा के जो अवसर ब्रिटिश भारत के लोगों को ब्रिटिश भारत में प्राप्त नहीं, वे आसानी से बहुत-कुछ इन रियासतो में प्राप्त हो सकते हैं। आर्थिक और औद्योगिक उन्नति, तथा विदेशों मे जाकर भिन्न-भिन्न विषयो की शिक्षा आदि के अवसर रियासतों की तरफ से आसानी से उपस्थित किये जा सकते हैं। इस प्रकार ये रियासतें किसी हद तक ब्रिटिश-भारत की भावी उन्नति में सहायक और लाभदायक सिद्ध हो सकती है। इसमे जनता का भी लाभ है और देशी रियासतो के शासकों का भी, अन्त मे, इसी में लाभ है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या ये राजा लोग ऐसा करेंगे? यह कथन कि ब्रिटिश सरकार उन्हें उन्नति के ये सब कार्य नहीं करने देगी, ठीक होने पर भी बहुत बल नहीं रखता। क्योंकि जिस प्रकार ये इस समय अपने अधिकारो के लिए आन्दोलन कर रहे हैं, उसी प्रकार इस बात के लिए आन्दोलन कर सकते है कि ब्रिटिश सरकार उनके उन्नति के कामो मे बाधा न डाल सके। इस आन्दोलन मे वे भारतीय जनता की ही, नही संसार भर की बड़ी भारी सहानुभूति प्राप्त कर सकेंगे और ब्रिटिश सरकार का अवश्य झुकना पड़ेगा। जैसा कि एक बार एक नरेश ने ही कहा था कि वास्तविक अधिकार देश में उन्नति कर सकने का अधिकार होना चाहिये न कि जनता पर स्वेच्छाचारिता का अधिकार। इस समय देशी नरेश अपने लिए स्वेच्छाचारिता के अधिकार की प्राप्ति के लिए लड रहे है। जिससे उनके साथ किसी की भी सहानुभूति नहीं। अगर वे अपने उन अधिकारों के लिए लडे जिनसे ब्रिटिश सरकार उनके उन्नति के कार्यों मे बाधा न डाल सके तो वे सब के सहानुभूति के पात्र होंगे। देशी रियासतों के शासकों का भविष्य अपने हाथ मे है। चाहे तो वे अपना भविष्य जर्मनी के कैसर तथा रूस के जार की तरह बना सकते है और चाहे तो वे अपने भविष्य का इटली के विक्टर इम्मैनुअल की तरह बना सकते हैं। देशी रियासतों का सारा प्रश्न उनके इसी निर्णय पर निर्भर है कि वे कौन सा मार्ग चुनते हैं।

अमरनाथ विद्यालंकार

मनुष्य

पंचतत्व के पैबन्दों का पहन लिया इक चोला।
कुछ सजीव आकर्षण डाला, 'जीव' नाम से बोला।
मायामय की शिक्षा लेकर माया-जाल बिखेरा।
औरों को फासने चला था आप जमाया डेरा।
कह रहा सब कुछ मेरा मेरा॥

उलटी-सीधी चालें चलकर वन्यों को अपनाया।
कहीं मसारी, कहीं दूध पी, सब पर रंग जमाया।
दुनियादारी कहीं दिखा कर द्वार पर ला बाँधा।
छिन्न-भिन्न कर सभी हेकड़ी मनोनीत कर-साधा।
स्वार्थ-साधन लक्ष्य तेरा।
कह रहा सब कुछ मेरा मेरा॥

फैलाया अपना प्रपंच सारी पृथ्वी के पट पर।
अनिर्बाध जल-सागर हथिया हँसता उसके तट पर।
स्थावर, जंगम जलचर, खेचर, भूचर सब अपनाये।
'सब पर शासन करूँ' भाव ये इसके मन में आये।
न कोई बचा कहीं डेरा।
कह रहा सब कुछ मेरा मेरा॥

भूपट रंग विविध रंगों से नीले भी हरियाले।
सब विलास के साधन उससे पैदा किये निराले।
बना गगन-चुम्बी घर मन्दिर एक-छत्र बन बैठा।
भू का उदर फोड़ पाने को वस्तु अनूपम पैठा।
साधना का मंदिर हेरा।
कह रहा सब कुछ मेरा मेरा॥

भाषा, शास्त्र, नियम सामाजिक यत्र तत्र सब अपने।
जीवन-स्वार्थ सफल करने को दिये न अन्य पनपने।

अपनी सहज सर्ग-सुविधा को स्मृतियां भी रच डाली।
छोटी, बड़ी, अल्प, सम, उन्नत, अवनत अन्य प्रणाली।
जिसे देखा निर्बल, घेरा।
कह रहा सब कुछ मेरा मेरा ॥

मैं हूँ बड़ा विश्व का स्वामी सब से उन्नत सुन्दर।
सब मे व्यापक मेरा यश है गतिस्यूत यह मदिर।
सभी कल्पनाये मेरी हैं सृष्टि-चित्र-सचालक।
ओत-प्रोत रूप है मेरा क्या बूढा क्या बालक।
विश्व-प्रपंच दिखाता मेरा, देखो अणुवीक्षण से।
स्थिति-प्रलय-उत्पत्ति-विषमता मेरे ही ईक्षण से ॥
कहा मम पटुता का न बसेरा ?
कह रहा सब कुछ मेरा मेरा ॥

चित्रकार, कवि कर्म-कुशल हूँ, लेखक, वक्ता, न्यायी।
वैद्य, विवेकी शास्त्र-रचयिता, शिल्प-कला-व्यवसायी।
राजा, प्रजा, सखा, लक्ष्मीधर, हैं कुछ दुखी अकिचन।
मेरे ही अनंत रूपो का करबी सृष्टि विवेचन।
जगत यह मेरा ही चेरा।
कह रहा सब कुछ मेरा मेरा ॥

पर कुछ स्थितियाँ इसे जकड़ती अपने दृढ़ हाथो मे।
जिनसे यह परिभूत हुआ है आता है बातो मे।
यश, अपयश, जीवन, मरणो में हानि, लाभ मे जकड़ा।
डूब अनल्प कल्पनोदधि मे समझ खभ तृण पकड़ा।
वहो ईश्वर रक्षक मेरा।
कह रहा सब कुछ तेरा तेरा ॥

परवशता के दृढ़ पंजो मे जब जब आता है वह।
अपरिहार्य दुःख-सागर मे डूबा घबराता वह।
मनोऽनुकूल भविष्य-प्राप्ति की आशा में उतराता।
झुंझला-झुंझला कर उन्मन हो जीवन से उकताता।

आश्रित यह जीवन मेरा ।
कह रहा सब कुछ तेरा तेरा ॥

नियम-उपनियम रचे अकण्टक भू-दुख से तरने को ।
सुख की बेल सरस करने को दुख समूल हरने को ।
वे सब बिछे हुए काँटों-से कर्तव्यों के पथ में ।
बार बार आकर उकसाते उसको लिए कुपथ मे ।
यत्न बचने का किया घनेरा ।
कह रहा सब कुछ तेरा तेरा ॥

जीवन-सागर मे बहते ही विपद्-तरंगें उठतीं ।
पद-पद पर थपेड़ लगती है पद-पद पर है मिटती ॥
विषमय शोक-सर्प डसता है, लगते दुख के चाटे ।
आगे, पीछे, ऊपर, नीचे, बिछे हुए हैं कांटे ।
हुआ उदय वैराग्य-सवेरा ।
कह रहा सब कुछ तेरा तेरा ॥

जिन पर था अभिमान उसे वह बने दु ख के साधन ।
जो जीवन-आराध्य वस्तु थी किया अनन्ताराधन ।
उठी विराग-भावना उनसे सुख का लेश न पाया ।
लोकोन्नति का अन्त हुआ आध्यात्मिक तत्व समाया ।
जागते सोते 'मैं तेरा' ।
कह रहा सब कुछ तेरा तेरा ॥

फिर इक और दृश्य बदला वह भेद-भावना टूटी ।
भक्ति-दया मन-मंदिर आई बनकर भव्य बधूटी ।
सब मे 'मैं' हूँ सब मुझ मे है, वे मेरे, मैं उनका ।
पाठ पढ़ाया दया-सिन्धु ने मुझे यही जीवन का ।
आता यह मनुष्य भावो से क्रमशः उस संज्ञा मे ।
उन्नत जिसे देखकर उत्सुक सुर भी बल प्रज्ञा में ।
विवेकी यही विभव तेरा ।
इसी से है सब कुछ तेरा ॥

उदयशंकर भट्ट 'हृदय'

राष्ट्र-संघ

"सभी जातियों को इस बात का समान अधिकार है कि अखिल मानव-समाज की सभा में प्रतिनिधि या मेम्बर हो कर रहें।"
—पाल रिशार

अन्तर्राष्ट्रीय भावना—आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता पहले-पहल व्यापारिक दृष्टि से हुई। यूरोप के कुछ राष्ट्रों ने उन्नीसवीं शताब्दि के मध्य में तार का सम्बन्ध जोड़ने का निश्चय करके सन् १८५० ई० में एक तार-संघ कायम किया। पश्चात् १८६३ में एक पोस्टल (डाक का) संघ स्थापित हुआ। क्रमशः विविध राष्ट्रों का एक दूसरे से व्यापारिक मामलों में सम्बन्ध बढ़ने लगा तो तोल और माप निश्चित करने की भावना हुई और १८७५ ई० में इसके लिए भी एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित किया गया।

व्यापारिक सम्बन्ध के कारण राष्ट्रों का आपस में राजनैतिक सम्बन्ध भी होने लगा। भिन्न-भिन्न राष्ट्र निर्बल देशों को अपने अधीन करने लगे, और इससे उनका परस्पर संघर्ष होने लगा। तब युद्धों को कम करने के लिए १८९९ और और १९०७ में हेग (हालैंड) में कुछ राष्ट्रों की बैठकें हुईं। उनसे कुछ विशेष फल न निकला, हां, राजनीतिज्ञों का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक संघ स्थापित करने की ओर आकर्षित हो गया। सन् १९१४ ई० में कुछ प्रयत्न हुआ, परन्तु महायुद्ध आरंभ होजाने के कारण सब कार्य स्थगित रह गया। अन्ततः १९१९ में संधि होने पर अगले वर्ष राष्ट्र-संघ का जन्म हुआ।

राष्ट्र-संघ—राष्ट्र-संघ उन राज्यों की एक समिति है, जिन्होंने संघटन पत्र (Covenent) पर हस्ताक्षर करके यह प्रतिज्ञा की है कि बाह्य आक्रमणों में एक दूसरे की रक्षा करेंगे और परस्पर अथवा अन्य किसी भी राज्य से युद्ध न करेंगे, जब तक कि अपने झगड़ों को पंचायत के सम्मुख फैसले या जांच के लिए न रख और तीन मास से लेकर नौ मास तक का समय व्यतीत न कर दें। जो राज्य अपनी प्रतिज्ञा तोड़ेगा, वह अन्य सब राज्यों का विरोधी समझा जायगा, जिनका यह कर्त्तव्य होगा कि उससे आर्थिक तथा राजनैतिक सम्बन्ध तोड़ दें।

इस संघ का संघटन जनवरी १९२० ई० में हुआ। इस का प्रधान कार्यालय जेनेवा (स्वीज़र लेंड) में है। मार्च सन् १९२७ ई० में ५५ राज्य इसके सदस्य थे।

संघ की संस्थायें—राष्ट्र संघ की निम्न-लिखित पांच संस्थायें हैं—

१—कौंसिल, २—सभा या एसेम्बली, ३—सेक्रेटेरियट, ४—अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ, ५—अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत।

संघ की कौंसिल में ब्रिटिश साम्राज्य, फ्रांस, इटली, और जापान के पांच (?) स्थायी तथा अन्य नौ राज्य अस्थायी सदस्य होते हैं। अस्थायी सदस्य प्रति वर्ष संघ की सभा के बहुमत से चुने जाते हैं। स्थायी सदस्य हमेशा के लिए रहते हैं। इनका कभी चुनाव नहीं होता। यही कारण है कि इस संघ में इन साम्राज्य-वादी राष्ट्रों का प्रभाव बहुत अधिक है। जैसा ये चाहते हैं, बहुत कुछ वैसा ही वहां निर्णय हो जाता है।

संघ की सभा या एसेम्बली में प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र का एक-एक मत गिना जाता है। इसका अधिवेशन जेनेवा में होता है। इस की छः कमेटियां हैं, जिनका कार्य (क) न्याय, (ख) औद्योगिक संघटन, (ग) निरस्त्रीकरण, (घ) संघ की राजस्व व्यवस्था, (च) सामाजिक विषय विचार और (छ) राजनैतिक प्रश्न-विचार तथा नये नये सदस्यों का प्रवेश है।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ के अधिवेशनों में मजदूरों के कुशल, स्वास्थ्य, उन्नति और रक्षा आदि सम्बन्धी विविध प्रस्ताव स्वीकृत होते हैं तथा भिन्न-भिन्न राज्यों में उन प्रस्तावों के अनुसार सुधार कराने का यत्न किया जाता है।

संघ की अन्य संस्थाओं में से विशेष उल्लेखनीय ये हैं—

(अ) अर्थ सम्बन्धी, (आ) स्वास्थ्य सम्बन्धी, (इ) सामान लाने ले जाने से सम्बन्ध रखने वाली, (ई) सैनिक कमीशन, (उ) निरस्त्रीकरण कमीशन, (ऊ) आदेश (Mandate) कमीशन, (ए) अफीम कमीशन, (ऐ)

समाज-कमीशन, (ओ) व्यापार संस्था, और (औ) मानसिक सहयोग कमीशन।

इन में से और संस्थाओं का कार्य इनके नाम से प्रकट है, केवल आदेश-कमीशन का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। यूरोपीय महायुद्ध के बाद जर्मनी और टर्की द्वारा हासिल कुछ भू-भाग मित्रराष्ट्रों को मिल गये थे। इन भू-भागों का शासन ये राष्ट्र, राष्ट्र-संघ के आदेश के अनुसार करते हैं। इन राज्यों को आदेश-युक्त राज्य (Mandatory States) कहते हैं। इन की शासन सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्ट राष्ट्र संघ की परिषद् में उपस्थित की जाती है। उस रिपोर्ट की जांच करने वाली कमेटी 'आदेश-कमीशन' कहलाती है।

ब्रिटिश-साम्राज्य और राष्ट्र-संघ—इंग्लैंड, ब्रिटिश-साम्राज्य के चार बड़े उपनिवेश, आयरिश फ्री स्टेट तथा भारतवर्ष, राष्ट्र-संघ के सदस्य हैं। संघ के प्रत्येक सदस्य-राज्य को उसके अधिवेशन में तीन-तीन प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होता है, यद्यपि प्रत्येक राज्य का केवल एक ही मत गिना जाता है।

संघ के सदस्य-राज्यों में से कुछ तो स्वतंत्र राष्ट्र हैं, और कुछ स्वतंत्र उपनिवेश हैं। पराधीन देशों में केवल भारतवर्ष ही इसका सदस्य है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि इसने १९१९ में सन्धि-सभा के शर्तनामे पर हस्ताक्षर किये थे। परन्तु इससे विशेष लाभ इंग्लैंड को ही होता है, क्योंकि उसे अपने उपनिवेशों के मत के अतिरिक्त एक मत और मिल गया है। इससे राष्ट्र-संघ में उसका प्रभाव बढ़ गया है। उपनिवेशों के प्रतिनिधि तो जैसे अपनी सरकार के प्रतिनिधि होते हैं, वैसे ही अपने देश की प्रजा के भी प्रतिनिधि होते हैं, क्योंकि उन उपनिवेशों में प्रजा का सरकार पर पूर्ण अधिकार होता है। परन्तु भारतवर्ष की पराधीनता के कारण इस देश की ओर से संघ में सम्मिलित होने वाले सदस्य भारत-सरकार के ही प्रतिनिधि होते हैं, भारतीय जनता के नहीं। अतः उन्हें हर दशा में इंग्लैंड की आज्ञा का पालन करना और संघ में उसका साथ देना होता है।

ब्रिटिश-साम्राज्य राष्ट्र-संघ की कौंसिल का स्थायी सदस्य है। स्वतंत्र ब्रिटिश उपनिवेश और भारतवर्ष उन अस्थायी स्थानों के लिए चुने जाने के योग्य माने गये हैं, जिनकी समय-समय पर संघ की सभा द्वारा पूर्ति की जाती है।

राष्ट्र-संघ और भारतवर्ष—पहले कहा गया है कि भारतवर्ष राष्ट्र-संघ का एक सदस्य है, अतः इसकी ओर से कुछ सदस्य उस की सभा में भाग लेते हैं। परन्तु ये सदस्य वास्तव में भारतवर्ष के प्रतिनिधि नहीं होते। भारत सरकार जिन्हें चाहती है, भेज देती है। यही नहीं, यहाँ के प्रतिनिधि-मंडल का मुखिया भी भारतवासी नहीं होता। पिछले दिनों सरकार की ओर से कहा गया था कि उसे (मुखिया को) भारत-विषयक ज्ञान के अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार की पर-राष्ट्र-नीति का भी ज्ञान होना चाहिये। यद्यपि राष्ट्र-संघ के सदस्य के नाते भारतवर्ष और उपनिवेशों का पद समान कहा जाता है, फिर भी उपनिवेशों के प्रतिनिधियों में उक्त गुण की आवश्यकता नहीं समझी जाती। इसका कारण यह बताया गया कि भारतवर्ष की अवस्था भिन्न प्रकार की है। अवस्था भिन्न प्रकार की, और पद समान है, इस कथन से समाधान नहीं हो सकता। संघ की सभा में भारतवर्ष की ओर से भारतीय व्यवस्थापक सभा द्वारा निर्वाचित सज्जन ही लिए जाने चाहिएँ।

संघ का वार्षिक व्यय लगभग दस लाख पौण्ड होता है। भिन्न-भिन्न सदस्य-राज्यों को इस व्यय के, १०१५ भागों में से एक या अधिक भाग देना पड़ता है। ग्रेट ब्रिटेन १०५ तथा भारतवर्ष ५६ भाग देता है। अर्थात् भारतवर्ष को ग्रेटब्रिटेन की तुलना में आधे से अधिक व्यय देना पड़ता है। परन्तु ग्रेटब्रिटेन का प्रभाव तो उसमें बहुत अधिक है, और भारतवर्ष का प्रायः कुछ भी नहीं। पुनः संघ के बड़े-बड़े पदों में से अधिकांश पर युरोपियन और विशेषतः ब्रिटिश जाति के कर्मचारी नियुक्त हैं, परन्तु भारतवर्ष को इस में पदाधिकार भी प्राप्त नहीं। यह इसे शीघ्र मिलना चाहिए।

जब तक भारतवर्ष को संघ में अपना वास्तविक मत प्रकट करने और अपने समुचित पदाधिकारी रखने का अधिकार न हो, उसे इस संस्था से अलग रहना और इस विषय के व्यय-भार से बचना ही उचित है।

राष्ट्र-संघ के उद्देश्य की पूर्ति कैसे हो?—राष्ट्र-संघ का निर्माण प्रधानतया इसलिए हुआ है कि युद्धों से होने वाली, मनुष्य-जाति की भयंकर हानि को रोके। राष्ट्रों

की प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिद्वंदिता तथा वैमनस्य के भावों को मिटावे, सब में प्रेम और पारस्परिक सहयोग की वृद्धि करे। इस वास्ते, यह सिद्धांत स्थिर किया गया था कि प्रत्येक देश या जाति को अपने शासन आदि के सम्बन्ध में स्वयं निर्णय (Self-determination) का अधिकार हो, कोई उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके मार्ग या कार्य-पद्धति में हस्तक्षेप न करे। ये बातें जितनी उत्तम हैं, सभ्यता और साम्राज्यवाद के आधुनिक वातावरण में उनके अनुसार कार्य निबाहना उतना ही कठिन है, विशेषतया जब कि राष्ट्र-संघ सारे संसार का नहीं है, और उसके सूत्र-संचालक ऐसे राष्ट्र हैं जिन्हें उक्त आदर्श के अनुसार कार्य करने से अपने स्वार्थ की क्षति की महान् आशंका है—जिसके लिए वे अभी तैयार नहीं हैं। यही कारण है कि राष्ट्र-संघ अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो रहा है और न जल्दी सफल होने की आशा ही है। कहीं सभ्यता-प्रचार के नाम पर, कहीं शासन कार्य की शिक्षा देने के बहाने से, और कहीं निर्बलों की रक्षा के लिए ही, विविध साम्राज्यवादी राष्ट्र दूसरे असंघटित या अवनत-खण्डों को अपने अधीन किये हुए हैं, हाँ उन्हें अधीन देश न कह कर 'आदेश-युक्त राज्य' या रक्षित राज्य आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। अस्तु। यदि राष्ट्र-संघ को संसार में अपने उद्देश्य की पूर्ति करनी हो तो उसे पहले अपना सुधार करना होगा, अपने अंग-भूत राष्ट्रों की मनोवृत्ति को बदलना होगा। क्या वह इसके लिए तैयार या समर्थ है?

अन्यान्य बातों में संघ चाहता है कि विविध राष्ट्रों की सैनिक शक्ति एक सीमा से अधिक न रहे। परन्तु उसके सदस्य-राष्ट्र ही नहीं, वरन् वे राष्ट्र भी जिनका इसमें बोलबाला है, आत्म-रक्षा या व्यापार-वृद्धि आदि की आड़ में अपनी सेनायें भरसक बढ़ा रहे हैं। वे राष्ट्र-संघ के निर्णयों को उसी सीमा तक मानने के लिए तैयार हैं, जहाँ तक उनसे, उनके राष्ट्रों या साम्राज्यों के स्वार्थों में बाधा उपस्थित होने की शंका न हो। वे मानव-हितैषिता के लिए अपने छोटे-छोटे संघों, राष्ट्रों या साम्राज्यों की क्षति सहन नहीं कर सकते। जब तक ऐसी स्थिति रहेगी, जब तक स्वार्थ-त्याग के भावों का यथेष्ट उदय न होगा, राष्ट्र-संघ कदापि वास्तव में लोक-प्रिय या उपयोगी नहीं हो सकता।

उपसंहार—राष्ट्र-संघ को लोक-प्रिय तथा उपयोगी बनाने का प्रथम उपाय यह है कि संसार के प्रत्येक राष्ट्र को इसका सदस्य बनने के लिए प्रेरित किया जाय। जिन कारणों से बहुत से राष्ट्र इसके सदस्य नहीं हो सकते, उन पर सम्यक् विचार किया जाय, और उन्हें यथ-शक्ति निवारण किया जाय। संघ की कार्यकारिणी कौंसिल के सब अथवा कम से कम आधे सदस्यों का चुनाव प्रतिवर्ष होना चाहिए। पुनः, शासन-आदेश की प्रथा उठा दी जानी चाहिए। जो राष्ट्र इस संघ के द्वारा दूसरों के अधीन किये गये हैं, उन्हें स्वाधीन कर दिया जाना चाहिए, यदि आवश्यक हो तो उन्हें संघ की ओर से, स्वयं अपना शासन करने के लिए उपयोगी परामर्श या सहायता दी जानी चाहिए। इन बातों को व्यवहृत करने से राष्ट्र-संघ द्वारा मानव-जाति का बहुत हित-सम्पादन हो सकता है।*

दयाशंकर दुबे, (एम० ए०, एल-एल० बी०)
भगवानदास केला

*हमारे मत से, जब तक राष्ट्र-संघ के संघटन में और मूलाधार में आमूल-परिवर्तन न किया जायगा उसका अस्तित्व व्यर्थ ही नहीं अपितु निर्बल राष्ट्रों के लिए घातक है। इस समय राष्ट्र-संघ की जैसी दयनीय अवस्था है, उसे देखते हुए तो उसे, स्वार्थ-साधन और दुर्बल-राष्ट्र-पीड़न के लिए एकत्र, कतिपय स्वेच्छाचारी राष्ट्रों का एक प्रबल गुट्ट कहना चाहिए। जो राष्ट्र बलवान् हैं, वे समय पड़ने पर इस संघ को अंगूठा दिखा देते हैं, जो कमजोर हैं, इसके नियमों द्वारा पिस जाते हैं। इधर की घटनाओं से तो स्पष्ट हो गया है कि राष्ट्र-संघ का क़ायम रहना दुर्बल राष्ट्रों के लिए खतरनाक है। ऐसे राष्ट्रों ने शांति की इच्छा से नहीं वरन् संसार की आँखों में धूल झोंकने के लिए यह नाट्य-गृह चला रक्खा है। आजकल तो राष्ट्र-संघ ब्रिटेन के परराष्ट्र-विभाग का प्रधान अड्डा हो रहा है। उसकी इच्छा के विरुद्ध चूँ करने की हिम्मत किसी को नहीं। फ्रांस और इटली इसके स्थायी सदस्य हैं पर दोनों ऊपर से हंसते हुए मिलते और एक-दूसरे के कलेजे में कटार घुसेड़ देने का मौक़ा देखते रहते हैं। ब्रिटेन-गुट्ट ने इसके द्वारा प्रेस की 'अन्तर्राष्ट्रीय' सुविधायें प्राप्त कर ली हैं। हमें तो यह एक अजीब तमाशा मालूम होता है। —'त्याग-भूमि'-सम्पादक।

हमारी अवस्था व्यंग्य-चित्रों में—

(१)

जॉन बुल



भारतीयों का सार निचोड़ रहा है

[चित्रकार—प्रो० जगबहादुर सिंह]

(२)

आजकल की शिक्षा



एक विद्यार्थी रटन्त-विद्या में अपना स्वास्थ्य गँवा रहा है

[चित्रकार—प्रो॰ जगबहादुर सिंह]



"हम जाग उठीं, सब समझ गईं, अब करके कुछ दिखला देंगी।
हाँ, विश्व-गगन में भारत को, फिर एक बार चमका देंगी॥"

उत्कण्ठा

मनमोहन श्याम हमारे!
अब फिर दर्शन कब दोगे?
द्रुपद-सुता की लाज बचा कर, कर गज का उद्धार।
शबरी गणिका गीध अजामिल, सबको लिया उबार॥
हे दीनन के रखवारे!
क्या मेरी भी सुध लोगे?
भूली नहीं मधुर मुरली की, विश्वमोहनी तान।
नाथ! आज भी जाग रहा है, वह गीता का ज्ञान॥
जसुदा के लालन प्यारे!
कब कुंजो मे विहरोगे?
सुख से ही परिपूरित होगा, मिट जायेंगे क्लेश।
केवल 'लली' इसी आशा पर, जीवित है यह देश॥
हे आराध्य हमारे! कब—
हमसे फिर आन मिलोगे?

तोरनदेवी शुक्ल 'लली'

सच्चा मार्ग

हमारे समाज में घुन लग रहा है। फलस्वरूप निर्गनिराली अनेक समस्यायें मुँह-बाये मौजूद है। हम पुरुषों का झूठा पौरुषाभिमान भी खास तौर पर समाज के एक अंग—स्त्री-जाति—और दूरस्थ-परिणाम-रूप से सारे जन-समूह के लिए 'आफ़त' हो रहा है। अत्याचारी का अत्याचार, अन्यायी का अन्याय, जबर्दस्त की जबर्दस्ती, पीडक की पीडा, शैतान की शैतानियत,—इन सब के विरुद्ध, इनका प्रतिरोध करने के लिए, हमारा पौरुषाभिमान जागृत न होगा, विदेशी शासन के अनैसर्गिक और जुल्मी बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए हमारा पौरुषाभिमान हमारे मन मे असह्य बेचैनी पैदा न करेगा, दुर्बल पर निर्दयता होते हम देख लेंगे, सत्ताधारी को सत्ता के मद में चाहे जो करते हम देख लेंगे, 'गरीब पर दुनिया की सब मार हम खुली-आँखों सहन कर लेंगे, दुस्तर से दुस्तर और असह्य से असह्य बातों को देखकर भी हमें उसके प्रतिरोध की बेचैनी न होगी,—इन सब बातों के सामने भी हमारा पौरुषाभिमान न जागृत होगा, परन्तु स्त्री की बात आते ही हमारा रोम-रोम झनझना उठेगा—"हैं मैं तो पुरुष हूँ, स्त्री पर मुझे एकछत्र सत्ता रखनी ही चाहिए।" कैसी विचित्र बात है!

आज हमारे यहाँ जिधर देखिए उधर स्त्रियो पर पुरुषों के अत्याचारों की करुण-छटा दृष्टिगोचर होती है। आम तौर पर तो घर की सभी स्त्रियो को प्रत्येक पुरुष अपने से तुच्छ, हीन और इसलिए शास्य समझता है, परन्तु स्व-पत्नी पर तो उसके अधिकार की और इसलिए उसके कठोर शासन की कोई मर्यादा ही नहीं हैं। मानों ब्रह्मा ने स्त्री को बनाया ही इसलिए है कि वह पुरुष की गुलामी करे और उसके कठोर से कठोर और निर्दय से निर्दय—और मैं कहूँ, अनुचित से अनुचित—शासन को भी बिना न-नु-नच किये चुपचाप बर्दाश्त करती रहे। इसीमे उसका मोक्ष है, इसीमें उसे स्वर्ग-प्राप्ति है, और इसी में उसकी शोभा-गौरव है। धार्मिक ग्रन्थ ऐसे आदर्श। से पूर्ण है, और प्राचीन दन्तकथायें ऐसे गौरव की हामी है।

बाधा न पड़ने और प्रोत्साहन मिलने से बुराई के लिए भी अच्छाई की आत्म-प्रतीति हो जाती है। यह स्वाभाविक नियम है। पुरुष-स्त्री के संबन्ध के विषय मे भी यही बात हुई है। प्रारम्भ में अवश्य ही पुरुष ने स्त्री पर इतने अत्याचार न किये होंगे। पर जब उनका विरोध न हुआ, किसीने उसमें बाधा न डाली, चाहे अच्छा न बताया हो पर बुरा भी शायद नहीं बताया, तो स्वभावत. इसका यह परिणाम हुआ कि पुरुषों को प्रोत्साहन मिला—प्रत्यक्ष रूप से शायद न हो पर अप्रत्यक्ष रूप से जरूर—और उनके साहस की मात्रा बढ़ते-बढ़ते कालान्तर मे यह उनका 'हक' ही हो गया। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के अनुसार फिर तो यह सर्वमान्य भाव ही हो गया और जितने भी ग्रंथ और शास्त्र निर्माण हुए उन सभी में इसी भाव का प्राधान्य दृष्टिगोचर होने लग गया। पुरुषों का स्त्रियो पर प्रभुत्व जन्मसिद्ध अधिकार हो गया और स्त्रियो का धर्म ही नहीं बल्कि महाधर्म हो गया पुरुषों की गुलामी उनके सब प्रकार के प्रहारों और अत्याचारों का चुपचाप सहन और फिर भी उनके प्रति अनन्य निष्ठा। स्त्रियो को 'पैर की जूती' 'चौंडी की राख' 'आँख की किरकिरी' आदि इस प्रकार के उपनाम मिलने के मूल मे यही स्थिति है और इसीके कारण आज चारों ओर स्त्रियों के प्रति पुरुषों के दुर्भाव-दुर्व्यवहार, अन्याय-अत्याचार का करुण-क्रन्दन सुनाई पड रहा है।

❀ ❀ ❀

कुछ दृष्टान्त ल ?—

१५ सितम्बर के 'आज मे कलकत्ता के एक मुकद्दमे का विवरण है—"रेणुबाला दासी ललितमोहन की स्त्री है। उसकी उम्र १४ वर्ष की है। डेढ वर्ष हुए रेणुबाला से ललित का ब्याह हुआ। तब से वह पति के घर रहती। कहा जाता है कि गत ५ अगस्त को स्त्री के भोजन तैयार करने मे कुछ देर हो गई। बस इसीपर उसका पति ललित उसे पीटने लगा। कहा जाता है कि उसकी माँ भी आकर अपनी पतोहू को पीटने लगी और दोनों ने बडी बेरहमी से उसको मारा। उसकी रुलाई सुनकर पडौस वाले दौडे आये तो अभियुक्तों ने स्त्री को एक कोठरी मे बन्द कर दिया।

रात को अभियुक्त फिर उसे पीटने लगे और वह चिल्लाने लगी। ललित ने छड़ी और घूँसे से मारा और उसकी माँ ने थप्पड़ और घूँसे से मारा। अन्त को मकान-मालिक ने थाने में खबर भेज दी। लड़की अस्पताल भेजी गई। उसके बदन पर चोटों के १५ अलग-अलग निशान थे।"

समाचारपत्रों में इस किस्म की खबरें प्रायः निकलती रहती हैं। बम्बई के अखबारों मे तो कोई ही दिन शायद ऐसी खबरों से खाली जाता होगा। न्यायाधीशों के निर्णय भी प्रायः पुरुष की कठोरता के ही हामी होते है। प्रयाग हाइकोर्ट के विद्वान् जजों ने तो कुछ दिन पूर्व बालिका-पत्नी के उपर उसके पति के बलात्कार पर समाज-सुधारकों से भी कड़े 'रिमार्क' पास किये थे। फिर, अखबारों पर ही क्यों निर्भर रहें, हमारे रात-दिन के जीवन-व्यवहार मे क्या हमे ऐसे दृष्टान्त नहीं दृष्टिगोचर होते ?

अभी हाल मे एक बहन की दुःख-गाथा मेरे सामने आई। उस बहन के पितृ-गृह की स्थिति अच्छी है, पर पति जो उसे प्राप्त हुआ है, वह दुर्व्यसनी और दुर्विकारी है। पढ़ा-लिखा तो नहीं ही है, पर काम-धन्धा भी कुछ नहीं करता है। ऐसी हालत मे उसके इन कृत्यों के लिए उसके पास द्रव्य कहाँ से आवे ? इसके लिए वह अपनी पत्नी पर सख्ती करता है। कहता है—'मुझे रुपया लाकर दो, अपनी माँ से लाओ, या किसीसे उसके यहाँ काम-धन्धा करके चुकाने की शर्त्त पर कर्ज लेकर लाओ।' बेचारी प्रयत्न करती है, थोडा-बहुत लाकर भी देती है। लेकिन, पति की यह प्यास बढ़ती ही जाती है और उसके लिए यह दिन-दिन असम्भव होते जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। पति अपनी प्यास शान्त न होते देख खीझता है और परिणाम होता है उस बहन पर कठोर और निर्दय मार और अत्याचार। मैं इस बहन को अच्छी तरह जानता हूँ, जहाँ तक मै समझ सका हूँ, चरित्र की यह अत्यन्त शुद्ध और हृदय की सरल है। इसकी जाति मे 'नातरे' की प्रथा है, पर इसका सती-भाव इतने अत्याचारों के होते हुए भी इसे उस रास्ते पर नहीं जाने देता है। इसकी करुण-स्थिति देख-देख कई बार मै कर्त्तव्य-विमूढ़ हो चुका हूँ, कई बार इस स्थिति के निवारण के विचार-तरंगों मे डूबा हूँ, पर कुछ नहीं, पति के प्रति झुझलाहट और तिरस्कार के भाव उठ कर बहन के खामोश अत्याचार-सहन के सती-भाव के आगे सिर झुका कर, गंभीर आह के साथ निस्तब्ध हो जाना पड़ा है! यह बहन आज भी इसी दशा मे है।

इसी किस्म की दो-एक आँखों-देखी घटनायें और भी मेरे स्मृति-पटल पर मण्डरा रही है। हाल मे, मध्यभारत की ओर जाने पर, दो-तीन ऐसी बाते अपने सम्माननीय मित्रों से भी सुनी हैं। उन सबके वर्णन के लिए न तो स्थान है, न आवश्यकता। यह तो हमारे जीवन मे आज रात दिन की बाते हो रही है। अगर हम गहराई के साथ ध्यान दे तो हममें से हरएक के आस-पास ऐसी एकाध घटना जरूर प्रकट होगी, ऐसा मेरा खयाल है। इसलिए अब प्रश्न ऐसी घटनाओं के अस्तित्व का नहीं रहा, आज तो प्रश्न यह है—क्या ऐसी स्थिति वाञ्छनीय है ? क्या यह सदा कायम रह सकती है ? और क्या हमे इसे और भी चालू रखना चाहिए ?

* * *

आह ! कौन ऐसा 'मनुष्य' होगा, जो इस स्थिति को अच्छा समझे और इसे कायम रखना चाहेगा ? अगर सच-मुच ऐसा कोई हो तो, मेरी नम्र-सम्मति मे, वह मनुष्य नहीं नर-देह मे शैतान का रूपान्तर ही हो सकता है। मनुष्य का गुण है मानवता, और मानवता किसीपर अन्याय-अत्याचार करने मे, किसी पर जोर-जबर्दस्ती करने मे, अथवा किसीको अपनी गुलामी मे रखकर सताने मे नहीं बल्कि दया, ममता, प्रेम, आदर और सहानुभूति मे है। जीवन का ध्येय सत्य-प्रेम-अहिंसा मे है, असत्य-निर्दयता-हिंसा मे नहीं। अतः कोई भी समझदार व्यक्ति इस स्थिति को वाञ्छनीय तो कह ही नहीं सकता। यह चिरस्थायी भी नहीं हो सकती, क्योंकि, जो वस्तु वाञ्छनीय नहीं उसका किसी-न-किसी दिन मिटना अवश्यम्भावी है। फिर भी अगर कोई इसे चालू रखना चाहे, तो उसे सिवाय बेवकूफ के और क्या कहा जा सकता है ? जो चीज या बात अवाञ्छनीय है, किसी-न-किसी दिन जो मिटने ही वाली है, उसके लिए फिर मोह या हिचकिचाहट क्यों ?

फिर प्रतिक्रिया के नियम को भी तो हमे न भूल जाना

चाहिए। पुरुषों के अत्याचार की मात्रा अब चरमसीमा पर आ पहुँची है—नहीं, कहीं-कहीं तो सीमोल्लङ्घन की भी नौबत आ पहुँची है, ऐसा कह सकते हैं। अगर हमने अब भी इसको मर्यादित करने का द्रुत-प्रयत्न न किया, हम अब भी झूठे पौरुषाभिमान के मद में झूमते रहे, तो वह समय दूर नहीं—और उसके पूर्व-चिह्न अब दृष्टि-गोचर होने लगे हैं—जब जोरों से इसकी प्रतिक्रिया होगी। स्त्रियाँ पुरुषों के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा करेंगी, जैसे दास-प्रथा से तंग आकर अमेरिका के गुलामों ने अपने 'कहे जाने वाले' मालिकों के खिलाफ की थी, और ताज्जुब नहीं कि उस क्रान्ति के उद्वेग में पति-निष्ठा का भाव ही बिलकुल लोप होजाय।

क्या हम उस स्थिति को पसन्द करते हैं? क्या वह स्थिति हमारे लिए सुख-प्रद होगी? क्या वह स्थिति वाञ्छनीय होगी?—मैं समझता हूँ, और जोर देकर इस बात को कहने का साहस करता हूँ, कि हममें से शायद कोई भी उस स्थिति का स्वेच्छया तो हर्गिज आह्वान न करेंगे।

इस प्रकार न तो आज की स्थिति वाञ्छनीय है, और न इसकी प्रतिक्रिया ही वाञ्छनीय होगी। तब इसका एक ही उपाय है—इन दोनों के बीच किसी मध्यमार्ग की खोज। और वह हो सकता है स्त्री-पुरुषों का एकमात्र प्रेम और सहानुभूति का सम्बन्ध, न कि दास-दासी और सेव्य-सेवक के रूप में जोर-जबर्दस्ती का बन्धन।

यही स्वाभाविक और परम-वांछनीय है। ऐसा होने पर ही वास्तविक सुखी गृहस्थ की आशा की जा सकती है। प्रेम और सहानुभूति की भित्ति पर स्थापित गार्हस्थ्य जीवन इतना सुन्दर, इतना शान्त, इतना शृङ्खलापूर्ण, इतना सुखी और इतना सम्पूर्ण होगा कि स्वर्ग के देवताओं को भी स्पर्धा होगी। ऐसे गृहस्थ-जीवन से सुख-शान्ति की पवित्र रश्मियाँ प्रस्फुटित होंगी, जो अपने पवित्र आवरण में घर वालों ही को नहीं बल्कि उसके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक प्राणी को आच्छादित कर देंगी। और तब प्रेम और सहानुभूति में उद्भूत इस वातावरण से हमारा सारा जीवन अनन्य शान्ति-मय हो जायगा।

मुकुन्द-बिहारी वर्मा

भारत का पुनरुत्थान कैसे हो?

भारत एक पराधीन देश है और अंग्रेजों के शासन में है, जो न केवल विदेशी हैं, बल्कि जाति, धर्म और संस्कृति इन सबमें हम भारतीयों से भिन्न हैं। वैसे तो प्रत्येक राष्ट्र को स्वशासन का अधिकार है, परन्तु जब कोई बलवान राष्ट्र किसी निर्बल राष्ट्र के सम्पर्क में आता है, तो बलवान राष्ट्र निर्बल को अपने अधीन कर लेता है और उस निर्बल के लाभ के लिए नहीं बल्कि खुद अपने फायदे के लिए उसपर शासन करता है। फलतः निर्बल राष्ट्र कमजोर से कमजोर होता जाता है—यहां तक कि या तो अन्त में वह बिलकुल नष्ट हो जाता है, अथवा किसी दिन जागृत होकर फिर से स्वतन्त्र हो जाता है।

भारत बहुत दिनों से पराधीनता में है और अभी तक जो यह कायम है वह इसकी नैसर्गिक जीवनी-शक्ति, इसके नैसर्गिक विधान की परम्परागत शक्ति, और इसकी संस्कृति ही के कारण है। नहीं तो न जाने कब की इसकी भी वही दशा हुई होती, जो कि असीरियावालों, यूनानियों, मिस्रियों तथा दूसरों की हुई है। लेकिन, अब प्रश्न यह है—"क्या भारत फिर से स्वतन्त्र होने के लिए जागृत हो रहा है?" यदि वह जागृत हो रहा है तो, ऐसे पुनरुत्थान के साधन क्या हैं? और फिर से जागृत होने के लिए इसे क्या करना चाहिए?

इसके लिए भिन्न-भिन्न विचारकों और लेखकों ने भिन्न-भिन्न उपाय सुझाये हैं। परन्तु एक सूक्ष्म-दर्शक जब इसपर विचार करेगा तो नुसखा तजवीज करने से पहले वह इस बात के जानने की कोशिश करेगा कि भारत की असली बीमारी क्या है। उसे इस बात को अवश्य खोजना पड़ेगा कि ३० करोड़

व्यक्तियों का एक राष्ट्र, जिसने एक समय संसार मे आश्चर्यपूर्ण प्रगति की थी, अपने स्वातंत्र्य को खोकर सभ्यता और संस्कृति मे अपनेसे कही नीचे अन्य राष्ट्र के अधीन कैसे हो गया ? समय-समय पर छोटी-छोटी सेनाओं के साथ आक्रमण-कारियो ने इसे जीता और इसपर अपना शासन कायम किया। यह सिर्फ इस-लिए हो सका, क्योकि, कुछ कारणो से, इसमे उनके आक्रमणो का मुक़ाबला करने की सामर्थ्य न रही थी। इसमे भेदभाव उत्पन्न होकर यह कमजोर हो गया था। अतएव सर्वोत्तम उपाय यह है कि जिन कारणो ने इसे विभक्त और कमजोर बनाया पहले उन्हींको दूर करके इसे सयुक्त और बलवान बनाया जाय।

कमजोरी शारीरिक और नैतिक दोनो प्रकार की थी। और अनैक्य अवश्य ही उस नाश-कारिणी शक्ति का परिणाम हुआ होगा, जो राष्ट्र के सामाजिक सगठन मे काम कर रही थी। इस बात को भूल कर कि सब मिल कर—समष्टि रूप मे—हम सब एक ही हैं, भिन्न-भिन्न कई भागा मे हम बट गये। इसका मुख्य कारण है हमारी जाति-प्रथा। फिर पुराने राष्ट्रीय आदर्श विस्मृत होकर समाज मे कुरीतियो का प्रसार हो जाना हमारी शारीरिक और नैतिक कमजोरी का कारण हुआ। इसलिए स्वभावत यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने पुनरुत्थान के पहले हम उन कुरीतियो से मुक्ति पाकर अपने आदर्शों को फिर से प्राप्त कर लें। अगर हम और गहरे जायँ और इस बात को जानने की कोशिश करें कि हिन्दुओं को राष्ट्र-शक्ति-विहीन करनेवाली वे कुरीतियाँ कौन सी है, तो हमे मालूम होगा कि वे है परदा, बलात् वैधव्य, स्त्रियो को उनके अधिकारो से वंचित रखना, शारीरिक बल के प्रति उपेक्षा, बाल-विवाह और जाति-प्रथा।

जाति-प्रथा चाहे देश के श्रेणी-सगठनो की प्रगति का परिणाम हो अथवा चाहे मानुषी-व्यवहार के नये आदर्शों और जीवन के लिए सोच कर प्रगति किये हुए नये तत्त्वज्ञान के परिणाम-स्वरूप इस नई संस्था का जन्म हुआ हो, परन्तु अपने वर्तमान रूप में तो यह हिन्दू-समाज को कई विभागो मे टुकड़े-टुकड़े कर रही है, जो न केवल सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में एक-दूसरे से स्वाधीन हैं बल्कि एक-दूसरे से इतने पृथक् हैं कि एक भाग के सदस्य दूसरे भाग के सदस्यो को अपने से बिलकुल अजनबी की तरह देखने-समझने लगे है। इस प्रकार समाज-संगठन के तत्त्व की उपेक्षा करके हमने एक राष्ट्र की अनेक विभिन्न जातियाँ बना दीं। इससे स्वभावत भेदभाव की उत्पत्ति हुई और नतीजा यह हुआ कि परस्पर-अनु-कूल समाज टूट कर कई अतिरिक्त और परस्पर-विरोधी समाजो मे विभक्त हो गया। इस प्रकार विभक्त और निर्बल होकर हम हिन्दू विदेशी आक्रमण-कारियो की विजय के सुलभ-साधन बन गये।

बाल-विवाह ने न केवल जाति की जीवनी-शक्ति को चूसा बल्कि अपने सम्पर्क मे आनेवालो को शारीरिक बल से भी हीन कर दिया। स्त्रियो के प्रति पुरुषो का रुख बदल गया—कुछ तो हिन्दू-समाज मे सयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली प्रारम्भ होने से और कुछ विदेशियो से अपनी रक्षा करने के लिए बढती जानेवाली असमर्थता के कारण। परदा, बाल-विवाह और दूसरी प्रथायें जारी हुईं और अमली तौर पर जीवन मे स्त्रियो का पुरुषों की क्रियात्मक भागीदार बनना बन्द हो गया। पति-पत्नी का एकत्र बल केवल एक पुरुष का बल रह गया, जिसका समय, शक्ति और योग्यता अपना और अपनी स्त्री का पालन-पोषण करने एव दूसरो के आर्थिक एव सामाजिक आक्रमणो से अपनी दोनो की रक्षा की व्यवस्था करने में लगने लगे। इसमे तत्काल ही न केवल राष्ट्र की उस शक्ति का, जिसका

उपयोग दूसरे राष्ट्र की शक्ति के मुकाबले होता है, पूरा बल बट कर आधा हो गया बल्कि वह ½ भी व्यवहार मे सिर्फ ¼ ही रह गया। फिर निर्बलता से कई बुराइयाँ पैदा हुई और उन बुराइयो ने राष्ट्र की भावना को ही कुचल दिया। फलत निर्बल, भावना-हीन एवं विभक्त होकर राष्ट्र नीचे गिरता चला गया।

अतएव यदि हम अपने देश का पुनरुत्थान करना चाहते हैं, तो यह जरूरी है कि हम उन कारणो को दूर कर दे कि जिनसे हमारा पतन हुआ है। जाति-प्रथा को तोड़ देना चाहिए, परदा और बाल विवाह को छोड़ देना चाहिए, और स्त्रियो को पुरुषो के समान अधिकार एव पद प्रदान करके अपनी वास्तविक सहयोगिनी बना लेना चाहिए। जाति-प्रथा को तोड देने से हमारे ७ करोड़ अस्पृश्य एव पीड़ित अछूत भाई फिर से हममे आ मिलेंगे और हिन्दू-समाज पुनर्वार परस्पर-अनुकूल समाज बन जायगा। और बाल-विवाह के अवसान से, राष्ट्र की श्रेणियो मे स्त्रियो के अपने उपयुक्त स्थान ग्रहण करने से, हमारा राष्ट्र एक बलवान मनुष्य की तरह अपनी गहरी नींद से जाग कर सिर्फ एक प्रयत्न से अपनी बेड़ियो को तोड़ देगा और राष्ट्रो की गौरवपूर्ण पंक्ति मे अपने समुपयुक्त स्थान ग्रहण करेगा।

मेरी समझ में, पुनरुत्थान के लिए, दो बातो की बहुत जरूरत है—

(१) स्त्रियों को उनके अधिकार दिये जायँ—वे अधिकार कि जिनसे वे वैसे ही शिक्षा प्राप्त कर सके, जैसे कि पुरुष करते हैं, और पुरुषो के समान ही सब कुछ करने के योग्य स्थिति एव सुखी जीवन वे बिता सकें। इसका अर्थ यह कि परदा, बाल-विवाह, बलात् वैधव्य और स्त्रियो की साम्पत्तिक अधिकारों की अयोग्यता को नष्ट कर दिया जाय।

(२) समस्त हिन्दुओं को नैसर्गिक अधिकारों की समानता दी जाय। इसका अर्थ यह कि समाज मे शान्ति-स्थापना के लिए जाति-प्रथा को तोड़ दिया जाय।

स्त्रियो को उनके अधिकार प्रदान करने मे भय-भीत न होना चाहिए। सम्मिलित कार्य मे वे न केवल प्रभावशील सहायक होगी बल्कि हमे भी काम करने के लिए प्रोत्साहन देगी, मातृभूमि की स्वतत्रता के लिए बड़े-से-बड़े प्रयत्नो को अंगीकार करने के लिए वे हमे हिला डालेगी। पहले के दिनो मे राजपूतो ने जो वीरतापूर्ण कार्य किये उसका कारण यही है कि राजपूत स्त्रियां ने ऐसे कामो के लिए उन्हे हिला डाला। कायरो को उन स्त्रियो ने धिक्कारा और वीर पुरुषो ही की उन्होने स्तुति की। जब हिन्दू स्त्रियाँ सुशिक्षित और स्वावलम्बी हो जायँगी, तो वे अपने पतियो, भाइयो, पुत्रो, तथा दूसरे पुरुष-सम्बन्धियो को निर्भय होने और अपने देश के प्रति अपना फर्ज अदा करने के लिए प्रोत्साहित करेगी। वे अपने घरो से ही न बँधी रहेगी बल्कि पुरुषो के साथ-साथ दुनिया के सब हिस्सो मे जायेगी और ऐसे पुत्र पैदा करेगी कि जो हमारी मातृ-भूमि के प्राचीन गौरव को फिर से जगमगा देगे।

इसके अलावा इसका एक दूसरा भी पहलू है, जो बड़ा महत्वपूर्ण है, और उसके प्रति हमे कदापि दुर्लक्ष्य न करना चाहिए। वह यह है कि भारत की स्त्रियो ने हिन्दू संस्कृति के आदर्शों को त्याग नही दिया है, हमारी जाति के आत्मसन्मान की वे आज भी प्रतिनिधि है। जब कि पुरुष भारत के सब भागो मे विदेशी आदर्शों और विदेशी रग-ढगो को अपनाते दिखाई देते हैं, हमारी देवियाँ आज भी दृढता के साथ भारतीय आदर्शों को अपनाये हुए है और उन्होंने कही भी हिन्दू आचारो को छोड़ नही दिया

है। ब्रिटिश मजूरदल के नेता और भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री रैम्जे मैक्डोनल के साथ भारत आने वाली उनकी पत्नी ने यहाँ के भ्रमण के बाद लन्दन पहुँचने पर घोषित किया था—"भारत की स्त्रियों में आत्म-सम्मान की जो भावना है, वह पुरुषों की अपेक्षा कहीं ऊँची है।" सच तो यह है कि नारीत्व का गौरव वे कायम रक्खे हुए हैं और हमारे देश के आत्म-सम्मान एवं गौरव को वे कदापि नष्ट न होने देंगी। जब कि पुरुष हर जगह अंग्रेजी आचार-विचार, अंग्रेजी रंग-ढंग और अंग्रेजी पोशाक पर ढुलकते जा रहे हैं, हमारी देवियाँ अपनेको विदेशी चीजों की गुलामी से बचाये हुए हैं। वे अपनी स्पष्टतया भारतीय पोशाक पर कायम हैं और संस्कृति, सुघड़ता एवं सदाचार के भारतीय आदर्शों पर दृढ़ हैं। और इस तथ्य को हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अपने प्राचीन आदर्शों के प्रति वफादार रहने और अपनी प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता को कायम रखने में हम समर्थ न होंगे, जब तक कि अपनी देवियों का समान और क्रियात्मक सहयोग हमें न प्राप्त होगा। क्योंकि स्वयं जागृत होकर अपने देश को जगाने और अपनी संस्कृति एवं सभ्यता को क़ायम रखने—इस प्रकार वास्तविक भारतीय राष्ट्र के निर्माण में एकमात्र सुशिक्षित, उन्मुक्त और प्रबुद्ध स्त्रियाँ ही हमारी मदद कर सकती हैं।

हरविलास सारडा

"इन उपेक्षित देवियों में ही भविष्य की सारी आशायें निहित हैं। उनको तैयारी करनी और अपने स्वत्वों के लिए लड़ना है—उन्हें मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता के आन्दोलन में भाग लेना है। उनके सहयोग और सहायता बिना राष्ट्र का व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सकता।"

गिरधारीलाल (हिंदुस्तान टाइम्स)

नारी-शक्ति

दीर्घ काल की कठिन उपासना के पश्चात् उपासक को उपास्य-देवता के दर्शन हुए। भव्य मूर्त्ति, दिव्य ललाट, अपूर्व प्रतिभा-मण्डित मुख, सात्विक दीप्ति-युक्त विशाल नेत्र—जैसे आनन्द का दिव्य पुञ्ज, जैसे सतोगुण की साक्षात् प्रतिमा, जैसे प्रेम की बहती हुई तरंगिणी!

उपासक मुग्ध हो गया। उसका ज्ञान प्रफुल्लित हो उठा, उसका कर्म उत्साह की नदी में आनन्द-किल्लोल करने लगा, उसकी भक्ति नाच उठी।

उपासक ने नत-मस्तक हो प्रणाम किया, उपास्य ने निर्मल हास्य के साथ आशीर्वाद दिया—मातृ-स्नेह से भी पवित्र, गंगाजल से भी निर्मल, शिशु-हृदय से भी सरल! उपासक आनन्द-सागर में लीन हो गया।

❀ ❀ ❀

गम्भीर ध्वनि से प्रश्न हुआ—'क्या चाहते हो उपासक? यह कठोर साधना किस लिए?'

उपासक ने कहा—'प्रभो! क्या आप नहीं जानते? भूतकाल के संसार-चूड़ामणि भारतवर्ष की यह गुलाम और जर्जर दशा देख कर भी क्या यह बाक़ी रह जाता है। देव! .. क्या कारण है प्रभो! हम ज्यों-ज्यों स्वाधीनता के निकट जाते हैं त्यों-त्यों वह हमसे दूर चली जाती है। हममें कमी किस बात की है? हमारा भूतकालीन इतिहास स्वर्णालङ्कारों की तरह उज्ज्वल और दीप्ति-पूर्ण है। हमारा वर्तमान भी मलिन नहीं है। गांधी का महान आत्म-त्याग, मालवीय का विकसित ब्राह्मणत्व, लाजपत का शुद्ध देश-प्रेम, रवीन्द्र का उन्नत कवित्व, सभी इस देश में वर्त्तमान है। भगवन! फिर यह दुर्दशा क्यों? फिर यह आत्म-वञ्चना क्यों? फिर यह गुलामी क्यों? फिर यह निराशा क्यों?

प्रभो, यही बात जानने के लिए उपासक उत्कण्ठित है।'

उत्तर में प्रतिध्वनि हुई—'वत्स! इतिहास के प्राचीन गौरव पर फूल कर बैठ जानेवाली जातियाँ शीघ्र ही अकर्मण्य होकर नष्ट हो जाती हैं, संसार के अन्दर वे ही जातियाँ जीवित रहती हैं, जो नवीन इतिहास का निर्माण करती हैं। भारतवर्ष के पास आत्म-त्याग है, ब्रह्मतेज है, मगर एक वस्तु के अभाव में न तो वह नवीन इतिहास का निर्माण ही कर सकता है, न स्वाधीनता ही प्राप्त कर सकता है। उस वस्तु के अभाव में सब गुण क्षीणकाय और दुर्बल होते जा रहे हैं।'

उपासक—'वह क्या प्रभु ?'

उत्तर मिला—'वह वस्तु है नारी-शक्ति। आज भारतवर्ष की नारी-शक्ति सोई हुई है। पुरुष ने सद्गुणों का सिंचन करनेवाली इस महान विभूति को काम का क्रीडा-स्थल बना कर गुलामी के गहरे कारागार मे बन्द कर दिया है। वत्स! गांधी की तपस्या, मालवीय का ब्रह्मणत्व, और रवीन्द्र का कवित्व तभी सफल होंगे, जब यह महान शक्ति जागृत होकर उनका सिंचन करेगी।'

उपासक ने पूछा—'प्रभो! यह शक्ति किस रूप में जागृत होनी चाहिए, क्या रुण्ड-मुण्ड-धारिणी काली के रूप मे ?

उत्तर—"नहीं।"

"भगवती दुर्गा के रूप मे ?"

"नहीं।"

"विष्णु-अङ्क-शायिनी लक्ष्मी के रूप मे ?"

"नहीं।"

"विरह-विह्वला राधा के रूप में ?"

"नहीं।"

"फिर प्रभो ?"

"बाल-ब्रह्मचारिणी सरस्वती के रूप मे। वत्स! भारतवर्ष को इस समय ब्रह्मचर्य के दिव्य तेज की-सतोगुण के उज्ज्वल प्रकाश की जरूरत है। उस ब्रह्मचर्य की नहीं, जो व्यभिचारी पुरुषो के द्वारा बाल-विधवाओ से बलात् पालन कराया जाता है, प्रत्युत् उस ब्रह्मचर्य की, जो निर्मल संस्कारो मे वास करनेवाले व्यक्तियो के अन्तस्तल स्वयमेव गैरिक श्रोत की तरह प्रवाहित होता है।"

"मगर भगवन!" उपासक ने कहा, "आज तो देश को सबसे अधिक आवश्यकता अपना क्षत्रियत्व जागृत करने की हो रही है। क्षत्रियत्व के अभाव में आज सारा देश पुंमत्व-हीन हो रहा है। आज तो यही आवश्यकता प्रतीत होती है कि देश का प्रत्येक युवक और युवती विकराल रूप धारण कर, रुण्ड-मुण्ड-धारिणी काली का आदर्श सामने रख, तलवार लेकर बाहर निकल जायँ।"

"भूलते हो उपासक! क्षत्रियत्व का आदर्श हत्या नहीं है, रक्तपात नहीं है। क्षत्रियत्व का आदर्श रक्षा करना है—पालन करना है। क्षत्रिय को सत्व-मिश्रित रजोगुण का उपासक होना चाहिए, तम-मिश्रित रजोगुण का नहीं। और आज जो यह देश नपुंसक, दुर्बल, कायर और क्षत्रियत्व-हीन दिखलाई दे रहा है, उसका एकमात्र कारण चरित्र का अध-पतन है। समाज के इस भयकर पतन का उत्थान तभी हो सकता है, जब यहाँ की नारी-शक्ति जागृत हो सरस्वती का रूप धारण करके ब्रह्मचर्य की पताका उड़ाती हुई मनुष्य जाति को चरित्र का दिव्य संदेश देगी। जब वह सूखते हुए चरित्र के पौधे का सिंचन कर उसे हरा-भरा कर देगी, वही दिन भारत के उत्थान का दिन होगा। उस दिन यहाँ का ब्राह्मणत्व जागृत हो जायगा, क्षत्रियत्व खिल जायगा, मनुष्यत्व मुस्कुरा उठेगा, और एक छोटी सी गड़गड़ाहट के साथ स्वाधीनता के भव्य मन्दिर के द्वार खुल जायेंगे। उसी दिन गांधी की तपस्या, मालवीय का

ब्राह्मणत्व और श्रद्धानन्द का बलिदान सार्थक होगा।"

❀ ❀ ❀

इसी समय पास के पेड से मयूर की मीठी केका ने इन वाक्यों की प्रतिध्वनि की और हँसती हुई दिव्य मूर्ति अन्तर्धान हो गई।

चन्द्रराज भण्डारी

मेरी स्क्लोडोस्का क्यूरी



रेडियम की आविष्कर्त्री

आजकल लोग स्त्री-शिक्षा के पीछे बुरी तरह पड़े हुए हैं। जी-जान से स्त्री-शिक्षा को हानिकारक सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है। यदि स्त्रियों ने विद्यामृत पान कर लिया तो समाज में घोर अनर्थ हो जायगा, पवित्र गृहस्थाश्रम जघन्य नरक-कुण्ड हो उठेगा, और विद्या-विलासिनी सुकुमारियाँ संसार में भी भीषण कलह मचा डालेंगी! स्त्रियों को वाङमय की शिक्षा देना गृहस्थ के ललित आदर्शों को नष्ट-भ्रष्ट कर देना है। इसी ढग के विचारों का आजकल प्राबल्य देख पड़ता है। और शोक की बात तो यह है कि स्त्री-शिक्षा के विरोधियों में केवल अर्द्ध-शिक्षित जनता ही नहीं, बड़े-बड़े विद्वान् तक हैं! क्या इसमें पुरुष-जाति का कोई स्वार्थ तो नहीं छिपा हुआ है? अथवा "भटा एक को पित्त करे, करै एक को बाय" वाली बात है? अमृत-तुल्य विद्या क्या स्त्रियों द्वारा सेवन किये जाने पर विषाक्त मदिरा हो उठेगी?

परन्तु कुछ सहृदय सज्जन ऐसे भी हैं, जिनकी सम्मति दूसरे प्रकार की है। वे स्वीकार करते हैं कि पुरुषों के समान शिक्षिता स्त्रियाँ भी समाज की उन्नति कर सकती हैं, विदुषी महिलायें दाम्पत्य जीवन की सफलता में बाधक नहीं सहायक होती हैं। वे स्त्रियों को अज्ञान के अन्धकार में रखना नैतिक अन्याय समझते हैं। सौभाग्यवश उनकी दलीलों की पुष्टि में विदुषियों के जीवनचरित्रों की भी कमी नहीं है। जिन महिलाओं के गम्भीर अध्ययन और योग्यता के आगे संसार ने आदर से मस्तक झुकाया है, उनमें रेडियम की आविष्कर्त्री मैडम मेरी स्क्लोडोस्का क्यूरी (Madame Marie Sklodowska Curie) भी एक हैं।

मेरी स्क्लोडोस्का का जन्म ७ नवम्बर १८६७ ईस्वी को पोलैण्ड के वारसा नगर में हुआ था। इनके पिता डाक्टर स्क्लोडोस्की वहाँ के महाविद्यालय में विज्ञान के अध्यापक थे। डा० स्क्लोडोस्की को विज्ञान से विशेष प्रेम था, और पदार्थविद्या में प्रयोगात्मक व्यवहारों को वह अत्यन्त आवश्यक समझते थे। साहित्य के अध्यापक के साथ उनका सदा मतभेद रहता था, क्योंकि उनकी समझ में वैज्ञानिक प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण न थे। विद्यालय के अधिकारी भी विज्ञान के प्रति उदासीन रहते थे। इस कारण स्क्लोडोस्की महोदय को अपने ही पास से विज्ञान-सम्बन्धी यन्त्र इत्यादि खरीदने पड़ते थे। पर यन्त्र तथा शीशियों की सफ़ाई के लिए कोई नौकर रखने में वह असमर्थ थे, इसलिए ये काम वह अपनी पुत्री मेरी से लिया करते थे। जब यह छोटी सी लड़की श्वेत वस्त्र पहने, तौलिया कन्धे पर डाले विज्ञान-गृह में बोतलें सजाती फिरती थी, उस समय तो इसकी सहायता बाल-क्रीडा से अधिक महत्वपूर्ण नहीं प्रतीत होती थी। परन्तु कुछ ही समय के उपरान्त विज्ञान में उसकी विशेष रुचि देख कर अध्यापक महाशय को बड़ी प्रसन्नता हुई, और वह नियमित रूप से अपनी कन्या को शिक्षा देने लगे। मेरी दिन को विद्यालय में विज्ञान के प्रयोगों को समझती, सन्ध्या-समय दूसरे दिन के लिए यन्त्र इत्यादि ठीक करके

रख आती, और रात्रि को अपने पिता से घर पर पढ़ती थी।

जिस समय मेरी इस प्रकार शान्ति-पूर्वक अध्ययन कर रही थी, उस समय वारसा नगर के राजनैतिक आकाश में असन्तोष के भयंकर बादल छा रहे थे। वह ज़ारशाही का ज़माना था। वारसा पोलैण्ड की संस्कृति का प्रधान केन्द्र है। इस संस्कृति को मिटा देना ही ज़ारशाही की मुख्य नीति थी। पोलिश भाषा के अध्ययन तथा जातीय संगीत एव नृत्य की कड़ी मनाही कर दी गई थी। इस दमन का फल वही हुआ, जो ऐसी दशा में होता आया है। प्रत्येक पोलैण्डवासी देशभक्ति के जोश से भर गया। पोलिश भाषा अपूर्व उत्साह से पढ़ी जाने लगी। पाठशालाओं में बालक डेस्क के भीतर पोलिश पुस्तकें छिपा कर चुपके-चुपके पढ़ते। प्रत्येक व्यक्ति क्रान्तिवादी बनने में गौरव समझने लगा। मातृ-भूमि के पवित्र नाम पर साइबेरिया जाने की लालसा हरएक पोल के हृदय में प्रज्वलित हो उठी। भला ऐसे समय में यह कैसे सभव था कि मेरी का चित्त क्षुब्ध न होता? वह अपने पिता, सहपाठियों और मित्रों की बातें सुनती और देश-प्रेम की ज्वाला उसके हृदयमे अधिकाधिक भड़कती। अन्त को वह विद्रोहियों के दल में सम्मिलित हो गई, तथा कुछ ही दिनों में आन्दोलनकारियों की नेता बन गई। अतएव उसका पुलिस की आँखों में खटकना स्वाभाविक ही था।

नतीजा यह हुआ कि वारसा के अशान्त वायु-मण्डल में मेरी का वैज्ञानिक पठन-पाठन कठिन हो गया। अत उसने वारसा छोड़कर क्रेको जाने का विचार किया। क्रेको पोलैण्ड की पुरानी राजधानी है, और उस समय आस्ट्रिया के अधीन होने के कारण वहाँ रूसी वारसा की अपेक्षा दमन की मात्रा कुछ कम थी। किम्वदन्तियों से ऐसा जान पड़ता है कि मेरी ने वहाँ के विश्वविद्यालय में पदार्थविद्या तथा रसायन-शास्त्र पढ़ने के लिए प्रार्थना-पत्र दिया, किन्तु विश्व-विद्यालय के मन्त्री ने उत्तर दिया—"विज्ञान का अध्ययन आपके—स्त्रियों के—लिए नहीं है; हाँ, मैं आपको भोजनालय में भरती कर सकता हूँ।" जो हो, उसने क्रेको न जाकर पेरिस जाना ही उचित समझा।

पेरिस में इस विदेशी कन्या का न तो कोई परिचित था, और न उनके पास धन ही था। केवल अपने अध्यवसाय और अनवरत परिश्रम के ही कारण यह अपना जीवन-निर्वाह करती थी। मेरी आरम्भ में तो घरों पर विद्यार्थियों को पढ़ाने जाती थी, परन्तु कुछ समय पश्चात् उसे सोरबोन के विद्यालय में भट्टी जलाने और बोतलें साफ़ करने की नौकरी मिल गई।

सोरबोन में पदार्थविद्या-विभाग के अध्यक्ष लिपमैन और प्रसिद्ध गणितज्ञ हेनरी पोइनकारे का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने इसका समाचार जानकर इसके पिता से पत्र-व्यवहार किया, जिसके फल-स्वरूप लिपमैन के प्रिय शिष्य पीयर क्यूरी (Pierre Curie) के साथ इसका पाणिग्रहण हो गया।

यहाँ पर मोशिये क्यूरी का परिचय देना भी आवश्यक है। पीयर क्यूरी का जन्म १८५९ ईस्वी में हुआ था। यह पेरिस के डाक्टर क्यूरी के द्वितीय पुत्र थे। बाल्यावस्था से ही इन्हें पदार्थ-विद्या से बड़ा प्रेम था। १८७८ में यह लाइसेंशिएट की डिगरी प्राप्त करके सोरबोन के विज्ञान-विभाग में डिसेन महाशय के सहकारी हो गये। १८८२ में इन्होंने सोरबोन छोड़ कर "स्कूल ऑफ़ इन्डस्टियल फिजिक्स एण्ड केमिस्ट्री" में विज्ञान-गृह के अध्यक्ष (Chef de travaux) का पद स्वीकार कर लिया। लोगों को इनकी अल्पवयस्कता और अनुभव, सर्वप्रियता और विद्वत्ता पर बड़ा आश्चर्य होता था।

उक्त पद पर मो० क्यूरी को तेरह वर्ष व्यतीत हो गये। कई बार उनके पिता ने उनसे डाक्टर की उपाधि प्राप्त करने को कहा। परन्तु वह अपनी तत्कालीन परिस्थिति में खूब सन्तुष्ट थे। केवल एक बात की इच्छा थी—वह थी, अपने ही समान अध्ययनशील किसी रमणी-रत्न को जीवन-संगिनी बनाना। परमात्मा की दया से १८९५ में उनकी यह इच्छा पूर्ण हुई। मेरी स्क्लोडोस्का के साथ उन्होंने अपना विवाहित जीवन प्रारम्भ किया। उस समय उनकी अवस्था ३६ वर्ष की तथा मैडम क्यूरी की २८ वर्ष की थी।

पति-पत्नी दोनों ही निर्धन किन्तु परिश्रमी थे। ये लोग एक छोटे-से घर में रहते थे, पर प्रेम और सहयोग ने उसे स्वर्ग बना रक्खा था। मो० क्यूरी झाड़ू-बुहारी देते, और

मै० क्यूरी अपने पति को इलेक्ट्रोमीटर (Electro metre) के अध्ययन में सहायता देती, एवं स्वयं भी डिगरी-परीक्षा के लिए तैयारी करतीं। तीन वर्ष में मै० क्यूरी ने गणित और पदार्थ-विद्या मे लाइसेन्शिएट की डिगरी प्रशसा-पूर्वक प्राप्त कर ली। सन् १८९८ मे इस वैज्ञानिक दम्पती को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम हरेन रक्खा गया। उसी वर्ष मो० क्यूरी की माता का देहान्त हो जाने के कारण इन्होंने अपने पिता को भी अपने परिवार में सम्मिलित कर लिया। अतएव इन लोगों को बूलेवार कैलरमैन मे एक बड़ा मकान लेना पड़ा।

यह दम्पती अपने अध्ययन, प्रयोगों एव अन्वेषणों में लीन रहती थी। बूढ़े डा० क्यूरी को फूल-पौधों से प्रेम था, उन्होंने एक छोटा-सा बगीचा लगा रक्खा था। शाम को दो-चार मित्र भी आ जाते थे। उस समय इधर-उधर की गपशप न होकर विज्ञान-विषयक चर्चा हुआ करती थी।

सन् १८६० के लगभग वैज्ञानिकों ने नली (tube) मे बन्द हलकी वायु (rarified air) मे विद्युत्-प्रवाह करके बहुत से अन्वेषण कर लिये थे। १८७९ में सर विलियम क्रुक्स ने कैथोड किरणों (Cathod rays) का आविष्कार किया। उसके बहुत दिन पश्चात् सर जौजफ टॉमसन ने इन किरणो मे इलेक्ट्रॉन्स (Electrons) का अस्तित्व सिद्ध किया। ये इलेक्ट्रॉन्स हाइड्रोजन के अणुओं (Hydrogeine atoms) के हजारवे भाग से भी हलके होते है। इस प्रकार डालटन के अणुवाद (Atomic theory) पर विवाद उठ खड़ा हुआ। १८९५ ई० मे रॉञ्जेन द्वारा एक्स-रे (X-rays) के आविष्कार से इस विषय पर लोगों का ध्यान और भी आकर्षित हुआ।

साराश यह कि उस समय यूरोप और अमेरिका मे कितनी ही जगह इलेक्ट्रॉन्स ओर किरण-प्रसारण (radiation) के ऊपर प्रयोग और परीक्षण हो रहे थे। इसी समय क्यूरी-दम्पती का एक सहयोगी बेक्केरेल नामक वैज्ञानिक पेरिस में ज्योति प्रद (fluorescent) पदार्थों के विषय में अनुसन्धान कर रहा था। इनमे यूरेनियम (uranium) नामक एक हरित-पीत-ज्योति-प्रसारक तत्व (element) के क्षार (salts) भी थे। यूरेनियम मे एक्स-रे के से गुण होते हैं। बेक्क्वेरेल ने ही यह महत्व-शाली आविष्कार किया। इन किरणमय तत्त्वों के आस-पास की वायु विद्युन्मयी (ionised) हो जाती है।

बेक्केरेल की परीक्षण-रीति का अनुसरण करते हुए क्यूरी-दम्पती ने दूसरे ज्ञात पदार्थों मे भी इस किरण-प्रसारक विशेषता के अस्तित्व का अन्वेषण आरम्भ किया। यूरेनियम की सी विशेषता केवल थोरियम (Thorium) में ही पाई गई। परन्तु मै० क्यूरी के आश्चर्य्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने पिचब्लेण्ड (Pitchblende)—यूरेनियम की खाक (black oxide of uranium)—में यूरेनियम से चौगुनी विद्युत्-किरण-प्रसारक विशेषता पाई। मो० क्यूरी अपने स्वतन्त्र अन्वेषण कर रहे थे। उन्होंने अपनी धर्म-पत्नी की सहायता करने के लिए अपना काम छोड़ दिया, और दोनों पिचब्लेण्ड के विश्लेषण मे लग गये। इसी समय आस्ट्रियन सरकार ने इन्हे एक टन पिचब्लेण्ड प्रदान किया। परन्तु इसका विश्लेषण करके वाछित अनुसन्धान करना घास के ढेर में सूई ढूँढ़ने से कुछ कम कठिन न था। मै० क्यूरी को अधिकारियों की कृपा से अपने पति के साथ इंडस्ट्रियल स्कूल में काम करने की आज्ञा मिल गई थी। अथक परिश्रम और अनेक प्रयोगों के पश्चात् क्यूरी–दम्पती एक ज्योति प्रद पदार्थ के आविष्कार मे सफल हुई। इसका नाम मै० क्यूरी ने अपने देश पौलैण्ड के सन्मान में पोलेनियम (Polenium) रक्खा। परन्तु कुछ समय बाद उन्होंने एक और तत्त्व खोज निकाला। इसका नाम रेडियम (radium) रक्खा गया।

रेडियम के आविष्कार मे इस परिश्रमी दम्पती को पूरे चार वर्ष लग गये—१८९८ से १९०२ तक। ये किरणमय पदार्थ लाभप्रद भी होते हैं और हानिकारक भी। निरन्तर ऐसे ही पदार्थों का व्यवहार करते रहने से मो० क्यूरी के हाथों को बड़ी हानि पहुँची। हाँ, मै० क्यूरी के स्वास्थ्य पर कुछ विशेष प्रभाव नही पड़ा। इसका कारण सम्भवत यही था कि मो० क्यूरी स्नेहवश अपनी पत्नी को प्रमुख भाग नहीं लेने देते थे।

१९०३ में मै० क्यूरी ने डॉक्टर की उपाधि प्राप्त करने के लिए अपने आविष्कारों पर एक निबन्ध लिख कर पेरिस की फ़ैकल्टी ऑफ़ साइन्स के सम्मुख उपस्थित किया। इस

निबन्ध ने वैज्ञानिक संसार मे हलचल मचा दी। क्यूरी-दम्पती का यश सारे ससार में फैल गया। इनके दर्शनार्थ पत्रों के प्रतिनिधि, फोटोग्राफर और बडे-बडे विद्वान् आने लगे। परन्तु इस सीधे-सादे दम्पती को कीर्त्ति की अपेक्षा अपने काम से अधिक प्रेम था। 'सरल जीवन और उच्च विचार' के ये भक्त 'बडे आदमी' बनने के इच्छुक न थे। अत' अपने कार्य मे बाधा पहुँचती देख इन्होंने पत्र-प्रतिनिधियो से भेट करना अस्वीकार कर दिया।

१९०३ में यह दम्पती लार्ड केल्विन के निमत्रण पर रॉयल इन्स्टीट्यूट के सन्मुख भाषण देने को लन्दन गई। उस समय रॉयल सोसायटी की ओर से इनको डेवी पदक प्रदान किया गया। उस वर्ष का 'नोबल प्राइज' भी संयुक्त रूप से इन्हें तथा बेक्करेल को ही मिला। १९०४ मे मो० क्यूरी के लिए सोरबोन मे एक नया ही विभाग खोला गया। मै० क्यूरी उसी विभाग मे 'विज्ञान-गृह की अध्यक्षा' (Chef de travaux) बना दी गई।

जीवन-पर्यन्त दरिद्रता का कष्ट भोगनेवाले इस दपती की आर्थिक स्थिति अब कुछ सुधर चली थी। एक बालिका भी उत्पन्न हुई, जिसका नाम इन्होंने ईव रक्खा। परन्तु दैव से किसका सुख देखा गया है ? सन् १९०६ के आरभ में एक दिन मो० क्यूरी किसी मित्र के यहाँ से भोज का निमन्त्रण पाकर घर से निकले, पर फिर लौट कर न आये! एक जन-सकुल मार्ग पार करते समय इस विश्व-विदित वैज्ञानिक ने एक गँवारू छकडे के नीचे दब कर जीवन-लीला समाप्त कर दी!

मैडम क्यूरी ने विज्ञान मे और भी उन्नति की। इनके कथनानुसार विज्ञान के क्षेत्र मे विस्तार करने से केवल सत्य के ज्ञान मे ही वृद्धि नहीं होती है, वरन् अपने स्वर्गीय पति की स्मृति को अमर बनाने के लिए यह अत्यावश्यक है। १९१० मे इन्होंने मो० डैबार्न की सहायता से रेडियम की अणु-तौल (atomic weight) निश्चित की। उसी वर्ष ट्रेट डि रेडियो एक्टिविटी (Traite de radio-activite) नामक एक बड़ा गम्भीर एव विद्वत्ता-पूर्ण ग्रथ लिखा। सन् १९११ मे इनको स्वीडन की रायल ऐकेडेमी का सुप्रसिद्ध नोबल-प्राइज़ दूसरी बार मिला। इनका सन्मान करने मे इनके देश फ्रास से स्वीडन बाजी मार ले गया। क्योंकि उसी वर्ष इनको फ्रेच इन्स्टीट्यूट का सदस्य बनाये जाने का प्रश्न उपस्थित हुआ तब इनके स्त्री होने के कारण ही फ्रांसवासियों ने इनके विरुद्ध वोट दिये थे ?

परन्तु महायुद्ध छिडने के थोडे ही दिन बाद फ्रेच सरकार ने मै० क्यूरी की प्रधानता मे एक रेडियम इन्स्टीट्यूट स्थापित किया तथा इन्हे समस्त सैनिक अस्पतालों के रेडियोलॉजिकल विभाग की अध्यक्षा बना दिया। इस बार स्त्रियों को उत्तरदायित्वपूर्ण अधिकारो से वञ्चित रखनेवाली प्रथा का अनुमोदन न करके फ्रेच सरकार ने वास्तव मे बुद्धिमत्ता से काम लिया। आज मैडम क्यूरी रेडियोलॉजी विषय की सर्वमान्य पण्डिता है।

गोपालस्वरूप भटनागर

कवयित्री सरोजिनी

जब हम भारतीय अग्रेजी साहित्य की दुनिया मे प्रवेश करते है तो स्त्रियो की दो ऐसी मूर्त्तियाँ मिलती है जो जीवन की मधुरता मे स्वयं ही डूबी हुई है और जो कुछ इंगित करती है उसमे आत्मा का एक अपूर्व सौन्दर्य खेलता दिखाई पडता है। इनमे एक तरुदत्त आज स्वर्ग की वीणावादिनी हो चुकी है। दूसरी है सरोजिनी नायडू।

अग्रेजी मे कविता करने वाले भारतीय कवियों मे शायद कोई ऐसा नहीं जिसकी कविता ने भारत की आत्मा को दुनिया के सामने इतने मधुर, इतने सुदर रूप में रक्खा हो, जितने सुन्दर रूप मे सरोजिनी ने रखा है। उनकी अनेक कवितायें 'पोस्ट ग्रेजुएट' (एम० ए० इत्यादि) श्रेणियों में पढाई जाती है। अग्रेज़ी-भाषा-भाषी जनता को उनकी कविता ने मुग्ध कर लिया है। बहुतो की सम्मति मे वह वर्तमान संसार की सर्वश्रेष्ठ जीवित कवयित्री हैं। *

'*× × × and one may safely say, without much fear of challenge, that she is perhaps the greatest living poetess of today"

—Alfred E. Pheres in the Japan Times.



श्रीमती सरोजिनी नायडू

विशुद्ध भाषा, निर्दोष पदमैत्री, अनिन्द्य सौन्दर्य और मधुरतम रागिनी, सरोजिनी की कविता की विशेषतायें हैं। वह जब लिखती हैं तो वेदना-विह्वल हृदय से लिखती हैं। स्वप्नसृत भावनाओ और अन्तरतम के उच्छ्वासो की निर्झरिणी उनकी कविता में बहती दिखाई पडती है।

अभी कुछ दिन पहले 'घनश्याम' नाम की कविता उन्होंने लिखी। मेरे एक मित्र उसे पढ़कर कहने लगे—वर्षों बाद मैंने ऐसी मधुर रचना पढ़ी है। सरोजिनी जब भी लिखती है, हृदय की भाषा मे लिखती है। उनकी रचनाओं में उनके हृदय की सर्वग्राही सहानुभूति और वेदना फूटकर बह निकली है। अपनी पुस्तक 'भारतीय स्त्रियो की सुन्दर रचनायें' (Select Poems by Indian Women) की भूमिका में मार्गरेट मैकनिकोल ने लिखा है कि 'सरोजिनी की कविताओं में, सम्पूर्ण विषमताओ को मिटाकर स्वा-सामञ्जस्य लाने वाला प्रवाह है।' स्वर्गीय डबल्यू. टी स्टीड ने सरोजिनी की 'दि गोल्डन थ्रेसहोल्ड' (सुनहली देहरी) नामक काव्य पुस्तक पढकर कहा था कि "यह छोटी पुस्तक उन निंदकों को सदैव के लिए चुपकर देगी, जो कहा करते है कि स्त्रियाँ कविता नहीं कर सकती।"

सरोजिनी की कवितायें श्रमपूर्वक, जबर्दस्ती लिखी गई रचनायें नहीं, वे हृदय के अत्यन्त गूढ़ प्रदेश से निर्गत हुई है। वे न तो धन के लिए लिखती है, न यश के लिए। जब भावोद्रेक होता है, जब उनमे स्त्री की पावन कोमलता और वेदना जाग उठती है, तभी कुछ लिख जाता है। आरंभ में जब उन्होंने कविता लिखनी शुरू की, वह अपने तक ही उन्हे रखना चाहती थी। कई मित्रो ने अनुरोध किया कि 'प्राइवेट सरकुलेशन' के लिए ये कवितायें छपाई जायँ। इसी समय उनकी कुछ कवितायें भारत के एक भूतपूर्व वाइसरायके देखने मे आई। वह उनपर मुग्ध हो गये और उन्होंने भी उनके प्रकाशन की आवश्यकता का समर्थन किया। इस प्रकार मित्रो के अनुरोध के कारण सरोजिनी को कवितायें प्रकाशित करनी पडी।

सरोजिनी की कविता का सबसे बडा गुण उसकी सगीतमयता है। अपने शब्द-चित्रो के चारो ओर संगीत का ऐसा आकर्षण-जाल वह बुन देती है कि मन मुग्ध हो जाता है। उनकी 'मोती' तथा 'वसंत का आह्वान' शीर्षक कवितायें पढ़ते-पढ़ते आँखे मधुर भार से मुँदने लगती है। उनकी 'भाग्य को चुनौती' तथा 'जागो' कवितायें मन में यौवन का साहस उत्पन्न करती है।

भारतीय संस्कृति की दृष्टि से इन रचनाओ का बड़ा मूल्य है। उनके द्वारा कितने ही विदेशी हृदयो तक भारतीय आत्मा की संवेदनशीलता का संदेश पहुँचा है। इस महीने मे वह भारत के राजदूत की नाई पश्चिम की लम्बी यात्रा के पथ पर चल पडी है। स्वप्न-जगत् मे अपनी साधना द्वारा उन्होंने आज तक जो कुछ प्राप्त किया है, उसके सहारे वह भारतीय स्त्रियो की महानताकी छाप पाश्चात्य हृदय पर लगा सकेंगी, ऐसी आशा है।

रामनाथलाल 'सुमन'

———

स्फुट प्रसंग

स्त्रियों के अधिकार

लम्बी गाढी नींद के बाद स्त्रियाँ जागी हैं और भड़-भड़ा कर अपने अधिकारों के लिए प्रयत्नशील हुई हैं। प्रति-सहयोगी दल के नेता श्रीयुत जयकर के हाल के एक भाषण के अनुसार हमारी बहनो का कहना है कि समाज में स्त्रियों का पद-विवाह के पहले और विवाह के पीछे हिन्दू-धर्म के आदेश के अनुसार नहीं है। उनकी पहली शिकायत यह है कि उन्हे अपने लिए पति चुनने की स्वतन्त्रता नहीं है और दूसरी यह है कि विवाह छोटी उम्र मे हो जाता है। जयकर साहब इन दोनो बातो मे स्त्रियों से सहानुभूति रखते हैं। स्त्रियो की इस माँग को वह न्याय्य बतलाते हैं कि सोलह वर्ष से कम उम्र मे लडकियो का विवाह होना अपराध ठहराया जाय। दूसरी माँग पति चुनने में अधिक स्वतन्त्रता की है। इसका भी समर्थन करते हुए वह कहते हैं—यदि हम दकियानूसी खयालों मे ही पडे रहेंगे तो मुझे भय है कि स्त्रियाँ जिन्हे भी चाहेंगी उन्हींके साथ विवाह करने लग जायेंगी। पुरानी लकीर के फकीरो मे मैं गम्भीरता के साथ कह देना चाहता हूँ कि ऐसे विवाह निश्चय ही होंगे—चाहे अभी कुछ दिनों तक और न हो, पर होंगे जरूर! शिक्षा-प्राप्त लडकियो को आप घर मे बन्द करके नहीं रख सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि दिनो-दिन स्त्रियो के अधिकारों के प्रति पुरुषों की सहानुभूति और सद्भावनायें बढ़ती जा रही है। हमारी बहनो के लिए अवश्य ही यह हर्ष की बात है। हमारा विश्वास है कि स्त्री-पुरुषों के सम्मिलित सहयोग और प्रयत्न से जो भी बात होगी वह इकतर्फा तो नहीं ही होगी पर साथ ही होगी भी बहुत सोच-विचार के साथ और संयम-पूर्ण। यही उचित भी है।

विधवा की आह

हमारे यहाँ विधवाओं पर जो अत्याचार हो रहा है, वह सर्व-विदित है। बेचारी नन्ही-नन्ही वय की विधवाओ की करुण-कथाओं पर जब दृष्टि पडती है, हृदय तलमला उठता है। बरसों से इसके लिए वाद-विवाद और लिखा-पढ़ी हो रही है। स्व० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से लेकर आज तक न जाने कितने मनस्वी सुधारक इसके लिए प्रयत्न कर चुके हैं। परन्तु आज भी हम क्या देखते हैं?—

× × ×

१५ सितम्बर का गुजराती पत्र 'सौराष्ट्र' हमारे सामने है। उसमें अहमदाबाद के रावबहादुर केशवलाल त्रिवेदी की विधवा पुत्री यशवन्तीबाई के वैधव्य का मार्मिक विलाप देखिए। यह बहन अपने १२ वे वर्ष मे ही विधवा होगई थी, बाद में इन्होंने शिक्षा प्राप्त की और लगातार ९ वर्ष तक जैसे-तैसे अपने मन को मसोसने के बाद अन्त मे २१ वर्ष की वय में, चुप-चाप घर को नमस्कार करके, एक शिक्षित पुरुष से अपना पुनर्विवाह कर लिया है। घर छोडते समय माता-पिता के नाम लिखे हुए लम्बे पत्र मे इस बहन ने कितनी वास्तविकता के साथ अपनी स्थिति लिखी है—"माँ! माँ! जो तुमने कभी न सोचा था वह अनुभव आज तुम्हे होगा और तुम्हें इससे बडा आघात लगेगा, यह मैं समझती हूँ। इस तरह से जाना सच-मुच कलंक-रूप है, यह सब मैं जानती हूं। पर क्या करूँ? मेरे लिए दूसरा क्या उपाय? रो-रो कर आँसुओं से तुम्हारे पाँव धो डालूँ, तो भी तुम कहाँ मुझे विवाह करने की आज्ञा देती? जिन माता-पिता के सहवास मे मैंने अपनी इतनी उम्र बिताई, उनके विचार क्या मुझसे छिपे रह सकते है? × × × प्यारी माँ! प्यारे पिता! मैं विधवा! किसकी? इस हृदय का विवाह हुआ था, क्या इससे मैं विधवा हूँ? बारह वर्ष की वय मे मुझे ब्याहा, २॥-३ मास यह दु:खपूर्ण सौभाग्य रहा, और फिर मैं इसमे मुक्त हो गई। इसीसे क्या मैं विधवा हूँ? मेरे इस विवाहित जीवन मे एक भी दिन-रात ऐसे नहीं बीते कि जब इस शरीर ने कुछ बर्दाश्त न किया हो, एक क्षण भी ऐसा नहीं गया कि जब हृदय के अन्तस्तल से आह न निकली हो। × × × मेरे साथ ऐसा तो बर्ताव होता है कि जैसे मैं बुढ्ढी डोकरी होऊँ! पिता की साहबी के ठाट-बाट घर में फैलें,

माँ की साड़ियाँ अलमारी में पड़ी रहे, पर उन सब पर मेरा कितना हक़? बस, बड़ी बहन के तौर पर बारम्बार उन्हे साफ़ करके जमाने का और उनके द्वारा दूसरों के शृंगार का! मुझे इन अलंकारों और सुन्दर वस्त्रों की तृष्णा नही, परन्तु परमेश्वर ने हृदय दिया है इसलिए कुछ महसूस तो जरूर होता है। हाथ मे दो पैसे की काँच की चूड़ी हो तो हाथ ढकना पड़े और मस्तक पर फूल की वेणी हो तो कोई उसे देख न ले ऐसी सम्हाल रखनी पड़े। क्या मेरे मन मे ऐसी निर्दोष क्रियायें करने की भी न आवे? प्रभु ने रसिकता और थोड़ी सी कला जो दी है, इस शरीर के लिए उनका उपयोग करने को क्या कभी जी न चाहे? बारह वर्ष की बाला इस सब वैराग्य का पालन कैसे कर सकती है? पर बारह वर्ष की थी तभी से मुझे दबा दिया। आज ९-९ वर्ष का अरसा हो गया इस बात को। मेरी तो उर्मियाँ उछल रही थी, लेकिन उन्हे बाहर निकालने का मुझे कहाँ अधिकार था? × × बड़ा भाई तीस वर्ष का था, मै बारह की थी। उसने दस वर्ष विजया भार्या के सहवास मे सुख-चैन मे बिताये थे, मैंने दस दिन भी न बिताये थे। हम दोनो एक ही महीने मे विधुर हुए। उसे तो आग्रह कर-करके ब्याहा, पर इस बहन का मनोभाव पूछने की किसीने चिन्ता की? हमारे समाज मे ही ऐसा रिवाज है कि विधुर का विवाह तो हो सकता है, पर विधवा का विवाह नहीं हो सकता। विधुर का विवाह न हो तो बेचारे का घर कैसे चले? उसकी पहली पत्नी के छोड़े हुए बाल-बच्चों को कौन सम्हाले? स्त्री बिना तो भला चले ही कैसे? उसके कोमल हृदय को और आश्वासन ही क्या? और स्त्री का कठोर हृदय तो वज्र का प्रहार भी सहन कर सकता है! उससे विवाह नही हो सकता, उसे तो वैराग्य ही चाहिए, वह तो पर-पुरुष के सामने भी नहीं हो सकती। विधवा तो हँसकर बोले तो उसमे भी भ्रष्टता आ जाय। समाज की यह कैसी खूबी है। ऐसी रूढ़ि-शृंखलायें तोड़कर जीवन के सुख का मार्ग ग्रहण करने मे क्या पाप है? मुझे तो यह पाप नहीं मालूम पड़ता। . .
छिपे-छिपे पाप करने की अपेक्षा खुले तौर पर विवाह-बन्धन में बँध जाना, यह अधिक अच्छी बात है। .. . . ''

माँ-बाप के अलावा अपने भाई और दोनो बहनों को भी इस बहन ने अलग-अलग पत्र लिखे हैं। उनमें से भाई के नामके पत्र का भी कुछ अंश देखने लायक़ है—

''भाई! याद है, रंगून जाने के दिन तुमने ठाकुर जी के पास दीया जलाने के लिए कहा था? मैंने दीया जला दिया और तुम्हारे टीके के लिए रोली घोलने लगी, तब तुमने कहा था—'यह सुमित्रा को दो, मैं भी उसे ही दे देने वाली थी, परन्तु तुम्हारे ये शब्द मुझे बाण जैसे लगे। क्या मुझे इतना भी हक़ नहीं कि रंगून जाते हुए भाई के हर्ष से टीका काढ़ूँ? तुम्हारे चले जाने पर सारा दिन मैंने रो-रोकर इन्हीं विचारों मे बिताया था। कल सवेरे मेरा प्यारा भाई ब्याह करने जाता हो और यह बहन उसे देखने के लिए सामने खड़ी रहे, तो भी अपशकुन होवे न! भाई, सोचो तो सही कि इन सब समय यह देख कर और किसके रोम-रोम मुझसे ज्यादा हर्ष से नाचेगे? मगर इन सब समय मैं अयोग्य! अपनी इन्हीं अयोग्यताओं को दूर करके ऐसी योग्यतायें प्राप्त करने के लिए ही मैं आज यहाँ से जा रही हूँ।''

× × ×

यह विधवा की आह ही न है? इसकी भाषा कुछ तीव्र जरूर है, पर संयम की भी तो आखिर कोई सीमा होती है न? स्त्रियों के बलात् वैधव्य के पक्षपाती जरा इसपर ध्यान दें। वे यह भी सोचें कि इस बहन ने आज जो मार्ग ग्रहण किया है, उसपर गुजरात चाहे क्षुब्ध हो, उसे यदि वह ग्रहण न करती तो उसका परिणाम बड़ा भयंकर होता। कौन नहीं जानता कि ऐसे बलात् वैधव्य का परिणाम अन्त मे गुप्त व्यभिचार ही होता है? और इसके प्रमाण-स्वरूप नित्य ऐसी घटनाये हमारे सामने आती ही रहती हैं कि आज अमुक के यहाँ गुप्त गर्भपात हुआ, अमुक ने अपनी सन्तान को यों फेंक दिया, अथवा अमुक झाड़ी या तालाब में सुकुमार सन्तान पड़ी मिली। विधवा-विवाह के विरोधी जरा हृदय पर हाथ रख कर बतलायें कि वह स्थिति अच्छी या यह, जो कि यशवन्ती बहन ने आज ग्रहण की है?

'मुकुट'

अविवाहितों के लिए—

देश में बेकारी दिन-दिन बढती जा रही है। करोड़ों भारतवासियों को दोनों जून पेट भर खाने को नहीं मिलता। मध्यम श्रेणी के लोग न जाने किस तरह गुजर चलाते हैं। पढ़े-लिखे मारे-मारे फिरते हैं—पर, अच्छी नौकरी नहीं मिलती। इधर भारतवासियों का, कम से कम हिन्दुओं का, शारीरिक ह्रास बड़ी तेजी के साथ हो रहा है। इन दोनो बुराइयों को—बेकारी और शारीरिक ह्रास को न बढने देने का एक-मात्र उपाय है सन्तति की वृद्धि न करना। यह दो तरह से हो सकता है, एक तो लडके-लडकी ब्रह्मचारी रह कर जीवन बितावें और दूसरे विवाहित हो जाने पर भी सयम-पूर्वक रहें। कुछ लोग विवाहित स्त्री-पुरुषों को कृत्रिम उपायो का अवलम्बन करके सन्तति-निरोध की सलाह देते हैं, पर मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। इसलिए यहाँ उसके विचार करने की आवश्यकता नहीं है। इस जगह तो मैं विवाहित स्त्री-पुरुषों को भी छोड देना चाहता हूँ। केवल उन अविवाहित युवकों या युवतियों से दो शब्द कहना चाहता हूँ, जिन्होंने देश की इस आवश्यकता को अनुभव करके अथवा आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से अविवाहित रहने का निश्चय या विचार किया हो।

इसमें सबसे पहली बात यह है कि वे यह अच्छी तरह समझ ले कि हम अविवाहित किस लिए रहना चाहते हैं। चाहे बेकारी न बढ़ने के खयाल से हो, चाहे शारीरिक ह्रास को कम करने के विचार से हो, चाहे आध्यात्मिक विकास के उद्देश से हो, तीनों दशाओं मे अविवाहित रहने वालों के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। अविवाहित स्वेच्छाचार के लिए नहीं रहते हैं, निरंकुश बने रहने के लिए नहीं रहते है, गुप्त बुराइयो के लिए नहीं रहते हैं, बल्कि एक महान् और पवित्र उद्देश की सिद्धि के लिए रहते हैं। शरीर से अविवाहित रहते हुए, लोक-दृष्टि से अविवाहित बने रहते हुए, यदि कोई मन से शुद्ध न रहता हो, आँखों से दोष करता हो, तो बेकारी के प्रश्न पर चाहे उसका सीधा असर न पड़े, शारीरिक ह्रास तो उलटा बढ़ जायगा और आत्मिक दृष्टि से तो वह आत्मघात ही होगा। एक तो स्वय उसका शरीर पुष्ट और सुदृढ़ न हो सकेगा और दूसरे मन भी दूषित बने रहने के कारण आत्मा का भी सहज ही पतन होता रहेगा। अतएव अविवाहित रहने वाले भाई-बहनो को सबसे पहले यह अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि उन्होंने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए अविवाहित रहना स्वीकार किया है, स्वच्छन्द, निरंकुश, निकम्मे और ग़ैरजिम्मेवार बनने के लिए नहीं। जो परिस्थिति के वश अविवाहित हैं उनका विचार यहाँ करने की आवश्यकता नहीं है।

संयम—ब्रह्मचर्य का पहला पाठ है। भोजन मे संयम, वाणी में संयम, आचार-विचार मे सयम। सात्विक और मधुर भाषण, विकार-हीन दृष्टि, इतनी बातें संयम के लिए परम आवश्यक है। जो व्यक्ति नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजनों और मिष्टान्नो का शौकीन हो, जिसे स्त्रियों के सहवास मे—और यदि स्त्री हो तो पुरुषों के सहवास मे—अधिक आनद आता हो, उनसे बातें करते हुए, उनके ससर्ग मे रहते हुए, जो उत्साहित होता हो, शृगारिक नाटक-सिनेमा देखने या ऐसा साहित्य पढ़ने का जिसे विशेष अनुराग होता हो, सज-धज और तेल-फुलेल का बहुत शौक हो, गाये-बजाये बिना या सुने बिना चैन न पड़ता हो, वह अविवाहित रहते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन सफलता-पूर्वक नहीं कर सकता। ब्रह्मचारी का जीवन साधारण जीवन से बिलकुल भिन्न होता है। उसका वायुमण्डल ही, उसका ससार ही, जुदा होता है।

ईश्वर-भजन—ब्रह्मचारी का दूसरा सहारा है। ईश्वर को याद करने से विचार-जागृति के समय उसे सहायता और बल मिलता है।

इनके अलावा ठण्डे जल से स्नान, सोने के ३ घण्टे पहले भोजन, शारीरिक श्रम की अधिकता, सत्संगति, सद्-ग्रन्थो का पाठ भी ब्रह्मचर्य-पालन मे बहुत सहायक होता है। ये बातें अनुभव-सिद्ध हैं। आशा है, ब्रह्मचर्य का पालन करने के इच्छुक पाठक इनसे लाभ उठावेंगे।

ह० उ०



प्रतिज्ञा

(१)

जननी जन्म-भूमि-हित मर कर,
अपना ध्येय कमायेंगे ।
देख विपुल बाधायें सम्मुख,
ज़रा नहीं घबडायेंगे ।

(२)

मां ! स्वतन्त्रता के स्वागत-हित,
जीवन-सुमन चढायेंगे ।
मुस्काती-सी कीर्ति-लता को,
'सलिल', सींच सरसायेंगे ।

(३)

डट कर हम कर्त्तव्य-क्षेत्र में,
विजय-ध्वजा फहरायेंगे ।
मिटा दासता को भारत से,
राम-राज्य फिर लायेंगे ।

गन्धर्वसिंह वर्मा 'सलिल'

देश के युवको ! सुनो !!

सुनो, राष्ट्र की नवीन शक्तियो ! सुनो ! ओ युवको ! जगो, उठ खड़े हो—संसार को अपने सौंदर्य से, अपनी माधुरी से नहला देने के लिए ! स्वतंत्रता की गति में खड़े हो और विजय की स्फूर्ति में (स्वातंत्र्य-युद्धार्थ) प्रयाण करो । दलित मानवता की मुक्ति तुम्हारे अंदर छिपी है ! पतित, पद-दलित तुम्हे देख रहे हैं । मिलकर, उनके उद्धार के लिए खड़े हो जाओ ! ओ राष्ट्र के हजारों ईसा और बुद्ध ! तुम्हे मानवता की पीड़ा को आश्वासन-मय भुजाओं में बाँधना चाहिए । जगो, उठो और गरीबों, पिछड़े पथिको, दलितो और भूपतित जनों के कन्धों से कन्धा मिलाकर खड़े हो जाओ ! तुम्हे प्रत्येक वस्तु विनय-पूर्वक ग्रहण करनी होगी, तुम्हे प्रत्येक काम सेवा-भाव में ओत-प्रोत होकर करना होगा ! तुम्हारे लिए गोरी और रगीन जातियो मे कोई भेद न होना चाहिए, तुम्हारे सामने खास ईश्वरीय ब्राह्मणो और परित्यक्त अछूतों मे कोई अंतर न पडना चाहिए। सेवा तुम्हारा साधन, प्रेम तुम्हारा लक्ष्य हो ! जिस वस्तु को तुम स्पर्श करो, एक कवि, एक प्रेमी की जादू-भरी उँगलियो से स्पर्श करो और उसे चिर-सुन्दर एव आनन्दमय बना दो । तुम्हारे भीतर-बाहर कहीं द्वेष-दम्भ की कलायें गतिमान न हो ! जहाँ गरीब हों, जहाँ, कुचले, दबे हुए जन चीख रहे हो, जहाँ पतित और परित्यक्त—चाहे वे मनुष्यो मे हो वा जातियो एवं राष्ट्रो में—हो, वहाँ उनकी सहायता करने, उनको अनुभव करने, उनको ग्रहण एव स्पर्श करने तथा उनको रोग-मुक्त करने के लिए तुम अवश्य विद्यमान रहो। विधि-विधानो को कुचल दो, हृदय मे सच्चे विश्वात्मवाद को जगने दो—वह विश्वात्मवाद जो 'मानव-जीव' (Human Creature) के पीड़ित, कराहते अंगों की मरहमपट्टी कर सके ! तुम्हे रीति-गत पाखंड के विजयोन्मुख प्रभावों से ऊपर उठना होगा । दूसरो के लिए सब कुछ सहो, अपने लिए किसी को दुःखी मत करो। मुक्ति तुम्हारी कीर्ति बने, स्वतंत्रता तुम्हारी आत्मा बने ! सर्व-मय, सर्वग्राही प्रेम तुम्हारा अस्त्र हो।

उन गंदी और बदबूदार कोठरियो, माँदों से,—जहाँ पीड़ित स्त्रीत्व, घनीभूत शर्म और अपमान की चोटों से घायल कराह रहा है,—सैंकड़ो आँखें तुम्हारी ओर लगी हुई हैं । ताजी तोड़ी कलियों-सी निर्दोष लड़कियाँ, जो किसी दिन 'माता' के पवित्र और गौरवपूर्ण सम्बोधन से गर्विता होतीं, तुम्हारी ओर देख रही हैं ! रोते हुए हजारों बच्चे, अपने विद्रोहोन्मुख पेट के कारण छटपटाते और सोचते हैं 'ऐसा क्यो ?' ओ हमारी जाति के मसीहो ! वे तुम्हारी खोज में हैं—तुम्हारी तलाश कर रहे हैं । तुम्हे उनको अपनाना होगा !

घृणा और पाप के बोझ से, स्वार्थमय सैनिकता के प्रभावो के नीचे, दुनिया दबी जा रही है—त्राहि त्राहि कर रही है । बोझ को गिराने और बेड़ियो को चूर-चूर कर उसकी रक्षा करने के लिए तुम्हे ऊपर उठना होगा ! पापी की रक्षा के लिए पाप तुम्हारा निशाना बने ! मिल कर खड़े हो और मिलाने वाली कड़ियाँ बन जाओ—राष्ट्रो और साम्राज्यो के मध्य नही, वरन् मनुष्य मनुष्य के बीच !

हे जगत् की, हे राष्ट्र की, सुख-शान्ति और सस्कृति की आशा के प्रकाशस्तंभो ! आज ईर्ष्या-द्वेष,

परत्व-निजत्व और दमन एवं दुर्बल-पीड़न के अथाह सागर में विश्व-जलयान भटक रहा है। तुम देखो, कोई 'आइसबर्ग' (बर्फ की गतिशील चट्टान) इसे टक्कर से आत्मसात न कर ले!

हे विश्व की अनेक संस्कृतियों के धरोहर! कहीं तुम स्वयं न डूब जाना। याद रखो, तुम दूसरों के लिए हो। तुम्हारी समाधियों पर दूसरों के जीवन-पुष्प लहलहायेंगे।

उठो! खड़े हो!! झण्डा उठाओ और दुनिया को विजय की वेदी तक पहुँचा दो!*

श्री रामनाथलाल 'सुमन'

निश्चय

देश पर होंगे हम बलिदान!

भोग-विलास त्याग जीवन के सारे सुख सामान।
ग्रहण करेंगे हँस हँस कर सब सेवा-धर्म महान।।देश पर०।।

मातृभूमि के संकट सारे लेंगे अपने मान।
जीवन-वीणा से उत्सर्ग-मयी निकलेगी तान।।देश पर०।।

पूज्य पिता की पूज्य, जगत में, होंगे हम सन्तान।
आवेंगे प्रभु देवलोक से देने हमको मान।। देश पर०।।

बंशीलाल लुहाडिया

---

* बम्बई प्रान्तीय युवक-सम्मेलन के समय अंग्रेजी में लिखित लेखक की अपील का अनुवाद।

प्रोत्साहन

धरित्री के रंगमंच पर, आकाश-मंडप के नीचे, अनादि काल से अविरत जीवन-संग्राम छिड़ा हुआ है; प्रत्येक नवयुवक को उसमे सम्मिलित होने का निमंत्रण है।

आओ, जीवन-संग्राम मे आओ, अपने उत्साह और साहस से आगे बढो। तुम्हारे हृदय मे जन्म-काल से ही उत्साह, साहस, बल-वीर्य्य और प्रतिभा विद्यमान हैं; क्योंकि जन्म की ही तरह यह भी प्रत्येक को दैव की देन हैं। तुम्हे दूसरो से उत्साह और साहस की भीख मॉगने की जरूरत नहीं, जब कि वे तुम्हें जन्मत. प्राप्त हैं। यदि तुम दूसरो के उत्साह के भरे से रहोगे तो तुम्हें जीवन-संग्राम मे पग-पग पर निराशा की कठोर यंत्रणा भोगनी पड़ेगी। अत. अपनी ही क्षमता से आगे बढ़ो, संसार न तो तुम्हारे आगे बढ़ने मे सहायता देगा और न उत्साह, वह तुम्हारा प्रतिद्वन्दी जो ठहरा।

यह भी याद रक्खो कि तुम्हे पथ पर अग्रसर होते देखकर, दुनिया तुम्हारी ओर अपनी कामी उँगली उठा सकती है—वह तुम्हारी हँसी भी उड़ावेगी और तारीफ भी करेगी; किन्तु उसकी निंदा-स्तुति में कुछ तथ्य नहीं रहेगा।

एक उदीयमान उत्साहित चित्रकार ने, जब प्रथम चित्र बनाया तब उसे यह जानने की बड़ी लालसा हुई कि दुनिया इसके बारे में अपनी क्या राय रखती है। अत उसने उस चित्र की दो प्रति तैयार की; एक प्रति वह शहर के चौराहे पर चिपका आया और उसके नीचे यह लिख दिया कि जिन सज्जनो को इस चित्र मे जहाँ-जहाँ त्रुटियाँ दीख पड़ें, वहाँ-वहाँ वे पेन्सिल से निशान कर दे। दूसरी प्रति उसने अपने ही पास सुरक्षित रख छोड़ी। जब शाम को चौराहे

पर पहुँचा तो क्या देखता है कि चित्र का कोना-कोना पेन्सिल के निशानों से भर गया है, चारो तरफ त्रुटियाँ-ही-त्रुटियाँ दिखाई गई हैं। बेचारा बड़ा हतोत्साह हुआ, सोचा—मैं तो सफल चित्रकार न हो सकूँगा। देर तक वह विचारो में पड़ा रहा, अंत मे न जाने क्या समझ कर उठा और वह दूसरी प्रति भी चौराहे पर ले जाकर चिपका दी। इस बार उसके नीचे यह लिख दिया—'इस चित्र में जहाँ-जहाँ दर्शको को खूबियाँ दीख पड़े, कृपया वहाँ-वहाँ निशान लगा दे।' घण्टो-बाद जब वह फिर चौराहे पर पहुँचा तो देखता है कि खूबियो के निशानों से वह चित्र रग गया है। हँसते हुए वह घर लौटा। मन ही मन कहने लगा—'वाह! कैसी है दुनिया!!—बुरे मे भला देखती है और भले मे बुरा भी देखती है!'

इसी प्रकार, ससार तुम्हारे प्रत्येक कर्म, तुम्हारी प्रत्येक प्रगति की ओर दृष्टिपात करेगा, अपनी बुद्धि के अनुसार तुम्हे भला-बुरा कहेगा, किन्तु तुम्हे न तो उससे उत्साहित ही होना चाहिए और न हतोत्साह, क्योकि वह तुम्हारी त्रुटियों और विशेषताओ का ठीक-ठीक परिज्ञान तुम्हे न करा सकेगा। तुम्हे अपने भले-बुरे का ज्ञान स्वय रखना होगा, इसके लिए बराबर आत्म-निरीक्षण करते रहना चाहिए।

तुम्हारे जीवन-संग्राम के पथ मे विपत्तियो की बड़ी-बड़ी चट्टाने आवेंगी। किन्तु, वे तुम्हें विचलित करने के लिए नहीं, बल्कि, तुम्हारा धैर्य्य, साहस और उत्साह बढाने के लिए। विपत्तियो को हँसते हुए बुलाओ और उनके मुकाबले अपने-आप-मे अधिकाधिक दृढता उत्पन्न करो, इसी मे तुम्हारी कर्मवीरता है।

अमेरिकन हबशियो के सुप्रसिद्ध 'टस्केजी महाविद्यालय' के निर्धन सस्थापक स्वर्गीय बुकर० टी० वाशिगटन महोदय की महान् उन्नति का रहस्य यही था कि वे विपत्तियों का स्वागत करने के लिए सदा आतुर रहते थे। घोर-से-घोर विपत्ति, बड़ी-से-बड़ी निराशा, उन्हे उनके निश्चित कर्तव्य-पथ से विरत नही कर सकती थी। जिन दिनो, बड़ी दौड़-धूप के बाद प्राप्त धन से टस्केजी-महाविद्यालय की इमारत बन रही थी, उन दिनो वे बार-बार प्रसन्न हृदय से सुनते थे—आज इमारत का अमुक अश गिर पड़ा। कई बार तो लोगो को यह भी सदेह हो गया कि कभी यह इमारत बनकर इस रूप मे आ सकेगी या नहीं, जिसमें गरीब हबशियो के बच्चे इसमे बैठ कर अपनी जीवन-शिक्षा प्राप्त कर सकें। याद नही, न जाने कितनी बाधायें इस महाविद्यालय के तैयार होने मे आई होगी, किन्तु सभी विघ्न-बाधाओं को अपने ओठों की हँसी मे भुलाते हुए, स्वर्गीय बुकर० टी० वाशिगटन ने टस्केजी महाविद्यालय को ससार के एक कोने मे खड़ा कर ही दिया। यदि इमारत की ईंटे बोल सकतीं तो अपने उस धीर, वीर, कष्ट-सहिष्णु एव उत्साही सस्थापक की कठिनाइयो का इतिहास सुनातीं। गरीब हबशियो के इस महाविद्यालय ने जिस दिन आकाश की ओर अपनी गर्दन उठाई, उस दिन अमेरिकन गोरे चकित हो गये,—'क्या हबशी लोग भी इतना पुरुषार्थ कर सकते है?' किंतु, उन्नति का पथ किसी जाति या व्यक्ति विशेष के लिए सुरक्षित तो है नहीं, वह तो सार्वजनिक है। चाहे छोटा हो या बड़ा, गरीब हो या धनी, जो भी, उत्साह, साहस और आशा लेकर जीवन-सग्राम मे आवेगा, अवश्य आगे बढ़ेगा।

मनुष्य तो मनुष्य; लगन और दृढ़ता, उत्साह और साहस तो छोटे-छोटे जीव भी नहीं छोड़ना चाहते, बिना इसके जीवन का क्रम चल ही नहीं सकता। हम नित्य देखते हैं—चीटी के छोटे से घर को पैरो से चाहे जितनी बार बिगाड़ा जाय, पर वह

उसे आखिरी दम तक बना कर ही छोड़ेगी। यदि ऐसी दृढ़ता तुम मे न हो तो तुम्हे लानत है, क्योंकि तुम तो जीवन, जागृति के अधिनायक नवयुवक हो न !

जीवन-संग्राम मे जितने ही अधिक और विकट दुख-द्वन्द्व तुम्हारे सामने आवे, समझो कि उतना ही शीघ्र तुम्हारे अभ्युदय का अरुणोदय होने वाला है। क्या देखा नहीं है कि प्रभात होने के पूर्व, रात्रि के पिछले प्रहरो की अपेक्षा कहीं अधिक अधकार छा जाता है ?

एक बात और। विपत्तियों को आते हुए दूर से देखकर घबड़ाना ही क्यो ? एक कवि आश्वासन देता है—

देखो निरुत्साह मत होना चाहे दुख आ पड़ें अनन्त।
संभव है सुख घड़ी आपके दुख-दल का कर देवे अनन्त।
क्या जाने अति उष्ण वायु ही बहकर कर दे तुम्हे अधीर।
और बदलकर वही बहे फिर शीतल-मंद-सुगन्ध-समीर।
घिर आवे घनघोर घटाये चमके चपला बारम्बार।
डरना कभी न तुम, संभव है, गिरे न भू पर जल की धार।
लकड़ी सुलग-सुलगकर करदे गगन धुएँसे अति परिपूर्ण।
पर ज्वालाये उठें न उसमे और वही हो जावे चूर्ण।
दुख आवेगा किन्तु अत को उसका भी तो होगा नाश।
जान-बूझकर फिर यह मित्रो ! क्यो होते हो व्यर्थ हताश ?
यदि वह आता हो तो क्या है ? आने दो तुम भी हो वीर।
विचलित मत होना सत्पथ से, धारण करो हृदय मे धीर।
सोचो, समय सकल घटनाओं का है जनक, कहे सब लोक।
फिर क्यो अघटन घटनाओ से डरकर तुम करते हो शोक।
जगदीश्वर पर करो भरोसा, मन मे करो यही विश्वास।
सुखद-सुदिन वे दूर नहीं है जब दुख-दल का होगा नाश।

—('सरस्वती', मार्च १९१८)

हृदय मे सदा आशा और विश्वास रक्खो—अपनी सफलता के लिए, यदि निराशा के दिन आवें भी तो, गंभीर होकर विचारो। तुम देखोगे कि तुम्हारी निराशा तुम्हारी गलती थी। जहाँ तुम निराश होते हो वहीं दूसरे पर्दे में आशा भी तुम्हारी प्रतीक्षा करती है। सिर्फ तुम्हे पहचानने भर की देर है कि वह जीवन की किस दिशा में है।

लण्डन मे एक गायक के गानो की बड़ी धूम थी। उसके गीतो को सुनने के लिए लाखो स्त्री-पुरुष दिन-रात उसे घेरे रहते और उसे अच्छी-सी भेंट नजर करते थे। कुछ अर्से बाद बेचारा गायक बहरा हो गया—अब वह जो गाना गाता, बेसुरा हो जाता, श्रोताओ ने उसके पास आना छोड़ दिया। बेचारे की जीविका कठिन हो गई। वह जीवन से बड़ा निराश हो गया, और आत्म-हत्या के लिए एक पर्वत पर जा पहुँचा। वहाँ क्षण-भर के अन्दर ही उसके हृदय मे एक आशा कौंध उठी। उसने विचार किया कि जिन गानो को गा-गाकर मैं धन पाता था, यदि उन्हे छापकर बेचूँ तो कैसा ? उसने ऐसा ही किया। सङ्गीत-प्रेमियो ने उसके लिपि-बद्ध गानो को हाथो-हाथ लिया।

समझ लीजिए कि निराशा स्वयं कोई चीज नहीं, सोचने-विचारने से वही आशा भी बन सकती है। हृदय को सदा आशामय एव बलवान बनाये रहो। अपने हृदय मे सदा उच्च भावनाओ को विकसित होने दो, निर्बल विचारो को कभी स्वप्न मे भी मत सोचो। इतने से ही तुम अपने को जीवन-सग्राम मे विजय के योग्य बना सकते हो। सौ बात की एक बात तो यही है कि—

"हारिये न हिम्मत, बिसारिये न राम,
जाही विधि राखे राम वाही विधि रहिये।"

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी

———

ब्राह्म मुहूर्त में—

हे विश्व के अधीश्वर! हे जगत के कण-कण में निवास करने वाले देवता! आज इस पवित्र और मृदु मुहूर्त मे यह जीवन—जिसके रोम-रोम के तुम स्वामी हो—तुम्हे अर्पित करता हूँ। कल दिन-भर इस संसार के भ्रममय हाट मे मोह-माया, अशाति, क्रोध और असत्य का सौदा करता रहा हूँ। दुकानो पर आकर्षक आवरणो से ढकी वस्तुयें रक्खी थीं, मेरा दुर्बल मन अशाति की वायु से चक्र की भांति फिर रहा था, चारो ओर डोल रहा था। हे जीवन के स्वामी! आज वैसा न हो, इसकी सुध रखना। ऊँच-नीच, यह-वह, भेद-भाव की आँधी मे पथ से विरत न कर देना। ओ मेरे मार्ग-प्रदर्शक!

हे मेरे शरीर-रथ के रथी! पहिये टूट रहे है, कीचड़ मे रथ धँसता जाता है। तुम कहाँ हो? शांति धैर्य, अक्रोध, सत्य, प्रेम, निरभिमान से जो कवच बना था, आज कहाँ है?

तुम्हारा आह्वान करता हूँ। हे मेरे मालिक! आकर मुझे अपने चरणो मे स्थान दो। मुझ मे अमृत भरो।

श्री 'विष्णु-चरण-रज'

वीर

दीन-जन-क्लेश मे बटाते वे सदैव हाथ,
उनके विरोधी पीछे हाथ धोय परते।
कठिन विपत्तियो से मित्र-से लिपटते वे
धर्म युद्ध माँहि सदा आगे जाय मरते।
रखने स्वदेश-लाज देते सर्वस्व लगा,
प्राण को गँवा के भी विजय-वधू वरते।
डरते न प्राण त्यागने को वे स्वदेश-हेतु,
कहते तनिक पर कार्य बड़े करते।

विष्णुदत्त मिश्र 'तरंगी'

जय या जीवन का बलिदान

करमो से पीडित, अपमानित, विश्व से ठुकराई भारत माँ की आँखें, युवको की ओर किसी नये तूफान की आशा में लगी हुई हैं। यौवन का उन्माद, हृदय की सम्पूर्ण शक्ति, संसार के सम्मुख अपनी माँ का मस्तक ऊँचा करने के लिए न्योछावर कर देनी चाहिए।

क्रान्ति का सन्देश, देश के कोने-कोने मे पहुँचा देना चाहिए। बलिदान-पथ पर, राष्ट्र की शक्ति, एक साथ चल पड़े। अपने प्राणो को पीड़ितो के लिए लुटा दे! युवको के सामने इस समय केवल एक लक्ष्य हो—

जय या जीवन का बलिदान!

सहने की कोई सीमा होती है, अब हमारा देश उस सीमा को पार कर चुका है। किसानो के कृश-तन, मजदूरों के भूखे पेट, अनाथो की आहे, अछूतो की कुचली हुई आत्मायें, स्त्री जाति का कोमल हृदय, किसी नई सृष्टि की अभिलाषा करते हैं! वह नई सृष्टि हमारे युवको के तूफानी हाथो से ही रची जा सकती है। युवको का स्वाभिमान किसी का अत्याचार नहीं सह सकता।

भले ही हमारे पास संसार से लोहा लेने के लिए पर्याप्त साधन न हो। फिर भी हम मे मर मिटने की लगन है। और यही लगन नवीन युग लाने के लिए पर्याप्त है! हमारे पीडित, जर्जर, बेचैन देश के युवको को इस परतंत्रता मे जीने के लिए कोई आकर्षण नहीं है। इसी कारण वे बरबस चिल्ला पड़ते हैं—

'जय या जीवन का बलिदान',

हरिकृष्ण विजयवर्गीय 'प्रेमी'

हमारी आशा

बीती नहीं यद्यपि अभी तक है निराशा की निशा ।
है किन्तु आशा भी कि होगी दीप्त फिर प्राची दिशा ॥

(भारतभारती)

हमारी इन भुजाओं में बल नहीं, हमारे पास युद्ध योग्य उपकरण नहीं, शिक्षा नहीं, और राजशक्ति भी नहीं, फिर हम किसके भरोसे आशा करें ? हमारे पास बल कहाँ है, जिसके भरोसे हम प्रबल विदेशी शक्तियों का गर्व चूर्ण करने का प्रयास करेंगे । आजकल के बड़े-बूढ़े विज्ञ पुरुष कहा करते हैं, कि यह स्वतन्त्रता या स्वराज्य खुदा जाने क्या बला है। यह तो बाल-सुलभ महान दुराशा तथा ऊँचे आदर्श के मद में मतवाले युवकों का एक शून्य स्वप्न है। स्वाधीनता या आज़ादी प्राप्त करने का यदि कुछ उपाय हो सकता है, तो एक मात्र युद्ध है और बिना युद्ध के हम स्वाधीनता प्राप्त करने में उतने ही असमर्थ है, जितना कि आकाश का तारा तोड़ने में एक बालक। और चूँकि युद्ध करने में हम लोग सर्वथा असमर्थ हैं, अत हमारी स्वराज्य-कामना भी मूर्खता का एक विकार मात्र है । परन्तु हम भी ऐसी बातों को एक प्रलाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकते, इसका कारण एक मात्र शक्ति के आधार-भूत केन्द्र के प्रति अज्ञान है । क्या केवल पशुबल उपनाम बाहुबल ही शक्ति का आधार है ? या शक्ति किसी और भी गम्भीर वस्तु में है ?

प्रत्येक व्यक्ति यह बात स्वीकार करने को बाध्य है, कि केवल बाहुबल से कोई भी बड़ा कार्य सम्पादित नहीं हो सकता। यदि दो परस्पर शक्तिशाली शक्तियों का विरोधयुक्त सामना हो, तो जिसका नैतिक एवं मानसिक बल चढ़ा-बढ़ा होगा, एवं जो शक्ति ऐक्य, अध्यवसाय, उत्साह, साहस आदि गुणों से युक्त होगी, तथा जिसकी विद्या-बुद्धि में, भविष्यव्यापिनी सूक्ष्म दृष्टि तथा उपायोद्भाविनी शक्ति का पूर्णत. विकास होगा, निश्चय उसी की जय होगी । यदि बाहुबल से सर्वथैव विजय होती तो कुरुक्षेत्र में आठ या नौ अक्षौहिणी सेनाधारी कौरवों की विजय अनिवार्य थी; परन्तु ऐसा न हुआ। इससे ज्ञात होता है कि बाहुबल, संख्या तथा युद्धोपकरण इन तीनों से हीन समाज भी नैतिक तथा मानसिक बल के उत्कर्ष के प्रभाव से प्रबल से प्रबल प्रतिद्वंदी को हटा सकता है। यह बात मनगढन्त नहीं; इसका प्रमाण इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ में है ।

आप कहेंगे कि बाहुबल की अपेक्षा नैतिक और मानसिक बल का गुरुत्व तो मान लिया, परन्तु बाहु-बल के बिना उक्त दोनों बलों की रक्षा कौन करेगा ? तर्क ठीक है । परन्तु देखा गया है, कि दो सम्प्रदाय या दो परस्पर विरोधी सभ्यताओं का जब संघर्ष हुआ है, तब उस दल की तो हार हुई, जिसमें बाहुबल, राजशक्ति आदि साधन प्रचुर मात्रा में मौजूद थे, तथा उस दल की जीत हुई, जिसमें ये साधन आरंभ में बिलकुल न थे । ऐसा विपरीत फल क्यों हुआ ? कारण यह है कि—"यतोधर्मस्ततोजय", अर्थात् जहाँ धर्म है वहाँ जय है, परन्तु महाभारत की इस परिभाषानुसार धर्म की सच्ची पहिचान होनी चाहिए। यह बात निश्चित है कि धर्म का पतन और अधर्म का अभ्युत्थान कभी स्थायी नहीं हो सकता । हमेशा कार्य्य के मूल में कारण रहता है । जय का कारण धर्म है अथवा शक्ति है । किस धर्म या शक्ति के बल से जय प्राप्त होती है, यही विचारणीय है । प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य का निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि आध्यात्मिक शक्ति या आत्म-शक्ति के बल से असम्भव भी सम्भव हो सकता है। आध्यात्मिक शक्ति ही पशुबल को पद-दलित करके अखिल-संसार को बताती

है, कि यह संसार भगवान का राज्य है, न कि स्थूल तथा अन्ध प्रकृति का लीला-क्षेत्र। पवित्रात्मा, शक्ति-प्रसू अर्थात् शक्ति उत्पन्न करने वाली होती है। जो आद्याशक्ति आकाश-मण्डल में कई सहस्र सूर्यों को, तथा ब्रह्माण्ड-मण्डलों को घुमाया करती है, जो कनिष्ठिका अँगुली के स्पर्श मात्र से समग्र ब्रह्माण्डों को ध्वस कर सकती है, वह आद्या प्रकृति-शक्ति, शुद्ध आत्मा के अधीन है। वह शक्ति असम्भव को सम्भव कर देती है। उस शक्ति पर निम्नाङ्कित श्लोकार्द्ध अच्छी प्रकार घटता है—

"मूक करोति वाचालं पङ्गु लघयते गिरिम्।"

समग्र संसार उसी के अधीन है। जिस पवित्र तथा शुद्धात्मा मे यह शक्ति उद्भूत हो जाती है, उसमे जय-सामग्री स्वयमेव ही उत्पन्न हो जाती है, विघ्न बाधायें स्वयमेव हट जाती हैं, और यह सर्व-ग्रासी काल भी आप ही आप उपयुक्त हो जाता है। कार्य करने की क्षमता भी खूब तेजस्विनी हो जाती है।

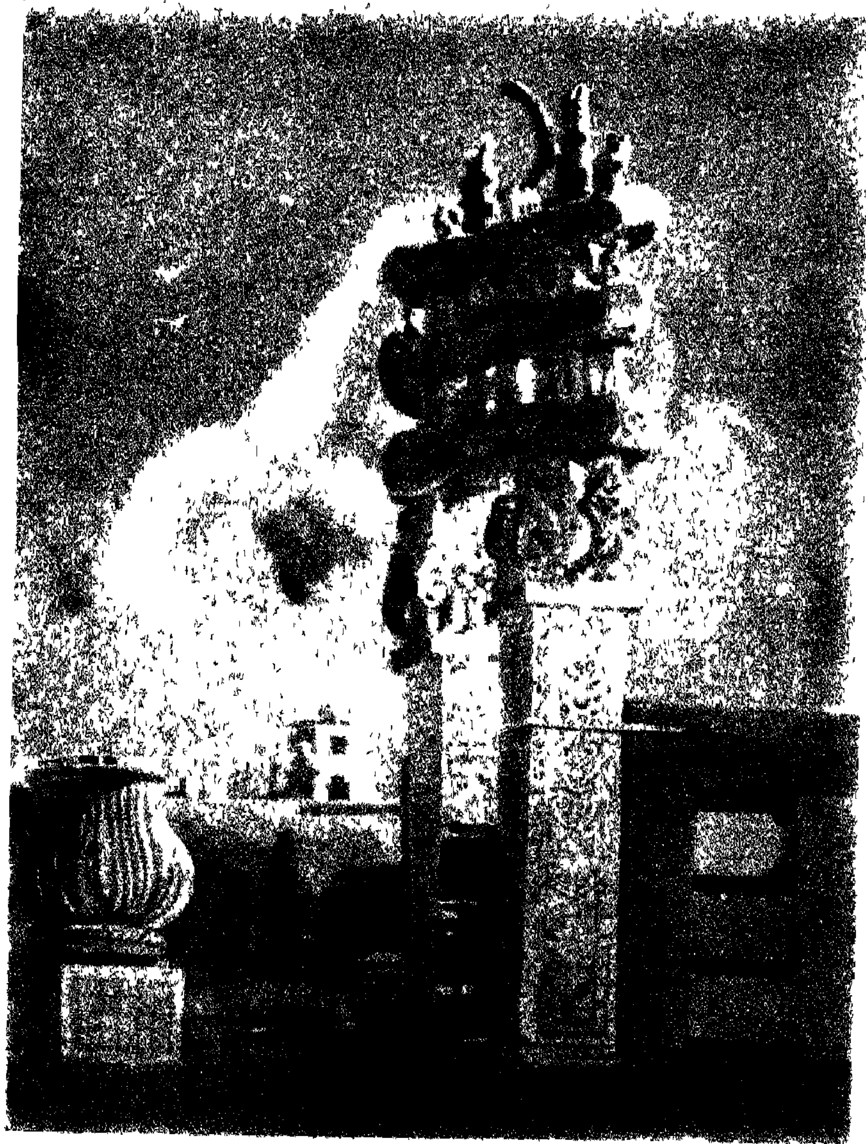
यूरोप भी आजकल इसी आध्यात्मिक शक्ति (Soul force) की आवश्यकता अनुभव कर रहा है, परन्तु उसे इसमे पूर्णत विश्वास नहीं है, और न इसके विश्वास पर उसमे काम करने की प्रवृत्ति ही है। किन्तु भारतीय शिक्षा, सभ्यता आदि के मूल में यही शक्ति है। जब-जब ज्ञात हुआ है कि भारतीय जाति का विनाश-काल सन्निकट आया, उसी समय इस शक्ति ने आसन्न-मृत्यु भारत को पुन सञ्जीवित किया है। और इस समय भी उस महाशक्ति का प्रसव बंद नहीं हुआ है। आज भी उस जीवन-दायिनी महाशक्ति की क्रीडा हो रही है। किन्तु इस स्थूल जगत् की समग्र शक्तियों का विकास समयानुसार ही होता है—अवस्था-विशेष में ही समुद्र मे ज्वार-भाटा आया करता है।

महापुरुषों की तपश्चर्य्या, त्यागियो का कष्ट-सहन, योगियों की योगशक्ति, ज्ञानियो का ज्ञान, साधुओं का शुद्धाचार आदि सब वृत्तियाँ एक मात्र आध्यात्मिक शक्ति से उत्पन्न होती हैं। एकबार नहीं, अनेक बार इन पुण्य-प्रवृत्तियो ने म्रियमाण भारत को सञ्जीवनी बूटी की तरह जीवित, बलिष्ठ और तेजस्वी कर दिया है। समय-समय पर श्रीकृष्ण-जैसी भगवद्विभूतियो ने उत्पन्न होकर मृत-प्राय भारत के कर्ण-कुहरो मे कर्म-योग के मन्त्रों द्वारा अद्भुत स्फूर्ति पैदा कर दी है।

समय फिर आया है। आज भारत में जीवन का संदेश सुनाई पड रहा है। किन्तु यह शक्ति भाषणो की उत्तेजना, विदेशियो की प्रदान की हुई विद्या, समाचारपत्रादि की क्षणिक प्रेरणा मे नही वरन अपनी आत्मा की विशाल नीरवता मे, दु ख-सुख-जयी तितिक्षा मे ही मिलेगी।

युवको! आज एक नया संदेश सुनाई पड रहा है, नयी आग जल रही है। देश के लिए, मनुष्यता के लिए, दीन-दुखियो, दुर्बलो और पीड़ितो की रक्षा के लिए आज तुम्हारी बुलाहट है। आज तुम्हे सिद्ध करना पड़ेगा कि तुम युवक हो—एक प्राचीन सभ्यता, एक प्राचीन सस्कृति के रक्षक हो। तुम दुनिया को एक नया सदेश दो—वह संदेश जो सारे कलुष और सम्पूर्ण विषमताओ को चूर-चूर कर दे। दुनिया का, माँ का, अचल खाली है। ओ साहसी युवको, ओ आशा के पुतलो! उठो, सुनो, विश्व मे आज कैसा एक नवीन शख-नाद हो रहा है।

जी० एस० विशारद



प्रवेश द्वार

साहित्य-संगीत-कला

मेरा राज्य

रजनी ओढ़े जाती थी
फीके तारों की जाली।
उसके बिखरे वैभव पर
जब रोती थी उजियाली ॥ १ ॥

शशि को छूने मचली-सी
लहरों का कर कर चुम्बन।
बेसुध तम की छाया का
तटिनी करती आलिंगन ॥ २ ॥

अपनी जब करुण कहानी
कह जाता है मलयानिल।
आँसू से भर जाता है
सूखा अवनी का अञ्चल ॥ ३ ॥

पल्लव के डाल हिंडोले
सौरभ सोता कलियों मे।
छिप छिप किरणें आतीथीं
मधु से सींची गलियों मे ॥ ४ ॥

आंखो में रात बिताकर
शशि ने पीला मुख फेरा।
आया जब चित्र बनाने
प्राची मे प्रात चितेरा ॥ ५ ॥

कन-कन मे जब छाई थी
वह नव-यौवन की लाली।
मैं निर्धन तब आई ले
सपनों से भर कर डाली ॥ ६ ॥

जिन चरणो की नख-ज्योती
ने हीरक-जाल लजाये।
उन पर मैंने धुधले-से
आंसू दो-चार चढ़ाये ॥ ७ ॥

इन ललचाई पलको पर
पहरा जब था व्रीड़ा का।
उस चितवन ने दे डाला
सम्राज मुझे पीड़ा का ॥ ८ ॥

उस सोने के सपने को,
देखे कितने युग बीते।
आंखो के कोष हुए हैं,
मोती बरसाकर रीते ॥ ९ ॥

अपने इस सूनेपन की
मैं हूँ रानी मतवाली।
प्राणो का दीप जलाकर
करती रहती दीवाली ॥ १० ॥

मेरी आहे सोती हैं
इन ओठो की ओटो मे।
मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चाटो मे ॥ ११ ॥

चिन्ता क्या है हे निर्मम !
बुझ जाये दीपक मेरा।
हो जायेगा तेरा ही
पीडा का राज्य अँधेरा ॥ १२ ॥

महादेवी वर्मा

'मेरा घर कहां है ?'

(उद्भ्रान्त चित्त का एक मनोवैज्ञानिक चित्र)

वर्षा ऋतु की सुहावनी संध्या थी । आकाश निर्मल था। केवल पश्चिम मे बादलों की दो चार टुकडियाँ थी जिन पर सूर्य की अस्तोन्मुख किरणे चमक रहीं थीं। सामने मैदान में बहुत-सी गायें भैंसें चर रहीं थीं, जिन्हें पुल पर बैठा हुआ चरवाहे का लड़का अपनी मीठी-मीठी आवाज में इधर उधर भटकने से मना कर रहा था। वहीं सड़क के किनारे, चरवाहे के लड़के के निकट, एक आदमी बैठा था। वह कोई भिखारी जान पड़ा। जब मैं पुल के निकट पहुँचा तब चरवाहे का लड़का मुझे देख कर बोला "भैया !" मैंने कहा "क्यों ?" और अपने कदम बढ़ाता गया। वह कहने लगा "यह आदमी पागल है। बड़ी ऊल-जलूल बातें बकता है । समुन्दर पार जाने को कहता है ।" उसकी बात सुन मैं वहीं ठिठक कर रह गया। मैंने एक ही दृष्टि में उस आदमी को ऊपर से नीचे तक देखा। रंग-ढग से यह मुझे पागल नहीं जान पड़ा। कमर में एक लँगोटी और कधे पर गजी का एक साफ़ टुकडा। वह सर नीचा किए बैठा था, इसलिए मैं उसके रूखे और भूरे बालों के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख सका।

मैंने उसके सामने जाकर पूँछा—"क्यों भाई, तुम कौन हो ?" मेरा प्रश्न सुन कर उसने ऊपर दृष्टि उठाई और मेरी ओर इस प्रकार देखने लगा मानों मैं कोई अनोखी चीज हूँ। उसका चेहरा सूखा था, माथे पर झुर्रियाँ पड़ी थीं—झुर्रियाँ जो प्रौढ़ होने के प्रथम ही यौवन के चेहरे पर पड़ जाती हैं। दाढ़ी के बाल बढ़े हुए थे, आँखे छोटी थीं, उनके कोये लाल थे। पलकों पर बरौनियाँ नहीं थीं। ओठ कुछ काले और कुछ सफेद थे। किन्तु इन सब के अतिरिक्त उस के मुखमण्डल पर क्रूर प्रकृति के उन निष्ठुर प्रहारों के चिन्ह मौजूद थे, जो बहुधा मनुष्य को ईश्वर पर विश्वास न करने के लिए विवश कर देते हैं।

उसने मेरे प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही मुझ से कहा "तुम कुछ लिये तो नहीं हो ?"

"क्या ?"

"अरे यही . कुछ भी हो ...."

मैंने उसकी बात अनसुनी करके कहा—"तुम कहाँ से आ रहे हो ?"

"यही .ए ए . बडी दूर से।"

"कितनी दूर से ?"

"यही, कहा तो . ए. ए.. इधर से।" और उसने अपने हाथ से अनन्त की ओर संकेत कर दिया।

चरवाहे का लड़का मुझे व्यर्थ की झंझट में पड़ा देख कहने लगा—"भैया! यह कुछ भी नहीं बतलाता। बिलकुल पागल है ।"

किन्तु मैं उससे पूछता गया—"तुम कहाँ रहते हो?"

एक हाथ से पागल अपने पैर के अँगूठे को पकड़े हुए था। दूसरे से उसने अपने सामने की धरती ठोकते हुए कहा "यहीं . ए. यहीं।"

'कहाँ ?'

"ए जाने कहाँ।"

"अच्छा, तुम्हारा नाम क्या है ?"

"जाने ए बात ऐसी है कि मेरा नाम "

मैंने प्रोत्साहन देते हुए कहा—"हाँ तुम्हारा नाम ?"

"जाने क्या है।" कह कर उसने हँस दिया। पागल के सिवा वैसी हँसी और कोई नहीं हँस सकता। मुझे उस की दशा पर तरस आया। मैंने कहा—"तुम्हे अपनी जाति मालूम है ?"

"जाति ! .अच्छा, ब्राह्मण हूँगा .अच्छा वैश्य भी हो सकता हूँ ।"

मैंने उससे फिर पूछा—"अच्छा, तुम पैदा कहाँ हुए थे ?"

'हा ! हा !! हा !!!" पागल अब की बार खूब हँसा—"पैदा ! पैदा जाने कहाँ हुआ था 'यहीं।"

मैंने पूछा "कहाँ ?"

"यही यही ए बड़ी दूर।"

"और तुम जा कहाँ रहे हो ?"

"कहीं नहीं ए . बड़ी दूर "

"कहाँ ?"

"ए.. बड़ी दूर समुद्र के उस पार " और फिर हँसा।

उसको मुस्कराते देख मैं भी मुस्कराए बिना नहीं रह सका। किन्तु सहसा पागल की हँसी उसके अधरों की शुष्कता में लीन हो गई। वह अपनी ठुड्डी पर हाथ रख कर आकाश की ओर देखने लगा। फिर उसने अपना हाथ हटा लिया, गर्दन लटका ली और जमीन के ककड़ चुनने लगा। उसने पहले से ही वहाँ ककड़ों का एक छोटा ढेर एकत्र कर रक्खा था। मैंने पूछा "यह क्या है ?"

"कुछ नहीं ..यों ही।" और जिस प्रकार बालक 'बस' कह कर अपने हाथ हिला दिया करते हैं उसी प्रकार उसने अपने हाथ हिला दिए। सहसा उसने अपने मस्तक को पीछे घुमाकर कहा—"बच्छी रँभाती है ?"

पुल के निकट वास्तव में एक बछिया खड़ी रँभा रही थी।

मैंने कहा "हाँ।"

"क्यों रँभाती है ?"

"भूखी होगी।"

"हाँ—सो तो ठीक है" कह कर वह दोनों हाथों से तालियाँ पीटने लगा।

मैंने पूछा "दूध पिओगे ?"

मेरी बात सुनकर पागल फिर हँसा। उसकी वह हँसी उसके अदृष्ट को चिढ़ा रही थी। बोला—"दूध हा! हा! हा!"

मैंने मन ही मन व्यथित होकर कहा—"अच्छा, और कुछ खाओगे ?"

"और कुछ! हाँ, खालूँगा।"

"तो फिर मेरे साथ चलो। मैं तुम्हें बाजार से कुछ खाने के लिए दिलवा दूँगा।"

पागल बोला "अभी तो बैठा हूँ .. चलूँगा।"

"तो फिर चलो।"

"हूँ . .चल रहा हूँ।"

किन्तु पागल ने उठने का उपक्रम नहीं किया। मैंने कहा—"चलते हो या नहीं, मुझे अपने घर जाना है।"

मेरी बात सुन कर पागल इस तरह चौंक पड़ा मानों मैंने उसके अन्त स्तल के किसी गहरे घाव में अँगुली चुभा दी हो। मेरी ओर घूर कर बोला "घर !"

मैंने कहा "हाँ।"

"कहाँ है ?"

मैंने उत्तर दिया "यहीं।"

"यहीं! और मेरा घर कहाँ है ?" मैं चुप रहा। पागल कहता गया—"हाँ, यही तो मैं कहता हूँ मेरा घर कहाँ है। अच्छा भाई, तुम्हीं बताओ, मेरा घर कहाँ होगा ? आज बीस साल से मेरा घर नहीं है। और तुम्हारा घर—तुम्हारा घर कहाँ है—?"

मैंने दुखित होकर कहा—"यहीं है। चलो तुम्हें वहाँ ले चलूँ।"

"ए.. ..अभी चलूँगा. ..उधर अभी तो यहीं बैठा हूँ—अब फिर चलूँगा।

मैंने कहा—"कब ?"

किन्तु पागल ने नहीं सुना। वह शून्य दृष्टि से आकाश की ओर देख रहा था।

मैंने जोर से कहा—"सुनते हो या नहीं ?"

पागल ने चौंककर कहा—"हाँ, यही तो; मेरा घर कहाँ होगा ? बीस साल से मेरा घर नहीं है. " कहते कहते वह उठ बैठा। मैंने समझा वह मेरे साथ चल रहा है। किन्तु वह पुल की बगल से नीचे उतर कर करौंदी की झुरमुटों में जा बैठा।

मैंने आश्चर्य से उसकी ओर देखते हुए कहा—"कहाँ जाते हो ? चलो, मेरे साथ बाजार नहीं चलते ?"

किन्तु वह नीरव और निश्चल होकर संध्याकाश की ओर देखता जहाँ का तहाँ बैठा रहा।

लाचार होकर मैंने अपने घर का रास्ता लिया। किन्तु उसकी बातों से मेरे मन पर विषाद की जो छाया अंकित हो गई थी वह आज तक दूर नहीं हुई। जब कभी उसकी याद आ जाती है, तभी सोचा करता हूँ, "उसका घर कहाँ होगा ?"

—— कृष्णानन्द गुप्त।

जगत् के साहित्य

(२)

तुर्की साहित्य

तुर्की साहित्य, अरबी की भांति वैभवपूर्ण नहीं और इसका मुख्य कारण यह है कि तुर्कों का इतिहास युद्ध-सम्बन्धी उपकरणों से ओत-प्रोत है। इस वीर और संतोषी जाति को, सच पूछिए तो, कभी इतनी छुट्टी न मिली कि शान्ति की छाया में बैठ कर आध्यात्मिक वा मानसिक तत्वों की जिज्ञासा करती, कोमल भावनाओं की उपासना और पूजा में आत्मार्पण करती। कभी ग्रीकों से, कभी रूसियों से, कभी रोमनों और हंगरी वालों से उसकी ठनी-ही रहती थी। साहित्य के विकास के लिए जिन परिस्थितियों और उपकरणों की, जिस सुख-शान्ति और समृद्धि की आवश्यकता होती है, इस जाति के इतिहास में उसकी छायामात्र कहीं-कहीं मिलती है।

फिर भी तुर्की साहित्य में अनेक ऐसी रचनायें मिलती हैं, जो अपने रंग में अनूठी हैं। कविताओं में तो कहीं-कहीं मानवहृदय के ऐसे सुन्दर चित्र विकीर्ण हुए है, जो देखते ही बनते हैं। इन रचनाओं की, जब हम रचनाकार के देश और जाति की अवस्था से तुलना करते है तो हमें आश्चर्य होता है कि इतनी सुन्दर भावनाओं का प्रकाश करने में वह कैसे समर्थ हुआ ? पर विश्व की कविता का इतिहास स्वयं ही इस रहस्य का एक उत्तर है। अशिक्षा और निरक्षरता से बँधी झोपड़ियों में जो व्यथित दीन जन अपने जीवन की घड़ियाँ गिना करते हैं, कभी-कभी उनकी वाणी और भावना में कविता की परम विकसित अभिव्यक्ति दीख पड़ती है। मनुष्य के मूल उपकरणों की सब से स्वाभाविक और स्वप्रसूत अभिव्यक्ति होने के कारण, समाज की अत्यन्त अवनत् अवस्था में भी कविता, कल्पना के गतिमान पंखों पर अनताकाश में उड़ती देखी गई है। * तुर्की कविता के सम्बन्ध में भी इन्हीं साहित्यिक तत्वों द्वारा हमारी शंकाओं का समाधान हो जाता है।

तुर्की भाषा

तुर्की कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं, हिंदी, उर्दू की भाँति अनेक भाषाओं के संयोग और सम्मिश्रण से उसका जन्म हुआ है। तेरहवीं शताब्दि के आरंभ में मंगोलों के अत्याचारों से ऊब कर सुलेमान नामक एक सरदार अपने तुर्क फ़िरकों के साथ तुर्किस्तान और खुरासान से आरमीनिया चला गया। उसके पुत्र तोगरल और पौत्र उस्मान ने मारमोरा-सागर के तट तक का सारा देश विजय करके एक शक्तिमान राज्य की स्थापना की। वर्तमान तुर्की, इसी राज्य का परिवर्तित, परिवर्द्धित रूप है। इस प्रकार तुर्किस्तान से आने वाले तुर्क, जो भाषा अपने साथ लाये थे, और इस नवीन देश में पहुँच कर उन्होंने वहाँ के अधिवासियों की जो भाषा ग्रहण की, उन दोनों के संयोग से एक नवीन भाषा का जन्म हुआ। फिर जब तुर्कों की राज्य-सीमा विस्तृत हुई और ग्रीस, हंगरी, रूस, फारस एवं मिश्र के अनेक भागों पर उनका अधिकार हो गया तो इन देशों की भाषाओं के भी अनेक शब्द इस मिश्रित तुर्की भाषा में मिलते गये। क्रमानुसार फ़ारसी, फ्रेंच, अरबी, मिश्री, ग्रीक और भाषाओं का सब से अधिक प्रभाव तुर्की भाषा पर पड़ा है। अभी इस वर्ष तक जिस तुर्की-लिपि का सार्वत्रिक प्रचार

---

* एक अंग्रेजी समालोचक ने स्पेन की प्राचीन ग्रामीण कविता की मधुरिमा का उल्लेख करते हुए यही बात लिखी है—"Poetry may live in rustic sorroundings In a low state of social advancement, poetry, unlike every other art, may attain a very high degree of excellence"

रहा है और कतिपय राजकीय विभागों को छोड़ प्राय सर्वत्र अब भी है, वह फारसी लिपि द्वारा प्रभावित एक प्रकार की अरबी लिपि ही है जिसमे ३४ अक्षर होते है। इधर इस लिपि को बदल कर एक प्रकार की लैटिन लिपि का प्रचार करने का उद्योग किया जा रहा है और आशा की जाती है कि उसके प्रचार से भाषा और साहित्य के क्षेत्र पहले की अपेक्षा विस्तृत और शक्तिमान हो जायँगे।

साहित्य

भाषा के सम्बन्ध मे इतनी बाते लिख देने का कारण यह है कि साहित्य की अभिव्यक्ति से भाषा की प्रकाशन-शक्ति का घनिष्ट सम्बन्ध है। भाषा के निर्माण मे जिन तथ्यों और उपकरणों का प्राधान्य होता है, वे साहित्य के जीवन पर बड़ा प्रभाव डालते है।

प्रगति का अभाव, साहित्य का दो धाराये

यह प्रभाव तुर्की साहित्य मे अनेक रूपों मे विकीर्ण हुआ है और जब हम भाषा और विचार सम्बन्धी इन प्रभावो की ओर दृष्टि डालते हैं तो सहज ही तुर्की साहित्य को दो धाराओं मे विभक्त पाते है। निरंतर युद्धादि मे भूले रहने के कारण साहित्यिक प्रगति और आन्दोलनो का तुर्की मे बड़ा अभाव रहा है और सच पूछिए तो ६०० वर्षों का तुर्की साहित्य का इतिहास केवल दो 'स्कूलों' की सृष्टि कर सका। इन्हें हम (१) प्राचीन और (२) आधुनिक 'स्कूल' के नाम से पुकारेंगे।

प्राचीन स्कूल

प्राचीन शैली की प्रकृति

इस शैली ('स्कूल') का निर्माण फारस के प्राचीन काव्यों के आधार पर हुआ है। फ़ारसी साहित्य की रंगीनियाँ, भावप्रवणतायें, वर्णन वैभव और शोखी इसमे भी मिलती है। इस वाटिका मे भी वही रंग-ढंग है। फूलो के रंग मे भले ही कुछ भेद हो पर बुलबुल की तड़प ज्यो की त्यों है। लैली और मजनूं शीरीं और फ़रहाद, जुलेखा और यूसुफ तुर्की काव्योद्यान के इन प्राचीन टुकड़ों पर भी चहलक़दमी करते दिखाई देते हैं। गुलाब की पखड़ियो की मुस्कराहट, नरगिस का नेत्रोन्मीलन, बुलबुल का रोना, शमअ की जलन और पतंग की प्रणय-वेदना का यहाँ भी वही रूप है। विषय और वस्तु (प्लाट) का निर्वाचन भी करीब-करीब वही है। प्राचीन फ़ारसी कथाओं के ही नायक गण इन काव्यों में भी अवतीर्ण होते हैं। शाहनामा की कहानियों मे आये हुए वीरों और नायकों के सबंध में अनेक कवितायें इस स्कूल के कवियों ने लिखी हैं। इतना ही नहीं, पिंगल मे भी फारसी छंदों का बहुत अधिक मात्रा मे अनुकरण किया गया है।

पिंगल मे भी फारसी का अनुकरण

ये प्राचीन तुर्की कवि भी फारसी मसनवी, कसीदा और गज़ल के सौदाई थे। इन पर भी वही जुनून, वही रंग छाया हुआ था। फारसी के इस प्रभाव के कारण ही 'तसव्वुफ' (रहस्यवाद वा 'मिस्टिसिज़्म') का रंग भी—जो फारसी कविता की एक खास विशेषता है—तुर्की-कविता के इस प्राचीन 'स्कूल' की अनेक रचनाओं मे पाया जाता है।

फारसी का इतना प्रभाव क्यों ?

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अरब से निकटतर सम्बन्ध होते हुए भी फ़ारसी का इतना प्रभाव कैसे पड़ा ? बात यह है कि 'एशिया माइनर' में तुर्कों के आगमन के लगभग दो सौ वर्ष पूर्व वहाँ की 'सैलजूक़' नामक अर्द्धसभ्य जाति के वीर सेनापतियो ने फारस के अनेक प्रांतों पर अधिकार कर लिया था। बहुतेरे वहाँ बस भी गये थे। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि निम्न कोटि की अनिश्चित सभ्यता वाली जातियाँ, उच्चतर सभ्यता ग्रहण करने को बाध्य होती है। इस असभ्य विजयिनी जाति के साथ भी यही बात हुई। उसने भी फ़ारसी रीति-नीति, भाषा और सभ्यता ग्रहण कर ली।* पीछे जब तुर्कों ने इन सैलजूक़ों का स्थान ग्रहण किया तो वे भी उसी रंग मे रँग गये। प्राचीन के प्रति ममता, मानव जीवन की विशे-

---

* देखिए श्री अब्दुर्रहमान शरीफ़ लिखित तुर्की 'तारीखे-दौलते-उसमानिया' (कान्स्टिटेण्टोनेपिल मे प्रकाशित) और हलील ग़नीम का, 'ला सुलतान ओतमा' (Les Sultans Ottomans) प्रथम भाग।

पता है। किसी वस्तु का ग्रहण करना जितना सरल है, एक नई चीज़ की सृष्टि करना उतना ही कठिन है। तुर्कों ने भी पहले से चले आते भावों और वर्णन-विधियों को अपना लिया। फिर तुर्क-मस्तिष्क में आविष्कार के उपकरणों का सदैव अभाव रहा है। इसलिए उसने भी सैलजूकों की भांति साहित्य और समाज की विभिन्न प्रणालियों में फारसी गति-विधि का अनुसरण किया।

प्राचीन 'स्कूल' का काल

तेरहवी शताब्दि के अंतिमांश से लेकर—जब कि तुर्की साम्राज्य का जन्म हुआ था—उन्नीसवीं शताब्दि के मध्यांश तक तुर्की साहित्य के प्राचीन स्कूल का समय समझना चाहिए। १३०० ई० से लेकर १८३० ई० तक तो उसका खूब दौर-दौरा रहा। और यद्यपि अब भी वर्तमान हिन्दी-जगत् के, ब्रजभाषा के कुछ कट्टर पक्षपातियों की भांति, दो चार साधारण तुर्की कवि प्राचीन शैली एवं भाषा-विधि का अनुकरण करते जा रहे हैं, जनता पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं रह गया है और क्रियात्मक प्रतिभा के श्रेष्ठ लेखक प्राचीन प्रणाली के प्रति न केवल उदासीन हैं वरन् उसका विरोध और उपेक्षा भी कर रहे हैं।

तीन काल

प्राचीन 'स्कूल' के इस लगभग छ सौ वर्ष के समय को हम निम्नलिखित तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं—

१. प्रारंभिक काल [१३०१ ई० से १५२० ई० तक]
२. मध्य काल [१५२० ई० से १७३० ई० तक]
३. अंतिम काल [१७३० ई० से १८६० ई० तक]

तुर्की-साहित्य का प्रारंभ उस्मान प्रथम के राज्य-काल से होता है। उसके समय में ही फारसी साहित्य के अमर रहस्य-वादी (सूफ़ी) कवि मौलाना जलालुद्दीन रूमी के पुत्र सुलतान वलेद ने वे पंक्तियाँ लिखी थी, जो उस्मानी या प्राचीन तुर्की साहित्य की जननी कही जाती हैं।

१—'प्रारंभिक काल' का साहित्य

चौदहवी शताब्दि का आरंभ हो रहा था, तुर्की सुलतान की शक्ति द्रुत-गति से बढ़ रही थी। इसी समय आशिक़ पाशा नामक एक दूसरे कवि ने भी वलेद की भांति रहस्य-वाद ('तसव्वुफ़') को अपनी कविता में आश्रय दिया। इस समय आशिक पाशा की केवल एक लम्बी रचना प्राप्य है। इन दोनों प्रारंभिक कवियों की रचनायें देखने से मालूम होता है कि तुर्की-साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा ही फ़ारसी कविता की धारा ने की। शरीर तुर्की था, प्राण फ़ारसी थे। ढांचे पर भी फ़ारसीपन ने अत्यधिक प्रभाव डाला था, जिसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।

उस्मान (प्रथम) के पौत्र सुलेमान (प्रथम) ने गेली-पोली तथा यूरोप के कुछ और प्रांत युद्ध में छीन लिये थे। इस युद्ध में उसने जो शौर्य-प्रदर्शन किया था, उस पर प्रसिद्ध सरदार गाजी फाजिल ने एक काव्य लिखा। इस काव्य में युद्ध-कौशल तथा वीरता का विशद वर्णन किया गया है। कुछ दिनों बाद, मोहम्मद प्रथम (१४०३-२१) और मुराद द्वितीय (१४२१-५१) के सम-सामयिक, शैख़ करामियी नामक कवि ने, फारसी साहित्य की प्रसिद्ध 'ख़ुसरो-शीरीं' कथा के आधार पर एक लम्बी मसनवी लिखी। यह मसनवी लम्बी होने पर भी अच्छी और जानदार हुई है। इसी समय धार्मिक कवि 'यज़ीजी' ने हजरत मोहम्मद की विशद पद्य-बद्ध-जीवनी लिखी।

यद्यपि उपर्युक्त कवि अपने समय के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि थे किंतु काव्य-कला की दृष्टि से इनकी रचनाओं में कोई विशेष सौंदर्य नहीं। गद्य-भाग की सुस्ती का तो क्या पूछना था ? इस काल के केवल एक ही उल्लेखनीय गद्य-ग्रन्थ का पता चलता है। इसमें 'चालीस वजीरों की कहानियां' लिखी गई है। लेखक का पूरा नाम नहीं मिलता। पुस्तक सुलतान मुराद द्वितीय को समर्पित की गई है।

इस काल की कविता में जान डालने वाले कवि तो वस्तुत: मोहम्मद द्वितीय (१४५१—८१) की कान्स्टिटेण्टो-नेपिल (कुस्तुनतुनिया) की विजय के बाद हुए। इस विजय के कुछ दिनो बाद तातारी राजकुमार मीर अली शीर ने 'नेवाई' उपनाम से अपनी भाषा में कुछ बड़ी सुन्दर ग़ज़लें लिखीं। इन ग़ज़लों में अनुभूति और भाव-प्रवणता भरी पड़ी है। ये गजलें जब सुलतान मोहम्मद द्वितीय के वजीर, अहमद पाशा तक पहुँचीं तो उसने उनके आधार पर तुर्की में बहुतसी ग़ज़लें लिख डालीं। ये कवितायें तुर्की-साहित्य में अपना ख़ास स्थान रखती हैं, क्योंकि इसी

समय से ग़ज़ल लिखने तथा कविता में प्रसाद, माधुर्य और शाब्दिक सौंदर्य लाने की ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से गया। गद्य की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा और फल-स्वरूप सीनान पाशा (मोहम्मद का एक मन्त्री) ने 'तज़र्रुआत' नामक एक सुन्दर गद्य-ग्रंथ लिखा। तुर्की भाषा में 'तज़र्रुआत' का अर्थ विनय और अनुरोध है। भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से तुर्की गद्य के इतिहास में इस ग्रंथ का नाम अमर रहेगा। इसकी भाषा सुलझी हुई, साफ़ और मुहाविरेदार है; फ़ारसी का वर्णन-विलास इसमें नहीं है और भावों में अनेक सुन्दर विचारों का समन्वय दीख पड़ता है।

इस काल के अन्य कवियों में 'नजाती' और 'जाती' अपने सुन्दर गीति-काव्यों के लिए और जमाली एवं हमीदी भावनामय ('रोमैण्टिक' से अभिप्राय है) काव्यों के लिए प्रसिद्ध हैं। जैनब और मिहरी नाम की दो बहुत प्रसिद्ध कवयित्रियाँ भी इस काल में हुई हैं, जिनकी सुन्दर भाव-पूर्ण रचनाओं के पढ़ने से विशेष आनंद आता है। प्राथमिक काल के सुलतानों में मोहम्मद द्वितीय कविता का बड़ा प्रेमी था और विद्वानों एवं कवियों की सहायता मुक्त-हस्त होकर करता था। उसने जो कवितायें लिखी हैं, वे भी बुरी नहीं हैं। उस्मान वंश के ३४ सुलतानों में से २१ की कवितायें मिलती हैं। इन इक्कीस सम्राट्-कवियों में शक्तिमान सम्राट् महावीर सलीम प्रथम (१५१२-२०) का स्थान कविता की दृष्टि से सर्वोच्च है। अपने समय का वह सब से मौलिक और प्रतिभाशाली कवि था। उसकी रचनायें साहित्य में अपना एक ख़ास स्थान रखती हैं और उन पर उसके रचयिता की भावुकता, जोश एवं शक्ति की छाप है। पर इन रचनाओं का अधिकांश भाग फ़ारसी भाषा में लिखा गया है। जो कुछ तुर्की में है, वह उतना सुन्दर नहीं, फिर भी कवि की मौलिकता उसमें बहुत दूर तक प्रकाशित हुई है। इस भावुक और वीर सुलतान के काल में इब्न कमाल नामक एक महाविद्वान् का पता चलता है, जिसने गद्य और पद्य दोनों के लिखने में कीर्ति अर्जन की थी। इसने यूसुफ़-जुलेखा की प्रेम-कथा पर एक सुन्दर काव्य लिखा। सादी के 'गुलिस्ताँ' की शैली पर लिखा हुआ इनका 'निगारिस्ताँ' नामक एक ग्रंथ और भी मिलता है। इब्नकमाल के सम-कालिक कवि 'मसीही' की रचनायें भी खूब प्रसिद्ध हुईं। उसकी बसंत सम्बन्धी कवितायें तो बहुत ही सुन्दर हुई हैं और यूरोप की कई भाषाओं में उनका अनुवाद भी हो चुका है।

प्राचीन 'स्कूल' के मध्यकाल का आरम्भ सलीम के पुत्र सुलेमान द्वितीय के सिंहासनासीन होने के समय (१५२० ई०) से होता है।

२—प्राचीन 'स्कूल' का मध्यकालिक साहित्य

प्रारम्भिक काल की रचनाओं से इस काल की प्राथमिक रचनाओं में भी स्पष्ट अंतर दीख पड़ता है। प्रारंभिक काल के अच्छे से अच्छे कवियों की प्रसिद्ध रचनायें भी रूखी और शुष्क हैं, उनमें मधुर शब्द-योजना, सुन्दर अनुप्रास और भाषा की मुलायमियत का एकांत अभाव है। किंतु मध्यकाल के प्रारंभ में ही इन विशेषताओं की ओर रचनाकार विशेष रूप से आकृष्ट मालूम पड़ते हैं। काव्य-कला की ओर विशेष ध्यान जाने लगा है। प्राचीन स्कूल के जो चार सर्वोच्च कवि हुए हैं, उनमें 'फ़ुज़ूली' भी एक है। यह कवि बग़दाद अथवा उसके समीप के किसी नगर का अधिवासी था। जब सुलेमान ने फ़ारस के पश्चिमी प्रांतों पर अपना अधिकार कर लिया तो इसने भी तुर्की भाषा को अपनाया। इस कवि की भाषा बिलकुल विचित्र है। उसमें कई प्रकार की तुर्की बोलियों का संमिश्रण दीख पड़ता है। संभव है, फ़ारसी तुर्कों की यही भाषा रही हो। अस्तु, 'फ़ुज़ूली' ने साहित्य में अपना एक नया रंग पैदा किया। उसकी रचनायें पूर्णत मौलिक हैं और उनके लिए उसने फ़ारसी या तुर्की से कुछ ग्रहण नहीं किया। भाव-प्रवणता और गहरी भावुकता उसकी रचनाओं की जान है; अपनी रचनाओं में अपने हृदय के साथ उसने जो क्रीड़ायें की हैं, उनमें एक विशेष सौंदर्य, एक विशेष अदा है। स्फुट कविताओं के दीवान के अतिरिक्त 'लैली-मजनूँ' की प्रेम-कथा पर उसकी एक अच्छी और लम्बी मनसवी मिलती है। कुछ गद्य-ग्रंथ भी पाये जाते हैं। फ़ुज़ूली के समकालिक कवि 'बक़ी' ने भी अनेक सुन्दर कवितायें लिखीं। सुलेमान के सम्बन्ध में जो मर्सिया उसने लिखा है, उसमें करुण-रस में भीगती काव्य-कला बड़ी सुन्दर मालूम पड़ती है। यह

मर्सिया तुर्की-साहित्य में बेजोड़ है, वैसा दूसरा आज तक न लिखा गया। इस काल के अन्य कवियों में रूही, लॉमी, अहिया बेग और सलीम भी प्रसिद्ध हुए हैं। अहमद प्रथम (१६०३—१७) के समय में नफ़ी नामक कवि हुआ। प्राचीन 'स्कूल' के चार सर्वोत्तम कवियों मे नफ़ी की भी गणना की जाती है। अपने कवित्वमय क़सीदों के कारण उसने बड़ा नाम पाया। उसकी व्यंग्य-रचनाओं मे कितने ही सरदार घबड़ा उठे थे। कई कवियों ने उसकी शैली का अनुकरण किया। नफ़ी के बाद बहुत से अप्रसिद्ध कवि साहित्य-मंच पर आते रहे किंतु किसी के अभिनय में इतना आकर्षण न था कि दर्शक उसकी ओर खिंचते। बहुत दिनों तक साहित्य का मैदान सूना रहा। इब्राहीम प्रथम (१६४०–४८) और मोहम्मद चतुर्थ (१६४८–८७) के समय में 'नाबी' नामक कवि ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। उसकी ग़ज़लों ने धूम मचा दी। उसका अनुकरण भी कई आदमियों ने किया। इसमें सैयद वहाबी, रागिब पाशा, रह्मी, कलीम और सामी ने सफलता भी प्राप्त की। नाबी के समकालिक कवियो मे रासिख और तालिब दो ऐसे कवि हुए जिन्होंने एक नयी प्रणाली को जन्म देने, एक नये मार्ग पर चलने की बड़ी कोशिश की पर उन्हे विशेष सफलता प्राप्त न हुई।

इस समय तक अठारहवी शताब्दि का आरंभ हो चुका था साहित्याकाश अनेक प्रकाशमान नक्षत्रों से जगमगा रहा था। अहमद तृतीय सिंहासनासीन हुआ। इसके राज्यकाल में ही प्राचीन 'स्कूल' का सर्व प्रसिद्ध कवि 'नदीम' अपनी श्रेष्ठ रचनाओं द्वारा कविता-प्रेमी दिलों मे गुदगुदी पैदा कर रहा था। तुर्की भाषा के विशेषज्ञ इलियस जॉन विलकिन्सन गिब ने अपने 'टर्की' लेख मे इस कवि की बड़ी तारीफ़ की है। * उन्हों ने यह भी लिखा है कि उसने किसी की नकल नहीं की और न कोई दूसरा उसकी नकल कर सका। उसकी कविता में कवि का प्रसन्न हृदय बह रहा है, आनंद फूटा पड़ता है। उसकी रचनाओं में भाषा के सौंदर्य और विचारो का सुन्दर सामञ्जस्य हुआ है। उसकी ग़ज़लें संगीत-मय और मधुरता से तर हैं। उसके क़सीदों की मँजी हुई मुहाविरेदार भाषा यह कह रही है कि वह भाषा का पण्डित था और कोश पर उसका पूर्ण अधिकार था। प्राचीन 'स्कूल' के इस मध्यकाल का सर्वोत्तम भाग नफ़ी की उन्नति से लेकर नदीम की मृत्यु तक का समय माना जाता है। नदीम की मृत्यु के साथ ही 'मध्यकाल' की समाप्ति होती है।

गद्य का विवरण

इन कवियों के अतिरिक्त इस काल में अनेक गद्य-लेखक भी हुए। अली चेहलवी ने 'हुमायूँ नामा' नाम से फारसी की 'अनवार सुहेली' का अनुवाद किया। सआदुद्दीन ने आरंभ काल से लेकर सलीम प्रथम की मृत्यु तक का, तुर्की का 'ताजुत्तवारीख' शीर्षक एक विशद इतिहास लिखा। औलिया के यात्रा विवरण इस काल के गद्य-साहित्य की खास चीज़ें हैं। कातिब चेहलवी अपने समय का महाविद्वान लेखक माना जाता है। उसने जीवनी, इतिहास, भूगोल सभी विषयों पर पुस्तकें लिखी हैं और बड़ा सफल लेखक हुआ है। नर्गिसी और वेसी इस काल के अन्य प्रसिद्ध गद्य-लेखक हैं।

३—अंतिम काल का साहित्य

नदीम की मृत्यु के बाद से ही प्राचीन 'स्कूल' के अंतिम काल का आरम्भ होता है। साहित्य के प्रसार के साधनों और सुविधाओं की दृष्टि से भी पिछले काल की अपेक्षा यह काल अधिक महत्व-पूर्ण है। क्योंकि इसके आरंभ के साथ ही तुर्की मे छापेखाने और छपाई की भी नींव पड़ी। ❀ इस काल के आरम्भिक कवियो मे बलीग, हिशमत, सम्बुली जादा और वहबी प्रसिद्ध हैं। इन लोगों ने अपनी स्वतंत्र शैलियां चलाई। सलीम तृतीय (१७८९–१८०७) के समय में फ़ज़्तेव, निशात और शेख गालिब नामक तीन प्रसिद्ध कवि हुए। प्राचीन 'स्कूल' के चार सर्वोच्च कवियों में

* देखिए 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' (भाग २७, संस्करण ग्यारह)। में श्री गिब का लेख।

❀ 'तुर्की' में सबसे पहला छापाखाना १७२८ ई० में इब्राहीम उपनामधारी एक हँगरी-वासी ने खोला था। इसी प्रेस से पहली पुस्तक प्रकाशित हुई।

एक ग़ालिब भी है। इसकी 'हुस्नोइश्क'—सौंदर्य एव प्रेम—शीर्षक रूपकात्मक कविता, बड़ी सुन्दर, बड़ी मीठी है। इस कविता में उसकी कल्पना खूब जी खोलकर उड़ी है। इस कवि की शैली भी खास उसी की है। इस काल के गद्य-लेखकों में रशीद, आसिम और कानी बहुत प्रसिद्ध हैं। प्राचीन 'स्कूल' के रचनाकारों में कानी ही एक उल्लेखनीय हास्य-लेखक हुआ है।

इस प्रकार तेरहवी शताब्दि से लेकर उन्नीसवी शताब्दि के मध्यांश तक प्राचीन 'स्कूल' का बोल-बाला रहा। इस स्कूल ने अनेक उल्लेखनीय कवियों एव लेखकों को जन्म दिया। जैसा हम ऊपर स्थान-स्थान पर लिखते आये हैं, (१) फुजूली (२) नफी (३) नदीम (प्राचीन स्कूल का सर्वोच्च कवि) और (४) ग़ालिब, साढ़े पाच सौ वर्ष के इस लम्बे काल के चार सर्वोत्कृष्ट कवि समझे जाते हैं।

संक्रान्ति काल

सन् १८०८ ई० से लेकर—जब महमूद द्वितीय सिंहासनासीन हुआ—, १८६० ई० तक का समय तुर्की के इतिहास का संक्रान्ति काल है। इस काल में प्रत्येक क्षेत्र नई भावना, नई 'स्पिरिट' से अनुप्राणित हो रहा था। पूर्व और पश्चिम, एशिया और यूरोप के सयोग से नूतन विचारों, नूतन धारणाओं की सृष्टि हो रही थी। कल्पना का क्षेत्र विस्तीर्ण हो रहा था,—एक नई दुनिया बन रही थी। समाज, राजनीति, धर्म और साहित्य, सर्वत्र नवीन युग का सदेश गूँज रहा था। साहित्य और राष्ट्र के इस संक्रान्ति-काल के कवियों में फ़ाज़िल बे, वासिफ़, आकिफ़ पाशा तथा कवयित्रियों में फितनत और लैला मुख्य हैं। इन लोगों की रचनाओं में राजधानी की, प्रचलित बोलचाल की, भाषा में लिखने की चेष्टा दिखाई पड़ती है।

महमूद द्वितीय ने अपने राज्य-काल में बहुतेरे महत्व-पूर्ण सुधार किये। पाश्चात्य भावों, भाषाओं और विचारों से लोगों का ससर्ग हुआ। फ्रेंच भाषा का प्रेमी होने के कारण महमूद ने उसके अध्ययन को सुलभ बनाने का खूब प्रयत्न किया और सच पूछिये तो इस काल की और इसके बाद वाले नवीन स्कूल की विचार-धारा पर फ्रेंच साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा है।

आधुनिक स्कूल

लोग प्राचीन विधि-विधानों से ऊबे हुए तो थे ही, पूर्व पश्चिम के इस सयोग काल में जब नूतन विचारों का साहित्य में प्रवेश हुआ, एक नवीन—आधुनिक 'स्कूल' की सृष्टि हुई। फ्रेंच साहित्य से विशेष रूपेण प्रभावित होने के कारण उसकी विशेषतायें, नई प्रणाली के तुर्की साहित्य में भी आ गई। आधुनिक 'स्कूल' के रचनाकारों ने भाषा और भाव-प्रकाशन, दोनों ही क्षेत्रों में नये आदर्शों की स्थापना की। सरल भाषा हो और भावों में सत्यान्वेषण का भाव हो, यह उनकी चेष्टा थी।

नवीन स्कूल के आदर्श

सरलता और सत्य उनका लक्ष्य था। आगे चलकर वर्तमान हिंदी वा जगत के अन्य वर्तमान साहित्यों के आदर्शों की भांति, बढ़कर यही लक्ष्य 'सत्य शिव, सुन्दरम्' के आदर्श में परिणत होगया और इस प्रकार साहित्य में उन भावनाओं, उन प्रेरणाओं का प्रवेश हुआ जो सम्पूर्ण तुच्छ बन्धनों को तोड़कर संसार भर की गति में अपने को मिला देने और उससे तदात्म्य प्राप्त करने को विकल हैं।

रशीद पाशा और आकिफ पाशा की राजनैतिक रचनाओं में पहली बार नूतन युग का सदेश सुन पड़ता है।

आधुनिक 'स्कूल' के रचनाकार

किन्तु इनमें नवीनता का स्वर बहुत मद है। शिनासी एफेंडी ने १८५९ ई० में कविता और गद्य दोनों में नवीन प्रणाली का जोरों से प्रयोग किया। यूरोपीय प्रभाव में रगे, नूतन भावों और विधियों के उपयोग पर बड़ा शोर मचा, बड़ा विरोध हुआ—जैसा कि आज हिन्दी में हो रहा है। पर सत्य, समर्थन के अभाव में भी, असत् और विरोध-प्रदर्शन से अधिक शक्तिमान होता है। आधुनिक 'स्कूल' में पाखण्ड का अभाव और सत्य के प्रति आग्रह था। वह दिन-दिन उन्नति करता गया और थोड़े ही दिनों में यह अवस्था आ गयी कि प्राचीन शैली का नाम-निशान भी मिट सा गया।

आधुनिक 'स्कूल' ने तुर्की साहित्य की सम्पूर्ण ध्वनि, भावना और रूप को बदल दिया। कविता के नये-नये प्रकारों, नूतन प्रणालियों और छन्दों का जन्म हुआ, विविधता बढ़ी।

प्राचीन 'स्कूल' के साहित्य में एक नाटक का भी पता नहीं चलता। नवीन 'स्कूल' के लेखकों ने अनेक उत्तम नाटक लिखे। अनेक नूतन वैज्ञानिक विषयों पर भी पुस्तकें लिखी गईं। इस युग के प्रधान लेखकों और कवियों में जियापाशा, जेवदत पाशा (इतिहास-लेखक), एकरम बे (सुन्दर 'जमज़म' काव्यमाला के रचयिता), हामिद बे (तुर्की भाषा के सर्वश्रेष्ठ नाटककार), और विद्वद्वर कमाल बे (आधुनिक स्कूल के एक प्रधान नेता) इत्यादि मुख्य हैं।

बीसवीं शताब्दि की गोद में

तुर्की में राष्ट्रीय आन्दोलन

१६०८ ई० मे देश की गौरव-वृद्धि के लिए 'येनी तूरन' (नवयुवक-तुर्क-दल) की स्थापना हुई। यह एक राजनैतिक दल था। एक ही वर्ष मे इसकी शक्ति इतनी बढ़ गई कि १६०९ में इस दल के प्रधान नायक अनवर बे ने कान्स्टिटैंटीनोपुल पहुँच कर सुलतान अब्दुल हमीद को सिंहासन-च्युत कर दिया और उसकी जगह मोहम्मद (पंचम्) को गद्दी पर बैठाया, जो अपनी देश-भक्ति के कारण जेल में पड़ा सड़ रहा था। देश-भक्ति और स्वतंत्रता इस युवक दल का आदर्श था। धीरे-धीरे यह आन्दोलन बढ़ता गया। १९२० ई० में अंगोरा मे 'तुर्की की महान् राष्ट्र-सभा' नाम से नूतन सरकार की स्थापना हुई। नवम्बर १६२२ ई० में सुलतान के भग जाने पर उसका चचेरा भाई अब्दुल मजीद सम्राट और खलीफ़ा बनाया गया।*

महान् राजनैतिक परिवर्तन

१९२२ ई० से आज तक इन छ वर्षों मे तुर्की मे अभूतपूर्व परिवर्तन हो गया है। ९ अक्टूबर १९२३ ई० को वहाँ 'प्रजातन्त्र सरकार' की स्थापना हुई। एप्रिल १९२४ मे नवीन शासन विधान की घोषणा की गई, खिलाफ़त तोड़ दी गई और शैखुल इस्लाम (प्रधान धर्माध्यक्ष) के अधिकार छीन लिये गये।† प्रजातन्त्र के प्रेसिडेण्ट (राष्ट्र-पति) मुस्तफ़ा कमाल पाशा चुने गये और आज तक हैं।

इतने महान् परिवर्तनों के बाद, जिनका सिलसिला अब तक नहीं टूटा है, वर्तमान तुर्की, ५० वर्ष पूर्व के तुर्की से एक भिन्न राष्ट्र बन गया है।

साहित्य का नवीन युग

इस महान् युगान्तरकारी परिवर्तन का प्रभाव समाज की सब से प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति — साहित्य पर न पड़ता, तो आश्चर्य की बात होती। आज तुर्की राष्ट्र के साथ समस्त तुर्की साहित्य नवीन भावों, नवीन रक्त और नवीन स्फूर्ति से अनुप्राणित हो रहा है।

पत्रों की अधिकता

समाचार पत्रों और मासिकों की वृद्धि के साथ साहित्य बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ा जा रहा है। देश से न जाने कितने पत्र प्रकाशित होकर राष्ट्र और साहित्य की श्री-वृद्धि कर रहे हैं। दैनिकों मे एकदम, वकित, अकशम, जिमहूरियत, मिल्लियत और हकीमियत मिल्लिया मुख्य हैं।

मुख्य दैनिक और कुछ सम्पादक

इनमें प्रथम चार कान्स्टिटेण्टोनेपुल और अन्तिम दो अंगोरा से प्रकाशित होते हैं। 'मिल्लियत' कमाल पाशा के दल का पत्र है। इसके तथा अकशम के संस्करण फ्रेंच भाषा मे भी प्रकाशित होते हैं। उपर्युक्त पत्रों मे 'एकदम' सब मे पुराना है। अकशम के सम्पादक एक विद्वान् पुरुष हैं। इनका नाम नज्मुद्दीन सादिक बे है और ये कांस्टिटेण्टोनेपुल विश्वविद्यालय में समाज-शास्त्र के अध्यापक हैं। 'मिल्लियत' के सम्पादक महमूद बे भी एक अच्छे और योग्य सम्पादक हैं।

अन्य पत्रादि

अन्य पत्रों मे करागज़ (हास्य-विनोद), तुर्क योर्दू (राष्ट्रीय और साहित्यिक), दर्गा-इत्तहाद (साहित्यिक, सामाजिक और दार्शनिक), तथा मादिअत मेजुमुस्सी (वैज्ञानिक) मुख्य हैं।

वर्तमान लेखक और कवि

वर्तमान तुर्की लेखकों मे कई ऐसे हैं जो कल तक

* देखिए 'प्यूपिल्स ऑव आल नेशन्स' पुस्तक-माला भाग ७, में सर ई० डेनीसन रॉस, सी० आई० ई० का 'दि राईज ऐण्ड फ़ाल अव दि ओटोमान एम्पायर' (पृष्ठ ५०२१) लेख।

† देखिए 'यूरोपा' (१९२८), पृष्ठ ६२६, 'टर्की' ('दि कान्स्टिट्यूशन')।

पुराने स्कूल के लेखक थे। आज उनके विचारों में बहुत परिवर्तन हो गया है—यद्यपि कई बातों में वे अब भी प्राचीन स्कूल के पक्षपाती हैं। सच पूछिए तो ये संक्रान्ति काल के लेखक हैं। ये प्राय वृद्ध हैं।

संक्रान्ति काल की उपज प्रसिद्ध लेखक

इनमे निम्नलिखित प्रधान है—

१—अब्दुलहक़ हमीद (जन्म १८५० ई०), बहुतों की सम्मति मे तुर्की के सर्व-श्रेष्ठ कवि। अपने पद्यात्मक दुखात नाटको के लिए प्रसिद्ध। फ्रेंच रचनाकार रेसीं (Racine) द्वारा प्रभावित।

२—हुसेन जाहिद (जन्म १८७६ ई०), समालोचक, भाषाविज्ञानी, निबन्ध-लेखक और सम्पादक। तुर्की भाषा में सरलता और सादगी लाने के तथा लैटिन लिपि के समर्थक। शासन मे यूरोपीय प्रणाली के पूर्ण पक्षपाती। अनेक अग्रेजी, इटैलियन और फ्रेंच पुस्तकों के अनुवादक। इनका तुर्की कोश और व्याकरण बहुत प्रसिद्ध है।

३—हुसेन रहमी (जन्म १८७२ ई०) उपन्यास-लेखक। तुर्की की विभिन्न जातियों, विशेषतः निम्न कोटि के लोगों क मनोवैज्ञानिक चित्रण मे सब से कुशल उपन्यासकार।

४—अहमद रशीम (जन्म १८६६ ई०) इतिहासज्ञ, निबन्ध—लेखक, व्यगकार और सम्पादक। तुर्की विनोद के एक अच्छे लेखक है। पत्रो मे नियमित रूप से लिखते हैं।

५—हालिद ज़िया (जन्म १८७० ई०) छोटी कहानियाँ लिखने के लिए प्रसिद्ध। प्रथम तुर्की मनोवैज्ञानिक उपन्यास के लेखक। 'नीला-काला', 'ग्रीष्म-कथा' और 'निषिद्ध प्रेम' इनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त डाक्टर रिज़ा तौफ़ीक़ आदि अन्य लेखक भी है।

आधुनिक स्कूल के कतिपय लेखक

१—हलीदे अदीब (जन्म १८८५ ई०)—अत्यन्त लोकप्रिय उपन्यास और कहानी—लेखक। इनकी कृतियों के अनुवाद जर्मन तातार, स्कैण्डिनेवियन, अरबी, अंग्रेजी और उर्दू में हो गये है।

२—रफ़ीक हलीद—(जन्म १८९०) व्यंग्य और कहानी-लेखक तथा सम्पादक। शुद्ध और सुन्दर तुर्की भाषा लिखने मे सर्वोच्च लेखक समझे जाते हैं। जर्मन मे दो एक कृतियों का अनुवाद हो चुका है।

३—याकूब कादरी (जन्म १८९१ई०) उपन्यास—लेखक और सम्पादक। 'नूरबाबा' इनका सर्वोत्तम उपन्यास है, और तुर्की मे एक बेजोड़ उपन्यास समझा जाता है।

४—रशाद नूरी उपन्यास और नाटक—लेखक। दो एक कृतियों का फ्रेंच मे भी अनुवाद हो चुका है।

चित्रकारों मे फहमान बे, इस्माइल बे, इब्राहीम बे, शौकत बे, लिफ़ीज बे, अलीसमी बे, तथा कान्स्टिण्टेण्टोनेपुल के ललितकला-विद्यालय के डाइरेक्टर नजमी ज़िया बे मुख्य हैं। लिफ़ीग बे, और अली समी बे के चित्रो ने तो जर्मनी और आस्ट्रिया मे भी विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की है।

इन लेखकों, कवियों और चित्रकारों के अतिरिक्त अनेक प्रसिद्ध लेखक मातृभाषा का भण्डार भरने में दत्तचित्त हैं। विदेशी भाषाओं की सुन्दर एव महत्वपूर्ण रचनाओ के अनुवाद किये जा रहे हैं और मौलिक पुस्तकें भी लिखी जा रही हैं। इसके लिए शिक्षा-विभाग के अधीन 'सर्लीफ बे तर्जुमे हेती' नामक एक विशेष सस्था खोली गई है। प्रत्येक विषय द्रुतगति से उन्नति कर रहा है और आशा है कि बहुत शीघ्र तुर्की साहित्य की गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ साहित्यों में होने लगेगी।

श्री रामनाथलाल 'सुमन'

साहित्य की दुनिया में—

टाल्सटाय की शतवार्षिक जयन्ती

१०० वर्ष से अधिक हुए, १० सितम्बर १८२८ ई० को रूस के एक शक्तिमान कुल मे एक बालक पैदा हुआ था, जिसने आगे चलकर संसार को शान्ति का वह सन्देश दिया, जिसकी उपेक्षा करने के कारण आज भी विश्व विकल और क्षुब्ध हो रहा है। उसका नाम टाल्सटाय (लियो निकोल्विच टाल्सटाय) था।

टाल्सटाय अपने समय के बहुत बड़े गम्भीर विचारक और लेखक थे। आधुनिक समाज-व्यवस्था की जटिलतम समस्याओं का विश्लेषण करने मे ही उनका जन्म बीता। समाज की विषमताओ के विष से जर्जर कृषक-जीवन ने उनके दिल पर बडी चोट पहुँचाई। इस विष, समाज के प्राणो मे भरे इस दु:ख ने उनकी मन स्थिति को ही जर्जर नहीं किया वरन् उनका स्वास्थ्य भी नष्ट कर दिया। वे जिधर दृष्टि उठाते, मदोन्मत्त समाज की बेडियो में कराहते रूसी कृषकों का आर्तनाद अट्टहास करता दिखाई पडता। यह व्यक्ति कृषक-जीवन की कठिनाइयाँ दूर करने में फकीर हो गया, यातनायें सहीं, सम्पत्ति स्वाहा कर दी, सिद्धान्त में टस से मस न हुआ। पर पतन का आकर्षण, विनाश और पाप के घूँघट मे ऐसा निर्बाध हो रहा था कि इस फकीर की आवाज उस समय वातावरण मे एक गहरी चोट करके विलीन हो गई।

परिस्थिति ऐसी थी कि चारो ओर निराशा ही दीख पडती थी। टाल्सटाय का आदर्श, निराशा की चोटों मे झूल रहा था—जीवन-व्यापी वेदना उसे झुला रही थी। भाव-प्रवण हृदय, मानवता के स्नेह मे डूबा हुआ था, जब निराशा ने गूढ वेदना को जगा दिया, कला की कलियों का चटखना स्वाभाविक था। पराग के कोष विकल होकर अपनी भाषा मे बोलने लगे, सुगन्ध छिटकने लगी। १८६० ई० के बाद का समय इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। १८६३ में 'युद्ध और शांति' तथा १८७१ में 'अन्ना करेनिना' नामक उपन्यास लिखे गये। ये दोनो इस महान् लेखक के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास समझे जाते है। इनमे समाज के पुनर्निमाण की जो व्याख्या की गई है— उसके मूल उपकरणो का जैसा गूढ विश्लेषण किया गया है वह अभूतपूर्व है। इन ग्रन्थो ने समाज में हलचल मचा दी और यह हलचल 'मेरा धर्म', 'रिजरेक्शन' तथा 'मालिक और मनुष्य' नामक पुस्तकों के निकलने के बाद तो बहुत बढ़ गई। इन उपन्यासो एव पुस्तकों मे टाल्सटाय ने मनुष्य और शक्ति (नैतिक विकास और भौतिक महत्वाकांक्षा) के मूल संघर्ष के जो चित्र खीचे है, समाज और सभ्यता की जिन जटिल समस्याओं का विश्लेषण किया है, वे आज भी ज्यों-की त्यों बनी हैं। जनता की जिस असहाय अवस्था और दीनता ने टाल्सटाय के दिल पर वह घाव किया, जो मनुष्यता की सर्वोत्कृष्ट उपज है, वह आज भी उसी प्रकार बनी हुई है। टाल्सटाय ने समाज की इन समस्याओ को हल करने की चेष्टा अपनी रचनाओं मे की है। इन विचारों का आधुनिक ससार के मस्तिष्क पर जो प्रभाव पड़ा है, वर्तमान रूस उसका एक उदाहरण है।

कला की दुनिया में भी टाल्सटाय के क्रांतिकारी विचार अमर रहेगे। उनकी रचनाओ मे कला का एक अपूर्व तेजोमय एव शान्त रूप विकीर्ण हुआ है। बहुत से लोग उन्हे ससार का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास-लेखक मानते है। इसमे तो संदेह नहीं कि वे ससार के दो तीन महान् उपन्यास-लेखकों में एक थे। उनकी रचनाओं से कितनी शांति मिलती है, कितना प्रकाश अन्दर पहुँचता है!

मनुष्य के दु:खो के पीछे पागल, इस फकीर, दुनिया के इस गूढ विचारक और महान् लेखक के कुटुम्ब के बच्चे आज भूखो मर रहे है! मानव-हृदय की कृतघ्नता का यह एक रोमाचकारी दृश्य है। विगत १० सितम्बर को इस महान् लेखक की शतवार्षिक जयन्ती मनाई गई और इस अवसर पर रूस मे कुछ धन भी एकत्र किया गया। लण्डन के कतिपय थियेटरो ने उनके उपन्यासों के आधार पर लिखित नाटकों का अभिनय कर उसकी आमदनी पीडित कुटुम्ब को प्रदान करने का निश्चय किया है। जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन मनुष्यता की वेदी पर चढा दिया था, जो साहित्य-कला की दुनिया मे अपना जोड नहीं रखता, उसकी स्मृति के प्रति यह कृतघ्नता बीसवी शताब्दि की दुनिया मे ही संभव है!

* * *

शरत्चन्द्र

आधुनिक भारतीय साहित्य-जगत् मे कदाचित ही किसी अन्य लेखक या कवि ने पाठकों के हृदय पर इतनी शीघ्रता से अधिकार किया होगा, जितनी जल्दी शरत् बाबू ने किया। केवल १५ वर्ष के अन्दर बंगाल का प्रत्येक पाठक उनके जादू का, उनकी करुण लेखनी का कायल होगया। एक दिन में एक छोटी कहानी ने—जो 'यमुना' नामक एक

बहुत साधारण पत्रिका में निकली थी—उन्हें बंगला-साहित्य में प्रसिद्ध कर दिया था। प्रतिष्ठित बंगाली लेखकों में शरत् बाबू पहले आदमी हैं जिन्हें प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ा !

१८९८ ई० में, जब वे केवल २२ वर्ष के थे, 'भारती' में कल्पित नाम से उन्होंने 'बड़दीदी' नामक प्रसिद्ध कहानी लिखनी आरम्भ की। इस कहानी ने लोगों में हलचल मचा दी। प्रत्येक आदमी ने यही समझा कि रवीन्द्रनाथ ही नाम बदल कर लिख रहे हैं। १९१२ में 'रामेर सुमति' कहानी निकली। यह कहानी उनके नाम से ही निकली थी और इसने एकाएक साहित्य क्षेत्र में उन्हें बहुत ऊँचा उठा दिया।

शरच्चन्द्र ने अपने जीवन और अपनी रचनाओं—दोनों—में प्रेम का जो आदर्श ग्रहण किया है, वह अनूठा है। पतित और परित्यक्त के लिए उनके हृदय मे असीम वेदना है। इस सम्बन्ध में उन्होने जो मनोवैज्ञानिक चित्र खींचे हैं, उनमें इतनी करुणा, इतना नशा और इतनी सहानुभूति है कि पढ़ते-पढ़ते पाठक के हृदय में विशुद्ध मानवी स्वर्ग उत्पन्न हो जाता है। वे यह नहीं मानते कि परिस्थिति, प्रलोभन या गलतफहमी के कारण जो पतित हो गया, उसका नैतिक मूल्य एकाएक नष्ट हो जाता है। एक बार सीढ़ी से फिसलकर किसी कुलवती के वेश्या हो जाने से उसमे स्त्रीत्व के सम्पूर्ण सुन्दर उपकरणों का अभाव हो जाता है, इसे वे नहीं मानते और यह सत्य ही उनके अन्दर अनन्त सहानुभूति और पाठक के भीतर क्रान्तिकारी हृदयोद्वेलन की सृष्टि करता है। एक वेश्या, वेश्या होकर भी अपने हृदय की उच्चता में एक कुलवती को लज्जित कर सकती है, इस सत्य को उन्होंने अपनी रचनाओं में बड़ी दूर तक ग्रहण किया है। वैष्णव-धर्म की सहृदयता उनमे ओत-प्रोत है।

शरच्चन्द्र ने स्त्री पात्रों के चित्रण में तो कमाल कर दिया है। बिंदु, नारायणी, रामा, किरण और सावित्री सब अपने-अपने रंग मे अद्भुत हैं। मुझे याद है कि बड़ी-दीदी और चरित्रहीन पढ़ते-पढ़ते मुझे उस अद्भुत नशा का अनुभव हुआ था, जो बहुत दिनों तक सवार रहता है। देवदास में विष और अमृत का कैसा विचित्र संयोग हुआ है ! प्रेम के अनेक आदर्शों का चित्रण शरच्चन्द्र की विशेषता है। प्रेम की वह विरक्ति कैसी अद्भुत है, जिसकी याद 'श्रीकांत' का यह वाक्य दिला रहा है—"बड़ प्रेम शुधू काछेइ टाने ना—इहा दूरेउ ठेलिया फेले।"

मेरी सम्मति में 'रामेर सुमति' उनकी सर्वोत्तम छोटी कहानी और 'श्रीकांत' सर्वोत्तम उपन्यास है। बड़ दीदी, चरित्रहीन, अरक्षणीया, परिणीता और पथेरदावी ऐसी रचनायें हैं जो सैकड़ों वर्षों तक पढ़ी जायँगी।

विगत १५ सितम्बर को इस महान् कलाकार की ५३ वीं वर्ष-गाँठ थी। अतएव इन पंक्तियों के साथ हम भारती के इस अमर पुत्र को प्रणाम करते हैं।

पाठकजी का देहावसान

विगत १३ सितम्बर को मसूरी मे प्रातःकाल खड़ी बोली की कविता के आचार्य प० श्रीधर पाठक का ६८ वर्ष की अवस्था मे देहावसान हो गया। पाठकजी बहुत दिनों से पीड़ित थे, पर किसीने यह न सोचा था कि उनका रोग उनके जीवन के साथ ही जायगा। उनके उठ जाने से हिन्दी-जगत् में जो अभाव हो गया है, उसकी पूर्ति कठिन है। उनकी 'देहरादून-यात्रा' के बरवै छंद आज याद आ रहे है, एकांतवासी योगी का 'कहाँ जलै है वह आगी' तथा तत्सम्बन्धी विवाद की स्मृति विकल कर रही है। 'डेजर्टेड विलेज' तो भूल गया पर 'ऊजड़ ग्राम' की याद ताजा है। उनका 'जय जय प्यारा भारत देश' कानों मे गूँज रहा है।

उनकी दुःख-विभोर पत्नी, शोक-संतप्त पुत्रों और व्यथित पुत्री को—जो स्वयं एक भावुक कवयित्री हैं—हम कैसे सान्त्वना दें ? भगवान उनके दुःख मे उन्हें शांति दे। हम उनके इस दुःख में उनके साथ हैं।

प्रगतिशील हिन्दी-साहित्य

सम्पूर्ण विश्व के साहित्य मे आज जो उथल-पुथल हो रही है, जो संघर्ष चल रहा है, उसने साहित्य-कला मे एक नवीन प्राण का आविर्भाव किया है। हिन्दी-साहित्य भी

उससे अछूता नहीं, अन्य कार्य-क्षेत्रों की भांति वह भी इस समय प्रगति, आशा और उत्साह से पूर्ण हो रहा है।

यौवन के उच्छ्वास ने कविता की कली को सुगंध और मधुरिमा का दान किया है। एक लहर चल रही है। इस लहर मे बहने वाले ख्यातनाम लहरियों के अतिरिक्त इधर और भी दो एक सुंदर कवियो के दर्शन होने लगे हैं। इनमें श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' का नाम उल्लेखनीय है।

हिन्दी कविता की वर्तमान धारा के सम्बन्ध मे आजकल खूब चर्चा चल रही है। नवीन हिन्दी कविता के बढ़ते हुए प्रभाव का यह एक लक्षण है। कई कवि नवीन काव्य-साहित्य की श्री-वृद्धि करने में लगे हैं। 'नवीन' ने 'विस्मृता उर्मिला' काव्य हाल मे ही समाप्त किया है, जिसका कुछ अंश 'त्याग भूमि' के इस अक मे अन्यत्र दिया गया है, यह काव्य धारावाहिक रूप मे इसमे निकलता रहेगा। 'प्रसाद' जी आजकल एक महाकाव्य लिख रहे हैं। इसमे प्रलय, सृष्टि, विकास और मनुष्य की मूल आकांक्षाओं का बड़ा सुन्दर चित्रण हो रहा है। मुझे इसका प्रारंभिक भाग सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है और मैं—बिना किसी पक्षपात के कह सकता हूँ कि यह महाकाव्य पूर्ण होने पर नवीन हिंदी कविता का एक आदर्श उदाहरण होगा। कुछ समय पहले 'निराला' जी ने राणा प्रताप के ऊपर एक महाकाव्य लिखने का विचार प्रकट किया था। पता नहीं, इस सम्बन्ध मे उन्होने क्या किया। ऐसे महाकाव्यों की हिंदी मे बड़ी आवश्यकता है। 'गुलाब' ने 'कुरुक्षेत्र' नामक एक महाकाव्य लिखा है। प० रामनरेश त्रिपाठी हाल मे ही कश्मीर गये थे, वहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य और दरिद्रता ने उनकी कल्पना और अनुभूति पर बड़ा प्रभाव डाला है। वहीं 'स्वप्न' नामक एक छोटा काव्य उन्होंने लिखा है। इसका बहुत अधिक अंश मैंने देखा है और मुझे वह एक सुन्दर रचना मालूम पड़ी। इसके कुछ छंद इस पत्रिका की पिछली एक संख्या मे छप चुके हैं और इस अंक मे भी अन्यत्र 'रणकी ओर' कविता इसी से लेकर दी गई है।

गद्य की दुनिया में भी बड़ा काम हो रहा है। श्री इलाचन्द्र जोशी के जिस उपन्यास के सम्बन्ध में मैंने विगत अक मे लिखा था, वह पूर्ण हो गया है। इसका नाम 'परदेशी' है और 'माधुरी' में इसका छपना भी आरम्भ हो गया है। जोशीजी ने इसे विकल होकर लिखा है और यह निश्चय है कि उनके संवेदनशील हृदय की बड़ी सुन्दर उपज, इस उपन्यास मे मिलेगी। 'उग्र' का 'इन्द्र धनुष' भी एक अच्छी चीज है। सुमित्रानन्दन जो नाटक लिख रहे है, वह नवम्बर तक तैयार होगा। 'बिहार के नवयुवक हृदय' नाम की एक पुस्तक इधर निकली है। इसमें बिहार के नवयुवक कवियो की जीवनी और कवितायें दी गई हैं। यह एक अच्छा ढङ्ग है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, जो नाटक लिख रहे थे, वह पूर्ण हो गया है। एक और मित्र विश्व-साहित्य के विकास पर एक गवेषणापूर्ण ग्रन्थ लिख रहे हैं। कर्मवीर सुन्दरलाल जी 'ब्रिटिश भारतीय शासन' का एक विशद इतिहास मेजर बसु की पुस्तकों के आधार पर तैयार कर रहे है। 'कर्मवीर' के श्री आगरकर ने भी इस विषय पर एक पुस्तक लिखी है। सस्ता-साहित्य-मण्डल से 'समाज-विज्ञान' नामक एक बड़ा ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। मादक वस्तुओं के सम्बन्ध मे 'शैतान की लकड़ी' नामक मनोरंजक पुस्तक लगभग छप चुकी है। हिन्दी के मासिक और साप्ताहिक भी पारस्परिक प्रतियोगिता मे पड़कर प्रगति के पथ पर दौड़ रहे हैं। कलकत्ता से सामाजिक आंदोलन करने के उद्देश्य से मासिक 'नवयुग' निकला है। काशी विद्यापीठ से मनीषी-प्रवर श्री भगवानदास और इतिहासज्ञ श्री नरेन्द्रदेव एम० ए० के सम्पादन मे त्रैमासिक 'विद्यापीठ' निकलने वाला है। 'लीडर' प्रेस प्रयाग से साप्ताहिक 'भारत' निकला है। यह एक सुरुचिपूर्ण पत्र है और साहित्यिक बातों में भी भाग लेता है। नागपुर का अस्त अर्द्ध साप्ताहिक 'प्रणवीर', बम्बई से पुन निकला है।

श्री रामनाथलाल 'सुमन'

[नोट—प्रत्येक अक मे प्रगति की ऐसी संक्षिप्त सूचनाएँ देने का प्रबन्ध किया गया है। आशा है मेरे स्नेही मित्र और कृपालु लेखकगण अपनी महत्वपूर्ण अप्रकाशित रचनाओं के सम्बन्ध मे समय-समय पर सूचित करते रहेंगे। **'सुमन'**]

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है। एक प्रति आने पर आलोचना न हो सकेगी । प्रत्येक पुस्तक का साहित्य-सत्कार तो उसी अंक में हो जाया करेगा—आलोचना, यदि हुई तो, सुविधानुसार बाद मे होगी ।]



आरोग्य-मन्दिर

(संकलयिता—श्री प्रवासी लाल वर्म्मा—प्रकाशक—श्री हनुमानप्रसाद शर्म्मा, वैद्य शास्त्री, अध्यक्ष 'महाशक्ति-साहित्य-मंदिर' बुलानाला, बनारस सिटी । पृष्ठ-संख्या [illegible]०, मूल्य [illegible])

भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न समय में लिखे गये स्वास्थ्योपयोगी उत्तम-उत्तम लेखों का विस्तृत संग्रह इसमें बड़े अच्छे ढंग से किया गया है । ८४ निबंध इसमें संग्रहीत हैं और सभी जीवन-यात्रा के सच्चे साथी है और जीवन-प्रवाह को विपथ मे बचा कर सुपथ पर ले जाने वाले हैं। आबाल-वृद्धों को यह पुस्तक उपयोगी है । हिन्दी-साहित्य मे स्वास्थ्य-विज्ञान-विषयक ऐसी पुस्तकों की परम आवश्यकता है। इसके सुन्दर और मोहक भाषा में लिखे गये स्वास्थ्य-हितकारी लेखो का रोचक प्रभाव चित्त को आकर्षित करता है। स्वास्थ्य-विज्ञान की उत्तमोत्तम बातें सरल और रोचक भाषा मे प्रकट करने वाले उत्तम विद्वानों के अमूल्य लेख बड़े परिश्रम के साथ संग्रहीत करके इस पुस्तक मे रक्खे गये हैं। साधारण जन भी इसे पढ़ कर स्वास्थ्य-विज्ञान के निगूढ़ विषयों को सुगमता से समझ सकते और अपना जीवन सुखी बना सकते हैं । गुजराती, मराठी बङ्गला आदि भाषाओं में ऐसी पुस्तकें बहुत सी लिखी गई हैं, किन्तु राष्ट्र-भाषा हिन्दी मे तो ऐसी पुस्तकों का अभाव ही सा है। इस क्षति को पूर्ण करने मे 'आरोग्य-मंदिर' सहायक होगा ।

ब्रह्मचर्य, स्वपत्नी-व्यभिचार, नवजात बच्चों को अकाल मृत्यु से बचाने के उपाय, इत्यादि कई-एक विषय अनुभव-पूर्ण हैं और सुन्दरता से लिखे गये हैं । इनके पढ़ने से बड़ी शिक्षा मिलती है और अपना तथा स्वजनों का पहला सुख प्राप्त होता है । कुछ वनस्पतियों के गुण भी उम्दा ढंग से वर्णित किये गये हैं।

हमारी सम्मति में इस पुस्तक में यदि जल-वायु, आहार-निद्रा, आदि स्वास्थ्य-विज्ञान के विषयों का प्राचीन और अर्वाचीन पद्धति से पूरा वर्णन किया जाय तथा भारत के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्वास्थ्य-वर्द्धक, काश्मीर, आबू, बीकानेर, हृषिकेश आदि स्थानों के गुणो का वर्णन ऋतु-प्रकृति और रोगानुसार दिखलाया जाय, शरीर-ज्ञान में यकृत् की तरह आमाशय, हृदय, मूत्र-ग्रंथि, मस्तिष्क का स्वल्पवर्णन, और रोगों की प्रारम्भिक चिकित्सा पर भी कुछ प्रकाश डाला जाय, उपदंश आदि संक्रात्मक रोगों के भयंकर परिणाम और उनसे बचने की महत्ता तथा रक्त प्रदर, सोम आदि सर्वनाशकारी स्त्री-रोगों का वर्णन और प्रतीकार आदि आवश्यक कुछ विषय और सम्मिलित कर दिये जायँ तो इस उत्तम ग्रंथ की उपयोगिता बहुत बढ़ जायगी ।

जल्दी के कारण, जैसा कि संकलयिता ने भी लिखा है, इसके संकलन और संशोधन में कुछ त्रुटियाँ अवश्य रह गई हैं, परन्तु आशा है कि द्वितीय संस्करण में वे दूर हो जायेंगी ।

इसमें प्रमेह आदि रोगों का उत्तमतया दिग्दर्शन करा कर सरल, अचूक और बड़े अच्छे अनुभूत उपाय लिखे गये हैं ।

वैद्य लक्ष्मीनारायण शर्मा

कर्म-शिक्षा

लेखक—'हिन्दी-भूषण' श्री रामलोचन शर्मा 'कंटक'। प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य कार्यालय, लहेरिया सराय, दरभंगा। पृ० सं० ६२, मूल्य ।), छपाई-सफाई अच्छी और कागज बढ़िया है।

'कंटक जी बिहार के एक होनहार नवयुवक लेखक हैं। 'कर्म-शिक्षा' आपकी एक छोटीसी कृति है। पुस्तिका का विषय उसके नाम से ही स्पष्ट है। 'कर्मणो गहना गतिः' यह उक्ति सुप्रसिद्ध है ही। ऐसी दशा में 'कर्म' शब्द की प्रामाणिक व्याख्या और उसकी व्यापकता का विवेचन साधारण कोटि के मनुष्यों का काम नहीं।

मनुष्य-जीवन कर्म-मय जीवन है। जिस मनुष्य में कर्म-परायणता है, कर्म करने की शक्ति और उत्साह है उसी मनुष्य का जीवन सार्थक कहा जा सकता है। मनुष्यों के विशाल समुदाय की संयुक्त बस्ती का दूसरा नाम राष्ट्र है। जैसे अकेले मनुष्य-जीवन की सार्थकता के लिए कर्मशीलता ज़रूरी है, वैसे ही राष्ट्रीयता और राष्ट्र-जीवन को सफल, सुन्दर और श्रेष्ठ बनाने के लिए राष्ट्र के प्रत्येक स्त्री पुरुष, का कर्त्तव्य-परायण और कर्मयोगी होना अनिवार्यतः आवश्यक है। भारतवर्ष एक राष्ट्र कहलाता है, पर हमारे दुर्भाग्य से, हमारी घोर अकर्मण्यता के कारण हमारा देश पराधीन है। पराधीन-देशों के लिए 'राष्ट्र' शब्द का उपयोग करना उनकी मीठी चुटकी लेना है। अस्तु

अकर्मण्य भारत को पुनः कर्मण्य बनाकर उसे एक संयुक्त राष्ट्र बना देना भारतीय नवयुवकों का ही काम है। इस दृष्टि से श्री० 'कंटक' जी की इस पुस्तिका—कर्म-शिक्षा—का हम स्वागत कर सकते हैं। देश की उन्नति के लिए स्वयं कर्मण्य बनकर अपने भाई-बहनों को भी कर्मण्य बनने की सलाह देना प्रत्येक देश-प्रेमी नवयुवक का कर्त्तव्य है। लेकिन वह सलाह ऐसी हो कि सुनते ही दिल में पैठ जाय, अन्तस्तल में खलबली मचा दे, नसों में बिजली चमका दे। देश तो इसी बात की अपेक्षा करता है।

इस दृष्टि से श्री० 'कंटक' जी का प्रस्तुत प्रयत्न प्रशंसनीय भले ही हो, सफल तो नहीं कहा जा सकता। विषय-प्रवेश, कर्त्ता की स्वतन्त्रता, कर्त्तव्यता का लक्षण, कर्म के प्रकार-भेद, परिवार सम्बन्धी कर्म, हिन्दू-धर्म, और कर्म का उद्देश्य, इत्यादि १० प्रकरणों में पुस्तिका समाप्त होती है। विषय-विभाजन तो अच्छा है। लेकिन जिन शब्दों और जैसी भाषा में इन भिन्न-भिन्न विषयों का लेखक ने विवेचन किया है, उससे हमें सन्तोष न हो सका। जब 'कविकिंकर' जी के शब्दों में पुस्तिका का उद्देश्य 'नवयुवक समाज' को उसके 'कर्तव्य-पथ के निर्धारित' करने में मदद देना और उनके 'जीवन' को 'अधिकांश में सफल और उपयोगी' बनाना है, तो हमारी राय में श्री 'कंटक' जी को पुस्तिका के विषय का विवेचन, अधिक सुलझी हुई, ललित, प्रसाद-पूर्ण और बामुहावरा भाषा में करना चाहिए था। कर्म-शिक्षा के आरंभ के ४ प्रकरण और अन्त के दो प्रकरण बड़ी उलझी हुई भाषा में लिखे गये हैं। इससे या तो लेखक की अपने विषय को सुलझे हुए रूप में रखने की असमर्थता प्रकट होती है या पुस्तक की उद्देश्य-सिद्धि के सम्बन्ध में थोड़ी अदूरदर्शिता।

फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही चाहिए कि लेखक 'बाबा वाक्य प्रमाणम्' के हामी नहीं हैं। उनकी लेखनी से जगह-जगह, सुधार-प्रियता, उदारता और सहृदयता व्यक्त होती है और इस दृष्टि से कई त्रुटियों के रहते हुए भी पुस्तिका सामयिक कही जा सकती है। यह इस पुस्तिका का दूसरा संस्करण है, आशा है तीसरे संस्करण में कंटक जी पुस्तिका में से ऐसे ऐसे वाक्य निकाल कर दूसरे सरल-सुन्दर और छोटे वाक्य उनकी जगह रखेंगे—

'महापुरुषों के आचरित आचरण जाने रहने से ही यथेष्ट न होगा।"। पृ० ७—अन्तिम पंक्तियां।

'सारांश निकला कि आत्म तृप्ति की अपेक्षा परार्थ तृप्ति की कामना करना, सृष्टि के बहुसंख्यक प्राणियों की हितलिप्सा पर ध्यान देते हुए आचरण करना एवं आत्मानुभूनकृत व्यवहार पर ध्यान देते हुए अपने विनिमयार्थी प्राणियों के साथ व्यवहार करना कर्त्तव्य-कर्म के अन्तर्गत परिगणित है।'

पृ० ८—९

आशा है, इन और भाषा की दूसरी त्रुटियों के दूर होते

तथा कर्म सम्बन्धी अधिक गम्भीर प्रौढ़, और समयानुकूल सिद्धान्तों के आते ही पुस्तिका सर्वसाधारण के लिए अधिक उपयोगी हो सकेगी।

अहिल्याबाई

लेखक—श्री जटाधरप्रसाद शर्मा मिश्र 'विकल'। प्रकाशक—वही। पृष्ठ संख्या ६४, मूल्य ।)

स्वर्गीया महारानी अहिल्याबाई का जीवन, भारत की एक सती-साध्वी वीरांगना का तप, त्याग और सेवामय पवित्र जीवन का अनूठा उदाहरण है। अपने जीवन-काल में उन्हें जिन हृदय-विदारक और दारुण शोकोत्पादक कष्टों का सामना करना पड़ा उनकी याद आते ही इन देवी के अनुपम धैर्य, अद्वितीय साहस की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है। उनके अलौकिक गुणों के कारण मालवे की प्रजा उन्हें साक्षात् जगदम्बा का अवतार मानती है और लगभग १५० वर्ष बीत जाने पर भी वहाँ के समाज में उनके लिए यही पवित्रभाव अब भी विद्यमान है। उन्होंने अपनी प्रजा में अपने मृत, पुत्र-पुत्री, तथा जामाता की छबि देखी थी, अत वे उसे पुत्रवत् पालती थीं। इसी कारण मालवे के स्त्री-पुरुष आज भी इन स्वर्गीया महारानी को 'अहिल्या माता' के आदर, श्रद्धा और ममत्व-सूचक शब्द द्वारा याद करते रहते हैं। सचमुच इन तेजोमयी सती-साध्वी देवियों के कारण ही हमारी भारत माता आज भी इतनी पवित्र और सुसंस्कृत रह सकी है। निःसन्देह ये देवियाँ धन्य थीं—इनके चरित्र की कथा हमारी नसों में स्फूर्ति पैदा करती और हमें उन्नत बनाती है।

ऐसी अ-सामान्य देवी का चरित्र लिखकर श्री 'विकल' जी ने हिन्दी-जगत् का उपकार ही किया है। पुस्तक की भाषा सरल और रोचक है। हमने देवी अहिल्याबाई के और भी चरित्र पढ़े हैं लेकिन श्री 'विकल' जी की इस कृति में कुछ अनूठापन है। उनकी यह पुस्तक एक विशेष उद्देश्य को लेकर लिखी जान पड़ती है। हमें इसमें कई ऐसी बातें पढ़ने को मिलीं जो एक दम नई और देवी जी के प्रति अत्यधिक श्रद्धा उपजाने वाली हैं। पुस्तक बालक बालिकाओं के लिए तो उपयोगी है ही, हमारे खयाल में बड़े-बूढ़े भी उसे पढ़कर नई बातों से परिचित हो सकते हैं।

पुस्तक की छपाई-सफ़ाई, आकार-प्रकार, रूप-रंग इतना अच्छा, आकर्षक और सुरुचिपूर्ण है कि उसके लिए प्रकाशक को जितना प्रोत्साहित किया जाय उन्हें जितनी बधाई दी जाय थोड़ी है।

हम पुस्तक का अधिक से अधिक प्रचार चाहते हैं।

दुलहिन

लेखिका—श्रीमती चन्द्रमणि देवी। प्रकाशक—वही। पृ० सं० ५६, मूल्य ।)

इस पुस्तक में एक नवविवाहिता वधू को उसके भावी जीवन के लिए जितनी अच्छी सीख दी जा सकती है, सब का बड़े ही रोचक ढंग से समावेश किया गया है। इसे पढ़ते समय एक कहानी पढ़ने का आनन्द आता है। भाषा सरल और बामुहाविरा है। कहीं-कहीं प्रान्तीय शब्दों का उपयोग हुआ है, पर वह बहुत थोड़ा। अतः उसके कारण पुस्तक की उपयोगिता को कोई क्षति नहीं पहुँचती।

हमारी राय में कोई भी अल्प-शिक्षिता अथवा अशिक्षिता बहन इस पुस्तक को पढ़कर किंवा अपने आत्मीयों से पढ़वाकर भावी घर-गृहस्थी के कर्त्तव्यों को भली-भाँति समझ सकेगी। प्रचार-दृष्टि से ऐसी पुस्तकें और भी मूल्यवान् और उपयोगी जान पड़ती हैं।

छपाई-सफाई आदि के सम्बन्ध में प्रकाशक जी ने जो ढंग अपनाया है वह सर्वथा स्तुत्य और अभिनन्दनीय है।

सावित्री

लेखिका—स्वर्गीया श्रीमती शिवकुमारी देवी। प्रकाशक—वही। पृ० सं० ४२, मूल्य ।)

प्रातःस्मरणीया भगवती सावित्री देवी का पुण्य-पावन चरित्र किस भारतीय स्त्री-पुरुष से छिपा है? इन और ऐसी ही दूसरी महिमामयी देवियों के चरित्रों में कुछ ऐसा अनूठापन, ऐसी नित-नई नूतनता रहती है कि उन्हें लगातार पढ़ते जाइये, आपको थकावट मालूम ही न होगी। रामायण, महाभारत, गीता आदि महाकाव्यों को बार-बार पढ़ने पर

भी जिस तरह पाठकों का दिल अघाता नहीं उसी तरह महापुरुष और साध्वी महिलाओं का पुण्य-चरित्र उन्हें नित्य-प्रति नई स्फूर्ति और नये उत्साह से भर देता है। मनुष्य-स्वभाव की रचना ही कुछ ऐसी विचित्र है कि उत्तम संस्कारों के प्रति उसकी भावनाओं का स्रोत अपने आप प्रबल होता चला जाता है और नई नई कल्पना-तरंगें उसमें से उठने लगती हैं।

प्रस्तुत चरित्र को पढ़कर हमारी यह भावना और भी दृढ़ हुई है। इसकी लेखिका स्वर्गीया शिवकुमारी देवी, मालूम होता है, छोटी उम्र में ही गोलोकवासिनी हुई हैं, और श्री रामधारीप्रसाद सिंह के शब्दों में आप ही पहली बिहारी महिला हैं जिनकी रचना पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो सकी है। पुस्तक को एक बार पढ़ जाने पर इन देवी की अकाल मृत्यु और अधिक खटकने लगती है और उसके खास कारण हैं।

जिस ढंग से इन देवी ने भगवती सावित्री के चरित्र को अपने पाठकों के सम्मुख रखा है वह बड़ा ही हृदय-ग्राही युक्ति-सम्मत और कल्पना से परिपूर्ण है। 'सावित्री' पढ़ कर हमारी यह धारणा होती है कि स्वर्गीया शिवकुमारी देवी में सफल लेखिका होने के बहुत से गुण विद्यमान थे। वह एक अच्छी उपन्यास-लेखिका हो सकती थीं। प्रस्तुत पुस्तक में सावित्री के पातिव्रत, तप, त्याग, संयम, सेवा, और साहसिकता का, महाराजा अश्वपति के धर्म-प्रेम और दूसरों के नियम में भंग न डालने की वृत्ति का, तथा मद्र देश की प्रजा की निस्सीम राजभक्ति का जिस अनूठे कौशल से इस देवी ने वर्णन किया है, उससे उनकी उदीर्णमान कल्पकता और धर्म-बुद्धि का अच्छा परिचय मिलता है। पुस्तक की भाषा सरल और रोचक है और इस सम्बन्ध की दूसरी पुस्तकों के मुकाबले में हमें यह अधिक उपयोगी जँची है। हम इसका अधिकाधिक प्रचार चाहते हैं।

छपाई सफ़ाई पूर्ववत् और अच्छी है।

दानव्यवस्था

लेखक—पण्डित वृद्धिचन्द्र गुप्त, भिवानी। प्रकाशक—चन्द्र-लाल वर्म्मा 'चन्द्र' भिवानी। पृ० सं० ३१, मूल्य लिखा नहीं।

पुस्तक का विषय उसके नाम ही से स्पष्ट है। पुस्तिका सामयिक है और लेखक के देश-प्रेम तथा सुरुचि की द्योतक है। देश के निर्धन होते हुए भी हमारे कई भोले-भाले भाई बहन पात्र-अपात्र में अपनी गाढ़ी कमाई का पैसा देते नहीं सकुचाते-बल्कि इसी में पुण्य समझते हैं। ऐसे ही भाई-बहनों के भ्रम को मिटाने के लिए लेखक का यह प्रयास है। है। इसमें 'दान किसको देना चाहिए, कौन पात्र है और कौन अपात्र ?' इत्यादि बातों के सम्बन्ध में पुराणों तथा प्राचीन स्मृतियों के आधार पर सरल भाषा में सन्तोष-प्रद प्रकाश डाला गया है।

कुल ३१ पृष्ठों में ८ पृष्ठों की भूमिका और २२ पृष्ठों में मूलविषय का विवेचन है। इस छोटीसी पुस्तिका में इतनी लम्बी भूमिका कुछ अनावश्यक-सी है। पुस्तिका में जगह जगह छापे की अशुद्धियाँ और भाषा सम्बन्धी त्रुटि-याँ भी हैं—जैसे 'दास्ता' 'श्रष्टि', 'दुरावस्था', आदि। इनकी जगह दासता, सृष्टि और दुरवस्था चाहिएँ।

पुस्तिका के अन्तिम भाग में, इस बीसवीं शताब्दि के भारत में, राष्ट्रीय दृष्टि से जो लोग या जो संस्थायें दान-पात्र हैं उनका विवेचन है—वह अच्छा है और पाठकों को उससे लाभ उठाना चाहिए। लेखक की राय में आजकल राष्ट्रीय विद्यालय, धार्मिक विद्यालय, गोशालायें, दातव्य औषधालय, मन्दिर, धर्मशालायें कुएँ, स्त्री-शिक्षा, और विधवायें मुख्यतः दान पात्र हैं—उनकी इस राय से हम भी सहमत हैं।

पुस्तिका संग्रहणीय है। हम उसका प्रचार चाहते हैं।

काशीनाथ त्रिवेदी

ब्रह्मचर्य शिक्षा

लेखक—श्री रामलोचन शर्मा 'कंटक'। प्रकाशक—साहित्य कार्यालय लहेरियासराय, दरभंगा। पृष्ठ संख्या २४८ मूल्य ||=)

पुस्तक का विषय नाम से ही स्पष्ट है। इस में ब्रह्म-चर्य की प्राचीनता ब्रह्मचर्य से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति, बालक और ब्रह्मचर्य, वीर्य और उसका महत्व, वीर्य-नाश के कुपरिणाम और वीर्य रक्षा के नियम आदि ब्रह्मचर्य सम्बन्धी बहुत सी उपयोगी बातें बताई गई

है। पुस्तक सर्व साधारण के लिए उपयोगी है। भाषा सरल है।

कृष्ण

लाठी-शिक्षक (सचित्र)

लेखक व प्रकाशक--श्री यज्ञदत्तजी जास्टड, गोल्ड मडलिस्ट लाठी-मास्टर राजपूत बोर्डिङ्ग हाउस तथा डागा महाविद्यालय अजमेर। पृष्ठ संख्या ८०, मूल्य १)

लाठी सीखने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक बड़े काम की है। इसकी लेखन-शैली भी ऐसी है जिसे साधारण विद्यार्थी ठीक तरह समझ सकते हैं। विषय को और भी सुबोध और सरल बनाने के लिए लगभग ३९-४० रेखाचित्र भी दिये हैं। अंत में लाठी के 'आर्डर्स' भी दिये गये हैं। लेखक ने पुस्तक को उपयोगी और सुन्दर बनाने में परिश्रम किया है। पुस्तक राव साहेब श्री खरवा नरेश को समर्पित की गई है। छपाई सफाई सुन्दर है।

मा० उ०

मेरी आशा

बंगला में स्व० द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों की बड़ी ख्याति है। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं के 'पर पारे' नाटक का अनुवाद है। इसका अनुवाद तो 'उस पार' नाम से पहले भी हो चुका है और वह अच्छा है, पर इसकी भी अपनी कुछ विशेषता है। वह यह कि इसका परिवर्द्धन करके इसे हिन्दी रङ्गमञ्च पर खेलने के उपयुक्त बना दिया गया है और इसमें लेखक श्री शिवरामदास गुप्त ने सफलता भी प्राप्त की है। भाषा और प्लाट दोनों रोचक और सामाजिक शिक्षा से पूर्ण हैं। छपाई-सफाई 'उस पार' जैसी तो नहीं, फिर भी अच्छी है। पृष्ठ संख्या १४० और मूल्य १) रु० है। प्रकाशक है— उपन्यास बहार आफिस, काशी।

मुकुट

साहित्य-सत्कार

अंग्रेजी

1—Seven Months With Mahatmajee लेखक—श्री कृष्णदास प्रकाशक—एस गणेशन एन्ड कम्पनी ट्रिप्लीकेन मद्रास। सजिल्द मूल्य ३॥)

गुजराती

२ अमीबिन्दु, भाग १—सम्पादक तथा प्रकाशक-श्री वेलजी देवराज शाह। पृष्ठ संख्या ८०, मूल्य ।=)॥, इसमें 'भारत अने बीजा काव्यो, पृ० सं० १७' मू०)॥ भी सम्मिलित है।

हिन्दी

३—ऋग्वेदालोचन—लेखक-श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ। प्रकाशक-श्री सत्यव्रत जी शान्ति प्रेस आगरा। पृ० सं० ३०८, मूल्य १॥।)

४—बिहार के नवयुवक हृदय (पद्यभाग)-सम्पादक-श्री ठाकुर मंगल प्रसाद सिंह। प्रकाशक-हिन्दी-साहित्य-कार्यालय लहेरियासराय। पृ० सं० ३०४, मूल्य ३) सजिल्द और सचित्र।

५—रुक्मिणी मंगल (नाटक)—लेखक और प्रकाशक-श्री--पण्डित राधेश्याम कथा-वाचक, राधेश्याम पुस्तकालय बरेली। पृ० सं० १४८, मूल्य ॥।)

६—सरल भारतीयशासन--लेखक-श्री भगवानदास केला। प्रकाशक-श्री व्यवस्थापक भारतीय ग्रन्थ-माला वृन्दावन। पृ० सं० १३२, मूल्य ॥) शिक्षा संस्थाओं के लिए नमूने की प्रति का मूल्य ।=)

७—वीर शिरोमणि महाराणा प्रतापसिंह (सचित्र) लेखक—महामहोपाध्याय रायबहादुर प० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, अजमेर। पृ० सं० ५३, (आकार रायल अठपेजी, मूल्य ॥-)

८—जवानी बनाये रखने के उपाय (खासकर

स्त्रियों के लिए) पहला भाग—लेखक और प्रकाशक-श्री महावीर प्रसाद गहमरी, स्वर्गमाला कार्यालय काशी। पृ० सं० १८८, मूल्य ॥≈)

९—शुद्धि व्यवस्था—लेखक-श्री चिदानन्द सन्यासी प्रकाशक-भारतीय हिन्दी-शुद्धि-सभा दिल्ली। पृ० सं० १२२, मू० ।)

१०-गल्पाञ्जलि—लेखक-पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र' प्रकाशक-श्यामबाबू अग्रवाल, पुस्तक विक्रेता और प्रकाशक शिकोहाबाद, यू० पी०। पृ० सं० ११२, मूल्य ।)

११-आयर्लैण्ड का स्वातन्त्र्य युद्ध (वीर आयरिश क्रान्तिकारी श्री डेनब्रीन की आत्म कथा)—अनुवादक-श्री 'बलवन्त'। प्रकाशक-'प्रताप' कार्यालय कानपुर। पृ० सं० ९९, मू० ।=)

१२-टाल्सटॉय की आत्म कहानी—अनुवादक-श्री उमरावसिंह कारुणिक बी० ए०। प्रकाशक-चौधरी शिवनाथ सिंह शाण्डिल्य, ज्ञान प्रकाशन मन्दिर पो० मछरहट जिला मेरठ। पृ० सं० ८७१ मूल्य ।=)

१३-उपयोगितावाद—अनुवादक वही। प्रकाशक-वही। पृ० सं० १३८, मू० १)

१४-उर्दू कवियों की नीति कवितायें—सग्रह कर्त्ता-श्री शिवनाथसिंह शाण्डिल्य। प्रकाशक-वही। पृ० सं० ६४, मूल्य ।=)

१४-शिल्प-विधान—लेखक-श्री गौरीशंकर शुक्ल 'पथिक'। प्रकाशक-हिन्दी पुस्तक भवन कुक्सबिल्डिंग हरिसन रोड, कलकत्ता। पृ० सं० १०२, मूल्य ॥)

१५ स्टॉक-एक्सचैञ्ज—लेखक और प्रकाशक वही। प्राप्तिस्थान सरस्वती पुस्तकालय ग्वालियर। पृ० सं० २१४, मूल्य १॥)

हिन्दी-साहित्य-कार्यालय, लहरिया सराय की पुस्तकें

उक्त कार्यालय ने हिन्दी के विभिन्न प्रतिष्ठित लेखकों की निम्नलिखित पुस्तकें समालोचनार्थ भेजी हैं—

१—एकतारा, २—अशोक, ३—कामना, ४—मधु-संचय, ५—निर्माल्य, ६—अन्तर्जगत्, ७—बिलाई मौसी, ८—आविष्कार और आविष्कारक, ९—हीरामन तोता, १०—अलंकार चन्द्रिका, ११—जयमाल, १२—माईकेल मधुसूदन, १३—अशान्त, १४—यूथिका, १५—मैत्रीधर्म, १६—सावित्री, १७—अहिल्याबाई, १८—दुलहिन, १९—गुरुगोविन्दसिंह, २०—लाटसिंह, २१—शेरशाह, २२—बालविलास, २३—विपंची, २४—कविरत्न मीर, २५—दागे जिगर, २६—पुरुष परीक्षा, २७—बिहार का साहित्य, २८—सौरभ, २९—बिहारी की सतसई, ३०—देहाती दुनिया, ३१—प्रेमपथ, ३२—नवपल्लव, ३३—भगवान् बुद्ध, ३४—पद्यप्रसून, ३५—नवीन वीन।

पत्र-पत्रिकायें

१—प्रणवीर (सुन्दर हिन्दी-अर्द्ध साप्ताहिक)—सम्पादक और प्रकाशक—श्री भय्यालाल सनीदास। 'प्रताप' के आकार के १६ पृष्ठ। वा० मू० ६), मिलने का पता—प्रणवीर कार्यालय, ३६४, ठाकुर द्वार बम्बई नं० २।

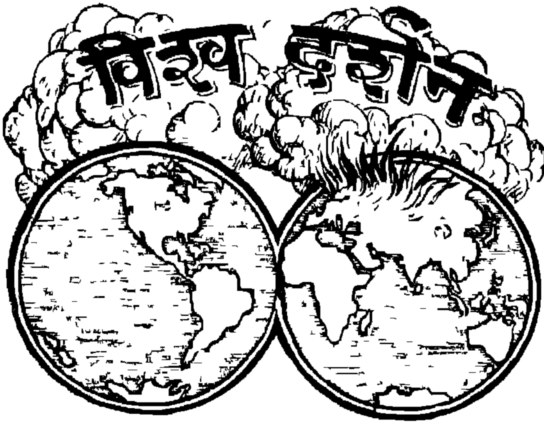
२—भारत (साप्ताहिक)—सम्पादक—श्री वेङ्कटेश नारायण तिवारी। प्राप्तिस्थान—लीडर प्रेस, इलाहाबाद। 'प्रताप' के आकार के २४ पृष्ठ, वार्षिक मूल्य ३॥)

विशेषांक

३—कल्याण (भक्तांक)—सम्पादक—श्री हनुमान प्रसादजी पोद्दार। प्रकाशन स्थान-गोरखपुर। इस अङ्क की पृष्ठ संख्या २४६ और मूल्य २)। वार्षिक मूल्य ४)

४—वीणा (अहिल्याङ्क)—सम्पादक—श्री अम्बिकाप्रसादजी त्रिपाठी। प्रकाशन-स्थान—तुकोगंज इंदौर। इस अंक की पृष्ठसंख्या १०० और मूल्य ॥)वार्षिक मूल्य ५)

५—माधुरी—विशेषांक—सम्पादक—श्री कृष्णबिहारी मिश्र बी० ए०, एल० एल० बी० और श्री प्रेमचन्द। प्रबन्ध सम्पादक—श्री रामसेवक त्रिपाठी। प्रकाशन-स्थान लखनऊ। इस अंक की पृष्ठ संख्या ४००, और मूल्य १॥) वार्षिक मूल्य ६॥)। कई सुन्दर चित्रों से सुसज्जित।



विगत वर्ष का विश्व

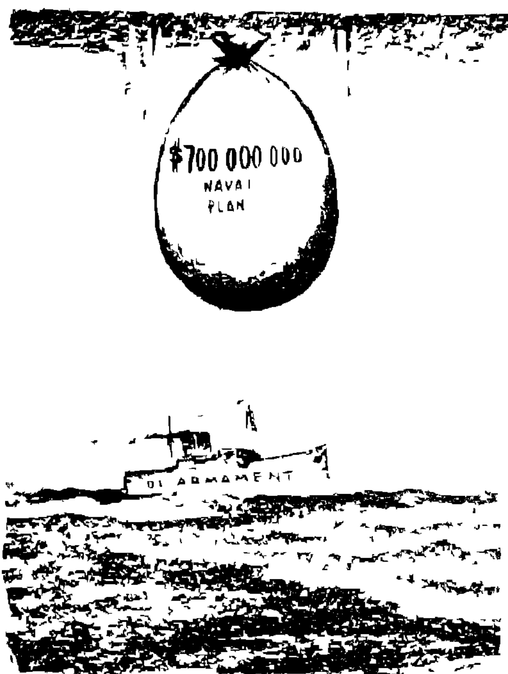
(सिंहावलोकन)

संसार बहुत तेज़ी से विनाश के पथ पर जा रहा है। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दबा कर उस के व्यापार, व्यवसाय और स्वतन्त्रता पर अधिकार करना चाहता है। प्रायः सभी राष्ट्र अपने राज्य-विस्तार की कोशिश कर रहे हैं। प्रायः सभी राष्ट्रों में एक दूसरे के प्रति सन्देह, अविश्वास, ईर्ष्या और घृणा के भाव फैल रहे हैं। कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का उत्कर्ष सहन नहीं करता। प्रबल राष्ट्र कमजोर राष्ट्रों को दबाने का प्रयत्न कर रहे हैं। वस्तुतः संसार की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत भयंकर और विकट होगई है। सभी राष्ट्र अपनी वर्तमान स्थिति से अत्यन्त असन्तुष्ट हैं और सभी जानते हैं कि निकट भविष्य में युद्ध होने वाला है। इसलिए भावी युद्ध के लिए बहुत जोरों से जंगी तैयारियां कर रहे हैं, उनके सैनिक व्यय बहुत बढ़ रहे हैं और हवाई जहाजों, तोपों, जहाजों आदि की संख्या में वृद्धि हो रही है। परन्तु प्रत्येक राष्ट्र यह भी चाहता है कि इस भावी विनाश में मेरा नाम सामने न लिया जाय, कोई मेरी ओर अंगुली उठाकर यह न कहे कि युद्ध में यह प्रधान कारण है। इसलिए वे ऊपर से संधि संधि और विश्वशान्ति का नाम ले रहे हैं।

विश्वशान्ति के प्रयत्न

गत वर्ष इस सम्बन्ध के तीन चार प्रयत्न किये गये। पहले पहल अमेरिका के राष्ट्रपति श्रीयुत कूलिज ने जिनेवा में नौ सेनापरिषद् का आयोजन कर जंगी जहाजों के कम करने का प्रयत्न किया था, परन्तु उसमें उनको इंग्लैण्ड के दुराग्रह के कारण सफलता न मिली। इसीलिए इंग्लैण्ड के प्रतिनिधि लार्ड राबर्ट सैसिल ने त्याग पत्र भी दे दिया था। इस परिषद् की असफलता का परिणाम यह हुआ कि इग्लैण्ड और अमेरिका में परस्पर मनोमालिन्य उत्पन्न होगया और अमेरिका जंगी जहाजों के निर्माण की तरफ जी जान से लग गया। इस सम्बन्ध का दूसरा प्रयत्न रूस के प्रतिनिधि श्रीयुत लिटविनौफ का था। उन्होंने कहा कि सभी राष्ट्र एक साथ ही सेना, जहाज और युद्ध सामग्री कम करने की कोशिश करें और सैनिक शिक्षा भी बन्द कर दी जाय। इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रस्ताव ईमानदारी से किया गया था, परन्तु किसी राष्ट्र ने इस तरफ़ ध्यान नहीं दिया और इस पर विचार ही नहीं हुआ। तीसरा प्रयत्न अमेरिका के श्रीयुत किलौग का पनडुब्बियों के प्रयोग को बन्द करने के सम्बन्ध में था। यद्यपि इंग्लैण्ड इसमें सहमत होगया था, परन्तु फ्रांस, जापान, आस्ट्रेलिया, पेरु आदि राष्ट्रों ने इस आधार पर इसका विरोध किया कि निर्बल राष्ट्रों के लिए पनडुब्बियों के सिवा आत्मरक्षा का कोई सरल तरीका नहीं है।

अन्तिम और सब से मुख्य प्रयत्न जो विश्व-शान्ति के सम्बन्ध में किया गया है, वह है श्रीयुत किलोग का युद्ध-त्याग की नीति स्वीकृत करने का। इसकी 'त्यागभूमि' के कई अंकों में पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है। यद्यपि इस पर इग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, जापान, अमेरिका, जुगोस्लेविया, पोलेण्ड आदि छोटे-बड़े बहुत से राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किये हैं, परन्तु इससे उद्देश्य की पूर्ति में कोई सहायता नहीं मिलेगी, यह भी निश्चित है। एक ओर ये सब राष्ट्र विश्व-शान्ति सम्बन्धी चर्चा कर रहे हैं, दूसरी ओर अपनी-अपनी सैनिक तैयारियों में लगे हुए हैं। अमेरिका ने अपने जंगी जहाजों को बढ़ाने के लिए सत्तर करोड़ डालर की योजना स्वीकृत की है। इग्लैण्ड भी अपने हवाई जहाज और सामुद्रिक जहाज़ बढ़ाने में तत्पर है। सिंगापुर का अड्डा, भारत में पूर्वी और पश्चिमी प्रान्तों पर युद्ध की तैयारियां आदि इग्लैण्ड की आन्तरिक इच्छा को स्पष्ट कर रही है। जापान भी अपनी सेना-वृद्धि में कम कोशिश नहीं कर रहा है। इटली तो अपने



नि शस्त्रीकरण के जहाज पर सत्तर करोड डालर की नौ-सेना-योजना का भयकर बम गिरना चाहता है '

हवाई जहाजों से सूर्य को ढकने की कोशिश कर रहा है। फ्रांस भी भूमध्य-सागर के तट पर नाकेबन्दी की कोशिश कर रहा है। सभी प्रबल राष्ट्र अपने साम्राज्य बढाने के लिए निर्बल राष्ट्रो पर घात लगाए हुए हैं और आत्मरक्षा तथा अपने स्वार्थों की रक्षा के नाम पर गरीबों को कुचलने का अधिकार विश्व-शान्ति के उक्त प्रस्ताव द्वारा अपने पास रखना चाहते हैं। ऊपर से वे शान्ति का नाम ले रहे है, परन्तु भीतर ही भीतर क्रूर उपायों से अपने साम्राज्य की रक्षा का प्रयत्न कर रहे हैं। सयुक्तराष्ट्र, दक्षिणी अमेरिका पर आँख लगाए हुए है। उसके इस मार्ग मे कुछ बाधा उपस्थित करने वाले निकारगुआ पर गोली चला रहा था, जब कि यूरोप मे विश्व-शान्ति का प्रस्ताव उपस्थित कर रहा था। अपने साम्राज्य विस्तार के लिए उसने बृहत् अमेरिकन संघ (Pan American League) को शक्तिशाली बनाना प्रारंभ किया है। विश्वशान्ति के प्रस्ताव का सब से अधिक समर्थक इग्लैण्ड भी उस प्रस्ताव के साथ सहमति दिखाते समय मिश्र को नष्ट करने की धमकी दे रहा था। मिश्र का दोष यही था, कि उसने सार्वजनिक सभाओं की स्वतन्त्रता और सैनिक सघटन का प्रयत्न करना चाहा था। इस समय



इग्लण्ड मिश्र की छाती पर सवार हो उसे कुचल रहा है

वस्तुत. मिश्र पर इग्लैण्ड का फौलादी पजा पडा हुआ है, जिसे हटाने के लिए मिश्र को बहुत अधिक प्रयत्न करना पडेगा। अन्य परतन्त्र देशों के साथ भी उसका बुरा ही सम्बन्ध है। विश्व-शान्ति के प्रस्ताव का एक मुख्य समर्थक जापान भी है। वह भी उसी समय राष्ट्रीय चीन के विरोध मे मचूरिया को अपने हाथ मे रखने के लिए अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग करने लगा था, यद्यपि उसमे उसे पूर्ण सफलता नहीं मिली। उक्त प्रस्ताव पर हस्ताक्षर करने वाले इटली की भी यही हालत है। वहा का मुसोलिनी दूसरा नैपोलियन होने के स्वप्न देख रहा है। उसकी साम्राज्य-लिप्सा इस समय सभी से बढी हुई है, वह एड्रियाटिक समुद्र पर अपना अधिकार करना चाहता है, टर्की के स्मर्ना पर अधिकार कर वह सीरिया की तरफ बढना चाहता है और बलकान राष्ट्रों पर अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता है।

अरब के येमन और अफ्रिका के इरिट्रिया, इटालियन सोमालिलण्ड, और अबीसीनिया के पूर्वी भाग को मिला कर वह ब्रिटिश दक्षिणी अफ्रीका के समान उपनिवेश बनाना चाहता है। राष्ट्-संघ से भी उसने अपनी जनसंख्या की वृद्धि का कारण बता कर उपनिवेशों की मांग की है। वस्तुत उसकी साम्राज्य की भूख बहुत बढ़ रही है। उसके विषय मे 'स्टार' पत्र का यह कथन बहुत ठीक है कि शक्ति के मद में मतवाले नैपोलियन ने अपने जीवन के पागलपन वाले भाग मे भी इतनी स्वेच्छाचारिता का स्वप्न नहीं देखा, जितना आज वह देख रहा है।

जर्मनी भी दबी जबान से इग्लैण्ड की सहायता से अफ्रीका मे पुन उपनिवेश पाने के लिए प्रयत्न कर रहा है। इग्लैण्ड को भी आज ऐसे मित्र-राष्ट्र की आवश्यकता है, जो उसे भावी युद्ध मे सहायता दे, इसलिए वह जर्मनी की इस माग का समर्थन कर रहा है। इस तरह विश्व-शान्ति के प्रस्ताव पर हस्ताक्षर करने वाले सभी प्रबल राष्ट्र अपने साम्राज्य की वृद्धि का प्रयत्न कर रहे हैं, जिसके लिए युद्ध आवश्यक है। एक तमाशा और। एक तरफ यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और उधर इग्लैण्ड और फ्रान्स ने परस्पर सैनिक सहायता पहुँचाने की नयी सन्धि की है। यह सुन कर अमेरिका बुरी तरह बिगडा है। वह भी इसका उत्तर देने के लिए रूस से राजनैतिक संधि करने का प्रयत्न कर रहा है।

इस तरह विगतवर्ष मे विश्वशान्ति के लिए किये गये सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए है। सफल भी कैसे हों जब तक दिलों मे ईर्ष्या और अविश्वास का राज्य है और है दूसरों के अधिकार कुचलने की इच्छा।

अशान्त यूरोप

यूरोप की स्थिति विगतवर्ष मे बहुत अधिक अशान्त और विकट हो गई है। प्रायः सभी राष्ट्रों में परस्पर विद्वेष है। इग्लैण्ड और रूस की परस्पर कलहाग्नि ने बहुत विकट रूप धारण कर लिया है। दोनों एक दूसरे को नष्ट करने के लिए बहुत प्रयत्न कर रहे हैं। इनके इस पारस्परिक कलह का प्रभाव एशिया की राजनीति पर भी पड रहा है। इटली के भी इग्लैण्ड से अच्छे सम्बन्ध नहीं हैं। मुसोलिनी भूमध्य सागर पर अधिकार करना चाहता है। अरब और अफ्रीका मे संयुक्त उपनिवेश बनाने के संबन्ध मे भी दोनों देशों में परस्पर वैमनस्य बढ़ रहा है। राइनलैण्ड और क्षति-पूर्ति के सम्बन्ध में इग्लैण्ड की नीति के कारण जर्मनी भी उससे असन्तुष्ट हो गया है। अभी लार्ड कुशडन ने कहा कि राइनलैण्ड को तो खाली कर देना चाहिए, परन्तु पहले क्षति-पूर्ति का कोई निर्णय हो जाना जरूरी है। इग्लैण्ड की फ्रान्स से भी पूरी तरह नहीं बनती। फ्रान्स को हर समय इग्लैण्ड से भय लगता है कि कहीं वह आक्रमण न कर दे। इसीलिए उसने पनडुब्बियों को नष्ट करने के प्रस्ताव का घोर विरोध किया था। फ्रान्स और इटली का तो परस्पर बहुत मनमुटाव है ही। यह विषम स्थिति उत्पन्न करने में फ्रान्स की सीमा



मुसोलिनी का सर्वग्रासी मुख भीतर सागर लहरा रहा है।

मे इटालियनों की असंतोषजनक स्थिति, लिबिया की दक्षिणी सीमा का झगड़ा, टैंजियर का सवाल, मध्य और पूर्वीय यूरोप-सम्बन्धी भिन्न नीति तथा भूमध्य-सागर संबंधी प्रश्न आदि बहुत से कारण बन गये हैं। इटली के अलबानिया से और फ्रान्स के जुगोस्लेविया से सधि करने के कारण भी दोनों देश परस्पर एक दूसरे से बहुत बिगड गये हैं। फ्रान्स और जर्मनी का तो विद्वेष बहुत समय से चला आ रहा है। फ्रान्स अब भी राइनलैण्ड को छोडने के लिए उद्यत नहीं है। इटली और जर्मनी के भी परस्पर सम्बन्ध पोलैण्ड और लिथुआनिया का निरन्तर रहने वाला कलह, मैसिडोनिया के मामले, जुगोस्लेविया और बलगेरिया आदि का विषम सम्बन्ध, ग्रीस के सैलोनिका बन्दर पर जुगोस्लेविया आदि कई राष्ट्रों की दृष्टि, प्रभृति ऐसी बहुत सी बातें है, जिनसे यूरोप का यह भाग बहुत अधिक अशान्त है। फ्रान्स और इटली ही नहीं, रूस और जर्मनी भी सदा इन राष्ट्रों की स्थितिसे फ़ायदा उठाने की ताक में हैं।

जनता का असन्तोष

अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के उक्त कृष्ण पक्ष के अतिरिक्त



यूरोप-दर्शन—इस चित्र मे यूरोप की वास्तविक दशा चित्रित है। राष्ट्र-संघ में बैठे सदस्य-राष्ट्र गप्पे मार रहे हैं, स्पेन मारक्को को लिये भाग रहा है मुसोलिनी सम्पूर्ण विश्व को अपने हाथ पर लिये है, जकोस्लवाकिया और हैंगरी ने आस्ट्रिया रूपी गधे को काटकर बाँट लिया है। सब अपने घात मे लगे हैं।

अच्छे नही है, कई छोटे-छोटे प्रश्नों पर विवाद चला आ रहा है। विगत वर्ष पोलैण्ड और लिथुआनिया का कलह भी विकट रूप धारण करने लगा था, परन्तु वह शीघ्र ही शान्त हो गया, यद्यपि अन्दर ही अन्दर आग सुलग रही है। बलवान राष्ट्रों की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत अशांत है। जुगोस्लेविया, ग्रीस, रूमानिया, बलगेरिया, अलबानिया और टर्की आदि बलवान राष्ट्र कहे जाते हैं। यहाँ किसी समय भी कोई चिनगारी उडकर सम्पूर्ण यूरोप मे अशान्ति और युद्ध उत्पन्न कर सकती है। रूमानिया की आन्तरिक क्रान्ति, इसका एक उज्ज्वल पक्ष भी है। जहाँ संसार के बड़े-बड़े राष्ट्र विनाश की ओर दौडे जा रहे है, वहाँ बहुत से छोटे-छोटे राष्ट्र अपनी उन्नति के शान्त प्रयत्न मे लगे हैं। जैकोस्लोवेकिया इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। जर्मनी अब अपनी आन्तरिक उन्नति में विशेष रूप से लगा हुआ है। छोटे-छोटे परतन्त्र राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के प्रयत्न में लगे हुए हैं। उनमें परस्पर सहानुभूति और प्रेम है। वे एक होकर सम्राज्यवाद को नष्ट करना चाहते हैं। साम्राज्य-विरोधी-संघ की स्थापना भी हो चुकी है, जिसके अधिवेशन

ब्रुसेल्स (बेलजियम की राजधानी) में होते रहते हैं। इस सघ में चीन, ईरान, भारत, मिश्र, फिलिपाइन्स और इन्डो-नीशिया आदि देश सम्मिलित हुए हैं। गत दिसम्बर में होने वाले सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास हुआ था कि भावी युद्ध मज़दूरों की सहायता से लड़ा जायगा, इसलिए युद्ध के निवारणार्थ उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, इण्डोनीशिया, चीन और फिलिपाइन्स के मजदूरो को परस्पर घनिष्ट संबंध बढ़ाना चाहिए, जिससे परतन्त्र राष्ट्र स्वतन्त्र हो सकें। इस प्रस्ताव से उपर्युक्त राष्ट्रों की प्रगति की दिशा का पूर्ण ज्ञान होता है। बहुत सभव है कि यह सघ आगे जाकर शक्तिशाली बन जाय और ससार की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन का कारण बने।

बड़े राष्ट्रों में भी जनता का ध्यान इस ओर खिंच रहा है कि युद्ध से केवल पूँजीपति लाभ उठाते हैं और उनमें मरते हैं गरीब मजदूर और किसान। इसलिए साधारण जनता युद्धो से विरक्त होने लगी है। इस प्रवृत्ति का विगत वर्ष अच्छा प्रचार हुआ। इंग्लैण्ड मे पार्लमेंट के सदस्य श्रीयुत पौंसोनबी ने कई लाख अंग्रेजों के हस्ताक्षर सहित सरकार को यह पत्र भेजा कि युद्धो की कोई आवश्यकता नही। इस नयी लहर का मुख्य कारण है रूस का साम्यवाद। भले ही सब राष्ट्रों मे बोलशेविज्म अपने पूर्ण रूप से प्रवेश न कर पाया हो, परन्तु उसके विचार पर्याप्त रूप से सब देशो की जनता मे प्रविष्ट हो रहे हैं। सब देशों के मज़दूर आन्दोलन पर रूस के बोलशेविज्म की छाप प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य पड़ी है। अभी जर्मनी के निर्वाचन में साम्यवादी दल की जीत हुई है। फ्रास और इंग्लैण्ड आदि में भी यह दल विद्यमान है। इस लहर के प्रचार का मुख्य परिणाम यह हो रहा है कि साधारण जनता युद्धों से विरक्त होने लगी है। भले ही इंग्लैण्ड रूस के मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित करे, परन्तु उसकी उन्नति नही रुक सकती। वह तो एशिया मे भी अपना प्रभाव बढ़ाए हुए है, जिससे उसकी ताक़त बढ़ रही है। उसने यह ताकत दबाव देकर नहीं, परन्तु अपने लोकप्रिय सिद्धान्तों से बढ़ाई है। सोवियट मे किसानों और मजदूरों की सुव्यवस्था और उत्तम दशा का वर्णन सुन कर ही सब राष्ट्रों की जनता में उसके और उसके सिद्धान्तों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो गई है और साम्राज्यवाद के विरुद्ध घृणा का भाव। इसमें सन्देह नहीं कि यदि यह प्रवृत्ति वेग से बढ़ती गई, तो संसार का हित भी सन्निकट होता जायगा। परन्तु इसके लिए सभी राष्ट्रों मे पूँजीपति-राज्य को नष्ट करना आवश्यक होगा। वर्तमान पूँजीपति-सरकारों के विरुद्ध जनता मे बहुत उग्र भाव फैल रहे हैं। जुगोस्लेविया और रुमानिया मे किसानों ने सिर उठाया है। स्पेन में तो इस एक वर्ष में शासन-व्यवस्था-उलटने के कई प्रयत्न हो चुके हैं। पोर्तुगाल में भी क्रान्ति द्वारा शासन व्यवस्था बदल डालने का प्रयत्न किया गया था। इटली की जनता में भी मुसोलिनी के विरुद्ध असन्तोष की आग फैल रही है। वहाँ के भूतपूर्व मन्त्री श्रीयुत निटि और राजा के निकट सम्बन्धी श्रीयुत फोर्जो आदि इस आन्दोलन में प्रमुख भाग ले रहे हैं। यह जनता का असंतोष किसी स्थिर शान्ति का सूचक है।

एशिया की जागृति

विगत वर्ष के अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास मे एशिया की जागृति एक विशेष स्थान रखती है। बहुत समय तक वह यूरोप के फौलादी पंजे के नीचे दबा रहा, और उसके अत्याचार सहता रहा। अब वह एकबारगी यूरोप के उस जुए को फैंक कर खड़ा हो गया है—स्वातन्त्र्य की एक नयी भावना के साथ वह यूरोप का मुक़ाबला करने को डट गया है। एशिया के सभी राष्ट्र एक सूत्र मे बधकर ससार से रक्त-पिपासा, साम्राज्य-लिप्सा आदि दूर कर सब राष्ट्रों को स्वतन्त्रता देने की घोषणा करने वाले हैं। इस प्रगति के परिणामस्वरूप एशियायी राष्ट्रों का सघ बन गया हैं। यद्यपि अभी तक इस का सगठन अव्यवस्थित है, तो भी निस्सन्देह यह सघ व्यवस्थित हो कर एक महत्त्वपूर्ण स्थिति को प्राप्त कर लेगा।

चीन की स्वतन्त्रता

विगत वर्ष के राजनैतिक इतिहास में सब से महत्वपूर्ण घटना हुई है, चीन की स्वतन्त्रता। चीन की इस उन्नति में कौन-कौन सी बाधायें नही डाली गईं? सम्पूर्ण यूरोपियन शक्तियों ने इसे अपना एक साथ निशाना बनाया। अंग्रेज़ों ने बहुत क्रूर और घृणित उपायों से उसे अफ़ीमची बनाने का

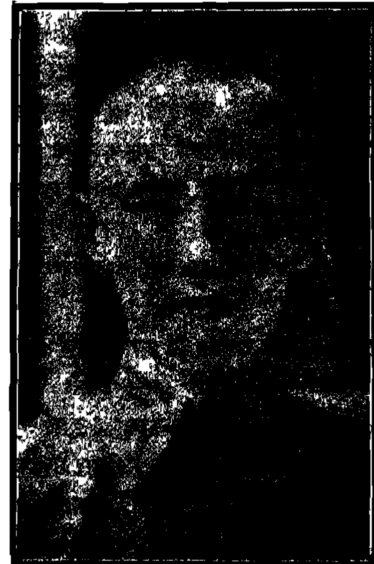
प्रयत्न किया। उसके जरासा उठने पर उसे दबाने का प्रयत्न किया गया। चीन को केवल बाह्य आपत्तियों से अपनी रक्षा नहीं करनी पड़ी, अपनी आन्तरिक विकट स्थिति का भी मुकाबला करना पड़ा है। कई वर्षों के



चीन का गृह युद्ध

निरन्तर गृह-कलह ने उसे अत्यन्त भीषण अवस्था तक पहुँचा दिया था। यदि यह गृह-कलह न होता, तो आज से बहुत पहले वह स्वतन्त्र हो चुका होता। अ-राष्ट्रीय मत के नेता चागसोलिन के मरने के बाद मालूम हुआ कि साम्राज्य लोलुप जापान ने उसे राष्ट्रीय दल से विरोध करने के लिए भारी घूस दी थी। इन सब विपत्तियों को पार कर आज वह खड़ा हो गया है। चालीस करोड़ आबादी वाले प्राचीन देश का स्वतन्त्र होना इस बात का सूचक है कि अब निकट भविष्य में एशिया स्वतन्त्र होकर रहेगा। अब राष्ट्रीय चीनी सरकार ने जोरों से रचनात्मक कार्य में लग गई है।

टर्की के कमालपाशा ने तो टर्की के जीवन में एक नवयुग उपस्थित कर दिया है। वहाँ केवल राजनैतिक ही नहीं, सामाजिक क्रान्ति भी हो रही है। पुरानी कुरीतियाँ, प्राचीन रीति-रिवाज दूर हो रहे हैं। परदा, खिलाफत, कुरान अरबी लिपि, स्त्रियों की परतन्त्रता, पुरानी पोशाक सभी अब वहाँ से जा रहे हैं और नई बातों का प्रवेश हो रहा है। अफ़गानिस्तान भी सभी बातों में टर्की का अनुकरण कर रहा है। वहाँ से भी परदा, प्राचीन धार्मिक कट्टरता आदि जाकर नई सभ्यता का प्रवेश हो रहा है। अमीर अमानुल्लाह अफ़गानिस्तान के आदर्श नरेश हैं। उनकी



चीन के राष्ट्रीय नेता चिंग-काई-शेक

यूरोप-यात्रा ने तो अफ़गानिस्तान की राजनैतिक स्थिति को और भी बढ़ा दिया है। विगत वर्ष में अफ़गानिस्तान की उन्नति एक अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण तथा महात्वमय घटना है। कई विद्वानों ने उसे नवीन जापान से उपमा दी है। ईरान का शासक रजाखां भी अपने देश को टर्की की पद-पद्धति पर चलाने की कोशिश कर रहा है। इन तीनों मुस्लिम राष्ट्रों की उन्नति को और इनकी रूस से सन्धि को यूरोपियन राष्ट्र विशेषत अंग्रेज बड़ी सशंकित दृष्टि से देख रहे हैं। तीनों राष्ट्र एक मुस्लिम राष्ट्र-संघ बनाने का विचार कर रहे हैं। मिश्र भी उन्नति कर रहा है, यद्यपि अंग्रेज उसको उठने नहीं देते। अभी मिश्र-सरकार ने वहाँ की पार्लमेंट तोड़ दी है, इससे जनता बहुत उत्तेजित हो उठी है और अंग्रेजी पंजे को हटाने के लिए उद्यत हो गई है। केवल मुस्लिम राष्ट्रों में ही नहीं, सुदूर मलय-द्वीपसमूह में भी जनता में डच सरकार के बर्खिलाफ़ असन्तोष की अग्नि

प्रज्वलित हो गई है । वह स्वतन्त्र होने पर तुल गया है ।

भारतवर्ष भी इस क्रान्ति से बचा नहीं । यहाँ भी पूर्ण जागृति उत्पन्न हो चुकी है । अंग्रेजी साम्राज्य में रहने की इच्छा भी अब भारतीयों मे नहीं है । श्री० जवाहरलाल नेहरू के पूर्ण स्वतन्त्रता-संघ का बहुत प्रचार हो रहा है । यद्यपि भारतीय सरकार यहाँ युद्ध की तैयारियाँ बड़े जोरों से कर रही है, परन्तु यहाँ की जनता भी भावी युद्ध मे सहायता न देने का निश्चय कर चुकी है ।

इस तरह सम्पूर्ण एशिया मे क्रांति हो रही है जो ससार के लिए निस्सन्देह शुभ चिन्ह है ।

ससार का भविष्य

सम्पूर्ण ससार की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का अध्ययन करने से दो तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं कि निकट भविष्य में इग्लैंड की स्थिति शनै-शनै गिरती जावेगी और अमेरिका का नक्षत्र और भी अधिक उज्वल तथा प्रकाशमान होगा और कुछ समय के बाद वह ससार की राजनीति, व्यापार और व्यवसाय का एक मात्र केन्द्र बन जावेगा । इटली भी अभी उन्नति कर रहा है और कुछ समय तक करता रहेगा । फ्रांस की स्थिति मे कोई विशेष परिवर्तन नही होगा । जर्मनी की प्रगति भी उन्नति की दिशा मे रहेगी । रूस तो उन्नति के पथ पर रहेगा और उसके सिद्धांतों का प्रचार भी अभी बढ़ेगा । एशिया की जागृति अभी बहुत होगी ।

सब प्रबल राष्ट्रो की युद्ध की तैयारी देखते हुए यह अनुमान करना कठिन नही है कि निकट भविष्य मे शीघ्र ही युद्ध होगा, पर वह कहाँ होगा, यह कहना कठिन है । पूर्वीय और मध्य यूरोप का वातावरण बहुत अशान्त है । इधर पूर्वीय समुद्र भी शायद युद्ध का केन्द्र बन जाय । युद्ध कहीं भी हो, उससे भारत या एशिया का निकट सम्बन्ध अवश्य रहेगा । यदि पूर्वीय देशों में हुआ तो भारत की स्वतन्त्रता उस पर बहुत कुछ अश मे निर्भर होगी ।

भारतीय नेताओं तथा जनता को ससार की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से विशेष परिचित रहना चाहिए ।

कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार



गतवर्ष का भारत

(सिंहावलोकन)

'त्यागभूमि' के द्वितीय वर्ष में प्रवेश करते समय इस बात पर विचार कर लेना अच्छा होगा कि गतवर्ष भारत की प्रगति की साधारण दिशा किस ओर रही, कौन-कौन से आन्दोलन हुए, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों मे क्या क्या परिवर्तन हुए, तथा साधारणतया भारत ने गतवर्ष मे किस क्षेत्र में उन्नति की और किस क्षेत्र में अवनति की । इन उपर्युक्त बातों का हम बहुत सक्षेप से सिंहावलोकन करने का प्रयत्न करेंगे ।

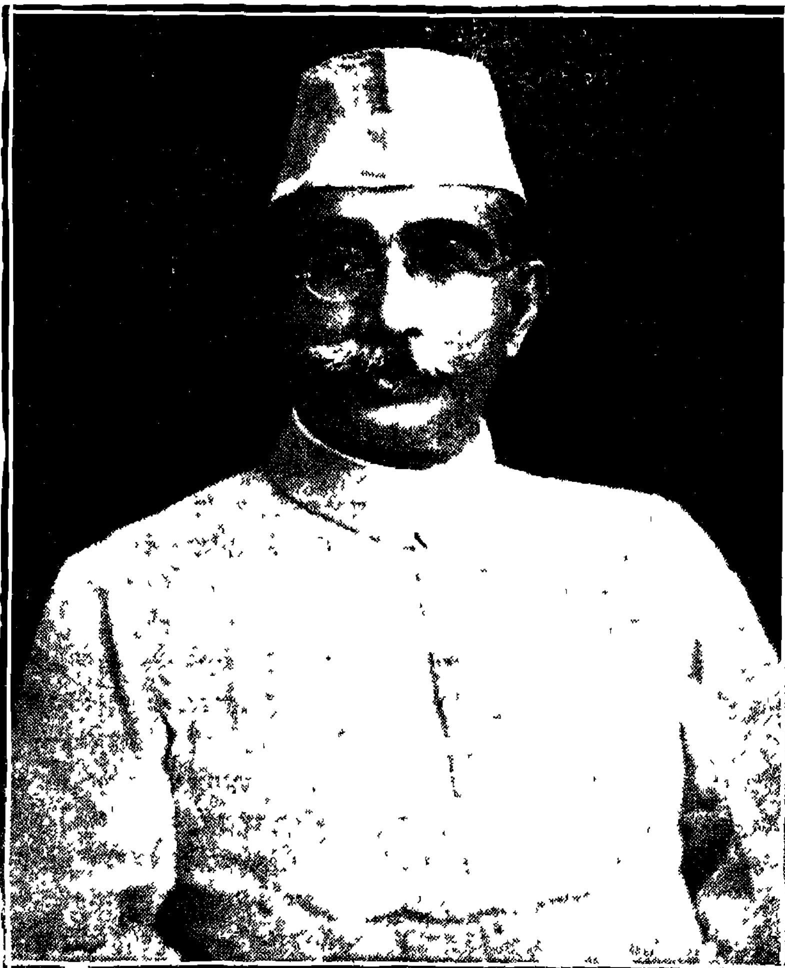
आज भारतवर्ष सर्वतोमुखी क्रांति के पथ पर है । राजनीति, समाज, व्यपार-व्यवसाय, शिक्षा आदि सभी तरफ़ एक विशेष प्रगति हो रही है जिसे देखकर कोई भी भारतीय प्रसन्न हुए बिना नहीं रह सकता । भारत की वर्तमान स्थिति से सभी असंतुष्ट हैं, और सभी अपने क्षेत्र मे आगे बढ़ना चाहते हैं । यह असतोष किसी भावी शुभ परिणाम का सूचक है, इसमे सदेह नहीं ।

राजनैतिक प्रगति

गतवर्ष की भारतीय राजनीति में मुख्य चार प्रश्न रहे हैं—हिन्दू-मुसलिम समस्या, साइमन-कमीशन, पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य और बारडोली ।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या राजनैतिक प्रगति में सब से अधिक जटिल प्रश्न है। इसे गतवर्ष भारतीय जनता ने अच्छी तरह समझने की कोशिश की और डाक्टर अन्सारी इस समस्या को सुलझाने के लिए तुल पड़े। मद्रास की कांग्रेस के पूर्व कलकत्ते में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने बाजे और गोवध के प्रश्न पर एक निर्णय किया था, कि हिन्दू बाजा बजाने और मुसलमान गोवध करने में स्वतंत्र हैं। हिन्दू खूनखच्चर के अन्देशे के स्थान पर बाजा न बजावें और मुसलमान गोवध न करें। १८साल से कम उम्र में धर्मान्तर न कराया जाय।

परन्तु अभी इसमें काफी कमी थी। गोवध और बाजे को एक समान पाप समझ लिया गया था और मुसलमानों को गोवध की आज्ञा खुले रूप से दे दी गई थी। वह कमी मद्रास-कांग्रेस में महात्मा गाँधी के प्रयत्न और माननीय मालवीय जी की दूरदर्शिता से इस प्रकार दूर करदी गई कि दोनों जातियों में अपना अधिकार छोड़ने और दूसरे को प्रसन्न करने की भावना का प्रचार हो। गोवध और बाजे के अधिकारों के सम्बन्ध में महासभा चुप रही और उसने दोनों से गोवध और बाजे को रोकने के लिए बल-प्रयोग न करने का अनुरोध किया।



हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक डाक्टर अन्सारी

इसमें सन्देह नहीं कि यह समझौता न हो सकता, यदि साइमन-कमीशन न आता। साइमन-कमीशनके प्रश्न ने प्राय सारे हिन्दू और मुसलिम नेताओं को एक कर दिया। मद्रास-कांग्रेस के बाद गौ और बाजे का प्रश्न, जो कुछ वर्ष पूर्व ही उठा था, बिलकुल समाप्तसा होगया और धार्मिक प्रश्नों के स्थान पर सिंध-विच्छेद, साम्प्रदायिक या सम्मिलित निर्वाचन आदि राजनैतिक प्रश्नों का महत्व बढ़ गया। भारत के राजनैतिक आकाश में यह एक शुभ लक्षण दिखाई पड़ा कि राजनीति से क्षुद्र धार्मिक प्रश्नों का बहिष्कार हो गया और उसके स्थान पर विशुद्ध राजनैतिक प्रश्नों का समावेश

हुआ। यह ठीक है कि सिंध-विच्छेद, सम्मिलित निर्वाचन आदि के प्रश्न भी जातिगत स्वार्थों के आधार पर खड़े किये गये थे, परन्तु इनका रूप गोवध और बाजे आदि के ढंग का क्षुद्र तथा तुच्छ न था। ये प्रश्न पूर्णत राजनैतिक थे। मद्रास-कांग्रेस से मुसलमानों की उपर्युक्त मांगों को देखकर हमें आशा हो चली थी कि जब देश ने तुच्छ धार्मिक झगड़ों को छोड़ दिया है, तब समझौता भी जरूर हो जायगा।



सर जॉन साइमन

ऐसा भी अवसर आगया। "भारतीय शासन विधान बनाने के योग्य नहीं है, लार्ड बर्केनहेड के इस आक्षेप के प्रत्युत्तर में भारत के सब राजनैतिक दलों ने मिल कर जो शासन विधान बनाया, उसमें हिन्दू और मुसलिम समस्या बड़ी दूर तक हल होगई। सर्वदल-सम्मेलन में उपस्थित सब हिन्दू और मुसलमान नेताओं ने (सिवाय मौलाना शौकत-अली के) शासन-विधान स्वीकृत कर लिया। इससे आशा हो चली थी कि भारतीय राजनैतिक वातावरण शुद्ध हो जायगा, परन्तु उक्त सम्मेलन के बाद मौलाना शौकतअली ने फिर विरोध का झंडा उठाया है और कई अदूरदर्शी मुसलमान नेता उनके साथ होगये हैं। अभी यह नहीं कहा जा सकता कि इसका परिणाम क्या होगा। न जाने कब यह खेद-जनक मुसलिम मनोवृत्ति बदलेगी। दुःख है कि विगत वर्ष भी हिन्दू-मुसलिम दंगों से बिलकुल खाली न जा सका, यद्यपि पूर्व वर्षों की अपेक्षा वे बहुत थोड़े और कम भयंकर हुए।

पिछले कई वर्षों में जो शिथिलता आ गई थी, वस्तुत उसको दूर करने का श्रेय साइमन कमीशन की संघटन-सम्बन्धी भूलों को है, जिनके कारण उसका भारतव्यापी विरोध हुआ। यह विरोध मुख्यत दो दृष्टियों से हुआ। कट्टर राष्ट्रवादियों ने तो यह कहा कि भारत के भाग्य-निर्णय का अधिकार भारतीयों को है ब्रिटिश सरकार को नहीं। बाकी राष्ट्रवादियों ने इसका इस लिए बहिष्कार किया कि इसमें कोई भी भारतीय रखा नहीं रक्खा गया। सम्पूर्ण भारत ने एक स्वर से इसका जोरों से बहिष्कार किया। असेम्बली में भी बहिष्कार का प्रस्ताव पास होगया। इसकी चर्चा विदेशों में भी बहुत हुई। परन्तु खेद है कि अब इस आन्दोलन में वह जोर और प्रभाव नहीं रहा, जो पहले था। प्रायः सभी प्रान्तों की कौंसिलों ने कमीशन से सहयोग करने के लिए समितियां बना दी हैं। अब शीघ्र ही इसी मास में साइमन-कमीशन यहाँ आने वाला है और वह पूना से अपना कार्य प्रारंभ कर देगा। नये आये हुए समाचारों से मालूम हुआ है कि सर जॉन साइमन ने वाइसराय को असेम्बली की ओर से एक सहयोग-समिति बनाने के सम्बन्ध में एक पत्र लिखा है। इसके उत्तर-स्वरूप असेम्बली के ६५ सदस्यों ने एक घोषणा निकाली है कि साइमन-कमीशन के सहयोग जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न के लिए असेम्बली भंग कर दी जाय और नया निर्वाचन हो। अब फिर कहीं-कहीं साइमन-कमीशन के बहिष्कार के लिए प्रबल आन्दोलन प्रारंभ हो गये हैं।

पूर्ण स्वातन्त्र्य का प्रश्न कई वर्षों में कुछ राजनीतिज्ञों के दिलों में उठ रहा था, परन्तु महात्मा गांधी के व्यक्तिगत

प्रभाव के कारण कांग्रेस इसे स्वीकृत न कर सकी थी। गत मद्रास की कांग्रेस में भारत के युवक नेता श्री जवाहरलाल नेहरू के परिश्रम और प्रभाव के कारण कांग्रेस का उद्देश्य पूर्ण स्वातन्त्र्य कर दिया गया। वस्तुतः भारतीय जनता ब्रिटिश शासन से इतनी ऊब गई दीखती है कि वह औपनिवेशिक स्वराज्य को बिलकुल व्यर्थ समझने लग गई है। यद्यपि नेहरू-कमेटी के औपनिवेशिक स्वराज्य की योजना को सब दलों ने स्वीकार कर लिया है, तब भी इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जनता औपनिवेशिक स्वराज्य चाहती है। वह तो एक ऐसी माग है, जिसमें सभी दल एक रूप से सहमत हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू के पूर्ण स्वतन्त्रता-संघ की अनेक शाखाओं के स्थापित होने से और जनता तथा पत्रों की इस आन्दोलन से सहानुभूति होने से जनता की प्रवृत्ति का पता लगता है।

बारडोली का सत्याग्रह यद्यपि प्रारंभ में स्थानीय था, तथापि अदूरदर्शी सरकार की हठपूर्ण नीति से यह प्रश्न अखिलभारतीय हो गया। बारडोली में क्या हुआ, यह पाठक जानते हैं। किसानों के सत्याग्रह की इस शानदार विजय से सबसे अधिक लाभ यह हुआ कि साधारण जनता की अहिंसात्मक असहयोग की कार्य-प्रणाली पर विश्वास हो गया और आत्मविश्वास की भावना का अधिकाधिक प्रादुर्भाव हुआ।



साधु टी० एल० वास्वानी

सत्याग्रह की सफलता का दूसरा उदाहरण है पटुआखाली का सत्याग्रह। इसके विजय ने तो यह भी सिद्ध कर दिया कि बड़े-बड़े नेताओं की सहायता न पाते हुए भी जनता किसी भी सत्य बात पर दृढ़ रह कर सरकार को परास्त कर सकती है। अतिरिक्त कर न देने का सत्याग्रह भी इस वर्ष कानपुर आदि में चला, उससे भी जनता में आत्म-विश्वास की भावना फैली।

कुछ समय से भारतीय राजनीतिज्ञ रियासतों के महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर भी ध्यान देने लगे है, यद्यपि कांग्रेस ने इस सम्बन्ध मे अपनी कोई नीति स्थिर नहीं की। रियासतों का स्वतन्त्र भारत से क्या सम्बन्ध होगा, इस विषय पर राजनीतिज्ञ चर्चा करने लगे हैं। सर्वदल-सम्मेलन ने इस सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट एवं अधिवेशन में काफ़ी विचार किया है और उनके मत से आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र होते हुए भी भारत-सरकार और देशी रियासतों का वर्तमान व्यावहारिक सम्बन्ध बना रहना चाहिए।

इस प्रश्न की ओर विशेष ध्यान बटलर-कमीशन ने खींचा है, जो सरकार ने देशी राज्यों और ब्रिटिश सरकार के परस्पर सम्बन्धों की जाँच के लिए स्थापित किया है। अब रियासतों के राजा कुछ-कुछ समझने लग गये हैं कि अंग्रेजी शासन में भी उनके अधिकार अक्षुण्ण नहीं रहे। सरकार जब चाहती है, किसी भी नरेश को रियासत से बाहर कर सकती है, उसके शासन में अनुचित हस्तक्षेप करने लगती है। रियासतों के राजा यह चाहते हैं कि उनका सीधा सम्बन्ध ब्रिटिश सरकार से हो, न कि भारतीय सरकार से। इसके लिए उन्होंने कुछ आन्दोलन भी किया। इसीके परिणाम-स्वरूप बटलर-कमीशन बैठा है। सरकार को आगामी युद्ध में रियासतों से सहायता लेनी है, जिसके लिए एक कमेटी—इण्डियन सिविल फ़ोर्स—बनाई गई है और जो राजाओं के विलायत से भारत मे आने पर विचार

करेगी। इसलिए वह राजाओं को कोई छोटा सा अधिकार देकर प्रसन्न रखना चाहती है। बटलर-कमीशन उसी की भूमिका है। राजाओं ने इस कमीशन के सामने अपना पक्ष-समर्थन करने के लिए सर लेस्ली स्काट को बहुत अधिक व्यय पर अपना प्रतिनिधि चुना है।

रियासतों की प्रजा में भी बहुत जागृति उत्पन्न हो रही है। वह भी अपने अधिकारों तथा प्रतिनिधिशासन की मांग करने लगी है और राजाओं की स्वेच्छाचारितापूर्ण नीति का विरोध करने लगी है। गत वर्ष देशी राज्य प्रजा परिषद का भी संगठन हुआ और बम्बई मे उसका अधिवेशन हुआ। अब इसकी ओर से भी कुछ प्रतिनिधि इंग्लैण्ड जाकर प्रजा का पक्ष उपस्थित करेंगे और राजाओं की करतूतें बता कर यह यत्न करेंगे कि साइमन-कमीशन और बटलर-कमीशन रियासतों की प्रजा का भी पूरा खयाल रक्खें।

विगत वर्ष के मुख्य कार्यकर्ताओं में डाक्टर अन्सारी ने हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए श्री श्रीनिवास आयंगर और लाला लाजपतराय ने साइमन कमीशन के बहिष्कार के सम्बन्ध में, पं० जवाहरलाल नेहरू ने युवकों में स्वतन्त्र भाव फूँकने और पूर्ण स्वतन्त्रता का आन्दोलन करने में, और महात्मा गांधी ने खास तौर पर खादी व साधारणतः अन्य सभी क्षेत्रों में उन्होंने व सरदार पटेल ने बारडोली सत्याग्रह में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

गत वर्ष की असेम्बली में भी बहुत हल-चल रही। रिजर्व बैंक और साइमन-कमीशन-सहयोग के सम्बन्ध में सरकार को बुरी हार खानी पड़ी। शारदा-बिल के सम्बन्ध में भी अच्छी हल-चल रही। इस सम्बन्ध में सरकार की मनोवृत्ति बहुत खराब रही। माननीय पटेल का कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय और निष्पक्षपात रहा। मुसलिम सदस्यों की मनोवृत्ति यहाँ भी गर्हणीय रही। सांप्रदायिकता का भूत पीछे लगा ही रहता है। रिजर्व बैंक के सम्बन्ध में मुसलमानों के लिए दो स्थान मांगे गये। अभी नये आये हुए समाचारों से मालूम होता है कि मुसलमान सदस्य शारदा बिल का भी विरोध करना चाहते हैं। पब्लिक सेफ्टी बिल भी, जिसका संक्षिप्त परिचय आगे दिया गया है, मुसलमान सदस्यों के देश-द्रोह से पेश हो गया था, पर सिलेक्ट कमिटी से लौटने पर अध्यक्ष के मत का बल मिलने से वह रद्द हो गया।

आज देश के सामने कोई रचनात्मक राजनैतिक कार्यक्रम नहीं है। इसका अभाव सभी को खटकता है।

आर्थिक प्रगति

गतवर्ष की राजनैतिक प्रगति के बाद दूसरा स्थान आर्थिक प्रगति का है। मजदूरों में खूब जागृति हुई है। यद्यपि मज़दूर-जागृति का श्रीगणेश उससे पूर्व ही हो चुका था परन्तु इस दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य गतवर्ष ही हुआ है। बम्बई, कलकत्ता, खड़गपुर, जमशेदपुर, मद्रास आदि के कारखानों और मिलों की हड़तालों को देख कर मज़दूरों की जागृति से कोई इन्कार नहीं कर सकता। अब भारत के मजदूर यह समझ गये हैं कि उनके अधिकार और कर्त्तव्य क्या हैं और अपने अधिकारों के लिए किस तरह दृढ़ता से आन्दोलन करना चाहिए।

जहाँ यह बहुत लाभप्रद जागृति हुई है, वहाँ पूँजीपतियों में मजदूर-विद्वेष की हानिप्रद आग बहुत अधिक बढ़ी है, जिसे शान्त करने में भारत के किसी राष्ट्रीय नेता ने कोई ध्यान नहीं दिया। इसका कारण भी यही है कि आज की भारतीय राजनीति वस्तुतः पूँजीपतियों के हाथ मे है। पूँजीपति यदि इस प्रश्न को सुलझाने का परिश्रम नहीं करेंगे, तो उन्हीं के हक में अधिक नुकसान होगा। सुभाषचन्द्र बोस ने अभी जमशेदपुर के मामले मे जो कुछ परिश्रम किया है, वह स्तुत्य है।

मजदूर-जागृति का एक परिणाम यह भी हुआ है कि रूसी शासन और जीवन से साधारण जनता की एक विशेष सहानुभूति हो गई है, जिसे प० जवाहरलाल नेहरू श्री एयंगर आदि की रूस-यात्रा के अनुभवों ने बहुत अधिक बढ़ा दिया है। मजदूरों के आन्दोलन और साम्यवाद या रूस के प्रति जनता की सहानुभूति के भाव को पूर्णरूप से नष्ट करने के लिए भारतीय सरकार ने ट्रेड्स डिस्प्यूट्स बिल और पब्लिक सेफ्टी बिल पेश किये हैं। इनमे से प्रथम बिल का परिचय गतांक मे दिया जा चुका है। दूसरे बिल द्वारा सरकार उन विदेशी व्यक्तियों को यहाँ से निकाल सकती है, जो भारत मे साम्यवाद का प्रचार करेंगे

अथवा मजदूरों को अपने अधिकारों के लिए उत्साहित करेंगे । यह बिल असेम्बली ने अस्वीकृत कर दिया है। इस समय सरकार उसका निर्णय मान कर चुप हो गई है । सरकार एक और भी बिल बनाने का विचार कर रही है, जिसके द्वारा वह उन भारतीयों को भी दंड दे सकेगी, जो यहाँ साम्यवाद का प्रचार करेंगे या मजदूर-आन्दोलन मे विशेष भाग लेंगे । अभी शिमले से यह समाचार भी आया था कि संभवत: जवाहरलाल नेहरू गिरफ्तार किये जायगे । मजदूरों के संघटन, शिक्षा सफाई आदि की तरफ भी ध्यान दिया जारहा है, यद्यपि प्रगति सन्तोषजनक नहीं है । अखिल भारतीय मज़दूरसंघ तो कई वर्ष पहले से बन चुका है । परन्तु अभी उसके संघटन मे दृढ़ता लाने की अधिक आवश्यकता है ।

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिसंघ मे भारत के भी प्रतिनिधि जाते हैं, परन्तु उससे भारत को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ । केवल काम करने का समय नियत कर दिया गया है, जिसका वास्तविक कारण भारत की हितैषिता नहीं, व्यापार की प्रतिस्पर्धा है । यदि हितैषिता ही उद्देश्य होता तो मजदूरों की बेकारी, बीमारी, शिक्षा, स्वास्थ्य और बीमे आदि के सम्बन्ध मे संघ अवश्य ध्यान देता । वस्तुत किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संघों से कुछ आशा करना व्यर्थ है । मज़दूर नेताओ को इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि उनकी प्रगति का आदर्श यूरोप नहीं है । यूरोप का अनुकरण भारत मे कहा तक लाभप्रद होगा, यह विचारणीय विषय है ।

भारतीय व्यापारी और व्यवसायी भी अपनी संघटन कर रहे हैं । अखिल भारतीय व्यावसायिक सम्मेलन और व्यापारीसंघ बने हुए है । गत वर्ष तो इंग्लैंड मे भी भारतीय व्यापारी-संघ की एक शाखा खुल गई, जिसके द्वारा व्यापारियों को विदेशों मे व्यापार करने की अनेक सुविधायें प्राप्त होंगी । भिन्न-भिन्न व्यवसायों को हाथ मे लेने का प्रयत्न भारतीय कर रहे हैं । सरकार की घातक नीति के कारण वे भी अब कुछ-कुछ राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लेने लगे हैं ।

गत वर्ष की भारत की व्यापारिक और व्यावसायिक प्रगति के अंक हमें नहीं मिल सके, जिससे यह कहना कठिन है कि भारत का आयात और निर्यात घटा या बढ़ा, किन देशों से व्यापार अधिक या कम हुआ और यहाँ के व्यवसाय में कितनी वृद्धि हुई । हाँ, इतना निश्चित है कि सरकार की उदासीनता के कारण भारतीय व्यापार और व्यवसाय की बहुत हानि हो रही है । सरकारी रेलवे-नीति तो हमारे व्यापार मे बहुत अधिक बाधक है, जिसके अनुसार जमशेदपुर से बम्बई तक लोहा पहुँचने में इंग्लैण्ड से बम्बई तक लाने की अपेक्षा अधिक खर्च होता है । सरकार नहरों की ओर पर्याप्त ध्यान न देकर अनुत्पादक रेलों के बढ़ाने की ओर ही लगी हुई है । अब अंग्रेज़ी सरकार रूस और अफगानिस्तान की बढ़ती हुई शक्ति से शंकित होकर अफ़गानिस्तान के निकट गहरी सामरिक तैयारियाँ कर रही है। केवल पश्चिमी प्रान्त मे ही नहीं, पूर्वीय सीमात में और दूसरी छावनियो मे भी बड़ी तैयारिया हो रही हैं । गत वर्ष से तो सरकार इस तरफ़ विशेष रूप से लगी हुई है ।

बजट मे ६३६ मील नई रेल बनाने का विचार किया गया है । यह अधिक लाभ-प्रद नहीं है । इसमें से अधिकतर रेलें केवल सामरिक दृष्टि—अंग्रेजो की स्वार्थ रक्षा—के लिए बनेगी । इसी प्रसंग मे बजट की दूसरी मदों का भी निर्देश करना अ-प्रासंगिक न होगा । सेनाका व्यय ५५ करोड़ दस लाख रुपया रखा गया है, जो भारत की दृष्टि से सरासर अन्याय है ।

कर-दाताओं पर नमक-कर, डाक-कर आदि वैसे के वैसे ही रक्खे गये हैं, कुछ कम नहीं हुआ। इस वर्ष होम चार्जेज़ के नाम से विदेश मे जानेवाली रकम ३६० लाख पौंड है । अर्थशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि यदि अपने देश मे कर्ज़ा मिल सके, तो सरकार को दूसरे देश मे नहीं लेना चाहिए, क्योंकि इसमे उसका सूद विदेश मे चला जाता है, परन्तु भारतीय सरकार का इसकी क्या परवाह। गतवर्ष ही उसने इंग्लैण्ड से ४॥ सैकडा सूद पर दस करोड रुपया कर्ज़ा लिया है, यद्यपि यह कर्ज़ा यहाँ मिल सकता था ।

सिनेमा-कमीशन और कृषि-कमीशन की रिपोर्टें कुछ महत्त्व रखती हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय पिछले अंकों में दिया जा चुका है । सिनेमा समिति की रिपोर्ट अच्छी है, और यदि सरकार उसका पूर्णत पालन करे, तो कुछ लाभ

की सम्भावना है, परन्तु कृषि-कमीशन की रिपोर्ट इंग्लैण्ड के व्यापार व्यवसाय को बढ़ाने का एकमात्र उपाय है। इसमे खेती के लिए नयी कलों के प्रचलन का समर्थन किया गया है। इसका स्पष्ट आशय यही है कि इंग्लैण्ड से मशीनरी मंगवाई जाय और वह मालामाल हो।

मिट्टी के तेल पर भी संरक्षण-कर लगाने पर विचार करने के लिए सरकार ने टैरिफ बोर्ड को आज्ञा दी। इंग्लैण्ड और अमेरिका की कम्पनियों की पारस्परिक स्पर्धा के कारण ही यह किया गया था, परन्तु उसने संरक्षण कर लगाने की सम्मति नहीं दी। भारतवर्ष के आर्थिक इतिहास मे रिजर्व-बैंक बिल भी एक विशेष स्थान रखता है। विनिमय दर के १८ पेंस करने वाले कमीशन ने ही इस बैंक के स्थापित करने की सलाह दी। इसमें मुख्य उद्देश्य वही—इंग्लैण्ड को मालामाल करना—था, जो विनिमय दर के बदलने में। इसका भारतीय जनता ने बहुत विरोध किया और असेंबली मे दो बार भिन्न-भिन्न रूपों मे आकर भी इसकी अच्छी गति न हुई।

गत वर्ष के भारत के आर्थिक इतिहास मे एक और महत्वपूर्ण कार्यक्रम की योजना का प्रयत्न किया गया था, परन्तु खेद है कि उसमें सफलता न हो सकी। यह प्रयत्न था मिलों और चर्खों के परस्पर समझौते का। भारत की आर्थिक उन्नति का एक मात्र प्रत्यक्ष उपाय है विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार। इससे हरसाल बाहर जाता हुआ करोड़ो रुपया बच जायगा। विदेश से आने वाले पदार्थों मे सबसे अधिक महत्व की वस्तु कपड़ा है, जिसका बहिष्कार सबसे अधिक आवश्यक है, परन्तु इसके लिए यहाँ के मिल-मालिकों और चरखा संघ के कार्यकर्ताओं का परस्पर समझौता जरूरी था। महात्मा गांधी ने इसके लिए अत्यन्त व्यावहारिक योजना बनाकर प्रयत्न किया, जिसका उल्लेख पहले कभी किया चुका है। परन्तु खेद है कि पूँजी-पतियों के दुराग्रह और स्वार्थ-पूर्ण नीति के कारण यह महत्वपूर्ण प्रयत्न सफल नहीं हो सका। इसमे सन्देह नही कि यदि महात्मा जी का यह प्रयत्न सफल हो जाता, तो भारतवर्ष के आर्थिक इतिहास में एक नया और महत्वपूर्ण युग प्रारंभ होजाता।

साधारणतः भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। बेकारी की विषम समस्या वैसी ही है, यद्यपि अब कुछ नेताओं का इस तरफ ध्यान गया है और सरकार ने भी इस विषय में कई कमेटियां बनाई हैं। शिल्प और व्यवसाय की शिक्षा की तरफ लोगों का ध्यान जा रहा है लेकिन सरकार की उदासीनता के कारण कोई प्रगति नही हो सकी।

साधारणतः गरीबी तो भारत मे निरन्तर बढ़ रही है। अनाज, दूध, और घी बहुत मँहगे हो रहे है। इस साल तो युक्त प्रांत मे भयंकर और पंजाब मे साधारण अकाल पड़ने की संभावना है। यह अवस्था यहा तक पहुँची है कि विदेशों से वानस्पतिक घी और आटा बहुत मात्रा मे आ रहा है। इसका स्वास्थ्य पर जो भयंकर प्रभाव पड़ रहा है, वह अकथनीय है। यदि म्युनिसिपैलिटियां या जनता इन पर कर लगाने को कहती है, तो सरकार नहीं मानती। यदि सरकार कर लगाये तो इंग्लैण्ड को मालामाल करने मे बाधा उपस्थित हो जाय। इस गरीबी का बहुत भयंकर असर स्वास्थ्य पर पड़ता है। परन्तु सरकार को क्या पड़ी है। अखिल राष्ट्र-संघ की ओर से स्वास्थ्य-समिति ने यहां आकर रिपोर्ट की किया भारतीयों का जीवन बहुत गन्दा और भ्रष्ट हो रहा है, परन्तु उसने भी स्वास्थ्य-सुधार के संबंध मे कोई प्रयत्न नहीं किया जबकि राष्ट्र-संघ की ओर से अन्य देशों मे स्वास्थ्य-सुधार पर बहुत व्यय किया जाता है।

सामाजिक प्रगति

यदि सच पूछा जाय तो आज भारत उतना राजनैतिक प्रगति नही कर रहा है, जितना कि सामाजिक क्षेत्र में बढ़ रहा है। इस समय भारत मे बड़ी भारी सामाजिक क्रांति हो रही है। नये विचार, नई भावना, नई जागृति उत्पन्न हो रही है। सदियों की पराधीनता से उत्पन्न हुई शिथिलता और आलस्य, जो भारतीयों के विशेष गुण हो रहे थे, दूर हो रहे हैं और नवीन उत्साह आ रहा है। पुरानी सामाजिक रूढ़ियां के विरुद्ध, जो बड़े वेग से हमारा नाश कर रही थीं, प्रबल आंदोलन होने लग गया है।

इस प्रगति का सब से अधिक श्रेय स्त्रियों को है। स्त्रियों की स्थिति में तो आश्चर्य-जनक परिवर्तन हो रहा है।

उनमें अपूर्व जागृति हुई है। महिलाओ के कई संघटन हुए हैं। जिनमें अखिल भारतीय महिला संघ प्रमुख है। स्त्रियों के लिए देश में स्थान-स्थान पर शिक्षणालय खुल रहे हैं। परदे का विरोध तो गत वर्ष की मुख्य घटना है। बिहार की स्त्रियों ने इस आंदोलन मे जो नेतृत्व किया है, वह प्रशंसनीय है। राष्ट्रीय प्रगति मे भी स्त्रियां पीछे नहीं है। बारडोली के पवित्र सत्याग्रह मे स्त्रियों का कम भाग नही था। स्त्रियां अपने अधिकारों को समझ रही है। श्रीयुत हरविलास सारडा के बाल-विवाह-निषेधक बिल और सहवास बिल का जितना अधिक समर्थन स्त्रियो ने किया है, उतना किसी ने नही। पुरुष-समाज ने भी अब यह अनुभव करना शुरू किया है कि स्त्रियो को घरों मे बन्द नहीं रखा जा सकता। उन्हें उनके वास्तविक अधिकार देने चाहिएँ। विधवाविवाह का प्रचार बड़ी तेजी से हो रहा है। पिछले हुए मारवाड़ी समाज मे भी लोगों ने इस ओर कदम बढ़ाया है। लाहौर की विधवा-सहायक-सभा बहुत प्रशंसनीय कार्य कर रही है। यह सब होते हुए भी खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस स्त्री-आंदोलन की प्रगति की दिशा भारतीय आदर्श की ओर अधिक न होकर यूरोपीय आदर्श की ओर ही अधिक है। अपने कर्तव्यों पर अधिक विचार न कर अधिकारों की ओर ध्यान दिया जा रहा है। इस विषय पर विस्तार से लिखने का यह स्थान नहीं।

जहाँ स्त्रियों मे यह अपूर्व जागृति हुई है, वहाँ युवक-भारत में एक क्रांति हो रही है। युवक अब प्रत्येक दिशा मे और क्षेत्र मे ऊपर उठने के लिए अधीर हो रहे हैं। राजनैतिक बन्धनों के साथ सामाजिक बन्धनो को तोड़ने के लिए भी वे उतावले हो गये हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू तो प्राचीनता के विरुद्ध क्रान्ति का एक झंडा लेकर खड़े हो गये हैं। अपने सामाजिक आदर्श तक को बदलना उनका मुख्य उद्देश्य है। नव-युवक इन्हीं को अपना पथ-प्रदर्शक बनाये हुए सब प्रकार आज़ादी का पाठ पढ़ रहे हैं। आजकल युवक-भारत के दो भाग हैं। एक दल के आचार्य पं० जवाहरलाल नेहरू हैं और दूसरे के आचार्य हैं साधु टी० एल० वास्वानी। साधु वास्वानी, ब्रह्मचर्य, शक्ति, संयम, सेवा आदि द्वारा चरित्रनिर्माण पर अधिक जोर देते है। इनका उद्देश्य है प्राचीनता की ओर जाना। वास्वानीजी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता पर अभिमान करते है और उसी तरफ जाने मे देश का कल्याण समझते हैं। जवाहरलाल नेहरू का आंदोलन अधिक राष्ट्रीय है और वास्वानी का अधिक नैतिक। दोनों युवक भारत में एक जागृति पैदा कर रहे हैं। स्काउट आंदोलन भी युवक-जागृति में एक विशेष भाग रखता है। साधारण जनता में भी जागृति हो रही है। सामाजिक कुरीतियाँ नष्ट हो रही हैं। बाल-विवाह वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह घृणित समझे जा रहे हैं। बहुत सी रियासतों ने बाल-विवाह कानूनन बन्द कर दिया है; विधवा-विवाह का समर्थन हो रहा है। अछूतोद्धार की तरफ़ भी सारे देश का ध्यान है। अभी श्रीयुत जमनालाल बजाज ने लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में सबको प्रवेश करने का समानाधिकार देकर बहुत प्रशंसनीय कार्य किया है। मालवीयजी तथा दूसरे शास्त्रीय विद्वानों ने इस कार्य का समर्थन किया है। जात-पांत-तोडक मण्डल बन रहे हैं।

छोटी-छोटी जातियो की सभायें सगठन का प्रयत्न कर रही हैं और अपनी जातीय सभाओं मे कुरीतियों—मद्यपान, मांसादि—का विरोध कर रही हैं। शिक्षा की तरफ़ विशेष प्रेम बढ़ रहा है। शिक्षा-विभाग भारतीयों के हाथ मे आ जाने से इस तरफ कुछ प्रगति हो रही है। सिनेमा, बाय-स्कोप आदि उपयोगी साधनों से भी शिक्षा दिये जाने की ओर ध्यान दिया जाने लगा है। युवक-शिक्षा (Adult Education) आदि की ओर भी कुछ विद्वानो का ध्यान खिंचा है। ग्राम-सगठन की ओर भी कुछ नेताओं और युवकों ने ध्यान देना प्रारम्भ किया है। यह सब भारत के कल्याण के लक्षण हैं। परन्तु अभी इनकी गति के कुछ और तेज होने की जरूरत है।

इस तरह सरसरी नजर डालने से मालूम होता है कि भारतवर्ष का विगत वर्ष साधारणत अच्छा रहा। यद्यपि अधिक उन्नति नही हुई, तथापि अवनति भी नहीं हुई।

कृष्णचंद्र विद्यालङ्कार

राजस्थानी साहित्य

साँगा गौड़

बारट जोगीदानजी अपने समय के चारणों मे परम प्रसिद्ध पुरुष थे। राजपूताने के सभी रजवाड़ों में उनका मान था। बड़े-बड़े राजा-महाराजा उन्हे आदर देते थे। इसलिए दूर-दूर तक उनकी ख्याति हो गई थी।

एक बार बारटजी ने राजा वेढूनाग को जाचने के लिए दूर देश की यात्रा की। मार्ग मे नगर चाळ का प्रान्त पड़ा। एक दिन एक छोटे से गाँव के पास पहुँचने पर दिन थोड़ा सा रह गया। बारटजी अपने साथियों से बोले— "आज ई गाँव मं ई ठेर जाओ, आगे कुण जोणें गाँव कितनी दूर मिलै।"

गाँव में घुसते ही, एक मकान के आगे कुछ आदमी बैठे नजर आये। बारटजी के साथियों मे से एक बोला— "क्यूं शा, ठाकर साहब की कोटड़ी कुण सी छै?" उत्तर मिला—"क्यूं शा, कांई करोगा?" वह बोला—"बारटजी का ई लशकर को बिचार आज अठेई ठेरबा को छै।" वे आदमी बोले—"शा, आगे चाल्या जाओ।" बारटजी के साथी ने पूछा—"ठाकर साब को नाँव कांई छै?" उधर से एक आदमी बोला—"ठाकर साब को नाँव छै साँगो जी गौड।"

बस, वहां से बारट जी के साथियो ने साँगाजी गौड की कोटड़ी अर्थात् हवेली पूछना प्रारम्भ कर दिया। जिस मनुष्य से पूछते, वही आश्चर्य-चकित आँखो से देखकर मुसकराता हुआ मार्ग बतला देता था। चलते-चलते ये लोग गाँव के उस ओर, एक झोपडी के आगे जाकर खड़े हो गये। "साँगाजी गौड़ की कोटडी कठै?" इतना सुनते ही, उस झोपड़े में से एक अधेड़ स्त्री, छाती तक घूंघट डाले, निकल आई। उसने बारटजी के आदमी से वृत्तान्त जान कर कहा—"साँगा गौड की कोटडी योई छै। बारटजी सूँ अरज करो कै अठेई उतरबा मे आवै।" बारटजी समझ गये कि किसी मसखरे ने मसखरी की है। गाँव के ठाकुर का नाम न बतलाकर किसी ग़रीब आदमी का नाम बतला दिया। उन्होने अपने आदमियो को वहीं ठहरने को आज्ञा दी।

साँगा के द्वार पर बारटजी का डेरा लग गया। ऊँट-घोडे बँध गये। जाजमें बिछ गई। दुलीची पर बारटजी विराजमान होगये। उन्होने अपनी ढाल-तलवार दाहिनी ओर रखली, बडासा एक बटुआ—थैला—बाँई ओर रख लिया। कटार कमर मे लगा हुआ था। खवास ने, चाँदी और सोने से मढ़ा हुआ, साँकलो और झमकों से लड़झड़ किया हुआ अर्थात् भली भाति सजाया हुआ चवड़-पोश हुक्का तैयार करके आगे रख दिया। बारटजी ने बाँई ओर रक्खे हुए उस बटुए मे से अफीम की डिब्बी निकाली। तब तक साँगा की माँ ने लोटा माँज कर जल हाजिर किया। बारटजी को ठहराने वाली वह अधेड़ स्त्री साँगा की माँ थी। बारटजी ने साँगा की माँ से पूछा—"साँगाजी कठै?" उसने नम्रता से उत्तर दिया—"अबार आयो जावै छै।" बारटजी ने हाथ-मुँह धोकर अफीम ली। इतने मे उस गाँव का ठाकुर दौडता हुआ आया और हाथ जोड कर बारटजी से विनती करने लगा। उसकी प्रार्थना का तात्पर्य यह था कि किसी बदमाश ने आपको बहका दिया है। मेरा नाम न बताकर साँगा का नाम बता दिया। गाँव का ठाकुर मैं हूँ। साँगा यद्यपि हमारी जाति का अर्थात् गौड ठाकुर ही है, पर बहुत ग़रीब आदमी है और अभी बच्चा है। वह गाँव के ढोर चराता है और उसकी माँ अन्न पीसती है। इस प्रकार ये माँ-बेटे अपना पेट पालते हैं। इनके यहाँ ठहरना ठीक नहीं। आप कृपा करके मेरे यहाँ चलिए। बारटजी ने बैठे-बैठे ही उत्तर दिया, जिसका

भाव यह था कि साँगा की मालदारी और कगाली से हमें मतलब नहीं। हम तो उसे इस गाँव का ठाकुर समझ कर ठहर गये, सो ठहर गये। अब हमे दूसरे किसी ठाकुर की आवश्यकता नहीं है, आप किसी प्रकार का कष्ट न कीजिए। तब विवश होकर वह ठाकुर साहब चले गये, परन्तु साँगा की स्थिति बारटजी को विदित होगई।

थोड़ी देर मे, गाँव की गायें-भैसे हाँकता हुआ, हाथ मे लकड़ी लिये, एक दस-बारह बरस का बालक बारटजी के आगे आकर खडा हो गया। साँगा की माँ बोली—"यो साँगो आयो।" बारटजी बैठे थे, साँगा को देखकर खडे हो गये और झुककर जुहार किया। कहा—"जै माताजी री।" साँगा बोला—"जय माताजी री। आओ, भली कर आया।" बारटजी बोले —"आब लाछ लिच्छमी, रूडा दिन सम्पत रा।" तात्पर्य यह कि साँगा समझ गया था कि ये चारण है। इसलिए उसने उन्हे आदर दिया कि आपका आना शुभ सूचक है, आइए। इस पर बारटजी ने आशीष दी कि आप के यहाँ लक्ष्मी आवे और सुख-सम्पत्ति के शुभ दिन आवें। साँगा बोला—विराजो, तब बारटजी बैठे।

सांगा ने अपनी माँ से सलाह करके निश्चय किया कि चारणों का सत्कार होना चाहिए, पर कैसे किया जाय? घर मे तो कुछ है ही नहीं। सागा उठा और उन लोगों के पास गया जिनके ढोर चराता था। वह उन सबसे एक-एक महीने की चराई पेशगी ले आया। माँ भी यह कहकर कि तुम्हारा पीसना पीस-पीस कर चुका दूँगी, कई घरो से अनाज उधार ले आई और उसे बात की बात मे पीसकर आटा तैयार कर दिया। जब सब रसद, मय दाने-घास के तैयार हो गई, तब सागा ने सब सामान बारटजी के आगे ले जाकर रख दिया। बारटजी देखकर वैसे ही रह गये। उन्होंने सोचा—अरे गजब! बेचारे इस गरीब ग्वाल ने इतना सामान कैसे इकट्ठा कर लिया। वे बोले—"सांगाजी, आप किसी बात की तकलीफ मत करो। म्हाँ कै पास सब सामान छै। आपको सिरफ़ लूण और पाणी ल्यौंगा।" सांगा ने हाथ जोड़कर कहा—"बारटजी साव, सागो गौड़ ग़रीब होयो तो काँई, पर है तो छत्री। ई सूँ यो अरज है कै यो सामान लेबा में आवै।" इस प्रकार सागा की माँ के अनु-नय-विनय करने पर बारटजी ने वह सामान ग्रहण कर लिया।

सबेरे जब बारटजी ने जाने की तैयारी की तब सांगा ने देखा कि बारटजी को देने के लिए उसके पास कुछ भी नहीं है। वह एक कमली बुन रहा था, पर कमली अभी तैयार न हो पाई थी। सांगा ने बारटजी से लौटते समय इसी मार्ग से लौटने और उस पर एक रात की फिर कृपा करने की प्रार्थना की। उसका विशेष आग्रह देखकर बारट जी ने स्वीकार कर लिया। तब बारटजी से वचन लेकर सांगा शात हुआ।

राजा बेळूनाग को जाच कर, लाखों का सामान लेकर, छै महीने बाद बारटजी लौटे। उन्हे अपने वचन का स्मरण था, इसलिए उन्होंने आज फिर सागा के द्वार पर डेरा डाला। सागा की माँ बहुत प्रसन्न हुई और रसद का सामान इकट्ठा करने लगी। सागा अभी तक ढोर चराकर लौटा न था।

उस गाँव के नीचे नदी बहती थी। सागा नित्य नदी के उस पार ढोर चराने जाता था। बस, गाय की पूँछ पकडी और पार। रोज इसी तरह जाता-आता था। सबेरे वह नदी सामान्य थी, पर ऊपर की ओर पानी बरस जाने के कारण, तीसरे पहर आ गई। लौटते समय सागा ने देखा कि नदी आपे में नहो है। वह फेन उगलती हुई क्रोधित नागिन की भाति फुफकारती जा रही है। सागा किनारे खडा होकर नदी के भीषण रूप को देख रहा था, इतने में ढोर नदी मे उतर गये। साथ ही सागा भी कूद पडा। उसके एक हाथ म लकडी और दूसरे मे गाय की पूँछ थी। बीच धार मे पहुँचने पर प्रवाह की प्रखरता बहुत बढ़ गई। सांगा ने सभलकर पूँछ को और भी जोर से पकडना चाहा, इतने मे बहती हुई एक लकडी, बहाव के वेग से उछलकर सागा की कलाई पर पडी, हाथ से पूँछ छूट गई। पूँछ छूटते ही पानी की एक ऐसी फटकार लगी कि सागा सभल न सका। वह धार मे बहने और डूबने लगा।

गाँव के बहुत से आदमी किनारे पर खडे देख रहे थे, वे चिल्लाये-"साँगो बहग्यो, साँगो डूब्यो!" हल्ला सुनकर बारट जी भी किनारे पर आ खड़े हुए। उन्होंने देखा कि आदमी चिल्ला तो रहे हैं, पर साँगा को निकालने की चेष्टा

कोई नहीं करता। बेचारे साँगा के लिए अपनी जान कौन जोखिम में डाले। साँगा तैरना जानता था इसीमे अब तक डूबा नहीं था। पर वह ऊपर उठ-उठ कर नीचे गिरने लगा, उस मटमैले पानी का प्रखर प्रवाह उसे सँभलने न देता था। साँगा तैरते तैरके थक गया था, उसके हाथ-पैर जवाब दे चुके थे, पानी के थपेड़ों के मारे साँस लेना तक कठिन हो गया था। वह यहाँ डूबता और वहाँ निकलता था। जब उसका सिर पानी से बाहर निकलता तब वह पुकार कर कहता—"हे-जे कोई सुणता होवै तो—" फिर डूब जाता। फिर सिर निकाल कर कहता—"म्हारी माँ सूँ कह दीजो" फिर डूब जाता। फिर सिर निकलने पर कहता—"ओ कॉबल बारट जी ने दे दी।" फिर डूब जाता। वह कहता था कि जो कोई सुनता हो तो मेरी माँ से कह देना कि वह कमली उन बारट जी को दे दे। किनारे पर खड़े हुए स्वय बारट जी सुन रहे थे। उनका हृदय भर आया। उन्होंने ऐसा दाता आज तक नहीं देखा था। वह गद्‌गद हो गये। उनका अन्त करण पुकार उठा—हे अम्बा, हे आदशकर्त्ता, हे जोगमाया, उबार! उबार! उबार!

× × ×

क्या हुआ और कैसे हुआ, सो किसी की समझ मे नहीं आया, पर साँगा को सबने किनारे पर खड़ा देखा! सब ईश्वर की विचित्र महिमा का वर्णन करने लगे। साँगा घर आया और अपनी माँ से मिला। सबेरे उसने अपनी वह कमली बारट जी की भेट करदी। बारट जी ने गाँव भर के ठाकुरो को एकत्र करके सबके सामने कहा—

"किया न बेळनाग, साद जिके साँगै किया।
काहिण तोछो त्याग, मन जोइजै माढ़ तणो।"
"दीन्हे री देवळ चढै, मत कोइ रीस करै।
नागर चाळो ठाकरां, (थाँमे) साँगो गौड सिरै॥"

तात्पर्य्य यह कि राजा बेळनाग ने यद्यपि लाखों रुपयों का धन दिया, पर ऐसी आवाजे उसने भी नहीं सुनाई। साँगा के जैसा कण्ठ-स्वर बेळनाग मे सुनने मे नही आया। छोटे दान से क्या, मनुष्य का मन देखना चाहिए। और, दान की ध्वजा देवळ अर्थात मन्दिर पर चढ़ती है, दाता के यश को दूर-दूर तक फहराती है। कोई रीस-क्रोध-मत करना अप्रसन्न न होना, हे नागरचाळ के ठाकुरो तुम सब मे साँगा गौड सिरमौर है।

मुंशी अजमेरी

हमारे अछूत भाई

लक्ष्मीनारायण मन्दिर में अछूतों का प्रवेश

"समानी प्रपा सहवो अन्न भाग समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि।
सम्यञ्चो अग्निं सपर्यत आरा नाभिमिवाऽभित॥
अथर्व० ३। ३०

आखिरी सास

"जब तक हम अस्पृश्यता रक्खे हुए हैं, हम मे कमी बनी है। ससार के सभी धर्मों की आज जाँच हो रही है। × × × × मुझे इस मे जरा भी शक नहीं है कि आज के इस झगडे मे या तो अस्पृश्यता का नाश होगा या हिन्दू-धर्म ही गायब हो जायगा। मगर मैं जानता हूँ कि हिन्दू-धर्म नष्ट नहीं हो रहा है, मरने भी नही जा रहा है। क्योंकि मैं देखता हूँ कि अस्पृश्यता तो एक मुर्दा है, जो अपनी आखिरी सास से थोड़ी देर और जीने के लिए झगड़ रहा है।"

एक और हिचकी

किलोन मे भाषण करते हुए महात्माजी ने देश मे

फैले छुआछूत के भूत को आखिरी सांस लेने वाला मुर्दा कहा था। वर्धा के लक्ष्मीनारायण मंदिर मे उस दिन अछूतों को प्रवेश करते देख इस मुर्दे के दिल पर कड़ी चोट पहुँची है। बस अब एक और हिचकी, एक हलका-सा धक्का भारत की इस सारी विषमता को दूर कर देगा।

मन्दिर का इतिहास

वर्धा का श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर, देश-भक्त सेठ जमनालालजी बजाज के पूज्य दादा श्री बच्छराजजी का बनवाया हुआ है। सं० १९६१ मे यह मंदिर बनना शुरू हुआ और सं० १९६३ मे बन कर तैयार हुआ था। इसी वर्ष माघ शुक्ला षष्ठी के दिन इस मंदिर मे श्री लक्ष्मीनारायण की सुन्दर मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा बड़ी धूम-धाम के साथ की गई। मंदिर ७६,३३२) की लागत मे बना है। सं० १९६६ की श्रावण शुक्ला एकादशी के दिन सेठ साहब ने मन्दिर के नाम से ७५,०००) की स्थावर जंगम मिल्कियत को रजिस्ट्री करवा दी और चार सज्जनों का एक व्यवस्थापक मंडल भी नियत कर दिया। आज मन्दिर की सम्पत्ति १,७५, ०००) रुपयों के लगभग है। मन्दिर का वार्षिक व्यय ७,०००) और आय १०-१२ हजार के करीब है।

मन्दिर का महत्व

श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर वर्धा की इमारत इतनी सुन्दर और दर्शनीय है कि उसे देखने के लिए लोग दूर-दूर से वर्धा आते रहते हैं। सेठ जी के कारण महात्मा गांधी, महामना पं० मालवीयजी, कुमारी मीराबाई आदि देश-नेता एव प्रसिद्ध पुरुष भी समय-समय पर इस मन्दिर को देखकर प्रसन्न हुए हैं।

आज लगभग २२ वर्षों से यह मन्दिर अछूतो को छोड कर वर्धा की सारी जनता के लिए खुला था। परन्तु जमनालाल जी जैसे देश-सेवक से अछूत भाइयो का यह कष्ट न देखा गया। उनकी कोमल और सहृदय आत्मा अछूत भाइयों पर होने वाले इस अत्याचार को अधिक काल तक सहन न कर सकी। वे समय पाते ही अपने दिलकी इस कसक को मिटाने की कोशिश मे थे। गत १९ जुलाई को आखिर वह शुभ दिन आ ही पहुँचा। ट्रस्टियों ने भी जमनालाल जी की लगन देखकर उनकी बात मान ली और मंदिर सब के लिए खोल दिया। उसी दिन सेठ जी ने अपने एक मित्र को लिखा—"यहाँके अस्पृश्यो को श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर मे प्रवेश करा देने का मेरा विचार, बहुत दिनों बाद आज कार्य मे परिणत हो सका। × × लोगों को सूचना तो पहले ही मिल चुकी थी परन्तु जब नोटिसे बाँटी गईं तब खूब खलबली मची। दूसरे दिन मंदिर मे प्रवेश करने वाले लोगों की संख्या से मुझे यह विश्वास होने लगा कि इस मामले मे लोगो का विरोध जिस हद तक अपेक्षित था उससे प्रत्यक्ष में कहीं कम है। आशा है इसका परिणाम भविष्य मे बहुत ही अच्छा होगा। मंदिर खुल जाने की घोषणा होने पर लोगो ने बडा शोर मचाया। एक डेपूटेशन भी जमनालाल जी से मिला पर वह उन्हें इस सत्कर्म से विरत न कर सका।

सेठ जी की दो वर्ष तक खादी पहनने की छोटी और दूरदर्शिता-पूर्ण माँग को शिष्ट-मंडल का कोई सदस्य स्वीकार न कर सका। और इसी कारण उस दिन मंडल को सेठ जी के यहाँ से निराश होकर जाना पडा।

इसी दिन रात को वर्धा मे अछूतो के मन्दिर-प्रवेश के विरोध मे एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमे पक्ष और विपक्ष दोनो ओर के सज्जन उपस्थित थे। विरोधियों की संख्या परिमित थी अत अपने भाषण के सिलसिले मे एक सज्जन के इस कथन पर भी—

"जो अपने पिता का सच्चा पुत्र है वह कल मंदिर मे जाकर बलिदान हो जायगा। किसकी ताकत है जो हमारे रहते अछूतों को मन्दिर में घुसने दे—"

सभा में विरोध का प्रस्ताव पास न हो सका। उलटे एक भाई के, भरी सभा मे अछूत-प्रवेश पर नम्रतापूर्ण और युक्तियुक्त भाषण करने पर, विरोध मे की हुई सभा पक्ष, मे होगई और सारा सभा-स्थल सेठजी की जय-जय-कार से गूंज उठा।

दूसरे दिन सवेरे से ही अछूत भाई बडी संख्या में साफ स्वच्छ कपडे पहन, उल्लासपूर्ण हृदय से श्री लक्ष्मीनारायण के चरणों मे भक्तिभाव से भरा अपना पत्र-पुष्प चढाने आने लगे। दरवाजे पर खड़े-खड़े सेठजी बड़े प्रेम-

पूर्वक सब भाइयों का स्वागत कर रहे थे। चारों ओर हर्ष उल्लास, भक्ति और कृतज्ञता की स्रोतस्विनी उमड रही थी, इतने मे ६० वर्ष की एक वृद्धी मदरासी चमारिन स्वच्छ वस्त्र पहिने हुए सेठजी के पास से जाने लगी। सेठ जी को देखते ही उसने बडी कृतज्ञता-पूर्वक कहा—"महाराज! आज आपने दर्शन खोल कर हम पर बडा उपकार किया है, भगवान् आपका भला करे।" इस तरह कई भाई-बहन आते-जाते सेठ जी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते थे। उस दिन का वह दृश्य ही अनूठा था। सबेरे और शाम दोनों वक्त मिलकर कम से कम २००० भाई बहन दर्शन के लिए आये थे। रात को जब मन्दिर मे कीर्तन हुआ तो सब दर्जे के भाइयों ने एक साथ बैठकर सेठ जी के इस काय मे अपनी सक्रिय सहानुभूति दिखलाई थी। इसी रात को वर्धा के गांधी-चौक मे सत्याग्रहाश्रम के आचार्य श्री विनोबा भावे ने अस्पृश्यो के मन्दिर-प्रवेश पर एक सुन्दर विवेचनात्मक भाषण 'ईश्वर सर्व भूतानाम्' वाक्य से शुरू किया। उक्त भाषण का महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार है—

"मै कल पहली बार ही यहाँ के श्री लक्ष्मीनारायण जी के मन्दिर मे आया था, और आज सबेरे फिर आया। किन्तु आज मुझे जो बात यहाँ दिखाई पडी उसे मैं कल न देख सका था। आज मुझे श्री लक्ष्मी और श्री विष्णु की मूर्तियोंमे ईश्वर का जो दर्शन हो सका वह कल नहीं हुआ था। कुछ दिनों पहले मैं एक बार कोल्हापुर गया था। वहा एक बहुत बडा और पवित्र देवालय है। वहाँ की देवी को जगदम्बा कहते हैं। जगदम्बा का अर्थ है जगत् की माता। मैं देवीके दर्शनों से वापिस आ रहा था। एकाएक मेरे मुहसे इस प्रकार के उदगार निकले कि यद्यपि इस देवी का नाम जगदम्बा है—तो भी यह सचमुच जगदम्बा नहीं है। क्या कहीं ऐसी माता भी देखी गई है जो अपने कुछ बच्चों को तो अपने पास आने दे और कुछ बच्चो को अपने से एकदम दूर रक्खे? परन्तु यह माता तो कुछ बच्चो को अपने पास आने देती और कुछ बच्चों को दूर रखती है, इसलिए इसे जगदम्बा कहना भूल है। उसी प्रकार कल भी मुझे यहा के विष्णु और लक्ष्मी, जगत् के सच्चे पिता-माता प्रतीत न होते थे, परन्तु आज जब मैं श्री विष्णुजी के चरणों पर दृष्टि लगाये हुए था, तब मुझे जो आनन्द हुआ उसे मैं शब्दों मे प्रकट नहीं कर सकता।

× × धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो केवल बुद्धिसे जानी जा सके। तर्कशास्त्र धार्मिक मामलो की बाबत लूला बन जाता है। धर्म का ज्ञान केवल हृदय को ही हो सकता है। × × आपके सामने यदि आपकी, कुरूप ही सही, माता का एक चित्र और एक किसी दूसरी सुन्दर स्त्री का अत्यन्त सुन्दर चित्र रखा जाय तो आप अपनी माता का कैसा भी चित्र देखकर फडक उठेंगे लेकिन दूसरा सुन्दर चित्र देखकर आपका हृदय उतनी हिलोरें नहीं मारेगा। इस का क्या कारण है? इसका एक मात्र कारण है हृदय की पहचान। उस पहचान के कारण पहला चित्र आनन्द की उमगे उठाता है और दूसरा चित्र नहीं।

अस्पृश्यों के मन्दिर-प्रवेश का प्रश्न भी इसी प्रकार का है। वह वहाँ के तमाम उपस्थित सज्जनो के हृदय में आनद उमडाता है। हृदय मानता है कि इसमें कोई अयोग्य बात नहीं है, परन्तु पुरानी रूढिका दबाव बुरा होता है। हृदय जिस बात को मानता है कि यह सत्य है, उसका भी सिर रूढि के सामने झुक जाता है। यह बड़े शोक की बात है। अतएव अस्पृश्यो को मन्दिरो मे क्यो जाने देना चाहिये—इसके कारण बतलाने मे आपका समय लेना नहीं चाहता। हिन्दू-धर्म के एक ही मुख्य सिद्धान्त का मैं आज विवरण करूँगा। हिन्दू धर्म के सब सिद्धान्तों का शिरोमणि 'ईश्वर सर्वभूतानाम्' ही है। अत्यन्त प्राचीन काल से ऋषिमुनियो ने इसे स्थिर कर रखा है। और अनेक सत-महन्तों ने इसकी प्रतीति भी पायी है। इसलिए इस विषय में किसी को शका हो नहीं सकती। एक और दृष्टिसे अबोध हिन्दू बालक यह बात किसी के न सिखाते हुए भी कह सकेगा कि ईश्वर सब जगह है। मै मानता हूँ यह बात समझने मे जितनी सरल है उतनी ही आचरण के लिए कठिन है। साप या बिच्छू या शेर को देखकर यह विश्वास कि "यह मेरा भाई है" बहुत देर से होता है। सामान्यत. तो हम उसे शत्रु ही मान बैठते हैं और उसे कुचलने का प्रयत्न करते हैं। यह हमारी नितान्त भूल है। ठीक यही हालत आज अस्पृश्यों की है। हिन्दू धर्म कहता है—"ईश्वर सर्वभूतानाम्" तो क्या अस्पृ-

क्यों में ईश्वर नहीं है ? अवश्य है, लेकिन हम यह बात भूलसे गये हैं अथवा गये थे। इसलिए इसका अंशतः परिमार्जन करने के लिए आज का यह उपक्रम किया गया है। आप विश्वास रक्खें कि इससे हिन्दू-धर्म अधिक उज्वल और सच्चा हिन्दू धर्म बन गया है।

मन्दिर परमात्मा का, उस चित् शक्ति का निवासस्थान है जिसके द्वारा सब प्राणियों के व्यवहार काबू मे रखे जाते हैं। मौत का समय आता है तो गाय और शेर, हाथी और चींटी, पापी और ज्ञानी सभी अनन्यगतिक हो जाते हैं। यह उस महाशक्ति का, जिसे हम "ईश्वर" कहते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसे कोई माने या न माने, पर यह अपनी हुकूमत सब पर बराबर चलाती है। उसी शक्ति के निवास-*स्थान में क्या हम इस भावना से जा सकते है* कि मैं उच्च-वर्ण का हूँ, यह हीनवर्ण का है, मैं ब्राह्मण हूँ, यह ढेड-भंगी है, मैं धनिक हूँ, यह दरिद्र है, मैं बुद्धिमान हूँ, यह मूर्ख है ? यह अहंकार बिलकुल मिथ्या है। जो सब अच्छे गुणों का निधान है और जिसकी कृपा से ही उस गुण का अत्यन्त छोटासा कण हमें प्राप्त है, उसीके सम्मुख हम उस विशिष्ट गुण का अभिमान करें तो यह कितनी बड़ी मूर्खता की बात होगी। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध साधु रामदास क्या कम बुद्धि वाले थे ? परन्तु उन्होंने ईश्वर से क्या प्रार्थना की—'बुद्धि दे रघुनायका'—अर्थात् हे रघुनायक मुझे बुद्धि प्रदान करो। प्रख्यात अद्वैतवादी भगवान् शंकराचार्य महाज्ञानी और 'अहं ब्रह्मास्मि' का प्रतिपादन करनेवाले थे। उन्होंने भी आखिर भगवान् से क्या कहा ?—

'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।' अर्थात् हे प्रभो, यद्यपि आपमें और मुझमें कोई भेद नहीं है फिर भी मैं आपका दासानुदास ही हूँ। कहां इतने बड़े-बड़े व्यक्तियों की उस महाशक्ति-शाली प्रभु के सम्मुख प्रकट की हुई दीनता और कहां हमारा अहंकार ! हम तो आज तक यही मान बैठे थे कि हम उच्च है। उस उच्चातिउच्च के सामने भी अपने को उच्च समझना कितनी बड़ी मूर्खता है यह आप समझ ही गये होंगे। और फिर कोई मन्दिर मे आता है तो वह इस भाव से तो आता नहीं कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं धनिक हूँ, मैं बड़ा अफ़सर हूँ या और कोई हूँ। वहां तो वास्तव में, जैसा कि तुकाराम महाराज ने कहा है—

यारे यारे लहान थोर
भलते याती नारी नर,

अर्थात्, हे भाई ! आपकी कोई भी जाति क्यों न हो आप यहाँ अवश्य आइए; इस प्रकार की वृत्ति चाहिए।

अब रही ईश्वर को ताले के अन्दर बन्द करने की बात सो ताला चाभी से तो वह कभी बन्द हुए ही नहीं। उन्हें बन्द करने के लिए किसी दूसरी चीज की जरूरत है—

नामदेव कीर्तन करी
तेथें देवा नाचे पांडुरंग,

अर्थात्, जहां नामदेव कीर्तन करते हैं, वहां प्रत्यक्ष भगवान् आकर नाचते है। जनाबाई ने भगवान् से चक्की पिसाई, *महासाधु एकनाथ तो भगवान् से पूरे बारह वर्षों तक घरका* काम लेते रहे। इन लोगोंने क्या ताले चाभियों से भगवान् को कैद कर रक्खा था ? कदापि नहीं। भगवान् को यदि पकड़ रखना है तो ऐसी उत्कृष्ट भक्ति करो कि आपको छोड़ जाने की उनकी हिम्मत न हो। प्रसिद्ध साधु तुकाराम का कथन है—

नम्र झाला भूता तेणें कोंडिलें अनन्ता

अर्थात् भगवान् उसीके ताबेदार हैं जो प्राणिमात्र से नम्रता धारण करता है। इसलिए आप यदि भगवान को अपने ही पास रखना चाहते है तो उनकी उत्कट भक्ति कीजिए।

यह सोचने की बात है। आज कई बरसों से जिन लोगों को हमने अस्पृश्य मान कर दूर रक्खा है, उनको हिन्दू-धर्म के प्रति कैसी उत्कट श्रद्धा और भक्ति है। मैंने एक बार एक अस्पृश्य से पूछा कि "तेरी लड़की का नाम क्या है ?" उसने उत्तर दिया "एकादशी"। सोचिये तो सही इस नाम मे कैसा काव्य है ! हिन्दू-धर्म और हिन्दू संस्कृति के प्रति उसकी कैसी भावना है। महाराष्ट्र मे जो पंढरपुर की यात्रा होती है उसके लिए भावनापूर्ण अंतःकरणों से जाने वाले हीन-वर्ण के लोग ही अधिक सख्या में पाये जाते है। पंढरपुर के यात्री बनने पर मरते दम तक उनका यह नियम अटूट चलता है। यह व्रत स्वीकार कर लेने पर वे मद्य, मांस का सेवन करना बन्द कर देते हैं। इन सब बातों से यही पता चलता है कि ये लोग हिन्दू-धर्म के प्रति खूब श्रद्धा रखते

वाले हैं। इसलिए इनकी अब काफी परीक्षा हो चुकी है, अब इन्हें अपनाने मे बिलम्ब न लगाना चाहिए। अब रही बात, कुछ लोगो के अस्पृश्यों के मन्दिर-प्रवेश के विरोध की। सभव है ऐसे कई लोग हो जिनको यह बात सचमुच अ-धार्मिक मालूम होती हो और इसलिए शायद वे मारपीट करने पर भी तुल जायॅ। परन्तु हमारा तो इस समय कर्तव्य होगा कि ऐसे भाइयो से कहे "भाइयो ! आप यह नितान्त अ-धार्मिक कृत्य करने पर उठ खड़े हुए है। आप लट्ठ लेकर आये हैं तो हम अपनी पीठ खोल देते हैं। आप जितने लट्ठ चाहे जमा दे। इसमे हमारा कुछ बिगड़ता नही है। विष्णु भगवान् ने भृगु की लात सहन की तो हमारे लिए लट्ठ सहना कोई बडी बात नहीं है।" और इस प्रकार यदि लोगों ने सत्वपरीक्षा भी की तो उसमे हर्ज ही क्या है? हिन्दू-धर्म अधिक उज्वल ही होगा। यूरोप मे लोगों ने क्रनमर को जिंदा जला दिया परन्तु उसके धर्म की ज्वाला और भी ऊँची उठी, साक्रेटीस को विष पिलाया गया और वह भी उसे दूध के समान पी गया और आत्मा का अमरत्व सिद्ध कर गया, ईसू ख्रीस्त क्रास पर चढाया गया परन्तु उसका धर्म बढ़ता ही चला गया। हिन्दुस्तान के लोग स्वभाव से ही दयालु होते है, इसलिए यूरोप जैसी कडी परीक्षा तो नहीं देनी पड़ेगी। जो परीक्षा देनी होगी वह बहुत सौम्य होगी और हर एक उसमे अवश्य उत्तीर्ण होगा। इसलिए हर एक नम्र अहिंसावादी व्यक्ति को अवसर पडने पर इस परीक्षा से मुँह न मोडना चाहिये। ईश्वर आपको अविच्छिन्न सहन शक्ति प्रदान करे।'

सेठ जी ने अछूतों को मन्दिर-प्रवेश का अधिकार लौटाकर वह काम किया जिसकी प्रशसा से देश का कोना-कोना गूँज उठा—उन्होंने आकुंचित हिन्दू-समाज-सागर के चिर-निस्तब्ध वक्षस्थल पर सात्विक साहस का वह जाज्वल्यमान अस्त्र फेंका जिसने उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक के सारे भारत मे असख्य क्षुब्ध-उदबुद्ध विचार-तरंगों का कोलाहल मचा दिया। उनके इस साहसिकता-पूर्ण कार्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखना देश के दिग्गज नेताओं और पण्डितों के लिए भी कठिन हो गया। बिजली की चमक की भांति इस सत्कार्य के समाचारों ने चारों ओर फैलकर श्री जमनालालजी के पास प्रोत्साहन और साधुवाद के जो असख्य पत्र पहुँचाये उनमे से कुछ के सदेश इस तरह है।

लाला लाजपत राय ने लिखा—

"इससे यह बात स्पष्ट प्रगट होती है कि शांत सेवा और दृढ निश्चय सुधार के पथ मे कितने यशस्वी हो सकते है। मैं अपने अन्तस्तल के सच्चे प्रेम और ममता के साथ जमनालाल जी को बधाई देने मे महात्मा गांधी जी के साथ शामिल होता हूँ।" लालाजी के ये वाक्य भी हैं—

'मैं आशा करता हूँ कि हिन्दू-महासभा इस घटना का, देश-व्यापी अनुकरण के लिए, प्रचार करेगी और यत्न करेगी कि देश भर के मन्दिर अछूतो के दर्शन करने के लिए खुल जायँ। आगामी मनुष्य-गणना के समय तक, इस देश मे एक भी आदमी ऐसा न रहने पावे जिसे अपनी गिनती 'अछूत' कह कर करानी पड़े। न तो किसी को अछूत कहा जाना चाहिए, और न किसी के साथ अछूत जैसा व्यवहार ही होना चाहिए। सेठ जमनालाल जी बजाज ने अपने कर्तव्य-पूर्ण उज्ज्वल देश-सेवा के जीवन में, एक कदम और आगे बढाया है।' श्रीयुत नरसिंह चिन्तामणि केलकर ने लिखा—"जमनालालजी का उदाहरण भारी मनोधैर्य वाला और अभिनन्दनीय है।' महात्मा जी के शब्द थे—"मेरी समझ मे तो, ऐसा प्रख्यात देवालय अन्त्यज भाइयो के लिए खोल देने का यह प्रथम ही उदाहरण है। इस पवित्र कार्य के करने के लिए मैं सरक्षक का धन्यवाद करता हूँ। भले ही उन्होंने यह कार्य आज डरते-डरते किया हो, परन्तु यह कार्य करके हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति की भारी सेवा की है, और एक ऋण अदा किया है। वर्धा कुछ छोटा सा गांव नहीं है—उद्योग का एक खास स्थान है। वहां स्वतन्त्र भावना के कितने ही धनिक बसते है। ऐसे स्थान मे अन्त्यज भाइयो का निर्विघ्न मन्दिर-प्रवेश, यह सूचित करता है कि अस्पृश्यता की जड़ अच्छी तरह हिल गई है।"

गद्‌गद् होकर महामना मालवीय जी ने लिखा—

श्री ॥

प्रिय जमनालाल जी

आशीस

आपने अपने भगवद्भक्त पूर्वजों के स्थापित किये भगवान् लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल पर्यन्त सब श्रद्धालु भाइयों को जगत्पिता की पावन मूर्ति का दर्शन करने की स्वतन्त्रता दी और जो कुँवे बनवाये उन पर सब जाति के भाइयों को स्वच्छ बर्तन से पानी भरने का अधिकार दिया यह सुन कर मुझ को बहुत संतोष हुआ. आप के ये दोनों काम सर्वथा शास्त्र के अनुकूल हैं और घट घट वासी विश्वात्मा इस से प्रसन्न होगा।

परमात्मा आप की धर्म की भावना देशभक्ति और निष्काम लोकसेवा के भाव को दिन दिन अधिक दृढ़ करे और आप के द्वारा देश का और लोक का दिन दिन अधिक उपकार हो॥

आपका
मदन मोहन मालवीय।

विश्वविद्यालय, काशी.
प्र. श्रावण शुक्ला ११,
सं १९८५.



डाक्टर मुंजे महोदय ने अपनी लम्बी चिट्ठी में, हिन्दू-महासभा का तत्वज्ञान समझाया, और जमनालाल जी का अभिनन्दन किया। उनके पत्र का एक वाक्य यह है—"गये सालकी प्रान्तिक हिन्दू-परिषद् के समय से मैंने भी, अपने यहाँ, कोई देवालय अस्पृश्यों के लिये खुला हो सकता है कि नहीं, इसके लिये बहुत प्रयत्न किया, परन्तु मुझको अभी तक सफलता नहीं मिली है।" बेलगाँव की राष्ट्रीय आत्मा श्री० गंगाधररावजी देशपांडे के शब्द थे—"मुझे पूर्ण आशा है कि जनता अब आपके बताये पथ का अनुकरण करना प्रारम्भ करेगी और हिन्दू धर्म का यह कलंक अब शीघ्र ही धुल जायगा।" बरार के नेता श्री० अणे ने अपने लम्बे पत्र में, अपनी सच्ची बधाइयां भेजी थी। श्री राजमल जी ने, जमनालालजी के इस कार्य को मारवाडी समाज के अहोभाग्य का लक्षण बताया। नागपुर के सेठ पूनमचन्दजी रांका की बधाइयां थीं। और भी बधाइयों का तांता लग रहा था।

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के आचार्य श्री ध्रुव ने सेठजी के कार्य का समर्थन करते हुए लिखा—'भवतां सुकृतेन सर्व भूतान्तरात्मा भगवान् वासुदेव प्रीयता मित्याशी' अर्थात्, आपके इस कार्य से घट-घट व्यापी भगवान् वासुदेव प्रसन्न हों, यही मेरा आशीर्वाद है।

आचार्य जी के बाद तो काशी के कई गणयमान्य एवं धुरन्धर विद्वानों ने सेठजी के इस कार्य का गौरवपूर्ण शब्दों में स्वागत एवं समर्थन किया उनमें से विशेष उल्लेखनीय ये है—महामहोपाध्याय श्री० प्रमथनाथ तर्कभूषण, साहित्य-शास्त्राध्यापक श्री वामदेव शर्मा, हिन्दू विश्वविद्यालय, व्याकरणशास्त्राध्यापक श्री अम्बिकाप्रसाद शास्त्री आचार्य, धर्मशास्त्राध्यापक श्री राधाप्रसाद शास्त्री, व्याकरणाध्यापक श्री कालीप्रसाद मिश्र, आदि।

मुसलमान होते हुए भी बारडोली स्वराज्य-आश्रम से श्री इमाम-साहब अब्दुल क़ादिर बावजीर ने सेठ जी को लिखा था—

"मुझे हमेशा इस बात पर ताज्जुब हुआ करता था कि जब तक अन्त्यज लोग हिन्दू धर्म में रहते हैं तब तक तो उनसे नफ़रत की जाती है, और बदसलूकी उनके साथ होती है, मगर जब वह मुसलमान या ईसाई हो जाते हैं, तो उनसे वह पहले जैसा सलूक होना बन्द हो जाता है। कई बार मैं अपने से यह सवाल पूछता था कि क्या सचमुच हिन्दू-धर्म का यह आदेश हो सकता है कि अन्त्यज भाइयों के साथ ऐसा बरताव किया जाय मगर अब मैं यह साफ़ देखता हूँ कि अछूतपन हिन्दू धर्म में बुरे रिवाज की तरह घुस गया है—इसका अंश नहीं है। मैं आशा करता हूँ कि इस बात को सब लोग जल्दी, समझ जावेंगे और ऐसे ही दूसरे धर्मों में जो जो बुरे रिवाज दाखिल हो गये हैं उन्हें निकालने की खुदा उन्हें हिदायत दे।"

दूसरे सज्जन वर्धा के एक जमाने के डिप्टी कमिश्नर, मि० बेचलर, आई० सी० एस० है। मि० बेचलर, आई० सी० एस० की नौकरी से इस्तीफ़ा देकर चले गये है। वे अपने १६ अगस्त के पत्र में पेरिस से लिखते है—"गत मास की २२ तारीख के 'हितवाद' में यह पढ़ कर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई कि आपने अपना लक्ष्मीनारायण का मन्दिर सभी अछूतों के लिए खुला कर दिया। मैं आपको इस साहस पर बधाई देता हूँ कि अपने इस कार्य से पैदा हुए तूफान के सम्मुख भी आपने झुकने से इनकार कर दिया था।

बेडछी सत्याग्रह-आश्रम (बारडोली) के नवयुवक सत्याग्रही कवि भाई फूलचन्द कस्तूरचन्दजी ने, गुजराती होते हुए भी, हिन्दी में, श्री जमनालालजी के पास अपना वह काव्यमय प्रोत्साहन भेजा, जिसकी कुछ प्रारंभिक पंक्तियाँ ये हैं–

अन्त्यजों को बिठाना गोद में रे,
उच्चवर्णों का शुद्ध है काम—अ०
ब्राह्मणों को पैदा किया ईश ने रे,
अन्त्यज भी हैं प्रभु के बाल—अ०
ऊँच नीच की भावना नीच है रे,
मनुजाति है सर्व समान—अ०

आदि—

काशी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक एवं विद्यापीठ के आचार्य श्री भगवानदास जी एम० ए० ने अपनी एक लम्बी चिट्ठी में सेठ जी के कार्य का समर्थन किया और उसके भावी प्रचार के लिए कई उपयोगी सूचनायें दीं।

जागृत—भारत के रंगमच पर सुधार की जो मंगल भावना प्रदीप्त हो रही है उसके अनुयायिओ ने सेठ जी को हर तरह सम्मानित किया और उनके कार्यों से सक्रिय सहानुभूति भी प्रदर्शित की जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण पूना आदि प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नगरो मे सेठ जी के अभिनन्दन और अस्पृश्यता निवारण के लिए की गई विराट् सभायें है।

कुरला की अब्राह्मण सभा, अहमदनगर की लिबरल असोसिएशन, यवतमाल के मारवाडी युवक मण्डल, भुसावल की हिन्दू सभा, कोल्हापुर की साहू सत्य शोधक समाज, कोल्हापुर के सब जज श्री० सुब्बाराव गायकवाड, बबई की अछूतो की सार्वजनिक सभा के सभापति श्री० प्रधान, नागपुर का वैष्णव शिंपी समाज, जैन साधु मुनि जयचन्द्र जी, अखिल भारतवर्षीय अछूतोद्धार कमेटी देहली, अखिल भारतीय अरुन्दतीय सेण्ट्रल सभा मद्रास, दादर का स्वराज समता सघ, अमरावती के अछूतों की परिषद्, पूने की भांबुर्डा मातग समाज, षदुजाना ऊजिया संगम्, अथाम्बकम् मद्रास, आर्य-स्वराज सभा लाहौर, आदि कितनी ही सभा-सोसायटियो और व्यक्तियों ने जमनालालजी को बधाइयाँ दी, अभिनन्दन किया, और उनके साहस तथा न्याय-प्रियता की चर्चा की।

इस तरह देश के सभी नेताओ, सुशिक्षित, सहृदय और उदार मतवादी विद्वानो, भगवद्-भक्तो और सुधारको ने सेठजी को उनके इस पवित्र और भूतदया से प्रेरित कार्य के लिये हार्दिक बधाइयाँ भेजी और उन्हे हर तरह उत्साहित किया है। इन बधाइयों का केवल एक ही आशय हो सकता है-वह यही कि छूत-अछूत प्रश्न के सम्बन्ध में लोकमत इस समय आशा से अधिक उदार और अनुकूल बन रहा है, समय की इस अनुकूलता का हम हृदय से स्वागत करते और परमेश्वर से प्रार्थना करते है कि वह भारत के बच्चे-बच्चे मे ऊँचनीच की भावना के बदले समान भावना को जाग्रत करे जिससे देश की एक-राष्ट्रीयता की नीव मजबूत हो और हम स्वराज्य के अधिक निकट पहुँचने लगे। (संकलित)

काशीनाथ नारायण त्रिवेदी

समय की लहर

नीमच छावनी के चमारो में पिछले चन्द सालों से आत्म-जागृति हुई है। इसके फल-स्वरूप यह तीसरा वर्ष है कि डोलाग्यारस पर वे भी सत्यनारायण भगवान् का विमान निकालने लगे हैं। उच्च-जातीयता के अभिमानी सनातनधर्मी लोग इसपर नाराज है और तभी से, इसके प्रतिवाद-स्वरूप, उन्होंने अपने विमान निकालने ही बन्द नहीं रक्खे हैं बल्कि इस मौके पर हड़ताल के रूप में वे मातम भी मनाते है। इस बार बिजोलिया से लौटते हुए इस दुःखद प्रसङ्ग को देखने का दुर्भाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ—मैं दङ्ग रह गया। इन्दौर से पुलिस के इन्स्पेक्टर-जनरल आये थे। मजिस्ट्रेट आदि ने भी समझौते की कोशिश की। चमार भाई अपना समय बदल कर आगे-पीछे रखने के लिए भी तैयार हो गये थे। पर, सनातनधर्मियो ने फिर भी भगवान् के बहिष्कार और हडताल का ही निश्चय किया। क्योंकि, स्वार्थ और दूसरे हीन कामो मे चाहे उनसे कितना ही सम्पर्क रक्खा जाय पर, भगवत्पूजा के मङ्गल-कार्य मे कही उनकी परछाहीं पड जाती तो भला उनके पीढी-दर-पीढी के पुरखा घोर नरक-गामी न हो जाते? मैं यह तो नही मानता कि हड़ताल सफल हुई, वस्तुत वह हडताल थी ही नहीं, फिर भी सनातनधर्म के ठेकेदार बनने वालो की इस प्रवृत्ति की निन्दा किये बगैर नहीं रह सकता। मेरा खयाल है, ऐसा करके उन्होने दूसरे के भगवान् का बहिष्कार भी किया। और हडताल मना कर तो उन्होंने—अत्युक्ति और धृष्टता न समझी जाय तो मै कहूँ—नीचता की भी हद करदी। यह भक्ति-भावना नही, ढोग है, भक्ति के नाम पर धोखेबाजी है। इसी प्रवृत्ति ने आज हमे इतना हीन और पराधीन कर रक्खा है। अच्छा हो, अब भी इस प्रवृत्ति का नाश हो जाय। नही तो वे भाई याद रक्खे, इसकी प्रतिक्रिया शुरू हो गई है। चमार भाइयों ने बहुत सहन किया है। उन्होंने तथा दूसरे अछूत भाइयो ने अब 'मनुष्य' नाम को सार्थक करने का निश्चय कर लिया है। अगर उसमें कोई बाधक हुआ तो वे भी उसका बहिष्कार और उससे घृणा कर सकते है और करेंगे। और वह ऐसी जबर्दस्त क्रान्ति होगी कि उसमें उन्हें उसी प्रकार घुटने टेक देने

होंगे कि जैसे दुनिया मे हर जगह प्रतिक्रियात्मक क्रान्तियों के सामने उग्रता और प्रभुता के मदान्ध अन्यायी-अत्याचारियों ने टेक दिये। यह समय की लहर है और इसे उन्हें समझना ही होगा।

× × ×

यह हर्ष की बात है कि कुछ हिन्दू भाइयों ने समय की इस लहर को समझा है। अनेक हिन्दू जलूस मे शरीक भी हुए, जिनमे सरकारी-गैरसरकारी सभी तरह के प्रतिष्ठित पुरुष भी थे। बहुत से उच्चजातीय स्त्री-पुरुषो ने, और कोई विमान न होने से, फल-फूल की अपनी भेंट भी इसीमें चढ़ाई। और कईयों—खास कर युवको, मे मैंने देखा कि 'कट्टरों' की कट्टरता के विरुद्ध तीव्र बेचैनी भी थी। जलूस अच्छा था, जन-संख्या ७-८ सौ रही। पुलिस व रैदास सेवा-समिति का प्रबन्ध सन्तोषजनक था। लल्लू जी और ब्रह्मचारी हरि जी के भजन भी खूब प्रभावशाली रहे। कईयों का यह भी खयाल है कि अगले साल तक शायद सनातनी भी समझ जायें और फिर क्रमश यह विवाद ही मिट जायगा। हमारी भी यही कामना है। भगवान् हमारे इन गुमराह भाइयों को बुद्धि दें!

मुकुट

स्व-गत

कुछ मनुष्य कहा करते है कि जब तक हमको पूरी स्वतन्त्रता नहीं दी जाती तब तक हमारा मन काम मे नही लग सकता, पर देखते है कि कार्यत और परिणामत स्वतन्त्रता का अर्थ हो जाता है शिथिलता।

× × ×

जो नियम-बद्धता को नहीं मानता है वह वास्तव मे स्वतन्त्रता को भी नहीं मानता है। प्रकृति स्वतन्त्र है, क्योंकि वह नियमबद्ध है।

× × ×

कुछ मित्र कहा करते है—सब सपादक अपनेको 'हम' लिखते है, तुम 'मै' क्यो लिखते हो? मैं कहता हूं, इसलिए कि वे बडे है और मैं अपनेको एक मामूली आदमी समझता हूं। वे अपनेको प्रतिनिधि समझते है, और मैं अपनेको एक मामूली सेवक। व्यवहार भी तो यही बताता है—बड़े आदमी अपनेको 'हम' कहते है, छोटे आदमी मै।

× × ×

कभी-कभी कोई मित्र कहते हैं—तुम्हारी मिठास से कभी-कभी धोखा हो जाता है। इससे तो खरी और कड़वी बात बहुत अच्छी होती है। मैं कहता हूँ—यदि ऐसा है तो यह मेरा कसूर होगा, मिठास का नहीं। बात खरी भी हो और मीठी भी हो तो क्या बुरा है?

× × ×

जो कभी किसी के सामने न झुकने का अभिमान रखता है, उसे कभी तिनके के सामने झुक जाना पडता है।

× × ×

'सैनिक' के पालीवाल जी अपना रोना रोते हैं—हमी 'सैनिक के चपरासी, हमी मैनेजर, हमी सपादक, हमी धनोत्पादक? अरे, तो भाई, क्या 'देशभक्ति' किये बिना दुनिया डूबी जाती है? 'जी हजूर' करके अब तक मिनिस्टर न बन गये होते? 'सैनिक' की घटी के लिए यो क्यों चिल्लाहट मचानी पड़ती?

× × ×

"देशभक्ता प्रासाद बन्दिशाळा, शृंखळेच्या गुंफिल्या पुष्पमाळा। चिता-सिहासन, शूल-राजदण्ड। मृत्यु दैवत दे अमरता उदण्ड।"*

ह० उ०

---

*देशभक्तो का महल क्या है? जेलखाना। बेडिया तो मानों उनके गले मे फूलमालायें है। चिता उनका सिहासन और शूली राजदण्ड समझिए। और मृत्यु ही उनकी असीम अमरता है।

सम्पादकीय

राजस्थान में क्षोभ की लहर

ऐसा जान पडता है, राजस्थान की आत्मा भीतर ही भीतर क्षुब्ध हो रही है। उसके कुछ चिन्ह कभी कभी प्रकट हो जाया करते है। ब्रिटिश भारत के प्रान्तो मे जिस जिस किस्म की हलचलें होती रहती हैं प्राय' सब की प्रतिध्वनि राजस्थान में सुनाई पडती है। बारडोली के किसानों का सत्याग्रह तो सफलता-पूर्वक समाप्त भी हो गया पर बिजोलिया के किसान अभी तक अड़े हुए दिखाई देते हैं। कुछ किसानों ने हाल ही और भी इस्तीफे दिये हैं। इधर बारडोली के लिए भी अजमेर, ग्वालियर, उज्जैन, जयपुर आदि से चन्दा जाने के समाचार मिले है। अजमेर मे तो श्री जमनालाल जी बजाज का एक महत्वपूर्ण भाषण भी बारडोली पर कराया गया था। 'कर्मवीर' और 'मालव बन्धु' के निषेध पर तथा प्रेसएक्ट के जारी होने के सिलसिले में इन्दौर से भी क्षोभ के समाचार आ रहे हैं। सन्तोष की बात है कि श्री बापना साहब ने इन्दौर के प्रतिनिधि मंडल को अभिवचन दिया है कि वे सभा बन्दी-कानून मे लगाई गई शर्त उठवा देंगे। उज्जैन मे ग्वालियर-राज्य-खादी संघ तेजी से काम कर रहा है पर पुलिस के कुप्रबन्ध की शिकायतें ज़ोरों पर हे और कई लोगों के हस्ताक्षर की दरख्वास्त कौन्सिल को दी गई है। कुछ युवक उतावले और अधीर हो रहे है। जयपुर मे इन दिनो खासी हलचल है। वहाँ का खादी-कार्य जम तो अच्छी तरह गया है और दिन दिन बढ़ने की भी आशा है, परन्तु अभी उसमे जीवन और नियमबद्धता के बढ़ने की आवश्यकता है। खास राजस्थान मे खादी-प्रचार की बहुत आवश्यकता है जिसके लिए उद्योग करने का विचार हो रहा है। यह तो हुआ शान्तिपूर्वक चुपचाप होने वाला काम, पर इधर अखबारों मे भी 'जयपुरी' 'जय पुरियत' खूब धूम मचा रहे हैं जिसके कारण लोगों का ध्यान जयपुर की ओर खिंच रहा है। मुख्य शिकायत यही है कि रेजिन्सी कौन्सिल के राज्य मे एकाध बात को छोड़कर प्राय सब बातो मे प्रजा के कष्ट बढ़े ही हैं, घटे नही। इसके अलावा जैनियो मे हाल ही एक ऐसा विवाह हुआ है जिससे स्थिति-पालक और सुधारक दोनों दलों मे काफी चख-चख रही। कहते है, एक अनाथ विधवा का विवाह एक अविवाहित युवक के साथ हुआ, जिसमे लोगों ने बड़े उत्साह मे योग-दान दिया। सारे राजस्थान के जैनियों मे यह पहला ही विवाह हुआ है। रामगढ़, सीकर में एक छोटासा मुकाम है। वहाँ गाँव के पुराण-प्रिय लोगो ने अछूत पाठशाला के मास्टर को पीट डाला है और उसका कुवो से पानी लेना बन्द कर दिया है। एक ओर वर्धा मे श्री लक्ष्मीनारायण का मंदिर अछूतो के लिए खुल जाता है और महामना मालवीयजी इस तरह मन्दिर खुलवाने के लिए सत्याग्रह तक कराने को तैयार है, दूसरी ओर रामगढ मे अछूतो के बालको को पढ़ाने के अपराध मे उच्च-वर्ण के मास्टर पर मार पडती है और कुएँ से पानी लेना भी बन्द किया जाता है। जान पडता है, हमारे सनातनी कहे जाने वाले पुराने लोगों ने ज्ञान और प्रकाश से अपना सिर टकराने पर कमर कस ली है जिससे उनके हाथ सिवा पछताने के कुछ आना जाना नही है। सुधारक यदि शांति, धीरज और सहिष्णुता से काम लेंगे तो उन्हें सफलता जल्दी मिलेगी। यदि बल-प्रयोग के मोह मे पड जायगे तो सुधार एक ओर रहा उल्टी दुर्गति होगी। भरतपुर एक ओर महाराजा की और दूसरी ओर अंग्रेज दीवान की पार्टियों के संघर्ष का केन्द्र बन रहा है। इसी प्रकार अजमेर, पुराने आर्यसमाज और नगर-आर्यसमाज के, अखबारों मे गाली-गुफ्ता देने के लिए इन दिनों प्रसिद्ध हो रहा है। गालियाँ चाहे अपनी ओर से हों, चाहे जवाब में हो, हर हालत में बुरी हैं और

इससे किसी की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ सकती। जिन लोगों में विचार की प्रधानता होती है उनसे तो लोग गाली-गलौज की ओर भी कम आशा रखते हैं। 'कर्मवीर' कार्यालय खण्डवा से निमाड़ और मालवे का मुख-पत्र—'विक्रम'—निकला है। वह गरीबों का हामी होकर आया है। इसके प्रकाशन से 'मालवबन्धु' की मृत्यु का दुःख दूर हो जाता है। 'विक्रम' अपने नामानुसार जोरदार तो रहेगा ही; पर आशा है, वह प्रौढ़ता और समतोलता मे भी पीछे न रहेगा।

राजस्थान के इस क्षोभ को देखकर जहाँ हृदय को उत्साह मिलता है वहाँ कुछ पारस्परिक वैमनस्य को देख कर चित्त उद्विग्न भी होने लगता है। और मुज़फ्फरपुर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के झगड़े के समाचार पेरिस में पढ़कर अध्यापक दिवेकर का लिखा—"हम कब अपने व्यक्तित्व को भूलकर सेवा-परायण होंगे?" यह वाक्य कानों में गूँजने लगता है। मतभेद और प्रकृति-भेद कोई अस्वाभाविक और अनहोनी बात नहीं है; पर इनके साथ जब व्यक्तित्व का प्रलोभन हमे घेर लेता है तब सेवा द्वेष या निराशा का रूप धारण करके हमको और कार्य को बरबाद कर देती है।

राजपूताने में अकाल

इस वर्ष वर्षा के अभाव में राजपूताना में कई जगह अकाल का पूरा भय है। जयपुर-राज्य ने तो अकाल की सूचना भी दे दी है और किसानों को तकावी देने तथा राज्य में बाँध बांधने का काम शुरू करने का प्रस्ताव किया है। अन्न की बात क्या, पशुओं के लिए घास का भी पूरा अभाव रहने की संभावना है। ऐसी दशा में अकाल-पीड़ितों की सहायता की ओर क्षमतावान् लोगों का ध्यान जाने की परम आवश्यकता है। बंगाल तथा उड़ीसे के अकाल-संकट-निवारण का जिन्हें अनुभव है, वे जानते हैं कि खादी-कार्य का संगठन करने के बराबर अकाल-पीड़ितों की सहायता का दूसरा अच्छा ज़रिया नहीं है। इससे किसान, कातने वाले, पीजने वाले, बुनने वाले, धोबी, रंगरेज, बढ़ई सबको घर बैठे सहायता मिलती है और राजपूताना में तो इस काम को कोई नये सिरे से शुरू भी न करना होगा। अकाल-पीड़ितों की सहायता करने की इच्छा रखने वाले लोग दो तरह से इसमें मदद दे सकते हैं (१) खादी उत्पत्ति में तन, मन, धन से सहायता देकर और (२) खुद राजपूताने की बनी खादी खरीदकर। आशा है अकाल-पीड़ितों की सहायता के इस सर्वोत्तम साधन की ओर राजस्थान की सभी श्रेणियों के सज्जनों का ध्यान जायगा।

हिन्दू-जाति और नंगे साधु

हिन्दू-जाति धार्मिक सिद्धान्तों की सूक्ष्मता में जितनी आगे बढ़ गई है उतनी आज उनके गूढ़ रहस्य के अनुसार व्यवहार करने में पिछड़ी हुई है। यह हमारा परम दुर्भाग्य है। हिन्दू तत्त्वज्ञान रूपी दैवी और अनमोल निधि परमात्मा ने अब तक हम जैसे कुपूतों के पास न जाने क्यों रख छोड़ी है? यदि समय-समय पर हिन्दू-जाति में उच्च तत्त्वों और और आदर्शों को अपने जीवन में सजीव कर दिखाने वाले सत्पुरुष न उत्पन्न होते रहते तो हम आज कहीं के न रहे होते। यही कारण है जो इस गई-गुजरी हालत में भी हमे अपनी बुनियाद पक्की नज़र आ रही है। हमारे आध्यात्मिक सिद्धांत शुद्ध, अकाट्य और त्रिकालाबाधित होते हुए भी आज हमारा जीवन आध्यात्मिक या धार्मिक नहीं है। वह आडंबरों, अन्धविश्वासों और मिथ्या व्यवहारों का विडम्बनापूर्ण जीवन हो रहा है। इसका कारण यह है कि सदियों से हमने धर्म के बाहरी नियमों और आचारों के पालन पर इतना अधिक ध्यान और जोर दिया है कि धर्म की आत्मा को गवाँ और भुला बैठे है। साधुओं की नग्नता का ही उदाहरण लीजिए। एक धार्मिक हिन्दू के लिए यह समझना कठिन नहीं है कि मुमुक्षु जब त्याग और अपरिग्रह की पराकाष्ठा को पहुँचने लगता है तब वस्त्र भी उसे अनावश्यक और भार रूप मालूम होने लगते हैं और उनका त्याग कर देता है। पर कहाँ तो यह आत्मिक विकास की उच्च विरागावस्था और कहाँ आजकल के अधिकांश साधु और मुनि-नाम धारियों की वह नग्नता जिसका आत्मा की पवित्रता, मन की निर्मलता से कोई सरोकार नहीं है। जिसे बात बात पर क्रोध आता हो, समय पर भोजन न मिले तो जो बिलबिला उठता हो, टके और कौड़ियों के लिए अथवा मिष्टान्न के लिए नग्नता का—नंगों की जमात का—प्रदर्शन कराता फिरता हो, उसे वही साधु और मुनि कहेगा, जिसकी बुद्धि जड़ता से मलिन हो गई है। जो वास्तविक विरक्ति के कारण नग्नता को प्राप्त हुए हैं उन्हे क्या ज़रूरत गाँवों

और नगरों में प्रवेश करने की और क्या जरूरत है वस्त्राभूषण सज्जित सुन्दरियों और युवतियों के समक्ष भोजन पाने की। सनातनधर्मी कहलाने वालों के यहाँ तो नगों की एक खासी जमात—फौज ही है, जो अपनी उद्दण्डता, असभ्यता, मुफ्तखोरेपन के लिए प्रसिद्ध है। जैनियों में भी मुनि लोगों—नंगे साधुओं—का जोर काफी है। हाल ही अजमेर मे एक जैन नगे साधु आये हुए हैं जिनके आचार-विचार के संबन्ध में सुधारक जैनियो ने खासा आदोलन उठा रक्खा है। 'जैन जगत्' के श्री सेठी जी ने इस कुप्रथा की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया है, और मुझे यह कहने में कोई हिच-किचाहट नही है कि जिसका आचार दूषित है, जो विकारो के वश में है, उसे नग्न रहने का कोई अधिकार नही है और यदि रहता हो तो उसे शहर में वा ग्राम मे प्रवेश करने का अधिकार नही। यदि वह आवे तो अवश्य उसका बहिष्कार होना चाहिए। जो लोग अज्ञान से, वा लोक-लाज से ऐसे साधुओं को पूजते हैं वे धर्म की बिडम्बना करते हैं और अपना तथा अपने कुटुबियों के पतन का मार्ग निष्कण्टक करते हैं। ह० उ०

सुलगती हुई आग कैसे बुझे ?

पिछले महीने साइमन सप्तक के आगमन, नेहरू रिपोर्ट पर सब दलों की अभिनन्दनीय एकता तथा डाक्टर अंसारी आदि हिन्दू-मुस्लिम एकता के हामी नेताओं के प्रयत्न से देश में जातीय वैमनस्य का धधकता हुआ ज्वालामुखी कुछ काल के लिए शान्त हो गया था, लोगों मे जातीय झगडों के कारण उत्पन्न आतक की मात्रा कम-सी हो रही थी कि इतने में लखनऊ के सर्वदल-सम्मेलन के बाद ही कुछ धर्मांध और राष्ट्र-विरोधी मुस्लिम नेताओं की खुराफातभरी कार्रवाई के कारण अशिक्षित मुस्लिमो मे धर्मोन्माद की लहर फिर से उठ खड़ी हुई है। देश मे यत्र-तत्र बेसर-पैर की बातो पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे होने की बातें, पहले की भांति अब भी, पत्रों में बराबर छपने लगी हैं। खड़गपुर के भयंकर मुस्लिम-सिक्ख दंगे की आग अभी शात भी न होने पाई थी कि उधर मैसूर मे गणेशोत्सव को लेकर धर्मान्ध मुसलमानों ने वहाँ के देवणगिरि, बगलौर आदि स्थानों पर निरीह हिन्दू-बालकों, विद्यार्थियों और नि:शस्त्र हिन्दुओं पर कायरतापूर्ण हमले करना प्रारम्भ कर दिया। उस दिन गोधरा के दूरदर्शी हिन्दू नेताओ ने जब वहाँ के धर्मोन्मत्त और कलह करने पर तुले हुए मुसलमान गुण्डों को गणेशोत्सव के अवसर पर दगा करने का कोई अवसर न दिया तो वार खाली न जाने के हेतु उन्होने जैन-भाइयों के पर्यूषण-जुलूस पर धावा बोल दिया जिसमें लगभग १०० स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे, इनमें २५,३० ऐसे भी थे जिन्होने पन्द्रह-पन्द्रह दिन के उपवास रक्खे थे, अत स्वभावत: ही वे निर्बल और शस्त्र-हीन थे। ऐसे धार्मिक जुलूस पर बिना कारण आक्रमण करके गोधरा के धर्मान्ध मुसलमानो ने जिस नीच और पशु-तुल्य मनोवृत्ति का परिचय दिया है, कोई भी समझदार और सहृदय मनुष्य उसकी निंदा किये बिना न रहेगा। हमे खेद के साथ लिखना पडता है कि जैन-भाइयो के जुलूस के दिन सवेरे १० बजे से ही मुसलमान गुण्डों की बीभत्स और हिन्दुओ की धर्म-भावना को चोट पहुँचाने वाली शरारतें शुरू हो जाने पर भी वहाँ के अधिकारियो ने—जो अधिकाश में मुसल्मान ही हैं—अपने कर्त्तव्य की निन्दनीय उपेक्षा की और नगर की शान्ति को भग करने मे गुण्डो को प्रोत्साहित किया। गायो को रँग कर उन्हें प्रतिष्ठित हिन्दू-नेताओं के भवनों और जैन-देवालयों के सम्मुख बाँधना, उनके शरीर पर काफिरो की माँ, 'गाय की कुर्बानी' जैसे बीभत्स वाक्य लिखना, और रास्ते से आने-जाने वाले हिन्दू को देख-देख कर बँधी हुई निरपराध गाय पर छुरा चलाने का अभिनय करना आदि गोधरा के मुसलमानो की उस दिन की प्रमुख शरारते थी इसी दिन दो पहर को दो बजे जैन भाइयों के जुलूस पर वहाँ के मुस्लिम-गुण्डो ने हमला किया और हिन्दुओं के सूने घरो मे जा जाकर उनकी स्त्रियो और बच्चो को बुरी तरह पीटा और उनका अपमान भी किया। वामनराव मुकादम, श्री पुरुषोत्तमदास शाह वकील आदि चार नि:शस्त्र प्रतिष्ठित हिन्दू नेताओं को पिजारवाड़ी के नाके पर घेर कर बड़ी ही निर्दयता से मारा। उस समय का वर्णन पढ़ते हुए शरीर मे रोमाच हो आता है। इन अन्यायी धर्मान्धों के घेरे मे आकर वीरवर पुरुषोत्तमदास शाह ने, वहीं, हिन्दू जाति और मुस्लिम गुण्डों को जो सदेश

दिया है उसे प्रत्येक स्वाभिमानी हिन्दू और निष्पक्ष मुसलमान को अपने हृदय में अंकित कर लेना चाहिए। श्री शाह ने कहा था—"ऐसी असहाय स्थिति में हम पर हमला करना आपकी कायरता है, आपके लिए शर्म की बात है। निःशस्त्र होते हुए भी हम डर कर यहाँ से भागेंगे नहीं। सच्चा हिन्दू मौत से कभी नहीं डरता। हिन्दू-जाति के हितार्थ भयंकर से भयंकर कष्ट सहने को हम तैयार हैं। इस तरह की कार्रवाइयों से आप अपने इस्लाम की शान नहीं बढ़ा सकेंगे। मुझे यकीन है कि आप इस वक्त यहाँ हमें जान से मार डालने के लिए जमा है, मगर याद रखना हमारे खून से हज़ारों शहीद पैदा हो जायँगे।"—श्री शाह के इतना कहने पर भी इन क्रूर-कर्मा मुसलमानों ने उन्हें मारना न छोड़ा, जब कठोर मार खाते-खाते श्री शाह ज़मीन पर बेहोश गिर पड़े तब उन्हें और उनके साथियों को मरा जान आक्रमणकारी वहाँ से भाग गये। दूसरे दिन श्री शाह की अस्पताल में मृत्यु हो गई। वे धन्य थे, उनकी सी वीर मौत किस पुरुष के पुरुषार्थ को न जगायेगी? ईश्वर इस शहीद की आत्मा को शान्ति दे और हमें उसके अनुकरण का बल।

शेष नेताओं की हालत सुधर रही है।

इधर गोधरा में यह रोमहर्षण घटना हुई और उधर देवण-गिरि में गुण्डों ने हिन्दू-विद्यार्थियों के गणपति-जुलूस पर धावा बोल दिया, उन्हें बुरी तरह पीटा और रथ-पर पेट्रोल छिड़क कर वहीं उसमें आग लगा दी। मूर्ति को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। सुनते हैं मूर्ति के साथ रामकुमार का चित्र भी था।

अब कहा जाता है कि दोनों स्थानों के हिन्दू-मुसलमान नेता दंगे से उत्पन्न पारस्परिक अविश्वास और आतंक भाव को मिटाने की जी-जानसे कोशिश कर रहे हैं। गोधरा में तो बम्बई के पंडित राधाकान्त मालवीय, प० आनन्द-प्रिय जी, श्री वझे आदि दंगे की जाँच करने पहुँचे थे। वहाँ के जिला मैजिस्ट्रेट ने भी शान्ति-रक्षा के लिए प्रान्तीय कौन्सिल के पास आश्वासन का तार भेजा है। सुनते हैं गोधरा की मुस्लिम पुलिस पर अविश्वास का प्रस्ताव पेश करने और दंगे की जाँच के लिए सभा की बैठक स्थगित करने का एक प्रस्ताव स्वामी-नारायण भी प्रान्तीय कौन्सिल में पेश करने वाले हैं। देवणगिरि के मुसलमानों में भी समझौता हो जाने की खबर समाचार पत्रों में छप चुकी है। कहते हैं कि यह समझौता वहाँ के रियासती अधिकारियों के प्रयत्न से हुआ है। देवणगिरि के मुस्लिम व्यापारियों ने गुण्डों का दोष बतलाते हुए दंगे के सम्बन्ध में खेद प्रकट किया और गणपति पर फूल चढ़ाना स्वीकार किया है।

उक्त लक्षणों से यद्यपि तात्कालिक शान्ति की कुछ आशा की जा सकती है तथापि स्वराज्य-प्राप्ति के लिए जिस और जैसे हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की आवश्यकता है उसका अभाव स्पष्ट मालूम पड़ रहा है।

इसके लिए एक ही दवा है और वह यह कि जिम्मेदार मुस्लिम-नेता और मुल्ला आदि अपनी जिम्मेदारी स्पष्ट समझें, पथ-भ्रष्ट धर्मान्ध गुण्डों को राह पर लावें, उन्हें शिक्षित बनावें और जातीयता के स्थान पर राष्ट्रीय भावना को उनके हृदय में जागृत करें। हम प्रेम, हृदय की शुद्धि, स्वार्थ-त्याग, सहिष्णुता और सुशिक्षा से ही देश की यह सुलगती हुई आग बुझा सकते हैं।

हिन्दू-भाइयों को भी दंगों की परिस्थिति से सदा जागरूक रहना चाहिए, अब अधिक समय तक नींद में सोते रहने से सिवा हानि के लाभ न हो सकेगा। संगठन, और जागरूकता द्वारा ही हमारे हिन्दू-भाई जातीय दंगों की मात्रा कम कर सकते और देश को राष्ट्रीयता के अधिक निकट पहुँचा सकते हैं।

ईश्वर हमारे भाइयों को सुमति दे जिससे वे सत्पथ ग्रहण कर राष्ट्र-हित के कामों में हाथ बँटाने लगें।

त्रिवेदी

देश-सेवक सावधान रहें!

हमारा देश, निर्माण और संगठन की उस अवस्था में पहुँच रहा है जहाँ व्याख्यानों और लेखों के बल पर नहीं, बल्कि चुपचाप आत्म-यज्ञ और ठोस सेवा के बल पर देश-सेवक जी सकता है और अपनी सेवा को सार्थक कर सकता है। जिसने सेवा की एक योजना और कार्यक्रम बना लिया है वह यदि उसके प्रचार के निमित्त कुछ कहता या लिखता है तो यह दूसरी बात है, और आवश्यक भी है,

पर ऐसे व्याख्याता और अपने को कार्यकर्त्ता कहने वाले भी मिलते और देखे जाते हैं जिन्होंने महज 'पापी पेट' को भरने के लिए देश-सेवा और समाज-सेवा का स्वांग रच लिया है, एवं जो भोली-भाली जनता को ठग कर उल्लू अपना सीधा करते हैं। अतएव मेरी न-कुछ राय मे यह परम आवश्यक है कि एक ओर देश-सेवक और दूसरी ओर जनता देश-सेवा की शर्तों को अच्छी तरह समझ ले जिससे सच्चे सेवक की सेवा अबाध रूप से मिलती रहे और पाखंडियो तथा धूर्तों का रास्ता कुछ बन्द हो।

मेरी सम्मति मे सच्चे सेवक और कार्यकर्ता की एक ही सबसे श्रेष्ठ कसौटी है सदाचार, जिसका अर्थ मेरी समझ के अनुसार यह है—

(१) धन, सत्ता और स्त्री के लोभ से कर्तव्य-च्युत न होना।

(२) सत्य का भग करके कार्य साधने की प्रवृत्ति न होना।

सदाचार की इस व्याख्या से इतने सीधे नियम फलित होते है—

(१) जो अपने को मिले धन का हिसाब-किताब साफ नहीं रखता—फिर वह उसका निजी रुपया हो या सार्वजनिक काम के लिए मिला हो, क्योंकि मेरी राय मे देश-सेवक का निजी जीवन नहीं के बराबर होता है—जो लोगो को उल्टा-सीधा समझा कर धन लाता है, या धन पाकर कर्तव्य मे शिथिल हो जाता है, वह धन के सम्बन्ध मे सदाचारी नही है।

(२) देश-सेवक और सत्ता परस्पर विरोधी शब्द हैं। देश-सेवक प्रेम की सत्ता रखता है। कार्य की सुविधा के लिए सत्ता मिलती भी है तो वह उससे फूल नहीं उठता। सत्ता के मद में वह अपने छोटे साथियों को तुच्छ दृष्टि से नही देखता, उनका निरादर नहीं करता। वह मान और नाम का भूखा नहीं होता। सत्ता होने पर जो विनयशील रहता है वही सत्ता के सम्बन्ध मे सदाचारी कहला सकता है।

(३) स्त्रियों के सहवास से देश-सेवकों को दूर रहना चाहिए। जो स्त्रियों को एकटक देखता रहता है, बार-बार देखता रहता है, युवतियों की सगति में जिसे विशेष स्फूर्ति मिलती है, उनके लुभावने सहवास के बिना जिसे जीवन नीरस मालूम होता है, समझ लो वह देश-सेवक खतरे में पाँव रख रहा है और आज नही तो कल उसके जीवन और पवित्रता की इमारत ढहे बिना न रहेगी। ऐसी प्रवृत्ति रखने वाला स्त्री के सबध में सदाचारी नही कहला सकता। फिर उन लोगों की तो बात ही क्या, जो स्त्रियों को केवल भोग की वस्तु समझते है। देश-सेवक अपनी धर्म-पत्नी के साथ भी अधिक से अधिक सयम का पालन करे। जो ऐसा नही करते वे स्त्रियों के सम्बन्ध में सदाचारी नहीं है।

(४) झूठ बोल कर, धोखा देकर, झूठा वादा करके, काम साधने वाला भी मेरी राय मे सदाचारी नहीं कहा जा सकता।

मैं अपने भ्रमण मे अथवा कार्य के निमित्त ऐसे सेवकों के सम्पर्क मे आता रहता हूँ जो या तो भ्रम से, लापरवाही से, या धूर्तता से इन बातो पर ध्यान नही देते हैं और इसलिए खुद भी आगे चलकर फजीहत होते हैं और दूसरों को भी मुसीबत मे डालते है। जनता की तो दुर्दशा और हानि का कोई ठिकाना ही नही रहता। आशा है, देश-सेवा की उत्सुकता रखने वाले मेरे भाई-बहन भरसक इन बातो का पालन करने की चेष्टा करेंगे और जनता इस कसौटी पर प्रत्येक देश-सेवक को कसा करेगी जिससे दोनों को लाभ और सुख हो

महात्मा जी की वर्षगांठ

आश्विन वदी १२ को पू० महात्माजी को ६० वाँ वर्ष लगता है। देश मे स्थान-स्थान पर उस दिन उत्सव मनाया जायगा। पर महात्माजी की वर्ष-ग्रन्थी का उत्सव हलुआ पूड़ी खाकर नहीं मनाया जा सकता जैसे नेतृत्व की नवीन कसौटी, असहयोग के जमाने से, उन्होंने भारत के सामने रख दी है उसी तरह जन्मोत्सव मनाने की विधि मे भी अब क्रांति हो गई है। उनकी वर्ष-ग्रन्थी का उत्सव तो हमारे घर में चरखे की पुनः प्रतिष्ठा करके ही मनाया जा सकता है। और यदि चरखा पहले ही से हो तो २४ घण्टे का चरखा-यज्ञ करके। उनकी वर्ष-ग्रन्थी अछूतों की पाठशाला की स्थापना द्वारा भी मनाई जा सकती है। प्रतिदिन देश में हिन्दू-मुसल-

मानों के झगड़ों के होते हुए भी दोनों महान् जातियों की अन्तिम एकता में विश्वास कर, दुर्दमनीय आशावादिता को धारण कर उसके लिए और भी अधिक उत्साह से प्रयत्न करके ही उनकी वर्ष-ग्रन्थी मनाई जा सकती है। यदि वायु-मण्डल प्रतिकूल है तो दोनों जाति के समझदार आदमी अपनी-अपनी जाति को अधिक सुसंस्कृत बनाने के चिर-उपयोगी काम में लग जावे। उसे सुसगठित बना लें। उन कु-प्रथाओ को मिटाने मे लग जायँ जो अन्य जाति के गुण्डों को उस पर आघात करने के लिए ललचाती हैं। और यह सब किसी युद्ध की तैयारी के भाव से नहीं बल्कि प्रत्येक नागरिक को सच्चा हिन्दुस्तानी बनाने की भावना से और उसमे यह भावना प्रतिक्षण भरते हुए किया जाय। प्रतिदिन उस सुदिन के लिए प्रार्थना की जाय।

महात्माजी की वर्ष-ग्रन्थी का उत्सव यदि मनाना है तो केवल 'हिन्द-स्वराज्य' या उनके लेखो एव गुणों के शाब्दिक पठन से काम न चलेगा। किसी कर्मयोगी पुरुष की वर्ष-ग्रन्थी इस तरह मनाना उसका अपमान है। अत. यदि हम हिन्दू है तो हमे उनके गोरक्षा के आदेश पर भी अमल करने की कोशिश करनी चाहिए। आज देश में अच्छी गौओं के अभाव मे स्त्री पुरुषो को तो ठीक, पर देश के करोड़ों बालकों को दही-दूध मिलना भी दुश्वार हो गया है। करोडो लोग ऐसे है जिन्हे महीनों घी के दर्शन नहीं होते। यदि ऐसी ही हालत रही तो सारा देश नि सत्व हो जायगा। केवल पींजरा-पोलो से गोरक्षा नहीं होगी। कुछ लंगडी-लूली और बूढ़ी गायो की दयनीय और दु खद जिंदगी को साल छ महीने बढा देने मे ही गोरक्षा की इतिश्री नहीं हो सकती। सफल गोरक्षा के लिए स्वाश्रयी गोशालाओ की जरूरत है। जब तक धर्मशील, धनिक और उत्साही नवयुवक अपनी सम्पत्ति और शक्तियो का प्रवाह इस मार्ग में नहीं बहादेंगे यह असम्भव है। परन्तु महात्माजी की खास चीज तो है सत्याग्रह। इसमें सब कुछ समा जाता है। अकेला यह भी मनुष्य को ऐहिक और पारलौकिक स्वराज्य प्राप्त कर देने की क्षमता रखता है। इसका उपयोग मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कर सकता है और अपना तथा अपने देश का भला कर सकता है। भारत के युवकों के लिए आज इससे बढ़ कर कोई शिक्षा नहीं, गृहस्थों के लिए इससे बढ़ कर कोई गार्हस्थ्य धर्म नहीं, और बूढ़ों-सन्यासियो के लिए इससे बढ़कर कोई मोक्ष का उपाय नहीं। यह तो सर्वतोभद्र मन्त्र है।

गत उनसाठ वर्षों में पू० महात्माजी ने जो कुछ भी इस देश और ससार को दिया है यदि वह उसी का सदुपयोग करना सीख जाय तो स्वराज्य और शान्ति उसके लिए हस्तामलकवत् हो जाय। अतः अब तो परमात्मा से यही प्रार्थना है कि महात्माजी इन आने वाले वर्षों मे भारत मे, अपनी शिक्षाओ और उपदेशो को अनुदिन फलते-फूलते देखें और देखें उस आदर्श को सफलीभूत होते हुए जिसके लिए वे अपने क्षण-क्षण अविराम परिश्रम कर रहे हैं।

वै० म०

इंग्लैण्ड में भारतीय व्यापारिक-संघ

आजकल का भारतीय व्यापार वस्तुत. भारतीय नहीं है, उसका अधिकाश विदेशी व्यापारियो के हाथ मे है। प्राय सम्पूर्ण भारतीय व्यापार पर उन्होंने ही अधिकार किया हुआ है, जिसके कारण भारत को अकथनीय हानि उठानी पडी रही है। विदेशी व्यापारियो के हाथ मे अधिकतर व्यापार जाने का सब से बडा कारण उनका व्यवस्थित सगठन है। वे सब मिल कर व्यापार करना जानते है, और भारतीय व्यापारियो मे यह बात नहीं। हर्ष की बात है कि अब कुछ वर्षों से भारतीय व्यापारियों का ध्यान इधर गया है, परन्तु केवल अपने देश मे ही सगठन करने से कार्य सिद्ध नही हो जाता। विदेशो मे भी भारतीय व्यापारियों के जितने संघ होंगे, उतना ही अधिक लाभ होगा। अब तक इस महत्व-पूर्ण बात की ओर भारतीय व्यापारियों का ध्यान बिलकुल नहीं गया था। परन्तु यह जान कर प्रसन्नता हुई कि कई भारतीय व्यापारियों ने इस कमी को बहुत अनुभव किया और गत वर्ष दिसम्बर से, लन्दन मे, उन्हो ने एक सघ बनाया। इस की प्रथम रिपोर्ट हमारे सामने उपस्थित है। इससे इस सघ का पर्याप्त परिचय मिलता है।

इस सघ के मुख्य उद्देश्य भारतीय व्यापार—आयात

और निर्यात—का भारत तथा अन्य विदेशों में बढाना और भारतीय व्यवसाय, भारतीय बैंक, भारतीय जहाजी व्यवसाय (Shipping) तथा भारतीय बीमा कम्पनियो को उन्नत करना है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह ससार के सभी भागो मे भारतीय व्यापारियो को उत्साहित करेगा। इस की ओर से एक विज्ञप्ति-विभाग (information bureau) खोला गया है, जिससे सब भारतवासी व्यापार सम्बन्धी लगभग सब आवश्यक बातें जान सकेंगे। यूरोप मे भिन्न भिन्न स्थानो पर भारतीय कम्पनियो की एजेंसिया स्थापित करने के लिए भी इस संघ की ओर से एक विभाग खोला गया है, जो भारतीय कम्पनियाँ अपनी एजेंसी यूरोप मे स्थापित कराना चाहे इस सघ के द्वारा करा सकती हैं। व्यापारिक कम्पनियों के आपस के झगडों का भी यह सघ निर्णय करेगा। यह सघ भिन्न-भिन्न देशो के चुंगी और तट-कर तथा अन्य व्यापार-सम्बन्धी नियम, व्यापारिक प्रदर्शनियों के विवरण आदि सभी ज्ञातव्य बातो का सग्रह करेगा और भारतीयो को प्रत्येक प्रकार की सलाह भी देगा। कोई भी व्यापारिक मण्डल—कम्पनी—चन्दा देकर इस सघ का सदस्य बन सकता है।

प्रारम्भ मे इसके सात सदस्य थे, परन्तु अब यह संख्या १०१ तक पहुँच चुकी है, और बराबर बढती जा रही है। भारत में स्थापित अखिल-भारतीय-व्यापारि-सघ, भारतीय-व्यापारि-सघ-बम्बई तथा व्यापारिक-सघ बिहार और उडीसा ने इस सघ को अपना प्रतिनिधि बनाया है।

अभी इस संघ को स्थापित हुए कुछ मास ही हुए हैं। इतने समय मे ही, उसने जो काम किया है, वह कम नही है। हमें आशा है कि भारतीय व्यापारिक कम्पनिया या व्यापारी इसके सदस्य बनकर इससे पूर्ण सहायता लेंगे और यह सघ भी भारत के राष्ट्रीय हितो का ध्यान रखता हुआ भारतीय व्यापार को बहुत उन्नत अवस्था मे लाने की कोशिश करेगा। हम इस सघ का स्वागत करते है।

कृष्ण

'विज्ञान' की आर्थिक दुरवस्था

'विज्ञान परिषद्' प्रयाग से मासिक 'विज्ञान' नामक उत्कृष्ट वैज्ञानिक पत्र हिन्दी में प्रकाशित होता है। हमारी समझ मे इतना सुन्दर वैज्ञानिक पत्र किसी भारतीय भाषा में नही निकलता। परिषद् के अधिकारी घाटा सहकर, कठिनाइयाँ झेलकर इसे चलाते रहे हैं। 'विज्ञान' हिन्दी का गौरव है। उसमे विज्ञान के भिन्न-भिन्न अङ्गों पर उच्चकोटि के और गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं।

पर, बडे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि ग्राहक संख्या की कमी के कारण उसकी आर्थिक अवस्था शोचनीय हो गई है। परिषद् के मन्त्री महोदय ने पत्र भेजकर सूचित किया है कि यदि शीघ्र ही ३००-४०० ग्राहक न मिल गये तो पत्र बन्द करना पडेगा। 'विज्ञान' का बन्द हो जाना हिन्दी-ससार की उच्च साहित्य-ग्राहिका शक्ति के लिए एक अमिट कलंक होगा। हमे आश्चर्य होता है कि एक ओर लोग शिकायत करते है कि हिन्दी मे उच्च साहित्य नही निकल रहा है। गंभीरता को आश्रय नहीं दिया जा रहा है और दूसरी ओर गम्भीर पत्रों की उपेक्षा की जा रही है। यह अवस्था वांछनीय नहीं। हमे आशा है कि हिन्दी के लिए अभिमान रखने वाले पाठक और उदार धनी भाई 'विज्ञान' को इस प्रकार नष्ट हो जाने से बचा लेंगे।

'सुमन'

स्वागत

साहित्य-जगत मे बम्बई के अर्द्धसाप्ताहिक 'प्रणवीर' और प्रयाग के साप्ताहिक 'भारत' का उदय, हृदय से स्वागत करने की चीज है। सरकार के कुचक्र मे पिस कर जो नागपुरी 'प्रणवीर' अस्त हो गया था, वही वर्षो बाद अब बम्बई से उसी स्वाभिमान और वैसी ही अकड के साथ निकलने लगा है। 'प्रणवीर' को अपने देश की पराधीनता और दयनीय दरिद्रता का खयाल है। इस देशव्यापी सकट मे भारत की गरीब जनता की लगन से सेवा करने के पुनीत उद्देश्य से ही यह बांका पत्र पुन साहित्य-ससार मे अवतीर्ण हुआ है। 'प्रणवीर' का चित्त चोट खाया हुआ और कसक भरा है।

उसकी इस मनोवस्था का परिचय पाठकों को उसके प्रत्येक पृष्ठ में मिलता है। विषय की विभिन्नता, भाषा की सरलता और निडर, निर्भीक एवं ओजस्वी विचार 'प्रणवीर' की महाप्रणता के द्योतक हैं। महापुरुषों के चरित्र, अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें, मनोरंजक और शिक्षापूर्ण कहानियाँ, विज्ञान, आश्चर्य-जनक बातें, महिला-संसार आदि सामयिक विषयों पर 'प्रणवीर' की पाठ्य-सामग्री अनूठी होती है।

प्रयाग का 'भारत' हिंदी साहित्य जगत् की एक नई चीज है। यह लिबरल दल का हिन्दी साप्ताहिक है। इसके सम्पादक हैं हिन्दी-जगत के लब्ध-प्रतिष्ठ राष्ट्रीय विद्वान् श्रीयुत् पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी। 'भारत' राष्ट्रीय मतों का पोषक और उच्च साहित्य का निर्माता है। 'प्रणवीर' की भांति ही भारत भी अनेक सामयिक विषयों से विभूषित होकर बड़ी सज-धज के साथ निकलता है। प्रत्येक अङ्क में किसी देशी महापुरुष का चारु जीवन-चरित्र, भावपूर्ण मनोरंजक कहानी तथा साहित्यिक आलोचना, 'भारत' की विशेषता है। 'प्रणवीर' में २० x ३० अठपेजी आकार के १६ पृष्ठ और 'भारत' में 'प्रताप' के आकार के २४ पृष्ठ रहते हैं। 'प्रताप' की भांति 'भारत' भी सचित्र साप्ताहिक है और इसके सम्पादकीय विचार पठनीय एवं माननीय होते हैं।

इन दोनों उदीयमान सहयोगियों का स्वागत करते हुए हमारा हृदय हर्ष से पुलकित हो उठता है। हिन्दी-जगत इन सहयोगियों को पाकर सौभाग्यशाली हुआ है। ईश्वर इन्हें चिरायु, उन्नत, लोकप्रिय और स्वावलम्बी बनावे।

त्रिवेदी

राहतजी और 'त्यागभूमि'

मुझे यह प्रकट करते हुए बड़ा खेद होता है कि अब से मैं 'त्यागभूमि' की सेवा में भाई राहतजी का सहयोग न प्राप्त कर सकूँगा। मेरे आग्रह से उन्होंने प्रथम एक वर्ष के लिए मेरा साथ देना स्वीकार किया था। मुझे आशा तो यह थी कि एक वर्ष बाद मैं 'त्यागभूमि' की ओर से बिलकुल निश्चिन्त हो जाऊँगा, परन्तु ईश्वर अपना ईश्वरत्व इसी बात मे समझता है कि वह मनुष्य की बनाई तजवीज को बिगाड़ता रहे और अपनी तजवीजें उस पर लादता रहे। उस ज़ालिम के ऐसे खेलों का शिकार बनना साधारण दृष्टि से बुरा समझा जाता है, परन्तु श्रद्धावान् मनुष्य उसकी हर एक कृति में मांगल्य और सार्थक्य का परिमल उड़ता हुआ देखता है। अस्तु। राहतजी कवि तो हई हैं, साथ ही वे उन सेवकों में हैं जो जान की बाजी लगा कर कार्यक्षेत्र में उतरते हैं। 'त्यागभूमि' द्वारा न सही, अपने पूर्व-स्वीकृत अथवा अन्य कार्यों द्वारा आपके हाथों देश की सेवा तो होती ही रहेगी। परमात्मा से मेरी प्रार्थना है कि 'त्यागभूमि' से भी बढ़ कर कार्यों में आपकी शक्ति लगे और आपके द्वारा इस पिछड़े और दबे राजस्थान की भरपूर सेवा हो।

ह० उ०

अन्तिम दर्शन



'भारत' के सौजन्य से

पण्डित श्रीधर पाठक

(टिप्पणी के लिए पृष्ठ १०८ देखिये)



विष-पान

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, सूर्य, आदि-शक्ति इत्यादि देवता चाहे हमारी स्थूल आँखों को न दिखाई दें, परन्तु इससे तो कोई इन्कार नहीं कर सकता कि ये एक-एक आदर्श के प्रतीक ज़रूर हैं। आदर्श एक काल्पनिक वस्तु है। और सभी कल्पनाओं को स्थूल रूप नहीं दिया जा सकता। इसलिए जब हम इन देवताओं की प्रतिमायें या चित्र बनाते हैं तो उनमें कुछ अस्वाभाविकता स्वभावतः आ जाती है।

समाज मे हमेशा दो प्रकार के लोग रहते हैं। एक आदर्शवादी और दूसरे जड़वादी। दोनों के चित्त मे ये चित्र और वर्णन भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न करते हैं। जड़तावादी इन्हे किसी स्थूल देवता की प्रत्यक्ष मूर्त्ति समझ कर उसकी पूजा करते हैं, उसमें शरीर-धर्मों का आरोप कर उनकी पूर्ति या पालन पूजा द्वारा करने की कोशिश करते हैं। इन्हींमें से एक दूसरा दल यह कह कर उन मूर्तियो या चित्रों की निन्दा, अपमान या अवगणना करता है कि भला ऐसे भी कहीं कोई देवी-देवता हो सकते हैं? यह झूठ है, पाखंड है। इसका तो नाश ही करना इष्ट है। आदर्शवादी इन मूर्तियो तथा चित्रों को एक-एक या अनेक आदर्शों के प्रतीक समझ इनको प्रणाम करते हैं। किसी मूर्ति के चार हाथ, आठ मुँह, पच्चीस कान उनके चित्तमें किसी स्थूल या सूक्ष्म-शरीरी देवता की कल्पना उत्पन्न नहीं करते। उनके लिए तो ये सब बातें किसी शक्ति या आदर्श के भिन्न-भिन्न अगोंपांग की याद दिलाने वाले चिन्ह मात्र हैं। श्री वल्लभभाई पटेल महात्माजी के दाहिने हाथ हैं, या महादेवभाई देसाई उनकी आँख हैं, यह पढ़कर यदि कोई जड़ मनुष्य महात्माजी की मूर्ति बनावे और उनके दाहिने हाथ की जगह वल्लभ-भाई को बनाकर आँख के स्थान पर महादेवभाई को बैठा दे तो यह कितना विपरीत दिखाई देगा? ठीक यही हाल उन जड़वादी लोगो का है, जो कुम्भकर्ण की मूछ और सुरसा के बदन पर आपस मे लड़ते है। कुम्भकर्ण की अमानुष शक्ति तथा मारुति के मार्ग मे आने वाले महान विघ्नो का हूबहू चित्र जनता के सामने खीचने के लिए कवि-कल्पना को इन अस्वाभाविक दिखाई देने वाली बातो का भी आलंकारिक वर्णन करना पड़ता है। प्रत्येक देश के धार्मिक या प्राचीन साहित्य मे कवियो ने इस तरह की कल्पनाओं का आश्रय लिया ही है।

इसीलिए हमारे पुराणो मे भगवान महादेव का जो चित्र खींचा गया है उसे स्थूल जगत में ढूँढने की मैं कोशिश नहीं करता, न मैं यह हठ ही कर सकता हूँ कि भगवान आशुतोष मुझे किसी उज्ज्वल शरदपूर्णिमा के दिन नर्मदा या भागीरथी के पावन तीर पर दर्शन दे, हालां कि मैं मानता हूँ कि यदि मेरे अन्दर काफी भक्ति-भाव हो तो उस देवाधिदेव को वह विचित्र रूप धारण करके भी मेरे सामने खड़ा होना ही पड़ेगा। माता के अन्दर बालक का हठ टालने की शक्ति नही होती।

पर इस समय तो मैं भगवान् शकर को एक विश्व-विभूति के रूप में देखता हूँ। अनेक सीधे और टेढ़े-मेढ़े मार्गों से चलने वाले मनुष्यों का वह मुझे एक ही गन्तव्य स्थान मालूम होते है।

ऐसा प्रतीत होता है मानों उन्हे समस्त भारतीयों से एक-सा प्रेम है। तभी तो वह हिन्दुओं के लिए एक आदर्श तपस्वी, आदर्श ब्रह्मचारी, आदर्श गृहस्थ एव आदर्श यति बने हुए हैं। सिर पर गंगा है, शरीर पर भस्म लगी हुई है, और व्याघ्र-

चर्म पर बैठकर सती पार्वती के साथ नाना-पुराण-निगमागम-चर्चा द्वारा हिमालय के धवल शिखरों को पुनीत कर रहे हैं। पर इन उच्च-श्रेणी के भक्तों में आध्यात्मिक चर्चा करते हुए वह उन भक्तों को नहीं भूलते जो अपढ़ और असंस्कृत होने पर भी समाज के सर्वाधार हैं। किसी ऐसे भक्त की पुकार सुनते ही वह फौरन डमरू और त्रिशूल उठा उनमें आकर शामिल होते और ताण्डव करने लग जाते हैं। भगवान् शंकर के चले जाने पर माता पार्वती को कैलास में कहीं चैन पड़ती है? वह भी रुण्ड-मुण्ड धारण करके काली का वेश बना उस नृत्य में शामिल हो जाती हैं। भगवान् अपने भक्तों के देवता नागों को अपने कण्ठ से लगा लेते हैं और माता हाथ में खप्पर ले उनके अर्पण किये जैसे-तैसे नैवेद्य को भी ग्रहण कर लेती हैं। आओ पुत्रो, मुझे तुम्हारे बाहरी आचार की परवा नहीं, मैं तो सच्चा हृदय चाहता हूँ। भगवान् शंकर के भक्तों की टेढ़ी-मेढ़ी सूरतें और काले-कलूटे शरीरों को देख कर लोग उन्हें भूत, प्रेत, पिशाच आदि कहें तो क्या आश्चर्य? उनका तो इन भक्तों पर सुत-निर्विशेष प्रेम है। इसलिए जब उन्हें कोई भूतनाथ कहता है तो वह प्रेम-गदगद हो जाते हैं। यही क्यों? उन्होंने तो बालचन्द्र को भी अपने भाल पर कभी से धारण कर रक्खा है। यदि मुसलमानों की आँखें उसे आज नहीं देख सकतीं तो इससे क्या?

पर जब मैं पशुपति वृषभ-वाहन को देखता हूँ तब मुझे शक होता है कि भारतीय किसानों की ही तो यह आत्मा नहीं है? कैसी शंकरी वृत्ति! हिमालय के समान किसी एकान्त ग्राम में टूटी खटिया पर पड़े हैं, पास में बैल बैठा है। कुल्हाड़ी पड़ी हुई है। पार्वती (जिसका जन्म पर्वतीय प्रदेश में हुआ है) चरण-सेवा कर रही हैं। सरल हृदय! दोनों सन्तोष और समाधान की मानों प्रत्यक्ष मूर्ति! परन्तु इस सरल हृदय में कैसी प्रचण्ड शक्ति है? जहाँ तबीयत बिगड़ी कि मानों संसार का संहार करने के लिए प्रत्यक्ष काल खड़ा है! गृहिणी भी मानों प्रत्यक्ष शक्ति का अवतार। किसान संसार का नाथ है। समाज के भिन्न-भिन्न अंगों में बँटे हुए, जगदुद्-रक्षा-प्रलय-कृत भी अपने ऐश्वर्य को वह पुनः धारण कर लेता है तो उसके रुद्र-रूप को देख कर संसार काँपने लग जाता है। बोल्शेविज्म भी कहीं इसी रुद्र रूप का तो नाम नहीं है? इस भोले महादेव से वरदान पाकर आज भी हर कोई तीनों लोक का स्वामी बन सकता है। पर उससे शक्ति प्राप्त कर यदि कोई उनके कैलास को उखाड़ना चाहता है तो रावण या ज़ार की तरह उसे चूर चूर करने के लिए भगवान् महादेव का केवल अंगूठा भर रगड़ देना काफ़ी है। पर यदि वह शिवाराधना में उसी तरह तत्पर रहता है तब तो स्वयं देवेन्द्र का भी वैभव उसके सामने तुच्छ हो जाता है।

× × ×

पर शंकर की सच्ची महत्ता तो इस विष-पान में है। सारा संसार अपने स्वार्थ के लिए समुद्र का मथन करता है। उसमें जो-जो धन, दौलत, श्री, कीर्ति मिलती है उसे तो वह ग्रहण कर लेता है। यदि कहीं सुफल अमृत मिला तब तो कपट से झपट कर उसे वह ले लेता है। उस समय बड़ों-बड़ों की मति भ्रष्ट हो जाती है। "सहनाववतु सहनौ भुनक्तु" वाले वचन को फौरन भुला दिया जाता है। और दूसरे पक्ष को धता बताकर अलग कर दिया जाता है। पर यदि कहीं इस मंथन का फल कड़ुआ विष निकला, तब? तब तो सब भले आदमी बनकर अलग खड़े हो जाते हैं! इस विष को कौन हजम करे? वह तो अपने ताप से सारे संसार को जलाता रहता है। ऐसे समय आगे बढ़कर उसे हाथ में लेकर पी जाना तो महादेव का ही काम है। भुवन-भय को सिवा महादेव के और कौन भंग कर सकता है?

वह समुद्र-मंथन की कथा केवल ऐतिहासिक सत्य ही नहीं, वह तो त्रिकाल सत्य है। संसार में प्रतिदिन और चौबीसों घंटे देवासुरों का संग्राम होता रहता है और प्रतिक्षण उन्हें अमृत विष, तथा नाना प्रकार के रत्न मिलते रहते हैं। अमृत और रत्न लेने के लिए सभी तैयार रहते हैं, पर संसार का शाश्वत कल्याण तो उन्हीं लोगों पर निर्भर है, जिनमें विष-पान की यह शंकरी वृत्ति भी है।

भगवान् महादेव आशुतोष हैं, यह समझ कर कोई यह न समझ ले कि वह अनायास ही प्रसन्न हो जाते हैं। यही प्रकट करने के लिए उन्होंने अपने कण्ठ में यह मुण्डमाल धारण कर रक्खी है। शंकर कल्याण करते हैं, पर कल्याण

का मार्ग फूलों से बिछा हुआ थोड़े ही है। वह तो बलिदान चाहता है। जिस किसी को शिवाराधना करनी हो वह तो उस मुण्डमाला में अपनी तरफ़ से एक मुण्ड (अपना, दूसरे का नहीं) और जोड़ने की तैयारी से मृत्युञ्जय होकर शिव-मंदिर में जावे।

लोग गांधी और तिलक की तुलना करते हैं। दयानन्द और गांधी को तराजू में रखकर तौलते हैं कि इनमे कौन अधिक भारी है। अब लेनिन तथा सनयातसेन के साथ भी लोगों ने गांधी को तौलना शुरू कर दिया है। यदि सच पूछा जाय तो एक महापुरुष की दूसरे के साथ तुलना करना मुझे बहुत नापसन्द है। इसलिए ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश इन तीनों मे कौन बड़ा है? इसकी चर्चा करना धृष्टता और अनुचित भी है। पर यदि कोई पूछ ही बैठे तो क्या मौन धारण कर लिया जाय?

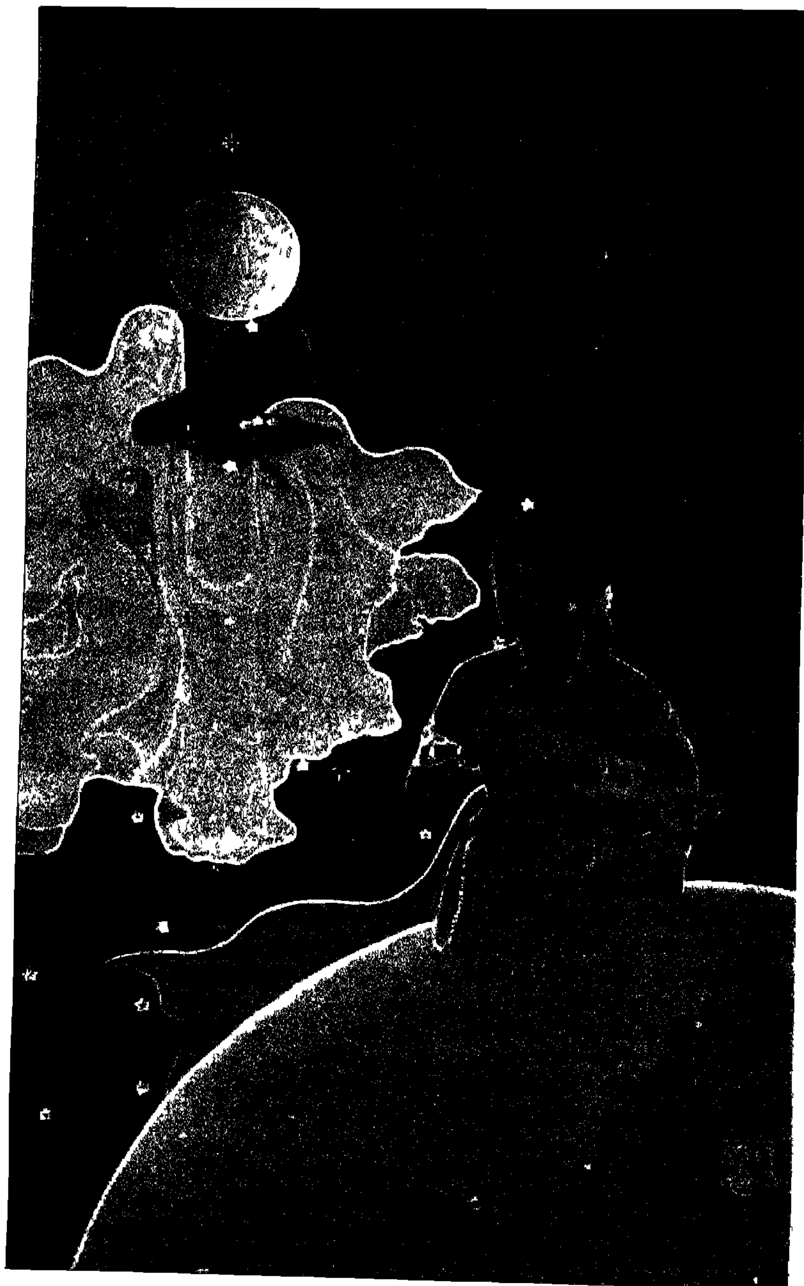
उनकी तुलना मे ब्रह्माजी तो जरा भी नहीं टिक सकते। उन बेचारे को तो पैदा होते ही प्रजोत्पादन और नोन-तेल-लकड़ी की चिन्ता में पड़ जाना पड़ा।

रहे विष्णु! वह तो राजनैतिक देवता हैं। वह सर्व-साधारण के आदर्श देवता नहीं हो सकते। क्योंकि उनका मार्ग तो "बुद्धिमान" और "व्यवहार-चतुर" लोगों की ही समझ में आ सकता है, और वास्तव में उन्हींके लिए वह बनाया भी गया है। भगवान् विष्णु बलि को भक्ति तथा अपने दर्शन का लालच देकर ठग सकते हैं, उससे राज्य छीन सकते हैं, और त्रिविक्रम कहला सकते हैं। टट्टी की ओट से बालि जैसे महान् योद्धा का शिकार करना उनके नीति-शास्त्र के प्रतिकूल नहीं है। लड़ते-लड़ते भागकर कटक कालयवन का नाश वह मुचकुन्द द्वारा करा सकते है और फिर भी गीता में "युद्धेचाप्यपलायनम्" का उपदेश देने को तैयार रहते हैं। पर बाबा तो उनसे भी स्नेह रखते हैं। सम्भव है उन्होंने विष्णु भगवान् की इन बातों को उनकी स्वभावगत कमजोरी समझ लिया हो। पर यह भी तो है न, कि जब किसी राक्षस की अतुल भक्ति से बाबा प्रसन्न हो जाते हैं तब बिना सोचे-विचारे उसे मुँहमाँगा वर दे डालते हैं? राक्षस तो सारे संसार मे हाहाकार मचा देता है। स्वयं बाबा पर भी हाथ साफ करने की वह कोशिश करता है। तब बाबा बैल पर सवार हो दौड़े-दौड़े जाते हैं विष्णु भगवान के पास। और फिर विष्णु भगवान् कहीं कोई तरकीब भिड़ाकर उस राक्षस के भय से संसार को मुक्त करते है। यह देखकर कभी-कभी यह बात जँचती-सी जान पड़ती है कि राजनीति की भी संसार मे जरूरत है।

उनकी तुलना में सब छोटे उतरते हैं। विष्णु की रंग बदलने की आदत और ब्रह्मा की प्रजनन और नोन-तेल-लकड़ी की झंझट मे फँसाने की आदत उन्हे नहीं। बाबा की बात जुदी है। उनके गण भले ही जंगली हों, भूत हों, पर यह भ्रष्टता उन्हे बर्दाश्त नहीं होती। बुढ़ऊ के पास तो यदि ऐसे कोई वासनामय हृदय को लेकर आता है तो उसके लिए वह त्रिशूल ही रखते है। ज्ञानयोग से न बने तो आदमी हठयोग से वासनाओं को चूर-चूर कर दे और नहीं तो इस धतूरे के बीज खाकर भले ही वह उनके मंदिर की सीढ़ियों पर ही अपने प्राण दे दे। हमारे बाबा ऐसी लगी-लिपटी में नहीं रहते। ऐसे भक्तों की वह पर्वा नहीं करते। और ठीक भी है यहाँ पीताम्बर, मोहनभोग और मालपुओं का लोभ तो है नहीं। कोई भक्त आ गया तो ठीक है, नहीं आसन लगाकर डट गये कि "दिव्य वर्ष सहस्रकम्"। इन औढ़र दानी, सीधे भोले बाबा की इन सब बातों को देखकर मन कहता है—'महेशान्नापरो देवो।'

नौ० म०

इस सुन्दर चित्र के लिए हम इसके चित्रकार श्रीयुत लोकपालसिंह के कृतज्ञ हैं और भविष्य मे उनके द्वारा 'त्यागभूमि' के पाठकों का और भी उपकार होने की आशा रखते हैं।



त्यागभूमि रजनी



(जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका)

आत्म-समर्पण होत जहँ, जहँ विशुद्ध बलिदान ।
मर मिटवे की साध जहँ, तहँ हैं श्रीभगवान ॥

वर्ष २	सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर ।	अंक २
खण्ड १	कार्तिक संवत् १९८५	पूर्ण अंक १४

प्यार

सम्हाले कोई कैसे प्यार ?
मचल मचल उठता है चंचल,
भर लाता है आँखों में जल,
फिसलन कर चलता है उसपर—
लिये व्यथा का भार ।

सिसिक-सिसिक उठता है मन में—
किस सुहाग के अपनेपन में ?
'छुई-मुई'-सा होता, हँसता—
कितना है सुकुमार !

—

जयशंकर 'प्रसाद'

रावी से कुमारी तक

['त्यागभूमि' के लिए]

(२)

मद्रास के हिन्दू-धर्म के सम्बन्ध मे कुछ अप्रिय बातें कहने और उन हालतों का बयान करने के पहले जिन्होने मुझे दु.खी किया और मेरे दिल को चोट पहुँचाई है, मैं उन बातों का बयान कर देना ठीक समझता हूँ, जिनसे मुझे सुख मिला है—मेरा मनोरंजन हुआ है।

मद्रास की पहली बात जो मुझे अच्छी मालूम हुई, वहाँ के छोटे-बड़े, ऊँच-नीच सब तरह के लोगो की सफ़ाई है। पंजाब से—जो इस संबन्ध में बड़ा गुनहगार है—रवाना होकर जब मैं मद्रास और मलाबार पहुचा तो वहाँ के जीवन मे सफ़ाई की प्रधानता ने मुझ पर काफ़ी असर डाला। मद्रास ख़ासकर एक हिन्दू-प्रांत है और बुद्धकाल के बाद के हिन्दू-आदर्शों को प्राय पूरी तरह जिंदा रखने में अकेला वही कामयाब हुआ है। आदमियों की अपनी जिस्मानी पवित्रता और घर-गृहस्थी की सफ़ाई की परम्परा जिस हद तक मद्रास में आज भी कायम है, शायद देशभर मे वैसी और कहीं नहीं है। इसमें शक नहीं कि आबोहवा ने भी इस प्रान्त की रहन-सहन पर अपना असर डाला है, फिर भी अकेली आबोहवा लोगों मे सफ़ाई की इतनी ऊँची भावना पैदा नहीं कर सकती जितने ऊँचे और सुन्दर रूप में आज वह वहाँ मौजूद है।

पोशाक की सादगी

मद्रासियों की पोशाक मे कमाल दर्जे की सादगी होती है। बस, एक धोती और एक कुर्ता किसी भी सभ्य आदमी की पोशाक के लिए काफी हैं। कुछ लोग कोट पहनते हैं। लेकिन वहाँ के जीवन मे उसे आम-चलन नहीं कह सकते; वह अपवाद-सा है। कई ऐसे लोग भी वहाँ मिलते हैं, जो कुर्ते की ज़रूरत तक महसूस नहीं करते। अकेली धोती ही सब काम के लिए काफ़ी होती है। यह धोती बहुत ज्यादा साफ होती है और उत्तरी भारत के ब्राह्मण रसोइयों, श्रीमन्त बनियों या खत्रियों की धोती से कहीं साफ़ और स्वच्छ रहती है। लोग हर रोज़ अपनी धोतियों को धोते और बदल कर पहनते हैं। मद्रास हाईकोर्ट के एक ब्राह्मण वकील ने मुझसे कहा था कि अगर कोई आदमी सबेरे बिना नहाये ही धुली धोती छू लेता है तो वह अपवित्र हो जाती है और उसे फिर से धोना ज़रूरी होता है। साधारण मद्रासी ब्राह्मण या अ-ब्राह्मण, पतित या अ-पतित सिर पर कुछ नहीं पहनता। यह एक अजीब बात है कि ऐसे प्रान्त मे जहाँ ८५ के कुछ महीनों में सूरज की गर्मी हद दर्जे की होती है, लोग आम तौर पर नगे सर रहे। फिर भी मद्रास प्रान्त की वस्तु-स्थिति ठीक ऐसी ही है। मेरे ख़याल में भारत के सब प्रान्तों मे अकेला मद्रास प्रान्त ही ऐसा है जहाँ लोग नाम-मात्र के लिए अंग्रेज़ी रग ढंग मे रँगे हैं। मुझे यहाँ बहुत थोड़े लोग ऐसे दीख पड़े जो पायजामा या पतलून पहनते और टोप लगाते हों।

मेरा यह विश्वास है कि मध्यम श्रेणी के साधारण मद्रासी और सभवत' कई उच्च और धनी जाति के मद्रासियों का जीवन बहुत सादा है। फर्श को हर तरह के सजावट के सामान (फर्नीचर) से शून्य रखना और समय-समय पर उसे बराबर धोते रहना वहाँ के जीवन का एक अंग-सा है। उनके पहनने के कपड़े इने-गिने और भोजन सादे-से-सादा होता है। मैंने बड़े-बड़े धनी मद्रासियों को केले के पत्तों पर भोजन करते और उन्हीं पर मिहमानों की खातिर करते देखा है। मद्रासी घरों में ताँबा-पीतल या चाँदी के बहुत थोड़े बरतन मिलते हैं। थालियों या रकाबियों का तो कहीं पता ही नहीं होता हाँ, कुछ गिलास और प्याले ज़रूर पाये जाते हैं। इससे नौकरों और घर की औरतों की बहुत कुछ मेहनत बच जाती है। उनका भोजन तो सचमुच मुझे बिलकुल ही पसन्द नहीं। भात और तरह-तरह की कढ़ी ही उनका ख़ास भोजन है और फिर वे भारत भर से अजीब,

एक अलग ही ढंग से बनाये जाते हैं। उनका खाने का तरीक़ा, मुझे क्षमा किया जाय, इतना भद्दा है कि मैं उससे नफ़रत करता हूँ। मेरे ख़याल से मद्रास के समाज-विधायकों ने पंक्ति-भोज की समस्या पर तो कभी विचार तक नहीं किया। फिर भी मानना चाहिए कि देश-काल के अनुसार लोगों के खान-पान के तरीक़े जुदा-जुदा पाये जाते है। मद्रासी लोग चारपाई या खटिया बहुत कम काम में लाते है। वह तो ख़ासकर चटाइयों का देश है। चारपाई, खटिया या बढ़िया बिछौने तो अभी बिलकुल ताजे ज़माने की उपज से जान पडते हैं।

बेहद साफ़

मद्रासी घरों और मद्रासी स्त्री-पुरुषों की सर्व-सामान्य सफाई-स्वच्छता एक ऐसी चीज है जिसकी तारीफ किये बिना मै रह नहीं सकता। साधारणतया सब पंजाबी और खासकर विलायत से लौटे हुए पंजाबी, मद्रासी स्वच्छता की ठीक-ठीक कल्पना नहीं कर सकते। सैकड़ो सूट्स या बक्सो और सैकड़ों नौकरो के होने भी विलायत से लौटे हुए लोग सच्चे अर्थ में कभी साफ-स्वच्छ नहीं रह सकते। एक औसत मद्रासी की जिस्मानी सफ़ाई किसी भी यूरोपियन मे बढ-चढ कर ठहरती है। कोई भी आदमी जो जरूरत से ज्यादा कपडों से लदा रहता और खूब सजे-सजाये घरो मे निवास करता है, कभी साफ नहीं रह सकता। मद्रासी न तो कपड़ों से लदे ही रहते हैं और न भारी फर्नीचर से सजाये कमरों मे रहते हैं। यही सबब है कि वे सच्चे अर्थ मे साफ रह सकते और रहते है। स्वच्छता की दृष्टि से विचारते हुए मैं हर-तरह मद्रासियों की तुलना जापानियों से कर सकता हूँ। शायद वह दुनिया भर मे सबसे अधिक साफ रहने वाले लोग है। उनका रहन-सहन भी बहुत ज्यादा सादा है। वे न तो कीमती और भारी कपड़े ही पहनते है और न खूब सजाये घरों मे रहते ही हैं।

अछूत भी ऐसे हों

सबसे अधिक आश्चर्य तो मुझे अछूत कहे जाने वालो का साफ़-स्वच्छ जीवन देखकर हुआ। ब्रिटिश मलाबार के पालघाट नगर में मैंने दो दिन बिताये। दोनों दिन का सवेरे का समय मैंने छोटे-बड़े हर दर्जे के अछूतों की झोपड़ियाँ देखने मे लगाया। पहले मैं एक चेरुमा गाँव मे गया और फिर वाडुगा गाँव में। ये दोनों जातियाँ अछूत कही जाती हैं और पुराने खयालो के मुताबिक आम सड़कों पर चलने का इन्हें अधिकार नहीं होता, उच्च हिन्दू कहलाने वालो से बहुत दूर रहकर इन्हें चलना पडता है। मैं इनके झोपड़ो के भीतर गया और वहाँ की सफाई देखकर दंग रह गया। मुझे यह भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि मेरा वहाँ जाना एकदम इत्तफ़ाक़िया (आकस्मिक) था। दूसरे दिन सवेरे मैं एरुवों और नयादियों के घरों तक गया। एरुव शूद्रों मे सबसे ऊँची जाति के माने जाते हैं, इनमे शिक्षित पुरुषो की संख्या भी बहुत ज्यादा है। मुझे श्री पी० एस० शंकरम् से मालूम हुआ था कि इस जाति मे पढ़े-लिखों की तादाद ५० फी सैकडा तक पहुँच चुकी है। मैंने देखा कि इनके पक्के सुडौल मकान भीतर से बहुत ही साफ थे और उनमे 'फर्नीचर' जैसी कोई चीज नहीं थी। मैं विश्वास-पूर्वक कह सकता हूँ कि उनकी फर्श पर पडी हुई आलपीन को कोई भी सहज ही ढूँढ सकता है। मुझे उनके स्त्री-बच्चो की पोशाक चेरुमा और वाडुगा लोगों के स्त्री-बच्चो से कुछ अच्छी जान पडी, यद्यपि वह सादी और तादाद मे कम थी।

बडे खेद की बात है कि यह लोग अछूत या अपवित्र समझे जाते हैं और इन्हे आम सडकों पर चलने-फिरने और मन्दिरों में जाने का हक नहीं है। इनकी शिक्षा और आर्थिक योग्यता को देखते हुए इन जैसे स्वच्छ और साफ रहने वाले लोग दुनिया मे शायद ही कहीं मिलें। फिर भी धर्म और समाज का अंधानुशासन इतना कडा हो चुका है कि यह लोग न केवल अछूत ही समझे जाते है बल्कि अगम्य और अस्पृश्य भी। इनकी छाया तक से लोग परहेज करते और उसके पड जाने पर नहाते हैं। मेरे साथी का कहना था कि अब यह दंभ मिट-सा रहा है। क्या सचमुच वह मिट रहा है? जिस दिन मैं पालघाट की एक सार्वजनिक सभा में भाषण कर रहा था, मैंने देखा कि पास ही चेरुमा लोग कोई उत्सव मना रहे थे। वे एक खास हद तक आ सकते थे, उससे आगे नहीं। जिस रास्ते से वह आये थे

वह एक कच्ची सड़क-सी थी। कुछ दूर उस पार आम सड़कें थीं, जिस पर शायद डरके सबब, वे नहीं जाते थे।

तर्क-शून्यता की सीमा

इसी नगर में अन्त्यजों की एक दूसरी जाति रहती है जो झाडू देने और मैला उठाने का काम करती है। इस जाति के लोग सब सडकों पर आ-जा सकते और पवित्र-से-पवित्र ब्राह्मण के घर का काम कर सकते हैं। समाज की अन्धी रूढ़ि में तर्क का कोई स्थान नहीं। सचमुच तर्क-हीनता की हद हो जाती है जब एक शिक्षित, स्वच्छ और साफ पोशाक वाला 'थाया' अस्पृश्य समझा जाता और एक 'टूट' या भर्गी रास्ते पर आने-जाने के तमाम हकों का हक़-दार माना जाता है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखते हुए यह कहना पड़ता है कि मद्रास में शिक्षा एक ऊँची हद तक पहुँच गई है। साधारणतया छोटे-छोटे कस्बों और नगरों में अंग्रेज़ी बोलने और उसमें किये गये भाषणों को समझने वाले लोगों की संख्या अच्छी तादाद में है। मद्रास की स्त्रियों में शिक्षा का औसत देश भर में सबसे अधिक है। मद्रासी, पैदाइशी वक्ता होते हैं। वे अंग्रेज़ी और देशी भाषा बड़ी तेज़ी के साथ बोलते हैं; मलायलम या एरनाक्यूलम भाषाओं में व्याख्यान देने वालों की तादाद तो बहुत बड़ी और गैर-मामूली है।

इस प्रान्त में राजनैतिक जागृति भी बहुत ऊँचाई तक पहुँच गई है। लेकिन आर्थिक असहायता और समाज के मत-भेद ने इसे किसी काम का नहीं रक्खा है—लगभग शुष्क बना दिया है।

लाजपत राय

इतिहास में सत्याग्रह

['त्यागभूमि' के लिए]

(१)

समष्टि रूप से विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि गांधीजी का व्यापक व्यक्तित्व ही वह साधन था जिसके कारण हमारे देश के राजनैतिक क्षेत्र में और उसके धर्म, समाज, राजनीति, अर्थशास्त्र, शिक्षा आदि समस्त अंगोपांगों में भारतीय आदर्शों और सिद्धांतों को लेकर सुधार-युग का पदार्पण हुआ है। लेकिन अगर हम थोड़े गंभीर हो जायँ और भारत की प्रगति में गाँधीजी की ठोस, विशिष्ट तथा मौलिक सेवाओं और उनके विविध योग-दान के सच्चे आधार को प्रतिदिन की घटनाओं की उलझन से बाहर निकालकर देखने की चेष्टा करें, तो इस सम्बन्ध में दो बातें मुख्य जँचती और हमारे ध्यान को विशेष रूप से आकर्षित करती है। पहली बात, चर्खा और खादी का सर्वान्तःकरण-पूर्वक समर्थन है और दूसरी बात है गाँधीजी का वह प्रयोग, जिसमें उन्होंने अहिंसात्मक सत्याग्रह के शस्त्र को—जो केवल राजनीति की दृष्टि से निर्बल लोगों का शस्त्र है—बलशाली शासकों के विरुद्ध प्रयुक्त किया है। और यद्यपि इन दोनों बातों का कार्य-क्षेत्र इस समय केवल भारत की सीमाओं तक ही परिमित है, तथापि यह स्पष्ट है कि देश में इनकी सफलता, सारे संसार की राजनीति और अर्थनीति में आघात-प्रतिघातों की एक दीर्घकाल-व्यापिनी लहर पैदा करके ही रहेगी। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि अगर भारतवर्ष अपने सत्याग्रह-शस्त्र के प्रयोग में सफल हुआ, और पाश्चात्य राष्ट्रों को—जो रात-दिन फौजी साधनों से लैस रहते और युद्ध की विविध बुराइयों का निरन्तर अनुभव करते रहते हैं—उसकी मौलिक सत्ता का परिदर्शन करा सका तो संभव है कि वे भी इस शस्त्र को ग्रहण करना उचित समझें, और राष्ट्रीय तथा अन्तर-राष्ट्रीय झगड़ों का एक निष्पक्ष न्यायकर्त्ता की भांति फैसला करने की उसकी नैमित्तिक शक्ति को जाँचने लगें।

इसमें सन्देह नहीं कि चर्खा और खादी का सम्बन्ध मुख्यतः देश की उस आर्थिक विपत्ति से है—जो भारत के

विशाल जन-समूह में चारों ओर बुरी तरह फैली हुई है। देश के ५ लाख से भी अधिक गाँवों में यह सारी विपद्ग्रस्त जनता बसी हुई है। और भारतवर्ष की वर्तमान आर्थिक परिस्थिति में चर्खा और खादी ही वे उपाय हैं जो देश की तमाम आपत्तियों की एक रामबाण दवा बन सकते हैं। किन्तु पाश्चात्य दुनिया के पूँजीपतियों का इस समय विचित्र हाल है, आर्थिक सत्ता के पूँजीपतियों के हाथों में चली जाने के, कारण जहाँ एक ओर मजदूरों की स्वार्थ-हानि हो रही है वे चूसे जा रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर उत्पत्ति का प्रमाण आवश्यकता से अधिक हो रहा है। परिणाम-स्वरूप आर्थिक-प्रभाव-क्षेत्र को विस्तृत बनाने के प्रयत्नों में बाढ़ आने लगी है, जिसका एकमात्र उद्देश्य है, संसार की कमजोर जातियों के सर्वस्व स्वार्थ की हानि, उनका निर्दय-मर्दन!

इस आर्थिक लूट का परिणाम विश्वव्यापी भूखमरी है। उद्योगी राष्ट्र-विश्व के नये-नये निर्जन प्रदेशों को खोज निकालने और नये बाजारों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए एक दूसरे से कटुतापूर्ण स्पर्द्धा करने लगे हैं, युद्ध और युद्ध सम्बन्धी अफवाहें गरम होने लगती हैं। यह और इसी तरह की दूसरी अनेक बातो के कारण विश्व जीवन के साथ ही राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की समस्यायें अत्यधिक प्रचुर, जटिल और बहुरंगी होती जा रही हैं—हो गई हैं। इस सम्बन्ध मे सब से अधिक दुःख की बात यह है कि इस तरह की परिस्थिति के कारण पाश्चात्य जगत् का जीवन अत्यन्त अ-सुरक्षित, समता-विहीन और चचल हो गया है। और पता नहीं कि इसी कारण किस दिन विश्व भर मे प्रलय के बादल उठकर बरसने लग जायँ। यह ठीक है कि कितने ही सदाशय पाश्चात्य सज्जन इस खतरे की आशका से परिचित हैं, और वहाँ उसके प्रतीकारार्थ कई उपायो का प्रस्ताव किया जा रहा है, उन पर वाद विवाद होता रहता है और जहाँ तक संभव होता है परिस्थिति की अनुकूलता के अनुसार इन्हें कार्य-रूप में परिणत भी किया जाता है। फिर भी पश्चिमी क्षितिज पर खतरे के बादल अधिकाधिक घिर रहे हैं, तलवार की डोर दिन-दिन कमजोर हो रही है, अत किसी को भी आश्चर्य न होगा, अगर किसी दिन घटनाक्रम और औद्योगिक राष्ट्रों की पारस्परिक द्वेष-बुद्धि एव स्वार्थ-हानि के संघर्ष से पूँजीपतियों और साम्राज्यवादियों के आर्थिक संघटन का सारा प्रासाद, बात की बात में, भयकर चीत्कार और भीषण अरोहट के साथ जमीन पर बिछ जाय। यह स्पष्ट है कि इस समय पश्चिम को अपने आर्थिक सम्बन्धों, शक्तियो और स्रोतों को एक बार फिर से संघटित करने की ज़रूरत है। लेकिन अगर भारतवर्ष पश्चिमी औद्योगिकता के कठोर बन्धनो से मुक्त हो जाय, उसके बन्दरगाह पश्चिमी आधिपत्य से त्राण पा जायँ, तो अपनी परम्परागत प्रवृत्तियों के कारण वह लोगों के जीवन को स्थायी और व्यवस्थित बनाने मे अपनी प्रभुता की सफलता-पूर्वक सिद्ध कर सकेगा—आज भी पथ-भ्रष्ट पाश्चात्य जगत् को वह एक सुन्दर-सा मार्ग बतला सकेगा। क्योंकि अगर किसी समय भारतवर्ष में चर्खे का प्रयोग सफल हुआ तो यही भारत उक्त जगत् को व्यावहारिक अर्थशास्त्र का पदार्थ-पाठ भी बड़ी सुगमता से सिखला सकेगा और लोग उस समय विवश होकर चर्खे को अपनायेंगे। ऐसी दशा में वर्तमान कट्टर-से-कट्टर अर्थशास्त्रियों का चर्खा-आन्दोलन के विरुद्ध खड़ा होना, उसकी खिल्ली उड़ाना, एकदम निरर्थक सिद्ध हो जायगा। क्योंकि व्यापक दृष्टि से देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जहाँ चर्खे का सन्देश यन्त्र-शक्ति को विकेन्द्रित-विलग करने का सन्देश है वहाँ खादी, औद्योगिक उत्पत्ति और वितरण (Distribution) के केन्द्रों को दूर-दूर फैलाने का सन्देश देती है। प्रस्तुत लेख में इस विषय पर अधिक विचार करने का मेरा सकल्प नहीं है।*

* जो लोग चर्खे को दूर-दूर तक फैलने वाली व्यापकता का अनुभव नहीं कर सकते वे उसे भूल सकते हैं, उसका तिरस्कार कर सकते हैं और उसे एकदम जगली तथा रूढ़-यन्त्र की उपमा भी दे सकते है। पर इसमे सन्देह नहीं कि देश मे चर्खा प्रत्यक्ष उदाहरणों और अकाट्य तर्क के सहारे दिन-दिन उन्नति कर रहा है। श्री० रिचार्ड बी० ग्रेग की 'खद्दर का अर्थशास्त्र' (इस पुस्तक का हिन्दी-सस्करण सस्ता-मण्डल अजमेर से शीघ्र ही प्रकाशित होगा।) नामक पुस्तक—जो हाल ही अंग्रेजी में प्रकाशित हुई है—लोगों की कई बुद्धि-सम्मत शंकाओं का समाधान कर सकेगी। उसके

(८)

जिस ससैन्य युद्ध-पद्धति के कारण सारी दुनिया इस समय त्राहि त्राहि पुकार रही है, महात्माजी का आदर्श सत्याग्रह उसी का स्थानापन्न विधान है। यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इतिहास मे इस बात का कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि किसी शासन करने वाली सत्ता के हाथों से उसकी राजकीय शक्ति या राजनैतिक स्वतन्त्रता उन लोगो ने छीन ली हो जिन्होने ऐसी सत्ता का विरोध केवल अहिंसात्मक या वैध-प्रथा द्वारा किया हो, तथापि अपने रूप में यह वैध-विरोध की प्रथा न तो एकदम नयी ही है और न ऐतिहासिक प्रमाणों से खाली ही। क्योंकि किसी समय रोमन साम्राज्य से लोहा लेते और झगडते समय, प्राचीन खिष्ट पथियो को इसी नीति का सहारा लेना पडा था और अपने इसी अजेय विरोध मे वे इतने सफल हुए कि जो खिष्ट-संप्रदाय पहले सकुचित, अस्थिर एव विचित्र सिद्धान्तों वाला था उसे उन्होंने उन्नत और प्रभावशाली बना डाला। जिस दिन से ईसाई धर्म ने सिंहासनासीन राज-सत्ता के विरुद्ध सघटित अहिंसात्मक विरोध की आवाज उठायी, उसी दिन से इतिहास-प्रसिद्ध रोमन साम्राज्य की भव्यता और उसकी सत्ता क्रमशः विस्मृति के गर्त्त मे विलीन होने लगी और दूसरी तरफ ईसाई धर्म—फिर उसका वर्तमान आध्यात्मिक प्रभाव शासनारूढ सैनिक सत्ता के कारण चाहे जितना कम क्यों न हो गया हो—संसार की कितनी ही मुमुक्षु आत्माओं की शान्ति तथा उनके जीवन और प्रकाश का स्रोत बनता गया। भयंकर दण्ड-विधान, अत्याचार और निरकुशता पर ईसाई-धर्म की यह शानदार विजय सदा के लिए इतिहास की एक अमर घटना बन कर रहेगी और चेतन की जड पर एव अदम्य किन्तु विनम्र इच्छाशक्ति की, सघटित उद्दण्डता, गर्व और बर्बरता पर की यह विजय इतिहास के पृष्ठो मे चमकते हुए सुवर्णाक्षरो में लिखी रहेगी।

जाति-रूप मे ईसाइयों के कष्ट का आरम्भ सम्राट् नीरो के रोम-साम्राज्य से होता है, उस समय के समसामयिक इतिहास लेखक टेसीटस की कई कृतियो मे इन सब कष्टों का वर्णन अब भी सुरक्षित है। इन कष्टो की बहुलता और भयंकरता उस ज़माने के ऐतिहासिक वर्णनों की प्रधान घटना बन गई थी और इसी कारण नीरो का नाम भी इतना बदनाम हो चुका था कि उसके जैसा क्रूरकर्मा व्यक्ति ससार के इतिहास मे खोजे नही मिलता। टेसीटस के वर्णनो से पता चलता है कि उस जमाने मे ईसाइयों का जाति विशेष के रूप मे कोई समाजिक पद, महत्त्व या अधिकार नहीं था; बहुधा जन-साधारण इन लोगो को हेय समझते और इनका तिरस्कार करते थे। लेकिन नीरो के अत्याचार का एक सुफल भी फला, वह इस तरह कि जहाँ उसके अत्याचार के कारण ईसाइयो के सत्य की— उनके ईमान की परीक्षा होती थी, वहाँ उसके कारण उनके धर्म के प्रचार मे वृद्धि भी होती। उन दिनो प्रजा के सामने इन लोगों के उदाहरण प्रतिदिन आते थे और अपने धर्म के कारण सम्राट् की सरकार के हाथो इन्हें जिन असह्य कष्टो का सामना करना पडता था वे ही कष्ट, प्रजा के हृदय मे इनके प्रति सहृदयता और सहानुभूति उपजाया करते तथा इस तरह लोगों के हृदय से इनके प्रति तिरस्कार-भावना मिटती थी। ईसाइयो के कष्टों के इस सुफल का वर्णन करते हुए टेसीटस कहता है—"इसमे शक नहीं कि ईसाइयो को कडे-से-कडे दण्ड मिलते थे, फिर भी प्रजा की घृणा तो दया मे बदल चुकी थी, और वह केवल इसलिए कि प्रजा समझने लगी थी कि इन ग़रीब दुखियो का बलिदान, कल्याण की भावना का नहीं किन्तु एक ईर्ष्यालु अत्याचारी की निर्दयता का परिणाम है।" *

नीरो के राज्य-काल मे आरम्भ हो कर ईसाइयो की यह राज्य-छलना अन्य सम्राटो के राज्य मे भी क़ायम रही। फर्क इतना ही था कि किसी सम्राट् के जमाने मे उसकी मौज और तरंग के अनुसार यह कष्ट कभी भीषणतर हो जाते थे तो कभी सौम्य। इस तरह आखिर वह जमाना भी आया जब

लेखक ने इस विषय का गहरा वैज्ञानिक अध्ययन किया है और आधुनिक विज्ञान के तत्त्वों पर ही उन्होंने इस पुस्तक के विषय का विवेचन किया है। —लेखक

*गिबन्स रोम—प्रकाशक—फ्रेडरिक टाम एन्ड कम्पनी, १८८४; खण्ड ?, पृष्ठ ३८?.

सम्राट डायोक्लिशन (Diocletian) के राज्य में, ईसा की तीसरी शताब्दि के उत्तरार्द्ध में, रोमन लोगों ने 'घोर अन्ध-विश्वास' के नाम से परिचित ख्रिष्ट-धर्म को समूल नष्ट करने का अन्तिम उद्योग किया था। एक शाही फ़रमान के द्वारा सम्राट् ने तमाम ईसाई गिरजाघरों और उनके पवित्र धर्म-ग्रन्थों को नष्ट कर डालने की घोषणा की। गृह-सभाओं द्वारा सामाजिक प्रार्थना के लिए एकत्र होना जुर्म क़रार दिया गया—जिसकी सजा मृत्यु ही हो सकती थी। ईसाई पूजा-घरों की तमाम सम्पत्ति ज़ब्त कर ली गई। ईसाइयों को राजकीय अधिकारियों की जगह से हटा दिया गया। सम्मान और सत्ता की सारी जगहें उनसे छीन ली गईं। कानून की मर्यादा मे इन लोगों की रक्षा का समावेश नहीं हो सकता था और कोई भी ईसाई-गुलाम मताधिकार का अधिकारी न था।

इस शाही फरमान की घोषणा और प्रसार का, जहाँ तक ईसाइयों से सम्बन्ध था, परिणाम बहुत ही भयकर हुआ। मृत्युदण्ड और क़ैद, झुण्ड-के-झुण्ड लोगो का बेरहमी से भरा कत्लेआम आदि बाते उन दिनो की साधारण घटनायें बन गईं। छः साल जैसी लम्बी अवधि तक रोमन साम्राज्य में इस फरमान की आज्ञाओं का पालन होता रहा, जिसके परिणाम-स्वरूप ईसाई ससार मे भीषण हाहाकार और तह-लका मच गया था, फिर भी लोगो की ख्रीष्ट-भावना अदम्य ही बनी रही। इस बीच डायोक्लीशन ने राज्य की बागडोर (उपसम्राट्) सीजर गैलीरियस के हाथों सौंप कर खुद अवसर प्राप्त किया। गैलीरियस को भी छ वर्षों की कठिन मिहनत, थकाने वाली चिन्ता, उद्विग्नता और रुग्णता के बाद विवश हो कर सन्धि का प्रस्ताव करना पड़ा। ईसाइयों की इस विजय के बाद शीघ्र ही सम्राट् कान्सटनटाइन ने ख्रीष्ट-धर्म की दीक्षा ली और ईसाई-धर्म को रोम का राज्य-धर्म उद्घोषित किया।

रोम-साम्राज्य मे राज-धर्म के सिहासन पर ईसाई-धर्म का आरोहण, इस धर्म के लिए, एक दृष्टि से, शाश्वतमगल और कल्याण का कारण न हो सका। क्योंकि बाद में ईसाई-धर्म अपनी पवित्रता, विनम्रता, प्रेम, बुराई का विरोध आदि भावनाओं की रक्षा न कर सका। इसी दृष्टि से उसका राज-धर्म होना असफल हुआ। क्योंकि इस राजधर्म-पद के कारण यद्यपि वह सम्पूर्णतया रोम के मूर्तिपूजक धर्म में मिल नहीं गया, तथापि अपनी आध्यात्मिक-भावना और आश्चर्य-कारी आदर्शवाद की बहुत कुछ घटी का कारण बन गया। जहाँ पहले—इस धर्म के प्रारंभिक काल में, धर्म-रक्षा, आत्म-स्वातन्त्र्य और विनम्र धर्म-विश्वास की भावना से लोग हँसते-हँसते अपना खून बहाने को तैयार रहते, वहाँ बाद में यही धर्म लोगों के दमन और अत्याचार का यन्त्र बन गया, दूसरे शब्दों मे यही धर्म लोगों की आत्म-स्वातन्त्र्य और आत्म-विश्वास की भावना को कुचल डालने का भीषण साधन बन गया। यहाँ, भौतिक सत्ता से मिले हुए धर्म की विस्तृत सचाई या झूठे-पन पर विचार करने का मेरा उद्देश्य नहीं है। मुझे तो केवल यही दिखलाना था कि किस तरह पुराने जमाने मे एक समय शान्त, अहिंसात्मक वैध-विरोध ने एक शक्तिशाली साम्राज्य पर विजय पाई थी, साथ ही मुझे यह भी बतलाना था कि भौतिक सत्ता प्राप्त करने के प्रयत्नों में भी इस तरह की शान्त-नीति ऐतिहासिक प्रमाणों और उदाहरणों से खाली नहीं है।

कृष्णदास

आवेदन

डूब रहे प्राण पाप-ताप के पयोनिधि में,
देर न लगाओ इन्हें शीघ्र ही उबार लो।
कर रहा मोह-कस मनमें उपद्रव है,
शान्ति है न जीवन में तनिक निहार लो।
चित्त मे हुई है धर्म-भाव की अतीव ग्लानि,
बढ़ रहा दम्भ नेक यह तो विचार लो।
क्या कहें ब्रजेश ! हम तुमसे विशेष और,
आओ उर-देश मे हमारे अवतार लो॥

गोपालशरण सिंह

आर्यभवन

['त्यागभूमि' के लिए]

विलायत जाने वाले भारतीयों के सामने सदा से एक बड़ी विकट समस्या खड़ी रही है—वह है, उनके वहाँ रहने का सवाल और अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार शाकाहार की व्यवस्था।

अब तक यह समस्या बड़ी ही विकट बनी रही और जो भारतीय अब तक विलायत आये हैं, इस समस्या के कारण उन्हें बड़ी कठिनाइयों और असुविधाओं का सामना करना पड़ा है। अपने सिद्धान्तों के उपयुक्त भोजन पाने की कठिनाई इन सब के मूल में थी।

महात्मा गाँधी ने अपनी आत्म-कथा मे इस विषय पर काफ़ी प्रकाश डाला है। स्वय उन्हे अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिए कठिन-से-कठिन असुविधाओं का स्वागत करना पड़ा था। उनके बाद भी जो लोग विलायत पहुँचे हैं, उन्हें भी ऐसे ही—बल्कि इससे भी अधिक—कष्टों का सामना करना पड़ा है। यह सच है कि पहले की अपेक्षा इस समय इंग्लैण्ड में शाकाहारी भोजनालयों की संख्या ज्यादा है, लेकिन शायद ही कोई ऐसा भोजन-गृह हो, जहाँ शाक-भोजियों के लिए स्वच्छता और सुघड़तापूर्वक बनाया हुआ भोजन मिलता हो। अगर किसी भोजनालय में शुद्ध शाकाहार मिलने की आशा से स्थान सुरक्षित करवा लिये जाते हैं, तो भोजन इतना अरुचिकर एवं स्वादहीन मिलता है कि उससे तत्काल ही स्वास्थ्य को हानि पहुँचने लगती है। कई ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि जिनमें घर से आते समय तो लोगों के अपने सिद्धान्त अत्यन्त कट्टर थे, लेकिन इधर पश्चिमी देशों में वैसे अनुकूल भोजन को प्राय दुष्प्राप्य पा कर उन्हें विवशता-पूर्वक अपने सिद्धान्तों से विचलित होना पड़ा है। इस परिवर्तन का कारण, उनका अपने सिद्धान्तों में विश्वास का अभाव नहीं बल्कि पूर्व-विश्वासों को सुरक्षित रख सकने में कठिनाइयों की अधिकता ही है।

सौभाग्य से, श्री० घनश्यामदास बिड़ला १९२७ ई० में इंग्लैण्ड आये और उनके मनमें अपने प्रवासी देश-भाइयों के शुद्ध शाकाहार सम्बन्धी कष्टों को यथाशक्ति कम करने की इच्छा उत्पन्न हुई। उन्होंने देखा कि उनके देश-भाई लण्डन में रह कर उन उपयुक्त सुविधाओं को प्राप्त नहीं कर सकते जो शुद्ध शाकभोजियों के सिद्धान्त का प्राण हैं। अतएव इसी वर्ष, इंग्लैण्ड से लौटने के पहले ही, श्री० बिड़ला ने लण्डन के किसी स्वास्थ्यप्रद मुहल्ले में एक मकान मोल लेने का उपक्रम किया। इस मकान मे भारतीय प्रवासियों की भोजन-व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध करवाना ही उनका लक्ष्य था। और केवल वही इस व्यवस्था से लाभ उठा सकते थे जो श्री० बिड़ला की भाति शुद्ध शाकाहारी, संयमी अथवा मद्य पान से घृणा करने वाले हों।

श्री० घनश्यामदास बिड़ला के साथ ही श्री० रामगोपाल मोहता का हाथ भी इस योजना के मूल मे रहा है। इन दोनों मित्रों ने, जो आपस मे रिश्तेदार भी हैं, मिलकर ३०, बेलसाइज पार्क लण्डन मे एक मकान, मय उसकी सम्पत्ति के खरीदा और "आर्यभवन" के नाम से उसकी व्यवस्था का भार ट्रस्टियों के एक सघ के हाथों सौंप दिया। इस संघ के सदस्यों में श्री० बिड़ला, श्री० रामगोपाल मोहता, वर्धा के सेठ जमनालाल बजाज और सर अतुल चटर्जी हैं।

इस कार्य के लिए अकेले श्री० रामगोपाल मोहता ने ५०,०००) दिये हैं। शेष लगभग १०,००० पौण्ड की रकम स्वयं श्री० घनश्यामदास बिड़ला ने दी है।

गत वर्ष जिनेवा की दसवीं अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-महासभा मे मिल-मालिको के प्रतिनिधि की हैसियत से श्री० बिड़ला ने इंग्लैण्ड की यात्रा की थी। उसी समय और उसके बाद भी, उनकी उक्त योजना को कार्य-रूप में परिणत करने का सारा श्रेय श्री० कस्तूरमल बांठिया और श्री० देवीप्रसाद खेतान को है। इन्होंने उक्त योजना के सूक्ष्म से-सूक्ष्म पहलू पर काफ़ी ध्यान दिया और श्री० बिड़ला की इच्छा पूर्ण करने में अपने समय, उत्साह और शक्ति का अधिकांश खर्च किया है। इस विषय में ये स्वयं श्री० बिड़ला से परामर्श करते रहे हैं।

अब तो न केवल उक्त भवन निवास-योग्य ही हो गया है बल्कि दिन-प्रति-दिन प्रवासी भाई और व्यापारी आदि उसमें अधिक संख्या में रहने लगे हैं और बिना किसी रुकावट के एक हिन्दू की तरह वे अपने धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करते और इङ्गलैण्ड में रह कर सुखपूर्वक अपने-अपने काम में लगे रहते हैं।

इस भवन में अपने मित्रों के साथ रहने और उसके जीवन में भाग लेने की सुविधा पाकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ और यदि सच पूछा जाय तो इसके कारण, लगातार कठोर परिश्रम करने पर भी मैं सशक्त और प्रसन्न रह सका हूँ—रहता हूँ। जब जब मैं लण्डन से हो कर कहीं गया हूँ या वहाँ ठहरा हूँ, एक अतिथि के नाते आर्यभवन में ठहरने की मुझे सुख-सुविधा मिली है और वहाँ रह कर मुझे हर तरह अपने ही घर में रहने जैसा आनन्द प्राप्त हुआ है। अतः केवल तथ्य की दृष्टि से नहीं बल्कि अपने दैनिक अनुभवों की बुनियाद पर मैं लण्डन में 'आर्यभवन की असाधारण उपयोगिता पर ये बातें लिखने में समर्थ हुआ हूँ। मेरी राय में इस भवन द्वारा श्री० घनश्यामदास बिड़ला की प्रकृत इच्छायें फूली-फली हैं।

अपनी योजना को सार्थक बनाने के लिए श्री० बिड़ला ने निम्नलिखित सज्जनों की एक समिति बना दी है—श्री० हेनरी एस० एल० पोलक (प्रधान), श्रीमती एन० सी० सेन (उपप्रधान), श्री० के० बी० मावलनकर, श्री० आर० जे० उदानी, डॉ० आर० पी० परांजपे, श्री० एम० एन० मलिक, श्री० के० पी० कोतवाल, डॉ० के० पार्डी, श्री० कस्तूरमल बाठिया (मन्त्री)। यह समिति सदा नियमपूर्वक अपने अधिवेशन करती और संस्था को यथासाध्य सफल बनाने एवं संस्थापकों की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए बड़ी तत्परता से काम कर रही है। अभी आर्यभवन में दस मेहमानों के आतिथ्य का समुचित प्रबन्ध किया जाता है और उनकी इच्छानुसार हर तरह की सुविधाओं की व्यवस्था कर दी जाती है। इच्छा प्रकट करने पर आगन्तुक सज्जनों के लिए भी इसी तरह का प्रबन्ध किया जाता है। मेहमानों के पूजन-अर्चन के लिए आर्यभवन के पार्श्व भाग की जमीन में एक छोटा-सा देवालय बनाने का विचार हो रहा है और इस सम्बन्ध में आज्ञा प्राप्त करने के लिए स्थानीय अधिकारियों से बात-चीत शुरू हो चुकी है। भवन में रहने वाले अधिवासियों और प्रवासियों के लिए जो नियम हैं वे बहुत सीधे और सरल हैं। पहले दो नियम भवन के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं—जो किसी भी हालत में अन्यथा नहीं हो सकते।

'आर्यभवन' का उद्घाटनोत्सव



सर अतुल चटर्जी आर्यभवन का उद्घाटन कर रहे हैं

[बायें से दायें खड़े हुए, श्री के० एम० बाठिया, श्री देवीप्रसाद खेतान, सर अतुल चटर्जी, श्री एच० एस० एल० पोलक, श्री षण्मुखम चेट्टी, श्री लालचन्द हीराचन्द, श्री सप्रू, श्री देवीप्रसादसिंह, श्री एस० एन० मलिक इत्यादि]

१—'आर्यभवन' एक पूर्ण शाकाहारी संस्था है। इसमें अण्डों और मछलियों तक का सर्वथा निषेध है।

२—इस संस्था की परिधि में, मदिरा तथा ऐसे ही

अन्य मादक द्रव्यों का प्रवेश सर्वथा बन्द है।

तीसरे नियम द्वारा ट्रस्टियो की राय से स्थापित, प्रबन्ध-समिति को ही संस्था के सचालन और प्रबन्ध का सम्पूर्ण अधिकार सौंपा गया है। इस समिति को ट्रस्टियों की सलाह से अपनी सदस्य-संख्या बढ़ाने का अधिकार भी है।

कुछ दूसरे नियम है जिनके अनुसार खासकर विलायत-यात्री भारतीयो को ही भवन मे रहने का अवसर दिया जायगा। हाँ, स्थान रहने पर कुछ विद्यार्थी भी ठहराये जा सकते है, केवल उन्हीं शर्तों पर और उतने ही समय के लिए जो समिति द्वारा नियत किया गया हो। साधारणतया प्रबन्ध-समिति की विशेष आज्ञा के अभाव मे, प्रवासी भारतीय चार महीने से अधिक समय तक भवन म न रह सकेंगे। इसी कारण नियमावलि मे यह उल्लेख है कि ऐसे प्रवासी विलायत पहुँचने के दो महीने पहले ही भवन मे स्थान-प्राप्ति के लिए भवन के अवैतनिक मन्त्री श्री० के० एम० बाठिया ३०, बेलसाइज पार्क, एन० डब्ल्यू० ३ के पते पर अपना प्रार्थना पत्र भेज दे।

आर्यभवन का उदघाटन समारभ गत जून १९२८ की २५ तारीख को किया गया था। भारत के हाई कमिश्नर श्री अतुल चटर्जी ने संस्थापक के नाम पर उस दिन भवन का उद्घाटन अपने हाथों किया था। उद्घाटन सम्बन्धी चित्र इस लेख के साथ छापे जा रहे है जो पाठकों के तथा उन भाइयों के लिए, जिन्होंने पत्रों में उक्त भवन के उद्घाटन तथा उसके उद्देश्य के समाचार पढ़े हैं, मनोरंजक होंगे।

'आर्यभवन' का उद्घाटनोत्सव



उद्घाटनोत्सव के बाद अतिथि 'ड्राइंग रूम' मे खड़े है

[बाईं ओर से पहले सज्जन को छोड कर—श्रीमती एन० सी० सेन, सर अतुल चटर्जी, श्री षण्मुखम् चेट्टी, श्रीमती एस० डी० सामन, श्री देवीप्रसाद खेतान, श्रीमती डी० सामन और श्री एस० जे० कर्वे।]

वह दिन अत्यन्त मनोरम और स्फूर्तिदायक था और समारंभ की सफलता भी वैसी ही थी। श्री० खेतान ने अपने भाषण मे, मेहमानो की ओर से सर अतुल चटर्जी को उनकी उपस्थिति के लिए धन्यवाद दिया और भारत की ओर से उन भाइयों के कार्य का हृदय से स्वागत किया जो भारत से विलायत आकर बस गये हैं और प्रवासी भारतीयो के हित के लिए सदा सचेष्ट रहते है। लण्डन के अग्रेजी पत्रों मे इस समारभ की पर्याप्त चर्चा हुई थी। अपने गत दो महीनो के अनुभव के बाद मेरी दृष्टि मे भी इस भवन की उपयोगिता का मूल्य बढ़ने लगा, साथ ही भारत तक इसकी उपयोगिता का परिचय पहुँचाने के लिए मैं चिन्तित रहने लगा। सचमुच भारत से इग्लैण्ड जाने वालों के लिए भवन की स्थापना एक जबर्दस्त सुविधा हो गई है और इसके कारण विदेश मे भी, हरएक भारतीय अपने शाकभोजी कट्टर सिद्धान्तों तथा सयम-नियमादि का बखूबी पालन कर सकता है।

मैं इन भाइयों को विश्वास दिला सकता हूँ कि भवन में अच्छा, सादा और पवित्र भोजन देने के लिए हर तरह

की खबरदारी रक्खी जाती है। भोजन शुद्ध शाकाहारी होता है और यथासभव भारतीय ढंग से तैयार किया जाता है, जिससे भारतीय अपने स्वाद के अनुकूल, रुचिपूर्वक उसे ग्रहण कर सकें। भोजन मे तरकारी, कढी, दाल आदि सब चीजे होती हैं। प्रत्येक बार के भोजन मे पूरी और भात के साथ प्रचुर परिमाण मे फल खाने को दिये जाते हैं जिससे भवन का भोजन बहुत स्वास्थ्यप्रद बन जाता है।

'आर्य-भवन' की इस नयी उत्तरदायित्व पूर्ण योजना का एक लाभ यह भी है कि यह मकान लण्डन की बस्ती के एक ऐसे भाग मे है जो वहाँ के सबसे ऊँचे भागो मे एक है। अत टेम्स-तट के निचले प्रदेशो की तुलना मे वहाँ कुहरे या तुषारपात का सदा अभाव ही रहता है। साथ ही आर्यभवन की इमारत एक ऐसे स्थान पर बनी हुई है जहाँ मोटर और बड़ी-बड़ी मोटरलॉरियो की आमद-रफ्त प्राय नही के बराबर रहती है और इस दृष्टि से लण्डन की दूसरी सड़कों की तुलना मे आर्यभवन वाला भाग बहुत ही शान्त और कोलाहल-शून्य रहता है। और भी एक बात है। इगलैण्ड की प्राय. सूर्य-प्रकाश से हीन भूमि मे वहाँ के निचले बस्ती-क्षेत्रों की अपेक्षा आर्यभवन की ऊचाई पर बनी हुई इमारत कही अधिक सूर्य-प्रकाश से युक्त रहती है। उदाहरण के लिए मैं कहता हूँ कि एक दिन शहर मे जाने पर मैंने बेलसाइज़ पार्क तक तो लण्डन की बस्ती मे घना कुहरा छाया हुआ देखा और ऊपर आर्यभवन के आस-पास पहुँचने पर देखा तो छाया के बदले सूर्य-प्रकाश जगमगा रहा था। ज़मीन-तले की रेलवे को दृष्टि मे रखते हुए भवन की स्थिति नि सन्देह बड़ी सुविधा-जनक है 'मेट्रोपालिटन' के स्विस् कॉटेज और हेम्स्टीड ट्यूब के बेलसाइज पार्क इन दो स्टेशनों के बीचों-बीच यह इमारत खड़ी हुई है। इन मे से किसी भी स्टेशन से शहर तक जाना अत्यन्त सहज है और बेलसाइज़ पार्क से चेरिंग-क्रॉस तक जाने मे, ट्यूब मे, १५ मिनिट से अधिक समय नही लगता। यहाँ से ठीक इतने ही समय मे बैंक और प्रासाद भवन (Mansion House) तक भी पहुँच सकते हैं।

भारतीय प्रवासियों के लिए की गई इस सुविधा की, उपयुक्त शब्दों मे, प्रशंसा करना कठिन है। यहाँ ऐसे स्थान की इतनी आवश्यकता थी कि वह अब तक क्यों न बन सका था यही आश्चर्य है। लेकिन चूँकि अब उस आवश्यकता की पूर्ति हो चुकी है और बड़ी अच्छी तरह हो चुकी है, यह आशा करना व्यर्थ न होगा कि लोग इससे उचित लाभ उठायेंगे, इसका उपयोग करेंगे। यह भी बहुत संभव है कि इसी सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान भवन के आस पास तथा शहर मे दूसरे स्थानो पर भी ऐसे भवनों की योजना की जाय जिससे वे लोग भी लाभ उठा सकें जो स्थान की कमी के कारण आर्यभवन की सुविधाओं से वंचित रहते हैं।

मै सस्थापकों के साथ-साथ भवन के अवैतनिक मन्त्री श्री० कस्तूरमल बांठिया—जो सस्थापको की इच्छाओं को इतनी अच्छी तरह कार्य में परिणत करने के लिए अथक परिश्रम कर रहे हैं—को, और श्रीमती पोलक तथा श्री० पोलक को उनकी विविध बहुमूल्य सहायता के लिए हार्दिक बधाई देता और उनकी कल्याण-कामना करता हूँ। जितने थोड़े समय मे भवन को अच्छी तरह सजाकर सब तरह से उपयोगी और रहने योग्य बनाया गया है, वह विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ यह लिखते हुए और भी हर्ष होता है कि भवन मे रहने वाले सदस्यों मे परस्पर सद्भावना, सहानुभूति तथा सहयोग के भाव सम्पूर्णतया जागृत रहते है और यही कारण है कि उसके व्यवस्था-कार्य मे अबतक किसी तरह की रुकावट नही पड़ी है। इस मधुर प्रबन्ध का श्रेय प्रधानतया श्री० कस्तूरमल बांठिया के अथक परिश्रम को है।

सी० एफ० एण्डरूज (लण्डन)

बृहत्तर भारत

['त्यागभूमि' के लिए]

(२)

अब हम अपने पाठकों को कम्बोडिया (कम्बोज) और जावा के कुछ शिला-लेखों के नमूनों से परिचित करावेंगे। अब तक के प्राप्त समस्त शिलालेखों से राजा भववर्मन ही कम्बोडिया का सर्वप्रथम राजा ठहरता है। उसके राज्य-काल के ठीक-ठीक सन-सम्वत् का हमे पता नहीं, क्योंकि हमारे प्राचीन शिलालेखों मे तिथियों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। लेकिन उसके उत्तराधिकारियों के काल के आधार पर और चीनी इतिहास की साक्षियों के बल पर हम उसको ईस्वी सन की छठी शताब्दि अथवा लगभग ५५० ईस्वी का राजा मान सकते हैं। अब हम उसके राज्यकाल से सम्बन्ध रखने वाले एक लम्बे शिलालेख के पूर्वार्द्ध की चर्चा करेंगे। यह शिलालेख दक्षिण-भारत की पल्लव लिपि मे एक पाषाण-खण्ड पर खुदा है। यह पाषाण-खण्ड कम्बोडिया के हान-ची नामक स्थान के एक भग्न-प्राय विशाल देवालय के निकट मिला था।

"उस गंगाधर चन्द्रशेखर की जय हो जिसके सिर पर लहराती गंगा की वेगवती धारायें उमा की टेढ़ी भौंहो मे डर कर शान्त होती और भगवान शंकर के गले का कण्ठहार बनती है। महाराजा भववर्मन ससार के शासकों के सम्राट् थे। वह अजेय और महान थे और थे मेरु के समान उन्नत एव उदात्त। उन्होंने अपने जन्म से 'सोम'-वंश को अलंकृत किया था। समुद्र की प्रशान्त लहरों मे प्रतिबिम्बित होने वाले चन्द्र-प्रकाश की भांति वह स्वयं तेजोमय थे। रणक्षेत्र मे उनका पराक्रम भी इसी भांति चमका करता था। जब उन्होंने असन्तोष्य, सूक्ष्म और मानवी शक्ति के बन्धनो से परे रहने वाले अपने अन्त -शत्रुओं को—अपनी छहों इन्द्रियों को—जीत लिया था तब बाह्यशत्रुओं की तो गणना ही क्या ? .. शरत्काल के आरम्भ मे जब वह समस्त ऐश्वर्यों से युक्त हो, दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते, तब सूर्य-तेज को भी लज्जित करने वाले उनके पराक्रम के सामने शत्रुओं का ठहरना कठिन हो जाता था। उनकी सेना के पद-स्पर्श से उड़ी हुई धूल, शत्रु-ललनाओं के उन कपोलों पर चन्दन-भस्म की भांति जा बैठती जिनकी सारी शोभा शोकाश्रु-प्रवाह मे एक साथ ही धुल गई थी उनके व्यक्तित्व मे एल (पुरुरवस्) का राजवंश अपने उत्कृष्ट रूप मे व्यक्त हुआ था और उनके पराक्रमों के कारण उनकी ख्याति विश्व-सीमा का अतिक्रमण कर गई थी। आसमुद्र-वसुन्धरा को एक बार बाहुबल से जीतकर अपने राज्यकाल मे उन्होंने उसे अपनी सौम्य क्षमा द्वारा पुन. पराजित किया था। चरणो में नतमस्तक होने वाले राजमुकुटों की रत्नमयी किरणो से यद्यपि उनके पद-नख अधिक ज्योतिर्मय हो जाते थे फिर भी उनके विशुभ्र हृदय मे अभिमान की हलकी सी रेखा तक न प्रकट होती थी . ।"

इस शिलालेख के अन्तिम भाग में उग्रपुर के एक सामन्त का उल्लेख है जिसने भद्रेश्वर के देवालय की प्राण-प्रतिष्ठा की और इस घटना की स्मृति में प्रस्तुत शिलालेख तैयार करवाया। "उसने (उग्रपुर के स्वामी ने) देव-सम्पत्ति के निमित्त दास-दासी पशु, पृथ्वी, सुवर्ण आदि का मुक्तहस्त से दान किया। देवता के यती—पुजारी ही इस (मन्दिर) के अधि-

कारी हो सकते हैं। दाता के उत्तराधिकारी इस देवोत्तर सम्पत्ति का उपभोग नहीं कर सकते क्योंकि उन्हें उस पर कोई अधिकार नहीं है "†

छठी शताब्दि के इस शिलालेख—जिसे फरासीसी-भूतत्त्वविदों ने सुदूर इण्डोचीन मे जाकर खोज और खोद निकाला है—की भाषा की तुलना, पाठक कालिदास के रघुवंश के चतुर्थ सर्ग मे वर्णित रघु-दिग्विजय से करके देखे,कितना सूक्ष्म अनुकरण है।

बोर्नियो और जावा मे हमे इससे भी पुराने कुछ संस्कृत-शिलालेख प्राप्त हुए है। इनकी लिपि भी दक्षिण-भारत की पल्लव-लिपि जैसी ही है। प्राचीनतम जावा-शिलालेखो मे जो वर्तमान बटेविया के निकट के पश्चिमी जावा में मिले हैं हमे पता चलता है कि ईस्वी सन ४५० के लगभग पूर्ण-वर्मन नामक एक राजा की 'तारुमा' नामकी राजधानी द्वीप के इसी प्रदेश मे थी। इसका एक शिलालेख नदी-तीर की एक चट्टान पर खुदा हुआ है। उसमे केवल चार पंक्तियाँ है और उसके ऊपरी भाग मे दो पद-चिन्ह भी खुदे हुए है—"शक्तिशाली, पृथ्वीपति 'तारुमा' नगर के अधिपति श्रीमान पूर्णवर्मन के ये दो पद-चिन्ह है जिनकी तुलना विष्णु के पद-चिन्हो से की जा सकती है।"

इसी पूर्णवर्मन के एक दूसरे शिलालेख मे चंद्रभागा और गोमती नामक दो नहरो के निर्माण का उल्लेख मिलता है। इन नामो का उत्तरी-भारत की नदियो के नामो से जो साम्य है वह देखने योग्य है। इसी राजा के एक तीसरे शिलालेख पर इसके हाथियो के पद-चिन्ह पत्थर पर खुदे हुए है और उनकी तुलना ऐरावत के पद-चिन्हो से की गई है।

विजनराज चटर्जी

(पी०-एच०डी०, डी० लिट्)

† ये उद्धरण लेखक की अपनी 'भारतीय संस्कृति का काम्बोडिया पर प्रभाव' पुस्तक पृष्ठ ४१-४३ से लिये गये है।

सुकवि और कुकवि

सुकवि

दशा दयनीय देख दलित स्वदेश की जो
शब्दरूपी आँसू सदा दुखी हो बहाते है,
धर्मध्वजी ढोंगियो के वृथा पुष्ट गढो को जो
शब्द रूपी गोले मार निर्भय ढहाते हैं,
दुराचार-मूलक कुरीतियो के शव को जो
हँस-हँस कर शब्द-गंगा मे बहाते है,
वही बुद्धिमान, वही साहस-निधान
वही आचरणवान सच्चे कवि कहलाते है।

कुकवि

(१)

भूख की जगी है ज्वाला देश मे भयानक,
तू नायिका के चित्र खींच किसे दिखलाता है ?
अरे मूढ कवि, तेरी बुद्धि को लगा है भूत—
शान्ति सरसाने को जो आग बरसाता है।
निज सुता, सुतवधू आदि की तो कर याद
दूसरो की बहू-बेटियो को क्यो लजाता है ?
चाहता मिटाना तू समाज की पवित्रता को
काव्य को पढा के दुराचार को बढाता है।

(२)

गुजर स्वकीया की भी कठिन हुई है आज,
तुझे परकीया नायिकाओ से ही रति है।
हुआ है शरीर जीर्ण-शीर्ण आधि-व्याधियो से
तो भी विषयो में अति रत तेरी मति है।
कविता-कुल्हाडी मे समाज-तरु-शाखा को तू
उसी पर खडा पहुँचाता आप क्षति है।
भले आदमी न पूछें एक कौड़ी को भी तुझे
तेरे अनुरूप बस यही तेरी गति है।

बदरीनाथ भट्ट

देश बनाम विश्व

"यह हमारा देश है," कैसी सुन्दर कल्पना है ! कैसा सुन्दर आदर्श है ! अहमन्यता का पवित्र और सात्विक भाव है। वीरो ने इसी भाव से प्रेरित होकर अपने प्यारे-प्राण देश की वेदी पर बलिदान कर दिये है। इसी मन्त्र से मुग्ध होकर सहृदय धनिको ने जन्म-जन्म की जुटाई सम्पत्ति देश के अर्पण कर दी है। इसी एक वाक्य की मर्यादा पालन करने के लिए वीरात्माओ ने अपना जीवन-काल काल-कोठरियो मे सड़-सड़कर, असह्य वेदनायें सहकर समाप्त किया है। त्याग की बडी ऊँची सीढ़ी है। सच्चे त्यागी देश के लिए धन धान्य, घर-परिवार सब छोड़ देते है।

पर मनुष्य स्वार्थ का पुतला है। हृदय की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तथा पवित्र मे पवित्र भावनाओं मे स्वार्थ की रेखा छिपी रहती है। स्वार्थी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति इसी दुर्बलता की आड मे अपना खेल खेलते हैं। इसी कमजोरी का फ़ायदा उठाते है और परिणाम यह होता है कि यह सुन्दर भावना सकुचित होकर मनुष्य के हृदय को द्वेष, दम्भ तथा घृणा से भर देती है। जहाँ अपनी ज्योत्सना का प्रकाश छिटका कर दूसरो को ज्योतिर्मय बनाना था, वहाँ अपना प्रकाश इसलिए छिपा लिया जाता है कि दूसरे अन्धकार मे रहे। ज्यो-ज्यो ससार की आयु बढ़ती जाती है, ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि होती जाती है, हृदय और मस्तिष्क का विकास होना चाहिए, सीमा का विच्छेद होना चाहिए, 'मेरा' का लोप और 'हमारा' की जड जमनी चाहिए। पर ससार की प्रगति उलटी होती मालूम पड रही है। इसमे सन्देह नहीं कि यह प्रतिक्रिया क्षणिक है, अधिक दिनो तक नहीं रह सकती। बुझते दीपक की झिलमिलाहट है, प्रात काल के दीपक का प्रकाश है।

ससार के प्रभात मे जब समाज के जीवन का आरम्भ नहीं हुआ था, मनुष्य को अपने से काम था। अपने लिए वह पेड़ों मे खोडरे अथवा पृथ्वी मे माँद खोदता था। दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति उसे असह्य थी। वह अपने भोजन मे दूसरे को सम्मिलित नही कर सकता था। उसका जीवन स्वार्थ-रत था। जब मनुष्य के साथ एक स्त्री भी हो गई, उसके स्वार्थ का केन्द्र बदल गया। वह स्वयं दु ख सह सकता, पर अपनी सहगामिनी के सुख का ध्यान रखता था। पुत्र हुए। परिवार बढा। अब वह औरो के लिए त्याग कर सकता था। अब उसे अपनी चिन्ता कम रहने लगी। परिवार मे कुटुम्ब वा छोटी-छोटी टोलियाँ बनी, ग्राम बने, आपस मे कारोबार, व्यवहार तथा सम्बन्ध बढ़ते गये। लोग दूसरे पर अधिकाधिक निर्भर होते गये। इस प्रकार सभ्यता की सीमा ज्यो-ज्यो बढ़ती गई, मनुष्य का कार्य-क्षेत्र भी बढ़ता गया। उसकी रुचि, अपने मे मे हटकर और-और स्थानों पर भी पहुँची। कोई काल था कि अपने-अपने ग्रामो की रक्षा के लिए वहाँ के निवासीगण सेना इकट्ठी करते थे और एक ग्राम वाले दूसरे युद्ध करते थे। जब उनके ज्ञान की वृद्धि हुई, उनके हृदय का विकास, हुआ सारा देश अपना हो गया। देश की रक्षा उनका ध्येय हो गया। यद्यपि मानव-इतिहास के प्रत्येक काल मे प्रत्येक प्रकार के प्राणी पाये जाते है—स्वार्थी, अपने ही लाभ मे लाभ समझने वाले, अपने शरीर की ही रक्षा करने वाले, अपना ही पेट पालने वाले इस समय भी ससार मे पाये जाते है—पर ऐसे लोगो की सख्या बढ गयी है जिनके सम्मुख देश की आवश्यकता प्रमुख है, जो अपने को देश के समक्ष हेय समझते है।

ससार के मध्यकालिक इतिहास मे स्वदेश-प्रेम की भावना उच्च शिखर पर पहुँच गयी थी। प्रत्येक देश-वासी अपने देश के लिए, उसके स्वत्व तथा आत्माभिमान की रक्षा के लिए दूसरे देशो से युद्ध ठानता था। हमारे देशमे अपनी जाति, धर्म, तथा मर्यादा की रक्षा के लिए प्रात स्मरणीय शिवाजी, वीर-केसरी राणा प्रताप प्रभृति महात्माओं ने कष्ट सहकर अनेक युद्ध किये, संघटन किया और जहाँ तक बन पडा सात्विक भाव मे देशकी सेवा की। हमारे देशमे तो अन्य देश वाले घुस आये थे, इसलिए इतना करना पड़ा पर जो देश स्वतंत्र थे उन्हें भी अपने देश की

रक्षा के लिए तत्पर रहना पड़ा। अपने देशकी रक्षा प्रत्येक प्राणी का धर्म है। वह उसकी मिट्टी से पला है। उसके रुधिर में उसी भूमि के कण प्रवाहित होते है। अपनी जान देकर उसे बचाना दूसरों से पादाक्रान्त न होने देना, अपने देशके प्रत्येक रेणु में भक्ति और श्रद्धा का भाव होना, अपने देश की चाल-ढाल, आचार व्यवहार के लिए मरमिटना यह देश-वासियों के जीवन का कर्तव्य होना चाहिये।

पर इस निर्दोष भावना की स्वच्छ और सरल धारा को स्वार्थ-लोलुप नेताओं और संसार की उचित प्रगति में बाधा डालने वाले समाजों ने संकुचित और गंदी नालियो में बल-पूर्वक बहाने का प्रयत्न किया और अपने प्रयत्नों मे यह दल सफल भी हुआ। देश-प्रेम का अर्थ यह निकाला गया कि दूसरे देशों की स्वतन्त्रता पर कुल्हाड़ी चलाई जाय। अपनी रक्षा का यह उपाय खोजा गया कि निरसहाय और निर्बल जातियों की स्वाधीनता अपहरण की जाय। अपने देश मे सामग्री न मिलती हो तो धनी परन्तु बलहीन देश के धन लूट लो।

विभिन्न देशो मे व्यापार होना स्वाभाविक है। संसार के प्रत्येक प्राणी का कार्य इसी भरोसे चलता है। पर यह स्वेच्छा से हो सकता है, किसी को दबा कर धमका कर बल-पूर्वक नहीं। पर ऐसा ही हुआ। विज्ञान से इसमे सहायता ली गयी। वीरो ने अपनी जान खोकर समुद्र नापे, जहाजों का निर्माण किया कि संसार और छोटा हो जाय, संसार के सुदूर देशों के मनुष्य भी आपस मे मिलें, कम सभ्य अधिक सभ्य जातियों से सभ्यता ग्रहण करें, पर इन उपकारो से साम्राज्य स्थापित करने मे सहायता ली गयी। इसी प्रकार सारे वैज्ञानिक आविष्कारो से संसार मे शान्ति और प्रेम स्थापित करने के स्थान पर युद्ध, लूट और डकैती का काम लिया गया। झूठी देशभक्ति के नाम पर, स्वतंत्रता की रक्षा के बहाने, देशाभिमान और देश का गौरव बढ़ाने का स्वांग रचकर, दूसरी जातियां नष्ट कर डाली गयीं और दूसरे देश पैरो तले रौंदे गये। अपने देश-वासियों को यह सब्ज बाग दिखलाया गया कि तुम्हारी रक्षा की जा रही है। अपने यहाँ के मजदूरो को यह बतलाया गया कि व्यापारिक उन्नति मे तुम्हें मजदूरी अधिक मिलेगी। इसी प्रकार से अनेक रूपक बांधकर, भोली भाली जनता को मूर्ख बनाकर, झूठे चित्र रचकर, देश-प्रेम और देश-भक्ति के नाम पर धोका दिया गया।

जिस प्रकार सभी कालों मे स्वार्थियों की एक संख्या होती है इसी प्रकार सभी कालो मे शान्ति प्रिय, उदार और विशाल-हृदय महात्माओं का भी अस्तित्व होता है। अनेक बार इस बात का प्रयत्न हुआ कि युद्ध रोका जाय, संसार में भाई-चारे का भाव फैलाया जाय पर अभी तक सभी प्रयत्न निष्फल हुए। युद्ध की भेरी के आगे शान्ति की वंशी न बज सकी। परन्तु समय मे परिवर्तन हो गया। अब लोग समझने लगे कि जिस स्वर्ग का स्वप्न दिखलाया गया था वह केवल रवि-कर-जाल था। बनावटी देश-प्रेम का जो भयानक परिणाम हुआ है, वह संसार के नेत्रों के सामने ताण्डव कर रहा है। हिन्दू-मुसलमान की लड़ाई, ब्राह्मण-अब्राह्मण का संघर्ष, पूंजी-पतियों और श्रम-जीवियो के बीच खींचा-तानी, काले-गोरो का द्वेष, सब इसी झूठी देशभक्ति के फल है। पूर्वी खतरा (Yellow peril) का जो आतंक युरोपियन जातियो के हृदय में बैठा है वह उस अत्याचारकी प्रतिक्रिया है जो युरोपियन जातियो ने चीन के प्रति किया है। दार्शनिकों और विद्वानो ने समझ लिया है कि जिस रूप से ये लोग, जिनके हाथो राष्ट्रों की बागडोर है, चल रहे है अनुचित है। उससे संसार नरक ही बनेगा। आपस में एक दूसरे के प्रति अविश्वास है और ऊपर से शान्ति रखने के लेक्चर झाड़े जाते है। एक ओर हवाई जहाज़ और डेडनाट ढल रहे है, दूसरी ओर केलाग पैक्ट बन रहा है। यह संसार को, जन साधारण को धोका देना है। बहुत संभव है कि इन राष्ट्रों मे कुछ ऐसे भी हों जो सचमुच शांति का प्रयत्न करना चाहते हों, पर बलवती जातियो के सामने उनकी कोई सुन नहीं सकता। हाँ, एक बात अवश्य है, और वह यह कि मनुष्य-समाज अब इन नीतियों का घोर विरोध करने लगा है। मनुष्य समझता है कि वह मनुष्य का भाई है। शान्ति-संघ बन रहे है, और युद्ध के विरुद्ध संघटन हो रहे है। गान्धी और टैगोर, रोमें रोलाँ और सण्डरलैण्ड ऐसे दूत शान्ति का सन्देश संसार के कोने कोने में भेज रहे हैं।

यह तो निश्चय है कि संसार को शान्ति और भ्रातृभाव का सदेश देने में, उन्हे फैलाने और उनका प्रचार करने में भारत ही प्रधान स्थान ग्रहण कर सकता है। पाश्चात्य देशों की सभ्यता का आधार जडवाद और पाशविक बल है। यद्यपि ईसाई धर्म को मानने वाले युरोप मे अधिक हैं, पर वे ईसाई धर्म के अनुकूल नहीं चल रहे है, ईसाई धर्म उनके अनुकूल चल रहा है। फिर भी यह अच्छे भविष्य का चिन्ह है कि वहा भी ऐसे व्यक्तियों का उदय हो रहा है जिनका हृदय इतना विशाल है कि वे अपने देश के आगे भी देख सकते हैं।

हमारा यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि हम उन शक्तियों का आह्वान करें जिनमे ससार के सब देशों की प्रगति एक साथ शान्ति की ओर हो। 'जिओ और जाने दो' (Live and let live) यही मनुष्य के जीवन का तथा राष्ट्रों का सिद्धान्त होना चाहिये। अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा हो पर दूसरे की स्वाधीनता पर हाथ न फैलाया जाय। जाति-गत झगडे दूर करने का जोरों के साथ प्रयत्न होना चाहिए।

भारत ऐसे देश मे ये बातें कुछ लोगो का कदाचित खटकें। जो देश स्वयं दूसरों के हाथों की कठपुतली हो, जो अपने आप एक मुट्ठी दाने के लिए तरसता हो, जो बल-हीन हो, अपमान किये जाने पर बोल भी न सकता हो उसके मुँह से ऐसी बातें निकलना कुछ लोगो को शायद बेतुकी और असामयिक मालूम होंगी। पर बात ऐसी नहीं है। जेल मे भी मनुष्य सत्य बोल सकता है और निर्धन व्यक्ति भी सच्ची राह बतला सकता है। हम पराधीन है पर ऐसा न हो कि स्वाधीनता लेने के प्रयत्न मे हम भी अन्य देशों को भांति उक्त सिद्धान्तों को भूल जायँ और अनीति और अनाचार फैलायें। हम संघटन कर रहे हैं, वीरता और शक्ति की उपासना कर रहे हैं। जब हम पर-तन्त्रता की शृंखला तोड देंगे, स्वाधीनता की तरगों मे उछलने लगेंगे, सभव है मद में बेहोश हो जायँ, सारी शिक्षा भूल जायँ। अनेक देशों मे ऐसा ही हुआ है। इसलिए हमारा ध्येय विश्व में शान्ति, विश्व में स्वाधीनता का साम्राज्य स्थापित करने का होना चाहिए।

वह स्वतंत्रता जो दूसरों का अस्तित्व मिटाने के लिए हो, ससार के लिए भयानक है। जो स्थिति भारतवर्ष की है, रोटी और टुकडे के लिए एक दूसरे के प्रति जो अश्रद्धा और अविश्वास फैला है, उससे बडा भय मालूम होता है। हमे जान बूझ कर ऐसी शिक्षा दी गयी है कि एक दूसरे के प्रति प्रेम न हो। यह अवस्था सदा तो रह नही सकती पर जितनी जल्दी संभव हो ऐसे भ्रमपूर्ण भावों का मूलोच्छेदन होना चाहिए। हमें समझना चाहिए कि हमारी स्वतन्त्रता ससार मे शांति और मनुष्य समाज मे प्रेम स्थापित करने के लिए सीढी मात्र है। इसके अतिरिक्त इसका कोई अर्थ नहीं है, और न होना चाहिए। अपनी रक्षा करना मनुष्य का स्वभाव है, त्याग इसका ध्येय होना चाहिए। नपुसकत्व मे त्याग का कोई मूल्य नहीं होता पर शक्ति सम्पन्न होने पर वह एक स्वर्गीय कृति हो जाती है। इसलिए भारत का इस समय का उद्देश्य तो स्वतन्त्र होना है ही पर यह विश्व-स्वातन्त्र्य के अर्थ (terms) मे होना चाहिये। ससार रूपी शृंखला मे भारत एक कड़ी है। इसे कमजोर तो होना चाहिये नहीं। कड़ियाँ सब समान होती हैं। सबकी बराबरी के साथ यह विश्व में इस ससार मे, सभ्यता और प्रेम का प्रचार करे। बुद्ध की अहिंसा और प्राणी मात्र से प्रेम की शिक्षा इसी देश के दिव्य प्रकाश की एक किरण थी, ईसा के भ्रातृ-भाव का उपदेश इसी एशिया की एक धारा का प्रवाह था। हमारा यह कर्तव्य है कि हृदय को विशाल करें। अपने देश मे जो सकुचित रिवाज हैं, जो संकुचित प्रथायें हैं, उनका नाश करें। हिन्दू, मुसलमान, अछूत और पवित्र सब एक होकर ससार के सम्मुख जातिगत युद्ध के विरोध मे घोषणा करें। संसार की आँखे हमारी ओर हैं। पहले हम स्वतन्त्र होते तो यह कार्य न हो सकता। हमारे यहां स्वयं समता और भ्रातृत्व नहीं हैं। पर अब इधर भी प्रयत्न हो रहा है। इसकी गति और बढनी चाहिये। ससार भी युद्ध-कलह से पीडित होकर विश्व मे शान्ति फैलाने के लिए उत्सुक है। यदि भारतवर्ष अपनी स्थिति ठीक करले तो वह संसार का नेता होगा।

कामदेव प्रसाद गौड़
(एम० ए०, एल० टी०, विशारद)

लहरें चीर : विजया मना

परायेपन के इस पारावार मे, क्या अपने अस्तित्व को डूबने से बचाये रहना, और आराध्य तट तक पहुँचाना है ? यदि हाँ, तो लोहे की दीवारें सागर के तरल वक्षस्थल पर दौड़ाना, और पानी मे आग लगाना सीखिए क्या अपने दुर्भाग्य को दो टुकड़े कर देना है ? तो उठिए, सागरो और महासागरो का आमन्त्रण स्वीकृत कीजिए। दुर्भाग्य, समुद्र की लहरो मे जा छुपा है, लहरें काटते चलिए, बेडियाँ और दुर्भाग्य दोनो कटते चलेंगे।

व्याख्यान, लेख, और कविताओ से यह न होगा। मल्लाह चाहिए। वह अज्ञान न हो, लहरे उसे निगल जायँगी, वह अल्हड न हो, लहरें उसे खिलवाड़ बना लेगी, वह कसा हुआ हो, वे उस पर कुर्बान जायँगी,—नीचे रत्नो से भरा हुआ समुद्र-गर्भ और ऊपर नक्षत्रो तक का राज्य, वे अपने प्रियतम पर वार देगी। खूबसूरत युवा, पतवार हाथ मे ले। यही तेरी शोभा है।

बेटियाँ कहे, उन्हे मल्लाह, सेनानी पति चाहिए, बेटे कहे, उन्हे जहाज के कम्पास पर बैठ, दिशा-दर्शन कराने वाली प्राणो की यथार्थ ईश्वरी चाहिए।

यदि देश के सीमोल्लंघन की यह तैयारी न हुई, तो बोये हुए ज्वारे ऊगकर किसका मुँह देखेंगे, घट-स्थापना का घट, किसके बल-रत्नो से भरे जाने की साध करेगा और यह नन्दा-दीपक किस कुल-भूषण की आरती उतारेगा ?

जंग लगी हुई तलवार से नीबू काटने, और उस पर सिन्दूर लगाने वाले कायर! अस्तित्व के जहाज को कठिनाइयो के सागर की तरंगो पर तैरा दे, और मल्लाह बनने के लिए आगे बढ़। ब्राह्मण! तू समुद्र-पूजन को चल, क्षत्रिय! तू लहरो को काटने उठ, वैश्य! तू समुद्र पार से लक्ष्मी को लौटा, और शूद्र! तू अपने ब्रह्म-कर्म से समस्त शरणागतो की रक्षा कर। खोये हुए वे दिन ढूँढ़, जिन्हे अफीमची चीनी ढूँढ़ लाये। अमानुल्लाह ढूँढ़ लाया, और कमालपाशा भी। तेरे जिन कंधो से गंगा और जमना आईं, जिन कंधो से गोरी और गजनवी आये, अरे! क्या उन कंधों से सागर की लहरे चीरने का सन्देश नही आता ? इतना गतिवान ? ऐसा ताजा ? कान तो कन्धों से सदा काना-फूसी करते रहते हैं।

×　　×　　×

और पकान्न ? जीभ की गुलामी सिखाने के लिए कोई शास्त्र क्यों चाहिए ? जीभ के बल, कुछ मीठे पर, और कुछ प्राण बचाने के प्रस्तावो पर, ठहर लेंगे। नट के लिए यह सब आसान है। तरुण! तेरे लिए नहीं।

×　　×　　×

आजकल लोग सिर के बल चलना सीख रहे हैं,—सीख भी गये हैं। किन्तु जो खेतो, खलिहानो, और कारखानो मे आदमी की तरह पैरो के बल चलते है, जो रण-क्षेत्रो मे रक्षा के लिए हाथो के बल चलते और जो विश्व के व्यापार के रूप मे, बड़ी तोंद से पेट के बल जीवन की दौड दौड़ते है—ऐसो को देश मे कौन पूछता है ? यहाँ तो चोरी सीना-जोरी, देश-भक्ति, देश-घातकता, गालियाँ और धर्मोपदेश, कलह और कविता का जोर है, सिर के बल दौड़ने वालो का क्या! हम क्या आदमी की तरह, खेतो और रण-खेतो के काम के बन सकेंगे* ?

माखनलाल चतुर्वेदी

*एक तरुण लेखक के लिए लिखी पंक्तियों मे से कुछ अंश।

विस्मृता उर्म्मिला

(*प्रथम सर्ग*)

[गताक से आगे]

जनकपुर-प्रवेश

(१)

धीरे, रम्ये, जनक नगरी, सौख्य सम्पत्ति धाम,
तेरे वासी सतत रत हैं ईश सेवाभिराम।
कोई दृग्गोचर नर नहीं हो रहा दुष्ट वाम,
शान्ते, तेरी सुभग धवला देहली मे प्रणाम ॥

(२)

आ पैठी तू चकितमति, हे चित्त की वृत्ति मेरी,
खोई-सी क्यों इधर फिर भी दर्शनौत्सुक्य प्रेरी ?
खोलो आँखें, मुदित मन हो, पुण्य शोभा घनेरी—
देखो; होवे हृदय-तल की भावना पूर्ण तेरी।

(३)

प्राचीरो के सुदृढ़ गढ़ को विज्ञ कारीगरों ने—
रक्खा है क्यो विलग पुर से, शिल्पविद्याधरो ने ?
क्यों छोड़ा है नगर, गढ़, के बीच सुस्थान खाली ?
कैसी वीथी-परिधि यह है वेदियो से संभाली ?

(४)

ब्रह्म-ज्ञानी जनकपुर की शुद्ध-सी मेखला है ?
या नारी की मृदुलकटि की धर्म की शृँखला है ?
किंवा माला जनक-यश की शुभ्र पुष्पोंमयी है ?
या लोगों के विमल हिय से गान-धारा बही है ?

(५)

मन्त्रोच्चारी सु-पट पहने, ब्राह्मणो की कतारें—
प्रातः सायं पुर परिक्रमा को यहाँ पाँव धारे।
रम्या वीथी यह मुदमयी "मङ्गलावीथि" नामा—
दुःख-क्लेशोद्भव भव-व्यथा मेटती है अकामा ॥

(६)

क्यों जाते हैं प्रतिदिन सभी पौर ये घूमने को ?
क्यों जाते हैं नगर भर की धूल को चूमने को ?
ये संकेताक्षर कठिन हैं गूढ़ भावो भरे हैं।
सीधी साधी यह परिक्रमा मूढ़ता के परे है ॥

(७)

आकृष्टा हो जिस नियम से भू सदा घूमती है—
संलग्ना हो जिस नियम मे डालियाँ झूमती हैं—
गूढ़-ज्ञानी जनकपुर मे हैं वही देखते ये—
विश्वों की है द्रुत परिक्रमा-शृंखला पेखते ये ॥

(८)

प्राची मे, जो सुपथ, नृप का पश्चिमान्त-प्रदेश—
बाँधे है, ज्यों ललित दुलही प्रेम की गाँठ शेष,
शोभा मे है अमित, वह है 'राजमार्ग' प्रसिद्ध,—
व्यापारी के सकल जिससे कार्य-व्यापार सिद्ध ॥

(९)

सीचा जाता नित जल कणो से सदा राजमार्ग,
मीठी मीठी कलित कलिका-गंध से पूर्ण मार्ग।
क्या ही शोभामय यह पुरी है विदेही अनंगा—
मानो भू में अहह प्रकटी आन आकाश गगा ॥

(१०)

भारी भारी अतुल रथ से मार्ग है खूब पूर्ण,
धीरे धीरे शकट चलते हैं किये भूमि चूर्ण।
हस्त्यश्वों के विकट रव से गूँजती हैं अटाये,
शस्त्राओं की खर चमक है याकि विद्युच्छटायें ॥

(११)

इन्द्रद्वारात् प्रसृत पथ है उत्तरीया दिशा में—
फैला यो ज्यो त्वरित रव हो मूर्छिता-सी निशा में।

देखो है "वामन सुपथ" की शान्त शोभा अखण्ड,
शिल्पी का है यह सुखद-सा शान्तिदा कीर्त्ति-दण्ड ॥

(१२)

रम्योद्यानोमय यह पुरी शोभती यों अनूपा,
मानो कोई नवल तरुणी मोद मुग्धा सरूपा—
क्रीड़ोत्कण्ठामय चपलता की हठीली लरी-सी—
फूलों वाली हरित लतिका से मजी वल्लरी-सी ॥

(१३)

धीरे धीरे पवन बहती, गुल्म औ पुष्प नाना—
उद्ग्रीवी हो तरणिवर को चाहते हैं बुलाना।
स्निग्धच्छायामय जगह से—नीड़ से—बोलते हैं—
पत्ती बैठे—मुखरित अहो माधुरी घोलते हैं ॥

(१४)

ले आये हैं सकल जग की स्नेह की ये पिटारी,
आ बैठे है जनकपुर की वाटिका मे विहारी,
क्यो जाता है पथिक अब तू दूसरी ठौर? आ, रे—
सारे त्रेतायुग मधुर की माधुरी है यहाँ रे!

(१५)

डाली डाली मधुर स्वर मे गूँजती है निराली,
मूर्च्छापूर्णाऽकुल झपकती आँख मे है सुलाली।
सद्य:स्नाता सदृश, टहनी, बिन्दुओ से भरी है,
मानो धीरा अचल वसुधा अर्घ्य लेके खड़ी है ॥

(१६)

तुष्टा हृष्टा जब चहकती पत्तियो की कतारें—
तो एकाकी झनक उठती कल्पना की सितारें।
सारे वासी इस नगर के नादिता-गान-धारा—
की तानो मे मुदित करते पुण्य सुस्नान प्यारा ॥

(१७)

क्यारी क्यारी मधुरस भरी यो सुहाती सलौनी,—
ज्यो होली के नवल दिन मे रजिता रग लौनी—
भ्रान्ता कान्ता, मधुरस भरी हो सुहाती सुरम्या।
भू की भव्या सरस सुषमा स्पष्ट होती अगम्या ॥

(१८)

कुञ्जो कुञ्जो किरण-कर से, रीझ के अंशुमाली—
पा जाते हैं सुमृदुल जुही की वही ओष्ट-जाली;
फूली फूली विपिन भर मे डोलती है चमेली,
मानो मुग्धा, श्वसुर-गृह में, आगई प्रेम बेली।

(१९)

न्यारी न्यारी गुनगुन मयी तान झंकार पूरे—
ऐंठे से ये अलिगण सभी गान झंकार पूरे—
उन्मत्तो के सदृश फिरते बाग मे लुब्ध यों हैं,
मानो योगी विरति-रस मे लीन सम्मुग्ध ज्यों है।

(२०)

चौड़े-चौड़े, सुखदगृह से, बाग मे स्थान हैं ये—
मानो धारे थकित नरके शान्त-से प्राण हैं ये।
माली माला ग्रथित करते है यहाँ मोहनी-सी,
स्नेहाकृष्टा विमल नवल ग्रीव मे सोहनी-सी।

(२१)

स्वच्छा वापी, विपुल जल से, प्रेम की गाँठ जोड़े,—
उत्पीड़ा से जनित भव की भ्रान्ति को दूर छोड़े,—
बैठी यो है जनकपुर की प्रीति से रीति जोड़े,
जैसी कोई अविचल सती नेह का वस्त्र ओढ़े।

(२२)

आ जाती हैं पुरजन प्रिया नेह मे ये पगी-सी,
गोरी बांहे अमल सुपटावेष्टिता हैं ठगी-सी;
मानो कोई लचक लतिका भक्ति के भाव धारे।
पुष्पाविष्टा मुदित मन हो नाचती कुँज द्वारे ॥

(२३)

प्रात साय पुरजन यहाँ, भक्ति से वन्दना को,—
शान्ति सेवी शमन करते चचला स्पन्दना को—
आते हैं, ज्यो विकल बछड़े गाय के, रस्सु तोड़े—
दौड़े आते भव विभव का व्याधि सम्बन्ध छोड़े।

(२४)

ये वापी, ये कमल सर, ये रम्य से कूप नाना,
कल्लोलों से कलित करते ग्राम्य के रूप नाना;

मानो सारी जनक नगरी प्रेम की जल्पना को
पानी द्वारा गदित करती कारुणी कल्पना को।

(२५)

ये देखो हैं जनकपुर की नव्य अट्टालिकायें,
शिल्प्यार्यों की स्वकर ग्रथिता ये बडी मालिकायें।
आखें देखें इस विभव की आर्य आभा सलौनी।
मानी, रक्षारत, प्रिय, गुणी भूप की कीर्त्ति-छौनी।

(२६)

आर्यों के ये सुखदगृह हैं स्वच्छता के सुधाम,
स्निग्धा मन्दा सतत बहती वायु है अष्टयाम,
चौड़े वातायन सुभग से, झाँकते अंशुमाली,
चन्द्र-ज्योत्सना कलित कलिका डाल जाती निराली।

(२७)

पूता वेदी चतुर कर ने प्रांगणो मे गढ़ी है—
मानों याच्ञा नत शिर किये हाथ जोड़े खडी है।
प्रार्थी नारीनर जब यहाँ बठते आस पास,
नक्षत्रो का तब प्रकट हो दीखता भव्य रास।

(२८)

सामाजीय-प्रगति-रथ के जो यहाँ सारथी हैं—
पुण्यश्लोका गहन जिनकी पुण्यदा भारती है—
वे हैं सु-ब्राह्मण दृढव्रती धर्मधारी तपस्वी
योगाभ्यासी विगत कामा, तत्त्वदर्शी मनस्वी।

(२९)

लम्बे लम्बे सबल भुज से देश स्वातन्त्र्य प्यारा—
रक्खे हैं जो अभय बनके सींच हृद्-रक्त धारा।
वीरो मे हैं मुकुटमणि वे क्षत्रियों के सु-भुशुड,
छेत्ता है वे प्रखर असि से दस्युओं के नृ-मुण्ड।

(३०)

धन्वाधारी यदपि, फिर भी है न ये क्रूर दुष्ट,
धारे हैं ये निज हृदय मे पूर्ण निर्लोभ तुष्ट,
सौम्यानिष्ठा इस दृढ़ सुहृद्देश मे यों बही है—
पाषाणों को, कलित सरणी, तोड़ के ज्यों गई है।

(३१)

व्यापारी हैं, कृषक वर हैं, वैश्य ये द्रव्य वाले,
लक्ष्मीसेवी, सकल जग के बाग को हैं सभाले।
ले ले आते शकट भरके दूर से वस्तु सारी
ज्यो फूलो से मधु, भ्रमर हैं खींचते हो सुखारी।

(३२)

ये वे हैं जो सतत रत है—पूज्य-सेवी बने हैं,
वृक्षों-पुष्पों सदृश नित सेवा रसों मे सने हैं।
देते हैं ये सकल जग को गूढ शिक्षा सुरम्य —
सेवा धर्म परम गहनो योगिनामप्य गम्य।

(३३)

उत्कृष्ट हैं मृदुरस सनी है गृह स्वामिनी ये,
आर्य्या-भू का अमल धन है मञ्जुमी भामिनी ये,
उत्संगों में सतत अपने देश की कीर्त्तिलाज--
बैठाये ये निन कर रही हैं घरों में स्वराज।

(३४)

सौन्दर्यों के अमिय-वन के आम्र की कोकिलायें,
कर्त्तव्यों के कठिन स्वर मे तान को हैं मिलाये।
वीरो के हृत्सर विमल की हैं निराली तरंगे,
वेदो के सुस्वर क्वणित की हैं अनूठी मृदङ्गें।

(३५)

हो जाता है नगर इनके भी सुखो से प्रतिष्ठ,
छा जाती है सुखद सुषमा, दूर होता अनिष्ठ,
छाई मानो जनक पुर मे ये नभो तारिकाये—
आई हैं ये गलित करुणा से युता दारिकायें।

(३६)

मातायें हो मुदित शिशु के खेल को जोहती हैं।
मीठी मीठी सरस बतियाँ चित्त को मोहती हैं,
बाल-क्रीड़ा-मय भवन हैं मोख्य सौंदर्य-सिक्त
आर्य्यों के हैं सदन शिरसा बाल शोभाभिषिक्त

(३७)

शिक्षा पाते सु-गुरुकुल में देश के ये कुमार,
कैसा छाया सघन घन-सा शिक्षकों का दुलार,

गुर्वाणी की यह बह रही वत्सला प्रीतिधार—
स्नानाकांक्षी पुर नगर के बाल आये अपार।

(३८)

ऋग्वेदीय स्वरित रव से पूर्ण है सु-प्रदेश
वेदाङ्गो के जटिल विषयो की कथा है विशेष
विद्यार्थी की स्फुटित रसना संस्कृता हो रही है
प्रारब्धो की सुदृढ़ अथवा शृंखला खो रही है

(३९)

बैठे हैं यो गुरुजन यहाँ ब्रह्मचर्याश्रमो में,
छाई हो ज्यो जल-घन-घटा रामगिर्य्याश्रमों मे।
छोटे छोटे विमल बटु हैं चातको की कतारें—
बूँदो बूँदो शमन करती प्यास हैं ज्ञान धारें।

(४०)

आओ देखें अब जनक के राज्य के सूत्र नाना।
ढाके हैं जो जनपद महा–रूप धारे विताना।
राज-प्रासाद निकट महा मन्त्रणागार दिव्य,
सामन्तो से, विबुध जन मे हो रहा पूर्ण भव्य।

(४१)

धीमान मन्त्री गण सकल हैं कार्य मे पूर्ण दक्ष--
निस्वार्थी है सतत रखते राज्य सेवा समक्ष,
धर्म-प्राणा सबल जनता की मनोकामनायें।
होती पूरी सकल सुप्रजा की मनोभावनायें॥

(४२)

तेजस्वी से सुजन पद का युद्ध सेना विभाग—
ऐसा तीव्र प्रखरतम है मूर्त्ति-मान-सा निदाघ--
जो वैरी के सजग मर को सोखता है नितान्त,
आर्यों का है विमल धवला कीर्ति का मजुकान्त।

(४३)

हैं अध्यक्ष प्रमुख इसके विग्रहो मे यशस्वी—
धारे हैं वे सचिव-पद को, धीर है वे मनस्वी।
युद्धों मे वे सतत रखते धर्म को हैं समक्ष,
रम्या 'जै' की मधुर ध्वनि हो पक्ष में या विपक्ष।

(४४)

मन्त्री संज्ञा परिचित किये है जिन्हें, वीतराग,—
हैं धारे जो निपुण कर मे सन्धिवाला विभाग,—
वे ये मन्त्री सचिव वर के सग यो सोहते है,
जैसे सन्ध्या जल-कण, शिरस्त्राण को मोहते हैं।

(४५)

साम्राज्यान्तर्गत विषय को देखते हैं अमात्य,
औदीच्यो की सकल सुविधा, साम्य ये दक्षिणात्य--
पौर्वात्यो के नगर वन औ पश्चिमी वीथियाँ ये,
सारी बातें, द्रुत सुलझती गूढ़-सी गुत्थियाँ ये।

(४६)

राज्य-श्री को निरत चित मे गोवते हैं सुमन्त्र,--
निस्वार्थी हैं नित यह चलाते अहो राजतन्त्र—
मानो विश्वम्भर सजग हो पोषते है सुविश्व—
श्री लक्ष्मी से सतत नित संतोषते हैं सुविश्व।

(४७)

त्रेता की है परम महती कीर्त्ति-गाथा अपार,
जावेगी तू कब तक कहाँ कल्पने है! असार,
भूली भूली अब तक फिरी है कहाँ से कहाँ तू?
क्यो आई थी इस नगर मे? डोलती क्यो यहाँ तू?

(४८)

तूने मुग्धे अब तक न खोजा निज स्वामिनी को,
ए री बोरी हृदय-नभ मे क्यो भरा यामिनी को?
मार्गी मार्गी न फिर अब तू चचले आ, चले री
राज-प्रासाद मधुमय के अञ्चले आ, चले री।

(४९)

ऊँचे ऊँचे शिखरवर ये शोभते हैं निराले,
या सोने के शुभ कलश है चाँदनी मे सुढाले,
सिह द्वारे सजकर खड़े अस्त्रधारी सुवीर--
क्षत्राणी के सजग-सुत ये युद्ध के शूर वीर,

(५०)

शिल्पी का हाँ यह महल है चातुरी का निशान,
आर्य्यावर्त्तीय सुचतुरता का अनोखा वितान,

भोगों का सम्पुट यह बना नेह का नव्य हार;
योगी की है यह गिरि गुहा ज्ञान का पुण्य द्वार।

(५१)

जीवन्मुक्त प्रखर नृप के योग की तीव्र धारा—
स्नेहाविष्टा यह बह रही यों अनूठी अपारा—
ज्यों सूखे से तरुवर महाऽश्वत्थ की एक डाली -
पत्राविष्टा नवल ऋतु मे झूमती हो निराली '

(५२)

ऐसी पुण्या मधु-सुरभि में कल्पने जायगी तू,
तेरी आशा नवल लतिका हाँ हरी पायगी तू,
माला गूँथे मत सुमन की;—साज कैसे सजेंगे ?
पावेगी जो मृदु चरण तो फूल तेरे लजेंगे।

× × × ×

प्यारे चरण मङ्गल करण
आ रही है कल्पना मेरी तुम्हारे शरण
प्यारे चरण मङ्गल करण

(क्रमश.)

—"नवीन"

देश में क्रान्ति क्यों होगी ?

इधर साइमन-कमीशन के बहिष्कार और बारडोली-सत्याग्रह-सग्राम की विजय मे देश की राजनैतिक प्रगति में एक नया कम्पन पैदा हुआ है। इस समय देश के वे लोग भी जो नौकरशाही की मशीन के पुर्जे रह चुके हैं, सीधे वार की नीति की दाद दे रहे हैं। कुछ लोगों के अतिरिक्त, देश भर ने एक स्वर से साइमन-कमीशन का बहिष्कार किया है। चारो ओर से बारडोली के सत्याग्रह-सग्राम की विजय पर हर्ष-ध्वनि हो रही है। भारत-सरकार के भूतपूर्व लॉ मेम्बर डाक्टर सप्रू और युक्त-प्रान्त के भूतपूर्व मिनिस्टर श्री चिन्तामणि तक ने बारडोली-युद्ध को न्यायोचित ठहरा कर उसका समर्थन किया है। सचमुच बारडोली की यह विजय इस देश के इतिहास की एक चीज़ होगी। इस विजय में इस पराधीन देश के लिए वह सञ्जीवन-सन्देश निहित है, जिस के सहारे यह फिर से स्वाधीन होकर दुनिया मे अपना मस्तक ऊँचा कर सकेगा।

इस देश के शासक अपनी अलग उधेड़-बुन मे हैं। उनका साइमन-कमीशन इस देश का भाग्य-निर्णय करने का 'अपनाकाम' करने के लिए फिर आगया है। कमीशन क्या करेगा, इसका अन्दाज़ लगाना बहुत आसान है। जो लोग अंग्रेज़ी शासन की पिछली डेढ़ सौ वर्षों की गति-विधि का अध्ययन कर चुके है, वे, तथा देश के अन्य समझदार आदमी इस बात को अच्छी तरह जानते है कि साइमन कमीशन का चक्र एक ढकोसला है। यह कुछ करेगा धरेगा नही। सुधारों के रूप मे दो-चार टुकड़े डाल कर देश के लोगों को बन्दरों की तरह लड़ा देना कमीशन के लिए बहुत मामूली बात है। अब तक इस देश मे कितने ही रॉयल कमीशन आ चुके है। परन्तु, उन सब ने क्या किया ? क्या किसी भी कमीशन से देश को विशेष लाभ हुआ ? लाभ की अपेक्षा कमीशनो के सफर-खर्च मे देश का जो लाखों रुपया फूंक दिया गया उससे और हानि ही हुई।

शासकों की राजनीति खुद एक मायाजाल है। बड़े-बड़े लोग इसके भुलावे मे पड जाते है। इस देश के शासक देश के भले के नाम पर, कभी यहाँ मार्ले-मिण्टो स्कीम चलाते है, कभी मांटेगू-चेम्सफ़ोर्ड स्कीम। जब एक स्कीम असफल सिद्ध होती है तब तुरन्त ही नई स्कीम बन जाती है। देश को चिरकाल तक गुलाम बनाये रखने का यह एक बढ़िया नुसखा है। न लोग इस मायाजाल से निकल पायेंगे, और न वे अपनी गुलामी की जंजीर तोड़ कर स्वतन्त्रता देवी के दर्शन कर सकेंगे। यदि लोग ज्यादा हड़बड़ायँगे, तो देश के विधाता किसी तरह कुछ दे-दिलाकर समझौता

कर लेंगे । मतलब यह है कि शासक लोग अपना वश चलते इस देश के लोगों को अंग्रेज़ी शासन के माया-जाल से पार नहीं होने देंगे ।

परन्तु, दुनिया में परिवर्तन की वायु सनसना रही है। निकट भविष्य मे परिवर्तन की यह वायु एक बड़ी प्रबल आँधी के रूपमें परिणत होने को है । पराधीन भारत इस आँधी की लहर से अछूता न रह सकेगा। तब शासकों का मायाजाल कुछ काम न करेगा । वह निकम्मा साबित होगा। क्योंकि इस देश के लोग दिन पर दिन जागृत हो रहे हैं। किसी कमीशन के सुधारों के रूप में दान की तरह दिये हुए कुछ टुकड़े उन्हें अपने मुख्य लक्ष्य से विचलित नहीं कर सकते ।

सन् १९२४ में स्वराजी नेता पण्डित मोतीलाल नेहरू ने बड़ी धारा-सभा मे जो माँग पेश की थी, वह इस देशके लोगों की कम-से-कम माँग थी। आज देश के सर्व दल-सम्मेलन ने स्वराज-शासन-विधान का एक मसौदा बनाया है । ❀

परन्तु, प्रश्न यह है कि क्या इस देश के भाग्य-विधाता इस प्रकार 'राजनैतिक अधिकार और शासन की जिम्मेदारी इंग्लैण्ड के लोगों के हाथ से इस देश के लोगों के हाथ में देने को तैयार है ?' क्या सचमुच इस विधान के अनुसार वे वर्तमान द्वैध शासन की ऐसी 'दोगली प्रणाली' (Hybrid system) का अन्त कर देने के लिए तैयार हैं ? यदि नहीं, तो फिर इस देश के लोग क्या करें ? यह प्रश्न है, जो इस देश के राजनीतिज्ञों तथा राष्ट्रीय जीवन के कर्णधारों और व्यावहारिक रूप से देश की राजनीति में भाग लेने वालों को हल करना है । देश इस प्रश्न को कैसे हल करेगा, यह आगे आने वाला समय बतावेगा ।

जो लोग अत्यन्त गर्म विचार रखते हैं और जिन्होंने अपनी जान हथेली पर रख कर देश मे पूर्ण स्वतन्त्रता स्थापित करने का, असिधाराव्रत ले रक्खा है वे सर्व-दल सम्मेलन के कागज़ी विधान से, या औपनिवेशिक स्वराज्य के मसौदे से सन्तुष्ट नहीं हो सकते । देशकी राष्ट्रीय महा-सभा कांग्रेस ने देश के सामने पूर्ण स्वतंत्रता का आदर्श रक्खा है । देश का बहुमत इसके साथ है । ऐसी दशा में यह निश्चय है कि देश केवल औपनिवेशिक स्वराज्य से सन्तुष्ट नहीं हो सकता । किन्तु औपनिवेशिक स्वराज्य को लेकर आगे कदम बढ़ाने में भी कोई हानि नहीं, इसलिए शायद इस प्रश्न पर गरम और नरम सभी दलों के लोग अन्त तक एक बने रहे । वैसे पं० जवाहरलाल नेहरू के द्वारा 'स्वाधीनता-संघ' की स्थापना तो हो ही गई है और श्री सुभास बोस तथा श्री श्रीनिवास आयंगर भी औपनिवेशिक स्वराज्य के ध्येय के विरुद्ध जोरों से स्वाधीनता का आन्दोलन कर रहे हैं । अस्तु ।

उत्तरदायी शासन की माँग पर बड़ी धारा सभा में तथा समय-समय पर विभिन्न प्रान्तीय कौंसिलों में शासकों का जो ढंग रहा है, उससे स्पष्ट है कि शासकों का औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग को स्वीकार कर लेना आसान नहीं है। बारडोली के सत्याग्रह के समय इस देश से हजारों मील दूर बैठे हुए सहकारी भारत मंत्री अर्लविण्टरटन महाशय ने आन्दोलन को कुचल डालने एवं शान्ति और व्यवस्था के नाम पर आन्दोलन-कारियों को हर तरह से पीस डालने की कैसी धमकी दी थी ? उस में मदोन्मत्त सत्ताधारियों की निरंकुशता और एकतन्त्र शासन के उपहास-जनक त्रास की कैसी कारुणिक झलक थी ! सच तो यह है कि जिनके हाथों में सत्ता है, जो सबल हैं, हिन्दुस्थान ऐसे विशाल देश के शासक हैं, वे इस देश की प्रजा के सहयोग से देश पर शासन नहीं कर रहे हैं । उन्हें अपनी शक्ति का गर्व है। उन्हें अपनी संघटित और सुव्यवस्थित पल्टन, जंगी जहाजों, और बड़े-बड़े लड़ाकू हवाई जहाजों पर भरोसा है। इसीसे वे कौंसिलों मे जनता के प्रतिनिधियों की बात-बात में अवहेलना करते हैं। कौंसिलों का खिलवाड़ तो उन्होंने इस देश के पढ़े लिखे लोगो को अपने मायाजाल में फँसाये रखने लिए रचा है । यह बात महात्मा गान्धी प्रारम्भ से ही कहते आ रहे हैं । किन्तु, अब कौंसिलों में स्वराजियों के संघर्ष से यह बात प्रत्यक्ष हो गई है। नहीं तो, जब देश के प्रतिनिधियों ने साइमन कमीशन के बहि-

❀ इसका परिचय यथासमय 'त्यागभूमि' में निकल चुका है । (देखिए, प्रथम वर्ष का १२ वाँ अंक) । सम्पादक

प्रकार का प्रस्ताव पास कर दिया, और उसका सफ़र-खर्च नामंजूर कर दि ा, फिर इस देश की सरकार ने उनकी बात को क्यों ठुकरा दिया ? और जब देश भर में साइमन-कमीशन का पूरा बहिष्कार हो चुका है, फिर भी, कमीशन अपना काम क्यों कर रहा है ? इसीलिए न, कि वे शासक हैं और हम शासित ? वे सर्व की दृष्टि से शक्तिशाली हैं, और हम अशक्त। हम उनसे लड़ाई नहीं लड़ सकते, इसलिए देश के शासक हमारी पर्वाह नहीं करेंगे। हम चारो ओर से सायमन-कमीशन का बहिष्कार भले ही करें, किन्तु वे इस दलित देश के भले के नाम पर सायमन-कमीशन से अपना काम करावेंगे, और हमारी अयोग्यता का ढिंढोरा पीट कर दुनिया को धोखा देंगे ! खूब !

अनेक योद्धाओं के बलिदान, और तिलक, दास, गान्धी ऐसे युग-प्रवर्तक नेताओं की उज्ज्वल कृतियों से, आज इस देश में इतना राजनैतिक जीवन है कि साधारण आदमी तक देश की हीन दशा से दुःखी है, और फिर, शासकों के जुल्म-ज्यादतियों से भरे कारनामों ने देश के मामूली आदमियों तक को विवश कर दिया है, इस बात के लिए कि वे यथाशक्ति वर्तमान शासन की मशीन से सङ्घर्ष करें, और करोड़ों दीन-दलित प्राणियों को उस दमन की भट्टी से बचाने का यत्न करें, जिसमें वे आज भुने जा रहे हैं। वर्तमान शासन-यन्त्र का एक छोटे-से छोटा पुर्जा यदि देश की गरीब जनता पर जुल्म करता है, तो नीचे से उपर तक सारी मशीन उसकी तरफदारी करती है और उस अन्याय और जुल्म पर पर्दा डालने का भरसक प्रयत्न करती है, जिसके कि गरीब आदमी शिकार होते हैं। एक मामूली थानेदार देहात के हजारों आदमियों पर जुल्म करता है, और जब, अदालत में किसी तरह उन जुल्मों पर प्रकाश डालकर इन्साफ की प्रार्थना की जाती है, तब कहा जाता है कि जुल्म हुए ही नहीं। यदि किसी तरह छोटी अदालत के फैसले पर हाईकोर्ट में अपील की जाती है, और हाईकोर्ट मामले की पेचीदगी अनुभव करके उस थानेदार की कलुषित कृतियों की जांच के लिए हुक्म दे देता है, तो भी होता कुछ नहीं। कौंसिल में इस मामले को लेकर चिल्ल-पुकार मचाई जाती है, तब गवर्नर साहब तक अपने तानाशाही ढंग से उस थानेदार की हिमायत करते नजर आते हैं। हाईकोर्ट अपने फ़ैसले तक वापस ले लेता है, और उस थानेदार का बाल तक बाँका नहीं होता, जिसके खिलाफ सैकड़ों ही देहातियों की शिकायत है। यह ढंग है, जिसमें वर्तमान शासन का चक्र काम कर रहा है।

वर्तमान शासन-चक्र में इस प्रकार का अन्धेर क्यों है ? दिन-दहाड़े इस प्रकार की ज्यादतियाँ क्यों होती हैं ? आदि प्रश्नों का जवाब देश के बने हुए भाग्य-विधाता देने को तैयार नहीं। स्वराजी लोग सरकारी धांधली की निन्दा करते हुए कौंसिल-भवन छोड़कर भले ही चले आवें, परन्तु, काले कारनामों की निन्दा में सरकार पर लानत का प्रस्ताव पेश करने की इजाजत उन्हें नहीं दी जा सकती। अपने ही ऊपर सरकार लानत का प्रस्ताव करने की इजाजत भला क्यों देगी ? आज इस निकम्मे द्वैध शासन में गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी कौंसिल जनता के निर्वाचित मेम्बरों के सामने उत्तरदायी नहीं है। इसलिए सरकारी मशीन के पुर्जों की क्रूर कृतियों पर कोई नियन्त्रण नहीं। निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता का अखण्ड राज है, इस देश के 'खुदाई ठेकेदार' स्वच्छन्दता से जो चाहते हैं, वही करते हैं।

इस दशा में सघर्ष अनिवार्य्य है। शासकों और जनता के बीच बड़ा भारी सघर्ष होगा। उसकी जिम्मेदारी शासकों पर होगी। इसलिए कि डेढ़ सौ वर्ष के अंग्रेजी राज में इस देश की जनता बहुत तबाह हो गई है। करोड़ों प्राणियों को पेट-भर अन्न नहीं मिलता। रेल और कानून की सुविधा के कारण इस देश के राज-प्रसादों से लेकर किसानों की झोंपड़ियों तक में गोरे व्यापारियों की सत्ता है। इस देश के लोग इतने पगु हो गये हैं कि अपना शरीर ढाँपने तक के लिए विदेशियों का मुँह ताकते हैं। रेल, तार का प्रचलन भी इस देश के धन-धान्य का शोषण कर, इंग्लैण्ड को समृद्धि-शाली बना देने के लिए ही किया गया है। इस बात को स्वीकार करते हुए, श्रीमती बेसेण्ट ने हाल ही लन्दन में अपने एक भाषण में कहा था कि भारत के निवासी दुनिया में सब से ज्यादा गरीब हैं। इस देश के ६० फ सदी लोगों को मामूली से भी कम खाना मिलता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि देश के आधे से भी अधिक लोग पेट-भर

भोजन नहीं कर पाते। केवल वर्तमान शासन ही देश की इस दयनीय दशा के लिए जिम्मेदार है। क्या देश के वर्तमान शासक अपनी उस 'खुदाई ठेकेदारी' की जिम्मेदारी से किसी तरह भी बरी हो सकते हैं, जिसके कारण यह देश इतना दलित और परावलम्बी हो गया? असल बात यह है कि अंग्रेजों का पहला काम सब उपनिवेशों, खास कर हिन्दुस्थान, में यह रहा है कि यहाँ के बाजारों में इङ्गलैण्ड के अधिक-से-अधिक माल की खपत का प्रबन्ध करें। फिर चाहे उनके इस ढंग से कोई देश तबाह क्यों न हो जाय।

वर्तमान शासन प्रत्येक दशा में अपना लाभ देखता है। उसकी दूषित नीति और शासन-यन्त्र के पुर्जों के काले कारनामों से जनता का सर्वनाश होता है, इसका ख्याल कौन करता है? यही कारण है कि अब गिरे हुए लोगों में भी उठने का भाव पैदा हो रहा है। पराधीन भारत भी अब स्वतन्त्रता की सुरभित समीर के आनन्द में मस्त होकर झूम उठने के लिए तड़प उठा है। उसकी इस चेतना में, उसकी इस बेकरारी में देश के उत्थान की, आशा की एक नई किरण झलकती है।

इस देश के करोड़ों प्राणी दुनिया में इन्सान की तरह जिन्दा रहने के लिए उठेंगे। उनका उठना सत्ताधारियों को अखरेगा। इसके फल-स्वरूप संघर्ष होगा। सशस्त्र एवं शक्तिशाली शासकों और निहत्थी एवं निर्बल जनता का मुकाबला होगा। निर्बलों के उस असीम बल के आधार पर जिसका अनुभव और प्रयोग डेढ़ पसली के एक लँगोटी-धारी तपस्वी ने किया है, समस्त देश में मदोन्मत्त सत्ता-धारियों से लड़ाई लड़ी जायगी। उस लड़ाई के रूप में देश के रण-प्राङ्गण में एक ऐसी महाक्रान्ति की ज्वाला धधकेगी, जो वर्तमान शासन और उसके भाग्य-विधाताओं की निरंकुश सत्ता को भस्मीभूत कर देगी।

सुरेन्द्र शर्मा

पंखड़ियाँ

आकाश के तारे चुनकर प्रसूनमाला बनाऊँ अथवा समुद्र का गम्भीर गीत तेरे लिए गाऊँ? जगत् की सुन्दरता तेरे पाद-पङ्कजों में अर्पण करूँ या प्रभाकर की दिव्य प्रभा का दीपक तेरे सम्मुख लाऊँ? हे देव! तेरी अर्चना के लिए मैं क्या भेंट धरूँ?

× × ×

मैंने आज हृदय-यज्ञ का प्रारम्भ किया है। इस यज्ञ में जीवन की कटुता और अज्ञान की आहुतियाँ देता हूँ। जगत् के सब बैर आदि इसमें भस्म करता हूँ। परन्तु, हे प्रभो! यज्ञ कराने वाला कोई आचार्य नहीं मिलता। उस पद के लिए हे देव, तू किसको भेजता है?

× × ×

रात्रि के समय आकाश-गंगा में यह कौन नहा रहा है? किसके प्रभाव का तेज हृदय में गिर रहा है? किसके आदेश से यह नक्षत्रमाला घूम रही है?

जहाँ-जहाँ जीवन में व्यर्थ बकवाद है वहाँ-वहाँ चारित्र्य की कमी है। तो फिर मैं मौन की साधना क्यों न कर लूँ?

× × ×

सागर से भी अधिक गम्भीर तथा कुसुमों से भी कोमल और मनोहर तेरी मूर्ति को जब मैं शान्त और शीतल निशा में तारों के मन्द-मन्द प्रकाश में देखता हूँ—तब हृदय में जो आनन्द आता है उसे किसके आगे जाकर कहूँ?

× × ×

लोग मुझको आलसी कहते हैं। पर उनको क्या पता है कि सम्पूर्ण दिवस तुझे स्मरण करने में ही मेरा यह मानस व्यग्र रहा करता है।

"त्रिजय"

रूसी किसान और ज़मीन

['त्यागभूमि' के लिए]

सोवियट यूनियन मे मास्को का अपना प्रधान स्थान है। वह रूस को नियंत्रित करता और दुनिया के दूसरे देशों पर भी अपनी छाया डालता है। लेकिन मास्को, लेनिनग्राड आदि नगर ग्रामों के सागर में इने गिने द्वीप जैसे हैं। क्योंकि भारत की भाँति रूस भी ग्रामीण और कृषक देश है। उसकी आबादी का ८० प्रति सैकड़ा देहात में रहता और उसकी कार्यशील जनता के ७५ प्रतिशत आदमी खेती के काम में लगे रहते हैं।

देश को औद्योगिक बनाने के लिए कितने ही उद्योग किये गये हैं, अनेक साधनों का उपयोग होता रहा है, फिर भी अभी बहुत दिनों तक रूस का कृषि-प्रधान देश बने रहना निश्चित है। अत रूस को समझने के लिए हमें उसके गावों की ओर जाना और वहाँ के किसान को काम करते देखना चाहिए। सोवियट शासन के हानि-लाभ का अन्दाज लगाने के लिए हमें उस परिवर्त्तन पर ध्यान देना पड़ेगा जो क्रांति के बाद रूस के किसानो मे आज दिखाई दे रहा है।

किन्तु, देश की विशालता इस तरह की खोज को कठिनतर बना देती है। परिस्थितियाँ बहुरंगी हैं, जो बात मास्को के निकटवर्ती ग्रामों के सम्बन्ध मे सच है वह उसके सुदूरवर्ती गावों के लिए नितान्त असत्य भी हो सकती है। कोई एक-दो साल पहले रूस में एक समाचार छपा था, जिसम मालूम हुआ कि साइबेरिया के जगलों में खोजी पर्यटकों की एक टुकड़ी को एकाएक १,५०० लोगों की ऐसी बस्ती का पता चला था जो शेष दुनिया से एकदम अलग,-सम्बन्ध-हीन से हो गये थे। उन्हें न तो महायुद्ध का कुछ पता था और न रूस की राज्य-क्रान्ति का ही कुछ ज्ञान था। वे जार को ही अपना राजा माने बैठे थे। यद्यपि यह संवाद लेनिनग्राड के एक समाचार पत्र में प्रकाशित हुआ था तथापि इस पर एकाएक विश्वास नहीं होता। किन्तु चाहे यह कल्पित हो वा अत्युक्ति-पूर्ण हो, इससे हमें सोवियट-यूनियन की परिस्थिति की विभिन्नता का थोड़ा बहुत पता अवश्य चलता है।

यह तो दुनिया जानती है कि रूस में कुछ काल पहले तक गुलामी की प्रथा का अस्तित्व था। गुलामों को बन्धन-मुक्त करने वाले अन्तिम घोषणा-पत्र पर सन् १८६३ ई० की छाप है। इस समय तक रूस की कुल छ करोड जनता में से लगभग ५ करोड़ स्त्री-पुरुष एक-न-एक तरह के गुलाम थे। इनमें से कुछ तो राज्य-भूमि पर, कुछ राजवंश की ज़मीदारी पर और कुछ साधारण ज़मींदारों के यहाँ गुलामी करते थे। गुलामी के दिनों में, रूस मे, मालिको को गुलामों पर हर तरह का कानूनी अधिकार प्राप्त था, वे उनसे मनमाना काम ले सकते थे और कोड़ों, तथा घूसों से उन्हे सज़ा देने की क्षमता रखते थे। मालिक, आज्ञा न मानने वाले गुलाम को साइबेरिया मे निर्वासित भी कर सकता था।

गुलामों के उद्धार के बाद भी कष्टों से विशेष मुक्ति न मिली। उनके पास प्राय. ज़मीन थोड़ी ही होती थी और वह भी अच्छी नहीं, गाँव का गाँव पुराने जमीदारों को चुकाये जाने वाले जमीन के दाम वा लगान के बोझ से दबा रहता। ज़मीन खरीदने के लिए सरकार लोगों को ऋण भी देती थी, फिर भी बोझ बना ही रहा। इस नये प्रबन्ध से सबसे अधिक लाभ तो ज़मींदारों का ही हुआ क्योंकि एक तो उन्हे रुपये नक़द मिलने लगे, दूसरे उनकी सब चिन्तायें मिट गई।

इसके बाद शीघ्र ही, देहात मे क्रान्तिकारी आन्दोलन का आरम्भ किया गया परन्तु लोगों ने जैसा चाहिए वैसा इसे नहीं अपनाया। भारत की भाँति ही, रूस का किसान भी स्वतन्त्रता के अनिश्चित विचारों को न तो समझ सका और न उनकी दाद ही दे सका। उसे तो अच्छी जमीन, थोड़ा लगान और अत्याचारों से रक्षा की ज़रूरत थी, वह यही चाहता था। इस काल के प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकारों की कहानियों से हमें पता चलता है कि किस तरह रूस के किसान, युवा क्रान्तिकारियों में अविश्वास रखते, उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते, और कभी-कभी पकड़ कर पुलिस के हवाले तक कर देते थे।

रूस-जपान युद्ध के बाद किसान, एकदम विद्रोहोन्मुख हो उठे और अनेक स्थानो पर अशांति एवं अव्यवस्था का आतंक जम गया। उनका का दमन किया गया, लेकिन वे पूर्णतः दबाये न जा सके और उन्होंने 'किसान-संघ' नामक एक संस्था संघटित कर ली और 'ज़मीन पर काम करने वाले ही जमीन के मालिक हैं' की आवाज के साथ अधिकार-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने लगे।

अपने इस संघटन में किसानों को गावों की प्राचीन पंचायतों—'मीरों'—से खूब सहायता मिली। ये 'मीर' ऊँचे प्रजातंत्र के सिद्धान्तों पर स्थापित पंचायतें थीं, जो बहुधा प्रकट रूप में अपने अधिवेशन करतीं और ग्राम की स्थानीय समस्याओं पर विचार करती थीं। कभी-कभी इनकी अपनी सम्मिलित ज़मीन होती थी जिसे ये बाँट दिया करती थीं। गुलामी की प्रथा उठ जाने के बाद 'ज़ेम्सटिओस' नामक अधिक संघटित और नियमित (Formal) स्थानीय संस्थायें भी बनीं। चूँकि इनमें चुने जाने और इनके चुनाव में मत देने के लिए उम्मीदवार और मतदाता के पास जायदाद का होना एक आवश्यक शर्त थी अतएव इसका फल यह हुआ कि इनमें भी ज़मींदारों का ही प्रभाव विशेष रहा। कार्य और परिस्थिति की दृष्टि से इनकी तुलना हम भारत के वर्तमान जिला बोर्डों से कर सकते हैं।

युद्ध से किसानो को गहरी चोट पहुँची। सेना ने उनके अच्छे आदमी हड़प लिये और कहा जाता है कि उन के ७० लाख आदमी युद्ध में मारे गये या घायल हुए। खेत सूने और बिना जुते पड़े रहे और जहाँ लोगो ने वर्षों के प्रयत्न के बाद घने जंगलों को काट-काट कर जगह निकाली थी, वहाँ फिर जंगल खड़े हो गये और पीढ़ियो की मेहनत पर पानी फिर गया। जनता मे विचित्र शक्तियाँ फैलने लगी, लोग 'शान्ति और ज़मीन' के लिए अपनी आवाज अधिक ज़ोर से बुलन्द करने लगे और नगर-निवासियों ने 'शान्ति एवं जमीन' के साथ 'रोटी' को और भी जोड़ दिया।

क्रान्ति के आरंभिक दिनों में किसान, बोल्शेविकों से दूर ही रहे। लेकिन किसान-जनता की मदद के अभाव में बोल्शेविज़म की हार निश्चित थी। आखिर लेनिन ने किसान महासभा को अपनी ओर मिला लिया। लेकिन इसके पहले ही किसानों ने कानून को अपने हाथ मे ले लिया था, ज़मींदारों की छीन ज़मीन ली थी और खुद उस ज़मीन के मालिक बन बैठे थे।

इसके बाद ही विदेशी रुपयों और गोला बारूद की सहायता से कुछ स्वार्थी व्यक्तियों के समूह ने सोवियट सरकार पर हमला कर देश मे गृह-कलह फैला दिया। यह किसानो की कठिनतम परीक्षा का समय था। कठोर कष्ट-सहन और घोर परिश्रम के बाद प्राप्त ज़मीन के फिर छिन जाने के भय से रूसी किसान सोवियट सरकार के झण्डे के नीचे एकत्र हो गये और सच पूछिए तो इन्ही लोगों की मदद पाकर सोवियट सरकार विजयी हुई। लेकिन युद्ध के बाद ही देश में भयकर अकाल और महामारी फैल गई। इन्हीं भीषण, नाशकारी दृश्यों की भित्ति पर देश को फिर से संघटित करने का सच्चा काम शुरू हुआ।

सोवियट सरकार की प्रारम्भिक आज्ञायें ज़मीन के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में थीं। किसी भी तरह ज़मीन "न तो ख़रीदी, बेची और किराये पर उठाई जा सकती थी और न ज़मानत के रूप में बन्धक रखी अथवा छीनी जा सकती थी।" "लिंग-भेद का ख्याल न रखते हुए ज़मीन के उपभोग का अधिकार सरकार के उन सब नागरिकों को दिया जाता है जो या तो खुद अपने कुटुम्बों की सहायता से ज़मीन पर काम करना चाहते हैं, या किसी संघ अथवा समिति में शामिल होकर। जब तक वे इस तरह काम करने मे समर्थ हैं तभी तक उन्हें यह अधिकार भी प्राप्त है। दूसरों से किराये पर मज़दूरी कराना ग़ैर-क़ानूनी है।" इस तरह किसानों को ज़मीन मिल गई, ज़मीन पर के कर्ज़ से वे मुक्त हुए और ज़मींदारो को वार्षिक लगान देने से छूटे। कुछ बड़े भू-भाग सरकार ने खुद ले लिए और उन्हें आदर्श-खेतो (मॉडल फार्म) का रूप दिया। किसानो में ज़मीन का बँटवारा करने का कार्य ग्राम-संस्थाओ (Communes) को सौंपा गया।

ग्राम-संस्थाओ के ज़मीन पर अधिकार की पुरानी प्रथा ने ज़मीन के राष्ट्रीयकरण मे अधिक सहायता की, उसे सरलतर बना दिया। अक्सर यह होता था कि किसान खेतों से बहुत दूर रहते थे, अतः फ़सल के दिनों में काम करने के लिए उन्हें खेतों पर आना पड़ता था। गर्मी के दिनो में स्त्रियाँ

भी खेतों के काम में हाथ बँटाती हैं। जाड़े के दिनों में वे घर पर रहकर कताई बुनाई, और सिलाई आदि के कामों में लगी रहती हैं।

शुरू-शुरू की सरकारी आज्ञाओं ने जमीन के उपभोग को, हस्तान्तरित करने के अधिकार से हीन करार दिया था। फिर भी ग़ैर-कानूनी तौर से जमीन केराये पर देने की चाल चल पड़ी। इस प्रथा का परिणाम यह हुआ कि १९२२ ई० में यह कानून बदल दिया गया और एक निश्चित लघु समय के लिए जमीन को केराये पर उठाना विहित बन गया। केराये की मजदूरी ग़ैर-कानूनी बनी रही। इससे भी लोगों के कष्टों का पूर्णत अन्त न हुआ, क्योंकि अधिकांश कुटुम्बों के पास अपने घोड़े या दूसरे जानवर न थे, जिससे वे काम ले सकें। अत १९२६ ई० मे एक और सुधार किया गया। जमीन को केराये पर—लगान पर—देने का समय बढ़ा दिया गया और कुछ खास-खास शर्तों पर ऐसी जमीन पर मजदूरों से काम लेना भी विहित हो गया। शर्तें ये थीं—लगान पर दिये जाने वाले सब पट्टे स्थानीय अधिकारियों के यहाँ रजिस्टर्ड होने चाहिएँ। लगानदार के कुटुम्ब के सब काम करने वाले सदस्यों को ली हुई जमीन पर काम करना चाहिए—हाँ, अपनी मदद के लिए वे मजदूर रख सकते हैं। भोजन और वासस्थान (Lodging) की दृष्टि से मजदूरों के साथ कुटुम्ब के आदमियों के समान ही व्यवहार होना चाहिए। जमीन को लगान पर उठाने और मजदूर रखने के सम्बन्ध मे और भी कई शर्तें हैं।

किसान, सरकार को केवल एक कर देता है और वह कर कृषक कर (Agricultural tax) है। इसकी व्यवस्था इस तरह की गई है की धनी किसान को न केवल अनुपात ज्यादा देना पड़ता है बल्कि उसके लिए बढ़ती हुई कर की दर का नियम भी लागू होता है। दूसरी ओर ग़रीब किसानों का एक बड़ा भाग कर के बोझ से सर्वथा मुक्त कर दिया गया है क्योंकि उनकी आय बहुत थोड़ी और उनका रहन-सहन बहुत ही हलके दर्जे का है, कर के द्वारा इस 'थोड़े मे थोड़ा' करना ठीक नहीं समझा गया। इस तरह ये लोग जमीन का उपभोग बिना कुछ दिये ही करते हैं। गत वर्ष तक कर-मुक्त लोगों की संख्या कृषि-योग्य खेतों को एक चौथाई के बराबर थी। क्रान्ति के दसवें वार्षिकोत्सव के अवसर पर सरकार ने इस छूट में १० प्रतिशत और बढ़ाने की घोषणा की है। साथ ही एक प्रस्ताव द्वारा गरीब श्रेणी के वृद्ध किसानों को सरकार की ओर से पेन्शन देने की बात भी कही गई थी।

रूस आर्थिक दृष्टि से बहुत गरीब है और उसे शिक्षा, कृषि-सुधार एवं औद्योगिक विस्तार के लिए द्रव्य की जितनी जरूरत है उतनी किसी चीज की नहीं। इस क़दर पैसे की माँग के रहते हुए भी कर-मुक्ति (Tax-exemptions) की तादाद में वृद्धि करना निःसन्देह आश्चर्य-कारक है। सन् १९२६ में साम्यवादी-दल की महासभा ने किसान को केवल कर-दाता मानने से इन्कार कर दिया था। उसका कहना था कि अत्यधिक कर और फुटकर चीजों की मँहगी के कारण गाँवों की उत्पादन-शक्ति का अनिवार्य ह्रास होगा, उसका उत्थान रुकेगा और कृषि-योग्य वस्तुयें घटेंगी।

सन् १९२४-२५ ई० में प्रत्येक किसान-कुटुम्ब को औसतन १४ २ रूबल कर देना पड़ता था, १९२५-२६ मे यह ९.३ रूबल और १९२६-२७ मे ११ ९ हो गया। + कर का आधार जोतने-बोने योग्य जमीन का क्षेत्रफल होता है। कुटुम्ब के आदमियों की संख्या के अनुसार कर का परिमाण भी कम-ज्यादा होता है। कर की दृष्टि से खेती के मवेशी जमीन की इकाई के अंग माने जाते है। कर का विभाजन—उसकी श्रेणियाँ—असमान या विषम है। उदाहरणार्थ १५० रूबल तक की आय पर ४$\frac{1}{8}$ प्रति सैकड़ा २०० रूबल तक ५$\frac{1}{8}$ प्र० सै०, ३०० रूबल तक $\frac{1}{8}$ प्र० सै०, ४०० रूबल तक ८ प्र० सै०, ६०० रूबल तक १०$\frac{1}{2}$ प्र० सै० और ६०० से ऊपर की आय पर १४ प्रति सैकड़ा कर वसूल किया जाता है।

कृषि-कर का अधिकांश भाग स्थानीय जरूरतों की पूर्ति में खर्च होता है। १९२५-२६ मे इस कर से २३ करोड़ ५० लाख रूबल की आय हुई थी। इसमें से प्रायः १० करोड़ रूबल स्थानीय कामों में खर्च हुए थे। इस तरह इस

+ १० रूबल लगभग एक पौण्ड (एक रूबल एक रुपये साढ़े नौ आने के बराबर होता है।)

कर का उपयोग राष्ट्रीय और स्थानीय दोनों बजट (आय-व्यय के आनुमानिक चिट्ठे) में होता है। एक बड़ी मज़ेदार बात यह है कि देश के बहुत से गाँव अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए स्वेच्छा-कर (Voluntary taxes) उगाहते हैं। यह स्वेच्छा-कर कभी-कभी कृषि-कर के ३५ प्रतिशत के बराबर होजाता है। कहा जाता है, एक बार तो वह कृषि-कर के ७० प्रतिशत के बराबर होगया था।

क्रान्ति के बाद, शीघ्र ही, ग्राम्य-पंचायतों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई। मजदूरों ने एकसाथ रहने और ज़मीन पर काम करने के लिए अपने संघटित वर्ग बना लिये। कई धार्मिक वर्गों ने भी यही किया। किन्तु इन संघटनों में मूलतः सफल होते हुए भी तफ़सील की साधारण बातों में संघर्ष के कारण यह आन्दोलन गिर गया, असफल हुआ। धीरे-धीरे इसका स्थान 'आर्टेल' ने ले लिया। यह ऐसे किसानों की एक संस्था थी, जो अपने साधनों को एकत्र कर जमीन के किसी एक हिस्से पर संयुक्त खेती करते थे। इसके बाद जमीन के उपयोग के लिए सहकार के दूसरे तरीके अपनाये गये, जो 'संघ' (या 'कलेक्टिव्स') कहलाते हैं।

खेती की इस संघमय पद्धति का सबसे बड़ा फायदा, उन मशीन, ट्रैक्टर आदि चीजों का कृषि-कार्य में उपयोग है, जिनका उपयोग व्यक्तिगत रूप से किसी भी किसान की सामर्थ्य के सर्वथा परे है। ट्रैक्टर तो वर्तमान रूस के लिए देवता हो रहा है, इसीके कारण लोग कृषि-कार्य में बड़े पैमाने पर सहयोग से काम कर रहे हैं।

कृषक-बैंकों और साख-समितियों का संघटन बड़े पैमाने पर किया गया है और किसानों को साख पर रुपया प्राप्त करने के लिए कई तरह की सुविधायें प्राप्त हैं। १९२६ ई० में इन समितियों के ४२ लाख से भी अधिक सदस्य थे। इन समितियों के द्वारा सरकार की ओर से कृषकों को पूंजी या बीज के रूप में कर्ज देकर अथवा मशीन के दाम चुकाकर सहायता दी जाती है। खरीददारों की तथा कृषि से सम्बन्ध रखने वाली अन्य प्रकार की सहकार-समितियों की संख्या भी बहुत बड़ी है।

सोवियट सरकार लोगों को, देश के घनी बस्ती-क्षेत्रों से उठकर कम बस्ती वाले क्षेत्रों में सकुटुम्ब बस जाने के लिए हर तरह की सुविधा दे रही है। दूसरे स्थानों पर जा बसने वालों के लिए सरकार रेलवे केराया और यात्रा-खर्च की सुविधायें करती, उन्हें कर्ज देती और थोड़े समय के लिए उन्हें कृषि-कर से मुक्त करके भी सहायता पहुँचाती है।

रूस में पहले किसी समय घरू उद्योग-धन्धे बड़ी उन्नति पर थे और लाखों स्त्री-पुरुष उनमें लगे रहते थे। युद्ध के दिनों में और उसके बाद इनकी संख्या बहुत कुछ घट गई थी, लेकिन अब फिर बढ़ रही है। इनकी बढ़ती में हर तरह का प्रोत्साहन दिया जा रहा है और जो कर इस तरह की उन्नति में बाधक थे वे, हटा दिये गये हैं। घरू-धन्धे, खास कर जाड़े के दिनों में बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं क्योंकि उस समय कृषकों को बहुत थोड़ा काम रहता है। इस तरह कपड़े, जूते टीन के बरतन, लकड़ी की चीज और ऐसी अन्य अनेक वस्तुयें हाथों या सरल यन्त्रों से घर पर बनाई जाती हैं।

इसके सिवा कृषकों की अपनी कई संस्थायें और संघटित आन्दोलन हैं। कृषकों के अपने समाचार-पत्र होते हैं, उनके अपने उत्सव, शिक्षा एवं साहित्य संस्थायें तथा स्वास्थ्य-भवन होते हैं, उनके अपने पुस्तकालय, वाचनालय और महिला मण्डल या (क्लब) होते हैं। अशिक्षा को मिटाने वाली और परस्पर-सहायक समितियाँ देश-भर में हर जगह मिलती हैं। नवयुवकों के संघटनों ('पायोनियर' और 'कोमसामोल') का भी यही हाल है।

रूस के ग्रामों की अर्थ-नीति में बड़े-बड़े परिवर्तन हो गये हैं और गिरजाघर अपने पहले के ऊँचे पद से वंचित हो गया है। फिर भी वह कई तरह के आंदोलनों एवं कार्यों का केन्द्र बना हुआ है और पर्व की छुट्टियों को लोग बड़े उल्लास के साथ मनाते हैं। 'सभ्य-विवाह' (Civil marriage) सरलता-पूर्वक किये जा सकते हैं, फिर भी अब तक विवाह के दिनों में गिरजाघरों में ही विवाहार्थियों की भीड़ लगी रहती है।

धीरे-धीरे ही क्यों न हो गिरजाघर अपने पद की प्रतिष्ठा से, 'नरोड्नी डेम', प्रजा-गृह या पंचायत-घरों द्वारा,

हटाया जा रहा है और अब साधारणतया उसमें पुस्तकालय, वाचनालय, क्लब,पढ़ाई के वर्ग या नाटक घर रहने लगे हैं। इनमे एक ओर लाल कपड़े से अच्छादित लेनिन का चिन्ह भी रहता है।

जवाहरलाल नेहरू

बेदख़ली

[देहाती जीवन के चित्र]

(१)

सुन्दरपुर ग्राम के जमींदार का कारिन्दा डेरे * मे बैठा हुआ था। उसके समीप गाँव का पटवारी तथा चार पाँच कृषक बैठे थे। सामने कुछ दूरी पर दो पासी मोटे लठ लिये हुए बैठे थे।

हठात् कारिन्दा ने एक पासी से कहा—मुनुवा, दूध आगया ?

मुनुवा बोला—कह आया हूँ मालिक ! अभी आ जायगा।

कारिन्दा—कितना दूध आयेगा ?

मुनुवा—आपने पाँच सेर कहा था। वही कह आया हूँ।

कारिन्दा—किसके यहाँ से आवेगा ?

मुनुवा—बसन्त अहीर के यहाँ से।

कारिन्दा चुप हो गया और अपने सामने रक्खे हुए कागज-पत्र उलटने लगा।

कुछ देर तक कागज-पत्र उलटने के पश्चात् उसने एक कृषक से कहा—तुम्हारे ऊपर खरीफ के दस रुपये बक़ाया हैं।

कृषक बोला—हाँ मालिक, है।

कारिन्दा—तो सब मिलाकर पैंतालीस रुपये हुए। पैंतीस इस फसल के और दस बकाया।

कृषक ने टेंट मे पैंतालीस रुपये निकाल कर कारिन्दा के सम्मुख रख दिये। कारिन्दा ने पूछा—कितने हैं ?

कृषक—पैंतालीस।

कारिन्दा—दस रुपये बक़ाया रह गये थे, उनका छः महीने का ब्याज भी तो लाओ।

कृषक—अरे मालिक ! अब ब्याज-उयाज न माँगो। अब की कुछ हुआ नहीं। इतने भी न जाने कैसे दिये हैं।

कारिन्दा—ब्याज तो जरूर देना पड़ेगा।

कृषक—नहीं सरकार, इस दफ़े ब्याज की माफ़ी दो। जब होता था तब ब्याज दे देते थे, अब की कुछ हुआ नहीं, इससे कहते हैं। (एक दूसरे कृषक से) जानकी काका, पन्द्रह बीघा में दस बीघा गेहूँ बोये थे और पाँच बीघे बेझरा। सो एक बीस मन तो गेहूँ हुए और आठ मन बेझरा। बताओ इसमे क्या अपने खाने को रक्खे, क्या महाजन का बीज दें और क्या लगान दें। और अपने और बाल बच्चों के लिए कपड़े बनवाने हैं सो अलग। वह तो कहो कुछ अरहर हो गई, नहीं तो बस राम से ही काम पड़ता।

जानकी काका गम्भीरता-पूर्वक सिर हिला कर बोले—फ़सल तो अब की बड़ी गड़बड़ हुई, इसमे तो कोई सुभा नहीं है। डेढ़मनी बीघा से किसी के अधिक नहीं हुआ। जिनके दोमनी बीघा हो गया उसे बड़ा भागवान समझो। इन्हीं खेतो मे पँचमनी, छःमनी बीघा हुआ करता था। समय की बात है भइया !

कारिन्दा बोला—यह हम क्या जानें। जब अधिक होता है तो हमें तो दे नहीं देते।

कृषक—अरे मालिक, आपको देने लायक हम कहाँ ? हम तो खुद ही आप की रोटी खाते हैं।

कारिन्दा—ख़ैर, इन बातों से काम न चलेगा। ब्याज निकालो।

---

* जो जमींदार गाँव मे नहीं रहते उनके लिए गाँव मे एक मकान रहता है। जब कभी जमींदार या उनका कोई कर्मचारी गाँव में आता है तो इसी मकान में ठहरता है। इस मकान को 'डेरा' (या छावनी) कहते हैं।

कृषक—नहीं मालिक, इस दफे ब्याज की माफ़ी दो।

कारिन्दा—यह कदापि नहीं होगा। खरीफ मे हमने अपने पास से ये दस रुपये जमा किये थे, सो हम तो ब्याज छोड़ेंगे नहीं। किसी दूसरे को उधार देते तो ब्याज मिलता कि नहीं?

कृषक—हाँ मिलता क्यों नहीं?

कारिन्दा—तो बस फिर?

जानकी काका बोल उठे—देओ ब्याज देओ। इन्होने अपने मालिकों को तुम्हारे दस रुपये पास से दिये थे, तो यह बेचारे घाटा क्यों सहैं?

कृषक—हमारे मालिक हैं, हम इनके जियाये जाते हैं। इसमें घाटे की कौन बात है।

कारिन्दा—देखो जी हमें बहुत काम है, यह टिब्लेनसीवी अच्छी नही। झटपट ब्याज निकालो।

कारिन्दे की तीव्र दृष्टि देखकर कृषक म्लान मुख होकर बोला—तो कितना ब्याज हुआ?

कारिन्दा—एकन्नी रुपये के हिसाब से छ महीने के पौने चार रुपये हुए।

कृषक—अरे सरकार इस दफे अधन्नी का ब्याज लगा लो। भगवान जानते हैं, अब की बड़ी तर्गी है।

कारिन्दा—तुम बड़े इमेलियं मालूम होते हो जी। बात बात में मीन-मेष निकालते हो। निकालो झटपट पौने चार रुपये और एक रुपया हमारे नजराने का पौने पाँच निकालो।

कृषक ने देखा कि अधिक कुछ कहने से सम्भव है कारिन्दा साहब नाराज हो जाँय अतएव उसने चुपचाप टेट से पाँच रुपये निकाल कर कारिन्दे के सम्मुख फेंक दिये। कारिन्दा साहब ने चार आने वापिस करके कहा—मै खरा आदमी हूँ, मुझे खरा व्यवहार अच्छा लगता है।

कृषक ने कहा—ये पाँच रुपये बचा रक्खे थे। सोचा था कुछ कपड़ा ले आवेंगे, बाल बच्चों को थोड़ा कपड़ा बन जायगा। हम इन्हीं फटे-पुरानों मे काट देंगे। सो भगवान की मर्जी नहीं है तो न सही।

यह कहते कहते कृषक के नेत्रों में आँसू छलछला आये।

कारिन्दा बोला—पठानों से लेना।

कृषक—अरे मालिक! चाहे नंगा बैठा रहे पर पठानों मे कभी न ले। एक तो एक रुपये की चीज के चार लेते हैं और वखत पर न देओ तो बेआबरू कर डालते हैं, भगवान बचावे।

इसी समय बसन्त अहीर गगरी में दूध लाया। कारिन्दे ने पूछा—कितना दूध लाया?

बसन्त—पाँच सेर का हुकुम हुआ था।

कारिन्दा—काहे का दूध है?

बसन्त—सब गबड़ा है मालिक। तीन सेर तो भैंसका है और सेरभर के अन्दाज गाय का होगा और सेर ही भर बकरी का।

कारिन्दा—हैं! इसमें बकरी का दूध मिला दिया?

बसन्त—क्या करें मालिक गाय-भैंस का कहाँ से लावें? तीन सेर भैंस देती है, सो सब दे दिया। सेर भर गाय देती है, सो दे दिया। आपका गुड़ैत बोला कि पाँच सेर देना पड़ेगा, सो इसी मारे सेर भर बकरी का गबड़ दिया।

कारिन्दा—मुनुवा इस साले को एक बीस जूते लगाओ। इसने हमें समझा क्या है? हम बकरी का दूध पीते हैं? हम शहर मे तो बकरी का दूध पीते नहीं, यहाँ देहात में आकर बकरी का दूध पियेंगे! साले ने अपने लिए गाय-भैंस का रख लिया होगा, हमें बकरी का दे दिया।

बसन्त—अरे मालिक ऐसा न कहो। अपने खातिर एक बूँट रक्खा हो तो गाय के खून के बराबर है। लड़के-बच्चे रोते रह गये, उन्हे तक तो एक बूँद दिया नही।

जानकी काका बोल उठे—इसके यहाँ इतना ही होता है मालिक! झूठ नही बोल रहा है। हमारी जानी हुई बात है।

कारिन्दा—खैर, अब की दफ़ा तो छोड़ देते हैं। आइन्दा कभी ऐसी हरकत मत करना। हमें बकरी के से नफ़रत है।

इतना कहकर कारिन्दा साहब ने अपने रसोइये से कहा—महाराज, इसकी रबड़ी बना डालो। पीने के काम का तो यह रहा नहीं। बकरी का दूध मिला हुआ है। मुनुवा!

मुनुवा बोला—सरकार!

कारिन्दा—जाओ किसी के यहाँ से सेर भर गाय का ताजा दूध लाओ। इस समय तो पीने के लिए चाहिए। सबेरे का समय है।

मुनुवा ने अपने पास बैठे हुए दूसरे पासी से कहा—लल्लू, तुम चले जाओ।

लल्लू — किसके यहाँ जाऊँ ?

मनुवा—अहीर टोले में चले जाओ। जिसके यहाँ हो, ले जाओ।

लल्लू उठकर चलने लगा। उसी समय कारिंदा साहब ने कहा—अरे हाँ, खूब याद आया। जरा गंगाचरण महाराज को बुला लाना। सीधी तरह आवें तो आवें, नहीं घसीट लाना। (उपस्थित लोगों की ओर देखकर) गंगाचरण महाराज के ऊपर साल भर की बाकी लगी हुई है। उसका ब्याज अलग है। सब मिलकर कोई डेढ़ सौ रुपये हैं। महाराज देते नहीं है। मैं ब्राह्मण समझ कर अभी तक टालता गया। अब इस दफ़े महाराज न देंगे तो बेदखली हो जायगी।

एक कृषक बोल उठा—उनके पास कुछ है नहीं। उन्हें बेदखल कर दो। उनकी जमीन बहुत सस्ती है। बत्तीस बीघे ज़मीन छियानवे रुपये में जोते हुए हैं। उन्हें बेदखल कर देओ तो वही जमीन चार रुपये बीघा में बड़े मजे में उठ जाय। बत्तीस रुपया साल का मुनाफा हो।

कारिंदा—कौन ? हम उसे पाँच रुपये बीघे में कम में देंगे नहीं ? मामूली जमीन थोड़े ही है।

पटवारी साहब बोल उठे—पाँच रुपये बीघे पर तो लोग इस समय लेने को तैयार हैं। आप जब कहिए, उठा दूँ।

कारिन्दा — हाँ हाँ, उठानी ही पड़ेगी। गंगाचरण महाराज रुपये दे नहीं सकेंगे।

जानकी काका बोले —उनके पास कुछ है नहीं। पार साल उन्होंने बिटिया का ब्याह किया तभी से उनका फेर बिगड़ गया।

कारिन्दा — वह खुद तो जोतते बोते नहीं ?

जानकी—नहीं शिकमी उठाये हुए हैं। जोतें बोवें कैसे। मजूरों से जुतावें बुवावें तो उन्हें मजूरी देने को नहीं। आप ब्राह्मण आदमी ठहरे—अपने हाथ से जोत-बो नहीं सकते। चार पाँच बीघे जमीन रख छोड़ी है सो वह अधबटाई पर वे देते हैं। बाकी लगान पर दिये हुए हैं।

कारिन्दा—किस हिसाब से दिये हुए हैं ?

जानकी—पाँच रुपये बीघे पर।

कारिन्दा—यह कहो ! तब फिर हम भी पाँच रुपये बीघे पर उसे उठा सकते हैं।

पटवारी—बड़ी आसानी से।

कारिन्दा—अच्छी बात है। तब तो महाराज को अवश्य बेदखल करना पड़ेगा।

(५)

थोड़ी देर में ललुआ पासी महाराज गंगाचरण को साथ लिये हुए आया। महाराज गंगाचरण प्रौढ़ अवस्था के आदमी थे। बहुत सरल स्वभाव तथा सज्जन थे। उनके पास ३२ बीघा मौरूसी भूमि थी। पहले तो वह उसका अधिकांश मजदूरों से जुतवा-बुवा लेते थे। परन्तु एक वर्ष हुआ उन्हें अपनी कन्या का विवाह करना पड़ा, उनकी पूँजी विवाह में व्यय हो गई। मजदूरों को देने के लिए तथा बीज इत्यादि खरीदने के लिये उनके पास रुपया नहीं रहा। लोगों ने ऋण लेने की सलाह दी। पर गंगाचरण महाराज ऋण लेना एक पाप समझते थे। इस कारण उन्होंने अपनी २८ बीघा भूमि तो लगान पर उठा दी। उससे उन्हें छप्पन रुपये वार्षिक की आय होजाती थी। चार बीघे भूमि एक कृषक को अधबटाई में दिये हुए थे। उससे उन्हें अपनी एक भैंस तथा एक गाय के लिए चारा मिल जाता था और थोड़ा अनाज भी मिल जाता था। कुछ, गाँव में कथा-वथा कहकर तथा दानपुण्य से मिल जाता था। इस प्रकार वह बड़े कष्ट से किसी तरह अपना जीवन-निर्वाह कर रहे थे। उनके परिवार में इस समय एक आठ वर्ष की कन्या, एक दस वर्ष का पुत्र, उनकी पत्नी तथा वृद्धा माता थीं।

इस समय गंगाचरण महाराज गाढ़े की एक फटी मिर्जई पहने हुए थे। वह चुप-चाप आकर कारिन्दे साहब के सम्मुख बैठ गये।

कारिन्दा साहब ने कहा—गंगाचरण महाराज! आप के ऊपर सालभर का लगान चढ़ गया है। कहिए, अब आप क्या कहते है?

गंगाचरण महाराज बोले—आप मालिक है हम आप से कह ही क्या सकते हैं?

कारिन्दा—कहना सुनना यही है कि रुपये लाओ!

गंगाचरण—रुपये तो इस समय सरकार, हमारे पास हैं नहीं।

कारिन्दा—आप तो जमीन उठाये हुए है?

गंगाचरण—हाँ २८बीघा जमीन पारसाल उठा दी थी।

कारिंदा—उसका लगान तो मिला होगा? वह कहाँ गया?

गंगाचरण—जिसे उठाई थी उससे सालभर का लगान पेशगी ले लिया था। वह, और घर मे जो कुछ था वह, सब मिलाकर लड़की के ब्याह मे लगा दिया।

कारिंदा—तो यह कहिए, आप सब पेशगी ही चाटे बैठे हैं।

गंगाचरण—कुछ पेट मे तो धर नहीं लिया, लड़की के काम में लगा दिया।

कारिंदा—बड़ा अच्छा किया परन्तु अब क्या होगा? मैं अभी तक तो किसी न किसी तरह टालता आया, पर अब मेरे बस की बात नहीं। अब आप सब रुपया चुका दीजिए, नहीं तो बेदखल हो जायेंगे।

गंगाचरण—अरे सरकार बेदखली न करना, नहीं तो बाल-बच्चे भूखों मर जायेंगे। उसी जमीन से हमारी जीविका है।

कारिंदा—आखिर बेदखली न करायेंगे तो करेंगे क्या? अपना रुपया किसी तरह वसूल ही करेंगे।

गंगाचरण—आपका रुपया गले बराबर है। सो उसके लिए हम उपाय कर रहे है।

कारिंदा—क्या उपाय कर रहे हो?

गंगाचरण—उपाय यही कि जोड़-बटोर कर देंगे। खाली आपका साल भर का लगान है, अब आपका लगान नही रुकेगा। सालभर के छियानवे रुपये हम थोड़ा-थोड़ा करके दे देंगे।

कारिंदा—और उनका ब्याज नहीं दोगे?

गंगाचरण—अब ब्याज-ब्याज न लगाओ। ब्याज देने का बूता हम में नही है। समझ लेना कि लड़की के ब्याह में इतना सहारा आपने भी कर दिया।

कारिंदा—लीजिए और सुनिए!

गंगाचरण—सुनें क्या? मालिक हो, इतनी सहायता करो।

कारिंदा—मैं मालिक काहे को हूँ भाई! मालिक तो कोई दूसरा ही है।

गंगाचरण—हम तो आप को ही जानते हैं। यहाँ भी अधिकार आप का ही है। क्यों भाई जानकी कहते क्यों नही?

जानकी—ठीक, इसमें झूँठ क्या है?

कारिंदा—मुझको जितना अधिकार है, उतना मैं कर सकता हूँ। मुझको यह अधिकार था कि साल-छः महीने टाल ले जाऊँ, सो मैंने किया। अब मेरे किये कुछ हो नहीं सकता। आपको रुपये देने पड़ेंगे और ब्याज भी जरूर ही देना पड़ेगा।

गंगाचरण—अरे सरकार! ब्याज का ठिकाना यहाँ कहाँ?

कारिंदा—नही है तो जाने दो। हमे क्या? बेदखल हो जाइयेगा।

गंगाचरण—ऐसी खफगी?

कारिंदा—आप तो गजब करते हैं महाराज! मैं कौन हूँ जो मेरी खफगी और खुशी हो? जिनकी आप रियाया हैं, मैं उनका नौकर हूँ। जो आपका मालिक है वही मेरा भी है। मैं उनका नमक खाता हूँ, इसलिए जिसमे उनका फायदा होगा वही करूँगा।

गंगाचरण—तो मालिक को समझा दीजिएगा।

कारिंदा—मैं समझा तो सब कुछ दूँगा, पर वह मानेंगे तब न।

गंगाचरण—आप कहेंगे तो मानेंगे क्यों नहीं?

कारिंदा—क्यों मानेंगे? क्या वह मेरे नौकर हैं? मालिक मालिक ही है।

गंगाचरण—खैर आप कहिएगा तो, न मानेंगे तो देखा जायगा। जब तक आप हैं, मेरा कुछ बिगड़ नहीं सकता। अच्छा तो अब ज़रा हुकुम दीजिये—आज ज़रा बाजार जाना

है। रुपया हम कौड़ी-कौड़ी दे देंगे, इसमे निश्चिन्त रहना। खाली आपकी दया बनी रहे।

कारिंदा—दया ईश्वर की चाहिए, हम काहे मे है।

गंगाचरण—हाँ ईश्वर तो मुख्य है।

गंगाचरण महाराज बिदा हो गये। उनके जाने के पश्चात् कारिंदा उपस्थित लोगों से बोला—महाराज बेदखल हो जायंगे, बचेंगे नहीं।

एक कृषक—कहते थे, उपाय कर रहे हैं। उपाय क्या करेंगे? कौन इनके यहाँ छप्पर फटेगा। खेती भी तो नही करते जो यही समझ मे आता कि फसल बन गई तो चुकता कर देंगे। इन्हे क्या? इन्हे तो बँधे टके मिलेंगे। सो जितना मिलता है वह खाने भर को ही नहीं होता।

एक व्यक्ति बोल उठा—खेती क्यों नही करते? चार बीघा बँटाई पर जो दिये हुए है।

कृषक—हाँ, सो चार बीघा मे सोने की खान निकल आवे तो चाहे भले ही रुपये अदा हो जाँय—खाली अनाज से तो हो चुके। चार बीघे की तो बिसात ही क्या?

इसके बाद अन्य सब लोग उठकर चले गये, केवल कारिन्दा, पटवारी तथा एक वह कृषक जो गंगाचरण का विरोधी था, रह गये। उस कृषक ने कहा—मालिक, आप जो हमें महाराज वाली जमीन दिला दे तो बड़ी दया हो जाय।

कारिन्दा—लगान क्या दोगे?

कृषक—चार रुपये बीघा।

कारिन्दा—अच्छे रहे! पाँच रुपये देने वाले तो न जाने कितने हैं, तुम चार लिये फिरते हो।

कृषक—चार रुपये मे दिला दो तो कुछ आपका फ़ायदा भी हो जायगा।

कारिन्दा—बोलो, क्या दोगे?

कृषक—पचास रुपये।

कारिन्दा—कम है।

कृषक—कम नही है, सरकार।

पटवारी बोल उठा—ऐसी जमीन गाँव भर में नहीं है, यह भी जानते हो? जरा उलट-पलट दिया जाय तो यही ज़मीन छ-सात रुपये मे उठ सकती है।

कृषक—अच्छा तो दस रुपये और ले लेना।

कारिन्दा—पूरा सैकड़ा देओ तब तो हम कुछ जोर लगावे, नही हमारा क्या बिगड़ता है। एक ग़रीब ब्राह्मण की रोटी क्यों छीने?

कृषक—सौ तो हमारे किये नही हो सकता।

कारिन्दा—नही हो सकता तो जाने दो।

पटवारी ने कहा—पहले आप बेदखल तो कराइये यह तो नाच कूदकर सैकड़ा देंगे। यह न देंगे तो इनके कितने ही भाई मुँह फैलाये बैठे हैं वे सौ छोड़ सवा सौ देंगे।

[असमाप्त]

विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक

आदर्श त्याग

इनसे पूछो तो क्या कहते है ये छोटे दाने।
"पर-हित-निरत तनिक भी मेरे कभी न पाँव पिराने।
वर्षा, धूप, ठण्ड कितनी है मैने अब तक झेली।
पर न कभी उफ़ कहा हमारी कैसी विकट पहेली।
जीवन की अमूल्य घड़ियो को, परहित-बलिवेदी पर।
न्यौछावर कर उपजा लेता हूँ, अनेक निज सहचर।
अथवा जग की जलन-शान्ति-हित निज सजीवता खोकर।
मिल जाता हूँ उस अनन्त मे, फिर उसका ही होकर।

× × ×

छोटे-से दाने की है यह कैसी कलित कहानी।
हाथ कलेजे पर रखकर सोचो तो हे अभिमानी!

'एक कवि-हृदय'

औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व भारत के उद्योग-धन्धों एवं मजदूरों की अवस्था

औद्योगिक क्रान्ति का काल

अठारहवीं शताब्दि के अन्त से लेकर उन्नीसवीं शताब्दि के मध्य तक का काल उद्योग-धन्धों की क्रान्ति का युग है। इसी काल में यूरोपीय देशों में उद्योग-धन्धों में, मशीनों के आविष्कार से क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। जो देश अपने व्यवहार की वस्तुओं के लिए दूसरे देशों का मुह ताका करता था, वहां दूसरे देशों को तैयार माल भेजकर माला-माल होने लगा और इसके विरुद्ध जो देश इसके पूर्व दूसरे देशों को अपना माल भेजकर धनी बन रहे थे, वे दूसरे देशों से माल खरीद-खरीद कर दरिद्र होने लगे। ग्रामों के स्थान पर नगरों की स्थापना हुई। लोग दो श्रेणियों, पूंजीपति एव मजदूर, मे विभक्त हो गये। इसी समय से ससार मे व्यापारिक युग आरम्भ होगया।

उस समय का भारतवर्ष

दैववशात उस समय भारतवर्ष मे मुगल साम्राज्य का ह्रास हो रहा था, और यहाँ अग्रेज व्यापारी, पुर्तगाली, डच, फ्रेञ्च आदि अन्य यूरोपीय व्यापारियों को हटाकर दिन प्रतिदिन अपनी व्यापार-वृद्धि के साथ साथ राज्य की वृद्धि भी कर रहे थे। औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ पहले-पहल इग्लैण्ड मे ही होने के कारण वह व्यापारिक क्षेत्र मे भी उस समय अत्यन्त द्रुतगति से आगे बढ रहा था, और उस समय भारतवर्ष के उसके सम्पर्क मे रहने के कारण उसके इस परिवर्तन का प्रभाव यहाँ भी तत्काल पडने लगा, और धीरे-धीरे यहाँ के उद्योग-धन्धों की अवस्था इतनी बदल गई कि जो भारतवर्ष प्रतिवर्ष करोडो का माल विदेशो मे भेजकर माला-माल होता था, वही आज अरबो का माल विदेशो से मगाकर दिन-प्रति-दिन दरिद्र बनता जा रहा है।

भारत में औद्योगिक क्रान्ति की गति

यद्यपि भारतवर्ष के उद्योग-धन्धों के परिवर्तन की गति इतनी तीव्र नही थी कि उसे वास्तविक रूप मे क्रान्ति की उपाधि दी जा सके, तथापि अपेक्षा-कृत अल्प काल मे यहाँ के उद्योग-धन्धों मे जो उथल-पुथल और परिवर्तन हो गये है, उन्हे देखते हुए उसे क्रान्ति कहना असङ्गत न होगा।

इस क्रान्ति-युग के परिवर्तन को ठीक-ठीक समझने के लिए उसके पहले के उद्योग-धन्धों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

भारतवर्ष प्रारम्भ से ही कृषि-प्रधान देश रहा है। अत इसमे उद्योग-प्रधान देशों की भांति लोग नगरो मे एकत्र न रह कर सारे देश मे, छोटे-छोटे ग्रामो मे, बिखरे हुए हैं। इस कारण सम्पूर्ण भारतवर्ष के विषय में किसी भी प्रकार का वास्तविक अध्ययन ग्रामों के द्वारा ही किया जा सकता है।

यहां के ग्रामों की विशेषता

भारतवर्ष के ग्रामों की यह विशेषता है कि प्राय गत १३०० वर्षों से (हर्ष-साम्राज्य के अध पतन के बाद से) भारतवर्ष के राजनैतिक सघटन मे—विशेष कर मुसलमानो का आक्रमण प्रारम्भ होने के बाद से—समय-समय पर जो विप्लव होते रहे है, उससे प्रभावित न हो कर उन्होंने अपना सघटन ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रक्खा। यहाँ के ग्रामो की यह विशेषता बनाये रखने में एक बात जो उसके लिए मुख्य सहायक हुई, वह है कि यहाँ के ग्राम अपनी आवश्यकता की वस्तुओ के लिए किसी दूसरे के मुहताज नहीं रहते थे।

प्रत्येक ग्राम मे अन्न की खेती तो होती ही थी। साथ ही साथ तेल के लिए तेलहन, और वस्त्र के लिए रूई की खेती भी की जाती थी। प्रत्येक ग्राम मे बढ़ई, तेली, नाई, धोबी, चमार, लोहार, डोम, जुलाहे, लोनिया आदि होते थे, जो

गाँव की आवश्यकताओं की सामग्री तैयार करते थे। यदि किसी ग्राम में इनमें से किन्ही पेशे वालो का अभाव होता था तो वह उसकी पूर्ति पास वाले ग्राम से कर लेता था। साथ ही साथ प्रत्येक गाव मे बनिये की एक छोटी-मोटी दूकान भी अवश्य होती थी, जो नमक, तम्बाकू, गुड आदि ऐसी चीजें बेचा करता था, जो प्रत्येक ग्राम मे उत्पन्न नहीं होतीं। साथ ही ये बनिये सूद पर रुपया एव अन्न आदि क़र्ज़ भी दिया करते थे। ब्याज का दर साधारणत २५ फ़ी सदी से ५० फ़ी सदी तक होता था। विशेष अवसरो पर १०० प्र० श० भी हो जाता था।[1]

इन बनियो के अतिरिक्त बंजारे लोग टट्टुओं पर, बैलों पर, नमक, तम्बाकू अथवा अन्य कोई पदार्थ लेकर गाँव-गाँव घूमा करते थे। एक स्थान से दूसरे स्थान माल ले जाने का काम भी यही करते थे।

प्रति सप्ताह एक या दो दिन १०—१५ ग्रामो मे से एक या दो ग्रामों में हाट लगा करता था, जिसमे ग्रामीण-जन अपनी उत्पत्ति की बचत ले जाकर बदले मे अपने उपभोग की दूसरी आवश्यक वस्तु लाते थे। ग्रामो की बहुत कुछ यही दशा अब भी विद्यमान है।

मजदूर

मजदूरी की दृष्टि से उस समय के मजदूरो के दो विभाग किये जा सकते है। एक तेली, जुलाहे, सुनार आदि जो अपने कार्य के अनुसार मजदूरी पाते थे। जैसे तेली जितना तेल पेरता था उसकी पेराई उसी के अनुपात से दी जाती थी। इसी प्रकार जुलाहों को भी कपडे की बुनाई उसके बुनने के कार्य के अनुसार ही दी जाती थी। दूसरे प्रकार के मजदूर वे थे, जिनकी वार्षिक मजदूरी एक प्रकार से बन्धी हुई थी। इस श्रेणी मे नाई, धोबी, बढ़ई, लोहार, डोम, कुम्हार आदि रक्खे जा सकते है। इनकी मजदूरी गाँव के प्रत्येक घर की वार्षिक उत्पत्ति के अनुसार निश्चित थी, और अकाल अथवा सुकाल मे उत्पत्ति के अनुसार घटती बढ़ती भी थी। इसके अतिरिक्त, जन्म, मृत्यु, उपनयन, विवाह, आदि अवसरो पर इन लोगों का एक दस्तूर-सा बन्धा था, जिनमें इन्हें वस्त्र आदि मिलते थे। इनके अतिरिक्त प्रत्येक गाँव मे गोडैत, चौकीदार अथवा ग्राम्य-रक्षक होता था, जो रात को गाँवो मे पहरा दिया करता था। और इसके बदले मे लोग उसे अपनी वार्षिक उत्पत्ति के अनुसार अन्न आदि देते थे।

मजदूरों की विशेषता

उपर्युक्त इन सभी मजदूरों की विशेषता यह थी कि ये किसी व्यक्ति-विशेष के नौकर नहीं थे। प्रथम प्रकार के मजदूर तो किसी समय भी कार्य करने अथवा न करने के लिए स्वतन्त्र थे ही, दूसरे प्रकार के मजदूर भी किसी व्यक्ति-विशेष के नौकर न होने के कारण बहुत कुछ स्वतन्त्र थे। वे सम्पूर्ण गाँव के सेवक थे और सम्पूर्ण गाँव उनका पोषक था।

इसके अतिरिक्त कुछ मजदूर ऐसे भी होते थे, जो केवल एक घर के ही सेवक होते थे। इस प्रकार के मजदूरो मे हल-वाहे, चरवाहे, कहार, आदि मुख्य थे। चरवाहे बहुधा १०—२० घर अथवा गाँव भरके जानवरों को एक साथ चराने ले जाते थे।

प्राय इन घरेलू मजदूरों को एव उपर्युक्त दूसरे प्रकार के मजदूरों को जमींदारों एव धनी किसानों द्वारा माफ़ी अर्थात् बे-लगान की जमीन के रूप मे भी मजदूरी मिलती थी।

मजदूर सघटन, पचायत

उस समय के मजदूरों मे आजकल के मजदूर सघों की भाति पञ्चायते होती थी। ये पञ्चायते प्रत्येक पेशे वालो की भिन्न भिन्न होती थी। इन पचायतों मे केवल आर्थिक प्रश्न ही नहीं, बल्कि अन्य प्रकार के प्रश्न भी उपस्थित होते थे। नगरों मे मजदूरी की दर भी इन्हीं पचायतों द्वारा तय होती। साथ ही ये पचायतें अपने सदस्यों के व्यक्तिगत जीवन पर भी नियन्त्रण रखती थी और आचरण-सम्बन्धी दोषों पर दण्ड तक दिया करती थी।

उपर्युक्त सभी प्रकार के मजदूर वंशपरम्परा-गत होते थे। इस कारण हड़ताल आदि का भय नही था।

गाँवों मे श्रम-विभाग की विशेष उन्नति नहीं हुई थी।

---

1 The Economic Transition in India Theodore Morison P 77 78 Rate of interest Deora Hisab and Duna Hisab.

प्रत्येक पेशे वाला अपने पेशे के साथ-साथ खेती भी करता था। बनिया, दुकान, वर्त्तमान बैंकों का बहुत कुछ काम, लेन-देन, गिरवी रखना आदि खेती के साथ साथ करता था। प्रत्येक किसान के घर में चर्खा चलाना, रस्सी बटना एवं अन्य इसी प्रकार के छोटे मोटे कार्य भी हो रहे थे।

श्रम-विभाग की कमी

ग्रामों के लेन-देन मे मुद्रा की आवश्यकता बहुत कम होती थी। प्राय सभी लेन-देन अनाज, वस्त्र आदि एक दूसरी वस्तु के बदले ही होता था। जमींदारों को लगान भी प्राय उपजी हुई वस्तुओं मे ही दिया जाता था। केवल सरकारी लगान के लिए ही मुद्रा की आवश्यकता होती थी ?[1]

मुद्रा की अनावश्यकता।

उस समय की परिस्थिति के लिए इसी प्रकार के सघटन की आवश्यकता भी थी। मुगल साम्राज्य के कमजोर हो जाने पर सारे देश मे एक प्रकार से अराजकता का साम्राज्य हो गया। पिण्डारी एव अन्य लुटेरे स्थान-स्थान पर लूट मार करते फिरते थे। राजा एव सरदार परस्पर लडते थे। पं० पी० एन० पिल्लई लिखते हैं कि उस समय जिस व्यक्ति में भी इतनी शक्ति थी कि वह दूसरे की वस्तु छीन सके, वह अपनी जीविका के लिए किसी प्रकार के धन्धे की खोज नहीं करता था[2]। ऐसी दशा मे दूर-दूर का व्यापार सुसाध्य नहीं था।

उस समय के अनुकूल सघटन

दूर-दूर का व्यापार अधिक न हो सकने का एक यह भी कारण था कि उस समय आज कल की भांति पक्की सडकें न थीं। १८४८ ई० के पूर्व ग्रेण्ड ट्रङ्क रोड के अतिरिक्त और कोई पक्की कहने योग्य सडक न थी[3]। दक्षिण मे तो पक्की सड़कें बिलकुल थीं ही नहीं। उत्तर मे वर्षा ऋतु मे बैल गाड़ी के द्वारा व्यापार होता था, किन्तु दक्षिण मे उस समय

1 Industrial Commission Report 1916 18 P 2

1 Economic condit on in India Pillai P 12

3 The Economic Trans tion in India Theodore Morrison

गाड़ी एक अज्ञात वस्तु थी[1]। इस कारण सारे देश के किसी न किसी भाग मे प्राय अकाल रहा करता था। भारत में ऐसे अकालों का उल्लेख बहुत प्राचीन काल से पाया जाता है। जातकों मे भी अकाल का उल्लेख है। इस काल मे यह दशा थी कि जहाँ किसी समय एक बाजार मे ४ रुपये मन बाजरा था, वहाँ उससे केवल ३० मील अन्तर पर उसी समय वह १॥ रुपये मन के भाव से पाया जाता था।[2]

लूट-मार एव राज्य के कर्मचारियो के अत्याचार के भय से प्राय कृषक उतना ही उत्पन्न करते थे जितना कि एक फसल से दूसरे फसल तक के लिए पर्याप्त हो। इस कारण किसी वर्ष अकाल पडने पर उन्हे बहुत कष्ट का सामना करना पडता था, और उसका फल यह होता था कि एक ही स्थान पर जो अनाज अकाल पडने पर १ रुपये का १० सेर मिलता था[3], वही उसके दो वर्ष बाद वहाँ ३० सेर की दर से मिलता था।

व्यापार प्राय नदी के मार्ग से ही सम्भव था। नहरें※ भी अधिक नहीं थीं, जिन से व्यापार हो सके।

उस समय के नगर प्राय चार प्रकार के थे। अधिकतर नगर नदियों के तट पर होते थे। उत्तर भारत मे अधिकतर व्यापार नदियों के द्वारा ही होने के कारण मुख्य व्यापारी नगर नदियो के किनारे ही होते थे। प्रयाग, मिर्जापुर इस प्रकार के नगरों के बहुत अच्छे उदाहरण हैं। दूसरे प्रकार के नगर वे थे जो राजा अथवा राज्याधिकारियो के निवास स्थान होने के कारण प्रसिद्ध थे। उन्ही के कारण वहाँ भिन्न भिन्न पेशे के लोग जाकर बसते थे। कला-कौशल को राज्य की सहायता मिलने के कारण इन्हीं स्थानो पर अच्छे

1 Economic condit on in India Pillai

2 The Economic Trans tion in India, Theodore Morr son

3 Industrial Evolution of India D R Gadgil

※उत्तर भारत की बात तो नहीं मालूम पर दक्षिण भारत मे पर्याप्त नहरों, सरोवरों और 'रिजर्वायर्स' के होने का प्रमाण इतिहास मे कई स्थानो पर मिलता है। बर्क ने अपने 'इम्पीचमेण्ट' मे केवल कर्नाटक या तंजौर में दस हजार सुरक्षित जल-कुण्डों के होने का उल्लेख किया है। 'त्या० भू०'—सम्पादक

अच्छे कारीगर भी जाकर बस जाते थे। लखनऊ, दिल्ली आदि इसी प्रकार के नगर थे। तीसरे प्रकार के नगर वे थे जो तीर्थ अथवा यात्रा के स्थान होने के कारण प्रसिद्ध थे। बनारस, गया, आदि ऐसे नगरों के उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त एक प्रकार के नगर और भी थे जो अपने किसी उद्योग-धन्धे की विशेषता के कारण प्रसिद्ध थे। अहमदाबाद, अमृतसर, कालीकट आदि ऐसे ही नगर थे।

कारखाना

उद्योग-धन्धों के केन्द्र उपर्युक्त नगर ही थे। देशी तथा विदेशी व्यापार भी इन्हीं नगरों के द्वारा होता था। उद्योग-धन्धे बहुत-कुछ राज्य अथवा धनियों के सरक्षण में होते थे। कारखानों की प्रथा भी प्रचलित थी। जिनमे एक पूँजीपति अथवा मालिक होता था वह सभी चीजें जुटा देता था और कारीगर अपना काम करके केवल मजदूरी पाते थे। बहुधा एक चतुर कारीगर अपने अन्तर्गत कुछ अर्ध-शिक्षित अथवा नौसिखुओं को रखकर काम कराता था और जब वह बहुत वृद्ध हो जाता अथवा मर जाता तब उसका स्थान उसके शिष्यों मे से जो सबसे चतुर होता वह ग्रहण करता था।

उद्योग-धंधों पर अकाल का प्रभाव

नगरों मे अकाल के समय बहुधा जन-सख्या बढ़ जाया करती थी। इसका कारण यह था कि ग्रामो मे कार्य की कमी होने के कारण मजदूर पेशे के लोग नगरों मे आ जाते थे। किन्तु नगरो के उद्योग-धन्धों की अवस्था अकाल के समय और भी खराब हो जाती थी। उन दिनों उपज कम होने के कारण लोग अधिकतर कला-कौशल की वस्तुओ को नही खरीदते थे, इस कारण नगर का व्यापार भी मन्दा पड़ जाता था। ग्राम में तो बटवारे की प्रथा होने के कारण मजदूरो को उत्पत्ति के अनुसार कुछ न कुछ मिल भी जाता था किन्तु नगर के मजदूरो को कभी-कभी कुछ भी न मिलने से बहुत ही कष्ट उठाना पड़ता था।

भारत के उद्योग-धन्धे

इतना होने पर भी भारत के व्यापार एवं उद्योग-धन्धे खूब उन्नति पर थे। विशेष-विशेष स्थानों पर विशेष वस्तुओ की उत्पत्ति होती थी, और वहाँ से सम्पूर्ण देश मे तथा विदेशों में भी भेजी जाती थी।

ढाका का मलमल सम्पूर्ण देश मे तथा विदेशो मे जाता था। इसकी बहुत प्रसिद्धि थी। ढाका के अतिरिक्त नदिया, शान्तिपुर, चन्द्रनगर, जालन्धर, लुधियाना, अहमदाबाद, गुण्टूर, कालीकट का वस्त्र देश तथा विदेशो मे जाता था। वस्त्र की उत्पत्ति के लिए हावड़ा राधानगर, चन्द्रकोना, पालमा, बर्दवान दीनापुर, मऊ, टाण्डा, हुशियारपुर, पटियाला, यवला, अहमदनगर, शोलापुर, खानदेश, मावली, आसन्दी, कराची, हैदराबाद, शिकारपुर, उरपाडा, यपाला-गुण्टा, रायपुर, नेल्लोर और कावल्ली भी प्रसिद्ध स्थान थे। दरी आगरा और अलीगढ़ की, फर्श बीरभूम के और गलीचे मिर्जापुर के प्रसिद्ध थे। सिल्क गरद, कोरा, तसर इत्यादि आसाम, मिदनापुर, राजशाही, मुर्शिदाबाद, मुल्तान, लाहौर भागलपुर, पटियाला, अमृतसर, अहमदाबाद, सूरत, बेलगाँव बिलासपुर, सम्भलपुर एवं कालदर्गी के प्रसिद्ध थे। अमृतसर और लुधियाना का शाल बहुत प्रसिद्ध था। ऊनी कम्बल पहाड़ी प्रान्तों मे बहुत गर्म व मजबूत बनते थे। जरी का काम दिल्ली, लखनऊ, बनारस, ढाका, अहमदाबाद, हैदराबाद (सिन्ध), विजगापट्टम और चीका कोल मे बहुत अच्छा होता था। बर्तन बनारस, मिर्जापुर लखनऊ मुरादाबाद, अहमदाबाद, नासिक पूना, हैदराबाद मदुरा, तजोर, नीसपुर मे अच्छे बनते थे। सोने-चाँदी का काम कटक, ढाका लखनऊ, दिल्ली, त्रिचनापल्ली और विजयनगर मे अच्छा होता था। चटाई तथा शीतलपाटी, बाकरगज और बगाल मे सारे देश मे जाती था। कलई का काम कश्मीर मे बहुत अच्छा होता था।

इनके अतिरिक्त देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे भिन्न-भिन्न प्रकार के और भी अनेक उद्योग-धन्धे प्रचलित थे। लकड़ी पर खुदाई का काम एव पत्थर का काम, आदि अनेक उद्योग-धन्धे उस समय उन्नति पर थे[1]।

भारतवर्ष मे लोहे का काम भी खूब होता था। यहाँ

---

1 Handbook of Indian Products T N Mukherji and Economic History of British India Ramesh Dutta

की लोहे की चीज़ें विदेश भी जाती थी[1]।

लोहा

भारतवर्ष मे तलवार बहुत अच्छी बनती थी। दमिश्क की प्रसिद्ध तलवारें यही बनती थीं। काठियावाड़ में जहाज बनता था। दिल्ली मे कुतुबमीनार के पास जो भारतवर्ष का बना हुआ एक प्राचीन लौह स्तम्भ है, वैसा कुछ दिन पूर्व तक पश्चात्य देशों के बड़े-से-बड़े कारखाने मे भी ढाला जाना सम्भव नही था। यहाँ लोहे की बड़ी बडी तोपें भी बनती थी।

भारतवर्ष मे जल एवं स्थल दोनों प्रकार की खानो से खनिज पदार्थ निकाले जाते थे। बहुत प्राचीन

खानें

काल मे भी खानो की देख रेख के लिए आकराध्यक्ष नामक राज्य कर्मचारी नियुक्त किये जाने का उल्लेख पाया जाता है। सोना, अबरख नमक आदि चीजे स्थल की खानों से एवं सीप, मोती, नमक आदि समुद्र और झीलो से निकाली जाती थीं।

कुछ लोगों का कहना है कि अंग्रेजों के आने के पूर्व यहाँ लोहा निकालने का काम नही होता था। यह कथन असत्य है। श्री० पी० टी० श्रीनिवास आयङ्गर अपनी 'हिस्ट्री ऑव् इण्डिया' मे लिखते है कि यहाँ के लिए जितने लोहे की आवश्यकता होती थी वह सब यहीं की खानो से निकाला जाता था[2]। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में भी अच्छे बुरे, कच्चे लोहे की पहचान तथा उसे शुद्ध करने की विधि दी हुई है। यह भी यहाँ से कच्चा लोहा निकलने का प्रमाण है*।

1 Essays on Indian Economics Ranade
2 History of India P T Shrinivas Ivenger

* ख्यूडा की प्रसिद्ध खान से सिखों के समय से ही नमक निकलता था। चाँदी की खानें यहा जरूर थोडी थीं। मेवाड मे जावर की चाँदी की खान थी, जिससे कई सदियों तक चांदी निकलती रही। सोने की अधिक खानें थीं, जिससे सोने और चांदी के मूल्य मे अनुपात १ और ८ का था, जो बाहर से चादी आने से कारण बढ़ता गया। कई नदियो का रेत से भी सोना निकाला जाता था, हिराडाटस ने भी भारतीयों के नदियों से सुवर्ण-सग्रह का उल्लेख किया है—सपा०।

इस प्रकार १८ वी शताब्दि में भारत के उद्योग-धन्धे खूब उन्नति पर थे।

यद्यपि वर्तमान काल की भाँति अनेक हिस्से वाली कम्पनियों का उस समय अभाव था,

मिश्रित पूंजी (साझा)

तथापि थोड़े से हिस्सेदारों की मिश्रित पूँजी द्वारा स्थापित व्यापार यहाँ होते थे।

नोट, चेक, एवं बैंक ड्राफ्ट का बहुत-कुछ काम हुंडी द्वारा लिया जाता था।

भारत मे विदेश व्यापार भी खूब होता था। बेबिलोन से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध

विदेशी व्यापार

ईसा के बहुत पूर्व का है। सन् १६८८ के इंग्लैण्ड की क्रान्ति के बाद जब मेरी अपने पति के साथ इंगलैण्ड आई तब वह यहाँ के रंगीन केलिको को इतना पसन्द करती थी कि उसकी देखा-देखी उसे पहनने का वहाँ इतना रिवाज चल पडा कि आगे चल कर १७००, १७२१ और उसके बाद भी पार्लमेण्ट को उसे क़ानून द्वारा रोकने का प्रयत्न करना पडा[1]। भारत का विदेश से व्यापारिक सम्बन्ध १८ वीं तथा १९ वी शताब्दि तक उत्तरोत्तर बढता ही गया, उस समय भारतवर्ष विदेशी व्यापार द्वारा खूब मालामाल होगया था। बाहर से सोना चाँदी भारत मे आता था ओर यहाँ से तैयार, माल एवं मसाला आदि कच्चा सामान विदेश को जाता था।

यद्यपि अंग्रेज़ों के आने के बाद मे भारत का विदेश से व्यापारिक सम्बन्ध और भी बढ गया,

क्रान्ति का उलटा प्रभाव

परन्तु विपरीत गति से। इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव से यहाँ की औद्योगिक अवस्था दिन-प्रति-दिन अवनत ही होती गई। पश्चात्य देशों की उन्नति एवं भारत की अवनति दोनो पर हा औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव है।

श्यामाचरण

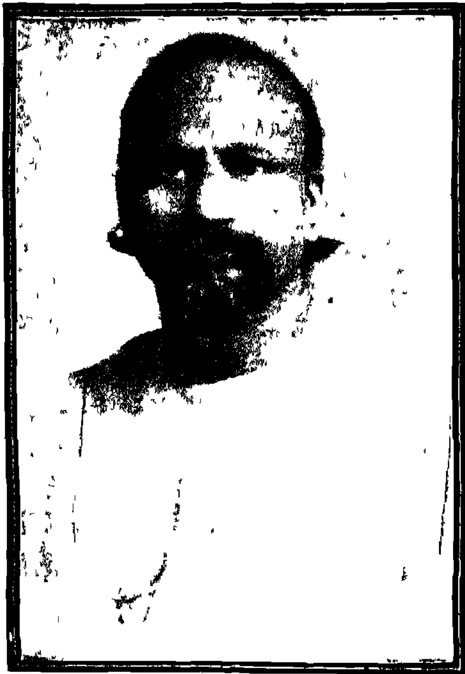
1 Ruin of Indian trade and industries B D Basu

श्री काशी विद्यापीठ

विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभय सह ।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
यजुर्वेद ४० अध्याय

स्थापना

आजकल भारतवर्ष मे अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली मे जो दूषण है, उसके द्वारा देश के नवयुवकों का जिस प्रकार शारीरिक तथा मानसिक ह्रास हो रहा है, तथा इस शिक्षा-प्रणाली के फल-स्वरूप उनमें दिनों-दिन जो भयंकर बेकारी फैलती जा रही है, देश का प्रत्येक विचारशील देशभक्त और शिक्षाप्रेमी व्यक्ति इसे भली भांति महसूस करता है। काशी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक श्री भगवानदासजी और प्रख्यात दानी बाबू शिवप्रसादजी तथा कुछ अन्य देशभक्तों के मनमे ये बातें बहुत दिनो से हिलोरें मार रही थी। वे सोच रहे थे कि एक ऐसी शिक्षा-संस्था स्थापित हो, जो सरकार से पूर्ण स्वतन्त्र हो—सरकारी शिक्षा-विभाग के नियमों की वह पाबन्द न हो। उसमे सब प्रकार की ऊँची-से-ऊँची शिक्षा मातृभाषा के माध्यम और देव नागरी लिपि के द्वारा दी जाय, और मस्तिष्क की शिक्षा के साथ साथ हृदय और हाथ की शिक्षा भी दी जाय। ज्ञान-संचय के साथ सद्भाव सच्चरित्रता और शिल्पकला



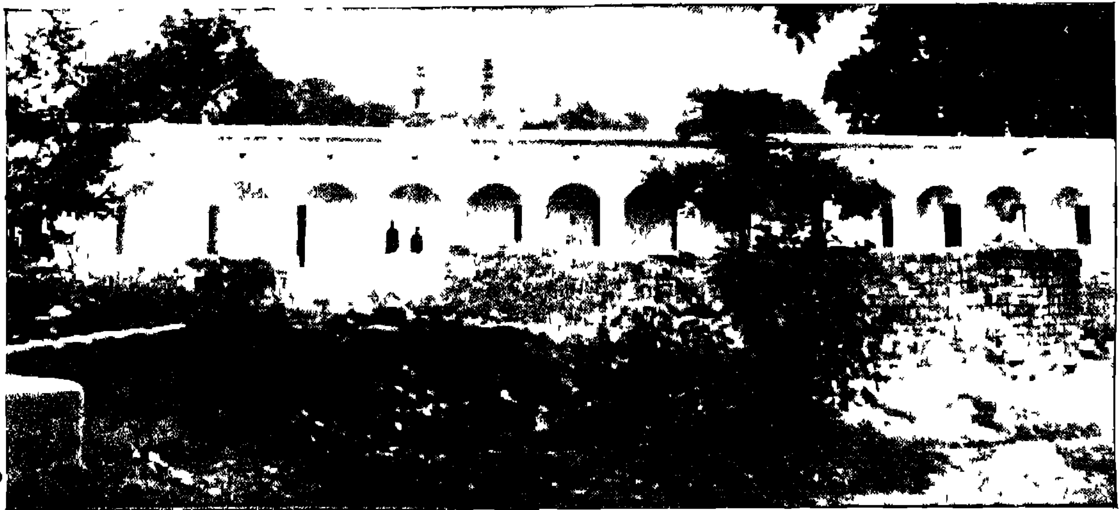
श्रीभगवानदास



श्रीशिवप्रसाद गुप्त

की शिक्षा का भी प्रबन्ध हो, जिससे भारतीय सभ्यता की उन्नति हो, और शिक्षा-प्राप्ति के बाद स्नातक (ग्रेजुएट) स्वतन्त्रता-पूर्वक जीविका-निर्वाह करने में समर्थ हो सकें।

ईश्वर की कृपा से १९२० ई० मे कलकत्ते की स्पेशल कांग्रेस ने सरकार से असहयोग करने का प्रस्ताव पास किया और उसके अनुसार सरकारी अथवा अर्द्ध-सरकारी स्कूलों-कालेजों में पढना पढाना अनुचित ठहराया गया। समस्त देश मे एक अजीब जागृति, विचित्र जोश और प्रशंसनीय साहस पैदा हो गया। उक्त महानुभावो को अपने



विद्यालय भवन

विचारों को अमली रूप देने का सुअवसर इस प्रकार सहसा उपलब्ध हो गया।

नागपुर-कांग्रेस के बाद, जनवरी १९२१ ई० में महात्मा गान्धी ने आचार्य भगवानदासजी को पत्र लिखा कि, काशी मे शीघ्र ही एक राष्ट्रीय महाविद्यालय खुलना चाहिए। इस पत्र को पाकर उन्होंने बाबू शिवप्रसादजी गुप्त आदि अपने मित्रो से परामर्श किया। फलस्वरूप राष्ट्रीय महा विद्यालय खोलने का निश्चय हुआ और २८ माघ स० १९७७ वि० (१० फ़रवरी १९२१ ई०) को महात्मा गान्धी ने अपने पुनीत हाथों से विद्यापीठ का उद्घाटन किया।

६

प्रबन्ध-कार्य

श्रावण सं० १९८४ वि० में विद्यापीठ की नियमावली तथा उसके उद्देश्यों की रजिस्ट्री कराके वह एक रजिस्टर्ड सस्था (Corporate Institution) बना दी गई। इसके अनुसार विद्यापीठ का सब नैष्ठिक अधिकार एक निरीक्षक सभा के हाथ में दे दिया गया है। निरीक्षक सभा विद्यापीठ की सर्वोपरि सभा है। इसके सदस्य संयुक्तप्रान्त के अलावा और स्थानों के भी राष्ट्रीय शिक्षा-प्रेमी एवं विद्वान् सज्जन है। साथ ही अब उसमे विद्यापीठ के स्नातकों के भी ५ प्रतिनिधि रखने का निश्चय हुआ है।

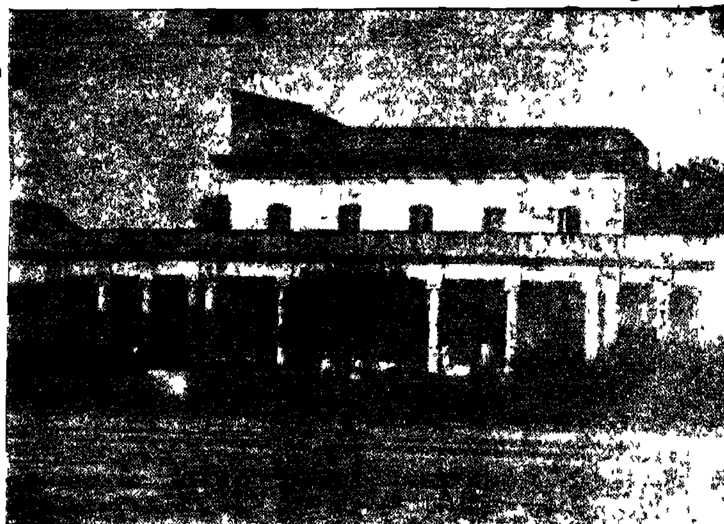
विद्यापीठ की दूसरी सभा 'प्रबन्ध-समिति' है जो निरीक्षक सभा के आदेशानुसार विद्यापीठ के सब कार्यों का प्रबन्ध करती है। विद्यापीठ सम्बन्धी सब आर्थिक बातें प्रबन्धसमिति के ही हाथ मे है। शिक्षा तथा पाठ्य-क्रम सम्बन्धी सब बातो का अधिकार विद्यापीठ की तीसरी समिति 'शिक्षा-परिषद्' के अधीन है। ये तीनों सस्थायें दूसरे विश्वविद्यालयो के 'कोर्ट' 'सीनेट' और 'सिनडिकेट' के समान हैं।

विद्यापीठ के अपने ही यहाँ शिक्षा देने की दृष्टि से,

तीन विभाग—विद्यालय, पाठशाला, और शिल्प-शाला —हैं तथा शिक्षा-प्रचार की दृष्टि से उसका एक प्रकाशन-विभाग है। इनके सम्बन्ध मे नीचे अलग-अलग लिखा जा रहा है।

विद्यालय-विभाग

विद्यालय (कालेज) का पाठ्य-क्रम चार वर्षों का रक्खा गया है। प्रथम वर्ष हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी का अध्ययन अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। इनके अतिरिक्त अर्थ-शास्त्र, शरीर-रचना तथा शरीर-विज्ञान और भारतवर्ष की आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति पर साधारण व्याख्यान दिये जाते हैं, जिससे सब विद्यार्थियों को इन विषयों का साधारण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। शेष तीन वर्षों मे अंग्रेजी अनिवार्य रूप से, तथा (क) दर्शन (ख) इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र एव (ग) प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति—इन वैकल्पिक विषयों मे से कोई एक विषय लेना पड़ता है। द्वितीय वर्ष में हिन्दी सब विद्यार्थियों को तथा संस्कृत केवल उन विद्यार्थियों को जो दर्शन और भारतीय संस्कृति लेना चाहते हैं, पढ़नी होती है। *अन्तिम वर्ष में विद्यार्थी को उस वैकल्पिक विषय से सम्बध रखने वाले किसी विषय पर, जिसे उसने लिया हो, एक बड़ा निबन्ध लिखकर उसमें उत्तीर्ण होना पड़ता है।* प्रत्येक वर्ष की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर उसके ऊपर की परीक्षा में सम्मिलित होने की अनुमति मिलती है।



पाठशाला भवन

विद्यापीठ की 'विशारद' अथवा किसी शिक्षा-संस्था की मैट्रिक अथवा उसकी समकक्ष परीक्षा मे उत्तीर्ण होने पर ही विद्यार्थी विद्यालय मे प्रवेश कर सकता है। विद्यापीठ के किसी भी विभाग में पढ़ाई का कोई शुल्क नहीं लिया जाता। विद्यालय-विभाग मे निर्धन, योग्य और सदाचारी विद्यार्थियों को १०) मासिक छात्रवृत्ति भी मिलती है। विद्यापीठ के विद्यालय विभाग का उपरोक्त पाठ्यक्रम दूसरे विश्वविद्यालय के एम० ए० के बराबर है। विद्यापीठ के विद्यालय-विभाग से उत्तीर्ण छात्रों को 'शास्त्री' की उपाधि दी जाती है। विद्यालय मे इस समय लगभग ३५ विद्यार्थी है।

पाठशाला-विभाग

विद्यापीठ का पाठशाला-विभाग (हाईस्कूल) एक कालेजिएट स्कूल के समान है। इसमें लगभग ५० विद्यार्थी हैं। इसमे पाँचवीं कक्षा से लेकर दसवी कक्षा तक की पढाई होती है। 'विशारद' परीक्षा पास होने वालों को 'विशारद' की उपाधि दी जाती है। इसे पास करने वालों को गणित, संस्कृत, विज्ञान, भूगोल और अंग्रेजी मे सरकारी स्कूलो के मैट्रिक के बराबर ज्ञान होता है, पर हिंदी और इतिहास में उससे भी अधिक योग्यता प्राप्त हो जाती है। *राष्ट्रीयता के भाव दृढ़ करने के लिए प्राचीन शासन पद्धति, इतिहास, राजनीति और भारतीय मर्यादा पर विशेष ध्यान दिया जाता है।* इन विषयों के अतिरिक्त नागरिक-शास्त्र, शासन-पद्धति, स्वास्थ्यरक्षा तथा शरीर-रचना-शास्त्र भी पढ़ाया जाता है। असमर्थ और योग्य छात्रों को छात्र-

वृत्ति भी दी जाती है। विद्यार्थियों के सदाचार और नियमित जीवन व्यतीत करने पर विशेष ध्यान रक्खा जाता है। विद्यार्थियों की वक्तृत्वशक्ति बढ़ाने और संघटित रूप से काम करने की योग्यता पैदा करने की दृष्टि से पाठशाला के विद्यार्थियों की एक 'कुमार सभा' है। इसके द्वारा विद्यार्थी हिन्दी और अंग्रेजी में बहस करते हैं तथा 'आदर्श कुमार' नामक एक हस्तलिखित पाक्षिक पत्र भी निकालते हैं।



विद्यालय के विद्यार्थियों का एक समूह

शिल्प-विभाग

विद्यार्थियों में स्वतन्त्र जीवन निर्वाह करने और शिल्प-कला के प्रति प्रेम पैदा करने की दृष्टि से यह विभाग खोला गया है। पहले इसके अधीन खद्दर, दरी, निवाड़, आदि आदि बुनने, सूत कातने, साबुन बनाने, रँगाई करने, बेत की कुर्सी पलग आदि बुनने, बढ़ईगिरी सीखकर लकड़ी का काम करने, कपड़ा सीने आदि के अनेक काम सिखाये जाते थे, पर किन्हीं कारणों से और सब विभागों को बन्द कर देना पड़ा। इस समय यहाँ बढ़ईगिरी और सिलाई के ही काम शेष रह गये हैं और विद्यार्थी इन कलाओं की शिक्षा प्राप्त करते हैं।

प्रकाशन-विभाग

हिन्दी की सुप्रसिद्ध 'ज्ञानमण्डल' ग्रन्थमाला अब विद्यापीठ के प्रकाशन विभाग के अधीन आ गई है और विद्यापीठ अपने इस प्रकाशन विभाग द्वारा हिन्दी में विभिन्न विषयों की उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखवाकर प्रकाशित करने का यत्न कर रहा है। प्रकाशन-विभाग के द्वारा पिछले महीने से 'विद्यापीठ' नाम की एक त्रैमासिक पत्रिका भी निकलने लगी है, जिसमें ऐसे गम्भीर, विद्वत्तापूर्ण और श्रेष्ठ लेख रहते हैं, जो हिन्दी के स्थायी साहित्य में महत्व-पूर्ण स्थान प्राप्त करेंगे। श्री भगवानदासजी और श्री नरेन्द्रदेवजी इसके सम्पादक हैं।

अध्यक्ष



श्री नरेन्द्रदेव एम० ए०, एल०एल० बी०

विद्यार्थी-परिषद्

विद्यालय (कालेज) के विद्यार्थियों की एक सस्था 'विद्यार्थी-परिषद्' है। इसके सदस्य न केवल विद्यार्थी ही, बल्कि विद्यापीठ के अध्यापक भी होते हैं। इसके द्वारा हिन्दी मे एक हस्त-लिखित 'विद्यापीठ' नामक पाक्षिक पत्र निकाला जाता है। इसके अन्तर्गत दो विभाग-से हैं—शिक्षा और सेवा। विद्यापीठ में जो भी उत्सव आदि मनाये जाते हैं, उनका प्रबन्ध-भार 'विद्यार्थी-परिषद्' के ही ऊपर रहता है।

छात्रावास

विद्यापीठ के विद्यालय और पाठशाला दोनो विभागों के विद्यार्थियों के लिए छात्रावास मे रहने का पर्याप्त प्रबन्ध किया गया है। छात्रावास मे रहने के लिए कोई शुल्क नहीं लिया जाता। साथ ही छात्रावास मे रहने वाले विद्यार्थियों की रुग्णावस्था मे औषधि और सेवा-शुश्रूषा का सारा खर्च विद्यापीठ की ही ओर से दिया जाता है। प्रत्येक विद्यार्थी को चौकी, आलमारी, रैक आदि प्रदान किया जाता है। विद्यालय-विभाग के विद्यार्थी छात्रावास में रहते हुए १५) मासिक मे खर्च चला लेते हैं। इसी प्रकार पाठशाला के छात्रावास मे रहने वाले विद्यार्थियों का भी १२-१३ रुपये

राजनीति शास्त्राध्यापक



श्री श्रीप्रकाश बार एट-ला

मासिक में काम चल जाता है। विद्यापीठ के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए सूत कातना, व्यायाम करना और सहभोज में शामिल होना अनिवार्य है।

यहाँ के छात्रावास की सब से अच्छी बात अध्यापकों और विद्यार्थियों का पारस्परिक प्रेम-पूर्वक रहना है। छात्रावास में कुछ अध्यापक भी रहते हैं जो विद्यार्थियों के साथ बड़े प्रेम से मिलते तथा एक परिवार का-सा सुख प्रदान करते हैं। वे अपने आदर्श चरित्र द्वारा तथा समय-समय पर उनसे बातें करके उन्हें हर प्रकार से शिक्षा देने का यत्न करते हैं। यहाँ के अध्यापकों और विद्यार्थियों के जीवन से पवित्रता और सरलता, वेषभूषा से स्वच्छता और सादगी, तथा उनके आचरण और व्यवहार से सच्चरित्रता एवं निष्कपटता टपकती है। यहाँ पर नियमों का पालन किसी भय से नहीं, बल्कि कर्त्तव्य समझ कर प्रेम के साथ किया जाता है। यहाँ का प्रत्येक विद्यार्थी स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करता है। विद्यापीठ का वायुमण्डल और परिस्थिति ही कुछ ऐसी है कि वहां उसे आप ही स्वावलम्बन की शिक्षा व्यावहारिक रूप में मिल जाती है। यहाँ के छात्र सदा प्रत्येक काम को अपने हाथों करने को न केवल तैयार ही रहते हैं, बल्कि करते भी हैं और अपने हाथ से कोई भी काम करना बुरा नहीं समझते। विद्यालय के लगभग सभी विद्यार्थी और पाठशाला के तीन चौथाई छात्र छात्रावास में ही रहते हैं।

पाश्चात्य दर्शन के अध्यापक



श्री सम्पूर्णानन्दजी एम० एल० सी०

पुस्तकालय

श्री शिवप्रसादजी गुप्त ने लगभग दस हजार पुस्तकों का अपना बृहत् पुस्तकालय भी विद्यापीठ को प्रदान कर दिया है। पर इन के रखने के लिए अच्छा मकान न होने के कारण ये सभी पुस्तकें अभी विद्यापीठ में लाई नहीं गई है। अभी लगभग ढाई हजार पुस्तकें वहां से मँगा ली गई हैं और शेष मकान बनते ही आजायेंगी। इसके सिवा विद्यापीठ ने अलग से भी लगभग डेढ़ हजार पुस्तकें खरीदी हैं। पुस्तकालय के साथ-साथ एक वाचनालय भी है, जिसमें हिंदी और अंग्रेजी के अनेक देशी और विदेशी दैनिक, साप्ताहिक एवं मासिक पत्र आते हैं।

इमारत

बनारस छावनी स्टेशन से बिलकुल निकट ही ३३,९००) में कई एकड़ जमीन खरीद ली गई है। इस स्थान से लगी हुई जो मुख्य सड़क स्टेशन से आती है, उसका नाम म्युनिसिपैलिटी ने 'विद्यापीठ रोड' रख दिया है। इस निजी ज़मीन में विद्यापीठ की ओर से दो इमारतें बनाई गई हैं, जिन में से एक में पढ़ाई होती है और पुस्तकालय तथा दफ्तर है, और दूसरी में विद्यालय का छात्रावास।

पाठशाला तथा उसका छात्रावास विद्यालय-भवन से थोड़ी ही दूर पर एक केराये के मकान में स्थित है। दोनों स्थान काफ़ी लम्बे-चौड़े तथा बिलकुल खुले हुए हैं। इनके अन्दर कुछ खेत, बहुत से फलों के पेड़ और फुलवारी है।

बैंक

विद्यापीठ के विद्यार्थियों ने 'कमला-कोष' नाम का एक बैंक खोल रक्खा है। इस बैंक का उद्देश्य है विद्या-

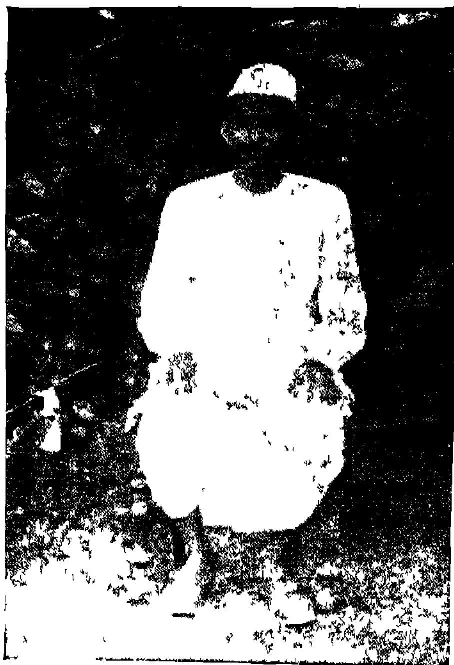
र्थियों को उनकी कठिनाइयों के समय मदद देना। पर यह मदद दान के रूप में नहीं, बल्कि कर्ज के रूप दी जाती है। प्रत्येक संस्था मे कुछ ऐसे विद्यार्थी होते हैं, जिन्हे रुपयों का प्रायः अभाव बना रहता है और कुछ ऐसे होते हैं, जिनके पास काफ़ी रुपये होते है। अस्तु; विद्यापीठ के बैंक को चलाने के लिए ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि जिन विद्यार्थियों के पास जो भी रुपया घर से या कहीं से आवे, वे उन्हे अपने पास या पोष्ट आफ़िस-बैंक मे जमा न करके, विद्यापीठ के 'कनला-कोष' मे जमा कर दिया करें। इसमे यह होता है कि जमा करने वालो का तो कोई नुकसान नहीं होता—क्योंकि उन्हें जिस समय जरूरत पड़ती है, बैंक रुपये देता है—और आर्थिक कठिनाई मे पडे हुए विद्यार्थियो का मजे मे काम चल जाता है। रुपये जमा करने वालो को कोई मुनाफा नहीं दिया जाता, पर कर्ज लेने वालो से नाम मात्र का सूद लिया जाता है। इसकी ओर से विद्यापीठ में ही विद्यापीठ के लोगों की सहूलियत के लिए एक पोस्ट आफिस भी खोला गया है, जहाँ कार्ड, लिफ़ाफे, आदि मिला करते हैं। इस प्रकार विद्यापीठ के इस बैंक के द्वारा विद्यार्थी एक दूसरे को वाञ्छनीय सहायता और सेवा करने के साथ-साथ बैंकिंग की साधारण और व्यावहारिक शिक्षा भी प्राप्त कर लेते है।

समावर्तन संस्कार और शिक्षा-सम्मेलन

अभी तक विद्यापीठ के पांच समावर्त्तन संस्कार (कनवोकेशन) हो चुके है। इनमे क्रमशः आचार्य राजेन्द्र प्रसादजी आचार्य गिडवानीजी तथा आचार्य चिन्तामणि विनायक वैद्य* के दीक्षान्त अभिभाषण हुए हैं। विद्यापीठ ने सन् १९२३ ई० मे एक राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलन का भी आयोजन किया था। यह सम्मेलन २३ फरवरी १९२३ से लेकर ६ मार्च १९२३ तक होता रहा। इसमे तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ पूना, नैशनल मेडिकल कालेज बम्बई, गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद, तिलक कौमी विद्यालय हैदराबाद, पंजाब कौमी विद्यापीठ लाहौर, प्रेम महाविद्यालय वृंदावन, नेशनल मुस्लिम यूनीवर्सिटी अलीगढ, बिहार विद्यापीठ पटना, काशी विद्यापीठ बनारस आदि राष्ट्रीय संस्थाओं के २८ प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इसमें राष्ट्रीय शिक्षा की उन्नति, प्रचार, उससे लाभ आदि कई महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार हुआ। इस सम्मेलन की रिपोर्ट प्रकाशित होगई है। सम्मेलन ने प्रति वर्ष ऐसा एक सम्मेलन करने का निश्चय किया था, पर बड़े खेद की बात है कि उसके बाद से आज तक कोई ऐसा सम्मेलन फिर कहीं न हुआ!

* प्रथम और पांचवे कनवोकेशन के अवसर पर आचार्य भगवानदासजी ने ही दीक्षान्त भाषण किया था। —लेखक

अर्थशास्त्र के अध्यापक

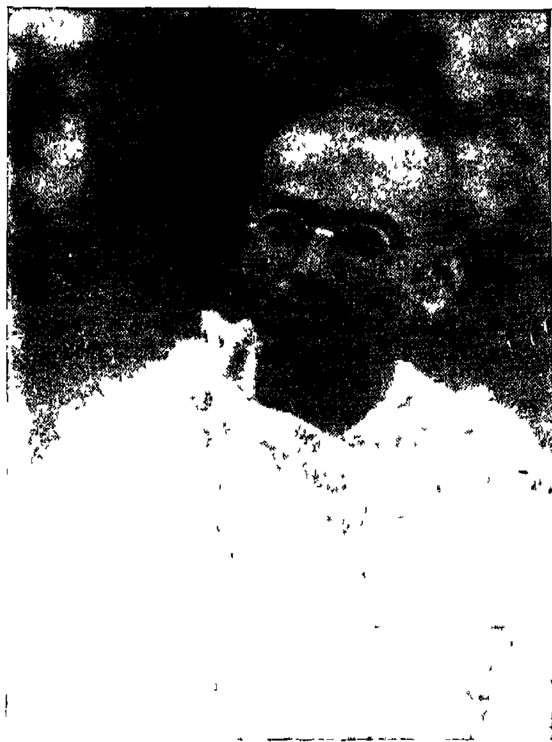


श्री रामशरण एम० ए०, एल०एल० बी०

देश के नेताओं का निरीक्षण

समय-समय पर देश के कतिपय विद्वान्, नेता, और गण्यमान व्यक्ति विद्यापीठ मे आते ही रहते हैं। और यदा-कदा विभिन्न विषय के विशेषज्ञों के व्याख्यानों की भी व्यवस्था की जाती है। अबतक विद्यापीठ को महात्मा गान्धी,

अंग्रेज़ी साहित्य के अध्यापक



श्री योगेश्वर चट्टोपाध्याय एम० एस-सी०

लाला लाजपतराय, आचार्य प्रफुल्लचन्द्रराय, कवि सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर, आदि महानुभाव देख चुके है।

अध्यापक-मण्डल तथा अधिकारि-वर्ग

विद्यापीठ के अधिकारियों में सर्व प्रथम आचार्य भगवानदासजी का नाम उल्लेखनीय हैं। आप की विद्वत्ता न केवल हिन्दुस्थान में बल्कि समस्त ससार में प्रसिद्ध हैं और दर्शन-शास्त्र के ज्ञान की दृष्टि से तो हिन्दुस्थान में आप एक अद्वितीय महापुरुष हैं। शिक्षा के विषय में भी आप के जैसे अनुभवी विद्वान् हिन्दुस्थान में बहुत ही कम मिलेंगे। विद्यापीठ की स्थापना के बाद से कई वर्ष बाद तक आप विद्यापीठ के अध्यक्ष (प्रिन्सपल) पद को सुशोभित कर उसे गौरवान्वित करते रहे। कुछ दिन हुए आपने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया और बनारस छोड़ 'विश्राम' चुनार में रहने लगे। अब विद्यापीठ के कुलपति (चांसलर) आप ही हैं और चुनार में रहते हुए भी सदा विद्यापीठ की उन्नति और उसके हित की बातें बतलाते रहते एव विद्यापीठ के सभी प्रमुख उत्सवों तथा सभा-समितियों में शामिल होते हैं। थोड़े में, आप विद्यापीठ के आधार-स्तम्भ और मार्ग-प्रदर्शक हैं। विद्यापीठ के मंत्री दानवीर श्रीयुत शिवप्रसाद-जी गुप्त है। यह आप की ही देशभक्ति, उदारता और कृपा का फल है कि बनारस मे विद्यापीठ जैसी एक उत्कृष्ट लोकोपकारी सस्था स्थापित है। आपने राष्ट्रीय शिक्षा-प्रचार के लिए दस लाख का स्थायी दान देकर अपनी देश-भक्ति का न केवल पर्याप्त परिचय ही दिया है, बल्कि विद्यापीठ और राष्ट्रीय शिक्षा-प्रेमियो को सदा के लिए ऋणी बना लिया है। आप की उदारता, राष्ट्रीय शिक्षा-प्रेम, नि स्वार्थ सेवा-भावना और त्याग सर्वथा प्रशसनीय एवं अनुकर-णीय है।

विद्यापीठ के अध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेवजी वस्तुत उसकी आत्मा हैं। आपने विद्यापीठ के लिए अपना जीवन ही सम-र्पित कर दिया है। आप जिस धुन, जिस प्रेम, जिस लगन और जिस नि स्वार्थभाव से विद्यापीठ की सेवा कर रहे हैं, उसे देखकर किसी भी विश्वविद्यालय के अध्यक्ष को ईर्ष्या होगी! आप जैसी उत्कृष्ट योग्यता, विद्वत्ता और अनुभव के व्यक्ति को अध्यक्ष बनाने का विद्यापीठ को अभिमान है। भारतवर्ष के प्राचीन तथा अर्वाचीन इतिहास के आप बड़े ही धुरन्धर विद्वान् हैं। प्राचीन भारत के इतिहास मे भी बौद्ध-काल के इतिहास पर तो आपका ऐसा गम्भीर अध्ययन, इतना अधिक प्रवेश और इतनी अधिक विज्ञता है कि मुझे सन्देह है कि इस विषय का ज्ञाता हिन्दुस्तान में आपसे बढ़कर और भी कोई है या नहीं? आप हिन्दी, और अंग्रेज़ी, उर्दू और सस्कृत के जिस प्रकार उत्कृष्ट विद्वान् हैं, उसी प्रकार पाली और प्राकृत के पूरे पण्डित। पर यह सब होते हुए भी अपनी विद्वत्ता का अभिमान आपको छू तक नही गया है। आप का एकदम सरल और सीधा-सादा जीवन देखकर कोई भी यह अनुमान नहीं कर सकता कि आप किसी

विश्वविद्यालय के अध्यक्ष और इतने बड़े भारी विद्वान् हैं। विद्यापीठ के उपाध्यक्ष श्रीयुत श्रीप्रकाशजी विद्यापीठ की सेवा जिस निःस्वार्थ भाव से कर रहे हैं, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। आप क़ानून, विधान, और राजनीति-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् है और विद्यापीठ मे इन्ही विषयों को पढ़ाते हैं। यह विद्यापीठ के कार्य मे अपना बहुत अधिक समय देते तथा विद्यापीठ को अपने जीवन का एक मुख्य कार्य बनाना चाहते हैं। आपके जैसे परिश्रमी, मिलनसार, व्यवहार-कुशल, प्रसन्नचित्त और सावधान व्यक्ति बहुत कम ही मिलेंगे। अर्थशास्त्र के अध्यापक श्री रामशरणजी अपने विषय के अच्छे पण्डित है। पर इसमें भी अधिक महत्त्वपूर्ण तो आपका आदर्श चरित्र है। आपके जैसे आदर्श, व्यावहारिक, सादे, सच्चे और त्यागी व्यक्ति बहुत ही कम मिलेंगे। आप विद्यापीठ के एक-एक विद्यार्थी को अच्छी तरह जानते, उनका पूरा ख्याल रखते, उनसे बराबर मिलते रहते और हर प्रकार से उन्हें शिक्षा देते रहते है। आपका जीवन इतना नियमित, व्यावहारिक, संयत और श्रेष्ठ है कि वही एक श्रेष्ठ शिक्षणालय का काम करता रहता है। अंग्रेजी और दर्शन के अध्यापक श्रीयुत योगेश्वर चट्टोपाध्याय भी जिस प्रकार अपने विषय के पण्डित हैं, उसी प्रकार अपनी निस्पृहता, सादगी और त्यागमय जीवन के लिए प्रसिद्ध हैं। विद्यार्थियों के लिए आपकी बातें ऐसी उपयोगी, उत्साह-वर्द्धक तथा साहस दिलाने वाली होती हैं कि उनमें सदा जीवन और जागृति की उथल-पुथल मची रहती है। आप में एक ऐसा तेज है कि लोग उससे अभिभूत हो जाते है। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक श्रीयुत सम्पूर्णानन्द जी पाश्चात्य दर्शन और अन्तर्राष्ट्रीय विधान पढ़ाते हैं। पर आप एकमात्र दर्शन वा अन्तर्राष्ट्रीय विधान के ही विद्वान् नहीं, बल्कि विज्ञान, अंग्रेजी और इतिहास में भी पर्याप्त योग्यता रखते हैं। श्रीयुत बीरबलसिंह जी विद्यापीठ के रजिस्ट्रार है, साथ ही आप यूरोप का इतिहास भी पढ़ाते हैं। विद्यापीठ की स्थापना से आज तक बराबर आप उसकी सेवा करते आ रहे हैं। आपका सीधापन और नम्रता प्रशंसनीय है। विद्यालय के अन्य प्रमुख अध्यापकों में प्राच्य-दर्शन के अध्यापक पं० गोपालप्रसादजी शास्त्री, दर्शन-केसरी, पं० रुद्रदेवजी वेदाचार्य और श्री मुकुन्दीलाल जी श्रीवास्तव के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

विद्यापीठ के स्नातक

असहयोग के बाद उसकी जो प्रतिक्रिया शुरू हुई, उसका सामना करते हुए भी विद्यापीठ केवल पाँच वर्षों में ४२ स्नातक अपने यहाँ से तैयार कर देश को दे चुका, यह उसके लिए कम सन्तोष की बात नहीं है। साथ ही यह भी बड़े सन्तोष की बात है कि विद्यापीठ के प्राय सभी स्नातक (शास्त्री) देश के कामों में लगे हुए जीवकोपार्जन कर रहे हैं। असहयोग के जमाने में देश के जितने लोगों ने स्वार्थ-त्याग किया, उनमे विद्यार्थियों का त्याग सबसे बड़ा समझा जायगा। और उनमें भी वे असहयोगी विद्यार्थी जो माता-पिता के क्रोध-पात्र बनने के कारण अनेक कठिनाइयों को सहते हुए भी चार-चार, पाँच-पाँच

पीटस्थविर



श्री बीरबलसिंह बी० ए०

वर्षों तक अपने व्रत पर दृढ़ रह कर राष्ट्रीय विद्यालयों मे अपने को देश की सेवा के योग्य तैयार करते रहे, सर्वथा प्रशंसा के पात्र समझे जायँगे। विद्यापीठ को उन्हें ऐसी शिक्षा देने का श्रेय प्राप्त है कि आज वे भले ही अधिक रुपया न कमा सकें, पर देश के लिए मर मिटना जानते हैं। राष्ट्रीय शिक्षा का यही महत्व और राष्ट्रीय विद्यालयों की यही विशेषता है।

विद्यापीठ से उत्तीर्ण ४२ शास्त्रियों मे ४ शास्त्री इस समय विद्यापीठ ही मे अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। ५ शास्त्री लाला लाजपतरायजी की 'लोक-सेवक-समिति' के आजीवन सदस्य हो गये हैं, जिनमें दो मेरठ और मुजफ्फरनगर में अछूतोद्धार का कार्य, एक कानपुर मे वहां की मजदूर सभा के प्रधान मंत्री की हैसियत से मजदूरों के सघटन का कार्य, और दो लाहौर में ही सोसाइटी की ओर से अन्य कार्य कर रहे हैं। ६ शास्त्री हिन्दी और अंग्रेजी के प्रमुख राष्ट्रीय पत्रों में सम्पादन-कार्य कर रहे हैं। तीन शास्त्री अखिल भारतीय चर्खा-संघ के अधीन खद्दर-प्रचार का कार्य कर रहे हैं। ५ शास्त्री विभिन्न स्थानों के राष्ट्रीय उच्च विद्यालयों के प्रधानाध्यापक और इन्सपेक्टर का कार्य कर रहे हैं। एक शास्त्री जर्मनी जाने के विचार से 'शान्ति निकेतन' में जर्मन और बौद्ध धर्म का विशेष अध्ययन कर रहे हैं। एक शास्त्री बिहार में परदा-प्रथा के विरुद्ध जबर्दस्त आन्दोलन के पीछे पड़े हुए है। एक शास्त्री ताता कम्पनी जमशेदपुर मे एक विभाग के असिस्टेन्ट सुपरिन्टेन्डेन्ट हैं। इनके सिवा कई शास्त्री अपने गाँवों में घर के कामों के साथ-साथ ग्राम-सघटन का कार्य करते, कुछ बड़े पैमाने पर खेती करते, और कुछ अन्य सामाजिक कामो में लगे हुए हैं। कुछ शास्त्री अभी खाली भी हैं, जो शीघ्र ही किसी-न-किसी काम में लग जायँगे। उपरोक्त विवरण को पढ़ने से पाठकों को पता लग जायगा कि विद्यापीठ के स्नातक किस प्रकार देश के विभिन्न क्षेत्रों में काम कर रहे हैं। इन शास्त्रियों में कइयों ने विद्यापीठ से निकलने के बाद के बहुत थोड़े समय में ही अपने चरित्रबल, योग्यता और कार्यपटुता का इतना अच्छा परिचय दिया है कि भविष्य में उनसे बहुत बड़े-बड़े कार्यों की आशा होने लगी है।

प्राच्य-दर्शन के अध्यापक



५० गोपालप्रसाद शास्त्री

विद्यापीठ की आय

विद्यापीठ को चलाने के लिए उसकी सर्व-प्रधान आय 'श्री हरिप्रसाद शिक्षानिधि' के सूद की रकम है, जो लगभग पाँच हजार रुपये मासिक है। इससे ही सब खर्चों के बाद लगभग अस्सी हजार रुपये खर्च करके ज़मीन खरीदी गई है और दो अच्छी-अच्छी इमारतें भी बनवा ली गई हैं। इसके सिवा बनारस के श्री दामोदर जी जोशी शुरू से ही विद्यापीठ को १२००) वार्षिक देते आ रहे हैं और श्री भगवानदासजी के यहाँ से भी कुछ नियमित सहायता मिलती रहती है। साथ ही मौके बमौके ये लोग विद्यापीठ की कुछ यो भी सहायता करते है। विद्यापीठ मे अधिक से अधिक किसी अध्यापक को डेढ़ सौ रुपया मासिक पुरस्कार दिया जाता है। विद्यापीठ के उपाध्यक्ष श्री श्रीप्रकाश बिलकुल अवैतनिक रूप से शुरू से ही विद्यापीठ की सेवा कर रहे हैं।

कुछ फुटकर बातें

विद्यापीठ ने अपना कार्यक्षेत्र अपने विद्यालय और पाठशाला तक ही महदूद न रख कर और अधिक विस्तृत कर रक्खा है। पिछले वर्ष से उसकी ओर से विभिन्न महत्वपूर्ण विषयों पर सार्वजनिक व्याख्यानों द्वारा सर्वसाधारण को भी लाभ पहुँचाया जा रहा है। पिछले वर्ष आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री श्रीप्रकाशजी, श्री वीरबलसिंह, श्री रुद्रदेव और श्री मुकुन्दीलाल के क्रमशः बौद्धकालिक भारत, राजनीति-शास्त्र, यूरोपीय इतिहास, वैदिक सभ्यता और हिन्दी पर महत्वपूर्ण व्याख्यान हुए थे।

विद्यापीठ के अध्यापक तथा विद्यार्थी सदा बड़े उत्साह और उमंग के साथ बनारस के प्रत्येक सामाजिक तथा राजनैतिक—खास कर राजनैतिक कार्यों मे भाग लेते रहते हैं। कांग्रेस के मेम्बर बनाने, खद्दर-प्रचार, ग्रहण आदि अवसरों पर यात्रियों की सेवा आदि काम विद्यापीठ के विद्यार्थी बराबर करते हैं। समय-समय पर अध्यापक तथा विद्यार्थी सारनाथ, नालन्द, राजगिरि आदि ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा भी करते हैं, जिससे न केवल उनका मनोरंजन ही होता है, बल्कि विद्यार्थियों को बहुत सी साधारण ज्ञान की एवं ऐतिहासिक बातें मालूम हो जाती हैं। समय-समय पर विद्यापीठ मे मनोरंजन के लिए गायन-वादन, कवि-सम्मेलन और नाटक भी होते हैं। होली के अवसर पर यहा जो आनन्दोत्सव मनाया जाता है, वह तो बड़ा ही सुन्दर और मनोहर होता है। उसमें अध्यापक लोग भी अपने सुन्दर-सुन्दर गाने बड़े मुग्धकारी ढंग से सुनाते हैं। सहभोज तो विद्यापीठ की एक खास बात होगई है। विद्यापीठ के वार्षिकोत्सव और उपाधि-वितरणोत्सव (कनवोकेशन) के अवसर पर प्रतिवर्ष बड़े-बड़े सहभोज होते है। श्रीयुत शिवप्रसादजी ने लगभग १५ हजार रुपये खर्च करके संगमरमर पत्थर पर हिन्दुस्थान का एक मानचित्र बनवाया है। यह चित्र भारतीय शिल्पकारों के ही हाथों बनाया गया है। इसमे हिन्दुस्थान के सभी पहाड़, नदियाँ, झरने आदि सुचारु-रूपेण दिखलाये गये हैं। इस चित्र को रखने के लिए आप विद्यापीठ के पास ही एक भारत-माता का मन्दिर बनवा रहे है। पारसाल इस मन्दिर का नींव पड़ गई और अब शीघ्र ही वह तैयार भी हो जायगा। इस मन्दिर मे किसी भी वर्ण वा जाति के व्यक्ति को जाने का निषेध न होगा, पर मन्दिर मे प्रवेश करते वक्त सब को जूता निकाल देना पड़ेगा।

संस्कृत के अध्यापक



पं० रुद्रदेव वेदाचार्य

उपसंहार

विद्यापीठ अपने साधारण साधनों से देश-सेवक युवकों को सब प्रकार के राष्ट्रीय कामों के लिए तैयार करके, सार्वजनिक हित के लिए पुस्तके प्रकाशित करके, तथा सुलभ व्याख्यानों का प्रबन्ध करके देश की उन्नति के लिए यथा-साध्य प्रयत्न करता आरहा है। इसे अपने इस प्रयत्न में कहांतक सफलता मिली है, यह आज प्रत्येक व्यक्ति के सामने साक्षात् प्रकट है।

देवव्रत शास्त्री

मातृ-वन्दना

तेरी मृदुल मनोहर मूरत,
करती शिशुगण के हिय मोद।
सकल सौख्य दाता दुख-त्राता,
है वह तेरी प्यारी गोद!
निर्धन की सम्पति है तूही,
आशाहीन की है तू आश,
तू ही उपजाती भावों को,
भरती उर मे विमल प्रकाश!
रसना का आभूषण तू है,
सत्य स्नेह की तू आधार,
है तू सुखद मञ्जु ऊषा-सी,
गाथाओं की है तू सार!
सुखमय गोदी मे बिठलाकर,
ताप सभी का हर माता!
सरस-सुकवि-निर्मल-मानस मे,
भव्य भावना भर माता!

ब्रह्मदत्त मिश्र



शिक्षा-समस्या

(१)

श्री सुब्बैया कामठ, अपनी 'सेन्सस ऑफ़ इण्डिया' नामक पुस्तक मे, लिखते हैं—

"भारत की कुल आबादी मे प्रत्येक सहस्र (१०००) व्यक्तियो मे सिर्फ ५२ ऐसे शिक्षित हैं कि जो साधारण चिट्ठियाँ लिख-पढ सकते है, और, स्त्री-पुरुषो मे इस साक्षरता का विभाजन बडा असमान है। जहाँ प्रति सहस्र पुरुषों मे १०६ पुरुष लिखपढ़ सकते है, वहाँ स्त्रियाँ प्रतिसहस्र केवल १० ही ऐसी स्थिति को पहुँचने का कोई दावा कर सकती है। विभिन्न प्रान्तों में तो यह प्रगति निश्चय ही बड़ी अ-समान है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है—

प्रति सहस्र में साक्षरों की संख्या

प्रान्त या राज्य	साक्षर व्यक्ति	पुरुष	स्त्री
ब्रिटिश भारत	६२	११०	११
आसाम	४७	८६	६
बंगाल	७७	१४०	११
बिहार	३९	७६	४
बम्बई	६९	१२०	१४
ब्रह्मा	२२२	३७६	६१
मध्यप्रान्त	३३	६२	३
मद्रास	७५	१३८	१३
पंजाब	३७	६३	६
संयुक्तप्रान्त	३४	६१	५
बड़ौदा	१०१	१७५	२१
हैदराबाद	२८	५१	४
मैसोर	६३	११२	१३
त्रावणकोर	१५०	२४८	५० "

विभिन्न धर्मावलम्बियों मे प्रतिसहस्र पीछे साक्षर स्त्री-पुरुषों की संख्यायें वह इस प्रकार बतलाते हैं—

धर्म	साक्षर व्यक्ति	पुरुष	स्त्री
समस्त धर्मावम्बी	५९	१०६	१०
जरतुश्त (पारसी)	७११	७८२	६३७
ब्रह्मसमाजी	६९६	७३९	६४८
जैन	२७५	४९५	४०
आर्यसमाजी	२६०	३९४	९२
बौद्ध	२२९	४०५	५८
ईसाई	२१७	२९३	१३९
सिख	६७	१०६	१४
हिन्दू	५५	१०१	८
मुसलमान	३८	६९	४
नास्तिक	५	११	१

ये अङ्क सन् १९११ की मर्दुमशुमारी के है। नये अक (सन् १९२८ मे प्रकाशित श्री पी० टी० चन्द्र के 'इण्डियन साइक्लोपीडिया' के अनुसार) इस प्रकार है—

प्रति सहस्र मे साक्षरों की सख्या

प्रान्त या राज्य	साक्षर व्यक्ति	पुरुष	स्त्री
भारत	८२	१३९	२१
आसाम	७२	१२४	१४
बिलोचिस्थान	४७	७६	७
बडौदा	१४७	२४०	४७
बंगाल	१०४	१८१	२१
बिहार-उडीसा	५१	९६	६
बम्बई	९५	१५७	२७
ब्रह्मा	३१७	५१०	११२
मध्यप्रान्त-बरार	४९	८७	९
कोचीन	२१४	३१७	११५
हैदराबाद	३३	५७	८
काश्मीर	२६	४६	३
मद्रास	९८	१०३	२४
मैसोर	८४	१४३	२२
सीमाप्रान्त	२०	८०	१०
पंजाब-दिल्ली	४६	७६	९
त्रावणकोर	२७९	५८०	१७२
संयुक्तप्रान्त	४२	७३	७

धर्मानुसार (प्रतिसहस्र)

धर्म	पुरुष	स्त्री
जरतुश्त	७८९	६७२
जैन	५१४	५६
बौद्ध	४८४	६६
ईसाई	३०९	१८०
हिन्दू	११०	१४
सिख	९४	१४
मुसलमान	८१	७

इसके अनुसार "समस्त भारतवर्ष में प्रत्येक १०० व्यक्तियो में सिर्फ १४ लिख-पढ़ सकते है। पुरुषों मे १४ प्रति शत साक्षर है, और स्त्रियाँ प्रति सैकडा २ साक्षर है।"

'टाइम्स' की ईयर बुक (१९२१) के अनुसार, "भारत मे चिट्ठी लिख-पढ़ सकने वाले शिक्षितो की सख्या है २२,६००,००। इनमे से ५ वर्ष मे कम-उम्र बच्चो को यदि छोड़ दें तो कुल जन सख्या मे, इसमे, शिक्षितो का औसत पड़ता है ७५ प्रति सहस्र। ५ वर्ष से अधिक अवस्था वाले पुरुष तो प्रति सहस्र १३० साक्षर है, और स्त्रियो प्रति सहस्र २१ साक्षर है। × × × हिन्दुओ मे प्रत्येक १३ व्यक्तियों पीछे १ व्यक्ति शिक्षित है, इसमें पुरुषो का अनुपात ८ मे १ है, और स्त्रियो का ६३ में १ है। मुसलमानों में पुरुष प्रत्येक ११ पीछे और स्त्रिया प्रत्येक ११६ पीछे १ के हिसाब से लिख पढ़ सकते है।"

सन् १९१९-२० से १९२०-२१ तक के वर्षो मे भारत में स्त्री-शिक्षा की जो गति रही, उसका अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है—

	१९१९-२०	१९२०-२१	१९२१-२२	१९२२-२३	१९२३-२४	१९२४-२५
क्षेत्रफल (वर्गमील)	१०८८८०७	१००८८६१	१०९१२२९	१०९२६१ (?)	१०५२६३८	१०९१३४७
जन-संख्या	२४४०२०१००	२४४८३४६१६	२४७०९७६५१	२४७१०३८८७	२४७१०७३४१	२४७०९७५०६
स्त्रियाँ	११९२७२२९५	११६३४०८०५	१२०१९५४३१	१२०१८५०३४	१२०१८७५०५	१२०१८३३१०
स्त्री-संस्थायें						
आर्ट्स कालेज	१२	१२	१५	१४	१४	१६
हाइस्कूल	२०३	१९८	२०८	२३०	२३७	२३६
प्राइमरी स्कूल	२१७५६	२२४६१	२२६३५	२२९२०	२३५८३	२४६७७
स्त्री-छात्र						
कालेजों मे	१०२४	११५३	१२६३	१४८७	१६२२	१८०७
हाइस्कूलों मे	३४०६३	३३९१५	३६६९८	४०६५२	४४१७०	४७३९०
प्राइमी स्कूलों मे	११७६५३३	१२१०७५४	११९८७५०	१२२०४९५	१२६४८१४	१३२४००२
कुल स्त्री-संख्या में स्त्री-छात्राओं का प्रतिसैकड़ा औसत	१ १	१ १	१ १२	१ १४	१.१९	१ २४

स्त्री-शिक्षा के विस्तृत ब्यौरे के लिए सन् १२९५ के निम्न अङ्क देखिए —

	संस्थायें	विद्यार्थिनियाँ
(स्वीकृत संस्थायें)		
आर्टस् कालेज	१६	१२००
प्रोफेशनल,,	७	१७३
हाइस्कूल	२३६	४३६९२
मिडल स्कूल	२६८	७७०५१
प्राइमरी ,,	२४६०७	८७५२३७
स्पेशल ,,	३०१	११०७३
अस्वीकृत संस्थायें	२५७५	५५२०८

इसके बाद सन् १९२६-२७ मे ('India in 1926-27' के अनुसार) "भारत की कुल १२ करोड़ स्त्रियों मे १७ लाख, अर्थात् कुल संख्या के दसवें हिस्से से कुछ अधिक, स्त्रियाँ शिक्षा पा रही थीं — १४ लाख प्रारम्भिक शालाओं में, और २ हजार से कुछ ज्यादा विश्वविद्यालय के महाविद्यालयों मे। लड़कियों की शिक्षा-संस्थाओं (स्कूल-कालेजों) की संख्या १९२४ मे जहाँ २७४३५ थी, वहाँ १९२५ मे वह २८५५४ हुई, और १९२६ में २९८४६ हो गई।"

उक्त रिपोर्ट के लेखक, भारत के सरकारी प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष, कोटमैन साहब की राय में "स्पष्टतया यह प्रगति उत्साहप्रद है।" और इसका कारण वह बतलाते है, "लोगों की दिन ब-दिन बढ़ती जानेवाली जागृति पुरानी रूढ़ियों को तोड़ने की ओर उन्हें प्रेरित कर रही है। स्वयं स्त्रियाँ भी अपनी माँ दादियों की परम्परागत असाक्षरता से कम सन्तुष्ट मालूम होती है।" इसी कारण, उनके शब्दों में, "स्त्री शिक्षा तथा प्रारम्भिक शालाओं मे लड़के-लड़कियों की साथ साथ पढ़ाई (Co-education) लोकप्रिय होती जा रही है, स्त्रियों के स्कूल-कालेजों में वृद्धि हो रही है, शारीरिक शिक्षा, खेल-कूद एवं अक्षर ज्ञान की शिक्षा के लिए स्त्रियों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, और, शायद इस सबसे बढ़ कर बात यह है कि, इस सुदिशा में खब आन्दोलन जारी है।"

मुकुटबिहारी वर्मा

स्त्री-शिक्षा

(१)

स्त्रियो की शिक्षा के विषय मे आजकल बहुत कहा और लिखा जाता है। स्त्रियो के स्वातन्त्र्य की आवाजभी चारो ओर सुनने मे आती है। स्त्रियो के साथ बडी सहानुभूति दिखाई जा रही है—और, यहाँ तक स्पष्ट कहा जा रहा है कि पुरुषो की एक जाति ने स्त्रियो की दूसरी जाति के साथ बड़ा अन्याय किया है। विचार करने से वर्तमान युग जाति-कलह का युग मालूम पड़ता है और दूसरे वर्गों के साथ साथ स्त्री–वर्ग और पुरुष–वर्ग मे भी परस्पर संघर्ष का सा वातावरण दिखाई दे रहा है।

आज कल भारतवर्ष में स्त्री-समाज की दशा कई प्रकार से शाचनीय है—और वे प्रकार तो सभी के जाने हुए हैं। परन्तु मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि पुरुष-जाति ने जान-बूझ कर स्त्री-जाति पर अन्याय किया है। किसी जगह तो यह भी लिखा हुआ देखा था कि शास्त्रो और नियमो की रचना बहुधा पुरुषों ने ही की है, इसलिए उन्होंने सब कुछ अपने ही अनुकूल बना लिया। इस प्रकार की बातो पर मुझे कुछ भी श्रद्धा नहीं होती है। यदि किसी पुरुष-विशेष ने किसी स्त्री-विशेष पर अत्याचार किया होगा, तो किसी स्त्री-विशेष ने पुरुष-विशेष के साथ भी अति की होगी। मूर्ख से मूर्ख जो पुरुष हैं, वे भी मेरी समझ मे तो अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार स्त्रियो के साथ श्रद्धा व्यवहार करते आये हैं—और आज पर्दे और भारी आभूषणों की प्रथाओं के मूल मे कैसी भी मूर्खता समझी जावे, पुरुष स्त्रियो के साथ अन्याय करने के अभिप्राय से उनपर पर्दा और आभूषण लादते हो, यह बात तो नही जँचती है।

स्त्री और पुरुष दोनों के शरीर की रचना मे स्वाभाविक भेद है और यह भी जान पड़ता है कि दोनो के कार्य का विभाग भी स्वभावत ही हो रहा है। सृष्टि की रचना बन्द कर देना हो तब तो बात ही दूसरी है—बाक़ी यदि सन्तानोत्पत्ति करना सामान्यत आवश्यक और उचित समझा जायगा तो सन्तान के पालन-पोषण का कार्य स्त्रियो के लिए बडे मार्के का है। सामान्यतया स्त्रियो का कार्य-क्षेत्र घर ही मान लिया जाय, तो फिर स्त्रियो को कैसी शिक्षा दी जाय, यह बताना विशेष कठिनाई का कार्य नहीं है। जो बालिकाये यावज्जीवन ब्रह्मचारिणियाँ रहना चाहती हो, जिन्हे सन्तानोत्पत्ति नहीं करना हो, वे चाहे जितनी उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकती हैं और चाहे जिस क्षेत्र मे कार्य कर सकती हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि सर्वसाधारण स्त्रियो के लिए शिक्षा का ध्येय क्या रक्खा जाय ?

मेरे सामने यह प्रश्न विशेष रूप से इसलिए आता है कि मुझको बच्चो के पालन-पोषण तथा अन्य गृहस्थी के कार्यो का सार्वजनिक कार्यों से विरोध स्पष्ट मालूम पड रहा है। सभी स्त्रियो को पुरुषो जैसी शिक्षा दी जाय और वही क्रम और वही ध्येय रक्खा जाय, यह बात मेरा सन्तोष नहीं कर सक रही है। आजकल के स्कूल–कालेजो की शिक्षा प्राप्त करके स्त्रियाँ घर के कार्यो के लिए कम उपयुक्त होगी, वास्तव मे मुझको यह सन्देह है। और साधारणतया सब परिवारो के लिए यह संभव ही नही होगा कि स्त्रियाँ खुद के घर का काम न करे और उस काम के लिए सेवक या सेविकाये रख ली जायँ। अभी कुछ दिन पहले ही बहुत से अंग्रेज बालको को हिन्दुस्थानी दाइयों के साथ बाहर

मे घूमते हुए मैंने देखा तो मुझे खयाल हुआ, इन बालको की मातायें भी कही बाहर सैर करने को गई होंगी। एक ओर स्त्रियाँ शिक्षित होती जायें और दूसरी ओर स्त्रियो मे से ही दाइयो का वर्ग बनता जाय, यह बात भारतवर्ष के लिए तो निभनी हुई अथवा कम से कम जँचती हुई नही दिखाई देती।

स्त्रियाँ घर के भीतर गृहस्थी का काम कर और अपने बच्चो का पालन-पोषण करें, और स्त्रियो को इन कामो की पर्याप्त शिक्षा दिलाने का समुचित प्रबन्ध हो, पर्दा आदि हानिकर प्रथायें उठा दी जायँ, कुछ स्त्रियाँ जो गृहस्थाश्रम मे जाना ही न चाहती हो वे केवल उच्च शिक्षा प्राप्त करें, तो क्या इसमे स्त्रियो के साथ अन्याय होगा? क्या स्त्री-पुरुषो के समानाधिकार होने से यह तात्पर्य है कि जैसे शिक्षा प्राप्त करने आदि का पुरुषो का अधिकार है वैसे ही स्त्रियो को हो जाय—जो योग्य पुरुष-स्त्री होगे वे आगे बढ जायेंगे और अयोग्य स्त्री-पुरुष दोनो ही पीछे रह जायेंगे?

आजकल की शिक्षा-पद्धति ने तो पुरुषो के लिए ही अनेक समस्यायें खड़ी कर रक्खी हैं। इस पद्धति मे पुरुष ही जीवन-संग्राम के योग्य नही बन रहे हैं। उसी पद्धति मे स्त्रियाँ जाकर योग्य होंगी, यह सन्देहास्पद ही है।

सभव है, इसी प्रकार तर्क-वितर्क दूसरे विचारको के मन मे भी उठ रहे हो। इनको लिखने से मेरा प्रयोजन यह है कि जिन सज्जनो ने इस विषय मे अपने विचार सर्वथा निश्चय कर लिये है वे 'त्याग-भूमि' मे लिखने की कृपा करें। इस विषय मे थोडा विचार-विनिमय कर लेना कुछ समय से मुझको आवश्यक मालूम हो रहा है।

हीरालाल शास्त्री

---

(२)

यह विषय बहुत विस्तृत है और बड़े-बड़े विद्वानों ने शास्त्रीय रीति से इसपर अपने विचार प्रकट किये हैं। आधुनिक शिक्षा-पद्धति के दोष और उसको जारी रखने का कारण अब सब की समझ मे आ चुका है। पुरुषवर्ग की बनिस्बत स्त्री-वर्ग के हाथ मे देश का भविष्य विशेषत निर्भर है, अत. आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की बुराइयों से उन्हे बचाना हमारे लिए परम आवश्यक है। साक्षरता और सुसंस्कृतता दोनो पुरुष हो,या स्त्री,सबके लिए आवश्यक है। आक्षेप यदि है तो उसके लिए जो साधन व रीति अख़्त्यार की जाती है,उसपर है। ग्वालियर राज्य मे 'कन्या-धर्म-वर्धिनी सभा' नाम की संस्था स्त्री-शिक्षा का बहुत-कुछ कार्य कर रही है। उसका एक सदस्य होने के कारण, मुझे उसके कार्य का थोडा-बहुत परिचय होता रहता है। अंग्रेजी शासन-प्रणाली की नकल ही करीब-क़रीब सभी रियासतों मे की जाती है। लेकिन नकल करते हुए भी इस विपरीत परिस्थिति मे हमे थोडा-बहुत अपनापन रखने की चेष्टा करनी चाहिए। कई लोगों का यह आक्षेप है कि हममें पुराण-प्रियता (पुराने ही पुराने की धुन) बहुत है। बुरी बाते पुरानी हैं, इस वजह से ही हम उन्हे अपनावें, यह कदापि नही कहा जा सकता। लेकिन मैं तो समझता हूँ कि इस विपरीत स्थिति मे पुराण-प्रियता के कारण ही हमारा वैशिष्ट्य थोड़ा-बहुत कायम रह सका है। गतभर्तृका स्त्री जैसे अपने स्त्री-धन को बहुत फिक्र के साथ सम्हालती है, वैसे ही पराधीन देश अपनी पुरानी संस्कृति को इस पुराण-प्रियता के साधन से ही सम्हाल सकता है। इसमे स्वाभिमान की ज्योति है। उस ज्योति को हम न बुझा दें, इसकी फ़िक्र जरूर रखनी चाहिए।

अंग्रेजी राज्य होने पर हममें शिक्षा ज्यादा बढ़ी, इस बात की अप्रामाणिकता अब सबको मालूम हो चुकी है। यही स्त्री-शिक्षा के बाबत भी कहा जा सकता है। पुराण, रामायण, महाभारत आदि कथाओ द्वारा जो शिक्षा हमारी स्त्रियो को पहले मिलती थी, वैसी शिक्षा अब नही मिलती, इसको कई लोग मान रहे हैं। आधुनिक शिक्षा से परावलबित्व व स्वाभिमानशून्यता हममे बढ गई, यह निर्विवाद है। शिक्षा का उद्देश है सच्चरित्रता, और वह धार्मिकता की नीव पर ही उठ सकती है। हमारी उस शुद्ध परम्परा को छोड़ स्वाभिमान की ज्योति नष्ट करने वाली, अर्थात् हर तरह अहितकर, इस आधुनिक शिक्षा-प्रणाली को कम से कम स्त्रियो मे तो हमे शीघ्र बन्द कर देना चाहिए। सीता और सावित्री आदि देवियो का आदर्श क़ायम रखना, द्रौपदी या जीजाबाई की व्यावहारिकता बढ़ाना, आलस्य व निरुपयोगिता दूर करना—अर्थात् फिर से सूत कातने के काम को उनमे जारी करना, यह हमारा उद्देश होना चाहिए।

अध्यापकवर्ग, कथा-पुराण कहने वाले तथा साधु-बैरागी हमारी परम्परा क़ायम रखने के साधन थे। लेकिन जिन्हे हम अच्छा साधन बतला चुके, उन्होमें पहले हमको काम करने की ज़रूरत है। एक तरफ इन साधनो की मूढता और दूसरी तरफ आधुनिक शिक्षा की अश्रद्धा व फैशन का "इन्द्र-जाल"—इससे देश को कैसे बचाया जावे? यह एक जटिल समस्या है। लेकिन "निर्बल के बल राम" यह महात्मा गाधी का सुन्दर मन्त्र हमे बहुत कुछ बल दे सकता है। खादी जैसा सरल साधन जितना हम ज्यादा अपनावेंगे, ऊपर बतलाये हुए सब वर्गों मे स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की उतनी ही ज्योति वृद्धिगत होगी और हमारा स्त्री-वर्ग उद्योगशील बन कर इष्ट साध्य को पा सकेगा। उसके बाद ही धार्मिक व सामाजिक सुधारो की दिशा मे हमे यश मिल सकता है। यदि पुरुषवर्ग खादी का ही वस्त्र पहनें तो स्त्रियो पर उसका ज़रूर असर पडेगा। फैशन का भूत भाग कर सामान्य जनता के प्रति हमारे दुर्व्यवहार रुक जायेंगे। दांभिकता दूर होने से श्रद्धा का ज़ोर बढेगा। केवल बुद्धि-बल पर ज़ोर देकर हम काफी नुकसान उठा चुके हैं। उद्योगशीलता और श्रद्धा के बगैर बुद्धिबल पगु साबित हो चुका है। अत यदि हमे स्त्री-शिक्षा चाहिए तो वह इसी प्रकार होनी आवश्यक है।

त्र्यम्बक दामोदर पुस्तके

चिता-भस्म

(क)

"बादलो के देश मे यह नगारे कैसे बज रहे हैं, दीदी?" पूर्णिमा ने पूछा। उसकी आँखो मे हृदय की वेदना झलक रही थी। ओठों पर विषाद की गम्भीर कालिमा थी।

नैना ने उसकी ओर देखा। खिडकी के पास ही, कार्पेट पर, वह बैठी हुई थी। उसने देखा, पूर्णिमा की आँखो मे जो कातरता है, वह हृदय की जली हुई कामनाओ का भस्मावशेष के अतिरिक्त और कुछ नही है। पूर्णिमा के हृदय की व्यथा नैना से छिपी न रह सकी। उसकी आँखे छलछला आई। बोली - "यह नगारे नही है पूर्णा बादलो के हृदय का हाहाकार है। तड़प रहा है। वे भी तुम्ही-से दुखिया हैं। बरस चुके हैं, गरज रहे हैं। आँखो का जल सूख जाने पर हृदय ही रोया करता है, और वह रुलाई कितनी करुणापूर्ण होती है—कितनी मर्मभेदिनी!"



पूर्णिमा ने आसमान की ओर देखा। उसकी दृष्टि मे सहानुभूति थी, और थी वेदना की पीड़ा। उच्छ्वसित स्वर मे, धीरे-धीरे, वह बोल उठी—"निरुद्देश्य धरणी पर बरस पड़ते हो, मेघ! मानो, तुम्हारे जीवन का कोई मूल्य ही नहीं, कोई उपयोग ही नहीं? आ! अभागे काले बादल!"

सावन की वह एक सन्ध्या थी, सूनी और धूमिल। अपना जल पृथ्वी पर छिडक कर भारहीन बादल आसमान मे टहल रहे थे। पश्चिम-क्षितिज के अन्तराल में छिपे हुए सूर्य, अपने अरुण-किरणों की डोरी से, जहाँ-तहाँ उगे हुए तारों की माला गूँथ रहे थे। अपने स्वर मे यौवन का उन्माद भर कर चिड़ियाँ गा रही थीं। और, पूर्णिमा अपनी वेदना-भरी आँखों से चुपचाप प्रकृति की यह क्रीडा देख रही थी।

वह देखती थी, और, तब तक देखती ही गई जब तक सन्ध्या के घने अन्धकार ने उसकी देखने की शक्ति लुप्त न कर दी। जब सुन्दरी निशा ने ससार को अन्धकार की काली चादर ओढ़ा दी, आसमान में अनार के दाने-से तारे बिखर गये और दूज का धुधला चन्द्रमा प्रकाशित हो उठा तो पूर्णिमा खिड़की से उठ खड़ी हुई। शरीर मे उसके आलस्य था, प्राणों मे उदासी। नैना के कन्धे पर हाथ देकर उसने पूछा—"सचमुच ही क्या बाबू जी ने सन्यास ले लिया है दीदी?"

"हाँ बहन!"—गम्भीरता से नैना ने सिर हिलाया। बोली—"उनका सारा जीवन दुःखों और विपत्तियों की लड़ाई में बीता है। प्रारब्ध की चोट सहते-सहते अब उनमे सहने की शक्ति न रह गई थी। उन्होंने सोचा था, तुम्हे सुखी देख कर वह अपना सारा दुःख भूल सकेंगे। सुखी हो सकेंगे। इसीसे, बड़े हौसले से तुम्हे पाला, बड़े उत्साह से तुम्हारी शादी की। पर, हाय रे भाग्य! वहाँ भी उसने साथ न दिया। न जाने किस कु-साइत मे तुम्हारा पैर इस घर मे पड़ा। तुम भी सुखी न हो सकीं। उनकी रही-सही आशा का कच्चा धागा भी टूट गया। उनके कलेजे मे मरुभूमि की ज्वाला धधक उठी। हाँ, इसीसे वह सन्यासी हो गये है। उनके असफल जीवन का और उपयोग ही क्या हो सकता था बहन?"

"दीदी!" भर्राई हुई आवाज़ मे पूर्णिमा ने पुकारा।

"हाँ, पूर्णा!"

"मै अपना भारमय जीवन लेकर कब तक जीती रहूँगी?"

"यह क्या कहती हो बहन! ऐसा भी कहते हैं?"

"नहीं दीदी जीने की हौस अब जी मे नहीं है।"

नैना ने देखा, पूर्णिमा की आँखों से आँसुओं का झरना बह चला है। अपनी गोद मे उसे खींच कर नैना ने आँचल से आँसू पोछ दिये।

(ख)

उस घर मे विद्रोह की वैसी ही आग लहक उठी थी जैसी फ्रान्स मे राज्य-क्रान्ति की। एक भाई दूसरे का गला काट लेना चाहता था, दूसरा जीते-जी उसे निगल जाने को तैयार था। उनमे खून की प्यास थी, और, वे खून पीते भी थे। नैना और पूर्णिमा इसी घर की बहू थी—जेठानी-देवरानी।

शीतल और अनल दोनो भाइयों का नाम था; और, वे अपने नामों के शब्दार्थ को ठीक-ठीक चरितार्थ करते थे। बड़ा भाई शीतल, अनल के हजार उत्पात-उत्पीड़नों को, चुपचाप सह लेता और अपने प्यारे भाई को हृदय से क्षमा भी कर दिया करता था। जीवन प्रेम और ममता मे बीत जाय, यह

उसकी आन्तरिक इच्छा थी। यही उसका स्वभाव था।

अनल का स्वभाव अनल का-सा ही उग्र और दाहक था। उसके हृदय में द्वेष और हिंसा की आग सदा धू-धू करके जला करती थी। कार्य और वाणी दोनो से ही वह शीतल को जलाया करता था। बात की चोट हृदय पर कुछ ऐसी-वैसी नही लगती; शीतल भी तलमला उठता था; पर, भाई का लड़कपन समझ कर, वह बराबर उसे क्षमा करता आया था।

अनल नैना के हृदय को भी वाक्य-बाणो से कुछ कम न बींधता था। नैना मन ही मन रोती, जब पीड़ा असह्य हो जाती, तब पति से कहा करती थी। पति से कहने का उसका मतलब यह नहीं होता था कि वह अनल की शिकायत कर रही है और उससे बदला लेना चाहती है; किन्तु हृदय की पीड़ा का भार हलका करने के लिए ही वह अपना दु:ख उसपर प्रकट करती थी। अपने जी की कचट किसी पर प्रकाशित करने से मन का भार बहुत-कुछ हलका हो जाता है। भारत की अबला स्त्रियों का पति के सिवा और है भी कौन ऐसा, जिससे अपने जी की बात वे खोल कर कह सकें ?

जहाँ दोनों भाइयो मे इतनी अनबन और शत्रुता थी, वहाँ दोनो बहुओ—नैना और पूर्णिमा—मे जान-जान की ममता और सौहार्द्र था। यह बात अनल को अच्छी न लगती। पूर्णिमा को उसने कई बार इसी लिए बुरी तरह मारा-पीटा भी, मगर, पूर्णिमा का प्यार इससे कम न होसका। वह नैना की ओर और भी आकर्षित होती गई। अन्त मे अनल ने उससे बोलना छोड़ दिया। बोलता भी तो गाली और डपटों के ज़रिये। उसके दुर्व्यवहार की सीमा न रही। बेचारी पूर्णिमा सारा दु:ख चुपचाप सहती गई।

❀ ❀ ❀

सन्ध्या के समय अनल गुस्से में भरा हुआ आया। आते ही बोला—"भैया, यह सब क्या सुनता हूँ ?"

"क्या ?" शीतल ने स्वाभाविक सरलता से पूछा।

"क्या !" ज़रा तेज़ होकर अनल ने कहा—"आप पूछते हैं, 'क्या ?'। सारे गाँव मे मेरी निन्दा-शिकायत आप क्यों करते फिरते हैं ? मैं आपसे कह देता हूँ, इस तरह अधिक दिन निभ न सकेंगे। आखिर मैं कब तक यह ज्यादती सहता रहूँगा।"

शीतल अवाक् रह गया। उससे कुछ उत्तर देते न बन पड़ा। चुपचाप अनल का मुँह ताकने लगा।

अनल झोंक मे कहता गया—"यदि आप मुझे देख न सकते हो, तो, भैया, आप हमारा हिस्सा अलग कर दीजिए। मैं कुत्ते का-सा घिनौना जीवन किस कारण बिताऊँ ?"

अनल और भी न जाने क्या-क्या बोल गया। बड़ी देर तक शीतल चुपचाप सब सुनता रहा, पर, अन्त मे उसे भी क्रोध आ गया। बातो ही बातो मे झगड़ा अधिक बढ गया। क्रोध के आवेश मे अनल ने शीतल को एक पत्थर उठा कर मारा। पत्थर सिर मे लगा। खून की धार बह चली। अनल घबरा कर वहाँ से हट गया।

मगर, फिर भी बँटवारा न हुआ। भाइयो की इस लड़ाई को अभी और फलना-फूलना था।

(ग)

पूर्णिमा की पीड़ा बढ़ती गई। जीवन मे उसने कभी सुख का मुँह नहीं देखा। अन्त मे निराशा के काले बादलो ने उसके जीवन के आकाश को ढक लिया। काल की धरणी पर वह अपने प्राणो का जल बरसाने के लिए तैयार थी।

पीड़ा थी 'कालिक पेन'। इस भयंकर और

साघातिक रोग मे उसका जीवन सशयापन्न हो गया। किन्तु मरने मे उसे कोई आपत्ति भी न थी, क्योकि, जीवन-व्यापी वेदना का अन्त, जीवन के अन्त के सिवा, और कुछ नहीं होता।

हाँ, पीड़ा बढती ही गई, मगर न किसी ने इसकी ओर ध्यान देने की जरूरत समझी, न दिया। केवल नैना जी-जान से उसकी सेवा-सुश्रूषा करती रही। रात को सोना उसने छोड दिया। भोजन से परहेज़ करने लगी। रात-रात भर जागकर वह पूर्णिमा की सम्हाल किया करती थी। दवाइयाँ भी अपने जानते नैना ने बहुत सी की, मगर, कोई दवा लगी नहीं। मानो उस रोग की सभी दवाइयाँ पूर्णिमा के लिए निष्फल थी, व्यर्थ, बे-असर! इस तरह दवाई होती ही रही, रोग बढता ही रहा।

सबेरे से ही पूर्णिमा बहुत बेचैन थी। उसे मालूम होता था, मानो आज का दिन ही उसके जीवन का अन्तिम दिन है, आज की संध्या ही जीवन की अन्तिम सध्या। प्रात काल के मन्द-मधुर समीर के स्पर्श के पुलक-कम्पन से जब सुमनो का शरीर सिहर उठा, और जब उषा ने अपने कोमल-कमनीय करो से प्राची का अरुण-राग-रंजित सुवर्ण-द्वार खोल दिया, उसी समय, नैना को पूर्णिमा ने बुलाया। बोली—"दीदी, आज जीवन के नाटक का 'ड्राप-सीन' होगा।" उसके अधरो पर तृप्ति की नहीं, वेदना की मुस्कराहट थी, वाणी मे पीड़ा की व्यथा।

नैना ने पूर्णिमा की बात सुनी। उसके उदास चेहरे की ओर देखा। शकित स्वर मे बोली—"यह क्या कहती हो, पूर्णा? तुम अच्छी हो जाओगी।"

"नहीं दीदी, यह झूठा आश्वासन किस सुख के लिए जी को दूँ? मैं आज बचूँगी नहीं।" उसकी आँखें छलछला आईं। शायद, मन-ही-मन वह कुछ सोच रही थी।

नैना ने कुछ उत्तर नहीं दिया।

'दीदी!" पूर्णिमा ने फिर पुकारा।

"हाँ, पूर्णा!"

"एक बात कहती हूँ।"

"कहो।"

"अन्तिम बार आज 'उन्हे' देखने की इच्छा होती है। एक तार दिलवा दोगी?"

"क्यो नहीं।" नैना ने कहा। वह सोचने लगी कि जिसने पूर्णिमा जैसी सुन्दरी और गुणवती स्त्री का इस प्रकार अनादर किया, तरह-तरह से उसे तंग किया, यहाँ तक कि उसका ससर्ग भी छोड दिया, उसके प्रति भी पूर्णिमा के मन मे अब तक अगाध प्रेम और ममता भरी हुई है! हाय रे नारी का हृदय!!

तार दे दिया गया, मगर, सन्ध्या तक भी कोई न आया। सन्ध्या की अन्तिम गाड़ी भी जब आई और छूट गई, तो पूर्णिमा की निराशा का पार न रहा। सामना होने पर, पूर्णिमा ने कहा—"वहाँ से कोई आया नहीं, दीदी?"

"नहीं।"

"तार दिया गया था?"

"हाँ।"

"फिर भी कोई नहीं आया?

"नहीं।"

"अच्छा।" पूर्णिमा चुप हो गई। उसके हृदय में उस समय प्रलय का बवण्डर उत्पात कर रहा था। मन-ही-मन उसने कहा—"किस पाप से मेरे प्रारब्ध मे इतना दु ख लिखा था, विधाता?"

रात किसी न किसी तरह कट गई। दूसरे दिन सबेरे फिर पूर्णिमा ने कहा—"दीदी!"

"कहो, पूर्णा!"

"अब 'वह' न आवेंगे? देख न सकूँगी?"

"आवेंगे क्यो न बहन! मैं रघुबीर को भेज देती

हूँ। वह, अपने साथ ही उन्हें लेना आवेगा।"

नैना की बात सुन कर पूर्णिमा ने सन्तोष की साँस ली। फिर, करवट बदल कर, सो रही। उसी समय रघुबीर चला गया।

रघुबीर को भेज कर दोनों बहनें प्रतीक्षा करने लगीं। क्रम से दोपहर हुआ, संध्या हुई, मगर, अनल न आया। समय बीत जाने पर अधीर होकर, पूर्णिमा ने फिर पूछा—"आज भी 'वह' नहीं आये, दीदी ?"

"नहीं ?"

"रघुबीर भी नहीं लौटा ?"

"ना।"

पूर्णिमा कुछ बोली नहीं रोई भी नहीं। उसकी आँखों का आँसू सूख चुका था, वाणी मूक हो गई थी। मुँह पर उसके न वेदना का कोई चिन्ह था, न प्रसन्नता और तृप्ति का। मुर्दे की-सी निर्जीवता और उदासी क्रीडा कर रही थी। सहसा, उसके मुँह से, अस्फुट स्वर में, यह बात निकल गई—"हे ईश्वर! मरने पर भी 'वह' मेरा मुँह न देख पावें!"

नैना ने यह बात सुनी। उसके कातर प्राण रो उठे। हा अभागिनी! तेरी अन्तिम इच्छा भी न पूरी हो सकी ?

× × ×

ज्यों ज्यों सन्ध्या का अन्धकार गाढ़ा होता गया, त्यों-ही-त्यों पूर्णिमा की दशा सुधरने लगी। नैना की खुशी का ठिकाना न था। पर पूर्णिमा मन ही-मन हँस रही थी। दीदी कितने भ्रम, कितने अन्धकार में हैं!

रात एक पहर बीत गई होगी। पूर्णिमा की चीख सुन कर नैना दौड़ आई। देखा यन्त्रणा से वह बिछौने पर छटपटा रही है। बेचारी नैना घबरा गई। इस समय वह किसे बुलावे, किसे दिखावे-सुनावे।

"मेरी नाड़ी छूट रही है, दीदी!" क्षीण स्वर में पूर्णिमा ने कहा।

नैना ने टटोल कर देखा नाड़ी सचमुच छूट रही थी। हाथ-पैर ठण्डे हो रहे थे। आँखें पथराने लगी थीं। उपचार व्यर्थ समझ कर नैना चुपचाप सब कुछ देखने के लिए तैयार हो गई। आर्त्तस्वर से वह अबलों के सहायक ईश्वर को पुकारने लगी।

"सभी लोग सुखी हों," पूर्णिमा ने दम तोड़ते हुए कहा—"मेरी तरह दुखिया कोई न हो। किसी पर इतनी विपत्ति और वेदना का पहाड़ न भहराये। ईश्वर, यही मेरी अन्तिम कामना है। पूरी करना। शिव, शिव, शिव!" वह चुप हो गई। नैना ने देखा, सदा के लिए चुप होकर उसके प्राण किसी चिर-सुन्दर अज्ञात-देश की ओर चले गये हैं।

रात भर शव को लेकर वह बैठी रही। प्रातःकाल पड़ोसी लाश श्मशान ले गये। चिता में आग लगा दी गई। वह धक्-धक् करके जल उठी।

नैना के प्राण हाहाकार कर रहे थे। वह जमीन पर लोट कर रो पड़ी। उस समय गगन की आँखों ने भी, शायद, आँसुओं की दो-चार बूँदें गिराई थीं।

लौटते समय, लोगों ने देखा पागल-सा एक आदमी श्मशान की ओर दौड़ा जा रहा है। पीछे मालूम हुआ, वह अनल था।

(घ)

गोधूलि की धूमिल बेला में रोज सन्ध्या को एक दुर्बल और मलिन मनुष्य श्मशान की परिक्रमा किया करता था। उसके बगल में एक फटे कपड़े की छोटी पोटली थी जिसे कृपण के धन-सा वह सदा अपने हृदय में छिपाये रहता था। वह पूर्णिमा की चिता का भस्म था।

लोग उसे देखने और प्रेत समझ कर भय खाया करते थे। ईश्वर जाने वह अनल ही था, या, उसके पश्चात्ताप की सजीव मूर्ति।

—प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'

दुर्गा-पूजा : संघ-शक्ति

बड़े से बड़े प्राणी से छोटे प्राणी तक—हाथी से चिउँटी तक—सभी शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं। और उसके लिए नाना प्रकार से प्रयत्न करते हैं। सभी प्राणी शक्तिशाली होकर एक दूसरे को दबाने का प्रयत्न कर रहे हैं। देवासुर-संग्राम में देवता और असुर दोनों अमृत इसी लिए लेना चाहते थे कि उसे पीकर वे शक्तिशाली हो जायँ और अपनी विपत्तियों को नष्ट कर दें। अमृत लेने के लिए दोनों आपस में लड़ने लगे। बरसों दोनों में लड़ाई चलती रही। अन्त में देवताओं ने छल से अमृत को अपने हाथ में किया और असुरों को नीचा दिखाया। फिर बराबर देवता और असुरों में खूनी भाव रहा। एक दूसरे के खून से तलवार रंगते रहे। बहुत समय बाद जब असुरों ने देवताओं का नाकों-दम कर दिया, वे बारबार स्वर्ग पर चढ़ाई कर उन्हें मारने-पीटने लगे, तथा अपनी तपस्या और माया (Hypocracy) के बल से देवताओं के छक्के छुड़ाने लगे, तो देवताओं ने सोचा कि हम एक जीव, एक भाव, एक मानस के हो जायँ, तब कहीं असुरों से लोहा ले सकेंगे और उन्हें परास्त कर सकेंगे। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ने भी इस उपाय को पसन्द किया। बस, सब देव मिल गये और उन्होंने सम्मिलित शक्ति पैदा की—

> अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
> एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥
> ततः समस्तदेवानां तेजोराशिसमुद्भवाम्।
> तां विलोक्य मुदं प्रापुरमरा महिषार्दिताः॥
> अन्यैरपि सुरैर्देवी भूषणैरायुधैस्तथा।
> सम्मानिता ननादोच्चैः साट्टहासं मुहुर्मुहुः॥
> तस्या नादेन घोरेण कृत्स्नमापूरितं नभः।
> अमायतातिमहता प्रतिशब्दो महानभूत्॥
> चुक्षुभुः सकला लोकाः समुद्राश्च चकम्पिरे।
> चचाल वसुधा चेलुः सकलाश्च महीधराः॥
> जयेति देवाश्च मुदा तामूचुः सिंहवाहिनीम्॥

अर्थात्, सभी देवताओं ने मिल कर सर्वदल सम्मेलन किया। सबका एक मत, एक उद्देश्य हो जाने पर सबके तेज से एक शक्ति उत्पन्न हुई। बिखरी हुई शक्ति एक हो गई। यह शक्तिदेवी संसार-भर में व्याप्त हो गई। दुनिया के सभी देशों पर उसकी धाक जम गई। जो देवता महिषासुर से उत्पीड़ित थे, दबे हुए थे, उनकी एक भी नहीं चलती थी, आज अपनी इस सम्मिलित शक्ति को देख कर वे मारे खुशी के उछल पड़े। फिर उतने ही से दम नहीं लिया। सब अपनी-अपनी संचित संपत्ति को उसके हाथ सौंपने लगे। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, वरुण, कुबेर, अग्नि इत्यादि सभी देवता अपने अस्त्र-शस्त्र, जो भी कुछ घर में था, सब इकट्ठा करके देने लगे। शस्त्र, कमान, घोड़े, हाथी, घंटा, वज्र इत्यादि सभी सामग्री बात की बात में इकट्ठी हो गई—देव शक्ति जो लुप्त थी, आज बारबार हँसने लगी। घोर शब्द करती हुई वह शक्ति उत्पन्न हो गई। देवताओं के गगनभेदी हर्ष और उल्लास भरे शब्द से आकाश गूँज उठा, समुद्र अस्थिर हो गया, पृथ्वी काँप उठी, पर्वत हिल गये। संसार के लोगों ने जब सुना, तो सभी थर्रा उठे। देवताओं की मण्डली से जय-घोष की प्रतिध्वनि बारबार चारों ओर से आ-आकर दुगुनी कोलाहल-ध्वनि होने लगी।

उसी हँसती हुई शक्ति ने महिषासुर की छाती पर भाले की चोट की और उसके उष्ण रक्त से मातृभूमि की साड़ी रँगी। उसकी जीभ खींच कर अन्याय और अधर्म की याद दिलाई।

यह है हिन्दुओं की दुर्गा की उत्पत्ति की कथा, जिसका वर्णन मार्कण्डेय ऋषि ने बड़ी ओजस्विनी भाषा में किया है। उन्होंने दुर्गोत्पत्ति की भूमिका में—दुर्गा सप्तशती के प्रथम अध्याय में—लिखा है कि सुरथ नाम का राजा योग्यता-पूर्वक प्रजा का पालन करता था। कुछ दिनों के बाद जंगलियों ने उसका राज्य छीन कर उसे राज्य से निकाल दिया। वह जंगल में भटकता हुआ वैराग्यवान ऋषि के पास जा पहुँचा। उसके साथ एक वैश्य भी था। उन दोनों ने ऋषि से पूछा, हमें अपना अधिकार या स्वराज्य कैसे मिलेगा? तब ऋषि ने दुर्गाजी की उत्पत्ति बताई और वही युक्ति स्वराज्य पाने की ठहराई।

अब ज़रा हिन्दुओं की वर्तमान दुर्गापूजा देखिए। आजकल दुर्गा की मूर्ति के सामने लाखों बकरों और भैंसों के गले काटे जाते हैं। उन्हे माला पहना कर जौ खिलाते हुए मौत के घाट उतारते और 'माँ दुर्गा' कह कर चिल्लाते हैं। इस कार्य को हम बलिदान कहते है। वस्तुत बलिदान इससे बहुत भिन्न है। राजा बलि का दान वास्तव मे बलिदान था। (बलिवत् दानम् बलिदानम्) । आज भारतमाता को करोड़ो नवयुवकों की आवश्यकता है, जो भारत की बलिवेदी पर आकर सच्चे बलिदान का आदर्श दिखावे। निरीह ग़रीब बकरे को चबाने या मद्य-मांस खाने से मनुष्य शाक्त नही कहा जाता, बल्कि खड्गधारिणी, महाकाली, पुस्तकधारिणी, महासरस्वती और धन-सम्पत्तिधारिणी महालक्ष्मी के आराधना करनेवाले ही शाक्त कहे जा सकते है। अर्थात्, भारत जब तक हाथ मे तलवार लेने, ज्ञान विज्ञान की विद्या पढ़ने और ऐश्वर्यशाली होने के योग्य नही होगा, तबतक शाक्त नही हो सकता।

हमारा तो यह विश्वास है कि दुर्गा के साथ बगल में बच्चा दबाये और हाथ मे खड्ग लिये हुए जोगिनियाँ जैसे दीख पड़ती हैं, उसी भाति जब तक भारत के करोड़ो देवताओ के साथ हमारी मातायें देश-रक्षा के लिए बगल मे बच्चे दबा कर हाथ मे खड्ग ले बाहर नही निकलेंगी। तब तक भारत सच्चा शाक्त कहा ही नही जा सकता। इसका मतलब यह है कि जब भारत के वीर पुरुष रणक्षेत्र से थक जाते थे तब भारतीय मातायें—वीरकन्यायें और वीर पत्नियां—बगल मे नवजात शिशुओ को दबाये हुए भी खड्ग लेकर रणक्षेत्र मे उतर आती थीं। उनके प्रबल हाथों मे खड्ग देख कर रणचण्डी खिलखिला कर हस पडती थी। वही ही वस्तुत दुर्गापूजा या शक्तिपूजा होती थी, मारू बाजे और वीरगाथा मे शक्ति-पूजा होती थी। हम निकम्मे-नामर्द क्या शक्ति-पूजा करेंगे? अपने भाइयों पर खूनी खजर उठानेवाले, पश्चिमी माया मे फंसनेवाले, आततायियो का साथ देनेवाले, धूर्तों और धोखेबाजों के चरण चूमनेवाले हम क्या शक्ति पूजा करेंगे? ढकोसलेबाज, बकरों और भैंसों की कमज़ोर गर्दन पर तलवार चमकानेवाले, सच्ची बलिवेदी को देख कर भागनेवाले हम शाक्त नही हो सकते। शक्तिपूजा बहुत महँगा सौदा है। शाक्त है यूरोप, शाक्त है जापान, शाक्त है टर्की, शाक्त-धर्म मे दीक्षित हुआ है चीन, और शक्तिपूजा की तैयारी कर रहा है अफ़ग़ानिस्थान!

हम चाहते है कि बलिदान हो, शक्ति-पूजा हो, तब लोह के टुकड़े हाथ को कड़ा करना होगा, कमजोरी और काहिलपने की ओढ़नी को फाड फेंकना होगा, कमजोरो की गर्दन पर से खूनी पंजा हटा लेना होगा। वैशम्पायन ऋषि की बनाई हुई देवताओं की सबशक्ति से, त्यागमूर्ति से, निर्भीक मूर्ति से, अपने सभी विभूतियुक्त हाथों से, शक्ति-पूजा करनी होगी। तब हम शक्ति-पूजा के अधिकारी हो सकते हैं।

जापान मे जब दुर्गादेवी (किलाबन्दी की शक्ति) की पूजा की तैयारी हुई, तो छोटे-मोटे सभी राजा-रईस अपना अधिकार छोड़कर एक झडे के नीचे आ खड़े हुए। रूस से लड़ाई होने के समय वहाँ की सौभाग्यवती माताओं ने अपनी चोटिया काटकर रस्से बनाने के लिए देदी। जहाज के साथ डूबने के लिए दस आदमी की जगह दोसौ त्यागियों ने खून से हस्ताक्षर कर दरखास्त दी कि हम देश के लिए बलिदान होंगे। सेकड़ो पुत्रवती मातायें देश के लिए बलिदान होते हुए अपने पुत्रो को देखकर अपना कोख को पवित्र समझने लगी। तब कहीं दुर्गादेवी प्रसन्न हुई। रणचण्डिका हँस पडी और जापान प्रबल रूस की छाती पर सवार हो बैठा—उसका नाम भी महा-शक्तिशाली राष्ट्रों की सूची मे दर्ज होगया।

यूरोप के आबाल-वृद्ध-वनिता शक्ति-पूजा के लिए बेचैन हैं। बालक-बालिकायें अपने पुट्ठे मजबूत करने के लिए नाना प्रकार की कसरतें करते, तोप-बन्दूक चलाना सीखते, कवायद करना सीखते, सभा मे दुर्गा की ही मूर्ति देखते, उसीका ध्यान करते, उपासना करते है, तब वे ससार में सिर ऊचा कर चलती, सच्ची शक्ति की पूजा करती है।

हमारे देश में ढकोसलेबाजी है। दुर्गा के झडे के नीचे दलित जातियां आने ही नहीं पाती, स्त्रियो का पुरुषो के साथ पूजा का अधिकार ही नहीं है, हिन्दू-मुसलमानों के बीच पक्की दीवार खड़ी कर दी गई है। तब क्या शक्ति-पूजा होगी? खाक! तब क्या दुर्गा की आराधना होगी? तब क्या महाकाली, महासरस्वती और महालक्ष्मी की आराधना

होगी ? मूर्ति खड़ी कर लो, दो-चार दस-बीस संस्कृत के श्लोक पढ़ लो, बाजा बजा लो, गा लो, फल-पत्ती बिखेर लो, कचहरियां बन्द कर लो, पर दुर्गा प्रसन्न नहीं होगी। शक्तिदेवी स्वप्न में भी तुम्हारे यहां नहीं आवेगी। जब तक दधीचि बाबा के समान पुरुष अपनी हड्डी तक से बलिदान नहीं करेंगे और स्त्रियां देवकी की तरह अपने सात बेटों का बलिदान अपनी आंखों नहीं देखेंगी, तब तक आद्याशक्ति की आकाशवाणी नहीं होगी। यदि हम सब ऐसा कर सकेंगे, तो हम यह महामन्त्र पढ़ने लायक हो जायेंगे—

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तो
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीवशुभां ददासि।
दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदार्द्रचित्ता ॥

जय दुर्गे !

जीवानन्द शर्मा

फ़ेनी गैरिज़न विलार्ड*

गत १ जुलाई को अमेरिका में एक ऐसी महिला का देहावसान हो गया, जो न केवल एक महान् पुरुष की पुत्री होने के कारण प्रसिद्ध हैं बल्कि अपने जीवन और व्यवहार से भी जिन्होंने अपनेको सुप्रसिद्ध पिता की उपयुक्त पुत्री सिद्ध कर दिया है। गुलामों के त्राता गैरिजन को आज कौन शिक्षित नहीं जानता ?* जैसा महान् और परोपकारी उनका जीवन था, उसीकी छाप उनकी पुत्री श्रीमती फ़ेनी गैरिजन विलार्ड के जीवन पर दिखाई देता है।

दिसम्बर १८४४ ई० की १४ वीं तारीख को मैसेचुसेट्स के बोस्टन नगरमें फ़ेनी गैरिजन का जन्म हुआ था। गैरिजन महाशय अपने प्राणों की भी पर्वाह न करते हुए अदम्य उत्साह के साथ जब गुलामों के उद्धार के लिए प्रयत्नशील थे, फ़ेनी का वह बाल्यकाल था। जॉन ब्राउन, सेमुएल मे, वेण्डेल फ़िलिप्स, जार्ज थाम्सन तथा अंग्रेज़ आन्दोलक लीडिया, मेरी चाइल्ड्स इत्यादि सुप्रसिद्ध दासता-विरोधी नेता गैरिजन के यहाँ प्रायः आते और विभिन्न समस्याओं पर घण्टों वाद किया करते थे। फ़ेनी भी उनके सम्पर्क में खूब आईं और स्वभावतः उसपर उनकी बड़ी छाप पड़ी। बाल्यकाल के ये संस्कार फ़ेनी में ऐसे पड़े कि वह भी ऐसी ही हुई और अन्त तक उन्होंने इसे अपने प्रभाव में रक्खा।

अपनी बाल्यावस्था से ही, अपनी वय और योग्यता के अनुसार, फेनी ने अपने पिता के साहस और स्वतन्त्रता के कार्य में श्रद्धा एवं उत्साह के साथ योग-दान करना शुरू कर दिया। गैरिजन 'लिबरेटर' नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकालते थे, जो गुलामी की प्रथा उठा देने के लिए तो बड़े जोरों के साथ आन्दोलन करता ही था, साथ ही स्त्रियों के अधिकारों, शान्ति और मादक-निषेध का भी वह प्रबल समर्थक था। फ़ेनी उसके प्रूफ पढ़ने के रूप में अपने पिता की सहायता करने लगी।

अमेरिकन गृह-युद्ध के समय, हेनरी विलार्ड नाम के एक व्यक्ति से फ़ेनी का विवाह हुआ। यह महाशय उस समय 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' नामक पत्र के एक सामरिक सम्वाददाता थे, पर, बाद में उनका भाग्य चमका। 'नार्थर्न पेसिफ़िक रेलरोड' के वह अध्यक्ष हुए और फिर विशाल रेलरोड का निर्माण तथा ट्रान्समिसिपि प्रान्त का विस्तार करके उन्होंने खूब ख्याति पाई।

फ़ेनी ने विवाह के बाद जोरों से स्त्री-स्वातन्त्र्य का आन्दोलन उठाया। धारासभा तथा दूसरी संस्थाओं में इन्होंने खूब कीर्ति पाई। इनकी लगन तो खरी थी ही, वक्तृत्वशक्ति और सौंदर्य के संयोग से मानों सोने में सुगन्ध हो गई। इन्हें इसमें खूब सफलता मिली। तदुपरांत 'स्त्रियों का शांति-संघ' स्थापित करके यह विश्वव्यापी शांति की प्रयत्नशील हुईं और इसके लिए १९२१ में स्त्रियों के अन्तर्राष्ट्रीय शांति-संघ के सम्मेलन में प्रतिनिधि-रूप में भी शरीक हुईं। यही नहीं, स्त्री-शिक्षा के लिए भी इन्होंने खूब प्रयत्न किया। न्यूयार्क के बर्नार्ड कालेज की स्थापना में इनका बड़ा हाथ था और कई साल तक कुस्तुन्तुनिया में स्थापित स्त्रियों के अमेरिकन कालेज की डाइरेक्टर व ट्रस्टी भी यह रहीं। अख़बार से तो इन्हें बाल्यावस्था से ही काम पड़ा था। बड़ी होने

* संक्षिप्त जीवन देखिए, 'त्यागभूमि', खण्ड २, अंश २।

पर, १८८१ से १९१७ तक, 'न्यूयार्क ईवनिंग पोस्ट' और 'नेशन' की मालिक भी रहीं। अलावा इसके २५ वर्ष तक 'न्यूयार्क डायट किचन एसोसियेशन' की अध्यक्ष और ४८ वर्ष तक उसकी व्यवस्थापिका भी रहीं। कई अस्पतालों, इन्फर्मरी आदि के निर्माण में भी इन्होंने काफी मदद दी थी। और, भारतीयों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि, भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में भी यह सहानुभूति के साथ दिलचस्पी लेती थीं, जिसके लिए आज भी न्यूयार्क के हिन्दू इन्हें याद करते हैं। इनके जो दो पुत्र हैं, वे भी दोनों दो पत्रों के सम्पादक हैं और इन्हीं गुणों से ओत-प्रोत हैं। 'नेशन'-सम्पादक श्री ओस्वाल्ड विलार्ड गैरिजन की प्रशंसा में तो ला० लाजपतराय अपने प्रसिद्ध पत्र 'पीपुल' में एक सुन्दर लेख भी लिख चुके हैं।

सचमुच वह दिन मनहूस था, जब इनका प्राणान्त हुआ! पर ८३ वर्ष की इनकी उम्र हम भारतीयों के लिए तो बहुत ही कही जायगी, जब कि हमारी आयु का औसत है सिर्फ २४.७ वर्ष। जो हो, न्यूयार्क के हेराल्ड ट्रिब्यून' का कहना है— उनके पास जो कुछ था, उसे उन्होंने बिना किसी मुआवजे के और बगैर थके हुए दूसरों को दे डाला। निस्सन्देह, अनेक अच्छे कामों में सजीव भागीदार और निस्वार्थ नागरिकता के आदर्श के रूप में वह सदैव स्मरण की जाती रहेंगी।' तथास्तु! हम भी उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करते हैं।

'एक भारतीय'

"अगर हम किसी राष्ट्र की राजनैतिक और नैतिक स्थिति जानना चाहें, तो हमें मालूम करना चाहिए कि उसमें स्त्रियों की क्या स्थिति है। जीवन के समस्त अंगों पर उनका प्रभाव पड़ता है। पत्नी! – माँ! – इन दो चमत्कारिक शब्दों में मनुष्य के आनन्द का मधुरतम स्रोत समाविष्ट है।"

—एमी मार्टिन

---

* श्रीमती रागिनीदेवी के लेख के आधार पर

स्त्रियों की क़लम से—

धर्म का हृदय क्या है?

धर्म के हृदय को जानने या समझने के लिए मनुष्य का दृष्टान्त लेना ठीक होगा। मनुष्य में मुख्य स्थान हृदय का है। हृदय जितना शुद्ध, जितना बलशाली और जितना कार्यकारी होगा, उतना ही मनुष्य-जीवन शुद्ध, बलशाली और कार्यसाधक होगा। इसी तरह धर्म भी बाह्य-आन्तर अनेक रूपों का मिश्रण है। अनेक मनुष्य धर्म के जुदा-जुदा बाह्य रूप लेकर प्रवृत्ति करते हुए दिखाई देते हैं, फिर भी वे सब प्रामाणिक नहीं, उदार नहीं उलटे और सब की तरह वे भी अनेक दोषों से पूर्ण होते हैं। इसके विपरीत ऐसे भी मनुष्य देखे जाते हैं, जिनमें धर्म का बाहरी रूप कोई भी नहीं होता, फिर भी वे ईमानदार, शान्त और उदार होते हैं। इससे यह सिद्ध है कि ईमानदारी, शान्ति और उदारता का सम्बन्ध किसी बाहरी रूप में नहीं है, उसका अनिवार्य सम्बन्ध किसी और ही चीज से है। वह चीज क्या है? वह चीज अन्तर में वर्तमान होती है और उसका नाम है अहिंसा तथा अनेकान्त दृष्टि। जहाँ ये नहीं हैं, वहां धर्म के सैकड़ों बाहरी रूप होने पर भी ईमानदारी आदि गुण नहीं हो सकते। इसलिए धर्म का हृदय मात्र अहिंसावृत्ति और अनेकान्त दृष्टि ही है। जितने परिमाण में ये दो वृत्तियाँ शुद्ध सबल और कार्यसाधक होंगी, उतने ही परिमाण में जीवन शुद्ध, सबल और कार्यसाधक होगा। अतएव धर्म का आरम्भ यदि करना हो, तो हमें इन्हीं दो वृत्तियों को जागृत करना चाहिए।

केशरबाई

× × ×

स्फुट प्रसंग

स्त्रियों का आदर्श

वर्तमान जागृति की लहर में प्रत्येक प्राय पश्चिम की ही ओर मुँह करता है । वह आँख मूँदकर पश्चिम को अपनाने, उसका अनुकरण करने का प्रयत्न करता है । हमारे युवक भाई तो ऐसा कर ही रहे थे, तरुण बहनें भी अब जोरों के साथ ऐसा ही कर रही हैं। ऐसे समय साहित्याचार्य प० रामावतार शर्मा एम० ए० के द्वारा, जिनमें प्राचीन और अर्वाचीन एवं प्राच्य और पाश्चात्य का अच्छा समन्वय है, "भारतीय स्त्रियों का आदर्श" बताया जाना अवश्य ही स्वागत-योग्य है । उस दिन पटना में, श्रीमती चट्टोपाध्याय की अध्यक्षता में, महिलाओं के सामने इस विषय पर भाषण करते हुए उन्होंने कहा—प्राचीन काल का हमारी देवियों ने नाना गुणों में वह आदर्श उपस्थित किया है, जिसके मुकाबले आज का पाश्चात्य नारियों की उन्नति नगण्य है । ऋग्वेद के दसवें मण्डल में ऋषि-कन्या वाक् का कथन है, 'मैं ही ब्रह्मा हूँ और मैं ही पृथ्वी तथा स्वर्गों की सृष्टिकारिणी हूँ ।' उपनिषद्-काल की स्त्रियों में ज्ञान और शिक्षा के प्रति प्रगाढ प्रेम था । उन दिनों की स्त्रियाँ ज्ञान की भूखी और बलवती थीं । आज की स्त्रियों को भी शरीर से हृष्ट-पुष्ट एवं ज्ञानवती बनना चाहिए । अगर वे अपनी शक्ति को महसूस करें तो आत्म-रक्षा के लिए वे काफी समर्थ हैं । विद्या-प्राप्ति का सुयोग स्त्रियों को पुरुषों से भी ज्यादा है—क्योंकि, पुरुष तो प्राय' जीविकोपार्जन के लिए पढते हैं, पर स्त्रियाँ ज्ञान के लिए विद्यार्जन कर सकती हैं । आपके सामने सीता का आदर्श है और आप भी उसी शक्ति का एक अंश हैं । आपको सद्विचार करना और सन्मार्ग पर चलना चाहिए, भले ही लोग कुछ कहा करें । हमारे समाज में विवाह आदि के बारे में जो बुरी रूढियाँ प्रचलित हैं उन्हें आप नष्ट कर डालिए ।

आशा है, हमारी बहनें इसपर गम्भीरता से विचार करेंगी ।

स्त्रियों का राजनैतिक सम्मेलन

अभी तक स्त्री-परिषदों और स्त्रियों के शिक्षा-सम्मेलनों की खबर तो सुनी जाती थी, इस बार उनका एक राजनैतिक सम्मेलन भी हुआ है । दिल्ली प्रान्तिक परिषद् के अधिवेशन के साथ मेरठ में, १३ अक्तूबर को यह अधिवेशन हुआ । स्वागताध्यक्षा श्रीमती सुशीलादेवी ने भारत के स्वातंत्र्य-युद्ध (सन् १८५७) का वर्णन करके कहा कि अगर हम सब संयुक्त हो जायँ तो विजय निश्चित है । शिक्षिता स्त्रियों की अल्प संख्या पर खेद प्रकट करते हुए पर्दे की प्रथा तोड़ने पर उन्होंने जोर दिया । प्रतिनिधियों से उन्होंने केवल स्वदेशी वस्तुओं का इस्तैमाल और विदेशी का बहिष्कार करने की प्रार्थना की । सभानेत्री तपस्विनी पार्वतीदेवीजी ने अपने मौखिक भाषण में घोषणा की कि भारतीय स्त्रियों को दो जनों से लडना है—ब्रिटिश सरकार और भारतीय पुरुष-वर्ग । भारतीय पुरुषों का व्यवहार स्त्रियों के साथ बड़ा कठोर और लज्जापूर्ण है । इसीके फलस्वरूप दक्षिण आफ्रिका में वे अछूत माने जाते हैं और ससार की नजरों में गुलाम बने हुए हैं । पर्दा दूर होना चाहिए और कन्या-शालाओं की सख्या कई गुनी बढ़ जानी चाहिए । स्त्रियों को प्रतिदिन तीन घण्टा चर्खा अवश्य कातना चाहिए । विवाह-वय लड़कियों के लिए १८ और लडकों के लिए २६ होनी चाहिए। प्रस्तावों में भारत के लिए पूर्ण स्वाधीनता की माँग की गई, साइमन-कमीशन के पूर्ण बहिष्कार का निश्चय हुआ, पर्दा-प्रथा दूर करने का निश्चय हुआ, कन्याओं के लिए अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा की माँग की गई, और वीर खड्गबहादुरसिंह के प्रति सहानुभूति प्रकट की गई । विवाह-वय लड़कियों के लिए १८ और लडकों के लिए २५ वर्ष रखने का निश्चय हुआ है । इस प्रकार हमारी बहनें राजनीतिक क्षेत्र में कदम बढा रही हैं, देश की राजनीति पर इसका प्रभाव पडना अवश्यम्भावी है । हमें आशा करना चाहिए कि इसका असर देश के लिए शुभ ही होगा । हाँ, एक बात को पढकर तो हमसे हँसे बिना न रहा गया । स्वागताध्यक्षा श्रीमती सुशीला देवी ने यूरोपीय महायुद्ध के समय की भारतीय स्त्रियों की सेवाओं

का उल्लेख किया, इस बिना पर कि उन्होंने अपने पुत्रों व भाइयों को लड़ने के लिए भेजा था। भारतीय स्त्रियों का इस सूझ पर बधाई।

अफ़ग़ानिस्थान में सह-शिक्षा

अमीर अमानुल्लाह बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। पर्दे के खिलाफ महारानी सोर्या जोरों मे प्रयत्न कर ही रही हैं, 'लीडर' के शब्दों मे कहें तो उन्होंने इसके खिलाफ 'जहाद' की घोषणा कर दी है। स्त्री-शिक्षा पर भी बहुत जोर दिया जा रहा है। अभी हाल मे लड़कों के साथ-साथ तरुण अफ़ग़ान लड़कियों का एक दस्ता भी, भारत के रास्ते, शिक्षा-प्राप्ति के लिए टर्की गया है। यही नहीं काबुल में एक नया हुक्म और हुआ है। इसके अनुसार वहाँ ६ से १६ वर्ष तक की उम्र मे लड़के लड़कियों की शिक्षा न केवल अनिवार्य बल्कि एक ही जगह होने की व्यवस्था की गई है। इसका मतलब यह है कि १६ वर्ष तक की वय के लिए वहाँ सह-शिक्षा (Co-education) का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है। देखना चाहिए, इसका परिणाम अफ़ग़ानिस्थान की परिस्थिति पर कैसा होता है।



अमीर अमानुल्लाह और महारानी सोर्या
(आधुनिक वेष में)

मिस्र का तलाक-विधान

मिस्र की राष्ट्रसभा ने कुछ समय पूर्व तलाक के नये नियम बनाने के लिए एक कमिटी बनाई थी। 'पायनीयर' के अनुसार उसने सिफारिश की है कि एक स्त्री के होते हुए कोई आदमी दूसरा ब्याह न करे। अगर कोई ब्याह करे ही तो पहले महकमा शरिया से स्वीकृति लेवे, उसका चाल चलन अच्छा हो, और अपनी दूसरी तथा अन्य स्त्रियों को भी वह पहली स्त्री के समान ही रख सकने के योग्य हो। शराबी पति तलाक नहीं दे सकता। इसी प्रकार तिहरे तलाक पर की हुई शपथ से उत्पन्न तलाक भी नाजायज है। एक आदमी अपनी त्यागी हुई स्त्री को फिर से ग्रहण कर सकता है, पर तिहरे तलाक की दशा में सिर्फ कुरान में बताई हुई दशाओं में ही ऐसा हो सकता है। कोई भी तलाक उस वक्त तक जायज नहीं कहा जायगा, जब तक कि दोनों के मेल के सारे प्रयत्न असफल होकर महकमा शरिया से उसकी स्वीकृति न हो जाय। अगर पति बिना उचित कारणों के एक साल तक घर से बाहर रहे, तो पत्नी उसे तलाक दे सकती है।

मुकुट

स्वाधीनता

यौवन यानी विप्लव और युवा अर्थात् विप्लववादी । संघबल, साहस और मृत्यु, त्रिविध साधनो से युक्त एकमात्र इसी जीवन-क्रम का अनुसरण करने के लिए मैं युवको को पुकारता हूँ मै उन शहीदो को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने धर्म, राष्ट्र और जाति के भेद-भाव को बालायताक़-रख कर किसी-न-किसी महत्कार्य की पूर्ति में अपने जीवन की आहुति दे डाली है ।

× × ×

वीर सेनानी युवक ! जाओ !!

मन्दिर के पत्थरो मे, मस्जिद की नमाज मे, वन-जगलो और शून्याकाश मे गाव-गाव, घर-घर स्वाधीनता की गगनभेदी ध्वनि गुजा दो । स्वाधीनता ही तुम्हारी आँखो की ज्वाला हो, देह का अग्नि-रक्त हो, और हो कण्ठ का पांचजन्य निनाद । राजसूय यज्ञ के लिए दिग्विजय करने को स्वाधीनता का घोडा छोड दो । मन्दिरो-मस्जिदो मे स्वाधीनता की पताका फहरा दो । स्वातंत्र्य-नाद गुजा दो । स्वाधीनता के इस प्रलय यज्ञ मे अपने धन, जन और सर्वस्व की बलि दे दो । युवको ! जाओ, विलम्ब न करो, और स्वाधीनता के लिए मर मिटो । ससार जिस समय तुम्हारी खोज करने को निकले, तो तुम मृत्यु के ही पथ पर मिलो ।

× × ×

मित्रो ! स्वाधीनता—हाँ, स्वाधीनता, बस, यही मेरा अन्तिम सन्देश है ! *

पूर्णचन्द्रदास

* त्रिपुरा-युवक-सम्मेलन के सभापति-पद से



शक्ति

सभा-सम्मेलनो और काग़ज़ी प्रस्तावों से कुछ अधिक की जरूरत है । भाषणो और भावनाओ से कुछ अधिक ! शान्ति आवश्यक है । बिना शान्ति के किसी भी राष्ट्र ने स्वतंत्रता नही पाई है । 'हिंसा' शान्ति का एक रूप हो सकती है, पर भारत का साधन हिंसा नहीं होगा । भारत की आत्मा के साथ हिंसा का तादात्म्य नहीं होगा । और मानवता को भी हिंसा से कोई मदद नही मिलेगी । आन्तरिक शान्ति ही वह चीज़ है, जो भारत को स्वतंत्र होने के योग्य बनायगी । आज इस शान्ति मे हमारे वातावरण और हमारे व्यवहार से तात्कालिक बाधा पड रही है । हमे नवीन बन जाना आवश्यक है । दीर्घकाल की खोई हुई स्वतंत्रता को पाने के लिए हमे अपनेआपको बदल डालना चाहिए । देश को इस समय रूपान्तर की भावना से परिपूर्ण तरुण स्त्री-पुरुषो की ही आवश्यकता है । भारत की आशा उसके युवक-आन्दोलन मे है । यह आन्दोलन भारत की अमर परम्परा—उसकी आत्म-बुद्धि—और उसकी अर्वाचीन भावनाओ की गंभीर योग्यताओ के ठीक अनुकूल होना चाहिए । हमारे ऋषियो की प्रज्ञता और आधुनिक विज्ञान के परस्पर सयोग मे ही नवीन भारत का जन्म होगा ।

बलवान ही सफल होता है । और तुम उतने ही बलवान बनोगे, जितने कि तुम सादा होगे और गरीबो की सेवा करोगे । उनके अन्दर एक जबर्दस्त शक्ति बन्द पड़ी हुई है । जाओ, उनके पास जाओ; उन चमारो, ढेडो, भगियो, अछूतो, और दलितो के साथ

हिलो-मिलो ! बस, देश मे एक नई शक्ति का अवतरण होगा।

एक पुरानी कथा है। राम एक दिन खेल रहे थे। कुछ देर के बाद पिता ने उन्हे देखना चाहा। माँ ने आवाज देकर राम को बुलाया। और तब, कवि के शब्दो मे, कीचड मे सने हुए हाथो से राम मुस्कराते हुए आये। राम मुस्कराते हुए और उनके हाथ कीचड़ मे सने हुए – यही गरीबो के मित्र श्रीराम की सुन्दर आकृति है! नौजवानो! क्या तुम्हारे हाथ सन रहे है ? कीचड मे लथपथ हैं ? अथवा तुम पश्चिम के क्षणिक फलालैनी फैशन और आराम मे मस्त हो ? ओ! जाओ, गरीबों के पास जाओ! नम्रता के साथ उनके पास जाओ और उनसे कहो— 'तुम हमारे हो!' उन्हे अपने समाज मे वापस ले आओ—उस समाज मे, जो जाति के अभिमान मे मस्त होकर कमजोर हो चुका है और ऋषि-काल के महान आदर्शों के विपरीत रीति-रिवाजो और आदतो से जिसकी जीवनी-शक्ति नष्ट हो गई है। गरीबो के साथ रहकर अपनेमे एक नई शक्ति पैदा करो और तब अपने समाज का निर्माण करो। न सिर्फ अपने अकेले के लिए बल्कि नवीन एशिया के लिए, नवीन सस्कृति के लिए, और नवीन मानवता के लिए, अपने राष्ट्र मे भ्रातृत्व की स्थापना करो। ज्ञान और तपस्या से, भारतीय आदर्शों के प्रति प्रेम से, और इस प्राचीन महान राष्ट्र के महान सौभाग्य के विश्वास से, तुम इसका निर्माण करो. ओ! अपने देश की सेवा के लिए उत्सुक नौजवानो! भविष्य के लिए अपने राष्ट्र के सौभाग्य का निर्माण करो!

टी० एल० वास्वानी

देश के लिए

(?)

गाँव के दूसरे छोर से अब भी ढोल का गम्भीर शब्द सुनाई पड रहा है। अभी थोड़ी देर पहले इस चौराहे पर कुछ सिपाहियो ने एक घोषणा सुनाई है। पता नहीं, उस घोषणा मे क्या बात थी। हाँ, इतना स्पष्ट है, सुनने वालो के ऊपर उसने बड़ा असर किया है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो एक विद्युत-धारा इधर से उधर दौड गई है। चारो ओर एक प्रकार की उत्तेजना है। युवको की आँखें चमक उठी हैं। उनके सिर गर्व से उन्नत हो गये हैं। एक दूसरे की ओर भावमयी दृष्टि से देख रहे हैं, जैसे सब एक ही बात का अनुमोदन कर रहे हो— "हम भी जायग," 'हम भी जायेंगे'। बुड्ढो की अल्प और क्षीण दृष्टि वाली आँखो मे एक ज्योति आ गई है। वे एक बार सामने दूर क्षितिज तक खडे पेड़ो और हरी-हरी खेती से सुहाती जापानी भूमि की ओर देखते हैं, फिर अपने जीर्ण झुर्री पडे हुए ढीले जोड़ो वाले शरीर की ओर, और एक दीर्घ निश्वास के साथ उनके नेत्रो से मुर्झाये हुए गालो पर गरम-गरम आँसुओ की बूँदे टपक पडती है। एकाएक अपने जराजीर्ण देह की समग्र शक्ति को एकबार एकत्र करके लाठी के सहारे जोश मे उठ खडे होते हैं। बच्चो के बाल्य-सुलभ-सारल्य से युक्त सुन्दर मुखो पर भी थोडी देर के लिए गम्भीरता का भाव आ गया है। वे एकटक, कुछ सोचते हुए पिताओ के वीरता और दृढतामय चेहरो की ओर देख रहे है। उनकी आँखों में चपलता-मिश्रित उत्साह और आतुरता है।

एक रोटीवाले की दूकान पर एक झुण्ड खड़ा है। एक अर्द्ध-वृद्ध व्यक्ति ने हाथ मे तलवार तोलते हुए, अपनी बाहुओं की ओर देखकर, कहा—"अभी तो

इनमे तलवार पकड़ने के लिए पर्याप्त शक्ति है।" फिर, सामने खड़े हुए युवक की ओर देखते हुए, बोला—"क्योंजी तुम देखते हो, मैं बुड्ढा हूँ ? परन्तु, मेरा मन अभी बुड्ढा नहीं है। अपनी जन्मभूमि के प्रति मेरा मन उतना ही अटल और सत्य है।" बुड्ढा गद्गद कण्ठ से उमङ्ग मे बोलता जा रहा था। सध्या के धुन्धले प्रकाश और गाँव की झोपड़ियों से उठे हुए धुएँ मे दूर के दृश्य एक-एक करके वृद्ध के मस्तिष्क में बहुत दिनो की बातों की स्मृतियों के समान लुप्त होते जा रहे थे। आस-पास की झोपड़ियाँ हिलती हुई अस्पष्ट छाया के समान हो रही थी। उस धुन्धले प्रकाश मे भी वृद्ध के मुख पर उत्तेजना स्पष्ट प्रतीत होती थी। उसका स्वर क्रमश तेज हो रहा था। वह कहता गया—

"आज जन्मभूमि को हमारी आवश्यकता है। बचपन से आज तक हमे जिसने अपनी गोद में खिलाया है, और मरने के बाद भी जो हमारी धूल को अपने अंचल मे बाँधकर छाती से लगाकर रक्खेगी, सुख-दु ख मे, चिन्ता और विपत्ति मे, आवश्यकता पडने पर जिसे हमने पुकारा है, आज उसे ही हमारी आवश्यकता है। जापान के अन्न से बना रक्त का हरएक कण उसीका है और उसीके काम आना चाहिए।"

वृद्ध का स्वर कुछ-कुछ काँप रहा था। दूकान पर जलती हुई अंगीठी के दहकते हुए अगारो का लाल-लाल प्रकाश वृद्ध के मुख पर पड रहा था, जिससे उसके चेहरे पर सैनिक दृढता देखी जा सकती थी।

"ऐं।" अभी थोडी देर पहले आये हुए एक आगन्तुक ने कहा, "क्या बात है ?"

भीड़ में से कोई दृढ स्वर मे बोला—'तुम्हे पता नहीं ? आज एक घोषणा हुई है। रूसी भेड़िये, हमारे जापान पर, खूनी आँखों से घूरते हुए गुर्रा रहे है। जन्मभूमि ने अपने पुत्रो को स्मरण किया है। जिनको अपनी जन्मभूमि से प्रेम है, वे उसकी पुण्य सेवा के लिए अपने नाम सैनिको मे जाकर लिखावे। आज उसे उनकी आवश्यकता है।"

उस भीड मे से बहुत लोगो का मिला हुआ कुछ धीमा-धीमा-सा शब्द सुनाई पड़ने लगा। इसी समय दूर से बहुत मन्द घोषणा का ढम-ढम शब्द हवा के झोके के साथ आया और दूर अनन्त मे जाकर विलीन हो गया।

(२)

प्रात काल होगया था। सूरज अभी-अभी निकला था। जिस प्रकार एक चतुर चित्रकार पर्दे के समप्रृष्ठ पर पेन्सिल की नोक से पहाड़, पेड, नदी, नाले, पुष्पित घाटी के बीच मे कल-कल करके बहने वाली तरगति नदी, उसके तट पर बसी हुई लता-वेष्टित सुन्दर झोपडिया आदि अकित करके और सुन्दर रंग देकर जीवित-जागृत दृश्य बना देता है, उसी प्रकार झोपड़ियाँ, गाँव के चारो ओर हँसती हुई खेती, नदी इत्यादि सब दृश्य एक-एक करके उषा के प्रकाश से प्रकट हो गये थे। बालसूर्य की सुनहरी किरणे नदी की उठती हुई तरगो से झिलमिला-झिलमिला कर खेल रही थी और पेडो की हरी-हरी पत्तियो मे सुनहरे रंग की गोट लगाकर स्वर्गीय दृश्य उपस्थित कर रही थी। ठण्डी हवा बह रही थी। दृश्य बडा सुहावना था। ग्रामवासियो के जगने का धीमा-धीमा शब्द हो रहा था। एक वृद्धा स्त्री अपनी झोपड़ी से बाहर निकली। दूर के एक लाइन मे मिले हुए पेडो से लेकर उसके अपने पैर के नीचे की हरियाली तक हरएक दृश्य उसपर मोहनी मन्त्र पढ रहा था। वृद्धा बड़ी देर से एकटक देख रही थी। पीछे से झोपड़ी मे से निकल कर एक १५ वर्ष के लड़के ने वृद्धा का हाथ पकड़ कर पूछा—

"माँ, क्या देख रही हो ?"

वृद्धा—बेटा, जो इस तुम्हारी माँ की भी माँ है, उसे देख रही हूँ।

लड़का—क्या माँ ?

वृद्धा—सामने देखो। क्या दिखाई पड़ता है ?

लड़का—हरे-हरे खेत, उनके बीच मे चमकती सोने की लकीर-सी वह छोटी नदी, उसके आगे छोटी हरी-हरी पहाड़ियाँ, उसके दो अंगुल ऊपर चमकते सोने के कटोरे-सा सूरज और नीला आकाश।

वृद्धा—कैसा दृश्य है ?

लड़का—बड़ा सुन्दर, माँ! जैसे दुनिया-भर की सुन्दरता यही सजा कर रख दी गई हो!

वृद्धा—यही तुम्हारी माँ है! गौर से देखो। तुम्हारे अगो मे इसीकी धूल लगी है। यह जो अन्न खाते हो, जिससे बना हुआ यह रक्त तुम्हारे शरीर की रग-रग मे दौड रहा है, यह जो मीठा अमृत सा पानी पीते हो, यह पृथ्वी जिसपर तुम इस समय खड़े हुए हो, बैठते-सोते और चलते-फिरते हो, और यह मनोहर दृश्य जो तुमपर प्रेम का मन्त्र पढ रहा है जानते हो, यह तुम्हे कहाँ से प्राप्त होता है और कहाँ पर है ?

लड़का—इस पृथ्वी से।

वृद्धा—यह पृथ्वी कहाँ की है ?

लडका—जापान की।

वृद्धा—यही तुम्हारी माँ है, बेटा! और गौर से देखो।

लडका—हाँ, माँ! यह भी हमारी माँ है।

वृद्धा—नहीं-नहीं। "यह भी" नहीं। यही तुम्हारी माँ है और "मै भी" तुम्हारी माँ हूँ। मान लो, यदि कोई तुम्हारी इस माँ के इस हरे अञ्चल को उघाड़ना चाहे—इस रम्य दृश्य को नष्ट-भ्रष्ट करना चाहे—तुम्हारी इस माँ की छाती पर अपने पैने भालों को गाढ कर अत्याचार करना चाहे, तो ?

लडका—मेरे सबल हाथ उसे रोकने को आगे बढेगे।

वृद्धा—शाबाश, बेटा, शाबाश! तुम्हारा कर्त्तव्य होगा कि तुम अपने प्राणो से अपनी माता के शरीर को ढक कर शत्रु के वार को अपनी छाती पर लो।

लडका—हाँ, माँ, मेरा यही कर्तव्य होगा।

वृद्धा—तुम्हारा यही कर्तव्य होगा। और यदि इससे भी अधिक और कुछ हो सके, तो वह भी। तुमने कल की घोषणा सुनी है बेटा ?

लडका—सुनी है, माँ!

वृद्धा—तब क्या सोच रहे हो बेटा ? जाओ, गाँव के उत्तर बाग मे कप्तान का कैम्प लगा है। वहा जाकर मातृभू की दिव्य सेवा मे अपने श्रद्धा और कर्त्तव्य के फूल चढाओ। बेटा, अपनी इस माता की भी माता की मर्यादा को अक्षय बनाने के लिए अपना नाम सैनिको मे लिखाओ। आज तुम्हारी माँ को तुम्हारी आवश्यकता है।

लडका—माँ मै अवश्य जाऊँगा। लो यह चला

(३)

"माँ! माँ! दर्वाजा खोलो, माँ!"

शाम हो गई थी, परन्तु अभी अँधेरा नहीं फैला था। लड़का दर्वाजे पर आकर खड़ा हुआ। घर का द्वार बन्द था। वह थोडी देर कुछ चिन्तित-सा सन्ध्या की ललाई की ओर देखता रहा। उसके मुख पर प्रसन्नता नहीं थी। उसके जूते धूल मे भरे हुए थे। फिर दर्वाजे पर हाथ रख कर उसने पुकारा—"माँ! माँ! दर्वाजा खोलो, माँ!"

उसकी आवाज भर्राई हुई थी। जब माँ ने आकर दर्वाजा खोला, उसका हृदय जोरो से धड़क रहा था। वह सोच रहा था, माता पूछेगी तो मै क्या कहूँगा!

माँ दर्वाजा खोलकर चली। उसने अभी पुत्र के मुख को अच्छी तरह नहीं देखा था। वह जब आगे-आगे जा रही थी, उसके मुख पर प्रसन्नता झलक रही थी। एक प्रकार का गर्व उसकी आँखों मे था। लड़का पीछे-पीछे आँगन मे आकर स्टूल पर बैठ गया। माँ ने पूछा—' नाम लिखा दिया, बेटा ?"

लड़का थोडी देर चुप रहा। फिर सिर नीचा किये हुए बोला—"उन्होंने नहीं लिखा माँ !"

माँ भोजन बनाने मे लगी थी। उसने चौक कर पूछा—' क्या ? '

लड़का—उन्होंने नहीं लिखा, माँ !

माता—क्यो ? क्या हुआ ?

लड़का—माँ ! मै यहाँ से गया, रास्ते मे और कई मेरे साथी मिले वे भी वहीं जा रहे थे। वहाँ पर जाकर देखा, बड़ी भीड थी, हर एक बारी-बारी से जाता था। बड़ी देर के बाद मेरा भी नम्बर आया। माँ, मैं बडा प्रसन्न हो रहा था। अफसर के सामने ले जाया गया। उन्होंने मेरा नाम पूछा। मैने नाम बताया। बोले, बडा सुन्दर नाम है। मेरी पीठ पर प्यार से हाथ रख कर और कमर मे लटकती तलवार की ओर देखते हुए बोले, 'इस वेश मे तुम कैसे भले मालूम होते हो। तुम अपने देश के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर सकोगे ?' मैंने कहा 'बड़ी प्रसन्नता के साथ।' उन्होंने कहा, 'ओह ! मेरे प्यारे बच्चे, शायद तुम नहीं जानते कि तुम्हे अपने माता-पिता-परिवार का और स्वयं अपने जीवन का मोह छोड देना पड़ेगा। तुम बड़े भोले हो। क्या तुम्हारा यह छोटा-सा हृदय युद्ध-क्षेत्र मे तोपों और बन्दूकों की आवाज मे और तलवारों की चमक और झन्कार से डर न जायगा ? यह भी हो सकता है कि फिर तुम अपने माता-पिता का दर्शन न कर सको !' माँ, मेरी छाती गर्व से फूल उठी। मैंने उत्तर दिया, 'महाशय, मै यह सब जानता हूँ। मेरी माता को छोड कर, मेरे घर मे, और कोई नहीं है। मै अपनी माता को प्यार करता हूँ अवश्य, परन्तु उससे कहीं अधिक मुझे अपनी माता जन्मभूमि—अपने जापान—से प्यार करना सिखाया गया है। तोप और बन्दूके सचमुच भयावह है, परन्तु उनसे मुझे भय नहीं, क्योकि, मै तो माता के प्रेम का अभेद्य कवच पहने हूँ। फिर मुझे डर किसका !' उन्होंने मुझे अपने और पास खींच लिया और मेरे सिर पर हाथ रख कर बोले, 'वीर बालक, मै तुमसे बडा प्रसन्न हूँ। परन्तु तुम युद्ध मे नहीं जा सकते !' माँ ! जैसे किसी ऊँचे पहाड पर चढ़ते हुए, शिखर के समीप पहुँच कर मेरे पैर फिसल गये हों, और मै नीचे गिर पडा होऊँ। मुझे ऐसा ही मालूम पडा। मैंने पूछा, क्यो ? इसपर उन्होंने कहा, 'क्योकि तुम्हारे घर पर अकेली तुम्हारी वृद्धा माता ही है। यदि तुम युद्ध मे चले जाओगे तो उसकी सेवा कौन करेगा ?' मैं चुप हो गया। उन्होंने अपनी कमर से यह कटार खोल कर मेरे बाँध दी। और प्यार से बोले, 'तुम अपने घर जाओ !'

थोडी देर तक वृद्धा के मुख पर गहरी चिन्ता के भाव अंकित रहे। मानो वह घने जगल मे रास्ता भूल कर भटक रही हो। परन्तु अकस्मात् प्रसन्नता से उसकी आँखे चमक उठी। जैसे अँधेरे मे भटकते बटोही को दूर पर वृक्षों की झुरमुट के बीच से टिमटिमाता हुआ प्रकाश दिखाई पडा हो। वह बोली—

' बेटा, मै तुम्हारे रास्ते मे कण्टक हुई। अच्छा तुम कुछ चिन्ता मत करो। कल तुम अवश्य अपना नाम सैनिकों मे लिखा सकोगे।"

यह कह कर वह बड़ी तन्मयता के साथ भोजन बनाने लगी। लडका माता के इन शब्दों का गूढ तात्पर्य समझने मे असमर्थ था।

× × ×

माता ने आज बडी लगन से और बड़ा स्वादिष्ट भोजन बनाया। मानो अपने सारे जीवन का प्यार, जो कि वह अपने एकलौते पुत्र के प्रति रखती थी, उसने उसमे मिला दिया हो ! पश्चात, बड़े प्रेम से पुत्र को खिलाया। भोजनोपरान्त, थोडी देर मे, लड़का सो गया। परन्तु, माता को नींद न आई।

(४)

"क्यो, वीर बालक, आज फिर यहाँ किस लिए आये हो ?"

"सैनिको मे नाम लिखाने।"

"तुम्हारे सैनिक बन जाने पर तुम्हारी वृद्धा माता की सेवा कौन करेगा ?"

युवक ने अपनी जेब से एक लिफाफा निकाल कर अफसर के सन्मुख मेज पर रख दिया। अफसर ने लिफाफा उठाया। उसपर उसीका पता लिखा हुआ था। उसने कॉंपते हाथो से लिफाफा खोला, उसमे लिखा था—

महाशय,

जिस समय मैंने सुना कि आपने केवल इसीलिए कि मेरे पुत्र के सैनिक बन जाने पर मेरी सेवा कौन करेगा, उसको देश के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने और उस अक्षय पुण्य का भागी होने से रोका है, मैंने अपने आपको ससार मे सबसे अधिक दुर्भागिनी समझा। बुढापे से जर्जरित मेरा शरीर मेरे पुत्र के देश-सेवा के मार्ग मे रुकावट डाल रहा है। अर्थात्, मैं अपने देश की वैरिन हूँ ! क्या यह मेरा कम दुर्भाग्य है ? इसलिए इससे पहले कि मैं अपने देश के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शत्रु प्रमाणित होऊँ, अपने देश के साथ विश्वासघात करूँ, यह अच्छा है कि मै अपने ऐसे जीवन का ही अन्त कर डालूँ।

अब आपको, मेरे पुत्र को, अथवा ससार को मेरे जीवन के सुख-दुःख की चिन्ता नहीं करनी पडेगी। क्योंकि, मैं ऐसी जगह पहुँच जाऊँगी, जहाँ ससार का कोई दुःख, बडी से बडी आपत्ति, कोई चिता मेरे शरीर का स्पर्श तक नहीं कर सकेगी।

मैं अपने पुत्र को देश के अर्पण करती हुई, अपने पुत्र और प्यारी जन्मभूमि से, सदा के लिए बिदा होती हूँ।

आपकी—

सौभाग्यवती माता

× × ×

पत्र समाप्त हुआ। अफसर का मुख गम्भीर हो रहा था। उसने युवक के मुख की ओर देखते हुए कहा—"धन्य हो वीर माता ! धन्य हो वीर पुत्र ! जापान अवश्य ही विजयी होगा।" युवक को अपने पास बुलाकर और पीठ पर हाथ फेरते हुए पास बैठे क्लर्क से वह बोला, "इसका नाम लिखो।" और उसने नाम लिख लिया। युवक के मुख पर प्रसन्नता थी।

भद्रजित 'भद्र'

निराशा के पथ में—

क्या पूछते हो ? 'यह क्या है ?' अच्छा, तो सुनो, और अच्छी तरह से सुनो—यह मेरे सुन्दर तथा पवित्र भावो की राख है ! मैंने सोचा था अपने इन्हीं हाथो से भारत-माता के बन्धन को तोड दूँगा ... आँसू पोछ कर उन आँखो मे मुस्कराहट भर दूँगा ... अपने भाइयो को सन्मार्ग पर लेजाऊँगा और फूट के काँटे उखाड कर फेंक दूँगा। यह देखो ! मेरे इन सुन्दर भावो की यह राख पडी है ! ! जानते हो, क्यो ? यह अपने आपसे पूछो, देशवासियों से पूछो, और अपने परमात्मा से पूछो। ... और फिर देखो इस राख पर ! मेरे पवित्र भावो की इस राख पर !!!

जोगेन्द्रकृष्ण कौल

उद्योगी हरि गोविन्द गोविल

(अमेरिका के भारतीय प्रकाशक

भारतवर्ष के लिए यह एक बडी स्फूर्तिप्रद बात है कि उसकी सन्तान ऊँचे आदर्शों और जन्मसिद्ध श्रद्धा को लेकर विदेशो मे जाती और वहाँ भारत के सन्देश को सुना-सुना कर दुनिया की राय को भारतीय स्वतंत्रता के अनुकूल



श्री हरि गोविन्द गोविल

बनाती है। सचमुच राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति और उसकी चिर प्रतिष्ठा का एकमात्र आधार देश के युवक और उनकी शक्ति ही है।

हरि गोविन्द गोविल न्यूयार्क (अमेरिका) से प्रकाशित होनेवाले 'ओरिएण्टल मैगजीन' के प्रधान सम्पादक और अमेरिका के एक होनहार भारतीय प्रकाशक हैं। अमेरिका मे आपकी 'फर्म' का नाम 'हरि जी. गोविल इनकारपोरेटेड, ओरिएण्टल प्रकाशक, टाइम्स बिल्डिंग, न्यूयार्क शहर' है। आप भारतमाता की उन इनी-गिनी सन्तानो में से हैं, जो भारतीय संस्कृति मे पल कर, प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति के ऊँचे आदर्शों को गृहण करके, अपने देश की सभ्यता का न्याय्य अभिमान रखते और प्राचीन पूर्व के ऊँचे-से-ऊँचे आध्यात्मिक आदर्शों का अर्वाचीन पाश्चात्य सभ्यता की ऊँची-से-ऊँची वैज्ञानिक सफलता से सुखद संश्लेषण करने के लिए रात-दिन परिश्रम करते रहते हैं। ऐसे सुप्रसिद्ध देशबन्धुओं की जीवन-चर्चा सदा हमारी राष्ट्रमाता के अभिमान और आनन्द का कारण होगी।

अमेरिका का स्वावलम्बन-आदर्श

हरि गोविन्द गोविल का जन्म बीकानेर मे हुआ था। बनारस मे आपने शिक्षा पाई और सन १९२० ई० मे आप अमेरिका पहुँचे। आपके हृदय मे आरंभ ही मे जन-सेवी अमेरिका-वासियो की वह भावना विद्यमान थी, जिसके कारण अपनी बढ़ती जवानी के प्रारम्भिक दिनो मे वे खेतो पर घोर परिश्रम करते, गली-गली घूमकर समाचारपत्र बेच कर या और भी इसी तरह की दूसरी मजदूरी करके अपनी उदर-पूर्त्ति का प्रबन्ध करते हैं। अमेरिका-वासी, अब्राहम लिंकन के चरित्र की चर्चा बडे आदर और अभिमान के साथ करते है। रेल की पटरियाँ काटना-छेदना (Rail-splitting), मनिहारी की दूकान पर तौल-जोख का काम करना, और ऐसे ही अन्य अनेक कार्यों मे अब्राहम ने अपने जीवन के प्रारंभिक वर्ष बिताये थे। अवसर पाकर यही अब्राहम अमेरिका के इतिहास मे एक सुप्रसिद्ध और सर्वप्रिय राष्ट्रपति बना।

हेनरी फोर्ड की भी आरम्भ मे यही दशा थी, लेकिन आज वह विश्व का सबसे बड़ा धनी है। प्रसिद्ध उड़ाका चार्ल्स लिण्डबर्ग मुँह में सोने का चम्मच लेकर नही पैदा हुआ था। अगर अमेरिका के कुछ भाई उसे आर्थिक सहायता न देते तो अट-

लाण्टिक महासागर के पार जाने मे जो अद्वितीय सफलता उसे मिली, वह शायद न मिलती। इस तरह के खतरे से भरे साहसिक काम के लिए आर्थिक सहायता पा जाना कोई ऐसी-वैसी बात नहीं है। इसमें शक नहीं कि लिण्डबर्ग अत्यधिक कुशल और अनुभवी व्यक्ति है; लेकिन साथ ही अगर उसमे दृढ़ संकल्प और निश्चित लगन की भावना न होती, जिनके कारण मनुष्य मे आत्मविश्वास बढ़ता है, तो उसके उक्त गुणो का शायद ही कुछ उपयोग हो पाता। केवल चार्ल्स के लगन-भरे स्वभाव को परख कर ही धन-पतियों की थैलियाँ उसके लिए खुल गई थी, उसके जीतने की बहुत थोडी आशा के रहते हुए भी उन्होंने अपना द्रव्य जोखो मे डाल दिया था।

अमेरिका-प्रवासी भारतीय विद्यार्थी भी अमेरिका-वासियो की इस विजयी वृत्ति को, प्राय: नितान्त निराशाजनक परिस्थिति मे रहते हुए भी, जल्दी मे अपना लेते हैं। इन भारतीय विद्यार्थियो मे से कुछ ने तो अमेरिका की भूमि पर बहुत थोड़े रुपयो के साथ पैर रक्खा था। उन्होंने तश्तरियाँ धोना शुरू किया, भोजन परोसने का काम किया, और इसी तरह की अन्य मजदूरी करके कालेज की पढ़ाई का खर्च निकाला और जैसे-तैसे खा-पीकर अपने दिन बिताये। मजदूरी करने के कारण कोई उनसे घृणा नहीं करता। उलटे यह जरूर देखा गया है कि स्वावलम्बन के कारण कालेज के अध्यापक उनका उपयुक्त आदर करते और काम दिलाने के लिए उनकी सहायता करने मे सुख मानते हैं।

हरि गोविल से भेंट

एक दिन मैं न्यूयार्क शहर के हिन्दू-भोजनालय में बैठा हुआ कुछ विद्यार्थी मित्रों से, जो सम्मिलित भोजन के लिए अक्सर उस समय वहाँ एकत्र हुआ करते थे, गपशप कर रहा था। उस समय किसी अभ्यागत का आगमन हम सबके सुख और मनोविनोद का कारण बन जाता था।

जब श्री गोविल भीतर आये, तो हम सबका ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ। वह कहाँ से आये? किस उद्देश्य से आये? कितना रुपया साथ लेकर आये? आदि कुछ प्रश्न थे, जिनके उत्तर की उनसे आशा की गई।

हरि हमारे साथ बैठ गये और तत्काल ही भोजन की ओर अपनी दृष्टि गडाकर, खाना खाते हुए, वह हमसे अपने कार्यक्रम की बातें कहने लगे। 'मैसेचुसेट्स इन्स्टीट्यूट आफ टेकनालाजी' मे इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग की शिक्षा पाने के उद्देश्य से वह भारत मे अमेरिका आये थे। उन्होंने प्रमाणपत्रो के साथ अपना आवेदनपत्र पहले ही भेज दिया था। जब रुपये का प्रश्न उठा, तो हमे मालूम हुआ कि उस समय उनके पास अमेरिकन सिक्के मे दो सेण्ट और दो अंग्रेजी पेनी के अतिरिक्त और कुछ न था। जब हमने पूछा, 'इस तरह बिना पैसे के कालेज मे रह कर किस तरह पढ सकोगे?' तब उन्होंने हमे विश्वास दिलाते हुए उत्तर दिया कि मजदूरी द्वारा रुपया कमा कर वह पढने की आशा रखते हैं।

उनकी दृढ़ लगन देखकर मैं प्रसन्न हुआ, मैंने कुछ मित्रो के साथ एक कमरे मे रहने के लिए उनसे कहा और सवेरे जल्दी उठकर अखबारो मे प्रकाशित आवश्यकताओ मे से अपने योग्य कोई काम ढूँढ लेने की बात कही। स्वर्गीय श्री बी० एन० दास ने उन्हें श्रीगणेश के लिए ५ डालर दिये और हरि हमारे पास से उठकर चल दिये।

कुछ समय बाद जब मैं इनसे लाला लाजपतराय द्वारा संस्थापित "इंडिया इन्फॉरमेशन ब्यूरो" के कार्यालय मे फिर मिला, तब इन्होंने १५ शिलिंग प्रति सप्ताह पर फोटोग्राफिक फिल्मो को 'डेवेलप्' करने

के काम के मिलने की बात मुझसे कही। कुछ समय बाद वह न्यूयार्क शहर के कालेज में भर्ती हो गये।

मार्ग-व्यय की समस्या

अब हममें गाढ़ी मित्रता हो गई थी, अतः एक दिन मैंने हरि से पूछा कि निर्धन की हालत में वह न्यूयार्क तक किस तरह आ पहुँचे।

हरि ने उत्तर देते हुए कहा—"मैं बनारस हिन्दू-विश्वविद्यालय का एक विद्यार्थी था। छात्रवृत्ति के कारण ही मैं वहाँ भर्ती हो सका था। मेरे माता-पिता बहुत ही गरीब थे—माता ने मुझे प्रारम्भिक शिक्षा दिलाने की गरज से अपने आभूषण तक बन्धक रक्खे। वर्षों से मैं अमेरिका में आकर पढ़ने के स्वप्न देखता रहा था। महायुद्ध की समाप्ति के बाद ही मैंने भारत से प्रस्थान कर देने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। आखिर १९२० ई० में मुझे कतिपय उदारहृदय मारवाड़ी दानियों से थोड़ी आर्थिक सहायता मिल गई, कुछेक सौ रुपये मिले। देने वालों में श्री जाजोदियाबन्धु, श्री बिड़लाबन्धु और बनारस के श्री शिवप्रसाद गुप्त के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मैं तत्काल अपनी यात्रा का टिकट कटाने बम्बई पहुँचा। लेकिन, वहाँ जाने पर मालूम हुआ कि दूसरे दर्जे के टिकट तो महीनों पहले ही खतम हो चुके थे। आखिर निराश होकर मैंने बम्बई से मार्सलीज तक का पहले दर्जे का टिकट खरीदा और केवल शेष चार रुपयों के बल पर विदेश-यात्रा के लिए चल पड़ा।

"मेरे साथ जहाज की केबिन में तीन हिन्दू यात्री और थे। इनमें से बम्बई के एक व्यापारी भाई मुझसे भाई जैसा प्रेम करने लगे। उन्होंने मुझसे मेरे गन्तव्यस्थान की ओर यात्रा के हेतु की बात पूछी। जब उन्हें मालूम हुआ कि मार्सलीज में मेरे पास केवल चार रुपये थे, तब उन्होंने मुझे अपने साथ होटल चलने के लिए आमन्त्रित किया। मैं गया, और एक दिन-रात उनका मेहमान रहा। तब मेरी सच्ची महत्वाकाँक्षा का परिचय पाकर उन्होंने मेरे नाम लन्दन का टिकट खरीद दिया, मुझे जेब-खर्च के लिए दो पौण्ड ऊपर से दिये, और प्रेमपूर्वक विदा किया।

"लन्दन पहुँचने पर मैं कुछ भारतीय विद्यार्थियों से मिला। जब उन्हें मेरी निर्धनता का पता चला और मजदूरी करने की मेरी इच्छा उनपर प्रकट हुई, तो वे मुस्कराये और मुझपर हँसने लगे। सौभाग्य से इन लोगों में श्री महादेवसिंह (पी० एच० डी०) नामक एक पंजाबी युवा भी वहाँ उपस्थित थे। अमेरिका में कृषि-विषयक पढ़ाई समाप्त कर इस समय वह भारत-यात्रा की तैयारी में थे। उन भाई का दृष्टिकोण कुछ और था—और, वह मेरे अनुकूल था। उन्होंने अमेरिका जाने के मूल विचारों को न छोड़ने का मुझसे अनुरोध किया और मेरे हौसले को बढ़ाया।

उदार भारतीय दानी

"लन्दन में रहते हुए मुझे कोई काम न मिल सका, मेरी जेब तेजी से खाली होने लगी। इसी समय मैंने सुना कि श्री अम्बालाल साराभाई नामक एक धनी मिल-मालिक इस समय लन्दन में हैं। मैं उनके पास गया। उन्होंने बड़ी उदारता-पूर्वक मेरा स्वागत-सत्कार किया। श्री अम्बालाल साराभाई के अत्यन्त धनी होने के कारण कई भारतीय विद्यार्थी उनके पास आर्थिक सहायता के लिए पहुँचते रहते थे। इनमें से कई ने उन्हें ठगा भी था। इसीसे इस समय भारतीय विद्यार्थियों की सहायता करने में वह पहले से अधिक सतर्क रहने लगे थे। उन्होंने मुझसे अपने चरित्र और अपनी प्रामाणिकता के कुछ प्रतिष्ठित प्रमाण माँगे और उनकी प्राप्ति पर मुझे सहायता

देने की बात कही। मैं हताश हो गया। लन्दन मे किसी भी प्रभावशाली व्यक्ति से मेरा परिचय न था। पर, एकाएक मुझे याद आई कि मेरे पास आचार्य श्री आनन्दशंकर जी ध्रुव का अच्छा-सा प्रमाण-पत्र है और श्री साराभाई श्री आचार्यजी को भलीभांति जानते ही थे। इसी बीच मैंने एक सुप्रसिद्ध अंग्रेज महिला से भी परिचय बढा लिया था, उन देवी का मुझपर अगाध प्रेम था, और उनसे प्रमाणपत्र पाने मे मुझे विशेष कठिनाई नही हुई। प्रार्थना करने पर मेरी सिफारिश के लिए उन्होने बड़ी तत्परता प्रकट की। सौभाग्य से श्री साराभाई इन्हे भी अच्छी तरह जानते थे।

"श्री साराभाइ को मेरी प्रकृत इच्छाओ की सचाई मे विश्वास हो गया। उन्होने मेरी इच्छा पूरी की—मुझे संयुक्तराज्य अमेरिका के लिए तीसरे दर्जे का टिकट खरीद दिया। मेरी खुशी का पार न था। बस, फिर क्या था, पहले जहाज से मैं अमेरिका के लिए रवाना होगया। इस जहाज पर मुझे दो सम्पन्न भारतीय विद्यार्थी मिले, जो संयुक्तराज्य (अमेरिका) के किसी कालेज मे भर्ती होना चाहते थे। जब उन्हे मेरी निर्धनता का परिचय मिला, तो वे मुझे कहने लगे कि कम-से-कम ५० डालर की रक़म के बिना मै अमेरिका की भूमि पर पैर न रख सकूँगा। मेरी चिन्ता बढ़ गई। घण्टो इसी चिन्ता मे, इन्ही बातो की उधेड़-बुन मे, लगा रहा। सोचता था, कही इतने कठोर संघर्ष और मेहनत के बाद बीच ही मे लौटा न दिया जाऊँ। आख़िर मैंने अपने साथी भाइयो से ५० डालर उधार देने की बात कही, जिससे बन्दरगाह पर जाँच मे मैं सफल हो सकूँ। मैंने उन्हे विश्वास दिलाया कि वहाँ की जाँच से मुक्त होते ही मैं उनकी रक़म वहीं उन्हें लौटा दूंगा। उन्हे मुझसे कोई ख़ास सहानुभूति तो थी नहीं, अत आख़िर तक वे मेरी बात पर राज़ी न हुए। लेकिन जब समय आ ही गया, तो मेरी सहायता करने को तैयार हो गये। उन्होने मुझे एक बन्द लिफाफा दिया और जाँच के समाप्त होते ही उसे लौटा देने की बात कही। मेरे हृदय का बहुत कुछ बोझ हलका हो गया, मैं उस सारी कार्यवाही को जल्दी-से-जल्दी समाप्त करने के लिए उत्सुक हो गया। अधिकारियो ने मेरे प्रमाणपत्रो को सन्तोषजनक पाकर मुझे शहर मे जाने की अनुमति दे दी। द्रव्य-सम्बन्धी मेरी हैसियत को जाँचने का उन्होने उपक्रम तक न किया। प्रवेशाधिकारियो की जाँच से छूटते ही मैंने अपने मित्रो को बडी कृतज्ञता-पूर्वक धन्यवाद देते हुए वह लिफाफा लौटा दिया—यद्यपि उसके भीतर क्या था, इसे खोलकर बताने का मुझे मौक़ा ही न मिला। न किसी ने पूछा ही। मुझे आश्चर्य होता है, जब मै विचारता हूँ कि उस लिफाफे मे उतनी रक़म थी भी अथवा उन मित्रो ने मेरे साथ हृदय-हीन मजाक करने की ठानी थी! अस्तु। कुछ भी हो, मुझे तो दैव की शक्ति पर पूर्ण विश्वास है—मै दैव-वादी हूँ।

अमेरिका पहुँचा

"जिस समय मैंने अमेरिका की भूमि पर पैर रक्खा, अपने लक्ष्य की प्राप्ति का स्मरण कर मेरे हर्ष का ठिकाना न रहा। उस समय मैंने सोचा कि अब मैं एक नये और साहसी जीवन के प्रवेश-द्वार पर आकर खड़ा हूँ। मेरे मित्रो ने रात अपने साथ होटल मे बिताने का मुझसे आग्रह किया और मैंने नम्रतापूर्वक उसे मान लिया। दूसरे दिन सवेरे मैं कुछ देशबन्धुओ से मिलने की आशा से हिन्दू-भोजनालय मे गया और सौभाग्य से मुझे वहाँ कुछ भाई मिले भी।"

(अपूर्ण)

रामलाल बाजपेयी (अमेरिका)

साहित्य-संगीत-कला

अनुरोध

मत बाँधो मतवाले ! मुझको ले ममता की कड़ियाँ ।
कहीं हृदय मेरा रोता है गिन गिन धड़कन–घड़ियाँ !
करता था जी की ज्वालाये ठण्डी जल-जल 'कोई' !
निरख न पाया किन आँखो से बरसी आँसू-झड़ियाँ ।

× × ×

बहे जहाँ शीतल फव्वारे वे हरियाले भाग—
बनकर ज्वालामुखी आज क्यो उगल रहे हैं आग ?
ठहर सकूँगा इस कुटिया मे कब तक हरे ! झुलसते ।
देख रहा छन-छन आँखो से जीवन-सुमन मुरझते ।

× × ×

स्मृति के जागृत सपने मे, तू अरे निठुर, मिलने दे ।
रुद्ध कण्ठ की निश्वासो को बढ़ने दे—चलने दे ॥

'वीरात्मा'

बाट

तिमिर-गर्विता थी वह रात,
थे तारागण निपट मलीन ।
तन्द्रामय जग था उस काल,
मैं भी थी उनमे तल्लीन ।

कभी सोचती, कभी टहलती
कभी बैठकर ओट कपाट ।
हर्षित-व्यथित-तृषित नेत्रो से
फिर-फिर देख रही थी बाट ॥

रामनारायण विद्यार्थी

जगत् के साहित्य

(३)

*स्पेनी साहित्य

स्पेन यूरोप का एक विचित्र देश है। उसका प्रवाह, उसकी धारा, उसकी एकान्तिकता, उसका सीधा-सादा जीवन बीसवी शताब्दि के यूरोप से स्वरैक्य नहीं रखते इस वैज्ञानिक युग मे भी स्पेन, विश्व के अन्तराल मे सर्वग्राही वेग से बहने वाली धारा के तट पर खडा है—कभी अपने सादे, अकृत्रिम, सन्तोषमय जीवन की ओर देखता है और कभी सघर्षों के बीच सब को मिलाकर एक कर देने वाले प्रवाह को आश्चर्य के साथ देखता है।

इस प्रकृति के कारण ही समस्त यूरोपीय साहित्यों के समूह के बीच स्पेन के साहित्य का एक भिन्न व्यक्तित्व दिखाई पडता है। 'रोमास' के प्रति उसमे अत्यधिक झुकाव है, अतीत गाथा के प्रति उसमे अत्यधिक स्नेह है और दुनिया से अलग सन्तोषमय जीवन व्यतीत करने का उसमे एक जीवित भाव है।

भाषा

भारतीय साहित्य की भाँति स्पेन का साहित्य भी कई स्वतत्र भाषाओं के साहित्यो का समूह है। जैसे भारत मे हिन्दी बंगला, गुजराती, मराठी, उर्दू, तामिल आदि कई प्रधान भाषाये और प्रत्येक का एक स्वतंत्र सुविकसित साहित्य है, उसी प्रकार भौगोलिक परिस्थितियो द्वारा कई भिन्न प्रान्तो मे बँट जाने एव अनेक प्रकार के राजनैतिक प्रभावों के कारण स्पेन की भी कई स्वतत्र भाषायें बन गई है, उनका साहित्य भी एक सीमा तक स्वतत्र है, अतएव 'स्पेनी साहित्य' शब्द से किसी विशेष भाषा के साहित्य का नही, वरन् स्पेन देश के साहित्य का अर्थ समझना चाहिए।

यो तो भारत की भाति ही स्पेन में अनेक बोलियाँ प्रचलित हैं पर इनमे तीन मुख्य हैं—

(१) कैटलेनेश या कटाला (अंग्रेजी मे कैटेलन)।

(२) कैस्टेलानो (अग्रेजी मे कैस्टीलियन)।

(३) पोर्च्युगेई-गैलेगो (अंग्रेजी मे पोर्च्युगीज़ गैलीशियन)

और इनमे भी कैस्टेलानो अथवा कैस्टीलियन के बोलने और समझने वाले सबसे अधिक है। इसे 'स्पेन की हिन्दी' समझना चाहिए।

कटाला, फ्रांस से मिले हुए स्पेन के पूर्वोत्तर सीमाप्रान्तों एव पूर्वी समुद्र-तट के कतिपय प्रान्तों की

कटाला या कटलन भाषा है। सम्पूर्ण जन-संख्या का केवल षष्ठमाश (अर्थात लगभग पैंतीस लाख आदमी) इसे बोलता है। सच पूछिए तो यह दक्षिण फ्रास की प्राचीन 'रोमाँस'-भाषा 'लग-द ओं' से निकल कर स्वतन्त्रता-पूर्वक विकसित हुई एक भाषा है। इस निष्कर्ष का समर्थन भाषा-विज्ञान की खोजो के अतिरिक्त इस बात से भी होता है कि फ्रास के दो-एक दक्षिणी प्रान्तो (रूर्जालो और सरडाने) मे आज भी यह बोली जाती है। नवी से लेकर तेरहवी शताब्दि के मध्य तक राजनैतिक कारणो से इस भाषा का प्रचार खूब बढ़ा किन्तु पीछे कैस्टेलानो वा कैस्टीलियन भाषा-भाषियों का प्रभाव बढ़ जाने के कारण इसकी वह स्वतन्त्रता एव तीव्र गति दब गई और पहले की अपेक्षा इसका प्रचार भी घट गया।※

पिछली खोजो से यह भी ज्ञात हुआ है कि 'कटाला' नाम से जो भाषा बारहवी-तेरहवी शताब्दियो में पुकारी जाती थी, वह वस्तुत गाँवो की भाषा थी और उसमे साधारणत गद्य ही लिखा जाता था। प्रारम्भिक पद्य की भाषा का नाम तो 'लेमोजी' मिलता है। 'लेमोजी' के अनेक शब्द, मुहाविरे और रूप 'प्रावेकल' भाषा से लिये गये थे। पीछे यह 'लेमोजी' ही कटाला बोलने वालों की साहित्यिक भाषा बन गई और

*स्पेनी मे मेरा तात्पर्य 'स्पेनिश' से है। — लेखक

※ देखिए 'Das Catalanische' (ग्रोबर की प्रसिद्ध पुस्तक Grundriss der romanischen Philologie)

गद्य-पद्य सब उसी में लिखा जाने लगा। वर्तमान समय में 'लेमोजी' शब्द से प्राचीन कटाला अथवा सुसंस्कृत साहित्यिक भाषा का ही अर्थ लिया जाता है। बोली जाने वाली भाषा भी कैटालोना को छोड अन्यत्र कहीं आज कटाला नाम से पुकारी नहीं जाती। प्रान्तो के नाम पर कहीं वेलेन्शिया, कहीं मेजार्का और कहीं मेनार्की नाम से पुकारी जाती है।

कैस्टेलानो या कैस्टीलियन

उत्तर, मध्य और दक्षिण के अधिकाश प्रान्तो मे यही बोली बोली जाती है और सच पूछिए तो जैसे 'हिन्दुस्थानी' भाषा मे हिन्दी का अर्थ लिया जाता है उसी प्रकार 'कैस्टेलानो' शब्द स्पेनी भाषा के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। चौदहवी शताब्दि से लेकर आज तक स्पेन मे इसी भाषा का प्रभुत्व और प्रधानता है तथा सोलहवी शताब्दि के बाद अमेरिका आदि देशो मे जो उपनिवेश स्पेन-वासियों ने बनाये, उनकी भाषा भी 'कैस्टेलानो' ही है। देश के तीन चौथाई अर्थात सवा करोड़ से भी अधिक आदमियों की यह भाषा है। स्पेन का अधिकांश साहित्य इसी भाषा मे सुरक्षित है। यह स्पेन की राष्ट्र-भाषा है।

इस बात को प्राय सब विद्वान मानते है कि कैस्टेलानो वस्तुत स्पेन की प्राचीन ग्रामीण लैटिन की स्वतन्त्रता-पूर्वक विकसित हुई एक शाखा है। 'पोर्च्युगेई-गैलेगो' को हम दूसरा शाखा कह सकते है। इन दोनों शाखाओ का उद्गम 'हिस्पानी रोमांस' वा प्राचीन स्पेन मे प्रचलित ग्रामीण रोमन भाषा है। जिस प्रकार इटैलिया वा इटैलियन, आज रोमन वा लैटिना से एक भिन्न भाषा बन गई है, जैसे हिंदी वा अन्य भाषाओं ने सस्कृत से जन्म लेकर भी स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया है, वैसे ही कैस्टेलानो भी रोमन से भिन्न एक स्वतन्त्र विकसित भाषा बन गई है। परन्तु आज भी उसमे रोमन के तद्भव और तत्सम शब्द इतने अधिक हैं, जितने इटैलियन के अतिरिक्त शायद ही और किसी भाषा मे मिलें।

पोर्च्युगेई-गैलेगो

जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं, स्पेन की लैटिन की यह दूसरी शाखा है। यह भाषा पोर्च्युगाल और गैलीशिया की भाषाओ के मिलने से बनी है। पोर्च्युगेई और गैलेगो दोनों ही साहित्यिक भाषायें रही हैं और पहली तो आज भी पोर्च्युगाल की प्रधान भाषा है। किन्तु पिछली शताब्दियों मे गैलीशिया के राजनैतिक शक्ति से हीन हो जाने के कारण उनकी भाषा पर पोर्च्युगेई का प्रभाव बढ़ता गया और आज की गैलगो तो वस्तुत: पोर्च्युगेई की ही, कतिपय परिवर्तनों के साथ निर्मित, एक रूप है। इसीलिए इसे स्वतन्त्र नाम न देकर पोर्च्युगेई-गैलेगो नाम से पुकारते हैं। पोर्च्युगाल से मिले हुए स्पेन के उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्तो के निवासियों की यह भाषा है और इसके बोलने वालों की संख्या पंद्रह-बीस लाख से अधिक नहीं है। साहित्य की दृष्टि से भी इसका कोई महत्व नहीं।

साहित्य

ऊपर यह लिखा जा चुका है कि स्पेन की इन भाषाओं मे से अन्तिम का कोई 'साहित्य' नहीं, अत उसे यहाँ छोड़ देना ही उचित है। शेष दोनों भाषाओं मे कटाला का जो साहित्य है, उसमे ऐसा अश बहुत कम है जो स्पेन की अपनी चीज कही जा सके। जिस प्रकार इस भाषा का रूप एकदम विदेशी है उसी प्रकार उसके साहित्य पर भी दक्षिण फ्रास के साहित्य की छाप है। इसलिए अधिकाश लेखक स्पेनी साहित्य का वर्णन करते समय इसे छोड जाते है। पाश्चात्य विद्वान तो 'स्पेनिश' साहित्य से केवल कैस्टेलानो भाषा के साहित्य का अर्थ ग्रहण करते है किन्तु स्पेन के साहित्य पर विशद और व्यापक दृष्टि से विचार करते समय कटाला-साहित्य के सम्बन्ध मे भी कुछ लिखना उचित होगा।

कटाला-साहित्य

तेरहवी शताब्दि के मध्य भाग तक का जो कटाला-साहित्य है उसे 'प्रावेंकल'-साहित्य का ही एक मध्ययुगीन साहित्य अग कहना उचित होगा। पूर्वोत्तर स्पेन के निवासियो की भाषा ही, उस काल में *'प्रावेंक' के ग्यारहवी शताब्दि के गीति-काव्य-रचयिता कवियों (Troubadour) की भाषा थी। गुइर्लों द बर्गादों, रैमो विडला बेसलू, गुइलौं द सर्वेरा, सर्वेरी द गेरोना इत्यादि मध्यकालिक कटाला-कवि एक प्रकार से प्रावेंक-कवि ही थे।

---

* प्रावेक — फ्रास का एक प्राचीन प्रान्त था। दक्षिण-पूर्व कोने के फरासीसी जिले।

इनकी भाषा प्राचीन फ्रांस में बोली जाने वाली 'रोमाँस' की †'लैंग द ओ' (Langue d'Oc) नामक बोली थी। चौदहवीं शताब्दि में कटाला भाषा का स्वतन्त्र विकास आरम्भ हुआ। रेमों लुल की कवितायें इस काल की 'प्रावेंकल'-मय कटाला के प्राचीनतम उदाहरणों मे गिनी जा सकती हैं। इस कवि की 'निराशा' (Lo desconort) नामक कविता बड़ी सुन्दर हुई है। यह कविता उपर्युक्त प्रकार की खिचड़ी भाषा का एक अच्छा उदाहरण पेश करती है। गठन तो स्वतन्त्र हो चला है पर शब्द और रूप फरासीसी ही हैं। मुन्तनर इस बात के लिए प्रसिद्ध है कि उसने अपने समय की बोलचाल में ही अपनी गद्य-पुस्तकें लिखी हैं पर वह भी जब पद्य लिखने बैठता है तो 'प्रावेंक' के गीति-काव्यों की भाषा का ही अनुकरण करता है। इस प्रकार चौदहवी शताब्दि के अन्त तक जो कुछ कटाला-साहित्य आज उपलब्ध है, उसमें न तो कोई मौलिकता है, न वह महत्वपूर्ण ही है। गद्य-ग्रंथ तो दो-एक काम के भी लिखे गये पर पद्य का अधिकांश भाग ऐसा था, जिसे कविता नाम से पुकारना 'कविता' की हँसी करना है।

पन्द्रवीं शताब्दि कटाला-कविता का सुवर्ण-काल कही जाती है। इस काल में इसे राजकीय संरक्षण भी प्राप्त हुआ।

काव्य की उन्नति और अन्त

जोम मार्श, गोर्डी द सेंट, जॉन द मैसडॉविली, पेरी टोरेला और आजा मार्श इत्यादि कवियों के काव्यों ने एक नई प्रणाली की सृष्टि की। इस स्कूल ने अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण किया, जो छंद अभी तक प्रचलित न थे, उनका ग्रहण करके और भाषा को अधिक सरल एवं स्वतन्त्र बनाकर काव्य में नूतन प्राण प्रवाहित करने की चेष्टा की। आजा मार्श निःसन्देह एक उत्तम कवि था और उसकी कवितायें कटाला—काव्योपवन की परम सुन्दर कलियाँ हैं। 'जोम रोग' नामक एक दूसरा बड़ा कवि भी इस काल मे हुआ है। इसने स्त्रियों पर कतिपय व्यंगपूर्ण कवितायें लिखी हैं। इसके बाद ही राजनैतिक कारणों से कटाला-साहित्य का ह्रास शुरू हुआ और बहुत शीघ्र कैस्टेलानो वा कैस्टीलियन ने उसका स्थान भी ग्रहण कर लिया। सोलहवीं शताब्दि के मध्यांश में कटाला-कविता की, एक प्रकार से, समाप्ति हो गई।

कटाला भाषा में गद्य-लेखन का आरम्भ तेरहवीं शताब्दि के अन्तिमांश से होता है। आरम्भिक समय

कटाला गद्य

में प्रायः ऐतिहासिक घटनाओं के विवरण (क्रानिकल्स) ही गद्य में लिखे गये। ये विवरण कटाला-गद्य के सुन्दर उदाहरणों मे गिने जाते हैं। लुल ने पौराणिक धर्म-कथा, सदाचार तथा राजनीति का एक बड़ा कोश तैयार किया तथा और भी कई महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी। पन्द्रहवी शताब्दि में विदेशी भाषाओं से अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकों के अनुवाद किये गये तथा इतिहास लिखने की ओर विशेष ध्यान दिया गया। बर्नेट मेगी का 'स्वप्न' (Lo Sompni) एक सुन्दर रचना है। इसमें दान्ते तथा इटली का प्रभाव स्पष्ट है। बर्नेट बोड्स तथा पेरी टामिश ने ऐतिहासिक ढंग पर कई पुस्तकें लिखी। जोहेनो मार्टोरेल पन्द्रहवी शताब्दि का एक अच्छा और प्रसिद्ध गद्य-लेखक हुआ है।

ऊपर लिख आये हैं कि राजनैतिक कारणों से पन्द्रहवीं शताब्दि के मध्यांश में कटाला-कविता की समाप्ति हो गई। जब भाषा के सम्कारक न रहे तो गद्य में भी उन्नति होने की कैसे संभावना की जा सकती थी? दिन-पर-दिन ह्रास हा होता गया। सोलहवी, सत्रहवी और अठारहवीं शताब्दियों में माइकेल कार्बोनेल, फ्रांसिस्का तरफा, ऐण्टन बोतर और विसेण्ट गर्शिया इत्यादि बहुत थोड़े लेखक पैदा हुए।

उन्नीसवी शताब्दि के आरम्भ में एक बार कुछ लेखकों ने कटाला-साहित्य के पुनरुज्जीवन का प्रयत्न आरम्भ किया। एक नये 'स्कूल' की सृष्टि हुई। साहित्य के अध्ययन और विकास के लिए कई संस्थायें स्थापित हुईं। खूब आंदोलन किया गया। मैरिनो आगिलो, थियोडोर लारेण्टो, और जैसिण्टो वर्दगुए (१८४५—१९०२) ने बड़ी सुन्दर और प्रवाहपूर्ण कवितायें लिखी है। जोन मेरागल की कविताओं, एपले मेसरे के गीति-काव्यों, नार्सिस ओलर एवं सेण्टिओगो के उपन्यासों एवं एंगेल गुइमेरा के नाटकों में एक नवीन

† आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दि तक दक्षिण फ्रांस मे इस भाषा का खूब दौर-दौरा रहा।

धारा, नवीन उच्छ्वास और नूतन प्रवाह दिखलाई पड़ता है। आजकल भी कई सुन्दर कवि अपने हृदय के भावों से इसका शृंगार कर रहे हैं। पर इतना होते हुए भी इनकी हालत और इनका प्रभाव साहित्य–जगत् में वैसा ही है, जैसा आज हिन्दी–जगत् के ब्रजभाषा में ही कविता करते जाने वाले कवियों का है। जब सम्पूर्ण संसार साहित्य में केन्द्रोन्मुखी प्रवृत्ति धारण कर रहा है, भविष्य में इस भाषा के आन्दोलक सफलता के पथ पर दूर तक अग्रसर हो सकेंगे, इस की विशेष सम्भावना नहीं की जा सकती।

कैस्टेलानो साहित्य

स्पेन का साहित्य

स्पेन का साहित्य वस्तुत ईस्वी सन् के दो सौ वर्ष पूर्व से आरम्भ होता है, जब स्पेन रोमनों के अधीन हुआ। किन्तु आठवीं शताब्दि तक स्पेन के कवि प्राय लैटिन में ही लिखते थे। वही उस समय यूरोप के मध्य और दक्षिणी भू-खण्डो की प्रधान भाषा हो रही थी। सेनेका, लूसन, मार्शल और क्वेण्टिलियन आदि महान् लेखकों और कवियों ने जो कुछ लिखा, लैटिन में ही लिखा। रोमन-साम्राज्य के विध्वस के बाद भी स्पेन में साहित्य सेवा प्रधानत अरबों तक ही सीमाबद्ध थी। कई सौ वर्षों तक स्पेन की बागडोर इस जाति के हाथ में रही और उसने इस देश के धर्म, सस्कृति, आचार, रहन-सहन और साहित्य को बड़ी दूर तक प्रभावित किया। अरबों के शासन-काल मे शिक्षा और साहित्य-की प्रगति अच्छी रही। अरबी और ग्रीक से अनेक दार्शनिक एवं गंभीर वैज्ञानिक ग्रन्थों के अनुवाद किये गये।

कैस्टेलानो साहित्य का आरम्भ

कैस्टेलानो भाषा का जो साहित्य आज उपलब्ध है और जिसे पाश्चात्य लेखक साधारणत 'स्पेनिश साहित्य' के नाम से पुकारते हैं, उसका आरंभ बारहवीं शताब्दि से होता है। कैस्टेलानो भाषा की सबसे प्राचीन प्राप्य पुस्तक ('मैगी राजा का रहस्य') का समय विद्वानों ने ११५० ई० के लगभग माना है।

उपर्युक्त पुस्तक के होते हुए भी इस साहित्य का आरंभ तो वस्तुतः उन वीर-गाथाओं और काव्यों से होता है, जो स्पेन के साहित्य की जान हैं। लगभग आठ सौ वर्षों तक अरबों के शासन और सघर्ष में रहने के कारण स्पेनी कवियों और लेखकों को इस सम्बन्ध मे पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती रही। अपने प्रथम लेख (अरबी साहित्य) मे मैं लिख चुका हूँ कि अरबों में संगीत के प्रति बड़ा आकर्षण था। शताब्दियों तक साथ रहने के कारण स्पेन-वासियो मे भी इस गुण का आना स्वाभाविक था। संगीत से कविता का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है अतएव संगीत की प्रवृत्ति ने कविता के विकास में बड़ी सहायता की।

ग्राम्यगीतों का खजाना

कैस्टेलानो साहित्य के आरम्भिक दिनों मे और उसके भी पहले स्पेन में मधुर और लोक-प्रिय गीतों का इतना बाहुल्य था कि इस देश के निवासियो की स्वाभाविक सगीतमयता देखकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। एक अंग्रेजी लेखक ने ('पोएम ऑव सिड' नामक पुस्तक की भूमिका में) लिखा है कि यद्यपि सभी यूरोपीय देशों के प्राचीन साहित्य में ग्राम्य-गीतों का संग्रह दीख पड़ता है पर 'स्पेन के पास प्राचीन लोक-प्रिय कविताओं का जैसा जखीरा है, वैसा यूरोप के किसी राष्ट्र के पास नहीं है।*

प्रसार का एक कारण

इन ग्राम्य-गीतों और कविताओं के अत्यधिक प्रसार का एक प्रधान कारण उनकी निर्माण-विधि की आश्चर्य-जनक सरलता है। उनकी भाषा मे ब्रजभाषा की भांति ही लचक है और छन्द इतने सरल हैं कि साधारण आदमी भी उन्हें बिना किसी असुविधा के लिख सकता है।

इनकी प्राचीनता

इन गुमनाम गीतो के रचना-काल का निर्णय करना अत्यन्त कठिन कार्य है। क्योंकि ये शताब्दियो से श्रुति के द्वारा एक-दूसरे तक पहुँचते रहे हैं। हाँ, यह कहा जा सकता है कि प्राय सभी वर्तमान यूरोपीय भाषाओं के प्राचीन गीतों की अपेक्षा स्पेन के गीत, अधिक पुराने और अधिक

* "× × × But no nation of Europe, however can boast of so large a body of ancient popular poems as Spain

मोहक हैं।* इन गीतों में वीर और परिश्रमी कृषकों एवं ग्राम वासियों के हृदय की जो स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई है, वह बड़ी मधुर है।

इन गीतों में जो वीर गाथायें वर्णित हैं, उनके नायकों का पिछले काल के साहित्य पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा है।

इनके नायकों का साहित्य पर छाप

स्पेन की कविता वीर-कथाओं से भरी हुई है और इसीलिए विश्व-मूलक प्रवृत्ति एवं भाव की अपेक्षा उसमें राष्ट्र-मूलक भाव अधिक हैं। ग्यारहवीं शताब्दि में 'सिड'† नामक एक बड़ा वीर सरदार स्पेन मे हुआ। इसने ‡वेलेंशिया पर १०९४ ई० में अधिकार कर लिया था और अनेक युद्धों में बड़ी वीरता दिखाई थी। १०९९ ई० में इसकी मृत्यु हो गई। इसकी वीरता की कथाओं और शौर्य-पूर्ण घटनाओं ने कवियों और चारणों को खूब प्रभावित किया।

वीर-काव्य

सच पूछिए तो सारे स्पेन को इस वीर की कृतियों में संजीवन का सन्देश मिल रहा था; साहित्य उससे सूना कैसे रहता? साधारण ग्रामीण भाषा में 'सिड' पर दो सुन्दर काव्य लिखे गये। ये अब पूरे-पूरे तो नहीं मिलते पर जो भी भाग प्राप्य है, वह खूब है। इनमे 'सिड-काव्य' (Poema del Cid) अधिक पुराना है। इसकी भाषा, इसका गठन बतला रहा है कि यह बारहवीं शताब्दि में लिखा गया होगा। बहुतों की सम्मति में यह स्पेनिश भाषा का सर्वोत्तम रत्न है।* सिड सम्बन्धी दूसरा काव्य-ग्रंथ (Cronica rimada del Cid) प्रायः दो सौ वर्ष बाद अर्थात् चौदहवीं शताब्दि में बना होगा।† इन दोनों और विशेषत: पहले काव्य में ओज, वर्णन-वैभव एवं कल्पना के बड़े सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।

'सिड' की भाँति ही अन्य अनेक वीरों और नायकों को लेकर कई काव्य लिखे गये। इनमें कुछ तो आज मिलते हैं और अधिकांश नष्ट हो गये।

इस प्रकार कैस्टेलानो साहित्य का—और विशेषत उसकी कविता का आरंभ राष्ट्र और पौराणिकता के अंचल में सुरक्षित वीर-गाथाओं से होता है। बारहवीं शताब्दि के बीतते-बीतते इस वीर-काव्य पर धार्मिकता और उपदेश-कता का रंग चढ जाता है। 'गनजाल्वो द वर्सियो' इस प्रकार की कविता का एक प्रसिद्ध कवि हुआ है। बहुत से लोगों की सम्मति मे यह स्पेनिश भाषा का सर्व-प्रथम कवि है। इसने स्पेन के कई सतों की काव्य में जीवनियाँ तथा स्फुट भक्तिमय कवितायें लिखी हैं। अधिकांश कवितायें ऐसी चतुष्पदी मे लिखी गई हैं जिस के अन्त के तुक एक ही हैं। इस तरह की समतुकान्त चतुष्पदी ‡ (curso rimado porla quaderna via) में आगे पन्द्रहवीं शताब्दि में सिकन्दर और अपोलोनियस पर भी दो काव्य लिखे गये।

तेहरवीं शताब्दि में फरासीसी भाषा से सेण्ट मेरी की जीवनी का पद्यानुवाद हुआ। लैटिन और फ्रेंच से और भी कई

---

* अनेक स्पेनी काव्यों के अंग्रेजी अनुवादक और स्पेनिश साहित्य के पण्डित श्री लाकहार्ट स्पेनिश गीतों (Ballads) के सम्बन्ध मे लिखते हैं—

"Spanish ballads form by far the oldest as well as largest collection of popular poetry × × × that is to be found in the literature of any European nation whatever

† 'सिड' वस्तुत अरबी शब्द 'सैयद' का अपभ्रंश और यूरोपीय रंग में रँगा रूप है। इस वीर योद्धा का पूरा नाम 'राडरिगो डायज द वीवर' था।

‡ स्पेन के पूर्वी समुद्र-तट का एक प्रान्त।

* "Poem of the Cid is the most ancient and by some esteemed the most beautiful metrical work in the Spanish language

Poem of Cid

† अंग्रेजी म इसके जो अनुवाद हुए हैं उनमे जार्ज डेनिस का गद्यानुवाद संक्षिप्त होने पर भी बहुत पूर्ण और सुन्दर हुआ है। लण्डन की 'चार्ल्स नाइट' कम्पनी ने इसे पहली बार १८४५ ई० म प्रकाशित किया था।

‡ यहाँ भी फ्रेंच कविता के अनुकरण की चेष्टा दीख पड़ती है। आरम्भिक (बारहवीं शताब्दि की) फ्रेंच कविता में इस ढंग की चतुष्पादियों का बाहुल्य है।

अनुवाद और अनुकरण

पुस्तकों और काव्यों के अनुवाद हुए। 'शरीर और आत्मा की बहस' का आधार निश्चय ही लैटिन है। कैस्टेलानो का सबसे प्राचीन प्राप्य गीति-काव्य ('La Razon feita d' amor') भी तेहरवीं शताब्दि में ही लिखा गया।*

गद्य-ग्रंथ

सम्राट् अलफेंसो-दशम साहित्य का बड़ा प्रेमी था। उस के संरक्षण और सहायता में कई महत्वपूर्ण गद्य-ग्रंथ लिखे गये। उसकी आज्ञा से जो महान घटना-ग्रंथ (Cronica General) संग्रहीत हुआ, वह उस समय का ध्यान रखते हुए, एक बहुत साहसपूर्ण और सफल प्रयत्न कहा जा सकता है। इस ग्रंथ के प्रधानतः दो खण्ड हैं। पहले में (जिसका नाम La General e grant historia है) सृष्टि के आरंभ से लेकर ईस्वी सन् के आरंभकाल तक का संसार का इतिहास है और दूसरे भाग को, जैसा कि उसके नाम (La Cronica o Historia de Espana=स्पेन का इतिहास और गाथा) से ही प्रकट है, हम स्पेन का तेरहवीं शताब्दि के मध्य तक का इतिहास कह सकते है।

चौदहवीं शताब्दि की कविता

चौदहवीं शताब्दि में मध्यकालिक कैस्टेलानो साहित्य का सबसे मौलिक कवि ज्वान रूज हुआ। इसने अपनी कविता में प्रेम और रमणी के हृदय-हारी चित्र खींचे हैं। प्रेम की सफलता और उसकी पवित्रकारी प्रवृत्ति पर इस कवि का दृढ़ विश्वास मालूम पड़ता है। उसका कहना है कि शारीरिक प्रेम (loco amor) को दिव्य स्वर्गीय प्रेम मे बदला जा सकता है और यही प्रेमी के प्रेम की आदर्श परणति है। इस शताब्दि मे डान जुएन मैनुएल, पेरो लोपे द आयला इत्यादि और भी कई अच्छे कवि हुए। इस काल की कल्पना पर भी 'रोमांस'—वीरता, प्रेम, त्याग इत्यादि—का अत्यधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है।

गद्य

कविता के साथ ही गद्य-ग्रंथों के लिखने की ओर भी खूब ध्यान दिया गया। इस शताब्दि में भी, अलफेंसो दशम के संरक्षण में बने पूर्वोल्लिखित इतिहास की भाँति, स्पेन के और भी कई इतिहास बने। वीरता की कई पुस्तकें लिखी गईं।

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों का साहित्य

ऊपर कहीं लिखा जा चुका है कि पन्द्रहवीं शताब्दि से लेकर सत्रहवीं शताब्दि तक का समय स्पेनिश साहित्य का स्वर्णकाल है। पन्द्रहवीं शताब्दि के आरंभ में मार्किज इनरीक द विलेना, मार्किज सैण्टिलाना, जुएन मेना, गुजमैन इत्यादि कई साधारण कवि हुए। ये जान द्वितीय (१४०६—५४) के दरबार के कवि थे। बास्कन और गर्सिलासो इस शताब्दि के प्रथमार्द्ध के दो प्रसिद्ध गीति-काव्यकार हुए हैं। इस समय इटली से चली हुई युगांतर ('रिनैसाँ') की लहर यूरोप के सभी पश्चिमी देशों को भिगो रही थी। प्रत्येक क्षेत्र में नूतन कल्पनाओं और नूतन विधियों का जन्म हो रहा था। इस काल के कई कैस्टेलानो कवियों की कविता पर इटैलियन कवियों—विशेषतः दान्ते का प्रभाव दीख पड़ता है। उसके अनुकरण मे रूपक-काव्य लिखने की ओर भी खूब ध्यान दिया गया। डोगो द मेण्डोजा ने कई सुन्दर काव्य एवं इतिहास लिखे।* पोर्चुगल के

काव्य

मोण्टेमेयर ने ('Diana नामक) एक अच्छी प्रेम-कथा लिखी। फर्नेण्डो द हेरेरा की कवितायें बड़ी मादक है।† लुई द लियों ने ऐसी मधुर गीति-कवितायें लिखी है कि पढ़ते-पढ़ते हृदय एक स्वर्गीय नशे से पूर्ण हो जाता है।

सरवेण्टस, (Cervantes), जो स्पेनिश भाषा

---

* अरबी से सिंदबाद का अनुवाद (Libro de los enganos e asayamientos de las mugeres नाम से) हुआ। अरस्तू और सुक़रात से सम्बन्ध रखने वाली कई पुस्तके आधार लेकर लिखी गईं।

* लिवरपुल विश्वविद्यालय के स्पेनिश के अध्यापक श्री जेम्स फिजमूरिस—केली की पुस्तक 'Chapters on Spanish Literature" देखिए। † देखिए 'न्यू एज इनसाइक्लोपीडिया—भाग ६, पृष्ठ ३५१

का सर्वोत्तम रचनाकार माना जाता है, इसी काल में हुआ। उसका समय १५४७ से १६१६ ई० तक माना जाता है। उसकी कविताओं ने समस्त यूरोप में ख्याति प्राप्त की। इस काल में नाटकों और उपन्यासों की भी खूब वृद्धि हुई।

कई अच्छे इतिहास भी लिखे गये, गीति-काव्यों का खूब प्रचार रहा। लोप द रूडा और बर्थेलमो नारो ने रंगमंच के लिए इटैलियन प्रहसनों के आधार पर कई प्रहसन लिखे। सिड तथा अन्य राष्ट्रीय नायकों के वीर-चरित लेकर नाटक लिखे गये। सर्वेण्टस् के नाटकों का तो क्या पूछना था? बरमूदाज़, क्रिस्तोबल तथा लुपर्शियो ल्यूनार्डो द अर्गेनजोला आदि लेखकों ने दुःखान्त नाटकों के ढेर लगा दिये। सर्वेण्ट्स का 'न्यूमैंशिया' उच्च कोटि के दुःखान्त नाटक का एक सुन्दर उदाहरण है। आरम्भ के नाटकों में रंगमंच और अभिनय की सुविधाओं का ख्याल कम रखा जाता था। अभिनय की ओर विशेष रुचि जागृत होने से नाटकों को खेलने योग्य बनाने की चेष्टा की जाने लगा। पहले प्रायः पांच अंक के नाटक लिखे जाते थे, जिन्हें खेलना कठिन काम था, अतएव जुएन द कूवा ने चार अंक के नाटकों का क्रम चलाया। पीछे फ्रांसिस्को द अवेण्डानो ने तीन अंक के नाटक लिखे। ये अभिनय के लिए अधिक उपयोगी समझे गये अतएव तीन अंक के नाटकों का ही क्रम चला।*

नाटक

उपन्यासों के लिखने की ओर भी खूब ध्यान दिया गया। मोण्टमेयर, सर्वेण्ट्स, लोप द वेगा, सोनाज़ारो, मेटो अलमाँ तथा फ्रांसिस्को द उबेदा की कृतियाँ इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

उपन्यासों की बाढ़

१६०० से १८०० तक का साहित्य

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में, साहित्य की सर्वाङ्गीण उन्नति होती रही। गीति-काव्य की तो सत्रहवीं शताब्दि में हद ही गई। गगोरा, क्वेवेडो, मेण्डेज वाल्डे, डीगो गोनज़ाले (१७३३-९४), जोज़े इगलेशिया द कासा (१७४८-९१), लीण्ड्रो और फर्नेण्डेज़ मोराटिन इत्यादि अनेक प्रसिद्ध कवि इन दो सौ वर्षों में हुए। गगोरा की भाषा बहुत साफ़ और सुलझी हुई है।

कवि

उपन्यासों और नाटकों का क्रम भी चलता रहा। मार्टिनिज़ इस्पिनेल के उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हुए। उसका एक उपन्यास (Marcos de Obregon) की गणना तो सत्रहवीं शताब्दि की सर्वोत्तम पुस्तकों में होती है। एलेसो जेरोनिमो द सैला बार्बेडिलो, फ्रांसिस्को सैण्टो, तिरजो द मोलिना, मिरेज़ द माण्टलबाँ, मैरिया जावे, मिनेज़ हिता तथा सर्वेण्ट्स इत्यादि इस काल के प्रसिद्ध उपन्यासकार हुए हैं। सर्वेण्ट्स के सर्वोत्तम उपन्यास 'डान कीहोटे' * की ख्याति आज तक बनी है। उपन्यासकारों के अतिरिक्त इन दो शताब्दियों में अनेक अच्छे नाटक-लेखक भी हुए।

उपन्यासकार और नाटक-लेखक

इन्होंने धार्मिक और सांसारिक सब तरह के नाटक लिखे है। इन नाटक-लेखकों में लोप फेलिक्स द वेगा कार्पियो का नाम सबसे पहले आता है। वह इस समय के आचार्यों में एक हैं। बहुतों ने उसकी नकल की। लोप द वेगा का नाम अमर है। इसने लगभग दो हजार छोटे-मोटे नाटक लिखे हैं। अन्य लेखकों में गैस्पर ओनोर द आग्लार, फ्रांसिस्को टॉरेगा, गिले द कैस्ट्रो, तिरसो द मोलिना (उच्च कोटि का नाटककार) और पेड्रो काल्डेरो द ला बार्का इत्यादि बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें अंतिम दो का नाम इस काल के साहित्य में अमर रहेगा। पेड्रो काल्डेरों का एक दार्शनिक नाटक (La Vida es sueño) बहुत उच्च कोटि का हुआ है। इसमें वह बहुत गहराई में दिखाई पड़ता है।

इन दो-ढाई सौ वर्षों में पत्र-साहित्य, इतिहास, दर्शन और रहस्यवादमय ग्रन्थों के प्रणयन का कार्य भी खूब हुआ। शुद्ध इतिहास-कला के विकास की ओर ध्यान दिया गया। अभी तक के इतिहास केवल पौराणिक गाथाओं के ढंग पर

अन्य गद्य-लेखक

*देखिए रोमान भाषाओं के (College de France के) प्रोफेसर अल्फ्रेड मोरेल-फेशिओ का लेख (ब्रिटानिका भाग २५, एकादश संस्करण ५८० पृष्ठ)

* अंग्रेज और अन्य यूरोपियन गलती से इस शब्द (Quixote) का उच्चारण 'क्विक्जोट' या 'क्विजोट' करते हैं। ये अशुद्ध है।

लिखे गये थे। अब तथ्यातथ्य-निर्णय द्वारा इस ओर विशेष प्रगति हुई। जुएन द मैरियाना ने स्पेन का जो इतिहास (Historia de Espana) लिखा, उसके सम्बन्ध में प्रोफेसर अलफ्रेड मोरेल फैशियो ने लिखा है कि उसके जैसा सुलिखित, सुव्यवस्थित और विचारपूर्ण ग्रन्थ मध्यकाल के स्पेनिश साहित्य में एक भी नहीं है। कार्लो कोलमा, बर्नार्डिनो द मेण्डोजा, फ्रांसिस्को वड्रगो तथा बर्थेलमो द ला केसे इत्यादि कई लेखक इस काल के प्रसिद्ध इतिहासकारों में समझे जाते है। बर्थेलमो केसे ने 'भारत का इतिहास' (Historia de las Indias) लिखा है। पत्रों के रूप में भी घटनाओं के विवरण लिखने की विधि खूब जोरों से चली।

दार्शनिक ग्रन्थों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया। जिन विचारकों ने कुछ लिखा वह लैटिन में ही लिखा। जनसाधारण की भाषा में उच्च दार्शनिक तथ्यों का निरूपण करने का श्रेय तो केवल रहस्यवादी लेखकों को है। सोलहवीं शताब्दि के लुई द ग्रेण्डा, लुई द लियो, तेरेसा द जीसस इत्यादि प्रसिद्ध लेखकों ने इस ओर कुछ काम किया था। सत्रहवी शताब्दि में सदाचार—सम्बन्धी रचनाओ का कुछ साहित्य अवश्य लिखा गया। बालज़र ग्रेशियन इस प्रकार के साहित्य का एक प्रसिद्ध लेखक हुआ है।

सत्रहवीं शताब्दि के अन्तिम भाग में साहित्य की गति मे कुछ सुस्ती आती दिखाई पड़ती है। इस काल मे भावों पर ध्यान न देकर भाषा के सौंदर्य पर अधिक ध्यान दिया गया। १७१४ ई० में, स्पेनिश भाषा को सुन्दर बनाने और उसकी शुद्धता की रक्षा करने के लिए 'एकेडमे फ्रौंसे' की नकल पर एक साहित्यिक सभा (La Real Academia Espanola) का संघटन हुआ। इस सभा ने स्पेनिश भाषा का एक सुन्दर कोश छ भागों में प्रकाशित किया और कैस्टेलानो भाषा का एक व्याकरण भी तैयार कराया। इस काल में कई महान् लेखकों का उदय हुआ। इग्नेशियो द लुज़ान का 'काव्य शास्त्र' (Poetica) एक उल्लेखनीय पुस्तक है। बेनिटो फेजू ने प्राय प्रत्येक गम्भीर शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विषय का संकलन किया। ग्रेगोरियो मयाना सिस्कर (१६९९-१७८१) ने पुराने लेखकों और कवियों की कृतियों के सुन्दर सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किये। और भी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर पुस्तकें लिखी गईं।

स्पेन का साहित्य-सभा

आधुनिक काल

उन्नीसवी शताब्दि का प्रथमांश स्पेन के इतिहास में अपना एक खास स्थान रखता है। नेपोलियन ने स्पेन पर अधिकार कर लिया था और जनता उसके विरुद्ध अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए लड़ रही थी। १८०८ से १८१४ तक स्वतन्त्रता का युद्ध बड़े जोरों से चलता रहा। अन्त में स्पेन स्वतन्त्र हुआ। इस काल में लोगों में स्वतंत्रता की भावनायें खूब फैलीं। साहित्य में नया जीवन आया—यद्यपि फ्रेंच लेखकों और कवियों का अनुकरण जारी रहा। क्विण्टाना ने सुन्दर देशभक्ति-पूर्ण कवितायें लिखीं। १८३० के लगभग रीवास का ड्यूक प्रथम एक बड़ा 'रोमैण्टिक' कवि हुआ। इसमें स्पेनिश प्रतिभा का अपूर्व विकास हुआ था। इस्पारेनसेडा ने बायरन के अनुकरण पर उच्च कोटि के काव्य लिखे। जोरिला की शैली अपने रंग मे एक ही है। ब्रेटों द हेरोरा ने लगभग एक सौ नाटक और प्रहसन लिखे। मैरियानो जोज द लारा एक गम्भीर गद्य-लेखक हुआ है। उसकी शैली साफ़, भाषा सुलझी हुई एवं मुहाविरेदार और भाव ऊंचे हैं। इस्तेवनेज कालडरो के भी कतिपय व्यंग्य-ग्रन्थ प्रसिद्ध है। अलबर्टो लिस्टा (१७७५-१८४८) इस समय के सर्वश्रेष्ठ समालोचकों में से एक था। आगस्टिन डुरन ने प्राचीन कैस्टेलानो साहित्य के उद्धार के लिए बड़ा परिश्रम किया।

१८३० ई० के लगभग स्पेन के साहित्य-क्षेत्र में एक नवीन स्कूल की सृष्टि हुई। साहित्य के प्राण में नये संदेश गूंजे, उसकी वाटिका में मंद मलयज ने चहलकदमी शुरू की। पुराने लोगों ने नये स्कूल का विरोध किया, जैसा सर्वत्र होता आया है पर 'नवीन' लेखकों का प्रभाव बढ़ता गया और अंत में उनकी विजय हुई। पुराने लेखक फ्रेंच विधियों के अन्ध भक्त हो रहे थे, नवीन लेखकों ने स्वदेशीय साहित्य के व्यक्तित्व के विकास पर भी ज़ोर दिया। १८४०

पुराना और नया

से १८६८ तक के काल में नवीन स्कूल के रचनाकारों ने पर्याप्त शक्ति प्राप्त कर ली।

वेंचोरा द ला वेगा (१८०७-१८६५), आर्लियानो फर्नेण्डेज जुहरा ओरबे (१८१६—९४) तथा कैम्पोमर इत्यादि उन्नीसवी शताब्दि के प्रसिद्ध नाटककार हुए हैं परन्तु इस शताब्दि का सब से प्रसिद्ध नाटककार तो इकेगेरी (Jose Echegarry) हुआ है। इसका जन्म १८३३ ई० में हुआ था और १४ सितम्बर १९१६ को उसकी मृत्यु हुई। इसने उच्च कोटि के अनेक नाटक लिखे, जिनमें १०-१२ के अनुवाद भी यूरोपीय भाषाओं में हो चुके हैं। १९०४ ई० में इस नाटककार को नोबेल-पुरस्कार भी मिला था। फ्रांस के अनेक लेखक इसे 'द्वितीय विक्टर ह्यूगो' कहते थे।

नाटक

नूने द आर्क के देशभक्ति पूर्ण गानों ने बड़ा काम किया, वे खूब लोक-प्रिय हुए। इमीलियो पेरे फेरेरी और जोजे बेलार्डे ने इस कवि का अनुकरण किया। क्वेरोल और फेडेरिको बालार्ट (१८३१-१९०५) ने क्रमश करुण और हास्य-रस की सुन्दर कवितायें लिखी हैं। बालार्ट ने अंतिम समय मे टेनीसन के 'स्मृति में' (In Memorium) की भांति एक बड़ा ही करुण-काव्य (Dolores) लिखा। इस कवि की सफलता पर लोग आश्चर्य चकित रह गये क्योंकि जन्म भर तो उसने हास्य-रस लिखा था। जोकिन मेरिया बर्ट्रिना नामक एक बड़ा ही करुण और निराशावादी कवि भी इस शताब्दि मे हुआ है। विसेण्ट मेडीना तथा मेरिया गेर्लो भी बहुत प्रसिद्ध हुए। गेर्लो केवल अपनी 'अल अमा' कविता के कारण स्पेन के साहित्य में अमर रहेगा। आधुनिक स्पेनिश कविता में इसके जोड़ की दूसरी रचना नहीं मिलती।

कविता

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्धकाल मे स्पेन मे कई महान् उपन्यासकार हुए है। फर्नेन केवालेरो ने अपने उपन्यासों में अपनी जातीय संस्कृति को प्रधानता दी। इस लेखिका ने खूब कीर्ति पाई। जोजे मेरिया द पेरेडा, स्पेन के आधुनिक प्रत्यक्षवादी औपन्यासिक 'स्कूल' का पिता माना जाता है। *गेल्डो इस शैली का एक बहुत प्रसिद्ध लेखक हुआ है। उपन्यासों के अतिरिक्त इस काल में इतिहास और समालोचना-ग्रन्थों के प्रणयन की ओर भी ध्यान दिया गया।

उपन्यासकार

वर्तमान काल

उन्नीसवी शताब्दि के अंतिमांश तक स्पेन का साहित्य देश की सीमा मे ही आबद्ध रहा, अब जब कि दुनिया मिलकर एक हो जाने के लिए छटपटा रही है, स्पेनिश साहित्य भी नवीन ज्योति से जगमगाने लगा है। वर्तमान काल के लेखकों की सूची में ब्लैस्को इबनेज और जैसिण्टो वेनवेण्टी दो ऐसे लेखकों के नाम आते हैं जिनसे अनेक भारतीय पाठक भी परिचित हैं। उनकी पुस्तकों के अनुवाद प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में हो गये हैं। 'कमरा' (La Barraca) इबनेज का सर्वोत्तम उपन्यास है। इसमे स्पेन के ग्रामीण जीवन और उसकी अनेक जटिल समस्याओं का बड़ा सुंदर निरूपण हुआ है। पहली ही दृष्टि मे जो बात इबनेज के मनमें आ जाती थी, उसे ही वह लिखता था। एक बार उसने प्रसिद्ध स्पेनिश विचारक 'उनामूनो' से बात-चीत मे कहा था—"No, no me interesa aquello que no me impresiona en una primera mirada" अर्थात् "जिसे मैं पहली दृष्टि में देखता हूँ उसी में मेरा मनोनिवेश होता है।" इसीलिए बहुतेरे समालोचक इबनेज को कलाकार की अपेक्षा 'इम्प्रेशनिस्ट' ही अधिक मानते थे। दुःख की बात है कि विगत जनवरी महीने में इस महान् लेखक का देहांत हो गया।

दूसरा संसार-प्रसिद्ध और जीवित लेखक जेसिण्टो वेनविण्टी है। इस महान नाटककार को १९२२ ई० मे नोबेल-पुरस्कार भी मिल चुका है। 'सत्य', 'घण्टे भर का जादू', 'शाहजादियों का विद्यालय' और 'वासना-पुष्प' इसके प्रधान नाटकों मे हैं। इनके अनुवाद प्राय सभी प्रधान भाषाओं मे हो चुके हैं। प्रसिद्ध लेखक श्री जान गैरट अण्डरहिल के कथनानुसार वेनविण्टी बहुत उच्च कोटिका आदर्शवादी लेखक है। †

---

* देखिए 'नाइएटीन्थ सेन्चुरी ऐण्ड आफ्टर' (सितम्बर १९२५) मे वाल्टर स्टार्की का लेख।

†Benavente is an idealist of the highest type.

वर्तमान समय में स्पेनिश साहित्य बड़ी तेजी से उन्नति कर रहा है। बहुत बड़ी संख्या में समाचार पत्र और मासिक निकलने लगे हैं। इनके द्वारा समाचारपत्र और मासिक पाठकों की खूब वृद्धि हो रही है और ज्ञान का क्षेत्र बढ़ रहा है। दैनिक पत्रों में 'ए० बी० सी०' का सब से अधिक प्रचार है। इसके लेखकों मे बड़े बड़े लोग हैं। लगभग दो लाख ग्राहक हैं। 'नेकिओं' (राष्ट्र), 'एल सिगलो फ्यूचरो' (आगामी शताब्दी), सोशलिस्टा (साम्यवादी), 'ला ओज' (आवाज) तथा 'एलसोल' (सूर्य) अन्य प्रधान दैनिकों मे हैं। मासिकों एवं त्रैमासिकों में 'आर्ट इस्पेनोल' (स्पेनी कला) 'नेवो मुण्डो' (नयी दुनिया), तथा 'चित्रमय दर्शन' मुख्य हैं। अन्तिम मासिक की ग्राहक सख्या लाखों तक है।

जीवित लेखकों में से कुछ का सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

नार्सिस्को अलोंसो कोर्टे—कोमल शैली का कवि तथा समालोचक। जन्म १८७५ ई०।

'अलवरे किवएटेरो'—दो भाई हैं जो इस उपनाम के साथ लिखते हैं। प्रहसन लिखने मे बे-जोड हैं।

एडोल्फो वोनिल्ला सैन मार्टिन—महान विचारक तथा साहित्य और दर्शन का पण्डित एव लेखक। जन्म—१८७५ ई०।

मैनुएल बार्थोलमो कोसिओ—मानवतावादी तथा कला—समालोचक। जन्म—१८५८ ई०।

एमीलिओ मोरी—नाटक के इतिहास का विशेषज्ञ।

एनरीक डाज कैनेडा—समालोचक और कवि। सौंदर्य और हृदय की माधुरी से कवितायें भरी है। शैली बड़ी सरल है। जन्म—१८७९ ई०।

कोंचा इस्पिना—सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण करने वाली प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका।

जैसिएटो-ग्राऊ—शक्तिशाली नाटककार। विदेशों में भी प्रसिद्ध है।

रैमों मेनेण्डेज़ पाइल—'रोमांस' भाषा-विज्ञान के विश्वविख्यात आचार्य। स्पेन की सर्वप्रधान साहित्य-सभा (Real Academia Espanola) के संचालक।

गेब्रील मीरो—अत्यन्त प्रतिभाशाली और मौलिक उपन्यासकार।

जोज़े ओर्टेगा गेसेट—वर्तमान स्पेन के बौद्धिक नेता। दर्शन एव समालोचना के प्रसिद्ध लेखक।

माइगुएल द उनामूनो—सम्पूर्ण स्पेनिश-भाषी जनता पर प्रभाव रखने वाले एक महान रहस्यवादी लेखक और दार्शनिक। उपन्यास, काव्य, नाटक और समालोचना ग्रंथ भी लिखकर यशस्वी हुए हैं।

रैमों वेले-इङ्क्लां—वर्तमान कवियों में सबसे अधिक रागात्मय कवि हैं। बड़ी मधुर कवितायें लिखते है। गद्य भी उच्चकोटि का होता है।

ये तथा अन्य लेखक मातृभाषा का भंडार भरने और भारती की रसमय उपासना की सिद्धि मे जी-जान से लगे हुए हैं। राजकीय स्पेनिश साहित्य-सभा, कला और विज्ञान की राजकीय-सभा (Real Academia de ciencias y artes) तथा अन्य सभाओं द्वारा साहित्य एवं कला की बड़ी सेवा हो रही है। यदि प्रगति यही रही तो आशा है कि बहुत शीघ्र विश्व के साहित्य में स्पेनिश साहित्य को बहुत महत्वपूर्ण स्थान मिल जायगा।

श्री रामनाथलाल 'सुमन'

साहित्य की दुनिया में—

चीन के समाचार पत्र

वर्तमान जीवन मे समाचारपत्र ('प्रेस') का स्थान अनिवार्यत महत्वपूर्ण है। जनता मे जागृति फैलाने और विश्व से राष्ट्र, समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध स्थापित करने का वह एक मुख्य साधन है। चीन में भी जब स्वतन्त्रता का आन्दोलन शुरू हुआ तो समाचारपत्रों की सख्या में ज्वार आना स्वाभाविक था। मुद्रणयन्त्र और समाचारपत्र के जन्मदाता चीन के सम्बन्ध में पाश्चात्यों ने जान बूझकर जो भ्रम फैला रक्खे थे और अभी तक फैला रक्खे है, उनके कारण साधारण जनता अभी तक यही सोचती थी कि रेलों तथा यातायात की अन्य सुविधाओं की कमी के कारण वहाँ पत्रों के लिए विशेष क्षेत्र नहीं है। पर इधर इस सम्बन्ध में जो

कुछ मालूम हुआ है, उससे यह भ्रम एकदम दूर हो जाता है। पेकिंग विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री वर्नन नैश ने अभी कुछ महीने पहले न्यूयार्क के 'सम्पादक और प्रकाशक (Editor and Publisher) पत्र में चीनी पत्रों के सम्बन्ध में एक लेख छपवाया था। उसके आधार पर कुछ बातें यहाँ दी जा रही हैं।

प्राय: सभी बड़े चीनी नगरों से दो-तीन समाचारपत्र प्रकाशित होते हैं और इनमें शायद ही किसी को घाटा हो। चीनी पत्रों का रूप-रंग अंग्रेज़ी और अमेरिकन पत्रों जैसा ही होता है। प्राय: सब बड़े और गम्भीर पत्र सवेरे निकलते हैं। शाम को निकलनेवाले पत्रों में चुटकले, कहानियाँ, हास्यरस-पूर्ण लेख और कार्टून इत्यादि मनोरंजक सामग्री अधिक रहती है। प्रधान पत्रों ने तो एकदम पाश्चात्य पत्रों की नकल की है। पेकिंग से 'च-एन-पो' नामक प्रातःकाल प्रकाशित होने वाला प्रसिद्ध दैनिक निकलता है। 'च एन-पो' का अर्थ 'सुबह की डाक' है। यह शब्द लण्डन के प्रसिद्ध दैनिक 'मार्निंग पोस्ट' की याद दिलाता है।

चीनी जनता पर समाचारपत्रों का अत्यधिक प्रभाव है और यह देश के क्रान्तिकाल में स्वाभाविक भी है। सच्ची बातें जानने की विशेष सुविधायें न होने के कारण चीनी समाचारपत्र समाचार देते समय 'ऐसा कहा या सुना जाता है' शब्द अवश्य लगाते हैं।

अधिकांश पत्रों में देशभक्ति का अविश्रान्त स्रोत उमड़ता दिखाई पड़ता है। आज चीनी-जीवन के सब क्षेत्रों मे तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है। चीनी लिपि की जटिलता के कारण जो निरक्षरता और अशिक्षा बढ़ी हुई थी, वह उसके सरल एवं संक्षिप्त कर दिये जाने के कारण घट रहा है और शिक्षित आदमियों की सख्या मे वृद्धि होने के कारण समाचारपत्रों का प्रचार भी बहुत बढ़ गया है।

यह ठीक है कि अभी इन पत्रों मे बहुत त्रुटियाँ हैं पर नूतन राष्ट्रीय सरकार जिस तेज़ी से देश के संघटन और पुनरुद्धार में लगी हुई है, उससे आशा होती है कि ये त्रुटियाँ बहुत शीघ्र दूर हो जायँगी।

❀ ❀ ❀

कला का पुरस्कार

पिछले अंक में 'विषपान' शीर्षक एक सुन्दर और कला-पूर्ण चित्र प्रकाशित हुआ है। इसके चित्रकार श्री लोकपाल-सिंह की कूँची मे जैसी अनुभूति है, हृदय मे वैसी भाव-प्रवणता भी है। वह कला को चित्रित करने की अपेक्षा अनुभव अधिक करते है—कला की उपासना की यही सर्वोत्तम विधि भी है। इन पंक्तियो के लेखक ने इस चित्र के प्रकाशन और पुरस्कारादि के सम्बन्ध में जब चित्रकार को लिखा तो उन्होंने जो उत्तर दिया था उसमे अन्तर की अनुभूति और कला एवं सौंदर्य की ऐसी सुंदर व्याख्या हुई है कि उसे यहाँ उद्धृत करना उचित जान पड़ता है—

"× × × कलाकार का उद्देश्य सौन्दर्य की समुपासना ही है और यही उसका इष्ट साधना भी है। भारत माता के एक त्यागी योगेश्वर का कहना है कि सौन्दर्य ही आनंद है और आनंद ही जीवन है। इसीलिए कलाकार अपनी साधना की सिद्धि के मंगल-मुहूर्त मे देखता है कि योगिराजों का जो 'सत्य' है और उपासकों का जो 'शिव' है, वही मेरा 'सुन्दर' है। उस समय कलाविद भावों की पुष्पाञ्जलि लेकर, आनन्द का अर्घ्य लेकर, वाणी की भेंट लेकर, 'सुन्दर' के श्रीचरण-तलों मे आत्माञ्जलि देता और अपनी इस सिद्धि के मंगल-मुहूर्त मे विश्व को पुण्य-पथ पर अग्रसर होने के लिए आह्वान करता है। सहसा विश्व के दिव्य चक्षुओं के सम्मुख सौन्दर्य का प्रमोदवन लग जाता है। और उस प्रमोद-वन के सुरभित सुमनों की सुगन्ध से उसका मन-मानस आनन्द की तरंग-मालाओं से हिल्लोलित होने लगता है। कलाकार 'सुन्दर' के श्री पाद-पद्मों मे आत्म-समर्पण करता है। सौन्दर्य का यही पुण्य-प्रतापहै, सौन्दर्य की यही प्रकाशमयी दिव्य शक्ति है और साथ ही कलाकार का भी यही यथार्थ पुरस्कार है, उसकी कला की यही यथार्थ न्योछावर है। और जिसने कल्पना-कानन के कुसुमों का चयन करके अपने कौशल-रहित करों से इस भाव-माला को गूँथा है, वह न तो योगी है, न कवि, और न चित्रकार। परन्तु इतना होते हुए भी उसने इस विश्व-मंदिर में कला-काञ्चन-पीठ पर आसीन भगवती रस-भारती के कमल-

कोमल श्री चरणों में (एक निर्गन्ध पुष्प) समर्पित करने का जो साहस किया है, इसी साहस को यदि कोई भग-वती के पुनीत मंदिर का भावुक पुजारी प्रोत्साहन दे तो यह तुच्छ उसी को अपना सर्वश्रेष्ठ तथा सच्चा पुरस्कार मानेगा।"

❀ ❀ ❀

प्रगतिशील हिन्दी-साहित्य

महायुद्ध के बाद सम्पूर्ण दुनिया में 'अनेक से एक' हो जाने की जो उत्कण्ठा, जो वेदना जागृत हुई है, उसने साहित्य और विशेषतः कविता के अञ्चल को सब से अधिक तर किया है। आज हमारे प्राणों में एक आन्तरिक स्वर गूँज रहा है, एक नूतन संदेश, एक रहस्यमय भावना फैल रही है। किसी भी उन्नत साहित्य की आजकल की कवितायें देखिए, सब में वही हृदय रहा, पागलपन, वही मानव-मानव को, प्राण-प्राण को, मिलाकर एक कर देने के लिए विकल, करुणा का उच्छ्वास दिखाई देगा। मुझे प्रसन्नता होती है कि हिन्दी कविता की आत्मा भी इस महान मानवी सत्य के प्रकाश में, मानवता के अमल अमृत से सरस और अमर हो रही है। बहुतों को ये बातें समझ में नहीं आतीं, आचार्य गण झुँझला जाते हैं, पर वे यह नहीं सोचते कि सौन्दर्य की व्याख्या किसने की है? विश्व के महान आंदोलनों का रहस्य कौन कब समझ सका है? आदि-कवि के ओठों द्वारा हृदय से उमड़ा हुआ जो अमृत पहली बार एकाएक बाहर निकल पड़ा था, उसने किस शास्त्रीय जटिलता के सागर का मंथन किया था?

फिर हिन्दी के 'नवीन' कवियों के प्राणों में अज्ञात लहरों का जो संगीत गूँज रहा है, उसने काव्य की भौतिक दृष्टि से भी इस अल्प समय में क्या हमें कुछ कम दिया है? इस सम्बन्ध में पिछले अंकों में अनेक रत्नों की चर्चा की जा चुकी है।

इधर पता चला है कि ग्वालियर के श्री 'मिलिन्द' 'संताप' नामक एक करुण-काव्य लिख रहे हैं। 'प्रताप' के श्री सुमंगल प्रकाश 'सुख-स्वप्न' काव्य के लगभग २०० छन्द लिख चुके हैं। प्रयाग के श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', 'कालिन्दी—क्रन्दन' काव्य लिख रहे हैं। श्री हरिकृष्ण विजयवर्गीय 'प्रेमी' ने 'आँखों में' नामक एक काव्य लिखा है। इसे मैंने देखा है, इसमें सूक्तियाँ भी हैं और आशा है कि पुराने आदमियों को वे सन्तुष्ट कर सकेंगी।

नवीन स्कूल के सबसे चमकदार रत्न 'प्रसाद' जी की कई पुस्तकें तैयार हो रही हैं। 'स्कंदगुप्त' नाटक हाल में निकला है। 'कामना' की चर्चा की जा चुकी है। 'कंकाल' (उपन्यास) पूरा हो चला है। 'आकाश-दीप' नाम से आख्यायिकाओं का एक संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। चन्द्रगुप्त मौर्य पर नवीन खोजों का आधार लेकर उन्होंने एक बड़ा ही सुन्दर नाटक लिखा है। 'मेरु'-सम्बन्धी उनकी खोज जारी है और उसका भी कुछ परिणाम निकलने की शीघ्र आशा है।

'अन्तर्जगत' के भावुक कवि और अशोकादि नाटकों के लेखक श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, 'सन्यासी' नामक एक नाटक लिख रहे हैं। 'मीठी चुटकी' वाले श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने 'मुसकान' और 'अनाथ पत्नी', दो उपन्यास लिखे हैं। पहला स्वयं छपा रहे हैं और दूसरा संभवतः 'चाँद' कार्यालय से निकलेगा। इनमें पहले का प्लाट, सम्मेलन से लौटते समय वाजपेयीजी ने मुझे सुनाया था—उसमें समाज की एक गूढ़ समस्या पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। मुझे आशा है, उपन्यास सुन्दर होगा। 'मधुपर्क' नाम से इनकी कहानियों का एक संग्रह भी गंगा-पुस्तक-माला से प्रकाशित होने वाला है।

ऐतिहासिक विषयों पर गम्भीर पुस्तकें लिखने का प्रयत्न भी जारी है। श्री सत्यकेतु विद्यालंकार ने 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' लिखा है। यह बहुत शीघ्र प्रकाशित हो जायगा। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार भारत का इतिहास और आचार्य रामदेवजी अपने 'भारतीय इतिहास' का तीसरा खण्ड तैयार कर रहे हैं। श्रीइन्द्र विद्यावाचस्पति 'मुगल-राज्य के उत्थान-पतन' पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिख रहे हैं। प्रसिद्ध इतिहा-सज्ञ महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'राणा प्रताप' पर एक छोटी पर गवेषणापूर्ण पुस्तक प्रकाशित की है।

इधर पत्र-जगत् में भी उन्नति हुई है। काशी विद्यापीठ

से मनीषी-प्रवर भगवानदासजी और आचार्य नरेन्द्रदेवजी के सम्पादकत्व मे त्रैमासिक 'विद्यापीठ' निकलने लगा है। इसे देखकर आशा होती है कि भविष्य मे यह हिन्दी का 'विश्व-भारती' बन जायगा। प्रयाग से 'भारतेन्दु' नामक एक नया मासिक निकला है। इसके सम्पादक है श्री ज्योति.प्रसाद मिश्र 'निर्मल'। प्रथमाङ्क देख कर इसके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना की जा सकती है। लाहौर से टण्डनजी 'स्वाधीन भारत' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकालने की कोशिश कर रहे हैं।

इन सब बातो से क्या यह विदित नही होता कि हिंदी साहित्य बडी तेजी से आगे बढ़ता जा रहा है और जो आचार्य निराशा के अंधेरे में स्वेच्छापूर्वक भटक रहे हैं, वे भूले पथिक हैं ?

श्री रामनाथ लाल 'सुमन'

[नोट—प्रत्येक अंक मे प्रगति की ऐसी संक्षिप्त सूचनायें देने का प्रबन्ध किया गया है। आशा है मेरे स्नेही मित्र और कृपालु लेखकगण अपनी महत्वपूर्ण अप्रकाशित रचनाओं के सम्बन्ध मे समय-समय पर सूचित करते रहेंगे। 'सुमन']

कणिकायें

हजारों दिवसों मे से एक ही दिन मुझे याद है, प्रकाश का और प्रेम का।

* * *

जब रोना होता है तब मैं एकान्त की खोज करता हूँ और हँसना होता है तब मित्रों की।

* * *

समुद्र के तीर पर ही तेरे पैर का रव क्यों सुनाई देता है ? तू सर्वत्र है, इसलिए सुनाई पड़ता है, अथवा अन्यत्र तू कहीं नहीं है इसलिए ?

* * *

कीर्त्ति की कौमुदी आये अथवा अपयश का अँधेरा आये, मित्र निंदा करें या मूर्ख बखान करें, कोई चिन्ता नहीं। जब तक कल्पना की रानी हँसती है, तबतक मेरा प्याला लबालब भरा है-मुझे किसी की जरूरत क्यों हो ?

'विजय'



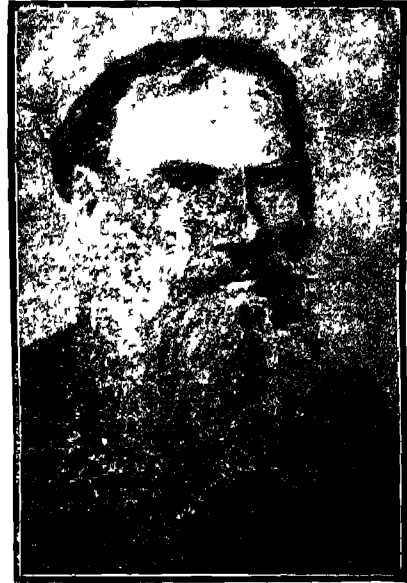
टाल्सटाय और तरुण भारत

एक पुस्तक है, जो रूस मे प्रकाशित हुई है। अंग्रेजी में उसका उल्था भी हो चुका है। मेरी राय में तरुण भारत के लिए यह पुस्तक मनोरंजक और उपयोगी सिद्ध होगी। रूस के क्रान्तिकारी श्री गोर्की इस पुस्तक के रचियता हैं। लिओ टाल्स्टाय की श्री गोर्की-कृत 'स्मृतियों' का इस पुस्तक मे उल्लेख है। श्री गोर्की कभी टाल्सटाय के भक्त न थे, अत इस पुस्तक मे उन्होंने जो कुछ लिखा है, एक समालोचक के दृष्टि-बिन्दु से लिखा है। सच्ची समालोचना का तात्पर्य दोषान्वेषण नहीं है; सच्ची समालोचना के मानी तो विश्लेषण और विवेचन हैं। श्री बर्नार्ड शा के कथनानुसार 'समालोचक का सर्व-श्रेष्ठ कर्त्तव्य मनुष्य की घोषणा करना है'। श्री गोर्की ने अपनी 'स्मृतियों' में टालसटाय की 'घोषणा' की है। उनका कहना है कि विश्व में टाल्सटाय के सिवा कोई दूसरा आदमी नहीं है (था), जो विभूति (Genius) संज्ञा के योग्य हो। वह टाल्स्टाय को हर दृष्टि से महान् बतलाते हैं। श्री गोर्की कहते हैं, "टाल्सटाय में एक ऐसी विशेषता है, जो मुझे हरएक के सामने इस तरह जोर से चिल्लाने को विवश करती है, मुझे प्रेरणा करती है कि देखो, दुनिया के इस आदमी को देखो, यह अद्भुत है और अमर है। क्योंकि, मेरी राय

मे, यह दुनिया भर की मनुष्य-जाति का एक ही 'मनुष्य' है। हाँ, मैं अपनी मातृभूमि के एक सर्व-श्रेष्ठ महापुरुष के सामने खड़ा हूँ। मैं सदा के लिए उसका स्वागत करता हूँ। महापुरुष, देखो, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ!" आगे चल कर श्री गोर्की फिर कहते है—"नास्तिक होते हुए भी मैंने, किसी अज्ञान-कारण-वश, खूब सावधान होकर लेकिन कुछ डरते-डरते उन्हे देखा और देख कर सोचा—यह मनुष्य तो परमात्मा-जैसा (God-like) है।" टाल्स्टाय की धार्मिक एवं आध्यात्मिक बातों पर गोर्की का उनसे मत-भेद था, लेकिन कलाकार टाल्स्टाय के प्रति गोर्की के हृदय मे असीम श्रद्धा थी। कला, वेदान्त और धर्म के बीच का यह विरोध आर्य-ज्ञान के अनुकूल नही है। भारत का वेदान्त—उसकी फिलासफी तो प्रत्यक्ष दर्शन पर अवलम्बित है, ऋषि के समान ही उसके यति और कलाकार भी द्रष्टा होते थे, और भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार न तो धर्म और न वेदान्त ही उस अनन्त के अनुभव या प्रत्यक्ष दर्शन के बिना अपनी कोई हस्ती रखते हैं। टाल्स्टाय एक महान् कलाकार तो थे ही, साथ ही वह एक महान् ज्ञानोपदेशक और उच्चतम आदर्श के सदेश-वाहक भी थे। किसी कारण भी क्यों न हो, श्री गोर्की टाल्स्टाय की अगाध आदर-बुद्धि और विश्वास को समझ नही पाये थे। हाँ, टाल्स्टाय के रूप मे वह एक महान् कलाकार का हृदय से आदर करते और उन्ही के रूप मे एक सौन्दर्योपासक विभूति को पूजते थे। गोर्की ने एक स्थल पर अपने और टाल्स्टाय के बीच के वार्तालाप का बड़ा ही सरस-सुन्दर वर्णन किया है। गोर्की कहते है, "एक समय यह रूसी ऋषि ताड़वृक्ष की उभरी हुई नगी जड़ो पर म्लान्त-सुखाय लेटे-लेटे भूरी-भूरी डालियों पर चहल-पहल करने वाली कतिपय चीटियो को एक-टक निहार रहे थे, एकाएक उन्होंने मुझसे पूछा—ऐसे ढग से मानो मुझपर चोट कर रहे हो—'तुम ईश्वर के अस्तित्व को क्यों नही मानते ?'

"मैंने उत्तर दिया—मुझे उसमे विश्वास नहीं है।"

"उन्होंने कहा—यह ठीक नही है। स्वभावत. तुम उस पिता के अस्तित्व मे विश्वास रखने वाले हो, उसके बिना तुम एक कदम भी आगे नही बढ़ सकते। किसी-न-



टाल्स्टाय

किसी दिन तुम खुद इस बात को महसूस करोगे। तुम्हारा अविश्वास उस दुराग्रह का परिणाम है, जो कई तरह की चोटों और दु'खो के कारण तुममे पैदा हो गया है। जिस रूप में तुम दुनिया को देखना चाहते हो वह वैसी तो है नही। कुछ लोग है, जो केवल संकोच या भीरुता-वश विश्वास नहीं रखते। अक्सर युवा व्यक्तियो में इसी भाव का प्राधान्य रहता है; वे किसी स्त्री को अपने हृदय से पूजा करते है, लेकिन केवल इस भय से वे उसे प्रकट नही करते कि कही उनकी आराध्यदेवी उन्हे न समझ सकी तो दु'ख होगा। इन युवाओं मे साहस का अभाव-सा रहता है। प्रेम के समान श्रद्धा के लिए भी साहस और उत्साह की जरूरत होती है। मनुष्य को बार-बार अपने मन से कहना चाहिए, 'मैं विश्वास रखता हूँ', 'मुझ मे श्रद्धा है', बस बेड़ा पार—सारी बाते, सब उलझने सूर्य-प्रकाश क समान स्पष्ट हो जायँगी। अश्रद्धालु व्यक्ति प्रेम भी नहीं कर सकता.. .. ऐसे आदमियों की आत्मा नितान्त अनुर्वरा—ऊसर—होती है, वे वध्या-जीवन बिताते हैं। यह हितकर नही है। लेकिन तुम, तुम तो जन्म से श्रद्धालु हो, अब बीच ही में अपनी

प्रवंचना करना तुम्हे उचित नहीं है। अच्छा है, अगर सौन्दर्य ही तुम्हारा आराध्य है, तो मैं कहूँगा कि सर्वश्रेष्ठ और सम्पूर्ण सौन्दर्य ही परमात्मा है।"

देखिए, कैसी मार्के की बात कही है—सर्वश्रेष्ठ और सम्पूर्ण सौन्दर्य ही परमात्मा है!

टाल्सटाय पर लोग अकर्मण्यता का दोष लगाते है। गोर्की की इस पुस्तक से हमे पता चलता है कि समालोचकों का यह दोषारोपण भ्रम-पूर्ण था—ग़लत था। टाल्स्टाय ने एक दिन गोर्की से कहा—"मै नहीं मानता कि पतन या अवनति नाम की कोई चीज़ यहाँ है। इटली-निवासी लोम्ब्रोस ने पहलेपहल इसे ढूँढा, उसके बाद तोते की तरह टें-टें करता हुआ नारडस नामक यहूदी आया और इसी तरह की बाते करने लगा।" दुःख और आँसुओ से भरी दुनिया के बीच से पतन या अवनति के अस्तित्व मे नितान्त अश्रद्धा प्रकट करना, कितनी महान् श्रद्धा का परिचायक है? मेरी राय मे जहाँ तक वेदान्त का अनुभव-जन्य सिद्धान्तों से सम्बन्ध है, टाल्स्टाय का उक्त कथन साहसी श्रद्धा पर एक अच्छी-सी टिप्पणी है।

इतनी गभीर श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति ही देश-भक्त बन सकता है। वह अपने राष्ट्र का विश्वास करता और उसकी हरएक बात राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत रहती है। टाल्सटाय को लक्ष्य कर गोर्की कहते हैं—"वह किसानों पर प्रेम करते थे, उनकी बातों को सुन-सुन कर ज्ञान-प्राप्ति की उन्हे सदा इच्छा बनी रहती थी, जीवन की समस्या पर जब-जब प्रकाश डालने की जरूरत होती, वह किसानो की ओर आशा लगाये रहते थे। वह कहा करते थे कि धीरे-धीरे इन लोगों के प्रति मेरा प्रेम, मेरी अनुरक्ति बढ़ने लगी, जैसे-जैसे मैं इनके जीवन का अध्ययन करने लगा, इनके जीवित और मृत पुरुषों के बारे में पढ़ने और सुनने लगा, वैसे-वैसे इनके प्रति मेरी चाह बढ़ती गई और इनके जैसा जीवन बिताना मुझे सरल प्रतीत होने लगा। लगातार दो बरस तक मैं इन लोगों के साथ रहा और फिर तो अपने धनी और शिक्षित लोगो के वातावरण मे रहने वालों का जीवन न केवल मेरे लिए घृण्य और अखरने वाला हो गया बल्कि उसकी सारी विशेषतायें फीकी पड़ गईं—वह निरर्थक हो गया। हमारे कार्य, हमारे तर्क, वितर्क हमारा विज्ञान और हमारी कला, सब-के-सब मेरे सामने एक नये रूप मे उपस्थित हुए। इस तरह अपने जीवन के सन्देश को सीधे-सादे किसानों के प्रयत्नों, महत्वाकांक्षाओं और जीवन-संघर्ष मे से पाकर टाल्स्टाय इस नतीजे पर पहुँचे कि शिक्षा के नाम पर जो कुछ आज हो रहा है उसका अधिकांश निरुपयोगी, निरर्थक और राष्ट्रीय जीवन की वृद्धि मे नितान्त बाधक है। गरीब, भोले-भाले किसानों के जीवन से शिक्षा लेकर टाल्सटाय ने सीखा कि मानव-जाति की सभ्यता और उसके विकास की आशा उसके जीवन की सादगी में है। रेल-प्रथा से उन्हे घृणा-सी हो गई थी, अत बहुधा दूर-दूर से पैदल चल कर ही वह अपने घर पर (मास्को) आया करते थे। जब कभी वह रेल-गाड़ी से यात्रा करते, कृषकों के सम्पर्क की भावना के कारण, सदा तीसरे दर्जे का टिकट लेते थे। टाल्सटाय इन लोगो पर प्रेम करते थे, यही कारण था कि वह इन लोगो के अन्धविश्वासो के शिकार नहीं हो पाये। वह देश-भक्त थे और इसी कारण गोर्की के शब्दो मे 'लोकमत, की वह सदा घोर उपेक्षा करते रहे—उससे उदासीन रहे।' किसी देशभक्त का विरक्त जीवन बिताना रहस्य से खाली नहीं होता। वह एकान्त मे बैठकर अपने अन्तस्तल में अपनी जाति की आत्मा से अपना ऐक्य करता रहता है—उससे दिन-दिन अनन्त निष्ठा बढ़ाता रहता है। ऐसी दशा मे देश की सेवा करते हुए वह किसी की निन्दा-स्तुति पर ध्यान नही देता। हमारा गीता के गायक ने भी अर्जुन को इसी विरक्त-भाव का उपदेश किया था—आर्यवर्त्त की रक्षा के लिए उसे जगाया और तयार तो किया, लेकिन अपने कर्मो के फलाफल की बात पर ध्यान न देने पर अधिक जोर देकर उसमे पहले से ही वैराग्य भर दिया था। राष्ट्र-सेवा का मार्ग अक्सर न तो प्रसिद्धि का मार्ग रहा है, और न सदा सफलता का ही।

टाल्सटाय ने एक ऐसी बात सिखाई, जो मूलत उदार और ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्व की उपज है। मैं विश्वास-पूर्वक कह सकता हूँ कि उनकी वह शिक्षा हमारे वर्तमान स्वातंत्र्य-संग्राम के लिए एकदम अनमोल महत्व की चीज़ है। उनकी वह शिक्षा अहिंसा की दीक्षा है। रूस उसे नहीं समझ सका, यूरोप ने उसे अब तक नहीं समझ पाया है; टाल्सटाय

की रहस्यमयी अ-कर्मण्यता के उपदेश को गोर्की कर्मण्यता की शिक्षा कहते हैं। सदाचार और आध्यात्म की शक्ति से बुराई का विरोध करने से अधिक अच्छी कर्मण्यता क्या होगी? गोर्की इसे साम्राज्य-विरोधिनी शिक्षा (Anti-stateism) कहते हैं, सचमुच यह शिक्षा एकतन्त्र और द्वैध शासन की विरोधिनी (Anti-autocratic और Anti-bureaucratic) शिक्षा है।

बुराई के अ-विरोध का यह तरीका उसकी रोक का परिणाम-कारक साधन है, बशर्ते कि लोग उसके सच्चे रूप को ग्रहण करें और अपनी शिथिलता तथा अन्याय में अनुरक्ति का उसे सुलभ कवच न बनावें। यूरोप में जिस दिन से शासन का राजदण्ड कैथोलिक चर्च वालों के हाथ से छिन गया, तबसे लेकर आज तक हिंसा ही एकमात्र उसका साधन रहा है। तब भी यूरोप वालों को युद्ध से रक्षा का कोई मार्ग नहीं मिल रहा है। मेरा विश्वास है कि भौतिक आधार पर बढ़ाई जाने वाली शक्तियाँ किसी दिन अवश्य ही बेकाम हो जायँगी लेकिन मन, मस्तिष्क और सदाचार की भित्ति पर सुरक्षित शक्तियाँ संसार में दिन-दिन अपना वर्चस्व बढ़ायेंगी और आखिर तलवार को आत्मा के आगे पराजित होना पड़ेगा।

गोर्की ने एक जगह टाल्सटाय की मृत्युभावना का उल्लेख किया है। टाल्सटाय खुद मौत के सम्बन्ध में खूब विचार करते और स्वयं कहा करते थे कि "अगर आदमी विचार करना जानता है तो दूसरी बातों के विचार को छोड़ कर मुख्यतः वह अपनी मौत के सम्बन्ध में सदा कुछ-न-कुछ सोचा ही करता है। जितने तत्वज्ञ वेदान्ती हो गये हैं, सबकी यही दशा थी। जहाँ मृत्यु है, वहाँ सत्य या सत्यों का अस्तित्व ही क्या रह जाता है?" सचमुच सत्य क्या होंगे, यदि जीवन का आनन्द क्षणिक हो? अगर मौत ही सब बातों का अन्तिम अन्त या विनाश हो तो, संसार-भर के विज्ञान, कला, सभ्यता आदि में मनोरंजन ही क्या रह जायगा? शरीर के निष्प्राण होने के बाद शीघ्र ही अगर मेरा जीवन भी मुझ से विलग हो जाय, तो दुनिया में मेरे आदर्शों, मेरी भावनाओं और महत्वाकांक्षाओं का मूल्य ही क्या रह जायगा? 'शाश्वत की इस समस्या' पर विचार करते हुए टाल्सटाय को एकाएक सत्य की अनुभूति होती है, उनके लिए जीवन सार्थक बन जाता है, इसलिए कि उनका जीवन मूलजीवन या आदि-चैतन्य का प्रतिबिम्ब है और वह आदि-चैतन्य मृत्यु के सर्वथा परे है। आदि या चैतन्य जीवन का निषेध, उनकी दृष्टि में, हमारे मनुष्य-जीवन की सारी आशाओं, आकांक्षाओं और संघर्षों का विरोधात्मक निषेध है। देहधारी मनुष्य तो चिदात्मा की सम्पूर्णता का एक साधन-मात्र है। मनुष्य-देह के द्वारा ही आदमी देवता और देवता से परमात्मा बन जाता है। अतः अन्त में टाल्सटाय ने यही कहा, 'श्रद्धा जीवन है और उसका अभाव मृत्यु'।

राष्ट्रीय भारत के स्वाधीनता-युग के निर्माता तरुणो! सावधान होओ, और अपनी डायरी में नोट कर लो कि भारत के गीता-गायक की 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः' घोषणा का संसार के सारे महापुरुषों ने एकस्वर से प्रतिपादन किया है! याद रक्खो कि हमारी पराधीन भारतमाता की स्वाधीनता का सारा रहस्य, सारी शक्ति, स्वाधीन होने की हमारी अटूट और अनन्य श्रद्धा में है। देश की स्वाधीनता में अटल श्रद्धा ही हमारा ध्येय, वही हमारा जीवन, और वही हमारा सर्वस्व होना चाहिए।

भारत की दीर्घ-कालिक दयनीय पराधीनता का अगर कोई कारण हो सकता है तो वह भारतीयों की अपनी स्वाधीनता, स्वतन्त्रता और स्वराज्य में अश्रद्धा ही है।

अतः, आओ, सतयुगी भारत के राम-राज्य की बची हुई सन्तान! गांधी, तिलक, रवीन्द्र, अरविन्द और बोस के समसामयिक तरुणो! आओ, और देश की स्वाधीनता के निर्माण में अपनी-अपनी श्रद्धाञ्जलि देकर देश की स्वतन्त्रता में अपना अटल विश्वास व्यक्त करो। जगत् के समस्त राष्ट्र तन्द्रा छोड़ कर उठ बैठे हैं, सारा विश्व स्वाधीनता की लहरों में स्नान कर रहा है, क्या हम अब भी पूर्ववत् गुलाम बने रहेंगे?

नहीं, श्रद्धा के अवतार श्रीकृष्ण के भक्तो! उनके अनुयायिओ! नहीं, संसार तुम्हारी ओर आशा-भरी दृष्टि से देख रहा है। उठो, और नूतन उत्साह के साथ नये युग-निर्माण के नवीन सन्देश को बिजली-सी चपलता के साथ सारे विश्व में फैला दो! "योयच्छ्रद्धः स एव सः!"

टी० एल० वास्वानी



गीता की अपूर्वता

संस्कृत साहित्य में तो गीता अपूर्व ग्रन्थ है ही संसार के साहित्य मे भी उसे अपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है और हमें आशा है कि भविष्य मे भी गीता सर्वत्र इसी तरह प्रतिष्ठा प्राप्त करती रहेगी—यह अलौकिक ग्रन्थ इस योग्य है भी। बाहर से देखो या उसके भीतर घुस-कर उसमें अवगाहन करो, गीता हर हालत मे नितान्त रमणीय ही प्रतीत होगी। किसी संस्कृत कवि का 'क्षणेक्षणे यन्नवतां विधत्ते तदेव रूपं रमणीयतायाः' (जो पल-पल मे नवीनता धारण करे वही रमणीयता है) यह उद्गार मानों गीता की रमणीयता को लक्ष्य करके ही कहा गया है। संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं मे गीता को लेकर इतने विशाल साहित्य का निर्माण हुआ है कि साधारण आदमी के लिए यह कल्पना भी कठिन होती है कि इससे अधिक कोई क्या और किस तरह लिख सकेगा। लेकिन जो ग्रन्थ, ग्रन्थराज—या ग्रन्थ-रत्न कहलाता है उसमे कुछ ऐसी अपूर्वता रहती है कि उसके नये-नये पाठकों को उसमे से हमेशा एक-न-एक तरह का नूतन प्रकाश मिलता ही रहता है। और इसी कारण हम गीता को 'ग्रंथराज' कहने में अत्युक्ति नही करते। प्रस्तुत लेख में हम गीता-महोदधि के अगाध अन्तरंग में अवगाहन न कर केवल उसके ऊपर-ऊपर के स्वरूप पर दृष्टि-पात करेंगे और इस तरह हमारी दृष्टि की सीमा में गीता की जितनी रमणीयता समा सकेगी, उसी को अपने पाठकों के सम्मुख रखने की चेष्टा करेंगे।

हम पहले ही यह कह देना ठीक समझते है कि गीता की अनेक-विध अपूर्वता के कारण साधारण दृष्टि तो चकित हो ही जाती है अतः उसकी अनेक-विधता के विस्तार की ओर न बढ़ते हुए जितना हमारी मर्यादा मे आ सकेगा उसी का उल्लेख हम यहाँ करेंगे।

पहली बार देखते ही हमे गीता की अपूर्वता के दर्शन उसकी पार्श्व-भूमिका (Back ground) मे होते हैं। हीरा स्वभावतः तेजस्वी होता है लेकिन जिस समय वह किसी सुवर्ण-मुकुट में जड़ा जाता है उसकी अपूर्वता और उसका तेज फूट-फूट कर चारों ओर बिखरने लगते हैं। इसी भाँति गीता भी अपने गान के अद्भुत अवसर के कारण अत्यन्त तेजोमयी बन गई है। महाभारत (ग्रन्थ) पंचम वेद माना जाता है। इसी पचम वेद के भीष्मपर्व मे श्रीकृष्ण ने गीता कही है। अवसर और स्थल देखिए, कैसा अनूठा है—धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र के मैदान में एक ओर लड़ाई के साज सज रहे हैं और दूसरी ओर कृष्ण गीता का गान करते हैं। संसार के साहित्य मे शायद ही कोई ऐसा ग्रंथ हो जिसमे मानव-जीवन के तत्वज्ञान का गान ऐसे भीषण अवसर पर किया हुआ मिले। फिर इस गीता के गायक और श्रावक (श्रोता) की जोड़ी भी कितनी अनूठी है—जिस ग्रन्थ के गायक, प्रत्यक्ष भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्ण और श्रोता क्षत्रियावतंस किन्तु विषण्ण-मन वीरवर अर्जुन हों उसकी अलौकिकता और अनुपमता मे किसे सन्देह हो सकता है ?

दूसरे, गीता की शिक्षा प्रश्नोत्तर किंवा संवाद-रूप मे है, अतः गीता मे निरी तात्त्विक आलोचना की नीरसता और शुष्कता फटकने तक नही पाई है। गुरु-शिष्य जैसी आत्मीयता, मित्रों का विश्रम्भ (Confidence), आप्तों की निकटता, भक्ति तथा सहृदयता का स्रोत आदि गुणों के कारण गीता एक सुन्दर प्रश्नोत्तरी और संवादात्मक तत्त्व विवेचन करने वाली दिव्य रचना हो पड़ी है। इन गुणों के

कारण गीता प्लेटो (Plato) के प्रसिद्ध संवादों (Dialogues) से भी बाज़ी मार ले गई है।

गीता की तीसरी विशेषता यह है कि उसका संवाद तर्क-कठोर गद्य में न होकर प्रसाद, ओज आदि गुणों से युक्त सुन्दर सरल काव्य में है। साधारणतया तत्त्वज्ञान सरीखे गहन विषय प्रौढ़-गद्य में ही लिखे मिलते हैं—इसका कारण है तत्त्वज्ञान की तर्क-प्रधान विचार-प्रणाली। ऐसे तर्क-प्रधान विषय का भावनामय काव्य में समावेश, अत्यन्त विरल है। जहाँ कहीं ऐसे विषय का पद्यमय विवेचन मिलता भी है वहाँ बहुधा वह पद्य भाग नीरस रहता है। परन्तु गीता में कुछ ऐसी अनन्य-साधारणता है कि उसमें गद्य की प्रौढ़ता के साथ-ही-साथ काव्य के प्रसाद आदि गुण भी सुलभ हैं—ओत-प्रोत हैं। काव्यमय होने के कारण स्वभावतः गीता सहजस्फूर्त (spontaneous) भी है।

पाश्चात्य समालोचकों की दृष्टि में वही काव्य उत्तम गिना जाता है जिसमें सुभाषितों की प्रधानता हो। उनकी कसौटी पर शेक्सपियर, मिल्टन, पोप, और टेनीसन आदि अंग्रेजी कवियों की कविता ठीक उतरती है और इसीलिए आंग्ल-साहित्य में उसकी गणना उत्कृष्ट काव्य में होती है। इसी कसौटी पर अगर हम गीता को भी परखें तो निश्चय ही वह भी एक उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थ ठहरेगा। इसका कारण है। गीता में जहाँ तहाँ अनेक संक्षिप्त और सारगर्भ पद-वाक्य बिखरे पड़े हैं—उनमें प्रसाद है और ओज भी है। योगेश्वर कृष्ण की अधिकार-पूर्ण वाणी से निकले हुए ये पद एवं वाक्य-रत्न विश्व-साहित्य में एकदम विरल, अनूठे और अनुपम हैं। गीता का चाहे जो अध्याय खोलकर पढ़ डालिए उसमें आपको दो-चार सुभाषित तो मिल ही जायँगे। कितने ही सुभाषित तो ऐसे हैं कि उन्हें हम विश्व के आश्वासनार्थ कहे हुए विज्ञापन कह सकते हैं। उदाहरण लीजिए—

> यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ॥
> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
> अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुच ॥

गीता का वेदान्त-ग्रन्थ माना जाना उसकी चौथी अपूर्वता है। वेदोपनिषद् का वेदान्त और श्री शंकराचार्य आदि का वेदान्त इन दोनों के बीच में, सोने के मणि जैसा बीचों-बीच छेद करके गीता-शास्त्र तैयार हुआ है। अतः उपनिषदों की स्वैर और अनेक-विध कल्पना के उच्च पर्वत-शृंग पर से गिरने वाले तत्त्वज्ञान के अनिबन्ध प्रवाह और शंकराचार्य के सुघड़, सुदृढ़ एवं सुन्दर तत्त्वज्ञान की प्रचण्डपूर के मध्य-भाग में बहने वाला गीता का प्रवाह गंगा के उस त्रिपथगामी शान्त, रम्य पात्र के समान है जो स्वर्ग से निकल कर ठीक पाताल तक पहुँच जाता है। छन्द (Metres) की दृष्टि से भी गीता के छन्द वेदोपनिषदादि की शिथिल छन्द-रचना और कालिदासादि की नियमबद्ध छन्दोरचना के बीच की चीज ठहरते हैं। भाषा, व्याकरण आदि की दृष्टि से भी गीता इनके बीच की चीज पाई जाती है। अतः हमें यह कहते संकोच न होना चाहिए कि गीता में व्यवहृत भाषा, छन्द एवं व्याकरण आदि उसके वेदान्त-शास्त्र के मध्य-भाग में सुशोभित होने के सर्वथा योग्य हैं।

गीता की पांचवीं अपूर्वता भी है—गीता पढ़ते समय उसके विद्यार्थी की कल्पना को कई अद्भुत-रम्य स्थलों का प्रवास करने की अभिसन्धि मिलती है—कभी वह अपने को धृतराष्ट्र और संजय के सम्मुख कौरव-राज के प्रासाद में बैठा पाता है तो कभी कुरुक्षेत्र की दोनों सेनाओं के बीच खड़ा, कभी अरण्यवासी, ब्रह्मपरायण, उपनिषत्कार ऋषियों की संगति का सुख लूटता है तो कभी 'अव्यक्ताव्यक्त चेतस्क' वसिष्ठ-वामदेवादि के समागम का रस-पान करता है; कभी भक्ति-पुरस्सर, 'पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयं' देने वाले सगुणोपासक भक्त के दर्शन करता है तो कभी कर्मयोगी जनकराज की मिथिला, विदुर की झोंपड़ी, पतंजली के योगाश्रम, कपिल महामुनि के सांख्यतत्त्वालय और जैमिनि के कर्मठयोग-गृह में विचरता है, कभी 'वासुदेवः सर्वम्' कहने वाले महात्मा की छाया में निवास करता है तो कभी 'ईश्वरोऽहं अहं भोगी' में श्रद्धा रखने वाले चार्वाक के भोग-गृह में प्रवेश करता है और कभी 'पाप-योनि' कहे जाने वाले स्त्री-वैश्य-शूद्रादि भक्त शिरोमणियों के प्रेममय सहवास में रहता है। इस तरह कल्पना-शक्ति द्वारा कई स्थानों की यात्रा करता हुआ गीता का-

षक स्वर्ग-मृत्यु-पाताल मे रहने वाली ईश्वरी-विभूतियों के सम्मुख पहुँच जाता है। स्वर्गवासी, देव, रुद्र, आदित्य आदि विभूतियों के उसकी आँखों के सामने आते-न-आते ही पाताल निवासी यक्ष, राक्षस, नाग आदि विभूतियाँ उसे दीखने लगती हैं और ताबडतोड पृथिवी पर के श्रेष्ठ-श्रेष्ठ मनुष्य उसकी आँखो मे तैरने लगते तथा नक्षत्र, महोर्नो आदि की उत्तमोत्तम विभूतियाँ चल-चित्र-पट के चित्रों की भाति उसके नेत्रों के सम्मुख नाचने लगती हैं।

गीता की छठो एव विश्व-साहित्य में अद्वितीय अपूर्वता है उसका विश्व रूप दर्शन। यह दर्शन इतना विचित्र, कौतुकमय और भीत्युत्पादक है कि इसकी भव्यता और मन तथा वाणी की अगोचरता के कारण यह जैसे मानवी-नेत्रों को वैसे ही दिव्य नेत्रों को भी भयभीत और आश्चर्य-चकित कर डालने वाला हुआ है। गीता का यह उदात्ततम (Sublimest) अश है। इस विश्व-रूप के दर्शन अर्जुन को और व्यास कृपा के कारण संजय को छोड और किसी भी व्यक्ति को नहीं हुए हैं—यह बात श्रीकृष्ण ने खुद अर्जुन मे कही है—'यन्मेन्वदन्येन न दृष्ट पूर्वम्'। इस दृश्य के दर्शन-मात्र से अर्जुन की भीति की सीमा न रही। स्वय संजय को भी 'तच्च संस्मृत्य-सस्मृत्य रूपमत्यदभुत हरे। विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च मुहुर्मुहु॥" इन शब्दों मे उसकी अदभुतता स्वीकार करनी पडी है। इस विश्व-रूप-दर्शन के वर्णन को पढ़कर और मनश्चक्षु द्वारा उसकी अल्प-सी कल्पना करके ही हम झमेले में पडते इतना और विमूढ बन जाते हैं। वह दृश्य ही इतना अद्भुत, रम्य और रोमहर्षण है। इसीलिए हम ऊपर कह आए हैं कि विश्व-रूप-दर्शन, गीता की सर्वश्रेष्ट अपूर्वता है।

इस अपूर्वता से निकट सम्बन्ध रखने वाली गीता की सातवीं अपूर्वता उसका सर्व-सग्राहकत्त्व है। 'गीता-स्तुति' केरचयिता कवि ने गीता के इस स्वरूप को प्रकट करने वाला मार्मिक और अन्वर्थक यह श्लोक—

'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दन.।
पार्थो वत्स सुधी र्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत॥

बनाया है जिसका अर्थ इस प्रकार है—सारे उपनिषद मानों गायें हैं, उन्हें दुहने वाला गोपाल-नन्दन (अहीरों को आनन्दित करने वाला अथवा अहीर का पुत्र) है, गीता-रूपी अमृत ही गोपाल-नन्दन का दुहा हुआ वह दूध है। जिसे पीने वाला वत्स—बछड़ा है बुद्धिमान अर्जुन गीता की अपूर्वता का यह आलकारिक वर्णन है। इसे सीधी-सादी भाषा में यों कह सकते हैं कि गीता का उपदेश सारे उपनिषदों का अमृत-मधुर एवं सग्रहणीय सार है। एक बात है—'उपनिषद,' शब्द का निरा वाच्यार्थ ग्रहण करने से काम न चलेगा। आर्यतत्त्व ज्ञान में जिन-जिन दर्शन-शास्त्रों का समावेश होता है उन सब दर्शनों का हमें इस अर्थ मे लक्षणा से समावेश करना चाहिए। प्राचीन तत्त्वज्ञान के विस्तार मे जितना अश उत्कृष्ट जँचा उतना सुव्यवस्थित ढग से एकत्र करके और उसमे अपनी अपूर्वता को छुपे ढंग से जोड कर श्रीकृष्ण ने कौशल-पूर्वक गीता को मनुष्य-जीवन का एक सुन्दर और अनुपम तत्त्वज्ञान बना दिया है। श्रीकृष्ण ने यह काम इतने रहस्य-मय ढंग से किया है कि प्रत्येक पंथ के आचार्य को गीता मे अपने ही तत्त्वज्ञान का विवेचन—प्रतिपादन—मिलता है। इसी समझ पर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने गीता पर एक-एक भाष्य लिख डाला है, आज भी अनेक तत्त्वज्ञ लिखते जा रहे है और इसमें सन्देह नहीं कि भाष्य-लेखन की यह परम्परा भविष्य में भी बनी रहेगी। गीता की इस सार—सग्राहक बुद्धि (Ecclecticism) ने बड़े-बड़े दिग्गज पण्डितों को भ्रम में डाल दिया है। स्व० न्यायमूर्ति तैलग जैसे श्रेष्ठ विद्वान् ने भी इसी भ्रम-वश अपनी पूर्वके पवित्रग्रंथ('Sacred Books of the East') नामक ग्रथमाला के अनुवाद की प्रस्तावना में गीता को 'विविध मतों का अव्यवस्थित बोझ' कह डाला है। लेकिन हमारे मत मे चार्वाक दर्शन से लगाकर शकराचार्य के अद्वैत पर्यन्त जितने महत्त्वपूर्ण दर्शन, सस्कृत-तत्त्वज्ञान में अन्तर्भूत होते हैं (जैसे, चार्वाक, कपिल सांख्य, पातञ्जल-योग, पूर्व मीमांसा, उत्तरमीमांसा, आदि) उन सब का उपयुक्त उपयोग करके, उन्हें अपने तत्त्वज्ञान-सूत्र में पिरो कर और ज्ञान, कर्म और भक्ति के तीन अक्षरों को परस्पर बटकर भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता-रूप में अपने जीवन का सार—अपना सूत्रमय तत्त्वज्ञान—अर्जुन

के एवं पर्याय से सारे जगत् के, हाथों सौंप दिया है।※

गीता की आठवीं अपूर्वता जीवात्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध में अभिव्यक्त हुई है। इस अपूर्वता का मूल गीता की सर्व-सग्राहक बुद्धि ही में सन्निहित है। गीता में परमात्मा जिस प्रकार एकात्मा अथवा एक-रूप-धारी है उसी प्रकार वह विश्वात्मा, विश्व-रूप-धारी और अ-रूप-धारी, निर्गुण-निराकार भी है। इस त्रिमूर्ति में पूर्ण ऐक्य है—Unity in Trinity है और इस अद्वैत तत्त्व का ही यह त्रिमूर्ति-स्वरूप (Trinity in unity) है। पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण मानव रूप-धारी एकात्मरूप परमात्मा है, यहाँ अर्जुन की प्रार्थना पर विश्वात्मरूप बनते हैं और फिर वही, तेरहवें अध्याय के वर्णन के अनुसार, उपनिषदों के निर्गुण-निराकार परमात्मा भी सिद्ध होते हैं। मानव-रूप में (अर्थात् चतुर्भुजरूप-धारी श्रीकृष्ण-रूप में) इन परमात्मा का जीवात्मा—अर्जुन—से, मित्र, गुरु-शिष्य, देव-भक्त, और चिरकालिक परिचय के कारण अन्तरंग सुहृद का सम्बन्ध है। एकात्मक मानवरूप का त्याग करके योगमाया के कारण विश्वात्म-रूप धारण करते ही यही सम्बन्ध आदर, आश्चर्य और भीति इन तीन भावनाओं से व्याप्त हो जाता है। और विरोधाभासात्मक निर्गुण-निराकार परमात्मा के वर्णन में जीवात्मा का सब भावनाओं के साथ समग्र लय होजाता है। इन तीन सम्बन्धों का अलग-अलग वर्णन करते हुए भिन्नार्थक पुरुषवाची सर्वनामों का प्रयोग किया गया है, पहले प्रकार के सम्बन्ध में प्रथम-द्वितीय पुरुष का प्रयोग मिलता है—'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहंत्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥' 'मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि हे कृष्ण, हे यादव हे सखेति, आदि—, जीव और ईश्वर इनका कुछेक दूर का सम्बन्ध तीसरे पुरुष मे व्यक्त किया है—ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्व भूतानि यंत्रा रूढानि मायया॥ तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत। तत्प्रसादात्परा शान्तिमचिरेणाधिगच्छसि। विराट् स्वरूप के अवसर पर पुनः प्रथम-द्वितीय पुरुष की भाषा है—' कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो' . . . . ।' 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।' 'को भवानुग्ररूपो' आदि देखिए। ※ निर्गुण-निराकार के वर्णन में तो सम्पूर्ण अद्वैत ही का प्राधान्य होने के कारण द्वैत-वाची सम्बन्ध की कल्पना ही नष्ट हो गई है। अतः नपुसक-लिंगी तृतीयपुरुष-वाचक सर्वनाम का ही प्रयोग मिलता है। इस सम्बन्ध में 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्यतिष्ठति॥ सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। असक्त सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुण भोक्तृ च॥ बहिरन्तश्च भूतानामचर चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेय दूरस्थ चान्तिके च तत्।' आदि द्रष्टव्य हैं।

सारांश मिल्टन ने जिस भाँति अपने 'Paradise lost' में अति-मानुष (Superhuman) वस्तुओं का वर्णन किया है उसी प्रकार गीता भी असम्बोध्य, 'अधृष्य' और 'अभिगम्य' है। कृष्ण, कृष्ण कौन है ? वह तो हमारे घर का है, हमारा मित्र है, हमारे हँसी मजाक का अधिकारी—'सहपांशुक्रीडिततया'—हमारा लँगोटिया दोस्त है, इस तरह की विचारणा करते-करते दूसरे ही क्षण हमें, मालूम होता है कि हमारा यह बाल-मित्र, विश्वरूप-धारी विश्वात्मा और सारे विश्व को निगल जाने वाला काल-पुरुष है, और इस सत्य की प्रतीति होते ही हम तत्क्षण आश्चर्य-विमूढ़ बन जाते हैं। फिर विराट्स्वरूप के दर्शन से भीति का अतिरेक होकर जब हम उससे दूर भागने का यत्न करते हैं तभी हमें पुनः यह प्रतीति भी होती है कि वह विराट्

※ इन विभिन्न दर्शनों का उपयोग गीता में किस तरह किया गया है, गीता के अपूर्व तत्त्वज्ञान से उनका सम्बन्ध किस भाँति जोड़ा गया है आदि बातें स्वतन्त्र रूप से विचारणीय हैं अतः इन पर यहाँ अधिक न लिखकर किसी दूसरे लेख में प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा। —लेखक

※ यहाँ की भाषा पहले जैसी प्रेममय नहीं है, आदर-आश्चर्य-भीति के कारण दूरी-भाव छोड़ना पड़ा है, अतः प्रथम द्वितीय पुरुषकी भाषा का पुनः प्रयोग किया है। —लेखक

स्वरूपी कालात्मा बचपन से हमारा चतुर्भुजरूप-धारी लँगोटिया दोस्त है। हमारा चतुर्भुज-धारी बाल-मित्र ही विश्व-रूप-धारी कालात्मा भी है यह जानते ही दूसरे ही क्षण हमें उपनिषदों के 'तत्पदवाच्य' परब्रह्म का ज्ञान और उसकी प्रतीति होने लगती है। परमात्मा-सम्बन्धी इस तरह की अद्भुत, रम्य एवं प्रीतिप्रद कल्पना और तद्वत् ही जीवात्मा से उसका सम्बन्ध, ढूँढने पर भी क्वचित् ही कहीं मिल सके।

गीता की नवी अपूर्वता है उसकी दूसरे धर्मों के सम्बन्ध में सहिष्णुता। गीता का यह सुप्रसिद्ध श्लोक—'येऽप्यन्यदेवता-भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधि पूर्वकम् ॥' उस की इस अपूर्वता का द्योतक है। दूसरे देवताओं की भक्ति करने वाले को भी श्रीकृष्ण ही उनकी इच्छानुसार फल देते हैं, इस कथन से अप्रत्यक्षरीत्या ही क्यों न हो, उक्त अर्थ ही सिद्ध होता है। 'सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहंत्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि ॥' आदि कथन से भी 'दूसरे धर्म वालों को मोक्ष नहीं मिलेगा, मेरी ओर आने वाले ही मोक्ष पासकेंगे' इस तरह का कोई आग्रह प्रकट नहीं होता। भगवान् का हेतु तो केवल यही है कि दूसरे किसी भी मार्ग की उलझन में न पड़कर भक्त को ईश्वर की ही शरण लेनी चाहिए जिससे ईश्वर द्वारा उसका उद्धार हो सके।

गीता की दसवीं अपूर्वता उसकी अपनी शिक्षाओं में है। ज्ञान, कर्म और भक्ति, स्वरूपत: भिन्न होते हुए भी वस्तुत: ये तीनों एकरूप ही हैं, अत: इन विभिन्न मार्गों के प्रवर्त्तक लोगों का अपने-अपने पथ या मार्ग को ही उत्कृष्ट बतलाने का प्रयत्न गीता-सम्मत प्रयत्न नहीं है। गीता में तो ज्ञानी, कर्मयोगी और भक्त तीनों ही परस्पर एक-दूसरे के अ-विरोधी माने गये हैं, यही नहीं किन्तु इन तीनों में से किसी एक का वर्णन दूसरे पर भी ठीक उसी तरह लागू होता है, कहीं-कहीं तो ज्ञानी, कर्मयोगी और भक्त तीनों को एक-रूप ही माना गया है। उदाहरण लीजिए—

'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान भजते यो मां स मे युक्ततमो मत ॥'
'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तो एकभक्तिर्विशिष्यते।'
'अनन्यचेता सततं यो मां स्मरति नित्यश।
तस्याहं सुलभं पार्थ, नित्य युक्तस्य योगिन ॥'

ऐसे एक नहीं अनेक श्लोकों से बराबर इसी आशय की ध्वनी निकलती है।

अपूर्वता से ओत-प्रोत भरे हुए गीता-महासागर में से चुन-चुनकर ऊपर, कुछ रत्नों का एक हार बनाने की चेष्टा की है। समुद्र के 'रत्नाकर'—रत्नों की खान—होते हुए भी संग्राहक की अंजली का आकार छोटा-सा होने के कारण उसमें रत्न आ ही कितने सकते हैं? अत जितने अंजली में समा सके वही हार-रूप में ऊपर दिये हैं। आर्य-तत्वज्ञान में गीता का स्थान निस्सन्देह अपूर्व है। वेद, उपनिषद आदि ग्रन्थ अत्यन्त पवित्र—अस्पृश्य—होने के कारण सामान्य जनता के लिए उनका स्पर्श दुर्लभ ही नहीं कठिन होने लगा, अत: स्पृश्य लोगों के समान ही भोले-भाले अस्पृश्य बन्धुओं के हितार्थ भगवान् ने गीता की रचना करके इस मोक्ष-नौका को उनके लिए भव-सागर के किनारे बाँध रक्खा है। वर्तमान काल में श्री ज्ञानेश्वर, तुकाराम अथवा श्री तुलसीदासजी के ग्रंथों की जो महिमा है, उनका जो 'मिशन' है, वही महिमा और वही 'मिशन' गीता का अपने ज़माने में था, यह निर्विवाद है।

छिद्रों (दोषों) से बिद्ध इन दश रत्नों में से भक्ति-प्रवणता का सूत्र पिरोया गया है, अत: यह दश रत्नों का रत्न-हार भगवान् श्रीकृष्ण को प्यारा लगेगा ही, इसी बुद्धि से उस जन्मदाता के पुण्यपावन चरणों में इसे समर्पण कर आज यहीं विश्राम करता हूँ।

कृष्णाजी रामचन्द्र कुलकर्णी

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है। एक प्रति आने पर आलोचना न हो सकेगी। प्रत्येक पुस्तक का साहित्य-सत्कार तो उसी अंक में हो जाया करेगा— आलोचना, यदि हुई तो, सुविधानुसार बाद में होगी।]



मारवाड़ राज्य का इतिहास

(सचित्र) लेखक—श्रीयुत जगदीशसिंह गहलोत। प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य-मन्दिर, जोधपुर (मारवाड़) पृष्ठ संख्या ४८५, मूल्य ३।।) और राजसंस्करण ४।।)

आज हिन्दी-साहित्य की प्रगति जितनी इतिहास की तरफ़ हो रही है, उतनी शायद किसी दूसरे विषय की ओर नहीं। प्रस्तुत पुस्तक भी उसी का एक उदाहरण है। इस पुस्तक के लेखक ने पहले भी इतिहास-सम्बन्धी कई छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी हैं। लेखक ने इस पुस्तक के लिखने में विशेष परिश्रम किया है।

प्रारम्भ में मारवाड़ राज्य का भूगोल दिया गया है, जिससे मारवाड़ की भूगोल-सम्बन्धी प्रायः सभी बातों—आकार, विस्तार, नदी, पर्वत, नाले, कुएँ, तालाब, झीलें, जल-वायु, वर्षा, मुख्य पैदावार, जंगली पशु-पक्षी, राज्य-विभाग और ज़िलों—का ज्ञान हो जाता है। फिर जोधपुर राज्य की शासन-पद्धति और राज्य-प्रबन्ध के भिन्न-भिन्न महकमों का संक्षिप्त इतिहास देते हुए, उनकी वर्तमान स्थिति बताई गई है। तदनन्तर जोधपुर नगर और उसके दर्शनीय स्थानों का विस्तृत वर्णन है, जो ४० पृष्ठों में समाप्त हुआ है।

७६ वें पृष्ठ से जोधपुर राज्य का इतिहास प्रारम्भ हुआ है। पहले बहुत संक्षेप से मारवाड़ का प्राचीन इतिहास देने का प्रयत्न किया गया है, जो आवश्यकता से अधिक संक्षिप्त हो गया है। इसी तरह राठोड़ों का प्राचीन परिचय देते हुए अपने कथन की पुष्टि में प्रमाण बहुत थोड़े दिये गये हैं, जिनसे पाठक को कई संदिग्ध बातों पर स्वयं विचार करने की सुविधा नहीं मिलती। राठोड़ और गहरवार (जयचंद के वंशज) एक हैं, राठोड़ सूर्यवंशी हैं आदि कई बातें अब तक ऐतिहासिकों के लिए विवादास्पद हैं। इनके सम्बन्ध में अपना सप्रमाण मत रखना आवश्यक है। इसी तरह जयचंद के वर्णन में पृथ्वीराज रासो में उल्लिखित जयचन्द द्वारा शहाबुद्दीन गोरी को बुलाया जाना अब ऐतिहासिक सत्य नहीं रहा। पृथ्वीराज रासो इतिहास के लिए प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। इस सम्बन्ध में अधिक जाँचकर पहले ही लिखा जाता तो अच्छा होता। यद्यपि लेखक ने ग्रन्थ के पिछले भाग में इस आशय के कुछ वाक्य लिखे हैं, तथापि अभी इस असत्य को जो पृथ्वीराज रासो के कारण इतना व्याप्त हो गया है, दूर करने के लिए अधिक परिश्रम की आवश्यकता है। साधारणतः जोधपुर का प्राचीन इतिहास अच्छा है, यद्यपि अभी उसमें और भी अधिक पुरातत्व-अनुसंधान से काम लेने की आवश्यकता थी। बहुधा ख्यातों पर आश्रित रहने से कई ऐतिहासिक सत्य छिप जाते हैं। जोधा के बाद तो लेखक ने प्रायः प्रत्येक राजा की जन्मपत्री भी देने का प्रयत्न किया है जिससे इतिहास कुछ अधिक स्पष्ट और सरल हो गया है। परन्तु कई स्थलों पर लेखक ने कई घटनाओं को स्थान ही नहीं दिया। अजीतसिंह से बहादुर शाह ने जोधपुर छीन लिया था और वह जयपुर के राजा जयसिंह के साथ बादशाह के पीछे राज्य-प्राप्ति की आशा में नर्मदा तक गया था, परन्तु सफलता की संभावना न देखकर दोनों महाराणा के पास सहायता की प्रार्थना के

लिए आये थे। इसका उल्लेख श्रीयुत इरविन ने अपने Later Mangols में किया है, परन्तु प्रस्तुत पुस्तक में इस महत्वपूर्ण घटना का कहीं पता ही नहीं है। इसी तरह कई अन्य आवश्यक घटनायें नहीं लिखी गईं, यद्यपि उनकी सख्या थोडी है। इस तरह कुल इतिहास करीब दो सौ पृष्ठों मे लिया गया है। यदि वर्तमानकालिक इतिहास को अधिक संक्षिप्त कर प्राचीन या मध्यकालिक इतिहास को कुछ अधिक विस्तृत लिखा जाता, तो अधिक उपयोगी होता। वर्तमानकालिक इतिहास में बहुत-सी ऐसी बाते आ गई है, जो निरर्थक और अनावश्यक हैं। राजवश के अन्त में एक राज-वंशावली देकर मारवाड राज्य के भिन्न-भिन्न परगनो, जागीरों और सरदारों का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। इसके बाद राज्य के भिन्न-भिन्न करों और बन्दोबस्त का संक्षिप्त परिचय देकर यहाँ के पशुधन, उपज, दुर्भिक्ष, भोजन, पहिनाव, मनुष्य-गणना, धर्म, जाति, राजपूतो के सामाजिक रीति-रिवाज, शिक्षा, साहित्य, त्यौहार, अखबार, क़ानून, स्वास्थ्य, जंगल, रेलवे, उद्योग-धन्धे, पेशे, व्यापार, आय-व्यय आदि का सक्षेप मे विवरण दिया है। अंग्रेजी सरकार से जितने अहदनामे हुए, उनकी नकल दी गई है। फिर बारह परिशिष्टो मे क़ानून-कायदों की सूची, मुकद्दमेबाजी, शिक्षा, जेल, सिरोपावो का वर्गीकरण, वर्णव्यवस्था, बाल-विवाह, मारवाड की कहावतें, मारवाड के पोलिटिकल अफ़सरों की सख्या आदि का सक्षिप्त वर्णन लिख कर तेरहवे परिशिष्ट मे दूसरे राठोड राज्यो—आलीराजपुर, ईडर, किशनगढ़, बीकानेर, सीतामऊ, रामपुर, झीमसापुर आदि कई राज्यों का भी संक्षिप्त इतिहास देने का प्रयत्न किया गया है, जिससे पुस्तक का मूल्य बहुत बढ़ गया है।

हमने जितने मारवाड़ के इतिहास देखे, उनमें यह सबसे उत्कृष्ट है। प्रायः सभी ज्ञातव्य बातो का इसमें अच्छा सग्रह किया गया है, जिससे पुस्तक मनोरजक और बहुत उपयोगी हो गई है। भिन्न-भिन्न जातियों के वर्णन तथा जन-साधारण का सामाजिक जीवन विस्तार से दिया गया है। वस्तुत: कोई इतिहास केवल राजकीय घटनाओं से पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उसमे सामाजिक जीवन को भी उतना ही जरूरी स्थान मिलना चाहिए। लेखक ने स्थल-स्थल पर मारवाडी कहावते भी बहुत-सी दी हैं, जिनसे तत्कालीन जनता की मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। यह इतिहास केवल वर्णनात्मक ही नहीं, आलोचनात्मक भी है। लेखक ने राजपूतों की सामाजिक कुरीतियों का निरूपण कर उनके दूर करने के उपाय भी बता दिये हैं, यद्यपि ऐसे स्थल कुछ बढ़ जाने से कभी-कभी यह पुस्तक इतिहास न हो कर उपदेश-पुस्तक मालूम होने लगती है, परन्तु राजपूतों के इतिहास के साथ ही यह कड़वी घुट्टी पिलाने से कुरीतियाँ दूर हो सकती हैं, यह सोच कर लेखक का यह दोष क्षन्तव्य है। लेखक की निर्भीकता और राष्ट्रीयता इसीसे मालूम होती है कि उसने कहीं-कही वर्तमान शासन की भी आलोचना की है और राष्ट्रीय आन्दोलन से सहानुभूति दिखाई है, जिसकी आशा रियासत के आदमी से कठिन थी। करीब १५० चित्रों के देने से पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है, यद्यपि इसमे कई अनावश्यक चित्रों का समावेश हो गया है। संक्षेप मे कहे तो पुस्तक की उपयोगिता बढाने मे लेखक ने कोई कसर नही छोडी। परन्तु यदि पुस्तक को अध्यायों और प्रकरणों मे बाट कर संपादित किया जाता और सब विषयों को यथा-अध्याय रखा जाता तो पुस्तक और भी अच्छी हो जाती। आशा है कि पुस्तक के आगामी सस्करण मे उपर्युक्त त्रुटियाँ दूर हो जायँगी। अन्त मे हम राजपूताने के इतिहास के विद्यार्थियों से अनुरोध करते हैं कि व इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें।

कृष्ण

बेन्जामिन फ्रेंकलिन का जीवन-चरित्र

मूल लेखक—श्री गोविन्दभाई हाथीभाई देसाई। अनुवादक-श्री लक्ष्मीसहाय माथुर, विशारद। प्रकाशक—श्री मध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर। पृष्ठ-सख्या ५२०, मूल्य २॥)

हिन्दी-साहित्य में अच्छे, विस्तृत तथा उपदेश-प्रद जीवन-चरित्रों का कुछ अभाव-सा नजर आता है और यह कभी-कभी बुरी तरह खटकता है। हर्ष का विषय है कि कुछ हिन्दी-हितैषियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है। प्रस्तुत प्रयत्न इसी का परिणाम है। यह एक गुजराती

पुस्तक का अनुवाद है। लिखने का ढंग रोचक है। भाषा भी सरल है। और विषय की तो बात ही क्या ? संसार में ऐसे बहुत कम लोग होते है, जिनका जीवन अनुकरणीय हो। ऐसे इने-गिने लोगों में बेन्जामिन फ्रेंकलिन भी एक थे। उनके जीवन की प्राय तमाम घटनाओं को इस पुस्तक मे लाने का प्रयत्न किया गया है। मनुष्य किस प्रकार उन्नति के पथ पर आरूढ़ होकर मार्ग की विघ्न-बाधाओं को अपने पुरुषार्थ से हटाकर आगे की ओर अग्रसर होता है, और किस प्रकार वह अन्त मे संसार का एक महान् पुरुष बन जाता है, यह सब इस जीवन-चरित्र से अच्छी तरह प्रकट होता है। अपने जीवन को उन्नत बनाने के लिए प्रयत्नशील नवयुवक भाइयों को हम इस पुस्तक के ग्यारहवें प्रकरण (स्वाध्याय) को पढ़ने की विशेष रूप से सिफ़ारिश करते हैं। अपने समय का किस तरह सदुपयोग करना चाहिए, अपने दुर्गुणों को किस तरह दूर करना चाहिए, और उन पर किस तरह विजय प्राप्त करनी चाहिए, आदि बातें इसमें उन्हे मिलेगी। छपाई-सफ़ाई साधारण है।

मा० उ०

साहित्य-सत्कार

गुजराती

१ जातक कथाओ—लेखक—श्री हरिभाई त्रिवेदी। प्रकाशक—श्री दक्षिणामूर्त्ति-प्रकाशन-मन्दिर, भावनगर (काठियावाड़)। पृष्ट स० १३२, मूल्य ॥)

२ हिंदुधर्म नी आख्यायिकाओ—लेखक—श्री नृसिहप्रसाद कालिदास भट। प्रकाशक—वही। पृ० सं० १२८, मूल्य ॥)

३ बाल-साहित्य-माला की पुस्तकें—गोपीचंद, बाळ नाटको, हंस अने हसा, तिरदाज, गामडामा मळजो, बाळ प्रवासो, मारा गोठीया, जरा हसो, क्याथी, आव्या, मकनो राक्षस, रूपसिह अने रामसिह, टपालनी पेटी, गधेडु, चीड़िया खानु, महासभाओ, कहावतो नो मूल, गपगोळा, आफ्रिका सांभर्यु,—लेखक—श्री गिजुभाई। सम्पादक—श्री० गिजुभाई, और श्री ताराबेन। प्रकाशक—वही। पृ० सं० ४०-४०, प्रत्येक का मूल्य -)॥

४. श्री छोटम नी वाणी—सम्पादक अने प्रकाशक—श्री भिक्षु अखण्डानन्द। प्रकाशन-स्थान—सस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्यालय, अहमदाबाद। पृ० सं० ४१५, मूल्य १॥)

५ वीर वल्लभभाई (सचित्र)—लेखक—श्री० महादेव हरिभाई देसाई। प्रकाशक—प्रस्थान-कार्यालय अहमदाबाद। पृ० स० ६२, मूल्य =)॥

हिन्दी

६ सच्ची आवाज़—लेखक—एक सेवक। प्रकाशक—भारतधर्म राष्ट्रीय ग्रन्थमाला, देहली। पृ० सं० २०४, मूल्य ॥=)

७. स्कन्दगुप्त (नाटक)—लेखक—श्री जयशंकर 'प्रसाद'। प्रकाशक—श्री भारतीय भण्डार बनारस सिटी। पृ० सं० २४६, मूल्य २॥)

८. भौगोलिक कहानियाँ—लेखक—श्री जगपति चतुर्वेदी। प्रकाशक—श्री रामदयाल अग्रवाल, कटरा अलाहाबाद। पृ० सं० ८६, मूल्य ।।)

९ अरिथम्याटिक बहीखाता—लेखक—श्री सागरमल अग्रवाल और श्री रामकुमार अग्रवाल। प्रकाशक—श्री गुप्त-ब्रदर्स मरड़ी, धनोरा। पृ० स० ७२, मूल्य ।)

१० गन्धर्व (पद्य)—लेखक—श्री महावीरप्रसाद चौधरी 'विभूति'। प्रकाशक—श्री रामकेवल शर्मा, सद्ग्रंथ प्रचारक कार्यालय, आरोपुर, नौबतपुर (पटना) पृ० सं० ४५, मूल्य ।-)

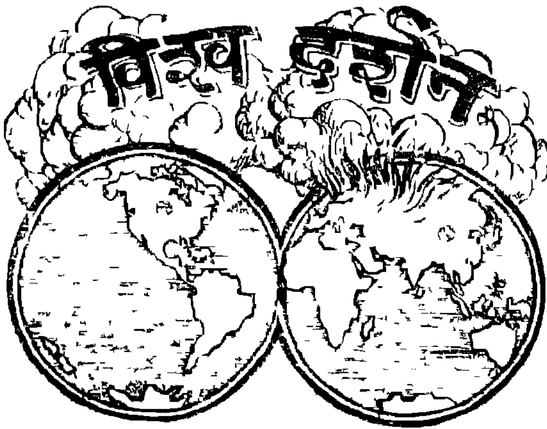
पत्र-पत्रिकायें

११ नारायण (मासिक)—सम्पादक—श्री नरोत्तम व्यास। प्रकाशन-स्थान—१५१, मछुआ बाज़ार, कलकत्ता। पृ० स० ४०, वा० मू० २।)

१२ नवयुग (मासिक)—सम्पादक—श्री सत्यदेव विद्यालङ्कार। प्रकाशन-स्थान—मोहता हाउस २९, स्ट्रैण्डरोड, कलकत्ता। पृ० स० ६४, वा० मू० ४)

१३. विद्यापीठ (त्रैमासिक)—सम्पादक—श्री आचार्य भगवानदास और श्री नरेन्द्रदेवजी। प्रकाशन स्थान—ज्ञान-मण्डल, काशी। पृ० सं० १२०, वार्षिक मूल्य ४)

१४. भारतेन्दु (मासिक)—सम्पादक—श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'। प्रकाशन-स्थान—शिक्षा-सदन कटरा, प्रयाग। पृ० सं० १०४, वा० मूल्य ५)



संसार का आशामय भविष्य ?

'दि रिव्यू ऑफ रिव्यूज' के सितम्बर-अक्तूबर के अंक मे श्रीयुत विकहम स्टीड लिखते हैं—

"जब कि संसार पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष और असन्तोष से पूर्ण है, तब एक क्षण के लिए यह विचार (संसार का शान्तिमय भविष्य) एक काल्पनिक और हवाई ख़याल के सिवा कुछ नहीं दीखता। चीन की गड़बड़ी अभी ठीक नहीं हुई, भारतवर्ष मे बोलशेविक आन्दोलन एक नई विपत्ति लाने के प्रयत्न मे है, लिथुआनिया राष्ट्र-संघ और पोलैण्ड का मुकाबला करना चाहता है, हँगरी अभी तक रूमानिया के साथ उलझा हुआ है, जर्मनी राइनलैण्ड खाली कराने और आस्ट्रिया जर्मनी का संघ बनाने की कोशिश मे है, और दक्षिणी स्लैव ऐसी क्रान्ति करने पर तुले हुए है, कि मालूम होता है कि अब सर्ब, क्रोट और स्लोवन लोगों का एक संघटित राज्य रहेगा ही नहीं।"

इसके आगे फिर वह लिखते हैं—

"तथापि यदि हम इसे बिलकुल ठीक दृष्टि से देखें तो ये सब तथा ऐसे अन्य उदाहरण विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय वन मे कुछ अकेले वृक्ष से दिखाई देते हैं। ये स्वयं जंगल नहीं हैं, और न ये निश्चित रूप से बढ़ेंगे ही। संसार के विचारशील नागरिकों को चाहिए कि वे सम्पूर्ण वन को गम्भीरता से देखें। यद्यपि यूरोप इस समाप्त होने वाले दशक मे, जिसे हम शान्ति का काल कहते हैं, बहुत आगे बढ़ गया है, तथापि वह अभी परिवर्तनशील अवस्था में है। आगामी दस वर्षों में भावी यूरोप का खाका बन जायगा और आने वाली सदी के लिए यूरोपीय सभ्यता का स्वरूप निश्चित हो जायगा। इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती कि संसार के इतने छोटे और घने बसे हुए भाग में जातियाँ अकेले रहना पसन्द करें और ऊँची-ऊँची व्यापारिक दीवारों, पासपोर्ट के बन्धनों और यातायात की बाधाओं एवं व्यापार के बाधक साधनों के द्वारा अपने पड़ोसियों से अलग रहें। जब तक जंगली पड़ोसियों से अपनी रक्षा करना ही सरकार और जनता का मुख्य कर्तव्य था, तब तक यह स्वाभाविक था कि सुरक्षा की तरफ़ इतना ध्यान दिया जाय। परन्तु जब इस रक्षा का अर्थ युद्धोपयोगी सामग्री के पैदा करने के लिए व्यावसायिक स्रोतों की रक्षा करना हो गया, तब यह भी आवश्यक हो गया कि कर-दाताओं से आयात पर कर लगाकर अथवा सहायता देकर उन व्यवसायों के रक्षा की प्रार्थना की जाय। इसलिए, शान्ति के प्रस्ताव का प्रेरक भाव बहुत अधिक बढ़ रहा है और आगे जाकर वर्तमान स्थिति बिलकुल असह्य हो जायगी। जातियाँ आने जाने की अधिक स्वतन्त्रता, व्यापार की बहुत स्वतन्त्रता और परस्पर सहयोग की अधिक माँग करेंगी। चाहे तो इसका परिणाम यह हो कि 'यूरोप के संयुक्तराष्ट्र' (United States of Europe) बनने की ओर सब का ध्यान खिंचे या फिर राष्ट्रों के समूहों के संघ-रूप में हो जाय यह अभी में कोई नहीं कह सकता।"

उपर्युक्त लम्बे अवतरण से पाठक जान गये होंगे कि श्रीयुत विकहम स्टीड किस आशामय भविष्य का विचार कर रहे है। वे गत युद्ध के बाद के इन दस सालों को शान्ति-काल मान रहे हैं और यह स्वप्न देख रहे हैं कि बस अब युद्ध-काल गया और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो गया। उनकी दृष्टि मे चीन, भारत, लिथुआनिया, पोलैण्ड, हंगरी और रूमानिया आदि के झगड़े बहुत ही उपक्षणीय हैं। वे संसार की राजनीति पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकेंगे। यदि उनकी स्थिति अधिक भयंकर भी होगी, जिसकी संभावना नहीं है, तो भी वे संसार को विशेष हानि नहीं पहुँचा सकेंगे, क्योंकि वे अकेले हैं।

हम बहुत अधिक प्रसन्न होते, यदि वस्तुतः यही स्थिति होती । परन्तु ऐसी स्थिति है नहीं । हमें आश्चर्य तो तब होता है, जब हम यह देखते हैं कि उपर्युक्त पंक्तियाँ श्रीयुत् विकहम स्टीड जैसे प्रामाणिक अन्तर्राष्ट्रीय नीति के विशेषज्ञ की लेखनी से लिखी गई हैं ।

वह संसार की विकट स्थिति से अपरिचित हों, यह बात नहीं । वह इसी पत्र के कई अंकों में भावी युद्ध की सभावना पर विचार कर चुके हैं । इंग्लैण्ड के सेनापति कैनवर्दी और प्रसिद्ध ऐतिहासिक वैल्स की युद्ध की संभावना की सम्मति भी वह इसी पत्र मे दे चुके हैं ।

वस्तुत. ससार की स्थिति बहुत भयंकर है । किलौग के प्रस्तावों से संसार में शान्ति न होगी । निकट-भविष्य में युद्ध अवश्यम्भावी है । केवल उपरिलिखित देशों की स्थिति ही चिन्तनीय नहीं, परन्तु इंग्लैण्ड और अमेरिका का वैमनस्य, इटली की महत्त्वाकांक्षायें, जापान और इंग्लैण्ड की पूर्व में प्रतिस्पर्धा आदि बहुतसी बातें है, जो संसार की शान्ति-भंग का मुख्य कारण होंगी । इस सम्बन्ध मे हम 'त्यागभूमि' के गतांक मे विस्तार से लिख चुके हैं, इसलिए यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं ।

अन्त मे हम श्रीयुत स्टीड की एक बात की आलोचना किये बिना नहीं रह सकते । उन्होने उपर्युक्त देशो की स्थिति को उपेक्षणीय कहा है, जो ठीक नहीं है । हम गतांक मे बता चुके है कि बल्कान-राष्ट्रों की स्थिति ऐसी है कि उनमें छोटी-सी चिनगारी उड़ने मे सारे यूरोप में आग लग सकती है । रूस, जर्मनी, फ्रांस और इटली बल्कान-राष्ट्रों की स्थिति से लाभ उठाने के लिए अवसर की प्रतीक्षा कर रहे है । भारतवर्ष की जागृति को श्रीयुत स्टीड ने बोल्शेविक आन्दोलन कहा है, इससे उनकी मनोवृत्ति का पता लग सकता है । अपने आप शस्त्रास्त्रों की तैयारी कर और ऊपर से शान्ति का राग अलाप कर दूसरों की आँखों मे धूल झोंकने का प्रयत्न व्यर्थ ही जायगा ।

फ्रांस और इंग्लैण्ड का समझौता

गतांक में हमने विश्व-शान्ति के प्रस्ताव की निरुपयोगिता बताते हुए फ्रांस और इंग्लैण्ड मे परस्पर एक सन्धि का निर्देश किया था। आज हम उसके सम्बन्ध में कुछ अधिक परिचय देना चाहते हैं ।

वाशिंगटन की निःशस्त्री-करण परिषद् में जो १९२१-२२ में हुई थी, और मार्च १९२७ की जिनेवा की परिषद् मे जंगी जहाजों की सीमा नियत नहीं की जा सकी थी । राष्ट्र-संघ ने उस समय एक निःशस्त्री-करण उपसमिति नियत की थी । उस समय फ्रांस और इंग्लैण्ड इस प्रश्न पर एक-मत न हो सके थे । फ्रांस कहता था कि सब तरह के छोटे-बड़े जहाज़ का वजन जोड़ लो और यह निश्चित कर लो कि इतने टन से अधिक की जलसेना न रहने पावे । इंग्लैण्ड कहता था कि प्रत्येक प्रकार के जहाज का अलग-अलग हिसाब करो और फिर यह तय करो कि हर प्रकार के जंगी जहाज़ कितनी सख्या में बनाये जायें । यह झगड़ा दोनों में बहुत समय तक चलता रहा । अब १७ मास के बाद दोनों ने एक समझौता किया है । फ्रांस ने छ इञ्ची तोप वाले क्रूज़रों और छ सौ टन तक की पनडुब्बियों को छोड़ कर अन्य जंगी जहाज़ों को सीमित करना मान लिया है । इंग्लैण्ड ने फ्रांस की इस रियायत के बदले यह मान लिया है कि फ्रांस जितनी चाहे स्थलसेना रख सकता है । दोनों देशों ने एक दूसरे को विपत्ति के समय जहाज़ों द्वारा सहायता पहुँचाने का भी समझौता किया है ।

इस समझौते से अमेरिका बुरी तरह बिगड़ा है। वस्तुत बात है भी ऐसी ही । इस समझौते से जंगी जहाजों की सीमा किसी तरह नियत न होगी । युद्ध के समय सभी व्यापारिक जहाज छः इञ्ची तोप वाले बनाये जा सकेंगे । अमेरिका का कहना है कि उक्त समझौते में उन्हीं जहाज़ों की सख्या नियत की गई है, जिनकी उसे अधिक आवश्यकता है। फ्रांस और इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञ इसे केवल पारिभाषिक विवाद (technical desputе) कह कर दूसरे देशों का ध्यान इधर से हटाना चाहते हैं, परन्तु इससे कोई लाभ नहीं होगा । अमेरिका के दिल मे उनके प्रति एक गहरा सन्देह पैदा हो गया है और वहाँ के पत्र इंग्लैण्ड पर बुरी तरह बिगड़ रहे हैं । इस सन्देह के उत्तर में उसने रूस से राजनैतिक संधि करने] की भी धमकी दी है । राष्ट्रपति कूलिज ने तो यह भी कह दिया है कि यदि यह संधि रद

नहीं कर दी जाती, तो वह दस हजार टन के क्रूजरों का निर्माण जो स्थगित हो गया था, फिर करना प्रारम्भ कर देगा। वास्तव में फ्रांस और इंग्लैण्ड ने यह संधि करके बड़ी भारी भूल की है। 'रिव्यू आव् रिव्यूज' के सम्पादक ने भी इसे बड़ी भारी भूल समझा है।

चीन का नया शासन-विधान

एशिया जितने वेग से उन्नति कर रहा है, उतने वेग से यूरोप नहीं। एशिया के प्रगतिशील राष्ट्रों में चीन का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। उसकी जागृति तथा उन्नति के सम्बन्ध में 'त्यागभूमि' के पिछले अंकों में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अब जो नये समाचार मालूम हुए हैं, उनसे पता चलता है कि एक नवीन शासन-विधान बनाया गया है, जिसके अनुसार वहाँ की सरकार पाँच विभागों—न्याय, शासन, व्यवस्थापक, परीक्षा (सरकारी कर्मचारियों की योग्यता की परीक्षा करने वाला) और नियन्त्रण (जवाब तलब करने और हिसाब-किताब जानने वाला)—में विभक्त की गई है। चांग-काई-शेक चीन के राष्ट्रपति नियत हुए हैं। राष्ट्रपति ही शासन और सेना का सर्वोच्च अधिकारी होगा।

नवीन चीन अपनी सामुद्रिक शक्ति को उन्नत करने के प्रश्न पर भी गम्भीरता से विचार कर रहा है। नई सरकार क्वाजशियान-शान में जंगी जहाजों का सबसे बड़ा केन्द्र बनाने और वहाँ नवीन पद्धति का सैनिक विद्यालय स्थापित करने का विचार कर रही है। यह भी सुना गया है कि पुराने २४ जहाजों को रद् कर नये ढंग के इतने ही जहाज बनाये जायँगे। सरकार अपने कई स्थानों को सुदृढ़ भी कर रही है। यह सब करने के लिए वह कर्जा लेने का विचार कर रही है। सेना के पुनः सगठन पर भी विचार हो रहा है। जनता की मानसिक उन्नति के लिए भी बहुत प्रयत्न किया जा रहा है। जुआ खेलना और वेश्या-वृत्ति करना बिलकुल बन्द कर दिया गया है। चण्डू, अफ़ीम आदि की खेती भी बन्द की गई है।

अफ़ग़ानिस्तान की प्रगति

अफगानिस्तान के अमीर अमानुल्लाहखां जिस वेग से अफ़ग़ानिस्तान को ऊपर लिये जा रहे हैं, उसे देखकर आश्चर्य होता है। उन्होंने अपने यहाँ नये सुधार जोरों से शुरू कर दिये हैं। उन्होंने पहले शेर अहमदखाँ को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए कहा था, परन्तु उसमें इसके असमर्थ होने पर अमीर ने स्वयं इस कार्य को अपने हाथ में लिया है। गुलाम सदीकखाँ परराष्ट्र-सचिव और महम्मदवलीखाँ स्थायी रिजेण्ट नियुक्त किये गये हैं। अभी अमीर ने एक भाषण देते हुए म्यूनिसिपैलिटी-क़ानून, न्याय में सुधार-सम्बन्धी नियम, सार्वजनिक पुस्तकालयों की स्थापना, ६ से १६ वर्ष तक के लड़के-लड़कियों को एक साथ ही अनिवार्य शिक्षा देने, काबुल में यूरोपीय पोशाक प्रचलित करने और कारखाने खोलने आदि के सम्बन्ध में घोषणा की है।

बहुत से अफ़गान विद्यार्थी विदेशों में भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए जा रहे हैं। टर्की और इटली की सरकारों ने तो यह भी वादा किया है कि अफगान विद्यार्थियों को वह अपने खर्च से शिक्षा देंगी।

किसी देश की राष्ट्रीय उन्नति में कट्टर धर्मान्धता बहुत अधिक बाधक है। अमीर अमानुल्लाह ने इस बात को बहुत अच्छी तरह समझ लिया है। नये आये हुए समाचारों से मालूम होता है कि उन्होंने धर्मान्ध मुल्लाओं को कैद करना और फांसी देना प्रारम्भ किया है। हजरत पीरसाहब, अब्दुर्रहमान तथा उनके साथियों को फांसी चढ़वा दिया है, क्योंकि वे अमीर के नवीन सुधारों का विरोध तथा मुस्लिम धर्म की कट्टरता का उपदेश देकर जनता को उत्तेजित करते थे। रावलपिण्डी में, १९१९ की अंग्रेज-अफ़ग़ान सन्धि पर, अफ़ग़ानिस्तान की ओर से हस्ताक्षर करने वाले सरदार अहमदअल्पीजान और स्व० अमीर हबीबुल्ला के ज्येष्ठ पुत्र इनायतुल्ला भी किसी अपराध में गिरफ्तार किये गये हैं। बहुत संभव है कि इनका अमीर के विरुद्ध किसी षड्यन्त्र में हाथ हो।

इस तरह भारत का पड़ौसी अफगानिस्तान बहुत अधिक वेग से उन्नति कर रहा है। हमें उसकी इस उन्नतिशील प्रगति से बहुत-कुछ सीखना चाहिए।

कृष्ण



प्रान्तीय सम्मेलनों की धूम

गत मास भी भारतवर्ष के लिए विशेष महत्त्व का रहा। इस मास मे राजनैतिक चहलपहल बहुत अधिक रही। जनता में राष्ट्रीय भावना का अधिकाधिक प्रचार हुआ। पूर्ण-स्वतंत्रता के भाव का तो बहुत अधिक प्रचार हुआ। बंगाल, युक्तप्रान्त पञ्जाब और देहली मे प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलनों की धूम रही। इन सभी मे पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रस्ताव स्वीकृत किये गये, नेहरू रिपोर्ट का समर्थन किया गया, साइमन कमीशन के बहिष्कार और उसके सहयोगियों की निन्दा के प्रस्ताव स्वीकृत किये गये। इन सम्मेलनों से भारत के लोकमत के जागृत होने में बहुत अधिक सहायता मिली है। इनकी कार्रवाइयों को पढ़ने से जनता की रुचि और अभिलाषा का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। अब वह औपनिवेशिक स्वराज्य का नाम भी नहीं सुनना चाहती। इस भाव के उत्पन्न करने का श्रेय विशेषत श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू को है। पूर्ण स्वतंत्रता और नेहरू रिपोर्ट के एक साथ समर्थन से एक भय होरहा था कि कलकत्ते में आगामी काँग्रेस में पूर्ण स्वतंत्रता और औपनिवेशिक स्वराज्य के प्रश्न को लेकर कहीं दो दल न बन जाँय। काँग्रेस का उद्देश्य पूर्ण स्वतंत्रता है और नेहरू रिपोर्ट के अनुसार औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग की गई है। यह बहुत संभव था कि कोई सज्जन कांग्रेस का ध्येय बदलने का प्रस्ताव कर देते या कोई पूर्ण-स्वतन्त्रतावादी नेहरू कमेटी का विरोध करते। परन्तु श्रीयुत अन्सारी ने दिल्ली प्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन में, जो मेरठ मे हुआ, स्वयं मद्रास की कांग्रेस मे स्वीकृत पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रस्ताव को पेश कर स्थिति सुलझा दी है। उनके कथन का सार यह है कि कांग्रेस का ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता है, परन्तु इससे नेहरूकमेटी की रिपोर्ट का विरोध आवश्यक नहीं हो जाता। नेहरू रिपोर्ट केवल कांग्रेस की मांग नहीं है, वह सब दलों का संयुक्त मांग है।

स्वतंत्र-भारत-संघ

श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू ने लखनऊ-सम्मेलन के अवसर पर जिस 'स्वतन्त्र-भारत-संघ' की नींव डाली थी, अब उसकी शाखायें कई प्रान्तों मे खुल गई हैं और खुलती जा रही हैं। बंगाल की शाखा का उद्देश्य और कार्य-क्रम भी निश्चित हो गया है। संघ का यह मन्तव्य है कि केवल राजनैतिक प्रजातन्त्र से ही भारत स्वतन्त्र न होगा, परन्तु सामाजिक और आर्थिक प्रजातन्त्र की भी उतनी ही आवश्यकता है। राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक इन तीनो गुलामियों से पीडित भारत को यह अनुभव करना चाहिए कि तीनों विषमताओं से मुक्ति पाना ही सच्ची स्वतन्त्रता है। इसलिए संघ ने निम्नलिखित कार्यक्रम बनाया है—

१—आर्थिक विषमता दूर करना, धन को समान रूप से बाँटना, सबको समान अवसर देना और सबकी रहन-सहन उन्नत करना।

२—कारखानों द्वारा उत्पत्ति के सिद्धान्त पर विश्वास करते हुए भी घरेलू धन्धों को उत्साहित करना। मुख्य व्यवसायों तथा रेल जहाज आदि के राष्ट्रीयकरण की ओर ध्यान देना, व्यापार के लाभ मे मजदूरों को हिस्सा देने की प्रथा चलाना, पूँजीपतियों और मजदूरों के झगड़ों को निष्पक्ष पंचायत द्वारा निबटाना, व्यक्तिगत सम्पत्ति को कानून द्वारा परिमित करना, सहयोग-समितियों की स्थापना और मजदूरोपयोगी आन्दोलन करना।

३—जमीन की मालगुजारी को समान रूप से निश्चित करना तथा ज़मींदारी की प्रथा नष्ट करना।

४—जात-पाँत, अस्पृश्यता का अन्त करना और अन्तर्जातीय विवाह तथा भोजन का प्रचार करना।

५—स्त्रियों की उन्नति के लिए परदा-प्रथा उठा देना, अनिवार्य शिक्षा, शारीरिक उन्नति तथा स्त्री-पुरुषों के समान अधिकार देना।

६—बहु-विवाह रोकना, वैवाहिक अवस्था का निश्चय करना, दहेज की प्रथा को सर्वथा उठा देना।

७—मौरूसी पुरोहितों तथा गुरुओं का अन्त।

८—भारत की पूर्ण राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करना।

संघ के उपर्युक्त कार्यक्रम को पढ़ने से इस नवीन आन्दोलन की प्रगति का पूरा ज्ञान हो जाता है। संघ के कार्यक्रम पर रूस के क्रान्तिकारी विचारों का स्पष्ट प्रभाव दीखता है। यह संघ भी भारत में साम्यवाद का प्रचार करना चाहता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु साम्यवाद तब तक भारत में फैल नहीं सकता जब तक अंग्रेजी सरकार है। संघ का बहुत-सा कार्य-क्रम ऐसा है, जो भारत में साम्यवादी सरकार के बनने के बाद क्रिया मे आ सकता है, और अभी यह निश्चय नहीं कि स्वतन्त्र भारत किस शासन-पद्धति के सिद्धान्त को अपनावेगा। इसलिए हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि अभी आर्थिक साम्यवाद के प्रश्न को कार्य-क्रम में निर्दिष्ट रूप में न लेकर वहीं तक लेना चाहिए, जहाँ तक कि वह आज की अवस्था में संभव हो।

बम्बई की हड़ताल समाप्त

इस वर्ष मजदूरों की प्रगति के इतिहास में बम्बई की हड़ताल बहुत अधिक मुख्य घटना थी। वह गत मास में समाप्त होगई। गत ४ अक्तूबर को पूंजीपतियों और मज़दूरों के प्रतिनिधियों ने सर गुलामहुसेन हिदायतुल्ला की अध्यक्षता में बात-चीत की। बहुत कुछ वाद-विवाद के पीछे यह निश्चय हुआ कि आठ तारीख से हड़ताल बन्द कर दी जाय, और जबतक सरकार द्वारा नियुक्त तीन सज्जनों की समिति कोई निश्चित निर्णय न कर देगी, तबतक मार्च १९२७ के अनुसार वेतन मिलेगा और उन मिलों में, जहां दो करघों का नियम है, मार्च १९२८ के अनुसार वेतन मिलेगा। सरकारी कमेटी यह विचार करेगी कि मिल-मालिकों के बनाये हुए मजदूरों को मेहनताना देने, उनकी छुट्टी और बरखास्तगी, मजदूरी आदि के सम्बन्ध के नियम और मजदूरों की १७ मांगें कहा तक ठीक हैं। दोनों पक्षों ने उक्त कमेटी के निर्णय को स्वीकार करना मान लिया है।

इसी निर्णय के अनुसार गत आठ अक्तूबर को बम्बई की मिलें खुल गईं। परन्तु इसी समय सैसूनग्रूप की सब मिलों मे मजदूरों ने दो तीन करघों पर काम करने से इन्कार कर दिया। शनै-शनैः बहुत-से मज़दूरों ने हड़ताल कर दी। दो ही दिन में सैसूनग्रूप की ११ मिलें बन्द हो गई। यह स्थिति और भी भयंकर हो जाती यदि मज़दूर नेता इसे न सँभालते। उन्होंने मजदूरों से कहा कि यदि तुम्हारी शर्तें स्वीकृत न की गईं, तो फिर मई में हड़ताल कराई जायगी। इस पर मजदूरों ने फिर काम करना प्रारंभ कर दिया। इस तरह यह लम्बी हड़ताल समाप्त हुई।

दूसरी बार सैसूनग्रूप की मिलें बन्द होने पर सर विक्टर सैसून ने जो विचार प्रकट किये, उनसे पूंजीपतियों का दृष्टिकोण मालूम हो जाता है। उन्होंने कहा—"आजकल भारत में मजदूरों का सवाल अधिकाधिक राजनैतिक रंग पकड़ता जा रहा है। लेजिस्लेटिव असेम्बली मे बोल्शेविक विरोधी बिल केवल इसी कारण नामंजूर हो गया। तो भी आशा है कि सरकार इसे अगले अधिवेशन में फिर पेश करेगी। बम्बई की मिलों को विदेशी मिलों का तो मुकाबला करना ही पड़ता है, और हिन्दुस्तान की मिलों का भी मुकाबला करना पड़ता है, क्योंकि इन मिलों मे मजदूरी सस्ती है और इन्हें रुई आदि पर रेल-भाड़ा भी कम देना पड़ता है।

"इस समय दुनिया में कपड़े की मिलें ज़रूरत से ज्यादा हो गयी हैं, इसलिए बाज़ार में मुकाबला बड़ा ज़बरदस्त है। जापान की मिलें इसी कारण कम घण्टे काम कर रही हैं। अमरीका में अभी ६ महीने तक हड़ताल हो चुकी है और मजदूरी ५ प्रति सैकड़ा कम हो गई है। अब भी दुनिया के बाज़ार मे कपड़े का स्टाक भरा पड़ा है। बम्बई में हम अपने ऊपर के खर्च बेहद कम कर चुके हैं। अब यदि

मिलों को चालू रखना हो तो दो ही रास्ते हैं—या तो मजदूरी घटाना, या आदमी कम कर के बन्दोबस्त चुस्त कर देना। पहली बात मुझे खुद पसन्द नहीं है। इसलिए मजदूरों को खुद ही दूसरे रास्ते पर चलने मे कोई उज्र नहीं करना चाहिए।"

इसमें सन्देह नहीं कि उक्त कथन में बम्बई की मिलों की जो दशा कही गई है, वह बहुत हद तक ठीक है, परन्तु इस कारण वहां के मजदूरो पर ही मार क्यों मारी जाय? इस सम्बन्ध मे सरकार की व्यापार-घातिनी नीति का घोर-विरोध करना चाहिए। फिर इसी सम्बन्ध में सासून ने मजदूर-प्रश्न को राजनैतिक कह कर जो इसका विरोध करना चाहा है, वह ठीक नहीं है। यह प्रश्न विशुद्ध आर्थिक है और ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल का मुख्य उद्देश्य हड़ताल आदि को रोक कर मजदूर-आन्दोलन को कुचलने का था। उसका विरोध तो न्याय के नाम पर होना ही चाहिए था।

साइमन-कमीशन

इस मास की सबसे अधिक मुख्य और महत्त्वपूर्ण घटना है साइमन कमीशन का यहाँ आना। गत १२ अक्टूबर को साइमन कमीशन ने भारत मे प्रवेश किया। इसका स्वागत जनता ने काले झण्डे लेकर 'साइमन, हमें तुम्हारी आवश्यकता नहीं है, तुम वापस लौट जाओ' इत्यादि के नारे लगा कर किया। कमीशन रात का गाड़ी से ही बम्बई से पूना आ गया। वहां भी जनता ने बहुत विराट रूप मे बहिष्कार का प्रदर्शन किया। सारे नगर मे हड़ताल रही। बड़ा भारी जुलूस निकला। पूना के बाद जहाँ जहाँ साइमन कमीशन जायगा, उसका बहिष्कार करने की पूरी चेष्टा हो रही है।

पूना में साइमन-कमीशन ने अपना कार्य भी प्रारम्भ कर दिया है, कुछ गवाहियां भी ली है, जिनमे बम्बई-सरकार के चीफ़ सेक्रेटरी टर्नर की गवाही विशेष महत्त्व की है। उन्होंने बम्बई सरकार की ओर से साम्प्रदायिक निर्वाचन का भारी विरोध किया है। सर गुलामहुसैन हिदायतुल्ला ने जो बम्बई सरकार के जनरल मेम्बर हैं, अपनी गवाही एकान्त और बन्द कमरे मे दी। सम्भवतः उन्होंने बम्बई सरकार का विरोध कर साम्प्रदायिकता का समर्थन किया होगा, इसीलिए यह गवाही बन्द कमरे मे हुई।

इन गवाहियों तथा साइमन-सहयोगी भारतीय समितियों के सदस्य जिस ढंग से गवाही द्वारा अपनी ही बात कहलाने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह निन्दनीय है। इससे यह मालूम होता है कि जातिगत झगड़ों ने देश को कितना गिरा दिया है और जो सदस्य भारत के नाम पर, प्रजा की सम्मति लिये बिना ही, वाइसराय द्वारा नामजद किये गये हैं, वे जनता के प्रतिनिधि बनने या कहलाने योग्य नहीं हैं।

उपर्युक्त बातों से कमीशन के बहिष्कार की आवश्यकता और बढ़ गई है। आत्म-निर्भरता का सिद्धान्त न मानने वालों को भी इन बातो से भारी ठेस पहुँची है, जो निश्चय ही एक शुभ चिन्ह है।

साइमन-कमीशन के कार्य के प्रारम्भ मे ही एक बात विशेष महत्त्व की हुई कि साइमन-सहयोगी भारतीय कमेटियो मे, जो विभिन्न कौंसिलों ने तथा वाइसराय ने नियत की थीं, और कमीशन मे परस्पर अविश्वास उत्पन्न हो गया। साइमन ने भारतीय कमेटियो को यह पहले ही सूचित कर दिया था कि जहाँ तक हो सके, वे चुप-चाप सुनते ही रहें और प्रश्नादि कर अधिक समय न लगावें। यदि कोई प्रश्न भी करना हो, तो अच्छा हो कि वे प्रधान को बता दें। उसने यह भी कहा कि कमीशन का मुख्य कार्य यह है कि १९१९ के सुधार कहा तक कार्यान्वित और सफल हुए। भविष्य के लिए नये प्रस्ताव तो गौण कार्य हैं। इन दोनों बातों से भारतीय सदस्यों में असन्तोष उत्पन्न हो गया है। फिर पूना मे सबसे पहले दिन स्टेशन पर सर शंकरन नायर को, जो भारतीय सहयोग-समिति के प्रधान हैं, नहीं जाने दिया। इससे भी असन्तोष बढ़ गया था। अभी तो प्रारम्भ हुआ है, आगे देखिए क्या-क्या गुल खिलते हैं।

कृष्ण



खादी-गीत

अगर है देश प्रेम ठाना ।
पहन लो खादी का बाना ॥
है स्वदेश-उद्धार हित, यह अमोघ हथियार ।
सैनिक बन इसको गहो, होवे बेड़ा पार ।
अगर है स्वतंत्रता लाना ।
पहन लो खादी का बाना ॥
स्वतन्त्रता के यज्ञ मे, पहन यही पोशाक ।
कितने ही निज देश-हित, वीर हो गये ख़ाक ।
अगर बलि-वेदी पर जाना ।
पहन लो खादी का बाना ॥
जहाँ 'अहिंसा'-'क्रूरता', का जारी है जग ।
खादी लाती है वहाँ, नित्य निराला रंग ।
अगर है विजय तुम्हे पाना ।
पहन लो खादी का बाना ॥

सोहनलाल द्विवेदी

राजस्थान में वस्त्र-स्वावलंबन का प्रयोग

नीमच (मध्य भारत) से ६६ मील की दूरी पर बिजोलिया नामका एक ठिकाना (मेवाड मे) है, जिसकी आबादी लगभग १२ हजार है और आय ५० हजार से ऊपर है । कोई ८ बरस पहले वहाँ श्री पथिक जी के नेतृत्व मे किसानो ने भारी सत्याग्रह किया था, जिसके फलस्वरूप उनके कई अबवाब कम करके ठिकाने को उनके साथ समझौता करना पड़ा था । तभी से वहाँ किसानो की (धाकड-जाति के लोगों की) पञ्चायत संघटित रूपसे जारी है, और अब भी, स्थिति के बहुत-कुछ बदल जाने पर भी, पञ्चायत का अधिवेशन हर सोमवार को बिला नाग़ा होता है और कोई २००-२५० किसानों के प्रतिनिधि एकत्र होते रहते है । इस पञ्चायत ने एक प्रस्ताव यह भी पास किया था कि प्रत्येक धाकड स्त्री-पुरुष को खादी पहनना चाहिए । परन्तु समुचित ज्ञान और व्यवस्था के अभाव में खादी उनके लिए आनद और सुख देने वाली वस्तु होने के बजाय बोझ-रूप हो रही थी कि श्री रामनारायण जी चौधरी की प्रेरणा मे श्री जेठालाल भाई वहाँ जा पहुँचे और उन्होंने किसानों को अपने कपडे आप तैयार कर लेने की प्रेरणा की और साथ ही पिंजाई, सूत सुधराई तथा बुनाई, रंगाई और छपाई की विविध क्रियाओं का ज्ञान उन्हे कराया । उन्होंने तथा उनके साथियो ने न दिन देखा न रात, न जाड़ा देखा न गर्मी न बरसात, न भूख देखी न प्यास । भूत की तरह काम किया, जिसका सुन्दर फल यह हुआ कि आज कम से कम ६,००० से ऊपर धाकड़ों के यहाँ खादी रोटी की तरह घर की चीज हो गई है । लगभग ८० हजार का कपडा बाहर से आना बन्द हो गया है । वहाँ के पिछले तीन साल के कार्य का सुन्दर, आशा और जीवन-प्रद वर्णन 'हिन्दी नवजीवन' (ता० २७ सितम्बर) में छपा है, उसे पाठक अवश्य पढ़ लें ।

सितम्बर के दूसरे और तीसरे सप्ताह मुझे बिजोलिया रहने का और वहाँ के खादी-कार्य के अध्ययन तथा निरीक्षण करने का सु-अवसर मिला । मैंने देखा कि श्री जेठालाल भाई तो अपने ढंग के एक ही खादी-पागल है । वह व्यक्ति

नहीं, एक शक्ति हैं। सचमुच पागल-जैसे दिखाई देने वाले इस शख्स की खूबी उसके निकट रहने पर ही जानी जा सकती है। मुझे वहाँ का काम देखकर बड़ा सन्तोष और सुख हुआ। सत्याग्रहाश्रम साबरमती से श्रीमती मीरा-बहन भी अपना धनुष-बाण या वीणा (पीजन) लिए वहाँ पहुँच गई थी। उन्हे भी वहाँ के काम से बड़ा हर्ष हुआ। उनके लिए अपने जीवन में किसानों को खुद पीजते, बुनते और उनकी स्त्रियो को छपाई का काम करते देखने का यह पहला ही सुखद दृश्य था। उन्होंने अपनी पीजन के द्वारा कई जगह बढ़िया पीजकर दिखाया जिसे किसानो के लड़के-लड़कियो ने बड़े चाव से देखा।

मैंने कोई १५ किसानों के बयान लिये, जिनसे मालूम हुआ कि २०-२५) से लेकर १५०-२००) साल तक की बचत उन्हे घर मे ही खादी तैयार कर लेने से हुई है। फिर सन्तोष और आनन्द की बात यह है कि इतना करते हुए खेती के काम को बिलकुल हानि नहीं पहुँची है। दो फ़सले होते हुए भी बाज-बाज धाकड के घर तो अपनी ज़रूरत से ज्यादा कपड़ा भी तैयार हो जाता है। कई ऐसे किसान है जिन्हे कपडे के लिए एक पैसा भी नहीं खर्च करना पड़ता। घर का कपास और घर ही मे सब क्रियाये करके खादी तैयार कर लेते है। शंका-शील अर्थ-शास्त्रियो के लिए बिजोलिया का दृश्य एक भारी पदार्थ-पाठ है।

जिन दिनों हम वहाँ थे, किसानों के काम के दिन थे। वर्षा की कमी के कारण वे आबपाशी कर रहे थे फिर भी श्री माणिकलाल जी के उद्योग से बात की बात मे ८००-१,००० स्त्री-पुरुषो की सभा हो गई। यहाँ से वहाँ तक अपने हाथ की और घर की खादी पहनने वाले आनन्द-मग्न किसान स्त्री-पुरुषों का समुदाय हम लोगो ने पहली ही बार अपनी आँखों से देखा। श्रीमती मीरा बहन ने इसके लिए उन्हे बधाई दी और अपना हर्ष प्रकट किया। उज्जैन के श्री पुस्तके ने, जो १० मील पैदल दौड़ कर बिजोलिया पहुँचे थे, कहा अपने चालीस साल के जीवन में ऐसा अद्भुत दृश्य मैंने नही देखा। खादी के लिए अब किस दलील की ज़रूरत रही ! नीमच के बूढ़े चोरड़िया जी उपवास के दिन भी सिगोली से १४ मील बिजोलिया पैदल दौडे गये और किसानों को बधाई देकर तथा मोसर इत्यादि मे फ़ज़ूलखर्ची न करने की सलाह देकर अपनी यात्रा सफल की। राजस्थान चर्खा-संघ के उत्साही मन्त्री श्री देशपाण्डे तो गद्गद् हो गये और कहा कि मुझे तो विश्वास नही होता था कि सचमुच इतना काम मेरे गुरुबन्धु जेठा-लाल ने कर दिखाया होगा।

अभी बिजोलिया मे ६,००० लोग और बाकी हैं जिनके घरों मे खादी का पूरा प्रवेश नहीं हो पाया है। दूसरे पिजाई, कताई, बुनाई आदि अभी तो, किसानों की मौजूदा स्थिति और और आवश्यकता को ध्यान मे रख कर उन्हें सिखाई गई है। अब श्री जेठालालजी भाई इस बात का भी उद्योग करने वाले हैं कि ये क्रियायें किसान शास्त्रीय रीति से सीख लें, जिससे सूत एक-सा और पक्का हो जाय और कपड़ा और भी बढ़िया बनने लगे। मुझे विश्वास है कि जेठालाल भाई इसमें अवश्य और शीघ्र सफल होंगे।

ह० उ०

राजस्थान में खादी की प्रगति

राजस्थान-चर्खा-संघ के मन्त्रीजी ने कुछ दिन हुए वर्ष भर के कार्य का संक्षिप्त विवरण प्रकाशित किया है जिससे राजस्थान के खादी-कार्य का भविष्य आशामय दीखता है। मार्च सन १९२६ मे संघ ने राजस्थान मे नियमित काम शुरू किया था जिसके फल-स्वरूप अब सैकड़ों बुनकर चर्खे का सूत काम मे लाने लगे हैं। पहले वे मिल और चर्खे के मिश्रित सूत मे कपड़ा बनाते थे। राजस्थान मे संघ की ओर से ५ उत्पत्ति केन्द्र और ३ बिक्री-केन्द्र स्थापित है। जिनमे अमरसर, गोविन्दगढ, वासा और मनोहरपुर के उत्पत्ति-केन्द्र, जयपुर राज्य मे और बोरावड, जोधपुर मे है। बिक्री के केन्द्र जयपुर, साँकर और अजमेर मे हैं। उत्पत्ति और बिक्री के अंकों को देखने से प्रगति स्पष्ट मालूम होती है, जहाँ १९२६ ई० मे ६७,१९४) की खादी पैदा हुई वहाँ १९२७ ई० में १,३१,४८०) की और जहाँ १९२६ में केवल ४६,९७८) की खादी बिकी थी वहाँ १९२७ में १,२८,२८७) की खादी बिकी।

लगभग सब तरह के ५,५०० कार्यकर्त्ताओ द्वारा ८० गाँवों मे खादी का काम हो रहा है। रेज़ी की जगह राजस्थान अब

तरह-तरह के सुन्दर कपड़े, धोतियाँ, खेस और हर्नाकौम तौलिये बनाने लगा है। =) प्रति रुपया खादी की कीमत भी घटाई गई है।

राजस्थान के बिजोलिया ठिकाने का हाल पाठक ऊपर पढ़ ही चुके है। वस्त्र-स्वावलम्बन का यही काम उदयपुर राज्य के रिगस और उसके आस-पास के गाँवो मे भी शुरू किया गया है। सफलता भी मिल रही है।

करौली मे मदन-खादी कुटीर द्वारा भी खादी की उत्पत्ति और बिक्री का काम हो रहा है।

सघ के कार्यकर्त्ता अछूतो के सुधार के लिए भी प्रयत्नशील रहते है। ४ पाठशालाओं मे १०० अछूत बालक पढ रहे हैं। गाँव के लोगों को सघ की ओर से और भी कई तरह की सहायता दी जाती है।

मन्त्रीजी का कहना है कि राजस्थान मे खादी की उत्पत्ति तो खूब और सस्ती हो सकती है लेकिन उपयुक्त बिक्री के अभाव मे ज्यादा माल तैयार नही करवाया जा सकता। अगर राजस्थानी भाई-बहन खादी को आश्रय दे तो संघ के कार्य में अधिक बल आवे।

हमे आशा है, राजस्थान और देश के अन्य प्रान्त चरखा-सघ के कार्य को अपनायेंगे। क्या उनमे इतनी भी ममता नहीं है? गरीब भाइयो के कार्य्य से थोड़ी भी सहानुभूति नहीं है?

खादी सम्बन्धी कुछ सवाल-जवाब

१—सवाल—खादी क्यों पहनी जाय?

जवाब—(१) इसलिए कि वह शुद्ध स्वदेशी है।

(२) उसके कारण भारत के करोड़ों बेकार लोगों को काम मिलता है।

(३) देश के पढ़े-लिखे और धनवान लोगो का अजान गरीब भाइयों से प्रेम का सम्बन्ध स्थापित होता है

(४) ग्राम-सघटन और राष्ट्र-सघटन होता है।

२—स०—खादी ही शुद्ध स्वदेशी क्या है?

ज०—मिलो के यन्त्र—कलपुर्जे—विदेशी होते है, बहुत सी पूँजी विदेशी होती है और मालिक भी प्राय विदेशी ही। वे अपना लाभ विदेशों मे और विदेशी वस्तुओं के व्यवहार में खर्च करते हैं। खादी पर किये हुए खर्चे की पाई-पाई देश मे ही रहती है। अगर ५) रुपयो की खादी खरीदी जाय तो उसकी कीमत का बँटवारा लोगों में इस तरह होगा—

	रु०-आ०-पा०
कपास की कीमत	१—१३— ६
कतवैये का वेतन	१ ३— ०
बुनकर का वेतन	१— ८— ०
कार्यकर्ताओं का वेतन	०— ४— ९
फुटकर	०— ३— ९
कुल	५— ०— ०

—स०—खादी कितनी पैदा होती है?

ज०—गत सात-आठ वर्षों मे ही खादी का जीर्णोद्धार हुआ है, लेकिन इस थोड़े समय में भी उसकी पैदावार बराबर बढ़ती रही है। देखिए—

वर्ष	उत्पत्ति (रुपयों मे)
१९२०	× × ×
१९२३	९, ४९, ३८४
१९२४	१९, ०३, ०३४
१९२५	२०, ८७, ००३
१९२६	२३, ४५, ६१४
१९२७	२४, ०६, ३७०

४—स०—खादी द्वारा ग्राम-सघटन और राष्ट्र-सघटन किस तरह होता है?

उ०—आज अखिल भारतवर्षीय चर्खा-सघ की देख-रेख मे लगभग ९०,००० कतवैये काम कर रहे हैं और करीब २,००० गाँव सघटित हो गये हैं।

५—स०—खादी से स्वराज्य कैसे मिलेगा?

ज०—बारडोली का इतिहास इसका उत्तर है। खादी के कारण ही वहाँ सुशिक्षित देश-सेवक और किसानों का संघटन हो सका, जिसके आगे अंग्रेज सरकार को झुकना पड़ा और ब्रिटिश सत्ता पगु और बल-हीन बनी तथा राष्ट्रीय राज्य स्थापित हुआ।

६—स०—मँहगी खादी ही क्यों खरीदी जाय?

ज०—उसे अपना धर्म समझकर। भिखमंगो को

खाना खिलाने की अपेक्षा बेकारों को जीविकार्थ काम देना कहीं अधिक श्रेष्ठ धर्म है ।

खादी पर देश-नेताओं की राय

१—उस दिन हिन्दू-विश्वविद्यालय में खादी-भण्डार की स्थापना करते हुए महामना मालवीय जी ने वहाँ के विद्यार्थियों से कहा था—

"देश का वस्त्र पहनना बड़े पुण्य का काम है। अगर हम अपने देश में अपने पहनने के लिए काफी कपड़ा तैयार करने लगें तो हमारे देश की गरीबी दूर हो जायगी।'

पण्डितजी ने बताया कि "जब मैं इंट्रेन्स में पढ़ता था तभी से मैं अपने देश का वस्त्र पहनने लगा हूं। उस समय मेरी उम्र सोलह बरस की थी। लेकिन जब से महात्मा गांधी ने खादी का आन्दोलन शुरू किया तब से मेरा ध्यान खादी पर भी गया और अब मैं प्रायः खादी का ही कपड़ा पहनता हूँ।

"मैं चाहता हूँ कि विश्वविद्यालय के सब विद्यार्थी भी खादी पहनें। खद्दर में पवित्रता है, देशभक्ति है, सादगी है और सफ़ाई है। खद्दर पहनने से मनपर उसका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है। खद्दर पहनना धर्म की बात है। सब से अच्छा तो यह है कि आप सब लोग शुद्ध खद्दर ही पहनें। अगर खद्दर न पहनें तो स्वदेशी वस्त्र जरूर पहनें। विदेशी वस्त्रों का तो आप पूर्ण त्याग करें। मैं सब के शरीर पर खद्दर या कम-से-कम स्वदेशी वस्त्र देखना चाहता हूँ।"

२—देहली प्रान्तीय परिषद् के अवसर पर ता० १३ अक्तूबर के दिन खादी प्रदर्शनी खोलते हुए राष्ट्रपति डाक्टर अन्सारी ने देश-वासियों से इन शब्दों में अपील की थी—"इस समय देश को शौक़ीनी से बचकर सादगी से जीवन बिताने की अत्यन्त आवश्यकता है। खद्दर पोशाक के लिए सब से बढ़िया कपड़ा है। देश में उसका प्रचार होने से राष्ट्र की आर्थिक अवस्था बहुत-कुछ सुधर सकती है। अतः देश-वासियों को उसे पूर्ण रूप से अपनाना चाहिए।"

सार्वजनिक संस्थाओं में खादी

नैनी के कुष्ठ-आश्रम ने रोगियों की पोशाक के लिए खादी खरीदी है।

मध्यप्रान्त की दुर्ग और बामेत्रा म्यूनिसिपैलिटियों ने अपने नौकरों के लिए खादी की पोशाक बनवाई है। करांची म्यूनिसिपैलिटी तो गत तीन वर्षों से अपने नौकरों के लिए खादी की पोशाक बनाती आ रही है।

बम्बई म्यूनिसिपैलिटी के निरीक्षण में काम करने वाले किंग एडवर्ड अस्पताल के कई विभागों में खादी ही काम में लाई जाती है।

रजवाड़ों में खादी

माँगली और विजय नगर की रानियाँ और आवागढ़ तथा औंध के राजा साहब अपने खुद के उपयोग के लिए धड़ाधड़ खादी खरीद रहे हैं।

विदेशी कमीशन और वस्त्र-बहिष्कार—

का आन्दोलन देश में खूब ज़ोर पकड़ रहा है। बंगाल में श्री सुभाष बाबू के नेतृत्व में विदेशी वस्त्र के बहिष्कार के लिए खासा आन्दोलन खड़ा हो चुका है। पूना, बम्बई और अखिल महाराष्ट्र भी खादी की उपयोगिता को समझकर और विदेशी वस्त्र के बहिष्कार-कार्य में जी-जान से भिड़ गया है। महाराष्ट्र के नवयुवक इस सम्बन्ध में खूब परिश्रम कर रहे हैं। संयुक्त प्रान्त में पण्डित जवाहरलाल नेहरू सम्पूर्ण स्वातंत्र्य और विदेशी वस्त्र-बहिष्कार तथा खादी-प्रचार के लिए निरन्तर आन्दोलन कर रहे हैं। मद्रास प्रान्त के कई देशी राज्यों और जिलों में खादी की प्रगति वेग से हो रही है। बिहार में भी खादी का भविष्य आशा-जनक प्रतीत हो रहा है। हर्ष की बात तो यह है कि अब कई ज़िम्मेदार देश-नेताओं का ध्यान ग्राम-सघटन और ग्रामों में राजनैतिक जागृति की ओर स्थायी रूप से आकर्षित हो रहा है। यह देश के सौभाग्य का चिन्ह है।

हमारी राय में, भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थिति में खादी-कार्य से बढ़कर ग्राम-संघटन में सहायता पहुँचाने वाला और उसे आसान बनाने वाला दूसरा कोई ज़रिया नहीं है। अच्छा हो, देश-वासी, खासकर हमारे तरुण भाई, इस रहस्य को शीघ्र ही समझें और उसे मूर्त रूप देने लगें।

त्रिवेदी

स्व-गत

संयम और स्वतन्त्रता जिस तरह एक ही सिक्के के दो बाजू हैं, उसी प्रकार नम्रता और निर्भयता भी एक ही चीज़ के दो रूप हैं।

* * *

स्वतन्त्रता में जिस प्रकार अपने अधिकारों की रक्षा की प्रतिज्ञा है और संयम में दूसरे के अधिकारों की रक्षा का आश्वासन, उसी प्रकार निर्भयता में स्वयं किसी से न डरने की प्रतिज्ञा और नम्रता में किसी को न डराने का आश्वासन है।

* * *

दब्बू और जाहिल यों एक-दूसरे के विपरीत गुण रखने वाले मालूम होते हैं, पर असल में दोनों का पिण्ड एक ही है। जाहिल अपने से बड़े जाहिल के सामने दब्बू बन जाता है और दब्बू अपने से दबने वाले के लिए जाहिल बन जाता है।

* * *

जो किसी को डराता नहीं वास्तव में वही किसी से डरता नहीं है। जो औरों को डरा सकता है वह जरूर दूसरों से डर सकता है।

* * *

जबतक हमारा मन सरस और नीरस, सुन्दर और अ-सुन्दर वस्तुओं में भेद करता रहता है तबतक सूक्ष्म ब्रह्मचर्य का पालन असम्भव है। और यदि सूक्ष्म पालन की उपेक्षा की गई तो वह स्थूल की उपेक्षा किये के बराबर ही है।

* * *

जीवन मुख्य है या शास्त्र ? जीवन मुख्य है या कला ? जीवन मुख्य है या सत्ता ? जीवन मुख्य है या धन ?

* * *

यदि जीवन ही मुख्य है और दूसरी बातें गौण अथवा उसके साधन हैं तो फिर आज हम शास्त्र, कला, सत्ता और धन आदि को जीवन का गला घोंटते हुए क्यों देख रहे हैं ?

* * *

ऐसा जान पड़ता है, जीवन का रस चूस-चूस कर उसके ये चौकीदार स्वयं मालिक बन बैठे हैं और उसे अपना असहाय कैदी बना डाला है। पेशवा जिस प्रकार शिवाजी महाराज के राज्य को हड़प गये और सिन्धिया, हुल्कर आदि ने पेशवाओं को ताक़ पर रख दिया, उसी प्रकार शास्त्र, कला, सत्ता, धन आदि जीवन को पद-भ्रष्ट करके स्वयं ही अपने-अपने क्षेत्रों में राजा बन बैठे हैं ! !

* * *

जीवन मर रहा है, रो रहा है, शास्त्रियों को बाल की खाल निकालने से फुरसत नहीं, जीवन चूल्हे में जाय, हमारे शास्त्रों का पालन होना चाहिए, काव्य कलानिधियों की स्वकीयाओं और परकीयाओं की मजलिस में रास-क्रीडा करने तो हमें जाना ही चाहिए, सत्ता की धौंस हमें माननी ही चाहिए, धन को झुक कर प्रणाम करना ही चाहिए ! ! !

* * *

जो अपनी गलती को खुद ही देखकर सुधार लेता है और उसका प्रायश्चित्त कर लेता है वह साधु है, जो गलती बताने पर मान लेता है और खेद प्रकाशित करता है वह सज्जन-सद्गृहस्थ है, जो गलती मालूम होने पर भी जिद करता है वह नर-पशु है, जो सही और गलत का तमीज ही नहीं कर पाता या जो गलत को सही और सही को गलत मानता है, वह पशु है।

* * *

व्याकरण भाषा का चौकीदार है, पति नहीं। वह भाषा पर हुक्म नहीं चला सकता, उसका काम है सिर्फ संकट के समय भाषा की रक्षा करना और आमतौर पर उसकी अर्दली में रहना।

ह० उ०

सम्पादकीय

हिंसा और अहिंसा की समस्या

कितनी ही बातें ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध हृदय के विकास से, अथवा मन की वृत्तियों के सुसंस्कारों से जितना है उतना बुद्धि-वैभव से नहीं। जैसे सत्य, अहिंसा अथवा प्रेम ये बातें ऐसी हैं जिन्हें दलील या बुद्धि के चमत्कार के द्वारा कोई किसी को अच्छी तरह नहीं समझा सकता। जिन्होंने इनको अपने जीवन का धर्म बना लिया है, जो इनके अनुसार जीने का प्रयत्न करते हैं उनको बिना दलील के ही इनके लाभों का आनन्द और सुख मिलता रहता है और ऊपर-ऊपर देखने से जो हानि या महा-सकट मालूम होता है उससे वे विचलित नहीं होते। यदि शक्कर की मिठास कोई किसी को समझाने लगे तो यह जिस प्रकार, कठिन है उसी प्रकार उससे बढ़कर कठिन है सत्य, प्रेम या अहिंसा के मर्म और स्वाद को समझा देना। फिर जैसे-जैसे मनुष्य की गति इनमे होती जाती है और वह जैसे जैसे इनके अनुभव में आगे बढ़ता जाता है, तैसे-तैसे इनके रूप के सम्बन्ध में उसकी धारणायें अधिक व्यापक, सूक्ष्म और गहरी होती चली जाती हैं और उन तमाम अवस्थाओं को पाठकों के सामने खोलकर रख देना मनुष्य की वाणी और लेखनी की मर्यादा और शक्ति के बाहर हो जाता है। फिर भी बुद्धि-प्रधान मनुष्य तो उन्हें बुद्धि ही के द्वारा समझने की चेष्टा करता है और समझाने वाला भी उन्हें अपनी बुद्धि के ही अनुसार समझा सकता है, वह यदि इसमें पूर्ण सफल नहीं होता है तो यह सत्य, अहिंसा या प्रेम का दोष नहीं है, उनके गुण, महत्ता या सौन्दर्य की कमी नहीं है, बल्कि मनुष्य के अपने सामर्थ्य की मर्यादा का सूचक है। अस्तु।

सत्याग्रहाश्रम साबरमती में एक रोग-पीड़ित महाव्याकुल गाय के बछड़े को जहर की पिचकारी लगाकर मार डालने के प्रश्न पर हिंसा-अहिंसा का भारी विवाद छिड़ गया है। इस सम्बन्ध में महात्माजी ने अपने जो विचार प्रदर्शित किये हैं उन्हे सुनकर कितने ही अहिंसावादी भी बड़े चक्कर में पड़ गये हैं, अहिंसा सम्बन्धी उनकी पुरानी धारणाओं को गहरा धक्का पहुँचा है और महात्मा जी के फलितार्थ उनकी समझ में ठीक-ठीक नहीं आ रहे हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक है। महात्माजी तो उन पुरुषों में हैं जो अपनी धारणा के अनुसार अपने विचारों को निःसकोच और निर्भय होकर प्रकाशित करते हैं और उनमें गलती मालूम होने पर एक बच्चे की सरलता के साथ तुरत स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे व्यक्ति के प्रति रोष और कटूक्तियों से काम लेने में कोई लाभ नहीं है। उन्हें तो अपने विचारों और युक्तियों द्वारा अपने मन्तव्यों की सत्यता समझाने की चेष्टा करनी चाहिए।

वर्तमान विवाद में समझ लेने लायक बातें सिर्फ दो हैं—(१) अहिंसा का मूल और वास्तविक स्वरूप क्या है, (२) प्राण-हरण का अहिंसा में स्थान है अथवा नहीं, है तो कितना और किन-किन अवस्थाओं में ? कुछ मित्रों ने इस के सम्बन्ध में मुझे भी लिखा है, मुझ से चर्चा की है और एकाध पत्र ने मेरा जिक्र भी किया है अतएव इस संबंध में अपनी धारणा प्रकट करना मेरा कर्तव्य हो जाता है। दूसरे, 'त्यागभूमि' के पाठकों को भी इस विवाद से लाभ पहुँचाना मेरा कर्त्तव्य है।

मेरी समझ में अहिंसा की सीधी व्याख्या यह है—अपने स्वार्थ-साधन के लिए किसी भी मनुष्य या प्राणी को मन, वचन या कर्म से कष्ट न पहुँचाना, मनुष्यता और पशुता में, मानव-भाव और पशु-भाव में मैंने यही विभाजक-रेखा, यही मर्यादा समझी है। अर्थात् मेरी दृष्टि में वह व्यक्ति उतना ही

अधिक मनुष्य है, उसमें उतना ही अधिक मानव-भाव है जितना अधिक वह अपने लाभ और सुख के लिए दूसरों को कष्ट न पहुँचाता हो। और वह उतना ही अधिक पशु है या उसमें उतना ही अधिक पशु-भाव विद्यमान है जितना कि वह अपने लिए दूसरों को कष्ट पहुँचाता हो। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अहिंसा के लिए दो शर्तें अनिवार्य हैं—

(१) अपना या अपने समाज का स्वार्थ न हो, और (२) किसी प्राणी के शरीर, मन या आत्मा को कष्ट न पहुँचता हो।

बछड़े को जहर देने में अहिंसा की इन दोनों शर्तों का पूरा-पूरा पालन हो जाता है (१) उसके मारने में महात्मा जी का या आश्रमवासियों का कोई स्वार्थ-भाव न था और (२) न केवल उसके शरीर, या मन या आत्मा को कष्ट नहीं पहुँचाया गया, बल्कि उसके कष्ट की वेदना और व्याकुलता का अन्त कर दिया गया, उलटा उसे सुख पहुँचाया गया।

अब रहा यह प्रश्न कि आखिर यह प्राण-हरण तो हुआ ही। और आगे चलकर यह कहा जाता है कि प्राण-हरण से बढ़कर कष्ट और हिंसा दूसरी क्या हो सकती है? यहाँ हम को यह सोचना चाहिए कि अहिंसा के जिस मूल स्वरूप को मान कर हम चले हैं वह हमें कहाँ ले जाता है। क्षण-भर के लिए हम इस बात को भूल जायँ कि आज तक हम अहिंसा के नाम पर किस चीज को मानते चले आये हैं और उसके सम्बन्ध में किस ग्रन्थ में क्या लिखा है। अहिंसा में मुख्य बात है कष्ट न पहुँचाने की। अब यदि प्राण रखने से कष्ट अधिक पहुँच रहा है और प्राण-नाश से कष्ट का अन्त हो जाता है तो एक अहिंसक की अन्तरात्मा ऐसे समय क्या कहेगी और उसे क्या करने की प्रेरणा करेगी? उत्तर स्पष्ट है जिससे कष्ट का अन्त हो वही करो। और यही महात्माजी ने किया है।

इस पर यह कहा जाता है कि प्राण-हरण स्वयं ही एक महाकष्ट देने की क्रिया है अतएव घोर हिंसा है। इस पर महात्माजी का कहना यह है कि मृत्यु तो, जन्म की तरह, प्रकृति का एक सामान्य नियम है। हम, भारतवासियों, ने ख़्वामख़्वाह उसे एक हौवा बना रक्खा है। हाँ, अपने या अपने समाज के लाभ के लिए जब किसी का प्राण-हरण या जीवन-नाश किया जाता है तब वह दोष अवश्य है और तब वह हिंसा जरूर है। पर यदि उस प्राणी के लाभ के लिए, उसकी पीड़ा दूर करने के लिए प्राण-हरण किया हो तो वह अहिंसा है, यदि हमारे अपने लाभ के लिए किया गया हो तो वह हिंसा है। हिंसा और अहिंसा का निर्णय करते समय हमें सदा-सर्वदा यह बात अपने ध्यान में रखनी चाहिए कि यह हम किसके स्वार्थ या लाभ के लिए कर रहे हैं।

यहाँ शंकाकार कहते हैं कि फिर तो अहिंसा में कृति नहीं भावना ही सब-कुछ रही। और जब भावना की ही शुद्धि का विचार है तब समाज को कष्ट पहुँचाने वाले पशुओं और आततायी मनुष्यों का वध करना क्यों कर हिंसा कहा जा सकता है, जब कि भावना बिल्कुल शुद्ध है और जब कि लोकहित ही हमारा परम उद्देश है? इसका उत्तर यह है कि अहिंसा में भावना की शुद्धि तो सर्वत्र अनिवार्य है। और भावना-शुद्धि का अर्थ लोक-हित नहीं बल्कि वध्य माने जाने वाले प्राणी को कष्ट न देने का भाव है। भाव-शुद्धि के साथ कृति भी अहिंसक होनी चाहिए। कृति की शुद्धता भी उतनी ही आवश्यक है जितनी कि भाव की शुद्धता। मार डालने की क्रिया, आज तक की धारणा के अनुसार, शुद्धता की परिभाषा में नहीं आ सकती। सो यदि आजकल की धारणा को ही निर्भ्रम और ठीक मान लें तो फिर यह कह सकते हैं कि सिर्फ ऐसे ही प्रसंगों पर कृति का अशुद्धता अपवाद मानी जा सकती है, क्योंकि अहिंसा के मूल स्वरूप के अनुसार वह हिंसा नहीं कही जा सकती। अब यह दूसरी बात है कि हिंसा के एक दोष होते हुए भी हमें, जब-तक जिन्दगी है, लाचार होकर कई तरह की हिंसा करनी पड़ती है, पर इसलिए हम उसे अहिंसा या निर्दोष नहीं कह सकते। हाँ, क्षम्य और अक्षम्य हिंसा ये दो भाग तो किये जा सकते हैं, पर हिंसा, अहिंसा में किसी प्रकार नहीं खप सकती।

इसी तरह समाज के लाभ के लिए यदि किसी पशु या मनुष्य का वध करना, या उसे कष्ट पहुँचाना अनिवार्य

हो गया हो, तो उसे हम क्षम्य-कोटि की हिंसा गिन लें, यह तो शायद हो सकता है, पर उसे अहिंसा तो किसी तरह नहीं कह सकते। फिर सामाजिक दृष्टि से पशुवध से मनुष्य-वध ज्यादा भयकर और ज्यादा सदोष है, क्योंकि मनुष्य बुद्धिमान और हृदयवान् है, इसलिए अनेक प्रकार के प्रभावों का असर उस पर हो सकता है और फल-स्वरूप उसके सुधार की बहुत आशा रक्खी जा सकती है। अतएव अहिंसा मे कोरी भावना-शुद्धि को अपने मतलब की बात समझ कर यदि कोई भाई उससे समाज की रक्षा के लिए मनुष्य-वध को जायज और अहिंसात्मक मानने और समझने लगे तो मेरी राय मे वह अपनी समझ के साथ अन्याय करेगा और आत्म-वञ्चना के दोष से लिप्त होगा।

अन्त मे पाठकों से यही निवेदन है कि वे उतावले और आपे से बाहर होकर नहीं, धीरज और शान्ति के साथ पूर्व-निश्चित धारणाओं से मुक्त होकर, महात्माजी की युक्तियों पर विचार करें। उनमें उन को बहुत बल दिखाई देगा।

सेवा या असेवा ?

(एक सपादक-बन्धु को लिखे पत्र से) '   नामक टिप्पणी पढ़ी। उसमें जीवन है। खूब उत्साह और आवेश के साथ लिखी गई है। परन्तु उसका फल हिन्दू मुसलमानों मे प्रेम पैदा करने के अनुकूल कहाँ तक होगा यह विचारणीय है। ऐसे नाजुक विषयो पर विशेषणों का प्रयोग बहुत तौल कर करना चाहिए। दूरवर्ती की अपेक्षा निकटवर्ती के साथ अन्याय हो जाय तो वह क्षम्य समझा जा सकता है। हिन्दू हिन्दू को जितनी कड़ी बात कह सकता है, उतनी मुसलमान को नहीं। कहे तो उसका कुछ फल नहीं। वही हिन्दू मुसलमान को कड़ी बात कह कर उस पर असर डाल सकता है जो हिन्दू और मुसलमान-पन से इतना परे हो गया है कि मुसलमान उसे निष्पक्ष और अपना हित-कर्ता समझने लगे हो। मुसलमानों को गालियाँ देने से हिन्दू बलवान न होंगे। हिन्दू सच्चे हिन्दू बनकर, हिन्दूधर्म के उच्च-उच्च सिद्धान्तों का पालन करके, हिन्दूधर्म के सच्चे प्रतिनिधि बनकर, मुसलमानों को और दुनिया को लज्जित कर सकते हैं। हिन्दुओ के दिलमे यदि मुसलमानों के प्रति सच्चा प्रेम हो तो मुसलमानों का वैर-भाव नहीं टिक सकता। हम हिन्दू यदि मनमे मुसलमानों का द्वेष करते हों, उनसे घृणा करते हों—वह रक्षात्मक रूप मे क्यों न हो—और द्वेष तथा घृणा का उत्तर द्वेष और घृणा ही समझते हो, तो हम कदापि मुसलमानों से जीत नहीं सकते। हमें जड़ पर ध्यान देना चाहिए फूल-पत्तों पर नहीं। जिस 'स्पिरिट' से हम लिखेंगे वही 'स्पिरिट' पाठकों में जागृत होगी। हमने अपने एक भी दुर्विकार को हजारों पाठकों में जागृत कर दिया तो हमने उनकी सेवा की या असेवा ?"

अहिंसा वीरों का धर्म है

यह खेद की बात है कि भारतवर्ष जैसे धर्म-प्राण और आध्यात्मिक देश मे लोगो ने अभी तक अहिंसा-धर्म के रहस्य और सच्चे तथा व्यापक स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं जाना है। अहिंसा की व्याख्या एक दूसरी टिप्पणी में दी गई है। यहाँ तो मैं एक बड़ी मोटी परन्तु, अत्यन्त आवश्यक बात की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। अहिंसा-धर्मी को सब से पहले यह समझ लेना चाहिए कि अहिंसा मुर्दे का या कायर का धर्म नहीं है बल्कि जिन्दो का और वीरों का जीवित धर्म है। अत्याचार को, सकट को अनुभव न कर सकना जड़ता और मुर्दापन है। अनुभव करते हुए उनसे डर या दबजाना, भाग खड़े होना, मुँह छिपा जाना, उसका कुछ प्रतिकार न करना कायरता है। जो मनुष्य न तो अत्याचार या दुःख का अनुभव करता हो, न प्रतिकार और फिर भी अपने को अहिंसा-व्रती कहता हो तो या तो वह मूर्ख है या पाखडी। अहिंसा में प्रतिकार का भाव तो है परन्तु प्रतिकार की विधि दूसरे को अपने लिए कष्ट देना नहीं। अत्याचारी को दण्ड देना या उसका वध करना नहीं, बल्कि स्वय अपने कष्ट-सहन की पराकाष्ठा कर देना, अपने प्राण तक को उसमें झोंक देना है। सच्ची-वीरता और निर्भयता क्या है ? जिसने अनुचित सकट और अत्याचार का मुकाबला करने के लिए स्वेच्छा से दूसरे अनेक सकटो, कष्टों का और प्राणान्त तक का आह्वान कर लिया, उसकी वीरता का मुकाबला भला क्या हो सकता है। भाग जाने वाले की अपेक्षा प्रहार करके रक्षा करने वाला जरूर वीर है, परन्तु प्रहार करने में अपनी जान बचाने की कमजोरी फिर भी छिपी रहती है। पर

अहिंसा-व्रती को अपने प्राणों का मोह एक क्षण को भी नहीं हो सकता। वह अपने प्राणों को हथेली पर लिये रहता है। दुर्बलता के साथ अपमानित होकर, रोग-जाल से जकड़ा जाकर, भार-भूत होकर, पद-दलित होकर जीने की अपेक्षा वह मरने को हज़ार बार पसन्द करता है। महात्माजी ने जब बछड़े को ज़हर की पिचकारी दिलाई, अथवा खेती को नष्ट करने वाले बन्दरों के प्राण-हरण का उपाय वे सोचने लगे अथवा यह उदाहरण दिया कि मेरी अबोध कन्या को अत्याचारी के वशीभूत होने देने के बदले मैं उसकी गर्दन धड़ से अलग कर देना पसंद करूंगा, उस समय यह वीर का जीता-जागता अहिंसा-धर्म उनके अन्दर काम कर रहा था। उन्होंने सोचा कि रोग-व्याकुल बछड़े को तड़फने देना और दुःख से छुटकारे का उपाय न करना अहिंसा की पशुता है। इसी प्रकार बन्दरों से खेती की रक्षा करने का साधन न ढूंढ़ना अहिंसा के सर्व-व्यापक धर्म होने में रुकावट डालना है और सतीत्व-भंग होने के बजाय मर जाना श्रेष्ठ है यह भाव यदि अहिंसा में नहीं है तो वह पवित्रता और तेजस्विता की सहायक अहिंसा नहीं हो सकती। इसलिए उनको यह सोचना ही पड़ा और हरएक अहिंसा-धर्मी को सोचना पड़ेगा कि जीवन के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अहिंसा का व्यवहार व प्रचार किस प्रकार करें। यदि अहिंसा-धर्म कोरा किताबों में रखा रहने वाला धर्म नहीं है, मुट्ठी भर लोगों के जीवन को उच्च और पवित्र बनाने वाला धर्म नहीं है, बल्कि ३३ करोड़ भारतवासी एवं दुनिया के करोड़ों लोगों के घर में और जीवन में जीवित रहने योग्य है, तो उसे व्यवहार-शास्त्र और आचार-शास्त्र का रूप धारण किये बिना गति नहीं। आखिर मनुष्य जीवन में कम-से-कम हिंसा करने के नियम का वशवर्ती होकर ही रह सकता है, क्योंकि जब-तक साँस चलती रहती है तब-तक उससे सूक्ष्म हिंसा होती ही रहती है। ऐसी दशा में अहिंसा की ओर हमारी गति होते हुए भी हम को क़दम-क़दम पर कहाँ किस अंश पर हिंसा क्षम्य हो सकती है और कहाँ हिंसा के रुद्ररूप में अहिंसा छिपी रहती है एवं कहाँ अहिंसा के दिव्य-रूप में हिंसा घर किये रहती है, यह जानना परम आवश्यक है। बछड़े का प्राण-हरण पहली बात का और खून निकलने तक गाय-भैंस को दुहना, कसाइयों को गाय-भैंस खरीदने के लिए बहुत ब्याज पर रुपये देना, महाजनों का असामियों को रुपये के लोभ से चूसना, विधवाओं को बलपूर्वक रोक कर व्यभिचार और भ्रूण-हत्याओं की वृद्धि करना आदि दूसरे प्रकार के उदाहरण हैं। हमें यह देखना चाहिए कि वास्तव में मनुष्य या प्राणी किसी को कष्ट न देते हुए गौरव-पूर्वक संसार में किस प्रकार रह सकता है। उस अहिंसा का कुछ मूल्य नहीं है जो न सामने वाले का कष्ट कम करने की प्रवृत्ति रखती हो और न गौरव के साथ जीवित रहने का भाव बढ़ाती हो। ऐसी अहिंसा जिसमें इन दोनों भावों के विकास की पूरी गुञ्जाइश है, एक जीवित और वीर मनुष्य की सतेज और सक्रिय अहिंसा हो सकती है, न कि एक मुर्दा और कायर मनुष्य की म्लान, दीन और निष्क्रिय अहिंसा।

साइमन कमीशन और हम

साइमन-सप्तक भारत में आ गया और पूना में अपना काम भी करने लगा। अंगरेज़ों की भेद-नीति यहाँ भी काम कर ही गई। बड़े लाट साहब को कमेटी बनाने के लिए हिन्दुस्तानी सदस्य मिल गये, बम्बई की धारा-सभा से भी लोग आगे बढ़ ही गये। यह हमारी बे-बसी और तेज-हीनता का करुणा-जनक दृश्य है—हाँ, बेशक हमने बम्बई और पूने में काले झण्डे से कमीशन का स्वागत किया—देश के सर्वमान्य नेताओं और राष्ट्रीय पुरुषों ने कमीशन के बहिष्कार का बीड़ा उठा लिया है और वे अपनी शक्ति-भर उसमें जुटे हुए हैं, पर आतुर, लोभी, अल्प-दृष्टि एवं एक तरह के स्वार्थ-साधु लोगों ने उससे सहयोग करने में ही पुण्य और देश का मुक्ति समझी। किन शब्दों में, किस लेखनी से, कैसे हृदय से अपना दुःखावेग प्रकट किया जाय?

किसी तरह सिर खपाकर, मिल-जुलकर, हमने नेहरू-रिपोर्ट तैयार की। वह स्वराज्य की शुरूआत है—बुनियाद है। स्वराज्य की पूर्ण स्थिति तो स्वाधीनता ही हो सकती है पर देश के बड़े-बूढ़ों ने इसी बात पर एक हो जाना मुनासिब समझा तो, भारत-माता का दुर्दैव यहाँ भी, अब की मौलाना शौकतअली के सिर पर सवार होकर, बोल उठा—

जो अपने को आजादी और हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का हामी अब तक बताते रहे वही अब पं० मोतीलालजी और महात्मा जी जैसों को—जिन्हें हिन्दू-सभा और हिन्दू-सघटन वाले एक प्रकार से अपने अर्थ में हिन्दू ही नहीं समझते हैं—गालियाँ देने मे, नेहरू-रिपोर्ट का महत्व नष्ट करने में अपना सौभाग्य और अपनी जाति का हित समझ रहे है। इसका अर्थ यही है कि अभी भारत को और तपस्या करने की, अपने ध्येय के लिए अपरिमित कष्ट सहने की जरूरत है—सो भी चुपचाप और प्रसन्नता-पूर्वक। हिन्दू हों या मुसलमान, ईसाई हों या पारसी जब-तक हम छोटे-छोटे स्वार्थों को राष्ट्र की बलि-वेदी पर चढ़ाने के लिए अन्त स्फूर्ति से तैयार न होंगे तब-तक राष्ट्रीय एकता और स्वराज्य अथवा स्वाधीनता कोरे कागज के गोल रहेंगे—इसमे कोई सन्देह नहीं। हाँ, यह बात सही है कि हम दिन-दिन इस दिशा में आगे बढ़ रहे हैं, पर हमें स्वराज्य और स्वाधीनता की पूरी शर्त को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। अभी तो हमारे राजनीति-वेत्ता और राज-काजी लोग—फिर वे हिन्दू हो या मुसलमान—महज नौकरियों के ही लिए—कुछ टुकडों के ही लिए लार टपकाते फिरते है और उनके मिल जाने पर अपने को धन्य समझते हैं—या एक को मिलने पर आपस मे गुर्राने लगते है और छीना-झपटी तथा खून-खच्चर की नौबत आ जाती है, तहाँ जापान, चीन, टर्की, और अफगानिस्तान का नाम लेना कितना हास्यास्पद है, यह सोचने की बात है। इधर नेहरू रिपोर्ट पर भिन्न-भिन्न राजनैतिक दलों का एक हो जाना और उधर युवक-दलों के भिन्न सघटन ये आशा की किरणें अवश्य हैं और यदि हमे देखने की आँखें हों तो चुपचाप आत्म-यज्ञ और सघटन का एकाएक चमत्कार बारडोली ने दिखाकर हमे पथ-प्रदर्शन कर दिया है—एक दिव्य प्रकाश हमारे पथ पर डाल दिया है, परन्तु जबतक हमे केवल व्याख्यान, सभा और लेख से छुट्टी नहीं मिलती तबतक हम उससे पूरा लाभ न उठा सकेंगे। गाँवों मे हमारी अपरिमित शक्ति सोई हुई है। उसे जगाने का और सु-संघटित करने का पूरा कार्य-क्रम जबतक राष्ट्रीय महासभा अथवा स्वाधीन-भारत-संघ न बनावेगा और दल-बल-सहित जी-जान से उसमें न जुटा जायगा तब तक सायमन कमीशन जैसे कई अपमान की विषैली घूंटें हमें इसी तरह पीकर रह जाना पड़ेगा। क्या भारत, उदयोन्मुख भारत, स्वाधीनता का मतवाला युवक भारत, सचमुच इस गुलामी, इस जिल्लत को नारकीय यन्त्रणा समझ रहा है?

क्रान्ति कैसे होगी?

हम कहते हैं हिन्दुस्तान में क्रान्ति होगी—वह तेजी से आ रही है, किसी के रोके रुक नहीं सकती। अहा, यह कैसा सुहावना सन्देश है। पर क्या हमने इस पर कभी सोचा है कि क्रान्ति होगी कैसे? क्या उसे ईश्वर सातवें आसमान से भेज देगा? या भू-कम्प अथवा ज्वालामुखी के स्फोट की तरह उसका धड़ाका एकाएक हो जायगा और उसकी लहरें और ज्वालायें सहसा लपलपाने लगेंगी? केवल यह मान लेने या कह देने से कि अब से समाज में धन की जगह मेहनत का बोल-बाला होगा, अंगरेजों की जगह हिन्दुस्तानियों का अथवा अमीरों का राज दुनिया में होगा—या सब अपने-अपने घर के राजा होंगे, कोई किसी का मालिक या गुलाम न रहेगा, देश का या पृथिवी का काया-पलट हो जायगा? एक जिम्मेवार और बुद्धि तथा सोचने की शक्ति रखने वाला आदमी एकाएक इसका उत्तर 'हाँ' मे नहीं दे सकता। तो आइए, हम क्रान्ति की विधि और शर्तें समझने की चेष्टा करें।

क्रान्ति कोई उल-जलूल और ऊटपटांग चीज नहीं, वह सु-व्यवस्था, सु-संघटन, आत्मानुशासन और एक-उद्देश तथा एक-भावना की परिपक्व प्रेरणा का फल है। उसके अन्तिम रूप की तीन कल्पनायें की जा सकती हैं—(१) विरोधकों का संहार करके, (२) निरुपाय करके अथवा (३) उन्हें अपना बना कर। पहला प्रकार अब तक संसार में होता चला आया है। उसके द्वारा कई सफल और विफल क्रान्तियाँ हुई है। पर उन सफल क्रान्तियों ने भी समष्टि-रूप से संसार का पग उन्नति, सुख और पूर्णता की दिशा मे, उसके खर्च, बलिदान और मूल्य के मुकाबले में, आगे नहीं बढ़ाया। इसलिए विश्व के विचारशील द्रष्टाओं ने इस विधि को हानिकर समझकर हेय ठहराने का उद्योग किया है और भारत ने आज कुछ लाचारी से, कुछ समझ कर इस मार्ग का अवलम्बन न करना ही पसंद किया है।

अतएव इस विधि की चर्चा करने से हमें कोई लाभ नहीं। दूसरी विधि है—शांति और खामोशी के साथ अपनी व्यवस्था, संघटन और एकता ऐसी कर लें कि विरोधियों की शक्ति उसके सामने अपने आप कुण्ठित हो जाय। वे देख लें कि यहाँ तो झुकने या समझौता करने के बिना दूसरा चारा ही नहीं रह गया है। दमन या अत्याचार की दाल यहाँ नहीं गल सकती। इन्होंने तो परस्पर एकता, संघटन और सेवा द्वारा अपना किला ऐसा दुर्भेद्य बना लिया है कि हमें हथियार रख देने के सिवा कोई इलाज नहीं है। जिस प्रकार साँप अपनी केंचुली को बिना किसी कष्ट या दिक्कत के स्वाभाविक रूप से छोड़ देता है उसी प्रकार हम अपनी पराधीनता का चोगा आसानी से उतार कर रख देंगे और फिर किसी का साहस न होगा कि उसके लिए हमारी ओर आँख उठाकर देख सके।

तीसरी विधि इससे भी अच्छी और ऊँची है। वह यह कि विरोधी बैर-भाव छोड़कर हमारा बन जाय। यह शुद्ध प्रेम और पूर्ण अहिंसा का मार्ग है। व्यक्तिगत जीवन में हम इसके अनुपम लाभों को नित्य ही देखते हैं। यदि सामाजिक जीवन में इसका प्रयोग करें तो इससे गजब के लाभ हो सकते हैं। महात्मा गाँधी इसी दिशा में अपने जीवन के दिन खर्च कर रहे हैं। साधारण दृष्टि से देखने वाले इसका मजाक उड़ा सकते हैं; पर इसका असर उन लोगों पर कैसे पड़ सकता है जिन्होंने इसका थोड़ा-बहुत स्वाद चख लिया है। यदि एक छोटे समाज में भी प्रयोग करके हम प्रेम और अहिंसा के दैवी बल का प्रकाश कर सकें तो अवश्य विरोधक शक्तियाँ अनुकूल बल के रूप में परिणत हो सकती हैं। और इसकी थोड़ी-सी झलक हमें बारडोली के प्रयोग में मिल सकती है। पका-फल जिस प्रकार पेड़ से अपने आप गिर पड़ता है—उसके विकास की सारी क्रिया समाप्त हो जाती है उसी प्रकार विरोधक शक्ति का विकास रुक कर वह अपने आप हमारी बन जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पहले प्रयोग में विरोधी का नाश प्रधान है; दूसरे में उसके बल को बेकार कर देने की प्रधानता है और तीसरे में उसके विरोध-भाव को मिटा देना मुख्य बात है। पहले में हमारा शस्त्र-बल, दूसरे में संघटन-बल, और तीसरे में प्रेम या अहिंसा-बल प्रधान है। एक से दूसरी, और दूसरी से तीसरी विधि श्रेष्ठतर है—इसे सब कोई मानते हैं। पर साथ ही उन्हें उत्तरोत्तर कठिन और सामाजिक या राष्ट्रीय रूप में असाध्य नहीं तो कष्ट-साध्य भी मानते हैं। पर यहाँ भी बारडोली हमारी सहायता के लिए आ खड़ी होती है। एक ही शब्द में कहें तो 'क्रांति कैसे होगी?' इसका उत्तर हमें बारडोली ने थोड़ी मात्रा में क्यों न हो, प्रत्यक्ष दे दिया है। और यदि यह बात ठीक है तो हमें चाहिए कि हम क्रान्ति के पुजारी कहलाने वाले बारडोली के पथ का अनुसरण करें। भारत में एक-एक प्रान्त में एक बारडोली बनाने का प्रण करके ५०-५० युवक और देशभक्त बैठ जाँय और १० वर्ष तक वहाँ से हिलने का नाम न लें तो, संसार चकित दृष्टि से भारत की इस *शांतिमयी क्रान्ति* को देखेगा। यह वह क्रान्ति होगी जिसमें न किसी को हानि होगी, न किसी पर अन्याचार और परिणामतः सब अपने को लाभान्वित समझेंगे। इसमें जो जीता सो भी जीता और जो हारा वह भी अपने को जीता ही समझेगा।

ह० उ०

'भूगोल' की आर्थिक दुरवस्था

आश्चर्य की बात है कि एक ओर जहाँ हिन्दी-संसार तेजी से उन्नति कर रहा है, जहाँ पाठक पूर्वापेक्षा उत्तम पुस्तकों एवं रचनाओं की ओर झुक रहे हैं और ठोस एवं गम्भीर मैटर की ओर बढ़ते हुए आकर्षण के कारण लोग अनेक नवीन विषयों के अभाव की शिकायत करते भी सुने जाते हैं, वहाँ ठोस मैटर देने वाली पत्रिकाओं की ओर से ग्राहकों की विरक्ति देखकर दुःख होता है। उस दिन प्रयाग के 'भूगोल' के सम्पादक श्री रामनारायण मिश्र बी० ए० आये थे, उन्होंने मुझसे कहा कि यदि 'भूगोल' की ग्राहक-संख्या शीघ्र न बढ़ी तो मैं ग़रीब घाटा उठाकर चलाने में असमर्थ रहूँगा। 'भूगोल' भौगोलिक विषयों का भारतीय भाषाओं में एक ही पत्र है। सभी पत्रों एवं विद्वानों ने उसकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। विद्यार्थियों के लिए तो इसके लेख बड़े काम के होते हैं। आशा है, उत्साही युवक और धनी भाई इस मूल्यवान पत्र को अस्त हो जाने से बचा लेंगे।

'सुमन'

——



(१)

रजनी

कला एक ही वस्तु है, वह चाहे कवि की वाणी के द्वारा कविता के रूप में प्रकट हो, अथवा चित्रकार की तूलिका के द्वारा चित्रपट पर ! कला का प्राण कलाविद् की कल्पना में है। अपनी कल्पना को शब्दों के द्वारा प्रकट करने का जितना अधिकार कवि को है, चित्रकार को भी वैसा ही और उतना ही अधिकार है। कवि के इस अधिकार को तो हमारा साहित्यिक संसार स्वीकार करता है, पर चित्रकार की कल्पना-पूरित कला को तो बहुधा सौंदर्य-हीन समझा जाता है ! क्या यह पक्षपात नहीं है ? कवि की कविता मे हम जिस प्रकार उसके भावों को जानने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार एक चित्र के द्वारा हमें चित्र को देखकर कुशल चितेरे के मनोगत भावों को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए।

रात का समय था। पृथ्वीतल शांत, नीरव और सुप्त था। आकाश में चन्द्रमा और थोड़े-से तारे सुशोभित थे। इस मनोहर दृश्य को देखकर कलाविद् की कल्पना जाग उठी। उसने इस दीप को इस रूप में देखा—"वात्सल्य-प्रेम में विभोर माता रजनी की गोद में, निद्रालु पृथ्वी स्तन-पान कर रही है, समीपस्थ रजनी-पति प्रसन्न-चित्त से तारका-रूपी पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं।"

रात्रि के उस मनोहर दृश्य में चित्रकार को "वात्सल्य" का सौंदर्य दिखाई दिया। उसने अपने चित्र में निशा, पृथ्वी और चन्द्रमा का चित्रण नहीं किया है, पर किया है वात्सल्य के मृदुल भावों का ! एक स्थूल दृश्य अथवा व्यक्ति-विशेष के चित्रण की अपेक्षा भावों का चित्रण कहीं अधिक कष्ट-साध्य और स्तुत्य है। इसी दृष्टि से 'रजनी' चित्र का दर्शन किया जाना चाहिए।

जिस समय माता अपने बालक को गोद में लेकर स्तन-पान कराती है और बालक स्तन-पान करते-करते निद्राभिभूत हो जाता है, उस समय माता जिस आनन्द में मग्न हो जाती है, वह अतुलनीय होता है। जिस वात्सल्य-प्रेम से इस आनन्द का स्रोत प्रवाहित होता है, वह पवित्र और निःस्वार्थ होता है, इसीलिए वह जग में वंदनीय है।

वात्सल्य और दाम्पत्य-प्रेम का तुलनात्मक चित्रण भी इस चित्र में किया गया है। जिस समय रजनी पृथ्वी-बालक को गोद मे लेकर आनन्दमग्न बैठी है, उसी समय निशानाथ भी उपस्थित होते हैं, पर रजनी पति-सान्निध्य से नहीं, अपनी गोद के बालक से ही सच्चा सुखानुभव प्राप्त करती है। उस निःस्वार्थ वात्सल्य-प्रेम से जनित आनन्द की समता प्रेम-क्रीडाओं की स्वार्थी लालसाओं वाला दाम्पत्य-प्रेम कैसे कर सकता है ? रजनी के वात्सल्य-प्रेम पर मुग्ध रजनी-पति तारकाओं की पुष्प-वर्षा करके अपना हर्ष प्रदर्शित करते हैं।

ऐसे भावपूर्ण चित्राङ्कण के लिए हम 'त्यागभूमि' की ओर से श्री मुकुंद सखाराम माण्ड को अनेक धन्यवाद देते हैं।

श्रीगोपाल नेवटिया

विषय-सूची

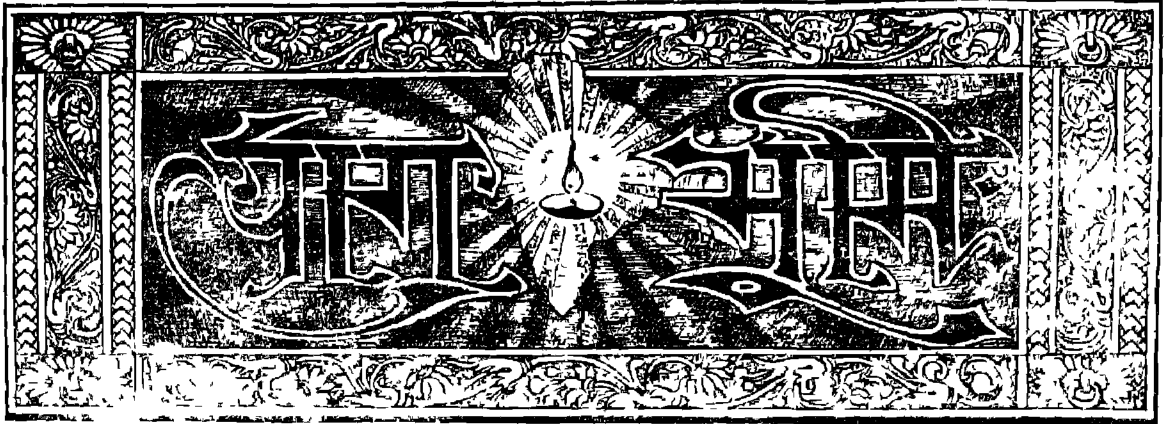
चित्र-सूची



काश्मीर

हिमाच्छादित शैलशृङ्ग

त्यागभूमि'] [फो० श्रीमती केवेलिन



(जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका)

आत्म-समर्पण होत जहँ, जहँ विशुद्ध बलिदान ।
मर मिटवे की साध जहँ, तहँ हैं श्रीभगवान ॥

वर्ष २ खण्ड १	सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर । मार्गशीर्ष संवत् १९८५	अंक ३ पूर्ण अंक १५

मुझसे क़रीब था

मुझमें समाया मैं तो जान भी न पाया तुझे,
कैसे कहूँ तेरा छिप जाना ही अजीब था ।
तेरा ही निशान बेनिशान कहते थे लोग,
तेरा क्या मकान ऐसा वतन गरीब था ।
सबमें रहा था, सब वस्तुओं से भिन्न भी था,
सबके ख़यालों में सभी का तू हबीब था ।
घूमता फिरा मैं तुझे देखने को हृदयेश,
तू तो यहां मेरे पास मुझसे करीब था ।

रामाधीनलाल खरे

रावी से कुमारी तक

['त्यागभूमि' के लिए]

(३)

इस लेख में मैं एक ऐसे विषय पर अपने ख़याल ज़ाहिर करना चाहता हूँ, जिसपर मद्रास प्रान्त में ख़ासा वाद-विवाद छिड़ सकता है। मद्रास और अन्य प्रान्तों के अपने देशभाइयों को मैं साहस-पूर्वक विश्वास दिलाता हूँ कि इन बातों को कहते समय मेरे दिल में देश की अच्छी-से-अच्छी सेवा करने के उम्दा भाव और ज़ोरदार लगन काम कर रही है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आज का मद्रास प्रान्त ख़ास तौर पर एक हिन्दू-प्रान्त है और किसी भी अ-हिन्दू संस्कृति का उसपर बहुत थोड़ा असर पड़ा है। सैकड़ों वर्षों से वहाँ ईसाई और मुसलमान रह रहे हैं और कई तरह से बड़ी सरगर्मी के साथ अपना-अपना प्रचार-कार्य कर रहे हैं। पिछले दिनों दोनों जातियों को इस प्रान्त पर काफी राजकीय प्रभुत्व प्राप्त था। आज भी उनका प्रभाव किसी क़दर कम नहीं है।

दक्षिण का ईसाई-धर्म

भारतीय ईसाइयों की आबादी का एक बड़ा भाग मद्रास में रहता है। उनकी तादाद के मुक़ाबले में उनकी शिक्षा और आर्थिक दशा का प्रभाव बड़ा अ-सम है। अगर मैं भूलता नहीं हूँ, तो, अकेले केप से १२ मील दूर ट्रावणकोर के नागरकोइल नगर में कैथोलिक, सीरियन, प्रोटेस्टेन्ट आदि कम-से-कम २७ मिशन एक ही साथ काम कर रहे हैं। उनके अपने कालेज, स्कूल, कारख़ाने और फ़ैक्टरियाँ हैं। ज़मीन और इमारतों के रूप में वे विशाल सम्पत्ति के मालिक हैं। सारा नगर एक प्रभावशाली और समृद्ध ईसाई उपनिवेश के रूप में बसा हुआ है, जहाँ लोग सम्पूर्ण धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक स्वातन्त्र्य का सुख लूटते हैं। मद्रास के ईसाइयों में ज्यादातर संख्या उन्हीं हिन्दू लोगों की है, जो ईसाई बन गये हैं। इनमें भी ज्यादा तादाद नीच जाति या जातिहीन हिन्दुओं की है। इनमें से अधिकांश, ईसाई हो जाने पर भी, अन्तर्विवाह और अन्तर्भोज के मामलों में पुराने जाति-बन्धनों से बँधे हुये हैं। मैंने तो यह भी सुना था कि गिरजाघरों तक में जातिवार जगहें सुरक्षित रक्खी जाती हैं। इस तरह ईसाइयों ने इन लोगों को पूजा के लिए देव और देव-मन्दिरों की भी सुविधा कर दी है, हिन्दू इन्हें इतनी सुविधा न दे सके। इससे यह तो साफ़ नज़र आता है कि कम-से-कम मद्रास प्रान्त में जितनी छाप हिन्दू-धर्म की ईसाई-धर्म पर पड़ी है उतनी ईसाई-धर्म की हिन्दू-धर्म पर नहीं। मद्रास के ज्यादातर ईसाइयों के भीतर वही मनोवृत्ति काम करती है, जो बहुतेरे हिन्दुओं के भीतर। इसके कारण धार्मिक और सामाजिक मामलों में विचार स्वातन्त्र्य, आचार-स्वातन्त्र्य और व्यवहार-स्वातन्त्र्य विषयक बड़ा अनिष्ट हो रहा है।

दक्षिण के हिन्दू और द्राविड़ संस्कृति

मद्रास के मुसलमानों की बात दूसरी है। उनकी जाति एक पौरुषेय (Virile) जाति है, जो अरबी और भारतीय रक्त के संयोग से बनी है। अब वे सब एक-दूसरे में हिल-मिल गये हैं। मद्रास के मुसलमान, उत्तर-भारत के मुसलमानों से भिन्न, धनी व्यापारी हैं।

मद्रास में हिन्दुओं की आबादी ही ज्यादा है। और जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, शिक्षा और साहित्यिक योग्यता की दृष्टि से, सारे भारत में उनका स्थान ऊँचा है। उनका हिन्दू-धर्म दक्षिण-भारत का एक ख़ास प्रकार का धर्म है। यह कहा जाता है कि अधिकांश मद्रासी ऐसे द्रविड़ हैं, जिनमें आर्य-रक्त का बहुत थोड़ा हिस्सा पाया जाता है। उत्तर-भारत के मूल आर्यों की संस्कृति, उनका-सा तेज और वैसे भाव भी इनमें कम-से-कम पाये जाते हैं।

सारा प्रान्त भाषा के अनुसार चार जुदे-जुदे हिस्सों में बँटा हुआ है; तेलुगु, तामिल, मलायालम, और कनाडी।

लोगों की भाषा और साहित्य में संस्कृत के कई शब्द सुनने को मिलते हैं, लेकिन इन भाषाओं का संस्कृत से कोई सीधा और सामान्य सम्बन्ध नहीं है। दक्षिण का हिन्दू-धर्म और वहाँ की हिन्दू-संस्कृति खासकर द्राविड़ी है, आर्य नहीं। मूल वैदिक संस्कृति का प्रभाव उसपर नहीं के बराबर पड़ा है।

संस्कृत संस्कृति की पवित्रता

फिर भी मद्रास भारत के प्रान्तों में सबसे अधिक हिन्दू प्रान्त है। देश के संस्कृत-पंडितों में मद्रासियों का स्थान बहुत ऊँचा है। वे संस्कृत शब्दों का उच्चारण और पाठ खूब सही-सही, नियमित और वैज्ञानिक ढंग से करते हैं। संस्कृत साहित्य—खासकर उसका वैदिक-विभाग—इस सम्बन्ध में मद्रासियों का बहुत कर्ज़दार है। मद्रास ने ही वेदों को अपने दिमाग में सुरक्षित रक्खा था, और कंठपाठ के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी कई पीढ़ियों तक वेद मात्राओं, लगमात्राओं, उच्चारण, स्वर आदि के साथ अपने शुद्ध रूप में जैसे के तैसे बने रहे। वेदों की सुरक्षा का यह अनूठा सिलसिला दुनिया के साहित्य के इतिहास में एक ही है। मद्रास में ही भारत के तीन सबसे बड़े धर्म-गुरु और तत्त्वज्ञ वेदान्तियों का, भारतीय इतिहास के मध्यकाल में, जन्म हुआ। इनमें से हरएक ने भारत के पौराणिक हिन्दू-धर्म पर अपने-अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप डाली है। आचार्य शंकर का जन्म त्रावणकोर में हुआ था और वह नाम्बुद्री थे। दूसरे दो रामानुज और माधव संस्कृत के उद्भट विद्वान् और सुलेखक थे, और अपने इन्हीं गुणों के बल पर लोगों ने उन्हें आचार्य की पदवी से सम्मानित किया था।

आर्य-धर्म से भटकना

इसलिए बौद्धधर्म को भारत से उठा देने का श्रेय या अश्रेय मद्रास के हिन्दुओं को है। इससे यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि मद्रास का हिन्दू-धर्म खासकर बौद्धकाल के बाद का हिन्दू-धर्म है। इसने मूर्ति-पूजक बौद्ध-धर्म के कई रीति-रिवाजों, रूढ़ियों और विशेषताओं को अंगीकार किया और थोड़ा उलट-पलट कर अपना वेदान्त उसकी जगह प्रतिष्ठित कर दिया। यह बदला हुआ वेदान्त-धर्म वेदों और उपनिषदों की शिक्षा का समुच्चय था—उसीके आधार पर बना था। फिर भी दोनों के बुद्धिवाद और व्यवहार में कितना फ़र्क है! मद्रास में हिन्दूधर्म के नेताओं और उसके जन्म-दाताओं ने वेदों और सूत्रों में कही हुई जाति-प्रथा को आश्रय नहीं दिया था। वैदिक जातियों में से उन्होंने केवल दो को माना था—ब्राह्मण और शूद्र। इस प्रथा में चातुर्वर्ण्य की मूल-प्रथा का अस्तित्व ही भुला दिया गया और केवल द्विज और अ-द्विज पर ही ज्यादा ज़ोर दिया गया था। इसमें शक नहीं कि उत्तर के आर्यों ने ब्राह्मणों को सबसे ऊँचा और अधिकार वाला स्थान दिया था, लेकिन ब्राह्मण और शूद्र के बीच की खाई को उन्होंने क्षत्रिय और वैश्यों को बीच में डालकर पाट-सा दिया था। यह बीच-बचाव वाली जातियाँ उन कई सुविधाओं, अधिकारों और रिआयतों का फ़ायदा उठाती हैं, जो शूद्रों के लिए दुर्लभ थे। उत्तर में दूसरे और तीसरे वर्ण के लोगों में और ब्राह्मणों में बहुत-कुछ समानता है। वे यज्ञोपवीत पहनते, वेद-पाठ करते, गायत्री जपते, और यज्ञ-यागादि कर सकते हैं।

दक्षिण का ब्राह्मण-धर्म

उत्तर वालों ने जहाँ बुद्धि और धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मणों की प्रभुता स्वीकार की, वहाँ आर्थिक क्षेत्र में उन्हें दूसरों का मुहताज बना दिया। अपनी जाति में रह कर कोई भी ब्राह्मण न तो ज़मीन का मालिक बन सकता था, न खेती कर सकता था, और न किसी दूसरे धन्धे में पड़ सकता था। अगर वह इनमें से कुछ भी करता तो उसे अपनी जाति खोनी पड़ती थी। लेकिन दक्षिण-भारत में ब्राह्मणों ने बुद्धि, धर्म और धन आदि सब तरह की प्रभुता को अपने हाथों में केन्द्रित कर लिया। अगर सच पूछा जाय तो, इस दृष्टि से, ब्राह्मणों और शूद्रों में कोई खास फ़र्क न था। उस समय जब राज्य-शक्ति अ-ब्राह्मणों के हाथों सौंपी गई, तब भी राज्य-सचालन और राज्यनीति की सच्ची ताक़त तो ब्राह्मणों की ही चीज़ थी। इस तरह ब्राह्मण आध्यात्मिक और भौतिक शक्ति के मालिक बन गये और अपने स्वामित्व को इतना महान् बनाते गये कि स्पृश्य

(Feudal) यूरोप को छोड़ कर और कहीं भी वैसी सत्ता के अस्तित्व का आभास नहीं मिलता। दक्षिण का ब्राह्मण एक असाधारण पुरुष बन गया और उसकी जाति असाधारण पुरुषों की एक जाति बन गई। जो कायदे और नियम अ-ब्राह्मणों के भाग्य का फ़ैसला करते थे, वही ब्राह्मणों के सम्बन्ध में चुप रहते थे। किसीका ब्राह्मण-कुल में जन्म लेना ही उसके श्रेष्ठत्व के लिए काफ़ी था, वह अपने ऊँचे आसन से व्यवस्था और नीति का संचालन बड़ी मौज से, मन चाहे ढंग पर, कर सकता था।

दक्षिण का सर्वाधिकारी शासन

मुझे यह शक हो रहा है कि दक्षिण के ब्राह्मणों ने अपने हाथों मनुस्मृति में कई फेर-बदल किये हैं, जिससे वे ब्राह्मण के भेदों को उचित सिद्ध कर सकें। मेरा खयाल है, आजकल की प्रचलित मनुस्मृति दक्षिण में बनी है। वह योग्य और सूक्ष्मदर्शी विद्वानों की सुन्दर रचना है। सारे मुसलमान ज़माने में और कम-से-कम शंकराचार्य के बाद से तो हिन्दू-धर्म, हिन्दू-वेदान्त और हिन्दू-पुराणों का नेतृत्व दक्षिण के ही हाथों में रहा है। उस जमाने का सारा हिन्दू-साहित्य—क्या न्याय, क्या पुराण, और क्या वेदान्त—दक्षिण के प्रभाव से प्रभावित है। वर्त्तमान मनुस्मृति में ब्राह्मणों की ऊँची प्रतिष्ठा का संभवतः यही मूल कारण है।

मुझसे कहा गया था कि मलाबार के नाम्बुद्री दक्षिण के ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं। वे जहाँ दक्षिण की कीर्त्ति के कारण हैं, वहीं उसके लिए अभिशाप-रूप भी हैं। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आचार्य शंकर नाम्बुद्री थे। रामानुज और माधव दोनों ही शंकर के उपदेशों और उनकी प्रामाणिकता-प्रतिष्ठा के विरोधी थे। मुझे शक है कि खुद शंकर ने जगत्-गुरु की प्रथा को चलाया हो। लेकिन यह सच है कि इस नाम के चारों मठपति उनके अनुयायी हैं और यह माना जाता है कि उन्ही (शंकर) से मठपतियों की प्रतिष्ठा भी है। मेरे विचार से शंकर ने ही पहले-पहल दण्डी संन्यासियों की प्रथा चलाई, जिन्हें आज भी भारत के साधुओं में ऊँचे-से-ऊँचा सम्मान दिया जाता है।

जाति-भेद की सांकल

नाम्बुद्रियों में संस्कृत सीखने और जीवन को 'पवित्र' रखने का उत्साह-ज़ीवट खूब है और पीढ़ियों से जैसे का तैसा बना हुआ है। इसका नतीजा यह हुआ है कि दूसरे लोग न तो उन्हें छू सकते हैं और न उनके पास ही जा सकते हैं। इस दृष्टि से मद्रास का हिन्दू-धर्म एक ही है।

भारत के दूसरे भागों में अछूत तो हैं; लेकिन मद्रास के वे लोग नहीं हैं, जिनकी छाया से छूत फैलती है और जो अगम्य (Unapproachable) कहाते हैं। मद्रास के ब्राह्मण किसी अ-ब्राह्मण के सामने भोजन नहीं करते—कर ही नहीं सकते। मुझे इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं है, लेकिन इतना मुझे विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है कि वहाँ के रेल्वेस्टेशनों पर जो हिन्दू-उपाहार-गृह हैं उनमें ब्राह्मणों के लिए कुछ स्थान या कमरे अलग सुरक्षित रहते हैं। ब्राह्मण, किसी अब्राह्मण के हाथ का बनाया हुआ भोजन खाना तो दूर, उसे छू तक नहीं सकते। अपने साथ अछूतों जैसा व्यवहार होते देख कर दक्षिण के अ-ब्राह्मण अन्त्यजों के साथ वैसा ही व्यवहार करते और अन्त्यज अपने आपस में ही इस तरह के भेद-भाव रखते हैं। भेद-भावों की यह सांकल कितनी कुटिल और कुत्सित है!

नाम्बुद्रियों की आर्थिक प्रभुता

कम-से-कम मलाबार में तो किसी समय नाम्बुद्री ही सारी ज़मीन के मालिक थे। वे अपनेको 'जेन्मी' या ज़मीन के जन्म-सिद्ध मालिक मानते थे। लोगों का विश्वास है कि वहाँ की ज़मीन समुद्र से लौटा ली गई थी और परशुराम ने उसे ब्राह्मणों को दे डाला था। अब भी ज्यादातर ज़मीन के मालिक ब्राह्मण ही हैं। मुझे मालूम नहीं कि मद्रास के और हिस्सों में भी यही हालत है या नहीं, पर उत्तर और पश्चिमी भारत से यहाँ का रंग-ढंग कितना जुदा है? इसी तरह नाम्बुद्री धन की डोर को भी अपने हाथ में थामे हुए हैं। अंग्रेज़ों के आने से पहले यहाँ के किसान, ब्राह्मणों के, आज्ञाकारी गुलाम-से थे। लेकिन ब्राह्मण उनके साथ दया और उदारता का बर्ताव रखते थे। किसान अपनी ज़मीन से कभी हटाये नहीं जाते थे। उलटे पुरानी

शर्तों पर पीढ़ियों तक एक ही ज़मीन जोता-बोया करते थे। जबसे अंग्रेज़ों ने सम्पत्ति और ठेके के अपने विचारों को अमल मे लाना शुरू किया, हालत बहुत-कुछ बदल गई है और किसानो को उससे नुकसान पहुँचा है। लेकिन 'जेन्मी' तो आज भी धर्मगुरु और ज़मींदार बने हुए हैं। लोगों ने मुझसे कहा था कि एरनाक्यूलम में 'जेन्मी' अस-न्तुष्ट आसामियों पर अपनी सामाजिक प्रभुता का प्रयोग करते और उन्हे अपनी रक्षा के उपायो से वंचित रखते हैं। एक सरकारी विवरण मे भी मैंने इस विषय का लम्बा मजमून पढ़ा है। ये बाते मैं उदाहरण के तौर पर लिख रहा हूँ। इनसे पता चलता है कि किस तरह मलाबार के ब्राह्मण अब तक अपनी विशाल सत्ता और श्रेष्ठता को संगठित, जीवित और जैसी-की-तैसी बनाये हुए हैं।

नाम्बुद्री-नायर अनाचार

मलाबार के नाम्बुद्रियों की कुछ खास रीति-रस्मे हैं, जो उनमें और दूसरों मे भेद पैदा करती हैं। नाम्बुद्रियों में कुटुम्ब का सबसे बड़ा आदमी ही शादी कर सकता है, घर के छोटे सदस्य नायर स्त्रियों के साथ बिना विवाह किये अपना नाजायज सम्बन्ध जोड़ लेते है। इनके संयोग के परिणाम की पुरुषों पर कोई नैतिक ज़िम्मेदारी नहीं रहती। जहाँ तक मैं जान पाया हूँ, नायर स्त्रियाँ नाम्बुद्रियो के छोटे सदस्यों के साथ इस तरह अपना सम्बन्ध जोड़ने मे गौरव समझती है। मुझे तो यह भी कहा गया था कि यह प्रथा अविवाहित राजकुमारियो के लिए भी लागू होती है—उन तक इसका प्रचार है। मलाबार के नायरों की जाति में स्त्री का ही प्रभुत्व रहता है। वही घर की मालकिन और सम्पत्ति की अधिकारिणी रहती है। एक नायर पुरुष की सम्पत्ति का अधिकारी उसका भाञ्जा होता है। लेकिन अगर मलाबार विवाह-क़ानून के मुताबिक उसके विवाह की रजिस्ट्री हो गई है तो ऐसी हालत मे वह अपनी कमाई हुई सम्पत्ति अपने बच्चो को दे सकता है। मुझे यहाँ विवाह या सम्पत्ति से ताल्लुक़ रखने वाले क़ानून की चर्चा नहीं करना है; मैंने तो नाम्बुद्रियो की अपनी अनोखी हालत पर ही विचार किया है।

ब्राह्मण-अब्राह्मण-वाद

पश्चिम की सभ्यता के संसर्ग में आने के समय दक्षिण का धार्मिक और सामाजिक वातावरण इस तरह का था। अब तो बहुत-कुछ फेर-बदल हो गया है और दिन-दिन होता जा रहा है। लेकिन जब हम देखते हैं कि दक्षिण-भारत यूरोपीय और ईसाई संस्कृति के प्रभुत्व में अधिक-से-अधिक रहा है तब सामाजिक और धार्मिक विषयों में वहाँ के निवासियों की मनोवृत्ति में जो तरक़्क़ी हुई दीखती है वह आशाजनक नहीं मालूम होती। यह तो साफ़ है कि अंग्रेज और ईसाई शिक्षा-संस्थाओं ने मद्रास-वासियों के लिए जो सुविधायें पैदा करदी थीं, उनका पहला फ़ायदा ब्राह्मणों ने उठाया और इसी कारण स्वभावत. आज उनके हाथों में ज्यादा राजनैतिक अधिकार है। यह अधिकार और ब्राह्मणों द्वारा सामाजिक मामलों मे किये असद्व्यवहार की तीखी वेदना दक्षिण के ब्राह्मण-अब्राह्मण-कलह की मूल कुंजी है। अपने वर्तमान रूप में यह कलह और प्रान्त के सार्वजनिक जीवन में इसके कारण फैले हुए दुर्भाव, राष्ट्र-हित की दृष्टि से, बहुत ही शर्मनाक और हानिकर है। ब्राह्मणों की संख्या थोड़ी है और आर्थिक जीवन मे वे अ-ब्राह्मणों की दया पर निर्भर हैं। इस कलह का अन्त चाहे जो हो, एक बात बिलकुल ठीक है, वह यह कि जब तक मद्रास के हिन्दू-धर्म मे—उसके जीवन और उसकी भावना मे—युक्ति-युक्त काया-पलट नहीं होता है, स्वराज्य के मार्ग में हमारी प्रगति ज़रूर ही बहुत धीमी होगी। मैं सर सी० पी० रामस्वामी ऐयर के इस कथन की प्रतीक्षा नहीं करता कि स्वराज्य के मिलते ही इच्छित फेर-बदल सहज हो जायँगे या स्वराज्य ही इनका एकमात्र रामबाण उपाय है। कौन दावे के साथ यह कह सकता है कि जब तक सामाजिक न्याय—समानता—का वातावरण नहीं फैलता, समाज का मजबूत संघटन नहीं होता, लोग खुद संगठित होकर, त्याग करके इस कार्य में मदद नहीं देते, और अस्थिर अन्याय्य पदों की प्रतिष्ठा को छोड़ नहीं देते, स्वराज्य जल्दी ही मिल जायगा ? वह समाज जिसमें दल-के-दल—नहीं, ज्यादातर लोग रात-दिन सामाजिक अत्याचार की चक्की में पिसते

रहते हैं, कभी राजनैतिक अधिकारों को पाने की लड़ाई में मिल कर आगे नहीं बढ़ सकता। ख़ासकर ऐसी हालत में जब कि उसके अच्छे सपूत दुश्मन की छावनी में मिलने और उसे अपनी बुद्धि तथा अपने निर्णयों से लाभ उठाने देने के लिए उधार खाये रहते हैं और इस तरह उसके हौसले को बढ़ाने में मददगार होते हैं।

लाजपतराय

इतिहास में सत्याग्रह

['त्यागभूमि' के लिए]

(३)

प्राचीनकाल के सताये हुए ईसाइयों ने रोम की साम्राज्य-सत्ता के विरुद्ध जो शान्तिपूर्ण लड़ाई ठानी थी, उसमें उनका कोई राजनैतिक हेतु न था। फिर भी यह तो निर्विवाद है कि मुख्यतः धार्मिक होते हुए भी वह लड़ाई एक प्रतिष्ठित साम्राज्य के क़ानून और शासन के विरोध में छेड़ी गई थी। अतः यह तो स्पष्ट है कि जब कोई साम्राज्य जनता की आत्मा और विश्वास की स्वतन्त्रता को कुचलने पर केवल इसलिए उतारू हो जाता है कि वह क़ानून द्वारा समर्थित साम्राज्य की व्यवस्था के विरुद्ध या उसे पलट देने वाली है, तब साम्राज्य की दृष्टि से रखते हुए इस प्रकार की लड़ाई विशेषतः राजनैतिक लड़ाई बन जाती है। आज ही की भांति उस समय भी, जब रोम का गारुडीय झण्डा अपने विजयोल्लास में उस समय की जानी हुई सारी दुनिया पर फहराता था, साम्राज्य की सत्ता सर्वोपरि थी। क्योंकि साम्राज्य का स्वार्थ और उसकी सरक्षा का महत्व धर्म की आत्मा के स्वार्थ और उसकी सरक्षा से कहीं बढ़कर था। इस तरह वर्तमान ससार के सारे सुप्रसिद्ध देशों मे युद्ध का शुद्ध आत्मिक विरोध, फिर वह कितना ही निष्क्रिय क्यों न हो, गैरक़ानूनी ही समझा जाता है। क्योंकि साम्राज्य खुद एक तरह का सम्प्रदाय-सा बन गया है और हर तरह उसकी रक्षा करना अनिवार्य हो पड़ा है।

अतः इससे इतनी बात तो ज़रूर साफ़ हो जाती है कि चाहे प्राचीन काल में हो, चाहे इस बीसवीं शताब्दि में, धर्म उतना ही राजनैतिक विषय बन सकता है, जितने कि राजनीति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने वाले दूसरे विषय। विशुद्ध सांसारिक राजनीति के विषयों में इस प्रथा का प्रयोग इसके उदयकाल की दूसरी मंजिल का द्योतक है। शान्तिपूर्ण या वैध राजनैतिक विरोध की इस प्रथा के जन्मदाता श्री हेनरी थोरो थे। आप अमेरिका के मेसेच्युसेट्स स्थान के एक सुप्रसिद्ध लेखक और वेदान्ती थे। इस प्रथा के लिए सुप्रसिद्ध सविनय अवज्ञा (Civil-Disobedience) वाक्य का पहला प्रयोग भी आप ही ने किया था और गत उन्नीसवीं शताब्दि के मध्य में इसी शीर्षक से आपने एक निबन्ध लिखा, जो बड़ा लोक-प्रिय हुआ था। श्री थोरो ने जिस 'विरोध' की कल्पना की थी, वह व्यक्तिगत विरोध का एक प्रकार मात्र था, उन्होंने अपने निबन्ध में युक्तियुक्त दलीलों से यह सिद्ध किया है कि किन-किन परिस्थितियों में साम्राज्य का विरोध करना क़ानून का सम्मान करने वाली देश की रिआया का कर्तव्य-कर्म बन जाता है। उन्होंने इस विरोध की प्रथा को पूर्णतः सभ्य अथवा शान्तिपूर्ण बनाने के उपायों का भी अपने निबन्ध में अच्छा विवेचन किया है। अपने खोजे हुए इस सिद्धान्त का सामूहिक रूप से प्रयोग कर देखने का अवसर श्री थोरो को नहीं मिला था। हाँ, अपने व्यक्तिगत जीवन में उन्होंने इस सविनय अवज्ञा या सत्याग्रह के सिद्धान्त का प्रयोग अवश्य किया था। बात यह थी कि उस ज़माने में मेसेच्युसेट्स में गुलामी की प्रथा का प्रचलन काफ़ी था। इस प्रथा के विरोध में अपना सात्विक रोष प्रकट करते हुए उन्होंने राज्य को अपने हिस्से का कर देने से इंकार कर दिया था, जिसके फल-स्वरूप उन्हें थोड़े समय के लिए कारागार में भी रहना पड़ा।

हम पहले ही कह चुके हैं कि श्री थोरो के ज़माने में मेसेच्युसेट्स में गुलामी की प्रथा जीवित थी. लोगों ने इस बात का घोर प्रयत्न किया कि राज्य अपनी ओर से इस प्रथा को कतई बन्द कर दे। इस प्रथा के विरोध में प्रचण्ड लोकमत तैयार करने का भी उन्होंने प्रयत्न किया। परन्तु राज्य के कुछ खास निश्चित स्वार्थों के कारण लोगों के सारे प्रयत्न बेकार हुए। हाँ, राज्य के विरोध में सशस्त्र विद्रोह करने का मार्ग गुलामी के विरोधियों के लिए खुला था लेकिन इन लोगों की संख्या बहुत थोड़ी थी और जिस समय का ज़िक्र हो रहा है, उस समय तो और भी नगण्य-सी थी। इतिहास के विद्यार्थियों से यह छिपा नहीं है कि आगे चलकर लोगों ने इस उपाय का अवलम्बन भी लिया था, जिसका परिणाम अमेरिका का वह सुप्रसिद्ध मुक्ति-युद्ध (War of liberation) हुआ, जिसमें गुलामों को बन्धन-मुक्त करने का प्रयत्न काम कर रहा था। लेकिन श्री थोरो के सामने तो एक दूसरी ही समस्या खड़ी थी, राज्य-द्वारा अनुमोदित गुलामी की प्रथा का विरोध करने के लिए वह किसी शान्तिपूर्ण उपाय की तलाश में थे, दूसरे उनकी यह भी कोशिश थी कि यह शान्तिपूर्ण उपाय ऐसा होना चाहिए कि जिससे लोग व्यक्तिगत रूप में भी उसका विरोध कर सकें। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने सविनय अवज्ञा, शान्तिपूर्ण विरोध या सत्याग्रह की अपनी आवाज को बुलंद किया था।

उनकी राय में जब किसी राज्य की शासन-धारा किसी अन्यायपूर्ण क़ानून-द्वारा दूषित बना दी जाती है तब हरएक सच्चे नागरिक का यह कर्तव्य कभी नहीं है कि वह उसे मान ले, उसमें अपनी स्वीकृति प्रकट करे, या उसे मानते हुए उसमें सुधार करने का प्रयत्न करे, बल्कि उसका कर्तव्य तो यह है कि वह उस क़ानून का उल्लंघन करे—उसे न माने, और इस तरह उसके प्रति अपना विरोध प्रकट करे। जिस प्रश्न को उन्होंने अपने सविनय अवज्ञा शीर्षक निबन्ध में स्वयं उठाया है, उन्हींके शब्दों में वह इस प्रकार है—"अन्याय पूर्ण क़ानूनों का अस्तित्व सिद्ध है, क्या हम उन्हें शिरोधार्य करके सन्तोष मानें, या उन्हें सुधारने का प्रयत्न करें, अथवा जब तक हमें सफलता न मिले हम उन्हें मानते रहें, या हम तत्काल ही उनका उल्लंघन करें—उन्हें न मानें?" श्री थोरो ने इस प्रश्न का जिस सफ़ाई और ज़ोरदार दलीलों के साथ उत्तर दिया है, और जैसी दृढ़ता के साथ अपने उत्तर का समर्थन किया है, उसे पढ़कर बरबस पाठक के मुँह से 'धन्य-धन्य !' निकल पड़ता है। श्री थोरो का वह उत्तर है—एक सच्चे नागरिक का तो यह कर्तव्य है कि वह ऐसे क़ानूनों का तत्काल उल्लंघन करे और राज्य की सच्ची सेवा का भागी बने। उनके मतानुसार अन्यायभरे क़ानूनों के लिए सच्चे नागरिक नहीं बल्कि राज्य स्वयं ज़िम्मेदार है और उसीका यह मुख्य कर्तव्य भी है कि वह लोगों के विरोध की पहले ही संभावना कर ले, अपने मन्तव्यों को सुधारे, तथा राज्य की चतुर किन्तु अल्प-संख्यक प्रजा की क़द्र करे। अगर यह कहा जाता है कि चाहे जैसे अन्यायपूर्ण राजकीय क़ानून का व्यक्तिगत विरोध राज्य जैसी संघटित संस्था के अधिकार और प्रतिष्ठा की अवगणना कर उसे हानि पहुँचाता है, तो इसके उत्तर में श्री थोरो का ज़ोरदार कथन है कि बुराई को स्वीकार कर लेना व्यक्ति और राज्य दोनों की दृष्टि से एक कुत्सित बुराई है, उस हालत में और भी अधिक, जब यह बुराई असह्य होती है और राज्य उसे मिटाने से इंकार कर देता है। ऐसी दशा में सच्चे नागरिक का कर्तव्य तो यही होना चाहिए कि वह अन्यायपूर्ण क़ानून का विरोध करे और अपने-आप राज्य-द्वारा क़ैद या सजा का पात्र बन जाय। व्यक्ति और राज्य दोनों के लिए यही हितकर है। क्योंकि, श्री थोरो के शब्दों में, "जिस राज्य में लोग अनुचित दण्ड पाते या अनुचित रूप से क़ैद किये जाते हैं उस राज्य के सच्चे, न्यायशील नागरिकों का उपयुक्त स्थान तो कारागार ही है।" और आज "मेसेच्युसेट्स की स्वतन्त्रतर और आशावादी आत्माओं का योग्य स्थान तो उसके जेलखानों में ही है, उनका राज्य की अपनी धाराओं के अनुसार निष्कासित होना या क़ैद किया जाना ही उचित है।" नागरिकों के अपने प्रयत्नों द्वारा राज्य को सीधे रास्ते पर लाने की बात पर भी उन्होंने दृष्टिपात किया है। जब राज्य की बुराइयाँ बढ़ जाती हैं, असह्य हो जाती हैं, तब लोगों द्वारा उसके विरोध में क्रान्ति किये जाने के नैतिक अधिकार का वह ज़ोरों से समर्थन करते हैं। लेकिन प्रश्न तो यह था कि

इस तरह की क्रान्ति नैतिक नियमों और साधनों के अनुकूल कैसे बने ? खास-खास परिस्थितियों में राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने के अधिकार की बात तो बिलकुल साफ़ है। क्योंकि स्वयं श्री थोरो ने ऐसी क्रान्ति का इन शब्दों में समर्थन किया है—"सब मनुष्य क्रान्ति के अधिकार का समर्थन करते हैं; अर्थात वे इस बात को कबूल करते हैं कि जब किसी राज्य का अत्याचार या उसकी अनुपयोगिता बहुत बढ़ जाय, वह असह्य हो जाय, तो उसमें असहयोग व उसका विरोध करना उचित तथा अधिकारपूर्ण है।"

श्री थोरो अपनी दलीलों पर अधिक सूक्ष्म विचार करते हुए कहते हैं—"राज्य एक विशाल यंत्र के समान है और व्यक्ति उसके प्रधान अंग या अवयव हैं। अगर राज्य की जनता का विभाजन राज्य के प्रति उनकी सेवाओं के अनुसार किया जाय तो जनता का अधिकांश यंत्र की तरह अपना शरीर खपा कर राज्य की सेवा करता दीखेगा, लोग राज्य की स्थायी सेना के सदस्य बनेंगे, नागरिक सैन्य में भर्ती होंगे, तथा जेलर और सिपाही का काम स्वीकार करेंगे। एक दूसरे प्रकार के लोग भी हैं, जो बुद्धि-द्वारा राज्य की सेवा करते हैं।। इनमें धारासभा के सदस्य, वकील, राजनीतिज्ञ, मंत्री, पदाधिकारी आदि का नाम लिया जा सकता है। श्री थोरो का कहना है कि ये लोग अकसर नैतिक विवेचन नहीं करते; अत "इच्छा न रहते हुए भी इनके द्वारा शैतान की देवबत् सेवा होना संभव है।" इन लोगों के सिवा एक तीसरी तरह के लोग और भी होते हैं, जो संख्या में बहुत थोड़े होते हुए भी अपनी सद्‌विवेक-बुद्धि द्वारा राज्य की सेवा करते हैं, लेकिन अपने इसी गुण के कारण बहुधा वे लोग राज्य के शत्रु माने जाते हैं। ऐसे लोगों में वीरों, देशभक्तों, शहीदों और सुधारकों आदि की गणना की जाती है। आगे चल कर श्री थोरो कहते हैं कि अगर राज्य का अत्याचार इतना बढ़ जाय कि तुम्हें भी उसका साधन बन कर दूसरों पर अन्याय करना पड़े, तो "राज्य के ऐसे अत्याचारी क़ानून को तोड़ो; अपना जीवन ऐसा बना डालो कि उससे राज्यतंत्र के कल-पुर्ज़ों में प्रतिसंघर्ष पैदा हो और वे बेकाम हो जावें।" क्योंकि, "मुझे तो किसी भी तरह यह देखना है कि जिस बुराई से मैं घृणा करता हूँ उसीका मैं सहायक अंग न बन जाऊँ।" दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति-द्वारा राज्य का विरोध केवल मौखिक विरोध या शिष्टाचारपूर्ण असन्तोष या अस्वीकृति तक ही न रह जाय, लेकिन अन्यायपूर्ण क़ानून का प्रत्यक्ष उल्लंघन कर उसे सक्रिय रूप दिया जाना चाहिए। 'प्रत्यक्ष क्रिया' का यह विचार श्री थोरो की सविनय अवज्ञा सम्बन्धी विचार-धारा का मूल मौलिक विचार है।

श्री थोरो के सविनय अवज्ञा सिद्धान्त के विश्लेषण से पता चलता है कि उन्होंने "सविनय अवज्ञा" की दो निश्चित मंज़िलों का विचार किया था। पहली मंज़िल तो यह थी कि सरकार के साथ सहयोग न किया जाय, स्वयं थोरो के शब्दों में, "सरकार के कामों में भागीदार न बना जाय।" वह सब नागरिकों से जोर देकर "राज्य से अपना हर तरह का सम्बन्ध छोड़ देने" की बात कहते हैं। विरोध की दूसरी मंज़िल कर देने से इन्कार करना है, यह मंज़िल पहली का फलित परिणाम है। स्वयं थोरो के कथनानुसार प्रत्येक नागरिक को "अपने-अपने कर चुकाने से इन्कार करना चाहिए," "राज्य कोष में अपना हिस्सा जमा करने से विरत रहना चाहिए।"

श्री थोरो का यह मत था कि जो लोग मेसेच्युसेट्स में प्रचलित गुलामी की प्रथा को बुरी समझते हुए भी उसे बनाये रखने के लिए राज्य के बनाये नियमों और आज्ञाओं का पालन करते या राज्य से सहयोग करते हैं वे दास-प्रथा का अधिक-से-अधिक बुद्धिपूर्वक समर्थन करने वाले और सुधार के मार्ग के भयंकर विघ्न-रूप हैं—"मैं बिलकुल निःसंकोच होकर कहता हूँ कि जो लोग अपनेको सुधारक या दास-प्रथा के विरोधी मानते हैं वे मेसेच्युसेट्स की सरकार से—क्या व्यक्तिगत और क्या साम्पत्तिक—सब तरह का सम्बन्ध तत्काल और हमेशा के लिए त्याग दें, उसका समर्थन न करें। और एक भी बहुमत प्राप्त करने की आशा में अधिकार के सम्मुख सत्य को न भूलें। मेरी राय में अगर ईश्वर उनके पक्ष में है तो बस है, और उन्हें किसी दूसरे मत की प्रतीक्षा न करनी चाहिए। और भी एक बात है; जो आदमी अपने पड़ोसियों से अधिक सत्य का सेवक है, वह अपने-आप में एक मत अधिक रखता है।"

और—"मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि अगर, एक हजार, एक सौ, या केवल दस आदमी, हाँ, ऐसे दस आदमी जिनका नाम मैं विश्वासपूर्वक ले सकूँ, या फिर एक ही प्रामाणिक आदमी मेसेच्युसेट्स में गुलामों को रखना छोड़ दे, उन्हें अपने कारबार में स्थान देने से इन्कार करदे, और परिणाम-स्वरूप देश के जेलखाने में बन्द रहना स्वीकार करले, तो मैं यह कह सकता हूँ कि अमेरिका से गुलामी उठ गई। आरंभ कितना अल्प है, इस बात की पर्वा न करनी चाहिए; देखना तो यह है कि जो कुछ किया जाय वह स्थायी हो और अच्छा हो। लेकिन जिसे हम अपना मिशन कहते हैं, उसके सम्बन्ध में केवल बातें बनाना ही हमें ज्यादा प्रिय है।"

इन तथा ऐसे ही दूसरे शब्दों में श्री थोरो ने मेसेच्युसेट्स के सुधारकों को "राज्य से अपना सम्बन्ध-विच्छेद" कर लेने की सलाह दी थी और फिर "राज्य-कोष में अपना हिस्सा जमा करने से उन्हें मना किया था।"

श्री थोरो के मतानुसार अगर "शान्तिपूर्ण क्रान्ति" कभी संभव है, किसी दशा में उसकी कल्पना की जा सकती है, तो केवल एक ही उपाय द्वारा, और वह यही कि राज्य के अधिकांश लोग अपना-अपना कर देने से इन्कार कर दें। क्योंकि राज्य के लिए यह कभी संभव नहीं है कि वह अपने प्रतिष्ठित नागरिकों की दीर्घकालिक और न्यायपूर्ण माँग को अधिक समय तक रोके रहे और ख़ास कर उस दशा में जब कि नागरिक अपने विरोध पर डटे रह कर जेल जाने को तैयार हो जाते हैं राज्य का निश्चय टिक नहीं सकता। इस तरह, श्री थोरो की राय में, राज्य को सुधारने में प्रजा का यह विरोध बहुत अधिक बलशाली और परिणामकारक सिद्ध होगा। वह कहते हैं—"अगर तरणोपाय यही है कि या तो सारे सच्चे नागरिक जेलों में ठूँस दिये जायँ, या तो युद्ध बन्द कर दिया जाय, या गुलामी उठा दी जाय तो राज्य अपना कर्त्तव्य निश्चित करने में नहीं हिचकेगा। अगर इस साल हज़ार आदमी अपना कर न चुकायें तो इसका परिणाम भीषण या ख़ूनी न होगा, लेकिन अगर चुकाते हैं तो इसमें शक नहीं कि वे राज्य को निर्दोष लोगों का ख़ून बहाने और उनपर भीषण अत्याचार करने के योग्य बनाने में प्रोत्साहित करते हैं। तथ्यतः अगर 'मंगल क्रान्ति' संभव है तो यही उसकी परिभाषा हो सकती है।" इससे यह तो स्पष्ट होता है कि श्री थोरो की "सविनय अवज्ञा-योजना" का निर्माण आत्म-त्याग की शक्ति द्वारा 'मंगल क्रान्ति' की तैयारी करने की योजना थी, इसी लक्ष्य को लेकर वह बनाई गई थी।

गाँधीजी की सत्याग्रह-प्रथा ने सविनय अवज्ञा के क्षेत्र में एक क़दम और आगे बढ़ाया है। दक्षिण आफ्रिका में निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) प्रथा से इस नये सिद्धान्त को अलग करने के लिए उन्होंने 'सत्याग्रह' शब्द बनाया। जिस समय उन्होंने 'सत्याग्रह' को खोज निकाला वह दक्षिण आफ्रिका के भारतीय प्रवासियों के सुधार सम्बन्धी आन्दोलन के श्रीगणेश का विचार कर रहे थे। सत्याग्रह (मूलतः सत्य + आग्रह= सत्य का हठ, उसे पकड़े रहना) बड़ा व्यापक शब्द है। इसमें उन सब अर्थों की हलचलों का समावेश हो जाता है, जो सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त पर टिकी होती हैं। उन्होंने 'निष्क्रियप्रतिरोध' वाक्य को इसलिए छोड़ दिया कि उसमें आख़िरी उपाय के रूप में शस्त्र या हिंसा के आश्रय के त्याग की कहीं शर्त न थी। अहिंसा के इस प्रश्न पर श्री थोरो और गाँधी जी के विचार साधारणतः एक हैं। फिर असहयोग अर्थात् स्वेच्छा से राज्य की सेवाओं में सहयोग देने से इन्कार करने की दृष्टि से भी इन दोनों के मत समान हैं। तीसरी बात है, राज्य-कोष में कर न देना, इस सम्बन्ध में श्री थोरो और गांधीजी एकमत हैं। फिर भी, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, सत्याग्रह की कल्पना सविनय अवज्ञा की कल्पना से ख़ास बढ़कर है और उससे बहुत कुछ विभिन्न भी है। गांधीजी की सत्याग्रह-कल्पना क्या है और उन्होंने उसे किस रूप में कितना परिष्कृत किया है, प्रस्तुत लेख में इन बातों पर विस्तृत विचार करने का स्थान नहीं है। केवल इतना और कहकर इस लेख को समाप्त करूँगा कि आक्रमणकारी सविनय अवज्ञा-प्रथा की भाँति गांधीजी की कल्पना का सत्याग्रह केवल विध्वंसक ही नहीं है, बल्कि उसका अपना निर्मायक अथवा संरक्षक पहलू भी है—सत्याग्रह के कार्यक्रम में इस (निर्मायक) पहलू का बहुत महत्वपूर्ण भाग है, वह सत्या-

ग्रह के विध्वंसक पहलू के सक्रिय संचालन में बहुत अधिक सहायता पहुँचाता है। और विध्वंसक पहलू की दृष्टि से भी गांधीजी द्वारा परिष्कृत सविनय अवज्ञा की कई ऐसी क्रमिक सीढ़ियाँ हैं, जो न तो कभी थ्रो थोरो के दृष्टिक्षेत्र में आई थीं और न प्राचीन ईसाइयों के ही।

आख़िर एक बात और है। गांधीजी की अहिंसा की कल्पना केवल निषेधात्मक नहीं है अर्थात् उसमें केवल हिंसा का अभाव-मात्र नहीं है। वह अहिंसा की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि संसार में घृणा हिंसा के रूप में प्रकट होती है, लेकिन सच्ची सविनय अवज्ञा के मूल में तो प्रतिपक्षी को जीत लेने की भावना काम करती रहती है। गांधीजी के मतानुसार, घृणा और हिंसा का उद्देश तो यह है कि दबाव डालकर प्रतिपक्षी को अपने अधिकार में लाया जाय, लेकिन अहिंसक सत्याग्रह का ध्येय तो 'परिवर्त्तन' है, नैतिक नियम के सक्रिय प्रयोग द्वारा प्रतिपक्षी के हृदय को पलट डालना है। अतः गांधीजी की राय में अहिंसक सत्याग्रह, डरपोक, निर्बल, या कमज़ोर का शस्त्र नहीं बल्कि अधिक से अधिक शक्तिशाली का हथियार है। इस सिद्धान्त का सम्पूर्ण ज्ञान, इसकी प्रतिष्ठा और इससे निकलने वाले तमाम सहज परिणामों का विवेचन करना इस लेख का विषय नहीं है, अतः इसे मैं यहीं समाप्त करता हूँ।

कृष्णदास

शान्ति

मुझे ले चलो वहाँ जहाँ हो, पूर्ण शान्ति-मय सुख का राज।
साम्यवाद का पाठ पढ़ रहा, होकर जहाँ प्रशान्त समाज॥

प्रकृति-प्रदत्त-परम निधियों के,
सभी जहाँ अधिकारी हों।
कोई न हो किसी का अनुचर,
सब स्वच्छन्द विहारी हों॥
परवशता के फन्दे में पड़,
जीना जहाँ हराम न हो।
काम, काम हो मगर जहाँ पर,
आत्म-हनन का काम न हो॥
दीनो के शोणित के प्यासे,
नर-पशु जहाँ न खलते हों।
निरपराधियों के सर पर यों,
जहाँ न आरे चलते हों॥
जहाँ न क्रूरों का शासन हो,
जड़वत् जहाँ समाज न हो।
देश-द्रोही विभीषणों के,
जहाँ कि सिर पर ताज न हो॥

बहता जहाँ स्वतन्त्र समीरण,
उन्नत पथ हो खुले हुए।
सुख-दुःख के सब सम-अधिकारी,
स्वत्व सभी के तुले हुए॥
औ कायरता है यह भी तो,
मैं अब कहीं न जाऊँगा।
मातृ-भूमि-बन्दिनी, मुक्त हो—
मैं, कपूत कहलाऊँगा॥
मिले अकेले स्वर्ग अगर तो,
वह भी है मंजूर नहीं।
अपने देश-बन्धुओं से अब,
जाऊँगा मैं दूर नहीं॥
गाऊँगा मैं गुण स्वदेश के,
घर-घर अलख जगाऊँगा।
होंगे बन्धन मुक्त बन्धु जब,
श्याम' तभी सुख पाऊँगा॥

कन्हैयालाल निगम 'श्याम'

सभ्यताओं की मुठभेड़

जब कोई विदेशी राष्ट्र किसी देश पर विजय प्राप्त करता है, अथवा व्यापार या प्रचार के रूप में किसी 'राष्ट्र' पर आक्रमण करता है, तब उसका अस्तित्व उसकी संस्कृति पर निर्भर रहता है। यदि विजेता की सभ्यता दलित राष्ट्र की सभ्यता से उच्च है, तो उसकी स्थायी विजय संभव है। पर यदि वह सभ्यता में नीचा हो तो उसकी वह विजय क्षणिक ही होगी। उदाहरणार्थ गॉथ और जर्मन जातियों ने दुर्बल रोम के राज्य पर आक्रमण करके उसे दबा लिया। पर जंगली और असभ्य होने के कारण अन्त में उन्होंने रोमन सभ्यता स्वीकार कर ली और उनमें से अधिकांश इटालियन बन गये। इसके विपरीत जिन प्रान्तों पर रोम ने राज्य किया उन्हें रूमी बना कर ही छोड़ा। दरअसल स्थायी विजय सभ्यता और संस्कृति की होती है, सेना की नहीं। सैनिक या शारीरिक देश-विजय सदा क्षणभंगुर और कमज़ोर रहेगी, पर अपनी सभ्यता के प्रचार से जो विजय प्राप्त होती है वह सदा के लिए अपना सिक्का उस देश पर छोड़ जाती है। इस सिद्धान्त के उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। भारतवर्ष पर आज कम-से-कम दो हजार वर्षों से विदेशियों के लगातार आक्रमण हो रहे हैं, पर इस सभ्यता के क़िले ने उसे हमेशा बचाया बल्कि अधिकांश विदेशियों को हज़्म कर लिया।

सभ्यता की इस विजय का यह अर्थ न समझना चाहिए कि एक विजेता परन्तु कम सभ्य देश का दूसरे देश पर किसी प्रकार का असर नहीं होता या किसी सभ्यता अथवा राष्ट्र को दूसरी संस्कृति से कोई नया सबक़ नहीं मिला या मिलना चाहिए। सब देशों को एक दूसरे से शिक्षा मिलती रही और रहेगी; पर स्वामी रामतीर्थ के शब्दों में उन्होंने एक दूसरे के कला-हुनर और अच्छे गुण जज़्ब कर लिये लेकिन अपना अस्तित्व क़ायम रक्खा। पौधा बाहर से खाद लेता है, लेकिन खुद खाद नहीं बन जाता।

यूरोप और एशिया का संग्राम हजारों वर्षों से चला आ रहा है और इसमें अधिकांश एशिया की ही विजय हुई है। लेकिन गत दो-तीन शताब्दियों से, जबसे विज्ञान का इस संसार में प्रचार हुआ, यूरोप दुनिया पर राज्य कर रहा है। वैज्ञानिक आविष्कार अधिकतर यूरोप और अमेरिका ही में हुए और विज्ञान ने अपनी उन्नति वहीं की। इसी कारण सारे संसार के आर्थिक सूत्र उसीके हाथ में है। अधिकांश देश उसके उपनिवेश या गुलाम बने हुए हैं। इस राजनैतिक और आर्थिक बंधन से यूरोपीय सभ्यता, भाषा, भेष तथा आचार-विचार को सर्वत्र आदर्श मानने की ओर स्वभावतः प्रवृत्ति हो रही है।

एशिया में सबसे पहले जापान ने यूरोपीय सभ्यता को अपनाना शुरू किया। रूस के साथ युद्ध के अनुभव से जापानियों को यह मालूम हुआ कि पश्चिमी सभ्यता को अपनाने से ही हम उनके बराबर हो सकते हैं। उन्होंने बड़े वेग से परिवर्त्तन करना आरंभ किया और उसका फल हम आज देख रहे हैं कि जापान दुनिया की बड़ी ताक़तों में गिना जा रहा है।

इसके बाद गत महासमर के पश्चात् टर्की में मुस्तफ़ा कमालपाशा ने देश को स्वतन्त्र करके यूरोपीय सभ्यता का प्रचार करना राष्ट्र की उन्नति के लिए आवश्यक समझा। टर्की की राजनैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था में पूर्ण रूप से क्रान्ति हुई, यहाँ तक कि वहाँ यूरोपीय लिपि और भेष धारण करना अनिवार्य कर दिया गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि टर्की इस समय एशिया के अत्यन्त उन्नतिशील देशों में से एक है।

टर्की की देखादेखी अफ़ग़ानिस्तान में भी इस क्रान्ति की आँच पहुँची। अमीर अमानुल्लाख़ाँ ने इस वर्ष सारे यूरोप में यात्रा करके नया अनुभव प्राप्त किया और वह भी शायद इसी नतीजे पर पहुँचे हैं। जहाँ तक दिखाई दे रहा है, अफ़ग़ानिस्तान टर्की का अनुकरण करना चाहता है। ईरान यद्यपि इस समय ऐसी हालत में नहीं है तब भी इस प्रकार के दो देशों के बीच रहकर उसमें परिवर्तन न होना असम्भव-सा जान पड़ता है।

तुर्किस्तान आदि प्रदेशों में, सोवियट रूस के अन्तर्गत होने के कारण, इस प्रकार की क्रान्ति पहले ही हो चुकी है। और अभी तक कुछ पुराण मतवादियों (Conservative) का विरोध रहते हुए भी वे आगे बढ़ रहे हैं। रहे भारतवर्ष और चीन। जावा, सुमात्रा, इंडोचायना इत्यादि एशियायी द्वीपों का हम यहाँ उल्लेख नहीं करते, क्योंकि उनके बारे में काफ़ी जानकारी नहीं प्राप्त होती। यहाँ हमने केवल एशिया के प्रमुख राष्ट्रों का उल्लेख किया है। प्रश्न यह उठता है कि क्या इन देशों का सब बातों में पश्चिम का अनुकरण अन्त में कल्याणकारक होगा और क्या भारत को इन्हींके अनुसार कार्य करना चाहिए।

उपर्युक्त कथन के अनुसार इस संग्राम का उद्गम बहुत पुराना है और कई शताब्दियों से यूरोप ही जीत रहा है। पहले यूरोपीय सभ्यता केवल मध्य और पश्चिमी यूरोप तक ही मर्यादित थी, लेकिन धीरे-धीरे उसने एशिया में पैर पसारना शुरू किया। उसके पूर्वीय आक्रमण से बालकन द्वीप भी नहीं बचा। वर्तमान यूरोप का यह भाग पहले एशियायी सभ्यता के अन्तर्गत था। उत्तर मे पीटर दि ग्रेट के समय से रूस ने यूरोपीय सभ्यता को अपनाना आरम्भ किया। उस प्रसिद्ध सम्राट् ने अपने दण्ड के भय से सब प्राचीन प्रथायें तोड़ कर सर्वत्र यूरोपीय आचार-विचार प्रचलित किये। पर्दा, दाढ़ी इत्यादि क़ानून से हटवाये गये। एक शताब्दि में ही रूस यूरोप मे सम्मिलित होगया। बोलशेविक राज्य के उद्भव के पश्चात् कुछ यूरोपीय राष्ट्रों ने यह शोर मचाने की कोशिश की कि रूस का हृदय कभी यूरोपीय नहीं हुआ और समय पाते ही उसके एशियापन ने ज़ोर पकड़ा। अब वह सोवियट राज्य है। अस्तु।

यही बात बालकन द्वीपों की हुई। बालकन द्वीपों के बाद रूसी सभ्यता का आक्रमण होना और टर्की का उस सभ्यता के द्वारा प्रभावित होना स्वाभाविक था।

उपर्युक्त वक्तव्य पढ़कर शायद कोई यह पूछ बैठे कि क्या अपने देश की उन्नति के मार्ग में कंटक-रूप प्रथाओं को हटाना आवश्यक नहीं है? इसका उत्तर साफ़ है कि ऐसी प्रथाओं को अवश्य हटाना चाहिए, परन्तु उनको हटाने में और सर्वथा यूरोप का अनुकरण करने में भेद है। इस बात का भी दो पहलुओं से विचार करना होगा। जो देश स्वतन्त्र हैं और जिन्हें यूरोप के राष्ट्रों से मुठभेड़ होने की आशंका है, तथा जो ग़ुलाम हैं और दासत्व से मुक्त होना चाहते हैं। वर्तमान समय राष्ट्रसंघर्ष का है। एक महायुद्ध होगया है और दूसरे की आशंका है। युद्ध में जो देश एक दूसरे के विरुद्ध लड़े उनके अतिरिक्त सारे संसार के बारे में यदि हम ज़रा सोचें तो दिखाई देगा कि एशिया अधिकांश यूरोप के चंगुल में फँसा हुआ है। यूरोप के देशों ने अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए अपनी सभ्यता का प्रचार करना ही सबसे उत्तम और अनुभव-सिद्ध मार्ग समझा। यूरोपीय सभ्यता का अविरत प्रचार, जिसे दांभिक यूरोपीय राष्ट्र 'जंगली देशों' को सभ्य बनाना कहते है, केवल एक ही उद्देश से हो रहा है और वह उद्देश है राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करना।

पादरी धर्म का प्रचार उतना नहीं करता, जितना ईसाई (अर्थात् पश्चिमी) सभ्यता और ईसाई श्रेष्ठता का। यह दिखलाने की कोशिश की जाती है कि तुम्हारे यहाँ कोई सभ्यता नहीं है, तुम जंगली हो और यूरोपीय आचार-विचारों के अनुकरण से कुछ-न-कुछ सुधार अवश्य हो जायगा। मिशनरी पादरी अपना अधिकांश समय इसी में व्यय करते है। क्या आवश्यकता थी कि किसी मनुष्य को ईसाई बनाते समय यूरोपीय पोशाक पहनाई जाय और यूरोपीय भाषा सिखाई जाय? हम भारतवर्ष में ही देखते हैं कि ईसाई होने पर मनुष्य केवल धर्म ही नहीं, परन्तु भाषा, सभ्यता और आचार-विचार भी बदल देता है। वास्तव में इन सब कृत्यों का उद्देश्य राष्ट्रीय आत्म-सम्मान को मिटाना है, धर्म का प्रचार नहीं। यहाँ ईसाई होने पर मनुष्य अपने देश-बन्धुओं से सब प्रकार से अलग हो जाता है, वह राष्ट्र की उन्नति की भी पर्वाह नहीं करता। उसके विचार में अब वह राष्ट्र का एक अंग नहीं है। यह हाल मिशनरियों का हुआ। इनके अलावा दूसरे पश्चिमीय भी सब प्रकार से इसी उद्देश्य की पूर्ति में जान बूझकर अथवा अनजाने लगे हुए हैं। इतिहासज्ञ यह दिखलाने का प्रयत्न करते हैं कि पूर्वीय देशों में सभ्यता नहीं थी, न है। प्राचीन काल में भी इनके यहाँ जो उन्नति हुई वह यूनान या और

दूसरे देशों के कारण हुई । यात्रा-वर्णन में, सिनेमा में, नाटक में, और पाठ्य-पुस्तकों में इस बात को सैकड़ों बार दोहराया जाता है । मिस मेयो की 'मदर इंडिया' भी एक प्रकार से इसी प्रयत्न का अंश है । अभी कुछ दिन हुए कि टर्की ने कुछ अमेरिकन मिशनरियों को स्कूलों में ईसाई-धर्म की शिक्षा देने के कारण दण्ड दिया । इस दंड का कारण वहाँ की सरकार ने स्पष्ट बतलाया कि हम यह नहीं सह सकते कि कोई विदेशी हमारे यहाँ इस प्रकार की शिक्षा दे, जिससे देश-द्रोह फैलने की आशंका हो । मिशनरियों के इस उद्योग का फल आज एशिया में कई राष्ट्र चख रहे हैं । सबसे प्रसिद्ध उदाहरण चीन और भारतवर्ष का है। वर्तमान युग राजनीति का युग है । इसमें सभी कार्य राजकीय उद्देश्य से किये जाते हैं । इसलिए यदि पूर्वकाल में इस प्रकार के सभ्यता के आक्रमण से राष्ट्र को विदेशियों से आशंका रहती थी तो आजकल उससे भी अधिक रहनी चाहिए । १९ वीं शताब्दि के अन्त में जब जापान पश्चिमीय आचार-विचारों पर मुग्ध हुआ था, जापानी युवकों की इच्छा हुई कि हम यूरोपीय महिलाओं से विवाह करें, ताकि उस सभ्यता के गुण हममें आ जायँ । इस सम्बन्ध में विख्यात मनोवैज्ञानिक और समाज-शास्त्रज्ञ हर्बर्ट स्पेन्सर से राय माँगी गई । उनका उत्तर ध्यान में रखने योग्य है । उन्होंने जवाब दिया कि आपका देश इस समय कमज़ोर है । यूरोपीय सभ्यता एशिया पर प्रभुत्व कर रही है। ऐसे समय यूरोपीय स्त्रियों से शादी करना राष्ट्रीय दृष्टि से बड़ी भूल होगी । यदि आप अपने राष्ट्र का अस्तित्व मज़बूत नींव पर क़ायम रखना चाहते हैं तो इस तरह का विवाह हानिकर होगा। यूरोपीय महिलायें अपनी सभ्यता को अवश्य साथ लावेंगी, जिसका राष्ट्रीय जीवन पर बुरा असर पड़ेगा । यही एक बात नहीं है । आचार-विचार, संस्कृति इत्यादि के परिवर्तन से मनुष्य के देश-प्रेम में भी फ़र्क़ पड़ता है । उसके अभाव में मनुष्य का आत्माभिमान, स्वत्वाभिमान और अपने अस्तित्व के विषय में अगम्य विश्वास नष्ट हो जाता है । इसके अनेक उदाहरण हम आज देख सकते हैं ।

भारतवर्ष में यूरोपीय या ईसाई सभ्यता से संघर्ष एक शताब्दि-पूर्व ही हुआ । राजनैतिक प्रभुत्व के कारण प्रभु की संस्कृति दास लोगों को श्रेष्ठ मालूम होती है । १९ वीं शताब्दि के आरम्भ में शिक्षित लोगों में अपनी संस्कृति के प्रति घृणा और यूरोपीय सभ्यता के लिए बड़ा प्रेम और आदर प्रचलित था । पाश्चात्य शिक्षा के नये जोश में लोगों ने सब अंधाधुंध तोड़ना-फोड़ना शुरू किया । हिन्दू-समाज की क्रान्ति के लिए अनेक आंदोलन प्रचलित किये गये । उस समय शिक्षित लोग हिंदुस्थानी कहलाने में भी शरमाते थे । ऐसा मालूम हो रहा था कि यदि वही रफ़्तार रही तो शीघ्र ही भारत के लोग इंग्लैंड का केवल अनुकरण करने में मग्न हो जायँगे । और यह ध्यान में रखना चाहिए कि नक़ल में मूल की अच्छाई शायद ही कभी आती हो, पर बुराई अवश्य ही आती है । लेकिन देश का सौभाग्य था कि ऋषि दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहनराय, महादेव गोविन्द रानडे, विष्णु शास्त्री इत्यादि कई ऐसे महापुरुष उत्पन्न हुए, जिन्होंने लोगों के मन में आत्मविश्वास और स्वाभिमान का भाव जागृत किया और शिक्षित जन-समुदाय को सिद्ध कर दिखलाया कि भारतीय संस्कृति भी उत्तम है, और हम पश्चिम से किसी हालत में हीन नहीं है । इसका राष्ट्रीय जीवन पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ा और वर्तमान राष्ट्र-जागृति के आन्दोलन का उद्गम यहीं से होता है।

आरम्भ में ब्रिटिश सरकार ने खुल्लम-खुल्ला मिशनरी लोगों को सहायता तथा उत्तेजना देना शुरू किया था । परन्तु सन् १८०५ के लगभग इसी कारण से वेलोर में सिपाहियों का एक विद्रोह हुआ । इस विद्रोह से ब्रिटिश सरकार ज़रा सावधान हुई और बहुत वाद-विवाद के बाद सार्वजनिक रूप से मिशनरियों की सहायता बन्द की गई । इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने गुप्त-रूप से या दूसरों के द्वारा मिशनरियों की सहायता की । यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि वर्तमान सरकार धर्म के बारे में पक्षपात-हीन नहीं है । भारत की आय का लाखों रुपया अंग्रेज़ चर्च के ख़र्च के लिए दिया जाता है और सरकार की ओर से बिशप और चैपलेन नियुक्त होते हैं ।

चीन की भी अवस्था ऐसी ही है, यद्यपि वहाँ के बहुत से ईसाइयों ने यूरोप में जाकर शिक्षा से लाभ उठाया और

अपनी स्वतन्त्रता के लिए पश्चिमी राष्ट्रों से युद्ध किया । एशिया के स्वतन्त्र राष्ट्रो की अवस्था यद्यपि भारत से कहीं अच्छी है तथापि उनको भी सभ्यता के इस उत्पात ही ने परेशान किया । उदाहरणार्थ, टर्की की कमज़ोरी का एक मुख्य कारण वहां की ईसाई आरमीनियन जनता थी, जो हमेशा यूरोपीय राष्ट्रों से मिलकर विद्रोह खड़ा करती थी और जिसकी सहायता के बहाने यूरोपीय राष्ट्र टर्की की राज्यव्यवस्था में मनमाना दख़ल दिया करते थे ।

इन सब बातों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि टर्की आदि राष्ट्रों की अवस्था भारत से तथा अन्य गुलाम राष्ट्रों से कहीं अच्छी है और उनको इस सभ्यता के संग्राम की ओर वहीं तक ध्यान देना पड़ता है, जहां तक उसका राजनीति पर असर पड़ता है, तथापि उनका हर बात में यूरोप का अनुकरण करना हितकर नहीं है । हो सकता है कि यह समाज में 'तीव्र' आन्दोलन उत्पन्न करने की दृष्टि से किया गया हो, परन्तु उसके लिए सर्वथा यूरोप के पीछे चलने की कोई आवश्यकता नहीं है । विशेषत: जब हम यह स्पष्टरूप से देख रहे हैं कि इस सभ्यता के प्रचार के बहाने दूसरे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात किया जाता है । ऐसी सभ्यता का जो तोड़कर विरोध ही होना चाहिए ।

यह पढ़कर पाठकों की शायद ऐसी धारणा हो जाय कि हम पुरानी दक़ियानूसी बातों को क़ायम रखना चाहते हैं । कदापि नहीं । हम चाहते हैं कि हमारे राष्ट्र मे, नवीन समाज मे, क्रान्ति हो, शक्ति प्रदीप्त हो, नवजीवन आ जाय । हम जानते हैं कि यूरोप में अनेकों उत्तम गुण तथा शास्त्र हैं, और उनको अवश्य अपनाना चाहिए । यहां हमारा अभिप्राय केवल यह है कि यूरोप के गुण और ज्ञान हमे उनकी अंधी नक़ल करने से नहीं प्राप्त होंगे । ज़रूरत पड़ने पर हमें उनकी हर बात लेना चाहिए, पर उसे अपने शरीर में जज़्ब कर लेना होगा, हज़म करना होगा । यह उनके आचार, भेषादि की 'कापी' करने से नहीं आ सकता ।

जब तक अन्तर्राष्ट्रीयत्व एक व्यवहार्य व्यवस्था या क़ानून नहीं बन जाता, और राष्ट्रों को दूसरो के आक्रमण से भिड़कर अपना अस्तित्व क़ायम रखना आवश्यक होता है, तब तक यही नीति श्रेयस्कर और कल्याणकारी होगी ।

बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर

समष्टिवाद

हिंदी भाषा मे नये-नये विषयों पर साहित्य निकल रहा है, इसलिए बड़ी शीघ्रता म स्वभावत: बहुत से नये-नये शब्द भी भाषा में जोड़े जा रहे हैं । बहुत से नवीन शब्दो का भाषा मे आना तो अच्छा है । इससे भाषा अमीर बनेगी, परन्तु प्रत्येक मनुष्य को यदि बिना रोक-टोक भाषा मे शब्द मिला देने का अधिकार रहा, अथवा लोग यदि इसी स्वच्छन्दता और अविचार से नये-नये शब्द हिन्दी मे मिलाते रहे, जैसे कि आज मिला रहे हैं, तो एक दिन अवश्य ही हिन्दी के कोष मे ऐसे बहुत से अनुचित और अर्थहीन शब्द भर जायँगे, जिनको फिर भाषा में से निकाल देना असम्भव ही होगा । जो शब्द एकबार भाषा में प्रयुक्त होने लगता है, उसको फिर निकाल देना असम्भव हो जाता है । लेखकों को चाहिए कि वे खूब सोच-विचारकर और हो सके तो विद्वान् मित्रों से सलाह लेकर ही नये शब्दों का प्रयोग करें । कम-से-कम पारिभाषिक शब्दो की रचना तो विशेषज्ञो के हाथ मे छोड़ देनी चाहिए । अस्तु ।

हमें यहाँ तो केवल इतना ही कहना है कि जिस सामाजिक व्यवस्था या सगठन को अंग्रेज़ी मे सोशलिज़्म कहते हैं, उसे हिन्दी और कई भारतीय भाषाओं में साम्यवाद के नाम से पुकारा जाने लगा है । पूँजीपतियों का असंख्य धन और साम्राज्यवादी राष्ट्रों का सारा बल वैसे ही बेचारे सोशलिज़्म को सारे संसार में बदनाम करने का प्रयत्न कर रहा है । हमने भी सोशलिज़्म को साम्यवाद का नाम देकर बिना समझे-बूझे उसे बदनाम करने में एक प्रकार से हाथ बँटाया है । "जिन वस्तुओं की समाज को आवश्यकता होती है उनके

बनाने, पैदा करने और बाँटने के ज़रिये पर समाज का ही अधिकार हो और समाज ही इन सारी क्रियाओं का संचालन और प्रबन्ध करे।" यह सोशलिज्म की आम तौर पर स्वीकृत की हुई परिभाषा है। "सामाजिक आवश्यकताओं के पैदा करने और बाँटने के ज़रियों पर सामाजिक अधिकार और प्रबन्ध" रखनेवाली सामाजिक व्यवस्था को समष्टिवाद, समूहवाद, समाजवाद कुछ भी कहिए परन्तु साम्यवाद तो कहना अनुचित ही है। परन्तु जो हमें सर्वोचित जँचता है वह 'समष्टिवाद' है। यह शब्द हिन्दी मे कम्यूनिज्म के लिए भी प्रयोग में लाया जाने लगा है। यह एक दूसरी भूल हो रही है।

सोशलिज्म और कम्यूनिज्म में अन्तर

'जिन वस्तुओं की समाज को आवश्यकता होती है उनके पैदा करने, बनाने और बाँटने के ज़रियों पर समाज का अधिकार होना और उनके बनाने, पैदा करने और बाँटने का समाज द्वारा ही संचालन और प्रबन्ध होना सोशलिज्म या समष्टिवाद कहलाता है। यह हम को केवल एक ऐसा सिद्धान्त बतलाता है, जिसके अनुसार समाज का संगठन करने से रोटी-दाल के मामले में समाज सुखी रह सकता है। कौन से ऐसे उपाय हैं जिनके द्वारा समाज समष्टिवाद के सिद्धान्तों पर संगठित होजाय इस बात से और इसके सिद्धान्तों से कुछ सम्बन्ध नहीं। कम्यूनिज्म सिद्धान्त के साथ उपाय का भी समावेश कर देता है। कम्यूनिज्म के अनुसार समष्टिवाद के सिद्धान्तो पर समाज का संगठन करने का केवल एक ही उपाय है और वह है उथल-पुथल मचा देने वाली एक ऐसी सामाजिक क्रान्ति, जिसमें पुरानी घुनी हुई सामाजिक व्यवस्थता चरचरा कर गिर पड़े और मेहनत मजदूरी करने वाले लोगों के हाथ में समाज के संगठन की पूर्ण सत्ता आ जाय, जिससे कि वह समष्टिवाद के सिद्धान्तों पर समाज का पुनर्निर्माण कर सकें। अस्तु। समष्टिवाद के सिद्धान्तों के साथ क्रान्तिकारी उपायों में भी विश्वास रखने वाले लोगों को हम कम्यूनिस्ट कह सकते हैं और समष्टिवाद के सिद्धान्तों मे विश्वास रखने वाले परन्तु क्रान्तिकारी उपायों में विश्वास न रखने वाले वैध आन्दोलन अथवा श्रमीसंघ आदि आन्दोलनों का सहारा लेने वाले लोगों को हम समष्टिवादी कह सकते हैं। हिन्दी मे कम्यूनिज्म को 'वर्ग-वाद', 'श्रेणी-वाद,' 'कक्षावाद' इत्यादि में से कोई नाम ऐसा उपयुक्त होगा और सोशलिज्म को 'समष्टिवाद'। पर क्रान्तिमय श्रेणीवाद अस्थायी वस्तु है क्योंकि क्रान्ति स्वयं प्रसव-वेदना की तरह नवयुग को जन्म देकर नष्ट हो जाने वाली अस्थायी सामाजिक स्थिति है। समष्टिवाद का मूल-आर्थिक-सिद्धान्त स्थायी वस्तु है।

समष्टिवाद का मूल सिद्धान्त

समाज के लिए आवश्यक वस्तुओं—अर्थशास्त्रीय भाषा मे कहें तो—समाज के लिए आवश्यक सम्पत्ति का उत्पन्न करने और बाँटने के ज़रियों पर सामाजिक अधिकार और उनका प्रजासत्तात्मक संचालन और प्रबन्ध समष्टिवाद का मूल सिद्धान्त है। इस परिभाषा में सम्पत्ति का जिक्र आता है इसलिए हमें यह भी समझ लेने की ज़रूरत है कि,

सम्पत्ति है क्या ?

प्रायः लोग समझते हैं कि सम्पत्ति रुपया है। परन्तु वास्तव में रुपया सम्पत्ति नहीं है। भोजन की सामग्री, मकान, कपड़ा, गाड़ी, जहाज, किताबें, खेत इत्यादि सम्पत्ति हैं। सारी सम्पत्ति के नाम गिनाना असम्भव है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि 'जिस चीज़ की लोगों को आवश्यकता होती है और जिसका वह प्रयोग करते हैं वह सम्पत्ति है।' हम जो कुछ खाते और पहिनते हैं वह सब सम्पत्ति है। जिस क़लम से यह लेख लिखा जा रहा है वह और जिस कागज पर लिखा जा रहा है वह कागज भी सम्पत्ति है। दूसरा प्रश्न यह उठा है कि,

सम्पत्ति आती कहां से है ?

सभी जानते हैं कि सम्पत्ति अपने आप नहीं बन जाती। हमारे भोजन की सामग्री, पहनने के कपड़े, रहने के घर, सभी को बनाने की, पैदा करने की, अथवा उत्पन्न करने की आवश्यकता होती है। घर और कपड़ा सम्पत्ति है। घर बनाना और कपड़ा बुनना उस सम्पत्ति को पैदा करने के ज़रिये हैं। सम्पत्ति पैदा करना सरल काम नहीं है, पूरा

गोरखधन्धा है। मान लीजिए आपको खाने के लिए रोटी की ज़रूरत है। आप कहेंगे कि रोटी बनाली और खा ली। बस सीधी सरल बात! इसमें कौनसा गोरखधन्धा है? परन्तु वास्तव में बात इतनी सरल नहीं है, जितनी देखने से लगती है। रोटी बनाने के लिए आटा चाहिए। आटा पीसने के लिए गेहूं चाहिए, चक्की चाहिए, पीसनेवाला चाहिए। गेहूं पैदा करने के लिए किसान, खेत, हल, वर्षा, बीज इत्यादि चाहिए। बनाने के लिए पत्थरतराश, बढ़ई और लुहार चाहिए। हल और चक्की बनाने वाले बढ़ई और लुहार के औज़ार बनाने वाले कारीगर चाहिएँ। फिर भी खाना पकाने के बरतन और उन बरतनों के बनाने की क्रियाओं का गोरखधन्धा रह ही जाता है। इस प्रकार एक छोटी-सी सम्पत्ति—रोटी—पैदा करने में हमने देखा कि कितने लोगों के परिश्रम के संयोग और सहकार की आवश्यकता होती है। सच तो यों है कि छोटी-से-छोटी सम्पत्ति के पैदा करने में लगभग सारे समाज की ही सहायता लेनी पड़ती है। किसी एक विशेष सम्पत्ति के पैदा करने में सारे समाज की सहायता न भी लेना पड़े तो भी यह सिद्धान्त तो अटल ही रहता है कि समाज के सदस्यों के पास जो कुछ सम्पत्ति होती है, वह समाज के संयुक्त परिश्रम के फलस्वरूप होती है। सम्पत्ति समाज के संयुक्त परिश्रम का परिणाम है। उन सब लोगों के परिश्रम का परिणाम, जो समाज में रहकर किसी-न-किसी प्रकार का परिश्रम करते हैं। हां, किसान के लिए यह समझ लेना कुछ कठिन अवश्य है कि वह 'त्यागभूमि' के संपादन में या लेखक को लेख लिखने में सहायता देता है। परन्तु यदि किसान ने अनाज पैदा न किया होता तो बेचारे 'त्यागभूमि' के सम्पादक और इस लेख के लेखक महाशय हल-बैल लिये हुए किसी ग्राम में खेत जोत रहे होते। क्योंकि पेट में जब चूहे कोल्हते हों तो दिमाग काम नहीं कर सकता। यदि किसान ने कपास न पैदा की होती तो जुलाहा कपड़े कहांसे बुनता और यदि जुलाहे ने कपड़े न बुने होते तो किसान को नंगा ही रहना पड़ता। यह बात बिलकुल ही स्पष्ट है कि कोई एक व्यक्ति अपने लिए आवश्यक सारी वस्तुयें—सम्पत्ति—केवल अपने ही परिश्रम से उत्पन्न नहीं कर सकता। छोटी-से-छोटी वस्तुओं के लिए भी प्रत्येक व्यक्ति को समाज के अन्य बहुत से सदस्यों अथवा यों कहिए कि सारे समाज के ही परिश्रम और सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। 'त्यागभूमि' के सम्पादक को उनके कार्य में किसान सहायता करता है। किसान को 'त्यागभूमि' के सम्पादक सजग रखते हैं। जुलाहे के काम में किसान उसे मदद करता है और जुलाहा किसान के काम में उसे मदद करता है। इसलिए समष्टिवादियों का कहना है कि सारी सम्पत्ति समाज उत्पन्न करता है।

सम्पत्ति तो समाज उत्पन्न करता है, परन्तु उसके उत्पन्न करने के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार है। सौ दोसौ वर्ष पूर्व, जब कि कलें और कारख़ाने नहीं थे, मेहनत-मज़दूरी करने वाले कारीगर अपने पेशे के लिए जरूरी औज़ार अपने पास रखते थे। कल-कारख़ानों के चल जाने पर कारीगरों के सम्पत्ति उत्पन्न करने के साधन, उनके छोटे औज़ार व्यर्थ हो गये। बड़ी-बड़ी मशीनें ख़रीद कर कारख़ाने चलाना मामूली आदमियों की सामर्थ्य के बाहर है, इसलिए मशीनों के आते ही सम्पत्ति उत्पन्न करने के साधनों पर उन पूँजीपतियों का अधिकार होगया, जो केवल सम्पत्ति उत्पन्न करने के साधनों पर अपना अधिकार जमा लेने के कारणही कारख़ानों में मज़दूरों की मेहनत से उत्पन्न की हुई सम्पत्ति का बड़ा भाग स्वयं लेने लगे। सम्पत्ति समाज के संयुक्त परिश्रम से उत्पन्न होती है, परन्तु इस उत्पन्न करने की क्रिया से फ़ायदा थोड़े से लोग उठाते हैं। पूँजीपति व्यापार उसी समय तक करते हैं, जब तक कि मुनाफ़ा मिलता रहता है।

मुनाफ़ा क्या चीज़ है?

पूँजीपतियों का मुनाफ़ा कहां से आता है? मज़दूरों ने खानों में से लोहा निकाला, मज़दूरों ने उस लोहे से मशीनें तैयार कीं, मज़दूरों ने ही खानों में से खोद-खोदकर कोयला निकाला, जिसके बल पर मशीनें चलती हैं। मज़दूर ही मशीन चलाते हैं और मज़दूर ही वह कच्चा माल पैदा करते हैं, जिनसे मशीनों द्वारा भिन्न-भिन्न पदार्थ बनाये जाते हैं। परन्तु इस प्रकार मज़दूरों की उत्पन्न की हुई सम्पत्ति तो वे लोग लेते हैं, जिनका केवल मशीनों पर अधिकार है। मान लीजिए कि एक कारख़ाने में १,००,०००) रु० का माल

तैयार हुआ। एक लाख में से ३०,०००) रु० मशीनों और किराये इत्यादि में खर्च हुआ, ३५,०००) रु० मजदूरों को मजदूरी में दे दिया। शेष ३५,०००) रु० का माल कारखाने वालों ने ले लिया।

क्यों? तो कहा जायगा कि मशीन का मालिक कारखानेवाला है, इसलिए उसे यह ३५,०००) रु० अपने घर में रख लेने का अधिकार है। इसपर हमारा यह कहना है कि क्या किसी चीज का केवल मालिक होने से उस चीज़ का मूल्य बढ़ जाता है? मशीन को बनाने वाले और चलाने वाले तो मजदूर है। उन्होंने कच्चे लोहे को मशीन का स्वरूप देकर लोहे का मूल्य बढ़ाया है। उन्होंने ही मशीन चलाकर मशीन में जान डाली है। मशीन के मालिक का मशीन पर केवल अधिकार होने से, मशीन अथवा मशीन की सहायता से उत्पन्न होने वाले पदार्थों का कौनसा मूल्य बढ़ गया है? यदि मशीन का मालिक न होता तो क्या मशीन, मजदूर, कच्चा माल और कारखाने का मैनेजर सब मिलकर कारखाना नहीं चला सकते थे? क्या ऐसी दशा में कारखाने से कुछ कम माल पैदा होता? बाज़ बाज़ कारखानों के मालिक नाबालिग होते हैं या साधारण श्रेणी के होते हैं—कामकाज की उन्हें वाकिफ़यत नहीं होती, न वे ज्यादा कामकाज देखते ही हैं। घड़ी भर के लिए मान लीजिए कि इनका सम्बन्ध कारखाने से न हो तो इससे क्या कारखानों से पैदा होनेवाले माल में कुछ खराबी आ जायगी? जो मालिक अपने कारखाना का स्वयं प्रबन्ध करते हैं उनको प्रबन्ध करने के लिए मैनेजर का वेतन मिल सकता है। परन्तु वेतन और चीज़ है, मुनाफा और।

मुनाफा लेने वाले वे लोग होते हैं जो केवल मशीनों पर अपना अधिकार होने के कारण से मुनाफा पाते हैं। यदि कारखाने केवल मशीन, कच्चे माल और मजदूरों—कारखाने का मैनेजर भी श्रमजीवी मजदूरों में ही आ जाता है—के सहकार से चलाये जायँ तो ऊपर के दृष्टांत में जो पैंतीस हजार रुपया कारखाने के मालिक को ही मिलता है वह मजदूरों में बँट जाया करे। हम समझते हैं कि पाठकों को अब यह समझने में कुछ भी कठिनता नहीं रही होगी कि जिसे हम मुनाफा समझते आ रहे हैं, वह श्रमजीवियों की मजदूरी में से बचाया हुआ धन है। इसी मुनाफे की बदौलत करीब १५० बड़े-बड़े धनिकों के हाथ में इंग्लैण्ड की सारी सत्ता है। जैसा यह लोग चाहते हैं वैसा ही पार्लमेंट से करा लेते हैं। अपने स्वार्थ के लिए कभी अपने देश को दूसरे देश से लड़ा देते हैं, जिनमें बेचारे गरीबों की जानें जाती हैं, कभी छोटे-छोटे देशों पर अपना व्यापार बढ़ाने के लिए चढ़ाइयाँ करते हैं। अमेरिका की सरकारी रिपोर्टों से पता चलता है कि अमेरिका के राष्ट्र की ६० फी सदी सम्पत्ति दो फी सदी आदमियों के हाथ में है, ३५ फी सदी ८ फी सदी के हाथ में है, शेष ५ फी सदी सम्पत्ति बचे हुए ९० फी सदी मनुष्यों के हाथ में है। ऐसी अवस्था में राष्ट्र की सारी शक्ति दो फी सदी या अधिक से अधिक—यदि ३५ फी सदी संपत्ति रखने वाले ८ फी सदी मनुष्य भी मिला दिये—जायँ तो दस फी सदी मनुष्यों के हाथ में आ जाती है। प्रजा-सत्तात्मक राज्य तो केवल नाम के लिए रह जाता है। जिधर ये राष्ट्र की लगाम अपने हाथ में रखने वाले थोड़े से पूँजीपति राष्ट्र की लगाम मोड़ देते है, देश को उधर ही जाना पड़ता है। संपत्ति पैदा करने वाले श्रमजीवियों को रोटियों के लाले पड़े रहते है। वे एक सप्ताह यदि बीमार पड़ जायँ, तो फिर भूखों मरने के सिवा और कोई चारा नहीं रहता। सम्पत्ति पैदा करने के साधन अथवा जरियों पर केवल अधिकार रखने वाले धन का मनमाना दुरुपयोग करते है।

हम यहा पर जमींदारों और किसानों का प्रश्न नहीं उठाते। क्योंकि वह हमारे देश की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है, इसलिए उसकी चर्चा के लिए एक अलग ही लेख चाहिए। परन्तु जो दशा मजदूरों की है उससे कहीं गिरी-गुजरी अभागे किसानों की है। समष्टिवाद का सिद्धान्त जमींदारों और किसानों के लिए भी वैसा ही लागू होता है, जैसा मालिकों और मजदूरों के लिए। कारखानों में सम्पत्ति पैदा करने के साधन मशीनें होती हैं, तो अनाज पैदा करने के साधन जमीन-खेत होते हैं। जिस प्रकार कारखानों के मालिक बिना पैर हिलाये केवल मशीनों पर अधिकार होने के कारण मजदूरी की बचत को ले लेते है उसी प्रकार जमीदार लोग जमीन पर केवल अधिकार-भर प्राप्त कर लेने

से किसानों की मेहनत से उत्पन्न की हुई सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग अपने पास रख लेते हैं।

इसी अन्याययुक्त परिस्थिति से उत्पन्न, श्रमजीवियों की दरिद्रता को मिटाने के लिए ही समष्टिवाद का जन्म हुआ है। समष्टिवाद के सिद्धान्त के अनुसार समाज के लिए आवश्यक सम्पत्ति उत्पन्न करने के साधनों—ज़रियों—और उस सम्पत्ति को प्रजा में बांटने के साधनों पर समाज का अधिकार और प्रजा-सत्तात्मक सचालन और प्रबन्ध होने से श्रमजीवियों के श्रम का फल उन्हें ही मिलेगा। समष्टिवाद के पास इस परिस्थिति को लाने के दो मार्ग है। एक तो यह कि कानून पास करके जमींदारों की ज़मीन और कारखाने वालों के कारखाने ज़ब्त कर लिये जायँ और उनपर राष्ट्र का अधिकार हो जाय। दूसरा यह की बाप के मरने पर बेटे को जागीर मिलते समय पूंजीपतियों की जागीरों पर १०० फी सदी कर लगाया जाय, जिससे लगभग तीस-चालीस वर्ष में उनके हाथ से सम्पत्ति निकल कर समाज के हाथ मे आ जायगी। प्रत्येक देश में राष्ट्र के लिए आवश्यक वस्तुओ को किसी भी व्यक्ति से ले लेने का अधिकार सरकार को रहता ही है। रेल और नल निकालने के लिए ज़रूरत पड़ने पर हमारे देश मे ही सरकार मालिकों की बिना मर्ज़ी के ज़मीन ज़ब्त कर लेती है इसपर यह कहा जा सकता है कि पूंजीपतियों ने इन साधनों को खरीदकर प्राप्त किया है। तो इसपर समष्टिवादी कहते हैं कि भाई, जिस धन पर वास्तव में आपका अधिकार नहीं था, उसीके बल पर न आपने ये चीजें खरीदी हैं? ऐसी दशा में उन्हें ज़ब्त कर लेने का अधिकार समाज-सरकार को है।

समष्टिवादियों का गरम-दल—वर्गवादी अथवा श्रेणीवादी कुछ भी कहिए—कहता है कि भाई, क़ानून से काम नहीं चलेगा, श्रमजीवियो को क्रान्ति करके सम्पत्ति उत्पन्न करने के साधनों पर अधिकार जमा लेना चाहिए। अमीरो ने बहुत दिन राज्य किया है। और जब हम ऐसी परिस्थिति लाने का प्रयत्न करेंगे, जिसमें बिना परिश्रम किये कोई न खा सके, तो वे अपने सारे धन-बल का प्रयोग हमारे विरुद्ध करेंगे ही, इसलिए हमें अपने आदर्श के अनुसार समाज की पुनर्घटना करने के लिए इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं कि क्रान्ति करके बल-पूर्वक कुछ समय के लिए श्रमजीवियों का राज्य स्थापित कर लें—ऐसा राज्य कि जिसमे श्रमजीवियो के अतिरिक्त और किसी की भी बात न सुनी जाय।

एक बात विशेष कर ध्यान देने योग्य है कि समष्टिवादी यह हर्गिज नही कहते कि किसी को कुछ धन व सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं है। एक आदमी अपना मकान बनाकर रह सकता है, थोड़ी बहुत धन-सम्पत्ति बैंक इत्यादि मे रख सकता है। कहना केवल इतना ही है कि कोई पुरुष ऐसी सम्पत्ति को, जिसके द्वारा वह समाज के अन्य व्यक्तियो पर अपना अधिकार कर सके, नहीं रख सकता। उनका कहना है कि बड़े-से-बड़े आदमी को भी किसी आदमी को गुलाम बनाने का अधिकार नहीं है। बड़े-से-बड़ा महात्मा भी ससार की इतनी सेवा नहीं कर सकता कि उसे दूसरे मनुष्यों के जीवन पर अधिकार दे दिया जाय। व्यक्तिगत आवश्यक सम्पत्ति व्यक्तियों के पास रहे, परन्तु समाज के लिए आवश्यक सम्पत्ति पर समाज का ही अधिकार होना चाहिए।

चन्द्रभाल जौहरी

प्रेम-लता

रहती तुम्हारी मूर्ति मन मे समाई सदा,
रहती तुम्हारी छवि लोचनों में छाई है।
मैं हूँ धन्य मुझको बड़ाई इतनी जो मिली,
खलती न नेक भी तुम्हारी निठुराई है।
सींच कर अपने विलोचन के वारि से ही,
मैंने यह प्रेम-लता सुख से बढ़ाई है।
तोड़ सकता है कौन इस लतिका को कभी,
यह तो तुम्हारे नाथ ! हाथ की लगाई है॥

गोपालशरणसिंह

अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद्

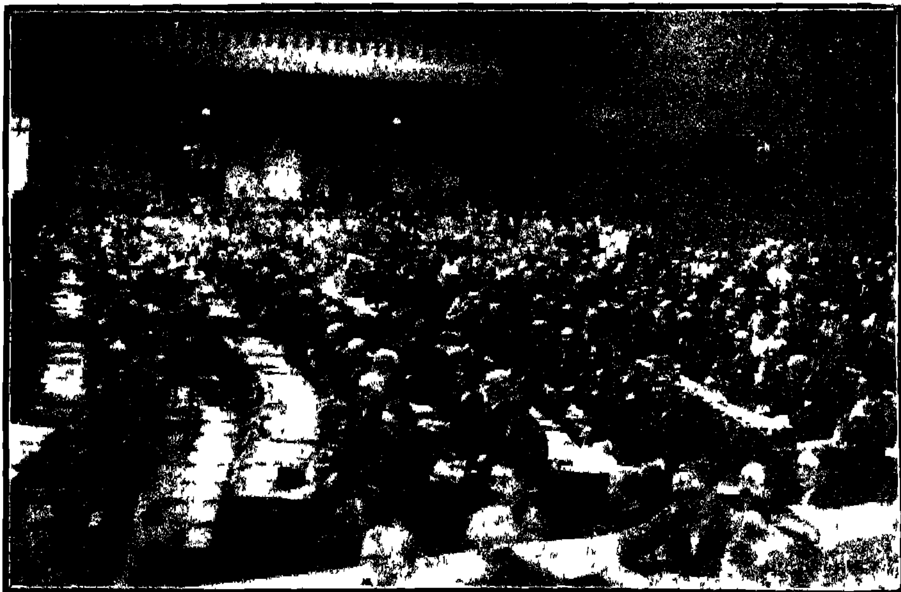
['त्यागभूमि' के लिए]

अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद् बड़ी शीघ्रता के साथ श्रमजीवियों और पूंजीपतियों के पारस्परिक सम्बन्ध को ठीक रखने एवं तत्सम्बन्धी विभिन्न देशों की हलचलों का स्वैक्य करने वाला मुख्य संघटन बन रहा है। यूरोप के देश अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद् के कार्य को गम्भीर दृष्टि से देख रहे हैं। भारत की आर्थिक परिस्थिति पर भी इसके निर्णयों का बड़ा असर पड़ता है। फिर भी दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे देशवासियों ने इस परिषद् के विधान और कार्य को अभी तक भली भांति नहीं समझ पाया है।

यह भली भांति प्रकट है कि अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद् राष्ट्र-संघ का एक अभिन्न अंग है। यूरोपीय महासमर के बाद संसार में शान्ति-स्थापना के लिए वर्सेलीज में जो संधि हुई थी, उसके १३ वें भाग में इसका विधान मिलता है। उसकी भूमिका में यह लिखा है कि चूँकि राष्ट्रसंघ का उद्देश्य विश्वव्यापी शान्ति की स्थापना है, वह इस बात को स्वीकार करता है कि ऐसी शान्ति केवल तभी स्थापित हो सकती है, जब कि सामाजिक न्याय पर उसका आधार हो।

भूमिका में आगे लिखा है —

"और चूँकि श्रमजीवियों की ऐसी स्थिति है कि बहुत से लोगों को अन्याय, सख्ती और तंगी की बड़ी असन्तोष-प्रद परिस्थिति में रहना पड़ता है कि जिससे संसार की शान्ति और सुख खतरे में है, इसलिए इन बातों में अत्यन्त शीघ्र सुधार होना आवश्यक है—जैसे, उदाहरण के लिए, कार्य के दिन एवं सप्ताह की अधिक-से-अधिक मर्यादा की स्थापना, मजूरों के आने-जाने के बारे में नियम बनाना, बेकारी की रुकावट करना, निर्वाह-योग्य पर्याप्त रोजी की व्यवस्था होना, मजूर को अपना काम करते हुए पहुँचने वाली चोट और उससे होने वाले रोग या बीमारी से उसकी रक्षा करना, बच्चों, युवाओं और स्त्रियों की रक्षा करना,



अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद्—प्रारम्भ दिवस, देशों के प्रतिनिधि अ, आदि क्रम से बैठे हैं



अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद (१९२८),—जनेवा में, भारत के प्रतिनिधि

बुढ़ापे के और दुर्घटना के समय के लिए सहायता का इन्तज़ाम करना, अपने देश से बाहर के देशों में मजूरी के लिए जाने वाले मजूरों के हितों की रक्षा करना, संघ-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का माना जाना, शास्त्रीय तथा उद्योग-धंधों सम्बन्धी शिक्षा एवं दूसरे साधनों का संगठन करना आदि के सम्बन्ध में नियम बन जाना जरूरी है ।

साथ ही चूँकि किसी भी राष्ट्र का मज़दूरों के साथ ऐसा मानवोचित व्यवहार करने में असफल होना उन दूसरे राष्ट्रों के मार्ग में बाधक है, जो अपने-अपने देशों में इन दशाओं को सुधारना चाहते हैं ।

इसलिए सन्धि करने वाले महान् राष्ट्र, न्याय और मानवता के भावों और साथ ही विश्वव्यापी चिरस्थायी शान्ति की इच्छा से प्रेरित होकर, नीचे लिखी बातों को स्वीकार करते हैं ।"

इसके फल-स्वरूप भूमिका में बताये हुए उद्देश्यों की सिद्धि के लिए, एक स्थायी संगठन बना । वही संघटन अन्तर्राष्ट्रीय मजूर परिषद के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके साथ प्रबन्ध-सभा (Governing body) द्वारा नियन्त्रित एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमी-कार्यालय सम्बद्ध है । राष्ट्र-संघ के जो मूल-सदस्य हैं, वही इस संस्था के भी मूल-सदस्य हैं । भारतवर्ष राष्ट्र-संघ का एक मूल-सदस्य है, और फलतः इस संस्था का भी ।

अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद को उसका प्रत्येक सदस्य, अर्थात् प्रत्येक देश, अपने चार प्रतिनिधि भेज सकता है । इनमें से दो तो सरकारी प्रतिनिधि होते हैं, और अन्य दो क्रमशः प्रत्येक देश के मालिकों तथा मजूरों के । प्रत्येक प्रतिनिधि के साथ उसके सलाहकार भी होते हैं, जिनकी संख्या अधिवेशन के कार्यक्रम (Agenda) की प्रत्येक मद के लिए दो से ज्यादा नहीं हो सकती । जब कि किसी ऐसे प्रश्न पर परिषद में विचार होने वाला हो, जिसका असर ख़ास तौर पर स्त्रियों पर पड़ता हो, तो प्रतिनिधि के कम-से-कम एक सलाहकार का स्त्री होना आवश्यक है ।

गैर-सरकारी प्रतिनिधियों और उनके सलाहकारों को नामजद करने का भार प्रत्येक देश की सरकार ने लिया है और औद्योगिक संघटनों की सहमति से—जो कि अपने-अपने देश में मालिकों एवं मजूरों की अत्यन्त प्रतिनिधिक संस्थायें है—यह चुनाव होता है, बशर्ते कि ऐसे संघटन मौजूद हों। यहाँ यह बता देना चाहिए कि 'औद्योगिक' शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत रक्खा गया है। उदाहरणार्थ, हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह स्पष्ट स्वीकार कर लिया है कि कृषि-सम्बन्धी विषय भी इसमें आ जाते हैं। अलावा इसके अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद ने कई बार एसे नियम (Conventions), सिफारिश और प्रस्ताव स्वीकृत किये हैं कि जिनका असर व्यापारिक श्रमजीवियों पर भी पड़ता है। अतएव यह निस्सन्देह है कि 'औद्योगिक' शब्द में कारीगरी, खान के, कृषि-सम्बन्धी और व्यापारिक जैसे सब धन्धे शामिल हैं। सलाहकारों की प्रतिष्ठा और अधिकार भी बड़े अच्छे होते हैं। वे समिति के सदस्य हो सकते हैं और, उस प्रतिनिधि की अनुमति से, समस्त परिषद् के वाद-विवाद में भी वे भाग ले सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद् का अधिवेशन साधारणत वर्ष में एक बार, जेनेवा में, होता है। परन्तु १९२६ में उसके दो अधिवेशन हुए, एक तो समान्य विषयों के विचारार्थ और दूसरा विशेषत: सामुद्रिक विषयों के विचारार्थ।

वर्सेलीज-संधि की ४०५ वीं धारा कहती है कि परिषद् के कार्यक्रम की किसी मद के बारे में प्रस्ताव ले लिए जाने का निश्चय हो जाने के बाद इस बात का निश्चय करना परिषद के आधीन है कि वे प्रस्ताव

(अ) राष्ट्रीय क़ानून द्वारा अथवा किसी दूसरे प्रकार से अमल में लाये जाने की दृष्टि से सिफारिश के तौर पर सदस्यों के सामने विचारार्थ प्रस्तुत किये जायँ, या



परिषद् में भाषणों के अनुवाद उसी समय होते रहते हैं और टेलीफ़ोन से सुना दिये जाते हैं



कम-से-कम मजूरी निश्चय करने वाली कमिटी

(ब) सदस्यों की स्वीकृति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियमों या प्रतिज्ञाओं (Convention) के मस्विदे के रूप में पेश किये जायँ ।

इन दो में से किसी भी दशा में सिफारिश या प्रतिज्ञा के मस्विदे के रूप में परिषद्-द्वारा अन्तिम बार स्वीकृत होने के लिए उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई मतों का जोर होना आवश्यक है । आगे उसमें यह भी कहा गया है कि आम तौर पर लागू होनेवाली किसी सिफ़ारिश या प्रतिज्ञा के मस्विदे के बनाने में परिषद् उन देशों का भी पूरा ख्याल रक्खेगी, जिनमें आबहवा, औद्योगिक सङ्गठन की अपूर्ण प्रगति, अथवा अन्य विशेष परिस्थितियों के कारण औद्योगिक स्थितियां वस्तुतः भिन्न हों, और हो सके तो ऐसे उपाय या परिवर्तन सुझावेगी कि जो उसकी समझ में ऐसे देशों के लिए आवश्यक हों ।

इसका यह मतलब नहीं कि प्रत्येक देश इस परिषद् द्वारा स्वीकृत सिफ़ारिशों और नियमों के अनुसार काम करे ही । प्रत्येक देश की सरकार ने जो बात स्वीकार की है वह केवल यही कि ज्यादा से ज्यादा परिषद् के अधिवेशन की समाप्ति से एक वर्ष के दर्मियान वह इस सिफ़ारिश या प्रतिज्ञा के मसविदे को उस सत्ता या उन अधिकारियों के सामने पेश करेगी, जो कानून बनाने अथवा दूसरा उपाय अमल में लाने के उपयुक्त पात्र हैं । यदि असाधारण स्थितियों के कारण एक वर्ष के अन्दर ऐसा करना उसके लिए असम्भव हो तो सबसे जल्दी व्यावहारिक मौके पर, और परिषद के अधिवेशन की समाप्ति से १८ मास से ज्यादा का समय तो वह किसी भी हालत में न लगावेगी । यह साफ़ तौर पर कहा गया है कि यदि किसी सिफ़ारिश को कार्य-रूप में परिणत कराने के लिए कोई क़ानूनी या दूसरा उपाय न अख्त्यार किया जाय, अथवा प्रतिज्ञा के मस्विदे को उस सत्ता या उन अधिकारियों की स्वीकृति न मिले कि जिनके अधिकार में यह बात है, तो फिर उस सदस्य (देश) पर इसका कोई भार नहीं रहेगा ।

सिफ़ारिशों और प्रतिज्ञाओं के अलावा प्रतिनिधि या सलाहकार अपने प्रस्ताव भी परिषद् में पेश कर सकते हैं, पर परिषद् के आरम्भ होने की तारीख से कम-से-कम एक सप्ताह-पूर्व उनकी सूचना दे देना आवश्यक है।

परिषद में भिन्न-भिन्न देशों के प्रतिनिधि आते हैं और अंग्रेज़ी व फ्रेंच भाषा में उसका काम होता है। प्रतिनिधि लोग अन्य किसी भाषा में भी बोल सकते हैं, उनकी बातों का उपयुक्त उलथा इन भाषाओं में होने की व्यवस्था है। जर्मनी और स्पेन अपनी भाषाओं को परिषद् की भाषा मनवाने में क़रीब क़रीब सफल हो चुके हैं। प्रत्येक वक्तृता का कम-से-कम अंग्रेज़ी और फ्रेंच इन दो भाषाओं में ज़रूर उलथा किया जाता है। परिषद् में बड़े दक्ष अनुवादक हैं और वे बहुत सही-सही एवं शीघ्रता के साथ अपना काम करते हैं। पहले यह प्रथा थी कि कोई भाषण होने के बाद तुरत ही उसका उलथा किया जाता था। परन्तु अब इन अनुवादकों ने ऐसी विलक्षण शक्ति प्राप्त कर ली है कि १९२८ में साथ-साथ उलथा होने की पद्धति अख्यार की गई और उसमें परिषद् को सफलता भी मिली। पद्धति यह है। मान लो कि कोई वक्तृता जर्मन भाषा में दी गई, तो दो दुभाषिये या अनुवादक साथ-साथ वक्ता की बातें सुनते और उसकी वक्तृता का उलथा करते जाते हैं और वह टेलीफ़ोन के ज़रिये प्रतिनिधि तक पहुँचाया जाता है। टेलीफ़ोन प्रत्येक प्रतिनिधि की बैठक पर लगे हुए हैं। इस पद्धति के फल-स्वरूप परिषद् का काम समाप्त होने में कम-से-कम चार दिन की बचत ज़रूर हो गई।

परिषद का काम आरम्भ होते ही, सबसे पहले, सभापति का चुनाव होता है, उसके बाद एक निर्वाचन-समिति नियुक्त की जाती है। इसके बाद तुरन्त निर्वाचन-समिति की बैठक होती है, जो परिषद् के कार्यक्रम में लिखित भिन्न-भिन्न कामों के सम्बन्ध में नियुक्त की जानेवाली समितियों की संख्या का निश्चय करती है। इसके बाद कार्य-निर्वाह के लिए स्वयं परिषद भिन्न-भिन्न समितियों में बँट जाती है। परिषद् का अत्यन्त महत्वपूर्ण काम इन समितियों में ही होता है। विभिन्न समितियों के चुनाव परिषद् की पहली बैठक के सामने तो केवल नियमों की पाबन्दी के लिए होते हैं, क्योंकि भिन्न-भिन्न समुदाय—जैसे, सरकारी समुदाय,



पूँजीपतियों का समुदाय

पूँजीपतियों का समुदाय, और मजूरों का समुदाय—अलग-अलग मिलते हैं और प्रत्येक समुदाय भिन्न-भिन्न समितियों के अपने-अपने प्रतिनिधि नियुक्त करते हैं। फिर इन समुदायों के भी निजी (Non-official) संघटन होते हैं, जो परिषद्-सम्बन्धी काम करते हैं, और जब कोई समुदाय बाजाब्ता (Officially) मिलता है तो वह प्रायः उन बातों पर अपनी मुहर लगा देता है, जो कि निजी तौर पर उन संस्थाओं में तय हो चुकी हों। उदाहरण के लिए, पूँजीपतियों के हितों की रक्षा के लिए उन्होंने 'औद्योगिक पूँजीपतियोंका अन्तर्राष्ट्रीय संघटन' नाम का एक संघटन स्थापित किया है, जिसका प्रधान कार्यालय ब्रसेल्स में है। विभिन्न देशों के मालिकों के संघटन इस अन्तर्राष्ट्रीय संघटन का खर्चा बर्दाश्त करते हैं, और पूरे वर्ष-भर अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद् की प्रबन्ध-सभा के निकट-सम्पर्क में यह अपना काम करता है। भारतीय व्यापारी-संघों का संगठन (The Federation of Indian Chambers of Commerce) १९२८ ई० में इस संघटन का एक सदस्य हो गया है, जिसे कभी 'आई० ओ० आई० ई०' (I. O. I. E.) और कभी 'ब्रसेल्स संघटन' कहा जाता है। प्रबन्ध-सभा जो भी कुछ करती है, उससे यह संघटन अपने सदस्यों को ठीक तौर पर परिचित रखता है, प्रबन्ध-सभा में पूँजीपतियों के जो प्रतिनिधि हैं उनके वहाँ प्रकाशित किये जाने वाले विचारों पर अपना प्रभाव डालता है और अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद् में मालिक-समुदाय द्वारा किये जाने वाले काम का सिलसिला बाँधता है। यह निजी संघटन भी अपनेको उतनी ही शास्त्रीय (Technical) समितियों में विभक्त कर लेता है, जितनी कि परिषद् द्वारा नियुक्त होती हैं।

इस प्रकार परिषद् के कार्य-काल के समय प्रत्येक प्रतिनिधि के लिए तीन एकसों चश्मे बहते हैं, उदाहरण के लिए, मालिकों का प्रतिनिधि अपनेको निजी संघटन, सरकारी समुदाय और समस्त परिषद् तीनों की समितियों में पाता है। परिषद् में आने वाला नया आदमी कई दिनों तक परिषद् और उसके विभागों की उलझी हुई एवं अपरिचित कार्यवाही और पद्धति के गोरखधन्धे को समझने में अपनेको असमर्थ पाता है। इसलिए कई देशों ने कई वर्षों से उन्हीं व्यक्तियों को हर बार प्रतिनिधि बनाकर भेजने का क्रम अख्त्यार कर रक्खा है, और यही देश वस्तुतः अपना काम कर जाते हैं। भारत यदि गम्भीरता से अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद् के काम को उठाना चाहता है तो उसे भी यही ढंग अख्त्यार करना पड़ेगा।


श्री देवीप्रसाद खेतान, भारतीय पूंजीपतियों के प्रतिनिधि और इस लेख के लेखक, (सपरिवार)

अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद् जो काम करती है वह बड़े रोचक ढंग का है, हालाकि प्रतिनिधियों को उसके लिए बड़े परिश्रम से कार्य करना पड़ता है। इससे प्रतिनिधियों को संसार के विविध देशों के चुने हुए मनुष्यों के सम्पर्क में आने का मौका मिलता है। दावत और जल-पान के अनेक अवसरों पर वे एक दूसरे को निमन्त्रित करते हैं। इससे वे

एक-दूसरे के निकट सामाजिक सम्पर्क में आते हैं। ऐसी दावतें और ऐसे जल-पान मानों परिषद् के आवश्यक कर्तव्य-से ही हो गये हैं। वहाँ हर शख्स दूसरों से जान-पहचान करना चाहता है और जान-पहचान होने पर आपस में बड़ी मित्रता हो जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद् के १९२८ ई० के अधिवेशन में यह बात अंतिम निर्णय के लिए पेश हुई थी कि कारख़ानों के मजूरों की कम-से-कम मजूरी की सीमा निश्चित कर दी जाय। इसपर एक प्रतिज्ञा (Convention) और दो सिफ़ारिशें उसमें स्वीकृत हुईं। प्रतिज्ञा की पहली धारा में लिखा है:—

"अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद् का प्रत्येक सदस्य जो इस प्रतिज्ञा को स्वीकृत करता है, ऐसी व्यवस्था करना और उसे कायम रखना अंगीकार करता है कि जिसके द्वारा उन मजूरों की मजूरी की दर कम-से-कम निश्चित की जा सके, जो कई व्यवसायों या व्यवसायों की शाखाओं (और ख़ास कर किसी घरू व्यवसाय) में काम करने वाले हैं और जिनमें उनके आपस के ठहराव से अथवा अन्य किसी प्रकार से मजूरी का कोई अच्छा और पक्का नियम नहीं है, और मजूरी बहुत कम है।

इस 'प्रतिज्ञा' के कार्य-निर्वाह के लिए 'व्यवसायों' शब्द में कारीगरी और वाणिज्य भी शामिल है।"

दूसरी धारा इस प्रकार है:-

"इस प्रतिज्ञा को मंजूर करने वाला प्रत्येक सदस्य इस बात में स्वतन्त्र रहेगा कि व्यवसाय अथवा उस व्यवसाय की शाखा के मजूरों और मालिकों के संघटनों से, परामर्श करके इस बात का निर्णय करे कि किन व्यवसायों या व्यवसायों की शाखाओं में, और ख़ास कर किन घरू व्यवसायों या व्यवसायों के भागों में, पहली धारा में वर्णित कम-से-कम निश्चय की हुई मजूरी की दर लागू होगी।"

इस प्रतिज्ञा के सबंध में भारत-सरकार ने अपना रुख़ बिलकुल तटस्थ रक्खा। उसके प्रतिनिधियों ने किसी भी ओर अपना मत नहीं दिया। भारत-सरकार की ओर से सिर्फ़ यह कहा गया कि उसने अभी यह निश्चय नहीं किया है कि वह इस प्रतिज्ञा को मंजूर कर सकेगी या नहीं। वह एक समिति नियुक्त करके इस बात की पूरी जाँच करायगी कि वह प्रतिज्ञा भारतीय परिस्थितियों में व्यवहृत की जा सकती है या नहीं—ख़ास कर इस बात की दृष्टि से कि यद्यपि बड़ी धारा-सभा को इस संबंधी विधान स्वीकृत करने का अधिकार है, परन्तु जहाँ तक शासन से संबंध है, प्रान्तीय सरकारों को इसे अमल में लाना होगा, क्योंकि उद्योग एक हस्तान्तरित विषय है।

दूसरा प्रश्न जो परिषद् के सामने प्रारम्भिक बहस के लिए आया, औद्योगिक दुर्घटनाओं के अवरोध का था। इसपर परिषद् ने विभिन्न सरकारों के पास एक प्रश्नावली भेजने का निश्चय किया; जब उनके जवाब आजायँगे तो आशा है कि अगले साल यह बात अन्तिम निर्णय के लिए पेश की जायगी।

इन दो प्रश्नों के अलावा, और भी बहुत-से प्रस्ताव परिषद् में स्वीकृत हुए। प्रस्तावों पर पहले प्रबन्ध-सभा में विचार किया जाता है कि परिषद् में उन्हें और आगे बढ़ाना चाहिए या नहीं।

एक बात परिषद् में सबका ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रहती। वह है परिषद् पर मजूरों के प्रतिनिधियों का ज़बर्दस्त प्रभाव—परिषद् में मजूरों के प्रतिनिधियों का काम सबसे सहल है। उन्हें सिर्फ़ माँगें पेश करनी होती हैं और मानवता के भाव और लिहाज से अवश्य ही उन्हें पुष्टि मिल जाती है। सरकारी प्रतिनिधि मजूरों के प्रतिनिधियों की पुष्टि करते हुए दिखाई देते थे और सब इस बात को मानते थे कि सरकारी प्रतिनिधियों का ऐसा व्यवहार प्रधानतः सब देशों की राजनीति में मजूरों के बढ़ते जाने वाले प्रभाव का परिणाम है। मालिकों के प्रतिनिधि साधारणतः अपनेको कुछ विचित्र स्थिति में पाते हैं। वे मजूरों को मदद करना चाहते हैं, पर उन्हें अपने मन में गम्भीरता के साथ अपने उद्योगों को जीवित एवं लाभप्रद रखने में होनेवाली कठिनाइयों और रुकावटों पर भी ध्यान रखना पड़ता है। ऐसी परिस्थितियों में बड़ी दिलचस्पी के साथ यह बात देखी जाती थी कि तमाम प्रतिनिधि किस प्रकार मानवता के भावों से परिपूरित हो अपने मतभेदों को मिटाने और ऐसे किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए लालायित थे, जो व्यवहारिक हो और जिसे सब समुदाय के प्रतिनिधि स्वीकार भी कर सकें।

देवीप्रसाद खेतान

इंग्लैण्ड का स्थानीय शासन

"स्वाधीन राष्ट्रों की शक्ति नागरिकों की स्थानीय समितियों पर निर्भर होती है। कोई राष्ट्र स्वतन्त्र शासन की पद्धति स्थापित कर सकता है, परन्तु नगर-संस्थाओं की भावनाओं के बिना उसमें स्वतन्त्रता की भावना नहीं हो सकती।"

—डी. टोकविल

प्राक्कथन—प्रत्येक देश में कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जिन्हें केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकार सुभीते से नहीं कर सकती। इन कार्यों को स्थानीय संस्थाओं द्वारा कराना अच्छा होता है। ये संस्थायें उन्हें स्थानीय परिस्थिति तथा आवश्यकताओं के अनुसार अच्छी तरह सम्पादन कर सकती हैं। इन संस्थाओं में बोर्ड या कमिटी महत्वपूर्ण विषयों का निर्णय करती हैं, और साधारण नीति निर्धारित करती हैं। ब्यौरेवार बातों का प्रबन्ध करने के लिए भिन्न-भिन्न उप-समितियों को विविध विषय सौंपे जाते हैं। ये उप-समितियां बोर्ड या कमिटी के निरीक्षण में अपना कर्त्तव्य-पालन करती हैं।

बोर्ड या कमिटी तथा उप-समितियों के निर्णयों को अमल में लाने के लिए कुछ स्थायी कर्मचारी होते हैं, जो उनकी आज्ञा या आदेश के अनुसार काम करते हैं। ये कर्मचारी भिन्न-भिन्न परिस्थिति तथा आवश्यकताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न तथा कुछ कम-ज़्यादा हो सकते हैं।

स्थानीय प्रबन्ध के विचार से इंग्लैंड के भाग—स्थानीय कार्यों के सुसम्पादन के लिए इंग्लैण्ड कुछ 'काउण्टियों' (Counties) में विभक्त है। कुछ बड़े-बड़े शहर भी काउन्टी मान लिये गये हैं, उन्हें 'काउन्टी-बरो' (County borough) कहते हैं। प्रत्येक काउन्टी में शासन-कार्य करने के लिए एक काउन्टी-कौंसिल होती है। प्रत्येक काउन्टी ग्राम्य ज़िलों (Rural Districts) और शहरी ज़िलों (Urban Districts) तथा म्युनिसिपल-बरों में विभक्त है। प्रत्येक शहरी ज़िले में ज़िला-कौंसिल और म्युनिसिपल-बरों में म्युनिसिपल कौंसिल है। ग्राम्य ज़िले 'पेरिशों' (Parishes) में विभक्त हैं। पेरिश एक बड़ा ग्राम या कुछ ग्रामों का समूह होता है। पेरिशों में पेरिश-कौंसिल होती है।

इन सब संस्थाओं के संगठन, अधिकार इत्यादि का संक्षिप्त परिचय देने के लिए पहले काउन्टी-कौंसिल के सम्बन्ध में लिखते हैं।

काउन्टी-कौंसिल . संगठन—काउन्टी-कौंसिल में सभापति, एल्डरमेन (Alderman) और साधारण सदस्य होते हैं। काउन्टी में प्रत्येक ज़िले से एक या अधिक साधारण सदस्य प्रति तीसरे वर्ष चुने जाते हैं; एल्डरमेन साधारण सदस्यों द्वारा छः वर्ष के लिए चुने जाते हैं, परन्तु आधों का चुनाव तीसरे वर्ष हो जाता है। कुल एल्डरमेनों की संख्या साधारण सदस्यों की एक-तिहाई होती है। साधारण सदस्यों की संख्या काउन्टी के विस्तार पर निर्भर है और २८ से १४० तक होती है। सभापति कौंसिल द्वारा चुना जाता है।

कौंसिल के लिए ऐसा व्यक्ति उम्मेदवार नहीं होसकता, जो उसका वैतनिक कर्मचारी हो, या जिसने उस समय कौंसिल से किसी कार्य का ठेका ले रक्खा हो। कौंसिल का सदस्य बनने के लिए अयोग्यतायें वही हैं, जो ब्रिटिश पार्लमेण्ट का सदस्य बनने के लिए हैं; परन्तु सरदार (लार्ड) भी इसके सदस्य हो सकते हैं। निर्वाचन-अधिकार उन सब पुरुषों तथा स्त्रियों को है, जो चुनाव के समय छः मास तक काउन्टी में रह चुके हों।

कार्य—काउन्टी-कौंसिल ज़िला-कौंसिलों के काम का निरीक्षण करती है, और उनके जिस काम में उपेक्षा हो उसका सम्पादन करती है। यह बड़ी सड़कों और पुलों की मरम्मत करवाती है, किसानों को छोटे-छोटे खेत दिलाने का प्रबन्ध करती है, काउन्टी की पुलिस का नियन्त्रण करती है, मातृ-कर्त्तव्य और बच्चों की सुरक्षा-सम्बन्धी नियमों का पालन कराती है। यह काउन्टी में प्रारम्भिक शिक्षा की उत्तरदायी है और उच्च शिक्षा के लिए सहायता देती है। यह अस्पतालों, सुधार-गृहों और पागलखानों का प्रबन्ध

तथा निरीक्षण करती है। यह नाचघर, थियेटरों, गायन-गृह आदि का लाइसैन्स देती है।

यह निम्नलिखित विषयों के क़ानून को अमल में लाती है।—पशुओं की छूत की बीमारी, नाशक कृमि, जंगली पशु, तौल और माप, स्फोटक पदार्थ, नदियों की गन्दगी आदि।

काउन्टी-कौंसिल अपने कर्मचारियों को स्वयं नियत करती है। यह अपनी काउन्टी की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक उपनियम बनाती है, और उन्हें भंग करने वालों पर जुर्माना कर सकती है। यह एक निर्धारित सीमा तक कर भी लगा सकती है,इसके करों को 'काउन्टी-रेट' कहते हैं। इनके अतिरिक्त उसे अपना कार्य सम्पादन करने के लिए कुछ आय जुर्माने से भी हो जाती है। परन्तु आय का मुख्य साधन वह रक़म है,जो इंग्लैण्ड की सरकार द्वारा उसे ख़ास-ख़ास कामों के लिए मिलती है। कौंसिल का हिसाब एक आय-व्यय-निरीक्षक द्वारा जाँचा जाता है।

ज़िला-कौंसिल—प्रत्येक जिला कौंसिल के सदस्य तीन साल के लिए चुने जाते हैं, परन्तु एक-तिहाई सदस्यों का चुनाव प्रति तीसरे वर्ष होता है। जो सदस्य छः मास तक, बिना किसी विशेष कारण, कौंसिल की बैठक से अनुपस्थित रहता है, उसकी जगह ख़ाली हो जाती है। सभापति सदस्यों द्वारा चुना जाता है। स्वास्थ्य-विभाग के इन्सपेक्टर कौंसिल की बैठक मे, आमन्त्रित किये जाने पर, भाषण दे सकते हैं।

अधिकार और कर्त्तव्य—ज़िला-कौंसिल के मुख्य कार्य हैं:—यह जिले की गलियों, बाज़ारों, और नालियों की सफ़ाई कराती है। सड़कों पर पानी छिड़कवाती है, मकानों का मैल और कूड़ा हटवाती है, स्वच्छ पानी का प्रबन्ध करती है, हानिकर खाद्य पदार्थों को फिंकवाती है। यह प्रधान सड़कों को छोड़कर, अन्य सड़कों को बनवाती तथा उनकी मरम्मत करवाती है।

छूत की बीमारियों को रोकने के लिए इसे विशेष अधिकार प्राप्त हैं। यह गाड़ियों, सरायों, और मातृगृह आदि का लाइसैंस भी देती है। यह मेलों का प्रबन्ध करती तथा कारख़ानों आदि का काम करने का समय निर्धारित करती है।

ज़िला-कौंसिल का बहुत-सा कार्य कमिटियों द्वारा होता है, जिनमे ऐसे सदस्य भी होते हैं, जो कौंसिल के सदस्य नहीं होते।

नगर की ज़िला-कौंसिलों के विशेष अधिकार ये हैं:—ये स्नानागार और कपड़े धोने के स्थानों का प्रबन्ध करती हैं। कहीं आग लग जाय तो उसे बुझाने के लिए पानी का प्रबन्ध करना इनका आवश्यक कर्त्तव्य है। ये कसाईख़ाने बनवाती तथा रजिस्टर में उनका उल्लेख करती हैं। ये ट्रामवे तथा छोटी लाइन की रेलें बनवाती और चलाती हैं। ये पुस्तकालय, अजायबघर, सार्वजनिक उद्यान आदि बनवाती हैं।

आय-व्यय—ज़िला-कौंसिलों की कुछ आमदनी फ़ीस और जुर्माने से हो जाती है, और उनकी शेष आय वह रक़म है, जो ब्रिटिश सरकार से उन्हें काउण्टी-कौंसिल द्वारा प्राप्त होती है।

नगर की ज़िला-कौंसिल को निर्धारित कर वसूल करने का अधिकार है। ग्राम्य ज़िला-कौंसिलों को ख़र्च उस फ़ण्ड से चलता है, जो भिन्न-भिन्न पैरिशों से वसूल किये हुए 'दरिद्र-रक्षा-कर' (Poor rates) के एकत्र होने से बनता है।

म्युनिसिपल कौंसिल—म्युनिसिपल कौंसिल उन बड़े-बड़े शहरों में होती हैं, जो काउन्टी-कौंसिलों के अधिकार में नहीं हैं। इनमें 'मेयर', 'एल्डरमेन' और साधारण सदस्य होते हैं। सदस्य तीन वर्ष के लिए चुने जाते हैं, परन्तु तृतीयांश सदस्यों का चुनाव प्रति वर्ष सितम्बर की पहली तारीख़ को होता है। म्युनिसिपल कौंसिलों के निर्वाचकों की योग्यता वही होती है, जो काउण्टी-कौंसिलों के निर्वाचक की।

'एल्डरमेन' साधारण मनुष्यों द्वारा चुने जाते हैं। उनकी संख्या साधारण सदस्यों की संख्या की एक-तिहाई रहती है। ये छः वर्ष के लिए चुने जाते हैं, पर आधे एल्डरमेनों का चुनाव प्रति तीसरे वर्ष होता है।

मेयर, कौन्सिल द्वारा, एक साल के लिए चुना जाता है। उसका अगले साल निर्वाचन हो सकता है। वह कौंसिल का सभापति होता है। वह म्युनिसिपल-बरो की ओर से आतिथ्य-सत्कार का कार्य करता है। वह कौन्सिल की

सब कमिटियों का सदस्य रहता है, और 'बरो' की न्यायाधीश-समिति का सभापति होता है।

यदि बिना विशेष कारण के मेयर दो मास तक, और ऐल्डरमेन या साधारण सदस्य छ मास तक अपने 'बरो' से अनुपस्थित रहे तो उनका स्थान खाली हो जाता है।

अधिकार— यदि कोई 'बरो' काउण्टी भी हो, तो उसकी कौन्सिल को वह सब अधिकार होते हैं, जो काउण्टी-कौंसिल के होते हैं। सब कौंसिलें 'बरो' के लिए उपनियम बना सकती हैं। ये अपनी 'बरो' की जायदाद का प्रबन्ध करती हैं। जिन 'बरो' में दस हजार से अधिक जन-संख्या है, वे प्रारम्भिक शिक्षा के लिए उत्तरदायी होती हैं। यह 'बरो' जानवरों की छूत-सम्बन्धी बीमारियो, नाशक कृमियों, तौल-माप और खाद्य पदार्थों के विक्रय-सम्बन्धी क़ानूनों को अमल में लाती है। जिन 'बरो' की जन-संख्या बीस हजार से अधिक है, वे पुलिस का भी प्रबन्ध कर सकती हैं।

आय-व्यय— इनकी आय के साधन ये हैं—फ़ीस, जायदाद की आमदनी, विशेष कार्यों के लिए ब्रिटिश सरकार से प्राप्त धन और 'बरो' के कर। 'बरो' के दो आय-व्यय-निरीक्षक तो निर्वाचकों द्वारा चुने जाते हैं और एक कौंसिल के सदस्यों में से मेयर द्वारा नामज़द किया जाता है।

पेरिश—ग्राम्य ज़िलों में कुछ बड़े ग्राम या छोटे ग्रामों के समूह हैं, उन्हें पेरिश कहते हैं। प्रत्येक पेरिश में एक-एक पेरिश-पंचायत (Parish meeting) होती है। उसमें वे सब व्यक्ति रहते हैं, जिनका नाम ज़िला-कौन्सिल, काउण्टी-कौन्सिल, या इंग्लैण्ड की प्रतिनिधि-सभा के निर्वाचकों में दर्ज हो। जिन पेरिशों में पेरिश-कौंसिल नहीं होती उनमें सब कार्य पंचायत द्वारा ही होता है। सालभर में पंचायत की कम-से-कम दो बैठक अवश्य होनी चाहिएँ।

पेरिश-कौन्सिल में सभापति और पाँच से पन्द्रह तक सदस्य रहते हैं। ये तीन वर्ष के लिए पेरिश-पंचायत द्वारा अप्रैल की पन्द्रहवीं तारीख को चुने जाते हैं। इस चुनाव में निर्वाचक अपना मत भिन्न-भिन्न उम्मेदवारों के पक्ष में हाथ उठा कर देते हैं। परन्तु सभापति या पांच निर्वाचक चाहें तो निर्वाचन-पत्र द्वारा लिखित मत भी लिया जा सकता है। यदि बिना किसी विशेष कारण के कौंसिल का सदस्य उसकी बैठक से छः मास से अधिक समय तक अनुपस्थित रहे तो उसका स्थान ख़ाली हो जाता है।

पेरिश-कौंसिल के कार्य—पेरिश-कौन्सिल जन्म, मृत्यु तथा ब्याह-शादियों का लेखा रखती है और किसानों को भूमि दिलाने का प्रबन्ध करती है। पेरिश-पंचायत की अनुमति से यह निम्नलिखित कार्य भी कर सकती है— गाँव में रोशनी, पहरा देना, और श्मशान, स्नानागार, आग बुझाने के ऐंजिन, मनोरंजन-स्थान आदि का प्रबन्ध करना।

दरिद्र-रक्षा-कर से जो आय होती है, उसमें से प्रति पौण्ड छः पैन्स तक पेरिश-कौन्सिल अपने लिए ख़र्च कर सकती है। यदि कोई ग्राम्य ज़िला-कौन्सिल अपने कर्तव्य में असावधानी करे, तो पेरिश-कौन्सिल और पेरिश-पंचायत इस बात की शिकायत काउण्टी-कौंसिल में कर सकती है।

दरिद्र-रक्षा-नियम-समिति(Poor Law union)— ग़रीबों और अपाहिजों को सहायता पहुँचाने के लिए कुछ पेरिशों की यूनियन या समिति स्थापित की गई है। 'बरो' में भी ऐसी समितियों की स्थापना हुई है। दरिद्र-रक्षा-नियम सम्बन्धी सब काम उक्त समिति की एक संस्था करती है, उसे संरक्षक बोर्ड (Board of Guardians) कहते हैं।

ग्राम्य ज़िलों में इस संस्था के सदस्य वही व्यक्ति होते हैं, जो 'यूनियन' की पेरिशों से ज़िला-कौन्सिलों के लिए सदस्य चुने गये हैं। ग्रामों के 'यूनियनों' में संरक्षक बोर्ड के सदस्यों का चुनाव अलग होता है। इनमें स्त्रियों की संख्या प्रायः अधिक रहती है। प्रत्येक बोर्ड अपने सभापति और उप-सभापति का चुनाव स्वयं करता है, और उसे दो सदस्यों के चुनाव का भी अधिकार होता है। बोर्ड तीन वर्ष के लिए चुना जाता है, परन्तु उसके तृतीयांश सदस्यों का चुनाव प्रति वर्ष होता है।

संरक्षक बोर्ड का प्रधान कार्य दरिद्र लोगों की सहायता करना अर्थात् उन्हें भोजन-वस्त्र देना तथा चिकित्सा सम्बन्धी सहायता पहुँचाना और मृतकों को गाड़ने का प्रबन्ध करना है। यह दरिद्रों के लिए काम की सुव्यवस्था करता है, दरिद्रालयों और अपाहिजख़ानों का प्रबन्ध करता है। आवश्यकता होने पर प्रत्येक नागरिक दरिद्रालय

में काम करने की दरख्वास्त दे सकता है। बोर्ड द्वारा नियुक्त ओवरसियरों (निरीक्षकों) तथा अन्य कर्मचारियों का कर्तव्य है कि उस दरख्वास्त की आवश्यक जाँच करें, और यदि ज़रूरत हो तो तत्काल सहायता का प्रबन्ध करें। ग़रीबों को सहायता पहुँचाने का कार्य संरक्षक-बोर्ड को ब्रिटिश सरकार के स्वास्थ्य-विभाग की आज्ञाओं के अनुसार करना होता है और इस विभाग द्वारा नियुक्त इंस्पेक्टरों को बोर्ड की बैठक में उपस्थित होने का अधिकार है। बोर्ड की आय का मुख्य साधन दरिद्र रक्षा-कर है।

लन्दन का स्थानीय शासन—इंग्लैंड की राजधानी लन्दन स्थानीय शासन की दृष्टि से एक पृथक् ही काउन्टी है। इसका स्थानीय शासन दो संस्थाओं द्वारा होता है—(१) लन्दन-कारपोरेशन और (२) लन्दन-काउण्टी-कौंसिल। लन्दन-कारपोरेशन का कार्य-क्षेत्र प्राचीन लन्दन शहर है, और लन्दन-काउण्टी-कौंसिल का कार्य-क्षेत्र है उसके बाहर नया बसा हुआ लन्दन शहर। लन्दन-कारपोरेशन का कार्य लार्ड मेयर, एल्डरमेन और साधारण सदस्यों द्वारा होता है। लन्दन-काउण्टी-कौंसिल नवीन लन्दन शहर की समस्त (अट्ठाईस) काउण्टी-कौंसिलों के ऊपर है। इसका संगठन तथा अधिकार इंग्लैंड की अन्य काउण्टी-कौंसिलों के समान होता है। इसे लन्दन-कारपोरेशन पर भी कुछ अधिकार प्राप्त हैं।

एक प्रसिद्ध विद्वान् के कथनानुसार इंग्लैंड की विविध प्रकार की स्वाधीनता का प्रधान कारण उसकी स्थानीय संस्थाओं की स्वतन्त्रता ही है।

दयाशंकर दुबे,
भगवानदास केला

विस्मृता उर्म्मिला

दूसरा सर्ग

प्रासाद-प्रांगण में

(१)

रुन-झुन, रुन-झुन नन्हीं-नन्हीं पैजनिया झङ्कारें,—
मंजुल रिङ्गण की प्राङ्गण में फैल रही गुँजारें;
किलक-किलक मधुस्रोत बहाती हैं विदेह की ललियाँ,
प्रात पवन में चिटख्ती हैं छोटी-छोटी दो कलियाँ॥

(२)

ये दो मुकुल जनक रानी की हैं जीवन-प्रतिछाया;
वीतराग मिथिलेश-हृदय की ये हैं दोनों माया,
सीता और उर्म्मिला ये, पीयूष सरस के कण हैं;
मौन प्रणय के पंचम-स्वर में उद्गीरित गायन हैं॥

(३)

बाल दशा मति मुग्धाओं की आओ छवि अवलोकें;
आओ प्यारे चरण-चिह्न को चूमें इन विमलों के,
मधुरी-मधुरी विश्व-मोहिनी बतियाँ इनकी सुनलें;
हास-पुष्प कीर्णित हैं आओ इन फूलों को चुनलें॥

(४)

काले-काले लम्बे-लम्बे, केश-कलाप घने-से—
उड़-उड़ कर मर्मर से खेल रहे हैं प्रेम-सने से—
मानों गन्ध-लुब्ध सर्पों के कृष्णमुखाब मतवाले—
नाच रहे हैं लोट-पोट हो सुन्दर प्रात:काले॥

(५)

तरल तरङ्गित चिकुर-जाल यह कोमल और विरल है,—
तन्तु-नाभ के सूत्र-जालसा अतिशय मृदुल चपल है;
एक-एक कुन्तल की यह बारीकी किसने देखी?
श्यामितिज्ञ की मन:कल्पना-रेखा जिसने देखी!

(६)

पास-पास विष्टरासीन जब ये दोनों होती हैं—
शुक्ति-सम्पुटों में तब भासित होते दो मोती हैं;
किंवा जनक-भवन में नभ से मिथुन-राशि आई हो,
अथवा दामिनी की दो किरणें पास-पास छाई हों ॥

(७)

जब दोनों वेणियां परस्पर, उड़कर, जुट पाती हैं—
तब कृष्णा यमुना की दो धारायें गुँथ जाती हैं,
या दो कुन निशायें अलिंगन करती लुब्धा हों;—
या दो परछांही हैं भुजभर भेंट रही मुग्धा हों ॥

(८)

सौम्य ललाट शुभ्रता में शुचिता है खेल रही यों—
श्वेत कमल पत्रों मे अमल शुभ्रता खेल रही ज्यों;
भाल-देश के ऊर्ध्वभाग मे केशावर्तुला रेखा—
शोभित है ज्यों सान्ध्य क्षितिज मे अन्धकार की लेखा !

(९)

जब उन्नत ललाट पर अलकावलियां उड़ आती हैं—
तब मानों केशों मे आँख-मिचौनी छिड़ जाती है;
केश-पुंज-वेष्टित ललाट ऐसे शोभित होते हैं—
ज्यों ऊषा की गोदी मे बिहाग के स्वर सोते हैं ॥

(१०)

ये चारो चापल्यमयी आँखें दौड़ी फिरती है,—
मानों गिर्योत्सङ्गों से चपला नदियां गिरती हैं,
बाल-क्रीड़ा के निश्छल भावों की अविरल धारा—
बह-बह कर जीवन के दुख को कर देती है न्यारा ॥

(११)

भोली-सी ये चार आँखड़ियाँ डोल रही आँगन मे,
फूली-फूली आनन्दित फिरती हैं इस प्राङ्गण में,
मानों वेदों की श्रुतियाँ हैं भवन छोड़ कर आईं,—
अथवा चतुष्कामनाओं ने अपनी छटा दिखाई ॥

(१२)

जनक-प्रिया के मातृ-हृदय की ये आँखें लाड़िलियाँ—
भक्ति-प्रेम के यज्ञकुण्ड की हैं घृत आहुति-पलियाँ,
श्यामा खचित अलकाओं ने नयनों को जकड़ा है—
चंचलता के मन में मानो मोहन-पाश पड़ा है !

(१३)

आँखों के द्वारे कुछ-कुछ है कृष्ण-लोम की शोभा—
पक्ष्मे मानों सम्मार्जनियाँ बन आईं निर्लोभा;
पलकें जब-जब झपती हैं तब मानों दो-दो तारे,
बार-बार मेघावृत्त होकर चमक रहे हैं न्यारे ॥

(१४)

लम्बी-सी सुडौल नासा में मुक्ता लटक रहे हैं;
अधर-लालिमा से रंजित ये मोती मटक रहे हैं,
मानो मानसरोवर-तीरे राजहंस-हंसिनियाँ
मुदित पान करती हैं सुन्दर मुक्त प्रेम की कणियाँ ॥

(१५)

इस जोड़ी के अधरों पे लालिमा विराज रही यों—
प्राची के मस्तक पर कुंकुम-बिन्दी भ्राज रही ज्यों,
ओष्ठ-चतुष्टय पतले-पतले शोभित यों होते हैं—
मानो दशन-मोतियों को ढाँपे सन्त्री सोते हैं ॥

(१६)

जब विकसित होती हैं दाँतों की ये शुभ्र अवलियाँ—
तब उद्यानों में शरमा जाती हैं वे नवकलियाँ,
हास-पाश जब फैलाती हैं ये दोनों सुकुमारी—
तब अशक्त-सी बँध जाती विदेह वैराग्य-खुमारी ॥

(१७)

कौन यहाँ से चला जायगा भवसागर तरने को ?
कौन अगस्त्य सोख सकता है इस छोटे झरने को ?
किसका है सामर्थ्य करे जो उल्लंघन यह सीमा ?
कहाँ छुपा है विरति राग वह जो न पड़ेगा धीमा?

(१८)

सीता के कुण्डल-द्वय और उर्म्मिला की वह नथनी—
विरत पिता की दूर फेंक देगी विराग की कफनी!
अखिल-विश्व के पितृ-हृदय को मोहित कर सकती है,
यह वत्सलता है जो पत्थर लोहित कर सकती है।।

(१९)

खेल-खेल में शिर दोनों हिल जाते हैं मुदमय हो,
तब चारों कुण्डल हिलते हैं—ज्यों मछली गुणमय हो—
तड़प-तड़प कर प्रकट किया करती है निज व्याकुलता!
कहो कहीं देखी है ऐसी शोभामयी विपुलता?

(२०)

गोल-गोल इन गालों की अरुणाई है कमनीया;
विश्व- रचयिता के प्रमोद की गेंदे हैं रमणीया;
आ बैठी है इनमें शतपत्री की सब पाटलता—
मिथिला की रानी के हृत्तल की सारी कोमलता।

(२१)

जब मधुरी मुसक्यान छबीली, मुख पर छा जाती है—
तब मृदु गण्ड-तरङ्ग अनोखी छटा दिखा जाती है।
इन छोटे सुधामृत-कूपों की दुर्गम गहराई है—
हास-देश से हँसी अमिय घट भरने को आई है।।

(२२)

गोरी-गोरी छोटी-छोटी बाहें झूम रही हैं;
मृग-शावक-मण्डली उन्हें मोहित हो चूम रही हैं;
माता का ये कण्ठहार हैं चारों भुज-वल्लरियाँ,
जनक-देव ने रीझ सुनयना को दी हैं वे लरियाँ।।

(२३)

सीता की उर्म्मिला बहन के डाल गले में बहियाँ,—
पुलकित हो बोली, मानो बरसी नव रस की फुहियाँ;
"प्यारी बहन उर्म्मिले, तुम हो मेरी अच्छी रानी,
आज सुनाओ तुम मुझको अच्छी सी एक कहानी।।"

(२४)

"सीता जीजी, पहले तुम्हीं कहो कुछ नई कहानी;
देखो मैं बैठी हूँ आँख मींचकर बनकर ज्ञानी—
जैसे तात बैठते हैं सुनने वेदों की गाथा,—
वैसे ही बैठी हूँ सुनने आज तुम्हारी बाता।।"

(२५)

यों कह कर उर्म्मिला ध्यान-मग्ना-सी बैठ गई जब,—
सारी बाल-चपलता मानों हो एकत्र गई तब—
और चुनौती देने लगी गँभीर भावनाओं को,—
ध्यानी के उन्नत ललाट की धीर सांत्वनाओं को।।

(२६)

हँस-हँस झकझोरने लगी उसको सीता सुकुमारी;
और अचल-सी बैठी रही कनिष्ठा जनक-दुलारी;
"सीता जीजी," आँखों को मूँदे ही मूँदे बोली—
"कथा कह रही हो कि खेलती हो तुम मुझसे होली।।"

(२७)

चुटकी से उसके गालों को सीता ने तब थामा,
वचनावलियाँ उच्चारित कीं उसने ये अभिरामा,
"खोलो आँख उर्म्मिले, तुमपर जाऊँ मैं बलिहारी,
सन्ध्या करने को तो मैंने कहा नहीं था प्यारी?

(२८)

"एक कहानी के बदले यह सन्ध्या क्यों करती हो?
ऐरी ढीठ क्यों न मेरी बातें मन में धरती हो?"
सुन सीता के वचन उर्म्मिला ने निज आँखें खोलीं;
मानों छोटी-सी हरिणी ने खोलीं आँखें भोली।।

(२९)

बड़े चाव से सीता उससे बोली प्यार-पगी-सी,
मानों रह-रह कर जाग्रत होती है लगन लगी-सी;
"बहन उर्म्मिले, चलो खेलने चलें अन्तरुपवन में,
माँ के लिए फूल तोड़ेंगी हम-तुम उस उपवन में।।"

(३०)

"जीजी, मा उन सब फूलों के हार गूँथ डालेंगी;
तात-चरण को माला देंगी वे निज व्रत पालेंगी,
एक बात मुझको बतला दो मेरी जीजी रानी—
तात-चरण आते हैं तब क्यों हँसती माँ कल्याणी?

(३१)

"मुसका कर माँ अपनी माला क्यों उनको देती हैं?
फिर उनमे से एक माँगकर आप पहन लेती हैं ?
एक बार मैंने माँ से यह बात पूछ जब ली थी,
तब बस उनने जल्दी से मेरी चुम्मी ले ली थी ।।

(३२)

"किन्तु बूझकर, सुनो, बात मुझको जरा न बतलाई;
मुझसे कहा, अनोखी है री तेरी यह पगलाई,
इसमें क्या पागलपन है री जीजी तुम्हीं बता दो?
माँ की इन करतूतों का मुझ को तुम हाल जता दो।"

(३३)

सीता यह सुन उठी खिल-खिला मानों बिखरे मोती,
खिसक गई मस्तक से छोटी-सी वह शुभ्रा धोती,
"सुन प्यारी उर्म्मिले, मुझे ये बातें ज्ञात नहीं हैं,
माता ने मुझको भी तो ये बातें नहीं कही हैं ।।"

(३४)

यों आपस में बातें करती चलदीं दोनो बहने,
रूप-रङ्ग में हैं समान, ये विदेह-गृह के गहने,
उपवन में दोनों बहनों की जब आ बैठी जोड़ी
तब फूलों में होने लगी परस्पर होड़ा-होड़ी ।।

(३५)

कहने लगा गुलाब—"गुलाबीपन यह तो मेरा है,"
सरका कमल—"नेत्र-विस्फारण बस यह तो मेरा है।"
जुही चहकने लगी—"अहो कोमलता यह किसकी है?'
पारिजात बोला—"स्वर्णीया रेखा यह जिसकी है!'

(३६)

पक्षीगण में भी बार्त्ता लग गई अतीव अनूठी,
शुक-सारिकादि विहंगावलियां आपस में सब रूठी,
"मेरा है यह रव"–यों कह सारिका हुई मतवाली,
"यह चापल्य,–बतादे तूही रे उपवन के माली—'

(३७)

यों कह खञ्जन लगा फुदकने पत्तों डाली-डाली,
पिक बोला–"मैंने ही तो यह कण्ठ-ध्वनि है ढाली",
सारे उपवन में, वृक्षों से, चहके वृन्द विहग के;
स्वागत-सूचक जय-ध्वनि निकली कण्ठों से सब खग के।।

(३८)

एक-एक डाली का फूल किये था अर्पण मन को,
इन कर-कमलों मे देने को उत्सुक था निज तन को,
प्रतिकुञ्जों से यही भावना-मयी तान उठती थी;
आत्म-निवेदन की मृदुमयी गानधारा लुटती थी ।

(३९)

उड़ आते निर्भीक खंजनों के वे दल चंचल थे,
बैठे-बैठे कन्धो पर प्रकटाते प्रेम अचल थे;
कभी उर्म्मिला की नासिका देख शर्माता शुक था,
सीता के नयनो से खञ्जन को होता कुछ दुख था ।।

(४०)

दोनों पर्य्यङ्कों पर बैठ गई इस मृदु उपवन मे,
मानों लावण्यों की जोड़ी उदित हुई कानन में,
सीताभुज-वेष्टिता उर्म्मिलाऽविष्टा सीता मुग्धा,—
एक दूसरी से शोभित होती थीं दोनों लुब्धा ।।

(क्रमशः)

'नवीन'

बृहत्तर भारत

['त्यागभूमि' के लिए]

(३)

(कम्बोडिया और श्रीविजय का चीनियों और अरबों-लिखित वर्णन)

ईशानवर्मन राजा के विषय में, जो कि भववर्मन का भतीजा था और जिसने ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में राज्य किया था, चीनियों ने जो कुछ लिखा है उससे कम्बोडिया में जीवन किस प्रकार का था इसका मनोरंजक वृत्तान्त मालूम होता है। उस समय राजधानी ईशानपुर में थी, जिसमें २०,००० मकान थे। इसके सिवा तीन और बड़े नगर थे। बीच शहर में एक विशाल भवन था, जिसमें राज-दरबार भरता था। उच्च कर्मचारी जब आते तो सिंहासन की सीढ़ियों के पास तीन बार सिर टिकाते थे और जब राजा आज्ञा देता, ऊपर आकर राज-काज की बातें तय करने, राज-सिंहासन के चारों ओर गोलाकार बैठ जाते। भवन के द्वार पर एक सहस्र पहरेदार कवच पहने और बल्लम लिये खड़े रहते थे।

लोग बालों का जूड़ा-सा बाँधते और बालियाँ पहनते थे। वे दाहिने हाथ को पवित्र और बायें हाथ को अपवित्र मानते थे। दतौन से दाँत साफ़ करते, प्रातःकाल ही स्नान करते, धर्म ग्रन्थ पढ़ते, प्रार्थना करते और फिर नहाते थे। इस तरह दूसरी बार स्नान करने के पश्चात् भोजन करते, फिर दाँत साफ़ करते और एक बार फिर प्रार्थना करते थे। भोजन में मक्खन, मलाई, शक्कर, चावल और ज्वार का काफ़ी उपयोग करते थे।

विवाह के समय दुलहिन को केवल जामा भेजा जाता था। वर और वधू के कुटुम्बी-जन विवाह के एक सप्ताह पूर्व से ही कहीं आना-जाना बन्द कर देते थे और सप्ताह भर अपने-अपने घरों में दिन-रात दीपक जलाते थे। विवाह के बाद पति जायदाद में से अपना हिस्सा लेकर अपना घर अलग बनाकर रहता था।

मृत्यु के अन्तिम-संस्कार के समय सम्बन्धी-जन और बौद्ध और ब्राह्मण पुरोहितों के साथ जमा होते और एक जलूस में भजन गाते चलते थे। धनवानों के मृत-शरीर चन्दन आदि सुगन्धित लकड़ियों की चिता में जलाये जाते और उनकी राख सोने-चाँदी के बर्तनों में रक्खी जाती थी।

कम्बोडिया में मकानों के द्वार पूर्व की ओर रहते और लोग बैठते समय उधर ही मुँह रखते थे। अतिथि को सुपारी, कपूर और सुगन्धित वस्तुयें देकर सत्कार करने का रिवाज था। कम्बोडिया में कोई खुले आम शराब नहीं पीता था। राजा के पास लड़ाई के लिए पाँच हज़ार सिखाये हुए हाथी थे। सबसे अधिक बलवान् हाथियों को खाने के लिए माँस दिया जाता था।

कम्बुज (कम्बोडिया) का आठवीं शताब्दी का इतिहास प्रायः सूना है, क्योंकि उस समय के बहुत थोड़े शिला-लेख मिलते हैं। तो भी अरब-लेखक कम्बुज पर श्रीविजय के एक नाविक आक्रमण का वर्णन करते हैं। श्रीविजय बहुत समय से सुमात्रा में एक बलवान् समुद्री राज्य था और अरबी व्यापारी वहाँ पर व्यापार के लिए आया करते थे। वे राज्य को सरबुज या जाबज और वहाँ के शासक को महाराज कहते थे। अरब का सुलेमान नामक एक व्यापारी, जिसने भारत और चीन की यात्रा की थी और जिसने ८५१ ईसवी में अपने वर्णन लिखे हैं — जाबज (श्री-विजय) और [illegible]मेर (कम्बोडिया का स्थानिक नाम) के परस्पर सम्बन्धों [illegible] इस [illegible] वर्णन करता है—

"जाबज का राजा महाराज कहलाता है। वह बहुत से द्वीपों पर राज्य करता है। ख़ज़ांची प्रति दिन प्रातःकाल राजा के पास एक सोने की ईंट लाता और उसीके सामने महल के पास के तालाब में फेंक देता था। राजा के जीवन-काल में कोई उन ईंटों को नहीं छू सकता था। जब वह मर जाता तो उसका उत्तराधिकारी उन्हें निकलवाता और गिनने और तौलने के बाद शाही अफ़सरों और ग़रीबों में

विस्तीर्ण कर देता था। ईंटों की तादाद राज्य के कागज़ों में लिख ली जाती और राजा का यश उतना ही अधिक या कम समझा जाता था जितनी कि ईंटें वह अपने पीछे छोड़ जाता।"

इसके पश्चात् सुलेमान ख़्मेर का वर्णन करता है— "ख़्मेर वह देश है जहाँ से ख़्मेर नाम की अगर (धूप) का निर्यात होता है। ... .ख़्मेर से अधिक जन-संख्या वाला राज्य कोई नहीं है। हर किस्म की शराब और हर प्रकार का व्यभिचार और दुराचार मना था। सारे राज्य में कोई दुराचारी न मिलता था।"

इसके बाद ख़्मेर के एक उद्दण्ड राजा की आख्यायिका लिखता है। एक दिन ज़ावज के महाराज के ऐश्वर्य और बल के समाचार सुनकर ख़्मेर के युवक राजा ने अपने मंत्री से कहा कि मैं एक थाली में उस महाराज का सिर अपने सामने देखना चाहता हूँ। मंत्री ने अपने युवा स्वामी से अधिक दूरदर्शी बनने का निवेदन किया. लेकिन उस अविचारी राजा ने यही बात अपने सब दरबारियों से कही। फिर क्या देर थी, समाचार चारों ओर फैल गया और अन्त में ज़ावज (श्रीविजय) के महाराज के कानों तक भी जा पहुँचा। वह एक उत्साही और साहसी राजा था। उसने तुरंत एक हज़ार जहाज़ तैयार करने का हुक्म दिया और लोगों को यह जतलाया कि वह अपने राज्य के द्वीपों में दौरा करने जाना चाहता है। ख़्मेर के राजा को तब तक इस बात का सन्देह न हुआ, जब तक कि महाराज राजधानी को जानेवाली नदी तक नहीं पहुँच गया, और अपनी फ़ौज महल के पास नहीं उतार दी। बस, उसी क्षण राजा क़ैद कर लिया गया और महाराज ने घोषणा कर दी कि अन्य किसी भी व्यक्ति पर किसी क़िस्म की कोई ज़्यादती न की जायगी। फिर उसने राजा का सिर कटवा दिया और वज़ीर से उसका उत्तराधिकारी नियुक्त करने के लिए कह कर वापिस लौट गया। ख़्मेर से न तो खुद उसने कुछ लिया और न किसी को लेने दिया . । जब यह समाचार भारत के राजाओं और चीन-सम्राट् के कानों तक पहुँचा तो ज़ावज के महाराज की इज़्ज़त उनकी दृष्टि में बहुत अधिक हो गई।

बिजनराज चटर्जी

प्राचीन भारतीय उपनिवेश

['त्यागभूमि' के लिए]

(१)

भारत के गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास का उपनिवेश-विषयक भाग अभी तक बहुत-कुछ अज्ञात ही है। भारत के किसी प्राचीन इतिहास-विषयक ग्रन्थ को देखिए। आज भारत की 'आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्त पश्चिमात्' और 'आसेतु हिमाचल' जो सीमा मानी जाती है, उसी मर्यादित देश का और वहीं के राजा-प्रजाओं का वर्णन मिलेगा। पर क्या इन स्वाभाविक मर्यादाओं के बाहर भी भारतीयों ने अपनी विजय-वैजयन्ती नहीं फहराई थी? इसी प्रश्न का उत्तर इस छोटी-सी लेखमाला में देने का विचार है।

पूर्वी गोलार्द्ध की अन्तिम पूर्व-सीमा चीनी समुद्र है। इस चीनी समुद्र और मेकांग नामक नदी के समानान्तर, परन्तु दोनों के बीच में, एक पर्वतश्रेणी है। इस पर्वत-श्रेणी और चीनी समुद्र के बीच के उत्तर अक्षांश १० से लेकर १८ तक जो प्रदेश है, वह एक समय भारतीयों का उपनिवेश था। ईसा की दूसरी सदी से लेकर ग्यारहवीं सदी तक के कई शिलालेख इस स्थान में प्राप्त हुए हैं। फ्रेंच-संस्कृतज्ञ पंडितों ने खोज कर उन्हें प्रकाशित किया है। पर वे सब फ्रेंच भाषा में हैं और इसी कारण अभी तक भारतीयों को अज्ञात से ही हैं। अपवाद-मात्र, हाल ही में, शिलालेखवाचक तथा संस्कृत भाषा से चिरपरिचित न होने पर भी, ढाका-विश्वविद्यालय के इतिहासाध्यापक श्रीयुत

मजूमदार ने एक पुस्तक प्रकाशित की है। उसका नाम है 'चम्पा'। आप और भी तीन पुस्तकें अन्य तीन उपनिवेशों पर लिखने वाले हैं। शिलालेखों के आधार पर इसी चम्पा उपनिवेश का संक्षिप्त इतिहास मैं प्रथम इस लेख मे देने वाला हूँ।

इस उपनिवेश का नाम चम्पा क्यों पड़ा ? यहाँ के प्राचीन निवासी 'चम्' जाति के थे। उनकी रक्षा करने वाले नगर को पहले 'चम्पा' नाम दिया गया और विस्तार के साथ-साथ सारा उपनिवेश 'चम्पा देश' कहलाने लगा। भारत के कोंकण भाग से इस प्रदेश का बहुत कुछ साम्य है। समुद्र और पर्वत के बीच उत्तर-दक्षिण फैली हुई यह एक सकड़ी पट्टी है। पर्वत-श्रेणी की शाखाय कहीं-कहीं समुद्र से बिलकुल मिलती है, तो कहीं-कहीं ७० मील तक की चौड़ाई बीच मे रह जाती है। इन भिन्न-भिन्न भागों मे परस्पर व्यवहार नौका-मार्ग से ही अधिक होता था और भारतीयों ने समुद्र-मार्ग से आकर यह उपनिवेश बसाया था।

सबसे प्राचीन शिलालेख जो यहाँ पर मिला है, वह विद्वानों के मतानुसार ईसा की दूसरी सदी का है। इस शिलालेख से जान पड़ता है कि 'श्री मारराज' नामक राजा ने पहले यहाँ राज्य स्थापित किया। चीनी लोगों के लिखे हुए ऐतिहासिक ग्रंथो से भी यही सिद्ध होता है। उक्त ग्रंथों में ऐसा उल्लेख है कि १७८ ई० में चम् लोगों मे कुछ नूतन चैतन्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने छोटा-सा राज्य स्थापित किया। बाद के शिलालेखों में जहाँ महाराज, राजाधिराज इत्यादि शब्द मिलते है, वहाँ इस शिलालेख मे केवल 'श्री मारराज' शब्द मिलता है। इससे भी इस राज्य का छोटा होना सिद्ध होता है। पर यह राज्य इसी वंश मे अधिक दिन न चला। उक्त लेख श्री मारराज के दौहित्र का है। इस राजा के शिलालेख पर से अनुमान किया जा सकता है कि यह बौद्ध था। इसे भाई या लड़का आदि कोई न होने से इसने अपना समस्त धन दान कर दिया था। इसी बात को लक्ष्य में रखकर शिलालेख पर लिखा है—

> "लोकस्यास्य गतागति विमृशता सिंहासनाध्यासिना ।
> पुत्रे भ्रातरि नान्यके स्वसखिषू ने छन्दनावामिषु ॥
> यत्किंचिद्रजत सुवर्णमपिवा स स्थावर जगम ।
> कोष्ठागारक वर्धित प्रियहिते सर्वं विसृष्ट मया ॥"

मारवंश के बाद एक शतक का इतिहास अज्ञात है। ईसा की चौथी सदी में फिर से चम् लोगो ने अपना सिर उठाया और इस समय के इनके नेता 'भद्रवर्मा' थे। आपने एक शिवालय बनवाकर 'भद्रेश्वर' नामक महादेव की स्थापना की। जब तक यहाँ हिन्दुओं का राज्य रहा, तब तक यही 'शंभुभद्रेश' इन राजाओ के कुलदेव रहे। आपके सुराज्य से आपका नाम 'धर्म महाराज श्री भद्रेश्वर वर्मा' प्रसिद्ध हुआ। आपने भद्रेश्वर का देवालय और उसके आसपास की कुछ जमीन अलग बचाकर भद्रेश्वर की पूजा के सहायतार्थ दान की थी। उक्त स्थान तीन ओर पहाड़ से घिरा था और उसके चौथी ओर नदी थी। शिलालेख मे इसकी सीमा दी हुई है—'पूर्वेण सुलह पर्वत । दक्षिणेन महापर्वत । पश्चिमेन कुचांक पर्वत । उत्तरेण महानदी ।' इसी मे चम्पापुरी बसाई।

पर धर्म्म महाराज भद्रेश्वर के वंश में भी यह राज्यलक्ष्मी न रही। राजा होने पर भी अपनी मातृभूमि से इतनी दूर आकर रहना कुछ कठिन ही था। जहाँ अपने बहुत से लोग नहीं हैं, वहाँ आनन्द से रहना सहज नहीं है। जान पड़ता है कि ये राजा लोग वृद्धावस्था में अपनी मातृभूमि में लौट आते थे और फिर चम्पा नगरी राजा की उपस्थिति से शून्य हो जाती थी। भद्रेश्वर के बाद गंगाराज नामक 'नृपगुण प्रख्यात वीर्य श्रुतिः' हुए। आप चतुराननपुर (ब्रह्मपुरी) के रहने वाले थे। अपने कुछ ब्राह्मणों को भी वहाँ बुलाया था। पर अन्त में 'गंगाजी के दर्शन के सुख को बड़ा भारी समझ कर वह राज्य छोड़ गंगाजी चले गये'। पर जाने के पहले आप राज्य की कुछ व्यवस्था कर गये थे। मनोरथ वर्म्मा को आप राजा बना गये थे। मनोरथ वर्म्मा बड़े कीर्तिशाली हुए। इन्होंने अपनी धेवती (लड़की की लड़की) का विवाह एक ब्राह्मण से किया था। और इसी ब्रह्म-क्षत्रिय संयोग से उत्पन्न रुद्रवर्म्मा आपके पश्चात् चम्पापुराधीश हुए। इनके राज्य मे 'कलियुग होते हुए भी धर्म मानों कृतयुग में रहता था।' परन्तु इन्हींके राज्य में शंभु भद्रेश्वर के देवालय में एक दिन आग लग

गई और सारा मंदिर जलकर भस्म हो गया।

शंभुवर्म्मा आपके दत्तक पुत्र थे। शंभुवर्म्मा महाराज ने फिर से शंभुभद्रेश की स्थापना की, मंदिर बनवाया, और कुछ ज़मीन अधिक दान की। इस राजवंश के इतिहास में औरस पुत्र इन्हीं राजा के हुआ। इस पुत्र का नाम कंदर्प धर्मा था। चम्पा नरेशों में कंदर्प धर्मा बड़े प्रभावशाली राजा हुए। आपने चीनी सम्राट् की फौज को भी परास्त किया और चम्पा देश के वैभव को खूब बढ़ाया। एक कवि आपके राज्य का वर्णन इस तरह करता है—

'प्रजा यः स्वैधर्मैर्व्यसनरहित पातिसुतवत्
न तत्रास्त्याशा मे' कलिरिति सपुत्सेक विमुखः।
तदीय स्तेजोभि विंधुत विरस स्वाप्यपगतो
निदाघा सज्ञाशीर्दिनकृत इव ध्वान्त निवह ॥

आपके कई शिलालेख पाये जाते हैं। आपका नाम इतना पूज्य माना गया कि आपके पश्चात् आपकी पादुकाओं की भी पूजा होने लगी।

(अपूर्ण)

मुनि रामचन्द्र दिवेकर (पेरिस)

हर्ष-कालीन भारत

(सामाजिक स्थिति)

मुसलमानों के भारत में शासन स्थापित करने से पूर्व के छ सौ सालों के भारतीय इतिहास में सबसे अधिक उन्नत काल राजा हर्ष का समय, अर्थात् छठीं-सातवीं शताब्दी, था। इन छः सौ सालों के इतिहास में यह समय ही सबसे अधिक प्रकाशित और स्पष्ट हो चुका है। हर्ष-कालीन इतिहास को जानने के लिए पर्याप्त सामग्री भी उपलब्ध हो चुकी है। ह्वेनत्सांग और इत्सिंग के यात्रा-विवरण, बाण-कृत हर्षचरित और तत्कालीन स्मृतियां तथा काव्य आदि हमें उस समय का वृत्तान्त जानने में बहुत सहायता देते हैं। केवल राजनैतिक दृष्टि से ही इस काल का महत्व नहीं है, सामाजिक दृष्टि से भी इसका महत्व बहुत अधिक है। वस्तुतः केवल राजनैतिक घटनाओं को ही इतिहास समझना भूल है। आजकल अध्यापक फ्रीमैन का यह सिद्धान्त कि मनुष्य की राजनैतिक घटनाओं का नाम ही इतिहास है (History is the sience of man in his character as a poitical being) नहीं माना जाता। मनुष्य केवल राजनैतिक जीव ही नहीं वह सामाजिक जीव भी है। वस्तुतः किन्हीं जातियों या देशों के सामाजिक जीवन या सामाजिक प्रगति का वर्णन ही सच्चा इतिहास है। हमारे इस कथन का यह अभिप्राय नहीं कि राजनीति इतिहास नहीं है, परन्तु, उसे अनावश्यक महत्व दिया जा रहा है। अस्तु। इस लेख में हम हर्ष-कालीन सामाजिक स्थिति पर ही संक्षेप से विचार करेंगे।

प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन की सबसे मुख्य संस्थायें वर्ण-व्यवस्था और और आश्रम-व्यवस्था है। इन्हीं दोनों के दृढ़ आधार पर बहुत प्राचीन काल से हिन्दू-समाज का भवन खड़ा है, जो अनन्त बाधाओं के होते हुए भी नहीं टूट सका। हर्ष-काल में इन दोनों संस्थाओं का अस्तित्व सुसंगठित रूप में विद्यमान था। यद्यपि बौद्धों और जैनियों के समानतावाद के प्रचार के कारण ये दोनों संस्थायें उतने आदर्श और व्यापक रूप में नहीं रही थीं, तथापि हिन्दू-धर्म के पुनरभ्युदय के साथ-साथ इनकी भी फिर उन्नति हुई। हर्ष का समकालीन चीनी यात्री ह्वेनत्सांग अपने यात्रा-विवरण में चारो वर्णों का उल्लेख करते हुए लिखता है—"भारत में चार क्रमागत श्रेणियां हैं। प्रथम श्रेणी ब्राह्मणों या पवित्र रहने वालों (Purely livings) की है। ये अपने सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करते हैं और अपनी संस्कारागत पवित्रता की दृढ़ रूप से रक्षा करते हुए संयम-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। दूसरी श्रेणी क्षत्रियों या

राजाओं की जाति है। यह वर्ग कई पीढ़ियों से राज्य करता आया है और इसके राज्य करने के उद्देश्य उपकार और दया हैं। तीसरा वर्ण वैश्यों या व्यापारियों का है, जो द्रव्य-विनिमय-द्वारा तुरन्त या भविष्य में लाभ उठाते हैं। चौथा वर्ण शूद्रों या कृषकों का है। ये हल चलाते, बीज बोते और फसल काटते हैं।"[१]

इस वर्णन से पता लगता है कि मनुस्मृति आदि के अनुसार कृषि वैश्यों का कार्य न रहकर शूद्रों का काम होगया था। उस समय के आसपास बनी हुई स्मृतियों के अध्ययन से यह भी मालूम होता है कि केवल कृषि-कार्य ही नहीं और भी बहुत से पेशे—विशेषतः हाथ से करने के काम—वैश्यों के हाथ से निकलकर शूद्रों के हाथ में चले गये थे। इसका कारण यही जान पड़ता है कि उन दिनों हाथ के कार्यों को तुच्छ दृष्टि से देखा जाने लगा था। परन्तु यह प्रवृत्ति क्यों चल पड़ी, यह हम नहीं कह सकते। श्रीयुत चिन्तामणि वैद्य के कथनानुसार जैनियों और बौद्धों के अहिंसावाद के कारण कृषि को भयंकर पाप समझा जाने लगा था, क्योंकि इनमें हजारों कृमियों और कीटाणुओं की हत्या हो जाने का भय था।[२]

बौद्धों और जैनियों की भी बहुत बड़ी श्रेणियाँ विद्यमान थीं। यद्यपि ये दोनों धर्म उन्नति नहीं कर रहे थे, फिर भी ये धर्म नष्ट भी नहीं हुए थे। इनके अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक थी। उत्तर भारत में बौद्धों और दक्षिणी-पश्चिमी भारत में जैनियों का काफी ज़ोर था। बहुत से प्रान्तीय राजा भी इनके अनुयायी थे। इनके धार्मिक सिद्धान्त और रीति-रिवाज भी तत्कालीन समाज पर पर्याप्त प्रभाव डाले हुए थे। इनके अतिरिक्त तत्कालीन समाज में साधुओं, तपस्वियों, भिक्षुओं और यतियों का एक बड़ा भारी समुदाय था, जो उस समय के समाज में विशेष महत्व रखता था। हिन्दू साधु अनेक प्रकार के थे, जो हिन्दू-धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी थे और अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार तपस्या करते तथा भीख माँगकर गुज़ारा करते थे। बहुत-से साधु अपने निश्चित स्थानों पर बैठे हुए ध्यान-समाधि करते थे, जिनके पास भक्त लोग उपदेश आदि सुनने आया करते थे। बहुत-से साधु शहरों व गाँवों में घूम-घूमकर लोगों को उपदेश एवं शिक्षा दिया करते थे। यही हाल बौद्ध भिक्षुओं और जैन साधुओं का भी था। वे अपने मठों या उपाश्रयों में रहते थे। साधारणतः लोगों के जीवन को नैतिक एवं धार्मिक बनाने में इन साधुओं, यतियों और भिक्षुकों का बड़ा भारी भाग था।

उस समय तक हिन्दुओं के उपर्युक्त चार वर्णों की भिन्न-भिन्न उपजातियाँ बन गई हों, ऐसा नहीं पाया जाता। चारों वर्णों में परस्पर-सम्बन्ध बहुत अच्छा था। सवर्ण विवाह श्रेष्ठ होने पर भी अन्य वर्णों से विवाह करना धर्म-शास्त्र के विपरीत न समझा जाता था। उच्च वर्ण के लोग भी अपने से नीचे वर्ण की कन्या से विवाह करते थे। यद्यपि स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने द्विजों के शूद्र-कन्या से विवाह करने का निषेध किया है,[१] तथापि ऐसे विवाह हर्ष-काल में होते थे। बाण ने शूद्र स्त्री से पैदा हुए ब्राह्मण के पारशव पुत्र का उल्लेख किया है। इस प्रकार के अनुलोम विवाह के बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं। ये पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध शनैःशनैः कम होते गये और अपने-अपने वर्णों में हो गये। जब विवाहों में कोई जाति-बन्धन न था, तो खान-पान में कैसे होता? उस समयके पीछे बनी हुई व्यास स्मृति के

> "नापितान्वयमित्रार्द्ध सारिणो दासगोपकाः।
> शूद्राणामप्यमीषां तु भुक्त्वान्नं नैव दुष्यति॥"

श्लोक से ज्ञात होता है कि उस समय तक नाई, किसान, धोबी, ग्वाले आदि के हाथ से खाने-पीने में कोई दोष नहीं समझा जाता था। आज-कल की छूत-छात की नाहक प्रथा पीछे प्रचलित हुई है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उन दिनों अस्पृश्यता थी ही नहीं। ह्वेनत्सांग लिखता है कि इन चारों वर्णों के अतिरिक्त अन्त्यज थे,

---

१. वाटर्स आन युवनच्वांग; जि० १, पृ० १६८।

२. हिस्ट्री आफ् मीडिएवल इण्डिया, जि० १, पृ० ९८२।

---

१ यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः।
नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम्॥ ५६
आचाराध्याय, प्रकरण ३।

जो अस्पृश्य माने जाते थे। कसाई, धीवर, भंगी, जल्लाद, और चाण्डाल एक विशेष चिन्ह द्वारा जाने जाते थे। वे शहरों से बाहर रहते और गाँवों में आते समय एक ओर होकर चलते थे।[१] अस्पृश्यता का यह रूप आज की अस्पृश्यता से कहीं अच्छा था।

वर्ण-व्यवस्था की तरह आश्रम-व्यवस्था भी शिथिल हो चुकी थी। इस शिथिलता का मुख्य कारण भी जैनियों और बौद्धों का प्रचार था। जैनियों ने केवल दो आश्रमों—वानप्रस्थ और सन्यास—तथा बौद्धों ने केवल संन्यासाश्रम का प्रचार किया। फिर भी हिन्दू-धर्म के पुनरभ्युदय के साथ इस संस्था की भी उन्नति हुई। इन चार आश्रमों में एक द्विज का जीवन विभक्त है। ब्रह्मचर्याश्रम में वह शिक्षा प्राप्त करता था, भिन्न-भिन्न विषयों का स्वाध्याय करता था। उस समय भारत में शिक्षा का प्रचार बहुत अधिक था। साधारण ब्राह्मणों के घर ही छोटे-छोटे शिक्षणालय होते थे, जहाँ नगरों और गाँवों के छोटे-छोटे बच्चे पढ़ा करते थे। बौद्धों के मठों, जैन यतियों के उपाश्रयों और हिन्दू साधुओं के मन्दिरों में भी शिक्षणालय होते थे, जहाँ पर्याप्त विद्यार्थी-मण्डली आकर पढ़ती थी। यही नहीं, हर्ष के समय तो आज के बड़े-बड़े विद्यालयों से मुकाबला करने वाले विश्व-विद्यालय भी थे। इनमें नालन्द, तक्षशिला, विक्रमशील आदि मुख्य हैं। इनके विषय में बहुत-कुछ लिखा जा चुका है, इसलिए यहाँ इनकी महत्ता के विषय में लिखना पाठकों का कालक्षेप होगा। श्रीयुत राधाकुमुद मुकर्जी ने चीनी यात्रियों के विवरणों से हिसाब लगाया है कि उन दिनों भारत में ५,००० मठ (बौद्धों के) और २,१२,१३० विद्यार्थी थे।[२] विद्यार्थियों का जीवन तपस्यामय होता था।

ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश होता था। यह आश्रम सांसारिक और भौतिक सुख भोगने के लिए था। इसपर हम आगे विचार करेंगे। वानप्रस्थी और संन्यासी, समाज के धार्मिक और नैतिक-जीवन के शिक्षक थे। उनका जीवन अधिकतर धार्मिक ही रहता था, जैसा हम ऊपर लिख आये हैं। वे भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के अनुयायी या प्रचारक होते थे। उस समय के धार्मिक जीवन को देखने के लिए उन्हींका जीवन देखना चाहिए। शंकर-दिग्विजय का प्रणेता आनन्दगिरि तत्कालीन धार्मिक स्थिति का विवेचन करता हुआ लिखता है—

> केचिच्चन्द्र परा परे तुजपरा कान्तु भन्दाश्रिता।
> केचित्कालपरा परे पितृपरा, केचित्तु नागेशना॥
> कश्चिदार्यापराश्च सिद्धनिचय, सर्वान्ति केचिद्भुया।
> केचिद्गन्धर्व साध्यादीन भूतबेतालगा परे॥
> एवं नाना प्रभेदाना नृणा तृतिर्येर्थेप्सिताः।
> कचिन स्वगात्त वदाव नतिपाद्या सभूचिरे॥
> केचिद्ब्राग्य मुक्तारीति जल्प समास्थिताः।
> अन्योऽन्य मत्सरग्रस्ता परस्पर जगीषया॥
> निजेच्छा कृतिमार्गेषु धारयन्ति समान्विता॥

इससे तत्कालीन धार्मिक स्थिति का बहुत-कुछ ज्ञान होता है। बहुत-से देवताओं की पूजा प्रचलित हो चुकी थी। महादेव, विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्र, गणेश, आदि की पूजा होती थी। भूत, बेताल आदि की सिद्धि का प्रयत्न भी किया जाता था। इस सिद्धि की प्राप्ति के लिए पशु-बलि और नर-बलि तक की क्रूर प्रथा और कृत्य आदि के विद्यमान होने के प्रमाण मिलते हैं। हर्ष-चरित में बाण एक ऐसे कपालिक का उल्लेख करता है। हर्ष के कुछ समय बाद बने हुए मालती-माधव में भी अघोर घंट-द्वारा मालती को वध के लिए ले जाये जाने का उल्लेख है। ऐसे और भी कई प्रमाण पेश किये जा सकते हैं। वाममार्ग का भी प्रचार हो चुका था। इधर बौद्ध और जैन-धर्म का भी बहुत प्रचार था, परन्तु बौद्ध, जैन, और ब्राह्मण-धर्म में पारस्परिक द्वेष नहीं था। हमें उस समय की आश्चर्यजनक धार्मिक सहिष्णुता के उदाहरण मिलते हैं। एक ही कुटुम्ब में एक व्यक्ति बौद्ध है, तो दूसरा जैन, और तीसरा हिन्दू। पिता यदि हिन्दू है, तो पुत्र बौद्ध।[१]

आजकल कतिपय यूरोपीय विद्वानों के लिखने से

---

१. वाटर्स आन युवनच्वांग, जि० १, पृ० १४७।

२. हर्ष (अंग्रेजी), पृ० १२४-२५।

---

१ चिं० वि० वैद्य; हिस्ट्री आफ़ मीडियवल इण्डिया, जि० १, पृ० १०१।

सर्व-साधारण में यह भ्रम-सा फैल गया है कि प्राचीन काल में भारतीय केवल आध्यात्मिक जीवन बिताते थे। भारतीय विद्वान् आत्मा और परमात्मा के एकत्व या अनेकत्व, ईश्वर के अस्तित्व या अभाव, आदि समस्याओं को सुलझाने में जीवन यापन करते थे। प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि आदि ही उनके जीवन के कार्य थे। यह नहीं तो, शुष्क और नीरस व्याकरण की फक्किकाओं के चिन्तन, सूत्रों के अक्षरों और मात्राओं की अनावश्यकता पर विचार और कठिन-कठिन शब्दों की सिद्धि आदि में अपना जीवन कृत-कृत्य समझते थे। बहुत अधिक करना हुआ तो यज्ञ-यागादि में अपना जीवन लगा दिया। वे भौतिक आनन्द तथा सृष्टि और प्रकृति के आनन्दों से बिलकुल वंचित रहते थे। उनका जीवन शुष्क और नीरस रहता था। उनके जीवन में उस गार्हस्थ आनन्द का आभास भी न था, जो आजकल पाश्चात्य देशों में अनुभव किया जाता है।

वस्तुतः ये सब विचार ठीक नहीं हैं। प्राचीन भारतीयों का भौतिक जीवन भी उतना ही उन्नत और आनन्दप्रद था, जितना उनका आध्यात्मिक जीवन। इसका समन्वय यहाँ की आश्रम-व्यवस्था में है, जिसके अनुसार गृहस्थ में सांसारिक कार्य करके वानप्रस्थ और संन्यास में आध्यात्मिक उन्नति का विधान है।

हर्ष-कालीन भारत का भौतिक जीवन बहुत उन्नत था। साधारण गृहस्थ, जीवन के सभी भोगों को भोगते थे। शहरों में मकान अच्छे, विशाल और हवादार बनते थे, जैसा कि तत्कालीन काव्यों से पाया जाता है। सम्पन्न पुरुषों के घरों में भोजनागार, शयनागार, विश्रामगृह, और अतिथि-गृह आदि अलग-अलग बनते थे। दुमंजिले और तिमंजिले मकानों तक का वर्णन मिलता है। लोगों के मन-बहलाव के लिए नाटकघरों, संगीतशालाओं, चित्रशालाओं आदि की व्यवस्था रहती थी। भास, कालिदास आदि के उत्तम-उत्तम नाटकों का विकास हो चुका था, जिनसे तत्कालीन उत्कृष्ट रुचि का परिचय मिलता है। त्यौहार सामाजिक जीवन का एक विशेष भाग थे। बहुत से पर्वों तथा अन्य त्यौहारों पर मेले हुआ करते थे। वर्षाऋतु में जल-विहार बहुत होता था। सम्पन्न लोग छोटी-छोटी नौकाओं पर बैठकर जल-विहार करते थे। इसी ऋतु में दोलोत्सव भी होता था। होली के त्यौहार पर पिचकारी (धारा-यन्त्र) का प्रयोग भी होता था[1]। बड़े-बड़े मेले व्यापारिक दृष्टि से बहुत महत्त्व के थे। इनमें काफी तादाद में खरीद-फरोख्त होती थी। आज भी ऐसे मेले भारत-भर में होते हैं। सम्पन्न लोग पक्षियों को पालते तथा पशु-पक्षियों में परस्पर लड़ाई कराते थे। सवारी के लिए घोड़े, हाथी, रथों और पालकियों का उपयोग होता था। बड़ी-बड़ी नदियों और समुद्रों में जहाजों से यात्रा होती थी। समुद्र-यात्रा का बहुत अधिक प्रचलन था। विनोद के लिए शतरंज, चौपड़ आदि मनोरञ्जन के खेल भी खेले जाते थे। जुए का भी उस समय कम प्रचार नहीं था। सम्पन्न पुरुष वेश्या भी रखते थे। बाण ने कई स्थानों पर इनका उल्लेख किया है। राजा और क्षत्रिय लोग शिकार के बहुत शौकीन थे। जंगली लोग तो शिकार पर ही गुजारा करते थे। उन दिनों जादू-टोनों पर जनता विश्वास करती थी। अनेक प्रकार के वहमों का साधारण लोगों में प्रचार था। बाण ने हर्ष-चरित तथा कादम्बरी में बहुत-से जादू-टोनों का वर्णन किया है। जनता की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। कृषि, शिल्प, व्यापार और व्यवसाय बहुत बढ़े हुए थे।

भारत में उन दिनों वस्त्र भी उत्तमोत्तम बनते व पहने जाते थे। ह्वेनत्सांग ने लिखा है कि भारतीयों के वस्त्र सिले हुए नहीं होते थे,[2] परन्तु यह ठीक नहीं है। वैदिक साहित्य में स्पष्टतः कपड़ों के सीने के प्रमाण मिलते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से सीने की कला ज्ञात थी। स्त्रियाँ जहाँ साड़ी पहनती थीं, वहाँ लहँगे का भी रिवाज प्रचलित था, ऐसा कई प्राचीन चित्रों से ज्ञात होता है। इसी तरह अजन्ता के एक चित्र से पाया जाता है कि स्त्रियाँ छींट वाले कपड़े भी पहनती थीं। दक्षिण में गर्मी होने के कारण दो धोतियों से काम चलाया जाता था। धोतियों में सुन्दर किनारी भी होती थी, जैसे कि अजमेर-म्यूज़ियम में रक्खी हुई एक मूर्ति से पाया जाता है। कपड़े केवल कपास के नहीं होते थे। ह्वेनत्सांग ने यहाँ,

---

1. रत्नावली नाटिका, अंक १, श्लोक ११।
2. वाटर्स ऑन युवनच्वांग; जि० १, पृ० १४८।

रेशम तथा ऊन के कपड़ों का उल्लेख किया है। इसी तरह बाण ने हर्ष-चरित में अत्यन्त महीन (निःश्वासहार्यैः, स्पर्शानुमेयैः, निर्मोकनिभैः) तथा रंगीन कपड़ों का वर्णन किया है।

इसी तरह गहने भी बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थे। बहुत प्राचीन मूर्तियों के देखने से उस समय के विविध गहनों का ज्ञान होता है। रत्नहार, कर्ण-कुण्डल, भुजबन्ध आदि नाना प्रकार के आभूषण उस समय पहने जाते थे। केवल स्त्रियाँ ही नहीं, पुरुष भी बहुमूल्य आभूषण पहनते थे। ह्वेनत्सांग ने भी इसका उल्लेख किया है।[1]

भारतीयों के भोजन और रहन-सहन में शुद्धि और सफ़ाई को केवल सामाजिक रूप न देकर धार्मिक रूप दे दिया गया है। स्नानादि हिन्दुओं के धार्मिक कर्तव्य हैं। यही कारण है कि आज भी ग़रीब हिन्दू, भले ही नये और साफ़ कपड़े न पहन सकें, स्नान नित्य करते हैं। सफ़ाई के इसी विचार के कारण कार्तिक आदि महीनों में स्नान को बहुत महत्त्व दिया गया है। भोजन में भी सफ़ाई पर बहुत ध्यान दिया जाता था। ह्वेनत्सांग ने लिखा है—"भारतीय स्वयं पवित्र रहते हैं, दूसरों के दबाव के कारण नहीं। भोजन से पहले वे नहाते हैं। उच्छिष्ट भोजन किसीको नहीं खिलाया जाता। भोजन के बर्तन एक के बाद दूसरे को नहीं दिये जाते। मिट्टी और लकड़ी के बर्तन केवल एक बार ही प्रयुक्त होते हैं। सोने-चाँदी और ताँबे के बर्तन अच्छी तरह साफ़ किये जाते हैं।"[2] वस्तुतः यह शुद्धि या सफ़ाई ही बढ़ते-बढ़ते छूत-छात और चौका-सम्बन्धी नियमों में परिवर्तित हो गई। बौद्ध और जैन-धर्म के प्रचार के कारण यद्यपि लोगों में मांस-भक्षण की रुचि उतने अधिक रूप से न रही थी, तथापि मांस-भक्षण का प्रचलन पर्याप्त रूप से था। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भेड़-बकरी का मांस खाते थे। ब्राह्मणों में माँस का प्रचार कम था। दक्षिण भारत में जैनधर्म का अधिक प्रचार होने के कारण, उत्तरी भारत की अपेक्षा, मांस का रिवाज कम था। ब्राह्मण शराब नहीं पीते थे। क्षत्रियों में मद्यपान का प्रचलन थोड़ा-बहुत अवश्य विद्यमान था।

यद्यपि स्मृतिकार मनु ने आठ प्रकार के—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच—विवाह बताये हैं, तथापि वे सभी प्रचलित हों, ऐसा सम्भव नहीं मालूम होता। याज्ञवल्क्य ने प्रथम चार विवाहों को करने योग्य बताया है। हारीतस्मृति में तो केवल ब्राह्मविवाह को ही उचित लिखा है। इससे अनुमान होता है कि प्रथम चार प्रकार के विवाह ही अधिक प्रचलित होंगे। राजाओं, धनाढ्यों और कुलीन घरों में बहुविवाह भी होता था।

उस समय तक बाल-विवाह की प्रथा प्रारम्भ नहीं हुई थी। राज्यश्री का विवाह परिपक्व अवस्था में हुआ था। ऐसी किंवदन्ती है कि बाण का विवाह मयूर की बहन के साथ बड़ी अवस्था में हुआ था। श्रीयुत चिन्तामणि विनायक वैद्य के कथनानुसार हर्ष के कुछ समय बाद बाल-विवाह होने प्रारम्भ हो गये थे और इसका कारण यह था कि बालिग़ लड़कियों को भी बौद्ध भिक्षु होने की आज्ञा थी। अविवाहित लड़कियाँ बौद्ध न हो जायँ, इस आशंका से बौद्ध-द्वेषी ब्राह्मणों ने छोटी आयु में ही विवाह की प्रथा डाल दी थी।[1] परन्तु हमारी सम्मति में यह विचार ठीक नहीं है। इसकी पुष्टि के लिए कुछ अधिक पुष्ट प्रमाणों की आवश्यकता है। हर्ष के समय से बहुत पूर्व बौद्धों में महायान सम्प्रदाय जारी हो चुका था, जिसके अनुसार गृहस्थ भी बौद्ध हो सकते थे। इसलिए बौद्ध न होने देने के लिए विवाह शीघ्र करना कोई अधिक संगत मालूम नहीं होता। फिर उस समय धार्मिक सहिष्णुता बहुत अधिक थी, इसलिए बौद्ध-द्वेषी ब्राह्मणों का ऐसे घातक नियम बनाना भी कोई तर्क-संगत नहीं मालूम होता। वस्तुतः मुसलमानों के आने के बाद ही बाल-विवाह की प्रथा का प्रचार हुआ होगा।

विधवा-विवाह उस समय प्रचलित था या नहीं, यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। याज्ञवल्क्यस्मृति में ऐसे विवाह का उल्लेख अवश्य है।[2] पराशर-स्मृति को तो

१. वाटर्स आन युवनच्वांग, जि० १, पृ० ५१।
२. वही, जि० १, पृ० १५२।

१. हिस्ट्री आफ़ मीडिएवल इण्डिया, जि० २, पृ० १८९।
२. अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः।१३०। व्यवहाराध्याय, दाय-विभाग प्रकरण ८।

हर्ष-कालीन नहीं कहा जा सकता, फिर भी उसके वर्णन से तत्कालीन स्थिति का कुछ अनुमान किया जा सकता है। उसमें लिखा है कि पति के मर जाने, साधु बन जाने, लापता हो जाने, नपुंसक हो जाने या पतित हो जाने की अवस्था में स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है।[1] इसी तरह कई अन्य स्मृतियों में भी इसका उल्लेख मिलता है, जिससे अनुमान होता है कि हर्ष के समय में विधवा-विवाह का अधिक नहीं तो कुछ-न-कुछ प्रचार अवश्य था। सर्व-साधारण में विधवा-विवाह अधिकतर प्रचलित नहीं था। ह्यूनत्सांग ने लिखा है कि विधवा स्त्री दूसरी बार विवाह नहीं कर सकती थी। शनैःशनैः विधवा-विवाह की प्रथा कम होती गई और पीछे से छोटी जातियों में ही रह गई।

किसी समाज में स्त्रियों का क्या स्थान है, यह उस समाज की उन्नति की कसौटी है। भारतवर्ष में स्त्रियों का सम्मान बहुत प्राचीन काल से होता था। उन्हें अर्धाङ्गिनी का पद दिया गया था। कोई यज्ञ तबतक पूर्ण सफल नहीं माना जाता था, जबतक कि उसमें स्त्री सम्मिलित न हो। हर्ष-काल में भी स्त्रियों का सम्मान होता था। उनकी शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। हर्ष की बहन राज्य श्री को बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा देने के लिए दिवाकर मित्र नामक विद्वान् नियुक्त किया गया था। हर्ष की रत्नावली में रानी के चित्र, संगीत वाद्यादि में निपुण होने का उल्लेख है। बहुत-सी स्त्रियाँ बौद्ध भिक्षुकी होती थीं, जो निस्सन्देह बौद्ध सिद्धान्तों से परिचित होंगी। मण्डन मिश्र की स्त्री का शास्त्रार्थ में शंकराचार्य को परास्त करना प्रसिद्ध ही है। प्रायः तत्कालीन नाटकों से पाया जाता है कि उस समय स्त्रियों को संस्कृत नहीं पढ़ाई जाती थी। सभी शूद्र और स्त्री-पात्र प्राकृत में ही बोलते हुए मिलते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि स्त्रियों की अवनति प्रारंभ हो गई थी। उस समय पर्दे का बहुत अधिक प्रचार न था। राजाओं की स्त्रियाँ दरबार में भी आती थीं, जैसा कि ह्यूनत्सांग के बालादित्य की माता और हूणमिहिरकुल के मिलाप के वर्णन से मालूम होता है।[1] राज्यश्री तो ह्यूनत्सांग से स्वयं मिली थी। राजा की सेविकायें प्रायः सभी स्थानों पर उनके साथ जाती थीं। इन बातों को देखकर यह न समझ लेना चाहिए कि इन दिनों पर्दा था ही नहीं। बाण ने कादम्बरी में पर्दे का उल्लेख किया है,[2] जिससे प्रतीत होता है कि उन दिनों पर्दे की प्रथा का भी प्रचार अवश्य था, यद्यपि था बहुत कम। स्त्रियों की राजनैतिक स्थिति भी मानी जाती थी। उन्हें भी जायदाद दी जाती थी। स्त्रियों का भी सम्पत्ति पर अधिकार होता था।

तत्कालीन प्रजा के राजनैतिक अधिकार भी थे। साधारण नागरिक—स्त्री-नागरिक भी—अपनी इच्छानुसार धर्म-परिवर्तन में स्वतन्त्र था। राज्य का यह कर्तव्य था कि वह प्रजा के जानोमाल की रक्षा करे। साधारण प्रजा का प्रायः प्रत्येक कार्य ग्रामीण पंचायतों-द्वारा होता था। वे ही अपने-अपने ग्राम के आर्थिक, शिक्षा-सम्बन्धी, राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक प्रश्नों का निपटारा करती थीं। न्याय-संबंधी विवाद भी पंचायतों में पेश होते थे। प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकार की ओर से भी स्थान-स्थान पर न्यायालय होते थे, जहाँ प्रजा अपने अधिकारों तथा अन्य प्रश्नों के लिए निर्णयार्थ जाती थी। न्याय-सबन्धी क़ानून बहुत ही उत्तम तथा परिष्कृत थे, जैसा कि तत्कालीन स्मृतियों से पाया जाता है। शासन-व्यवस्था आदि के भी बहुत ऊँचे नियम थे।

आश्चर्य है कि हिन्दू-समाज की इतनी राजनैतिक और सामाजिक उन्नति होते हुए भी दास-प्रथा जैसी घृणित प्रथा भी उस समय विद्यमान थी। इसका प्रचलन बहुत समय से था। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य-स्मृति में, जिसका निर्माण-काल बहुत संभवत छठी सदी है, इस प्रथा का वर्णन मिलता है। याज्ञवल्क्य-स्मृति के टीकाकार ने, जो हर्ष के करीब छ सौ साल बाद हुआ था, उसकी टीका करते हुए

---

१ नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पतिरन्यो विधीयते॥

१ वाटर्स आन युवनच्वांग, जि० १, पृ० २८८-८९।

२. सातु तदाकर्ण्य किंचिदात्मपाणिनैवोत्सारितावरण सिचयाञ्चला (पृ० ५७२)
शक्रगोपकालो हितरागेणांशुकेन रचितावगुण्ठनया (पृ० १८२) निर्णयसागर-संस्करण

एक स्मृति से पन्द्रह प्रकार के दासों का वर्णन उद्धृत किया है।[1] यह नहीं कहा जा सकता कि वह स्मृति किस काल में बनी, परन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि उसमें वर्णित स्थिति हर्ष-काल से भिन्न न होगी। दास कई प्रकार के होते थे। दहेज में प्राप्त, युद्ध में पकड़े हुए, जुए में जीते हुए, खरीदे गये, घर की दासी से उत्पन्न, अमानत के तौर पर रक्खा हुआ और वंश-परम्परागत आदि कई प्रकार के दास होते थे। याज्ञवल्क्य और विज्ञानेश्वर के इस वर्णन से मालूम होता है कि दास-प्रथा उस समय बहुत व्यवस्थित रूप में विद्यमान थी। दासों के परिश्रम से कमाये हुए धन पर दासों का कोई अधिकार नहीं होता था।

दासों के लिए भिन्न-भिन्न नियम बने हुए थे, जिनमें दास-प्रथा को अधिक उदार बनाने का यत्न किया गया था। इन्हें परिवार के एक सभ्य की तरह रक्खा जाता था। इन-पर वे अत्याचार नहीं होते थे, जिनका वर्णन हम यूरोपीय दास-प्रथा के इतिहास में पाते हैं। इसी कारण किसी भी विदेशी यात्री का ध्यान इस प्रथा की ओर आकर्षित नहीं हुआ। किसी ने इसका उल्लेख भी नहीं किया, जब कि उन्होंने अन्य छोटी-छोटी बातों तक का निर्देश किया है।

इस कलंकित दास-प्रथा के अतिरिक्त सती-प्रथा भी उस समय विद्यमान थी। हर्ष की माता के आग में जल मरने और राज्यश्री के आग में कूदने को तैयार होने का वर्णन बाण ने हर्ष-चरित में किया है। छठी सदी के एक शिलालेख से भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की स्त्री के सती होने का उदाहरण मिलता है। मनुस्मृति को छोड़कर अन्य प्राय सभी स्मृतियों में स्त्री के सहगमन का उल्लेख मिलता है। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उस समय सती-प्रथा उतने ही अधिक और क्रूर रूप में विद्यमान थी, जितनी कि १७-१८ वीं सदी में। विधवा का सती होना उस समय आवश्यक नहीं था। विधवा के लिए संयमपूर्वक जीवन व्यतीत करने का उपदेश कई स्मृतियों ने दिया है।[1] यही नहीं, विधवा-विवाह तक का उल्लेख कई स्मृतियों में मिलता है। फिर सती न होना कोई बड़ा पाप न था। चिताभ्रष्ट (सहगमन करने जाकर न जले वह) स्त्री का प्रायश्चित्त केवल प्राजापत्य और दस ब्राह्मणों को भोजन कराने मात्र से हो जाता था।[2] यह सती-प्रथा पीछे जाकर बढ़ती गई।

हमने यहाँ बहुत संक्षेप से हर्ष-कालीन सामाजिक स्थिति का वर्णन किया है। परन्तु इसी वर्णन से पाठक जान सकेंगे कि उस समय की सामाजिक अवस्था कितनी अधिक उन्नत और उत्तम थी। यदि हर्ष-काल से भी पूर्व की सामाजिक स्थिति का अध्ययन किया जाय, तब भी हमें ऐसी ही उन्नत स्थिति ज्ञात होगी। दास-प्रथा और सती-प्रथा होते हुए भी उनका रूप अधिक भयंकर और क्रूर नहीं था। उस समय की देश की वास्तविक स्थिति जानने के लिए तत्कालीन आर्थिक और राजनैतिक स्थिति का भी ज्ञान आवश्यक है, जिनपर हम फिर कभी प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

कृष्णचंद्र विद्यालंकार

---

१ पन्द्रह प्रकार के दास निम्न लिखित हैं—गृहजात, क्रीत लब्ध, दायादुपागत, अनाकालभृत, स्वामिना-आहित, ऋणान्मोक्षित, युद्धप्राप्त, पणेजित, तवा-हमित्युपगत, प्रव्रज्यावसित, कृत, भक्तदास, वडवा-हृत, और आत्मनः विक्रेता। (याज्ञवल्क्य स्मृति, पृ० २४६—निर्णयसागर-संस्करण।

१ कामन्तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूल फलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्यतु ॥ १५७ ॥
आसीता मरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एक पत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ १५८ ॥
(मनुस्मृति; अध्याय ५।)
मृते भर्तरि वा नारी ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
सा मृता लभते स्वर्गं यथाते ब्रह्मचारिणः ॥ २७ ॥
(पराशरस्मृति, चतुर्थ अध्याय।)
मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा।
(विष्णुस्मृति; २५ अध्याय, सूत्र १४।)

२ चिताभ्रष्टा तु या नारी ऋतुभ्रष्टा च व्याधिता।
प्राजापत्येन शुध्येत ब्राह्मणान् भोजयेद्दश ॥ २०९ ॥
(अत्रिस्मृति)

बेदख़ली

[देहाती जीवन के चित्र]

(३)

दो मास व्यतीत हो गये।

गंगाचरण महाराज अपने उन खेतों में, जिन्हे वह बँटाई पर दिये हुए थे, घूम रहे थे। वह एक व्यक्ति से कह रहे थे—अबकी तो खेती का उठान अच्छा है।

वह व्यक्ति बोला—उठान अच्छा होने से क्या होता है, उठान तो सदा ही अच्छा होता है। जाड़े-पाले से बचकर घर में आवे तो जानें।

गंगाचरण—पानी तो अच्छा हो रहा है।

वह व्यक्ति—हाँ, अभी तक तो सब अच्छा हो रहा है। ऐसा ही रहे तब तो कुछ आशा हो जायगी।

गंगाचरण—यह खेत बहुत अच्छा लगा है।

वह व्यक्ति—पाँस नहीं दी गई है ? इस बार जितनी पाँस थी सब इन्हीं खेतों में डाली है।

गंगाचरण—पारसाल से हम भी फिर खेती करावेंगे।

वह व्यक्ति—बैल-वैल तो सब बेच डाले, खेती कहाँ से कराओगे।

गंगाचरण—बैलों ही की तो चिन्ता है; बैल मिल जायँ तो फिर काम चल निकले। क्या करें भइया, बिटिया के ब्याह में हम उजड़ गये। इसके पहले पिता मरे, उनके मरने में बहुत रुपया लगा। उसके बाद ही बिटिया का ब्याह करना पड़ा।

वह व्यक्ति—जबसे आपके यहाँ चोरी हुई तबसे आपका काम बिगड़ता ही चला गया।

गंगाचरण—ठीक कहते हो। तबसे कुछ ऐसी लग गई है।

उसी समय एक व्यक्ति ने पुकारा—गंगाचरण महाराज, हो !

गंगाचरण—क्या है ?

"यह चपरासी तुम्हें पूछता है।"

गंगाचरण—क्यों ?

"सम्मन है।"

सम्मन का नाम सुनकर गंगाचरण का कलेजा धड़कने लगा। शीघ्रतापूर्वक चपरासी के पास पहुँचे। चपरासी ने सम्मन दिखाया, सम्मन देखकर गंगाचरण महाराज को ज्ञात हुआ कि जमींदार ने बेदख़ली की नालिश कर दी है। उन्होंने चुपचाप हस्ताक्षर करके सम्मन ले लिया।

चपरासी के चले जाने के पश्चात् उसी कृषक ने, जिससे वह बातें कर रहे थे, पूछा—काहे का सम्मन है ?

गंगाचरण—जमींदार ने बेदख़ली की है।

कृषक—अच्छा !

गंगाचरण—क्या कहें, इतना कहा-सुना फिर भी नालिश कर ही दी।

कृषक—वह कारिन्दा बड़ा हरामजादा है। है तो जाति का ठाकुर, पर पूरा चमार है।

एक दूसरा व्यक्ति, जो खेत में काम कर रहा था, बोल उठा—कारिन्दा क्या करे, गाँववाले भी तो उपराचढ़ी लगाये हुए हैं। हमने सुना है कि गाँव के कई आदमी महाराज के खेत लेने की ताक में है। उन्होंने जोर लगाया होगा, तभी बेदख़ली कराई गई।

गंगाचरण—हाँ भाई, संसार में सभी तरह के मनुष्य हैं।

कृषक—हमारी समझ में आप सीधे मालिक के पास जाओ, वह जरूर कुछ रियायत करेंगे।

गंगाचरण—हाँ, ऐसा ही करना पड़ेगा।

कृषक—कौन तारीख़ पड़ी है ?

गंगाचरण—चौबीस तारीख़ पड़ी है। आज कौन-सी तारीख़ है—पन्द्रह है—नौ रोज़ और हैं।

कृषक—तो अभी समय है, आप मालिक के पास जाओ।

गंगाचरण—आज ही जाते हैं।

× × ×

गंगाचरण महाराज जमींदार से बोले—मालिक, हम बड़े गरीब ब्राह्मण हैं। आपके गाँव में पड़े हरि भजन करते हैं। आपकी जो बत्तीस बीघा ज़मीन है वही हमारी जीविका है। यदि आप बेदख़ल कर देंगे तो हम दाने-दाने को मुहताज हो जायँगे।

जमींदार साहब ने कारिन्दे की ओर देखा। कारिन्दा बोल उठा—सालभर का लगान और उसका ब्याज इनके ऊपर है। ज़मीन यह पाँच रुपये बीघे पर शिकमी उठाये हुए हैं।

ज़मींदार—यह क्या देते हैं?

कारिन्दा—तीन रुपये बीघा।

ज़मींदार—बड़ा फ़र्क़ है।

कारिन्दा—जी हाँ, उधर तो दो रुपये बीघे का मुनाफ़ा खायँ, इधर हमारा लगान न दें। सो यह तो होशियार ठहरे और हम बेवकूफ़!

गंगाचरण—अरे साहब, लगान पर तो हमने अभी सालभर से उठाये हैं, इसके पहले तो हम खुद ही खेती कराते थे। पर इधर हमारा काम बिगड़ गया। पहले चोरी हो गई, उसमें जो कुछ जोड़ी हुई पूँजी थी, निकल गई। फिर पिता का देहान्त हुआ। इसके बाद लड़की का ब्याह करना पड़ा। इन सब कारणों से हमारा खेल बिगड़ गया। अब इस समय हमारी स्त्री के शरीर पर एक गहना तक नहीं है। इसीसे लगान पिछड़ गया, नहीं तो हम सबसे पहले लगान जमा करते थे।

ज़मींदार—ख़ैर, आप हमारा लगान और ब्याज जमा कर दीजिए। हम आपकी बेदख़ली न करावेंगे।

गंगाचरण—धर्मावतार, लगान होता तो हम पहले ही न जमा कर देते। यह नौबत ही क्यों आती। लगान ही तो नहीं है।

ज़मींदार—नहीं है, तो हम विवश हैं।

गंगाचरण—नहीं सरकार, ऐसा न करो। आप लोग सैकड़ों रुपये ग़रीबों को दे डालते हो, शौक़ में ख़र्च कर देते हो। जानो, यह सौ रुपये भी दान कर दिये। हम यह नहीं कहते कि हम देंगे नहीं। देंगे ज़रूर; पर थोड़ा-थोड़ा करके दे देंगे। एकदम से हमारे किये नहीं होगा। इतनी ही रियायत चाहते हैं।

ज़मींदार—महाराज, बिना रुपये जमा कराये हम कुछ नहीं कर सकते।

गंगाचरण—मालिक, बेमौत मर जाऊँगा।

ज़मींदार—तो इसका हम क्या करें!

गंगाचरण—आप सब कुछ कर सकते हैं। भगवान् ने आपको समर्थ बनाया है। एक ब्राह्मण का सर्वनाश करने से आपका कोई बड़ा भारी लाभ न होगा।

ज़मींदार—ज़मींदारी में इन बातों पर ध्यान नहीं दिया जाता। ऐसा सोचें तो फिर ज़मींदारी कर चुके।

कारिन्दा—जितनी अपनी समाई होती है उतना ही प्रतिपाल किया जाता है। अपना घर लुटाकर कोई प्रतिपाल नहीं करता।

गंगाचरण महाराज क्रुद्ध होकर बोले—आप क्यों बीच में टाँग अड़ाते हैं? हम मालिक से कहते हैं, बोलते आप हैं!

कारिन्दा—अच्छी बात है, न बोलूँगा।

गंगाचरण—यह सब आग आप ही की लगाई हुई है, ठाकुरसाहब! हमारे मालिक ऐसे नहीं हैं जो इतने निर्दयी हो जावें। आपने न जाने क्या उलटा-सीधा समझा दिया है।

ज़मींदार—यह आपकी भूल है महाराज! यह बेचारे क्या समझावेंगे। मैं क्या अपना बनता-बिगड़ता नहीं समझता हूँ?

गंगाचरण—सौ-सवासौ रुपल्ली में आपका कुछ नहीं बिगड़ता, सरकार!

ज़मींदार—हाँ, परन्तु चलन तो बिगड़ता है। और लोग जब यह देखेंगे कि गंगाचरण महाराज साफ़ बच गये तो वे भी इसी तरह लगान न देंगे।

गंगाचरण महाराज ने बहुत प्रार्थना की, पर ज़मींदार साहब न पसीजे वरन् उठकर चले गये।

(४)

गंगाचरण महाराज लौट आये। रास्ते भर उन्हें अपने भविष्य की चिन्ता रही। ज़मीन निकल जायगी तो क्या होगा? बाल-बच्चे भूखों मर जायँगे। ज़मींदार इतने बड़े आदमी हैं—इनके लिए सौ-दोसौ कौन बड़ी बात थी; हमारे जीवन-मरण का प्रश्न है। हमारे पास इतनी प्रभुता हो तो हम सौ-दोसौ क्या हज़ार-दो हज़ार छोड़ देते। हा! इस कलिकाल में दया-धर्म बिलकुल उठ गया।

इसी प्रकार की बातें सोचते हुए महाराज गाँव लौटे। उस दिन महाराज ने भोजन नहीं किया। रात-भर पड़े आकाश-पाताल सोचते रहे। प्रातःकाल होते ही उन्होंने निश्चय किया कि हो न हो किसी से ऋण ले लें। इसके

लिए उन्होंने उस दिन बड़ा प्रयास किया, पर उन्हें किसी ने ऋण भी न दिया। लोगों ने सोचा—"इनसे ले क्या लेंगे, इनके पास है क्या ?" जिन्हें महाराज से सहानुभूति थी वे इस योग्य न थे कि इतने रुपये दे सकते। इससे गंगाचरण को घोर कष्ट हुआ। उन्होंने सोचा—जो काम कभी नहीं किया—वह काम तक करने को प्रस्तुत हुए; पर वह भी न हुआ! विपत्काल में कोई साथ नहीं देता।

अन्त में वह उस व्यक्ति के पास पहुँचे, जो उनकी भूमि शिकमी लिये हुए था। गंगाचरण ने उनसे कहा—लछमन, ज़मीन तो अब जाती है। ज़मींदार बिना अपने रुपये लिये मानेंगे नहीं।

लछमन—यह तो बड़ा ग़ज़ब है, पंडित महाराज! बाप-दादा की ज़मीन छिनी जाती है।

गंगाचरण-नेत्रों को अश्रुपूरित करके बोले—क्या बतावें भइया, कुछ समझ में नहीं आता। हमारी रोटी तो आज-कल इसी ज़मीन से है। इसके चले जाने पर फिर क्या होगा ?

लछमन को महाराज के अश्रुपूर्ण नेत्र देखकर बड़ा दुःख हुआ। उसने कहा—क्या कहें, जब इतने बड़े ज़मींदार को समाई न हुई तो और किसे कहा जाय!

गंगाचरण—आजकल के ज़मींदार तो चमार हैं। बिष्ठा में पड़ा हुआ पैसा उठा लें।

लछमन—वह ठकुरवा सब कर रहा है। हमने सुना है कि एक आदमी से उसके सौ रुपये पटवारी की मार्फ़त ठहर गये हैं। आपकी ज़मीन उसी आदमी को दी जायगी।

गंगाचरण महाराज व्यथित होकर बोले—तो फिर क्या उपाय करें ? घर में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे बेचकर रुपये जमा हो सकें। जनम-भर किसी से उधार नहीं माँगा, सो आज दिन-भर यह भी करके देखा। कोई उधार देने को तैयार नहीं। सबने बहाना कर दिया।

लछमन—बिगड़े समय का साथी कोई नहीं होता, महाराज! हमें आसो (इस वर्ष) बिटिया का ब्याह करना है,—नहीं हमीं कुछ करते।

गंगाचरण—कुछ कर सको तो करो, तुम्हारा भी इस भूमि से लाभ है।

लछमन—लाभ की तो हमें महाराज इतनी चिन्ता नहीं है। हमारे पास ज़मीन की कमी नहीं है। जितना हमसे हो सकता है उतनी ज़मीन हमारे पास है। आपकी जीविका इसीसे है, यही सोचकर कहते थे कि कुछ हो जाता तो अच्छा ही था।

गंगाचरण—तुम चाहो तो हो सकता है।

लछमन—बड़ा कठिन है, महाराज! इस समय हमारे पास रुपया नहीं है। जब था तब आपसे इन्कार नहीं किया। बिटिया के ब्याह में आपने साल-भर का लगान पेशगी माँगा, हमने तुरन्त दे दिया।

गंगाचरण—हाँ, सो तो तुमने दिया था। ऐसे ही अब भी कुछ कर दो तो बड़ा उपकार हो।

लछमन—झूठ बात कहो कह दें, पर इस समय हमारे किये कुछ नहीं हो सकता।

अब गंगाचरण महाराज बिलकुल हताश हो गये। २५ तारीख़ में अब केवल दो दिन शेष रह गये थे। महाराज का खाना-पीना छूट गया। दिन-रात पड़े-पड़े यही सोचा करते थे कि अब क्या होगा ? भूमि चले जाने पर बाल-बच्चों का पालन-पोषण कहाँ से होगा ? छः-सात दिन की चिन्ता में ही बेचारे आधे रह गये।

२३ तारीख़ की शाम को लछमन की स्त्री ने उससे आकर कहा—आज महाराज के घर में रोना-पीटना पड़ा है। कल तारीख़ है।

लछमन—हाँ, कल २४ तारीख़ है। कल उनका मुक़दमा होगा।

स्त्री—महाराज अलग पड़े रो रहे हैं। मेहरी अलग रो रही है। चूल्हा नहीं जला।

लछमन—क्या बतावें, ऐसे भले आदमी को भगवान् ने ऐसा दुःख दे दिया। कुछ समझ में नहीं आता। हमें तो उनपर बड़ी दया आती है।

स्त्री—तो अपना कुछ बस है ?

लछमन—रुपये तो हमारे पास डेढ़सौ के लगभग धरे हैं, पर बिटिया का ब्याह करना है।

स्त्री—हाँ, बिटिया का ब्याह थोड़े ही रुक सकता है।

लछमन—सोई तो कहा।

स्त्री—जाओ ज़रा देख आओ, समझा-बुझा आओ।

लछमन गंगाचरण महाराज के घर पर पहुँचा। देखा, घर में दीपक तक नहीं जला।

लछमन ने पुकारा—पण्डित महाराज !

गंगाचरण महाराज चौपाल में पड़े थे। उन्होंने कहा—कौन है, लछमन ? आओ भय्या।

लछमन उनके निकट पहुँचा और बोला—कैसे पड़े हो ? आज दिया नहीं जला ?

गंगाचरण—दिया कौन जलावे भय्या, सब पड़े रो रहे हैं।

गंगाचरण महाराज का कण्ठ-स्वर ऐसा था, मानो महीने-भर के बीमार हों।

लछमन ने कहा—रोने-धोने से होगा क्या ?

गंगाचरण—यह हम समझते हैं, भय्या ! पर चित्त मानता है ? बाप-दादों की वस्तु हाथ से चली जा रही है। जीविका का द्वार बन्द हुआ जा रहा है। ऐसी दशा में चित्त शान्त कैसे रह सकता है ? कलेजा नुचा आता है लछमन ! हाय ! हम क्या करेंगे ? हमारे छोटे-छोटे बच्चे क्या खाकर जियेंगे ? भगवान्, तुम कहाँ हो, हमने तुम्हारा कौन अपराध किया, जो ऐसा कठोर दण्ड दे रहे हो ?

यह कहकर महाराज चीत्कार करके रोने लगे।

लछमन का गला भी भर आया। वह चुपचाप महाराज का करुण-क्रन्दन सुनता रहा। अन्त में, उससे जब न देखा गया तब, वह चुपचाप वहाँ से चला आया।

घर आकर उसने अपनी स्त्री से कहा—महाराज का हाल तो बड़ा खराब है। और बात भी ऐसी ही है। छोटे बच्चे, माँ, स्त्री, पाँच-छः खाने वाले, कैसे गुजारा होगा ? अभी बेचारे जौ-बाजरा खाकर, फटा-पुराना पहनकर, बसर कर रहे हैं, फिर क्या होगा ?

स्त्री—भगवान् ऐसा दुःख बैरी पर भी न डाले !

लछमन—हमारा गाँव दो कौड़ी का है। हम ऐसे दस-पाँच आदमी मौजूद हैं, जो सौ-दो सौ रुपये दे सकते हैं, पर कोई नहीं फटकता। जब महाराज का समय अच्छा था तब वह सबकी सहायता करते थे। उनपर समय पड़ा तो सब अलग हो गये। हमारा तो मन ऐसा होता है कि तुम बिटिया का ब्याह इस साल टाल दो। महाराज को रुपये दे दो।

स्त्री—अरे नहीं, बिरादरी में बड़ी बदनामी होगी। सब पक्का-पोढ़ा हो चुका है।

लछमन—बदनामी हो तो हुआ करे, महाराज का तो संकट कट जायगा। बिटिया का ब्याह तो फिर भी हो जायगा, पर महाराज की जमीन जो चली गई तो फिर नहीं मिलेगी।

स्त्री—ब्याह तो नहीं टल सकता, बदनामी होगी।

लछमन—टल क्यों नहीं सकता-कोई जबर्दस्ती है ? हम इस साल नहीं करते, पारसाल करेंगे। बदनामी क्यों होगी, किसी ससुरे की चोरी करते हैं क्या ? हमारी इच्छा है, इस साल ब्याह नहीं करते।

स्त्री—समझ लो।

लछमन—समझ लिया है। लाओ रुपये निकालो।

\+ \+ \+

गंगाचरण महाराज ने रुपये जमा कर दिये। उनकी भूमि बच गई। गाँव में कोई नहीं जानता कि महाराज को कहाँ से रुपये मिले। कोई कहता था—महाराज बड़े बने हुए हैं, रुपये धरे बैठे रहे और फैल मचाते रहे, जब कोई उपाय न देखा तब रुपये निकाले।

इधर लछमन की कन्या का ब्याह रुक गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ उनकी कन्या का सम्बन्ध हुआ था वहाँ से सम्बन्ध टूट गया। उन्होंने कहा—"या तो इसी वर्ष ब्याह करो, नहीं हम दूसरी जगह कर लेंगे।" लछमन बेचारे को इसके कारण अनेक बातें सुननी पड़ीं, अनेक व्यंग-वचनों के तीखे बाणों का प्रहार सहना पड़ा। पर उसे सन्तोष था कि यह सब उसे एक शुभ कार्य के बदले में सहन करना पड़ रहा है।

पाँच महीने बाद जब खरीफ़ की फ़सल तैयार हो गई, तो एक दिन लछमन ने गंगाचरण से आकर कहा—पण्डित महाराज, आपका क़र्ज़ा भगवान् ने अदा कर दिया।

गंगाचरण महाराज लछमन का तात्पर्य न समझ कर बोले—समझा नहीं।

लछमन—अबकी आपके खेतों में अनाज फट पड़ा। अठमनी बीघा हुआ है। इतना अनाज आज तक गाँव के किसी खेत में नहीं हुआ।

गंगाचरण—भई, तुमने मेरी सहायता की थी, भगवान् ने तुम्हारी सहायता की।

लछमन—आपके रुपये अदा हो गये, अब आप उनकी चिन्ता न करना।

गंगाचरण—भई, वे रुपये तो उधार लिये थे, देने ही पड़ेंगे।

लछमन—अब मैं रुपये-उपये कुछ नहीं लूँगा। आपका कर्ज़ा भगवान् ने अदा कर दिया।

इतना कहकर लछमन चला गया। गंगाचरण महाराज के नेत्रों में आँसू छलछला आये। उन्होंने कहा, ग़रीब के हृदय में भगवान् बसते हैं। इन धनियों से ये कितने अच्छे हैं!

(समाप्त)

विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक

अन्तर्वेदना

किसे सजाऊँ ? कहाँ सजाऊँ ? कैसे दीप जलाऊँ मैं ?
किस मन से मैं जाकर सुन्दर, अट्टालिका चुराऊँ मैं ?
बच्चों के शिर पर रखने को पाता कहीं न तेल,
फिर मैं खेल सकूँगा कैसे उस प्रकाश में खेल ?
मेरे लिए किसीके विद्युत-दीपों का जलना कैसा ?
तुच्छ तेल के बदले घी के पीपों का ढलना कैसा ?
इधर सदा रहती है अपनी कुटिया तिमिराच्छन्न ;
मुझ ग़रीब की दुनिया ही है उस दुनिया से भिन्न।
रोता हूँ अपनी विपदा से फूट-फूट कर जिस तम में ;
अन्तर्विदित वेदनाओं को कर पाता हूँ कुछ कम मैं।
मेरी इस कुटीर का किसको कब होता है ध्यान ?
बड़े लोग आने में अपना समझें हैं अपमान।
जब हेमन्त ससैन्य यहाँ पर पौष-माघ में आता है,
घुटना मोड़ सोड़ तन मम शिशु मरा लोथ हो जाता है।
जाना नहीं आजतक मैंने, हा ! हा ! सुख का नाम,
जबसे होश सम्हाला, देखा तबसे ही विधि वाम।
दिन-भर मरता हूँ, करता हूँ बाबू की बेगारी मैं,
पेट थामकर सो रहता हूँ, लखकर निशि-अंधियारी मैं।
इस प्रकार आशा-लतिका पर गिरता विषम तुषार,
हाथ पसार चले जाते हैं बच्चे यम के द्वार।

भगीरथसिंह 'बर्क़'

हमारी अवस्था (व्यंग्य-चित्र)



ताक धिनाधिन

[चित्रकार—प्रो० जंगबहादुरसिंह



जीवनकी अभिलाषा

[चित्रकार श्रीरामगोपाल विजयवर्गीय]

"त्यागभूमि"



"हम जाग उठीं, सब समझ गईं, अब करके कुछ दिखला देंगी ।
हाँ, विश्व गगन में भारत को, फिर एक बार चमका देंगी ॥"

विनय

चंचल होकर नयन न मेरे,
किसी युवक को करें अधीर ।
दुखी करें न किसी का कोमल–
हृदय, प्रभो ! भर-भर कर नीर ॥
कान्ति-हीन दृग देख न मेरे
ले कोई अपना मुँह फेर ।
ताक किसी को क्रूर दृष्टि से,
कर न सकूं कुछ भी अन्धेर ॥
दे दूँ यह जीवन अनन्त को—
इस जगती को अपनी देह ।
विकल दृगों से बरसाऊँ मैं,
माँ का प्यार बहन का स्नेह ॥

सुमंगलप्रकाश शास्त्री

शिक्षा-समस्या

(२)

शिक्षा ! अहा, कितना सुन्दर और सम्मोहक शब्द है यह !

"जिस अंग्रेजी शब्द का अर्थ शिक्षा किया जाता है," महात्मा गाँधीजी के लेखानुसार, "उसका मूल अर्थ है 'बाहर खींच लाना'। अर्थात हमारे अन्दर जो शक्तियाँ छिपी हुई हों उन्हें प्रयत्न-पूर्वक बाहर ले आना।" उनके स्वर में स्वर मिलाकर कहें तो हम कह सकते हैं—"अमुक वस्तु का हम विकास करते हैं, इसका मतलब यह नहीं कि हम उसकी जाति या गुण ही बदल देते हैं। बल्कि इसका अर्थ तो यह है कि उसमें जो गुण छिपे हुए हैं उन्हें प्रकट करते हैं। इसलिए शिक्षा का अर्थ 'विकास' या 'खिलना' कर सकते हैं।" आगे वह लिखते हैं—"शिक्षा एक छुपी ही वस्तु है। मनुष्य शरीर, मन और आत्मा इन तीन वस्तुओं से बना प्राणी है। इनमें आत्मा मनुष्य का स्थायी भाग है। शरीर और मन का जो व्यापार उसके लिए होगा, वह शोभा देगा। इसलिए शिक्षा उस वस्तु का नाम हो सकता है, जिसके द्वारा आत्मा की शक्तियाँ प्रकट होती हैं।" और, "शिक्षा का दूसरा एक यह अर्थ भी हो सकता कि शरीर, मन और आत्मा इन तीनों का जिस साधन

या मार्ग के द्वारा पूरी तरह या ज़्यादा-से-ज़्यादा विकास हो वही शिक्षा है।" कार्लाइल के कथनानुसार, "सच्ची शिक्षा वह है जो मस्तिष्क का विकास करती और उसे शिक्षित बनाती है।" और अध्यापक जनार्दन मिश्र एम० ए० ने तो बड़ी सुन्दरता के साथ उसका सार बतलाया है—"शिक्षा माता है। यह स्वाभाविक पशुता को दबाकर देवत्व प्रदान करती है। दुर्गुणों को दबाकर सद्गुणों का विकास करती है। अच्छी बातों को समझने और उनके अनुसार कार्य करने की क्षमता उत्पन्न करती है।"

सचमुच शिक्षा का बड़ा महत्व है। मेरी नम्र-सम्मति में, सफल शिक्षा वही मानी जा सकती है, जो हमारी आन्तर एवं बाह्य (शरीर, मन एवं आत्म-गत) शक्तियों को ऐसी विकसित कर दे कि उसके द्वारा हम न केवल जीवन-संग्राम की विघ्न-बाधाओं का सफलता-पूर्वक मुक़ाबला कर सकें बल्कि अपने निर्दोष एवं आदर्श आचरण-पूर्ण सफल जीवन द्वारा मानव-समुदाय में एक स्फूर्ति भी पैदा कर दें—ऐसी निर्मल और पवित्र पर साहसपूर्ण स्फूर्ति कि जो उन्हें भी उसी प्रकार शिक्षित होने और अपना वैसा ही संस्कृत जीवन बिताने के लिए प्रेरित करे और इस प्रकार हमारी शिक्षा अपने निजी हित या उद्धार के लिए ही काम न आकर समष्टि-रूप में सम्पूर्ण मानव-समुदाय के हित और उद्धार का कल्याण-मय साधन बने। शिक्षा स्वार्थ है, सच्चे 'मैं' (अहभाव) को विकसित करने का। शिक्षा लालसा है, समस्त मानव-सृष्टि के उद्धार की। शिक्षा प्रवृत्ति है, समस्त मानवबन्धुओं के सुन्दर और निर्बाध सफल जीवन-यापन की। और इसलिए इसका क्रियात्मक रूप या परिणाम है—प्रेम, अहिंसा, सेवा। शिक्षा-सम्पन्न अथवा शिक्षित इसका मूर्त-रूप है। उसमें होनी चाहिए इच्छा, महदेच्छा, परमेच्छा, सच्ची और दृढ़ लगन अपने जीवन में इसे क्रियात्मक रूप देने की। शिक्षा का अभिप्राय और परिणाम अप्रेम नहीं, प्रेम है—वह शुद्ध और निर्दोष आत्म-सम विश्व-प्रेम कि जो मानव-मात्र को आत्म-रूप समझ कर उसे स्वयं तो कोई दुःख-पीड़ा पहुँचाने का ख़याल भी न ही करे पर किसी दूसरे द्वारा पहुँचाई जाने वाली या अपने आप उसपर होने वाली दुःख-पीड़ा (हिंसा) को भी उसी प्रकार बिना महसूस किये न रह सके, जैसे स्वयं अपने पर वैसा संग आने पर वह करता, और यथाशक्ति अधिक-से-अधिक सेवा-द्वारा उसके निवारण के लिए कटि-बद्ध हो जाय। यही समाज-संगठन का सर्वोत्तम और सबसे दृढ़ आधार हो सकता है। ऐसा होने पर ही विश्व—मानव-समाज—को निर्बाध और चिरस्थायी शान्ति प्राप्त हो सकती है। और चूँकि शिक्षा मनुष्य अथवा मानव-समाज की सम्पूर्णता की दिशा में प्रगति या विकास करने ही का दूसरा नाम है, इसलिए, हम कहेंगे, यही शिक्षा का भी सर्वोत्तम और मूल मन्त्र है।

परन्तु, क्या हम इसी दिशा में बढ़ रहे हैं?—

\+ + +

संसार के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष और महात्मा गाँधीजी की राय है—"आज कल जो ज्ञान दिया जाता है, उससे मन का भले ही कुछ विकास होता हो, पर हम कह सकते हैं कि शरीर और आत्मा का विकास तो होता ही नहीं है। × × × मन के विकास के विषय में भी मुझे सन्देह है। इसलिए कि यद्यपि हम मन को बहुत से ज्ञान का भण्डार बना लेते हैं, पर इससे यह तो नहीं माना जा सकता कि उसका विकास अवश्य हो हुआ है। यह नहीं कह सकते कि मन 'खिल' गया।"

'कोरे अक्षर-ज्ञान को," महात्माजी लिखते हैं, "शिक्षा या विकास नहीं कह सकते। भले ही वह ज्ञान हमें एम० ए० बना दे, या संस्कृत का ऐसा पण्डित बना दे कि हम किसी भी संस्कृत शास्त्र में शास्त्री बनकर शोभा दे सकें। उच्च-से-उच्च अक्षर-ज्ञान हमारे विकास अथवा शिक्षा का एक उत्कृष्ट साधन भले ही हो, पर वह स्वयं तो शिक्षा हर्गिज़ नहीं है। × × × खिला हुआ मन मनुष्य का आवश्यक काम कर देता है। पर, आजकल का अक्षर-ज्ञान पाया हुआ मन हमें इधर-उधर भटकाता फिरता है।"

कार्लाइल भी कुछ ऐसे ही विचार व्यक्त करता है—"किसी युवक को ढेर सारी ऐसी निश्चित बातें (Facts) सिखाका देना सच्चे अर्थों में उसे शिक्षित बनाना नहीं है कि जिन्हें सीख लेने और याद रख सकने में तो उसे विशेष

परिश्रम नहीं पड़ता पर न तो वह उन्हें हज़म कर सकता है और न जज़्ब ही। इससे तो उसके दिमाग़ को ज़रा भी पुष्टि नहीं मिलती। अलबत्ता, उसमें आकर वे जम ज़रूर जाती हैं। पर उस हालत में उनका अपरिपक्व और अजीर्णोत्पादक होना स्वाभाविक है। वह एक सम्पन्न (Full) मनुष्य हो सकता है, पर उसकी यह सम्पन्नता एक भरी हुई बोतल के समान है, जो जो-कुछ उसमें पहले भरा गया था उसे ही उण्डेल दिया करती है—फिर चाहे वह अदरक का रस हो या अंगूर का सिरका।" उसके विचारानुसार, "दूसरे लोगों के विचारों का वह एक सुविधापूर्ण भण्डार तो हो सकता है, उन विचारों को सुरक्षित रखने की उसमें पर्याप्त शक्ति भी हो सकती है; लेकिन ऐसे मनुष्य को 'शिक्षित' कहना शिक्षित शब्द का दुरुपयोग करना है और उसकी देख-भाल में दूसरे लोगों को रखना मानव-शक्ति का दुरुपयोग है। वह राजनैतिक क्षेत्र में कूद पड़ता है, साहित्य-सागर में डुबकियाँ लेता है, क्रान्ति की लहरों में लहराने लगता है, मगर पल-भर के लिए भी उसे अपनी मूर्खता का विचार नहीं होता! वह राज-सिंहासनों को मिट्टी में मिला देता है, नर-हत्या को अपनी आँखों देखना पसन्द करता है, और देश को जलती दावानल में ढकेलना चाहता है, उसे न तो दया आती है, न पश्चात्ताप होता है। वह तो बोतल के समान ही जड़ है। जो कुछ उसमें भरा है, उसे निकाल लीजिए, बस, ख़त्म! फिर उसमें रह ही क्या जायगा?"

यूरोप की क्या स्थिति है, यह तो हम नहीं कह सकते। परन्तु, जो भारतवर्ष पहले, हमारे ही नहीं बल्कि प्रोफ़ेसर टिटलर नामक एक विदेशी के शब्दों में भी, "निस्सन्देह एक विशाल विद्या-भवन था, जहाँ से यूरोप की सबसे श्रेष्ठ जातियों ने कला, साहित्य और विज्ञान को सीखा था" उस हमारे भारतवर्ष में तो हमारे अधिकांश 'शिक्षितों' की आज हू-ब-हू यही स्थिति न है?

स्वयं ऐसे शिक्षित और ऐसे वातावरण के अनुभवी अध्यापक जनार्दन मिश्र एम० ए० ने हाल में शिक्षार्थी युवकों की दशा पर अच्छा प्रकाश डाला है। वह लिखते हैं—

"उसे यही सिखलाया गया है कि अंग्रेज़ी में बात कर लेना और ज्यों-त्यों परीक्षा पास कर लेना ही जीवन का सबसे बड़ा धन्धा और चरमलक्ष्य है। उसे यह कभी नहीं कहा गया कि पढ़ने-लिखने का ध्येय पास करना नहीं वरन् जीवन-संग्राम के लिए सुसज्जित होना है। उससे यह नहीं कहा गया कि पास करने से या बाल सँवारने से कोई मनुष्य नहीं बन जाता, वरन् मनुष्योचित गुणों के अनुशीलन से मनुष्यता प्राप्त होती है। उसे यह भी नहीं मालूम है कि चरित्र शब्द का क्या अर्थ है, सत्य का क्या महत्त्व है, कर्तव्य में क्या पवित्रता है, और अपने तथा दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। वह इस बात से बिलकुल अनभिज्ञ है कि अपने जीवन को हम किस साँचे में ढालें, जिससे संसार में मेरा भी कोई स्थान हो। एक अनियंत्रित तथा विशृंखल जीवन बिताने से, संयोगवशात् इधर-उधर ठोकर खाने से, जो बातें किसी भी अशिक्षित के हृदय में आ सकती हैं उतनी ही उसके हृदय में पाई जाती हैं। इतना ही नहीं बल्कि अशिक्षितों की सारी दुर्बलताओं को अपने हृदय में रखकर शिक्षा के पवित्र नाम पर (वह) समाज का एक रोग हो जाता है। दासता उसका धर्म है और 'भिक्षांदेहि' उसका मन्त्र है!"

कितनी शोचनीय दशा है! महात्माजी के स्वर में स्वर मिलाकर कहें तो "यह विकास-हीन शिक्षा-क्रम बिना नींव की इमारत है। अथवा अंग्रेज़ी कहावत का अनुवाद किया जाय तो चूने से पोती क़ब्र के जैसी है, जिसके अन्दर मुर्दा रक्खा हुआ है और जिसे या तो कीड़े-मकोड़े खा गये हैं या खा रहे हैं।"

इस शिक्षा-प्रणाली का श्रीगणेश और परिपोषण करने वाली सरकार भी इसकी निर्दोषिता का दावा नहीं कर सकती, जबकि हम देखते हैं कि स्वयं उसके द्वारा प्रकाशित नाम-मात्र की अर्द्ध-सरकारी रिपोर्ट (India in 1926-27) में भी पृष्ठ १७६ पर स्पष्ट किया है—"भारतवर्ष की शिक्षण-पद्धति ऐसी है कि जो एकमात्र क्लर्की के धन्धों के उपयुक्त व्यक्ति ही तैयार करती है। औसतन प्रत्येक शिक्षा-प्राप्त भारतीय अपने गुज़ारे के लिए सबसे पहले सरकारी मुलाज़िमत की ओर नज़र डालता है, और उसमें काम-

पास न होने पर किसी नीम-सरकारी या सार्वजनिक संस्था की क्लर्की पर नजर दौड़ाता है।"

(३)

यह स्थिति शोचनीय जरूर है, पर इस पद्धति का परिणाम अस्वाभाविक नहीं। अस्वाभाविक तो इसे कह ही कैसे सकते हैं, जबकि इसकी स्थापना ही इसीलिए हुई है ? और यह तो आज कौन नहीं जानता कि हम भारतीयों को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने के पवित्र उद्देश्य से प्रेरित होकर नहीं बल्कि ब्रिटिश जनता और ब्रिटिश सरकार के अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही १८ वी सदी में इसका आरम्भ हुआ था ?

श्रीमती एग्नेस स्मेडली ने एक जगह कहा है—"जब कभी कोई जाति या राष्ट्र विदेशी शिकंजे में पड़ जाता है, तब यह बात निश्चित-सी समझनी चाहिए कि उस पराजित राष्ट्र की शिक्षा का या तो विजेता-द्वारा ध्वंस कर दिया जाता है, या उसपर इतनी कड़ी देख-भाल रक्खी जाती है कि उसका पनपना दुष्कर हो जाता है। क्योंकि, ज्ञान और परतन्त्रता दोनो साथ-साथ नहीं रह सकते।"

हमारे 'अंग्रेज महाप्रभुओं' ने भी इसी नीति से काम लिया। मेकाले साहब ने कहा—"हमें चाहिए कि हम भारत मे एक ऐसी जाति पैदा करें, जो वर्ण और रक्त मे तो भारतीय हो, पर रुचि, विचार और बुद्धि में अंग्रेज हो।" और 'कलकत्ता-गजट' (सन् १८१९) में घोषणा हुई—"हम भारतीयों को इस ढंग से शिक्षित करेंगे कि वे हमे हमारे व्यापार और शासन को चलाने मे भरसक सहायक-भर हो सकें।"

इसीका यह परिणाम है, जो आज हमारे देश को भुगतान पड़ रहा है। जो इस ढाँचे में ढलता है, नये-नये फ़ैशन, नई-नई जरूरतों और नये-नये उच्छृङ्खल विचारो को लेकर निकलता है। और वे होते क्या हैं ?—सब पश्चिमी ढंग के, सब भौतिक, सब कृत्रिम। दिखावट-बनावट का वह मानों पुतला बन जाता है। आचार-विचार में वह 'जंगली काले' लोगों को ठुकराता है, जॉन साहब काका और बुल साहब का वफ़ादार खादिम बनने का वह प्रयत्नपूर्वक ढोंग रचता है। अपने देश की हरएक चीज़ बात-व्यवहार पर नाक-भौं सिकोड़ने में फ़ख्र समझता है; हर बात में मानों विलायत का बच्चा बनने का वह दम भरता है। हिन्दी को गन्दी बताता और अंग्रेजी को गले लगाता है। दूध से परहेज करके चाय-बिस्कुट-डबलरोटी, कॉफी और शराब का शौकीन बनता है। रहन-सहन, पोशाक-लिबास, आचार-व्यवहार सब बदलने का वह प्रयत्न करता है। सदाचार क्या चीज़ है, इसे वह महत्व नहीं देता। स्वच्छन्द, अबाध्य अमर्याद भोग और सुख (Eat, drink and be merry) 'ऋणंकृत्वाघृतं पिबेत्' ही उसका जीवनोद्देश्य है—परवाह नही देश, जाति या कुटुम्ब रसातल मे जाते हैं या क्या होते हैं। 'मैं', 'मेरा स्वार्थ', 'मेरा आराम सुविधा'—बस यही उसका प्रधान लक्ष्य है। खेती-किसानी, लुहारी, सुतारी, सुनारी आदि कुदरीमी धन्धे उससे नहीं हो सकते, १८-२० रुपये की क्लर्की मे भले ही दु:खम-सुखम जीवन बिता देना पड़े।

शिक्षा हममे नम्रता और सेवा के बजाय अहंकार और खुदी का बीजारोपण कर रही है। प्रेम के बजाय हिकारत—दूसरो को अपनेसे छोटा और नीच समझने—की परागम्भा भाव पैदा कर रही है। और अहिंसा के स्थान पर पर-पीड़न—बुद्धि-कौशल के बल पर चतुराई-चालाकी से दूसरो के हक़ों को कुचल-दबा लेने अथवा उनके परिश्रम का नाजायज़ फ़ायदा स्वयं उठाने—की वृत्ति को आश्रय दे रही है। अपनेसे अधिक बुद्धि किसी दूसरे में हो सकती है, इसे हम नहीं मानते। बड़ों का आदर हम नहीं करना चाहते। ख़बरदार, जो 'बड़ा' होने की हैसियत से कोई हमारे लिए जरा भी कुछ अन्यथा कहे ! हम किसी की नही सुनना चाहते, अगर किसी को रहना है तो हमारे इच्छानुसार ही उसे चलना होगा। 'बड़े' तो तेल मे तले जाते हैं। नेता कोई हमारा क्या बनेगा ? हम स्वयं आत्म-प्रकाश हैं—ब्रह्म-स्वरूप हैं। रूढि या परम्परा पर कुछ सोचने का हम कष्ट ही क्यो उठायें यदि वह हमारे 'आकाओं' के देश और सभ्यता में नहीं प्रचलित है ? भारत और भारतीय सभ्यता नहीं बल्कि पश्चिम और पश्चिमी सभ्यता ही संसार का उद्धार करेंगे। यही विद्रोही-भाव शिक्षितों मे थोड़े-बहुत परिमाण मे आज हमारे यहाँ घर किये हुए है। देश-भक्ति भी, इनमें से कई, करते हैं तो शायद वह भारत की भक्ति से प्रेरित होकर नहीं बल्कि इसलिए कि वह इस समय का एक 'फ़ैशन' है !

नतीजा यह हो रहा है कि हमारा आत्म-बल घटता जाता है। भारत दिन-ब-दिन संसार की नज़रों में गिरता जाता है। हम हतवीर्य और हत-साहस होते जा रहे हैं। पहले जैसे साहस के काम अब स्वप्न की बातें हो गई हैं। हममें इतनी निराशा छा गई है कि बहुत-से तो यही विश्वास नहीं करते कि फिर भी कभी भारत अपने पैरों पर खड़ा होगा—फिर भी कभी अपने यश-गौरव से वह संसार को प्रकाशमान कर सकेगा। हमारे शिक्षित लोग ज़बान से भले ही कुछ कहा करें, पर अन्दर से उन्हें दुविधा ही रहती है कि सरकार चली जायगी तो हम क्या करेंगे? आत्मविश्वास लगभग नष्ट हो चुका है, कल्पना-शक्ति वैसे ही उधार चली गई, जैसे आँखें चश्मे के बदले रेहन रख दी गई। देश ग़रीब और तबाह होता जा रहा है; पर यहाँ 'मुर्दा दोज़ख़ को जाय या बहिश्त को, क़ाज़ी को हलवा-रोटी से काम' चरितार्थ हो रहा है। अपने वंशगत धन्धों से घृणा कर हम सब नौकरी पर आधार करते जा रहे हैं, जिसका यह परिणाम है कि बेकारी की समस्या दिन-पर-दिन भीषण-से-भीषणतर और व्यापक होती जा रही है। देखिए, कोटमैन साहब लिखते हैं—'जबकि हम भारत की बेकारी का ज़िक्र करते हैं तो साधारणतः हमारे दिमाग़ में जो बात होती है वह है शिक्षितों की बेकारी, और इसमें लेश-मात्र सन्देह नहीं कि यह ऐसी समस्या है, जो प्रतिवर्ष अधिक-से-अधिक गम्भीर होती जा रही है।' (India in 1926-27 P 146) यही नहीं, हमारा गृह-जीवन भी दिन-दिन शुष्क, नीरस, स्नेह शून्य, स्वार्थ-प्रधान और चिन्त्य होता जा रहा है। और इन सबका परिणाम कोई बहुत अच्छा नज़र नहीं आता।

यह ठीक है कि सभी शिक्षितों के बारे में हम यह बात नहीं कह सकते, साथ ही यह न कहना भी बिलकुल एकांगी होगा कि हमने उससे थोड़े-बहुत गुण भी ज़रूर सीखे हैं, परन्तु सब मिलाकर तो, अपेक्षाकृत, हमारी यही दशा न है?

मुकुटबिहारी वर्मा

आदर्श, नियम और प्रचलित प्रथा

आजकल हिन्दू-समाज की अवनति तथा सुधारकों और उनके विरोधियों के मतभेद का मुख्य कारण आदर्श, नियम और प्रचलित प्रथा में भेद न करना और सुविधा के अनुसार एक को दूसरे की जगह प्रयोग करके अपने पक्ष को सबल बनाने का प्रयत्न करना मालूम होता है। जिस समय किसी प्रचलित प्रथा के सुधार के सम्बन्ध में विचार किया जाता है, उस समय सुधार के विरोधी उस प्रथा के आदर्श स्वरूप को सामने रख कर समाज के सामने उसके आदर्शानुसार न चलने के कारण समाज-क्रान्ति का चित्र खींचने का प्रयत्न करते हैं। उस समय वह भूल-से जाते हैं कि समाज उस प्रथा के केवल आदर्श से ही च्युत नहीं हुआ है बल्कि नियम से भी बहुत नीचा गिर गया है और इसलिए इस समय उस प्रथा के अनुसार चलनेवालों और उसके इस समय प्रचलित रूप में सुधार करने वालों में कौन यदि आदर्शानुसार नहीं तो कम-से-कम उसके नियम के अनुसार चलने का प्रयत्न कर रहा है। यह बात हिन्दू-समाज की प्रायः हर प्रचलित प्रथा के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

प्रत्येक प्रथा का एक माना हुआ आदर्श होता है। उसको जहाँ तक हो सकता है ऊँचा और दिव्य बनाया जाता है। इसलिए, जन-साधारण से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे उसके अनुसार चलें। हाँ, समय-समय पर विशेष व्यक्ति उसके अनुसार चलकर उसको व्यावहारिक साबित करते हैं और जन-साधारण को उसके अनुसार चलने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। पर फिर भी सामान्य मनुष्यों का उसके अनुसार चलना कठिन होता है। इसलिए

उस आदर्श से सम्बन्ध रखने वाले ऐसे नियम बना दिये जाते हैं, जिनपर सामान्य पुरुष चल सकते हैं और जिनके अनुसार चलने से समाज व्यवस्थित रह सकता है तथा यह माना जा सकता है कि वह आदर्श के नज़दीक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है। लेकिन, प्रायः देखा जाता है कि समाज के अगुआ सुविधानुसार इन नियमों में परिवर्तन करते रहे हैं। आदर्श को एक-सा रखते हुए समय और काल के अनुसार नियमों में परिवर्तन किया जा सकता है और इस परिवर्तन से समाज के विकास में बड़ी सहायता मिल सकती है। पर यदि किसी स्थान और समय-विशेष के अनुसार बने नियमों को ही हम आदर्श मानलें और उनमें परिवर्तन करना उतना ही आपत्तिजनक समझें, जैसे आदर्श को बदलना, तो कहा जा सकता है कि समाज उस समय आदर्श और उससे सम्बन्ध रखने वाले नियमों से बहुत दूर हट गया है और प्रचलित प्रथाओं या रूढ़ियों का उपासक हो गया है। ऐसी अवस्था में प्रचलित प्रथा को ही सब-कुछ समझ लिया जाता है, यह विचार करना महापाप समझा जाता है कि उसका असली स्वरूप क्या था और उस स्वरूप और प्रचलित प्रथा में कितना भेद हो गया है, और किस प्रकार स्थान और समय के अनुसार हुए आदर्श तक नहीं तो कम-से-कम उस सम्बन्धी नियम के अनुसार चलने के लिए प्रचलित प्रथा में क्या परिवर्तन किया जाय।

समाज की इस शोचनीय अवस्था का मुख्य कारण, जैसा ऊपर बताया गया है, इन तीन शब्दों—आदर्श, नियम और प्रचलित प्रथा—को ठीक प्रकार न समझना और एक का दूसरे की जगह प्रयोग करना है।

उदाहरण के रूप में यदि हम विधवाओं के सम्बन्ध में ही विचार करें तो मालूम होता है कि विवाह की तरह विधवा का आदर्श बड़ा ऊँचा रक्खा गया है, वह पवित्रता और त्याग की मूर्ति समझी गई है, और इसलिए उसके सामने सबके मस्तक झुक जाते हैं, ऐसा समझा गया है। पर यदि समाज विवाह के आदर्श से ही गिर जाय, और इसलिए उसमें पांच वर्ष और उससे कम अवस्था तक की विधवायें लाखों की संख्या में पाई जायँ, तो क्या इस प्रचलित प्रथा के अनुसार उन लाखों मासूम बच्चियों के सामने आदर्श विवाह-सम्बन्धी विधवा का उच्च आदर्श रख कर उनसे जीवनभर वैधव्य मनवाना और पग-पग पर उनका तिरस्कार करना आदर्श का पालन करना समझा जा सकता है? ऐसी हालत में यदि हमारे विवाह में आदर्श या नियम के अनुसार न चल सकने के कारण समाज में इतनी अधिक बाल-विधवायें हो गई, तो उस समय देश और काल के अनुसार कोई ऐसा नियम बना दिया जाय कि विधवायें—विशेषकर बाल-विधवायें—यदि चाहें तो उनके अभिभावकों का कर्त्तव्य है कि वे उनका विवाह कर दें, या किसी अवस्था तक की विधवायें विधवा ही न समझी जायँ और इसलिए उनके अभिभावकों का कर्त्तव्य हो कि वे उनका विवाह दूसरी अविवाहित कन्याओं की तरह करदें। तब यह आशङ्का हो जा सकती है कि इस प्रकार के विवाहों-द्वारा विधवा के आदर्श से समाज गिर रहा है, लेकिन यह शंका उसी समय ठीक मालूम होती है, जब समाज विवाह के आदर्श पर चल रहा हो, और उसमें बाल-विवाह और अनमेल विवाह न हो रहे हों। लेकिन जब ये तीनों प्रकार के विवाह अधिक संख्या में हो रहे हों, या यह कहना गलत न होगा कि अधिकतर विवाह इसी प्रकार के हों, तो ऐसी हालत में उन बाल-विधवाओं के सामने विधवा का उच्च आदर्श रखने की अपेक्षा उनके विवाह-सम्बन्धी नियम

बनाने से ही हम समाज को व्यवस्थित रख सकते हैं और इसलिए आदर्श के अधिक निकट पहुँचने का प्रयत्न कर सकते हैं। सुधारक और उनके विरोधी दोनों इस बात में सहमत हैं कि विधवा-विवाह आदर्श विवाह नहीं है। भेद केवल यह है कि सुधारक यह अनुभव करते हुए कि जिस देश में पाँच वर्ष और उससे कम की विधवायें दो लाख से ऊपर हो वहाँ उन मासूमों से जीवन-भर जबर्दस्ती वैधव्य पालन कराने से कैसे-कैसे दुष्परिणाम हो रहे हैं और समाज किस प्रकार अधोगति की ओर जा रहा है, विधवा-विवाह-सम्बन्धी नियम बनाने का प्रयत्न करते हैं; पर उनके विरोधी इस बात पर विचार नहीं करते कि समाज आदर्श से कितना गिर गया है और इसके कारण कितनी बुराइयाँ फैलकर समाज की जड़ को खोखली कर रही हैं, वे आदर्श की दुहाई देकर वस्तु-स्थिति को क़ायम रखने के लिए प्रचलित प्रथा का समर्थन करते हैं। इनमें कुछ लोग ऐसे मिलते हैं, जो चाहते हैं कि बुराई की जड़—इस उदाहरण में, विवाह के आदर्श से गिरने—को ठीक किया जाय। वे चाहते हैं कि विवाह उस आदर्श के अनुसार हों। पर वे उस आदर्श से गिरने के कारण हुई बुराइयों को दूर करने के उपाय पर ठीक प्रकार से विचार नहीं करते—या यह कहा जा सकता है कि वे उसका इलाज करने यानी आगे बढ़ने से हिचकते हैं। इसका मुख्य कारण तो बुराइयों में छोटी बुराई को साहस-पूर्वक समाज के कल्याण की दृष्टि से न चुनना है। यदि वे ऐसा साहस करें, तो उनमें और सुधारकों में कोई अन्तर नहीं रहता। सुधारक भी विधवा-विवाह और उसके सम्बन्ध के नियम न बनाने के कारण समाज की अव्यवस्थित अवस्था और तज्जन्य बुराइयाँ इन दोनों को 'बुराई' समझते हैं; पर समाज के कल्याण की दृष्टि से विधवा-विवाह-रूपी छोटी बुराई को, उसके न होने देने से होने वाली दूसरी बड़ी बुराइयों की अपेक्षा, स्वीकार करते हैं और उसके सम्बन्ध मे नियम बनाने का प्रयत्न करते हैं।

लेकिन सुधार के विरोधियों मे एक दल ऐसों का भी है, जिन्होंने आदर्श में ही भेद कर दिया है और जो किसी समय की प्रचलित प्रथा को ही आदर्श मान बैठे हैं। ये दोनों में कुछ भेद नहीं देखते और इसलिए इनको समझाना असम्भव-सा ही मालूम होता है। अतः इनसे यह भी आशा नहीं की जा सकती कि ये प्रचलित प्रथा को आदर्श के अनुकूल बनाने के लिए किसी नियम के बनाने में [illegible] त हो सकते हैं। इनका तो विचार करना ही व्यर्थ है।

इस प्रकार यदि हम अपने विचारों मे आदर्श और व्यवहार—प्रचलित प्रथा—मे भेद करने लगें, और सुभीते के अनुसार एक को दूसरे की जगह प्रयोग न करें बल्कि समाज के उत्थान की दृष्टि से दोनों का समन्वय किसी विशेष नियम द्वारा करना सीख लें, तो सामाजिक सुधार-सम्बन्धी बहुत-से झगड़े तय हो जायँ और बहुत-कुछ मतभेद जो इन शब्दों को ठीक न समझने के कारण समाज मे फैला हुआ मालूम होता है, दूर हो जाय और सबका भाव समाज को व्यवस्थित करके उसको उन्नत अवस्था मे ले जाने का हो, तो बहुत-से असली मतभेद भी समझौते की नीति के अनुसार दूर किये जा सकते हैं।

रामशरण

"धार्मिक, राजकीय अथवा वैज्ञानिक दलीलें, जो किसी एक स्थान और एक समय मे सही मान ली गई हैं दूसरे स्थान और दूसरे समय में गलत हो सकती हैं। लेकिन व्यवहार नीति [illegible] सत्य है। इससे लोगों को सच्चा सुख प्रेम और शान्ति प्राप्त हो सकती है।" —टाल्स्टाय

भविष्य की स्त्री

जबसे मनुष्य-समाज की सृष्टि हुई है तभी से मनीषी लोग स्त्री-पुरुष-समस्या पर विचार करते आये हैं, और जबतक यह संसार है तबतक विचार करते रहेंगे। इस प्रश्न की महत्ता का एक विशेष कारण है। इसीके ठीक हल पर मानव-समाज की शान्ति और सुख निर्भर हैं।

इतिहास पर दृष्टि डालने से पता लगता है कि अति प्राचीन काल में स्त्री को समाज में पुरुष के समान ही पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। वह चाहे जिससे विवाह कर सकती थी। कई उदाहरण तो ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें पता लगता है कि आदि काल में विवाह का भी कोई विशेष बन्धन न था। पशु-जगत के समान स्त्री-पुरुष स्वेच्छानुसार समागम कर लेते थे। परन्तु धीरे-धीरे उस स्वतन्त्रता का ह्रास होता गया और विवाह की प्रथा चली। यहाँ तक कि होते-होते कालान्तर में पुरुष स्त्री को अपनी भोग-वस्तु और निजी सम्पत्ति समझने लगा। स्त्री अपना पति आप चुनने के जन्मसिद्ध अधिकार से वंचित कर दी गई। उसका काम मनुष्य की काम-लिप्सा को तृप्त करना ही ठहराया गया। इस भोग-वस्तु को अपने ही अधिकार में सुरक्षित रखने के लिए नाना उपाय सोचे जाने लगे। शास्त्रों और स्मृतियों ने 'लूले, लगड़े, कोढ़ी और पागल' पुरुष के साथ भी आ-जीवन बँधी रहने का स्त्री को उपदेश दिया। इसके लिए उसे स्वर्ग के सब्ज बाग दिखलाये गये। क्रूर, कुकर्मी और दुराचारी पति को छोड़ जानेवाली स्त्री को डराने के लिए बहुसंख्यक नरकों की सृष्टि की गई। पुरुष का शासन और अधिकार अक्षुण्ण रखने के लिए स्त्री को ज्ञान-लोक से वंचित कर दिया गया। उससे विद्या प्राप्ति का अधिकार छीन लिया गया। जैसे बहुमूल्य मणि-मुक्ता को चुराये जाने के भय से छिपाकर रक्खा जाता है, वैसे ही स्त्री को रत्न समझ कर बुर्के और घूँघट में छिपाया जाने लगा। बस, स्त्री की स्वतंत्रता का अन्त हो गया। वह स्वाधीन प्राणी न रह कर गाय-भैंस के सदृश एक सम्पत्ति बन गई।

स्त्री का शरीर पुरुष से दुर्बल है। पुरुष उसपर अपने पाशविक बल से शासन करता है। इसके अतिरिक्त रोटी कमाने के सभी द्वार स्त्री के लिए बंद हैं। उसे पेट भरने के लिए पुरुष का मुहताज होना पड़ता है। इसलिए वह पुरुष की क्रीतदासी बन गई है। नाना कष्ट झेलकर भी उसे पुरुषों की इच्छाओं के अनुसार अपनेको ढालना पड़ता है। पुरुष का मन उससे विरक्त हो जाने से उसे भूखों मरना पड़ेगा, इस डर से उसे अपने मन को अपनेमें अनुरक्त रखने के लिए नाना प्रकार के हाव-भाव और हार-सिंगार करने पड़ते हैं। इस प्रकार प्रत्येक बात में पुरुष के अधीन और उसकी दया पर निर्भर होने के कारण उसकी स्वतन्त्र इच्छा का नाश हो गया है। उसे प्रत्येक बात—चलना, फिरना, खाना, पीना, सोना, जागना, हँसना, रोना, प्रेम और घृणा, सब—अपनी स्वाभाविक इच्छा से नहीं वरन पुरुष की प्रसन्नता के विचार से करनी पड़ती है। युग से इन बातों का अभ्यास करते आने—अपने स्वाभाविक भावों को दबाकर पुरुष की इच्छा के अनुकूल दिखलावा करने पर विवश होने—के कारण उसकी वास्तविक प्रकृति इतनी दब गई है—इतनी परिवर्तित हो गई है—कि उसके प्रकृत स्वरूप का पता लगाना इस समय मुश्किल हो रहा है। स्त्री इस समय जो प्रेम, विनय, स्नेह, सेवा और आत्मोत्सर्ग की सजीव मूर्ति देख पड़ती है वह नारी-आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, यह कहना कठिन है।

मध्य-कालीन लोगों ने स्त्री को बहुत निन्दा की है। शङ्कर कहता है—'नरकस्य द्वारं किम् ? स्त्री' अर्थात्, स्त्री नरक का द्वार है। कबीर कहता है—'नारी, नदी, अगाध जल डूब मुआ संसार।' गोस्वामी तुलसीदास ने नारी को ढोल और पशु के समान 'ताड़न का अधिकारी' ठहराया है। सच तो यह है कि कलियुग में जितने भी धर्माचार्य हुए हैं, महर्षि दयानन्द को छोड़कर, सबने नारी-निन्दा में अपने ग्रंथों को कलङ्कित किया है।

स्वतन्त्रता-हीन दास मनुष्य सब दुर्गुणों का आगार बन जाता है। निष्कपटता, उदारता, सरलता, सत्यप्रियता आदि सभी सद्गुण उसका साथ छोड़ देते हैं। यही दशा स्त्री की हुई। पर पहले ही पराम्न-जीवी, विद्याहीन और पराधीन स्त्री छल-कपट के सिवा अपनी स्वतन्त्रता के लिए और कर ही क्या सकती थी ? इसलिए उसका नाम कपट के लिए बदनाम हो गया। 'स्त्री चरित्र पुरुषस्य भाग्य देवो न जानाति कुतो मनुष्य।' इत्यादि लोकोक्तियों की सृष्टि हुई।

परन्तु स्त्रियों के सौभाग्य से, अथवा पुरुषों के दुर्भाग्य से, काल-चक्र अब अपनी दिशा को बदल रहा है। संसार की स्त्री घोर दासता की अवस्था से निकलकर स्वतन्त्रता के वायुमण्डल में आना चाहती है। इसमें उसको सफलता होगी या नहीं, यह अभी कहना कठिन है। कारण, इसका निर्भर उस मूल्य पर है, जो वह स्वतन्त्रता के लिए देने को तैयार होगी। पिंजरे में बन्द मैना को मनुष्य दाना-पानी, घी-पूरी और फल-फूल खिलाता है। वर्षा-आँधी और शिकारी पक्षियों से उसकी रक्षा करता है। पिंजरे में एक स्वतन्त्रता को छोड़कर, मैना को, और सब सुख प्राप्त हैं। अब यदि वह स्वतन्त्रता चाहे तो उसे पिंजरा छोड़ने के साथ इन सब सुखों का भी परित्याग करना पड़ेगा। तभी वह स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकेगी। यही बात स्त्री की है।

गत बीस वर्षों में स्त्री की स्थिति में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया है। भारत में तो पुरुष भी पराधीन दास हैं। इन दासों से स्वतन्त्रता का दावा पाने की आशा भारतीय नारी कर ही कैसे सकती थी ? हाँ, पश्चिम में स्त्री ने स्वतन्त्रता का झण्डा फहरा दिया है। उसके स्वतन्त्रता के युद्ध का आरम्भ 'वोट' देने का अधिकार प्राप्त करने के उद्योग के साथ हुआ था। तब से स्त्री का पग स्वतन्त्रता के पथ पर दिन-पर-दिन आगे ही बढ़ता रहा है। आज हम पश्चिम में हज़ारों स्त्रियाँ ऐसी पाते हैं, जो अपना पेट पालने के लिए पुरुषों की मुहताज नहीं, जो स्वतन्त्र आजीविका करके स्वाधीन जीवन व्यतीत करती हैं।

पश्चिम में स्त्री की आर्थिक मुक्ति ने उसे स्वाधीन करने में बड़ी सहायता दी है। कल-कारख़ानों और दफ़्तर-दूकानों में काम करके वह अपनी रोटी आप कमाती है। इन कामों के लिए उसकी माँग भी अधिक है। कारण, वह पुरुष की अपेक्षा सस्ती मज़दूरी पर काम करना स्वीकार कर लेती है। उसके काम में सफ़ाई और फुर्ती भी अधिक है। पुरुष को पहले अपने शारीरिक बल का बड़ा अभिमान था। वह समझता था, स्त्री अपने कमनीय-कोमल कलेवर से अधिक बल का काम नहीं कर सकती। परन्तु अब बिजली की शक्ति ने भारी शारीरिक बल की आवश्यकता ही नहीं रहने दी। एक छोटा-सा बटन दबा देने से बिजली अपने-आप भारी-भारी बोझ उठा कर इधर से उधर रख देती है। कारख़ानों में अब जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है, फुर्ती, निपुणता, और सफ़ाई। सो ये चीज़ें पुरुष की अपेक्षा स्त्री में कहीं अधिक हैं। जिस समय पुरुष भद्दे पन से कुर्सी पर बैठा मूँछों को ताव दे रहा होता है, उस समय स्त्री की कोमल अँगुलियाँ बड़ी फुर्ती से

मशीन पर दौड़ रही होती हैं। इसलिए कारखानों के मालिक भी पुरुष की अपेक्षा स्त्री-मजदूर को ही अधिक पसंद करते हैं।

स्त्री के इस आर्थिक उद्धार का परिणाम क्या हुआ है? वह अब घर में बन्द रह कर पुरुष की बाँदी बनी रहना पसन्द नहीं करती। वह भी सिनेमा, नाटक और सैर-सपाटे मे अपना मनोरञ्जन करती है। स्त्री को माँ कब बनना चाहिए, इसका निर्णय पहले पुरुष ने अपने अधीन रख छोड़ा था। वह जब चाहता था, स्त्री की इच्छा रहते-न-रहते, उसे माता बना देता था। पर अब आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन स्त्री अपनी इच्छा से माता बनती है।

पतिव्रत-धर्म की महिमा का मूल्य भी अब घटता जा रहा है। स्त्री समझती है, ये सब भय मुझे पुरुष की दासी बनाये रखने के लिए ही दिखाये गये हैं। धर्म-शास्त्रों ने भी पुरुष के अधीन होकर इसपर ईश्वरीय छाप लगाने का यत्न किया है। जो बातें यूरोप के प्राचीन स्त्री-समाज मे बुरी समझी जाती थीं वे आर्थिक रूप से युक्त स्त्री की दृष्टि में बुरी नहीं रहीं। वह अब पुरुषो के सदृश चुरुट पीती, वारुणी-स्नान करती, बाल कटवाती, सिर पर टोप और टाँगों मे बिरजिस पहन कर घोड़ा दौड़ाती है, और रोटी बनाने बच्चे पालने, और घर मे बैठकर पति की फटी हुई जुर्राबों को रफ़ू करने जैसे अधम और अनुत्पादक कामों का करना नापसद करती है।

जो बात आज यूरोप और अमेरिका में है, वही कल भारत मे होने वाली है। टर्की और अफगानिस्थान जैसे कट्टर मुसलमानी देश बुर्क़े और बहुविवाह को छोड चुके हैं। स्त्री-स्वातन्त्र्य की लहर भारत को भी बड़े वेग से प्लावित करती जा रही है। किसी अंग्रेजी कालेज मे पढ़ने वाली हिन्दू लड़की और उसकी दादी के रहन-सहन, आचार-विचार, वेष-भाषा में कितना अन्तर है! प्रति दिन तड़के उठने, चक्की पीसने, चर्खा कातने, गोबर थापने, घर में बैठकर चूल्हा फूँकने, बच्चों को नहलाने-धुलाने, पति के चरण दबाने, उसके माथे पर बल पड़ा देखकर ही थर-थर काँप उठने वाली स्त्री दिन-पर-दिन कम होती जा रही है। सुधारकों की चिल्लाहट के रहते भी उसका स्थान दिन-चढ़े उठने, चाय-बिस्कुट खाने, हवाखोरी करने, सन्तानोत्पत्ति से घबराने, और बात-बात में पति नाम के अभागे प्राणी को डाँट देने वाली, स्वतन्त्रता-प्रिय दुर्बलकाय लड़की लेती जा रही है। मनु कहता है, स्त्री कभी स्वतन्त्र न हो। बचपन में वह पिता के, जवानी में पति के, और बुढ़ापे में पुत्र के अधीन रहे। आधुनिक सुशिक्षित लड़की ऐसे धर्म-व्यवस्थापक को पागल समझ कर उसके धर्म-शास्त्र को जला डालना चाहती है। गार्हस्थ्य में प्रवेश करके "पति-परमेश्वर" की आराधना-द्वारा मरने के बाद मोक्ष-प्राप्ति की अपेक्षा वह अध्यापिका, नर्स, डाक्टर या वकील बन कर इसी ससार मे जीवन-मुक्त होना अच्छा समझती है। वह अपने समय का मूल्य जानती है। चर्खा कातने में वह जितना समय लगायगी, उतने समय मे वह दूसरे काम से, अपनी योग्यता के प्रताप से, कहीं अधिक धन कमा सकती है। पुरानी स्त्रियाँ जवानी के ढलते ही अपना सारा सौन्दर्य और आकर्षण खो बैठती थीं। आधुनिक स्त्री 'पोमेड' और पाउडर' की सहायता मे ऐसे मनोहर ढग से बनाव-चुनाव और शृङ्गार करती है कि चालीस वर्ष की अवस्था मे भी वह अपनी चारुता से बीस वर्ष की नवोढा जान पड़ती है।

अब प्रश्न होता है कि इस लहर का परिणाम क्या होगा? स्त्री-पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा होगा? हमारे पारिवारिक जीवन की क्या दशा

होगी ? इन प्रश्नों का उत्तर देना सुगम नहीं। इसका अनुमान करते भी डर-सा लगता है। संभवत: पुरुषों को अपनी विषय-वासनाओं के संबंध में अधिक संयम से काम लेना पड़ेगा। जिसे "पारिवारिक सुख" कहा जाता है, वह सब नष्ट हो जायगा। "घर" नाम की कोई चीज संसार में न रह जायगी। स्त्री और पुरुष होटलों में खाना खाया करेंगे और क्लब का-सा जीवन व्यतीत करेंगे। जिस प्रकार इस समय स्त्रियों पर अत्याचार हो रहा है, उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध बूढ़ों और अयोग्यों से ब्याह दिया जाता है, वैसा भविष्य में न हो सकेगा। स्त्रियाँ पुरुषों पर भार न होकर अपनी आजीविका आप कमायँगी, और पुरुष का उतना ही दबाव सहन करेंगी, जितना सहन करने की उनकी अपनी इच्छा होगी। गर्भ-निरोध (Birth control) की विधियों का व्यापक प्रचार होगा। आत्मोत्सर्ग का भाव नष्ट होकर स्त्री और पुरुष अपने-अपने सुख और भोग-विलास की ही चिन्ता करेंगे। नारियाँ 'देवी' के स्थान में 'स्त्री' कहलाना अधिक पसन्द करेंगी। क्योंकि जब पुरुष किसी स्त्री को देवी कहता है तो उसका भाव यह होता है कि वह एक ऐसी खिलौना-सी चीज है, जो दुनिया की दौड़-धूप नहीं कर सकती, जिसे संसार की गर्मी-सर्दी से बचा कर एक सुरक्षित स्थान में रख छोड़ना चाहिए, और पत्र-पुष्प से पूजा कर छोड़ना चाहिए।* पुरुष के दिये हुए इस हीनता-सूचक शब्द को वह अपने लिए अपमानजनक समझेगी। जात-पाँत और छूत छात के ढकोसले उड़ जायँगे और ब्याह-शादी में सब पूर्ण स्वतन्त्रता से काम लेंगे।

—सन्तराम

* हम नहीं कह सकते, भविष्य की स्त्री-सम्बन्धी विद्वान् लेखक की यह कल्पना कहाँ तक सत्य होगी। सम्भव है, ऐसा ही हो। परन्तु 'देवी' शब्द को उन्होंने जिस रूप में यहाँ प्रयुक्त किया है, हमारा ख़याल है, वह ठीक नहीं। कम-से-कम हम तो जब किसी स्त्री-विशेष अथवा स्त्रियों के लिए 'देवी' शब्द का प्रयोग करते हैं, तब हमारे मन में उस अथवा उन स्त्रियों के प्रति एक प्रकार के उच्च और पवित्र आदर-श्रद्धा का भाव विद्यमान रहता है। हमारे यहाँ प्रचलित देवी की उपासना और पूजा भी क्या इसीका प्रमाण नहीं है ?

—सम्पादक

स्त्रियों की क़लम से

पर्दा

हमारे यहाँ चली हुई घूँघट की प्रथा भी इस समय उतना ही कष्ट दे रही है, जितना व्रण के उपरक्षार देते हैं। शिक्षा के अभाव में विशेष रूप से चलाया हुआ पर्दा भी कारण है। जहाँ पर यह घूँघट है, वहाँ एक विशेषता यह भी है कि बेचारी कन्याओं को छोटी ही अवस्था में ब्याह दिया जाता है। इससे वे माता-पिता के घर से तो शिक्षा के लिए हाथ धो ही बैठती हैं, ससुराल में लाज-शर्म बाधक हो जाती है। फिर जब शिक्षा ही नहीं, तब व्यावहारिक ज्ञान और लोक में प्रवृत्ति होना सर्वथा असम्भव है; और मनुष्यता सम्पादन करना तो कोसों दूर रहता है। फिर तो वहाँ पाशविक जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इसलिए इन दोषों का निराकरण आवश्यक है।

माणिकबाई (बम्बई)

स्त्रियों की कौंसिल

[स्थान—कवि का शयनागार]

स्त्री—मैं स्त्रियों की कौंसिल बनाने जा रही हूँ।

कवि—क्यों ?

स्त्री—पुरुषों ने हमारे सब अधिकार छीन कर हमें घर की दासी बना रक्खा है। हम अपना अधिकार चाहती हैं।

कवि—दासी तो तुम अपने मुँह से बन रही हो। पुरुष की तो तुम स्वामिनी, हृदय-हारिणी और जन्म-सफल-कारिणी हो। आजकल कुछ पढ़ी-लिखी स्त्रियों का दिमाग फिर गया है, वे पुरुषो के समान अधिकार चाहती हैं। यद्यपि समाज में उनको पुरुषों से कहीं अधिक अधिकार पहले ही प्राप्त हैं।

स्त्री—जैसे ?

कवि—जैसे, तुम घर-गृहस्थी के साधारण काम करती हो, जिनमें परिश्रम कम करना पड़ता है। रसोई तो तुमको ही बनाना चाहिए। क्योंकि विधाता का विधान यही है। तुम्हारा हाथ लगते ही भोजन अमृत हो जाता है।

स्त्री—तुम्हे विधाता का यह विधान कैसे मालूम हुआ ?

कवि—मैं सब जानता हूँ। जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि। विधाता ने पुरुषों के साथ पहले ही से अन्याय कर रक्खा है। उसने पुरुषों की अपेक्षा तुमको अधिक रूप दिया है। तुम्हारा शरीर मखमल-सा मुलायम, आँख ऐसा कटीली कि—

जिहि दिसि दीठत निर्दयी,
तेरे नैन कजाक।
जिहि दिसि फिरत सनेहिया,
किये गरेबाँ चाक॥

तुम्हारे दाढ़ी-मूँछ नहीं। भला बताओ, पुरुषों की तरह तुम्हारे भी दाढ़ी-मूँछ होती, तो क्या संसार में इतनी लड़ाइयाँ कभी लड़ी गई होतीं और करोड़ों पुरुषों की हत्या हुई होती ? दाढ़ी-मूँछ से युक्त तुम्हारे मुँह से तो लोग जटा युक्त नारियल के हुक्के को अधिक पसंद करते।

स्त्री—तुम मेरा अपमान करते हो !

कवि—अपमान की तो कोई बात मैं नहीं करता हूँ। मैं विधाता का पक्षपात बतलाता हूँ। तुम्हारे रूप की ज्वाला में अब तक पृथ्वी के करोड़ों पुरुष तो पतंगे की तरह जल मरे होंगे। विधाता ने तुमको इतना रूप क्यों दिया ?

स्त्री—इसमें मेरा क्या दोष ?

कवि—मैं तुम्हारा दोष कब कहता हूँ, मैं तो विधाता के पक्षपात की चर्चा करता हूँ। तुम्हारा रूप-रंग देखकर पुरुषों ने भी तुम्हारे साथ रियायत की है। भला, यदि पुरुष तुम्हें पेड़ पर चढ़ कर लकड़ी तोड़ने, घास काटने, हल जोतने, ठेला चलाने, मूठ बोझकर धन कमाने और कड़ी धूप में सड़क कूटने का काम सौंप कर अपने ज़िम्मे घर के भीतर, छाया में, सुख से बैठकर बर्तन माँजने, चौका देने, रसोई बनाने और चक्की पीसने का काम ले लेते तो बताओ आज तुम्हारी क्या दशा होती, ऊँची एड़ी के बूट पहन कर ऊँट की तरह मचकती फिरती और चश्मा लगा कर बाइसिकिल की तरह आँखें बनाये घूमती ?

स्त्री (क्रोध से)—तुम मेरी दिल्लगी उड़ाते हो ! मैं एक भी पुरुष को कौंसिल में नहीं रहने दूँगी।

कवि—कौंसिल में तुम्हीं सब रहो, मैं इसकी पर्वाह नहीं करता; पर, पुरुषों के एहसान न भूल जाना।

स्त्री—एहसान कैसे ?

कवि—तुम्हारे जिस रूप ने पुरुष से पुरुष का गला कटवाया, उसी रूप की वृद्धि के लिए पुरुष अनंत सागरतल में डूब कर, प्राणों का मोह छोड़ कर, मोती निकालता है, जिससे तुम्हारे गले का हार बनता है। पृथ्वी का वक्षस्थल फाड़ कर पुरुष सोना चाँदी, हीरा और जवाहिर निकालता है। करोड़ों जीवों की हत्या करके रेशमी साड़ी तैयार करता है, जिसे पहनकर तुम तितली की तरह उड़ती फिरती हो। लाखों पुरुष-सुनार तुम्हारे लिए गहने गढ़ते और अपनी आँखें फोड़ते तथा कमर तोड़ते हैं।

स्त्री—यह तो पुरुषों की मूर्खता है।

कवि—पुरुषों की मूर्खता नहीं है तुम्हारी है। विधाता ने तुमको ऐसा रूप दिया है कि बड़े-बड़े विश्व-विजयी सम्राट् तुम्हारे रूप के सामने नतमस्तक हो जाते हैं, फिर

भी तुम ऐसी मूर्खा हो कि अपनेको कुरूपा समझती हो और रूपवती बनने के लिए गहने पहना करती हो !

स्त्री—मैंने कब कहा कि मुझे गहने बनवा दो ?

कवि—क्यों झूठ बोलती हो ? मैं जभी भोजन करने बैठता हूँ, तभी तुम प्रति दिन किसी-न-किसी गहने के लिए अनुनय, विनय, क्रोध, धमकी, रूठने, आँसू गिराने आदि का अभिनय किया करती हो ।

स्त्री—अच्छा, यह एहसान मैं तुम्हारा मानती हूँ ।

कवि—और सुनो । सैकड़ों कवियों ने तुम्हारे लिए जीवनदान दिया है । बिहारी ने जन्मभर तुम्हारी ही उपासना की । तुमने ज़रा-सा मुस्करा दिया, बिहारी ने उसे भी लिख लिया । तुमने ज़रा सी भौं मटका दी, बिहारी ने उसे भी लिख लिया । तुम चलते-चलते कहीं रुक गईं, या पैर में कंकड़ी धँस जाने से तुमने नाक सिकोड़ ली, बिहारी ने उसे भी नोट कर लिया । देव ने वृद्धावस्था तक तुम्हारी खुशामद की । मतिराम की मति-गति सब तुममें ही लीन हो गई । पद्माकर ने तो तुम्हारा साथ तब छोड़ा, जब उन्हें कोढ़ हो गया । यह तो सब मरे हुए कवियों का हाल है, आजकल तो हजारों जीवित कवि तुम्हारी खुशामद में भगवान् तक को भूल गये हैं । भला, इतने एहसानों के होते हुए, तुमको पुरुषों के सामने नम्रता से सिर झुका लेना चाहिए न कि उद्दण्डता और अकृतज्ञता-पूर्वक अधिकार की वृद्धि चाहना चाहिए ?

स्त्री (हँसकर)—तुमने खूब याद दिलाई ! कवियों से तो मुझे खास चिढ़ है । कवि बड़े झूठे और लबार होते हैं ।

कवि—कैसे ?

स्त्री—जैसे, उस दिन एक स्थानीय दैनिक पत्र में ये पंक्तियाँ छपीं—

आज बिलमिल का हौसला देखा ।
जाके मकतल मे सर कटा आया ॥

मैं इसे पढ़कर बहुत दुःखी हुई । मैं समझ न सकी कि किस अपराध से वह मक़तल (वधागार) में पहुँचे, उनकी स्त्री मेरी मित्राणी है । मैं उसे सान्त्वना देने के लिए उसके घर पहुँची । वह बेचारी सुख से लेटी हुई उपन्यास पढ़ रही थी । मैंने समझा, इसे ख़बर नहीं कि इसका पति मक़तल में पहुँच गया है । मैंने शोक प्रकट करते हुए दैनिकपत्र का वह अंश उसे दिखलाया । वह खिल-खिलाकर हँस पड़ी और कहने लगी—'बहन, मेरे पति कवि हैं । कवि तो सदा ही झूठ बोला करते हैं ।' मैं बहुत ही अप्रतिभ हुई और अपमान न सहन करके सीधी उसके पति के पास पहुँची, जो म्युनिसिपैलिटी के दफ़्तर में नौकर हैं । वह हज़रत दफ़्तर में बैठे जलपान कर रहे थे । मैंने झुँझला कर कहा—'जनाब आप तो यहाँ बैठे जलेबियाँ उड़ा रहे हैं, वहाँ अख़बार में छप गया कि आप क़त्ल हो गये !' उन्होंने हँसकर कहा कि यह तो रोज़ का हाल है । मैं और झुँझलाई और सीधी घर चली आई । तबसे मैं कवियों को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखने लगी हूँ ।

कवि—यह तो तुम्हारी समझ का दोष है ।

स्त्री—क्यों नहीं ! झूठ बोलो तुम; लबारी करो तुम, व्यभिचार फैलाओ तुम, कुटनापन करो तुम, युवक-युवतियों को बिगाड़ो तुम, और समझ का दोष हो हमारा ! !

कवि—मैंने क्या व्यभिचार फैलाया ?

स्त्री—सुनो ! तुम्हींने तो लिखा है—

"यहि पाखे पतिव्रत ताखे धरौ ।
+ + +
बावरी जो पै कलंक लग्यो
तो निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति ?"

क्या यह व्यभिचार को प्रोत्साहन देना नहीं है ? और सुनो—

यदपि हमारो कंत रहत हमेस घर
तदपि तिहारो दुख आनि मोहिं घेरो री ।
प्यारी 'पद्माकर' परोसिन हमारी तुम
याही तें भयो है छान मोतन घनेरो री ॥
ह्वै है कैसी हाय अब और यह भौन लाग्यो
होन लाग्यो भौन भौन भौरन को फेरो री ॥
सिसिर को अंत आयो प्रगट बसंत आयो,
अंत आयो मेरो पै न आयो कंत तेरो री ॥

क्या तुम पसन्द करते हो कि तुम्हारी स्त्री भी इसी तरह अपनी पड़ोसिन के कंत से अनुराग रक्खे ? फिर तुम ऐसी बातों का प्रचार क्यों करते हो ?

कवि (सकुचाकर)—हाँ, यह अपराध मैं स्वीकार करता हूँ।

स्त्री—यही एक ? सैकड़ों अपराध हैं। सुनते जाओ, तुम कैसे छली हो!

केलि के मंदिर बैठी हुती
दुइ प्रेमभरी तहँ प्रीतम आयो।
दोउन सों करिकै मधुरी
बतियाँ अपने ढिग में बिठरायो॥
"भानु" सुगंध सुँघायबे के मिस
एक के नैन कपूर लगायो।
मींजन जौलौं लगी तबलौं
हँसि दूजी को आपने अंक लगायो॥

हाय, हाय! ऐसा छल! पुरुष के हृदय में सच्चा प्रेम क्या नाम-मात्र को भी नहीं है?

(कवि नीचे की ओर मुँह लटकाये हुए, चुप!)

स्त्री—और सुनो। नन्हीं-नन्हीं बालिकाओं के साथ भी बलात्कार करने में तुम्हें लज्जा नहीं आती—

खेलन चोर मिहींचनी आजु
गई हुती पाछिले द्योस की नाईं।
आली कहा कहौं एक भई
"मतिराम" नई यह बात तहाँई॥
एकहि भौन दुरे इक संगही
अंग सों अंग छुवायो कन्हाई।
कम्प छुट्यो तन स्वेद बढ्यो
तनु रोम उठ्यो अँखियाँ भरि आई॥

अपराध तो तुम करते हो, नाम लगा देते हो कन्हाई के! एक छोटी-सी अविवाहिता कन्या आँख-मिचौनी खेलने गई थी, उसके साथ इस तरह के व्यवहार का अनुमोदन क्या सभ्य-समाज में कभी किया जा सकता है?

कवि—तुम अनुमोदन की बात करती हो, ऐसे ही कवित्तों के पीछे तो मेरी जीविका चलती है। राज-दरबार से बढ़कर सभ्य-समाज और कहाँ मिलेगा? ऐसे कवित्त पर तो चारों ओर से वहाँ पुरस्कार की वर्षा होने लगती है। यह साड़ी जो तुम पहने हो, इस सवैया के कहने पर मिली थी—

जात हुती निज गोकुल को
हरि आयो तहाँ लखि कै मग सूना।
तासों कह्यो अकुलाकर यों
अरे साँवरे बावरे तैं हमे छू ना॥
आज धौं कैसी भई सजनी
उत वा विधि बोल कह्योई कहूँ ना।
आनि लगायो हिये सों हियो
भरि आयो गरो कहि आयो कछू ना॥

स्त्री (साड़ी उतार फेंक कर और दूसरी पहन कर)—राम, राम! यह पाप की कमाई मैं छू भी नहीं सकती। भला इस तरह भी कोई किसी के धर्म पर डाके डालता है? और तुम इसका समर्थन करते हो? मुझे मत छुओ!

कवि—छुओ, चाहे मत छुओ। पर, एहसानों को तो याद रखना।

स्त्री—और कौन से एहसानात?

कवि—देखो, हमने, अर्थात् पुरुषों ने, स्त्रियों के नाम कितने सुन्दर रक्खे हैं! जैसे, मालती, कुमुदिनी, हेमनलिनी, ललिता, कामिनी, सुन्दरी, सरला, माधवी, मोहिनी, कमला, तारा, किशोरी, प्रभा, इत्यादि। सभी नाम उच्चारण में सुगम, सुनने में मधुर, और समझने में सुखद हैं।

स्त्री (भौंह मटकाकर)—और पुरुषों के नाम?

कवि—धृष्टद्युम्न, इक्ष्वाकु, युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, मार्कण्डेय, क्षपणक, मल्लिनाथ, खड्गमल्ल, क्षोणीन्द्र, हरिश्चन्द्र। कोई नाम ऐसा नहीं, जिसमें दो-चार जगह मुँह न टेढ़ा करना पड़ता हो। उच्चारण में विषम, सुनने में कटु, और समझने में भी भयानक। देखो, पुरुषों ने तुमको कोष और व्याकरण पर अधिक अधिकार दे रक्खा है कि नहीं?

स्त्री—अच्छा, यह मैं मानती हूँ।

कवि—अब गुणों को लो। तुममें कोमलता तो है ही। तुम्हारी वाणी में मिठास है। एक शब्द बोल देती हो, मानों कान में कोई अमृत घोल देता है। तुम्हारे हृदय में प्रेम है। दिन-भर की मिहनत से चूर थके-माँदे घर आते हैं और तुम एक बार प्रेम से देखकर मुस्करा देती हो, बस, इतने से ही सारी थकावट दूर हो जाती है। तुममें दया है,

सहिष्णुता है, भोलापन है, लज्जा है, वशीकरण है, और मोहिनी कला है।

स्त्री—और पुरुषों में ?

कवि—पुरुषों में युद्ध, विवाद, क्रूरता, अभिमान, छल, डकैती, चोरी आदि।

स्त्री—तुम शायद विधाता को कोसते होगे कि नाहक़ पुरुष हुए ?

कवि—अवश्य। यदि पुरुषों के वश की बात हो तो आज कितने ही सम्पादक, लेखक और समालोचक किसी मारवाड़ी सेठ की सेठानी बनने को साग्रह तैयार हैं। कितने वकील और बैरिस्टर किसी माल-गोदाम के बाबू की स्त्री बनने को सहर्ष प्रस्तुत हैं। कितने ही कवि, गायक और चित्रकार किसी ज़मींदार के घर की पुरखिन बनने को हाथ जोड़े खड़े हैं।

स्त्री—तुम भी ?

कवि—सबसे पहले।

स्त्री—ख़ैर, मैं तुम्हारी बातों के जाल में नहीं पड़ना चाहती। यह तो तुम स्वीकार करते ही हो कि पुरुष बड़े झगड़ालू, लड़ाकू, क्रूर और कपटी होते हैं। अतएव, मैं कहती हूँ, इनके हाथ में शासन-सूत्र नहीं रहना चाहिए। क्योंकि, स्वभाव-वश ये कभी शान्ति से नहीं रह सकते।

कवि—और—

नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं।
अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया।
भय अविवेक अशौच अदाया॥

क्या यही प्रमाणित करने के लिए तुम शासन-सूत्र अपने हाथ में लेना चाहती हो ?

स्त्री—पुरुष हमेशा स्त्रियों की निंदा किया करते हैं। तुलसी भी तो पुरुष ही थे।

कवि—अच्छी बात है। तुम कौंसिल बनाओ। अपनी चपलता और अविवेक के मारे तुम सालभर में एक बात का भी निर्णय न कर सकोगी।

स्त्री—देख लेना।

(२)

[स्थान—कौंसिल-चेम्बर]

ज्ञान-गर्विता (सभानेत्री)—बहनो! आज परम-सौभाग्य का दिवस है कि हमारा वर्षों का आन्दोलन सफल हुआ। मेम्बरी के लिए जितनी बहनें खड़ी हुई थीं, उनमें दो को छोड़कर शेष सब चुन ली गई हैं; यह हमारे आन्दोलन की सफलता और जनता की रुचि का प्रबल प्रमाण है। जो दो पुरुष आये हैं उनका मैं हृदय से स्वागत करती हूँ। उनके द्वारा पुरुषों के मनोभावों का पता हमको लगता रहेगा और हम अपने निर्दिष्ट पथ पर सावधानी से चल सकेंगी। बहनो! हमको अबला बताकर पुरुषों ने हमें धोखे में डाल रक्खा था। अब हमें दिखला देना चाहिए कि हम अबला नहीं, प्रबला हैं। अभिमानी और कलहप्रिय पुरुष-जाति से देश का शासन-सूत्र छीनकर हमने अपने हाथ में लिया है। अब हमें देश में प्रेम और दया का संचार करना चाहिए। बड़ी (केन्द्रिय) सरकार से हमें अपने प्रांत के लिए एक वर्ष का समय मिला है। एक वर्ष में हमने शासन की योग्यता प्रमाणित कर दी तो हमें चिरस्थायी अधिकार मिल जायगा। इतना ही नहीं, अन्य प्रान्तों में भी स्त्री-शासन का श्रीगणेश किया जायगा। इस भाषण के साथ मैं आज कौंसिल का कार्यारम्भ करती हूँ।

श्रीमती आलस्य-नन्दिनी—मेरा पहला प्रस्ताव यह है कि सब सरकारी नौकरियाँ केवल स्त्रियों को ही दी जायँ।

श्रीमती सुख-में-पली—मैं इसका विरोध करती हूँ। पहरेदारी, साईसी तथा मेहतर का काम पुरुष से ही लिया जाना चाहिए।

श्रीमती आलस्य-नन्दिनी—यहीं क्यों ? धूप में करने के जितने काम हों, सब पुरुषों से लिए जायँ।

श्रीमती मिर्ज़ापुरी लोटिया—ज़रूर, पुरुष कुछ काम न करेंगे, तो उन्हें निकम्मा बनाने का अपराध हमारी सरकार को लगेगा।

श्रीमती निद्रादेवी—पुरुषों ने स्त्रियों से मनु के समय से आज तक इतना काम लिया है कि अब स्त्रियों को आराम करने की छुट्टी मिलनी चाहिए।

सभानेत्री—यह विवादास्पद विषय तीन सदस्यों की एक

कमिटी के सुपुर्द किया जाता है। कमिटी की रिपोर्ट आने पर इसपर विचार होगा। कमेटी की सदस्यायें श्रीमती सुख-में-पली, श्रीमती मेरा-घुमती और श्रीमती आलस्य-नन्दिनी होंगी।

दूसरा प्रस्ताव

श्रीमती बातूनी—हिन्दी के पुराने ढर्रे के कवि समाज में दुराचार का प्रचार करते हैं, स्त्री-जाति के गोपनीय विषयों का वर्णन खुल्लम-खुल्ला सभाओं में करते हैं, अविवाहिता कन्याओं के साथ व्यभिचार को प्रोत्साहन देते हैं, समाज में विलासिता का प्रचार करके आलस्य बेकारी, कायरता, और शारीरिक निर्बलता की वृद्धि करते हैं। मेरा प्रस्ताव यह है कि ऐसे कवियों के लिए अलग एक कवि-नगर बसाया जाय, जहाँ वे अकेले रहें।

श्रीमती क्षणप्रभा—अकेले से आपका क्या अभिप्राय है?

श्रीमती बातूनी—अकेले से मेरा मतलब यह है कि कवि-नगर में कवियों के सिवा और कोई न रहने पावे।

श्रीमती विद्युल्लता—स्त्रियाँ रहे या नहीं?

श्रीमती बातूनी—जिन स्त्रियों को कवियों ने इतना बदनाम किया है, जिनके अश्लील से अश्लील कृत्यों को—चरित्रहीनता को—लिख लिखकर, छपा-छपाकर उन्होंने घर-घर फैलाया है, उनके साथ रहने के लिए कौन-सी कुनारी तैयार है? यह मैं जानना चाहती हूँ।

श्रीमती कलह-प्रिया—मैं 'कुनारी' शब्द पर आपत्ति करती हूँ। मान लीजिए कि कोई 'सुनारी' अपने कवि पति को सुधारने के लिए कवि-नगर में रहे तो उसे 'कुनारी' क्यों कहना चाहिए? श्रीमती बातूनी यह शब्द वापस लें।

श्रीमती बातूनी—मैं शब्द वापस लेने को तैयार नहीं हूँ। कवियों के साथ किसी 'सुनारी' को रहना ही नहीं चाहिए। जो रहेगी वह अवश्य 'कुनारी' कही जायगी।

श्रीमती ज्वालामुखी—इस कु सु के झगड़े को जाने दीजिए। मैं इस प्रस्ताव में यह संशोधन पेश करती हूँ कि कवि-नगर में रहनेवाले कवियों को एक-एक भैंस दे दी जाय। कवि लोग अपनी-अपनी भैंसें चरायेंगे, इससे उनको हमारी शिकायतें लिखने का मौका कम मिलेगा। भैंस का दूध पियेंगे, इससे उनकी प्रतिभा भी शिथिल पड़ जायगी। और सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि भैंस का रंग-रूप देख कर उनमें कविता करने की इच्छा ही उत्पन्न न होगी।

श्रीमती कलह-प्रिया—ज्वालामुखी ने मेरे साँवले रंग और स्थूल शरीर को लक्ष्य करके भैंस शब्द कहा है। मैं इस मुँहझौंसी को इसका मजा चखाऊँगी।

श्रीमती ज्वालामुखी—राँड, पूतखाई, कुलटा, मैंने तुझे कब भैंस कहा?

श्रीमती कलह-प्रिया—देखो, मेरी चोटी पकड़ कर खींच रही है!

श्रीमती ज्वालामुखी—इ ने मेरे मुँह में एक तमाचा मारा!

श्रीमती कलह-प्रिया—इसने मुझे ढकेल दिया!

श्रीमती ज्वालामुखी—इसने मेरी साड़ी फाड़ डाली!

श्रीमती कलह-प्रिया—इसने दाँत से मेरी अंगुली चबा ली!

श्रीमती विशालाक्षी—मुझे डर लगता है, मैं भागती हूँ।

श्रीमती निद्रादेवी—कैसा अच्छा स्वप्न देख रही थी। इन दोनों चुड़ैलों ने सब गड़बड़ कर दिया।

श्रीमती मिर्जापुरी लोटिया—दोनों खूब गुत्थम-गुत्था हो रही हैं। लड़ने दो। चली हैं हुकूमत करने। पुरुषों की चौथाई भी सहनशीलता स्त्रियों में नहीं है। भला, कभी किसी ने सुना है कि कौंसिल में पुरुषों ने कभी ऐसी हाथापाई की थी?

श्रीमती मदालसा—सभानेत्री महोदया! आज की बैठक स्थगित कीजिए।

सभानेत्री—बड़े खेद की बात है कि हम लोग किसी बात का विचार नहीं कर सकतीं। मैं कौंसिल का यह अधिवेशन तीन महीने के लिए स्थगित करती हूँ।

(३)

दूसरी बैठक

[स्थान—कौंसिल-चैम्बर]

सभानेत्री—कोरम पूरा न होने से कौंसिल का यह अधिवेशन स्थगित किया जाता है।

सेक्रेटरानी—सदस्याओं के आये हुए पत्रों के खुलासे पढ़कर सुनाती हूँ।

सभानेत्री—हाँ!

"आलस्य-नन्दिनी—बरसात में घर छोड़ने को जी नहीं चाहता, इससे मैं नहीं आ सकती।

कलह-प्रिया—पहले अधिवेशन में जो अप्रिय काण्ड हुआ है, उससे कौंसिल से मेरी अरुचि हो गई है।

ज्वालामुखी—मैं कलह-प्रिया के साथ एक सभा में नहीं बैठ सकती।

सुख-में-पली—सावन में हिंडोले की बहार छोड़कर कौंसिल में कौन आवे!

विशालाक्षी—बरसात-भर मैं अपने पिता के घर रहती हूँ।

बातूनी—मैं कवियों के विरुद्ध प्रान्त-भर में घूम-घूम कर आन्दोलन करने जा रही हूँ।

मेला-घुमनी—बरसात में तीर्थों में बड़े-बड़े मेले लगते हैं, जिनमें स्त्रियाँ बहुत जाती हैं। मैं मेलों में घूम घूम कर स्त्री-जाति की वर्तमान दशा का अध्ययन करूँगी। इससे कौंसिल के इस अधिवेशन में नहीं आ सकती।"

सभानेत्री—बस करो, मैंने देख लिया कि स्त्रियाँ केवल बकवाद कर सकती हैं, काम नहीं कर सकतीं।

(४)

तीसरी बैठक

[स्थान—कौंसिल-चेम्बर]

सभानेत्री—मुझे बड़ा हर्ष है कि आज कौंसिल की कुछ सदस्यायें उपस्थित हैं।

श्रीमती विनोदिनी—दो सदस्य भी हैं।

सभानेत्री—मैं देख रही हूँ। पर मैं चाहती हूँ कि ये भी सदस्यायें होतीं।

एक सदस्य—हम लोग पुरुषों के प्रतिनिधि-स्वरूप रह गये हैं।

सभानेत्री—अब कौंसिल की कार्यवाही प्रारम्भ की जाती है। प्रांत के शासक का पत्र मैं कौंसिल के सम्मुख उपस्थित करके आशा करती हूँ कि इसपर पूरा ध्यान दिया जायगा। पत्र में उल्लिखित विषय का सारांश यह है कि सीमा-प्रांत पर युद्ध छिड़ गया है। वहाँ के लिए सैनिक चाहिएँ। अतएव कौंसिल सैनिकों की एक अच्छी संख्या भेजने के लिए प्रचुर धन की माँग स्वीकार करे। देश की रक्षा के लिए जल्दी-से जल्दी कार्यवाही होनी चाहिए।

श्रीमती बातूनी—प्रश्न यह है कि सैनिक स्त्री हों या पुरुष?

श्रीमती नरान्तिका—सेना स्त्रियों की भेजी जाय।

श्रीमती बातूनी—युद्ध की कोई आवश्यकता नहीं। युद्ध करना पशुता है। यह पुरुषों का काम है। स्त्रियों का एक डेपुटेशन सीमा-प्रान्त पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं की स्त्रियों के पास भेजा जाय कि वे अपने पतियों को युद्ध करने से रोकें।

एक सदस्य—मैं यह बता देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि सीमा-प्रान्त के लोग ऐसे उद्धत हैं कि डेपुटेशन का डेपुटेशन हजम कर लेंगे और उनकी स्त्रियों को खबर भी न लगेगी।

श्रीमती डरपोकनी—मैं तो डेपुटेशन में नहीं जाऊँगी।

सभानेत्री—क्या इसी साहस पर हमने पुरुषों से अधिकार लिया है?

श्रीमती मिर्जापुरा लोटिया—मेरी राय है कि स्त्रियों की एक बड़ी सेना भेजी जाय।

श्रीमती निद्रादेवी—और सेनापत्नी आपको बनाया जाय?

श्रीमती मिर्जापुरी लोटिया—मैं सभापत्नी महोदया का ध्यान निद्रादेवी के अश्लील व्यंग्य की ओर आकर्षित करती हूँ।

सभानेत्री—आप तो स्वयं उसी प्रकार का अपराध कर रही हैं, जिसका प्रतिवाद कर रही हैं।

श्रीमती बातूनी—स्त्रियों की ही सेना भेजी जाय, इसी में स्त्री-जाति का गौरव है। पर वे युद्ध कैसे करेंगी?

दूसरा सदस्य—कटाक्षों से।

सब सदस्यायें (एक स्वर से)—इन दोनों पुरुषों को कौंसिल से निकाल दो। ये स्त्री-जाति का अपमान करते हैं

दोनों (रास्ते में)—अच्छा हुआ कि हम लोग स्वयं

उठकर चले आये, नहीं तो स्त्रियों की हस्त-सचालन ,क्रिया से हमारी दुर्गती हो जाती।

(५)

[स्थान—कवि का शयनागार]

कवि—कहो, कौंसिल में क्या हुआ ?

स्त्री—एक वर्ष में तीन अधिवेशन हुए। सचमुच एक भी बात का निर्णय हम लोग न कर सकीं। अन्त में प्रान्त के शासक ने सीमा के युद्ध में लड़ने के लिए धन और जनता की सहायता माँगी। लगातार एक महीने तक बैठकें करके भी हम यह निर्णय न कर सकीं कि सेना पुरुषों की जाय या स्त्रियों की। अन्त में बड़ी सरकार ने स्त्रियों की कौंसिल तोड़ देने का हुक्म भेज दिया।

कवि—चलो, छुट्टी हुई !

स्त्री—सचमुच हम लोगों ने नाहक एक झगड़ा सिर पर उठा लिया था।

कवि—मेरी प्यारी हृदयेश्वरी, तुम घर पर ही रहो। कौंसिल में जाकर तुम शुद्ध प्रेम के बदले मिथ्या सहानुभूति प्रकट करना सीखोगी, सत्य के स्थान पर वाक्छल सीखोगी, हृदय की निर्मलता के बदले मनोहर बाह्याडम्बर का ज्ञान प्राप्त करोगी, सेवा-भाव के स्थान में स्पर्द्धा और निन्दा की प्रवृत्ति जाग उठेगी, तुम्हारे नेत्रों में जो माधुर्य है, उसका स्थान धूर्तता ले लेगी। मेरी प्रियतमे ! मेरे हृदय की मणि ! तुम मेरी स्वर्ग ऐसी गृहस्थी को नरक न बनाओ। तुम देश की सेवा करना चाहती हो, तो देश को बलिष्ठ, तेजस्वी और शिक्षित संतान प्रदान करो।

स्त्री—और कवियों ने जो हमारी दुर्गति की है, उस सम्बन्ध में तुम्हारी क्या राय है ?

कवि—इस विषय में मैं तुम्हारे पक्ष में हूँ। पर अन्तर इतना है कि उन्होंने द्वेष वेश नहीं किया, मोह और लोभ-वश किया है। इसका दंड वे पा गये कि देश रसातल को चला गया, उनके आश्रयदाता पराधीन और पद-दलित हो गये। अब उनको कोई नहीं पूछता।

रामनरेश त्रिपाठी

स्फुट प्रसंग

महिलाओं का मान

उस दिन एक विद्वान् मित्र से स्त्री-समस्या पर बातें हुई। बातों के बीच, प्रसगोपात्त, मित्र बोले—' मैं तो इस बात को ही नहीं मानता कि पुरुष स्त्रियों पर अत्याचार करते हैं।" अन्य बातों में हमारा मतैक्य होते हुए भी, मैंने मुस्कराकर उनकी इस बात का अस्वीकार किया। क्या सचमुच पुरुष हृदय पर हाथ रखकर, सचाई से, ऐसा कह सकते हैं ? व्यक्तिगत रूप से सचमुच कई पुरुष बहुत ऊँचे हैं, यह कोई नहीं कह सकता कि सभी पुरुष स्त्रियों पर अत्याचार करते हैं, हमारे विद्वान् मित्र भी जरूर ऐसों में ही होंगे, परन्तु समष्टिरूप से आज ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? यह भी मैं मान सकता हूँ कि पुरुषों की यह ज्यादती, या 'अत्याचार', जान-बूझकर और सोच समझ कर (Considered) न होता होगा, परन्तु प्रतिरोध के अभाव से ही उनमें यह बात क्यों न आई हो, शुरुआत में स्त्रियों के चुपचाप बर्दाश्त कर लेने ही का यह परिणाम-स्वरूप क्यों न हो, फिर भी स्त्रियों की सामुन्नति और निर्बाधता में तो यह बाधक हो न हो रहा है ?

× × ×

नागपुर से एक हृदय-विदारक समाचार आया है। एक पुरुष ने अपनी स्त्री को इसलिए मार डाला कि उसका बाप बड़ा आदमी होते हुए भी उसकी अधिकाधिक रुपयों की प्यास को शान्त नहीं करता था और उसने उसे कोई बड़ी नौकरी नहीं दिलवा दी ! उस तो सैशन जज ने मृत्यु-दण्ड दिया ही है पर पुरुष-भाई जरा विचारें कि पुरुषों का ऐसा कृत्य क्या उनके अपने लिए शोभाजनक है ? सम्भव है, यह कहा जाय कि यह तो अपवाद स्वरूप है। निस्सन्देह, मैं भी इस बात को मानता हूँ, परन्तु, इतनी अति पर नहीं तो भी सामान्य व्यवहार में भी आज क्या पुरुष स्त्रियों के ऊपर इस तरह की थोड़ी-बहुत ज्यादतियाँ नहीं कर रहा है ? कम-से-कम दो-चार उदाहरण तो शायद अधिकांश लोगों के प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। छि:, कैसी

शर्मनाक बात है यह ! क्या हम पुरुष इसपर गम्भीरता से विचार करेंगे ? यह ध्यान रखने की बात है, सच्चा पुरुषत्व किसी पर ज्यादती करने में नहीं, अपने बस-भर उसकी मदद करने में है।

'माया' !

"मैं कार्यवश बम्बई गई थी। वहाँ से अहमदाबाद आई। अहमदाबाद से हिम्मतनगर जानेवाली सबेरे की गाड़ी के जनाने डिब्बे में बैठी। मेरे साथ २॥ वर्ष की मेरी छोटी बच्ची थी। डिब्बे में अन्य स्त्रियाँ भी बैठी हुई थीं, पर देहगाँव के स्टेशन पर वे सब उतर गईं। देहगाँव से गाड़ी रवाना होने के बाद राखियाल का स्टेशन आया। राखियाल के स्टेशन से गाड़ी आगे चली। जब वह कुछ तेज हुई तो, चलती गाड़ी में रेलवे का एक आदमी टिकट-कलक्टरों जैसे कपड़े पहने हुए आया और मेरे सामने की बेंचपर बैठ गया। उसने मुझसे टिकट माँगा, वह मैंने बता दिया। इसके बाद उसने मेरी छोटी बच्ची के हाथ में तीन आने दिये, और मुझसे पूछने लगा×××यह कह कर उसने एक रुपया निकाल कर मेरे पैरों पर रक्खा। इससे मैं उसकी दुर्भावना समझ गई। मैंने उससे कहा कि डिब्बे में से उतर जाओ, नहीं तो गार्ड को बुलाती हूँ। तब उसने मेरे मुँह को हाथ लगाया। मैंने कहा कि तू मेरे भाई के समान है, ईश्वर के लिए तू मुझे मत सता। फिर भी उसने कहा कि मैं तुम्हारे साथ 'माया' करना चाहता हूँ ! इतने में स्टेशन नजदीक आया देख, रुपया वापस लेकर, चलती गाड़ी में वह पास जुड़े हुए गार्ड के डिब्बे में चला गया। प्रान्तिज के स्टेशन पर एक टिकट-कलक्टर ने मेरा टिकट देखने को माँगा। मेरे पास कुछ सामान था, उसकी रसीद के साथ टिकट मैंने उसको देखने को दिया। इसके बाद उसने बच्ची का टिकट माँगा, पर बच्ची २॥ वर्ष की होने के सबब मैंने उसका टिकट नहीं लिया था। इसपर टिकट-कलक्टर ने टिकट और सामान की रसीद को अपनी जेब के हवाले किया। मैंने कहा कि अगर चार्ज लगे तो हिम्मतनगर के स्टेशन पर दे दूँगी पर मेरा टिकट मुझे दे दो। सोनासन के एक मनुष्य ने बीच में पड़कर टिकट वापस दिलाया। इसके बाद मैं दूसरे डिब्बे में चली गई। हिम्मतनगर के स्टेशन पर मेरी माँ मुझे लेने आई, उससे यह बात कहते हुए मैं काँपती-काँपती रो पड़ी। तदुपरान्त हिम्मतनगर के स्टेशनमास्टर से सब बातें कहीं; मुझे सतानेवाला मनुष्य गाड़ी के डिब्बे में छिपा बैठा था, उसे आता देखकर मैंने उसे पहचाना, वह गार्ड था।"

यह आपबीती है ईडर राज्य के हिम्मतनगर गाँव में रहने वाली चम्पा नामक लगभग २० वर्षीय एक विधवा बहन की, और यह कृत्य हुआ अहमदाबाद प्रान्तिज रेल्वे की चलती गाड़ी में। कितनी करुण और क्षोभोत्पादक यह 'राम-कहानी' है ! एक ओर जहाँ हमारी भारतीय बहनों की बेबसी पर तरस आता है, वहाँ दूसरी ओर रक्षक का ही भक्षक बन जाना क्या डूब मरने की बात नहीं ? गार्ड तो यात्रियों के संरक्षक ही होते हैं न ? जनाना डिब्बा उनकी निगरानी ही की दृष्टि से न गार्ड के डिब्बे के करीब रहता है, न कि इस प्रकार अकेली-दुकेली स्त्रियों पर अपनी 'माया' चलाने के लिए उनके साथ यह रिआयत की जाती है ? छि ! क्या रेल्वेवालों के लिए यह शोभाजनक है ?

\+ \+ \+

रेल्वे में ऐसी घटनायें यदा-कदा होती रहती हैं। टूण्डला के गोरों और रोहेलों का पाप-कृत्य आज भी स्मृति-पटल से विलुप्त नहीं हुआ है। और भी कई घटनायें याद आ रही हैं। प्रश्न यह है, इनका निस्तार कैसे हो ? जितनी भी ऐसी घटनायें सुनीं, प्रायः पुरुष ही कामान्ध हुए हैं। अतः पुरुष का कामीपन, उसकी विषयान्धता, उसकी लोलुपता, इसका प्रधान कारण है। अगर पुरुष अपने सिर से इस कलंक को मिटा डालें, संयम अख्त्यार करें, तो ठीक; नहीं स्त्रियाँ स्वयं उठ खड़ी हों, अपनेको और अपनी सुप्त-शक्ति को पहचानें, और दृढ़-मना होकर इसके विरुद्ध जहाद घोषित करदें। देखें, फिर किसकी मजाल, जो उनपर कुदृष्टि भी डाले—कामी में तो साहस ही कहाँ !

औरतों का सौदा !

इस बीसवीं सदी में भला कोई यक़ीन करेगा ? परन्तु, आह ! सचाई को आखिर छिपाया भी कबतक जा सकता है ? अन्त में रहस्योद्घाटन हुआ ही !

युक्तप्रान्त, मध्यप्रांत, सिन्ध, बंगाल, नैपाल और पंजाब में आज, न-जाने कबसे, धड़ाधड़ औरतों का सौदा हो रहा है। युक्तप्रान्त में स्त्रियों की तादाद ज्यादा है, और नैपाल में स्त्रियाँ सुन्दर बहुत होती हैं, इसलिए इन प्रान्तों से स्त्रियाँ, कुटनियों और कुटनों के द्वारा, उड़ाई जाती है और फिर 'कालीनों' के नाम पर दिन-दहाड़े उनकी खरीद फ़रोख्त और आयात-निर्यात का काम होता है। कहा जाता है कि हम कालीन का व्यापार करते हैं, और तार में लाल, आसमानी और काला लिखा जाता है, पर असल में वह स्त्रियों का व्यापार होता है, और लाल से खूबसूरत का, आसमानी से असुन्दर का तथा काले से सगाई-शुदा का मतलब होता है। युक्तप्रान्त की पुलिस ने बड़ी खोज के बाद इस रहस्य का पता लगाया है और अभी उसकी जाँच और जारी है। अमृतसर व मिर्जापुर के बड़े अड्डों का पता लग चुका है, पता नहीं, और भी न-जाने कितने अड्डों का पता लगेगा।

कितनी शर्मनाक बात है! प्रश्न यह है, ऐसा सम्भव क्यों है?

प्रगति-पथ पर

स्त्रियों का प्रश्न दिन-दिन अपना विशेष महत्व ग्रहण कर रहा है। विदेशों में स्त्री-स्वातन्त्र्य की आज गूँज ही नहीं रही, बल्कि उसका उपयोग भी हो रहा है। अमेरिका के राष्ट्रपति का चुनाव अभी होकर चुका है। उसमें स्त्रियों ने जिस जोरों से भाग लिया वह अपूर्व है। आखिर उन्होंने हूवर को राष्ट्रपति के पद पर आसीन करा ही दिया। उधर ब्रिटेन में एक महिला मजदूर दल की उपप्रधान चुनी गई हैं, जो सन्मान किसी स्त्री के लिए सर्वप्रथम है। इधर हमारे एशिया में अफ़गानिस्थान तो प्रगति-पथ पर दौड़ ही रहा है, चीन में भी एक महिला बड़े ऊँचे पद पर चुनी गई हैं। और भारत?

भारत की स्त्रियाँ भी प्रयत्नशील तो दिखाई पड़ती हैं। आजकल हमारे देश में उनके सम्बन्ध में चहुँमुखी ध्वनि सुनाई पड़ती है। सहवास-वय-समिति जोरों से अपना काम कर रही है। गवाहियों से प्रकट होता है कि सहवास की वय में वृद्धि प्रायः सभी चाहते हैं, और १४ से १६ तक की उम्र इसके लिए निश्चित करने की ज्यादातर सिफ़ारिशें हैं। 'हारटोग-कमिटी' शिक्षा-सम्बन्धी जाँच कर रही है, इसमें भी स्त्रियों की शिक्षा-समस्या पर थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ता रहता है। देश की हल-चलों में भी वे योग-दान कर रही हैं। श्रीमती सरोजिनी नायडू देश के 'मिशन' पर ही विदेश गई हैं। कानपुर में मुसलमानों का एक परिषद् हाल में हुई थी। उसके सदस्य पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास करते हिचकते थे। एकाएक स्त्रियों ने आवाज उठाई, अगर तुम ऐसा नहीं करते तो हम पर्दा छोड़ कर मंच पर आती हैं और प्रस्ताव पास करती हैं। आखिर प्रस्ताव पास हो गया। उधर लाहौर में अध्यापक मुहम्मद-शफ़ी भाटी ने 'पर्दे का भविष्य और इस्लाम की शिक्षा' पर भाषण करते हुए कहा है कि पर्दा आज एक राष्ट्रीय प्रश्न हो रहा है। अगर नेहरू रिपोर्ट को व्यावहारिक रूप देना है, तो, उसके शिक्षा-सम्बन्धी प्रस्ताव की पूर्ति के लिए, पर्दे के प्रश्न का हल होना भी जरूरी है। उन्होंने कुरान के उद्धरण देकर यह भी सिद्ध किया कि कुरान में पर्दे का जैसा आदेश है वैसा आज नहीं हो रहा है—उसमें स्त्रियों को अपने कुछ अंगों को ढके रखने का आदेश है, अपने सारे शरीर को ढकने का नहीं। मानवता और भलाई दोनों के लिहाज से इसका हल होना आवश्यक है। नागपुर में एक नर्सरी स्कूल खुला है, जिसमें एक रुपया प्रति-सप्ताह देने पर किसी भी स्त्री के बच्चों की दिनभर रखवाली और सार-सम्हाल की जाती है। स्त्रियों में स्काउटिंग की भी वृद्धि हो रही है, एक स्त्री खासतौर पर वहाँ से इसकी शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड गई है। हैदराबाद में भी स्काउटिंग की वृद्धि हो रही है। उच्च शिक्षा में भी स्त्रियाँ खूब बढ़ रही हैं। रंगून-विश्वविद्यालय में १९२७-२८ में एफ० ए० की परीक्षा में जो युवतियाँ बैठीं थीं उनमें से ५५ प्रति सैकड़ा पास हुई हैं, जबकि युवक सिर्फ ३४ प्रति सैकड़ा पास हुए। बी० ए० में ८० प्रति सैकड़ा पास हुईं, जबकि युवक सिर्फ ७५ सैकड़ा पास हुए। अन्य क्षेत्रों में भी वे इसी प्रकार कदम-बढ़ा रही हैं।

मुकुट

अरे सिपाही !

अरे सिपाही ! साहस-प्याला
धोखे से न छलक जावे ।
अन्तरतम की भव्य-भावना
पानी हो न ढलक जावे ।
विचरण-पथ के काँटों को तुम
देख न सहसा अकुलाना ।
समझ फूल, सुरभित कर हृत्तल
बस ! आगे बढ़ते जाना ।
अन्तर्ज्योति न घटने पावे,
ध्येय-सूत्र ना टूट पड़े ।
नहीं हिचकना, यदि तेरे—
जीवन की जग में लूट पड़े ।

× × ×

रणस्थलों में खेल, सभी को, अच्छी तरह परख जाना ।
मातृ-भूमि के लिए सिपाही ! फिर कुछ करके रख जाना ।

'लहरी'



कर्त्तव्य-विचार

जिस कर्म का करना नैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से परमावश्यक हो, उसे कर्त्तव्य कहते हैं । मनुष्य अपने जीवन में समय-समय पर कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य दोनों ही प्रकार के कर्म करता रहता है । किसीके जीवन में कर्त्तव्य कर्मों की अधिकता और किसीके जीवन में अकर्त्तव्य कर्मों की बहुलता पाई जाती है । कर्त्तव्य कर्म करते हुए अकर्त्तव्य कर्मों से बचते रहना ही बुद्धिमत्ता एवं महत्ता का लक्षण है । जो मनुष्य जितना ही अधिक कर्त्तव्य-परायण होगा, वह उतना ही अधिक परिश्रमी, उत्साही, सत्य-प्रेमी एवं जगन्नियन्ता जगदीश्वर की किसी विशेष विभूति से अलंकृत होगा । कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति के लिए सांसारिक आपदायें तृणवत् तथा विघ्न-बाधायें तूल-खण्ड-तुल्य हैं । कर्त्तव्यशील व्यक्ति जिस कार्य को अपना कर्त्तव्य समझकर अंगीकार कर लेता है, उसे पूर्ण-रूपेण सम्पादित करने के लिए वह अपना तन, मन, धन एवं सम्पूर्ण शक्ति लगा देने को तत्पर हो जाता है । संसार के अनेकानेक दुस्साध्य एवं असम्भव प्रतीत होने वाले कार्य भी कर्त्तव्य-परायण पुरुष-पुङ्गवों द्वारा सहज-साध्य एवं संभव प्रमाणित किये जा चुके हैं । इतिहास इस बात का साक्षी है कि आज-तक संसार में सर्व-श्रेष्ठ माने जाने वाले जितने नर-रत्न हो गये हैं, उन सबकी दिगन्तव्यापिनी कीर्त्ति-पताका उनके कर्त्तव्य-दण्ड के ही सहारे लहराती है ।

जो महापुरुष भिन्नाविभिन्न अवस्थाओं में अव-

विवेक-सूत्र

(१) वक्ता हो, वाचाल नहीं ।
(२) श्रद्धालु हो, अन्धविश्वासी नहीं ।
(३) सुथरे हो, शौक़ीन नहीं ।
(४) विनीत हो, दब्बू नहीं ।
(५) रसिक हो, विलास-प्रिय नहीं ।
(६) परीक्षक हो, छिद्रान्वेषी नहीं ।
(७) आत्माभिमानी हो, अभिमानी नहीं ।
(८) विनोदी हो, मुँहफट नहीं ।
(९) लहरी हो, अव्यवस्थित नहीं ।
(१०) आदर्शवादी हो, अक्रियात्मक नहीं ।

हीरालाल शास्त्री

त्तरित हो, नाना प्रकार के कष्ट सहकर, निज कर्त्तव्य पालन करते रहे हैं, वे ही आज संसार मे सर्वशिरोमणि, परमादरणीय, उपास्यदेवोपम एवं अनुकरणीय माने जाते हैं। संसार के महापुरुषों ने यदि कर्त्तव्य-पालन की महत्ता न समझी होती, तो वे आज जनता की दृष्टि में इतने अधिक सम्माननीय कदापि न ठहरते।

जिन व्यक्तियों ने कर्त्तव्य-पालन के बहाने अपने कपट-पूर्ण व्यवहार द्वारा संसार को आँखों में धूल झोंकने का प्रयत्न किया है उनकी 'उघरहिं अन्त न होहि निबाहू कालनेमि जिमि रावण राहू' वाली दशा हुई है।

स्वार्थवश कर्त्तव्यच्युत हो जाने से यूरोप के नेपोलियन बोनापार्ट बिस्मार्क आदि तथा भारत के कौरव, जयचन्द्र आदि महापुरुष भी आदरणीय न हो सके। वस्तुस्थिति एवं लोक-रुचि की भिन्नता के कारण चाहे कोई किसी कर्त्तव्यहीन व्यक्ति को भी महापुरुष समझने लगे, किन्तु सर्व-साधारण की दृष्टि मे वह समादरणीय नहीं हो सकता। मुगल सम्राट् अकबर की गणना संसार के महापुरुषों मे करना भी एक विचारणीय प्रश्न है। इतिहास के पर्यवेक्षण से ऐसे अनेकानेक महापुरुष नामधारी किन्तु वास्तव मे कपटाचारी, लोक हित-घाती, स्वार्थी पुरुष जगतीतल के समस्त देशों में पाये जाते हैं।

जिस देश में जितने ही अधिक कर्त्तव्य-परायण नर-रत्न उत्पन्न होते हैं, उसकी उतनी ही अधिक उन्नति होती है। प्राचीन भारत की अपार उन्नति का कारण भी बहुत कुछ उसके तत्कालीन सुपुत्रों की कर्त्तव्यशीलता ही थी। इस देश का तत्कालीन वातावरण, सामाजिक परिस्थिति नैतिक अवस्था और धर्म-संस्कृति इस प्रकार की थी कि जिनके कारण यहाँ के स्त्री-पुरुषों को कर्त्तव्य-परायण होने मे बड़ी सहायता मिलती रहती थी। किन्तु जैसे-जैसे भारत का विदेशियों के साथ अधिकाधिक सम्पर्क होता गया, वैसे-ही-वैसे यहाँ पर कर्त्तव्य-परायण स्त्री-पुरुषों की संख्या घटती गई तथा कर्त्तव्य-ज्ञान शून्य स्त्री पुरुषों की संख्या दिन-दुगुनी रात-चौगुनी होती गई। भारत के क्रम-क्रम से वर्तमान हीनावस्था को पहुँच जाने का मुख्य कारण अधिकांश में उसके पुत्रों की कर्त्तव्य-पराङ्मुखता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हो सकता। हमारी तो यही दृढ धारणा है कि यदि आज भी भारतवासी निज कर्त्तव्य-पालन के लिए कटिबद्ध हो जायँ, तो, केवल भौतिक सुख (Material Welfare) को ही सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्रिय मानने वाले नई सभ्यता के अनन्य उपासक पाश्चात्य संस्कृति में पले हुए पुरुषों से परिपूर्ण इस काल में भी, उनकी सत्कीर्ति प्राचीन काल की अपेक्षा अधिक फैल सकती है। ऐसा करने से एक बार फिर वे अपनी विजय-वैजयन्ती को फहराते हुए केवल भारत मे ही नहीं किन्तु समस्त भूमण्डल में अपना डंका बजा सकते हैं। ईश्वरीय विधान और महत्वाकांक्षा से प्रेरित कर्त्तव्य-परायणता के सम्मुख संसार की समस्त शक्तियाँ पराभव स्वीकार करने को तैयार हो जाती हैं।

देखिए, कर्त्तव्य-पराङ्मुख अर्जुन को महाकर्मयोगी श्रीकृष्णचन्द्र ने केवल कर्त्तव्य-परायण होने का ही आदेश किया था। यदि भारतवासी—विशेष कर यहाँका श्रीकृष्णोपासक हिन्दू-समाज—अपनी कर्त्तव्य-पराङ्मुखता का त्याग भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार कर्त्तव्य-परायण हो जायँ, तो निकट भविष्य मे ही वे पूर्ववत् विद्या, कला, वीरता, धीरता के साथ ही साथ वाणिज्य, व्यवसाय और आधुनिक विज्ञान-सदृश प्रकृति का रहस्योद्घाटन करनेवाले विषयों में भी प्रवीणता प्राप्त करके संसार की दृष्टि में अपनेको श्रेष्ठ तथा आदरणीय ठहरा सकते हैं।

एम० जी० कामदार

उद्योगी हरि गोविन्द गोविल

(अमेरिका के भारतीय प्रकाशक)

। [शेषांश]

उत्साह और विश्वास दो उत्तम गुण हैं; युवावस्था की तेजस्विता का सहयोग पाकर यही अजीब-अजीब काम कर सकते हैं। श्री हरि गोविल में ये सद्गुण अच्छी मात्रा में हैं, इन्हीं के बल पर उन्होने वर्तमान जटिल यंत्र युग की भयंकर कठिनाइयों और बर्बर स्पर्द्धापूर्ण औद्योगिक पद्धति की मुठभेड़ मे से अपने लिए रास्ता निकाल लिया।

दूसरी बार मैं उनसे कुछ महीनों बाद मिला। जब मैंने उनसे उनके अभ्यास-क्रम की प्रगति के सम्बन्ध में पूछा, तो उत्तर देते हुए उन्होंने मुझे आश्चर्य मे डाल दिया। उन्होने कहा, 'इलेक्ट्रिक इन्जीनियर बनने के अपने निश्चय को मैं बदल चुका हूँ और शीघ्र ही कालेज छोड़ने वाला हूँ।' स्वभावत मुझे इसका कारण जानने की इच्छा हुई। मुझे कारण बतलाते हुए उन्होंने कहा—

"सच बात तो यह है कि मेरे अमेरिका-निवास ने मेरे दृष्टिकोण को—किसी कारण भी क्यों न हो—बिलकुल बदल दिया है। भारत में रहते हुए तो, कई दूसरे लोगों की भांति, मेरी महत्वाकांक्षा भी विश्वविद्यालय की कुछ उपाधियाँ प्राप्त करना-भर थी। मैंने इन्जीनियरिंग का विषय चुन लिया, इसकी कोई खास वजह नहीं थी—हाँ, इतना जरूर था, उस समय यही मुझे ज्यादा पसन्द हुआ था। मैंने इस बात को तो कभी सावधानता-पूर्वक सोचा ही नहीं कि जब मैं ऊँची शिक्षा प्राप्त कर एक विशेषज्ञ की हैसियत से भारत लौटूँगा तब मैं किस तरह अपने आपको अपनी योजना के उपयुक्त बना सकूँगा, क्योंकि भारत में तो ऐसी योग्यता के भारतीयों की माँग परिमित ही है। लेकिन अमेरिका आने के बाद तो मैंने इस बात पर खूब गहरा विचार किया है और मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि किसी उपयोगी उद्योग या कला का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना अधिक समीचीन और आर्थिक दृष्टि से मेरे लिए अधिक लाभकारक होगा।

"पिछले कुछ महीनों मे मैं एक फैक्टरी में उसके चित्रकार के सहायक की जगह काम कर रहा हूँ। हाल ही मैंने एक संगठन के काम के सम्बन्ध में प्रकाशन-कार्य आरम्भ किया है और मुझे उसमें रस आने लगा है। लोगों से मिलना, सम्मेलनों की योजना करना, और विभिन्न समाचारपत्रों के सम्पादकीय कार्यालयों मे जाकर वहाँ के लोगों से परिचय बढ़ाने की ओर मेरी सहज रुचि है। भारत में, अपनी विद्यार्थी-अवस्था के दिनों मे, "आश्रम" नामक पत्र का प्रबन्ध मेरे जिम्मे था। हम विद्यार्थी-लेखकों में थोड़े कागज बांट दिया करते, जिनपर वे साफ़-सुन्दर अक्षरों मे अपने लेख लिख दिया करते थे। कुछ दूसरे सहयोगी चित्र और तरह-तरह के खाके (डिजाइन) तैयार कर देते थे। इस तरह जब सारा संग्रह पूरा हो जाता, हम उसे इस ढंग से सजा देते कि वह एक छोटा किन्तु बड़ा आकर्षक मासिक बन जाता। हमारे मासिक के कुछ लेखों को बड़े सुप्रसिद्ध मासिकपत्रों मे स्थान मिलते देख हमें सहज ही अपने आप पर अधिक गर्व होता था। उन दिनों विद्यार्थी-वर्ग की हलचलों मे मेरा जितना भाग था, उससे मुझे अधिक सुख मिलता था। शाम के वक्त साहित्यिक बैठकों और मैजिक-लैंटर्न के व्याख्यानों की योजना करनी मुझे बहुत प्रिय थी।

एक नया उन्नतिशील भविष्य

"अब मैं कॉलिज छोड़ने का निश्चय कर चुका हूँ, क्योंकि मैं देखता हूँ कि इञ्जिनीयरिंग की अपेक्षा साहित्य और कला-विषयक बातों के प्रति मेरा प्रेम अधिक सच्चा और स्थायी है। प्रकाशन-सम्बन्धी बातों में मुझे अब बहुत अधिक रस आने लगा है और इस समय मैं एक मुद्रक के कार्यालय में काम कर रहा हूँ। अब तक मैंने अक्षर जोड़ना और पृष्ठों की आकर्षक छपाई करना सीखा है। मुझे विश्वास है कि इस ओर मेरी प्रगति दिन-दिन अधिक ही होती जायगी।"

जब मैंने अपने कई भारतीय मित्रों के जीवन पर एक दृष्टि डाली तो मुझे पता चला कि श्री गोविल का यह निर्णय सामयिक एवं समुचित है। उदाहरण के लिए श्री 'अ' को ही लीजिए—वह शिल्प-शास्त्र में स्नातक हुए और आखिर आयात-निर्यात के व्यापार में फँस गये। श्री 'ब' जो ऊँची आकांक्षाओं और विशेष योग्यता के साथ भारत लौट गये थे, हमेशा इसी बात पर पछताते रहे कि उन्हें सारी जिन्दगी एक ऐसी जगह पर काम करना पड़ा, जिसका वस्तुतः उनकी विशेष योग्यता से कोई सीधा सम्बन्ध न था। मैं ऐसे कई विद्यार्थियों के नाम ले सकता हूँ, जिन्होंने साहित्य और अन्य ऊँचे विशिष्ट धन्धों में कुछ उपाधियाँ प्राप्त की थीं, लेकिन बाद में उन्हें हर-तरह के व्यापारिक गोरख-धन्धों में भटक जाना पड़ा। इनमें कुछ सफल हुए और शेष बुरी तरह असफल। कई उदाहरणों में यह बात सिद्ध हो चुकी है कि विद्यार्थी कालेज की उपाधियाँ प्राप्त करने के लिए हाथ धोकर पीछे पड़ गये थे, न तो उन्होंने यही सोचा कि अपने निर्णीत धन्धे में उनकी अपनी विशेष योग्यता कितनी है, और न इसी बात पर ध्यान दिया कि ऐसे धन्धों का भारत की विशिष्ट औद्योगिक एवं व्यापारिक समस्याओं से क्या सम्बन्ध है। एक चतुर कारीगर या व्यापारी बनना उन्हें पसन्द नहीं था। उन्होने इस बात की कभी कल्पना भी नहीं कि अमेरिकनों अथवा यूरोपियनो की कार्य-पद्धति और दक्षता का अध्ययन करके हम अपने देश में भी उस तरह के काम के सम्बन्ध में एक नई विशेषता अथवा नूतन प्रगतिशील भावना को जन्म दे सकते हैं। उन्होंने तो कल्पना-संसार में अपने आपको फौलादी पुलों, रेल की सड़कों और बड़ी-बड़ी इमारतों का निर्माता अथवा बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों एवं योजनाओं का अधिकारी समझना ही अधिक पसंद किया। वस्तुस्थिति तो यह है कि स्वयं संयुक्तराज्य मे बहुत थोड़े ऐसे रासायनिक, शिल्पी आदि विश्वविद्यालयों के स्नातक हैं, जिन्हें अपने निर्णीत धन्धों मे सफलता मिलती हो। डाक्टर और दन्तवैद्य बहुधा सफल या अच्छे रहते हैं, क्योंकि वे व्यापार मे पड़ जाते हैं, लेकिन अब तो इनकी संख्या भी प्राय बहुत अधिक होती जा रही है। कॉलेजों में शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों की संख्या उनकी नौकरी की माँग से कहीं अधिक है।"

कॉलेज की उपाधियाँ भारत की आवश्यकता नहीं

यह तो स्पष्ट है कि इस युवा के लिए कालेज की उपाधियों का महत्व कुछ नहीं-सा था। अब श्री गोविल छपाई और प्रकाशन का काम सीखने में दत्तचित्त हो गये थे, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि इस काम में उनकी शक्ति और योग्यता का पूरा-पूरा विकास हो सकेगा। उनका यह भी विश्वास था कि वह संयुक्त-राज्य की अद्वितीय मुद्रण-कला की आकर्षकता का

प्रचार—फिर वह थोड़ा ही क्यों न हो—भारत में अवश्य ही कर सकेंगे।

श्री हरि गोविल एक सर्वोत्तम मुद्रणालय में काम करने लगे। उन्होंने अक्षर जोड़ने का काम सीखा, और आधुनिक मुद्रण कला के विविध विभागों का बहुत निकट से अध्ययन करके उनका सच्चा ज्ञान प्राप्त कर लिया। लेकिन केवल उम्मेदवारी करते रहने के कारण वह अपनी जीविका के लिए काफी द्रव्योपार्जन नहीं कर सकते थे।

अत, कुछ विशेष आय की दृष्टि से, उन्होंने शाम के वक्त गलियों के कोनों पर भारत-सम्बन्धी व्याख्यान देने तथा पुस्तिका-रूप में स्वदेश-सम्बन्धी साहित्य बेचने का निश्चय किया। दूसरे भारतीय भाइयों के साथ श्री हरि भी एक छोटे-मोटे वक्ता बन गये, बस, सब मिल कर गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन पर—जो उस समय का एक महत्व-पूर्ण और मनोरजक विषय था—कोलम्बस-चक्र और न्यूयार्क के अन्य सार्वजनिक स्थानों में भाषण करने लगे। कई लोग इन विलक्षण नौजवानों की बात सुनने के लिए इकट्ठे होने लगे। इन खुली सभाओं में श्री गोविल की कई लोगों से मैत्री हो गई। इन मित्रों ने उन्हें स्थानीय कुछ नौजवान कलाकारों के वर्ग के सम्मुख भाषण करने के लिए बुलाया और दूसरे संघों तथा सांस्कृतिक संस्थाओं से उनका परिचय करा दिया।

जीवन में उन्नति

अमेरिका के एक सर्वप्रथम चित्रकार और सुप्रसिद्ध कलाकार श्री अलबर्ट स्टर्नर, श्री गोविल के व्यक्तित्व से आकर्षित हुए और आग्रह करके चित्र खींचने के लिए उन्हें अपने सामने बैठाया। उन्होंने श्री गोविल के पूरे आकार की तस्वीर तैयार की, जिसका प्रदर्शन इन चित्रकार के अन्य कई चित्रों के साथ न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया, वाशिंगटन आदि नगरों की अग्रगण्य आर्ट-गैलिरियों में किया गया था।

इन ससर्गों के कारण श्री गोविल के कई अमेरिकन मित्र हो गये। इन मित्रों को भारत की आध्यात्मिक प्रज्ञता के सन्देश से विशेष प्रेम-सा था। इनमें से कुछ ने श्री गोविल से एक ऐसा मासिकपत्र प्रकाशित करने का अनुरोध किया, जिसके द्वारा इन आदर्शों का प्रसार हो सके। इन लोगों के सहयोग से कई लाभप्रद योजनायें काम में लाई गईं, जिनसे थोड़ा रुपया इकट्ठा हो सका। यह रुपया श्री गोविल को उचित व्यय के लिए सौंप दिया गया।

कुछ-कुछ अमेरिका के उस महान् बेन्जामिन, फ्रैंकलिन की भांति—जो अमेरिका के एक अग्रगण्य मुद्रक और 'दी सैटर्डे ईवनिंग पोस्ट' नामक महान् अमेरिकन संस्था के संस्थापक थे—श्री हरि गोविल ने भी ३० शिलिंग में एक पुराना प्रेस खरीदा; अपने हाथ से उसे सुधारा और रात में कई-कई घण्टों तक उसपर छपाई के प्रयोग करने लगे।

'ओरिएण्ट' का जन्म

इस तरह उन्होंने पहली बार 'ओरिएण्ट' मैगज़ीन प्रकाशित किया। जब स्थानीय समाचारपत्रों और पाठक जनता ने उसका शानदार स्वागत किया, तो श्री गोविल को परम-सन्तोष हुआ। अपने कलामय उठाव, सुन्दर विषय और पृष्ठ-पृष्ठ में एकसी आदर्शपूर्ण 'टोन' के कारण इस पत्र की सर्वत्र खूब प्रशंसा रही।

पूर्व की सच्ची ज्ञान-दृष्टि को जनता के सामने रखनेवाला अपने ढंग का एकही पत्र होने के कारण 'ओरिएण्टल' मासिक ने अमेरिका के पत्रों की एक आम कमी को दूर कर दिया और भारत तथा पूर्व की विश्वस्त खबरों का प्रचार करने वाले एक मासिक

की आवश्यकता की संतोष-जनक पूर्ति की। श्री हरि गोविल दिन-दिन यह महसूस करने लगे कि पूर्व का उच्च जीवन और विचार, खासकर भारत का जीवन और विचारों की उच्चता, पश्चिमी जीवन के लिए एक महत्वपूर्ण देन हो सकती है। उनकी सदा से यह उत्कट इच्छा रही है कि वह भारत के बहुमूल्य रत्न-कोषों का, उसकी सुन्दरतर कला और वेदान्त के सौंदर्य का, उसके आदर्शों की महानता का और उसके रीति-रिवाजों के अधिकतर गम्भीर ज्ञान का पश्चिमी दुनिया को परिदर्शन करावें। 'ओरिएण्टल' मैगजीन' ने दुनिया-भर के सुप्रसिद्ध लेखकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया, और हरएक ने उसके प्रयत्नों की प्रशंसा करके उसे प्रोत्साहित किया।

विश्व-प्रशंसा का विजेता

अमेरिका में श्री गोविल के काम का उल्लेख करते हुए श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं—"मुझे यह देखकर बड़ा हर्ष होता है कि आपके सम्मुख भी वही ध्येय और आदर्श हैं, जो मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं और जिनके लिए मैं इतना अधिक परिश्रम कर रहा हूँ।" महान् फ्रांसीसी भूतदयावादी श्री रोम्याँ रोलाँ लिखते हैं—"मुझे आप और आपके मासिक के सपर्क में रहते हुए बड़ा सुख होगा, क्योंकि आप ही की भांति मेरे हृदय में भी पूर्व के महान विचारकों के प्रति गम्भीर श्रद्धा है।"

कुछ सुप्रसिद्ध अमेरिकन महिलाओं ने—जैसे, श्रीमती सीमियन फोर्ड, कुमारी इवेंजलिन जॉन्सन (अब श्रीमती लियोपोल्ड स्टोकोस्की), श्रीमती विलार्ड स्ट्रेट—इन आदर्शवादी भारतीय के कामों में बड़े प्रेम से भाग लिया और उदारतापूर्वक इनके मासिकपत्र में इसलिए लेख लिखती रहीं कि पत्र अधिक संख्या में छपे और उसका खूब प्रचार हो।

अब तक श्री गोविल सारा काम अकेले ही करते थे और जनता द्वारा प्राप्त प्रशंसा और प्रोत्साहन ने उनके उत्साह को और अधिक बढ़ा दिया था। कुछ समय पूर्व, जब श्री गोविल भारत जा रहे थे, अमेरिका के एक महान पुरुष न्यूयार्क शहर की 'कम्यूनिटी चर्च' के 'मिनिस्टर'। पादरी जान हेनिस होम्स ने, जो श्री गोविल को उनके काम के कारण ही पहचानते थे, उनको इन शब्दों में अभ्यर्थना की थी—"हरि गोविल एक अपरिचित नवयुवक के रूप में अमेरिका आये थे। अब वह अनेक मित्रों और एक अद्वितीय सफल व्यवसाय को अपने पीछे छोड़कर भारत लौट रहे हैं। वह जब आये थे, पश्चिम के लिए पूर्व की सौगात (देन) साथ लेते आये थे। अब लौटते समय वह अपने साथ पश्चिम का प्रेम लिये जा रहे हैं। और उनके हाथों में वह सौगात है, जिसे केवल पवित्रात्मा लोग ही एक बड़ी सभ्यता से दूसरी बड़ी सभ्यता तक ले जा सकते हैं।"

जबसे श्री हरि गोविल फिर अमेरिका आये हैं, उनका एकमात्र लक्ष्य यही रहा है कि वह एशिया और भारत के सच्चे संदेश को संसार भर में फैलावें।

रामलाल बाजपेयी (अमेरिका)

—

स्वर्गीय डॉ० केशवदेव शास्त्री

डॉक्टर केशवदेव शास्त्री, एम. डी. अब नहीं रहे ! एकान्त गाँव मे एकाएक यह समाचार पाकर मेरा कलेजा धक् से रह गया। तीसरे पहर तो मैंने उनके स्वास्थ्य-समाचार जानने के लिए तार दिया था। रात को तार से जवाब मिला—'तीसरे पहर ही उनका देहान्त हो चुका था।' मुझे दुःख है कि अब मैं उनकी उदार मुखाकृति न देख पाऊँगा। ओ. !

उस अदृश्य हाथ के स्पर्श
और मौन वाणी की ध्वनि
तेरी स्मृति कैसे भूलेगी ?

युवक-आन्दोलन के लिए तो वह शक्ति की एक मीनार थे।

भारत-युवक-संघ के अध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने भारत के युवकों की अनन्य भाव से सेवा की थी। संघ के देश-व्यापी केन्द्रों से सम्बद्ध हजारों नवयुवक आत्मायें उनकी मृत्यु पर दुःख के आँसू बहायेंगी। अब उनका घर सूना है, उनकी प्रतिभा-शालिनी पत्नी और पत्नी की बहन के हृदय सूने हैं, उनके भाई बहन, सम्बन्धी और मित्रों के हृदय भी अपनी-अपनी हृदयनिधि खोकर सूने हैं। जिस समाज की उन्होंने एक पीढ़ी तक सेवा की, वह समाज भी सूना है। जिस युवक-संघ को उन्होंने अपने प्रेम और त्याग द्वारा सींचा, वह युवक-संघ भी सूना है।

दो वर्ष से कुछ कम हुए, मैं पहली बार उनसे हरद्वार मे मिला था। शीघ्र ही मैं उनसे अपने अभिन्न हृदय भाई की तरह प्रेम करने लगा। प्रेम और सम्मान के वह सर्वथा योग्य थे। उनका मधुर स्वभाव, उनकी सादगी, उनकी विद्वत्ता और दूरदर्शितापूर्ण शिक्षा, उनका प्रेमल स्वभाव, ईश्वर मे उनकी श्रद्धा और उनका सेवा-भाव, आदि कई गुण उनमें ऐसे थे, जिनके कारण वह नवयुवकों के प्यारे नेता बन सके थे।

एक महीने से कुछ ऊपर हुआ, अन्तिम बार मैं उनसे मिला था। वह बीमार थे। उनका शरीर निर्बल हो चुका था, लेकिन उन्होंने कभी अपने कष्टों की शिकायत न की, उन्होंने सब-कुछ चुपचाप वीरता-पूर्वक सह लिया। हिमाचल के अंचल मे अवस्थित राजपुर के स्वनिर्मित, सुन्दर, प्यारे शक्ति-आश्रम से जब मैं बिदा हुआ उन्होंने थोड़े प्रेम-भरे शब्दों में मुझसे बातचीत की। बातचीत क्या थी, मानो उनके आत्मसौन्दर्य की जगमगाती चमक थी।

जब इन प्यारे डॉक्टर की मृत्यु का संवाद घर-घर पहुँचेगा, कइयों के हृदय शोक-विकल हो उठेंगे। उनका भौतिक शरीर हमसे छिन गया है; ईश्वर करे, जीवन और मरण, हरहालत मे सदा हमारे निकट रहने वाले उस विश्वात्मन् और उसकी विभूतियों मे हम उन्हें फिरसे पा जायँ।

उनके साथ बिताये सुखद दिनो की स्मृति बार-बार मुझे उनका स्मरण कराती है, उनकी दुःखद मृत्यु का विचार मुझे सताता है। हा, इन विचारों का प्रबल वेग ! अस्तु।

इस समय मैं उस अटल दैव के चरणों में प्रणाम करता हूँ और चुपचाप अपने हृदय के कान से इस पवित्र गान का सन्देश सुन रहा हूँ—

Unspeakable is our sorrow !
But Thou O, Lord ! art the Ever-Good.

हमारी वेदना अकथनीय है ! किन्तु, हे भगवन् ! तुम नित्य कल्याणस्वरूप हो ! !

टी. एल. वास्वानी

युवकों के विचार

महात्माजी और उनके आक्षेपक

आजकल समाचारपत्रों में महात्मा गांधी के विषय में बड़ा आन्दोलन मचा हुआ है। ऐरे-गैरे पंच-कल्यानी भी नाना प्रकार के कलुषित विशेषणों से उन्हें सूचित कर रहे हैं। 'भारत' के किसी अंक में मैंने यह भी पढ़ा था—"बम्बई में एक सभा हुई थी, उसमें महात्मा गाँधी के लिए बहुत घृणा के प्रस्ताव हुए थे। यहीं तक नहीं उनके नाम के आगे का 'महात्मा' शब्द भी छीन लेने का एक प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पास हुआ था.. आदि।' मेरा कहना है कि इन सनातन-धर्म का ढोल पीटने वालों से महात्मा गाँधी 'महात्मा' शब्द मांगने गये थे? और यदि माँगने हो नहीं गये थे, तो उनसे छीन लेने का क्या अभिप्राय? मैंने तो जहाँ तक सुना है, साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम में रहने वाले सभी लोगों से महात्माजी ने कह दिया था, 'मुझे कोई महात्मा न कहे' और इसके अनुसार उन्हें 'महात्मा' कोई भी नहीं कहता था और न आज ही कहता है। ऐसे मनुष्य के विषय में ऐसी बातें कहना निन्दास्पद ही नहीं, हास्यास्पद भी है। कम-से-कम उन्हें इतना तो अवश्य सोच लेना चाहिए था कि गाँधी-सा व्यक्ति, जिसके जीवन का प्रधान लक्ष्य सत्य और अहिंसा ही है, कुछ सोचकर ही ऐसा काम कर रहा है। महात्माजी ने स्पष्ट रूप से कहा है—"मैं जानता था कि यह काम चालू लोकमत को पसन्द नहीं पड़ सकता। इसमें चालू लोकमत हिंसा ही देखेगा, किन्तु धर्म लोकमत का विचार नहीं करता। मैंने तो यह सीखा है और अनुभव के द्वारा अपने लिए सिद्ध भी किया है कि वही ठीक है जिसमें मैं धर्म देखता हूँ, मुझे उसी का आचरण करना चाहिए। चाहे भले ही उसमें दूसरा कोई अधर्म देखे..।' अब यहीं पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह जानते हुए भी महात्माजी ने ऐसा क्यों किया? मेरी समझ में महात्माजी ने अच्छा ही नहीं प्रत्युत बहुत ही अच्छा किया। यदि महात्माजी ऐसा नहीं करते, तो यह उनका एक घोर पतन होता। एक महान् पुरुष एवं सत्यवादी के लिए अपने विचारों की हत्या करना पाप ही नहीं, घोरातिघोर पाप है। उसे यह कभी विचार नहीं करना चाहिए कि साधारण जनता उसके पक्ष में रहेगी या विपक्ष में।

कमलधारीसिंह विद्यार्थी,
हिन्दी-विद्यापीठ, प्रयाग।

दीवाली

"क्यों रे, तुझे क़र्ज़ चुकाना है कि नहीं?"

"सेठजी, आज दीवाली है, आज छोड़ दीजिए। दो एक रुपये बचा पाया हूँ, अगले महीने आपको सात रुपये चुका दूँगा।"

"चल बेईमान कहीं का! यों रोज-रोज टालता जाता है। पाँच महीने तो हो गये, अबतक देने का नाम नहीं! ला, इधर रख दो रुपये ही सही।" यह कह कर सेठजी ने रुपयों के लिए हाथ पसारा।

× × ×

रामदास एक गरीब किसान था। सेठजी से फ़सल के पहले दस रुपये उधार लिये थे। इस बार फ़सल अच्छी न हुई, इसलिए चुका न सका था। आजकल मजदूरी में आठ-दस रुपये महीना कमा लेता है और कुछ अनाज रक्खा है, उसीसे घर का काम चलाता है। घर में कमानेवाला वह अकेला है और खानेवाले सात हैं।

इस बार दीवाली आती देख उसने बड़ी मेहनत की थी। फल-स्वरूप किसी तरह दो रुपये बचा पाया था। किन्तु बड़ी आरजू मिन्नत के बाद भी सेठजी को राजी न कर सका। और वे दो रुपये भी उन्होंने छीन लिये।

रामदास के एक लड़का था। उसका नाम मोहन था। जब वह अपने साथियों को गुड़ की रेवड़ी खाते देखता, तो माँ के पास आकर रोता।

उसकी माँ दीवाली के दिन गुड़ का हलुआ खिलाने का लालच देकर किसी तरह उसे समझा देती थी।

मोहन ने रामदास से पूछा, "बाबा! आज तो दीवाली है न?" और इतने दिनों की चाह आज पूरी होने की आशा में हर्ष से नाचने लगा। बेचारा रामदास जी मसोस कर रह गया! उसकी एक जगह की मजदूरी बाकी थी, किन्तु दीवाली के कारण वह भी न मिल सकी। दीवाली की रात भूखो रहकर बितानी पड़ी! मोहन की साध मोहन के मन में रही।

× × ×

दीप-राशि चारों ओर चमचमा रही थी। किसी-किसी के घर के सामने विद्युच्छटा सी लहरा रही थी। रोशनी के मारे आँखें चौंधिया जाती थीं। धन-कुमार बैठे आतिशबाजी का मजा लूट रहे थे। आकाश धूम्राच्छादित हो रहा था। यह शहर के नामी रईसों का मुहल्ला था। सारे शहर की दीवाली मानो इसी मुहल्ले में आ बसी थी।

पटाखों का धड़ाधड़ की झड़ी बँधी हुई थी। बम-गोलों (गुब्बारों) के मारे कान सन-सनाने लगते थे। रामदास की झोपड़ी इस मुहल्ले के पास ही थी। एक गोला छत पर जा गिरा, और घास जल उठी। जब धनवानों के शाहजादों ने यह देखा तो मारे खुशी के उछल पड़े।

इधर श्री-कुमारों की आतिशबाजी का यह हाल था, उधर श्री-युत कमरे में बैठे दीपावली मना रहे थे। बिजली के झाड़ से कमरा जगमगा रहा था। बोतलों पर बोतलें खाली हो रही थीं। कमरे की वायु ह्विस्कीयुत हो रही थी। "मैं जीता, वह मारा" की आवाजों से बीच-बीच में कमरा गूँज उठता था,

एकाएक महफिल में खलबली मच गई। "पुलिस पुलिस!" की आवाज से सब सिहर उठे। जिसे जिधर राह मिली, वह उधर ही भाग निकला। दो-एक रुपयों की थैलियाँ तक उठाना भूल गये। दारोगाजी की बन आई। मुँह-माँगे दाम मिले। दोनों जेब सोने की मुहरों से भर दी गईं। घर जाकर उन्होंने भी दीपावली मनाई!

× × ×

मोहन एक चारपाई पर पड़ा कराह रहा है। और तो सब किसी तरह भागकर झोपड़ी से बाहर निकल आये थे, किन्तु वह भीतर ही छूट गया था। आग के घेरे से रामदास ने उसे बड़ी मुश्किल से निकाला तो सही, किन्तु वह झुलस गया था। जीवन की आशा कम थी।

मोहन ने एकबार पुकारकर कहा, "माँ, पानी" फिर सदा के लिए आँखें बंद कर लीं। घर में कुह-राम मच गया। रामदास को तो काठ मार गया। उसका वह इकलौता पुत्र था।

थोड़ी देर बाद मोहन की चिता भभक उठी और दीपावलीकी ज्योति में उसकी ज्योति मिल गई!

सेठों वाले मुहल्ले में अब भी आतिशबाजी छोड़ी जा रही थी, एक बम-गोला आकाश में जाकर फूटा, और फूल बर्षा गया।

लक्ष्मी[illegible] बिड़ला

कल्पना

देश-वेश में देह सर्वदा भूषित होवे।
जीते जब तक आयु न दुर्गुण दूषित होवे॥
राम-नाम का सुघर मधुर फल रसना लूटे।
मरते हों तो मरें किन्तु निज धर्म न छूटे॥
सहकर दारुण क्लेश भी,
देश प्रेम की भावना।
बनी रहे हृद्धाम में,
है केवल यह कामना॥

'दिव्य' कवि

साहित्य-संगीत-कला

हृदय की प्यास से

अरी, भोरी, अन्तर की प्यास ?
रह गई प्यासी अब भी, और—
गया यह जीवन-सरवर सूख।
प्रलय की क्रीड़ा-सी अविरोध,
बढ़ी ही जाती तेरी भूख।
तनिक लेने भी दे अब साँस,
मुझे, ऐ मेरी प्यारी प्यास !

भीख की भूखी झोली छान,
मान सच, कुछ भी पायेगी न।
छान सूने मसान की खाक,
हाथ मेरे कुछ आयेगी न।
लालसा का यह करुण विलास,
हटा दे दूर, दुलारी प्यास !

किसी कोने में छिप, चुपचाप
लगा दु:ख की विस्मृति से लाग।
बढ़ा अब और न विपुल अभाव,
नहीं सुलगा अतृप्ति की आग।
जलेगा अपना ही आवास,
मान कहना, री पगली प्यास !

एक सुख पान में है, और
लुटाने में सुख एक महान,
किन्तु सब से बढ़ कर सुख एक
सुखों के सूनेपन में जान।
पास ही तो है पड़ा हुलास !
मुझे दौड़ा न, हठीली प्यास !

जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'

समर्पण

ठुकरा दे, यह छलक पड़ेगा
जीवन का लघु प्याला।
यौवन-मदिरा पीकर,
क्यों बनता इतना मतवाला।
जीवन के धागों की चादर
मैंने यहाँ बिछाई।
तेरे चरणों में अर्पित है,
मेरी कठिन कमाई॥

'पगला'

महादेव !

महादेव ! मैंने तुझे कभी देखा नहीं है। केवल तेरा नाम सुना है। तेरे गुणों का वर्णन सुना है। तेरी दया को बरसते देखा है। तेरे प्रेम को गंगा-जल की भाँति सब के लिए बहते हुए देखा है, मैंने भी दो घूँट पिये।

इस पावन गंगा-जल को पीकर लोग चले जाते हैं। भूल जाते हैं। कोई यह नहीं सोचता, जहां से यह बही है वह कितना महान होगा। वह उस धारा को ही देखते हैं, आगे नहीं।

मैंने जबसे उसके दो घूंट पिये हैं, मैं तेरी खोज में निकल पड़ा हूँ। तेरे चरणों को छूकर मैं भी गंगा की भांति पवित्र, और पतित-पावन हो जाऊँगा।

लेकिन तुझतक पहुँचने के लिए कितने जगल, कितने पहाड़ पार करने पड़ेंगे ! फिर भी आशा और अभिलाषा के पैर मुझे तेरे चरणों तक पहुँचा देंगे।

मैं फिर लौटूंगा लेकिन गंगा की धार बन कर।

हरिकृष्ण विजयवर्गीय 'प्रेमी'

कणिकायें

कोई नाम के लिए जीता है, कोई ऐश्वर्य के लिए और कोई स्त्री के लिए जीता है। नीली-नीली पर्वत-मालाओं पर अकारण घूमने के लिए, मैं अकेला ही जीता हूँ।

❀ ❀ ❀

ऊँचे से ऊँचे शिखर पर बैठने के लिए मैं एक हज़ार जीवन खोने को तैयार हूँ परन्तु शर्त इतनी ही है कि वह शिखर ऊँचे से ऊँचा होना चाहिए।

❀ ❀ ❀

दुनियाँ में सब से अधिक करुण नाटक तो मानव-हृदय में प्रत्येक क्षण होता रहता है।

❀ ❀ ❀

जब रात्रि गंभीर होती है, और चमकते हुए तारे उसको अधिक गंभीर बना रहे होते हैं, तब हृदय में एक ही कल्पनातीत प्रश्न होता है—यह सब किस लिए ?

❀ ❀ ❀

'विजय'

बोध

(१)

जाड़े के दिन थे। कमलाकान्त का पाठशाला से लौटने का समय हो गया था। सुभद्रा आँगन में बैठी उसी की प्रतीक्षा कर रही थी। इतने में बाहर जूतों की खटपट सुनाई पड़ी। "आ गये" कह वह उठकर खड़ी होगई। ओठों पर स्वागत की हँसी फूट पड़ी।

कमलाकान्त भीतर आया। सुभद्रा ने उसे देखते ही कहा—"और चादर कहाँ छोड़ आये?"

"छोड़ नहीं आया।"

"फिर?"

"दे आया हूँ"

"किसे?"

"एक भिखमंगे को।"

सुभद्रा ने अपनी दोनों भौंहें मिलाकर कहा—"चलो, तुम तो हमेशा ऐसा ही करते हो। उस दिन न जाने किस लड़के के लिए घर से बनियान ले गये थे, आज भिखमंगे को ऊनी चादर दे आये। एकाध दिन किसी को अपनी कमीज और धोती उतार कर और दे दो तो मुझे बड़ी खुशी हो।"

कमलाकान्त बोला—"मेरे पास और कुछ नहीं था। पैसे भी नहीं थे। इसी से चादर दे आया।"

"चलो अच्छा किया।" कह कर सुभद्रा कुड़बुड़ाती हुई भीतर चली गई।

वह कपड़े उतारने लगा, तब तक सुभद्रा उसके लिए थोड़ा सा जल पान ले आई।

(२)

कमलाकान्त ने प्रथम श्रेणी में एम० ए० पास किया था। सो भी गणित में। यदि चाहता तो सहज ही कहीं प्रोफेसर हो जाता। किन्तु पद के लिए प्रयत्न करना तो दूर रहा, उसने कभी इच्छा भी प्रकट नहीं की। झाँसी की अछूत-पाठशाला में एक अँग्रेजी शिक्षक की आवश्यकता थी। उसने वही नौकरी कर ली। जगह वैसे चालीस की थी किन्तु पाठशाला की कमिटी ने उसकी योग्यता का ख्याल करके उसे सत्तर रुपया मासिक देना स्वीकार कर लिया। मित्रों ने कहा—"तुम भी अजब गधा हो। इससे तो कहीं भाड़ झोंकने तो अच्छा था। आजकल के जमाने में सत्तर से क्या होगा?" कमलाकान्त कहता भाई, "इसमें से बहुतों को तो सात भी नहीं मिलते।"

उसकी इसी प्रकार की बातों से लोग उसे सनकी कहा करते थे। वह बहुत सीधे मिजाज का आदमी था। उसकी शक्ल देखकर कोई यह नहीं कह सकता था कि वह एम० ए० पास है। खादी का मोटा कुर्ता पहनता था, जिसका एक छोर खड़िया मिट्टी की सफेदी से रंजित रहता, क्योंकि गणित पढ़ाते समय वह कभ-कभी अपने कुर्ते से ही झाड़न का काम ले लेता था। नंगे सिर रहता था। बाल बड़े-बड़े थे। किन्तु उनमें तेल महीनों नहीं पड़ता था। गनीमत यह थी कि वे स्वभाव से कुछ चिकने थे। कोट पहनना उसने बहुत दिनों से छोड़ दिया था। सर्दी से बचने के लिए एक चादर थी सो उस दिन रास्ते मे न जाने कहाँ का एक अंधा भिखारी मिल गया। हाथ पसार कर कहने लगा "बाबूजी, एक कपड़ा मिल जाय।" कमलाकान्त से उसकी दीन दशा न देखी गई। भिखमंगे को चादर उतार कर दे दी। तब से वह चादर भी उसके पास नहीं रही। रास्ता चलते आठ रुपये की चादर एक भिखमंगे को दे डाली। अपने पति के इस सनकीपन पर सुभद्रा मन ही मन नाराज हो लेने के सिवा और कर ही क्या सकती थी? कभी-कभी इस तरह के प्रसंग आने पर वह उससे तर्क भी कर बैठती। किन्तु एम० ए० पास पति से बहस करने में जीत की अपेक्षा हार ही की अधिक संभावना है, यह सोचकर चुप हो जाती थी।

(३)

उस दिन सूर्य भगवान् भी सर्दी के मारे सबेरे से बादलों का लिहाफ़ ओढ़े बैठे थे। कमलाकान्त भोजन करके पाठशाला के लिए तैयार हुआ। सुभद्रा चौके के भीतर से चिल्लाई—

"कुछ अपनी भी फ़िक्र है, या सब कुछ ग़रीबों को ही दे डालने का निश्चय किया है। ऐसी तो सर्दी पड़ रही है और आप सिर्फ एक कुरती पहन कर पाठशाला जा रहे हैं। पलँग पर मेरा शाल पड़ा है, मेहरबानी करके उसे गले में डाल लीजिए।" फिर उसने दासी को पुकार कर कहा... "अरी कहाँ चली गई। इन्हें वह शाल नहीं मिलेगा। उठाकर दे दे।"

दासी ने शाल लाकर दे दिया। कमलाकान्त उसे लपेट कर पाठशाला पहुँचा। यद्यपि ठंड उसे लग रही थी। किन्तु अपनी सहन शीलता को परीक्षा की कड़ी से कड़ी कसौटी पर कसने की उसे कुछ सनक-सी थी।

वर्ग में छोटे-छोटे बालकों को कुर्तों के भीतर सिमटा बैठा देखकर उसने शाल एक ओर फेंक दिया।

एक लड़के ने कहा "मास्टर साहब आज तो बड़ी सर्दी है।" दूसरा बोला "बाहर घाम में चलिए साहब।"

तीसरे ने कहा "आज घाम कहाँ निकला है ?"

जिसने यह बात कही थी सर्दी से उसके दाँत बज रहे थे। कमलाकान्त ने उसे अपना शाल देकर कहा "घाम नहीं निकला है यहीं बैठो। लो यह कपड़ा ओढ़ लो।"

लड़के ने सकोच किया। कमलाकान्त ने शाल उसके पैरों पर डालकर कहा "सर्दी से मरेगा क्या ?"

शाल लम्बा था। आस पास जो लड़के बैठे थे उन्होंने भी उसे पैरों पर डाल लिया। कमलाकान्त पढ़ाने लगा।

थोड़ी देर बाद जिस लड़के ने घाम में निकलने की बात कही थी वह बोला—"मास्टर साहब, सर्दी लग रही है।"

कमलाकान्त कुर्सी से उठकर उसके पास गया और उसके मस्तक पर हाथ फेर कर पूछने लगा—"क्यों ?"

लड़का काँपते-काँपते बोला—

'जाने क्यों !"

कमलाकान्त ने उसके बदन पर हाथ रक्खा। "ओफ़ !" कहकर उसने हाथ हटा लिया। लड़के का शरीर तवे की भाँति गरम था। उसे ज्वर चढ़ा था। कमलाकान्त ने पाठशाला के एक नौकर से ताँगा मँगवाया और लड़के को सावधानी से शाल में लपेट कर उसके घर भिजवा दिया।

सन्ध्या को वह घर लौटा। उसके कंधे पर शाल न देखकर सुभद्रा की क्षण भर पहले की मुस्कराहट रोष में बदल गई ! उसने कहा "शाल कहाँ डाल आये ?"

कमलाकान्त बोला—"डाला कहीं नहीं। वर्ग में एक लड़के को ज्वर चढ़ आया था। वही ओढ़ कर अपने घर गया है।"

सुभद्रा ने नाराज़ होकर कहा "तुम्हें क्या हो गया है। साठ रुपये का पशमीने का शाल, न जाने किस भंगी के लड़के को दे आये।

"दे नहीं आया। कल आ जायगा।"

"हाँ ! हाँ खूब आ जायगा !" कहकर सुभद्रा चुप हो गई।

कमलाकान्त ने कहा—"ऐसी ठंडी हवा चल रही है, तिस पर भी उसे ज्वर था। शाल दे न देता तो और क्या करता।"

"चलिए, रहने दीजिए। कोरी-चमारों के लड़कों को ऐसी ठंड नहीं लगती।" कहकर सुभद्रा उसके सामने से चली गई।

उसे शाल का बड़ा पछतावा होने लगा। उसके पिता उसे काश्मीर से लाये थे। एक तो पिता की दी हुई वस्तु दूसरे कीमती चीज़। सोचने लगी "इन्हें न देती, तो अच्छा था।"

किन्तु शाल के बिना उसे थोड़ा-सा शारीरिक कष्ट भी हुआ। नौकरानी बीमार हो गई थी। इसलिए दूसरे दिन सबेरे घर का सारा काम-काज उसे ही करना पड़ा। कम्बल था। उसे ओढ़ना उसने पसन्द नहीं किया। सर्दी से उसके अंग ठिठुर गये। जब धूप निकली तब कहीं उससे भली प्रकार काम किया गया। कमलाकान्त जब पाठशाला जाने लगा तब उसने कह दिया "मेहरबानी करके मेरे लिए लौटते वक्त एक रैपर लेते आइए।"

पाठशाला में पहुँचकर कमलाकान्त ने लड़के के सम्बन्ध में पूछा। पता चला, उसका ज्वर नहीं उतरा, वह पाठशाला नहीं आयेगा। "तब तो उसे शाल की ज़रूरत पड़ेगी" सोच कर वह पढ़ाने बैठ गया।

संध्या को लौटते समय वह सुभद्रा के लिए बाज़ार से

एक ऊनी चादर खरीद लाया। सुभद्रा ने कुछ नहीं कहा। चादर को उलट-पलट कर चार पाई पर रख दिया।

(४)

सात बज गये थे। किन्तु कुहरे के कारण घरों में अब भी कुछ अंधेरा-सा था। सर्दी ऐसी थी कि हाथ रजाई से बाहर नहीं निकाले जाते थे।

दासी अब भी स्वस्थ नहीं हुई थी। अतः आग जलाने के लिए सुभद्रा को स्वयं ही जाना पड़ा। वह अँगीठी के पास बैठी बड़ी देर तक अपने हाथ सेंकती रही। उसकी सर्दी फिर भी न छूटी। अन्त में वह उठी। जाकर घर के किवाड़ खोले। कुछ देर तक सुनसान सड़क की ओर देखती रही। सारा मुहल्ला कुहरे की चादर ओढे पड़ा था। फिर उसने इधर-उधर देखने के लिए दरवाजे के बाहर सिर निकाला। बगल में हलवाई की दूकान थी। वह अभी उठता आ रहा था। चिलम पीकर खाँस रहा था। फिर सुभद्रा ने दाहिनी ओर देखा। सहसा चबूतरे पर दीवार के पास एक गठरी-सी पड़ी देख कर वह चौंक पड़ी।

सुभद्रा ने पूछा "कौन है?"

गठरी कुड़मुड़ाई। तब उसे मालूम हुआ कि वह कोई आदमी है। बदन पर फटी कुर्ती थी और कमर में लँगोटी। सर्दी की वजह से अपने हाथ-पैरों को समेटकर गठरी बना पड़ा था।

सुभद्रा ने फिर पूछा "कौन है? बोलता क्यों नहीं?"

गठरी के भीतर से आवाज आई, 'मैं हूँ, माई जी!" सुभद्रा को ऐसा जान पड़ा मानों वह आवाज समाधि के भीतर से आ रही हो।

"तू कौन?"

"मँगता हूँ, माई जी। ओह, बड़ी सर्दी है! हाथ पैर टूट रहे हैं।"

सुभद्रा ने पूछा "यहाँ क्यों लेटा है?"

भिखमगे ने कहा "रात में उस हलवाई की भटिया के पास पड़ा था, माईजी; किन्तु उसने मारकर भगा दिया।"

भिखमगे की बात सुनकर सुभद्रा का मन न जाने कैसा हो गया। वह क्षणभर तक वैसी ही खड़ी उसकी ओर देखती रही। कल शाल के अभाव में उसे कैसी सर्दी मालूम हो रही थी, यह सोचकर मानो वह सर्दी से और भी ठिठर उठी। आज भी वह ऊनी बनियान पहने थी, चादर ओढ़े थी, फिर भी उसके चेहरे का खून मानों जमा जा रहा था।

भिखमंगे ने उसकी ओर देखकर कातर स्वर में कहा "माईजी, कुछ कपड़ा हो तो दे दो। कल से बुखार चढ़ा है।"

सुभद्रा ने अपनी आँखें मूदीं और खोलीं। या तो उससे भिखमंगे का कष्ट नहीं देखा गया, या उसकी पलकें पानी से भींग आईं! अपनी नई चादर भिखमंगे पर डाल-कर उसने कहा "लो इसे ओढ़ लो। तब तक धूप निकल आयगी।"

"जय हो माईजी" कहकर भिखमंगे ने चादर के भीतर अपने पैर फैलाये। सुभद्रा एक साँस लेकर घर के अंदर चली गई।

कमलाकान्त उस समय शय्या से उठकर अपने ओढ़ने का मोटा कम्बल कंधे पर डाल बाहर घूमने जाने की तैयारी कर रहा था। सुभद्रा को देखकर कहने लगा "कहाँ गई थी?"

"कहीं नहीं।" फिर उसने पति के कंधे पर हाथ रख-कर कहा—"देखो, उस लड़के से वह शाल मत लेना।"

"क्यों?"

"तुम कहते थे वह बीमार है।"

कमलाकान्त ने कहा—"हाँ, बीमार ही है।" फिर बोला "और तुम इस तरह सर्दी क्यों खा रही हो? चादर कहाँ गई?"

"मुझे सर्दी नहीं लग रही है।" कहकर सुभद्रा ने बताया कि वह अपनी चादर बाहर चबूतरे पर पड़े हुए एक आदमी को उढ़ा आई है।

"तो उसे दे आईं!"

सुभद्रा अपने विशाल लोचनों से उसको देखती हुई बोली "क्यों?"

प्रत्युत्तर में कमलाकान्त ने उसका मस्तक चूम लिया।

उस दिन रविवार था। दो पहर को सात वर्ष के एक

छोटे बालक ने उसके मकान पर आवाज लगाई—"मास्टर साहब !" कमलाकान्त बाहर निकल आया। लड़का उसका शाल लेकर आया था। कहने लगा, "मास्टर साहब, अपना शाल लीजिए, बापू बड़े नाराज होते थे कि इसे क्यों ले आये।"

कमलाकान्त ने लड़के की ओर देखकर पूछा "तुम्हारा ज्वर उतर गया ?"

"हाँ।"

कमलाकान्त ने कहा "देखो, बापू से कह देना, यह शाल मास्टरनी ने मुझे दे दिया है। समझे।"

कृष्णानन्द गुप्त

तीन करुण काव्य

१

संस्कृत कवियों ने काव्य में नव रसों की कल्पना की है, उनमें भी शृंगार, वीर, और करुण ये तीन स्थायी तथा उन्नत होने के कारण मुख्य हैं। इन तीनों में भी कौन रस श्रेष्ठ हो इस विषय में मतभेद हो सकता है। किन्तु मानव-हृदय के विकास से प्रत्येक युग तथा प्रत्येक देश में जितना साहित्य तैयार हुआ है उसमें का उत्तमोत्तम कवित्व करुण रस में ही निःसृत हुआ है। करुण रस इतना महत्त्व पूर्ण क्यों है ? दुःखगाथायें मनुष्य के हृदय को क्यों इतना स्पर्श कर जाती हैं ? प्रतिकूल वेदना हमें कैसे आनन्द दे सकती है ?

२

मनुष्य के आनन्द की सीमा आत्मौपम्य है। जब हम, हृदय के विकास के कारण, दूसरों के सुख-दुःखों के साथ समरस होते हैं तब हमें यह भास होने लगता है—यह साक्षात्कार होने लगता है कि सर्वत्र एक ही आत्मा व्यापक है। करुण रस अहिंसा अर्थात् प्रेम में उत्पन्न होने के कारण हमें अस्वस्थ करता हुआ भी संकुचित व्यक्तित्व की सीमा से निकालकर विकास का निरुपम आनन्द प्रदान करता है। मनुष्य की उन्नति का चिन्ह अहिंसा-मय प्रेम है। और इसीलिए करुण रस मनुष्य को पशु से देवता बनाने में समर्थ है। यही कारण है कि प्रत्येक जमाने ने फिर वह चाहे शान्तिमय हो अथवा अशान्त हो करुण रस की ही क़द्र की है। भवभूति तो केवल एक करुण रस को ही मानते हैं—

एको रसः करुण एव निमित्त भेदा
द्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुदतरंगमयान्विकारा—
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥

उत्तररामचरित्, तृ० अं० ४७

३

महर्षि वाल्मीकि का करुणार्द्र हृदय एक 'अकारणाविष्कृत वैरदारुण' बहेलिये का क्रूर कर्म देखकर जल उठा। कारुण्य से प्रकोप को अग्नि उत्पन्न हुई। उस प्रकोप के फल-स्वरूप पश्चात्ताप हुआ। वे शान्त हुए। उनके शान्त होने से 'शाश्वती समा' कल्याणकारी रामायण-महाकाव्य दुनिया को मिला। पक्षियों का जोड़ा आनन्द से क्रीड़ा कर रहा है, उनमें से एक को हत्यारे निषाद ने अपने बाण का निशाना बनाया। वह पक्षी नीचे गिर गया। उस दूसरे पक्षी के दुःख की तो सीमा ही न थी। वाल्मीकि से यह सहन नहीं हुआ। उनके मुँह से आर्ष छन्द का बाण निकला—

मा निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वती समाः ।
यत्क्रौंच मिथुनादेक मवधीः काममोहितम् ॥

यह शाप देकर ऋषि पछताये। किसी को शाप देना यह भी तो निषाद कर्म ही न है ? ऋषि ने खूब अनुताप किया। मैत्र, करुणा, मुदिता, और उपेक्षावाले चतुर्वदन ब्रह्मा के उन्हें दर्शन हुए। उनके आशीर्वाद से उनमें रामायण की रचना की स्फूर्ति हुई और संसार पण्डित बना।

वाल्मीकि ने निषाद को शाप नहीं दिया किन्तु हिंसावृत्ति की अप्रतिष्ठा की। अनन्त वर्षों के लिए उसे अप्रतिष्ठित कर दिया और कारुण्य की प्रतिष्ठा की। समभाव का प्रवाह बहा दिया। यह कविता सृष्टि की आद्य रचना कही जाती है।

४

आदि कवि की यह आद्य और हृदय-प्रेरणा हमें भिन्न-भिन्न तीन प्रदेशों के आधुनिक तीन कवियों के छोटे-छोटे काव्यों में फैली हुई दीखती हैं। एक है स्काटलैण्ड का मशहूर कवि बर्न्स, दूसरा है महाराष्ट्र का कवि-कुल-तिलक 'रेवरेण्ड' तिलक और तीसरा है लाठीका राजकवि कलापी। पहले हम कलापी को लें।

५

कोमल भावनाओंवाला कलापी उस कठोर प्रहार को जान-बूझकर मारे हुए बाण का सा रूप नहीं देता—

ते पंखीनी ऊपर पथरो फेंकतां फेंकी दीधो !

छुट्यो तेने अर् र् र् ! पड़ी फाळ हैया महीं तो !

प्रहार चाहे जान-बूझकर किया गया हो या यदृच्छा प्रेरित हो, वह लगेगा जरूर।

रे रे ! लाग्यो दिलपर अने श्वास रूंधाई जातां।

नीचे आव्युं तरु उपरथी पांख ढीली थता मां।

यह कोई कहानियों में वर्णित ऋषिकुमार नहीं था, जिसे अपनी तपस्या का प्रभाव देखकर आनन्द हो और न वह पक्षी कोई क्रूर बाज़ या गीध ही था।

में पाळ्युं ते तरफड़ी मरे हस्त माराज थी आ !

पानी छिड़का और उसकी सार-सम्हाल की। समय आने पर क्रूर हाथों द्वारा किया गया वह घाव भर गया। मौत के मुँह मे पहुँचा हुआ वह पक्षी वापस आ गया। वह जी गया और अपने अकृत्रिम प्रकृति प्रेम के कारण प्राप्त फल का आनन्द वह अपने मधुर गानों द्वारा व्यक्त करने लगा। लेकिन उसके दिल में यह खयाल तो पत्थर की लकीर हो गया कि मनुष्य पर विश्वास करना भूल है। एक बार मुग्ध भाव से विश्वास किया तो उसका परिणाम यह हुआ। घाव तो भर सकता है पर वह श्रद्धा कैसे रहे ?

रे रे ! श्रद्धा गत थइ पछी कोइ काले न आवे !

लाग्या घा ने विसारी शकवा कांई सामर्थ्य ना छे !"

इस उपदेश की अपेक्षा इसके पहले की पंक्ति अत्यत निराशा-जनक है और इसीसे वह काव्यपूर्ण है।

आवे त्होये हरी हरी अने इच्छतु बढ़वाने,

असहाय स्थिति, पुराना सम्बन्ध, आसानी से दाना प्राप्त करने का लालच, इन सब से पक्षी अपने पास आ सकता है लेकिन फिर भी विश्वास कहीं लौट सकता है ?

रॉबर्ट बर्न्स के घायल खरगोश की कविता वाल्मीकि के समान पुण्य प्रकोप से ही शुरू होती है। मालूम होता है, जान बूझकर वाल्मीकि के शब्दों का ही रूपांतर तो नहीं कर दिया हो ?

Inhuman man ! Curse on thy barbarous art
And blasted be thy murder aiming eye
May never pity soothe thee with a sigh
Nor ever pleasure glad thy cruel heart.

इतना दारुण शाप दे देने के बाद कवि का हृदय उस मौत की घड़ियां गिनते खरगोश की ओर दौड़ता है। चोट के लगते ही वह खरगोश भागा। मौत का शिकार बेचारा यह जानवर इधर-उधर हांफता हुआ कहां जाना चाहता होगा ? अपने घर पर बिछौने मे गर्मी पाने के लिए तो नहीं ? लेकिन अब गर्मी कैसी ? कलेजे में से निकलता हुआ गर्म खून बात की बात में ठंडा हो जायगा और उसके गर्म बिछौने को ठंडी मृत्यु शय्या बना देगा। आतिथ्य-शील घास उसे सुलाने के लिए लोरियां गाने के बजाय अब शोक के गीत गावेगी। आंखें पथराने लगीं, अब वे यह सुन्दर हरियाली कैसे देख सकेंगी ?

Go, live, poor wanderer of the wood and field,
The bitter little that of life remains
No more the thickening brakes and verdant plains
To thee shall home, or food or pastime yield
Seek mangled wretch some place of wonted rest,
No more of rest, but now thy dying bed
The sheltering rushes whisking o'er thy head,
The cold earth with thy bloody bosom prest.

क्रोध और करुणा का कैसा संयोग ? दारुण और करुण दो वृत्तियाँ एक ही प्रसंग से उद्भूत हो हृदय को एक साथ अस्वस्थ कर देती हैं, और जो भाव हृदय में नहीं समा सकते वे मुँह से निकल कर चार या छ शब्दों में ही अपने को प्रकट कर देते हैं।

And curse the ruffian's aim
And mourn thy hapless fate.

उस अभागे खरगोश की याद दुःखदायी है लेकिन भुलाये नहीं भूलती। इसलिए कवि ने छन्दोभंग की पर्वा न करते हुए अंतिम पंक्ति में पांच के बदले छ: पद लिख दिये हैं और इस तरह शब्दों के साथ-साथ छन्द को भी कारुण्य की सेवा द्वारा कृतार्थ कर दिया है।

रॉबर्ट बर्न्स जहाँ क्रोध की धधकती आग से निकल कर कारुण्य के सागर में कूदे, अपने पुण्य प्रकोप को निवापांजलि में बदल दिया और अपने हृदय के एक भाग को प्रकटकर दिया, तहाँ कलापी ने एक ही साथ तीन प्रहारों का चित्र खींचा है। एक ध्वनि से जिस प्रकार दो प्रतिध्वनियाँ निकलती हैं या जैसे एक बिंब के दो प्रतिबिंब दिखलाई देते हैं उसी प्रकार पक्षी को जो चोट लगी वही लौटकर पश्चात्ताप के रूप में फेंकने वाले के हृदय में भी लगी और पक्षी के विश्रम्भ को अयोग्य साबित किया। पक्षी के अश्रद्धा-भाजन होने का घाव तो सबसे अधिक मर्मान्तिक है। यहीं काव्य की उत्पत्ति है।

(३)

श्री नारायण वामन तिलक का काव्य इन दोनों की अपेक्षा कुछ अधिक लम्बा और सुन्दर है। उन्होंने तो सारा प्रसंग ही बदल दिया है। रॉबर्ट बर्न्स ने तो घायल खरगोश को मृत्यु के पहले घर पहुँचने की व्यर्थ चेष्टा करते देखा। कवि तिलक ने घायल पक्षिणी को मरने से पहले अपने बच्चों से अंतिम बिदा लेने के लिए आई हुई देखा और उस अवसर वर्णन किया।

पैरों में ताकत नहीं। उड़ना चाहती है, पर फिर गिर पड़ती है। आंखों के सामने अँधेरा छा गया है। कोमल कलेजे में से लगभग सारा खून बह निकला है। माता को तो निश्चय होगया कि अब मौत आगई; देर भी नहीं है। लेकिन उसका तो संकल्प है कि बची हुई शक्ति और बचे हुए क्षणों का उपयोग अपने बच्चों को दर्शन देने में ही हो। और ईश्वर भी उसके इस सत्य संकल्प में मदद करता है।

क्षणोक्षणि पडे, उठे बळ उडे बापडी,
चुके पथहि येउनि स्तिमित दृष्टिला झांपडी
किती छळळी गळे रुधिर कोमलांगातुनी,
तशीच निज कोटरा परत पातली पक्षिणी.
* * *
म्हणे निज शिशूं प्रति 'अधिक बोलवेना मला
तुम्हांस अजि अंतिचा कवल एक मीं आणिला,
करा मधुर हा ! चला ! मरवितें तुम्हां एकदां
करो जतन या पुढें प्रभु पिता अनाथां सदा !

"आओ बेटा, अब तो बोला नहीं जाता। अंतिम कौर लेती आई हूँ। फिर तो तुम हो और तुम्हारे सिरजन-हार प्रभु!"

अहा ! मधुर गाउनि रमविलें सकाळीं जनां,
कृतघ्न मज मारितील न च हीं मनीं कल्पना !
तुम्हांस्तव मुखीं सुखें धरुनि घास झाडावरी,
क्षणैक बसलें न तों शिरत बाण माझ्या उरीं !

हम मनुष्य के आसरे पड़े हैं। उसके खेत का दाना चुगते हैं। सोचा, चलो कुछ रिझावें, यह सोचकर सुबह से मैं गा रही थी। मैं क्या जानूं कि वह कृतघ्न ऐसा बदला चुकावेगा ? सांझ हुई तुम्हारे लिए अच्छे, बड़े और पुष्ट दाने चोंच में लिये। घर तक आने के पहले एक जगह कुछ क्षण आराम कर रही थी। इतने में तो बाण लगा और मैं गिर पड़ी।

मिघून नर जातिला रमविण्यांत गेलें वय
म्हणून वधिलें मला ! किती दया ! कसा हा नय !
उदार बहुशूर हा नर खरोखरी जाहला,
वधून मज पांखरा निरपराध की दुर्बळा.

मैंने अपना सारा जीवन गाकर मनुष्य जाति को प्रसन्न रखने में बिताया। लेकिन इस बहादुर जाति ने उसका कैसा बदला चुकाया ? मुझ जैसी निरपराधिनी को मारकर इस वीर जाति के हाथ क्या लगा ?

इसके बाद का भाग नितांत मधुर है.—

म्हणाल भुललीं जगा, विसरलीं प्रियां लेकरां,
म्हणून अति सकष्टें उडत परतलें मी घरा,
असे लवहि उष्णता नच कुशीत माझ्या शिरा,
स्मरा मज बरोबरीं परि दयाघना ईश्वरा.

मनुष्य तो कृतघ्न ही ठहरा। किन्तु प्रभु के पंखी के हृदय से भी श्रद्धा उठ जाय तो दुनिया का अन्त न

हो जाय ? पक्षिणी सोचने लगी कि यदि मैं घर न गई तो बच्चे समझेंगे कि माँ इस दुनिया के लोभ में फँस गई है। हमारे प्रति का प्रेम अब कम हो गया है। हमें छोड़कर चली गई है। अश्रद्धा का यह ज़हर बच्चों के हृदय को स्पर्श न करे इसीलिए वह असह्य तकलीफ़ उठा कर भी किसी तरह अपने घोंसले पर जा पहुँची। बच्चे अपनी आदत के अनुसार उसकी पाँखों में घुसने लगे। माँ ने कहा—नही, बेटा अब नहीं, अब इन पंखों में वह गर्मी कहाँ ? अब तो मुझे और तुम्हे परमात्मा की हो.. -

इतना बोलते-बोलते बोली बन्द हो गई। लेकिन वाणी की अपेक्षा प्रेम बड़ा है, दीर्घजीवि है, अमर है। माँ ने सोचा अब यदि मैं इसी प्रकार इस घोंसले में और पड़ी रही तो खून बहेगा, घोंसला तर हो जायगा और बच्चों को घोंसले से जो स्वाभाविक गर्मी मिलती है वह भी न मिलेगी। वृक्ष के ऊपर से जिस प्रकार एक सूखा फूल नीचे गिर जाता है उसी प्रकार वह जीवित वाणीवाला फूल स्वेच्छापूर्वक नीचे ढल पडा। उसके रम्य पंख मिट्टी मे फैल गये। उसकी चोंच खुली रह गई मानो वह दुनिया को प्रेम और बलिदान का सन्देश सुना रही हो, और दुःखित हृदय से अखिल विश्व को देखने के लिए उसका निष्पाप, निष्कलक और निर्वैर धवल हृदय खुल गया हो। प्राण के साथ ही साथ श्रम और चिंता भी प्रस्थान कर गई। जो रहा सो तो कवि के काव्य मे समा गया।

असो; रुधिर बहुनि न च भिजो सुशय्यातरां
म्हणून तरुच्या तळी निजलि तो द्विजा भूवरी
जिवंत बहु बोलके किति सुरम्य ते उत्पल
बरें धरणि नाशिल खचित थोर बुद्धिबल।
मातींत ते पसरले अति रम्य पंख
केलें वरी उदर पांडुर निष्कलंक!
चंचू तशीच उघडी पद लांबवीले,
निष्प्राण देह पडला श्रमही निमालें!*

काका कालेलकर

* हस्तलिखित गुजरातीपत्र 'मधपूडो' से।

साहित्य की दुनियां में

दो नोबल-पुरस्कार-विजेता

साहित्य के लिए १९२७ ई० का नोबेल-पुरस्कार प्रसिद्ध फरासीसी दार्शनिक ऑरी बर्गसों (Henry Bergson), को और १९२८ ई० का, नार्वेकी प्रसिद्ध लेखिका सिग्रिड ऊँदसे (Sigrid Undset) को उसके प्रसिद्ध उपन्यास 'मिट्टी का विकास' के लिए मिला है। जो लोग आधुनिक यूरोपीय साहित्य की दुनिया से परिचित हैं, उन्हें ये नाम बहुत पहचाने-से मालूम होंगे। दोनों ने अपने विचारों और रचनाओं द्वारा संसार-व्यापी ख्याति पाई है।

ऑरी बर्गसों का जन्म १८५९ ई० में हुआ था। लड़कपन से ही साहित्य और विज्ञान दोनों की ओर इनकी प्रवृत्ति थी पर अन्त में इन्होंने साहित्य को ही अपनाया। यद्यपि इनके माँ-बाप अंग्रेज़ और ज्यू थे पर फ्रांस में ही पैदा होने तथा बस जाने के कारण इन्हे प्रकृतिभूत (Naturalised) फ्रेंच कहना ही ठीक होगा। दर्शन मे इनकी विशेष गति थी, बहुत दिनों तक अनेक कालेजों में यह इस विषय के अध्यापक रहे। १९१८ ई० मे विश्व-विख्यात फरासीसी सभा 'एकेदमें फ्रौंसे' ने इन्हे अपना सदस्य बनाया। महायुद्ध के समय से अध्यापन-कार्य छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सहकारिता के लिए प्रयत्न करने लगे। अभी दो वर्ष पहले तक यह जेनेवा की 'बौद्धिक सहयोग की अन्तर्राष्ट्रीय सभा' के अध्यक्ष थे। दर्शन पर इन्होंने अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं जो समस्त संसार मे पढ़ी-पढ़ाई जाती है। बर्गसों ने अपनी रचनाओं द्वारा यद्यपि किसी महान् क्रियाशील 'स्कूल' को जन्म नहीं दिया पर उनकी क्रान्तिकारिणी व्याख्याओं और नवीन मूलाधारों की सृष्टि करने वाली 'मैगनम् ओपस' आदि रचनाओं का आधुनिक यूरोपीय दर्शन के विकास में एक खास स्थान है। कहीं-कहीं विश्व-प्रपंच और उसके रहस्य की बड़ी गम्भीर व्याख्या बर्गसों ने की है। शान्ति-प्रसार और बौद्धिक विकास दोनों दृष्टियों से बर्गसों को नोबल-पुरस्कार देना उचित हुआ है।

श्रीमती ऊँदसे का जन्म १८८२ ई० मे डेनमार्क के किसी नगर में हुआ था। इनके पिता एक बड़े 'आर्कियालोजिस्ट' थे। ऊँदसे का प्रारंभिक जीवन बड़ी ग़रीबी में बीता,

बहुत दिनों तक एक छोटे दफ्तर में क्लर्क का काम करके इस लड़की को गुजारा करना पड़ा था। उस समय कौन जानता था कि आगे चलकर यह गरीब लड़की भारती के स्नेहाञ्चल-तले वह स्थान पायेगी, जो दुनिया में बहुत थोड़े लोगों को नसीब होता है।

शहर के दफ्तर में क्लर्की करते समय उँड्से को श्रमिकों और गरीबों के नीरस और दलित जीवन का जो कुछ अनुभव प्राप्त हुआ उसका उपयोग उन्होंने अपनी पहली रचना (१९०७ ई०) में किया। १९११ ई० में उनका पहला महान् उपन्यास 'जेनी' निकला, जिससे उन्हें प्रथम श्रेणी के लेखकों में स्थान मिल गया।

वर्तमान संसार में बहुत थोड़े लेखक ऐसे हैं जो श्रीमती उँड्से से स्त्री-पात्रों के चित्रण और अन्तर के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में आगे निकल जायँ। वह जब लिखती हैं, तो बहुत नीचे डूबकर लिखती हैं। मध्यकालिक यूरोप के कथानक लेकर उन्होंने कई ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं। और बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण किया है। अपने देश के ग्रामीण जीवन को उन्होंने सदैव बड़ी सफलता और गहराई के साथ व्यक्त किया है और इस बात में ग्रेज़िया द लेड्डा (१९२६ की नोबल-पुरस्कार-विजेत्री) तथा स्वर्गीय थामस हार्डी से उनकी तुलना की जा सकती है।

उनका पिछला उपन्यास 'मिट्टी का विकास' इस बात का एक अच्छा उदाहरण है।

श्रीमती उँड्से के निर्वाचन पर हम पुरस्कार के निर्णायकों को धन्यवाद देते हैं।

प्रगतिशील हिन्दी-साहित्य

इधर मालूम हुआ है कि गया के श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' की कविताओं का एक संग्रह 'धारा' नाम से निकलने वाला है। इनकी एक और पुस्तक 'मेरे धुँधले चित्र' भी तैयार है। इसमें छोटे-छोटे गद्य-काव्य हैं। 'वियोगी' जी ने कुछ अत्यन्त छोटी कहानियाँ भी लिखी हैं, जिनका संग्रह 'रेखा' नाम से प्रकाशित होने वाला है।

उपन्यास और कहानी लिखने की ओर लोगों की रुचि अब अधिक दिखाई पड़ रही है। बहुत से लोग कविता का क्षेत्र छोड़ उपन्यास को अपना रहे हैं। इस विषय में उन्नति की बड़ी आशा है। 'मीठी-चुटकी' के एक लेखक श्री 'वर्मा' ने 'बड़े बाबू' उपन्यास लिखा है। श्री शंभूदयाल सक्सेना अपनी अप्रकाशित कहानियों का संग्रह निकलवाने की चेष्टा में हैं। श्री केशवकुमार नामक एक उदीयमान लेखक ने एक सामाजिक उपन्यास लिखा है। हिन्दी के युवक कहानी-लेखक श्री प्रताप नारायण श्रीवास्तव का 'विदा' नामक एक बड़ा उपन्यास हाल में गंगा, पुस्तक-माला कार्यालय से प्रकाशित हुआ है। श्री 'उग्र' 'चुम्बन' नामक नाटक लिखने में व्यस्त हैं। श्री सुमित्रानन्दन के जिस नाटक के सम्बन्ध में पिछले किसी अंक में मैंने सूचना की थी कि वह नवम्बर तक तैयार हो जायगा, वह अभी कुछ देर से पूरा हो सकेगा। अभी बहुत थोड़ा लिखा गया है। इस नाटक का नाम 'परी' है और मैंने इसका कुछ अंश लेखक के मुँह से सुना भी है। इसमें सौंदर्य और उसके रूप की व्याख्या की खोज है। कला एवं सौंदर्य-शास्त्र (Easthetics) की दृष्टि से यह एक बड़ा सुन्दर नाटक होगा, बशर्ते रचनाकार की स्वाभाविक सुस्ती और उदासीनता उसकी पूर्ति में बाधक न हुई।

अन्य विषयों पर भी पुस्तकें लिखी जा रही हैं। प्रयाग के श्री रामशंकर शुक्ल एम. ए 'रसाल' अलंकार-शास्त्र पर एक पुस्तक लिख रहे हैं। इनकी कविताओं का एक संग्रह भी अभ्युदय प्रेस से निकलने वाला है। पता लगा है कि छायावाद पर भी दो विद्वान् लेखक कुछ लिख रहे हैं। इन में एक प्रयाग के श्री अवध उपाध्याय हैं और दूसरे 'छायावाद' के सम्बन्ध में व्यंग्यमय उक्तियाँ लिख 'हृदय के मधुर भार' उधेड़बुन करनेवाले काशी के प० रामचन्द्र शुक्ल हैं। प्रयागकी हिन्दी-साहित्य-गोष्ठी के श्री श्रीनाथसिंह स्व० लाला लाजपतराय की 'अनहैपी इण्डिया' का अनुवाद कर रहे हैं, जो इण्डियन प्रेस से 'दु:खी भारत' नाम धारणकर निकलेगा।

क्या इन बातों से यह मालूम नहीं होता कि हिन्दी साहित्य की उन्नति का क्रम जारी है?

रामनाथलाल 'सुमन'

[नोट—प्रत्येक अंक में प्रगति की ऐसी संक्षिप्त सूचनायें देने का प्रबन्ध किया गया है। आशा है मेरे स्नेही मित्र और कृपालु लेखकगण अपनी महत्वपूर्ण अप्रकाशित रचनाओं के सम्बन्ध में समय-समय पर सूचित करते रहेंगे। 'सुमन']

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है। एक प्रति आने पर आलोचना न हो सकेगी। प्रत्येक पुस्तक का साहित्य-सत्कार तो उसी अंक में हो जाया करेगा—आलोचना, यदि हुई तो, सुविधानुसार बाद में होगी।]



समन्वय

लेखक—बाबू भगवानदासजी एम ए। प्रकाशक—भारती भण्डार, काशी। मूल्य सजिल्द ३) रु०।

काशी के स्वनाम धन्य दार्शनिक विद्वद्वर बाबू भगवानदासजी से सभी परिचित हैं। आपने अंग्रेजी में समाज-शास्त्र तथा मनोविज्ञान पर कई उत्कृष्ट पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें से दो-एक के हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक आप ही के कुछ लेखों और व्याख्यानों का संग्रह है। इन में मुख्यत, गुरुकुल-कांगड़ी तथा हिन्दू विश्व विद्यालय, काशी में दिये हुए आपके दीक्षान्त भाषण हैं।

जैसा कि पुस्तक के नाम से प्रकट है, इसमें वर्तमान समाज तथा परिस्थिति से सम्बन्ध रखनेवाले—राजनीति, धर्मनीति, समाजनीति इत्यादि—प्राय सभी विषयों पर समुचित प्रकाश डाला गया है, तथा सब नीतियों एवं धर्मों की पारस्परिक अपेक्षा सिद्ध करके एक सार्वभौम सिद्धान्त तथा धर्म का प्रतिपादन किया गया है। पुस्तक दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण है, तथा जिज्ञासुओं के मनन करने योग्य है। जो लोग प्राचीन संस्कृति को अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं, उनसे हमारा अनुरोध है कि इस पुस्तक को एकबार आद्योपान्त पढ़ें। उनके अनेक भ्रमों का निवारण हो जायगा तथा उनको पता लगेगा कि संस्कृत ग्रन्थों में कैसे-कैसे रत्न भरे पड़े हैं।

पुस्तक के सभी आख्यान गवेषणा-पूर्ण हैं—'गणपति पूजा' तथा 'सब धर्मों की एकता' शीर्षक अध्याय तो हमें बहुत ही युक्तियुक्त तथा सुन्दर प्रतीत हुए। हाँ, वेदान्त विषय के प्रतिपादक कई स्थल किंचित जटिल और गूढ़ हो गये हैं। 'प्रणव की कहानी' शीर्षक अध्याय बहुत दार्शनिक है।

पुस्तक की भाषा परिमार्जित तथा बोधगम्य है। लेखन शैली व्याख्यानात्मक होने के कारण ओजपूर्ण है, तथा उसमें जहाँ तहाँ हास्य-रस का समावेश हो जाने से पुस्तक की रोचकता कुछ बढ़ गई है।

हमारा विचार है कि हिन्दी में अपने ढंग की यह पहली ही पुस्तक है। हम इसका हृदय से स्वागत करते हैं, क्योंकि हिन्दी-साहित्य का यह अंग अभी तक बिल्कुल अधूरा है। भय यही है कि संस्कृत उद्धरणों के आधिक्य तथा दार्शनिक सिद्धान्तों से रंजित होने के कारण यह पुस्तक सार्वजनिक अभिरुचि के अनुकूल सिद्ध होगी कि नहीं। पुस्तक के दो-चार पृष्ठ देखकर सभव है पाठक ऊब कर नाक-भौं सिकोड़ने लगें, परन्तु यदि वे इसे अन्त तक पढ़ने का कष्ट उठायेंगे, तो अपने ज्ञान में वृद्धि तथा अपने दृष्टि-कोण में परिवर्तन अवश्य पायेंगे।

पुस्तक जिज्ञासुओं के काम की है। मूल्य यदि कुछ कम होता तथा पुस्तक की छपाई-सफ़ाई इत्यादि पर अधिक ध्यान दिया जाता, तो और भी अच्छा था। हमारी राय में तो ऐसी पुस्तकों का मूल्य जान-बूझ कर कम रखना चाहिए, जिससे पाठक और कुछ नहीं तो मूल्य से ही आकृष्ट होकर इन्हें संग्रह करें।

चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय
(बी. एस-सी. सी० टी.)

भारतवर्ष का इतिहास

(खण्ड १)

लेखक—श्री रामदेवजी आचार्य, गुरुकुल विश्व-विद्यालय कांगड़ी। प्रकाशक—गुरुकुल, कांगड़ी, जिला बिजनौर (यू०पी०)। आकार रायल अठपेजी, पृष्ठ संख्या ३८०, मू० १।।)

भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन देश है। उसका दीर्घकालीन इतिहास बहुत अधिक विस्तृत है। जब आज का सभ्य यूरोप जंगली था, उसे कपड़े पहनने तक की तमीज नहीं थी, भारत राष्ट्र की उच्च कल्पनाओं, बहुत गम्भीर अध्यात्म-तत्व और आश्चर्यप्रद वैज्ञानिक उन्नति को प्राप्त कर चुका था। मिस्र यूनान और रोम आदि एक-एक करके उठे और कुछ समय के बाद अस्त हो गये, उन सब देशों के उत्थान से हजारों वर्ष पूर्व और उनके पतन के बाद भी भारत उन्नत रहा। भारत का इतिहास कई सदियों का नहीं, कई सहस्र वर्षों और हिन्दुओं के कथनानुसार कई लाख सालों का है। अत्यन्त प्राचीन भारत के जीवन में न जाने कितने प्रकार के परिवर्तन हुए और उसके जीवन का एक-एक भाग कितना दीर्घ है। इतने प्राचीन भारत का शृङ्खलाबद्ध और पूर्ण इतिहास नहीं मिलता और मिलने की संभावना भी नहीं की जा सकती। फिर भी आज जो कुछ उपलब्ध हो चुका है और भारतीय इतिहास का जो रूप बन सका है, वह उन पाश्चात्य विद्वानों के सतत और स्तुत्य परिश्रम का फल है, जिन्होंने केवल अगाध ज्ञान-प्रेम के खातिर भारतीय इतिहास का पुनरुद्धार किया है। उन्होंने प्राचीन शिला-लेखों, सिक्कों, विदेशी-यात्रियों के भारत-सम्बन्धी वर्णनों तथा अन्य सामग्री की खोज करके भारतीय इतिहास का निर्माण किया है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से भारतीय विद्वानों ने भी पाश्चात्य ऐतिहासिकों की पद्धति का अनुसरण करते हुए भारतीय इतिहास-सम्बन्धी बहुत सराहनीय परिश्रम किया है, और उनकी कई खोजों से भारतीय इतिहास की काया ही पलट गई है। इतिहास का वर्तमान रूप बहुत ही उज्ज्वल और गौरवपूर्ण है।

परन्तु यह सब होते हुए भी भारतीय इतिहास में कुछ भारी दोष रह गये हैं। और वह उसके मूल में हैं। भारतीय इतिहास के निर्माता विदेशी और विधर्मी विद्वान् हैं। उन्होंने उसको अपने दृष्टिकोण से बतलाया है। वे भारतीय संस्कृति और सभ्यता को, भारतीय विचारशैली को, भारतीय भाषा के मूलतत्त्व को नहीं समझ सके, इसलिए, उन्होंने जगह-जगह अनर्थ कर दिया है। भारतीय इतिहास के मूल में दूसरी बड़ी अशुद्धि यह है कि विदेशी विद्वानों ने डार्विन के विकासवाद को स्वयं-सिद्ध सत्य मान कर भारतीय इतिहास लिखा है। वे यह मानने को तैयार ही नहीं कि विकासवाद का सिद्धांत किसी रूप में असत्य भी हो सकता है और यूनान, रोम से बहुत पूर्व आज के सभ्य संसार से भी अधिक उन्नति हो सकती है। पर मोहें जोदड़ो के आविष्कार ने आज ऐतिहासिकों को ५,०००साल पहले के वर्तमान विकास पर विचार-क्रान्ति करने को बाधित कर दिया है। तीसरी अशुद्धि भारतीय इतिहास के मूल में यह हुई कि विदेशी विद्वान् शासक जाति के हैं। यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि विजयी जाति पराजित जाति का इतिहास लिखने में पक्षपात करती है तथा सदा उसे असभ्य दिखाया करती है। पर भारतीय विद्वानों ने भी इतिहास लिखते समय पाश्चात्य विद्वानों का ही अनुकरण किया। उनके विचार पाश्चात्य विचारों में ही रंगे गये थे। यद्यपि कुछ भारतीय विद्वानों ने भारतीय इतिहास को शुद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु वह बहुत थोड़ा प्रयत्न है। अन्तिम त्रुटि यह हुई कि पाश्चात्य विद्वानों के भारतीय संस्कृति से अपरिचित होने के कारण उन्होंने भारत की केवल राजनैतिक घटनाओं को प्रधानता दी। आज भी भारत में प्रायः जितने इतिहास लिखे जाते हैं, उन सभी में राजनैतिक घटनाओं को मुख्यता दी जाती है, मानों सामाजिक घटनायें भारत में हुई ही नहीं।

यह सब कमियाँ हैं, जो भारतीय इतिहास को पूर्ण नहीं बनने देतीं। यह ठीक है कि अब इन त्रुटियों की ओर भारतीय विद्वानों का ध्यान जाने लगा है, परन्तु अभी इस ओर बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। यह सन्तोष की बात है कि गुरुकुल-कांगड़ी-विश्वविद्यालय ने इस कमी को किसी अंश में पूर्ण करने का प्रयत्न किया है।

केम्ब्रिज और आक्सफ़ोर्ड आदि यूनिवर्सिटियों की तरह गुरुकुल ने भी भारतीय इतिहास पर प्रामाणिक ग्रन्थमाला निकालना प्रारम्भ किया है। प्रस्तुत दो खंड इसी प्रयत्न के परिणाम हैं। हम यहाँ पाठकों को उक्त इतिहास का संक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं।

प्रथम खण्ड के चार भाग हैं। प्रथम भाग में इतिहास का लक्षण और उसकी आवश्यकता पर संक्षिप्त विचार करके इस प्रश्न को उठाया गया है कि क्या प्राचीन आर्य इतिहास जानते थे? विद्वान् लेखक ने वेद, उपनिषद्-सूत्र तथा काव्य-ग्रन्थों के प्रमाण और युक्तियाँ देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्राचीन आर्य इतिहास से पूर्णतया अभिज्ञ थे। यदि प्राचीन आर्य इतिहास में रुचि न रखते तो पुराणों में विस्तृत रूप से इतिहास कैसे मिलता, अबुल-फ़ज़ल कैसे बिना प्राचीन सामग्री की सहायता के इतिहास लिख सकता, और कल्हण अपने से पूर्व के ११ इतिहासज्ञों का किस तरह उल्लेख करता? ह्यूनत्सांग क्यों अपने यात्रा-विवरण में भारत के प्रत्येक राज्य में सम्पूर्ण घटनाओं का नीलपत्रिकाओं (Blue books) में विवरण रखने वाले राजपुरुष का नाम लिखता? वस्तुतः प्राचीन आर्य इतिहास लिखते थे, परन्तु मुसलमानों के सैकड़ों अत्याचारों और काल-प्रवाह के चक्र से भारत का अनन्त साहित्य नष्ट हो चुका है, उसी में ऐतिहासिक साहित्य नष्ट हुआ हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। इसके बाद तीसरे परिच्छेद में भारतीय इतिहास के निर्माण की सामग्री का विस्तार से विवेचन किया गया है कि अब किस-किस सामग्री से भारतीय इतिहास बन सकता है। चतुर्थ परिच्छेद में एक बहुत ही आवश्यक विषय पर प्रकाश डाला गया है। अबतक जितने पाश्चात्य या भारतीय ऐतिहासिक हुए हैं, उन सभी ने भारत के वैदिक काल की कल्पना कर वेद से ऐतिहासिक घटनाओं का उद्धरण दिया है, परन्तु प्रस्तुत पुस्तक के लेखक एक आर्य-समाजी विद्वान् हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि वेद से इतिहास सिद्ध करना बड़ी भारी भूल है। वेद ऐतिहासिक पुस्तक नहीं, परन्तु अपौरुषेय और सृष्टि के आदि में बने हैं। लेखक ने प्रबल युक्तियों के आधार पर अपना मत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जिसे पढ़कर कट्टर से कट्टर ऐतिहासिक भी एक बार ज़रा ठहर कर सोचने लग जाता है कि क्या वेद से इतिहास निकालना बड़ा भारी असत्य तो नहीं है? यदि यह सिद्ध हो जाय कि वेद वस्तुतः ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं हैं, तो भारतीय इतिहास में बड़ी उथल-पुथल हो जाय। और आज भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वेद इतिहास के ग्रन्थ हैं। यदि वस्तुतः वे ऐतिहासिक होते तो विकासवाद के सिद्धान्तानुसार आज से हजारों वर्ष पूर्व बने वेदों में वह आध्यात्मिक, वैज्ञानिक और सामाजिक उन्नति की पराकाष्ठा के मन्त्र मिलने असंभव थे, जिन्हें देखकर आज के विद्वान् भी चकित हो जाते हैं। लेखक के इस प्रयत्न को धार्मिक अन्ध-विश्वास कह कर टाला नहीं जा सकता। यह प्रश्न वस्तुतः बहुत महत्त्वपूर्ण है कि क्या वेद ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं? इस प्रश्न पर हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए, न कि पाश्चात्य ईसाई विद्वानों के चक्र में पड़ जाना चाहिए—जिनके धार्मिक विचार बिलकुल दूसरे हैं।

द्वितीय भाग में ब्राह्मण-काल पर विस्तृत विचार किया गया है। इस ग्रन्थ के लेखक भारतीय गौरव के बड़े भारी समर्थक और प्राचीनता के बहुत पक्षपाती हैं। ब्राह्मण-काल के संबंध में वे लिखते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्गत ज्योतिष की अनेक बातों से यह सिद्ध हो गया है कि उसके अनेक स्थल आज से १२,००० वर्ष पूर्व बने हुए हैं और हमारा विश्वास है कि ब्राह्मणों की जितनी आलोचना होगी, उतने ही वे अधिक प्राचीन सिद्ध होंगे। लेखक का यह पक्ष अभी बहुत अधिक विवादास्पद है, इस पर केवल उपर्युक्त चार-पाँच पंक्तियाँ लिखने से ब्राह्मण अत्यन्त प्राचीन सिद्ध नहीं हो जाते। इस मत की पुष्टि के लिए अनेक प्रमाण और युक्तियों की आवश्यकता थी, जो लेखक ने नहीं दिये हैं। शतपथ में महाभारत-कालीन घटनाओं का उल्लेख स्पष्ट सिद्ध करता है कि वे महाभारत के पीछे बने हैं। आगे लेखक ने ब्राह्मण-कालीन भारत की सामाजिक स्थिति का वर्णन किया है। आज पाश्चात्य विद्वानों के कथन से यह सिद्धान्त माना जाने लगा है कि यज्ञों में हिंसा होती थी। इसका विरोध करना ऐतिहासिक जगत में उपहा-

सास्पद माना जाता है, परन्तु प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने इस प्रचलित और सर्वमान्य बात का बड़े जोर से विरोध किया है। उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर विद्वत्ता-पूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ब्राह्मण-कालीन यज्ञ हिंसात्मक नहीं होते थे। यज्ञ का पर्यायवाची शब्द 'अध्वर' यज्ञों के अहिंसात्मक होने का स्पष्ट प्रमाण है। पाश्चात्य विद्वानों के किये हुए ब्राह्मणों के अर्थ अयुक्ति संगत और अशुद्ध हैं। वर्तमान सर्वमान्य सिद्धान्त का विरोध करने के लिए जितने बल की आवश्यकता थी, उतने बल से विरोध किया गया है और इसलिए कहीं-कहीं यह मालूम होने लगता है कि हम इतिहास नहीं, कोई धर्मग्रन्थ पढ़ रहे हैं।

(अपूर्ण)

कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार

भावुक

लेखक—रायकृष्णदासजी। प्रकाशक—भारती-भण्डार, काशी। पृ० सं० ६०। मूल्य ।।)

रायसाहब गद्य-काव्य के प्रसिद्ध लेखक हैं। उनकी पद्य रचनायें देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। इस संग्रह में उनकी १४ कवितायें हैं, जो समय-समय पर 'माधुरी', 'सरस्वती' इत्यादि पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हो चुकी हैं। कवितायें सभी प्रथम श्रेणी की हैं, परन्तु हमें तो 'स्नेहक्षयाय' 'सम्बन्ध' और 'अनायास' बहुत पसन्द आईं।

इन कविताओं में से ९ कविताओं की ललित स्वर-लिपियाँ भी दी गई हैं; स्वरकार मुनीम लक्ष्मणदास जी हैं। हारमोनियम शिक्षा की अधिकांश पुस्तकों में जो भ्रष्ट शृंगार के गीत दिये रहते हैं, उनके स्थान पर यदि ऐसी स्वर-लिपियाँ रहें तो कहीं अच्छा हो।

गोपालस्वरूप भटनागर

ग्राम-सुधार

लेखक—श्री गिरिवरधर, वकील, समस्तीपुर। प्रकाशक—लॉ-रिपोर्टर-प्रेस, पटना। पृ० सं० १६२, छपाई—कागज साधारण, मूल्य ।।)

पुस्तक के लेखक ग्राम के निवासी तथा सार्वजनिक कार्य-कर्त्ता हैं। ग्रामों के सुधार के लिए उन्होंने कुछ किया भी है और ग्राम-सुधार की लगन उनके हृदय में दिन-ब-दिन बलवती होती जाती है, ऐसा पता चलता है। ग्राम-सुधार का विषय एक ऐसा विषय है, जिसकी ओर देश और समाज के सेवकों का ध्यान अब आकर्षित होने लगा है; और अनेक समाज सेवी और देश-भक्त ऐसे हैं जिनके हृदय ग्राम-निवासियों के कष्ट-मय जीवन तथा उनकी मुसीबतों को देख कर विह्वल हो उठे हैं। परन्तु इतना सब-कुछ होने पर भी ग्राम-सुधार की एक निश्चित योजना अभी तक किसी को नहीं सूझी और यदि सूझी भी हो तो उसके अनुसार कहीं काम शुरू नहीं हुआ। पुस्तक की भूमिका पढ़कर हमें यह आशा हुई थी कि इसमें ग्राम-सुधार की कोई अनुभूत कार्य-प्रणाली होगी। परन्तु हमें निराश होना पड़ा। पुस्तक को पढ़कर न तो ग्राम-निवासियों के वास्तविक कष्टप्रद जीवन का ही पता चलता है, और न उनको दूर करने की कोई तरकीब ही मिलती है। हाँ, पुस्तकालय खोलने तथा पंचायत का चुनाव करने की बात अवश्य लिखी है। परन्तु पंचलोग क्या करें, गाँव का क्या और कौन-सा सुधार करें, इसका उल्लेख कहीं नहीं है। धर्म, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह और शंका-समाधान आदि अनेक विषय पुस्तक में ऐसे लिखे हैं, जिनका ग्राम सुधार से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार पर्दा आदि विषय भी अप्रासंगिक हैं। आशा है, लेखक महोदय पुस्तक के दूसरे संस्करण में अनावश्यक बातें निकाल देंगे और ग्राम सुधार की कोई समुचित योजना प्रस्तुत करेंगे।

शिवचरणलाल शर्मा

हिंदी करीमा

शेख सादी फारसी-साहित्य में अपनी कुछ अमर कृतियाँ छोड़ गये हैं। उन्हीं में से एक 'करीमा' है। श्री प्रेमचन्दजी के शब्दों में, यह "फारसी-साहित्य की जितनी सर्व-प्रिय पुस्तक है उतनी कदाचित और कोई पुस्तक न होगी।" प्रस्तुत पुस्तक उसी फारसी 'करीमा' का खड़ी बोली में शाब्दिक पद्यानुवाद है। अनुवादक श्री इकबाल वर्मा 'सेहर' मूल की सुन्दरता, पटुता और सर्वग्राहकता को ज्यों-का-त्यों

अभिव्यक्त करने में कहाँ तक सफल हुए हैं; यह तो दोनों भाषाओं का सुविज्ञ कोई कवि ही ठीक बतला सकता है, परन्तु अनुवाद सरल, सुबोध और रोचक तो जरूर है। हम यह मानते हैं कि 'करीमा' जैसी नीति और उपदेश की पुस्तक में ऐसी बातें न आतीं तो अच्छा होता—

"लाल रंग वाली मदिरा का सुन्दर स्वर्ण-खचित प्याला।
होता है ऐसा जीवन-प्रद जैसे अधर प्रेमिका का।"
"ऐसी मदिरा हो जीवन-प्रद जो प्रेमिका-अधर की-सी।
ऐसी मदिरा जिसमें द्युति हो उसी प्रेमिका के मुख की।"
"अपने वचन भंग कर देना है स्वभाव महिलाओं का।
....   ।"

पर आशिक-माशूक और मदिरा के बिना फारसी शायरों की शायरी ही शायद पूर्ण नहीं होती—ऊँचे-से-ऊँचे और पवित्र-से-पवित्र विषय में भी वे बड़ी सुन्दरता के साथ उन्हें कहीं-न-कहीं गूँथ ही देते हैं! अस्तु। पुस्तक सुन्दर उपदेश से परिपूर्ण है। कहीं-कहीं तो भाव इतने सुन्दर हैं कि बार-बार पढ़ने पर भी तबीयत नहीं अघाती! उपमा और अलंकार भी कमाल के हैं। नवयुवक भाइयों को हम खास तौर पर इसके पढ़ने की सिफ़ारिश करेंगे। पुस्तक एण्टिक पेपर पर छपी है और मूल्य है ।=) । मिलने का पता—प्रकाश-पुस्तकालय, कानपुर।

मुकुट

वीणा (अहल्याङ्क)

मध्य-भारत-हिन्दी-साहित्य-समिति, तुकोगंज इन्दौर, गत ११ महीनों से 'वीणा' नामक एक पत्रिका निकाल रही है। इसके सम्पादक हैं हिन्दी के सेवक पंडित अम्बिकाप्रसाद-जी त्रिपाठी। इन ११ महीनों में श्री त्रिपाठीजी ने 'वीणा' द्वारा मध्य-भारत की हिन्दी जनता की जिन कठिन और असुविधा-जनक परिस्थितियों में जैसी सेवा की है वह हृदय से अनुभव करने और सराहने की चीज है। हिन्दी-साहित्य सम्बन्धी व्यापक हलचलों से इन्दौर और वहाँ के साहित्य-सेवी वर्षों से, एक तरह, उदासीन रहे हैं और अत्युक्ति नहीं होगी, अगर यह कहा जाय कि आज भी कई अंशों में उनकी उदासीनता पूर्ववत् ही बनी हुई है। ऐसे स्थान से बाहर के साहित्य-सेवी इष्ट-मित्रों को कष्ट देकर ८० पृष्ठों की 'वीणा' को सजधज के साथ निकालने के लिए श्री त्रिपाठीजी ही चाहिएँ थे।

'वीणा' का श्रावण का अंक 'अहल्याङ्क' के रूप में निकला है। हमें कहना होगा कि इन्दौर की साहित्यिक-स्थिति को देखते हुए वह इसमें सफल हुई है। यह 'अहल्याङ्क' तो मानों स्वर्गीय देवी अहल्याबाई होल्कर के गद्यपद्य-मय उत्कृष्ट जीवन-चरित्र का नमूना है। अहल्याबाई के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक प्रामाणिक और काव्य-मय बातों के संग्रह के कारण प्रस्तुत 'अहल्याङ्क' हिन्दी-साहित्य की एक संग्रहणीय वस्तु है।

'वीणा' के इन सौ पृष्ठों में कुल चौंतीस लेखकों और कवियों की अपने-अपने ढंग की अनूठी गद्य-पद्य और गल्प मयी रचनायें हैं। गद्य लेखों में श्री पं० वासुदेव वामन ठाकुर, श्रद्धेय पं० लज्जारामजी मेहता, श्री सरदार कीबे, श्री अध्यापक ज्वालाप्रसादसिंहजी, श्री वैद्यनाथ शास्त्री, श्री अध्यापक पं० रामाज्ञा द्विवेदी की रचनायें देवीजी की जीवनी पर और उनकी शिक्षाओं पर अच्छा प्रकाश डालती हैं।

अहल्याङ्क के पद्यों का चुनाव तो काफ़ी विविध और सन्तोष-जनक हुआ है। लगभग सब हिन्दी, मराठी, संस्कृत और अंग्रेज़ी पद्यों में देवी अहल्याबाई के पवित्र गुणों का गान समाविष्ट है।

देवी अहल्याबाई के तिरंगे चित्र के साथ 'वीणा' के इस अंक में देवी का राजप्रासाद, छत्री आदि के चित्र और इंदौर के प्रसिद्ध कार्य-कर्ता तथा कुछ लेखक-लेखिकाओं के सादे चित्र भी हैं।

प्रस्तुत अंक में यत्र-तत्र छापे की अशुद्धियाँ जरूर रह गई हैं और कहीं-कहीं एक-दो लेखों में देवी के जन्मस्थान के नाम भ्रम पैदा करने वाले छापे हैं। श्रीमती कुमारी यमुनाबाई उनका जन्म अहमदनगर जिले के पास पाथर्डी ग्राम में होना लिखती हैं, और श्री बाबूराव राजल औरंगाबाद ज़िले के चोंढ ग्राम में उनका जन्म होना बतलाते हैं। कहीं देवी-जी की मृत्यु की उम्र ७० वर्ष है और कहीं ६० और कहीं ६५। आशा है, त्रिपाठी जी 'वीणा' के किसी अगले अंक में इस पर प्रकाश डालेंगे।

इन थोड़ी-सी त्रुटियों के होते हुए भी 'वीणा' का अङ्क-
क्योंकि पाठकों के काम की चीज़ है, वह सर्वथा संग्रहणीय और पठनीय है।

ऐसी सुन्दर सफलता के लिए हम श्री त्रिपाठीजी और समिति के कार्यकर्त्ताओं को धन्यवाद देते और जनता से अनुरोध करते हैं कि वह मध्य-भारत की इस उदीयमान बालिका 'वीणा' को हर तरह अपनाकर इसे चिरजीवी और सुन्दर बनावे।

'वीणा' का बारहवाँ अङ्क भी सन्तोषजनक निकला है। आशा है, इसका दूसरा वर्ष भी सफलता, उन्नति और लोक-प्रियता का वर्ष रहेगा।

'वीणा' का वार्षिक मूल्य ५) और इस अङ्क का ॥) है।

त्रिवेदी

साहित्य-सत्कार

गुजराती

१—भारत ना वीर पुरुषो (भाग १)—प्रकाशन-स्थान—सस्तुं-साहित्य-वर्धक-कार्यालय, अहमदाबाद। पृ० सं० २८८, मूल्य सजिल्द १)

२—बाल-साहित्य-माला की पुस्तकें—शब्दपोथी, वाक्यपोथी, चित्रपोथी, नानापाठो, मोटापाठो, वार्तावातो, घरमा, आंगणाना, शेरीमां, बाळशाळामां, गाममां, फरवाजइए। लेखक—श्री गिजुभाई। सम्पादक—श्री गिजुभाई और श्रीमती ताराबेन। प्रकाशक—दक्षिणा-मूर्ति-प्रकाशन-मन्दिर, भावनगर। पृ० सं० प्रत्येक की ४०; मूल्य प्रत्येक का -)॥

हिन्दी

१—अफ़लातून की समाज-व्यवस्था—लेखक—श्री गोपाल दामोदर तामस्कर, एम० ए०, एल० टी०। प्रकाशक—श्री—काशी विद्यापीठ, ज्ञानमण्डल काशी। पृ० सं० १९४, मूल्य १।=)

४—भूषण ग्रन्थावली (सटीक एवं सशोधित तीसरा संस्करण)—सम्पादक—श्री रामनरेश त्रिपाठी। प्रकाशक—हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग। पृ० सं० २०४, मूल्य १)

५—छत्र छवि—लेखक—श्री कुँवर राधाकृष्ण तोषनीवाल। प्रकाशक—हिन्दी-उपासक-मण्डल अजमेर। पृ० सं० ५१, मूल्य ।=)॥

६—स्वास्थ्य शिक्षा—लेखक और प्रकाशक—श्री दयाशंकर पाठक, मेडलिस्ट जयपुर। पृ० सं० ११०, मू० १)

७—सच्ची आवाज़—लेखक—श्री एक सेवक। प्रकाशक—भारत-धर्म-राष्ट्रीय ग्रन्थमाला, देहली। पृ० सं० १९९, मूल्य ॥=)

८—वायोलिन शिक्षक—लेखक और प्रकाशक—श्री अध्यापक शंकर दत्तात्रय पाठक। प्राप्तिस्थान—अहमदाबाद। पृ० सं० ५७, मूल्य ॥)

९—भक्त मोरध्वज (नाटक)—लेखक—श्री 'दास' और 'फ़ख'। प्रकाशक—श्री शिवरामदास गुप्त, उपन्यास-बहार-आफिस, काशी। पृ० सं० १०७, मूल्य ॥)

१०—सती सुकन्या, (उपाख्यान)—लेखक—श्री एक साहित्य-सेवी। प्रकाशक—वही। पृ० सं० ४८, मूल्य ।)

११—वीर लवकुश (उपाख्यान)—लेखक—श्री 'विमल' जी। प्रकाशक-वही। पृ० सं० ६६, मूल्य ।)

१२—श्रावक का अहिंसाव्रत—सम्पादक—श्री मुन्नालाल जी शास्त्री। प्रकाशक—श्री श्वे० सा० हितेच्छु श्रावक-मण्डल-रतलाम (मालवा)। पृ० सं० १०४, मू० ।)॥

पत्र-पत्रिकायें

सुधा (साहित्य संख्या) नं० १-प्रधान सम्पादक—श्री पद्मसिंह शर्मा। सम्पादक—श्री दुलारेलाल भार्गव, श्री रूपनारायण पांडेय और श्री नन्दकिशोर तिवारी। प्रकाशन-स्थान—गंगा-पुस्तक-माला-कार्यालय, लखनऊ। पृ० सं० २५०।

चाँद (फाँसी अंक)—इस अंक के सम्पादक—श्री चतुरसेनजी शास्त्री। प्रकाशन-स्थान—फाइन-आर्ट-प्रिंटिंग प्रेस २८ एलगिन-रोड, इलाहाबाद। पृ० सं० ३२७, इस अंक का मूल्य २)

महारथी (राजपूत अंक)—सम्पादक—श्री रामचन्द्र शर्मा बी० ए०। प्रकाशन-स्थान—महारथी-प्रेस, दिल्ली। पृ० सं० २००, इस अंक का मूल्य १), वा० मू० ५॥)

वृद्धि (मासिक)—सम्पादक—डा० आय० एच० बीटी, एम० ए० और श्री पं० दुर्गाप्रसाद। प्रकाशन-स्थान-वृद्धि कार्यालय, पी० ओ० बक्स २३५, सूवा फीजी। पृ० सं० १५, वा० मू० ३ शिलिंग।

समाज के हाथ-पांव

किसान-मज़दूर युग में राष्ट्र-भाषा

"अभी थोड़े दिन हुए तुर्किस्थान के अध्यक्ष श्री वीरवर कमालपाशा ने अपने राज्य में अरबी लिपिका सर्वथा बहिष्कार और उसके बदले रोमन लिपि का आम प्रचार कर दिया है। अबसे सरकारी कचहरियों मे, समाचार पत्रों में, पाठशालाओं तथा कालेजों मे सारांश तुर्किस्थान के हरएक लेखन सम्बन्धी कार्य में रोमन लिपि प्रयोग किया जायगा। यह भी कहा जा रहा है कि वीरवर कमाल ने अरबी लिपि एकदम भूल जाने के लिए अरबी लिपि मे लिखे पुराने पत्रों तथा सरकारी कागजों का न देखने का निश्चय किया है।'

उपर्युक्त समाचार मे कुछ अतिशयोक्ति भले ही हो पर इस मे सन्देह नही कि श्री कमाल ने एक महत्वपूर्ण बात लोगों के सम्मुख रक्खी है और वह है, अधिक से अधिक लोगों मे सुलभ साधन द्वारा ज्ञान और शिक्षा का प्रचार करना और तद्द्वारा तुर्की-राष्ट्र को सगठित करके उसे उन्नत बनाना। श्री कमाल ने इस कार्य द्वारा अपने सिद्धान्त के लिए बड़ा भारी त्याग किया है।

जन-साधारण की सुविधा और भलाई का दृष्टि से अरबी लिपि का इस प्रकार त्याग करना बहुत बड़ा त्याग है। हम यो कह सकते है कि जन-साधारण की सुविधा और भलाई अन्य चीज़ों से श्रेष्ठ है।

अफ़गानिस्थान के श्री अमीर अमानुल्लाखां ने अभी-अभी जो पर्दा प्रथा-तोड़क कार्य किया है उसमे भी यही रहस्य है।

पेकिंग के बदले नानकिंग को स्वतन्त्र चीनी-राष्ट्र की राजधानी बनाने में भी इसी रहस्य का हाथ है।

यदि एशिया के इतने राष्ट्र—जिनमे रूस-बोल्शेविक रूस का भी समावेश अवश्य किया जायगा—जन-सुविधा के लिए इतना कर रहे हैं तो क्या उसी एशिया के अन्तर्गत भारत-राष्ट्र जन-सुविधा के लिए कुछ न करेगा?

भारत मे अंग्रेजी शासन होने के कारण आज हम किसानों, मजदूरों और स्त्रियों को हर तरह की सुविधायें देकर उनकी उन्नति मे सहायक नहीं हो सकते, लेकिन जो थोड़ी सुविधायें सरलता-पूर्वक उन्हे दे सकते है वे न देकर हम अपने कर्त्तव्य से च्युत हो रहे है। इन सुविधाओं में राष्ट्र-भाषा का प्रचार भी एक है।

आज बम्बई का एक मजदूर पंजाब के दूसरे मज़दूर से अपने सुख-दुःख नही कह सकता और इसी कारण उनमें परस्पर न तो प्रेम है और न सहानुभूति ही। परन्तु यदि वे समान-रूप से हिन्दी जानने लगें तो बड़ा सुविधा हो। एक मजदूर या किसान के लिए अंग्रेजी पढ़ना या उसे पढ़ाना उतना सरल नहीं है जितना हिन्दी का पढ़ना-पढ़ाना।

दूसरी बात यह है कि आज संसार-भर मे जो लहर बह रही है अगर वह स्थिर रही तो एक न एक दिन हम स्वतन्त्र अवश्य होंगे। और उस समय हमें इन्हीं किसानों और मजदूरों के उत्तरदायी प्रतिनिधियों के सम्मिलित सहयोग से राष्ट्र-निर्माण का ठोस काम करना होगा। ऐसी अवस्था मे यदि इन्हें अपने विचारों को प्रकट करने के लिए कोई सुलभ भाषा अवगत न होगी तो राष्ट्र कार्य मे बड़ी बाधा पड़ेगी। अतः अगर हम राष्ट्र निर्माण-के लिए आवश्यक राष्ट्र-भाषा का प्रसार अभी से नहीं करते तो उस समय हमें बड़ी अ-सुविधा होगी, हमारा काम रुक जायगा।

राष्ट्र-भाषा का प्रचार जितना आवश्यक है, राष्ट्र-भाषा जिनकी मातृभाषा है, उनकी जिम्मेदारी भी उतनी ही अधिक है।

राष्ट्र-भाषा का सुलभ होना एक बात है, और उस सुलभता का महत्व लोगों के सम्मुख रख कर उन्हें उसे पढ़ने के लिए उत्साहित और प्रेरित करना दूसरी बात है। इस दूसरी बात की पूर्ति का सारा भार उन सज्जनों पर है, राष्ट्र भाषा हिन्दी जिनकी मातृभाषा है।

अन्य प्रान्तों की अपेक्षा हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों पर इस बात का विशेष उत्तरदायित्व है। अभी जब मैं पूज्य महात्माजी से उनके आश्रम पर मिला था, उन्होंने मुझ से इसी उत्तरदायित्व की चर्चा की थी।

श्री महात्माजी की बात का स्मरण करते हुए तथा परिस्थिति को देखते हुए हिन्दी भाषा-भाषी उत्साही नवयुवकों से यह निवेदन करने की इच्छा-सी होती है कि थोड़े उत्साही नवयुवक इसी एक कार्य के लिए अपना जीवन अर्पण कर दें।

जहां राजनीति, धर्म और शिक्षा आदि क्षेत्रों में आज अनेक त्यागवीर दिखाई पड़ते हैं वहाँ क्या हमारी राष्ट्र-भाषा —जो भारतीय राष्ट्र को एकबद्ध करने का एकमात्र साधन है और समय आनेपर जो विश्व-भर की भाषा होने का दावा रखती है—इन त्यागवीरों से वंचित रहेगी?

सिन्ध, आसाम, उड़ीसा, बंगाल, बर्मा, मद्रास, कर्नाटिक, आदि प्रान्त में राष्ट्र-भाषा के प्रसार की अत्यन्त आवश्यकता है। इनमें भी पूज्य महात्माजी के शब्दों में सिंध, बंगाल, उड़ीसा और आसाम का आवश्यकता बहुत बड़ी है। मद्रास प्रान्त में तो दक्षिण-भारत-राष्ट्र-भाषा-प्रसार-समिति, देशभक्त श्री हरिहर शर्माजी के नेतृत्व में बड़े उत्साह के साथ यह कार्य कर रही है।

कुछ नवयुवक जो सुशिक्षित तो हैं पर कहीं अपनी योग्यतानुसार स्थान न मिलने के कारण किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर घर बैठे हैं यदि यह व्यापक एवं पवित्र कार्य अपने हाथमें ले लें तो स्वयं उनका तथा राष्ट्र का बड़ा उपकार हो।

प्रयाग का हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन—जो इस राष्ट्र-कार्य को विशेष रूप से करने का इच्छुक है—राष्ट्र-भाषा की सेवा के इच्छुक सज्जनों से आशा रखता है कि वे इस सम्बन्ध में अपनी-अपनी राय ज़ाहिर करेंगे। अगर इस तरह के विचार-परामर्शों के परिणाम-स्वरूप एक राष्ट्र-भाषा प्रचारक-संघ की स्थापना हो जाय तो सम्मेलन इस कार्य को विशिष्ट रीति से पूरा करने की आयोजना कर सकेगा।

प्रस्तुत कार्य महत्व पूर्ण है और समयानुकूल भी। अतः इसका आरम्भ जितना शीघ्र किया जाय उतना ही अच्छा होगा। आशा है, देश के विचारक और नवयुवा सेवक इस योजना पर विचार करेंगे और इस पर पर्याप्त प्रकाश डालेंगे।

रामचन्द्रदास

गावों में ग़रीबी

भारतवर्ष के गाँवों में रहने वाले लोग—मुख्यतः काश्तकार और मजदूर—कितने ग़रीब हैं, यह बात किसी से छिपी नहीं है। भारत की प्रति शत ७६ के लगभग जनता गाँवों में रहती है। और गाँवों में रहने वाले सैकड़ा ९५ लोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे खेती पर जीवन-निर्वाह करते हैं। इन लोगों की दैनिक आय बहुत ही कम है; कारण अधिकांश गावों में साल में चार पाँच महीने कोई काम ही नहीं रहता और कुछ गावों में तो साल में छः महीने काश्तकार और मजदूरों को बेकार बैठे रहना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि उनको छः महीने की कमाई पर ही सारा साल बिताना पड़ता है। जिससे क़र्ज़ लेकर या भूखों मरकर गुजर बसर करनी पड़ती है।

मालवा और राजस्थान की हालत देखकर कलेजा मुँह को आता है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अल्पवृष्टि आदि के कारण एक न एक ज़िले या राज्य में अकाल बना ही रहता है। इन प्रान्तों में दरिद्रता का अटल साम्राज्य छाया हुआ है। अतएव प्रत्येक देश-हितैषी भारतीय का सर्व-प्रथम कर्त्तव्य है कि वह किसानों और मजदूर पेशा लोगों की माली हालत सुधारने की कोशिश करे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शहरों और क़स्बों तथा सड़क और रेल के पास वाले मौज़ों में ही काम करने से काम नहीं चल सकेगा। सड़कों और रेल से बहुत दूर घोर दरिद्र और कम आबाद गावों में जाकर काम करना होगा।

मालवा और राजस्थान के अधिकांश गावों में रबी की

फ़सल होती नहीं या बहुत ही कम होती है। इन गावों के काश्तकारों को साल में पाँच छः महीने बेकार बैठना पड़ता है। इसलिए यह जरूरी है कि देहातियों को ऐसे काम-धंधे सिखलाये जायँ, जिनके द्वारा वे बेकारी के दिनों में थोड़ा-बहुत कमा सकें। सूत कातना और खादी बुनना ही एक ऐसा उत्तम धन्धा है, जो हरएक गांव में नाम-मात्र की पूँजी से जारी किया जा सकता है और स्त्री-पुरुष और बालक सभी इसे कर सकते हैं। महात्माजी के प्रयत्न से खादी-प्रचार का कार्य जोरों से जारी है। सूत कातने और खादी बुनने के अलावा और भी कई ऐसे धन्धे हैं, जो थोड़ी पूँजी से देहात में चल सकते हैं।

कपड़ों की छपाई, दरी, मोजे, गुलूबन्द, बनियान आदि बनाना; मोम, लकड़ी आदि के खिलौने बनाना; सूत, नरेटी, हड्डी, लकड़ी, सींग, आदि से बटन, कंघा कंघी वगैरह तैयार करना; लकड़ी के होल्डर, दीयासलाई की डिब्बियाँ, कार्ड-बोर्ड के डिब्बे, टीन के बटन आदि बनाना आदि व्यवसाय देहातों में चल सकते हैं और थोड़े से परिश्रम से देहाती जनता इनको आसानी से सीख भी सकते हैं। कहीं-कहीं सुगंधित तेल, अगरबत्ती, कपड़े धोने का साबुन, कागज के लिफाफे, लकड़ीके कलमदान, स्याही-सोख के दस्ते आदि बनाने की विशेष सुविधा है।

यहाँ सवाल उठ सकता है कि पूँजी के बिना कैसे काम चल सकेगा और देहात में पूँजी मिलना मुमकिन नहीं है। हमारा निज का अनुभव है कि सच्ची लगन से काम करनेवाला हजार पाँच सौ की पूँजी से बहुत कुछ काम कर सकता है। हम एक ऐसे व्यक्ति को जानते हैं, जिसने सौ की पूँजी से स्लेट पट्टी व पॅसिल बनाने का कार्य आरम्भ किया और दो ही वर्ष में उसका काम अच्छी तरह चल निकला।

देहात में इन व्यवसायों को शुरू कर देने-मात्र से काम नहीं चल सकता है। इनकी जड़ मजबूती से जमाने के लिए यह भी जरूरी है कि तैयार माल की बिक्री का प्रबन्ध किया जाय। धीरे-धीरे स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार बढ़ रहा है और इस ओर लोगों की रुचि भी बढ़ती जा रही है। यदि स्वदेशी वस्तु बेंचने के लिए भण्डार खोले जायँ तो माल भली प्रकार बेंचा जा सकता है। हमारा निज का अनुभव है कि देशी माल शहरों में भरा पड़ा रहता है और देहात में विदेशी माल-खूब बिकता है। यदि प्रारम्भ में देहात में बिकनेवाला माल ही तैयार किया जाय तो भी कोई हानि नहीं। बटन, दरियां, नाड़े, कपड़े धोने का साबुन, सीने का धागा, छपे कपड़े, अगरबत्ती, मोम व लकड़ी के खिलौने, बदन पोंछने के तौलिये आदि चीजें देहात में सस्ते में बन सकती और खूब बिक सकती हैं। तौलिये, अगरबत्ती, बटन, खिलौने, और नाड़े तो शहरों में दूनी तिगुनी कीमत पर बेंचे जा सकते हैं। नरेटी, खजूर की गुठली और सीप के बटनों की कीमत भी शहरों में खूब आती है। यदि सहयोग-संस्थाओं द्वारा खरीदी बिक्री की जाय तो ज़्यादा फायदा हो सकता है।

इन्दौर रियासत में रामपुरा और खड़ावदा में कैंची, सरोते, चाकू, गुप्तियाँ अच्छी बनती हैं, किन्तु माल की बिक्री न होने से यह व्यवसाय मृत-प्राय सा हो रहा है। नारायणगढ़ में स्लेटें व पॅसिलें बनती हैं। बोलिया, कुकडेश्वर आदि में जाजमें अच्छी होती हैं। ग्वालियर में गुलाना के सरोते अच्छे होते हैं। सारंगपुर, महेश्वर आदि का हाथ का बुना कपड़ा अपना सानी नहीं रखता। ग्वालियर और इन्दौर में तिजोरियाँ, फर्नीचर वगैरा भी बनते हैं। राजपूताने में हाथी-दाँत और चन्दन की नक्काशी का काम होता है। कहीं-कहीं चित्रकारी भी अच्छी होती है। किन्तु भारत का बाजार विदेशी चीजों से भरा पड़ा है। और अभी तक लोग विलायती चीजों का इस्तेमाल करने में गौरव समझते हैं। लोगों के दिलों से इस थोथे गौरव को मिटाना होगा। मैसूर, किशनगढ़, गोदरेज आदि देशी साबुन छोड़कर 'पीयर्स-सोप' का इस्तेमाल खूब होता है। हमारे नेताओं और व्यापारियों को देहात में देशी चीजों का प्रचार करने की कोशिश करनी चाहिए। देहात में हर जगह 'सन लाइट सोप' मिल सकता है मगर मैसूर का साबुन उज्जैन, सारंगपुर, मन्दसौर, नीमच, उदयपुर जैसे शहरों तक में नहीं मिलता! बिना उद्यम और प्रयत्न के कुछ न हो सकेगा। जबतक देहात में बिक्री का प्रबन्ध न किया जायगा देशी माल का प्रचार होना असम्भव सा है।

शंकरराव जोशी

संघर्ष और जागृति

कृषि-सुधार पर भारत-सरकार का खर्च !

'भारत में कृषि-काम की आलोचना' (१९२६–२७) नाम की पुस्तक में कृषि-विभाग के आय-व्यय के अंक दिये गये हैं। उनसे पता चलता है कि भारत में कृषि-सुधार पर भारत-सरकार क्या खर्च करती है।

बम्बई प्रान्त में प्रतिवर्ष खेती पर कुल १६,४१,२००) खर्च किये जाते हैं। भारत-सरकार और प्रान्तीय सरकारें सब मिलाकर कुल १०३,५०,१७३) कृषि काम के लिए खर्च करती हैं। भारत में जमीन की लागत का औसत देखते हुए पता चलता है कि हमारे यहाँ एकड़ पीछे जो खर्च किया जाता है, उसका पाँच गुना जापान और ८ गुना अमेरिका में होता है। जहाँ भारत में खर्च का औसत फी एकड़ ९ पाई है, वहाँ अमेरिका में वही ६ आना है। फिर मजे की बात यह है कि अमेरिका में कृषि पर निर्भर करने वाले लोग प्रतिशत ३० हैं, दूसरे शब्दों में भारत के आधे भी नहीं है। भारत की तुलना में जापान में खेती कुछ नहीं के बराबर होती है फिर भी जापान-सरकार कृषि-सुधार के लिए प्रतिवर्ष ५ करोड़ रुपये खर्च करती है, अर्थात् भारत-सरकार से ५ गुना अधिक !

स्वतन्त्र और परतन्त्र राष्ट्र में यही न फर्क है ?

जगह-जगह पर बाढ़ और अकाल

'त्यागभूमि' के आरम्भ अंक में देश में खेती की दशा का वर्णन करते हुए सरकारी रिपोर्ट के आधार पर हमने यह बतलाने की चेष्टा की थी कि कुछ प्रान्तों को छोड़कर शेष कई प्रान्तों में पानी न बरसने से खेती का कितना बिगाड़ हो रहा है। तब से अबतक में इस ओर कई परिवर्तन हुए हैं। पंजाब में तो पिछले दिनों श्रीनगर और काश्मीर के आसपास ऐसी घनघोर वर्षा हुई कि कई दिनों तक रेल, तार, डाक सब स्थगित रहे। यात्री जहाँ के तहाँ रह गये। कई लोगों के प्राण संकट में पड़े। नदियों में ऐसी भयंकर बाढ़ आई कि कई गाँवों और शहरों को नुकसान पहुँचा। धन, जन और मवेशी का नाश हुआ तथा खेती बिगड़ गई। इतने पर भी यह सन्तोष की बात है कि इस बाढ़ से जितनी आशंका थी उतना नुकसान नहीं हुआ। बिहार और बंगाल में तो कहीं अतिवृष्टि और तज्जन्य बाढ़ के कारण तो कहीं अनावृष्टि और तज्जन्य दुर्भिक्ष के कारण अब तक लोगों की हालत संकट में है। खेती की हालत आशाजनक नहीं कही जा सकती। धनीमानी सज्जन, सार्वजनिक संस्थायें और कार्यकर्ता बाढ़ एवं अकाल-पीड़ितों के कष्ट-निवारणार्थ तरह-तरह के उद्योग कर रहे हैं लेकिन आखिर जनता जनता के लिए कितना कर सकती है ? भारत की गरीबी प्रसिद्ध ही है। ऐसी हालत में एक प्रान्त का दूसरे प्रान्त के सारे आर्थिक कष्टों को दूर करना सम्भव नहीं। प्रान्तीय सरकारें इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कर सकती हैं, उन्हें करना चाहिए, लेकिन दुःख के साथ कहना पड़ता है, अबतक उन्होंने जो कुछ किया है वह बहुत थोड़ा और अपर्याप्त है। गरीबी के घर उड़ीसा की दशा भी कुछ ऐसी ही है। इधर मद्रास में गत २०–२१ अक्तूबर के दिन घोर वर्षा हुई जिसके फल-स्वरूप कई दिनों तक रेल, तार, और डाक के काम में अव्यवस्था बनी रही। रेल के कई पुल टूट गये। लोगों को अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी। ५ आदमी डूब मरे। सैकड़ों मवेशी बह गये। ५०० छोटे-छोटे मकान गिर गये और कई हजार का नुकसान हुआ। लोगों को वृक्षों और मकान की छतों पर रहना पड़ा। विजगापट्टम और पूर्व गोदावरी के जिलों में इस बाढ़ से जनता की विशेष हानि हुई। तिसपर भी मद्रास-सरकार ने दोनों जिलों को क्रमशः १०,०००) और २०,०००) की सहायता देना मंजूर किया था।

इधर संयुक्तप्रान्त में भी इस बार घोर अकाल पड़ने की सम्भावना थी। परन्तु भगवान ने लोगों की सुन ली। 'मेह बरस गया और इतना बरस गया कि जिससे रबी की फसल मजे में हो सकेगी, अच्छी हो सकेगी।' फिर भी किसानों के कष्ट का अन्त नहीं हुआ है। किसी को बीज की जरूरत है और किसी को बरत, पुर आदि सामान की। कई लाचार अपने मवेशी बेच चुके हैं। उन्हें बैलों और भैंसों को फिरसे खरीदने के लिए रुपये चाहिएँ। जनता को अपने अन्नदाता किसानों की मदद के

लिए दौड़ पड़ना चाहिए था और वह दौड़ भी पड़ी। झांसी के प्रान्तिक सम्मेलन में अकाल–पीड़ितों की सहायता के लिए प्रान्त के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं की एक समिति का संगठन हुआ है और उसने अपना काम भी शुरू कर दिया है। प्रान्त की सरकार ने अबतक कुल एक करोड़ १० लाख की तकावी बाँटी है। बुन्देलखण्ड में डेढ़ लाख का अनाज बाँटा है और रबीवाली किस्त की ३,४४,०००) की मालगुजारी माफ़ और २७,०००) की मुअत्तल कर दी है। अपरी शारदा नहर से ८० हज़ार एकड़ धान और ईख की सिंचाई की गई है। जंगल से घास कटवाने का हुक्म भी दिया है। लेकिन इतने से सारे प्रान्त की भूख नहीं मिट सकती। सरकार को चाहिए था कि वह जनता की उसके इस कष्ट में दिल खोल कर मदद करती। नहरों के होते भी लोग अपनी ज़रूरत पूरी नहीं कर सकते। जो थोड़ा बहुत उपयोग कर पाये हैं, वे सिंचाई के कर के भार से लद गये हैं। मवेशी के लिए काफी तादाद में घास नहीं है। इन सब कष्टों का दूर करने में सरकार की जिम्मेदारी बहुत बड़ी है और लोकनेताओं की भी। एक अपना कर्त्तव्य पाले दूसरे अपना फर्ज अदा करें, तभी न यह समस्या हल होगी ?

बम्बई प्रान्त में सिन्ध को छोड़ कर और सब जगहों की हालत अगर सन्तोषजनक नहीं तो चिन्ताजनक भी नहीं है यही बात राजपूताना, मध्यप्रान्त, मध्यभारत आदि के सम्बन्ध में कुछ फेर बदल के साथ कही जा सकती है।

संक्षेप में पिछले महीना देश की कृषि-सम्बन्धी अवस्था का यही चित्र है। यद्यपि यह चित्र नयनानन्दकर नहीं तथापि इसकी भयंकरता में से एक सुफल भी खिला है और वह है देशभर के किसानों में अपनी अवस्था और अधिकार के विषय में जागृति। पिछले महीनों बम्बई प्रान्त में दो तीन

बारडोलियाँ पैदा हो गईं

जिनका संक्षिप्त परिचय पाठकों के लिए मनोरंजक और शिक्षाप्रद होगा। नासिक जिले में बागलाण और मालेगाव नामक दो तालुके है। बंदोबस्त-विभाग के अधिकारियों ने यहां भी बहुत अधिक याने ३४ से ४८ प्रति शत लगान-वृद्धि की सिफारिश की है। इसके फल-स्वरूप दोनों तालुकों की जनता बड़ी विकल हो उठी है और उसने जगह जगह सभायें करके सरकार के इस अन्याय-कार्य का तीव्र प्रतिरोध किया है। सारा महाराष्ट्र इन लोगों के साथ है और प्रान्त के कई जिम्मेदार नेता किसानों की सहायता के लिए तत्पर हैं। 'टाइम्स' के पत्रों में बागलाण को बारडोली का दूसरा संस्करण कहा गया है और जनता के नेताओं को अनाधिकारी तथा बाहरी। किसान हर तरह की कानूनी कार्रवाई कर चुके हैं, फिर भी सरकार चुप है और अपने घातक निश्चय पर कायम है। किसान भी लगान-घटती के निर्णय के अभाव में लगान न जमा करने के लिए तुल गये हैं। उन्होंने सत्याग्रह छेड़ दिया है। हमें आशा है, इस अन्याय के विरुद्ध में जनता और उसके नेताओं की विजय होगी और सरकार को विवश होकर उसकी बात कबूल करनी पड़ेगी बशर्ते कि जनता बिलकुल शान्त और न्याय्य उपायों से लड़ती रहे और लगान न देने का अपना निश्चय कायम रखे।

दूसरी या तीसरी बारडोली इसी प्रान्त के मिरज ठिकाने में जन्मी है। यहां के अधिकारी सरकारी अधिकारियों से भी दो कदम आगे बढ़ गये हैं और उन्होंने ठिकाने की जनता पर कहीं ६० तो कहीं ७८ प्रति शत लगान-वृद्धि की सिफारिशें की हैं। गुलाम भारत के अन्नदाताओं की दुर्दशा का इससे बढ़कर और क्या उदाहरण होगा ? आखिर अत्याचार की भी हद होती है। जनता इस अन्याय को सह न सकी और उसने ठिकाने के अधिपति के पास अपने प्रतिनिधियों का एक डेपुटेशन भेजा। अधिपति ने डेपुटेशन से मिलना मंजूर न किया। इसपर जिन गावों में लगान-वृद्धि वसूल करने का काम शीघ्र ही शुरू होनेवाला था उनकी समस्त जनता सहस्त्रों की संख्या में मिरज के लिए रवाना होगई और अधिपति के राजमहल के सामने आकर पड़ाव डाल दिया। जनता में हर जाति और हर स्थिति के लोग थे। सब तीन-तीन चार-चार दिन की रोटी अपने साथ बांध लाये थे। फिर से लगान वृद्धि की जाँच करने या करवाने का वचन पाकर ही वहाँ से हटने के लिए जनता कृत निश्चय हो चुकी थी। जनता के नेताओं ने, जिनमें श्री शिखरे, श्री पुण्डलीक और श्री उदयकर के नाम उल्लेखनीय हैं, जनता

को पूर्ण शांत और अहिंसात्मक रहने का एवं हरतरह के कष्ट झेलने का उपदेश दिया। दल-की-दल जनता राज-ड्योढ़ी पर जाकर अपनी शिकायतें सुनाने लगी, बड़ी प्रतीक्षा टालमटोल और अनुनय के बाद मिरज ठिकाने के अधिपति श्री बाला साहब ने जनता के प्रतिनिधियों से मिलना स्वीकार किया और जनता के दृढ़ सङ्कल्प और प्रतिनिधियों के सच्चे सेवा भाव का पता पाकर विवश हो उन्हें पीड़ित किन्तु न्याय पर तुले हुए किसानों की बात स्वीकारनी पड़ी। स्वयं अधिपति बाला साहब ड्योढ़ी तक आये और हजारों की संख्या में उपस्थित जनता के सामने फिर से जाँच करने की प्रतिज्ञा की। श्री बाला साहब ने कहा 'मैं और श्री पुण्डलीक आप लोग, के गावों में आकर लगान-वृद्धि की जाँच करेंगे और जब तक जाँच पूरी न होगी लगान वसूल नहीं किया जायगा।" जाँच समिति में किसानों के दो प्रतिनिधि और तीसरे स्वयं बाला साहब हैं। दोनों प्रतिनिधियों को बराबरी से जाँच में भाग लेने का अधिकार होगा और किसानों की यह विजय बारडोली की विजय से भी बढ़ जाती अगर श्री बाला साहब अपनी प्रतिज्ञा भंग न करते। उन्होंने प्रतिज्ञा तोड़ी और जनता बाल-बच्चों और स्त्रियों के साथ हजारों की संख्या में फिर मिरज आ धमकी। उसने विरोध किया और शान्त सत्याग्रह छेड़ दिया। हमें आशा है, जनता जीतेगी और इससे देश के कृषकों को अपने अधिकारों के लिए अधिक तत्परता और शान्ति पूर्वक लड़ने की स्फूर्ति पैदा होगी और उसके देश-व्यापी संगठन में बल आवेगा।

खास बारडोली में

सरकारी और गैर सरकारी जाँच आरम्भ होगई है। इनमें से दूसरी ने तो अपनी सिफ़ारिश भी प्रकट कर दी हैं। सरकारी जाँच के कार्य-क्रम का जो समाचार 'नवजीवन' में छपा है वह बड़ा ही शिक्षाप्रद व स्फूर्ति-दायक है, बारडोली-सत्याग्रह के बाद बारडोली ताल्लुके की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, और राजनैतिक अवस्था में इतना परिवर्तन हुआ है कि सुनकर दंग रह जाना पड़ता है। अगर सारा देश और खास कर देश के सार्वजनिक नेता इस सम्बन्ध में बारडोली का अनुकरण करें तो देश भर के किसानों में अपूर्व जीवन, जागृति, बल और बलिदान की भावनायें पैदा हों और देश की स्वाधीनता का मार्ग सरल और निरापद हो गया।

बिहार में पश्चिमी पटना, शिउहर और बेलसण्ड स्थानों के किसान भाइयों ने सम्मेलन और सभायें करके कई उपयोगी और अनुकरणीय प्रस्ताव पास किये हैं, अगर इन प्रस्तावों को अमल में लाया जाय तो अच्छा हो।

काठियावाड़ के भावनगर राज्य की प्रजापरिषद् का वार्षिक सम्मेलन अभी थोड़े दिन पहले होकर चुका है। इस सम्मेलन में राज्य से लगान-वृद्धि की जाँच करवाने की प्रार्थना की गई है और किसानों की हरतरह की उन्नति में सम्बन्ध रखने वाले कई उपयोगी प्रस्ताव और मांगें पास हुई हैं। जिनमें, किसानों को जमीन पर पूर्ण अधिकार देने, उन्हें ऋणमुक्त करने, उचित सूद पर ऋण मिलने के लिए सहकारी बैंक खोलने, सामाजिक कुरीतियाँ नष्ट करने, प्राथमिक शिक्षा देने, गाँवों में खेती की शिक्षा का प्रचार करने, पटेलों का वेतन बढ़ाने, हथियार रखने, आरोग्य और ज्ञानवृद्धि के लिए औषधालय तथा पुस्तकालय खोलने, गोचरभूमि छुड़वाने और मवेशी की नस्ल सुधारने आदि के प्रस्ताव मुख्य और विचारणीय हैं।

मज़दूर संसार

उस दिन झरिया के प्रान्तीय सम्मेलन में मजदूरों की समस्या पर बोलते हुए श्री झाबवाला ने कहा—

"बड़े आश्चर्य की बात है कि खेतों पर अन्न पैदा करनेवाले और मिलों में कपड़े बनानेवाले भूखे और नंगे रहें। और जमींदारों तथा मालिकों के भण्डार भरे पूरे! यह अन्याय है और इसका प्रतीकार होना चाहिए। वर्तमान सरकार की शासन नीति ही अन्यायपूर्ण है। जनता को चाहिए कि मौका मिलते ही वह इस फौलादी चौखट का उलट-पलट दे और ऐसी शासन-पद्धति क़ायम करे जिसमें ३८ करोड़ देश-भाई सुखपूर्वक रह सकें। खेद की बात है कि हमारे मज़दूर भाइयों को दुहेरी लड़ाई लड़नी पड़ती है एक अंग्रेजी साम्राज्यवाद से और दूसरी भारतीय पूंजीपतियों से। इसमें शक नहीं कि भारत के मज़दूर सारे संसार का शान्तिपूर्ण स्वतन्त्रता देने योग्य हैं। बम्बई की अभूतपूर्व लम्बी हड़-

ताल इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण है। अगर उन्हें देशवासियों की ओर से थोड़ी भी मदद या प्रोत्साहन मिले तो वे बहुत-कुछ कर सकते हैं। लेकिन खेद है कि देश इस ओर से उदासीन है। सारे भारत के श्रमी-संसार में इस समय भीतर ही भीतर क्रांति की आग सुलग रही है, अत जो लोग उन्हें दबाना चाहते हैं उन्हें सावधान होकर मजदूरों को समानता का हक दे देना चाहिए। इस समय देश-भर के मजदूरों का एक प्रजातन्त्रात्मक संगठन होना चाहिए। इस संगठन का मुख्य कार्य क्रम यह रहे--(१) बेगार या जबर्दस्ती से मजदूरी कराने की प्रथा का उन्मूलन, (२) साहूकारों की लूट से रक्षा, (३) ग्राम-पंचायतों का निर्माण और जमींदारों के अत्याचार से सुरक्षा।"

पंडित जवाहरलाल ने कहा —

"कितने ही श्रमजीवी उपर्युक्त भोजन वस्त्र और गृह नहीं पाते। हमें वृद्धों, मरीजों, गर्भवती स्त्रियों आदि की भी चिंता करनी है। इनका कैसे प्रबन्ध हो सकता है? बिना अति धनी का धन लिये आप यह कदापि नहीं कर सकते। जिनके पास जरूरत से ज्यादा है उनसे लेकर उन्हें देना चाहिए जिनके पास जरूरत से कम है। ठीक प्रकार से कर का प्रबंध करने से ऐसा किया जा सकता है।

"श्रमजीवियों की शक्ति बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि श्रमजीवी-संघ बन सकें। श्रमजीवियों को अपनी उन्नति करने का पूरा अवसर मिलना चाहिए। उचित है कि किसी भी श्रमजीवी से ८ घंटे प्रतिदिन से अधिक काम न लिया जाय और हर सप्ताह में १॥ दिन उसे छुट्टी मिले। उसके स्वास्थ्य आदि के लिए भी पूरा प्रबन्ध किया जाय। हमारा कर्त्तव्य है कि हम जन-साधारण की शक्ति बढ़ावें और स्वराज्य के लिए यत्न करें।

उस दिन राष्ट्रीय महासभा के दिल्लीवाले अधिवेशन में पंडित जी ने देशभर में यत्र तत्र-सर्वत्र हड़ताल करने वाले मजदूर भाइयों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने और भूख, प्यास तथा कष्ट सहन करके अपने अधिकारों के लिए सरकार और मिल-मालिकों से लड़ने की उनकी शक्ति की प्रशंसा करने के आशय का एक प्रस्ताव पेश किया था और वह बहुमत से पास भी हुआ।

बम्बई के मज़दूर

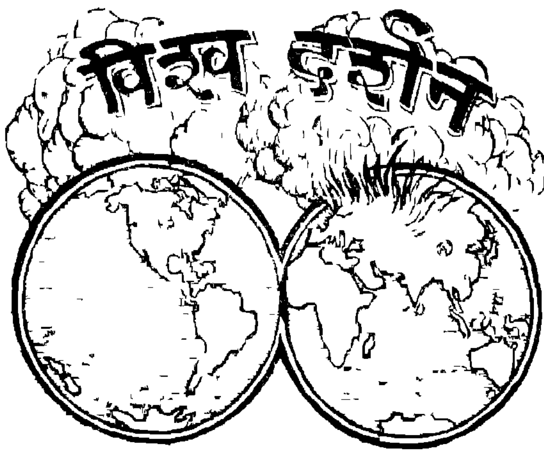
सन् १९२७ की फैक्टरी रिपोर्ट हाल में प्रकाशित हुई है। उसे पढ़ने से पता चलता है कि एकन्दर हालत संतोषजनक है और अहमदाबाद आदि शहरों की मिलों ने मजदूरों के हितार्थ कई तरह की सुविधायें करदी है। छोटी उम्र के लड़के मिलों में भर्ती नहीं किये जाते। मजदूरों की बस्ती की और उनकी जिस्मानी सफाई के लिए समुचित प्रबन्ध किया जा रहा है। कुछ कारखानों में हवा के लिए पंखे लगाये गये हैं। कुछ हड़तालें भी हुई। दुर्घटनाओं की संख्या बढ़ी पर गंभीर दुर्घटनायें कम हुई। मजदूरों के लिए स्वतन्त्र मकान और चाल अधिक संख्या में बनाई गई है। अस्पताल भी खोले गये हैं। अहमदाबाद की जुबिली मिल में मातृगृह की व्यवस्था है जहाँ बच्चों और गर्भवती स्त्रियों का इलाज विशेष रूप से किया जाता है। अहमदाबाद की आठ मिलों में लड़कों की शिक्षा का प्रबन्ध भी है। प्रान्त की दो-चार मिलों में बड़ी उम्र के बच्चों के लिए भी पाठशालायें खोली गई हैं।

अभी यह पूर्ण सन्तोषजनक प्रबन्ध नहीं है, हर विभाग में मजदूरों की दशा सुधारने के लिए काफी गुंजाइश है, और हम आशा करते हैं कि अगले वर्षों में ये कमियाँ दूर की जायेंगी।

ऊपर की बातों से पता चलता है कि देश में मजदूरों का आन्दोलन जोर पकड़ रहा है और एक प्रभावशाली संगठन द्वारा वे स्वाधीन और स्वावलम्बी होना चाहते हैं। अगर यह ठीक है तो हमारी नम्र सम्मति में मजदूर भाइयों को अपने उद्धार के लिए आप प्रयत्न करना चाहिए। बड़ी आवश्यकता और महत्त्व की बात यह है कि उनमें ज्ञान का प्रचार हो और वे अपना संगठन और नेतृत्व आप करने लायक हो जायँ। आदमी अपना काम स्वयं जिस परिश्रम और लगन से कर सकता है वैसा दूसरा कोई नहीं कर सकता। इसलिए अन्य राजनैतिक नेताओं के द्वारा श्रमजीवियों का उत्थान और कष्टों में कमी भले ही हो सके, पर भावी समाज में उनका अपना और सर्वोपरि स्थान नहीं हो सकता जबतक वे स्वयं अपने पैरों पर खड़े न हो जायँ। सरकार की शरण लेने केवल नेताओं पर आधार रखने या पूंजीपतियों की दया की आशा रखने से उनका मनचाहा हित न हो सकेगा।

त्रिवेदी

सम्पादकीय



युगोस्लेविया का भविष्य

गत यूरोपीय महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप जो राष्ट्र बने हैं, उनमें युगोस्लेविया भी एक है। इसे बहुत से छोटे-छोटे प्रान्त मिलाकर बनाया गया है। सबसे पहले १९१८ के नवम्बर में क्रोटिया, स्लेवोनिया, डालमेशिया, बोस्निया, हर्जिविना और दक्षिणी हंगरी, सर्विया और माण्टिनिग्रो आदि के स्लेवों ने इकट्ठे होकर एक कौंसिल की। यहीं से इस राष्ट्र-निर्माण का सूत्रपात हुआ। इसके ठीक दो साल बाद १९२० में उपर्युक्त सब जिलों से ४०० प्रतिनिधि चुने गये और युगोस्लेविया का राष्ट्र-सभा बना। सर्विया का राजा अलैक्जेण्डर ही इस नवीन राष्ट्र का राजा नियत हुआ। उपर्युक्त प्रदेशों के नामों के देखने से स्पष्ट हो जायगा कि इस राष्ट्र का निर्माण 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा' इस सिद्धान्त पर हुआ है। इस राष्ट्र में एक जाति नहीं है, किन्तु तीन जातियाँ —सर्ब, क्रोट और स्लोवन—है। जिनकी भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयता है। इनमें इन आठ-दस सालों तक इकट्ठा रहने पर भी एक-राष्ट्रीयता का भाव उत्पन्न नहीं हो सका है। तीनों अपनी-अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखना चाहते हैं। इसलिए वहाँ का आन्तरिक स्थिति अच्छी नहीं है। क्रोट लोग तो स्वतन्त्रता के लिए बहुत अधिक आन्दोलन कर रहे हैं, उनके आन्दोलन की तीव्रता को देखकर कभी-कभी यह सन्देह होने लगता है कि यह जबर्दस्ती बनाया गया राष्ट्र अब टूटा।

यह विरोध वैसे तो कई साल से चल रहा था, परन्तु इसके बढ़ाने में जो अभी कारण हुआ, वह यह है कि इटली के दबाव में आकर युगोस्लेविया ने नेटुनो (Nettuno) की सन्धि करके एड्रियाटिक के तट पर के तीस मीलों में, जो प्राचीन क्रोट-राज्य का एक भाग है, इटली को उपनिवेश-स्थापना का अधिकार दे दिया है। इसके विरुद्ध क्रोटजनता कुछ समय से आन्दोलन कर रही है। क्रोटजनता के किसान-दल के नेता स्टेफन रैडिच (Stefan Raditch) ने उसका बहुत जोरों से विरोध किया। इसी प्रश्न पर एक बार युगोस्लेविया की पार्लमेण्ट में इतना झगड़ा हो गया कि सर्ब लोगों ने क्रोट-प्रतिनिधियों पर हमला कर दिया। दो सदस्य मर गये और रैडिच घायल हो गया। इस दुर्घटना से क्रुद्ध होकर रैडिच ने क्रोटिया की राजधानी जेगर्ब में 'जेवर' नाम से अपनी पार्लमेण्ट स्थापित की। क्रोटजनता ने विद्रोह कर दिया। बहुत से सरकारी मकान तोड़ डाले। पुलिस ने बड़ी क्रूरता से दमन किया। कई मारे गये, बहुत से घायल हुए, ५०० पकड़े गये और क्रोटिया में मार्शल-ला जारी कर दिया। तीन मास पूर्व रैडिच का देहान्त भी हो गया। क्रोटजनता सर्विया से पृथक् होने की बहुत कोशिश कर रही है।

इस स्थिति की चर्चा यूरोप के समाचारपत्रों में बहुत अधिक हो रहा है। लण्डन के 'मार्निङ्ग पोस्ट' ने तो लिखा है कि रैडिच की मृत्यु केवल युगोस्लेविया ही नहीं परन्तु यूरोप की शान्ति के लिए भी असाम प्रभाव रखता है।

पाठकों को याद रखना चाहिए कि गत युद्ध का सूत्रपात भी सर्विया से प्रारम्भ हुआ था।

इस नवीन राष्ट्र के निर्माण में इङ्गलैण्ड का बड़ा भारी हाथ था, इसलिए वर्तमान विकट स्थिति में उसे दुःख होना आवश्यक है। इसी सम्बन्ध में श्रीयुत विकम स्टीड ने युगोस्लेविया के राजा अलेक्जेण्डर को एक लम्बा पत्र लिखा है। हम पाठकों की जानकारी के लिए उसका संक्षिप्त आशय नीचे देते हैं।

तीनों जातियाँ बहुत समय पूर्व चौदहवीं सदी में ही पृथक् पृथक् थीं। तीनों की प्रवृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न रहीं। समय पाकर आस्ट्रिया ने क्रोटिया और स्लोवानिया ले लिया।



युगोस्लेविया का वर्तमान राजा अलैक्जण्डर

तब तो इन जातियों में कोई एकता का भाव न रहा। १९०५ में आस्ट्रिया हंगरी राज्य के सर्ब और क्रोट लोगों ने परस्पर एकता का विचार किया। इसके परिणाम-स्वरूप दोनों की एक सम्मिलित संस्था भी बन गई। परन्तु उस समय उन्होंने एक दूसरे के भेदों को दूर करने का यत्न नहीं किया, केवल उन्हें दाब करके ही रह गये। उस समय सर्बिया ने इस आन्दोलन में कोई भाग नहीं लिया। उस समय वह बलगेरिया से व्यापारिक सन्धि करने के प्रयत्न में लगा हुआ था। १९०५ ई० के शीतकाल में वह संधि होगई। इसमें अपनी स्वार्थ-हानि देखकर आस्ट्रिया हंगरी सर्बिया पर बुरी तरह बिगड़ा। सर्बिया के साथ की गई सन्धियां तोड़ दी गईं और उसके लिए अपने बाजार भी बन्द कर दिये गये। सर्बिया ने इससे निराश न होकर दूसरे बाजार ढूंढ लिये। इससे आस्ट्रिया में सर्बिया के विरुद्ध भाव फैल गये।

इधर उन दिनों सर्ब और क्रोट लोगों के परस्पर मिलने के आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ लिया। इस आन्दोलन को कुचलने के उद्देश्य से आस्ट्रिया की सरकार ने दोनों में परस्पर फूट डालने के बहुत प्रयत्न किये। उसने इसे तथा दक्षिणी स्लैवों के आन्दोलन को दबाने के लिए भी कई षड्यन्त्र किये, परन्तु उनका परिणाम अच्छा ही हुआ। क्रोट जनता को यह निश्चय हो गया कि आस्ट्रिया हंगरी के शासन में हमारे साथ न्याय न होगा, सर्बिया से धार्मिक और राजनैतिक समानता के सिद्धान्त पर मिल कर रहना ही अच्छा है। यह प्रवृत्ति शनैः-शनैः बढ़ने लगी। आस्ट्रिया हंगरी की क्रोट, सर्ब और स्लोवन जनता सर्बिया को अपना हितैषी समझने लगी। इस अवसर पर आस्ट्रिया की सरकार ने ठीक उसी तरह इस आन्दोलन को सर्बिया का बृहत् सर्ब (Pan-serb) आन्दोलन कह कर बदनाम करना शुरू किया, जिस तरह भारतीय सरकार स्वराज्य-आन्दोलन को ब्राह्मण आन्दोलन कहकर अब्राह्मणों को इससे पृथक रखने की चेष्टा करती है। इस फूटनीति का यद्यपि अभीष्ट फल न हुआ तथापि इसने इस नये आन्दोलन के प्रारम्भ में ही तीनों जातियों में परस्पर विरुद्ध भाव कुछ न कुछ घर जरूर कर गये। और वे भाव आज तक भी—एक राष्ट्र में तीनों के आठ दस साल तक इकट्ठे रहने के बाद भी—दूर नहीं हुए। कुछ सर्ब युगोस्लेविया के नवीन राष्ट्र को बृहत्तर सर्बिया (Greater Serbia) कह कर क्रोट जनता के दिल में असन्तोष पैदा कर रहे हैं। यह पारस्परिक विद्वेष यहाँ तक बढ़ा कि युगोस्लेविया की राष्ट्र-सभा (Skupshtina) में दो सदस्यों की हत्या तक हो गई।

इतना लिखने के बाद श्रीयुत विकम स्टीड ने बड़ी मार्मिक भाषा में युगोस्लेविया की तीनों जातियों को इकट्ठा रहने का उपदेश किया है और लिखा है कि गत यूरोपीय युद्ध में मारे गये वीरों ने अपने रक्त से इस राष्ट्र का निर्माण किया किया है, इसलिए इस राष्ट्र को बचाये रखना उनका कर्त्तव्य है।

इस पत्र का आशय लिखने से हमारा मुख्य अभिप्राय केवल यूगोस्लेविया के भविष्य को पाठकों के सामने रखना

नहीं है परन्तु उपर्युक्त इतिहास से हम क्या शिक्षा ले सकते हैं, यह दिखाना भी हमारा मुख्य उद्देश्य है। सर्ब और क्रोट लोगो के एकता के प्रयत्न के आन्दोलन मे प्रयुक्त की गई आस्ट्रियन सरकार की कूट-नीति का प्रभाव अबतक दूर नही हुआ। राष्ट्र-निर्माण के लम्बे काल में जो आन्दोलन अच्छे या बुरे चलते हैं, वे जाति के विशेष चरित्र (Character) को बना देते है। आज का काल भारतीय राष्ट्र के निर्माण का काल है, इसलिए हमे सम्हल कर प्रत्येक कदम रखना होगा सांप्रदायिकता को जड से नष्ट करना होगा। आज के आन्दोलनभावी भारतीय राष्ट्र के चरित्र (Character) को बनायेंगे, यह ख्याल हमें हर समय रखना होगा।

संयुक्त-राष्ट्र के नये राष्ट्रपति

गत ६ नवम्बर को अमेरिका का नया चुनाव हो गया। वर्तमान राष्ट्रपति कूलिज तो इस चुनाव मे नहीं खड़े हुए थे। वहाँ के रिपब्लिकन और डैमोक्रेट दल ने क्रमश श्रीयुत हर्बर्ट हूवर और श्रीयुत ए स्मिथ को उम्मीदवार खडा किया था। रिपब्लिकन दल की विजय हुई। इस चुनाव मे करीब ३,५०,००,००० व्यक्तियों ने मत दिये, जिनमे से करीब २,०० ०० ००० मत हूवरके पक्ष में और १,५०,००,००० मत स्मिथ के पक्ष मे मिले। आगामी मार्च मे नये राष्ट्रपति श्रीयुत हूवर काम करेंगे, सीनेट मे रिपब्लिक दल का अधिक मत १३ और साधारण जन-सभा मे ८१ होगा। ४ मार्च तक श्रीयुत कूलिज ही काम करेंगे।



अमेरिका के वर्तमान राष्ट्रपति कूलिज जिनका कार्यकाल ४ मार्च १९२९ को समाप्त होगा

नये राष्ट्रपति की कार्य-नीति क्या होगी, इस पर अभी विस्तार से या निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, फिर भी चुनाव के दिनों मे दिये हुए श्रीयुत हूवर के भाषणों से भावी नीति पर बहुत कुछ प्रभाव पडता है। इस समय सयुक्त-राष्ट्र में जो समस्याये उपस्थित है, उनकेसम्बन्ध में उन्होंने अपने विचार प्रकट किये हैं। उन्ही के आधार पर यहाँ कुछ लिखा जाता है।

श्रीयुत हूवर व्यापार-संरक्षणनीति-बाहर के माल-पर तट-कर लगाने के पक्ष मे है और श्रमियों से सहानुभूति रखते हैं। उनका विचार है कि अमेरिका में बेकारी को न बढ़ने देने के लिए दूसरे देशों से लोगों को यहाँ नहीं बसने देना चाहिए,

परन्तु इस सम्बन्ध के नियमों को अधिक मनुष्यतापूर्ण बना देना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि हूवर के कार्य-काल में भी वहाँ भारतीयों को विशेष सुविधायें न मिलेंगी। शराब का प्रश्न अमेरिका में बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्रीयुत हूवर शराब-प्रतिरोध के पक्ष में हैं। वह व्यापार या व्यवसाय में जनता की स्पर्धा में सरकार को खड़ा करने—सरकार के स्वयं व्यापार व्यवसाय करने—के पक्ष में नहीं हैं। जल-स्रोतों को उपयोगी बनाने के लिए वे विशेष प्रयत्न करना चाहते हैं। एक भाषण में उन्होंने कहा कि समुद्रों के जल की प्रत्येक बूँद, यदि वह आर्थिक उपयोग में नहीं आती तो, व्यर्थ है। कुछ समय से वहाँ किसानों की समस्या बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होगई है। इसके सम्बन्ध में उनके दल के तीन कार्यक्रम हैं—१ कृषिजन्य माल पर काफी कर लगाया जाय, २ देश में उसके यातायात को कम किया जाय, और ३ स्थिर आर्थिक पद्धति पर बाजार का पुनः संगठन किया जाय। इस व्यवस्था में खर्च भी काफी होगा। उसके विषय में हूवर ने एक भाषण में कहा था कि जहाँ संयुक्त-राष्ट्र प्रतिवर्ष ९० बिलियन डालर खर्च करता है वहाँ कुछ सौ मिलियन इसलिए खर्च करना कौनसी बड़ी बात है, अगर उससे देश की तिहाई जनसंख्या को भी राष्ट्र की समृद्धि का पूरा-पूरा हिस्सा मिल जाय? श्रीयुत हूवर कृषि में भी सहयोग-संस्था को प्रचलित करना चाहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्बन्ध में उन्होंने अधिक नहीं कहा। वह किलौग के शांति-प्रस्ताव से पूर्ण सहमत हैं। पर जबतक वह स्वयं कार्य न करने लगें, कुछ अधिक निश्चित कहना कठिन हो है



अमेरिका के नये राष्ट्रपति श्री हूवर



सामान्य वातावरण

गत मास की देश की प्रगति को बढ़ानेवाले कोई नये विशेष आंदोलन शुरू नहीं हुए। गत मास साइमन-कमीशन के बहिष्कार और नेहरू-रिपोर्ट की चर्चा सम्पूर्ण भारतीय आन्दोलन के मुख्य विषय रहे हैं। इन्हीं दो प्रश्नों को लेकर आजकल देश कई दलों में विभक्त हो गया है। एक दल साइमन-कमीशन का बहिष्कार करता है, तो दूसरा दल, जिसमें देशद्रोही, सरकारी नौकर, जीहजूर, एंग्लो-इण्डियन और अंग्रेज अधिक हैं, साइमन-कमीशन में सहयोग करता है। एक ऐसा दल है, जो कमीशन का तो बहिष्कार करना चाहता है, परन्तु नेहरू-रिपोर्ट से सहमत नहीं है। इस दल में मुसल्मान अधिक और हिन्दू कम हैं।

दूसरा दल कमीशन के बहिष्कार और नेहरू-रिपोर्ट का समर्थन करता है। इन दो चर्चाओं के अतिरिक्त तीसरी मुख्य चर्चा है पूर्ण स्वाधीनता की। आज का युग भी इसी का युग है। युवक भारत इतना अधीर हो गया है कि अब वह इसके विरुद्ध वृद्ध नेताओं की बात सुनना भी नहीं चाहता। हम यहाँ इन प्रगतियों का पृथक्-पृथक् संक्षिप्त परिचय देने का यत्न करेंगे।

इनके सिवा पौराणिक रूढ़ियों के गढ़ काशी में भी कुछ सामाजिक हल-चल होने के समाचार मिले हैं। पं० प्रमथनाथ तर्क-भूषण और मालवीय जी प्रभृति अनेक विद्वान् हिन्दू-धर्म की वर्तमान अवस्था देखकर उसमें और स्मृतियों में सुधार करना चाहते हैं। गत मकर-सक्रांति के समय प्रयाग में अखिल-भारतीय सनातन-धर्म-महासभा का अधिवेशन इसी प्रयत्न का उदाहरण था। परन्तु इससे काशी के पण्डित-समाज में खलबली मच गई और उसने ब्राह्मण-महासभा की आयोजना कर धार्मिक प्रगतियों का विरोध शुरू किया है। इसके लिए बाहर से भी सनातन-धर्म के पण्डित और साम्प्रदायिक आचार्य बुलाये गये थे। इस सभा में न कोई नियम था, न व्यवस्था। केवल सुधार-विरोधी ही बोलने पाये। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह कि इस विशुद्ध धार्मिक (!) सभा ने भी, जिसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं, साइमन-कमीशन के स्वागत का प्रस्ताव पास किया है! क्या इससे यह प्रकट नहीं होता कि इसमें कोई रहस्य है ?

साइमन-कमीशन की प्रगति (!)

साइमन-कमीशन के पूना-वास का वृत्तान्त हम गतांक में दे चुके हैं। वहां से चलकर वह ता० ३० अक्तूबर को लाहोर पहुँचा। गोरे और अन्यथासिद्ध भारतीय सदस्यों के लिए अलग-अलग स्पेशल गाड़ियाँ थीं। लाहोर में भी इस-के दो प्रकार के स्वागत की तैयारियाँ थीं। सरकार के स्वागत में धूमधाम नहीं थी। कुछ विशेष सरकारी तथा गैर-सरकारी सज्जन ही स्टेशन पर उपस्थित थे। परन्तु जनता काले झण्डों को लेकर लाला लाजपतराय, रायजादा हंसराज, डाक्टर मुहम्मद आलम आदि नेताओं के नेतृत्व में बड़ी धूमधाम से जलूस निकालकर कमीशन का 'स्वागत' करने स्टेशन की तरफ बढ़ी। इस जलूस को आगे न बढ़ने देने के लिए पुलिस स्टेशन के पास कांटेदार तार लगाकर रास्ता रोके खड़ी होगई। जनता के नेता उसे उल्लंघन करना उचित न समझकर तारों के सिरे पर जहाँ कुछ खुली जगह थी, इसलिए जाकर खड़े होगये कि जनता घुसने का प्रयत्न न करे।

पुलिस का नीच आक्रमण

बस इतने में सबने आश्चर्य से देखा कि पुलिस ने नेताओं पर बिना कोई सूचना किये आक्रमण प्रारंभ कर दिया। प्रारंभ गोरे अफसरों ने किया और उनकी नकल पीछे देशी सिपाहियों ने। लालाजी सबसे आगे थे, इसलिए इन-पर ही लाठियों का प्रथम वार हुआ। वह बहुत अधिक घायल होजाते, यदि डाक्टर सत्यपाल, रायजादा हंसराज आदि उन पर होनेवाले वारों को अपने ऊपर न लेते। इनके अतिरिक्त डाक्टर आलम लाला बोधराज, डाक्टर गोपीचन्द और मौलाना दाऊद गजनवी पर भी वार हुए। लालाजी के सीने पर चोट के कारण खाल छिल गई और सूजन भी होगई। रायजादा हंसराज के अंगूठे से खून बहने लगा। अपने नेताओं पर इतना नीच आक्रमण देखकर भी जनता पूर्ण शान्त रही।

शाम को फिर जलूस निकला। इस बार मालवीय जी उसके नेता थे। पुलिस ने उस सड़कपर आगे जाने से रोका और दो-तीन मिनट के अन्दर जलूस को तितर-बितर होने की आज्ञा दी और ऐसा न होने पर उसे जबर्दस्ती तोड़ने की धमकी भी दी। परन्तु जनता स्थिर रही और पौन घण्टे तक पुलिस के आक्रमण की प्रतीक्षा कर लौट गई।*

जब पीछे से पुलिस के इस आक्रमण की चर्चा होने लगी, तब सरकार ने एक झूठी विज्ञप्ति प्रकाशित की और कुछ समय बाद एक सरकारी अफसर श्रीयुत बॉयड को इस घटना की जांच के लिए नियुक्त किया। उससे किसी लाभ की सभावना नहीं है।

लाहोर में दलितों ने भी एक आवेदनपत्र भेजा, जिसमें

---

* घोर दुःख है कि यह टिप्पणी लिखने के बाद लालाजी के देहान्त का समाचार मालूम हुआ!

लिखा कि सरकार हमारे लिए कहती तो बहुत-कुछ है, पर करती कुछ नहीं। दलित-प्रतिनिधियों को साइमन-कमीशन से मिलने भी नहीं दिया गया, जिससे उनमें सरकार के प्रति असंतोष फैल गया है। कुछ जीहजूर हिन्दुओं, मुसलमानों, सरकारी अफसरों और एंग्लो-इण्डियनों ने कमीशन के सामने गवाहियाँ दीं, जिनके लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

पुलिस के इस आक्रमण से बहिष्कारान्दोलन को बहुत सहायता मिली है। सम्पूर्ण भारतीय जनता में नवीन रूप से फिर उत्साह पैदा होगया और इस आन्दोलन में जो कुछ शिथिलता आगई थी वह दूर होगई है। दिल्ली की जनता ने कमीशन का शानदार बहिष्कार किया है और लखनऊ में भी कमीशन के आने के समय के लिए तैयारियां हो रही हैं। स्व० लालाजी ने एक भाषण में ठीक ही कहा था कि ये लाठियां ब्रिटिश-शासन के जनाजे की कीलें हैं।

नेहरू-रिपोर्ट का समर्थन

कमीशन-बहिष्कार के साथ नेहरू-रिपोर्ट का समर्थन बहुत अंश तक जरूरी-सा होगया है। गत २८ अक्तूबर को अकोला में प्रान्तीय सर्वदल सम्मेलन ने, जो श्रीयुत अणे के सभापतित्व में हुआ, सर्व-सम्मति से नेहरू-रिपोर्ट का समर्थन किया। पंजाब-प्रान्तीय खिलाफ़त-कमिटी, सिन्ध-खिलाफ़त-सम्मेलन तथा बिहार-प्रान्तीय मुस्लिम-लीग ने भी नेहरू-रिपोर्ट का समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में उसे सबसे अधिक सफलता तब मिली जब कि

अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी

ने इसे स्वीकृत कर लिया। गत तीन नवम्बर को दिल्ली के अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमिटी का अधिवेशन डा० अन्सारी की अध्यक्षता में हुआ। लगभग १५० सदस्य उपस्थित थे। पहले-पहल श्री मगनलाल गाँधी, श्री गोपबंधु दास आदि की मृत्यु पर शोक प्रकट करने, लाहोर में नेताओं पर पुलिस के नीच आक्रमण और मद्रास-सरकार के भारती-गीत जब्त करने के कारण सरकार की निन्दा के प्रस्ताव पास हुए। इस अधिवेशन का सबसे मुख्य और महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव श्री श्रीनिवास आयंगर ने पेश किया—

"अखिल भारतीय-कांग्रेस कमिटी की बैठक मद्रास-कांग्रेस के पूर्ण स्वतंत्रतावाले प्रस्ताव पर अपना विचार स्थिर रखती है। कमिटी की सम्मति है कि जबतक इंग्लैण्ड से सम्बन्ध-विच्छेद न किया जायगा, तबतक वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकती। यह कमिटी नेहरू-कमिटी की साम्प्रदायिक भेद-भावों को मिटानेवाली सिफारिशों को स्वीकार करती है, और नेहरू-कमिटी को उसके प्रयत्न, देश-प्रेम तथा दूरदर्शिता के लिए साधुवाद देती है तथा पूर्ण स्वतन्त्रता के अपने ध्येय को लक्ष्य में रख कर इस रिपोर्ट की सिफारिशों को देश की राजनैतिक प्रगति के लिए एक उत्तम कार्य समझती है और सामान्य रूप से इसकी सिफ़ारिशों को पसन्द करती है।"

इस प्रस्ताव के पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रश्न पर बहुत विचार हुआ। श्रीमती एनीबेसेण्ट ने पहले तो इसका विरोध किया, परन्तु फिर यह अंश निकाल देने को कहा कि ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद किये बिना सच्ची स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। मूल प्रस्ताव के समर्थन में श्री जे. एम. सेन गुप्त, पं० जवाहरलाल नेहरू, स्वामी कुमारानन्द और श्री सत्यमूर्ति तथा श्रीयुत मोतीलाल नेहरू ने भाषण दिये।

सम्मति लेने पर श्रीनिवास आयंगर का उक्त प्रस्ताव पास हो गया। स्व० लाला लाजपतराय और श्रीमती बेसेंट ने किसी तरफ मत नहीं दिया।

दूसरे दिन पं० मालवीयजी ने आकर श्री० बेसेंट का संशोधन पेश करने का प्रस्ताव रक्खा, परन्तु सभापति ने उसे अनियमित कह कर पेश नहीं होने दिया। जवाहरलाल नेहरू ने गत हड़तालों में किये गये मजदूरों के दृढ़ साहस के लिए उनसे सहानुभूति का प्रस्ताव रक्खा। इसके बाद साइमन-कमीशन के बहिष्कार को दृढ़ करने, कांग्रेस-खोज-विभाग स्थापित करने, लन्दन की कांग्रेस-कमिटी को सम्बद्ध करने, साम्राज्य-विरोधी-परिषद् के प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मन्त्री को देने आदि के प्रस्ताव पास हुए।

इसमें सन्देह नहीं कि उक्त परिषद् में पूर्ण स्वाधीनता-वादियों का जोर रहा। पं० मोतीलाल नेहरू ने भी उक्त

प्रस्ताव का समर्थन कर कांग्रेस की स्थिति को गिरने नहीं दिया।

स्वतंत्रता-संघ का संगठन

इन्हीं दिनों वहीं स्वतन्त्रता-संघ की बैठक श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुई। मण्डल का मुख्य उद्देश्य भारत के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना तथा सामाजिक, और आर्थिक समानता के आधार पर भारतीय समाज का संगठन करना निश्चय हुआ। इसके सदस्य वही हो सकेंगे, जो कांग्रेस के सदस्य होंगे। एक प्रस्ताव द्वारा साम्राज्य विरोधी-संघ से इसका सम्बन्ध जोड़ने और उसके अधिवेशन में अपना प्रतिनिधि, भेजने का निश्चय हुआ। देश भर में इस संघ की शाखायें खोलने और सदस्य बढ़ाने के लिए एक अस्थायी समिति बनाई गई। मण्डल का आगामी अधिवेशन कलकत्ते में होगा और वहीं स्थायी कर्मचारियों तथा नियमों का निर्णय होगा।

वह समय दूर नहीं है, जब पूर्ण स्वतन्त्रता का आन्दोलन सब आन्दोलनों से अधिक जोर पकड़ेगा और यही एक-मात्र आन्दोलन रह जायगा। इसके कार्य-क्रम पर हम उस के आगामी अधिवेशन के बाद अपने विचार प्रकट करेंगे।

यहाँ तक की प्रगति को प्रगति कहा जा सकता है, परन्तु अब दूसरी और भी देखिए।

एक दुष्ट मनोवृत्ति

लखनऊ-सम्मलन के बाद से एक दुष्ट मनोवृत्ति भी पैदा होगई है। बहुत से मुसलमान नेता नेहरू-रिपोर्ट का विरोध कर रहे हैं और साम्प्रदायिकता का प्रचार कर रहे हैं। श्री शौकतअली, मुहम्मद याकूब आदि इस घातक आन्दोलन के नेता है। उनकी इस मनोवृत्ति को देखकर कोई समझदार व्यक्ति दुःखित हुए बिना नही रह सकता। मुसलमानों ने बहुत अवसरों पर भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को धक्का लगाया है। हिन्दुओं के उन्हें इतनी रियायतें देने के बाद भी वे अभी तक सन्तुष्ट नहीं हुए। पंजाब, बंगाल, और सिन्ध में बहुमत लेने के बाद भी उनको सन्तोष नहीं हुआ। लखनऊ के समझौते के अनुसार इन्हें युक्तप्रान्त में ३० प्रतिशत प्रतिनिधित्व मिला था, परन्तु अब नेहरू-रिपोर्ट के अनुसार १५ रह गया है। इसमें कमिटी का कोई कसूर नहीं। लखनऊ में मुसलमानों ने हिन्दुओं को पंजाब और बंगाल में अधिक प्रतिनिधित्व दे दिया था। इसीलिए युक्तप्रान्त में उन्हें ३० प्रतिशत प्रतिनिधित्व दिया गया था। परन्तु अब जब कि पंजाब और बंगाल में मुसलमानों का बहुमत है, यह रियायत मांगना व्यर्थ है—तुच्छता है। फिर नेहरू-रिपोर्ट ने कलकत्ते की मुस्लिम लीग के ६ प्रस्तावों में से चार तो स्वीकृत कर लिये हैं और पांचवें (पंजाब और बंगाल में अधिक प्रतिनिधित्व) को उन दोनों प्रांतों के प्रतिनिधियों ने स्वयं ही नहीं चाहा। सब बालिगों को मताधिकार मिल जाने पर छठे (बड़ी कौंसिल में एक तिहाई निर्वाचित मुसलमान सदस्य) प्रस्ताव की आवश्यकता ही नहीं। इन अराष्ट्रीय मुसलमानों ने मुस्लिम जनता को बहकाने के लिए एक मुस्लिम कान्फ्रेंस की भी योजना की है, जिसके सभापति श्रीयुत सर आगाखां होंगे। उनकी सम्मति नेहरू-रिपोर्ट के विरुद्ध है। वे उसे मुसलमानों के लिए घातक कहते हैं।

संयुक्त प्रान्तीय मुस्लिम सम्मेलन

देश-विद्रोही मुस्लिम मनोवृत्ति का सब से अच्छा उदाहरण कानपुर में होने वाली संयुक्त प्रान्तीय सर्वदल मुस्लिम परिषद् है। इसके अध्यक्ष थे असहयोग आन्दोलन के प्रसिद्ध नेता श्रीशौकतअली, जिन्होंने लखनऊ-सम्मेलन में कहा था कि यदि मैं नेहरू रिपोर्ट के खिलाफ कोई शब्द निकालूं तो मेरी जबान कट जाय। इस परिषद् की सारी कार्यवाही का सार है हिन्दुओं का और नेहरू-रिपोर्ट का पूर्ण विरोध। मौलाना हसरत मोहानी ने, जो अपने को पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थक मानते हैं, अपने भाषण में नेहरू-रिपोर्ट का इस आधार पर विरोध किया कि उसमें दिल्ली वाले जिन्ना-प्रस्तावों के मुताबिक सिफारिशें नहीं हुई और सिन्ध, बलूचिस्तान और सरहदी सूबे को अलग करने के सबंध में भी यह शर्त कर दी गई कि औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त होने पर ही वे प्रांत अलग किये जायँ। दिल्ली के मजरुद्दीन साहब ने भी अपने भाषण में नेहरू-रिपोर्ट की निन्दा करते हुए कहा कि मुसलमान-प्रांतोंको उसमें कोई क़ानूनी अधिकार ही नहीं दिये, सब अधिकार केन्द्रीय सरकार के

पास रक्खे है, इसलिए वे प्रांत कुरान के आधार पर विवाह, जायदाद आदि कानूनों को नहीं बना सकेंगे। यदि कोई प्रांत बनायगा भी तो केन्द्रीय सरकार उसे रद करेगी। मसूदुल हसन बार-एट-ला ने मुसलमानों का सम्बोधन करते हुए कहा कि अगर तुमने अपने अधिकारों की रक्षा की कोई चेष्टा नहीं की, तो वह दिन दूर नहीं, जब हिन्दुस्तान हिन्दू-मुसलमानों के संयुक्त हिन्दुस्तान के बजाय 'भारत माता का खंभ' (केवल हिन्दुओं का) रह जायगा। सभी भाषण इसी तरह के थे। उनके प्रत्येक वाक्य में हिन्दू जाति, हिन्दू नेता, नेहरू-रिपोर्ट और राष्ट्रीय प्रगति के विरुद्ध जहर उगला गया था।

सबसे अधिक दुःख तो यह है कि सभापति श्री शौकत-अली ने—जो हिन्दू मुस्लिम एकता के कट्टर समर्थक समझे जाते थे—भी अपने भाषण में यही जहर उगला और सबसे आगे बढ़ गये। उन्होंने कहा कि नेहरू-रिपोर्ट तो हिन्दू सभा की सन्तुष्टि के लिए बनाई गई है। फिर उन्होंने हिन्दुओं को ललकारते हुए कहा कि वे साफ-साफ कह दें कि वे क्या चाहते हैं? अगर वे लड़ाई चाहते हैं, तो मुसलमान उसके लिए भी तयार हैं!

इस परिषद में कई प्रस्ताव पास हुए। भारत के शासन-विधान को संयुक्तराष्ट्र अमेरिका की तरह बनाने, प्रान्तों तथा देशी रियासतों को आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र रखने के आशय का प्रस्ताव पास हुआ। एक प्रस्ताव द्वारा परिषद ने निश्चित किया कि वर्तमान अवस्था को देखते हुए मुसलमान पृथक् निर्वाचन छोड़ने को तैयार नहीं हैं। एक लम्बे प्रस्ताव में मुसलमानों की हित-रक्षा की दृष्टि से निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक बताया गया—

(१) सब व्यवस्थापिका सभाओं में पृथक् प्रतिनिधित्व के आधार पर मुसलमानों का कम-से-कम एक तिहाई काफी प्रतिनिधित्व होना चाहिए। (२) प्रान्तीय और केन्द्रीय शासन के मन्त्रिमण्डल में मुसलमानों की संख्या एक तिहाई हो। (३) कोई भी व्यवस्थापिका सभा ऐसा क़ानून न बनावेगी, जो मुसलमानों के जाती कानून के खिलाफ पड़ेगा। (४) मुसलमानों को उर्दू, फारसी और अरबी के पढ़ने-पढ़ाने के लिए काफी सुविधायें दी जावेंगी। (५) मस्जिदों, दरगाहों, क़ब्रस्तानों, यतीमखानों (?) या अन्य स्थलों की हमेशा रक्षा की जायगी। (६) मुसलमानों में कोई ऐसी बात न कराई जायगी, जिसके कारण उनके धर्म की हानि हो। (७) मुसलमानों को नोकरियों में काफी हिस्सा दिया जायगा। (८) शिक्षा-विषयक, औद्योगिक, धार्मिक, सामाजिक और धर्मादा-विषयक जो रुपया दिया जायगा, उसमें मुसलमानों का भी काफी हिस्सा होगा। (९) वायसराय को यह हक होगा कि वह किसी भी कानून को उपर्युक्त धाराओं के प्रतिकूल कहकर उसे रद कर दे। (१०) भारतीय व्यवस्थापिका सभा को ऐसे कानून बनाने का हक न होगा जिससे शासन-विधान के उन मूलभूत सिद्धान्तों पर प्रहार हो जिनके बल पर अल्प मत वालों की रक्षा निर्भर है। इत्यादि। मौलाना आजाद सुभानी ने पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पेश किया। पहले तो कुछ सज्जनों ने मुस्लिम हित का विरोधी बताते हुए प्रस्ताव का विरोध किया, परन्तु जब पर्दानशीन स्त्रियों ने यह लिखकर सभापति को दिया कि यदि पुरुषों में इतनी हिम्मत नहीं है, तो हम पर्दे से निकलकर लड़ेंगी, तब प्रस्ताव पास हो गया!

इस सम्मेलन की आलोचना करना व्यर्थ है, क्योंकि उन मुसलमानों से, जो देश-विद्रोह, स्वार्थ और तुच्छता पर कमर कसे बैठे हों यह आशा करना कि वे समझौता करना चाहते हैं, भूल है। ऊपर की कार्रवाई पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि किसी वक्ता ने नेहरू-रिपोर्ट को अच्छी तरह पढ़ा ही नहीं।

मुसलमानों का राष्ट्रीयदल

परन्तु हर्ष की बात है कि मुसलमानों में एक ऐसा भी दल है, जो इस घातक लहर का घोर विरोध कर रहा है। इनमें डाक्टर अन्सारी, महाराजा महमूदाबाद, श्री रफी अहमद किदवई, श्री यूसुफ इमाम, श्री तसद्दुक अहमद शेरवानी आदि हैं। पंजाब के मुसलमानों में भी राष्ट्रीयभाव फैल चुके हैं। अब यदि कुछ अधिक जोर से काम लिया जाय, तो बहुत अधिक संभव है कि अराष्ट्रीय मुसलमान कुछ न कर सकें। श्री जिन्ना से आशा थी कि वे यूरोप से

आकर बुरी मनोवृत्ति को दूर कर देंगे, परन्तु उन्होंने अभी तक इस सम्बन्ध में कुछ नहीं किया। वे स्वयं अभी बीच में पड़े हुए है।

अभी कुछ दिन हुए लखनऊ मे अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का अधिवेशन हुआ, जिसमें दबी आवाज मे नेहरू रिपोर्ट के समर्थन में निम्न-लिखित प्रस्ताव पास किया गया है—

"अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की यह परिषद् नेहरू-कमिटी को मुस्लिम लीग के १९२७ के कलकत्ता-अधिवेशन में स्वीकृत मुसलमानों की माँग को पूरा करने का प्रयत्न करने पर धन्यवाद देती है। और इस रिपोर्ट पर लीग के आगामी कलकत्ता के अधिवेशन मे विचार करने के लिए सिफ़ारिश करती है।"

यह तो हुई मुसलमानों की प्रगति, अब हिन्दुओं की गति भी देखिए।

दुःख की बात है कि अराष्ट्रीय मुसलमानो के उपर्युक्त व्यवहार से ही कुछ हिन्दुओं का भी धीरज टूट गया है, और वे भी देश का खयाल छोड़ कर साम्प्रदायिकता का समर्थन करते हुए नेहरू-रिपोर्ट का विरोध कर रहे है। इन मे भाई परमानन्द मुख्य है। मिलाप आदि कतिपय उर्दू के पत्र भी इस देश-द्रोह मे भाग ले रहे हैं, परन्तु ऐसे द्रोही हिन्दू बहुत थोड़े है। अधिकांश हिन्दू राष्ट्रीय और देश-भक्त है। वे देश-हित की दृष्टि से सांप्रदायिकता को उखाड़ देना चाहते हैं और मुसलमानो से उचित शर्तों पर समझौता करने को हर समय तैयार है। परन्तु मुसलमानों की स्वार्थपूर्ण माँगों को, जिनसे सांप्रदायिकता का रोग बढ़ता है, स्वीकार करते-करते अब वे उसके दुष्परिणाम से परिचित हो गये है, इसलिए उनकी अन्याय्य माँगो को स्वीकृत करने के लिए किसी भी तरह तैयार नही। इसका एक उत्तम उदाहरण गत मास इटावा मे होने वाली

आगरा प्रान्तीय हिन्दू सभा

थी इसके सभापति थे स्व० लाला लाजपतराय। इसका हाल विस्तार-पूर्वक न लिखकर इतना ही लिखना काफ़ी होगा कि कानपुर की मुस्लिम कॉन्फ्रेंस की दुष्ट मनोवृत्ति के प्रतिकूल इसमें केवल राष्ट्रीयता की लहर दीखती थी।

कृष्ण

विजय के बाद

विजय के बाद तो आमोद-प्रमोद होता है। परन्तु बारडोली के किसान इसके विपरीत कर रहे हैं। वे आमोद-प्रमोद नहीं करते। वे शराब, ताड़ी तथा अन्य नशीली चीजे छोड़ रहे है, मृत्यु-भोज, विवाह-शादी आदि अवसरों पर होनेवाली फिजूलखर्ची को रोक रहे हैं, और देश तथा जाति के स्वास्थ्य एवं अभ्युदय की जड मे कुठाराघात करने वाली बाल-विवाह जैसी दुष्ट प्रथा के विरुद्ध उन्होने धर्मयुद्ध छेड दिया है। सरदार वल्लभभाई को मानपत्र अभीतक दिये जा रहे हैं। पर मानपत्र का तो बहाना-मात्र है। प्रत्येक जाति के खास-खास लोग इकट्ठे होते हैं, अपनी कुप्रथाओं पर विचार करते है, उनमे से एक-एक को लेकर उसे दूर करने का निश्चय करते है और सरदार वल्लभभाई को बुलाकर उन्हे मानपत्र देते हुए उनके सामने अपने निश्चय को गंभीर प्रतिज्ञा के रूप मे प्रकट करते है। बारडोली के निवासी लेवा और कडवा पाटीदारों में गाँव-गाँव सभाये हो रही है और उपर्युक्त सामाजिक सुधारों की प्रतिज्ञाये की जारही है। बाल-विवाह-निषेधक प्रस्ताव मे यह निश्चय किया गया है कि वर और वधू की विवाह-योग्य अवस्था अब से क्रमशः १८ और १४ वर्ष की समझी जाय। जिस जाति मे जन्म होते ही बच्चों के विवाह कर दिये जाते थे उसमे विवाह की यह वयस बुरी नही कही जा सकती। फिर भी प्रस्ताव मे इस बात की सिफारिश की गई है कि जहाँ तक हो सके लड़की का विवाह, १६ वर्ष से कम और लड़के का २० वर्ष से कम अवस्था मे न हो। यदि किसी कारण लाचार हो जल्दी विवाह करना ही पड़े तो लड़की को १६ वर्ष से कम उम्र में तो किसी हालत मे पतिगृह को न भेजा जाय।

स्त्रियों मे भी काफ़ी जागृति फैल गई है। अब कहीं-कहीं स्त्रियां इकट्ठी होकर गहने और चाय छोड़ने का भी व्रत लेने लगी हैं। खादी पहनना तो अब मामूली बात होगई है

इसलिए उसका पृथक् उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है।

सब से बड़ी क्रांति रानीपरज और दुबला नामक दलित जातियों में हो रही है। सैकड़ों की संख्या में वे शराब न पीने की प्रतिज्ञायें कर रहे हैं "मैं श्रीराम का स्मरण करके यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से मैं शराब, ताड़ी अथवा अन्य किसी प्रकार की भी नशीली चीज का सेवन न करूंगा विवाह अथवा मरण या ऐसे ही अन्य किसी प्रसंग पर मैं अपने यहाँ शराब ताड़ी का उपयोग नहीं करूंगा और न और किसी के यहाँ ऐसे प्रसंग या कार्य में शरीक होऊँगा, जिसमें इन निषिद्ध चीजों का उपयोग होता हो। हे प्रभु, मुझे इस प्रतिज्ञा का पूरा पूरा पालन करने की शक्ति दो।"

शराब न पीने की प्रतिज्ञा के मानी केवल पीना छोड़ देना ही नहीं है, उसके मानी है उस व्यवसाय में किसी तरह से भी सहयोग न दिया जाय। इसके फल-स्वरूप शराब-ताड़ी के व्यवसायी और राज्य के तथा सरकारी आबकारी विभाग के अधिकारी बड़े अधीर हो रहे हैं। सूरत के कलेक्टर ने शराब-बन्दी के आन्दोलन को गैर-क़ानूनी करार देते हुए एक घोषणा निकाली है कि शराब-ताड़ी पीना, न पीना प्रत्येक नागरिक के स्वतन्त्र अधिकार की बात है—उसमें किसी को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। यह है हमारी सरकार का राजधर्म! कोई यह न भूले कि शराब और ताड़ी पीने के व्यक्तिगत अधिकारों का समर्थन करने वाली यह सरकार वही है जो भारतीयों के जन्मसिद्ध अधिकार को अपने पैरों तले कुचल रही है।

पर बारडोली दूरदर्शी जनता सरकार की इस चाल को खूब समझती है। अपना सामाजिक संगठन करके वह बराबर उस शख्स से दण्ड लेती है जो समाज का अपराधी है। अगर उसे समाज में रहना मन्जूर है तो वह दण्ड देता है। सरकार को इसमें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है।

इस प्रकार बारडोली में समाज-सुधार बड़ी तेजी से हो रहा है। उधर सरकार द्वारा नियुक्त जाँच-समिति बारडोली पहुँच गई है और १५ नवम्बर से गाँव-गाँव घूम कर उसने जाँच करना शुरू कर दिया है। इसमें रेवेन्यू आफ़िसर श्री मैक्सवेल और जज श्री ब्रूमफ़ील्ड हैं। बम्बई के सुप्रसिद्ध एडवोकेट श्री भूलाभाई देसाई ने सेवा-भाव से किसानों की पैरवी करना स्वीकार किया है।

वें० म०

मैसूर-दरबार की उदारता

मैसूर-दरबार ने अभी हाल में दलित जातियों की शिक्षा के लिए ५०,०००) और स्वीकृत किये हैं, जिनमें से अछूत और पिछड़ी हुई जाति के बालकों को उच्च तथा माध्यमिक शिक्षा के लिए छात्र-वृत्तियाँ दी जायँगी। शास्त्रीय एवं औद्योगिक शिक्षा के लिए भी १०,०००) की वृत्ति इसी में से दी जायगी। इस तरह अब से आगे मैसूर-दरबार इस मद में १,६०,०००) रुपये प्रति वर्ष खर्च करेगा। गत दश वर्षों के अनुभव से सरकार इस निश्चय पर पहुँची है कि इस सहायता के कारण राज्य की पिछड़ी हुई जनता की ख़ासी उन्नति हुई है। हम मैसूर-दरबार को इस निर्णय पर बधाई देते तथा आशा रखते हैं कि अन्य देशी सरकारें भी मैसूर-दरबार का अनुकरण कर अपने दलित-हित को मूर्त रूप देंगी।

त्रिवेदी

स्थानीय हल-चल

इस महीने, कुछ तो विभिन्न सम्मेलनों से और कुछ पुष्कर के प्रसिद्ध मेले के सबब, अजमेर के जीवन में काफ़ी हलचल रही। "राजपूताना महिला-सम्मेलन" चीफ़-कमिश्नर की पत्नी श्रीमती रेनाल्ड्स के सभापतित्व में हुआ। प्रान्तीय शिक्षा सम्मेलन सरकारी आयोजना थी, पर कार्यवाही से प्रतीत होता था कि असल में न सही तो भी कमसे कम मनोवृत्ति में वहाँ भी राष्ट्रीय-जागृति की नूतन भावना का थोड़ा बहुत प्रवेश हो रहा है। भगवान् करे, यह स्थायी हो। इधर २३, २४ नवम्बर को राणपुर के गुजराती पत्र सौराष्ट्र के सम्पादक श्री अमृतलाल सेठ के सभापतित्व में राजपूताना प्रजा-परिषद् का प्रथम सम्मेलन हुआ। इसमें गरमागरम भाषण और प्रस्ताव हुए। उधर पुष्कर में अ० भा० क्षत्रिय महासभा, राजस्थान हिन्दू-सभा और राजपूताना मध्यभारत सभा के अधिवेशन भी होने वाले थे।

मुकुट



विवाद-युग

भारत की राजनैतिक प्रगति मे वर्तमान काल को हम विवाद-युग भी कह सकते है। आये दिन एक न-एक नया विवाद खडा होता है और उसे सुलझाने में आला दिमागों को थक जाना पडता है। परिवर्तन-वादी और अपरिवर्तन-वादियों का विवाद खतम हुआ नही कि स्वराजी और प्रति-सहयोगियों का विवाद बढा। वह पूरा हुआ नहीं था कि स्वराज्य और स्वाधीनता का विवाद सामने आया। वह किसी तरह बुझा तो अब औपनिवेशिक स्वराज्य और स्वाधीनता का विवाद फिर जोर मार रहा है। और हिन्दुओं और मुसलमानो का सबसे बडा विवाद तो वैतरणी की तरह खून की धारा अब भी बहा ही रहा है! जब इस दु खद स्थिति के मूल कारण की ओर मेरी दृष्टि जाती है तो बडे दु ख के साथ कहना पडता है कि हमे बातें करने और नये-नये विवादों को खडे करने का जितना शौक है उतनी काम करने की उमग नहीं है। इनमे अधिकांश लोग तो जरूर ऐसे है, जो बातें करने और परस्पर बुद्धि लडाने मे प्रवीण है, और यही उनके किये हो सकता है, पर कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सचमुच काम करना चाहते हैं, काम की व्याकुलता और अधीरता ही उन्हे ऐसे विवादों मे खींच लाती है, पर मुझे कहना होगा कि जब तक वे अपनी अधीरता और उतावली मे नई नई बौद्धिक समस्याये खडी करते रहेंगे और विवाद मे पडते रहेंगे तब तक वास्तविक काम उनसे दूर भागता जायगा। एक संस्था बना लेना, उसके नियम-उप-नियम बना लेना, अथवा बढ-बढ कर गरमागरम बात की घात मे लगे रहने वाले देशभक्तों को उसमें एकत्र कर लेना, कोई भारी काम नही है। जबतक जनता के संगठन का, ग्रामों मे सोये बल को सग्रह और पुष्ट करने का काम नही उठाया जाता और उसमे हमारे बलिदान के उत्सुक युवक-बन्धु कूद नहीं पडते, तबतक इन विवादों का अन्त होना कठिन है और न तबतक हमारे नये-नये और बडे-बडे नामों मे कोई स्थायी प्रभाव ही आ सकता है। मेरी अन्तरात्मा तो बार-बार कहती है कि यदि हम अगले ५-७ बरस कुछ भी न बोलें और चुपचाप गाँवों मे बैठ कर काम करते रहे तो देश का कुछ बिगाड न होगा, उलटे वह चमत्कार नजर आवेगा, जिसकी प्रतीक्षा इतनी उत्सुकता के साथ हम सब कर रहे हैं। अपरिवर्तन-वादी चर्खा लेकर गाँवों मे घुस गये और जम गये तो खादी जैसे क्रान्तिकारी काम की जड जमाने के अलावा एक बारडोली भी दिखा सके। हम स्वराज्य, औप-निवेशिक स्वराज्य, स्वाधीनता इन नामों और शब्दों की खींचातानी मे क्यों इतना अमूल्य समय, शक्ति और रुपया खर्च करें? क्यों न असली चीज उन्हें प्राप्त करने के बल और सगठन पर ही अपनी सारी शक्ति केन्द्रित कर दें? जिसके पास बल होता है वह नामों के विवाद में नही पड़ता। उसका बल अभीष्ट वस्तु को खींच कर सामने ले आता है और लोग कहते और मानते है—यह एक काम का आदमी है, इसकी बात सुनो। परमात्मा इस अभागे देश मे ऐसे काम के हजारों लाल कब पैदा करेगा?

सब से बडी शर्त

निबलों की, गरीबों की, तपस्या अब फूलने-फलने लगी है। भारतवर्ष आदर्श का पुजारी है। उसने क्या राजा और क्या प्रजा, क्या साहूकार और क्या किसान, दोनों में पिता पुत्र का सबध रहने का बडी उच्च कल्पना समाज के सामने रक्खी थी। इसका अर्थ यह है कि दोनों अपने अपने सुख और हित पर नहीं, बल्कि एक दूसरे के हितों पर ध्यान रक्खे और अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन, दूसरे से बदले की आशा न रखते हुए नेकनीयती और ईमानदारी से करें। अंग्रेजों का राज्य, भारत मे होने के बाद, पश्चिमी सभ्यता की स्वार्थी लहर यहाँ पहुँची और उसने हर एक को अपना-अपना स्वार्थ साधने की विद्या सिखाई, जिसका कु-फल हम आज प्रत्यक्ष देख रहे है और आगे देखेंगे। आज देश के किसी भी दो दल या श्रेणी मे एक का दूसरे पर शुद्ध विश्वास नही है। राजनैतिक क्षेत्र मे जो समझौते हो रहे है वे इसी अपने-अपने स्वार्थों की रक्षा की अपरिमित चिन्ता के साथ हो रहे

हैं जिससे दूसरे की असुविधा पर ध्यान जाकर उसके साथ न्याय करने की बुद्धि का पूरा परिचय नहीं मिलता है। किसी तरह खींचा-तानी करके हिन्दू-मुसलमान समझौते का रास्ता निकालते हैं, तो सिख अड जाते है, और सिख राजी हुए, तो ब्राह्मण-अब्राह्मण या छूत-अछूत का प्रश्न खड़ा हो जाता है; अथवा देशी राजा और प्रजा के बीच आन्दोलन खड़ा हो जाता है। मजूरों और मालिकों के झगड़े और हड़तालें तो मानों आये दिन के मिहमान हो रहे हैं। जहाँ हमारा किसी से मत-भेद या झगड़ा हुआ कि हम एक अलग संस्था बनाने लगते हैं, अलग दल खड़ा करते हैं, अलग अखबार निकाल देते हैं, और आपस मे द्वेष फैलाते हैं। ऐसा जान पड़ता है, मानों हमने असहयोग के महासिद्धान्त को या तो समझा ही नहीं है, या समझना चाहते नहीं हैं, या उसका पालन करने के लिए आवश्यक सामर्थ्य प्राप्त करने से घबराते हैं। एकमात्र ब्रिटिश सरकार को अपना मोर्चा बनाने के बजाय हमने अपने घर के ही अन्दर, क्षुद्र और अदूरदर्शिनी बुद्धि से प्रेरित हो, अनेक परस्पर लड़नेवाले दल खड़े कर लिये हैं, जिससे कि ब्रिटिश सरकार से लड़ने की तरफ़ हमारा वास्तविक ध्यान बहुत कम जा रहा है। ब्रिटिश सरकार से असहयोग करने के मानी ही यह हैं कि हमारे आपस मे ज्यादा सहयोग हो—आपस के झगड़ों और प्रश्नों को हम बिना सरकार की सहायता के सुलझा लें। परन्तु सेवा-भाव की कमी और व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं का भूत हमारी स्वार्थ-साधुता को पुष्ट करता रहता है और राष्ट्रीयता की वृद्धि मे रोड़ा अटका रहा है। यह विष यहाँ तक फैल गया है कि एक राष्ट्रीय या सार्वजनिक संस्था में दो महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों का मिलकर काम करना अशक्य-सा हो रहा है और हम नित-नये दलों और आपस के झगड़ों के समाचार अखबारो मे पढ़ते हैं। बात बघारने और डींगें मारने मे हम निपुण हो रहे हैं और शायद समझते हैं कि जबानी और कागजी कार्रवाइयों से स्वराज्य और स्वाधीनता पालतू गाय की तरह हमारे पीछे-पीछे दौड़ते चले आवेंगे। इससे हम स्पष्टतः इस नतीजे पर पहुँच रहे हैं कि देश जाग तो उठा है, पर अभी उसे अपनी स्थिति को समझने, अपने रास्ते को निश्चित करने, अपने बल को एकत्र और संगठित करने के लिए बहुत-कुछ करना बाक़ी है। हमारे अन्दर देश-भक्ति का भाव तो आया है; पर अभी शुद्ध सेवा का भाव या आजादी की मस्ती पूरी पूरी नहीं आ पाई है—अपनेको होम देने और झोंक देने की तैयारी तो देश के कुछ नवयुवक लोग दिखाते हुए नजर आ रहे हैं, पर अपनेको 'खपाने' मे अभी हम घबराते हैं, इसका रास्ता हमें मिल नहीं रहा है।

मेरी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार पहले हमें देश-सेवा या स्वाधीनता-संग्राम की एक सब से बड़ी शर्त को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। वह यह कि इनमे व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के लिए कतई स्थान नहीं है। हाँ, सेवा के योग्य अपने को बनाने के लिए अपने गुणों और शक्तियों को बढ़ाना तो आवश्यक है, परन्तु केवल अपनी महत्ता बढ़ाने की वेदी पर अपने कार्य या संस्था को क़ुरबान कर देना देश-सेवा की विरोधिनी मनोवृत्ति है और इससे देश को आज अपरिमित हानि हो रही है। यदि हम देखें कि दो व्यक्तियों के संघर्ष से कार्य और संस्था को हानि पहुँच रही है। तो सेवा-भाव और स्वाधीनता का प्रेम हममे तक़ाजा करता है कि दो में से एक पीछे हट जायें और दूसरे को आगे बढ़ने का अवसर दें, एवं खुद दूसरा कार्य या दूसरा क्षेत्र स्वीकार कर ले। यदि दोनों वास्तव मे योग्य या सेवा-परायण होंगे, तो दोनों अपने-अपने क्षेत्र में चमक उठेंगे और फल-स्वरूप दोनों के हाथों देश की अच्छी सेवा होगी, अन्यथा जो अयोग्य होगा, पाखण्डी होगा, वह अपने आप दुनिया के सामने आ जायगा। अतएव यदि हमें देश-सेवा सचमुच प्यारी है, तो सबसे पहले हमें इस कसौटी पर सौ टंच साबित होना होगा। बिना इसके देश-भक्ति का दावा एक ढकोसला है, एक माया है। सिर्फ सरकार के मुक़ाबले मे तो अभी हम अपने अधिकारों को जताने और उससे लोहा लेने में अग्रसर होते रहें, पर आपस के झगड़े और प्रश्नों में झुक जाने की वृत्ति से काम लें, और सरकार की शरण तो उसके लिए हर्गिज़ न जावें—इस नियम का पालन जबतक हम अच्छी तरह न करेंगे तबतक न राष्ट्रीय एकता होगी और न स्वराज्य या स्वाधीनता के दर्शन होंगे। आज का चतुर्दिक सामना जबतक एक दिशा में केन्द्रित न होगा तबतक ब्रिटिश सरकार से पार पाना आसान नहीं

है। हमारी धार्मिक, सामाजिक, या राष्ट्रीय त्रुटि अथवा दुर्गुण को दूर करने के लिए हमें आपस में लड़ना पड़े तो वह एक बात है और केवल अपने-अपने स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए अथवा व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की तृप्ति के लिए हमारा एक-दूसरे के खून का प्यासा बन जाना दूसरी बात है। पहली लड़ाई हित-मूलक अतएव प्रेम-मय और परिणाम में सद्भाव वर्द्धक होगी, और दूसरी स्वार्थ-मूलक अतएव कटुता और विद्वेष-मय। देश की वर्तमान नाजुक स्थिति में, हमारे अन्दर परस्पर कटुता और विद्वेष फैलना उसका गला घोटने के समान है।

धनी और देश-सेवक

एक देशसेवेच्छु मित्र पूछते हैं—"मैंने आपसे एक बार कहा था कि असल काम तब होगा जब कार्य-कर्ताओं को धनिकों के रुपये की अपेक्षा नहीं रहेगी और आप इस बात के तथ्यांश को स्वीकार करते हुए मालूम हुए थे। मैं अभी तक साम्यवाद के पूरे तत्त्व को नहीं समझ पाया हूँ तथापि मुझको हमारे समाज की वर्त्तमान विषमता असह्य मालूम होती जा रही है। इस विषमता को मिटा देने की बात से और मिल-मालिक धन-कुबेरों का लोप कर देने की बात से आप सहमत हों तब तो धनिकों के रुपये से काम करना उल्टे मार्ग पर चलना है, क्योंकि उनसे रुपया लेकर हम उनके रहने की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं और उनके बने रहने मे सहायता पहुँचाते हैं। + + आपका यह विचार है क्या, कि वर्तमान परिस्थिति मे धनिकों के रुपये बिना काम होना असम्भव है इसलिए अभी शुरू शुरू में उनके रुपये से काम निकाल लेना चाहिए और जब देखगें कि उनके रुपये बिना काम चल जायगा तो उनसे किनारा कर लेंगे ? अथवा आपका यह विचार है कि धनिकों का साफ तौर से समर्थन नहीं करना चाहिए, परन्तु उनसे रुपया लेकर अपने आदर्शों के अनुसार कार्य कर लेना चाहिए ?"

आजकल यह प्रश्न बहुतेरे देश-सेवकों के मन में उठने लगा है। इसलिए इन मित्र को जो उत्तर मैंने भेजा है, वह भी 'त्यागभूमि' में छाप देता हूँ, जिससे संभव है उन्हें अपने विचारों को सुलझाने में कुछ सहायता मिले। उत्तर इस प्रकार है—

"मैंने अपने सामने अभी धनी और निर्धन के प्रश्न को उतनी तीव्रता से नहीं आने दिया है, जितनी से कि स्वराज्य के प्रश्न को अविचल रूप से सामने रक्खा है। क्योंकि स्वराज्य तो धनी-निर्धन, हिन्दू-मुसलमान, सब चाहते हैं। स्वराज्य-प्राप्ति का उपाय है ब्रिटिश सरकार से असहयोग—फलतः हिन्दुस्थानी-मात्र का परस्पर सहयोग। अतएव अभी हमारी शक्ति ब्रिटिश-सरकार को सुधारने या मिटाने में और हिन्दुस्थान में धनी-निर्धन, हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-अब्राह्मण, देशी राजा और उनकी प्रजा आदि विवादों को न बढ़ने देने में लगनी चाहिए। जब स्वराज्य अथवा स्वराज्य प्राप्त कर लेने की सत्ता हमारे हाथ आ जायगी, तब हम धनी-निर्धन या मालिक-मजूर के प्रश्न को अच्छी तरह हल करने की स्थिति मे अपने को पावेंगे। तबतक हम इन प्रश्नों में उतना ही रस लें, जितना कि परस्पर के सहयोग में बाधक न हो।

"आज देश पराधीन है और स्वाधीन होना चाहता है। सब दल और श्रेणी के लोग अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार इसमें सहयोग कर रहे हैं। मेरे पास शरीर है, विद्या-बुद्धि थोड़ी-सी है—मैं उसे अपने देश को चढ़ा रहा हूँ। जिनके पास धन है, वे उसे अपनी शक्ति-भर देश के कामों में दे रहे हैं। दोनों के सहयोग से दोनों की अभीष्ट वस्तु स्वराज्य की प्राप्ति का उद्योग हो रहा है।

"हिन्दुस्थान में अधिकांश लोग निर्धन हैं। अतएव हिन्दुस्थान का स्वराज्य ऐसा ही होना चाहिए, जिसमें निर्धनों के हित की रक्षा हो। पर यह प्रश्न तो तभी उत्पन्न होगा, जब स्वराज्य-संगठन की शक्ति हमारे हाथ में आ जायगी। आज तो हम, अपने स्वराज्य के स्वरूप को ध्यान में रखकर, धनी लोगों के मन पर ऐसे संस्कार डालते जायँ कि वे खुद ब-खुद देश की इस आवश्यकता को समझने लगें और अपने आप निर्धनों के प्रति न्याय और मनुष्यता का बर्त्ताव रखने लगें। इधर निर्धनों की परमुखापेक्षिता हमें कम करना है और उनमें अनेक प्रकार के सुधार करने हैं—अतएव इनको एक दूसरे के खिलाफ़ उत्तेजित करके हम इस

कार्य को भली भांति नहीं साध सकते। बल्कि दोनों को उनके कर्तव्य और स्थिति का ज्ञान कराके, और यदि किसी बात पर किसी को दूसरे से लड़ना पड़ा तो प्रेम और सहानुभूति-पूर्वक लड़के, करा सकते हैं। हमारे काम का आधार प्रेम-मानवता होना चाहिए—अधिकार की एकांगी पुकार नहीं। अधिकार की पुकार के साथ कर्तव्य का बन्धन अभिन्न रूप से लगा हुआ है, पर उसे हम अक्सर भुला देते हैं, इसलिए अधिकार की मांग ग़ैर-जिम्मेदारी का स्वरूप धारण कर लेती है।

साम्यवाद का तत्त्व जो मैं समझ पाया हूँ वह यह है कि समाज में अपनी उन्नति और सुख के साधन सबके लिए समान रूप से सुलभ होने चाहिएँ। धन, विद्या या सत्ता के कारण किसीके साथ कोई रियायत न होनी चाहिए, न किसीको इन कारणों से समाज मे कोई विशेष अधिकार होना चाहिए। जो जन-समाज की सेवा करेगा—फिर वह धन के द्वारा हो, सत्ता के द्वारा हो, या विद्या के द्वारा हो—उसका आदर समाज मे अपने आप होगा। उसके लिए हमे किसी विशेष नियम या प्रणाली की आवश्यकता नहीं है। यह आदर्श मुझे प्रिय है। पर सबसे पहले यह तत्त्व हमारे जीवन में उतरना चाहिए। अपनेसे पिछड़े लोगो की अवस्था देख कर हमे अपना जीवन उनके अनुकूल बनाने का यत्न करना चाहिए। तब हम अपनेसे अधिक रियायत चाहने वालो या उनसे लाभ उठाने वालो से कुछ कह सकते हैं और उसका उनपर कुछ असर हो सकता है एवं तभी हमसे पिछड़े हुए लोग हमे अपना समझ कर हमारा साथ दे सकते है—अन्यथा हम दोनो तरफ़ के नहीं रहेंगे।

"हम निर्धनों की श्रेणी मे है। अतएव एक ओर जहाँ निर्धनों की सेवा हमारा व्रत होना चाहिए, वहाँ धनियो के साथ अन्याय न हो, इस बात की जिम्मेदारी भी हम पर विशेष रूप से आती है। काम करने मे यदि हम यह भावना (Spirit) रक्खेंगे तो धनियो को हमारी बात सुननी पड़ेगी और बिना वर्ग-कलह के हम सुन्दर क्रान्ति करा सकेंगे।"

मालिक और मजूर

मालिक और मजूर की समस्या देश मे दिन-दिन जटिल होती जा रही है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि जबतक देश में बड़े कारखाने है, या उनकी आवश्यकता रहेगी, तबतक मालिक और मजदूर भी किसी-न-किसी रूप में रहे बिना नहीं रह सकते। और यदि इन दो दलों का रहना अनिवार्य है, तो यह भी मानी हुई बात है कि उनका आपस में सम्बन्ध सब तरह अच्छा रहना भी परम आवश्यक है—इसके बिना कारखाना एक मिनट अच्छी तरह नही चल सकता। यह इसका सबसे अच्छा उपाय है कि मालिक खुद ब-खुद मजूरो के हितों पर, अपने हित से अधिक, ध्यान रक्खे, अपने मुनाफे से अधिक ध्यान उनके लाभ और सुख का रक्खें। इससे मजूरों मे अपने आप कार्य-दक्षता और जिम्मेदारी का तथा कारखाने और मालिकों के प्रति प्रेम का भाव पैदा हुए और बढे बिना नहीं रह सकेगा। पर इतना होते हुए भी उनमें आपस मे समय-समय पर झगड़ा और टक्कर होना सम्भवनीय है। क्योंकि यह तो मजूरों का गरीबों का युग है, अब कही जा कर परमात्मा ने उनकी कुछ सुनी है, तो वे अपना जोर जताये बिना रहने के नहीं। इधर मालिक भी सब कहाँ इतने देशभक्त, सहृदय और दूरदर्शी है कि समय को पहचान कर आगे बढ जायँ? ऐसी अवस्था मे आपस के झगड़ो का निबटारा करने के लिए एक पंचायत बना लेनी चाहिए। मेरी राय मे कांग्रेस सबसे अच्छी पंचायत हो सकती है। अन्यथा मालिक और मजूर मिलकर अपने प्रतिनिधियों की एक पंचायत बना सकते हैं। ऐसा न करके जब दो में से कोई दल, मौजूदा हालत में, सरकार की शरण जाकर उसके दबाव मे कोई ऐसा बिल या कानून बनाना चाहे, जिससे किसी एक दल के साथ पक्षपात होने का सभावना हो, तो इसे मैं अनुचित समझता हूँ। एक तो इससे सरकार को पूँजीपतियो और मजूरों में फूट डालने का अच्छा अवसर मिलेगा, दूसरे वर्तमान सरकार खुद एक भारी मालिक—पूँजीपति है, इसलिए कानून की रचना मे, तथा बाद को उसके व्यवहार मे, पूँजीपतियों का पक्षपात किये बिना और मजूरों को दबाये बिना रह नहीं सकती। और सरकार

के हाथ मे ऐसा हथियार या अवसर देना मैं किसी तरह उचित नहीं समझता। वर्तमान 'ट्रेड डिस्प्यूट बिल' यदि सरकार की अपनी उपज है तो, मेरी राय मे, पूँजीपतियो को—कम से कम हिन्दुस्थानी मालिकों को—उसका शिकार होने से बचना चाहिए था। यदि खुद मालिको की प्रेरणा का यह फल हो, तो इस तरह पूँजीपतियों के द्वारा सरकार की शक्ति और नियंत्रण का बढ़ना देश-हित के लिए हानिकर है। इसी तरह मजदूरों का संगठन भी महज राजनैतिक आन्दोलन के लिए करना अथवा उन्हे उसके निमित्त भड़काते रहना भी मैं पसन्द नही करता। मालिको मे जैसे कई महास्वार्थी और 'शायलाक' हैं, वहाँ मजूरों के नेताओ में स्वार्थ-साधु और अयोग्य पुरुष न हो सो बात नहीं। परन्तु इसमे भी कोई शक नही है कि सबल और और निर्बल के मुक़ाबले मे, धनी और निर्धन के मुकाबले मे, सबल और धनी के ही पास दूसरे को दबाने के साधन विपुल होते हैं और दोनो की झगड़ पड़ने की अवस्था में ज्यादा दोषी वही समुदाय माना जाता है, जो धन, बल, विद्या मे बढ़ा-चढ़ा हो। जब कि मौजूदा सरकार पर लोगों का विश्वास नहीं रहा है और दिन-दिन कम हो रहा है—मजबूरी से उसे उसका जूआ अपने कधे पर रखना पड रहा है, यह बात जुदी है—तब उसके बल और प्रभाव से कोई ऐसा कानून बनवाना। जिसमे खुद उसका भी गहरा स्वार्थ है। मै भयकर समझता हूँ, फिर उसकी धाराओं के लिए व्यवस्थापक सभा मे लड़ना या उनमें सुधार कराने की चेष्टा करना मुझे तो व्यर्थ मालूम होता है। इसपर यह कहा जा सकता है कि ये तो केवल तत्वों और सिद्धान्तो की बातें है, व्यवहार में इनसे काम नही चल सकता, तो जबतक इस अभागे देश के नसीब में गुलामी बदी है तब-तक ऐसे आक्षेपो का सुन लेना भी हम जैसों के नसीब मे लिखा हुआ है—यही समझ लेना बेहतर है।

ग़ैर-ज़िम्मेदारी के नमूने

समाचारपत्रों की ग़ैर-ज़िम्मेदारी, खेद है, बढ़ती पर है। यह गुण नही दोष है, बल नहीं कमज़ोरी का लक्षण है। महात्मा गांधी किसी शब्द का उच्चारण तक बिना सोचे-समझे नही करते, फिर किसी काम को करने के लिए वह कितना सोचते-विचारते होंगे इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। फिर भी अखबारों मे हाल ही दो बाते ऐसी छपी कि जिन्हे पढ़ते ही मैंने मित्रों से कह दिया था—ऐसा हो नही सकता, यह गलत है। पहली बात तो यह कि साबरमती के सत्याग्रहाश्रम मे अब सयम के कड़े नियम उठा दिये गये और वहाँ अब लोग जो चाहे खा सकेंगे, जैसे चाहे रह सकेंगे, और जितने चाहे बाल-बच्चे पैदा कर सकेंगे; दूसरी बात यह कि महात्माजी ने कहा, देश में मेरे सिवा कोई राष्ट्रीय नेता ही नही है। महात्माजी के कान तक दोनो बातें पहुँचते ही उन्होंने दोनों का खण्डन किया है और बताया है कि ये दोनो समाचार किस तरह निराधार है। सत्याग्रहाश्रम आदर्श के रूप में रहकर उसका बाहरी प्रवृत्तियों के समूह का नाम उद्योग-मन्दिर रखने और स्त्रियो को भोजन मे हल्दी, जीरा जैसे मामूली मसालों को खाने की छुट्टी के अलावा किसी नियम मे कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

हमारे सवाददाता और उनपर सारा आधार रखने-वाले सम्पादकबन्धु यदि ज्यादा जिम्मेदारी और ज्यादा सावधानी से काम ले तो इसमें बुराई नहीं है। उनके अख-बारो की बिक्री चाहे कुछ कम हो, पर प्रभाव और प्रतिष्ठा तो अवश्य बढ़ेगी। अण्टशण्ट बातें लिखकर प्रचार बढ़ाने की अपेक्षा सच्ची, तथ्य की और आवश्यक बातें लिखकर प्रभाव और प्रतिष्ठा बढ़ाना क्या बुरा है? वे इस बात को भूल जाते हैं कि प्रतिष्ठा और प्रभाव के अभाव मे स्थायी बिक्री बढ़ना असभव है और महज बिक्री पर ही ध्यान रखना तो पत्रकार का जीवन-कार्य नहीं हो सकता—न होना चाहिए।

धर्म बनाम शास्त्र

उस दिन जयपुर मे दो विद्वान् धर्म-शास्त्रज्ञों से शास्त्र-चर्चा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। विधवा विवाह तथा अस्पृश्यता-निवारण, इन दो विषयों पर धर्म शास्त्र की दृष्टि से बात-चीत चल पड़ी। हमारे सामने जीवन-दृष्टि, समाज-दृष्टि या यों कहें कि धर्म-दृष्टि प्रधान थी, उनके सामने शास्त्र-दृष्टि। इसलिए स्वभावत, हमारी बाते युक्ति-प्रधान होती थी,

उनकी शास्त्र प्रमाण-प्रधान । हमारे कथन का ज़ोर इस बात पर था कि धर्म का पालन, धर्म की वृद्धि, जीवन की उन्नति और सुख प्रधान है और शास्त्र गौण बात है । उनका जोर इस बात पर था कि धर्म-शास्त्र का अक्षरशः पालन करके ही हम धर्म का पालन और जीवन की उन्नति कर सकते हैं । इनमे एक जो वयोवृद्ध थे, व्यावहारिक या सामाजिक दृष्टि के बल को बीच-बीच मे मान लेते थे, पर दूसरे महाशय को शास्त्र-शब्दो का आग्रह विशेष था । इस वार्तालाप का उल्लेख मैने यहाँ उनके प्रमाणों या प्रमेयों का खण्डन-मण्डन करने के लिए नही किया है, बल्कि धर्म और शास्त्र की मर्यादा के संबंध मे जो भाव और विचार मेरे मन मे उठते रहते है, और जो उस समय विशेष रूप से जागृत हुए, उन्हें अपने पाठको तक पहुँचा देने के लिए किया है ।

मेरी राय मे 'धर्म' और 'शास्त्र' दो बिलकुल जुदी बाते हैं । धर्म मोक्ष का—पूर्ण स्वतन्त्रता का— राजमार्ग है और धर्म-शास्त्र उस मार्ग पर चलने के नियमो का संग्रह है, जो कि समय-समय पर बने है । अतएव धर्म शास्त्र धर्म के अनुयायी हैं, न कि धर्म धर्म-शास्त्रों का । दूसरे शब्दों मे यों कि धर्म के त्रिकालाबाधित सत्यो—सिद्धान्तों को व्यवहार मे लाने के सम्बन्ध मे बनाये गये विधि-विधानों के संग्रह का नाम है धर्म-शास्त्र, जिनमे स्मृतियो का समावेश हो जाता है । इसका यह अर्थ हुआ कि धर्म के मूलभूत सिद्धात जिस अर्थ मे अटल है उस अर्थ मे शास्त्र के नियम अटल और अपरिवर्तनीय नहीं हो सकते । जैसे सत्य और अस्तेय का अवलंबन करना पुण्य है, धर्म है—इस आदर्श में परिवर्तन नही हो सकता । परन्तु १२ वर्ष के अंदर कन्या का विवाह करना, या दिन मे तीन दफे ही नित्य नहाना, या त्रिपुण्ड्र तिलक लगाना, आदि विधि-विधान ऐसे नहीं हैं, जिन्हें समय की और समाज की आवश्यकता को देख कर अधिकारी पुरुष बदल नही सकता । यदि किसी प्रणाली मे, रीति से, या रूढ़ि मे, फिर वह अपने प्रचलन-काल मे चाहे कितनी ही उपयोगी और लाभप्रद क्यों न रही हो, आज सरेदस्त हम भीषण हानि देख रहे है—एक मोटी बुद्धि रखने वाला राह चलता आदमी भी जिस बुराई से काँप उठता है और त्राहि-त्राहि करने लगता है— उसे न बदलना, केवल इस विचार से कि हमारे प्राचीन शास्त्रकारो के वचन के विरुद्ध पड़ता है, कहाँ तक बुद्धि और युक्ति-संगत है ? यदि आगे जन्म-जन्मान्तरो के लिए हमारे शास्त्रकारों ने हमारे लिए सब प्रकार के विधि-विधान बना रक्खे हैं, और वे ब्रह्मा की लकीर की तरह अटल हैं तो फिर परमात्मा ने उसके बाद मनुष्यों के और खास कर एक हिन्दू के दिमाग़ मे सारासार-विचार करने की शक्ति क्यों रख छोड़ी है ? यह समझ मे नहीं आता। और जब परमात्मा ने, गलती से ही सही, वह बुद्धि किसी को दे रक्खी है, और उसमे कुरीतियों के कारण होने वाला समाज का दुःख और अधःपतन देखा नहीं जाता, धर्म का प्रत्यक्ष सर्वनाश होता हुआ उसे असह्य लगता है और इसके लिए उसे धर्म-शास्त्र के कुछ वचनो के प्रतिकूल चलना पड़ता है, तो इसका दोषभागी ईश्वर स्वयं है और हमारे धर्म-शास्त्रियों को पहले उसे सजा देने की तजवीज करनी चाहिए । समझ मे नहीं आता कि जीवन-भर विद्यार्जन करने और विद्या-दान देने से जिनकी बुद्धि प्रखर और विद्वत्ता लोकमान्य है, वे इस प्रकार अन्धानुगमन को क्यों और किस प्रकार पसन्द करते हैं और उचित समझते है ! अपने पूर्वजों और शास्त्रकारो के प्रति हमारा आदर-भाव सदैव रहेगा, पर इसका अर्थ यदि यह हो कि हम उनकी आज्ञाओं का अक्षर-अक्षर पालन करने के लिए अन्धे की तरह बंधे हुए है, तो जब तक कोई हमारे दिमाग को काटकर उसमें से हमारी भ्रष्ट बुद्धि को, जो सदैव समाज के दुःखों पर खून के आंसू बहाती रहती है और धर्म-वृद्धि के लिए भूखे भिखारी की तरह आतुर और अतृप्त रहती है, काटकर बाहर न फेंक दे, हम इस बात से बराबर इन्कार करते रहेंगे और कहते रहेंगे कि धर्म-शास्त्र की जिन आज्ञाओं के पालन से आज समाज मे पाप की वृद्धि हो रही है उनको न मानना हमारा धर्म है और आज इसी तरह धर्म की रक्षा हो सकती है ।

देशी राज्य प्रजा-परिषद्

परिषद् के प्रधान मंत्री ने परिषद् की सहायता के लिए एक अपील प्रकाशनार्थ भेजी है, जिसे स्थानाभाव से प्रकाशित करने में असमर्थ हैं । समाचारपत्रों के पाठकों से यह छिपा नहीं है कि इस परिषद् की ओर से एक प्रतिनिधि-

मण्डल इंग्लैंड में प्रचार कार्य कर रहा है, जिसके फल-स्वरूप, मन्त्रीजी लिखते हैं, देशी नरेशों के प्रतिनिधियों को उनसे समझौते की बातें करने पर मजबूर होना पड़ा है। इस कार्य को अधिक उत्साह-पूर्वक चलाने के लिए परिषद् को आर्थिक सहायता की आवश्यकता है। मैं स्वयं विदेशों में इस प्रकार के प्रचार-कार्य से सहमत नहीं हूँ, परन्तु 'त्याग-भूमि' के जो पाठक उससे सहमत हों, उनका कर्तव्य है कि इस समय परिषद के आर्थिक भार को उठाने में अपना भी हाथ आगे बढ़ावें।

लालाजी, हम लुट गये !

पूज्य लालाजी की मृत्यु के अचानक समाचार सुनकर मानो पाँवों के नीचे से धरती खिसक गई। मानों घड़ों ठंडा पानी किसी ने सिर पर उँडेल दिया। हृदय से वेदना फूटी—हा, लालाजी, हम लुट गये ! बूढ़े नेताओं ने यह



स्व० लाला लाजपतराय

क्या ठान ली ? भारत का मानों एक छत्र टूट गया। भारत-माता की मानो कमर टूट गई। हे ईश्वर ! साइमन-सप्तक को इतनी बड़ी, ऐसी पवित्र भेंट ! !'

— — —

लालाजी की मृत्यु के सम्बन्ध में जो अधिकार-युक्त वक्तव्य उनके पुत्र और डाक्टरों की ओर से प्रकाशित हुआ है उससे जाना जाता है कि ३० अक्तूबर को लाहौर के रेल्वे-स्टेशन पर गोरी पुलिस ने अपनी लाठियों से लाहौर के इस राजा का जो सत्कार किया था उसके कारण लालाजी दिन-दिन थकते जाते थे और अन्त को (१७ नवबर के सवेरे) उनके स्वतन्त्र और मनस्वी प्राण इस पराधीन और आत्मग्लानि से परिपूर्ण भूमि से ऊबकर चल ही बसे ! १ लाख जन-समुदाय ने अपनी आँसुओं की अंजुली से अपने पूज्य नेता के शव को श्मशान में अंतिम अर्घ्य दिया !

पू० लालाजी के गुजर जाने से इस समय देश की जो अपार हानि हुई, उसके लिए रोते रहना लालाजी की चोट की दवा नहीं है। लालाजी की तीव्र आँखें, तनी हुई भौंहों के साथ बरसती हुई चिनगारियों से, विकल होकर देख रही हैं कि मृत्यु को खेल समझने के ज्ञान का प्रचारक यह भारत सूखे आँसू ही बहा रहा है या उनके रहे काम—स्वराज्य की प्राप्ति—को पूरा करने में जुट पड़ा है ? अरे, कर्मवीर लालाजी की अन्तिम पूजा क्या कोरे आँसुओं से होकर रह जायगी ? आँसू बरसाना हो तो लालाजी की मौत पर नहीं, अपनी असहाय दशा पर बरसाओ—वीर लालाजी क्या रोने की चीज है ?

लालाजी की ज्वलन्त देशभक्ति, सजीव स्वार्थत्याग, विवेकपूर्ण राष्ट्रीयता, निरलस समाज-सेवा, विशाल अनुभव, व्यापक जीवन, योद्धा की वृत्ति, स्वतन्त्र स्पष्टवादिता, तीव्र समय-सूचकता, व्यावहारिक बुद्धि, अदम्य मनस्विता, किन-किन गुणों का स्मरण करके आज अपने हृदय को पवित्र और अनुप्राणित करें ? ओफ ! पंजाब के इस शेरे-बबर की हुङ्कार और टङ्कार अब सुनने को न मिलेगी ! तीर जैसे सीधे और खरे लेख अब पढ़ने को कहाँ मिलेंगे ? 'पीपुल्स सोसायटी' का झण्डा अब कौन इसी लगन,

इसी अकड़, और इसी जवाँमर्दी के साथ खड़ा रक्खेगा ? .. ..

देश की नवयुवक और प्रज्वलित आत्मा इन दुःख के और कमजोरी के उद्गारों को सुनने और बरदाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। वह झुँझला कर कहना चाहती है कि लालाजी ने हमारी बढ़ती हुई स्वाधीन आकांक्षाओं के लिए केवल राजनीति का ही नहीं, बल्कि इस भूमि का ही मैदान छोड़ दिया है—हमारे इस बुजुर्ग ने यदि हम दूरन्देशी और आत्म-त्याग का परिचय दिया है, तो मैं भी अपने तमाम परमाणुओं को खींचकर उस स्वाधीनता की बलि-वेदी पर अपनेको चढ़ने के लिए मचली बैठी हूँ।

लालाजी की चुटीली आत्मा, कसक पर हाथ रखते हुए, मूक अँगुली से उसी अकड़ के साथ संकेत करती है, कोरी बातें मत करो—काम में अपना जीवन खपा दो।

× × ×

'त्यागभूमि' के हृदय के लाला ! 'त्यागभूमि' आपको श्रद्धा सहित अन्तिम प्रणाम करती है। जिस सप्ताह में हम, अजमेर-वासी, आपकी सिंह-गर्जना सुनने की आशा लगाये हुए थे, उसी सप्ताह यह लेखनी अपने काले खून से आपकी मृत्यु को कोस रही है—जिस संख्या का आरंभ आपके अग्रलेख से होना है उसीका अन्त आपके चिर-वियोग की वेदना से हो रहा है ! उस खिलाड़ी के इन खेलों पर उसे क्या कहें ? पुनः एक बार आपकी उज्ज्वल और व्याकुल आत्मा को अन्तिम प्रणाम !

ह० उ०



स्व० डॉ० केशवदेव शास्त्री

विषय-सूची

पृष्ठ



कर्तव्य !



(जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका)

आत्मसमर्पण होत जहँ, जहँ विशुद्ध बलिदान ।
मर मिटवे की साध जहँ, तहँ हैं श्रीभगवान ॥

वर्ष २ | सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर। | अंक ४
खण्ड १ | पौष संवत् १९८५ | पूर्ण अंक १६

प्रभात-चिन्ता

"मा के सिर पर स्वतंत्रता का मुकुट रखेगा लाकर कौन ?"
—इसी चिन्तना में क्या प्रातः रहते हैं तरु तन्मय-मौन ?
भावी स्वर्ण-काल का सपना देख-देख सुंदर सुख-मूल;
खोल-खोल मादक पखुड़ियाँ खिल-खिल उठते हैं क्यों फूल ?
कर्म-योग का सरस संदेशा गिरि से लेकर आते हैं,
क्या निर्झर दिन-रात इसीसे हमें लगन सिखलाते हैं ?
भारत के जीवन से अपना जीवन सुखमय पाते हैं,
क्या स्वच्छन्द विहंग इसीसे नभ में गाते जाते हैं ?

जगन्नाथप्रसाद खत्री 'मिलिन्द'

रावी से कुमारी तक

['त्यागभूमि' के लिए]

(४)

दक्षिण का ब्राह्मण-अब्राह्मणवाद मूलतः राजनैतिक और आर्थिक है, लेकिन एक तरह इसकी पैदाइश का कारण ब्राह्मणों का वह अत्याचार है जो उन्होंने धार्मिक और सामाजिक मामलों में अ-ब्राह्मणों पर किया है। इस झगड़े से बचाव हो जाता, अगर श्री रामानुजाचार्य की शिक्षा का ब्राह्मणों के प्रभुत्व को बढ़ाने में दुरुपयोग न किया जाता। लेकिन अब तो ब्राह्मणों का बड़प्पन जर्जर किया जा रहा है और फिर से उसके उद्धार की कोई आशा न रही है। अ-ब्राह्मणों का बहुमत काफ़ी मजबूत, काफ़ी पढ़ा-लिखा और काफ़ी संगठित है और यही कारण है कि आगे ब्राह्मणों की प्रभुता की कोई आशा नहीं रह गई है।

मेरी राय में ब्राह्मण-नेता धार्मिक और सामाजिक अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा करके अच्छा करेंगे। राजनैतिक प्रजातन्त्र सामाजिक प्रजातंत्र पर ही अच्छी तरह टिक सकता है। अबतक समाज-सुधार के लिए मद्रास में जो कुछ प्रयत्न किये गये हैं वे बहुत अपर्याप्त हैं। भारत भर में मद्रासी तीव्र एवं सूक्ष्म बुद्धि की दृष्टि से अपने ढंग के अकेले ही है, मेरी राय में गणित में उनकी बढ़ी-चढ़ी लियाकत और अजीब याददाश्त का कारण भी यही है। सरकारी नौकरियों और राजनैतिक क्षेत्र में दिन-दिन वे ऊंचे चढ़ रहे हैं।

बड़ा भारी जरूरत और बड़प्पन तो इस बात में है कि ब्राह्मण अपने विश्लेषण-पटु दिमाग़ को दर्शन, वेदान्त में खपाने और बाल-विवाह तथा अस्पृश्यता जैसे बुरे रीति-रस्मों और खयालों को ठीक साबित करने में लगाने के बदले अपनी महान् बुद्धिमत्ता को संश्लेषणात्मक कामों में लगाना शुरू करें। पैदाइशी बड़प्पन का नाम न हो, समाज-शास्त्र के पुराने विचारों के मुताबिक़ जो लोग छोटे और नीच समझे गये हैं उनके साथ आगे से कोई अन्याय न हो; स्त्री और पुरुष, ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण, छूत और अछूत, इनके लिए समानता और भाईचारे का व्यवहार हो—भविष्य में हमारे काम की यही धुन और यही आवाज रहे। स्त्री और पुरुष की हैसियत से, सामूहिक रूप में, अपने अधिकारों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में जागृति फैलानी चाहिए, पैदा करनी चाहिए। वेदान्तिक या वैज्ञानिक चमत्कार की अधिक-से-अधिक मात्रा भी परिस्थिति को किसी तरह सुधार न सकेगी।

सब अङ्गों की समानता ज़रूरी है

नेतागण तो बड़प्पन के रोग के मरीज हैं और जनता अपने हलकेपन के विचारों से दबी जा रही है। दोनों में फेर-बदल की जरूरत है, दोनों उलट दिये जाने चाहिएँ। सब तरह के तात्त्विक हकों के सम्बन्ध में मनुष्यों को समानता का भाव रखना चाहिए। आजकल की गुलाम मनोवृत्ति या लोगों की स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति उस धार्मिक और सामाजिक वातावरण का सहज और तर्क-सम्मत नतीजा है, जो जीवन के चारों ओर व्याप्त है। धार्मिक जीवन के उस पद की, जिसका कभी समर्थन नहीं किया जा सकता, व्याख्या करना अकेले कुटिल वेदान्त और खींचे-तने विज्ञान के लिए ही सम्भव है, जिसके फल-स्वरूप ऐसे राजनीतिज्ञ पैदा हो सकते हैं, जो राजनैतिक जीवन में असंगति की बिना किसी हिचकिचाहट के व्याख्या कर सकते हैं। शुद्ध प्रामाणिकता और स्पष्टवादिता जीवन के तमाम क्षेत्रों के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्त होने चाहिएँ। अगर किसीके लिए धर्म्म में कुटिलता से काम लेना सम्भव है तो वह राजनीति में भी उसी कुटिलता से काम लेकर रहेगा।

'धर्म को राजनीति से अलग कर दो', यह कहना सरल है। लेकिन जहाँ सारा जीवन-क्रम ही धर्म पर टिका हो

वहाँ यह काम सरलता-पूर्वक नहीं किया जा सकता। अगर आप धर्म से राजनीति को अलग करना चाहते हैं तो आपको चाहिए कि सामाजिक जीवन के नियमों को धर्म से अलग बनाना शुरू करें। विवाह के नियम, स्त्री-पुरुषों के सामाजिक संसर्ग के नियम, व्यवहार-बुद्धि और विज्ञान के तत्वों पर बनाए जाने चाहिएँ। इनका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। जब तक मेरे मद्रासी मित्र इस तरह की मनोवृत्ति पैदा करने के लिए कोई सक्रिय प्रयत्न नहीं करते और न सारी जनता को इस काम के लिए तैयार करते हैं, राजनैतिक स्वार्थों का एक समान भावना पैदा करना बहुत मुश्किल हो पड़ेगा।

अगर जगद्गुरु अपनी मनोवृत्ति नहीं पलटते हैं तो उन्हें अपने आप पीछे हटना या नष्ट होना पड़ेगा। यह समय नहीं है जब कि सूक्ष्म वा कुटिल वेदान्त और धर्म के आधार पर बाल विवाह, अस्पृश्यता और देवदासी-प्रथायें उचित ठहराई जायँ। शास्त्रों की संख्या की हद नहीं है, वे अनेक हैं। अगर इन प्रथाओं के समर्थक अपने पक्ष के समर्थन में कुछ शास्त्रीय उदाहरण दे सकते हैं तो दूसरी बाजू के लोग भी अपने पक्ष के लिए, कई शास्त्र-प्रमाण दे सकते हैं। इसलिए ख़ास-ख़ास शास्त्र-ग्रन्थों के प्रमाणों पर कम या अधिक जोर देना फिजूल है। जितने भी शास्त्र-प्रमाण दक्षिण-भारत में ब्राह्मणों की अधिकृत ऊँची स्थिति, पद या सम्मान का समर्थन करते हैं, वे सब प्रक्षिप्त या क्षेपक हैं। प्राचीन सूत्र ग्रन्थों एवं वैदिक शास्त्रों में उनका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। यही बात उन शास्त्र-प्रमाणों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है जिनके द्वारा बाल-विवाह, अस्पृश्यता और दूरितावस्था जैसी प्रथाओं का समर्थन किया जाता है। ओफ़! एक देशभक्त के लिए ये प्रथायें कितनी निराशा-जनक और दुःख-पूर्ण हैं। लेकिन इस दुःख की मात्रा और भी अधिक बढ़ जाती है जब देखते हैं कि इन प्रथाओं को क़ायम रखने के लिए और इन्हें उचित ठहराने के लिए बड़े-बड़े आचार्य और पण्डित तक कोशिश करते रहते हैं। मुझे साफ़-साफ़ यह कबूल कर लेना चाहिए कि मद्रास और मलाबार की यात्रा का परिणाम मेरे लिए बहुत ज्यादा दुःखद हुआ है।

मनुस्मृति

मैं अपने दक्षिण के अब्राह्मण देश-भाइयों से अनुरोध करूँगा कि वे कोई ऐसा काम न करें जिसका घाव भरना मुश्किल हो जाय। मद्रास में कई जगह मनुस्मृति जला डालने की बात पर मेरी राय पूछी गई थी। एक जगह (कोयम्बटूर) मैंने इस सवाल का इस तरह जवाब दिया कि जिससे 'जस्टिस' पत्र के स्तम्भों में उस पर आक्षेप किया गया, वह अपवाद माना गया। इसमें शक नहीं कि मनुस्मृति में कुछ ऐसे पद हैं जो आक्षेप योग्य प्रथाओं का आदेश करते या उनका समर्थन करते हैं। इनका हर तरह विरोध और तिरस्कार किया जाना चाहिए, लेकिन एक ऐसी किताब को जलाकर जो कई दूषणों के होते हुए भी इतनी अच्छी है कि उस पर किसी भी राष्ट्र को नाज़ (गर्व) हो सकता है, वर्तमान कटुता को ज्यादा क्यों बढ़ाया जाय?

इस लेख-माला को समाप्त करने से पहले मैं मद्रास के शिक्षा-सचिव से एक अर्ज़ करूँगा। मुझे भय है कि श्रम का संरक्षक (Protector of Labour) पिछड़ी हुई या नीच जातियों की शिक्षा सम्बन्धी ज़रूरतों और आवश्यकताओं के साथ न्याय नहीं कर सकता। ज़रूरत इस बात की है कि एक स्वतंत्र हिन्दुस्तानी अधिकारी हो जिसे अछूतों और दूरितों की शिक्षा और शिक्षा-सबंधी प्रगति से प्रेम या सहानुभूति हो। जिस तरह ब्रिटिश राज्य के आरंभ में लड़कों को हर तरह (छात्रवृत्ति, पुरस्कार, मिठाई, खान-पान आदि से) उत्साहित और प्रेरित किया जाता, फुसलाया जाता था उसी तरह इन जातियों में शिक्षा-प्रसार के लिए ख़ास कोशिशें करनी और विशेष सुविधायें एवं प्रलोभन खड़े करने पड़ेंगे। आजकल यह नहीं हो रहा है। मलाबार में आर्यसमाज द्वारा और एक दूसरे सज्जन द्वारा, जो हिन्दू-महासभा से हर महीने ५०) सहायता पाते हैं, कुछ काम हो रहा है, किन्तु वहाँ के स्थानीय नेताओं या संगठन-कर्ताओं द्वारा किसी तरह का ठोस काम नहीं हो रहा है, न सरकार ही इस ओर काफ़ी ध्यान दे रही है।

'समाज' (स्व०) लाजपतराय

मुस्लिम काल में हिन्दू-मुस्लिम समस्या

['त्यागभूमि' के लिए]

(१)

इस समय भारतवर्ष में हिन्दू मुस्लिम-एकता का प्रश्न प्रत्येक क्षेत्र में बाधायें उपस्थित कर रहा है। सुख शान्ति पाने के लिए, स्वराज्य प्राप्त करने के लिए, राष्ट्र में एकता की आवश्यकता को सब अनुभव कर रहे हैं, परन्तु इस एकता तक पहुँचने के लिए कोई सीधा मार्ग दिखाई नहीं देता। सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक एकता के लिए जब कोई प्रयत्न होने लगता है तब इस प्रकार की आवाजें सुनाई देती हैं कि भारतवर्ष में आजतक कभी भी धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक एकता स्थापित नहीं हुई, इसलिए इस समय उस एकता के लिए उद्योग करना निरर्थक है। भारतवर्ष में रहनेवाली जनता में हिन्दुओं और मुसलमानों की बड़ी संख्या है। दोनों जातियों की एकता ही भारतीय-राष्ट्र की एकता को पूर्ण कर सकती है! जबतक इन दो जातियों के अन्दर एकता या सद्भाव स्थापित नहीं होते, तबतक राष्ट्रीय एकता नहीं हो सकती।

कहा जाता है कि चिरकाल से हिन्दू-मुसलमान राजनैतिक अधिकारों के लिए, आपस में एक-दूसरे पर आक्रमण करते रहे हैं, चिरकाल से वे एक दूसरे के अनुयायियों को अपने-अपने गिरोह में लाकर, संख्या बढ़ाने का यत्न करते रहे हैं। दोनों एक दूसरे को काफिर और म्लेच्छ समझते आये हैं और दोनों के पारिवारिक जीवन एक दूसरे से नहीं मिलते। इस भावात्मक अविश्वास का भारतीय इतिहास के बिखरे हुए असम्बद्ध उदाहरणों से समर्थन करने का यत्न किया जाता है।

अंग्रेज़ी विदेशी शासन की विषैली अमन-चैन की बेसुध करने वाली परिस्थिति में कुछ लोग भारतीय इतिहास के बिखरे हुए असम्बद्ध उदाहरणों को याद कर, इस बात की दुहाई मचाते हैं कि हिन्दू-मुसलमानों का सम्बन्ध सॉंप-नेवले का-सा है। अपनी इस स्थापना को वर्त्तमान में तीसरी शक्ति के अप्रत्यक्ष इशारे से होने वाली घटनाओं (दंगे आदि) से पुष्ट किया जाता है, और कहा जाता है कि हिन्दू राज्य और मुसलमान-राज्य में से किसी एक में रहने की अपेक्षा अंग्रेज़ी राज्य में, यूरोपीय छत्र-छाया में, रहना अच्छा है। यह भाव, यह विचार, कुछ समय से अधिक बल पकड़ रहा है।

इस लेख में मुसलमानी शासन-काल के हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्धों का आलोचनात्मक विश्लेषण राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि-कोण से किया जायगा। किसी जाति या राष्ट्र के सामाजिक तथा धार्मिक सम्बन्धों में जबतक सहिष्णुता का भाव पैदा नहीं होता, तबतक वहाँ राजनैतिक एकता स्थापित नहीं हो सकती। लगभग ईसा की सातवीं सदी से मुसलमान भारतवर्ष में आने लगे थे। इसी समय से हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर सम्बन्ध होना प्रारंभ हुआ था। मुसलमानों का भारतवासियों से दो मार्गों से सम्बन्ध हुआ था। एक उत्तर की तरफ से और दूसरा पश्चिम की तरफ से। पश्चिम से आने वाले मुसलमान अरब थे। इनमें अरब जाति की स्वाभाविक तीव्रता विद्यमान थी, परन्तु व्यापारिक बुद्धि ने इनकी इस तीव्रता को मन्द कर दिया था। पश्चिम की तरफ से आनेवाले मुसलमानों के हृदयों में विजय तथा महत्वाकांक्षा की तृष्णा-ज्वाला नहीं धधक रही थी। इनमें व्यापार के साथ-साथ धार्मिक भाव काम कर रहे थे। इसलिए हम देखते हैं कि दक्षिण भारत के पश्चिमी घाट में तथा गुजरात में रहने वाले मुसलमानों में धार्मिक असहिष्णुता नहीं पाई जाती। गुजरात में जिन सुलतानों ने भयंकर अत्याचार किये थे वे उत्तर की तरफ से आने वालों में से थे। अरब में जिन लोगों ने इसलाम का झण्डा अरब से बाहर पहुँचाया

था, उनकी तीव्रता तथा धार्मिक अन्ध श्रद्धा को बढ़ानेवाले अनेक कारणों में से एक मुख्य कारण यह था कि उन्होंने आसानी से फ़ारस आदि देशों को इसलाम में दीक्षित कर लिया था। मदीना, दमिश्क और बग़दाद के ख़लीफ़ाओं की सेनाओं ने भारत के सिवा अन्य देशों में जो कामयाबी हासिल की थी उसका मुख्य कारण यह था कि उन देशों के अन्दर मुक़ाबला करने की शक्ति नहीं थी। उनके पास कोई ऐसा ऊँचा दर्शन या सिद्धान्त नहीं था, जिसके प्रभाव से वे मुसलमानो के कट्टरपन को दूर करते। फिर भी यह बात इतिहास के विद्यार्थियों से छिपी नहो कि मदीना, दमिश्क और बगदाद के खलीफाओं में क्रमश स्थानीय सभ्यता के कारण तीव्रता मन्द होती गई थी। परन्तु बगदाद के खलीफा के राजदूतों ने अफ़ग़ानिस्तान तथा गजनी आदि के पहाडी तीव्र स्वभाववाले सिपाहियों को इसलाम मे दीक्षित कर भारतवासियों के सामने इसलाम को खूनी इसलाम के रूप मे प्रकट करने की भूमिका बांधी थी। इसलाम के यही नये खूंख्वार अफ़गान सिपाही आपस मे ईर्ष्या-वश लड़ते हुए भारत की तरफ़ बढ़े थे। भारत के शिथिल राष्ट्र में इन सिपाहियों को राजा बनने का मौका मिला। इनमें धार्मिक कट्टरपन की अपेक्षा राजनैतिक महत्वाकांक्षा की प्रबलता थी। इस राजनैतिक महत्वाकांक्षा को पूरी करने के लिए इन्होने मज़हबी कट्टरपन को स्वीकार किया था। परन्तु धीरे-धीरे यह कट्टरपन भी दूर होता गया था। नीचे लिखा उदाहरण हमारे इस भाव को स्पष्ट करेगा।

क़ासिम के सिन्ध को जीत लेने पर यह प्रश्न उठा कि जीते हुए शहरो मे ब्राह्मणों तथा उनके टूटे हुए मन्दिरों के साथ क्या व्यवहार किया जाय? विजित प्रजाओं के धार्मिक अधिकारों को कुचल दिया जाय या उनकी रक्षा की जाय? क़ासिम ने बग़दाद के ख़लीफ़ा से इस सम्बन्ध में सलाह लेना उचित समझा। खलीफा ने इसका जो जवाब दिया वह प्रसिद्ध इतिहासज्ञ एलफिन्स्टन के शब्दों में इस प्रकार है (पृ० ३०१).—

The answer was that as the people of the towns in question had paid tribute they were entitled to all the privileges of subjects; that *they should be allowed to rebuild their temples and perform their rites, that the land and money of the Brahmins be restored, and that three per cent. on the revenue* which had been allowed to them by the Hindu Government should be continued by the Musalmans.

अर्थात् 'क्योंकि प्रस्तुत शहरों के लोगो ने कर दे दिये हैं, इसलिए वे प्रजा के सब अधिकारों के अधिकारी हैं, उन्हे अपने मन्दिर फिर से बनाने और अपने संस्कार करने का अधिकार है। मुसलमानों को ब्राह्मणों की सम्पत्ति और भूमि फिर दे देनी चाहिए और उनसे हिन्दू शासन के अनुसार विहित तीन प्रति शत कर लेते रहना चाहिए।"

यहां इतिहासज्ञ पृष्ठ ३०१ पर लिखते हैं—

Their chiefs, from fanatical missionaries became politic Governors' more intent on the aggrandizement of their families than the propogation of their faith, and by the same degrees they altered from rude soldiers to magnificent and luxurious princes, who had other occupations besides war, and other pleasures as attractive as those of Victory.

अर्थात् "उन (मुसलमानों) के सरदार कट्टर धर्म-प्रचारकों से राजनैतिक शासक बन गये थे। अपने धर्म-प्रचार की अपेक्षा उनका ध्यान अपने परिवार की वृद्धि की तरफ़ झुक गया था, और वे उद्धत सिपाहियो से शानदार और विलासी राजाओं में बदल गये थे तथा वे युद्ध के सिवा दूसरे काम भी करते थे और विजय के समान ही दूसरे सुख भी उनके लिए आनन्ददायक थे।"

क़ासिम के आक्रमण के बाद १०वीं सदी तक मुसलमानों ने भारत पर विशेष आक्रमण नहीं किये, केवल सिन्ध तथा पंजाब के कुछ शहरों व पश्चिमी गुजरात में इनका असर था। उस समय तक हिन्दुओं तथा मुसलमानों के

पारस्परिक सम्बन्ध जटिल नहीं हुए थे। इन तीन सदियों मे अरब के मुसलमान व्यापारियो का भारत से जो सम्बन्ध रहा था उसके विषय मे अरब के यात्रियो के वृत्तान्त तथा दक्षिण-भारत के इतिहास मे निम्नलिखित उदाहरण दिये जाते है जिनसे पता लगेगा कि इस समय के मुसलमान तथा हिन्दू आपस मे किस तरह रहते थे।

८५७ ई० मे सुलेमान अरब-यात्री भारत में आया था। उसने भारत की राजनैतिक तथा साधारण अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है,—The Balhara is Partial to the Arabs and his subjects follow his example अर्थात्, बल्हर अरबों का पक्षपात करता है और उसको प्रजा उसका अनुकरण करती है। बल्हर राष्ट्रकूट की राजधानी के राजा बल्हर कहलाते थे। यही यात्री कन्नौज का वर्णन करता हुआ लिखता है कि कन्नौज के राजा ने समय-समय पर आने वाले मुसलमानों को मुल्तान तक पीछे हटाया था। यही यात्री लिखता है कि जब कभी मुसलमान सरदार या सिपाही कन्नौज आदि के राजाओं के साथ लड़ते हुए अपने आपको अशक्त पाते थे, तब वे सूर्य की मूर्ति को तोड़ने का भय दिखा कर, हिन्दू सेनाओं को पीछे हटाते थे। इससे मालूम होता है कि हिन्दुओं के अन्दर कायरतापूर्ण धर्म-भीरुता घर कर रही थी। परन्तु देश की अवस्था अच्छी थी, राजपूताने में नये क्षत्रिय राजवंश उत्थान कर रहे थे, अतः यह कमजोरी इस समय कोई बुरा परिणाम नही लाई।

दक्षिण मे ८ वीं सदी मे ईरान के मुसलमान आये थे। ये लोग यहाँ हाथी दांत तथा भिन्न-भिन्न तरह के मसालों का व्यापार करते थे। इसी सिलसिले मे पश्चिम के किनारे पर मुसलमान भारी संख्या मे भारत में आकर बसे। इन लोगों के कारण यहाँ मिश्र आबादी बस गई। जियाउद्दीन ऐतिहासज्ञ का उद्धरण देते हुए आर्नल्ड ('Preaching of Islam') मे लिखते है—"मुसलमान व्यापारियों और हिन्दूशासकों के बीच बहुत अच्छे सम्बन्ध थे! हिन्दू राजा उन्हें अपने संरक्षण में रखते थे, ताकि उनके द्वारा व्यापार की वृद्धि हो और देश की सम्पत्ति बढ़े और मुसलमानो के अपने धर्म के प्रचार—छोटी जाति के हिन्दुओं को मुसलमान बनाने—में कोई बाधा उपस्थित नही करते थे।

मालाबार मे इस्लाम का प्रचार शान्तिमय उपायों से हुआ था। वहाँ के लोग ऊँची जाति के अत्याचारों से तंग थे। कालीकट के जमोरिन ने समुद्री व्यापार बढ़ाने के लिए मच्छीमारो को इस्लाम स्वीकार करने की छुट्टी दी थी।

हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य या पारस्परिक ईर्ष्या का आरम्भ १०वीं सदी से होता है। १० वीं सदी मे अफगानिस्तान तथा गजनी के नये तीव्र स्वाभाव वाले मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण करने शुरू किये। हिन्दू-मुसलिम-वैमनस्य पर दो दृष्टियो से विचार करना चाहिए। प्रथम शासक-वर्ग या राजवंशो की दृष्टि से, और दूसरा जनता की दृष्टि से। इस समय भारतवर्ष मे श्रेणीतंत्र(Aristocratic) अथवा जागीरदारी प्रथा (Feudal system of Government) का समय था। जनता और शासक-वर्ग मे एक ही मातृभूमि के पुत्र होने के सिवा दूसरा कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। राजशक्ति तथा प्रजाशक्ति एक दूसरे से निरपेक्ष थी। प्रजा या जनता गाँवों मे अपनी पंचायतो मे मस्त थी। देश मे राजशक्ति किस के हाथ मे है, इसकी उन्हें विशेष चिन्ता नही थी। जबतक कोई राजशक्ति उनके कार्यक्षेत्र मे हस्तक्षेप नहीं करती थी तबतक वे बेफिक्र रहते थे। जाति तथा उपजातियों के पैदा हो जाने से भारत के क्षत्रिय असंगठित थे। उनको एक सूत्र मे पिरोनेवाला कोई भाव न था। विदेशी आक्रमणकारी यह समझते थे कि किसी प्रान्त व देश को जीतने के लिए सारे नगर-वासियो का जीतना जरूरी नहीं है, केवल उसके राजा तथा राज-दरबारियो का जीतना ही पर्याप्त है। समय-समय पर साधारण जनता को अपने साथ मरने के लिए वे उनके धार्मिक भावों को उत्तेजित करने की कोशिश करते थे। परन्तु भारत मे भिन्न-भिन्न धार्मिक भावों (वैष्णव, शैव, शाक्त, आदि) के कारण जनता को किसी एक धार्मिक भाव के लिए उत्साहित करना मुश्किल था। परन्तु विदेशी आक्रमणकारियों मे धार्मिक मत-भेद न था। गजनी अफगानिस्तान तथा फारस की जनता इसलाम के नाम पर एक हो जाती थी। हिन्दुस्तान के राजाओं के पास कोई ऐसा सिद्धान्त न था, जिस के द्वारा वे छोटी स्थिति के लोगों को ऊंची स्थिति तक पहुँचने का मौका दें। इस-

लिए इस काल के इतिहास का अध्ययन करते हुए हमें यह याद रखना चाहिए कि जिन लड़ाइयों या युद्धों का हम भारतीय इतिहास में वर्णन पढ़ते हैं, वे युद्ध केवल राजाओं में ही हुए थे, जनता का उनसे विशेष सम्बन्ध न था।

भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् श्री चिन्तामण विनायक वैद्य (Mediaeval Hindu India) की तीसरी जिल्द में लिखते हैं—

"राजवंशों ने, विशेषतः राजपूतों ने अपने आपको केवल अन्य वर्णों से ही नहीं परन्तु कृषि करने वाले क्षत्रियों से भी बहुत अधिक अलग कर लिया था। इसलिए जनता राजनैतिक बातों से उदासीन होगई थी। उस समय यह माना जाता था कि राज्य तो राजा की निजी सम्पत्ति है। यदि राजपूत राजाओं ने अपनी सम्पत्ति खो दी, तो जनता अपनी राजशक्ति को दूसरे व्यक्ति के प्रति चाहे वह कोई हो, बदल देती थी। शासक ही अपने अधिकारों की रक्षा करते थे।'

राजपूताने में प्रत्येक वंश के प्रसिद्ध सरदार इस ठकुराई के उदाहरण थे। इसलिए वहां भिन्न-भिन्न राजवंश आपस में लड़ते रहते थे। मुसलमान आक्रमणकारियों की लड़ाई इन राजाओं तथा उनके दरबारियों से थी। पराजित होकर वे राज तथा उनके दरबारी विजेताओं के अधीन सरदार बन गये। राजपूतों के शासन-काल में राष्ट्र की यह अवस्था शोचनीय थी ही, परन्तु मुसलमानों के शासक बनने पर यह अवस्था देश के लिए और भी अधिक खतरनाक बन गई। राजा या बादशाह अपनी राजनैतिक शक्ति को दृढ़ तथा सुरक्षित रखने के लिए जनता के हितों की उपेक्षा करते रहे। जनता में राजनैतिक उदासीनता दिन दिन बढ़ती गई। औरंगज़ेब के शासन-काल में भारत में टैवर्नियर तथा बर्नियर नाम के यात्री आये थे। उनके यात्रा-वृत्तान्तों के उद्धरण हमारी इस स्थापना को पुष्ट करते हैं।

जर्मन यात्री विलियम मैथोल्ड भी गोलकुण्डा की रियासत का वर्णन करते हुए राजा और प्रजा की पारस्परिक निरपेक्ष वृत्ति का उल्लेख करता है।

इस काल के इतिहास-लेखक प्रायः मुसलमान ही हुए हैं। ये मुसलमान इतिहासज्ञ मुसलमान शासकों की राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं को मज़हबी रंग देने में कमी नहीं करते थे। महमूद तथा बाबर आदि को गाज़ी सिद्ध करने में, उनको कट्टर मुसलमान चित्रित करने में ही इन्हें आनन्द आता था। इसलिए मुसलमान इतिहासज्ञों द्वारा लिखे गये इतिहास-ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए हमें आक्रमणकर्ताओं की विजय यात्राओं के अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णनों का सावधानी से अध्ययन करना चाहिए। ऐसा न करने का परिणाम यह है कि आज हम यह समझते हैं कि भारत में जितने भी मुसलमान बादशाह आये थे वे सब इसलाम के लिए मरने-मिटने वाले थे। हम यह नहीं सोचते कि यदि वे सच्चे मुसलमान होते तो आपस में ही क्यों लड़ते? गज़नी, गोरी, दास तथा अफ़गान और सब मुसलमान राजवंश अपने से प्रथम मुसलमान व राजवंश को नष्ट कर के ही निर्माण किये गये थे। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने राजपूताने के इतिहास (प्रथम भाग) में यह स्पष्ट किया है कि बुतशिकन मुसलमान इतिहासज्ञों ने सोमनाथ की मूर्ति का जो वर्णन किया है, वह अयथार्थ, मनगढ़न्त तथा मुसलमान ऐतिहासिकों की झूठी आत्मश्लाघा का द्योतक है।

हमें यह भी देखना चाहिए कि इस शासन-काल के मुसलमान बादशाहों का बाहर के मुसलमान बादशाहों तथा मुसलमान राष्ट्रों के साथ क्या सम्बन्ध था। क्या वे बाहर के मुसलमान राष्ट्रों की तरफ़, या मक्का-मदीना की तरफ़ सदा टकटकी लगाये रहते थे? क्या इन बादशाहों ने अरब देश के इसलाम को भारतीय इसलाम का रूप दिया था? यदि दिया था तो भारत के रीति-रिवाजों ने इसलाम पर क्या प्रभाव डाला?

मुसलमान राजवंशों तथा भारत के हिन्दू राजवंशों के पारस्परिक युद्धों का समालोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने से पहले 'सूचिकटाह न्याय' से उस काल की जनता की मनोवृत्ति या पारस्परिक स्थिति को स्पष्ट करना ठीक होगा। राजसत्तावाद के ज़माने में लेखक तथा इतिहासज्ञ राजाओं को खुश करने का यत्न करते थे और जनता की तरफ़ विशेष ध्यान नहीं देते थे। इसलिए हमें स्वतन्त्र रूप से इस विषय पर विचार करना होगा। इस विचार के लिए हमारे पास दो मुख्य साधन हैं—

(१) इस काल का नैतिक साहित्य—हिन्दी तथा फारसी का साहित्य और संस्कृत साहित्य के अवशेष ।

(२) भारतवर्ष में आनेवाले भिन्न-भिन्न यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त ।

इस काल में सबसे पहले हमें अलबेरूनी यात्री की पुस्तक मिलती है उसने भारतीय साहित्य-वाङ्मय पर प्रकाश डालने में कमी नहीं की, परन्तु उसने जनता के, हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला । उसने इस विषय में विशेष नहीं लिखा कि महमूद ग़जनी ने इसलाम का जो प्रचार किया था, उसका साधारण जनता पर क्या असर हुआ! उसने केवल यही लिखा है कि हिन्दू मुसलमान आपस में एक दूसरे को समझने का यत्न नहीं करते—इसीलिए थोड़ी-बहुत अशान्ति दिखाई देती है, साहित्य-द्वारा ही वे एक-दूसरे को समझ सकते हैं । इस समय के यात्रियों के वृत्तान्त से पता चलता है कि साधारण जनता न तो कट्टर हिन्दू ही थी न कट्टर मुसलमान । जैसी राजशक्ति होती थी जनता वैसी ही बन जाती थी । जनता में पारस्परिक मज़हबी मतभेद के कारण होने वाले दंगों का वर्णन तत्कालीन भारतीय इतिहास में नहीं मिलता । इस दीर्घ काल के इतिहास में केवल एक स्थल ऐसा आया है, जहाँ दुर्गा-पूजा तथा मुहर्रम के जलूस के कारण दंगा हुआ हो । फ्रेंच सेना के अफसर एल. डी. ग्रैण्ड पी ने Voyage in the Indian ocean and to Bengal (१७८९-१७९०, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५० पर) लिखा है कि हिन्दू और मुसलमानों में दुर्गा माता और मुहर्रम के त्यौहार के एक दिन आजाने से दोनों एक दूसरे के लिए रास्ता नहीं छोड़ते थे । इसका जिक्र करते हुए लेखक लिखता है कि दोनों ने एक दूसरे के साज-सामान को तोड़ दिया और स्थानीय हाकिम ही इसको शान्त कर सके ।

जनता में दंगे न होने के तीन कारण थे ।

(१) हिन्दू मुसलमान दोनों नागरिकों के पास आत्म-रक्षा के साधन थे । प्रान्तीय-शासकों की सहायता की उन्हें आवश्यकता न थी, न ही शासकों को फुर्सत थी । हिन्दू मुसलमान राजाओं के पारस्परिक झगड़ों की जाँच राजधानी तथा उसके आसपास तक ही रहती थी । वहाँ भी जनता की उदासीन वृत्ति इन दंगों को पैदा नहीं होने देती थी ।

(२) यदि कोई दिलचले मुसलमान तथा हिन्दू एक दूसरे से द्वेष करते थे, तो उन्हें राजनैतिक स्वार्थों को सिद्ध करने पर तुले हुए, आपस में लड़ते हुए। हिन्दू राजाओं तथा मुसलमान राजाओं की सेना में भर्ती होकर बदला लेने का मौका मिल जाता था । यहाँ तक कि वे अपने शत्रु को एक पक्ष में देखकर उससे दूसरे पक्ष में, चाहे वह विधर्मी ही क्यों न हो, मिलना बुरा नहीं समझते थे ।

(३) हिन्दुओं के मुसलमानों को और मुसलमानों के हिन्दुओं को सहायता देने के अनेक उदाहरण मिलते हैं । उस समय कोई ऐसी तीसरी शक्ति न थी जो हिन्दू-मुस्लिम जनता को आपस में लड़ाकर स्वार्थ सिद्ध करने में दत्तचित्त हो ।

भीमसेन विद्यालङ्कार

अभिलाषा

(१)

करुणामय ! कर कृपा खोलदो
मेरे विमल विवेक विलोचन ।
मेरे जीवन में ऋषियों का
तप भरदो भव-भीति-विमोचन ॥

आर्यों के आदर्श मार्ग पर
मेरा हो प्रयत्न अवलम्बित ।
मेरे बहिर्जगत में मेरा
अन्तर्जीवन हो प्रतिबिम्बित ॥

(२)

मुझको निज भविष्य में हे हरि !
बना रहे विश्वास अचंचल,
तेरे अन्वेषण में हे प्रभु !
बीते मेरा एक-एक पल ॥

हाय ! कहाँ है वह दिन, जब मैं
प्रियतम की तलाश में चलकर,
आऊँगा घर पर न लौटकर,
फिर सुगंध की भाँति निकलकर ॥ *

रामनरेश त्रिपाठी

प्राचीन भारतीय उपनिवेश

['त्यागभूमि' के लिए]

(२)

कंदर्पधर्म महाराज के पश्चात् चम्पा देश के राज्यासन पर उनके पुत्र प्रभासधर्म आरूढ़ हुए। प्रभासधर्म महाराज का विशेष वर्णन शिलालेखों में नहीं मिलता। लेकिन इनकी बहन का वर्णन पाया जाता है। उसका विवाह वैदिक सत्यकौशिक स्वामी नाम के एक ब्राह्मण के साथ हुआ था। इस ब्रह्म-क्षात्र-संयोग से भद्रेश्वरवर्मा, अनंगरूप और विश्वरूप नाम के तीन पुत्र हुए। पर न इन तीनों में से कोई राजा हुआ और न इनकी संतति में से ही। चीनी इतिहास-लेखक कहते हैं कि प्रभासधर्म महाराज अपने सेनापति के हाथ मारे गये और कुछ दिनों तक चम्पा देश में एक प्रकार की अराजकता ही रही। शिलालेख से पता चलता है कि भद्रेश्वरवर्मा के पुत्र जगद्धर्म किसी कारणवश भवपुर (कंबोज की राजधानी) गये थे।

इस स्थान पर शिलालेख का लेखक कंबोज देश का कुछ इतिहास देता है, जो ध्यान में रखने योग्य है। उसका कथन है कि द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा से एक शूल पाकर कौण्डिन्य नाम का एक ब्राह्मण कंबोज में आया और वह शूल उसने वहां स्थापित किया। उस स्थान पर सोमा नामक एक नाग-कन्या से कौण्डिन्य का विवाह हुआ। कहाँ ब्राह्मण कौण्डिन्य और कहाँ नाग-कन्या सोमा! पर 'भविष्यतोऽर्थस्य निमित्तभावे। विधेरचिन्त्यं खलु चेष्टितं हि।' इसके पश्चात् भववर्मा, उसके छोटे भाई महेन्द्रवर्मा, तथा महेन्द्रवर्मा के पुत्र ईशानवर्मा, इन तीन कंबोजाधीश राजाओं का वर्णन देकर शिलालेख का लेखक कहता है कि ईशानवर्मा की लड़की शर्वाणी का जगद्धर्म से विवाह हुआ और इनका पुत्र प्रकाशधर्मा चम्पापुर की गद्दी पर बैठा।

प्रकाशधर्मा ने राज्याभिषेक के समय विक्रान्तवर्मा नाम धारण किया। इस प्रकाशधर्मा उर्फ़ विक्रान्तवर्मा का राज्य एकबार फिर बड़ा शान्तिपूर्ण हुआ। इसने कई देवालयों की स्थापना की। प्रभासेश्वर नाम के शिवलिंग की प्रतिष्ठा की। 'महेश्वर-सखा' कुबेर का भी एक देवालय बनवाया। 'अनादि निधन अशेष भुवन गुरु भगवान् पुरुषोत्तम विष्णु' का एक पूजास्थान स्थापित किया और परमेश्वरीदेवी की भी एक मूर्ति स्थापित की। इसके शक संवत् ५७९ से लेकर ६०९ तक के लेख मिलते हैं। इसके लेखों की एक विशेषता यह है कि उनमें केवल वर्ष और महीने ही नहीं दिये गये हैं बल्कि पूरा पंचांग उतारा गया है। 'त्यागभूमि' का कोई भी ज्योतिर्विद पाठक नीचे दी हुई बातों की जाँच करके उनकी प्रामाणिकता निश्चित कर सकता है। ईशानेश्वर महादेव की स्थापना का काल यों दिया हुआ है—

"आनन्दाम्बर षट्शत नियमित शकभूभुजागते समये,
शुचि शुक्ल द्वैत दिन प्रपन्न सुपुनर्वसु न्यस्ते ॥
सिंह निविष्ट सुरगुरौ वृषभोपगतार्के मीनसोमसुते
सौरा प्यासित तौलि मेषायाते सुरेन्द्रगुरौ ॥

---

* अप्रकाशित 'स्वप्न' से

उपचयकृद्रविवारे पुष्मायातोपकारिचद्रमाभि

विश्वमहूर्नापक्षा त्रयोदशी नालिकाममित ॥"

प्रकाशधर्मा-विक्रांतवर्मा के बाद उनका पुत्र नरवाहन-वर्मा राजा हुआ। उसके समय का केवल एक शिलालेख पाया जाता है। अपने पिता की इच्छानुसार इसने एक वेदी पर स्वर्ण रौप्यमयी लक्ष्मी की एक प्रतिमा स्थापित की थी। इसके बाद इसका पुत्र विक्रांतवर्मा (द्वितीय) राजसिंहासन पर बैठा। इसका भी केवल एक ही शिलालेख मिलता है, और वह भी अत्यन्त अपूर्ण। बीच-बीच में केवल कुछ अक्षरों का पता लगता है। उन्हींसे यह जान पड़ता है कि इसने 'राजाधिराज' उपाधि धारण की थी। इसके समय में 'वाम भूतेश्वर' नामक महादेव की भी स्थापना हुई। इसने चीनी सम्राट् के दरबार में कई बार अपने मंत्रियों को भेजा, जिसका वर्णन चीनी इतिहास में अच्छे ढंग से किया गया है। परन्तु इसके पश्चात् चम्पापुरी का राज्य इस वंश में न रहा। शक संवत् ६५३ में इसका अन्त हुआ। इसके बाद के सब लेख विशेषतः चम्पादेश के कुठार नामक भाग में मिलते हैं और इन लेखों में भिन्न पूर्वपीठिका (वंशावली) दी हुई है। इसलिए अब हम उस पीठिका पर विचार करेंगे।

कंबोज राजाओं की पूर्वपीठिका का सम्बन्ध अकेले अश्वत्थामा से था। पर उस नये वंश ने अपनी पूर्वपीठिका का काल और भी पहले का बतलाया है। इसी वंश के एक शिलालेख में यों लिखा मिलता है कि इस कुठार देश में द्वापर युग के ४९११ वर्ष बीत जाने पर विचित्रसगर नाम के राजा ने शिवजी के मुखलिंग की स्थापना की थी। बहुत सम्भव है कि गुप्त राजाओं के राज्य में भारतवर्ष में संस्कृत-ग्रंथों का और विशेषतः पुराणों का जो पुनरुद्धार हुआ, उसी-का प्रभाव इस उपनिवेश तक पहुँचते हो और वहाँ उपर्युक्त कल्पना की गई हो। इस विचित्र सगर राजा का और कुछ पता नहीं मिलता। केवल उक्त मुखलिंग की स्थापना से उसका सम्बन्ध था। परन्तु इस कुल के महाराज पृथिवीन्द्र-वर्मा ऐतिहासिक महत्व के व्यक्ति थे। विक्रांतवर्मा (द्वितीय) के पश्चात् चम्पा देश में जो अराजकता फैली उसका अन्त करके यह अपने स्वपराक्रम से राजा हुए। प्रशस्ति-लेखक लिखता है कि इन्होंने देश में फैले हुए चोरों और लुटेरों को मार भगाया तथा कई दिन तक सम्पूर्ण चम्पा देश पर राज्य किया और अन्त में इन्द्रलोक को प्रयाण किया।

पृथिवीन्द्रवर्मा के कोई पुत्र न था। इनका भागिनेय (भाञ्जा), जिसका नाम सत्यवर्मा था, इनके बाद राजा हुआ। पूर्वोक्त मुखलिंग शकर ही इस कुल के कुलदेवता थे। पर इस देवालय पर जावा द्वीप से नावों में बैठकर आये हुए शत्रुओं ने चढ़ाई की, मंदिर को तोड़ा फोड़ा और मुखलिंग उठाकर वे लोग मंदिर के सब द्रव्य के साथ भाग गये। इस समाचार के मिलते ही सत्यवर्मा ने अपने योद्धाओं को एकत्र किया और अपने जहाजों का लंगर उठाकर उन लुटेरे लोगों का पीछा किया। समुद्र पर ही इसने उनसे युद्ध किया और अपने शस्त्रास्त्रों का जौहर दिखाकर उन कृष्णवर्ण मनुष्य-भोजी लोगों का पराभव किया। भारतीय आर्यों के समुद्र पर लड़ाई करने का इससे प्राचीन उदाहरण शायद ही कोई हो। पर जिस मुखलिंग की प्राप्ति के लिए सत्यवर्मा ने इतने कष्ट उठाये, वह हाथ न आया। लुटेरों के जहाजों के साथ शिवजी का मुखलिंग भी समुद्र में डूब गया। यह घटना शक संवत ६९६ में हुई। अंत में सत्यवर्मा ने उसी प्राचीन देवस्थान का जीर्णोद्धार करने का विचार किया और शक संवत ७०३ में वैशाख शुक्ल ७ को इसने वैसे ही मुखलिंग की उसी स्थान पर बड़े समारोह से स्थापना की। तब से उसका नाम मुखलिंग के बजाय श्री सत्यमुखलिंग रक्खा गया।

यद्यपि सत्यवर्मा ने जावा के लोगों को परास्त किया तथापि जो कुछ लूट का माल वे अपने साथ देश ले गये उसका चाट उन्हें जरूर लगी। सत्यवर्मा की मृत्यु के बाद शक संवत् ७०९ में उन्हीं लोगों ने फिर चम्पा पर चढ़ाई की और इस बार कुठार भाग तक ही नहीं किन्तु ठेठ चम्पा-नगर तक बढ़कर सम्पूर्ण चम्पा देश के मुख्य देवालय 'भद्रेश्वर' को भी जला दिया। इस समय सत्यवर्मा के छोटे भाई इन्द्रवर्मा चम्पा के राजा थे। यह भी बड़े पराक्रमी थे। शत्रुओं को फिर से भगाकर इन्होंने राज्य में शान्ति स्थापित की और भद्रेश्वरजी का मन्दिर बनवा कर शक संवत् ७११ में फिर से ईश-स्थापना की। शिवजी का नाम भद्रेश्वर से बदल कर इन्द्रभद्रेश्वर हो गया। मन्दिर की सेवा के लिए केवल गाय, घोड़े और आदमी ही नहीं

किन्तु अन्तःपुर-निवासिनी दासियाँ भी दी गई। इनके राज्य में फिर से प्रजा सुखी हुई। इन्होंने यज्ञ किये और वर्णाश्रमधर्म की भली-भांति स्थापना की। इन्द्र-महेश्वर के सिवा वीरपुर में इन्द्र-भोगेश्वर और सत्यवर्मा के निवास-स्थान में इन्द्र-परमेश्वर तथा एक शंकर-नारायण नाम के हरिहरेश्वर भी इन्हीं के हाथों प्रस्थापित हुए। इनका राज्य लगभग शक संवत् ७३० तक रहा। (अपूर्ण)

डा॰ रामचन्द्र दिवेकर

बृहत्तर भारत

['त्यागभूमि' के लिए]

(४)

कम्बोज का जयवर्मन (द्वितीय)

जयवर्मन द्वितीय के कम्बोडिया राज-सिंहासन पर आरूढ़ होने के साथ ही (शक संवत् ७२४, सन ८०२ ई०) उस देश के इतिहास के एक बहुत ही धुँधले काल का अन्त होता है, क्योंकि, वहाँ की आठवीं शताब्दी की घटनाओं का हमें कुछ भी पता नहीं चलता।

जयवर्मन किस प्रकार कम्बोडिया आया, इसका वर्णन हमें एक महत्वपूर्ण शिला-लेख से मिलता है। इस शिला-लेख में एक ऐसे वंश का हाल वर्णित है, जिसके वंशज कई शताब्दियों तक राज-पुरोहित रह चुके थे। (जयवर्मन द्वितीय अपनी मृत्यु के बाद परमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसके वंशजों में से अधिकांश की मृत्यु के बाद ऐसी ही उपाधियाँ रहीं।)

"राज-पुरोहितों का उक्त वंश इन्द्रपुर जिले के भद्रयोगी गाँव में रहता था। ऐसे समय महाराज परमेश्वर (मृत्यु के बाद जयवर्मन द्वितीय का नाम) जावा से इन्द्रपुर में राज्य करने आये। वहाँ उक्त ब्राह्मण वंश का मुखिया—शिवकैवल्य—महाराज परमेश्वर का राज-पुरोहित बना। ....तब महाराज परमेश्वर ने इन्द्रपुर छोड़ दिया और अपनी नई राजधानी हरिहरालय में राज्य करने चले गये। शिवकैवल्य भी सकुटुम्ब इसी नगर में आ बसा। इसके बाद महाराज ने अमरेन्द्रपुर नाम का शहर बसाया और शिवकैवल्य वहाँ भी महाराज की सेवा के लिए गया। वहाँ से महाराज महेन्द्र पर्वत में राज्य करने चले गये और शिवकैवल्य भी वहीं रहने लगा। यहाँ जनपद से हिरण्यदास नाम का एक ब्राह्मण आया, जो तन्त्र-शास्त्र-विशारद था और जिसे महाराज ने एक ऐसी पूजा-विधि के लिए बुलाया था, जिससे कम्बोज देश फिर कभी जावा की परतन्त्रता में न रह सके और महाराज के वंश में एक चक्रवर्ती सम्राट् उत्पन्न हो।" उस ब्राह्मण ने देव-राज (सम्भवतः एक शिव-लिंग) की प्राण-प्रतिष्ठा की और शिवकैवल्य को विनाशिख, नयोत्तर, सम्मोह और शिरश्छेद की तान्त्रिक क्रियायें एवं देवराज की पूजन-विधि भी सिखलाई। बाद में यह देव-राज राज्य के अधिष्ठाता-देवता बने और शिवकैवल्य के वंशज इन 'देव-राज' के वंशागत पुजारी हुए।

सम्भव है, जावा—जहाँ से महाराज जयवर्मन आये थे—सुमात्रा के श्रीविजय स्थान से मिलता-जुलता कोई स्थान हो। कम्बोडिया में बस जाने के बाद जयवर्मन ने विदेशी शासन का जुआ उतार फेंका।

इन महाराज ने एक-के-बाद-एक जो चार राजधानियाँ बनाईं, उनके सुविशाल एवं सुन्दर भग्नावशेष आज भी पुरातत्ववेत्ताओं को आश्चर्य में डालते हैं। 'प्र: केतु मी ली' (स्वामि केतुमाला) पौराणिक के नाम से कंबोडिया-वासियों के हृदय में जयवर्मन द्वितीय की स्मृति आज भी ताजा बनी हुई है। वर्तमान कम्बोडिया-वासी देश के कई भव्य एवं प्राचीन देव-मन्दिरों को जयवर्मन द्वारा बनवाये हुए बतलाते हैं। वहाँ की जन-गाथा के अनुसार केतुमाला (यानी पौराणिक जयवर्मन) इन्द्रपुत्र थे। उनके माने हुए पिता एक महावत कहे जाते हैं, जिन्हें राज के एक हाथी (?) ने देश की अराजक दशा मे वहाँ का राजा चुना था। इसी समय किसी निर्धन चीन-वासी के उद्यान से फूल तोड़ लेने के अपराध पर इन्द्र की एक अप्सरा मृत्युलोक में निर्वासित कर दी गई थी। उसे उस चीनी की पत्नी बनना पड़ा। इनके संयोग से एक बालक पैदा हुआ, जो 'पोपुसनोकर' कहलाया। इस पुत्र प्रसव के बाद अप्सरा स्वर्ग को लौट गई, लेकिन एक बार मृत्युलोक की यात्रा के अवसर पर उसके पुत्र ने उसे पकड़ लिया—क्योंकि, वह अपनी माँ की खोज में दूर-दूर भटक चुका था। पुत्र की प्रार्थना पर वह अप्सरा पोपुसनोकर को इन्द्र की सभा में ले गई—यहाँ उसने देव-पुत्रों से शिल्प-शास्त्र सीखा। इसी बीच इन्द्र भी अपने पुत्र केतुमाला को स्वर्ग मे ले आया था, जिससे स्वर्ग के ब्राह्मण उसे दीर्घायु होने की आशीष दे सकें। जब केतुमाला वापस कम्बोडिया पहुँचाया गया तो इन्द्र ने पोपुसनोकर को भी उसके साथ कर दिया, जिससे वह उसका 'विश्वकर्म्मा' बनकर रह सके। चीनी उद्यानपति और स्वर्ग की अप्सरा के इसी पुत्र ने महाराज केतुमाला की आज्ञानुसार कम्बोडिया के ये भव्य स्मारक बनाये थे।

इन्हीं जयवर्मन द्वितीय के समय से कम्बोडिया की वह पवित्र तलवार राजवंश मे अब तक चली आती है, जिसकी अहर्निश रक्षा का भार बाकुओं—प्राचीन ब्राह्मणों के वंशजों—पर है। इस तलवार की धार पर अगर थोड़ा भी जंग चढ़ जाता है तो वह देश के लिए भयंकर विपत्ति की सूचना समझी जाती है।

विजनराज चटर्जी

'मैं' 'तू' और 'वह'

(१)

साँझ हुई, चलना बाक़ी है महासिन्धु के पार
कैसे पहुंच मिले ऐसे मे उस कुटिया के द्वार !!
'तू' बत्ती, 'मैं' स्नेह बनूं, 'वह' बन जावे चिनगारी
इस असीम जल-पथ के ऊपर तब फैले उजियारी।

(२)

हम तीनो का हृदय-पात्र फिर दीपक बन तिर लेगा
इस ऊर्म्मिल सागर के उर पर निधड़क नृत्य करेगा।
पर यह तो बतला दो साधक ! चल देंगे जब ऐसे
उस निस्तब्ध निशा-बेला में पन्थ कटेगा कैसे ?

(३)

'तू' कहना राजा-रानी की कोई प्रेम-कहानी
'वह' बैठे-बैठे सुन लेगा नयनों में भर पानी
'मैं' केवल उद्भ्रान्त भाव से लहरें गिना करूँगा
और एक-दो उच्छ्वासों से मन की कसक हरूँगा।

'प्रियहंस'

शरत्पौर्णिमा

(१)

"कौन जानता था, जय मे भी पराजय होगी—किसी दु:खी हृदय के दो आँसू जीवन के समस्त जय-चिन्हो को क्षणभर में धो डालने के लिए पर्याप्त होंगे—किसीका मलिन मुख विजय-विकसित मुख-कमल पर तुषार का काम कर जायगा ? उस उल्लास को हृदय तक ले जाते समय किसीने न रोका, जिसमे पराजय—दु:ख—पश्चात्ताप के कीट थे ! आह, कितने अच्छे थे वे दिन, जब मैं सेनापति के पद पर सानन्द, शान्ति से, अपना समय बिताता था ! आज, सारा भारत मेरे इंगित पर नाचता है, राज-लक्ष्मी मेरे पैरों-तले मेरी चरण-रज का स्थान पाने के लिए लालायिता हो रही है, किन्तु, ... ! वही जयोल्लास, जो ईश्वर के भी सम्मुख मेरा मस्तक नत न होने देता था, इस समय मुझे दु:ख के गहरे सागर में गोते लगवा रहा है । मेरा सारा वैभव, मेरे इस क्षुब्ध हृदय को शान्ति देने के लिए, अपर्याप्त है । नन्द की सारी शक्ति भी जिस चन्द्रगुप्त को किंचित् भी विचलित न कर सकी, आज उसी चन्द्रगुप्त के पाषाण-हृदय में एक भोली बालिका की आर्द्र आँखो ने करुणा की जल-धारा—नहीं-नहीं, पश्चात्ताप की ज्वाला—निकलवा दी !"

शरत्पौर्णिमा का दिन था । आधी रात का समय । भारत के विजयी महाराज चन्द्रगुप्त—उस समय, जब एक निर्धन भिखारी गली में आनन्द की नींद सो रहा था—अपने राजप्रासाद के सुन्दर शयनागर में, क्षुब्ध हृदय से, करवटें बदलते हुए, उपर्युक्त मनस्ताप कर रहे थे ।

(२)

गुरु चाणक्य की कृपा से चन्द्रगुप्त नन्द-वंश का नाश करने में सफल हुए । महाराज नन्द अपने किसी निकटवर्ती राजा को जीत कर उसकी कन्या हर लाये थे । उसका नाम था 'विजया' ।

नन्दिनी विजया चन्द्रगुप्त के सम्मुख लाई गई । नन्द विजया के पिता के शत्रु थे । पहले वह उनसे घृणा करती थी, किन्तु, उनके अकाल-वध ने उस घृणा को शोक और सहानुभूति में परिणत कर दिया । उसे नन्द के वध का शोक पिता की पराजय से भी अधिक हुआ । उसने एक बार मलिन मुख से चन्द्रगुप्त की ओर देखा—और, फिर, आँखें नीची कर ली ।

महाराज ने देखा, विजया का मलिन मुख, पृथ्वी की ओर देखनेवाले आर्द्र नयन, बिखरे बाल, आभूषणहीन अंग, और सूखे अधर !

महाराज ने सोचा—"मैंने ही तो इस उत्फुल्ल पुष्प को रम्य वाटिका से तोड़कर प्रखर सूर्य से तप्त मरुभूमि मे फेंक दिया है—क्यो न इसे हृदय के अन्तरतम प्रदेश मे छिपा लूँ ? . छि -छि .. यह विचार मुझे राजसिंहासन पर शोभा नही देता ! अरे, यह तो नन्द की विजय-निशानी विजया है !" —महाराज क्रोध से काँप उठे !

महाराज ने फिर सोचा—"नंद मेरा शत्रु था, विजया तो नहीं । नंद काँटा था और विजया फूल है ! काँटा निकाल फेंका गया, फूल क्यो न आँखों से लगा लिया जाय ?"—महाराज के शरीर मे बिजली दौड़ गई !

"पर विजया अपना हृदय-पुष्प नंद की पाषाण-

प्रतिमा पर चढ़ा चुकी होगी !"—महाराज की आँखें लाल हो गईं।

"पर, हाय, मेरा हृदय कहता है, जिस फूल को तोड़ लिया, उसे मरुभूमि में तपने को न डालूँ—उसे हृदय का हार बना लूँ।"

महाराज विचार में मग्न थे। सेनापति, जो विजया को लिये खड़ा था, बोला—"महाराज, यह विजया, जिसे नंद जीतकर लाये थे, श्रीचरणों में उपस्थित है। क्या आज्ञा है ?"

महाराज की विचार-शृंखला टूट गई। वह चौंक कर बोले—"इन्हें हमारे महल में आदर के साथ रक्खो।"

महाराज आज उदास थे। इसी रात को महाराज वह मनस्ताप कर रहे थे। आज ही शरत्पौर्णिमा थी।

(३)

चंद्रगुप्त ने प्रायश्चित्त करना चाहा—नंद-वंश को नष्ट करने का और नंद को मार कर विजया के हृदय में भारी चोट पहुँचाने का ! क्या करना होगा ?—इस प्रश्न का उत्तर सोचने में उन्हें अधिक समय न लगा। उन्होंने सोचा—"विजया को अपनी वह चीज सौंप दूँगा, जो युद्ध में घर पर रख जाता था, जिसका नंद-वंश नष्ट करते समय जरा भी प्रयोग न किया था और जिसे पाने के लिए राजकुमारियाँ ईश्वर से दिन-रात प्रार्थना करती रहती हैं, वही—'महाराज चंद्रगुप्त का हृदय' !"

× × ×

विजया चंद्रगुप्त को चाहती थी, चंद्रगुप्त विजया को ! पर चन्द्रगुप्त सोचते थे कि विजया उन्हें क्यों चाहने लगी—उन्होंने ही तो उसके हृदय पर, नंद को मारकर, भारी आघात पहुँचाया है !

विजया सोचती थी कि महाराज चंद्रगुप्त की प्रेमपात्री बनना उसके भाग्य में कहाँ ?

आह, क्या ही अच्छा होता, यदि उनमें से कोई अन्तर्यामी होता ! जरा मालूम होते ही वह पर्दा, जो उन्हें अलग किये हुए था, फट जाता। किन्तु. . .

(४)

मध्य-रात्रि की हलकी हवा कोमल गति से चल रही थी। कभी-कभी उसका कोमल झोंका प्रासाद के कठोर प्राचीर का स्पर्श कर सिहर उठता था। ऐसे समय, चाँदनी से धुले हुए पथ पर, एक युवती अकेली चली जा रही थी। उसके प्रत्येक पदक्षेप में करुण शिथिलता थी, और प्रत्येक उच्छ्वास में विवश वेदना।

नदी के समीप आकर युवती रुक गई। उसने एक बार सजल नयनों से स्तब्ध प्रासाद की ओर देखा, और दूसरी बार कल-कल-कल्लोलिनी स्रोतस्विनी की ओर। उसके उच्छ्वासों की अस्फुट भाषा में मानो यह रव निकल रहा था—"हाय री उलझन, मर जाने पर भी उलझी ही रहेगी ? कैसी अभागिनी हूँ मैं ! नंद . आश्रय पर पिता की पराजय निछावर करके भी सुखी न रह सकी ! चंद्रगुप्त के चंद्रमुख ने, बीच में आकर, हृदय-सागर में कैसा निष्ठुर ज्वार उत्पन्न कर दी, जिसमें पड़ कर सारा अपमान-सारा आघात भूल गई ! किन्तु, क्या मिलनोन्मुखी ज्वार हजारों बार बढ़-बढ़ कर भी चंद्र का स्पर्श पा सकी ? नहीं ! इसी 'नहीं' में यह जीवन अब लीन हुआ चाहता है ! जिसपर प्राणों का सार वार चुकी थी, उसे अच्छी तरह . . . . हाय. . . . अच्छी तरह पहचान भी तो न पाई ! न जाने, जन्मान्तर में भी यह साध पूरी होगी या नहीं ! शत्रु की पालिता विजया को आदर से महल

में रख लेने में 'सम्राट् की दया' थी या 'प्रेमी का प्रेम'—यह आजतक समझ न पाई हूँ। यदि उस समय महल के बदले जेल में रक्खी गई होती तो कितनी सुखी रही होती मैं ? किन्तु..... . "

× × ×

मद-मंद वाहिनी मदाकिनी के मोहक प्रवाह मे कितनी स्निग्धता थी—कितनी शीलता और कितनी मधुरता थी। तिसपर चद्र-किरणो की अजस्र वर्षा ने उसे और भी उज्ज्वल बना रक्खा था।

महसा, एक छपाके का शब्द हुआ। अभागिनी विजया—प्रेम की एक मतवाली योगिनी हृदय मे प्रणय की अबूझ उलझन और अन्तरतम मे अज्ञान का एक पर्दा छिपाये—गंगा की गोद मे सदैव को लीन हो गई। संसार उसके हृदय का हाल क्या जानता था। हँसनेवाले चद्र को यदि उसके हृदय की करुणा का एक भी कण मिल जाता, तो क्या वह यों ही हँसा करता ?

उसके इस नवीन जीवन का आज ही आरम्भ हुआ था, और आज ही अन्त हो गया। आज शरत्पौर्णिमा थी।

(५)

बरसो बीत गये। सम्राट् चंद्रगुप्त के प्रासाद पर चंद्र कितनी बार आकर हँसी बखेर गया। मेघ कितनी बार आकर हृदय का भार हलका कर गये। पर महाराज के जीवन मे उदासी थी और हृदय मे दुःख का भार।

सुन्दरी विजया के सजल-सलज्ज नयनो की नत-चितवन अमिट रेखा बनकर उनके हृदय में अबतक अङ्कित थी। विभव और विलासो की अजस्र वर्षा भी क्या उसे मिटा सकती थी ? सम्राट् विकल थे और सचिव चिन्तित।

"सुप्रसिद्ध ग्रीक योद्धा सैल्यूकस से समर की संभावना है।"—सचिवो ने संवाद सुनाया। सम्राट् के वेदना-व्यथित मुख पर सहसा वीर-श्री की तेजस्वी रेखा दिखाई दी, नयनो मे अरुणिमा और अधरो मे स्फुरण। कम्पित भुजाये बारम्बार खड्ग का स्पर्श करने लगीं। रणभूमि मे जाने के पहले विजया की कोमल स्मृति को वीरता के कठोर कवच के अन्तराल मे यत्न से छिपाकर सम्राट् निश्चिन्त हो गये। उनकी विजया, अब, वहाँ एकान्त मे सुरक्षित थी।

युद्ध आरंभ हुआ। सैल्यूकस के भाग्य का पासा पलट गया। वह हार गया—न केवल धन, जन, सेना और साम्राज्य, न केवल मान, प्रतिष्ठा, यश और स्वाभिमान, अपितु अपनी प्राणो से प्रिय कन्या भी। ग्रीक विजय-लक्ष्मी के साथ-साथ सुन्दरी हैलेन सम्राट् चद्रगुप्त की सेवा मे उपस्थित की गई।

(६)

प्रासाद की खिड़किया खुली हुई थी। उनमे से राज-वैभव झाँक-झाँक कर झेंपती-सी चितवन से लहरो की लीला देख रहा था। कल्लोलिनी आज अपने ही मद में मस्त थी। उसका जल चाँदी से भी उज्ज्वल था और हिम से भी शीतल। उसकी हिलोरे किसी अज्ञात ताल पर थिरक रही थीं। मध्य-रात्रि की नीरवता मे तारागण की मृदु हँसी से मूक सगीत फूट रहा था और सुमनो से सौरभ।

सहसा एक खिड़की मे दो सजल नयन दिखाई पड़े। उनमें आकुलता थी, जलन थी, विषाद था, और उन्माद भी। सम्राट् कुछ देर तक नदी की ओर देखकर एकदम अधीर हो उठे। किसीकी स्मृति का दशन तीव्र से तीव्रतर हो उठा। हृदय से बरबस एक गहरा उच्छ्वास निकल पड़ा। उसके बाद, उसके बाद क्षण भर शान्ति रही।

दूसरे ही क्षण, महाराज चन्द्रगुप्त के नेत्र

अन्तर में तीव्र पिपासा भर कर नदी के वक्षःस्थल पर स्थिर हो गये। वह किसे खोज रहे थे ? किसे बाहर निकाल लाने के लिए लहरों के अन्तरतम मे गड़ जाना चाहते थे ?

❀ ❀ ❀

बड़े-बड़े नयनो के कोनों मे सकोच की रेखा और हृदय में धीमी धड़कन लेकर सरल हृदया हैलेन ने सम्राट् के शयनागार के द्वार पर हलका हाथ रक्खा। तनिक रुक कर, उसने धीरे-धीरे भीतर प्रवेश किया। देखा, सम्राट् गगा की ओर दृष्टि किये खिड़की में स्थिर बैठे हैं। हैलेन के आगमन से उनकी गहरी तन्मयता में जरा भी बाधा न पड़ी। प्रशांत महासागर की गंभीर स्थिरता में निर्झरिणी की मृदुल तरल तरगें क्या हल-चल मचा सकती थीं ? हैलेन विस्मित चितवन से चंद्रगुप्त की ओर देख रही थी और चंद्रगुप्त स्थिर दृष्टि से गंगा का ओर।

थोड़ी देर मे सम्राट् की तन्मयता ने उन्माद का रूप धारण कर लिया। उन्होंने देखा, मानों उनकी विजया लहरो के श्यामल आँचल मे से रह-रह कर उनकी ओर झाँक रही है। लजीली विजया की इतनी चपल चितवन उन्होंने कभी न देखी थी। वह अधीर होकर उत्तेजित स्वर में बोल उठे, "विजया, विजया, हृदेश्वरी, आओ ! इस पाषाण-हृदय में तुम्हारे लिए फूल बिछाऊँगा—लहरों से भी निर्मल, तरंगों से भी कोमल !"

महाराज ने अपनी दोनों विशाल भुजायें किसके आलिंगन के लिए आगे बढ़ा दीं ? भोली हैलेन अवाक् होकर चकित चितवन से सम्राट् का यह उन्माद—यह काल्पनिक प्रेमलीला—देख रही थी। किसी अप्रिय आशका से उसके हृदय की धड़कन बढ़ गई। मुख मलिन पड़ गया। अधर सूख गये।

"अहा ! तुम आ रही हो ? आओ, किन्तु, इतने धीरे-धीरे क्यों विजया ?"—सम्राट् ने फिर कहा।

हैलेन घबरा गई। उसने डरते-डरते अपना कोमल कपित कर पीछे से उनके कधे पर रख दिया। महाराज ने चौंक कर पीछे देखा। हैलेन की आँखों में भय, लज्जा और जिज्ञासा, तीनों घुलकर एक हो रहे थे। सम्राट् ने आतुर होकर उसे बाहुपाश मे कसते हुए कहा, "तुम लौट आई विजया ? तुम्हीं तो मेरी सर्वस्व विजया हो, वह स्वप्न जिसे जी भर कर देख भी तो न पाया था. किन्तु, यह मलिन मुख, पीत-वर्ण, और सूखे अधर, प्रथम-दर्शन से लेकर अब-तक न भूला हूँ। न भूलूँगा ! अहा, तुम आ गई, अब तुम्हे न जाने दूँगा, विजया !"

सरल-हृदया हैलेन, नयनो की नीरव भाषा में, सहसा, एक बार, चद्रगुप्त से "यह क्या ?" कहकर अवाक् हो गई ! गगा मे चंद्र का प्रतिबिम्ब मृदु-हँसी हँस रहा था। आज भी शरत्पौर्णिमा थी !

'प्रेमयोगी'

चित्त-चोर

हहर उठा क्यों तरु-पुञ्ज यों अचानक है,
किसलिए घहर उठा यो घन-घोर है।
कँप उठे हर्ष से विभोर हो क्यों शैल सभी,
मच गया सागर में क्यों बड़ा हिलोर है।

बोल उठे पादप के कोटरों में क्यों विहङ्ग,
मोद-मद-मत्त हो क्यों नाच उठा मोर है।
मैंने देख पाया नहीं आया किस ओर से था,
और किस ओर गया मेरा चित्त-चोर है॥

गोपालशरण सिंह

ब्रिटिश सरकार का ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध

"समुद्र-पार उपनिवेशों की राजभक्ति का उदय किसी संस्था के कारण नहीं होता, वरन एक व्यक्ति के कारण होता है, पार्लमेंट के कारण नहीं होता, जो केवल नाम से ही साम्राज्यिक है, वरन् सम्राट्—बादशाह—के कारण होता है। संक्षेप में ब्रिटिश मुकुट एक विशेष अर्थ में एक नये विचार अर्थात् साम्राज्यिक एकता के भाव का मस्तक और पोषक हो गया है।" —जे. ए. आर मेरियट

इस लेख मे हम यह बताना चाहते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागो मे ब्रिटिश सरकार का क्या सम्बन्ध है। इस विषय में समय-समय पर साम्राज्य-परिषद मे विचार होता है, अत पहले उसीका कुछ हाल जान लेना चाहिए।

साम्राज्य परिषद्—सन् १८८७ ई० मे महारानी विक्टोरिया की जयन्ती (जुबिली) के उपलक्ष्य मे भिन्न-भिन्न स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेशों के मन्त्री अपने-अपने राज्य के प्रतिनिधि होकर इंग्लैण्ड पहुँचे थे, उस समय वहाँ के औपनिवेशिक मन्त्री के सभापतित्व में उनकी एक "औपनिवेशिक समिति" बनाई गई थी। सन् १८९७ ई० और १९०२ ई० के अधिवेशनों के पश्चात् १९०७ ई० के अधिवेशन मे इस समिति के कुछ नियम बदले गये तथा इसका नाम भी साम्राज्य-परिषद् हो गया।

इस संस्था का उद्देश्य उपनिवेशों के स्वार्थों के विषय में विचार करना निश्चित हुआ। इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री इसके सभापति हुए। उनके अतिरिक्त इग्लैण्ड के औपनिवेशिक मन्त्री तथा स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेशों के प्रधान मन्त्रियों की यह सभा सगठित हुई। यह भी निश्चय हुआ कि यदि ब्रिटिश सरकार और औपनिवेशिक सरकारें नितान्त आवश्यक समझें, तो साम्राज्य-परिषद् में और मन्त्रियों को भी ले सकती हैं। यह भी नियम हुए कि परिषद् की विशेष आज्ञा बिना किसी सरकार की ओर से एक से अधिक मत न लिया जाय। परिषद् में भारत-मन्त्री एक दिन उपस्थित थे, परन्तु किसी खास अधिकार से नहीं। इग्लैण्ड और स्वराज्य-प्राप्त उपनिवेशों को ही इस परिषद् के सदस्य चुनने का अधिकार था। परिषद् को अपने नियमों में परिवर्तन और परिवर्द्धन करने का अधिकार रहा। महायुद्ध के समय मे इसमे भारतवर्ष को भी कुछ स्थान मिला है, इसका उल्लेख आगे किया जायगा।

आधुनिक संगठन—इस परिषद् का अधिवेशन तीसरे वर्ष होता है। पिछला अधिवेशन १९२६ में हुआ था। परिषद् के सदस्य इङ्गलैण्ड का प्रधान मन्त्री, ब्रिटिश मन्त्रि-मंडल के कुछ सदस्य स्वतन्त्र भागो के मन्त्री, साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों की ओर से ब्रिटिश सरकार का उपनिवेश-मन्त्री, और भारतवर्ष की ओर से भारत-मन्त्री होते हैं। इङ्गलैण्ड का प्रधानमन्त्री इस परिषद् का सभापति होता है। परिषद् के स्वीकृत प्रस्ताव केवल परामर्श के रूप में होते हैं, वे विरुद्ध मत रखने वालों पर बाध्य नहीं होते।

अब, ब्रिटिश सरकार का साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों से सम्बन्ध जानने के लिए, पहले स्वतन्त्र उपनिवेशों पर विचार करना चाहिए।

स्वतन्त्र उपनिवेश—अपनी आन्तरिक प्रबन्ध-सम्बन्धी बातों में ब्रिटिश साम्राज्य के स्वतन्त्र उपनिवेश चिरकाल से स्वतन्त्रता-पूर्वक कार्य करते आये हैं। किसी भाग की शासन-सम्बन्धी जिन बातों का सम्बन्ध साम्राज्य के दूसरे स्वतन्त्र या परतन्त्र भाग से अथवा साम्राज्य के बाहर किसी अन्य देश से होता था, उसका निश्चय पहले ब्रिटिश सरकार करती थी। पर, अब कुछ समय से साम्राज्य के स्वतन्त्र भाग उनमे भी बहुत कुछ स्वतन्त्रता-पूर्वक कार्य करने लगे हैं। इस सम्बन्ध मे समय-समय पर साम्राज्य-परिषद् मे विचार होता है। अन्तिम (१९२६ के) अधिवेशन में सर्व-सम्मति से यह स्वीकृत हुआ है कि साम्राज्य मे ग्रेट-ब्रिटेन तथा साम्राज्य के स्वतन्त्र भागों का स्थान समान है। आन्तरिक अथवा वैदेशिक विषयों में

कोई दूसरे के अधीन नहीं है।* बादशाह के प्रति राजभक्ति रखते हुए सब एक सम्मेलन-सूत्र में बँधे हैं, और ब्रिटिश जनपद (कामनवेल्थ) के सदस्यों की हैसियत से स्वतन्त्रता-पूर्वक सम्बन्धित हैं।

साम्राज्य का प्रत्येक स्वतन्त्र भाग अब स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है; किसी भाग पर दूसरे भाग का कोई दबाव नहीं है। प्रत्येक भाग अब यह निश्चय स्वयं करता है कि वह दूसरे भागों से कहाँ तक सहयोग करे। जल-सेना बढ़ाने के लिए ग्रेटब्रिटेन की सहायता न करके, अपनी-अपनी जल-सेना अलग-अलग रख कर, वे अपनी स्वतन्त्रता का प्रत्यक्ष परिचय देने भी लगे हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे परन्तु दृढ़ता-पूर्वक उपनिवेश अपनी-अपनी स्वतन्त्रता बढ़ाते जा रहे हैं। दक्षिण आफ्रिका में तो बहुत-से आदमी अपने राज्य का झण्डा भी अलग रखना चाहते हैं। उनकी इच्छा है कि अपने राष्ट्रीय झण्डे के रूप-रंग को ऐसा बदल दें कि वह किसी तरह भी ग्रेटब्रिटेन के 'यूनियन जेक' झडे से न मिले। उनका विचार है कि 'यूनियन जेक' को अपने झडे में सम्मिलित करना स्वयं अपनी अधीनता स्वीकार कर लेना है।†

गवर्नर-जनरल का स्थान—यह कहा जा सकता है कि इंग्लैण्ड का बादशाह एक सत्ता-शून्य पूजनीय प्रतिमा की भाँति होता है। अब साम्राज्य के स्वतन्त्र भागों में गवर्नर-जनरल का (न्यूफाउण्डलैण्ड में गवर्नर का) वही स्थान है, जो बादशाह का इंग्लैण्ड की शासन-व्यवस्था में है। वह बादशाह का प्रतिनिधि है, न कि ब्रिटिश सरकार या उसके किसी अंग का। अब ब्रिटिश सरकार और साम्राज्य के अन्य स्वतंत्र भागों की सरकारों में जो पत्र-व्यवहार होता है, वह प्रधानमन्त्रियों द्वारा होता है, न कि गवर्नर-जनरल-द्वारा। गवर्नर-जनरल को मुख्य-मुख्य सरकारी कागजों की नकल भेज दी जाती है, और उसे प्रबन्धकारिणी सभा के निश्चयों की सूचना उसी प्रकार दी जाती है जिस प्रकार इंग्लैण्ड के बादशाह को वहाँ के मन्त्रि-मण्डल के निश्चयों की।

बादशाह के क़ानूनी मसविदों-सम्बन्धी अधिकार—अब बादशाह साम्राज्य के किसी स्वतंत्र भाग की पार्लमेंट से स्वीकृत क़ानूनी मसविदे को केवल वहाँ के ही प्रधानमन्त्री की सलाह से रद्द कर सकता है, न कि ब्रिटिश सरकार के प्रधानमंत्री की सलाह से।

यदि किसी स्वतन्त्र भाग की पार्लमेंट कोई ऐसा कानूनी मसविदा स्वीकार करना चाहे जिससे साम्राज्य के दूसरे स्वतन्त्र भाग की हानि हो, तो उक्त दोनों भागों के प्रधान-मन्त्री परस्पर परामर्श कर लेंगे। ब्रिटिश सरकार को बीच में हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है।

वैदेशिक नीति—साम्राज्य के प्रत्येक स्वतन्त्र भाग को यह अधिकार है कि वह किसी अन्य देश से किसी विषय की संधि का पत्र-व्यवहार कर सके और ऐसा करते समय साम्राज्य के जिस-जिस स्वतंत्र भाग से उसका संबंध हो उसे भी सूचित कर दे। यदि कोई मत-भेद न हो, तो बादशाह के नाम से उक्त दोनों भागों की ओर से संधि हो जायगी। उस संधि का सम्बन्ध उन्हीं भागों से होगा जिनकी ओर से वह हुई है। इसी प्रकार, यदि ब्रिटिश सरकार कोई संधि करे तो वह संधि साम्राज्य के किसी स्वतंत्र भाग पर उस समय तक लागू न होगी, जबतक उस स्वतंत्र भाग की सरकार भी उसपर अपनी स्वीकृति न दे दे। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि सन् १९१९ ई० की पेरिस की संधि-सभा में स्वतन्त्र भागों ने अपने-

---

*कुछ राजनीतिज्ञ इसका यह आशय समझते हैं कि भविष्य में इंग्लैण्ड का किसी राष्ट्र से युद्ध होने पर उपनिवेशों को उसमें तटस्थ या निष्पक्ष रहने का पूर्ण अधिकार है।

†दक्षिण आफ्रिका के यूनियन में ब्रिटिश सम्बन्ध-विच्छेदात्मक आन्दोलन चल रहा है। राष्ट्रीय दल ने अपनी नीति की घोषणा करते हुए कह दिया है कि दक्षिण आफ्रिका ब्रिटिश साम्राज्य के साथ रहने या न रहने के प्रश्न पर पुन विचार कर सकता है, और यदि वह चाहे तो उससे अलग भी हो सकता है। ... यूनियन के नागरिकों के लिए यह स्वाभाविक और बिलकुल वैध है कि वे यूनियन के इस प्रकार प्रभुता-प्राप्त तथा स्वतन्त्र होने के लिए यत्न करें, जिससे यूनियन ब्रिटिश संयुक्त राज्य से पूर्णतः पृथक् हो सके।

अपने प्रतिनिधि भेजे थे, और उन्होंने वहाँ आये हुए अन्य विविध स्वतन्त्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के साथ संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे। स्वतन्त्र उपनिवेश अपनी स्वतन्त्र हैसियत से राष्ट्र-संघ के सदस्य हैं।

साम्राज्य परिषद् में वैदेशिक नीति के सम्बन्ध में यह निश्चय हुआ है कि इसका अधिकांश उत्तरदायित्व अभी कुछ समय तक ब्रिटिश सरकार पर रहना चाहिए। परन्तु यह ध्यान रक्खा जायगा कि ब्रिटिश साम्राज्य का कोई स्वतन्त्र भाग अपनी सरकार की स्वीकृति के बिना किसी बन्धन (Obligation) को मानने के लिए बाध्य न होगा। दो उपनिवेशों ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि यद्यपि हमने गत यूरोपीय महायुद्ध में इंग्लैण्ड की सहायता की है, पर भविष्य में हम उस समय तक ऐसा कदापि नहीं करेंगे, जब तक कि पहले से ही हमारा युद्ध-विषय में परामर्श न ले लिया जायगा और हम उससे सहमत न हो जायँगे।

स्वतन्त्र उपनिवेश विदेशी राज्यों में अपने राजदूत रख सकते हैं। उदाहरणार्थ, कनाडा का अपना राजदूत वाशिंगटन (अमेरिका के संयुक्तराज्य) में रहता है।

आयरिश फ्री स्टेट और ब्रिटिश सरकार— सन १९२१ ई० मे आयरिश फ्री स्टेट ने भी ब्रिटिश साम्राज्य में स्वतंत्र उपनिवेशों के समान अधिकार और पद प्राप्त कर लिया है। अत उसका ब्रिटिश सरकार से वही सम्बन्ध है, जो स्वतन्त्र उपनिवेशों का है। स्मरण रहे कि ब्रिटिश साम्राज्य का अग होते हुए भी यहां के शासन-विधान में जनता के प्रतिनिधि के लिए शपथ का जो रूप है, वह बादशाह के प्रति भक्ति-सूचक नही, केवल सम्मान-सूचक है। यहाँ प्रतिनिधि कहता है कि "मैं गम्भीरता-पूर्वक शपथ लेता हूँ कि मैं आयरिश फ्री स्टेट के विधान के प्रति सच्ची भक्ति और श्रद्धा रक्खूँगा। मैं बादशाह और उसके उत्तराधिकारियों के प्रति सद्भाव रक्खूँगा।"

साम्राज्य में भारतवर्ष— साम्राज्य-परिषद् का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। महायुद्ध से पहले इसमें भारतवर्ष की ओर से कोई व्यक्ति भाग नहीं लेता था। अब भारत-मंत्री तथा भारत-सरकार से नामज़द किये हुए दो और आदमी इसके अधिवेशनों में शामिल होते हैं। परन्तु जब कि स्वतन्त्र उपनिवेशों की ओर से इसमे सम्मिलित होने वाले उनके मंत्री अपने अपने राज्यों के प्रति उत्तरदायी होते हैं और इसलिए उनका मत प्रकट करते हे, भारत-मंत्री और उसके सलाहकार निर्वाचित न होने के कारण भारतवासियों के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। वे वास्तव में भारतवर्ष के प्रतिनिधि नही कहे जा सकते, वे तो ब्रिटिश सरकार का ही मत प्रकट करते हैं।

यह तो हुई साम्राज्य-परिषद् की बात। पर ब्रिटिश साम्राज्य में भारतवर्ष की स्थिति क्या है? ब्रिटिश भारत की स्थिति सन् १९१९ ई० के 'गवर्मेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट' से निश्चित की गई है। इसके अनुसार वह स्थिति है —उत्तरदायी शासन-पद्धति का क्रमश विकास और इस विकास की मंजिलें तथा समय निर्धारित करने का अधिकार ब्रिटिश पार्लमेण्ट को है, भारतीय जनता को नहीं। इस प्रकार ब्रिटिश भारतवर्ष जैसे विशाल भूखण्ड के विषय में 'स्वयंनिर्णय' का वह सिद्धान्त लागू नही किया जाता, जिसकी सभ्य राष्ट्रों ने और ब्रिटिश साम्राज्य के सूत्रधारों ने इतनी घोषणा की थी, और जो अनेक छोटे-छोटे राष्ट्रों के लिए मान्य किया जाता है। वर्तमान अवस्था मे ब्रिटिश भारत की केन्द्रीय सरकार ब्रिटिश सरकार के ही प्रति उत्तरदायी है, भारतीय जनता के प्रति नही। प्रान्तों में, पन्द्रह में से केवल नौ मे—कुछ अंश मे—उत्तरदायी शासन है।

भारतवर्ष की देशी रियासतों की यह स्थिति है कि यद्यपि नरेशों को प्राचीन सधियों के अनुसार अपना आन्तरिक प्रबन्ध करने की कुछ-कुछ स्वतन्त्रता है, परन्तु ब्रिटिश सरकार शान्ति, और सुव्यवस्था के लिए जब और जैसा जँचे, उसमें हस्तक्षेप कर सकती है, कोई सधिपत्र उसमें बाधक नहीं हो सकता।

साम्राज्य के अन्य भागों से ब्रिटिश सरकार का सम्बन्ध— ब्रिटिश साम्राज्य के स्वतन्त्र भागों और भारतवर्ष का विचार हो चुका। साम्राज्य के शेष भागों के शासन का नियंत्रण ब्रिटेन का उपनिवेश-मंत्री करता है, जो इनके सुशासन के लिए इंग्लैण्ड की पार्लमेण्ट के प्रति उत्तरदायी होता है। इन भागों के शासकों को सब महत्व-

पूर्ण विषयों में उपनिवेश-मंत्री की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है।

ब्रिटिश उपनिवेश-विभाग की एक शाखा तो साम्राज्य के स्वतन्त्र भागों सम्बन्धी कार्य करती है। उसकी दूसरी शाखा राजकीय उपनिवेशों तथा परतन्त्र भागों के राजनैतिक तथा शासन-सम्बन्धी कार्य का नियंत्रण करती है। उसकी तीसरी शाखा इन भागों के मुद्रा, रेल, डाक, तार, शिक्षा आदि सम्बन्धी कार्य की देख-भाल करती है। इन कार्यों में सहायता देने के लिए स्थायी समितियाँ नियत हैं। उपनिवेश-विभाग की चौथी शाखा १९२१ में मध्य-पूर्वीय देशों (Middle East) की समस्याओं पर विचार करने के लिए स्थापित हुई है। यह ब्रिटिश साम्राज्य के प्रभाव-क्षेत्रों (Spheres of influence) सम्बन्धी विषयों पर भी विचार करती है।

दयाशंकर दुबे
भगवानदास केला

रूस का वैप्लविक दल

(निहिलिस्टों का इतिहास)

आईवेन टर्गेनव (Ivan Turgenev) रूस के बड़े ओजस्वी उपन्यास-लेखक हो गये हैं। उन्होंने "पिता-पुत्र" (Fathers & Sons) नाम का एक उपन्यास लिखा था। वह उपन्यास १८६२ई० में प्रकाशित हुआ था। उसके प्रकाशित होते ही देशभर में हलचल मच गई थी। बड़े-बड़े उसके विरोधी हो गये, इस खयाल से कि इससे नौजवान ढीठ और उच्छृंखल होजायँगे। तरुण-समुदाय तड़पा, इसलिए कि उसमें उनके विचारों को ऐसे रूप में पेश किया गया था कि उसमें वे अपनी हतक या तौहीन समझते थे। बात वास्तव में यह थी कि उसमें उन्होंने 'निहिलिस्ट' युवक का चित्र चित्रित किया था। सबसे पहले इसी उपन्यास में और उन्होंने ही 'निहिलिस्ट' शब्द का प्रयोग किया था। टर्गेनव महाशय का कहना है कि यह चरित्र एकदम काल्पनिक नहीं था, वरन् उन्होंने ठीक उसके नायक 'बेजेरव' सा एक युवक डाक्टर देखा था और वह उसीसे युवकों के उठते हुए विचारों के प्रवाह को समझ पाये थे।

बेजेरव बड़ा स्वतन्त्रता-भक्त था और स्वतन्त्रता भी सर्वांगीण। वह मानसिक स्वतन्त्रता के लिए मजहब का विरोधी था और राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए 'जार-शाही' का विरोधी था। वह अनुभूतियों को फिजूल और व्यर्थ कह कर उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। वह माता-पिता के प्रति उचित से अधिक भक्ति-भाव दिखाने का विरोधी था। दृढ़ वैज्ञानिक होने के कारण ललित-कला—संगीत और कविता—से भी वह कोसों भागता था। सत्य की तलाश में वह एकदम निठुर होकर डट जाता था, वह बड़ा मुँह-फट था। उसे बातचीत की लीपापोती बिलकुल न आती थी। यह सब चरित्र कुछ स्वभाविक था, और कहीं-कहीं उसे मानव-प्रकृति से द्वन्द्व लड़ना पड़ता था। ऐसे ही मानसिक संग्राम में वह तड़पता-तड़पता इस संसार से सदा-सर्वदा के लिए बिदा हो जाता है।

उसके साथ-ही-साथ उसके एक शिष्य 'आर्केडी' का चरित्र है। वह एक साधारण युवक है। वैप्लविक बनना चाहता है। परन्तु जरा ऐसे ढंग से कि अधिक लोग विरोध न कर पायें। चाहने पर भी वह वैसा कट्टर वैज्ञानिक, नीरस तथा संग्रामपूर्ण जीवन नहीं बना सकता।

युवकों ने कहा, 'यह चरित्र अच्छा है। इसे ही जरा और सुन्दर बनाकर नायक बनाया जाता, तो ठीक होता।' परन्तु टर्गेनव महाशय निज हानि लाभ देखकर उपन्यास नहीं लिखते थे, वरन् जो वह सर्वसाधारण के लिए लाभ-दायक समझते वही लिखते थे।

१८६२ ई० में उनकी पुस्तक का विरोध हुआ, और विरोध भी साधारण नहीं—एक तूफान खड़ा हो गया। टर्गेनव महाशय भी विचलित नहीं हुए। फलत, कुछ ही वर्ष गुजरे कि रूस में निहिलिस्ट-समुदाय इतना शक्तिशाली हो गया, और जारशाही से मुठभेड़ हो जानेपर इतना

भयंकर हो गया कि समस्त रूस और रूस का मदमत्त शासन काँप उठा। बात यह थी कि रूस में अन्ध-विश्वास इतना जोरों पर था, वहम और मिथ्या भ्रम इतने बढ़ गये थे, मज़हब ने लोगों को इतना दबा दिया था, कि जीवन असह्य हो उठा था। मज़हब के नाम पर, ख़ुदा के नाम पर, ख़ुदा के एजेंट पादरी लोगों के नाम पर, ख़ुदा के सीधे प्रतिनिधि जार के नाम पर, इतना अत्याचार ढाया जाने लगा था कि रूस में हाहाकार मच गया था। लोग थर-थर काँप उठे थे।

सर्वसाधारण वृद्ध हुआ करते हैं। वे लोग किसी भी सुदृढ़ संस्था का विरोध कर सिर पर विपत्ति लेने का साहस नहीं किया करते। परन्तु तरुण-समुदाय में जब एक बार जागृति पैदा हो जाती है तब ऐसे-ऐसे वैप्लविक वीर पैदा हो जाते हैं, जो अकेले ही कर्म-क्षेत्र में कूद पड़ते हैं और लोक-हित के लिए अज्ञात रहकर युद्ध करते हुए प्राणोत्सर्ग कर देते हैं।

यही दशा रूस की थी। समझदार लोग स्थापित संस्थाओं के अकथनीय अत्याचार चुप-चाप सहन कर रहे थे, परन्तु विप्लव का भयानक रूप देखने से घबराते थे। तरुण-समुदाय में अशान्ति फैल गई। वे लोग कर्म-क्षेत्र में अग्रसर हुए। समझदारी के ठेकेदार लोगों ने कहा, "अच्छा! इन संस्थाओं का विनाश करके वे कौनसी संस्थायें स्थापित कर पूर्ण सुख फैला सकेंगे, जरा बताओ तो सही?" कर्मयोगी अधिक बातें नहीं बनाया करते। उस समय ऐसा भाव छा जाता है कि भविष्य में क्या होगा, सो न कह सकने पर भी इतना तो कहा जा सकता है कि वर्तमान युग एकदम पलट देने लायक़ है—कम-से-कम जो अत्याचार आज हो रहे हैं वे अवश्यमेव बन्द किये जाने चाहिएँ—भविष्य की फिर देखी जायगी। ऐसे ही विचार उस समय रूसी युवकों के थे। राजकुमार क्रोपाटकिन एक स्थान पर उनके बारे में लिखते हैं — The Nihilism of 1861, a philosophical system specially dealing with what Mr. Herbert Spencer would call religious, governmental and social fetishism." अर्थात्, १८६१ का निहिलिज़्म तो केवल एक प्रकार की दार्शनिक पद्धति थी, जो—हरबर्ट स्पेंसर के शब्दों में—सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक अन्ध-विश्वास को उखाड़ फेंकना चाहती थी।

जैसा ऊपर कहा गया है, वे लोग भविष्य के बारे में उस समय कोई अच्छा ख़ासा विधान सामने ला कर नहीं खड़ा करते थे इसीसे उनके विरोधी उन्हें विनाश-कारी और विध्वंस चाहने वाले बताते थे। परन्तु निष्पक्ष लोगों का कहना है कि "निहिलिज़्म विनाशात्मक था, क्योंकि वह सम्पूर्ण विनाश चाहता था, परन्तु उसमें निर्माण का भाव विद्यमान था" और दूसरे लोगों के शब्दों में, उन लोगों का ध्येय था—"लोगों को रूढ़ियों की ज़ंजीरों से मानसिक और जार की गुलामी से राजनैतिक स्वतन्त्रता दिलाना" (To liberate the people from the chains of traditions and autocracy of Czar)। वे लोग इन्हीं विचारों को ले कर निकले थे। उस समय वे केवल प्रचार-कार्य करते थे, यही उनका मुख्य कार्य था।

परन्तु देश की परिस्थिति बदल गई। उन्हीं दिनों गुलामों को स्वतन्त्र किया गया था, परन्तु उनको अपनी खेती करके पेट भरने के लिए ज़मीन नहीं दी गई थी। वे भूखों मरने लगे। और १८६७ में बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ गया। उस समय 'जार'-सरकार का प्रबन्ध इतना ख़राब था कि लोगों के लिए जीना असह्य हो उठा था, सरकार के कुप्रबन्ध, अत्याचार, अफसरों की घूसख़ोरी और कर्त्तव्य के प्रति उनकी लापर्वाही देखकर तथा लोगों का हाहाकार सुनकर कई सरकारी अफसर वैप्लविक बन गये। औसिस्की (Ossinsky) और क्याट को वस्की (Kviatkovesky) जिन्हें कि बाद में १८८० ई० में फाँसी हुई थी, वे भी पहले सरकारी अफसर थे और ऊँचे पदों पर कार्य करते थे। कई जज तक सरकारी नौकरी छोड़ कर विप्लव-दल में सम्मिलित हो गये थे।

उधर युवकों में अच्छी-अच्छी पुस्तकों के प्रचार की विशेष यत्न से रोक-थाम की जाती थी, परन्तु इन तरुण-समितियों ने प्रकाशकों से ऐसा प्रबन्ध कर लिया था कि वे सारा-का-सारा संस्करण ख़रीद लेते और उन्हें या तो लागत

पर बेच डालते या मुफ्त में बाँट देते। वे सभी पुस्तकें 'सेंसर' की स्वीकृति पर ही छपा करती थीं, परन्तु जब सरकार ने देखा कि ये पुस्तकें प्रचार-कार्य के लिए प्रयुक्त की जाती हैं, तब उसने प्रकाशकों तथा बाँटने वालों पर वे-वे अत्याचार ढाने शुरू किये कि जिन्हें सुन कर मनुष्य काँप उठता है। मतलब यह कि उनका सर्वनाश करके सरकार ने यह प्रचार बन्द करना चाहा।

१८६१ से १८७१ तक शान्ति-पूर्वक लोगों मे जागृति पैदा करने और सरकार को ठीक राह पर लाने का यत्न किया गया। परन्तु सरकार ने ऐसा दमन-चक्र चलाया कि सम्पूर्ण वैध आन्दोलन दबा दिया गया। परिणाम कुछ भी न निकल सका। जार और जार के पिट्ठुओं की लाल आँखें देख कर 'समझदार' लोग थर-थर काँप उठे। अब क्या हो सकता था। बहुत लोग हाथ पर हाथ रखकर बैठ गये। अज्ञात भविष्य से कुछ आशा का उदय होगा, इसी आशा पर उन्होने दिल को तसल्ली दी। परन्तु युवक-हृदय इन बातो से शान्त न हो सके। वे हाथ पर हाथ रक्खे बैठे रहकर यह सब न देख सके। उन्हे अज्ञात भविष्य की अज्ञात आशायें शान्ति न दे सकीं। ठीक उन्हीं दिनों के बारे में क्रोपाटकिन ने अपने लेख में लिखा था--

"There are periods when whole generations are penetrated with the noble feelings of altruism and self sacrifice, when life becomes utterly impossible—morally and physically impossible—for the man (or woman) who feels that he is not doing his duty and so it was with the young Russia"

अर्थात्, कभी-कभी ऐसा समय आ जाता है कि जब लोक-सेवा के भाव इतने प्रबल हो उठते हैं कि युवकों और युवतियों के लिए आराम से बैठना असम्भव हो जाता है। वे वैसे जीवन से उकता जाते हैं। ठीक ऐसी ही दशा उस समय तरुण रूस की थी।

ये सब अत्याचार करते हुए जार ने समझदार लोगों की आँखों मे धूल झोंकने के लिए कुछ सुधारों की आवाज़ उठाकर उनको शान्त कर दिया। पिछले आन्दोलन में जो युवक-युवतियाँ विदेशो को भागकर चले गये थे, उन्हे फिर से देश मे लौटने की आज्ञा मिल गई। उनमें से अधिकतर स्विट्ज़र्लैण्ड में ही थे। वे सभी लौट आये। परन्तु अपने साथ कार्ल मार्क्स आदि लोगों के साम्यवाद के विचार भी ले आये। यह बात १८७१ ई० की है। भला वे साम्यवादी लोग—जिन्होने सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक अन्याय और अत्याचारों से तंग आकर साम्यवाद के विचार अपनाये थे—देश में लौट कर किस तरह चुपचाप सब अन्याय देख सकते थे? उनके तो अन्तस्तल मे आग-सी जल उठी थी। उन्होंने आते ही प्रचार-कार्य फिर से शुरू कर दिया। परन्तु, जार यह कब देख सकता था? एक-दम सभी पकड़ कर जेलो मे ठूँस दिये गये।

अब कार्य गुप्त रूप से होने लगा। उस समय तीन विभिन्न दल कार्य कर रहे थे, जिनका नेतृत्व तीन विभिन्न नेताओं चरनी शेवस्की, ईशूटिन और नेचायफ के हाथ मे था। पहले-पहल उन लोगों का आदर्श वाक्य था—'With the People'—अर्थात्, लोगों के साथ सहानुभूति पैदा करो। अब वे कहने लगे—'Vnord=Be the People' कि जन-साधारण बन कर उन्हीं लोगों में जा मिलो। इस समय मे जिस असाधारण त्याग और आत्म-बलिदान के दृष्टान्त मिलते हैं वैसे संसार-भर में और कहाँ मिल सकेंगे? उनकी इन महिमामयी कृतियों का रोमांचकारी वृत्तान्त लिखने से पहले इस आवाज के उठाने का मूल कारण बता देना अनुचित न होगा।

प्रिंस क्रोपाटकिन लिखते हैं—"इस समय रूसी कृषक 'ढीले-ढाले चोगे' और फ़ैशनदार वस्त्र पहनने-वाले लोगों को, जो कि उनके साथ हल नहीं चलाते थे, या हथौड़ा नही चलाते थे, लकड़ी काटते-काटते या ज़मीन से उखाड़ते-उखाड़ते जिनके हाथ थक नही गये थे, उन लोगों को वे अपना शत्रु समझने लगे थे। हमें उनका विश्वास और प्रेम चाहिए था। और वह उनके साथ मिलकर उन्हीं का-सा जीवन बिताते हुए और उन्हीं का-सा कार्य करते हुए ही मिल सकता था। इसीलिए, युवकों ने अपने स्कूल छोड़ दिये, सेना की नौकरियाँ छोड़ दीं, आरामकुर्सियां छोड़ दीं, और किसान की तरह हल

चलाना और लुहार या बढ़ई का काम सीख लिया, या मोची के काम में ही निपुण हो गये और फिर गाँवों में फैल गये, ताकि उन लोगों में वे विश्वस्त बनकर अपने विचारों का प्रचार कर सकें। बड़े-बड़े अमीर घरानों की नाजुक युवतियाँ भी इसी दल में आ मिलीं, जो बेचारी १५ या १६ घण्टे नित्य मशीन पर कार्य करतीं, फिर गन्दी व तंग कोठरियों में अन्य मजदूरों की भाँति सोतीं, कड़ाके की सर्दी में अन्य मजदूरनियों की भाँति नंगे पाँव नदी से घर के लिए जल लातीं।" केवल एक धुन थी, एक लगन थी, एक चाह थी, उन गरीब मजदूरों को उनकी दीन-हीन दशा से परिचित करवा कर उसका इलाज बता सकें। ओह! कितनी कठिन तपस्या है? आज हमारे नेता भी "ग्राम सगठन" "ग्राम-सगठन" चिल्लाया करते हैं, ऐसे कितने लोग हैं, जो उन युवक-युवतियों की भाँति अपने ऐश-आराम छोड़कर दूर गाँव में निकल जायँ और किसानों और मजदूरों में मिल कर रहने लगें? हमारे देश की परिस्थिति रूस से किसी प्रकार भी अच्छी नहीं, कि उनसे कम बलिदान दिये बिना या उसी तरह यत्न किये बिना स्वतन्त्रता प्राप्त हो जायगी। रूस की राज्य-क्रान्ति का इतिहास इतना सुन्दर, इतना महिमा-मय है कि समस्त संसार के इतिहास में उसकी उपमा मिलना मुश्किल है। स्त्रियों ने तो और भी कमाल कर दिया। रूस की वह देवी कैथेराइन भी एक बड़े अमीर घराने की थी। बड़ी सुन्दर थी, इस कार्य में सम्मिलित होते ही उसने अपने सुन्दर मुख पर तेजाब डाल कर अपना सौंदर्य नष्ट कर दिया इसलिए कि कहीं साथी युवक अपने मार्ग से फिसल न जायँ, और मजदूरों में शामिल होने में कोई दिक्कत पेश न आये। ओह, कितना त्याग है—कैसा अपूर्व आत्मदान है! उन दिनों युवक-युवतियाँ पागलों की भाँति घर-बार छोड़कर निकल पड़ती थीं, ताकि किसी वैप्लविक दल में सम्मिलित होकर स्वतन्त्रता के संग्राम में जो बन पड़े, वह सेवा करें। उन दिनों तरुण-समुदाय में एक प्रकार की बेचैनी फैल गई थी। वे आराम से अपना जीवन नहीं बिता सकते थे। आज भारत में कितने युवक उसी तरह पागल हुए फिरते हैं? चारों ओर बुद्धिवादी लोग ही नजर आते हैं, जिन्हें ज्यों-त्यों सुख से जीवन बिताने की चिन्ता ही व्याकुल कर रही है। पिछली शताब्दी का आखिरी हिस्सा रूस के इन युवक-युवतियों के अपूर्व त्याग का ही सुन्दर इतिहास है।

पी-लुफ़र साहब लिखित 'रूस के वीर और वीरांगनायें' (Heroes and Herons of Russia) नामक पुस्तक में इन लोगों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। उसीका अनुवाद "स्वाधीनता के पुजारी" नाम से हिन्दी में भी प्रकाशित हो चुका है। उसमें एक पादरी की लड़की सोनिया की बड़ी सुन्दर कहानी दी गई है। वह भी उसी दल में मिलकर कार्य करने के लिए दो बार घर से निकलने का निष्फल प्रयत्न कर चुकी थी। अन्त में दल ने उसके निकालने का प्रबन्ध किया। एक युवक सिनेगव—जिसने उसे कभी देखा भी न था—एक गवर्नर का लड़का और उसका प्रेमी बनकर उसके घर पहुँचा। सब तैयारी पहले से की गई थी। सोनिया उससे चिरपरिचित प्रेमिका की भाँति मिली—जैसे-तैसे उनका विवाह हो गया और वह उसे साथ ले अपने दल में आ मिली। बिलकुल औपन्यासिक घटना दीखती है, परन्तु है सब सच। फिर वे दोनों गाँवों में प्रचार-कार्य के लिए भेज दिये जाते हैं, वहाँ पर उनका बहुत प्रेम बढ़ गया और सचमुच उनका विवाह हो गया। जरा युवक देखें तो, क्या यह विवाह ईर्ष्या करने लायक नहीं? सरकार भी इस दल को कहाँ देख सकती थी? ज़रा-से सन्देह पर हजारों युवकों को बिना वारण्ट गिरफ्तार करके जेलों में डाल दिया जाता। वहाँ वे चार-पाँच साल तक अपने मुकद्दमे की प्रतीक्षा में कोठरियों में बन्द रक्खे जाते। अनेक ऐसे मुकद्दमों में से '१९३ का मुक़द्दमा' (Trial of the Hundred and Ninety three) जरा अधिक प्रसिद्ध है। उसी के सम्बन्ध में सरकार की अपनी रिपोर्ट के अनुसार एक हजार से अधिक व्यक्ति गिरफ्तार करके जेलों में ठूँस दिये गये, जिनमें से कभी किसी को और कभी किसी को रिहा किया जाता रहा। इनमें तीन सौ तो पांच वर्ष तक बिना अभियोग ही जेल में बन्द रक्खे गये। उनमें से ११ तपेदिक से मर गये। ७ ने आत्महत्या कर ली। बहुतों ने मरने का प्रयत्न किया, पर सफल न हो सके। शेष सभी का स्वास्थ्य एकदम टूट गया। अन्त में १९३ व्यक्तियों पर

अभियोग चलाया गया। अदालत बड़ी जालिम थी। केवल इस अपराध में कि ये प्रचार करते थे, १०-१० वर्ष कैद और निर्वासन तक के दंड दिये गये। उस अदालत को भी सबूत न मिल सकने के कारण उनमें से ९० आदमी बरी करने ही पड़े। शेष सब को ७ साल से १० साल तक की कैद हुई और बाद में आजीवन साईबेरिया में निर्वासन का दण्ड मिला। एक दूसरे अभियोग में एक लड़की को केवल इस अपराध में कि उसने एक मजदूर को साम्यवादी विचारों की एक विज्ञप्ति दी थी, १० वर्षों की सख्त कैद हुई थी। इस प्रकार के अत्याचार होते देखकर कार्य और भी गुप्तरूप से होने लगा। अब और भी फूँक-फूँक कर कदम धरा जाने लगा। परन्तु कार्य छोड़कर नहीं बैठ गये। उन दिनों गुप्तचरों को बहुत अधिकार दे दिये गये थे। ज़रा-से सन्देह पर गुप्तचर किसी को भी कैद करवा देते थे। उसे तो बदले में पुरस्कार मिल जाता। इधर बेचारे युवक का जीवन नष्ट हो जाता। अन्त में विचार हुआ कि इसका कुछ इलाज होना चाहिए।

लोग तो यह कहते हैं कि अप्रैल १८६६ में काराकाज़ोफ़ (Karakazoff) ने जार पर जो गोली चलाई थी और अगले वर्ष पेरिस में पोलैण्ड के युवक बैरेजोवेस्की (Berezovski) ने जार पर गोली चला उसे मार डालने का जो प्रयत्न किया था, वे भी इसी दल के काम थे, परन्तु यह ठीक नहीं है।

क्रोपाटकिन ने लिखा है कि उनके शुरू-शुरू के दिनों में जार जितना सुरक्षित था, उतना कभी भी नहीं रहा होगा। एक बार का जिक्र है कि एक प्रान्तिक दल का एक युवक राजधानी में जार को मारने के लिए आ पहुँचा। इस दल को भी पता चला। उस समय उसे इस कार्य से रोक दिया गया। पर बाद में तो अत्याचारों से तंग आकर उन लोगों ने कुछ प्रतिहिंसा और कुछ निज-रक्षा के भाव से प्रेरित हो कर एक प्रकार से युद्ध छेड़ ही दिया। उसका भी विशेष ढंग से आरम्भ होता है।

१८७५ की बात है। उन दिनों कुछ लोग जेल में ठूँस दिये गये थे। कौन कह सकता था कि उनपर कब अभियोग चलाया जायगा? एक दिन पुलिस-अफसर-जनरल ट्रेपोफ़ [Trepoff] जेल में गया। एक राजनैतिक अभियुक्त ने उठ कर सलाम नहीं किया, इसपर उसे उसी समय बेंत की सजा दी गई। इस अत्याचार पर शोर मचाने वाले अन्य सभी राजनैतिक कैदियों को ट्रेपोफ़ के कहने पर बुरी तरह पीटा गया। बेचारे कैदी मजबूर थे—क्या करते? चुपचाप सब सहन करना पड़ा।

कुछ दिन बाद एक वीर बालिका वीरा जेसूलिच (Vera Zassoulitch) ने जैनरल ट्रेपोफ़ पर गोली दाग दी। वह मरा नहीं, पर घायल हो गया। लड़की पर अभियोग चला। उसने बड़ा सुन्दर बयान दिया। उसने कहा, "मैं प्रसन्न हूँ कि ट्रेपोफ़ महाशय मरे नहीं। मैं उन्हें मारना नहीं चाहती थी। मैं तो केवल सरकार और जनता की दृष्टि राजनैतिक कैदियों पर किये जाने वाले अमानुषिक अत्याचारों की ओर आकृष्ट करना चाहती थी।"

लड़की बरी हो गई। अदालत से निकलने पर पुलिस ने फिर गिरफ्तार करने की कोशिश की, परन्तु जन-समूह ने उसे गिरफ्तार न होने दिया।

अब बेचारे वैप्लविकों ने देखा कि उनका कोई सहायक नहीं—न्याय के नाम पर उनके साथ घोर अन्याय किया जाता है, नियम और व्यवस्था (Law & Order) के नामपर उनपर अमानुषिक अत्याचार ढाये जाते हैं, और कोई उनका सहायक नहीं होता, कोई क़ानून उनकी रक्षा नहीं करता। तब उन्होंने स्वयं अपनी रक्षा करने का निश्चय किया। पुलिस बहुत सवेरे किसी भी सन्दिग्ध वैप्लविक का घर घेर लेती। एकदम अन्दर घुसकर तलाशी शुरू कर देती। स्त्रियों तक के कपड़े सिपाही लोग उतारकर तलाशी लेते। तब इन लोगों में कुछ धीमी-धीमी आवाज़ उठने लगी—'दूसरे देशों में तो ऐसा नहीं हो सकता, हम भी इसे बन्द करेंगे।' बहुत विचार हुआ। इसे स्व-रक्षा में किया जाने वाला काम (Defensive) कहकर युद्ध करने की आज्ञा दी गई। सबसे पहले ओडेसा (Odessa) में कोवाल्स्की (Kovalsky) ने पुलिस का सामना किया और खूब युद्ध किया। एक और व्यक्ति ने भी ऐसा ही किया। बस, फिर क्या था, सरकार की ओर से वह-वह अत्याचार ढाये जाने लगे कि तोबा भली!

इससे अब 'रक्षा में शक्ति-प्रयोग' की भी सीमा तोड़ दी गई। प्रतिहिंसा का भाव जोर पकड़ गया। पहले-पहल पाँच जासूस और उनके तीन अफ़सर मार दिये गये। उसके बदले में जार-सरकार ने १७ युवकों को मृत्यु-दंड दिया। फिर क्या था? जगह-जगह बम चलने लगे। गोली चलने लगीं। और १८७६ में तो निहिलिज्म के मानी बम फेंकना, गोली चलाना ही समझा जाने लगा। अब तक वे जार के व्यक्तित्व को नहीं छूना चाहते थे। परन्तु तंग आकर उन्होंने उसे भी ठीक ठिकाने लगाने का इरादा किया।

बस, फिर क्या था? अब सब लोग इसी कार्य में जुट गये। १४ अप्रैल १८७९ को सोलोव्यूफ (Solovioff) ने जार पर गोली चला दी, पर जार बच गया। उसी वर्ष जार के शीत-महल (Winter Palace) को डायनामाइट से उड़ा दिया गया। परन्तु जिस भाग में जार था, वह सुरक्षित रहा और जार बच गया। अगले वर्ष जार पैट्रोग्रेड से मास्को जा रहा था। उसकी गाड़ी उड़ा दी गई, परन्तु जिस डिब्बे में जार बैठा था, वह डिब्बा बच गया और जार महाशय फिर बचे रहे। परन्तु बार-बार निष्फल होने पर भी वे लोग घबराये नहीं। १९२१ में १३ मार्च के दिन जार अपनी विशेष घुड़सवार सेना देखकर लौट रहा था। एक सड़क के नीचे सुरंग लगा कर डायनामाइट से उड़ा देने का प्रबन्ध किया जा चुका था। परन्तु जार ने तुरन्त चौक से रुख मोड़ दिया। और दूसरे मार्ग से चलने लगे। तुरन्त सोफिया पैरोवस्कीया ने अपने अन्य साथियों को संकेत कर दिया। उधर जाने पर उसपर बम फेंका गया। बम से गाड़ी टूट गई। एक नौकर सख्त ज़ख्मी हो गया, जार बच गया। वह तुरन्त नौकर की ओर बढ़ा और कहा, "Thank God! I am saved"—शुक्र है खुदा का, मैं बच गया। ग्रैंटज़्की (Grientzky) नामक एक तरुण वैप्लविक ने आगे बढ़ कर कहा, "*Czar! It is too early to thank God*"—जार! इतनी जल्दी ईश्वर को धन्यवाद मत दो। और फिर बम फेंक दिया। वह मरा स्वयं भी, परन्तु साथ ही जार भी धराशायी हो गया। हजारों गिरफ्तारियाँ हुईं। दर्जनों आदमी फाँसी पर लट-काये गये। पाँच को तो विशेष तौर से जन-साधारण के सामने फाँसी दी गई। उनमें ही सोफिया पैरोवस्कीया को भी फाँसी हुई थी। उस समय एक प्रकार से वह वैप्लविक दल, जो 'निहिलिस्ट' कहलाता था, दब गया। फिर और कई दल उठे। फिर १८८७ में हम अगले जार पर आक्रमण करने की तैयारियाँ देखते हैं। उसमें लेनिन के भाई को भी फाँसी होती है।

पाठकों ने निहिलिस्ट दल के विचारों और कार्य-क्रम का विकास देख लिया। परन्तु उस समय लोगों ने उन्हें बहुत गलत समझा। उनके दल का नाम तो था (Will of the people party) लोगों की इच्छा को व्यावहारिक रूप देनेवाला दल, परन्तु उन लोगों को निहिलिस्ट कहकर बड़ा भयंकर जीव बना कर दिखाया गया। वास्तव में देखा जाय तो निहिलिस्ट के अर्थ होते हैं (Nihil=Nothing) कुछ भी न मानने-वाला। परन्तु हमने दिखाया है कि प्रारम्भ में भले ही उनके सामने भविष्य-निर्माण सम्बन्धी कोई अच्छा खासा कार्यक्रम मौजूद न था, परन्तु अन्त में तो वे साम्यवाद और मजदूर-राज्य के आदर्श को सन्मुख रख कर कार्य करते रहे। एक अंग्रेजी पत्र ने उनकी भयंकरता का भीषण चित्र एक कार्टून मे तो दिखा कर उनके प्रति अज्ञानता की चरम सीमा का परिचय दिया। उसमें दो निहिलिस्ट बम आदि विस्फोटक पदार्थ लिये एक उजड़े हुए स्थान में खड़े हैं, जहाँ कि चारों ओर उनकी कृपा से महानाश का दृश्य दीख रहा है। एक निहिलिस्ट पूछता है, "क्यों जी! क्या कोई चीज नाश होने से बच गई है?" दूसरे ने उत्तर दिया, "हाँ अभी पृथिवी का गोला तो शेष है!" पहले ने फिर कहा, "अच्छा! तो लगाओ डायनामाइट और उड़ा दो उसे भी!" यह चित्र एकदम भ्रम-मूलक है। हमने ऊपर लिखा है कि वे पहले शक्ति-प्रयोग के विरोधी थे और जार के रक्षक थे। परन्तु अत्याचारों से तंग आकर उन लोगों ने जब अपने बचाव का कोई उपाय न देखा, तब कहीं वे शक्ति-प्रयोग के पक्षपाती बने उसमें भी उन लोगों की ओर से कभी कोई ज़्यादती न हुई। लोगों को जार के अत्याचार क्यों पागल नहीं कर

देते ? क्या इसलिए कि उस डाकू और अत्याचारी के हाथ में अधिक शक्ति थी और वह शान्ति और व्यवस्था का ठेकेदार बना बैठा था ? लोग देखें कि शक्ति-प्रयोग में विश्वास करनेवाले इन दलों की उत्पत्ति का कारण क्या होता है। मूल कारण दूर किये बिना वृक्ष की शाखायें काटने से वह बुराई दूर नहीं हो सकती।

आस्कर वाइल्ड ने एक नाटक लिखा था ("Vera: the Nihilis")। उसमें उन्होंने उन लोगों का अच्छा चित्र-चित्रण करने का प्रयत्न किया है, परन्तु वह भी भली प्रकार या तो उन्हें स्वयं ही समझ नहीं पाये या समझा नहीं पाये। उन्होंने उनकी शपथ इस प्रकार लिखी है— " मानव प्र न को अपनेमें से नष्ट कर देना। न किसीसे प्रेम करना और न किसीके प्यारे बनना, न किसी पर दया करना, न स्वयं किसीसे दया की आशा करना, न किसीसे विवाह करना, न विवाह में किसीको दिया जाना—जब तक कि अन्त न आ जाय। गुप्त रूप से छुरी चला देना या छिपे हुए गिलास में विष मिला देना, पिता को पुत्र के विरुद्ध, और पति को पत्नी के विरुद्ध भड़का देना—यह सब बिना आशा, आशंका तथा भविष्य के विचार से, केवल विपत्ति सहन करने के लिए, सर्वनाश करने के लिए और प्रतिहिंसा के लिए।"

इस पुस्तक में प्रतिहिंसा का बड़ा कुत्सित रूप दिखाया गया है। स्थान, स्वार्थ-वश जो लोग जार से बदला लिया चाहते थे, वे सर्वनाश और जनता के परम शत्रु रहने पर भी उस दल में मिल सकते थे और उन्हें अपनी इच्छानुसार चला सकते थे। यह एकदम भ्रम-मूलक चित्र है। उनके चित्र-चित्रण में आस्कर वाइल्ड महाशय बहुत भूल कर गये, बहुत सी बातें उनकी सुन्दर भाषा में दब गई हैं, परन्तु फिर भी स्थान स्थान पर यह भूल खटकती है। वे प्रतिहिंसा अवश्य चाहते थे, पुरानी शासन-पद्धति और सामाजिक प्रबन्ध का नाश अवश्य चाहते थे, और उसमें बेतरह जुट भी गये थे, परन्तु वे लोग भी सर्वनाश (End) नहीं चाहते थे, विध्वंस के बाद वे निर्माण भी चाहते थे। प्रतिहिंसा की आग धधक उठनेपर भी वे अपना आदर्श छोड़ निरे आतंकवादी नहीं बन गये थे। इन बातों का ठीक ज्ञान निहिलिस्ट का जीवन (Career of a Nihilist) और दलित रूस (Underground Russia) के पढ़ने से ही मिल सकता है। काकोरी के शहीद श्री रामप्रसाद बिस्मिल द्वारा लिखित 'बोलशेविकों की करतूत' या श्री रामचन्द्र बी० ए० का 'निहिलिस्ट-रहस्य' भी मनोरञ्जक उपन्यास अवश्य हैं, परन्तु वही आस्कर वाइल्ड की भूल इनमें भी अखरती है।

निहिलिस्ट दल का जार ने एड़ी से चोटी का जोर लगा कर विध्वंस कर दिया था। 'विल ऑफ़ दी पीपुल पार्टी' (Will of the People Party) का भी जारशाही ने अस्तित्व मिटा दिया था। एक नहीं, दो नहीं, सैकड़ों-हज़ारों युवकों को फाँसी पर लटका कर जार के सिंहासन को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया गया, हजारों नहीं, लाखों युवकों और युवतियों को साइबेरिया में तिल-तिल कर मरनेपर मजबूर कर जार अपने शासन को चिरकाल तक अविचल रखने का प्रयत्न करते रहे, हजारों लोगों के समूहों पर गोलियाँ चला-चला कर सार्वजनिक आन्दोलन को कुचलने के यत्न होते रहे और क्षणिक सफलता भी होती रही, परन्तु आज जार कहाँ हैं ? उनका शासन और सिंहासन कहाँ है ? उनका जासूसी विभाग कहाँ है ? उनकी फाँसी, उनका साइबेरिया कहाँ है ? आज अनेक वैप्लविक दलों में से निहिलिस्ट दल की इच्छा पूर्ण हुई दीख रही है। निहिलिज्म का अस्तित्व मिटा कर जारशाही को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न किया गया। दल दबाये जा सकते हैं, वैप्लविक संस्थाओं और व्यक्तियों का अस्तित्व मिटाया जा सकता है, परन्तु विप्लव को मिटाने की शक्ति किसमें है ? निहिलिस्ट दल मर गया था, परन्तु उसका विप्लव जीता है। धन्य थे वे निहिलिस्ट व्यक्ति ! धन्य था उनका अपूर्व आत्मदान !!

बी० एस० सिन्धु

प्रान्तों का पुनर्विभाग

सन् १९१९ के शासन-सुधारों के बाद से ही इस बात की चर्चा होती आ रही है कि हमारे देश के प्रान्तो की सीमा फिर से निश्चित करने की आवश्यकता है। इधर कुछ दिनों से इस आन्दोलन ने और भी ज़ोर पकड़ा है। सन् १९२७ के मार्च में कुछ प्रमुख मुसलमान नेताओं ने दिल्ली में एक सभा करके यह इच्छा प्रकट की कि यदि उनकी कुछ शर्तें मान ली जायँ तो वे पृथक् निर्वाचन-प्रणाली को हटाकर सयुक्त-निर्वाचन प्रणाली क़ायम करने का समर्थन करेंगे। उनकी शर्तों में एक यह भी थी कि सिन्ध को बम्बई अहाते से निकालकर एक अलग प्रान्त बना दिया जाय। वास्तव में निर्वाचन-प्रणाली और सिन्ध के अलग प्रान्त बनाये जाने में कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी इस प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया गया। इसके दो मुख्य कारण थे। एक तो यह कि पृथक् निर्वाचन-प्रणाली राष्ट्र-निर्माण के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित करने वाली साबित हुई है और उससे हिन्दू मुसलिम-वैमनस्य भी बढ़ा है, अत: इसे दूर करने के लिए सभी राष्ट्रवादी उत्सुक हैं। और जब एक शर्त के साथ मुसलमानों ने भी इसका समर्थन करने की इच्छा प्रकट की, तब उनकी शर्तों पर विचार करना आवश्यक होगया। दूसरे यह कि भाषा के आधार पर प्रान्त बनाने के सिद्धान्त को मानते हुए कांग्रेस ने सन् १९२० से ही अपने सघटन के भीतर सिन्ध को एक अलग प्रान्त बना रक्खा है। और यद्यपि देश में कभी इस बातपर पूरी तरह से विचार नहीं किया गया कि प्रान्तों का पुनर्विभाग करते समय किन किन बातों का ख़याल रक्खा जाना चाहिए, तो भी यह बात साधारणतया मान ली गई थी कि इस प्रश्न को हल करने में भाषा का ख़याल रखना आवश्यक होगा। इस प्रकार सिन्ध को अलग प्रान्त बनाने अथवा न बनाने की समस्या उपस्थित होने पर अधिक तत्परता से इस बात की खोज होने लगी कि प्रान्तों का पुनर्विभाग किन सिद्धान्तों पर होना चाहिए। उड़ीसा, कर्नाटक आदि के लोग पहले से ही अपना अलग प्रान्त बनवाने का आन्दोलन करते आ रहे थे। इस समय उन लोगों ने भी अपनी आवाज उठाई और यह प्रश्न इतने महत्व का हो गया कि भारतीय शासन-विधान के सिद्धान्तों को निश्चित करते समय नेहरू-कमिटी को इस पर भी विशेष रूप से विचार करके अपनी सम्मति देनी पड़ी। भारत-सरकार ने साइमन-कमिशन के सामने जो वक्तव्य पेश किया है उसमें भी इस प्रश्न का महत्व प्रकट करते हुए यह बतलाया गया है कि उड़ीसा, तामिल, आन्ध्र, कर्नाटक आदि को अलग प्रान्त बनाने पर वहाँ के रहनेवाले ज़ोर दे रहे हैं। अस्तु।

प्रान्तों के पुनर्विभाग के सिद्धान्त निश्चित करने के पहले यह देखने की आवश्यकता है कि उनका वर्तमान विभाग किन सिद्धान्तों के आधारपर हुआ है।

अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे देश पर अंग्रेजों का प्रभुत्व क़ायम होने लगा। ज्यों-ज्यों उनका राज्य फैलता गया, त्यों-त्यों वे उसे अपनी सुविधानुसार प्रान्तों में बाँटते गये। प्रान्तों की सीमा निश्चित करते समय केवल शासन करने वाले अफसरों की सुविधा का खयाल रक्खा जाता था, वहाँ के रहनेवाले लोगों की सुविधा का नहीं। सन् १७७२ ईस्वी तक देश का जितना हिस्सा अंग्रेजों के अधिकार में आया था, उसे उन्होंने तीन प्रेसिडेन्सियों में विभक्त कर रक्खा था—बङ्गाल, बम्बई और मद्रास। प्रत्येक प्रेसिडेन्सी का शासन एक गवर्नर की मातहती में होता था, जिसपर ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी के 'कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स' का नियंत्रण रहता था। सन् १७७३ ई० में ब्रिटिश पार्लमेण्ट के 'रेगुलेटिंग एक्ट' के द्वारा बगाल के गवर्नर को गवर्नर-जनरल की उपाधि मिली और वह प्रत्यक्ष रूप से बगाल का शासन करने के अतिरिक्त मद्रास और बम्बई के गवर्नरों पर नियंत्रण भी रखने लगा। इसके बाद लगभग साठ बरसों तक जो-जो नये हिस्से अंग्रेजों की मातहती में आते गये, वे सुविधानुसार तीनों में से किसी एक प्रेसिडेन्सी में मिला दिये जाते रहे। इस प्रकार इन प्रेसिडेन्सियों की सीमा

बढ़ती गई। सन् १७९९ में टीपू सुलतान की हार के बाद मद्रास प्रेसिडेन्सी को उसका वर्तमान रूप मिला। इसी प्रकार सन् १८१८ मे तृतीय मराठा-युद्ध के पश्चात् बम्बई प्रेसिडेन्सी भी लगभग अपने वर्तमान रूप को पहुँच गई। इसके बाद उसकी सीमा मे केवल एक ही मुख्य परिवर्तन हुआ। सन् १८४३ मे सिन्ध को अंग्रेजों ने अपने अधिकार में लिया और बम्बई के निकट होने के कारण उसे बम्बई प्रेसिडेन्सी में मिला दिया। बगाल-प्रेसिडेन्सी के रूप में कई बार परिवर्तन हुआ है। सन् १७७५ में बनारस इस प्रेसिडेन्सी में मिलाया गया। इसके बाद सन् १८०१ से १८०३ तक पश्चिमोत्तर दिशा में जहाँ तक अंग्रेजी अमलदारी फैली वहाँ तक का सारा देश इसी प्रेसिडेन्सी की मातहती में रक्खा गया। सन् १८२४ में आसाम, अराकान और टेनेसरीम भी अंग्रेजों के अधिकार में आये और बगाल प्रेसिडेन्सी मे जोड दिये गये। इस प्रकार यह प्रेसिडेन्सी बहुत बड़ी होगई।

पूर्व मे ब्रह्मा के किनारे से लगाकर पश्चिम में अवध की सरहद तक का सारा देश एक गवर्नर-जनरल की मातहती मे था, जिसे प्रत्यक्ष रूप से इस हिस्से का शासन-कार्य देखने के अतिरिक्त बम्बई और मद्रास के गवर्नरों पर नियन्त्रण भी रखना पडता था। उसकी कठिनाइयों को देखते हुए १८३६ ई० में पश्चिमी हिस्से का शासन इस प्रेसिडेन्सी से अलग करके पश्चिमोत्तर प्रान्त के नाम से एक अलग प्रान्त बनाया गया और उसका शासन-कार्य एक लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर के सुपुर्द किया गया। १८५४ ई० में बंगाल प्रेसिडेन्सी का शासन भी गवर्नर-जनरल के हाथ से निकाल कर एक लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर क सुपुर्द किया गया। अबसे गवर्नर-जनरल का कार्य सब प्रान्तों के गवर्नरों अथवा लेफ्टिनेण्ट-गवर्नरों के कार्यों का निरीक्षण करना और उनपर नियंत्रण रखना ही रह गया। १८७४ ई० में आसाम, बङ्गाल प्रेसीडेन्सी से निकाल कर, अलग एक चीफ-कमिश्नर के मातहत कर दिया गया। १९०५ ई० में बगाल प्रसिडेन्सी के दो टुकड़े किये गये। पूर्वी हिस्से के साथ आसाम को मिलाकर एक प्रान्त बनाया गया। इसका नाम रक्खा गया 'पूर्वी बगाल और आसाम'। पश्चिमी हिस्से का नाम रक्खा गया 'बंगाल।' ये दोनों ही प्रान्त एक-एक लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर की मातहती में रक्खे गये। इस विभाग से जनता में बहुत असन्तोष बढ़ा और सन् १९१२ में सरकार को इसे बदलना पडा। आसाम फिर से एक चीफ-कमिश्नरी बना दिया गया, बिहार और उड़ीसा एक लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर की और बंगाल एक गवर्नर की मातहती में रक्खे गये। यही व्यवस्था अबतक चली आ रही है।

हम ऊपर कह चुके है कि सन् १८३६ में पश्चिमोत्तर प्रान्त के नाम से एक नया सूबा, लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर की मातहती में, क़ायम किया गया था। सन् १८५६ से अवध अंग्रेज़ी राज्य में मिलाया गया और उसका शासन एक चीफ-कमिश्नर के सुपुर्द हुआ। सन् १८७७ में यह पश्चिमोत्तर प्रान्त (वर्तमान, संयुक्त-प्रदेश-आगरा व अवध) की लेफ्टिनेण्ट-गवर्नरी में मिला दिया गया। लार्ड कर्जन के समय में इसका नाम बदल कर 'आगरा और अवध का संयुक्तप्रांत' रक्खा गया। पजाब सन् १८४९ मे मिलाया गया। थोड़े दिनों तक इसका शासन एक बोर्ड की मातहती मे रक्खा गया, बाद को एक चीफ-कमिश्नर की नियुक्ति हुई। सन् १८५७ की लड़ाई के बाद दिल्ली भी उसमें मिला दिया गया और उसका शासन एक लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर के सुपुर्द किया गया। १९१२ ई० में दिल्ली को पंजाब से अलग करके चीफ़-कमिश्नरी बना दिया गया। पश्चिमोत्तर-प्रान्त के कुछ हिस्सो और मध्य-भारत की कुछ जब्त रियासतों को मिलाकर सन् १८६१ ई० में मध्यप्रदेश की चीफ़-कमिश्नरी क़ायम की गई, सन् १९०३ ई० मे बरार उस में मिला दिया गया। अजमेर १८१८ में अंग्रेजी राज्य में मिलाया गया। इसका शासन गवर्नर-जनरल के राजपूताना वाले एजेण्ट करते हैं। कुर्ग १८३४ मे मिलाया गया। यह मैसूर के रेज़िडेण्ट की मातहती में है। १८६२ में लोअर ब्रह्मा की चीफ-कमिश्नरी कायम हुई। उसमें सन् १८८६ में अपर ब्रह्मा भी मिला दिया गया। सन् १८९७ में यह लेफ्टिनेण्ट-गवर्नरी बना दिया गया। १८८७ ई० में ब्रिटिश बलोचिस्तान की चीफ़-कमिश्नरी क़ायम हुई। सैनिक और राजनैतिक कारणों से पंजाब के कुछ जिलों को अलग करके सन् १९०१ में पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त बनाया गया।

कालेपानी की सज़ा पाये हुए लोगों की बस्ती के सुपरिंटेंडेण्ट की मातहती में अन्दमान-निकोबार द्वीपों का शासन होता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रांतों का वर्तमान विभाग किसी सिद्धान्त के आधार पर नहीं किया गया है। सैनिक, राजनैतिक तथा शासन-सम्बन्धी तत्कालीन सुविधाओं का ख़याल करते हुए ही प्रान्तों का रूप निश्चित किया गया था। स्थान के सादृश्य अथवा लोगों की इच्छा की ओर ध्यान नहीं दिया गया था। माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट में भी यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है।※ × × जबतक शासन का कार्य एक व्यक्ति के अधीन हो, और उसमे जनता का कोई हाथ न हो, तबतक प्रान्तों की बनावट के सम्बन्ध मे छान-बीन करने का प्रश्न बहुत महत्व का नही रहता। पर ज्यों-ज्यों शासन-कार्य मे प्रजा का हाथ बढ़ता जाता है त्यों-त्यों इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है कि प्रान्तों का रूप प्रजासत्तात्मक शासन-प्रणाली के अनुकूल बनाया जाय। प्रान्त ऐसे बनाये जायँ, जहाँ के लोगों की राजनैतिक समस्यायें एक प्रकार की हो, साथ ही वहाँ के रहने वाले एक ही प्रान्त के भीतर रहना पसन्द भी करते हों। सन् १९१९ से प्रान्तों में उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन का श्रीगणेश किया गया और इसलिए उस समय प्रान्तो के पुनर्विभाग का प्रश्न भी उपस्थित हुआ। पर अपनी जाँच के बाद तत्कालीन भारत-सचिव और वाइसराय इस नतीजे पर पहुँचे कि अभी प्रान्तों के रूप में कोई परिवर्तन न किया जाय। इसके कई कारण थे। एक तो यह कि लोगो की इच्छा जाने बिना प्रान्तों की सीमा में परिवर्तन करना उचित नहीं था। बङ्ग भङ्ग के बाद जो आन्दोलन हुआ था, उससे सरकार सबक ले चुकी थी और यही ठीक समझती थी कि लोगों के कहने पर और उनकी सम्मति के अनुकूल ही इस सम्बन्ध में कोई काम किया जाना चाहिए। दूसरे, शासन-विधान में कौन-कौन से परिवर्तन किये जायँ, इस प्रश्न का निपटारा करना ही उस समय बहुत कठिन हो रहा था। उसके साथ प्रान्तों के पुनर्विभाग का कठिन प्रश्न शामिल कर देने से समस्या और भी जटिल हो जाती। अत उन्होंने सिफारिश की कि प्रान्तों के पुनर्विभाग का प्रश्न बहुत आवश्यक है, और नई प्रान्तीय सरकारो को चाहिए कि इस सम्बन्ध मे जनता की इच्छा का पता लगा कर उसके अनुकूल कार्य करें१। इसी सिफारिश के अनुसार मौजूदा 'गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट' मे इस बात की व्यवस्था की गई है कि किसी प्रान्त की प्रान्तीय सरकार तथा व्यवस्थापक सभा की सम्मति तथा भारत-सचिव की मार्फत 'महाराज' की अनुमति ले कर गवर्नर-जनरल कोई नया 'गवर्नरी सूबा' बना सकेंगे, अथवा किसी सूबे के किसी हिस्से को अलग एक डिपुटी-गवर्नर की मातहती में रख सकेंगे२। 'जाइन्ट सिलेक्ट कमिटी' ने इस विषय पर अपनी यह सम्मति दी है कि प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा की सम्मति के बिना किसी प्रान्त की सीमा में कोई परिवर्तन न किया जाय, और किसी प्रान्त की व्यवस्थापक सभा के (एकभाषा और एकसभ्यता वाले) बहुसंख्यक सदस्य यदि अपना प्रान्त अलग करानी चाहें तो एक कमीशन के द्वारा इसकी जाँच कराई जाय। यदि अलग प्रान्त बनवाने की माँग पेश करनेवाले सदस्य अल्पसंख्यक हो, पर उनकी भाषा और सभ्यता एक हो तो भी उनकी माँग के सम्बन्ध मे जाँच कराई जाय ३। सन् १९२४ की 'रिफार्म्स इनक्वायरी कमिटी' ने इस प्रश्न पर सरसरी तौर से विचार किया। कमिटी के

※ In this way the present map of British India was shaped by the military, political, or administrative exigencies or conviniences of the moment and (except in the case of the reconstitution of Bengal) with small regard to the natural affinities or wishes of the People.—Report on Indian Constitutional Reforms, para 39, page 28

1 Report on Indian constitutional Reforms, para 246, pages 158 and 159

2 Government of India Act Section 25 A (1) and 60

3 Report of the joint Select Committee on the Government of India bill 1919, clause 15

बहुसंख्यक सदस्यों ने यह रिपोर्ट दी कि प्रान्तों के पुनर्विभाग का प्रश्न महत्व का है और आगे चलकर शासन-प्रणाली में सुधार करने के पहले इसे हल करना आवश्यक होगा १। पर अल्पसंख्यक सदस्यों ने इस प्रश्न को शासन-सुधार के प्रश्न से अलग बतलाया और यह राय दी कि शासन-सुधार की अगली किश्त मिलने के पहले प्रान्तों का पुनर्विभाग होना आवश्यक नहीं है २।

ऊपर के वर्णन से केवल सरकार की नीति का परिचय मिलता है। अब लोकमत की ओर दृष्टि डालिए। सन् १९१९ के पहले जनता ने सिद्धान्त की दृष्टि से कोई स्पष्ट और जोरदार माँग नहीं पेश की थी। समय-समय पर सरकार की व्यवस्था का विरोध करना अथवा इधर-उधर कुछ सुधार की प्रार्थना करना दूसरी बात है। पर इस विषय को लेकर देश-भर में अथवा किसी प्रान्त-विशेष में कोई आन्दोलन नहीं किया गया था। ऐसा होना सम्भव भी नहीं था। क्योंकि उस समय तक देश के शासन में न तो जनता का कोई हाथ ही था और न उसमें इतनी ताक़त ही थी कि अपनी माँग को स्वीकार करने के लिए सरकार को मजबूर कर सके। १९१९ ई० के बाद यद्यपि राज-कार्य में जनता को विशेष भाग नहीं मिला, पर शासन-सम्बन्धी मामलों में अपनी राय और अपना असन्तोष प्रकट करने के लिए कौंसिलों के भीतर मौक़ा मिला। इससे फ़ायदा उठाकर नरमदल के नेताओं ने शासन-सम्बन्धी विस्तार की छोटी-छोटी बातों पर विचार करना आरम्भ किया। आन्तरिक बातों पर विचार होते देखकर उड़ीसा और कर्नाटक आदि के लोगों ने अपने-अपने समस्त भागों को एक ही प्रान्तीय शासन के भीतर रखने का आन्दोलन शुरू किया। कांग्रेस की प्रान्तीय कमिटियों में कभी-कभी यह विषय उठाया गया, पर इस ओर कुछ विशेष काम नहीं हुआ। आखिर मार्च सन् १९२७ ई० की मुसलमानों की सिन्ध-सम्बन्धी माँग ने इस प्रश्न को एकाएक अधिक महत्वपूर्ण बना दिया और, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, नेहरू-कमिटी को भारतीय शासन-विधान के सिद्धान्तों के साथ-साथ इस प्रश्न पर भी अपनी राय देनी पड़ी।

कुछ लोगों की राय है कि इस वक्त शासन-विधान की योजना पर विचार करते समय इस प्रश्न को नहीं उठाना चाहिए। क्योंकि इससे मुख्य बात की ओर से ध्यान हटकर छोटी-छोटी बातों की ओर बँट जायगा। दूसरे इस प्रश्न पर दो प्रान्तों के बीच अथवा एक ही प्रान्त में रहनेवालों के बीच मतभेद हो जाने से असली और अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न पर राष्ट्र का एकमत स्थापित न हो सकेगा। पहला ध्येय होना चाहिए राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति। उसके बाद ये सब बातें आसानी से तय हो जायँगी। मद्रास प्रान्त की कार्यकारिणी-सभा के भूतपूर्व सदस्य तथा नरमदल के एक विद्वान् नेता सर पी० एस० शिवस्वामी ऐयर ने अपनी नवीन पुस्तक 'इण्डियन कांस्टिट्यूशनल प्राबलम्स' (भारतीय शासन विधान-सम्बन्धी समस्यायें) में यही राय प्रकट की है १। किन्तु सिन्ध को अलग प्रान्त बनाने के प्रश्न को निर्वाचन-प्रणाली-सम्बन्धी प्रश्न से इस प्रकार जोड़ दिया गया है कि इसपर विचार किये बिना शासन-विधान पर विचार करना असम्भव हो गया है।

नेहरू-कमिटी ने प्रान्तों के पुनर्विभाग के सम्बन्ध मे मुख्य रूप से दो बातों का ख़याल रखना आवश्यक समझा है। एक तो वहाँ रहनेवालो की इच्छा और दूसरे उनकी भाषा। किसी विशेष परिधि के भीतर रहनेवाले लोग यदि यह चाहें कि उतना हिस्सा एक अलग प्रान्त बना दिया जाय, तो उनकी यह इच्छा ही इस कार्य के लिए एक प्रधान कारण समझी जानी चाहिए। लोकतंत्र शासन-प्रणाली में जनता की इच्छा ही मुख्य वस्तु है। प्रत्येक कार्य में उसका ध्यान रखना आवश्यक है। एक प्रान्त के लिए एक भाषा की भी आवश्यकता है। आजकल तो देश-भर में राजकीय कार्य अंग्रेजी भाषा में होता है। पर अपने आन्तरिक कार्यों के लिए एक विदेशी भाषा का माध्यम देश की उन्नति में सहायक नहीं हो सकता। यद्यपि

1 Report of the Reforms Enquiry Committee, 1924, para 58 pages 49 51

2. Ibid, page 180

1 Indian Constitutional Problems by Sir, P, S.Sivaswamy Aiyer, page 75

भारतीय व्यवस्थापक सभा में कुछ दिनों तक इसके बिना काम नहीं चलेगा, पर प्रयत्न इस बात का होना चाहिए कि यह काम हिन्दी के द्वारा हो। प्रान्तीय कारबार उस प्रान्त की भाषा में होना चाहिए। ऐसा होने से प्रान्त की साधारण जनता राजकीय कार्यों से परिचित रहेगी और अपने प्रतिनिधियों पर नियन्त्रण रख सकेगी। एक प्रान्त के भीतर एक से अधिक भाषाओं के होने से खर्च बहुत बढ़ेगा और असुविधा भी बहुत होगी। सरकारी दफ़्तर तो किसी एक भाषा में ही रक्खा जा सकता है, पर एक प्रान्त के भीतर कई भाषाओं के होने से सरकार को अपने मन्तव्य उन सभी भाषाओं में प्रकाशित करने होंगे। ऐसा न होने से प्रान्त की जनता सरकारी काम-काज से वाकिफ न रहेगी। शिक्षा का माध्यम भी मातृ-भाषा ही होना चाहिए। और यदि प्रत्येक प्रान्त में एक से अधिक भाषायें होंगी तो यह कार्य बहुत कठिन और खर्चीला हो जायगा। लोकमत और भाषा—इन दो प्रधान बातों के अतिरिक्त और भी कुछ बातों का खयाल रखना आवश्यक है। जैसे क्षेत्रफल, भौगोलिक परिस्थिति, जनता की आर्थिक अवस्था, राजकीय आय-व्यय तथा शासन-सम्बन्धी सुविधा।

लोक-तन्त्र शासन-प्रणाली में प्रान्तों का क्षेत्रफल अधिक बड़ा नहीं देना चाहिए। छोटे प्रान्तों में वहाँ के रहनेवाले एक दूसरे से अधिक परिचित रहते हैं और इस प्रकार प्रतिनिधियों के निर्वाचन में तथा उनके कार्यों और सरकार की नीति पर नियन्त्रण रखने में जनता को सुविधा होती है। पर इस सम्बन्ध में दो बातें और भी ध्यान रखने की हैं—एक तो यह कि प्रान्त इतना छोटा न हो कि वह अपना खर्च खुद बर्दाश्त न कर सके और दूसरे यह कि यदि किन्हीं ऐतिहासिक कारणों से बहुत दिनों से कोई बहुत बड़ा प्रान्त चला आता हो तो खामख्वाह उसे कई भागों में विभक्त करना भी ठीक नहीं। प्रान्त की भौगोलिक परिस्थिति और शासन-सम्बन्धी सुविधाओं का घनिष्ट सम्बन्ध है। प्रान्त की परिस्थिति में जितनी ही अधिक भौगोलिक एकता होगी उतनी ही उसके शासन में सुविधा होगी। भौगोलिक परिस्थिति में समानता होने से कृषि तथा व्यापार आदि की समस्याओं में भी समानता रहेगी। इसलिए उनका नियमन भली प्रकार से किया जा सकेगा। पुराने ज़माने में यह भी आवश्यक समझा जाता था कि प्रान्त के भीतर रहनेवाले लोगों में धर्म और संस्कृति की एकता भी होनी चाहिए। पर इस ज़माने में इसकी आवश्यकता नहीं है। हमारे देश में एक तो यह सम्भव ही नहीं है, और दूसरे इस प्रकार का विभाग करना अनुचित भी है। भिन्न-भिन्न धर्मों के लोग एक ही दायरे के भीतर इस तरह निश्चित हो गये हैं कि उनके अलग-अलग विभाग बनाना मुश्किल है। और यदि इसके लिए प्रयत्न भी किया जाय तो उससे लाभ के बजाय हानि ही होगी। उससे अनुचित प्रतिद्वन्द्विता बढ़ेगी और राष्ट्रीय कार्यों के लिए प्रान्तों में पारस्परिक सहयोग न होकर विरोध बढ़ेगा, जिससे राष्ट्र की शक्ति कमज़ोर होगी। सारे संसार में और विशेषकर हमारे देश में आवश्यकता इस बात की है कि भिन्न-भिन्न धर्मों के माननेवाले एक-दूसरे के संसर्ग में ज्यादा रहें, एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करें, और यह देखते हुए कि सबका मूल-तत्त्व एक ही है, ऊपरी भेदभाव के कारण वैमनस्य न बढ़ावें। एक ही प्रान्त में भिन्न-भिन्न धर्म के मानने वालों के रहने से पारस्परिक सहिष्णुता का भाव बढ़ेगा, संकुचित साम्प्रदायिक विचार दूर होंगे और समाज की दृष्टि विशाल होगी।

इन सिद्धांतों के आधारपर भारतवर्ष के प्रान्तों का विभाग करने के मार्ग में एक बहुत बड़ी कठिनाई यह है कि सारा देश प्रत्यक्ष-रूप से एक ही राजसत्ता के अधीन नहीं है। कुछ अंशपर प्रत्यक्षरूप से अंग्रेजों का अधिकार है और कुछपर उनकी मातहती में देशी नरेशों का राज्य है। ये दोनों तरह के राज्य एक दूसरे से गुथे हुए हैं। और देश के कई हिस्से—जो और सब प्रकार से एक प्रान्त बनाने योग्य हैं—इन दोनों राज्यों के अधीन बँट गये हैं, और इस समय उन्हें मिलाकर एक प्रान्त नहीं बनाया जा सकता।

यहां पर हमें केवल ब्रिटिश भारत के सम्बन्ध में विचार करना है। नेहरू-कमिटी ने प्रान्तों के विभाग के सम्बन्ध में सिद्धान्त तो बतला दिया, पर नये प्रान्त बनाने के सम्बन्ध में अपनी राय उन्हीं हिस्सों के सम्बन्ध में दी है, जिन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी माँग पेश की थी। उड़ीसा के सम्बन्ध

में कमिटी के सामने पूरे प्रमाण नहीं पेश हुए, इसलिए वह कुछ निश्चय न कर सकी। पर उसके एक सदस्य श्री सुभाष-चन्द्र बोस की राय थी कि उड़िया-भाषा-भाषियों का एक अलग प्रान्त बना दिया जाय, बशर्ते कि वे अपनी प्रान्तीय सरकार का खर्च बर्दाश्त कर सकें। इस समय ये लोग बंगाल, बिहार और आन्ध्र प्रान्तों में विभक्त हैं। कुछ बंगाली भी आसाम और बिहार की सीमा में पड़ जाते हैं, जिन्हें इन प्रान्तों से निकाल कर बंगाल में मिला देने की सिफारिश की गई है। केरल का बहुत-कुछ हिस्सा त्रावणकोर और कोचीन रियासतों में है। उसे छोड़ देने पर बहुत छोटा-सा हिस्सा बच जाता है और कमिटी की राय में इस समय वह अलग प्रान्त बनाये जाने के योग्य नहीं है। कर्नाटक को एक अलग प्रान्त बनाने के सम्बन्ध में बहुत दिनों से आन्दोलन चल रहा है। ये लोग ब्रिटिश भारत के बम्बई और मद्रास अहातों तथा मैसूर और निजाम की रियासतों में बँटे हुए हैं। रियासतों के हिस्से को छोड़ देने-पर भी इसका इतना बड़ा हिस्सा बच रहता है कि कमिटी की राय में जाँच-पड़ताल के बाद वह एक प्रान्त बना दिया जाना चाहिए। सबसे कठिन प्रश्न सिन्ध का था। मुसलमान नेताओं ने सिन्ध को एक अलग प्रान्त बनाने की माँग जिस रूप में पेश की उसमें साम्प्रदायिकता की बू आती थी। इसीलिए इसका विरोध भी हुआ। पर नेहरू कमिटी ने प्रान्तों के विभाग के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त निश्चित किया है, उसके अनुसार सिन्ध एक अलग प्रान्त बना दिया जाना चाहिए। उसकी भाषा भी एक है और वहाँ के रहने वालों का बहुत बड़ा बहुमत अर्थात् लगभग $\frac{3}{4}$ यह चाहता है कि सिन्ध एक अलग प्रान्त बना दिया जाय। यह सच है कि इस $\frac{3}{4}$ की आबादी मुसलमानों की है और केवल वही यह माँग पेश करते हैं। लेकिन इस कारण उनकी माँग का जोर कम नहीं होता। हाँ, यह प्रश्न महत्व का जरूर है कि सिन्ध अपना खर्च अपने आप बर्दाश्त कर सकेगा या नहीं? इसके सम्बन्ध में मतभेद है। कई विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि खर्च के मामले में सिन्ध अपने पैरों पर खड़ा न हो सकेगा। पर कमिटी को इस बात की भी उम्मीद दिखाई देती है कि आगे चल-कर उसकी आमदनी बढ़ जायगी, इसलिए उसने सिफारिश की है कि यदि कोई बहुत बड़ी अड़चन न आ जाय—जिसकी इस समय कोई आशंका नहीं है—तो सिंध एक अलग प्रान्त बना ही दिया जाय। कमिटी की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए सर्वदल-सम्मेलन का जो अधिवेशन लखनऊ में गत २८ से ३१ अगस्त तक हुआ उसने भी कमिटी की इन सिफारिशों को स्वीकार करते हुए यह प्रस्ताव पास किया कि देश में नेहरू-योजना के अनुसार शासन-प्रणाली स्थापित होने पर सरकार एक कमीशन नियुक्त करे। यह कमीशन कर्नाटक और आन्ध्र को अलग-अलग प्रान्त बना दे, भिन्न-भिन्न प्रान्तों के उड़िया-भाषा-भाषियों को एकत्र कर उनका एक प्रान्त बना दे, बशर्ते कि वे अपना खर्च खुद बर्दाश्त कर सकें, हिन्दुस्थानी मध्य-प्रान्त, केरल तथा और जिस हिस्से के लोग अपना अलग प्रान्त बनवाना चाहें उनके सबंध में रिपोर्ट करे; और नेहरू-कमिटी के सिद्धान्तों के अनुसार आसाम, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, हिन्दुस्थानी मध्यप्रांत, केरल और कर्नाटक की सीमा निश्चित करे। सिंध के अलग किये जाने के सम्बन्ध में वहाँ के हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भी एक सम-झौता हो गया, जिसे सर्वदल सम्मेलन ने भी स्वीकार कर लिया। वह समझौता इस प्रकार है—देश में नेहरू-योजना के अनुसार शासन-प्रणाली स्थापित होने पर सिंध बम्बई से निकाल कर एक अलग प्रांत बना दिया जाय, बशर्ते कि

(१) जाँच के बाद यह मालूम हो कि

(क) खर्च के सम्बंध में वह स्वावलम्बी होगा।

(ख) यह मालूम होने पर कि वह स्वावलम्बी न होगा, यह बात वहाँ के लोगों के सामने रक्खी जाय। इसपर भी वहाँ का बहुमत उसे अलग प्रान्त बनाने पर ज़ोर दे और खर्च की जिम्मेदारी लेने पर तैयार हो।

(२) सिन्ध में उसी तरह की शासन-प्रणाली प्रचलित हो, जैसी कि अन्य प्रांतों में।

(३) सिंध में अल्पसंख्यक मनुष्यों को वे सब अधि-कार दिये जायँ, जो नेहरू-योजना के अनुसार

अन्य प्रांतों में अल्प संख्यक मुसलमानों को दिये गये है।

इस प्रकार नेहरू-कमिटी और सर्वदल-सम्मेलन ने प्रांतों के पुनर्विभाग के प्रश्न को सब की राजी खुशी से इस हद तक निपटा कर, शासनयोजना सम्बन्धी एक बहुत बडी समस्या हल कर दी है। पर इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि इस सम्बन्ध में अब और कुछ करना बाकी नहीं रह गया। मध्य प्रदेश और बम्बई अहाते की समस्या को एक दिन सुलझाना पडेगा। मध्य प्रदेश में हिन्दुस्तानी और मराठी जिलों का मेल नही बैठेगा। भाषा की विभिन्नता के कारण शिक्षा और शासन का कार्य, दोनों हिस्सों को मिलाये रखने से, ठीक तरह नहीं चल सकेगा। हिन्दुस्तानी मध्य प्रदेश में कुछ लोग इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि वह एक अलग प्रांत बना दिया जाय। और जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, सर्वदल सम्मेलन ने भी इस सम्बन्ध में जाँच किये जाने की सिफारिश की है। हिंदुस्तानी मध्य प्रान्त के अलग हो जाने पर मध्य प्रदेश में ४ मराठी जिले और बरार के ४ जिले रह जायँगे। बम्बई अहाते से सिन्ध और कर्नाटक के निकल जाने से वहाँ गुजरात और महाराष्ट्र के हिस्से रह जायँगे। भाषा की दृष्टि से गुजरात को एक अलग प्रान्त बनाकर, बम्बई अहाते के मराठी जिलों को मध्य प्रदेश के मराठी जिलों और बरार के साथ मिलाकर एक बड़ा राष्ट्र प्रान्त बन सकता है, जिसकी भाषा मराठी होगी। पर यह प्रश्न तभी उपस्थित होगा जब वहाँ के लोग ऐसी इच्छा प्रकट करेंगे। कांग्रेस के संघटन में बम्बई शहर एक अलग प्रान्त माना गया है। और बहुत सम्भव है कि आगे चलकर शासन-व्यवस्था में भी उसे एक अलग प्रान्त मानने की आवश्यकता प्रतीत हो। क्योंकि एक बहुत बड़ा शहर, बन्दरगाह और व्यापारिक केन्द्र होने के कारण उसकी समस्यायें उस प्रान्त के अन्य शहरों की समस्याओं से बिल्कुल भिन्न हैं। शेष प्रान्तों के सम्बन्ध में इस समय कोई झगड़ा नहीं है। और आवश्यकता का अनुभव किये बिना उनकी सीमा में हेर-फेर करना उचित भी नहीं है।

कन्हैयालाल शास्त्री

विस्मृता उर्म्मिला

प्रासाद-प्राङ्गण में

(४१)

"देखो जीजी, एक कहानी माँ ने मुझे कही थी,
एक कपोती जब उपवन मे उड़-उड खेल रही थी,
माँ आई थी चुनने फूल, चली आई मै भी थी,
तब यह कथा सुनाई थी, गोदी मे मैं बैठी थी।"

(४२)

वचन उर्म्मिला के सुन सीता हो उत्फुल्लित बोली—
मानों डोल उठी उपवन में पञ्चम स्वर की टोली—
"अच्छी है मेरी उर्मिला—कहेगी ये सब बतियाँ—
जैसे चकई कथा सुनाया करती सारी रतियाँ।"

(४३)

"जीजी, मैं तो पहले तुमसे सुन लूँगी कुछ बातें,
तब अपनी जबान खोलूँगी, जान गई ये घातें—
तुम सुन-सुन कर चुप हो जाती, हो मुझको न बताती;
एक कहानी कहने से मुझसे तुम हो सकुचाती!"

(४४)

तब सीता अपने मृदु ओष्ठ-द्वय को धीरे-धीरे—
खींच लेगई बहन उर्म्मिला के कर्णाम्बुधि तीरे,
और कहा कुछ, जिसको सुन कर कनीयसी मुसकाई,
मानो भ्रमर-गीत को सुनकर कलियाँ हों हरखाई।

(४५)

"आहा! कहो, अरी जीजी, तुम यह तो कथा कहोगी,
कहो, कहो, मत देर लगाओ, बातो मे न बहोगी,

फिर मैं अहा ! सुनाऊँगी री, तुमको एक कहानी,
जिसको सुन, जीजी, तुम हो जाओगी पानी-पानी।"

(४६)

"सुन रानी उर्म्मिले, कई सौ बीत चुकी हैं बरसें—
तब निकली थी युद्धोद्यता एक बाला निज घर से;
तात चरण ने हो प्रसन्न जो कथा कही है मुझसे—
वही कह रही हूँ, मेरी उर्म्मिला, आज मैं तुमसे;

(४७)

"पौर-जानपद का प्रिय एक चक्रवर्ती नृपवर था,
राज्य कर रहा वह गान्धार देश की शुभ भू पर था,
दुष्ट वैरियों के दलने मे सूर्य्य-समान प्रखर था;
प्रजा पालने मे वह राजा पूरा इन्द्र प्रवर था।

(४८)

"उसकी एक सर्वगुण-सम्पन्ना थी अच्छी रानी,
सफल राज्य मे सींच रही थी वह करुणा का पानी,
लहराती थीं प्रजा-जनो की मनोवाञ्छायें यों-
इन्द्र-लोक मे देव-गणों की सब आकांक्षायें ज्यों।

(४९)

"सब ओरों से पर्वत-माला घेरे थी जन-पद को,
माता के समान, रखती थी दूर सदा कुविपद को,
शुभ्र हेम-हिम से आच्छादित उसकी शिखरें सारी,
नवल उषा उनपर मोहित हो, जाती थी बलिहारी।

(५०)

"स्वर्ण-छटा से जब आलोकित होती पर्वतश्रेणी,
तब मानों रवि किरण गूँथती थी उसकी शुभ वेणी,
पर्वत-माला अपने हिय का हिम पिघला-पिघला कर,
सूर्य्यदेव को जलार्घ्य देती थी हिय को विकसा कर।

(५१)

"गा, विकास के स्वर, झरने दौड़े-दौड़े फिरते थे—
हो प्रसन्न अङ्कों में एक-दूसरे के गिरते थे,
उस पार्वत्य प्रदेश-स्थल में ऐसी लीलायें—
नृत्य सदा करती थीं होकर अति क्रीड़ा-शीलायें।

(५२)

"वह गान्धार देश था रंग-मञ्च नर्तकी प्रकृति का,
जहाँ खेल होता रहता था प्रकृति नटी की कृति का;
दुर्गम छोटे-छोटे पर्वत मार्ग अनेक खचित थे—
मानो भूधर के ललाट पर चिन्ता-चिन्ह-रचित थे।

(५३)

"पर्वत-पादस्था उपत्यका शोभित यों होती थी—
मानों आरोहण की लय अवरोहण में सोती थी;
पर्वत की शुभ्रता और भू की कालिमा निराली—
बनी हुई थी मानों श्वेत कृष्ण केशों की जाली।

(५४)

"ऊपर से झरने गाते थे, नीचे से सब पक्षी,
मानों प्राणों के पण लगा रहे थे आन विपक्षी,
आँख फाड़ कर देख क्या रही हो ? उर्म्मिला सलौनी,
कथा सुन रही हो कि नहीं री तुम छोटी-सी छौनी ?"

(५५)

"जीजी, दो-दो काम कहो मैं कैसे करूँ बताओ ?
कथा सुनूँ या शोभा देखूँ, क्या-क्या करूँ ? बताओ,
ऐसी-ऐसी बड़ी-बड़ी बातें तुम सीखीं कैसे ?
तात-चरण की ये सब बातें याद रख सकीं कैसे ?

(५६)

"जब तुम झरने, फूल, पक्षियों की बातें करती थीं,—
जब तुम अभी पर्वतों की शोभा कह मन हरती थीं,—
तब मैं समझ रही थी मानों तात चले आये हैं—
कह-कह कर ये बात मेरे मन को लभाये हैं।"

(५७)

"मैं जब अच्छी कथा कह रही होती हूँ तब तुम यों—
सदा, उर्म्मिले, बीच-बीच में बकती जाती हो क्यों ?
मैं क्या करूँ ? तात ने जैसी बातें मुझे कही थीं—
वे सब मेरे मन में चित्रित-सी हो, अरी, रही थीं।

(५८)

"अब न बीच में गड़बड़ करना सुनती तुम अब रहना—
प्यारी-प्यारी सारी यह छोटी-सी गाथा, बहना।
हाँ, तो मैं क्या कहती थी? हाँ हाँ, गान्धार नगर में—
राज्य कर रहा था नृसिंह राजा उस प्रदेश भर में।

(५९)

"उस राजा के एक कुँवर था और एक थी कुँवरी,
सुनती हो?"—"हाँ, एक कुँवर था और एक थी कुँवरी।"
"राजा शिक्षायें देता था शास्त्र-शस्त्र की उनको,
दी थी गुरु ने निर्म्मल दीक्षा कई अस्त्र की उनको।

(६०)

"वे दोनों राजा रानी के, जीवन के तार थे,
कई उन्होंने अपने ऐहिकसुख उन पर वारे थे,
माँ की प्यारी गोदी में जब दोनों छुप जाते थे—
तब रानी के प्यारे भाव अनोखा सुख पाते थे।"

(६१)

"जीजी कैसा ही अच्छा होता यदि तुम-हम वे होते,
मैं भगिनी, तुम होती तात-चरण के बस इकलौते,
हम तुम दोनों खूब देखते पर्वत की शोभा को
दीप्तिमान शिखरों की सारी आभा मन-लोभा को।"

(६२)

"फिर बोली तुम?"-"अच्छा अच्छा अब न कभी बोलूँगी
कहे चलो तुम, अब कभी न अपनी जबान खोलूँगी।"
"अच्छा, फिर बस इसी तरह कुछ बरस कट गये उनके
दोनों भाई-बहन, सुनो, आगार हो गये गुन के।"

(६३)

"राजा की उस प्यारी बेटी की सुकान्ति कमनीया—
चमक-चमक कर दिग्दिगन्त में व्याप्त हुई रमणीया;
वह सारा पार्वत्य प्रदेश हुआ मुखरित उस छवि से—
ज्यों प्रातर्वेला मुखरित होती है आगत रवि से।

(६४)

"प्रबल प्रतापी राजकुमार आर्य्य-मुकुटों का मणि था;
वह था नर-शार्दूल, दस्युओं का दल करि-करिणी था,
उसके सन्निधान में बैरी कभी न टिक पाते थे—
उसके बाण, दस्यु-तम, रवि-कर-सदृश काट आते थे।

(६५)

"उसी राज्य के निकट अनार्य्यों का राजा बसता था—
जो गान्धार देश के राजा से लड़ता रहता था;
कई बार होकर परास्त उसने हा-हा खाये थे
आर्य्यों की उदारता से फिर स्वाधिकार पाये थे।

(६६)

"उसी देश के उस अधकचित राजा ने जब देखा—
आर्य्य सुन्दरी को, उस सिंह-शावकी को जब पेखा,—
तब वह फिर से युद्धोद्यत हो गया और यों बोला—
मानो कृतघ्नता का दुष्ट-भाव जगती में डोला,"

(६७)

"मेरी पुत्र-वधू होगी यह आर्य्य सुन्दरी लोनी,
अथवा मेरी बजा चलेगी फिर मेरी अक्षौणी;
कर दूँगा गान्धार देश का गर्व चूर्ण मैं क्षण में,
अब की बार मिलाऊँगा मैं उस नगरी को कण में।"

(६८)

"आर्य्य नृपति गान्धार देश के यह सुन क्रुद्ध हुए यों—
दिनमणि अपने विस्तृत नभ-पथ में अवरुद्ध हुए ज्यों;
भौंहों में बल पड़े, आँख से निकले अग्नि अँगारे
असि खनकी, धनु तने, बज गये भेरी और नगारे।"

(क्रमशः)

—"नवीन"

भारतवर्ष का ऋण

कांग्रेस के गया के अधिवेशन में श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने भारतवर्ष के ऋण पर एक बड़ा उपयोगी प्रस्ताव स्वीकृत कराके सरकार को सावधान किया था। चक्रवर्ती जी का वह प्रस्ताव बड़े महत्व का था, और राजनैतिक क्षेत्र में सरकार को चुनौती देने के लिए सर्वप्रथम घोषणा थी। पर गया में उस समय कौंसिल-प्रवेश का आन्दोलन जोरों पर था, और लोगों का ध्यान केवल उसी ओर था। उस समय दल-बन्दी भी जोरों पर थी। इसलिए उस प्रस्ताव का न तो उसके बाद कोई व्यावहारिक उपयोग हुआ, और न फिर कभी कांग्रेस के मञ्च पर विचार करने के लिए वह उपस्थित किया गया। चक्रवर्ती जी ने गया में प्रस्ताव करते समय दो-चार बातों के सिवा, आर्थिक दृष्टि से विस्तार-पूर्वक कुछ नहीं कहा था। उन्होंने तो ब्रिटिश सरकार को केवल सावधान किया था कि वह आगे से भारतवर्ष के नाम से कोई ऋण न ले, अगर सरकार कोई ऋण लेगी, तो स्वतन्त्र होने पर उसके लिए भारतवर्ष की सरकार किसी भी प्रकार जिम्मेवार न होगी। उस ऋण के लिए एकमात्र ब्रिटिश सरकार जिम्मेवार होगी और उसे ही वह चुकाना होगा। उन्होंने विदेशियों को भी आगाह किया था कि आगे से जो ऋण वे भारत-सरकार को देंगे, उसके लिए वे सावधान रहें। स्वतन्त्र भारतवर्ष उसे नहीं चुकावेगा।

पर इस प्रस्ताव का आन्दोलन न तो कभी देश में हुआ और न विदेशों में। इतना ही नहीं, जिस सर्व-दल-सम्मेलन का अधिवेशन इतनी सफलता से हुआ और जिसकी लम्बी चौड़ी रिपोर्ट बहुत जोर-शोर से स्वीकृत हुई, उसने भी भारतवर्ष के ऋण का कोई विवेचन नहीं किया। यदि यह कहा जाय कि सरकार छिपकर ऋण लेती है और जनता को उसका ज्ञान नहीं होता, सो बात भी नहीं।

सराफ़ा और हुँडियामन के बाजार में सरकारी ऋण बड़े विकट रूप में उपस्थित होता है। जिन दिनों सर्व-दल सम्मेलन की कमिटी के सदस्य अपनी रिपोर्ट तैयार कर रहे थे, उन्हीं दिनों भारत-सरकार ने अपने नये ऋण की बहुत बड़ी रकम पूरी वसूल कर ली थी। सारे समाचार पत्रों में इसका उल्लेख था। भारतवर्ष के ऋण के सम्बन्ध में राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) उदासीन है। अंग्रेजी पढ़े-लिखे कुछ ही लोग इस पर विचार करते हैं, पर वह भी थोड़ा। हिन्दी के पाठकों के लिए तो यह एक नई बात है। हम यहाँ पर इस लेख में शास्त्रीय विवेचन न कर ऋण की भयंकरता के सम्बन्ध में ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। यदि इसके बाद पाठक दिलचस्पी लेंगे, तो हम और बातें भी लिखेंगे। अस्तु।

ब्रिटिश शासन की पूरी अमलदारी होने के कुछ समय बाद भारतवर्ष का ऋण केवल १०० करोड़ रुपये था। १९१४ई० में महायुद्ध के आरम्भ-काल में यह ऋण ५४१ करोड़ रुपये तक पहुँच गया था। तब यह सोचा गया था कि युद्ध के बाद स्वराज्य मिलने पर, यह ऋण नहीं रहेगा, अथवा बहुत थोड़ी रकम देने को रह जायगा। पर ऐसा हुआ नहीं। युद्ध के समाप्त होते ही यह ऋण भारतवर्ष के लिए चिन्ता-जनक हो गया। अब यह रक़म क़रीब १,००० करोड़ रुपये तक पहुँच गई है। पाठक विचार करें कि इस ऋण ने भारतवर्ष को किस प्रकार जकड़ रक्खा है। स्वराज्य मिलने पर भी यह आर्थिक पराधीनता तो बनी ही रहेगी।

हमारा सारा ऋण दो हिस्सों में विभक्त है। एक ऋण उत्पादक और दूसरा अनुत्पादक। इन नामों से ही दोनों प्रकार के ऋणों का अर्थ जाना जा सकता है। १९२५-२६ई० की समाप्ति में भारत सरकार और प्रान्तीय-सरकार का मिलाकर कुल उत्पादक ऋण ७३५.१८ करोड़ रुपये था। अनुत्पादक ऋण भी इसी समय २२१.८७ करोड़ रुपये था। भारतवर्ष के नाम से अंग्रेज शासकों ने यह ऋण लेकर किन कामों में खर्च किया है, उसे हम लिखने बैठें तो अंग्रेजी शासन की भयंकर आलोचना हो जायगी। थोड़े में यदि यह कहा जाय कि यह ऋण इंग्लैंड के स्वार्थ के लिए भारतवर्ष के सिर डाला गया, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

कारण यह कि ऋण का अधिक भाग ऐसे ही कामों में खर्च किया गया है। यह तो सभी जानते हैं कि इस ऋण की अधिकतर राशि सीमाप्रान्त, मिश्र और पूर्विसोनिया की चढ़ाइयों में ख़र्च की गई और थोड़ी-बहुत बजट के घाटे को पूरा करने में लगा दी गई। १८ पेंस को इंडियामन की दर का क़ानून बनानेवाले भारत-सरकार के अर्थमन्त्री सर बेसिल ब्लेकेट ने उस ऋण की भयङ्करता का अनुभव किया था। उन्होंने यह कहा था कि सरकार का कर्तव्य है कि वह इस ऋण को आगे बढ़ने ही न दे, बल्कि घटावे। पर वह दुर्भाग्यवश १८ पेंस की दर कायम रखने पर ही तुले हुए थे। कल्पित अधिक दर से ऋण घटने की अपेक्षा बढ़ता है। यद्यपि सर बेसिल ब्लेकेट ने अपने तर्कों की इज्जत बनाये रखने के लिए १०० करोड़ रुपये का ऋण घटा दिया था। पर उन्होंने अपने पद से बिदाई ले लेने के पूर्व देख लिया था कि भारत-सरकार को नया ऋण इंग्लैंड से लेना पड रहा है, यदि सरकार यह ऋण नही लेती है तो इंडियामन का ऊँची दर कायम नहीं रह सकती है। पर वह इन इल्जामों का कोई उत्तर न दे सके। इसके बाद सरकार ने फिर नया ऋण लेकर कुल ऋण को फिर बढ़ा दिया है। ऋण घटाने की ओर वस्तुतः कोई भी प्रयत्न नही हो रहा है।

सन् १९२५ में बड़ी व्यवस्थापिका परिषद् मे इस संबंध मे एक प्रश्न पूछा गया था और उसके उत्तर मे सरकार ने यह कहा था कि भारतवर्ष की साख विदेशों मे क़ायम रखने के लिए उत्पादक ऋण को प्रतिवर्ष "घटती कोष' मे बजट से रकम रखकर मिटा दिया जाय। पर बम्बई के बैरिस्टर श्रीयुत जमनादास मेहता को यह प्रस्ताव पसंद नहीं आया और उन्होंने भारतवर्ष के सिर से इस प्रकार शीघ्रता से ऋण मिटाने का पूर्ण विरोध किया। उन्होंने कहा कि बजट से घटती कोष में कभी बड़ी रकम नहीं निकाली जा सकेगी। उन्होंने आगे चलकर कहा कि इस ऋण के सम्बध मे हमें क्यों घबराना चाहिए। हमारे ऋण के लिए सरकारी सम्पत्ति, मिलिटरी रोड, मिलिटरी वर्क्स, नहरें, और पी० डब्ल्यू० डी० की अन्य वस्तुयें हैं। दूसरी बात उन्होंने यह भी कही कि जनता चाहती है कि पहले उसपर से भारी कर घटाया जाय, उनकी यही सिफारिश रही है कि किसी प्रकार का ऋण घटाने की अपेक्षा कर घटाकर जनता को सन्तुष्ट करना चाहिए। अन्त में यही ठहरा कि प्रति वर्ष घटती कोष से चार करोड़ तक का कर कम किया जाय।

इस प्रकार व्यवस्थापिका परिषद् इस ऋण पर कोई निर्णय नहीं कर सकी। हमे यह भी जानना चाहिए कि इस ऋण का भारतवर्ष को कितना ब्याज प्रति वर्ष देना पडता है। ब्याज की कुल रकम चालीस करोड रुपये हैं; पर अब जनता को ९ करोड रुपये का ही ब्याज देना पड़ता है, बाक़ी का ब्याज रेलवे की तथा दूसरे उत्पादक कामों की आमदनी से अदा हो जाता है। जनता के माथे से इस प्रकार ब्याज का बोझ कम होना तो संतोष की बात है, परन्तु उससे हमें प्रसन्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि हमारे जिन कामों की आमदनी से हमारा लाभ होना था, उसका मुनाफ़ा हमारे ब्याज में चला जाता है। इसलिए जनता पर से ऋण का बोझ बिलकुल ही घट जाना चाहिए। जबतक ऋण बना रहेगा, तबतक हमारी आमदनी में से ब्याज जाता ही रहेगा। इसलिए, जो लोग यह कहते हैं कि हम पुराने ऋण की चिन्ता नही करनी चाहिए, उनसे हम सहमत नहीं हैं। हमारी दृष्टि से यह आवश्यक है कि इस संबध मे कोई स्पष्ट नीति होनी चाहिए। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने यह घोषणा की थी कि भारत सरकार आगे से भारतवर्ष के नाम से कोई ऋण न ले। पर उनका यह प्रस्ताव कहाँ तक व्यावहारिक है, यह भी सोचने की बात है। यदि उसपर ध्यान नहीं दिया जा सकता, तो हमें यह भी सोचना होगा कि यदि हमने पुराना ऋण अदा नहीं किया तो हमारे नये ऋण की कितनी बुरी अवस्था होगी। तब हमे थोड़ी दर की अपेक्षा, ऊँची ब्याज की दर मे ऋण लेना पड़ेगा। इसके लिए हमारी वर्तमान परिस्थिति मे यही उपाय है कि व्यवस्थापिका परिषद् के प्रस्ताव द्वारा घटती कोष में बजट से रक़म रखकर पुराने ब्याज को धीरे धीरे मिटा दिया जाय। घटती कोष की योजना इस खतरे को रोक सकती है। इस योजना के द्वारा लोगों को विश्वास कराया जा सकता है कि निश्चित अवधि में ऋण अदा कर देने का उपयुक्त प्रबन्ध किया गया है। सर बेसिल ब्लेकेट ने असेम्बली मे

'घटती कोष' की योजना पर बोलते हुए कहा था कि यह कोई आर्थिक वादविवाद नहीं है; बल्कि इंग्लैण्ड के खजाने के चांसलरों को भी अपने ऋण से छुटकारा पाने का सहज उपाय है। अब यह प्रश्न उठता है कि घटती कोष के लिए रक़म कहां से लाकर एकत्र की जाय ? नई मालगुजारी की रक़म से बराबर इस कोष के लिए रक़म निकालते चला जाना चाहिए, नहीं तो हमारी यह अवस्था हो जायेगी कि पुराने ऋण को चुकाने के लिए नया ऋण लेना पड़ेगा। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी भारत की साख इग्लैंड, और दूसरे सभी देशों में बनाये रखने के लिए ऋण चुकाना ही श्रेष्ठ है और इसके लिए घटती कोष की योजना ही सीधा उपाय है। पर कुछ ऐसे लोग भी देश मे हैं, जो इस योजना को पसन्द न कर यह कहेंगे कि अजी, इतने-से ऋण के लिए इतना क्यों घबराते हो ? भारतवर्ष तो इतना बड़ा देश है। उसने कितना रुपया लुटाया है ? कितना भी ऋण क्यों न होगा, वह सब अदा कर देगा। फिर दूसरे देशों की तुलना में तो यह ऋण कुछ भी नहीं है। इग्लैंड ने अमेरिका से कितना ऋण लिया है, उसे तो देखो। जर्मनी और फ्रांस आदि के ऋण पर तो ध्यान दो। उनके मुक़ाबले मे भारत का ऋण पासग भी नहीं है। ऋण पर, जो खर्च पड़ता है, उसके प्रति सैकड़ा के हिसाब से प्रत्येक मनुष्य पर जहाँ भारतवर्ष में दो पौंड दश शिलिंग पड़ते हैं, वहाँ फ्रांस मे २५६ पौंड और इंग्लैंड मे १७५ पौण्ड पड़ते हैं। हमे यह भी बतलाया जाता है कि जहाँ ऋण का प्रति सैकड़ा औसत फ्रांस मे ४.५ और इग्लैंड में ७.५ है, वहाँ भारतवर्ष का १ ५ ही है। अर्थात् कितना थोड़ा है। पर भारतवर्ष की ग़रीबी के आगे ये सब तर्क निरर्थक हैं। दूसरे देशों की अपेक्षा भारतवर्ष अपने ऋण से कहीं अधिक विपत्तिग्रस्त है।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि अनुत्पादक ऋण तो एकदम मिटा दिया जाय पर उत्पादक ऋण को जरा भी न छुआ जाय। पर आर्थिक दृष्टि से इसका भी समर्थन नहीं किया जा सकता। सर बेसिल ब्लेकेट की यह बात वज़नदार है कि आज भारतवर्ष की साख सर्राफ़े के अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में अच्छी है, परन्तु यदि भारतवर्ष उसके चुकाने का कोई प्रबन्ध नहीं करता है, तो कौन जाने किस घड़ी साख बिगड़ जाय। फिर यह भी देखना चाहिए कि ऐसी अवस्था तो नहीं आ गई है कि भारतवर्ष ने ऋण लेना बन्द कर दिया हो। नये नये ऋण लिये जा रहे हैं। नये-नये कामों की योजना के लिए ऋण लेना ही पड़ेगा। फिर रेलवे के लिए प्रति वर्ष बराबर खर्च करना ही पड़ता है। १९२५ में सर बेसिल ब्लेकेट ने हमें मामूली तौर पर यह बतलाया था कि जिस ऋण की रक़म अगले पांच वर्ष में अदा करनी होगी उसकी तादाद का अनुमान कम से कम तीन सौ करोड़ रुपये है। यह रक़म तभी अदा हो सकती है जब कि उसे चुकाने के लिए, नया ऋण लिया जाय। पर यदि घटती कोष की योजना से काम लिया जाय तो पुराना ऋण चुकाने के लिए यूरोप के महाजनों से नया ऋण लेने की आवश्यकता ही न पड़े। इस लिए, इस योजना को अधिक समय के लिए रोक रखना देश के लिए घातक है। विदेशी ऋण के लिए हमारी रेलें, नहरें, और दूसरी प्रजा-हित की चीजें लन्दन मे रहन रख दी गई हैं। अपनी इन चीजों के मालिक हम नहीं, सात समुद्र पार के विदेशी हैं। ऋण के सम्बन्ध मे एक शिकायत यह भी है कि ज्यों ही ऋण लेने की घोषणा होती है, तो पहले-पहल लन्दन के महाजन ही खरीद लेते हैं। इस प्रकार अधिक से अधिक भाग उनके कब्जे में आ जाता है। अब जरूरत यह है कि विदेशी ऋण के स्थान पर स्वदेशी ऋण हो। भारतवर्ष के महाजनों से ऋण लेकर विदेशों का ऋण अदा कर दिया जाय।

इस ऋण के विषय का मनन करने पर यह प्रकट होता है कि उसकी किस प्रकार वृद्धि हो रही है। मार्च १९१४ में भीतरी ऋण और बाहरी ऋण क्रमशः १०७ ८० करोड़ रुपये और २७१.५ करोड़ रुपये था। मार्च १९२५ में दोनों ऋण क्रमशः ३८५.४३ करोड़ और ४८५ ८४ करोड़ रुपये के थे, और १९२६ई० में ४१७ ९३ और ५१३ ३०करोड़ रुपये के थे। यदि प्रान्तों के भीतरी ऋणों की भी गणना की जाय जो ५४८ ५६ करोड़ रुपये के हैं तो बाहरी ऋण भीतरी ऋण से ३५ करोड़ बढ़ जाता है। यद्यपि यह ऋण चुकाना हमारे लिए इस समय कठिन है, और न उसके लिए कुछ सोचा ही जा सकता है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अब आगे से विदेशी

ऋण न लिया जाय। हमें पौण्डों का ऋण साधारण कामों के लिए नहीं चाहिए, जब कोई भयंकर अवस्था हमें मजबूर करे और देश का अधिक भाग उसकी माँग करे, तभी सरकार अपने हाथ विदेशों में फैलावे। यद्यपि इससे वर्तमान विदेशी ऋण की रक़म कम न होगी, तो बढ़ेगी भी नहीं। सर बेसिल ब्लेकेट ने अपने कार्य-काल में गत वर्ष को छोड़कर छः वर्ष में कभी विदेश से कोई ऋण नहीं लिया और बिना ऋण लिये ही बजट का घाटा पूरा किया। पर जिन-जिन प्रजा-हित के कामों के लिए ऋण लिया गया उनमें कितना अनाप-शनाप खर्च हुआ है वह भी किसी से छिपा नहीं है। बम्बई के डेवलपमेंट डिपार्टमेंट के अफसर ने कितनी रकम उड़ाई, उसका भंडा-फोड़ बम्बई के पारसी बैरिस्टर श्रीनारीमन ने अच्छी तरह किया है। श्री नारीमन की चुनौती पर सरकार ने अभियुक्त हार्वे की ओर से अदालत में मुकदमा चलाया, पर वह बड़ी बुरी तरह हारी। हार्वे-नारिमन के मामले से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि विदेशी अफ़सर किस प्रकार ऋण की रक़म का दुरुपयोग करते हैं।

इस प्रकार से ऋण का रुपया खर्च करते रहने पर प्रजा भारी संशय में पड़ जायेगी। तब ऋण के लिए किसी का विश्वास न रहेगा। प्रजा ही ऋण का ब्याज चुकाती है, वह ऐसी अवस्था में सरकार का घोर विरोध कर सकती है। देश की ऐसी अवस्था देखकर विदेशी व्यापारी भी सचेत हो जायँगे। इसलिए, ऋण के सदुपयोग के लिए वैज्ञानिक योजना का व्यवहार होना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसी योजना के साथ तमाम ख़र्चों में बचत की भी नियत होनी चाहिए। सबसे अधिक खर्च सेना में विदेशियों के वेतन, और पेंशनों में होता है। जो एकदम कम किया जा सकता है। यदि सरकार को यह बात पसन्द न आई, और वह आजकल की तरह २५ करोड़ रुपये प्रति वर्ष कुछ वर्षों तक बढ़ाते हुए खर्च करती चली गई, तो हमें मान लेना चाहिए कि बीस करोड़ रुपये आसानी से और दूसरे कामों में भी खर्च हो जायँगे। तब यह प्रश्न उठता है कि क्या भारतवर्ष का इस से हित होगा? ४५ करोड़ रुपये प्रति वर्ष खर्च में बढ़ते जाने से यह देश कैसे अपनी साख अन्तर्राष्ट्रीय सर्राफे के बाजार में क़ायम रख सकेगा, जब कि उसका पुराना ऋण चुकाने का कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है।

यहाँ पर हम खर्च के प्रत्येक विषय पर अलग अलग विचार न कर यही कहेंगे कि कोई भी काम देश के लिए कितना भी हितकारक क्यों न हो, उसके लिए हमारे पैर उतने ही फैलने चाहिएँ, जितनी कि हमारी शक्ति हो। विदेशी कारखाने चलाने के लिए ही प्रति वर्ष ४५ करोड़ रुपये का ऋण हम पर लादते जाना भारतवर्ष को आर्थिक बेड़ियों में सदा के लिए जकड़ देना है। रेलवे का विस्तार ही लीजिए। यह जितना हो, उतना ही अच्छा है। पर जब हमारे खर्च की यह अवस्था है, तब उसमें रकम बढ़ाने की रुकावट करना ही उपयुक्त है। इसमें रुपया लगाते चला जाना ठीक नहीं है। हमारी अवस्था ठीक वैसी है, जिस प्रकार गाँव का महाजन किसानों के साथ व्यवहार करता है। वह किसान को रक़म उधार देता है, और पैदावार होने पर सब अपने कब्जे में कर लेता है और बेचारा किसान ऋणी बना ही रहता है। इसी प्रकार जो हमें ऋण देते हैं उनके पास माल तैयार करके भेजने के लिए सरकार तुरन्त आर्डर देकर रकम का बहुत बड़ा हिस्सा वापस भेज देती है। इस प्रकार हमारा ऋण बढ़ता चला जाता है। सुवर्ण मुद्रा प्रचलित होने पर हमारा ऋण घट सकता है, उस समय जितना यह घटेगा, उतना ही बढ़ेगा। कारण, प्रचलन में नई धातु की मुद्रा जारी करने के लिए हमें अधिक सोना ऋण लेकर खरीदना पड़ेगा। इसलिए, इस ऋण का उपाय भारत-सरकार द्वारा 'घटती कोष' की स्थापना करना ही है। यदि प्रति वर्ष इस कोष में अधिक से अधिक रक़म बजट तैयार करते समय रक्खी जाय, तो इस ऋण से मुक्त होने का उपाय है, अन्यथा नहीं।

जी० एस० पथिक

लक्ष्मी-पूजा का पर्व

लक्ष्मी-पूजा की ज़रूरत

हम भारतवासी लक्ष्मी को भूल चुके हैं, अथवा लक्ष्मी देवी हम को त्याग चुकी हैं। देश-भर में जहाँ देखो गरीबी का ही रोना है। व्यापारियों से पूछो, तो वे कहते हैं, अब व्यापार में कुछ नहीं रहा। जमीदारों से पूछो, तो वे कहते हैं, हमें इसमें कुछ नहीं बचता। सरकारी नौकर तो पहले ही मारे-मारे फिरते हैं। पर ऐसे 'धन कमाने वाले' थोड़े-से लोगों के अतिरिक्त जो भारतीय जनता का समुद्र पड़ा हुआ है उसमें कोई प्रवेश नहीं करता। इन की कोई चर्चा ही नहीं करता। हम पढ़े लिखे लोग इनका हाल जानने की कुछ आवश्यकता नहीं समझते। हम इनसे इतने दूर होगये हैं कि यदि कोई इनकी सच्ची कथा हमें सुनाता है तो उसपर हमारा विश्वास नहीं जमता। ये हैं, भारत के किसान और मजदूर, जो कम से कम २० करोड़ हैं, जिनमें से आधों को एक समय सूखा भोजन ही नसीब होता है, जिनमें से लाखों एक दुर्भिक्ष आजाने पर चल बसते हैं। यह है, तीन-चौथाई असली भारत, जिसको यदि हम देखें तो हमें पता लगेगा कि हमें लक्ष्मी की अराधना की जरूरत है तथा यह अराधना हमें ठीक तरह करनी चाहिए। भारत में पूर्वकाल से कार्त्तिकी अमावस्या का दिन लक्ष्मी-पूजा का दिन समझा जाता है। यह वैश्यवर्ण का विशेष त्योहार है। इसलिए हमें इस लक्ष्मी-पूजा के त्योहार को व्यर्थ ही 'हा-हा, हू हू' में नहीं गँवा देना चाहिए।

दीपित हृदयों से निकली दीवाली

हाँ, यह सच है कि इस त्योहार से हम जो-कुछ शक्ति ले सकते हैं उसे न लेकर हम इसे यों ही बिताते हैं। ये इतने दीपक जलाकर आज हम क्यों बैठे हैं? कार्त्तिकी अमावस्या की यह इच्छा नहीं है कि हम उसे दीपों की माला पहना कर सजावें (लजावें), पक्वान्न रखकर उसे भोग चढ़ावें (चिढ़ावें)। इस अमावस के वे दिन तो कब के बीत चुके, जब यह उस भारतवर्ष में आया करती थी, जो धन-धान्य से पूर्ण था, सुखी था, स्वस्थ था, अपने नियत कर्म में मस्त था, दुनिया की कुछ चिन्ता न थी, देश के तपस्वी ब्राह्मण और वीर क्षत्रिय इसकी रक्षा में तत्पर थे। पर अब तो यह अमावस उन गुलामों की बड़ी भारी बस्ती में प्रति वर्ष आती है, जो दासता में इतने फँस चुके हैं कि इसीमें जैसे तैसे जीते रहना चाहते हैं और ऐसे जिन्दा रहने के लिए अपनेपर सब अत्याचार खुशी से सहते हैं, और बदले में अपने छोटे भाइयों पर अत्याचार करने में हिचक नहीं मानते। हम पालतू दास बन चुके हैं। अपना धन, बल, गौरव, ज्ञान, सब गँवा चुके हैं। ओह, तो क्या हम उसी तरह दीवाली मनाते जा सकते हैं, जैसे कि हमारे वीर और विजयी पुरुषाओं ने मनानी शुरू की थी?

मेरे भाई कहते हैं, "क्या हमें अपने भव्य अतीत की स्मृति में दीवाली करके खुशी न मनानी चाहिए? क्या हमें गौरवपूर्ण अतीत की स्मृति ऊँचा नहीं उठाती?" अवश्य। लेकिन यदि कभी हमे भूत और भविष्य मे से किसी एक का ही चुनाव करना पड़े, तो गये भूत को भूल कर अनागत भविष्य को ही दृष्टि मे रख कर चलना ठीक है। पर मेरा कथन तो इतना ही है कि हमें वर्तमान में भूत की स्मृति इस प्रकार से करनी चाहिए, जिससे कि वह स्मृति हमें भविष्य में बढ़ा सके—उन्नत कर सके। आजकल की कार्त्तिकी अमावस्या में यदि हम अपने अतीत के दीप को अपने मन में ही स्मृतिरूप में रखकर जलायें, अर्थात् उज्ज्वल अतीत-द्वारा पहले अपने वर्तमान के बुझे हुए हृदयों को दीपित करने का यत्न करें और इस आन्तर-कार्य के लिए यह आवश्यक संयम रक्खें, कि जबतक हृदय दीपित न होजाय, तबतक बाहर के निर्जीव दिये जलाने से बाज रहें, तो इस प्रकार मनाया गया यह पर्व भविष्य के उस दिन को जल्दी ले आवेगा, जब कि एक दिन आर्थिक तथा राजनैतिक मुक्ति पाजाने के कारण हमारे हृदय स्वभावत इतने दीपित हो उठेंगे कि हमें बाहरी दीपावली मानने को विवश करेंगे। वह सजीव दीपावली होगी।

हम जान-बूझ कर अपनी वर्तमान अवस्था को भुला न दें, इसलिए यह झूठी दीवाली मनाते जाना हमारी सच्ची दीवाली के आने में देर करने का कारण बन रही है।

लक्ष्मी-पूजा की विधि

यह सच्ची दीवाली लक्ष्मी-पूजन से ही आवेगी। पर लक्ष्मी-पूजन दीवारों पर निरर्थक लकीरें बनाने से, विदेशी सामान खरीदने से, या जुआ खेलने से न होगा। कांगड़ी के गुरुकुल में कुछ लोगों ने ६ घंटे तक दो चर्खे चलाकर लक्ष्मी-पूजा की है। इसी तरह खादी खरीद कर, अन्य स्वदेशी कौशल के सामान खरीद कर, देश की सम्पत्ति बढ़ाने वाला कोई व्रत स्वीकार करके भी लक्ष्मी-पूजा की जा सकती है। साथ ही कृषि तथा पशुपालन की दिशा में भी इस दिन कोई उपयोगी कार्य करना चाहिए। आज के दिन का आमोद-प्रमोद भी इसी दिशा में होना चाहिए। पर इस पर्व के मनाने की देशव्यापी विधि सूत्र-चक्र या खादी से सम्बंध रखनेवाली ही हो सकती है। क्योंकि इसी व्यवसाय के नाश से भारत की ⅘ जनता में दारिद्र्य का सूत्र-पात हुआ था तथा आज इसीके पुनरुज्जीवन द्वारा जहाँ एक ओर भारत के गरीबों को लक्ष्मी का सदेश मिलेगा, वहाँ दूसरी ओर भारत से बाहर जाने वाली लक्ष्मी शक्ति का प्रवाह रुकेगा और हमारे राजनैतिक सम्बन्ध को सुधार देगा। इसलिए लक्ष्मी-पूजा की सामग्री आजकल चर्खा है—सूत्र-चक्र है। जब यह चलने लगेगा, उस दिन मानों लक्ष्मीदेवी सिद्ध होगई। भारत की राजनैतिक पराधीनता तो बाह्य तौर पर इतना होने से भी पहले दूर होजाना सम्भव है, किन्तु हमारी आन्तरिक (पूरी) स्वाधीनता तभी प्राप्त होगी, जब कि वैदिक सभ्यता (वह सादगी तथा उच्च जीवन की सभ्यता, जिसमे ग्राम को मुख्य स्थान है) भारत में बद्धमूल हो जायगी। चर्खा उस सभ्यता पर हमें पहुँचाने वाली मुख्य वस्तु है, अतः इसे ही प्रतीक लेकर हमे चलना है।

आप कहेंगे, ६ घंटे में काते ८-१० तोले सूत से क्या बनेगा? कई भाइयों ने सूत कातना शुरू करके फिर छोड़ दिया, जब देखा कि इससे इतनी अल्प मात्रा में उत्पत्ति होती है। पर इसमें दीर्घ दृष्टि का अभाव स्पष्ट दीखता है। जिनकी दृष्टि विस्तृत-व्यापक राष्ट्र को देख सकती है, उन्हें ऐसा भ्रम नहीं हो सकता। नहीं तो यह कहना कि 'इतनेसे मेरे कातने से क्या होगा? इससे दारिद्र्य कैसे हटेगा?' ऐसा ही है जैसे जब आप सहभोज खाने जायँ, तब मिठाई का एक कण मुँह में डाल कर कोई ठहर जाय और सोचने लगे कि 'इससे तो भूख नहीं मिटी और कहते हैं कि अन्न खाने से भूख मिटती है', इसलिए वह और खाना छोड़कर उठ खड़ा हो जाय। भूख तो पेट-भर खाने से मिटेगी पर भोजन का एक-एक कण भूख मिटाने में सहायक होगा। इसी तरह देश की भूख तो तब मिटेगी, जब चर्खा इतना चल पड़ेगा कि बेकारी नाम को न रहेगी; पर हमारा काता एक इंच सूत उसे मिटाने मे अवश्य सहायक होगा।

'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'

यह वर्णन यदि किसी अलौकिक यज्ञ-पुरुष का नहीं है, तो लोक में यह सहस्रों हाथ पैर-वाला यज्ञ-पुरुष राष्ट्र-पुरुष ही हो सकता है। ६० करोड़ भुजाओंवाला भारत-राष्ट्र यदि चाहे तो क्या नहीं कर सकता? यदि भारत के दो करोड़ हाथ भी हिल पड़े—उन्हे चर्खा मिल जाय, तो भी भारत अपनेको दो वर्षों में तृप्त करके इतनी शक्ति प्राप्त कर ले कि वह अपने बन्धन काटकर आप खड़ा हो जाय। पर अपने ही काम के लिए अपने हाथ नहीं हिलते। हम थोड़ी-थोड़ी अव्यवस्थित चेष्टायें करके अपनी राष्ट्रात्मा को तरसा रहे हैं। यदि हम अपनी तृप्ति के लिए ही व्यवस्थित चेष्टा करें, तो हमारा राष्ट्र तृप्त होकर अपने होश मे खड़ा हो जाय और तब पर-जीवी कीड़े (Parasite) की तरह हमारी कमजोरी पर आश्रित अंग्रेजी साम्राज्य भी आज की तरह हमारा मान-मर्दन करता हुआ खड़ा न रह सके।

फिर आप कहेंगे कि 'चर्खा कातने को उन्हे कहो, जिन्हें कि इस तरह के सहायक पेशे की जरूरत है—हमें कातने को क्यों कहते हो? पर, नहीं, उनसे कताने के लिए पढ़े-लिखे लोगों को कातना उतना ही ज़रूरी है, जितना कि अन्न को पेट में पहुँचाने के लिए उसका मुख मे डालना जरूरी है। ग्रामीण लोग पढ़े-लिखे लोगों के आचरणों का ही अनुकरण करते हैं। यदि आपको अपनी आमदनी के लिए कातने की जरूरत नहीं है, तो आप निःस्वार्थ होकर यज्ञार्थ (राष्ट्र के

लिए या गरीबों के लिए) कातिए—ठीक उसी तरह, जैसे कि मुख भोजन को अपने लिए नहीं ग्रहण करता किन्तु पेट तक पहुँचाने के लिए ग्रहण करता है। यही ब्राह्मण का काम है। समझ-बूझ कर श्रद्धा के साथ यदि हम आध घण्टा रोज ही यज्ञार्थ सूत कातें तो इसका जो प्रभाव होगा उसको हम अभी कल्पना तक नहीं कर सकते। पर सूत कातना यज्ञ-रूप तभी बनेगा, जब कि हम इसे सचमुच इतने बड़े भारी परोपकार का कारण समझकर कातेंगे। नहीं तो केवल थोड़े-से सूत की उत्पत्ति ही इसका फल होगा। पर यह फल भी थोड़ा नहीं है, यह भी मिलकर बहुत बड़ी वस्तु हो जायगी।

जागरण

कहते हैं कि इस अमावस्या को रातभर लगातार जागते रहने से लक्ष्मी दर्शन देती है। इसका मतलब मैं यह लेता हूँ कि भारत के इस अन्धकार-काल में लगातार जागते हुए हम खादी-प्रचार आदि के द्वारा लक्ष्मी की खोज में लगे रहेंगे तभी हमें लक्ष्मी मिलेगी। पर हम जागने में बहुत कच्चे हैं। थोड़ी देर खोज में जागते हैं, पर फिर ऊंघने लगते हैं, और धीरे धीरे सो जाते हैं।

मैं यह संदेश सुनाना चाहता हूँ कि लक्ष्मी जागृत रहने से ही मिलती है। इसलिए जबतक यह भारत पर छाई हुई अँधेरी रात न गुज़र जाय तबतक सावधानी से जागते रहिए—लक्ष्मी की खोज में सतत जागरूक रहिए। क्या आप यह सुनेंगे?

लक्ष्मी और जुआ

यह बड़ा आश्चर्य है कि भारतवासी आज के दिन लक्ष्मी-पूजा के लिए जुआ खेलते हैं। केवल आज के दिन ही नहीं खेलते, किन्तु आज से प्रारम्भ करके साल भर जुए-द्वारा ही लक्ष्मी (?) की आराधना करते हैं। क्योंकि हम यह चेष्टा करते रहते हैं कि किसी तरह बिना हमारे श्रम किये धन हमें मिल जाय, और यही जुआ (द्यूत) है। बिना श्रम किये धन पा लेने की संभावना में अनिश्चित एव आलस्यमय जीवन बिताना ही निरन्तर द्यूत-क्रीड़ा है। हममें से धन कमानेवाले कहलानेवालों में से—वैद्य, वकील, व्यापारी आदि में से—कितने हैं, जो ईमान्दारी से कमाते हैं, जो वास्तव में किसी हितकारी वस्तु की अपने श्रम से उत्पत्ति करके कमाते हैं? क्या हम प्राय: दूसरे के मुख के कौर को छीन लेना ही धन कमाना नहीं समझते? द्यूत के साथ जिस धोखे की लक्ष्मी का सम्बन्ध है वह यह आसुरी लक्ष्मी है। लक्ष्मीदेवी तो इससे बिलकुल विपरीत वस्तु है। लक्ष्मीदेवी तो उद्योग-मय जीवन मे बसती है। लक्ष्मीदेवी वहाँ आविर्भूत होती है, जहाँ मनुष्योन्नति के लिए वास्तविक उपयोगी वस्तु की श्रम से उत्पत्ति की जाती है (दूसरे का हिस्सा नहीं छीना जाता) और यह उत्पत्ति भी ऐसे साधन से की जाती है कि जिसमे सब के साथ न्याय होता हो। इसीलिए मैंने कहा है कि आजकल चर्खा लक्ष्मीदेवी का प्रतीक है। उद्योगमय जीवन छोड़ कर, दूसरे के हिस्से को छीन लेना यद्यपि आसान है—और छीन लेने की आशा में आलस्यमय जीवन बिताना और भी आसान है, किन्तु धोखा न खाना चाहिए। इससे हमारे पास आसुरी लक्ष्मी तो बेरोक टोक से आ जायगी, पर लक्ष्मीदेवी कभी नहीं। शायद इसीलिए भारतवासी द्यूत-द्वारा आसान लक्ष्मी-पूजा (?) करके चाहते तो हैं सुखी होना, किन्तु दिनों-दिन अधिक कष्ट मे पड़ते जाते हैं। उलटे रास्ते चलने का यह फल क्यों न हो?

किन्तु यह समझ मे नहीं आता कि भारत में जुए की नाशक प्रथा कबसे चल पड़ी। भारत की (बल्कि संसार की) सबसे पुरानी धर्म-पुस्तक 'ऋग्वेद' मे तो स्पष्ट आदेश है—

अक्षैर्मा दीव्य: कृषिमित्कृषस्व

वित्ते रमस्व बहु मन्यमान:॥ ऋ० १०-३४-१३

अर्थात्, "जुआ मत खेल, खेती ही कर। (इस प्रकार) लब्ध धन को बहुत मानता हुआ इसीमें आनन्दित रह।" कितने स्पष्ट शब्द हैं! यह तो बतलाने की जरूरत नहीं कि खादी की उत्पत्ति खेती (कृषि) का ही एक भाग है।

पर्व मनाने का कार्य-क्रम

इस प्रकार विचार करते हुए वर्ष के इन दो-तीन दिनों को हमें कैसे मनाना चाहिए, इसके लिए निम्न-

लिखित निर्देश किये जा सकते हैं। अनुभवी कार्यकर्त्ता लोग स्वयं इन्हें और अधिक ठीक-ठाक कर लेने की कृपा करेंगे—

(१) सब को चाहिए कि वे खूब सफ़ाई और स्वच्छता करें। आस-पास की नालियों को, घरों को, घर की सब वस्तुओं को, साफ़-सुन्दर-स्वच्छ बना लें।

(२) धनी लोगों को चाहिए कि वे सुन्दर-से सुन्दर बहुमूल्य खादी खरीदें तथा अन्य स्वदेशी कला की वस्तुयें खरीद कर लक्ष्मी के विस्तार में धन का सदुपयोग करें।

आज के दिन कुछ-न-कुछ खादी खरीदने में प्रत्येक मनुष्य महात्म समझे। खिलौने, रंगीन कागज, आतिशबाजी का सामान आदि विदेशी वस्तु तथा बाजारू हानिकारक मिठाइयाँ खरीदने का जो घोर कृत्य इस पर्व पर किया जाता है वह सर्वथा बन्द हो।

(३) माताओं को चाहिए कि वे नई रुई को कातने के लिए चर्खे चलाने शुरू करें। इस समय तक नई कपास आ जाता है, उसे ओट-धुन कर सुन्दर चर्खे से कुछ-न-कुछ जरूर कातना चाहिए और फिर जाड़ों-भर कातने का काम जारी रखना चाहिए।

(४) बालक-बालिकाओं को चाहिए कि वे कोई लक्ष्मीवर्धक मनोरंजन करें। जैसे कातने का सामुख्य (Match), मिलकर वृक्षों को सींचना आदि। वे रामायण की कथा सुनें तथा इस विषय पर व्याख्यान सुनें।

(५) सायंकाल भूमि, कृषि यंत्र, पशु, चर्खा आदि की पूजा होना चाहिए—कोई ऐसी विधि की जाय, जिससे मन में इनके विषय में पूज्य-भाव उत्पन्न हो। इनके स्वास्थ्य एवं इनकी वृद्धि के लिए प्रार्थना हो।

आतिशबाज़ी नहीं छोड़नी चाहिए। दीपक नहीं जलाने चाहिएँ। कुछ बिना जले दीपकों को पंक्ति में रख देना पर्याप्त है। इनके पास अग्नि जलाकर (हो सके तो हवन करके) उसके प्रकाश में बुझे हुए दीपकों को देखना चाहिए तथा लक्ष्मी-वर्धक कोई व्रत ग्रहण करना चाहिए—जैसे, विदेशी चीजें नहीं लूँगा, खादी ही पहनूँगा, नियम से सूत कातूँगा, गौ का ही दूध पीऊँगा, इत्यादि।

फिर गाँव के सब लोग या मुहल्ले के सब लोग मिल कर सादे-से-सादा भोजन करें।

रामायण को दोहराना

यदि हम इस तरह से इस पर्व को कुछ कालतक मनायँगे, तो हम इस दिन दीपावली जलाने की घड़ी को भी फिर शीघ्र ले आयँगे। यदि दीपावली का रामायण से कुछ सम्बन्ध है तो अपनी दीपावली को पुनरुज्जीवित करने के लिए हमें रामायण को दोहराना होगा। समुद्र-पार गई सीता को राम जब पुनः अयोध्या लाये थे और राम-राज्य प्रारम्भ हुआ था, तब हर्ष के मारे अयोध्या ने दीपावली रची थी। हमने सुन रक्खा है कि राम विष्णु थे और सीता लक्ष्मी थी। अब जब विष्णु अर्थात् हमारा संगठन-रूप यज्ञ (यज्ञो वै विष्णुः) लक्ष्मीदेवी को समुद्र-पार से लौटा लाने में सफल होगा, और राम-राज्य (भारत का स्वराज्य) स्थापित होगा, तभी हम स्वभावतः अपने हृदयों में भरे आनन्दमय प्रकाश की दीपावली जला कर बाहर निकालेंगे। और वही दीपावली दीपावली होगी। तबतक तो मैं इस दिन को 'दीपावली' न कह कर 'लक्ष्मी-पूजा का दिन या कार्त्तिकी अमावस्या का पर्व' कहना ही ठीक समझता हूँ। अन्त में प्रभु से मेरी यही प्रार्थना है—

हे जगदन्तरात्मा, इस अमावस को उजेली कर।

हे भारतात्मा, इस अमावस को उजेली कर।

हे प्रत्येक भारतवासी की आत्मा, इस अमावस को उजेली कर॥ *

देव शर्मा अभय

---

*लक्ष्मी-पूजा पर लिखा हुआ विद्वान् लेखक का यह लेख हमें इतनी देर से मिला कि ठीक समय (गतांक में) हम इसे पाठकों तक न पहुँचा सके। परन्तु लेख और उसकी सूचनायें इतनी सुन्दर हैं कि समय निकल जाने पर भी हम अपने पाठकों को उनसे परिचित करा देना ही उचित समझते हैं। स०

नृसिंह लाजपत



शहीदों का संवाद

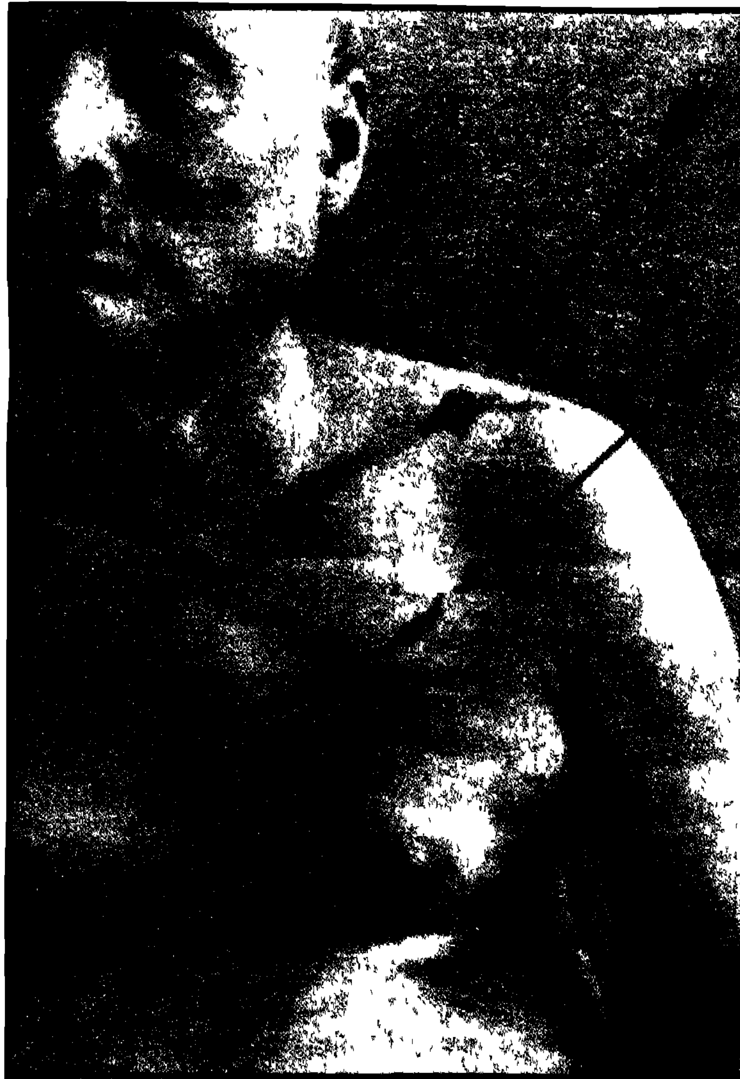
तारीख १७ वीं नवम्बर के दिन दोपहर हम कार्यालय में बैठे काम कर रहे थे कि एक भाई ने आकर दबी जबान से पूछा, 'क्यों जी, सुनते हैं, लालाजी चल बसे। क्या यह सच है?' इस प्रश्न पर किसी को विश्वास नहीं हुआ, होता भी कैसे? उसी समय डरते-डरते एक तार लिखकर रवाना किया। लिखा था, "लालाजी के स्वास्थ्य के विषय में चिन्तित हैं कृपया कुशल-समाचार दीजिए।" उस दिन रातभर व्याकुल चित्त से उत्तर की प्रतीक्षा करते रहे। दूसरे दिन जब निश्चित रूप से मालूम हुआ कि आजन्म स्वाधीनता का पुजारी, स्वराज्य का निर्भीक योद्धा, पंजाब का शेरे बबर और भारत की राजनीति के आकाश का वह चमचमाता तेजपुंज महा-नक्षत्र सदा के लिए अस्त हो गया, तो हृदय पर भीषण वज्राघात हुआ, आँखों के सामने अँधेरा छा गया, एकाएक हृदय की वेदना फूट निकली—हा, लालाजी, तुम कितने मनस्वी और स्वाभिमानी थे, देशके दुखों से, उसकी दर्दनाक गुलामी और कंगाली से तुम्हारा स्वाधीन, कोमल और दयाशील हृदय कितना दुखित, व्याकुल और पीड़ित था; प्रजा पर होने वाले साम्राज्यवादियों के अत्याचारों से तुम कितने पीड़ित रहते थे, आखिर उन्हीं उद्दाम, निरंकुश, निर्लज्ज अत्याचारियों के हाथों उस दिन लाठी के प्रहार सहकर, पीटे जाकर तुम्हारा शेरे दिल कितना घायल, अपमानित, संतप्त और व्याकुल हो उठा था? तुम्हारा अपमान सारे राष्ट्र का अपमान था। इसी घायल दिल को लेकर उस दिन लाहौर में और कुछ दिन बाद दिल्ली में तुम गरजे थे।

ओफ ! वह टटकार, वह हुँकार, कितनी दर्द भरी थी; उसमें कितना संताप, कितनी वेदना-व्यथा और कितनी आकुलता भरी थी ! जन्मभर देश की स्वाधीनता के लिए तुमने एक-से-एक बढ़कर कष्टों, दारुण वेदनाओं और यातनाओं का सहर्ष आलिंगन किया था, और इस बार भी देश के दुखी हृदय पर किये गये निर्घृण प्रहार अपने बूढ़े निर्बल वक्षस्थल पर झेलकर तुमने मातृसेवा का अमर मार्ग हमें दिखाया और फिर उसी अद्भुतलीलाका पुनः अभिनय प्रारंभ करने के लिए चले गये।

जाओ ! हे अतुल वीर जाओ ! तुम्हारा उज्ज्वल चरित हमें अमर स्फूर्ति देता रहे। तुम्हारा अतुल साहस और सचाई हमें बल देती रहे और तुम्हारी जीवन यात्रा के पद-चिन्ह हमारा मार्ग प्रदर्शन करते रहें !

पाठको, आइए हम दुर्बल बनानेवाले स्वार्थी शोक को छोड़कर हम लालाजी के पावन चरित का अवलोकन करें।

\+ \+ \+



लाठी के घाव

जन्म, शिक्षा और विवाह

क़रीब ६३ वर्ष पूर्व २८ जनवरी सन् १८६५ ई० के दिन मौज़ा ढोडिकी ज़िला फिरोजपुर में अपने नाना के यहाँ पूज्य लालाजी का शुभ जन्म हुआ। लालाजी के पिता का नाम लाला राधाकृष्ण था। वह अग्रवाल वैश्य थे। वह शिक्षा और सुधार के प्रेमी तथा राष्ट्रीय विचारों के व्यक्ति थे। उन्होंने स्वयं लालाजी को पढ़ाना शुरू किया, पर कुछ समय बाद उन्हें लालाजी को उच्च शिक्षा के लिए सरकारी विद्यालय में भेजना पड़ा। अपने ज़माने के विद्यार्थियों में लाजपतराय बड़े बुद्धिमान माने जाते थे। छोटी उम्र में ही वह उर्दू के अख़बार पढ़ने और देश की दशा से परिचित होने लगे थे। उनके पिता खुद अख़बारों में लिखा करते थे। स्वामी दयानन्द के उपदेशों और उनके कार्य का उनपर खासा असर

पड़ा था । लाजपतराय का बचपन बड़े ही सौम्य और सीधेपन में गुजरा । वह और लड़कों की भाँति नटखट नहीं थे । देश-भक्ति ,शिक्षा प्रेम, साहसिकता, निडरता, और कर्मण्यता आदि सद्‌गुण लाजपत ने अपने पिता से सीखे थे । लाजपतराय की माता भी असाधारण गुणशील-वाली स्त्री थीं । लाजपतराय पर उनका बहुत प्रभाव पड़ा था । किफायतशारी, सादगी और याददाश्त के अपूर्व गुण लाजपत को अपनी माता ही से मिले थे । आगे चलकर लाजपतराय को कई कौटुम्बिक आपत्तियों से टक्कर लेनी पड़ी । लेकिन उनका वीर हृदय अपने दृढ़ संकल्प और निश्चित ध्येय के कारण कभी पीछे न हटा, आपत्तियों से लड़ता-भिड़ता और उन्हें सामने से ठेलता हुआ वह अदम्य उत्साह के साथ आगे बढ़ता ही गया ।

समाज की सेवा और सार्वजनिक जीवन

१८८५ ई० में वकालत पास करने के बाद लाजपतराय हिसार में रहने लगे और समाज-सेवा भी करने लगे । लाला हंसराज और विद्यार्थी गुरुदत्त ने उनका साथ दिया । इन तीनों ने मिलकर पंजाब के मुर्दा जीवन में जान फूंक दी । लाजपतराय कहा करते थे— सच्चा समाज-सुधारक वही है, जो सच्चा कार्य-कर्ता हो और जिसकी जिन्दगी अमली हो । वह सच्चा सुधारक नहीं कहा जा सकता, जिसने अपने सुधारों के लिए कुछ त्याग न किया हो ।'' क्या लालाजी का जीवन उनके इस कथन का प्रत्यक्ष उदाहरण नहीं है ? स्व० लोकमान्य तिलक और गोखले की भाँति लाजपतराय के सार्वजनिक जीवन का आरंभ भी शिक्षा और धार्मिक प्रवृत्तियों से हुआ था । उन्हें इन दिनों शिक्षा का बड़ा खयाल रहता था । सन् १८८६ ई० में लाहौर में स्वामी दयानन्द की स्मृति स्वरूप 'दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज' की स्थापना में इन लोगों का अदम्य उत्साह और अथक परिश्रम काम कर रहा था । हिन्दी भाषा का प्रचार करना और संस्कृत तथा औद्योगिक शिक्षा के लिए लोगों में प्रेम बढ़ाना ही कॉलेज का मुख्य ध्येय था । अंग्रेजी भी पढ़ाई जाती थी । लाला हंसराज ने कॉलेज के अवैतनिक आचार्य-पद का भार अपने कंधों पर लिया और बड़ी मुस्तैदी तथा योग्यता के साथ लगातार पच्चीस वर्षों तक इस उत्तरदायित्व के काम को वह करते रहे । पंडित गुरुदत्त भी ऐसे ही उत्साही युवक थे लेकिन दुर्दैव से वह २५ वर्ष की छोटी उम्र में ही चल बसे । लाजपतराय वर्षों तक कॉलेज की प्रबन्ध-समिति के अवैतनिक मंत्री रहे । उनकी प्रभावशालिनी वाणी के कारण कालेज के लिए प्रति वर्ष काफी दान और चन्दा इकट्ठा होता रहता था । पर वह केवल सार्वजनिक चन्दे पर ही आधार नहीं रखते थे । वह स्वयं उदारता-पूर्वक इस संस्था की आवश्यक सहायता करते रहते थे । उन दिनों लाजपतराय के आश्रय, उत्साह, एवं अप्रत्यक्ष सहायता से कितनी ही शिक्षा-संस्थायें चलती थी, अब भी चल रही है ।

स्वाधीनता के व्यापक क्षेत्र में

पर लाजपतराय का विशाल हृदय इतनी-सी सेवा से सन्तुष्ट होने वाला नहीं था । वह अपने कार्य-क्षेत्र को केवल पंजाब और आर्य-समाज तक ही परिमित न रख सके । वह राष्ट्र के रचनात्मक काम के लिए पैदा हुए थे, साम्प्रदायिक संकीर्णता उनके दिल को छू तक नहीं गई थी । इसका प्रमाण वे खुली चिट्ठियाँ है, जो उन्होंने कांग्रेस के सन् १८८८ के इलाहाबादवाले अधिवेशन में सर सय्यद अहमद के विरुद्ध बाँटी थी, हालां कि वह उन्हें अपना राजनैतिक गुरु मानते थे। इन चिट्ठियों में लाजपत ने सांप्रदायिकता की ओर झुकनेवाले सर सय्यद अहमद की कड़ी-से-कड़ी आलोचना की और उनकी खूब खबर ली थी ।

पूर्व-तैयारी

अब वह शनैः-शनैः अपने आपको देश की व्यापक सेवा करने के लिए अध्ययन् मनन और अनुभव द्वारा तैयार करने लगे; अपने देश की परिस्थिति और समस्याओं की अन्य देशों से तुलना करने लगे, कभी-कभी लाहौर के 'ट्रिब्यून' में लेख लिख कर अपने चिंतन-मनन का लाभ जनता को भी देने लगे । इटली के भाग्य-निर्माता मैज़िनी को उन्होंने अपना आदर्श बनाया । कावूर, गैरीबाल्डी, वाशिंगटन, बिस्मार्क, श्रीकृष्ण, राणा प्रताप, शिवाजी, रामदास

और दयानन्द का भी उनके जीवन पर काफी असर पड़ा था और इनमें से कुछ के विद्वत्तापूर्ण, तथा नौजवानों की नसों में जोश बढ़ा देनेवाले जीवन-चरित्र उन्होंने लिखे हैं, जो हिन्दुस्तान के साहित्य मे सदा अमर रहेंगे।

इस स्वाध्याय के कारण लाजपतराय को देश की पराधीनता बुरी तरह खटकने लगी, अपने पिछले जीवन में यह कहा करते थे—

"मैं इंग्लैण्ड गया, फ्रांस गया, अमेरिका गया और भी कई विदेशी स्वतन्त्र राष्ट्रों में घूमा, लेकिन जहाँ कहीं गया, अपने देश की गुलामी और अवतर हालत की शर्म को अपने साथ लेता गया।"

उनका दिल देश के दर्दों से हरवक्त जलता और चिनगारियाँ उगला करता था। वह अपने समय के राणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी थे।

अकाल, भूकम्प और लाजपत

सन १८९७ में पंजाब में अकाल पड़ा। देश-भक्त लाजपत का दयार्द्र हृदय ग़रीबों और असहाय स्त्री-बच्चों की करुणार्द्र पुकार सुनकर उस ओर दौड़ पड़ा और तन, मन धन से जितना कुछ किया जा सका, कर गुजरा। इस अकाल के समय लाजपतराय को देश की वास्तविक दशा का बड़ा करुण चित्र देखने को मिला। उनका हृदय वेदना से जल उठा और उन्होंने पंजाब की धनी जनता और पंजाब सरकार को अपने कर्तव्य के लिए ललकारा। और जब उस वर्ष की महारानी विक्टोरिया की हीरक-जयन्ती पर उनकी स्मृति में पंजाब के अधिकारियों ने एक पत्थर के स्मारक में इन दीन विपन्नों का धन खर्च करना चाहा, तब पंजाब के इस वीरने इसका इतना निर्भीक और जबर्दस्त विरोध किया कि अधिकारियों को पीछे हटना पड़ा। लाजपतराय स्वभाव से खरी कहने वाले थे। उन्हें खुशामद से दिली नफरत थी। उनका प्रस्ताव था, पंजाब में अनाथालय खोलने का। अधिकारियों ने फिर किसी तरह स्मारक तो बनाया। पर लाजपतराय ने प्रान्त-भर में आन्दोलन कर प्रजा की मदद से पंजाब मे एक स्वतन्त्र अनाथालय स्थापित किया।

१८९९ व १९०० ई० में फिर उत्तरी हिन्दुस्तान, राजपूताना और मध्यभारत आदि स्थानों में अकाल पड़ा, जिसकी भनक कानों पर पड़ते ही यह दीनबन्धु सब कुछ छोड़कर अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए ऊँट पर बैठकर सैकड़ों मील राजपूताने में घूमे। उन अनाथ, असहाय स्त्री पुरुषों को विधर्मी होने से बचाया, जो अपनी विपन्नावस्था के कारण विधर्मी प्रचारकों और ईसाई पादरियों के जाल में फँसने लगे थे। सन् १९०१ के अकाल-कमीशन के सामने लाजपतराय ने गवाही देते हुए पादरियों की इन क्षुद्र करतूतों का पर्दा फाश भी किया और कमीशन को लाजपत की बात माननी पड़ी। इन अनुभवों के कारण लाजपतराय का दिल और भी दयार्द्र हो गया। १९०५ई० मे हिमाचल के अंचल में स्थित कांगड़ा प्रदेश मे भारी भूकम्प आया। कितने ही स्त्री-पुरुष घर-जन विहीन हो गये। लाजपतराय ने देश को मदद के लिए पुकारा और सरकारी सहायता की पर्वा न करते हुए स्वतन्त्र-रूप से जनता को हर तरह कष्ट-मुक्त किया।

लाजपतराय का अबतक का काम यद्यपि कानून की सीमा के भीतर और क्रान्ति या राष्ट्र-द्रोह से बिल्कुल मुक्त था। फिर भी उनकी उग्र वक्तृता और ज्वलन्त देश-भक्ति-पूर्ण कार्य नौकरशाही की आँखों मे खटकने लगे और वह एक महान् क्रान्तिकारी दल के नेता समझे जाने लगे। अतः अब पंजाब की सरकार इस घात में रहने लगी कि इस गरजते हुए शेरे नर की टटकार को किसी तरह दबाया जाय।

महासभा का नेतृत्व और विदेश-गमन

इधर देश का राजनैतिक वातावरण अत्यधिक क्षुब्ध और गम्भीर होता जा रहा था। लार्ड डफरिन, मिन्टो और कर्ज़न की साम्राज्य-लिप्सा पूर्ण कूटनीति के कारण देश मे सर्वत्र सरकार के प्रति दुर्भाव फैल रहे थे। इस बीच लार्ड रिपन ने इस देश के हित के लिए जो कुछ किया था, उसपर भी उनके उत्तराधिकारियों के अदूरदर्शिता-पूर्ण कामों से पानी फिर गया। जनता अपने अधिकारों के प्रति काफ़ी जागृत हो चुकी थी। देश के पढ़े-लिखे लोग राष्ट्रीय-शिक्षा का महत्व समझने लगे थे और वे इस ओर बराबर आन्दोलन कर रहे थे। तत्कालीन नौकरशाही को यह सब पसन्द न था। उसने कई बड़े बड़े और अजीब क़ानून बनाकर

राष्ट्रीय आन्दोलन को दबा देना चाहा। अखबार बन्दी के हुक्म निकले। राष्ट्रीय शालायें स्थापित होने से रोकी गईं। इस पर महासभा के सभापति लार्ड कर्जन से मिलने गये। वह पहले ही महासभा की कार्यवाही से असन्तुष्ट थे, उन्होंने मिलने से इन्कार कर दिया। जनता इस अपमान से क्रुद्ध हो उठी और १९०५ ई० में श्री० गोखले और लाजपतराय का एक डेपूटेशन इंग्लैण्ड की प्रजा के पास भेजा। ये दोनों राष्ट्र-वीर इंग्लैण्ड पहुँचे और व्याख्यानों, लेखों तथा पत्र-पत्रिकाओं द्वारा इंग्लैण्ड की जनता को साम्राज्यवाद के जुल्मों और अपने कष्टों की कथा कह सुनाई। पर इनकी बात पर बहुत कम ध्यान दिया गया। बहुत थोड़े जिम्मेवार लोगों ने सहानुभूति प्रकट की। लाजपतराय को इससे बड़ा दु:ख हुआ। उन्होंने गरज कर कहा- 'भारत की जनता जागृत हो चुकी है और वह साम्राज्य-वाद के आवरण को फाड़ फेंकना चाहती है'। लाजपतराय स्वदेश लौटने से पहले यूरोप के कई देशों में घूमे, वहाँ की हालत का प्रत्यक्ष अवलोकन किया और अमेरिका पहुँचे। वहाँ भी उन्होंने शिक्षा-संस्थाओं का खूब अच्छी तरह अध्ययन किया और वापस इंग्लैण्ड चले आये।



अन्तिम दर्शन

इस प्रवास का उनके चित्तपर बड़ा गहरा असर पड़ा, देश की स्वाधीनता के लिए वह व्याकुल हो उठे। देश में आकर उन्होंने अपने अनुभवों को कई दर्द-भरे और दिल को कँपाने वाले लेखों द्वारा देश और विदेश तक फैलाया। उन्हें निश्चय होगया कि सिवा स्वावलम्बन के देश की स्वतन्त्रता का कोई मार्ग नहीं है।

इसी बीच १९०५ की सोलहवीं अक्तूबर के दिन लॉर्ड कर्ज़न ने बंगभंग की घोषणा की, जिसे सुनकर सारा बंगाल तिलमिला उठा, उसने मातमी जुलूस निकाले और उपवास किया। सारा देश इस घटना से क्रुद्ध हो उठा था। बनारस में इसी वर्ष महासभा का अधिवेशन हुआ। श्री गोखले सभापति थे। इस अधिवेशनमें लाजपतराय ने एक ऐतिहासिक भाषण दिया। उसकी प्रशंसा करते हुए लोग आज भी नहीं अघाते। वह भाषण क्या था, देश-दाह से जलते हुए हृदय के उबलते हुए उद्गार थे।

१९०७ ई० में पंजाब-सरकार ने जमीनके सम्बन्ध में एक कानून पास करना चाहा। जनता ने उसके विरोध में बड़ी-बड़ी सभायें कीं और खासा आन्दोलन खड़ा हो गया। इस आन्दोलन में लाजपतराय ने भी थोड़ा भाग लिया था और किसी अधिकारी से उनकी गर्मागर्म बातचीत भी होगई थी। पंजाब सरकार ने उसी समय कई आन्दोलन-कारियों को गिरफ्तार किया लेकिन वे पीछे से छोड़ दिये गये। उस समय पंजाब के लेफ्टिनण्ट गर्वनर सर डेन्जिल इबेटसन् थे।

यह कठोर और सनकी आदमी थे। लाजपतराय पर इनकी नजर थी। कुछ समय बाद सन् १८१८ ई० के एक्ट की तीसरी धारा के अनुसार लाजपत अपने घर पर चुपचाप कैद कर लिये गये और बिना किसी अभियोग के मंडाले के जेल में भेज दिये गये। देश को जब इस बात की खबर हुई तो चारों ओर से क्षोभ का तूफान उमड़ पड़ा। स्व० गोखले ने सरकार के इस कार्य की कड़ी से कड़ी टीका और भर्त्सना की। लोकमान्य तिलक ने कहा, 'लालाजी जैसा देश-भक्त देश से बहिष्कृत किया जाता है तो भी लार्ड मिन्टो जिन्दा क्यों हैं ?' इस विरोध का असर पड़े बिना न रहा। लालाजी मण्डाले के कारावास से छः महीने के भीतर ही मुक्त कर दिये गये। जब लाजपत जेल से चुपचाप पंजाब लाये गये, तो लोगों के हर्ष का ठिकाना न था। झुण्ड के झुण्ड स्त्री-पुरुष उनके घर जा-जाकर वीर लाजपत के दर्शन कर सुखी होने लगे। लाजपतराय अब देश के एक अग्रणी नेता बन गये। इसी समय से 'लाल-बाल-पाल' की त्रिमूर्ति का जय-जयकार देश के कोने-कोने में गूँजने लग गया।

विदेश-यात्रा और अमेरिका-वास

सन् १९१३ में लाला लाजपतराय एक बार फिर स्वतन्त्र-रूप से विदेश-यात्रा के लिए रवाना हुए। पहले-पहल वह जापान पहुँचे और जापान से अमेरिका। इन दोनों देशों के उत्कर्ष के कारणों का अध्ययन कर चुकने पर जब वह भारत लौटने लगे तब यूरोपीय महायुद्ध छिड़ चुका था। अंग्रेजी सरकार तो इन्हें पहले से ही खतरनाक समझती थी। उसने लाजपतराय को पासपोर्ट नहीं दिया, जिसके कारण उन्हें अमेरिका में ठहरना पड़ा। पर इन दिनों अमेरिका रहकर उन्होंने भारत की बहुत भारी सेवा की, जिसके लिए देश उनका हमेशा ऋणी रहेगा। अमेरिका में रहकर उन्होंने "यंग इण्डिया" पत्र निकाला, इण्डियन ब्यूरो और होमरूल लीग की स्थापना की। सैकड़ों हजारों व्याख्यान दिये; १० लाख के करीब पत्र और पुस्तकें बाँटीं और अमेरिका की जनता को भारत की सच्ची स्थिति से परिचित कराया। वहीं रहकर उन्होंने सन् १९१६ में "यंग इण्डिया" और "इंग्लैण्ड्स डेट टु इण्डिया" नामक विख्यात पुस्तकें भी लिखीं। इन्हीं दिनों 'माडर्न रिव्यू' में 'इज़्ज़त' उपनाम लालाजी ने कितने ही लेख लिखे थे, जो पश्चिमी देशों की राष्ट्रीयता के रहस्य को समझाते थे, और देश की पराधीनता की कष्ट-कथा से भरे रहते थे।

जालियाँवाला-काण्ड और पुनरागमन

१९१९ ई० में जालियाँवालाबाग के नृशंस हत्याकांड की जब लालाजी को अमेरिका में खबर मिली तो वह स्वदेश लौटने के लिए विकल हो उठे। लेकिन लाचार थे। उन्होंने देशवासियों को अपना दुःख जाहिर करते हुए लिखा था—"× × इस समय जब मेरे देश-भाई भयकर विघ्न-बाधाओं से टक्कर ले रहे हैं मैं अपना हिस्सा चुकाने के लिए वहाँ नहीं हूँ, यह देखकर मेरी आत्मा बुरी तरह तड़पती है। ऐसा मालूम होता है, कोई भीषण अपराध कर रहा हूँ। मैं अपने देशबन्धुओं के लिए कुछ भी नहीं कर सकता, यह विचार मुझे व्यथित कर रहा है। हिन्दुस्थान के स्वराज्य के लिए संसार की सहानुभूति प्राप्त करना मेरा काम है, पर सच्चा काम तो हिन्दुस्थान में है।" आखिर १९२० ई० की शाही घोषणा ने लालाजी को भारत आने का मौका दे दिया और २० फ़रवरी १९२० के दिन उन्होंने फिर से मातृभूमि में पदार्पण किया। बरसों का बिछुड़ा हृदय अपनी मातृभूमि के उद्धार के लिए दिन-रात एक करने लगा। उस समय देश में एक अद्भुत चैतन्य का प्रादुर्भाव हो चुका था। इससे उन्हें बड़ा सुख हुआ। वह हजार गुना जोश से गांधीजी द्वारा प्रवर्तित असहयोग-आन्दोलन में कंधे से कंधा मिलाकर काम करने लगे। पंजाब के घटना-स्थलों को देखकर उनकी आत्मा रो पड़ी। वह अपनेको न सम्हाल सके। उन्होंने कहा, "अत्याचारी शासकों के नृशंस कार्यों ने मेरे हृदय में गहरा घाव किया है। × × अब तो असहयोग का झण्डा फहराना ही मेरा कर्तव्य है।" फिर तो लाजपतराय गांधीजी के दाहिने हाथ बनकर काम करने लगे। उस बूढ़े लाजपत की यह कितनी उदारता थी ! राष्ट्र सेवा के लिए यह कैसा अनुपम त्याग और बलिदान था !

दमन और कारावास

पर इस बढ़ते हुए देश-व्यापी असहयोग-आन्दोलन का असर सरकार पर हुआ और उसने दमनचक्र द्वारा इस

आन्दोलन को कुचल देना चाहा। सन् १९२० के सितम्बर में महासभा का विशेष अधिवेशन हुआ और सर्व-सम्मति से पंजाब का राजा देश का बेताज का राजा चुना गया। देश में उस समय पंजाब के हत्याकाण्ड, ख़िलाफ़त के अन्याय तथा सुधार के टुकड़ों पर भीषण असन्तोष छाया था। अध्यक्ष-स्थान से इन अन्यायों का उल्लेख करते हुए लाजपतराय ने सरकार को स्पष्ट शब्दों में अपराधी ठहराया और उसे एक अपराधी की तरह बार बार ललकारा।

दिसम्बर में महासभा के वार्षिक अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ। देश भर में आग सी लग गई। सरकार का आसन डोल उठा। १९२१ के दिसम्बर के अन्तिम दिनों में पंजाब, बंगाल और युक्त-प्रान्त आदि में धर-पकड़ और दमन जारी हो गये। पंजाब में उस समय १४४ धारा सर्वत्र लागू थी। लाजपतराय अपने ४० सहयोगियों के साथ घर पर बैठे मशविरा कर रहे थे। एकाएक पुलिस आई, सभा को ग़ैर-क़ानूनी बतलाया और गिरफ़्तारी का वारण्ट पेश किया। लाजपतराय ने न तो वारण्ट को स्वीकारा, न सभा बर्ख़ास्त की। बहुत लम्बी बोध-प्रद बहस के बाद उन्होंने पुलिस से कहा—"मैं लाजपत हूँ, मुझे गिरफ़्तार कर सकते हो।" पंडित सन्तानम और गोपीचन्द के साथ पुलिस ने लाजपत को गिरफ़्तार किया और मोटर पर बैठाकर ले चली। लालाजी ने मोटर से क्षुब्ध जनता को सन्देश दिया, "बहादुर रहना, शान्ति क़ायम रखना, असहयोग का जय-घोष करना।"

इस बार राजनैतिक क़ैदियों के साथ होनेवाली सख़्ती का लालाजी के स्वास्थ्य पर बड़ा बुरा असर पड़ा, जिसकी पूर्ति उनके जीवन में फिर न हो सकी। असहयोग-आन्दोलन योग्य नेताओं के अभाव में शिथिल हो गया। देशबन्धु, पं० मोतीलालजी, गांधीजी और लाजपतरायजी जब जेल से छूटकर आये, तबतक तो सारा वातावरण ही बदल चुका था!

रचनात्मक कार्य और अन्तिम दिन

पर कर्मण्य लाजपतराय से चुपचाप नहीं बैठा गया। वह रचनात्मक कार्य में लग गये। हिन्दू जाति की विश्रृंखल और दीन-हीन दशा को सुधारने की ओर उनका लक्ष्य गया। उन्हें विश्वास हो गया कि जबतक हिन्दू जाति संगठित, बलशाली, उदार, जागृत और स्वाभिमानी नहीं बन जाती, राष्ट्रोद्धार का काम कठिन है। हिन्दू महासभा को संगठित कर लालाजी ने उसे राष्ट्रीय रूप दिया और उसके द्वारा सारे देश की हिन्दू जनता को संगठित एवं सशक्त करने का काम प्रारम्भ किया। हिन्दू-हित की इस हिमायती के कारण कुछ मुसलमान भाई उनसे असंतुष्ट हुए और थोड़े समय के लिए उनके विरुद्ध वातावरण-सा खड़ा हो गया। लेकिन लाजपतराय अपने पवित्र उद्देश्य से नहीं डिगे। वह राष्ट्रवादी थे और इसलिए उनकी दृष्टि में हिन्दू-हित और मुस्लिम-हित एक समान थे। वह हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के स्वप्न देखा करते और उसे जल्दी से जल्दी स्थापित होते हुए देखना चाहते थे। उनकी अन्तिम श्वास से राष्ट्र-हित की ध्वनि निकलती रही, जिसमें हिन्दू मुस्लिम ऐक्य और सद्भाव को पूरा स्थान था।

इधर कुछ वर्षों से लालाजी ने मजदूरों और अछूतों के प्रश्न को अपने हाथ में बड़ी सरगर्मी से ले लिया था। उनके हित एवं उद्धार के लिए वह अन्त तक चिन्तित रहे। १९२१ ई० में वह मजदूरों के प्रतिनिधि बन कर जिनेवा की अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर परिषद् में गये और अपनी तेजस्विता-पूर्ण वक्तृता द्वारा परिषद् के सदस्यों पर बड़ा अच्छा असर डाला। भारत में भी वह झरिया की दूसरी मज़दूर महासभा के अध्यक्ष बनाये गये थे।

नवयुवक और लाजपतराय

लाजपतराय को देश के नवयुवकों से विशेष प्रेम था और अपनी उदारता, दया, सहानुभूति और निस्वार्थ सेवा-भाव के कारण लालाजी भारत के जागृत नवयुवकों के हृदय-हार बन गये थे। वह युवकों को असीम आशा और स्नेह-भरी दृष्टि से देखते थे। जिस किसी ने नवयुवकों को, विद्यार्थियों को देश की राजनीति में भाग लेने से रोका, उसकी उन्होंने खूब ख़बर ली। वह कहते—"मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो कहते हैं कि विद्यार्थियों को, ख़ासकर विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को, राजनीति में भाग नहीं लेना चाहिए। मेरे विचार में ऐसा कहना नितान्त मूर्खता-पूर्ण और अनुचित है। ऐसा कहनेवाले लोग न केवल पथ-भ्रष्ट हैं, बल्कि देश-

द्रोही और बेईमान भी हैं।" उस दिन दिल्ली में औपनिवेशिक स्वराज्य और स्वातन्त्र्य पर अपने विचार प्रकट करते हुए लालाजी ने जिस विशालहृदयता, स्वच्छता, स्पष्टता और सरलता का परिचय दिया था, वह संसार के इतिहास में शायद अपूर्व है। कौन नेता है, जिसे सच बात कहते अपनी शान और प्रतिष्ठा का ख़याल न आता हो? लेकिन वीर लालाजी ने 'पीपुल' में लिखा—"मैं पूर्ण स्वातन्त्र्य के प्रचार-कार्य का विरोध नहीं करूँगा। × × × × मेरी समझ में गत कई वर्षों की ब्रिटिश नीति ने नौजवानों को पूर्ण स्वाधीनता का आन्दोलन करने के लिए विवश कर दिया है। × × × नौजवान क़ैद का डर छोड़ते जाते हैं और वह समय भी आ रहा है जब वे मौत का डर भी छोड़ देंगे। × × × हमें दोनों के लिए पूरा प्रयत्न करना पड़ेगा। फिर हम औपनिवेशिक स्वराज्य चाहें, या पूर्ण स्वाधीनता। पर इन दो दलों का मेल नहीं हो सकता, बूढ़े नौजवानों की बात नहीं मानेंगे और नौजवान बूढ़ों की नहीं सुनेंगे। इन दोनों तरह के संग्रामों के लिए देश को तैयार करने के निमित्त जिस लगातार, शारीरिक और मानसिक मेहनत की ज़रूरत है, उसके लिए मैं बहुत कमज़ोर हो गया हूँ। इसलिए आगे का कार्य-क्षेत्र नौजवानों के लिए छोड़ता हूँ, वे जैसा ठीक समझें, करें।"

इंग्लैण्ड से सात सयानों का एक मनचाहा कमीशन आया है। वह इस बात की तहक़ीक़ात करेगा कि हिन्दुस्थान स्वराज्य के योग्य है या नहीं। हम योग्य हैं या नहीं, इसकी जांच ये सयाने करें! देश उनका बहिष्कार कर रहा है। बीस अक्तूबर के दिन जब कमीशन लाहौर पहुँचा, तो लालाजी ने इसका बहिष्कार संगठित किया। एक विशाल जुलूस निकला। लालाजी सबके आगे थे। जब जुलूस स्टेशन के पास पहुँचा और अपनी जगह शान्त-भाव से खड़ा था, एकाएक पुलिस ने जुलूस के अग्रभाग पर आक्रमण किया और लालाजी को लाठियों से मारा! उस दिन लाहौर की सभा में इस बूढ़े नर-केसरी ने संतप्त हो यह गर्जना की थी—"अगर सरकार और उसके कर्मचारी इसी तरह के अत्याचार क गे, तो भारत के जोशीले नौजवान उत्तेजित और अधीर हो उठेंगे और उस समय हममें से किसी के लिए उन्हें अहिंसा की मर्यादा के अन्दर रोक रखना असंभव हो जायगा। × × × जब वह दिन आवेगा, तब मेरी आत्मा परलोक से नौजवानों को आशीर्वाद तथा मातृभूमि का उद्धार प्रत्येक सम्भव उपाय से करने की अनुमति देगी।" इन शब्दों से स्पष्ट प्रकट होता है कि लालाजी का नवयुवकों पर कितना विश्वास था। क्या देश के नवयुवक लाला लाजपतराय की इस अन्तिम इच्छा को पूरी करेंगे?

भविष्य की चिन्ता

अपने पीछे भी देश का काम निष्कटक रूप से बराबर और योग्य व्यक्तियों द्वारा होता रहे, इस दूरदर्शी उद्देश्य से लाला लाजपतराय ने 'तिलक-राजनीति-स्कूल' और 'जन-सेवक-समिति' नामक दो संस्थायें स्थापित कीं। एक देश के लिए आला दिमाग राजनीतिज्ञ तैयार करने के लिए और दूसरी निस्वार्थ भाव से राष्ट्र की सेवा के लिए। इन दो संस्थाओं के अतिरिक्त लालाजी उर्दू में 'वन्देमातरम्' और अंग्रेजी में 'पीपुल' नामक पत्र भी निकालते थे। इन सस्थाओं को लालाजी ने अपने ख़ून से सींचा और अपने पुरुषार्थ की गाढ़ी कमाई जन्म भर इनकी नींव में उँडेली है। महाप्रयाण से कुछ पहले अपनी शेष सम्पत्ति भी उन्होंने देश के लिए एक उत्तम मातृ-गृह के निर्माण में समर्पण की थी। लालाजी इन संस्थाओं को अपनी ही सच्ची विरासत समझते थे। आशा है, देश इन संस्थाओं के रूप में लालाजी की स्मृति को अमर रक्खेगा।

महा-प्रयाण—हमारा कर्तव्य

आज लालाजी नहीं हैं। आज सारा देश उनके वियोग की आग से जल रहा है। पर, मैं पूछता हूँ, यह आग कैसी है, जो हमें कर्तव्य नहीं बताती? लालाजी की देशभक्ति, साहस, दीन-दयालुता, निर्भयता, साधुता, उदाराशयता, विश्वजनीन प्रेम, हम अपने अन्दर उत्पन्न न कर सके तो हमारा रोना वृथा है। मर्दों का दुःख कभी आँसुओं के खारी जल में नहीं बह जाता। वह कार्य-द्वारा प्रकट होता है।

काशीनाथ नारायण त्रिवेदी

ज्वाला

रोये नीले नभ के लोचन, गीले हुए अवनि के गाल।
हाहाकार उठा सागर में, हुई उषा की आँखे लाल ॥
रुककर वायु, सिहर कर काँपी, छोड़े उसने भी उच्छ्वास।
कलिकायें मुख खोल न पाईं, भूल गईं अन्तर का हास॥
लाज बचाते, गया लाजपत, सूना-सा लगता है आज।
ताज न पहना पाया माँ को, रखा काल ने सिर पर ताज॥
+ + +

तेरी अर्थी पर जब रोते हुए लगाये कंपित हाथ।
लाखों लोग अनाथों-से सिर धुनने लगे एक ही साथ॥
तेरी चिता, क्रोध कर बोली, ऐ युवको! ऐ माँ के लाल!
मेरी इस ज्वाला से भर लो तुम अपने प्राणों के थाल॥
बस भूकंप उठे भारत में ढुलक पड़े पापी शासन।
गया गांठ से लाल मात का अब तो खुल जाये बंधन॥

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

जीवन

अनन्त में एक आलोक दिखाई पड़ता है। मैं उन्मत्त-सा होकर उसके पीछे दौड़ता हूँ। पर, क्या कभी किसीने अनन्त का भी अन्त पाया है—असीम को भी सीमा मे बाँधा है? मैं निष्प्रभ होकर लौट पड़ता हूँ। हाय, वह निराशा भी कैसी उन्मादिनी होती है!

मैं वीणा लेकर बजाने बैठता हूँ। विभिन्न स्वरों में सारे तार झनझना उठते हैं। आह, कैसा सुन्दर स्वर है, और कैसी चित्ताकर्षक लय! पर, कुछ देर मे, वह अनन्त की गोद में समा जाती है। मैं सोचता हूँ—क्या जीवन भी ऐसा ही है? इतना ही सुन्दर, इतना ही क्षणभगुर! पर, वह कितने मनुष्यों के मन को मोह लेता है?

सूर्य के अस्त होते ही पृथ्वी पर एक काला पर्दा पड़ जाता है। मैं दीपक लेकर जलाने बैठता हूँ। अन्धकार के आवरण मे ज्योति की किरणें छिटक जाती हैं। आह, भटकनेवाले पथिकों के लिए कैसा प्रकाश है यह! कितना भव्य और कितना मनोमोहक! पर, पास बैठा हुआ शिशु फूँक मार देता है—वह बुझ जाता है। मैं सोचता हूँ—क्या जीवन भी ऐसा ही है? इतना ही ऊंचा और इतना ही कमजोर! पर, वह कितने मनुष्यो के मार्ग पर प्रकाश डालता है?

विश्व के मञ्च पर से पाप का पर्दा फट जाता है—कर्त्तव्य की याद दिलाने फिर सूर्यदेव आ जाते हैं। मैं अपने उपवन मे जा बैठता हूँ। फूल की पखड़ियाँ ओस के बोझ से सिर उठाती हैं। संसार से ऊब जाने वालों के लिए कैसा सन्देश है यह! कितना कोमल और कितना आशा-पूर्ण! पर, कुछ देर मे, वह मुरझाने लगता है—वह टूट जाता है। मैं सोचता हूँ—क्या जीवन भी ऐसा ही है? इतना ही अस्पष्ट और इतना ही नाशवान्! पर, वह कितने मनुष्यो को आशा का दिव्य संदेश सुनाता है?

जीवन एक पहेली बन जाती है—मैं व्यथित हो उठता हूँ। महामाया के चरणो मे मेरा सिर झुक जाता है। मूक-वाणी में कोई कहता है—

'जीवन क्षणभगुर अवश्य है, पर जिस जीवन मे वीणा जैसा आकर्षण है, दीपक जैसा प्रकाश है, और पुष्प जैसा पराग है, वही अमरता है।'

शान्तिप्रसाद वर्मा



"हम जाग उठीं, सब समझ गईं, अब करके कुछ दिखला देंगी ।
हाँ, विश्व-गगन में भारत को, फिर एक बार चमका देंगी ॥"

शिक्षा-समस्या

(४)

शिक्षितों की दशा का जो वर्णन किया गया है, उसमें अभिप्राय केवल पुरुषों से नहीं, बल्कि स्त्री-पुरुष दोनों प्रकार के शिक्षितों से है। क्योंकि, स्त्रियाँ भी तो अपनी स्वतन्त्रता प्रस्थापित करने के लिए पुरुषों के क़दम-बक़दम ही न चल रही हैं ?

फ़ोस्टर ने एक जगह कहा है—"मैंने देखा है कि शिक्षिता कही जानेवाली अधिकांश स्त्रियों को जीवन में प्रगति करनेवाली शिक्षा की कोई कल्पना ही नहीं होती। थोड़े-से ऊपरी टीप-टाप, कुछ ज्ञान, और थोड़ी-सी शिष्टता को पा जाने पर वे अपने आपको पूर्ण समझने लगती हैं और आजन्म इसी तरह का जीवन व्यतीत करतीं तथा उसीमें सन्तुष्ट रहती हैं। ये स्त्रियाँ ठीक उन्हीं घड़ों जैसी हैं, जो पूरे बन जाने पर किसी सुनहरी चौखट में रख दिये जाते हैं और अगर हो सका तो स्थायी सौंदर्य के प्रतीक की नाईं कमरे में टाँग दिये जाते हैं। और वह दीर्घकालीन स्थायित्व अपनी भद्दी और मैली अंगुलियों से उसके मनोहर रंगों को भद्दा बना देता है।" ठीक यही हाल क्या हमारी शिक्षिता महिलाओं का नहीं है ?

आज हम क्या देख रहे हैं ? शिक्षिताओं का गर्व पुरुषों से भी बढ़ रहा है। चूँकि अभी शिक्षिताओं की संख्या थोड़ी है, इसलिए पुरुषों जैसे सब भाव उनमें कुछ अधिक मात्रा में ही चाहे मिलें—कम में नहीं मिलेंगे। हाँ, इनमें उनसे एक अधिकता और है। कुछ तो स्त्री के प्रति पुरुषों का स्वाभाविक ही कुछ विशेष और अजीब आकर्षण होता है, फिर हमारे यहाँ चूँकि पुरुष-स्त्री का मिश्र-मण्डल न जाने कितने समय से नहीं है, इसलिए जब कोई ऐसा मौका आता है तब पुरुषों का उनकी तरफ़ और भी अधिक तीव्र ध्यान और आकर्षण होता है। स्त्रियाँ बेचारी ऐसा साहस करने वाली—पुरुष-समाज में हिलने-जुलने वाली—बहुत कम ही और प्रायः एकाध ही होती हैं, अतः

ज्यादातर तो वे इस वातावरण के कारण होने वाले हक्के-बक्केपन एवं भय से और कुछ स्वतन्त्रता की अपनी उत्कट इच्छा से और कभी-कभी अपने चित्त-चारित्र्य की दुर्बलता से भी अवांछनीय संयोगों में पड़ जाती हैं। हम देखते हैं, अधिकांश शिक्षिताओं के बारे में चरित्र-सम्बन्धी कुछ शिकायतें सर्व-साधारण में प्रसारित हैं। हम यह नहीं कहते कि सब स्त्रियाँ शिक्षा पाकर चरित्र-हीन हो ही जाती हैं, पर आज की भौतिक शिक्षा उनके नैतिक दायरे को कुछ हलका अवश्य कर रही है, ऐसा हमारा खयाल है। बड़ी खुशी की बात होगी, यदि हमारी यह धारणा निर्मूल हो। लेकिन विचारोपरान्त यदि इसमें कुछ भी सचाई पाई जाय, तो इस स्थिति का निवारण सबसे पहले किया जाना चाहिए।

× × ×

रहा यह कि शिक्षा-प्रणाली आख़िर क्या हो? सो पुरुषों के बारे में तो यहाँ विचार करना नहीं है, स्त्रियों की शिक्षा-पद्धति अवश्य विचारणीय है।

शिक्षा का उद्देश्य-आदर्श तो स्त्रियों के लिए भी अवश्य ही वही रहेगा, जो कि पुरुषों के लिए है। हाँ, शिक्षा के प्रकार और उसे देने के ढंग में अवश्य कुछ-न-कुछ फ़र्क़ पुरुषों और स्त्रियों में रहना चाहिए और वह स्वाभाविक है। स्त्री-पुरुष दोनों की आत्मा एक है, यह हम मानते हैं। फिर भी जब प्रकृति ने ही उन्हें दो जाति बनाया है, शरीर-रचना में भी भिन्नता है, और कर्त्त-व्यकर्मों में भी, तब यह भी मानना चाहिए कि उनकी ज़रूरतों में भी थोड़ी-बहुत भिन्नता ज़रूर होगी और वस्तुतः वह है भी। तब यह तो माना ही कैसे जा सकता है कि जो शिक्षा या बात जिस ढंग में और जिस अंश तक एक के लिए उपयुक्त हो सकती है या होती है, वह ठीक ज्यों-की-त्यों उससे मुख़्तलिफ़ दूसरी जाति पर भी लागू होगी? यह अस्वाभाविक है, वास्तविकता से शून्य है, और मनोविज्ञान के विरुद्ध है। पुरुष दृढ़ और कठोर माना गया है और स्त्री कोमल-नाज़ुक। पुरुष की प्रवृत्ति पशु-प्रधान है और स्त्री की देव-प्रधान। पुरुष में कठोरता और शासन की जड़ है, स्त्री में नम्रता और अनुशासन-पूर्ण प्रेम का अखण्ड वास। एक प्रयोक्ता है, दूसरी प्रयोज्य। एक उत्पादक है, दूसरी पोषक। एक बीज है, दूसरी वृक्ष। एक बाहर का काम सम्हालता है, दूसरी गृह-स्वामिनी है। एक आर्थिक पहलू हल करता है, दूसरी उसकी उपयुक्त व्यवस्था। इस प्रकार दोनों की दो प्रकृतियाँ और दो कर्तव्य हैं, तब उन्हें प्रत्येक को शिक्षा भी उन्हींके अनुसार क्यों न मिलनी चाहिए? पुरुषों ही की शिक्षा का अनुसरण करके स्त्रियों ने कोई बहुत फ़ायदा नहीं उठाया, सिवा इसके कि स्वतन्त्रता की चाह में वे एक के बाद एक उनके दुर्गुणों को निधड़क अपनाती जा रही हैं, यह आज अनेक विचार-शील विद्वान् स्वीकार करते है। स्त्रियो की शिक्षा में तो विशेष ध्यान देना चाहिए उन काम-धन्धों आदि पर, कि जिनके ऊपर उनकी गृहस्थी का सौन्दर्य और सुख निर्भर है।

सबसे पहले तो स्त्रियों की रुचि को परिष्कृत करना चाहिए। उनके मन को ऐसा ऊँचा उठाना चाहिए कि घर-गृहस्थी के धन्धों को करने में ज़रा भी न शर्मायँ, जैसे कि शिक्षित लोग अपने क़दीमी धन्धों से शर्मा कर उन्हें तिलांजलि ही देते जाते हैं। अलबत्ता दासी के रूप में वे उन्हें न करें, उन्हें करें प्रेम और वात्सल्य-मयी माता अथवा स्वामिनी के रूप में। गार्हस्थ्य जीवन में वे अपनी स्थिति को हीन समझकर घर में क्लेश-दुःख न फैलायें, बल्कि अपने को लक्ष्मी, सरस्वती और शक्ति की मूर्त-रूप समझ कर अपने निर्दोष, निष्कपट, स्नेहपूर्ण व्यवहार से वे सुख, स्नेह और आनन्द की रश्मियाँ फैलायें।

शिक्षा की व्यवस्था में, परिस्थिति को देखते हुए, पश्चिम का सर्वथा अनुकरण न होना चाहिए। बजाय समय और अनुशासन के भयपूर्ण बन्धनों में जकड़े रहने के मनोत्साह के सुन्दर-श्रेष्ठ समय में शिक्षा का कोई उपाय निकाला जा सके तो सर्वोत्तम। पर जबतक ऐसा न हो सके स्त्री-शालाओं का समय स्त्रियों के आवकाश का विचार करके रक्खा जाय, तो अच्छा हो। दोपहर का समय शायद इसके लिए सर्वोत्तम होगा।

पाठ्यक्रम अधिक आकर्षक बनाया जाना चाहिए और पाठ्य-पुस्तकें सुन्दर, सचित्र और सस्ती हों, इसकी विशेष व्यवस्था हो। अन्य वातावरण में भी स्वच्छता-सफ़ाई और

लालित्य-सौन्दर्य का ध्यान रहना चाहिए। सौन्दर्य और लालित्य स्त्रियों का विशेष विषय है। इसपर खूब ध्यान दिया जाना चाहिए। चित्रकारी, गाना-बजाना आदि सब ऐसी बातें इसमें आ जाती हैं। इनकी शिक्षा में यह खास ध्यान रखना चाहिए कि इनके अध्ययन में उनके भावों पर श्रृङ्गारिकता, रसिकता आदि भद्देपन की छाप न पड़ कर सुन्दर और पवित्र प्राकृतिकता और आदर्श वास्तविकता की ही छाप पड़े।

पाक-शास्त्र उनका आवश्यक विषय है। परन्तु इसकी शिक्षा किताबी न होकर पूर्णत व्यावहारिक होनी चाहिए। इसमें यह भी ध्यान रहना आवश्यक है कि सिर्फ़ अमीरी खान-पान की शिक्षा न हो; बल्कि यह बताया जाय कि ग़रीब से ग़रीब स्थिति में भी आदर्श गृहिणी अपने पाक-चातुर्य से कैसे जिह्वा-स्वाद को क़ायम रख सकती है और दु:खी कुटुम्बियों को संतुष्ट कर सकती है।

सीना-पिरोना, कसीदा आदि उनके आभूषण हैं। इनमे उन्हें अवश्य और भली-भाँति अभिज्ञ किया जाना चाहिए।

शिशु-विज्ञान और गर्भ पालन जैसे विषयों का तो उन्हें सूक्ष्म और अच्छा ज्ञान दिया ही जाना चाहिए, पर स्वास्थ्य और विभिन्न ऋतुओं के अनुपान आदि का साधारण ज्ञान भी उन्हें होना चाहिए। इस तरफ़ हमारी बहुत अधिक उपेक्षा रही है, यद्यपि यह प्राय. सबसे महत्वपूर्ण विषय है।

अक्षर-ज्ञान होना ज़रूर चाहिए और जिस विषय में जिसकी रुचि हो उस विषय का विशेष ज्ञान भी, पर उपर्युक्त सब बातों के सामने उनका नम्बर दूसरा रहे।

गणित, ज्यामिती आदि का थोड़ा व्यवहार-योग्य अध्ययन काफ़ी होगा।

भूगोल का संक्षिप्त ज्ञान होना चाहिए। इतिहास सन्-संवत् के ढंग पर नहीं पर कथा-कहानियों के रोचक ढंग पर पढ़ाया जाना चाहिए और उनमें उससे निष्कर्ष निकालने की बुद्धि जागृत करनी चाहिए।

जिस धर्म में जिसकी आस्था हो, बिना किसी दूसरे धर्म पर आक्रमण किये, उसकी इतनी शिक्षा तो उन्हें मिलनी ही चाहिए कि उसके मूल सिद्धान्तों और उसकी भावनाओं को वे समझ कर सुलझे दिमाग़ से उनपर अमल कर सकें और अटर सटर लोगों व गुण्डे-ढोंगियों के फेर में न पड़ें।

चरित्र और सेवा-प्रधान वृत्ति पर पूरा ध्यान रहे। अवज्ञा और तड़क-भड़क आदि ऐसे भाव न पैदा हो पायें, विलासिता और भोग की भावना न घर कर जाय, इसका पूरा ध्यान रक्खा जाय। "सादा जीवन, उच्च विचार" उनके जीवन का लक्ष्य बनाया जाय, और निर्दोष विश्व-प्रेम एवं नि:सीम विश्व-सेवा उनका ध्येय हो।

एक बात और। बालकवाली तथा अल्पायु कन्याओं के लिए मुफ़्त दूध, नाश्ते, चाय आदि की भी स्कूलों में व्यवस्था रहे, जैसी कि शायद बड़ौदा राज्य ने की भी है।

ऐसा हुआ तो, हमारा ख़याल है, हमारी बहनें सच्ची शिक्षा लाभ करके अपना, अपने घरों का, कुटुम्बियों का, और फिर भारत का वह नाम करेंगी कि एक बार फिर भगवान् को यहाँ की भूमि में जन्म ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न होगी। और उनका अवतरण भारत के सारे दु:खों को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा।

मुकुटबिहारी वर्मा

स्नेह

दीप-शिखा से कहा शलभ ने—
"क्या है यही स्नेह की बान?
मैं तो जल कर मर जाऊँ पर,
तू न तनिक भी होता म्लान!"
हँस कर बोली दीप-शिखा—
"है कठिन स्नेह, हे स्नेही वीर!
उसके लिए प्रथम ही मैंने,
जला दिया निज कान्त शरीर!"

'लहरी'

स्त्री और पुरुष

(मनोविज्ञान)

'Let the husband render unto the wife due benevolence: and likewise also the wife unto the husband'

—HOLY BIBLE.

"स्त्री मेरे जीवन की एक गूढ़ पहेली है, जिसे मैं कभी न समझ सकूँगा।"—अनेक समझदार और सच्चे पति इस बात को स्वीकार करते हैं। इसी तरह पढ़ी-लिखी अनेक बहनें भी यह मानती हैं कि चेष्टा करने पर भी, वर्षों साथ रहने पर भी, वे अपने पति को नहीं समझ सकीं। प्रकृति का कुछ नियम भी ऐसा ही है, वह पति-पत्नियों में आकर्षण क़ायम रखने के लिए कुछ रहस्य अवश्य छिपाये रहती है। एक दूसरे को जानने की लालसा प्राकृतिक होती है। पुरुष का मन स्त्री के हृदय-मन्दिर में घुस कर उसका निरीक्षण करना चाहता है, और इसी तरह स्त्री का मन पुरुष के अन्तस्तल की गूढ़ से गूढ़ बात को खोज निकालना चाहता है। पर इसमें सफल कितने होते हैं? आज यदि अनेक स्त्री-पुरुषों ने एक-दूसरे को समझने में इतनी भ्रम-पूर्ण धारणा का उपयोग न किया होता तो आज उनका गार्हस्थ-जीवन अधिक सुख-पूर्ण, अधिक पवित्र, अधिक स्वर्गीय न होता? आज जो लाखों पति-पत्नी प्रेम-हीन, ठण्डा, आकर्षण-रहित जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उसका कारण यही है कि दोनों ने एक-दूसरे को समझने में भूल की है।

अनेक युवक और युवतियों का विवाह हुआ, साल दो साल आनन्द से जीवन बीता। उनके हृदय में एक दूसरे के प्रति इतना ही स्नेह था, जितना होना चाहिए। पर कुछ समय बाद उन्हें अनुभव होता है कि उनके प्रेम की ज्वाला अब बुझ रही है, वे एक दूसरे के प्रति उसी शक्ति से आकर्षित नहीं होते, उनके पारस्परिक सम्बन्ध में अब न वह स्फूर्ति है और न वह जीवन है। गार्हस्थ सुख की एक चमक उठती है, फिर हमारी आँखों के सामने से विलीन हो जाती है, और हम हाथ मलते रह जाते हैं। अनेक युवक-युवतियों का जीवन इतना नीरस—कभी-कभी तो असह्य—हो जाता है कि वे सोचने लगते हैं—"क्या यही वैवाहिक सुख है, जिसके लिए हम इतने लालायित हो रहे थे?" पाश्चात्य देशों में तो इसीलिए विवाह के प्रति दिन-दिन अधिक घृणा उत्पन्न होती जाती है और अब वहाँ ऐसे लोगों की संख्या बढ़ रही है, जो अविवाहित ही रहना चाहते हैं। पर, दोष तो हमारा ही न है? हम—स्त्री और पुरुष—एक दूसरे को बड़ी विचित्र, अस्वाभाविक दृष्टि से देखना प्रारम्भ करते हैं, हमारा व्यवहार एक दूसरे के प्रति इतना अप्राकृतिक होता है कि हम अपनी स्वाभाविक मनोवृत्तियों को ढक देते हैं और बनावटी पारस्परिक अन्तर पैदा कर लेते हैं।

पति और पत्नी के इस मानसिक रोग की क्या दवा है? मुझे विश्वास है यदि पति-पत्नी एक दूसरे की प्रकृति का कुछ अध्ययन करें और उसके अनुसार परस्पर सहयोग और सहानुभूति से काम लें, तो कोई भी ऐसा मतभेद नहीं है जो दूर न हो सके। ऐसा करने से उनके जीवन की कटुता बहुत कुछ दूर हो सकती है। परन्तु हममें न तो एक दूसरे की प्रकृति, उसके भावों के समझने की बुद्धि है, और न हम उसका आदर ही करना जानते हैं, फिर हमारे जीवन में विषम मतभेद क्यों न हो?

स्त्री क्या है? स्त्री सौन्दर्य, कोमलता और स्नेह की प्रतिमूर्ति होती है, और अपने इन्हीं गुणों से वह

पुरुष को आकर्षित करती है। इसके विपरीत मनुष्य उग्र, लडाकू, परिश्रमी होता है और अपने स्त्री-बच्चों की आवश्यकतायें पूरी करना अपना कर्त्तव्य समझता है। पुरुष अक्खड, अपनी बात पर अडा रहने वाला, निर्णायक और आत्म-विश्वासी होता है, पर हम स्त्रियो मे यह नही पाते। इसके विपरीत वे दबनेवाली, भीरु और आगा-पीछा सोचने वाली होती हैं।

पुरुष अपने हृदय के भाव या याचना शब्दों से प्रकट करता है, इसके विपरीत स्त्री अपनी याचना अपने नेत्रो और हाव-भावों से ही प्रकट करना अधिक पसन्द करती है। कभी-कभी तो स्त्रियो के नेत्रो मे वह शक्ति होती है, जो पुरुष की तलवार में नही होती, और स्त्रियो के आँसुओ मे वह प्रभाव और शक्ति होती है कि पुरुष का बडे से बडा तर्क भी उसके सामने पराजय खा जाता है। बडे बडे पुरुष जो मृत्यु का सामना आने पर भी नही घबराते, वे भी स्त्री की एक ही दृष्टि मे उद्विग्न हो जाते हैं—उनकी शक्तियाँ ढीली पड़ जाती है। एक बात जो पुरुषो को भली प्रकार समझ लेनी चाहिए वह यह है कि स्त्री मे पुरुष से बहुत अधिक भावुकता होती है—छोटी-छोटी बाते भी उनके हृदय की तन्त्रियो को बजा देने के लिए पर्याप्त हैं, उन्हे सुख का अनुभव भी बहुत शीघ्र होता है और उन्हे दुःख के सागर मे विलीन होने भी देर नही लगती। इस बात को जो पति अनुभव करते है और ऐसे अवसरो को हटाते रहते हैं, जिनसे स्त्री के मस्तिष्क मे दुःख की तरग न दौड जाय, वे अपने गार्हस्थ-जीवन को अधिक सुखी बना लेते हैं। दूसरे ऐसे हैं, जो मजाक मे ही या मामूली बात समझ कर अपनी स्त्री को खिजाया करते है और व्यर्थ ही अपनी और अपनी पत्नी की सुख-शान्ति मे बाधा डालते है। स्त्रियाँ अपना ही नहीं, दूसरो के सुख-दुःख का भी अधिक शीघ्र अनुभव करती हैं, और अनेक बार तो मुँह के देखने से ही पुरुष के दुःख-सुख को जान जाती है। इसीलिए रोगी की सेवा-सुश्रूषा में स्त्रियाँ अधिक उपयुक्त साबित होती हैं।

स्त्री मे यह बात जानने की बड़ी प्रबल इच्छा होती है कि उसका पति उसे प्यार करता है या नहीं। इसमे प्रायः वे पूर्ण सफल होती भी हैं और बहुत ही कम पुरुष इसमे उन्हे धोखा दे पाते है। पुरुष किसी भोली भाली स्त्री को थोडे ही समय के लिए धोखा दे सकता है और स्त्री के लिए ससार मे इससे अधिक क्षोभ और दुःख की कोई दूसरी बात नही होती, जितनी यह जान कर कि वह जिसे प्रेम करती है वह उसे प्रेम नही करता या उसका प्रेम बनावटी है। स्त्री अन्य कार्यों मे तो बडी उदार और दयाशील होती है, परन्तु प्रेम के सम्बन्ध मे वह उतनी ही कठोर होती है। पुरुष तो किसी व्यक्ति या वस्तु को अच्छा-बुरा समझ सकता है, यह उसके लिए साधारण बात है, पर स्त्री के पास दो ही बाते हैं—प्रेम या घृणा। जिस व्यक्ति या चीज़ को वह अच्छा समझती है, उसे बहुत ही अच्छा समझती है, और यदि बुरा समझती है, तो बहुत ही बुरा समझती है। बीच का कोई मार्ग नहीं है। जिसे वह अच्छा समझती है, वह इस बात को सहन नहीं कर सकती कि उसकी कोई बुराई करे, और जिसे घृणा करती है उसे यदि कोई अच्छा बताये, तो उसे यह बात बुरी लगती है।

मै कह चुका हूँ कि पुरुष अधिक विचारवान् होता है और स्त्री अधिक भावुक। हृदय के भाव विचारो से अधिक स्थायी होते हैं, इसलिए स्त्रियाँ प्राचीन मार्ग पर चलनेवाली और रूढियो की भक्त होती हैं। घर मे आरम्भ से ही जो बाते दीखती चली आ रही हैं, उनको तोड़ना उनके लिए बड़ा

कष्ट-साध्य कार्य है। नई-नई बातों में स्त्रियाँ उतनी शीघ्रता से अग्रसर नहीं हो सकतीं, जितने पुरुष हो सकते हैं, और, यही कारण है कि अनेक समाज-सुधारों मे स्त्री-जाति को हम बाधक पाते हैं।

पुरुष स्त्री को प्रेम-सगिनी (Love-mate) ही समझता है, और स्त्रियाँ पति को जीवन-साथी (Life-mate) समझती हैं। प्रारम्भ मे पुरुष प्रेम मे स्त्री से अधिक पागल हो जाता है, पर पुरुष का यह नशा उतरता भी उतना ही जल्दी है। अनेक नवीन पति विवाह के साल-छः महीने प्रेम मे पगे रहते हैं, सोते-जागते, उठते-बैठते, उन्हे सर्वत्र स्त्री ही नजर आती है, पर फिर एक ऐसा झटका लगता है कि सब चौकड़ी भूल जाते हैं। इसके विपरीत स्त्री मे प्रेम क्रमशः धीरे-धीरे बढता है और फिर कम भी धीरे-धीरे ही होता है। अथवा यों कहिए कि स्त्री प्रेम-पन्थ की ओर बड़ी सावधानी से और फूँक-फूँक कर पैर बढ़ाती है, पर एक बार अग्रसर हो जाने पर लौटना नहीं जानती। पुरुष प्रेम करने मे अधिक शीघ्रता करता है, पर स्त्री धीरे-धीरे कदम बढाती है। पुरुष इस प्रेम को अपने स्वार्थ की वेदी पर बलिदान कर देता है, अपनी आकाक्षाओं को पूरी करने मे अपनी प्रेमिका को भी कुचल कर फेंक देता है; इसके विपरीत स्त्री प्रेम की वेदी पर अपने अस्तित्व को ही बलिदान कर देगी, ससार मे कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जो वह अपने प्रेम पात्र पर न्योछावर न कर दे।

गृहस्थ-जीवन मे पुरुष यदि मस्तिष्क है, तो स्त्री हृदय, पुरुष के हृदय का सचालन मस्तिष्क करता है और स्त्री के मस्तिष्क का संचालन उसका हृदय करता है। जिन कामो मे मस्तिष्क की आवश्यकता है उनमे पुरुष ही सर्व-श्रेष्ठ साबित होते रहते हैं, और जहाँ दया की आवश्यकता है, वहाँ स्त्रियाँ अधिक योग्य साबित होती हैं।

स्त्रियाँ अपने हृदय की बातें तो बहुत अच्छी तरह गुप्त रख सकती हैं, दूसरे की गुप्त बातें छिपाये रखना उनके लिए बहुत कठिन हो जाता है। पुरुष व्यवस्था और यथाक्रम (methodical) पसन्द होता है, और स्त्रियाँ युक्ति से काम निकालना जानती हैं। स्त्रियों में सौंदर्य और सजावट का गुण स्वाभाविक ही होता है, और वे थोड़े साधनों से भी अपने गृह को सुन्दर बना लेती हैं। साथ ही वे फ़िजूल-खर्च बहुत ही कम होती है और पुरुष से अधिक सस्ते मे काम निकालना जानती हैं।

यह कहा जा चुका है कि प्रेम के सम्बन्ध मे स्त्री पुरुष से अधिक अनुदार होती है। स्त्री और सब बातें सहन कर सकती है, पर यह बात उसके लिए असह्य है कि उसके प्रियतम के हृदय मे उसके अतिरिक्त अन्य किसी के लिए प्रेम हो। वह अपने प्रेमी के हृदय पर पूर्ण अधिकार करने के लिए व्याकुल रहती है। उसका हृदय इस विषय मे शक्की भी बहुत होता है।

स्त्री इस बात के लिए लालायित रहती है कि पुरुष के लिए सदैव वह एक आकर्षण की चीज़ बनी रहे। वह चाहती है कि उसकी प्रत्येक अदा मे पुरुष को कुछ नवीनता का अनुभव हो। उसे अपने प्रेमी के मुँह से अपनी सुन्दरता, अपने गुण, अपनी मोहकता आदि की प्रशंसा सुनने की अतीव इच्छा रहती है, और उसे ये बातें सुनकर इतनी ही प्रसन्नता होती है, जैसे किसी पुरुष को एक बड़ी विजय प्राप्त करने पर होती है। पर स्त्री को यह भी नहीं मालूम होना चाहिए कि पुरुष का सम्बन्ध केवल शरीर और उसकी सुन्दरता से ही है। केवल काम-वश की हुई प्रशंसा से स्त्री के हृदय मे घृणा के भाव उत्पन्न हो जाते हैं।

स्त्री यह चाहती है कि रुप अपने हृदय की

बातें उससे कहे और उनमे उसकी सलाह ले, साथ ही पति उसके हृदय की बात भी सुने और उसपर ध्यान दे। जो पुरुष व्यवसाय और मित्रों मे गप-शप मे सब समय बिता देते हैं और पत्नी से बात-चीत करने मे कुछ भी समय नहीं बिताते, वे पत्नी के हृदय मे असन्तोष का बीज बोते रहते हैं। स्त्री को यह जान कर मार्मिक दुःख होता है कि उसका पति उसकी बातो को तुच्छ समझकर ध्यान नहीं देता।

पुरुष का हृदय स्त्रियो से अधिक चलायमान होता है, पर पुरुष बुरे मार्ग से सम्हल भी जल्दी जाता है। स्त्रियाँ प्राय, जबतक कोई विशेष परिस्थिति या कारण न हो, कम पथ-भ्रष्ट होती है, पर एक बार पथ-भ्रष्ट होने पर प्राय वे ढीठ हो जाती हैं, और उनका सम्हलना कठिन हो जाता है।

हृदय की तंत्रियो में साम्य पैदा करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रेम-पथ के दोनो पथिक एक दूसरे के भावो का आदर करे, कुछ स्वय झुकें और कुछ दूसरे को झुका ले—कुछ दूसरे की मान ले, कुछ दूसरे को मना दे। प्रेम के बाजार मे यह सौदा प्रेम से ही होना चाहिए, जहाँ पाशविक बल व्यवहार मे लाने की चेष्टा की, वहाँ प्रेम के रिक्त स्थान मे कटुता ने आसन जमाया। सहानुभूति से ही आप अपनी बात को दूसरे को मनवा सकते हैं। स्त्री-पुरुष यदि इस बात का ध्यान रक्खे, तो निस्सन्देह वे दाम्पत्य-सुख का निर्बाध उपभोग कर सकेंगे।

देवकीनन्दन 'विभव'

"पति और पत्नी के बीच यदि कुछ अप्रियता उत्पन्न हो जाय तो वह नम्रता से ही दूर हो सकती है। सीते वक्त धागा यदि उलझ जाता है, तो उलझन को प्रत्येक गुत्थी के अन्दर से शान्ति-पूर्वक रील को निकालते जाने ही से वह सुलझ सकती है।" —टाल्सटाय

जनन-प्रक्रिया

जीवन की सब क्रियाओ को मोटे तौर पर दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—शरीर-पोषण और प्रजनन। शरीर-पोषण एक स्वार्थमयी क्रिया है। खा पीकर वैयक्तिक उन्नति करने से ही जीवन-शक्ति बनी रह सकती है। जहाँ यह जीवन है, वहाँ यह स्वार्थ पाया ही जाता है। सुदूरवर्ती जगल के एक कोने मे खडा हुआ पौधा हवा मे, जल से, पृथ्वी से अपने जीवन के लिए आवश्यक प्राण-शक्ति को खीच लेता है। दिन-प्रति दिन उसमे हरी-हरी कोपले लगती हैं, शाखाये फूटती हैं। वह बढ़ता हुआ वृक्ष बनता चला जाता है। प्रातःकाल पक्षी अपने घोसलो से निकलते हैं, आसमान पार करते हुए मीलों दूर पहुँच जाते हैं। साँझ को लौट आते हैं और अगले दिन फिर दाने की खोज में निकलने की तैयारी करने लगते हैं। इसी चक्र में उनकी आयु बीत जाती है। जगल के जानवर हरी घास और ताजा पानी की खोज मे निकल पड़ते हैं। जहाँ उन्हे घास और ताजा पानी के तालाब मिल जाते हैं, वही वे अपना बसेरा कर लेते हैं। मनुष्य भी, बचपन से लेकर बुढापे तक, रोटी और कपडे के जटिल प्रश्न को हल करने मे ही पसीना बहाता है। इस प्रकार पौधे, पक्षी, पशु तथा मनुष्य अपनी वैयक्तिक सत्ता को मिटने से बचाने के लिए भरसक जद्दोजहद करते हैं।

परन्तु, यह कशमकश कबतक चल सकती है? आखिर, मरना हरेक को है। वैयक्तिक जीवन तभी तक है, जबतक जीवित प्राणी जीवन की परिवर्तन-शील भिन्न-भिन्न परिस्थितियो पर विजय प्राप्त कर सकता है। जबतक जीवन का पूर्ण विकास नहीं हो जाता, तबतक व्यक्ति को जीवित रहने के

लिए, अपने शारीरिक पोषण के लिए, उन अवस्थाओं से लड़ना पड़ता है, जो जीवन की सतत-धारा को रोकनेवाली हों—उसे सुखाने वाली हों। परन्तु, यह स्थिति भी कबतक रह सकती है? आखिर समय आता है, जब चारों तरफ की परिस्थिति के साथ जीवित-सम्बन्ध स्थापित कर सकना असम्भव हो जाता है, मनुष्य बूढ़ा हो जाता है। परिस्थिति से सम्बन्ध रहने का नाम ही 'जीवन' और उसके टूटने का नाम ही 'मृत्यु' है। ऐसी अवस्था में शरीर-पोषण की स्वार्थमयी क्रिया समाप्त हो जाती है। यदि मनुष्य का यही अन्त होता तो वह अत्यन्त दुःखमय होता, परन्तु, ऐसा नहीं है, परमात्मा ने बुझते हुए दीपक की ज्योति को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखने का भी उपाय कर दिया है। उसने एक ऐसा तरीका निकाला है, जिससे एक बार उत्पन्न हुआ जीवन अनन्तकाल तक बना रह सकता है।

'शरीर-पोषण' के बाद 'जनन-प्रक्रिया' मनुष्य की सहायता का आ पहुँचती है। इसके द्वारा वह वैयक्तिक जीवन के नष्ट हो जाने पर भी उसे जाति के शरीर में जीता-जागता बना देता है। जब पौधे की वानस्पतिक वृद्धि रुक जाती है, तो उसमें सञ्चरण करनेवाला वही प्राण रम्य, सुगन्धित पुष्पों के रूप में फूट निकलता है। उन फूलों में सजातीय वृक्ष उत्पन्न करने वाले सहस्रों बीज तैयार हो जाते हैं। हवा के झोंके से उखड़ता हुआ एक पौधा अपने जैसे अनेक की नींव रख जाता है। युवावस्था में, ऋतु-काल में, सब प्राणी अपने जैसे बच्चे पैदा कर जाते हैं; और उन बच्चों में ही वे प्राणी एक प्रकार से अमर हो जाते हैं। मनुष्य भी मृत्यु के सैकड़ों और सहस्रों वर्ष उपरान्त अपने बच्चों में, पोतों-पड़पोतों में, बार-बार पैदा होता है और अपने क्षीण हुए यौवन को भी शाश्वत बना लेता है। इस प्रकार जीवन से उत्कट वैर रखनेवाली मृत्यु का पराजय होता है। और जीवन की धारा अखण्डित रूप से प्रवाहित रहती है।

जैसे पहले कहा जा चुका है, 'शरीर-पोषण' जीवन की स्वार्थमयी क्रिया है, परन्तु 'प्रजनन' स्वार्थ-हीन क्रिया है। इसका उद्देश्य युवावस्था में, जिस आयु में शरीर-पोषण ज्यादा नहीं हो सकता, शरीर-पोषण करने वाले तत्त्व से सन्तानोत्पत्ति करना है। जिस प्रकार पौधे की वानस्पतिक वृद्धि हो चुकने पर फूल खिलते हैं, इसी प्रकार जितना 'शरीर-पोषण' हो सकता है उसके हो चुकने पर 'प्रजनन' की बारी आती है। उससे पूर्व यह अस्वाभाविक है। 'शरीर-पोषण' का अवश्यम्भावी परिणाम 'प्रजनन' होना चाहिए, 'शरीर-पोषण' के समाप्त होने पर 'प्रजनन' शुरू होना चाहिए, उससे पूर्व शुरू हो जाने पर वह 'शरीर-पोषण' के खर्च पर होगा, उसमें रुकावट डाल कर होगा। जनन-प्रक्रिया का उपयोग सिर्फ सन्तति पैदा करने के लिए करना चाहिए, और वह भी तब, जब कि पुरुष की आयु २५ तथा स्त्री की १६ वर्ष की हो—क्योंकि, इस आयु में पहुँच कर ही दोनों का पूर्ण विकास होता है। जिस भगवान् ने मनुष्य को 'जनन-शक्ति' दी है, उसकी यही आज्ञा है। पौधों और पशु-पक्षियों में इस आज्ञा का अक्षरशः पालन होता है, परन्तु धिक्कार है मनुष्य को, जो सभ्यता और विकास की डींग हाँकता हुआ नहीं थकता परन्तु पवित्र जनन-शक्ति का दुरुपयोग कर के अपनेको देवताओं के उच्च आसन से गिराकर पिशाच बना लेता है और फिर जब समय हाथ से निकल जाता है, भयंकर कुकृत्यों के डरावने परिणाम आँखों के सम्मुख नाचने लगते हैं, तो सिर धुन-धुन कर रोता है।

प्रोटोप्लाज्म

जीवन का उद्भव बड़ा रहस्यमय है। सर विलियम थामसन का विचार था कि इस पृथिवी पर जीवन किसी अन्य नक्षत्र से आ गिरा है। डार्विन का सिद्धान्त है कि वनस्पतियों तथा प्राणियों की उत्पत्ति किसी एक ही मूलतत्त्व से हुई है। हर्बर्ट स्पेन्सर, हक्सले तथा टिण्डल ने कहा कि चेतनता की उत्पत्ति जड़ से स्वयं हो गई, परन्तु उन्होंने साथ ही यह भी स्वीकार कर लिया कि उनके सिद्धान्त की पुष्टि के लिए उनके पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न था। जीवन का उद्भव सृष्टि के आरम्भ में कैसे हुआ, इस प्रश्न पर अब तक कोई निश्चित सम्मति नहीं दी जा सकी। हाँ, उद्भव के बाद, जीवन की वृद्धि या विकास के प्रभाव को विज्ञान ने ख़ूब हल किया हुआ है। वैज्ञानिकों का कथन है कि वानस्पतिक तथा जान्तविक जगत् का एकमात्र मूल आधार 'प्रोटोप्लाज़्म' है, जिसे केवल सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र की सहायता से देखा जा सकता है। जीवन का मूलभूत यह 'प्रोटोप्लाज़्म'—कललरस—क्या है ? 'प्रोटोप्लाज्म' एक पारदर्शक पदार्थ है। यह लसलसा, आधा द्रव और आधा ठोस होता है। इसके सब हिस्से एक ही तत्त्व से बने होते है, यह अखण्ड एकरस होता है। इसमें स्वाभाविक गति होती रहती है। वह गति अनियमित होती है, घड़ी-घड़ी बदलती रहती है, और 'अमीबा' की गतियों के सदृश होती है। 'प्रोटोप्लाज़्म' के भीतर हर समय दो क्रियायें होती रहती हैं। एक क्रिया से वह जीवन-रहित पदार्थ को अपने अन्दर लेकर उसे जीवन का अंग बना देता है, दूसरी क्रिया से जीवन के अंगीभूत पदार्थ को भीतर से निकाल कर जीवन-रहित बना देता है। यही क्रिया 'जीवन' का प्रारम्भ है।

अमीबा

वानस्पतिक जगत् में जीवन-शक्ति का सर्वत प्रथम विकास 'बैक्टीरिया' में होता है, प्राणि-जगत में वही 'अमीबा' होता है। जीवन की इन दोनों इकाइयों का मूल तत्त्व 'प्रोटोप्लाज्म' ही होता है। अर्थात्, प्रोटोप्लाज्म' जो जीवन का मूलभूत भौतिक तत्त्व है, जब वनस्पति-जगत् का प्रारम्भ करता है उस समय इसका नाम बैक्टीरिया होता है, और जब यह प्राणि-जगत् का प्रारम्भ करता है तब इसका नाम 'अमीबा' होता है। 'बैक्टीरिया' तथा 'अमीबा' दोनों 'प्रोटोप्लाज्म' के ही रूपान्तर हैं और क्रमश स्थावर तथा जंगम जगत् के प्रारम्भिक रूप हैं। किसी शान्त तालाब के अन्दर से कीचड़ को लेकर किसी सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र के नीचे रखकर देखें, तो पता लगेगा कि वह छोटे-छोटे, गोल-गोल प्रोटोप्लाज्म के कीटाणुओं से बनी हुई है। सूक्ष्म निरीक्षण से पता चलेगा कि ये प्रोटोप्लाज़्म से बने हुए पदार्थ जीवित प्राणी है—वे हिलते हैं, बढ़ते हैं, और भिन्न-भिन्न आकृतियाँ धारण करते हैं। इन्हीं किटाणुओं को 'अमीबा' कहते है। अमीबा की चेष्टायें अत्यन्त विचित्र होती हैं। इसका एक हिस्सा बढ़ कर मुख बन जाता है। वही आमाशय और टांगों का काम करने लगता है। इस कीटाणु के शरीर का कोई अंग निश्चित नहीं होता। अपने शरीर के जिस हिस्से से वह जो कोई भी काम लेना चाहे ले सकता है।

न्यूक्लिअस

'अमीबा' के शरीर में एक छोटी गांठ-सी होती है, जिसे 'न्यूक्लिअस' कहते हैं। यह 'अमीबा' के 'प्रोटोप्लाज्म' के भीतर ठहरी हुई नज़र आती है। यह जनन-प्रक्रिया में बड़ी आवश्यक है। 'न्यूक्लिअस' की गांठ सहित 'अमीबा' के प्रोटोप्लाज्म

को अंग्रेज़ी मे 'न्यूक्लिपेटेड-प्रोटोप्लाज्म' कहते हैं। 'न्यूक्लिअस' अर्थात् गाठ वाले प्रोटोप्लाज्म को क्षुद्र-वीक्षण के नीचे रखकर देखने से अनेक नई बातें मालूम होती हैं। कुछ देर के बाद जब 'अमीबा' निश्चल हो जाता है, उसके 'न्यूक्लिअस' मे कुछ आवश्यक परि-रिवर्तन होने प्रारम्भ होते हैं। 'न्यूक्लिअस' के बीच में से दो टुकड़े हो जाते हैं और प्रत्येक टुकडे के साथ साथ आधा-आधा प्रोटोप्लाज्म भी चला जाता है। वह उस टुकडे को घेर लेता है और एक के ही दो भाग होकर स्वतन्त्र 'अमीबा' तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार एक 'अमीबा' के दो 'अमीबा' बन जाते हैं। इनमे से प्रत्येक के फिर दो भाग हो कर चार 'अ-मीबा' बन जाते हैं। इस प्रकार जनक-अमीबा अपने व्यक्तित्व को नष्ट करके अपने ही शरीर को पहले दो, फिर चार, फिर आठ आदि भागो मे विभक्त करके अपनी जाति की भावी सन्तति को जन्म देता है।

कोष्ठ-विभजन

जिस प्रकार हमने अभी देखा कि 'अमीबा' बीच की गाँठ से टूट कर दो भागो मे बँटता, और वे दो भाग टूट कर चार भागों मे, और इसी प्रकार वे आगे-ही-आगे टूट कर अनेक भागो मे विभक्त होते जाते है, इसी प्रकार 'अमीबा' से ऊँचे प्राणियो में भी शरीर की रचना का 'न्यूक्लिअस-युक्त प्रोटो-प्लाज्म' से ही, जिसे अंग्रेज़ी में 'सेल' या हिन्दी मे 'कोष्ठ' कहते हैं, प्रारम्भ होता है। उच्च प्राणियों के शरीर के उत्पन्न होने मे भी वही प्रक्रिया होती है, जो 'अमीबा' में पाई जाती है। भेद केवल इतना है कि 'अमीबा' का 'न्यूक्लिअस' तो दो स्वतन्त्र भागो मे विभक्त होकर अपनी सत्ता बिलकुल मिटा देता है, परन्तु ऊँची जाति के प्राणियो मे, जिनमे मनुष्य भी शामिल है, प्रोटोप्लाज्म का बहुत थोड़ा-सा हिस्सा पृथक् होकर 'अण्डा' या 'बीज' बनता है और उन अण्डो या बीजो का उत्पन्न करने वाला प्राणी उसी प्रकार के दूसरे अण्डो और बीजो को समय-समय पर उत्पन्न करता रहता है और 'अमीबा' की तरह अपनी भौतिक सत्ता को मिटा नही देता किन्तु जी-वित बनाये रखता है। जिस काम के लिए 'अमीबा' जैसे भिन्न-श्रेणी के प्राणी को अपने शरीर के दो हिस्से कर देने पड़ते हैं उसी काम के लिए उच्च-श्रेणी के प्राणियो के शरीर का एक बहुत छोटा-सा हिस्सा पर्याप्त होता है।

यह छोटा-सा हिस्सा ही पुरुष मे वीर्य-कीट तथा स्त्री मे रज कण के रूप मे पाया जाता है। 'वीर्य-कीट' को अंग्रेजी मे 'स्पर्मेटोजोआ' कहते है— यह 'उत्पादक-वीर्य' है। स्त्री के 'रज कण' को अंग्रेजी मे 'ओवम' कहते हैं। 'स्पर्मेटोजोआ' तथा 'ओवम' दोनो की 'न्यूक्लिअस-युक्त प्रोटोप्लाज्म' के पिण्ड के अतिरिक्त कुछ नही हैं। ऊँची जातियो के प्राणियो मे जब 'वीर्य-कीट' अथवा 'स्पर्मेटोजोआ' 'रज कण' अथवा 'ओवम' के साथ मिल जाता है तब 'ओवम' (स्त्री का बीज) दो, चार, आठ, सोलह, बत्तीस, चौसठ और इसी प्रकार ऐसे ही छोटे-छोटे कोष्ठो मे टूट-टूट कर विभक्त होता जाता है और बढता जाता है। यह वृद्धि 'अमीबा' के समान नही होती। यहाँ कोष्ठो के टुकडे बिलकुल अलग नही हो जाते। कोष्ठो की वृद्धि होती जाती है, परन्तु सब कोष्ठ मिले रहते हैं। उच्च प्राणियो मे ऐसा ही होता है, जब इन कोष्ठो का मिल कर एक छोटा-सा पिण्ड बन जाता है, उसमे तन्तु, मास-पेशियाँ, अस्थियाँ बन जाती हैं, तब वह माता के पेट से निकल कर स्वतन्त्र रूप से जीने लगता है। उससे पूर्व तो वह माता के शरीर का ही हिस्सा रहता है। प्राणियो के शरीर की इसी प्रकार वृद्धि होती है और इसे 'विभजन-

द्वारा-वृद्धि' (सैगमन्टेशन, मल्टीप्लिकेशन बाई डिवीयन) या 'कोष्ठ-कल्पना' (सेलथियोरी) कहते हैं।

शरीर के अनेक अवयव केवल उन कोष्ठों से ही बने होते हैं। जिगर उनमें से एक है। 'कोष्ठ' ही तन्तुओं के रूप मे पट्ठों, मांस-पेशियों तथा ज्ञान-वाहिनी-नाड़ियों की रचना करते हैं। हड्डी तथा दाँत जैसी मजबूत तथा सख्त चीजें भी मौलिक रूप मे कोष्ठों से ही बनती हैं। इसलिए कोष्ठ (सेल) प्राणि मात्र के शरीर की रचना करनेवाली इकाई है। कोष्ठों के आपस में मिलने, संयुक्त होने, तथा परिवर्तित होने में ही शरीर का निर्माण होता है।

लिंग-भेद

कोष्ठ-विभजन (प्रोटोप्लाज्म तथा न्यूक्लिअस के दो-दो टुकड़े) होने से पहले एक और आवश्यक प्रक्रिया होती है, जिसका हमने अभीतक वर्णन नहीं किया। तालाब की काई को सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र द्वारा देखने से ज्ञात होता है कि वह कुछ जीवाणुओं से बनी हुई है। इन्हें 'एलजी' कहते हैं। उस काई मे 'न्यूक्लिअस-गर्भित-प्रोटोप्लाज्म' की आमने-सामने दो-दो पंक्तियाँ बन जाती हैं। प्रत्येक पंक्ति के कोष्ठ अपने सामने के कोष्ठों से मिल जाते हैं और दोनों के मिलने से एक नवीन कोष्ठ बन जाता है। इस प्रक्रिया मे एक कोष्ठ को दूसरे कोष्ठ की तरफ जाते हुए हम सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र द्वारा देख सकते हैं। इन कोष्ठों को, जो दो भिन्न-भिन्न पंक्तियों मे होते हैं, 'नर' और 'मादा' कहते हैं। इन कोष्ठों के परस्पर संयुक्त होने की प्रक्रिया को 'संयोग' (कौन्जुगेशन) कहते हैं। यदि कोष्ठों का यह संयोग न हो तो 'एलजी' मे एक से अनेक होने की जो प्रक्रिया पाई जाती है वह भी न हो। कोष्ठों का यह पारस्परिक संयोग सृष्टि की उत्पत्ति का एक आवश्यक सिद्धान्त है।

इसलिए 'जनन' दो विभिन्न तत्त्वों के 'संयोग' का फल है। इन्हीं विभिन्न तत्त्वों को प्रचलित भाषा में 'पुरुष' तथा 'स्त्री' कहते हैं। यद्यपि कभी-कभी तत्त्वों की विभिन्नता, अर्थात् विजातीयता, का ज्ञान सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र से भी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, तथापि उनके विविध कार्यों को देखकर हम निश्चय कर सकते हैं कि वे भिन्न-भिन्न तत्त्व वा लिंग के प्राणी हैं। दोनों ही एक नवीन प्राणि की उत्पत्ति के लिए 'पुरुष-तत्त्व' तथा 'स्त्री-तत्त्व' इन विभिन्न तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं और इन विभिन्न तत्त्वों के सम्मिलन से ही एक नवीन प्राणि की सृष्टि होती है। प्रजनन के लिए आवश्यक इन तत्त्वों को उत्पन्न करनेवाली इन्द्रियों को 'जननेन्द्रिय' कहा जाता है। प्रजनन के आधार-भूत सिद्धान्त सम्पूर्ण विश्व मे एक-से हैं। इसलिए 'जनन-प्रक्रिया' को और अधिक समझने के लिए आगे हम क्रमशः पौधों, छोटे प्राणियों, बड़े प्राणियों तथा मनुष्यों मे इन नियमों को देख कर इस प्रक्रिया को समझाने का प्रयत्न करेंगे। (अपूर्ण)

सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार

शिशु !

विश्व-उपवन के कोमल पुष्प,
मातृ-वीणा की मृदु झंकार।
स्नेह, स्मृति के मिश्रित विन्दु,
प्रणय की सफल बेलि साकार।
सुखी जीवन-कुबेर के कोष,
दुःख में देते हो परितोष ॥१॥

अमित आशाओं के अवतार,
प्रकृति-प्रतिपादित पावन प्रेम!
अवतरित हो अवनी पर, बाल—
सिखाने सत्य सृष्टि का नेम।
मधुरिमा-गरिमा की प्रतिमूर्ति!
युगल प्राणों की नव-स्फूर्ति ॥२॥

रामसेवक त्रिपाठी

हिन्दू-अबलाश्रम कलकत्ता

आज भारतवर्ष में सबसे बड़ा प्रश्न स्त्री-जाति का ही है। पुरुषों ने उन्हे अबला बना दिया है। जिनके पेट से हम पैदा होते हैं, जिनका हम दूध पीकर पुरुष बनते है, उनपर ही हम अत्याचार करते हैं—उनको पक्षी की तरह पिंजरे में बन्द रखने का प्रयत्न करते हैं—उनपर आवश्यकता से अधिक अविश्वास करते हैं। आज पुरुष-जाति और स्त्री-जाति में स्नेह का स्वर्गीय सम्बन्ध न रह कर शासक और शासित, आश्रयदाता और आश्रिता का नाहुर नियम-सा हो गया है। रात-दिन हम अपनी आँखो से देखते हैं कि हमारी माँ बहनें विधवा हो जाने पर अपने स्वजनों के सिर पर पाप लगने लगती हैं। उनकी शीघ्र मृत्यु को हृदय के अन्तरतम से प्रार्थना की जाती है। उनका पद-पद पर अपमान किया जाता है। अविश्वास, सन्देह, घृणा, द्वेष, उपेक्षा और अपमान आदि ही उनको वैधव्य के उपहार-स्वरूप प्राप्त होते हैं। भला, ऐसे भयंकर स्थान में रहना कौन पसन्द करेगा? कुछ मृत्यु की शीतल गोद में सो जाती हैं, कुछ विधर्मियों के आकर्षक निमन्त्रण में फँस जाती हैं, कुछ सरे-बाजार रूप का सौदा करती है, कुछ बेचारी घुट-घुट कर मर जाती हैं—यही विधवाओं का [illegible] ण इतिहास है!



अनाथ बच्चे

ऐसी ही सताई हुई अबलाओं की रक्षा के लिए, उनके दुःख से दुःखित होकर, अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी, श्री पद्मराजजी जैन, बालकृष्णजी मोहता तथा उनके कुछ सहायकों ने मिल कर कलकत्ते मे एक हिन्दू-अबलाश्रम चार-पाँच साल से स्थापित किया है। वे किसी की पर्वा न करते हुए, कर्तव्य पर अटल, आत्म-विश्वास के साथ, उत्साह और लगन से कार्य कर रहे हैं। फलतः अनेक कोमल शिशुओं की, भोली बालिकाओं की और व्यथित विधवाओं की उनके द्वारा रक्षा हो रही है। इस रक्षा से जो आशीर्वाद मिलता है, उससे अधिक पुरस्कार की आवश्यकता उन्हें नहीं है। पद्मराजजी के ही शब्दों में, "कलकत्ते का हिन्दू-अबला-आश्रम हिन्दू जाति की सामाजिक कुप्रथाओं और सामाजिक अत्याचारों का एक साक्षात् प्रतिबिम्ब है। यह विशेष लक्ष्य करने की बात है कि जितना अत्याचार उच्च कहलाने वाली जातियों मे होता है उतना अ-उन्नत कहलाने वाली छोटी जातियों मे नहीं।" कथन की सत्यता इस बात से प्रकट होती है कि आश्रम की अधिकांश अबलायें इन्हीं बड़ी कहलाने वाली जातियों की हैं। वह आगे लिखते हैं—"हिन्दू-नारियाँ केवल कौटुम्बिक अत्याचार, सामाजिक उत्पीड़न और विधवाओं के प्रति घृणा के भाव के कारण ही अपना घर छोड़ने को बाध्य हुआ करती हैं। पुरुष-जाति की यह धारणा कि हिन्दू विधवायें कुत्सित काम-वासना की

तृप्ति के लिए अथवा अन्य किन्हीं व्यक्तियों के साथ घर से निकल जाया करती हैं, सर्वथा नहीं तो बहुत अंशों में मिथ्या है।"

उनका यह कथन सर्वथा सत्य है, और यदि हिन्दू-जाति अधिक सहृदय, अधिक उदार और अधिक संयमी बन सके तो अबला-आश्रमो की आवश्यकता न पड़े। परन्तु, वह इतनी निष्ठुर हो गई है, इतनी कायर और अन्धी हो गई है, कि उसे अपने शुभचिन्तक ही बैरी-से लगते हैं। पाप को दूर करनेवाले ही पापी ठहराये जाते हैं, उनका सामाजिक बहिष्कार किया जाता है, उन्हे हर प्रकार सताया जाता है। लेकिन, जिन्होंने अपने जीवन को पराई पीडा पर न्योछावर कर दिया है, वे अपने प्राणों पर खेल कर भी समाज मे रचनात्मक कार्य करते है। अबला-आश्रम आदि ऐसी संस्थाये भी ऐसे ही लोगो के अदम्य उत्साह से चल रही हैं।



आश्रम की देवियाँ

इस अबला-आश्रम में ९० फ़ी सदी विधवायें और ३० साल से कम उम्र की अबलायें हैं। उनको उनके सम्बन्धियों ने सताया, उनके अग आग से जलाये, अनेक अत्याचार किये। घर के पुरुषों ने उन्हे पाप-पथ पर खींचा और फिर घर से निकाल दिया। नन्हीं-नन्हीं कुसुम-कोमल कुमारियाँ बहुत अधिक अवस्थावालों के साथ ब्याह दी जाती हैं और सास के कुव्यवहार से, और पति की कोई सहानुभूति और प्रेम न पाकर, तग आकर, घर छोड़ने को मजबूर होती है। इधर-उधर रहने के बाद वे आश्रम में आती हैं। सन् २८ में १५ कुमारी बालिकायें आईं, जो अधिकांश अपने ही सम्बन्धियों के पापाचार के फल-स्वरूप गर्भवती हो गई थीं। वहाँ बच्चा जनने के बाद फिर अपने माँ-बाप के घर को चली गईं। इस प्रकार हिन्दू-जाति अपनी नाक की बड़ी लगन से रक्षा करती है। उनके स्वजन उन लड़कियों को अपने कलेजे के टुकड़ों के पास, अपने लालों के पास, कुछ महीने भी नहीं रहने देते। इसके फल-स्वरूप अधिकांश बच्चे काल की गोद में सो जाते है। गत वर्ष ७२ बच्चों में से ३२ अपनी माताओं के साथ चले गये, शेष ४० में से १८ मर गये। भला, इन हत्याओं का पाप हिन्दू जाति की नाक के सिवा किसपर हो सकता है? जिन कुलीन पिता, भाई और चाचा आदि को उन बेचारियों के साथ मुँह काला करते शर्म नही आती, उन्हे दो चार मास भी अपने बालकों के पास रहने देने में उनकी कुलीनता नष्ट होती है! फिर भी बड़ी सावधानी और मेहनत से उन बच्चों का पालन किया जाता है। उनमें से बहुत से बच्चे बच जाते हैं, जो शायद निष्ठुर हत्यारे हिन्दुओं द्वारा कही फेंक दिये जाते—जैसा प्रायः हुआ ही करता है।

आश्रम में आकर अबलायें सदा प्रसन्न, सुखी और सन्तुष्ट रहती हैं। भला, जिनका जीवन सदा अत्याचार सहते ही बीता हो, वे आश्रम में आकर, अध्यक्षा का मातृ स्नेह पाकर, क्यों न सुख की साँस लेंगीं? प्राणि-मात्र प्रेम का भूखा है।

आश्रम-निवासियों को सारे दिन किसी-न-किसी कार्य-

क्रम में लगाये रहने का प्रबन्ध किया गया है। सफाई रखने पर काफी ध्यान रहता है। सोना-पिरोना, जरी का काम करना, भली प्रकार सिखाया जाता है। चर्खा भी चलवाया जाता है।

जो आश्रम-निवासिनियाँ विवाह करना चाहती हैं उनका विवाह करा दिया जाता है। मैं हिन्दू-जाति के युवकों का आह्वान करता हूँ कि यदि वे सुधार करने के इच्छुक हैं, तो सारे विघ्न-बाधाओं से न डर कर ऐसी सताई हुई अबलाओं से ही विवाह करें।

३१ मई सन् १९२८ को आश्रम में ५४ बालिकायें थीं। परन्तु स्थान बहुत छोटा है। फिर भी व्यवस्थापिकाजी का प्रबन्ध बहुत अच्छा होने से किसी प्रकार काम चलता है।



देवियाँ सिलाई का काम सीख रही हैं

खेद है कि आश्रम आर्थिक कठिनाइयों के कारण सदा चिन्तित रहना पड़ता है। दानी सज्जनों को इस ओर ध्यान देना चाहिए। कोई स्थायी कोष नहीं है। वार्षिक व्यय १३०६०) रुपये का है। स्थायी आमदनी २५०) रुपये मासिक है। किसी-न-किसी प्रकार भीख माँग कर काम चलाया जाता है। ज्यादातर बिड़लाजी की सहायता पर ही आश्रम निर्भर है। हमें आशा है कि हिन्दू-जाति अपनी उदारता का परिचय देगी। जो लोग करोड़ों रुपये मन्दिरों पर चढ़ा देते हैं, धर्मशाला के पत्थरों में लाखों लगा देते हैं, वे क्या ऐसी आवश्यक संस्था को भूखों मरने देंगे ?

इस समय निज के स्थान की, छोटी बच्चियों की पढ़ाई के पूर्ण प्रबन्ध की, उन अधिक आयुवाली विधवाओं की, जो पवित्र धार्मिक जीवन ही व्यतीत करना चाहें, विशेष धार्मिक शिक्षा के प्रबन्ध की, कुछ स्टेशनों पर कर्मचारियों की, आदि अनेक आवश्यकतायें हैं जो लोगों के उदार बने बिना पूरी नहीं हो सकतीं।

हम उस दिन की प्रतीक्षा में हैं, जिस दिन अबलाओं पर अत्याचार का नाम न रहे, अबला-आश्रमों में एक भी अबला का प्रवेश न हो। हिन्दू-जाति में दया, प्रेम, ममता और मनुष्यता आ जावे। वह स्थिति सर्वोत्तम होगी। और वस्तुतः तभी हमारे समाज में सच्ची शान्ति प्रस्थापित हो सकेगी। परन्तु जबतक ऐसा नहीं होता, तबतक तो ऐसे अबला-आश्रमों द्वारा ही स्त्री-समाज की रक्षा करने का प्रबन्ध करना ठीक है।

"विकल-हृदय"

"मुझे इस प्रशंसनीय और सुव्यवस्थित आश्रम के निरीक्षण करने में अत्यन्त प्रसन्नता हुई और साथ ही इसके सभी अच्छे कामों को देख कर, जो यह औरतों और उनके बच्चों के लिए करता है, अधिक खुशी हुई।" —एण्डरूज़

"मैंने जो कुछ आश्रम में देखा उसका बड़ा गहरा प्रभाव मुझपर पड़ा।" —महात्मा हंसराज, लाहौर

"इस तरह की संस्थाओं की देश के भिन्न भिन्न भागों में अत्यन्त आवश्यकता है।"—डाक्टर बी० एस० मुंजे, नागपुर

स्फुट प्रसंग

अजमेर-प्रान्त में स्त्री-शिक्षा

अजमेर-मेरवाड़ा की शिक्षा-विषयक पंचवार्षिक रिपोर्ट हाल ही प्रकाशित हुई है, जिसकी एक प्रति हमें भी भेजने की कृपा की गई है। १९२१-२२ से १९२६-२७ तक के पाँच वर्षों के इस विवरण में प्रान्त की स्त्री-शिक्षा पर भी एक स्वतन्त्र अध्याय द्वारा प्रकाश डाला गया है। अजमेर-प्रान्त में स्त्रियों की कुल संख्या २,२१,७०५ है, और विद्यार्थिनियों की कुल संख्या है १,३९५—अर्थात्, कुल का ६२ स्त्रियाँ शिक्षा पा रही हैं। यह ध्यान रखने की बात है कि इनमें भी शिक्षा पाने वाली जो लड़कियाँ हैं, वे सब इसी प्रान्त की स्त्रियों में से ही नहीं हैं, बल्कि आस-पास की रियासतों की विद्यार्थिनियाँ भी यहाँ पढ़ने के लिए आती हैं। इस प्रकार, रिपोर्ट ही के अनुसार, "यह बात स्थिति को और भी अधिक निराशापूर्ण बना देती है।" रिपोर्ट के विद्वान् लेखक (श्री आर. लिटिलहेस्ट, एम. ए., सी आई ई, सुप्रिण्टेण्डेण्ट शिक्षा-विभाग) ने अधिकांश में इसके कारण बतलाये हैं—पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, स्त्री-शिक्षा की माँग का अभाव, और स्त्रियों द्वारा पृथक् निरीक्षण की व्यवस्था का न होना। इसमें सन्देह नहीं कि ये कारण शिक्षा में बड़े बाधक होते हैं, इस प्रान्त में इनके होने से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु इन्हींके कारण यहाँ स्त्री-शिक्षा की ऐसी शोचनीय दशा है, यह बात हमारी समझ में नहीं आती। इसके कारण हैं। क्योंकि अगर यही कारण प्रधान होते तो इनका असर प्रारम्भिक शिक्षा के बजाय माध्यमिक शिक्षा पर ज्यादा पड़ना चाहिए था। परन्तु रिपोर्ट इसके विपरीत बताती है। पाँच वर्षों की तालिका देखिए—

	वर्ष	मिडल स्कूल	प्राइमरी स्कूल	स्पेशल स्कूल	कुल
शिक्षणालय	१९२१-२२	५	१२	१	१८
	१९२६-२७	९	७	१	१७
	वृद्धि या कमी	+४	—५	...	—१
विद्यार्थिनियाँ	१९२१-२२	४८७	५८१	५	१०७३
	१९२६-२७	९७६	४०१	१८	१३९५
	वृद्धि या कमी	+ ४८९	—१८०	+ १३	+ ३२२

हमारी समझ में नहीं आता कि इन कारणों के होते हुए माध्यमिक शिक्षा में कैसे वृद्धि हो रही है और प्रारम्भिक शिक्षा ही पर क्यों इनका प्रकोप है? पर्दा उम्र के साथ घटता नहीं बढ़ता है, बाल-विवाह का असर विवाह के बाद अर्थात् माध्यमिक शिक्षा के समय ही सामने आता है, स्त्री शिक्षा की माँग का अभाव भी कन्याओं की बड़ी उम्र में ही बढ़ता है, और स्त्रियों द्वारा पृथक् निरीक्षण कराये जाने की माँग भी बड़ी उम्र की (माध्यमिक शालाओं की) लड़कियों के लिए ही होती है—बच्चियों (प्रारम्भिक शालाओं की विद्यार्थिनियों) के निरीक्षण मर्दों द्वारा होने पर कोई विशेष आपत्ति नहीं होती। इसका कारण तब और क्या कहा जाय, सिवा इसके कि प्रारम्भिक शिक्षा पर ध्यान ही नहीं दिया जा रहा है—उसकी उपेक्षा की जा रही है? फिर स्कूलों की अन्तर्व्यवस्था की गड़बड़ का रिपोर्ट में कहीं उल्लेख क्यों नहीं है? पिछले दिनों तो अजमेर की लड़कियों की हड़ताल के रूप में वह सामने भी आ चुका है। पर उसका इसमें जिक्र नहीं है। हाँ, ट्रेण्ड और अनट्रेण्ड अध्यापिकाओं की संख्या जरूर दी गई है—और, वह है—२८ : ६३।

* * *

खर्च का यह हिसाब है कि १९२१-२२ से १९२६-२७ में ३५०३७) रुपया वार्षिक खर्च बढ़ गया है—पर वृद्धि हुई है माध्यमिक शिक्षा में, प्रारम्भिक में तो और ३६८६) रु० की घटती हुई है! प्रत्येक विद्यार्थिनी पीछे शिक्षा का खर्च पड़ता है माध्यमिक शाला में ५६) रु० और प्रारम्भिक शाला में ३१) रु० वार्षिक, १९२१-२२ में यह क्रमशः ३५ और २० रुपये था। इसमें सरकार क्रमशः ९ और ११ रुपये खर्च करती है, जब कि १९२१-२२ में १३ और ५ रुपये खर्च करती थी। इस प्रकार, हम देखते हैं, वह शिक्षा की मद में अपना खर्च घटा ही रही है!

* * *

एक बात ध्यान देने योग्य है। प्रान्त में इतनी भी जो

शिक्षा है उसका श्रेय बहुत-कुछ मिशनरी संस्थाओं को है। उनकी तरफ़ से इसके लिए जो हो रहा है उसकी तालिका रिपोर्ट में ही दी हुई है। उससे पता चलता है कि ईसाई मिशनरी, आर्यसमाज और मुसलिमलीग की तरफ से प्रान्त मे १५ संस्थायें और १२५८ स्कूल चल रहे हैं तथा उनपर ७५०३९) रुपये से ज्यादा खर्च हो रहा है। निस्सन्देह इनका काम स्तुत्य है।

❀ ❀ ❀

जातियों की दृष्टि से देखे तो मालूम पड़ता है कि पारसी बहने सबमे आगे हैं, जैसा कि निम्न लिखित तालिका से प्रकट होगा—

जाति	छात्रायें	कन्या शालाओं की कुल छात्राओं का प्रतिशत	जाति की स्त्री-सख्या का प्रतिशत
गोरी-अधगोरी	७	·५	
भारतीय ईसाई	४४७	३० ०९	२६ ८
हिन्दू	८१०	५६ ८	४७
मुसलमान	३०	२ ०८	०७
बौद्ध	६८	४· ८	७९
पारसी	६८	४ ८	६८ ०
सिख	६	६४	११· ४
विविध	४	२९	·०२
कुल	१४४३	१००	६४

(इसमे लड़कों के स्कूलों में पढ़ने वाली लड़कियाँ भी शामिल है।)

क्या ही अच्छा हो कि अन्य जातियों की बहनें भी उनसे यह गुण ग्रहण करें। परन्तु जो बाधायें रिपोर्ट में बताई गई हैं वे तो मिटनी ही चाहिएँ, साथ ही स्कूलों की अन्तर्व्यवस्था में भी सुधार होना परमावश्यक है। ऐसा होने पर, हमारा खयाल है, स्त्री-शिक्षा खूब तरक्की करेगी। आशा है, शिक्षा विभाग के अधिकारी—खासकर असिस्टेण्ट सुप्रिण्टेण्डेण्ट जोशीसाहब इसपर समुचित ध्यान देंगे।

स्त्री-शिक्षा कैसी हो ?

श्री हीरालाल शास्त्री (बी ए) एक "धुन के पक्के" आदमी हैं। जो कुछ कहते-लिखते हैं वह सिर्फ क़लम की बहादुरी बताने ही के लिए नहीं होता, प्रत्युत् उसपर अमल करने का भी वह प्रयत्न करते हैं। इसीलिए जो भी प्रश्न सामने आता है, उसपर खूब सोचते और उसे सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। प्रथमाक में प्रकाशित उनका "स्त्री-शिक्षा" लेख भी इसी ढग का था। एक पत्र में उस सिलसिले में वह लिखते हैं—

"उसमे एक बडे व्यावहारिक प्रश्न की बहस चलाने का सीधे-सादे शब्दों में सूत्रपात किया है। सबसे पहले तो यही निश्चय करना है कि स्त्री और पुरुष दोनो के लिए घर और बाहर के कार्य-क्षेत्र समान होने चाहिएँ अथवा इनमें किसी प्रकार का नियमित श्रम-विभाग रखना चाहिए। मैंने तो प्रत्यक्ष में अनुभव किया है कि साधारण स्थिति में घर के भीतर रह कर बच्चो का पालन पोषण करना और घर के बाहर जाकर सभा-सोसाइटियों मे बैठना, इन दोनो बातों का विरोध पडता है। जो स्त्रियाँ सन्तान पैदा करती हैं वे यदि बाहर व्याख्यान देने को निकलती हैं तो उनकी सन्तान का ठीक तरह से पालन नहीं होता। 'नर्स' रखना समस्त जाति के लिए सम्भव नहीं हो सकता और वास्तव मे तो अपने बच्चे के लालन पालन के लिए किसी दूसरी स्त्री को 'नर्स' रखना ठीक ही नहीं मालूम पड़ता। स्त्रियाँ पुरुषों पर अपने खुद के अनुकूल नियम बना लेने का दोष लगा सकती हैं। और भी नाना प्रकार के अत्याचारों का अपराध पुरुषों के जिम्मे कर सकती हैं। परन्तु प्रकृति ने उनको स्त्रियाँ बना दीं और पुरुषों को पुरुष बना दिया, इस बात का दोष वे किसके सिर मढ़ेंगी ? स्त्री और पुरुष में जहाँतक हो सके समानता लाना तो ठीक, परन्तु जिन बातों में वे प्रकृति के घर से ही पुरुषो से भिन्न बन गई, उन बातों में समानता कैसे लाई जायगी ? मुझे पाश्चात्य देशों का अथवा पाश्चात्य समाज का कुछ अनुभव नहीं है। परन्तु मेरा अनुमान है कि जो स्त्रियाँ विवाह करके घर में रहती हैं वे अवश्य ही बाहर के कामों मे कम भाग लेती होंगी। अथवा भारतवर्ष मे अपनी साहबी के कारण यूरोपियन स्त्रियों को बालकों को रखने के लिए आया सहज ही मिल जाती हैं, इसलिए उनके लिए अपने

पतियों के साथ बाहर घूमते फिरना सुलभ हो जाता होगा।

परन्तु मेरी समझ में तो जबतक बच्चा चलने फिरने न लग जाय, तबतक उसकी माँ बहुत अधिक बाहर नहीं जा सकती। सम्पत्ति होने पर तो सभी कुछ सुलभ है, परन्तु साधारण घर मे कठिनाई पडेगी, यह मेरी सम्मति में तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार स्त्री तथा पुरुष का कार्य-क्षेत्र भिन्न रहता हुआ दिखाई देता है, तो उन दोनों के लिए शिक्षा का क्रम भी भिन्न रखना ही होगा।'

विद्वान् पाठकों के विचारार्थ हमने यहाँ उनका लगभग सारा का सारा पत्र दे दिया है। चूंकि यह विषय बहुत महत्वपूर्ण है, इसलिए देश के विचारशील महानुभावों को हम इसपर अपने विचार प्रदर्शित करने का अनुरोध करते हैं। आशा है, वे—स्त्री और पुरुष, दोनों—इसपर समुचित विचार करके "त्यागभूमि" मे इसकी चर्चा चलायेंगे।

मुकुट

कुमारी यमुनाबाई भाटे

श्रीमती कुमारी यमुनाबाई भाटे का महाराष्ट्रीय महिला-रत्नों में अपना विशिष्ट स्थान है। आपने सन् १९२४ मे बम्बई-विश्वविद्यालय मे एम. ए. परीक्षा पास की थी। आप दो वर्षों तक उक्त विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा के गणित विषय की परीक्षिका भी रह चुकी हैं। इधर सन् १९२७ मे आप गणित मे डाक्टरेट की परीक्षा पास करने की इच्छा से जर्मनी गई थी। वहाँ जाने पर कौटुम्बिक आपदाओं के कारण आपको अपना कार्यक्रम स्थगित कर देना पड़ा। अतः जर्मन भाषा का दो महीने का पाठ्य-क्रम समाप्त कर एक वर्ष तक लन्दन के मराया ट्रेनिंग कॉलेज मे शिक्षा-शास्त्र का अध्ययन करके भारत लौट आई।

मराठी 'केसरी' के संवाददाता से बातचीत करते हुए आपने जर्मनी और इंग्लैण्ड की समस्त व्यवस्था, और खास कर वहाँ के स्त्री-जीवन पर प्रकाश डालनेवाली कई मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद बातें कही है। आपका कथन है—"जर्मनी की स्त्रियो और भारतीय स्त्रियों में बहुत अधिक साम्य है। × × × जर्मनी की स्त्रियाँ लज्जावती और विनयशीला होती हैं, अंग्रेज महिलायें अक्खड, ढीठ और शिष्टाचार एवं बाह्याडम्बर को महत्व देनेवाली होती हैं। जर्मनी मे रहते हुए एक भारतीय को भारत में रहने का-सा अनुभव होता है। जर्मन स्त्रियाँ सम्पन्न होते हुए भी घरेलू काम धन्धे के लिए नौकर नहीं रखतीं, छोटा बड़ा हरएक काम अपने हाथ करती हैं।" आदि।

आपने अपने जीवन का ध्येय भारत की शिक्षा प्रणाली मे सुधार करके देश की परिस्थिति के अनुरूप बनाना



कुमारी यमुनाबाई भाटे, पूना

निश्चय किया है। इस सम्बन्ध में लेखों द्वारा तथा प्रत्यक्ष कार्य द्वारा हलचल शुरू करने का अपना संकल्प भी आप प्रकट कर चुकी हैं।

उक्त संवाददाता के शब्दों में "जिस स्त्री में विनम्रता न हो वह स्त्री ही नहीं है, मिल्टन के इस कथनानुसार कुमारी यमुनाबाई में विद्वत्ता और विनय का इतना सुन्दर सम्मिलन हुआ है कि बरबस 'विद्या विनयेन शोभते' का स्मरण हो आता है।" हमे आशा है, आपके द्वारा देश की उपयोगी और स्थायी सेवा होती रहेगी।

त्रिवेदी

देश के दिवाने

साज-बाज खान-पान का न है चुनाव चारु,
सादगी ही शान एक सादगी में साने है।
कढती हसी न कभी, बढ़ती न मोद-लीला,
कर्म में हैं व्यस्त, एक कर्म में बिकाने हैं।
जालिमों के जुल्म के न बेकस शिकार बने,
हों सुखी गरीब, एक ठान यही ठाने है।
देखेंगे न दूल्हा बने दीनों के मलीन मुख,
देश के दुखों से दुखी देश के दिवाने है।

सोहनलाल द्विवेदी

अनुकरणीय

[एक देशभक्त की डायरी से]

सम्पूर्ण सत्य।

चबा कर खाना, इष्ट खुराक, सुलभ (सुतर) खुराक, शुद्ध खुराक, ज्यादा न खाना, बिल्कुल सादा भोजन।

ईश्वर को न शोभे वह न करना।

सार्थक क्षण—एक क्षण भी निरर्थक न जाय। मन सदा विचारमय होना चाहिए। सदा सुविचार ही रहे, कुविचार नहीं। कुविचारों को दूर करके अच्छे विचार भरना। कोई सुविचार न हो तो 'सत'-स्मरण करना।

सुबह चार बजे उठना।

पसीना—परिश्रम करना चाहिए और वह सार्थक होना चाहिए।

ब्रह्मचर्य।

खुद सब कुछ कर सकने का आदर्श।

जय चर्खा!



शक्ति के पुत्र

जिन बतो पर भारत-युवक-संघ के शक्ति आश्रम मे अधिक जोर दिया जाता है, उनमे से एक यह है कि साधू और महात्माओ की जीवनियाँ पढ़ो-लेकिन, साथ ही कर्त्तव्य के धनी पुरुषो की जीवनियाँ भी। युवको के लिए शक्ति एक मत्र है। इसलिए, उन्हे केवल स्वप्न देखनेवाले और कार्य-शिथिल न होना चाहिए। उन्हे शक्ति की जीवित मूर्ति, प्रगतिशील और चैतन्य होना चाहिए। उन्हे महान् शक्ति-पुत्रों, कर्तव्य और वीरता के धनी पुरुषो की जीवनियाँ अवश्य पढनी चाहिएँ। ऐसे पुरुषो के जीवन आत्म-शक्ति की विजय के उदाहरण हैं। यदि हम अनैक्यता के युग से छुटकारा नहीं पा सके हैं, तो इसका कारण यह नही है कि हम मानसिक वाद-विवाद और विभिन्न उमगों के बाह्य-प्रदर्शन मे आवश्यकता से अधिक धनी होते हुए भी आत्मिक-शक्ति के कगाल है। श्रीराम और शिवाजी, राणा प्रताप और गुरु गोविन्दसिह, हमारे समय के नेपोलियन और लेनिन आदि हमे शक्ति का सदेश देते हैं। जितनी ही अधिक दृढ़ता और स्थिरता के साथ उन्होंने कार्य किया उतना ही बड़ा पुरस्कार पाया। हमारी महासभाओ मे बहुत-से कागजी प्रस्ताव पास करने की नीति पर मुझे बहुत दुःख होता है। आवश्यकता तो लगन के साथ कार्य करने की धुन की है।

केवल सिंहनाद और व्याख्यानों का कोई मूल्य नहीं। अस्थिर भावुकता शक्ति नहीं है। विचारों को कार्य-रूप में परिणत करना आवश्यक है। जोश में आ जाना ही शक्ति नहीं है, भावनायें तभी मूल्य-वान होती हैं, जब कि रचनात्मक कार्य की पूर्ति मे सहायक हो। शक्ति का अर्थ ही कार्य को कर दिखाना है।

गैरि बाल्डी और जोज़ रिजल जैसे शक्ति-पुरुषो की जीवनियाँ पढनी चाहिएँ। गैरि-बाल्डी की प्रभावो-त्पादक कहानी अभी हाल में प्रकाशित 'पराजय' नामक अंग्रेज़ी उपन्यास मे फिर से कही गई है। उसके लेखक आर० हच हैं, जो एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक उप-न्यास-लेखक हैं। गैरिबाल्डी को असह्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, पर उसका निश्चय, उसका प्रण, कभी ढीला नहीं पड़ा। वह एक शक्ति-पुरुष था। उसने घोषणा की थी, "यदि कोई पुरुष आगे नहीं आता तो मैं कुत्तो को रोम की रक्षा के लिए लगाऊँगा।" रोम की भावी पर उसके अटल विश्वास तथा उसकी दृढ़ता और आत्मिक-शक्ति ने रोमवालो मे, आर० हच के शब्दों मे, "अपने गढ-हीन नगर (रोम) को, यूरोप की अच्छी-से अच्छी सेना के मुकाबले, अशिक्षित सिपाहियो द्वारा" बाल-बाल बचाने की लगन लगा दी। दृढ़ निश्चय रचनात्मक होता है और उससे मुकाबला करने की शक्ति उत्पन्न होती है। रोम का यूरोप के मुक़ाबले मे खड़ा होना यूरोप की प्रशंसा का विषय था। कुछ समय मे नैतिक-हीनता ने पदार्पण किया और, उपन्यासकार के शब्दो मे, "शराबी किसानो ने स्वतंत्र-ता के वृक्ष को गिरा दिया।" गैरिबाल्डी के मुकाबले मे बड़ी भारी आस्ट्रियन सेना थी। परन्तु वह अपने निश्चय पर दृढ़ बना रहा। आस्ट्रियन सेना ने उसका पीछा किया, पर ज्यो-ज्यो उसकी कठिनाइयाँ बढ़ती गईं, त्यों-त्यो वह अधिकाधिक दृढ़ होता गया। इटली के उज्ज्वल भविष्य पर उसका दृढ़ विश्वास कभी डगमगाया नहीं। रोम के दृश्य ने "उसकी उजड़ी हुई अवस्था मे उसे उदास नहीं किया, वरन् उसका हृदय ईश्वरीय विश्वास से भर दिया कि वही इस उजडे वैभव का उत्तराधिकारी है।" प्रत्येक अव-स्था मे भलाई का अनुभव करने की, आशावादी रहने की, अपार शक्ति उनमे ही होती है, जो दृढ़-व्रती हैं। गैरिबाल्डी ने 'पराजय' को 'विजय' मे परिणत कर दिया। गैरिबाल्डी की आत्मिक-शक्ति ने विजय पाई और मरने के पहले उसने इटली के अनैक्य का अन्त देख लिया।

जोज़ रिजल का नाम तरुण भारत को अधिक परिचित नहीं है। वह फिलिपाइन द्वीप का राष्ट्रीय वीर है। "फिलिपाइन का वीर" नामक अंग्रेज़ी किताब मे उसकी वीर-गाथा वर्णित है। उसके पास विपुल विभूतियाँ थी। वह विद्वान्, उपन्यासकार और कवि था। लेकिन, इन सब विभूतियो से कहीं अधिक महान् उसका लोगो को शिक्षित बनाने और उन्हे विदेशी स्पेनी शत्रुओ के शासन से मुक्त करने का व्रत था। उसका जन्म सन् १८६१ मे हुआ था। लड़कपन से ही उसकी शिक्षा की ओर तीव्र रुचि थी। उसने स्पेनी स्कूलों में शिक्षा पाई थी। वह असाधारण प्रतिभावान और तीव्र बुद्धि था, फिर भी स्कूल के अधिकारी उसके साथ नीच जा-तीयों-सा बर्ताव करते थे। उसके ये भाव, जब उसने वर्षों बाद फिलिपाइन मे स्पेनी शासन का ढग देखा, अधिक दृढ़ हो गये। उसने अपने आपको लोगों की सेवा में समर्पण कर देने का निश्चय किया। उसने महसूस किया कि जनता को शिक्षित बनाना और उसकी शक्ति का विकास करना होगा, ताकि वह परतंत्रता की बेड़ियाँ काटने में समर्थ हो सके।

वह मेड्रिड, पेरिस, और बर्लिन के विश्व-विद्यालयों में पढ़ने के लिए यूरोप गया। आधुनिक शक्तियों की गति-विधि का अध्ययन करने के लिए उसने यूरोप की यात्रा की। उसने बहुतेरी भाषायें सीखीं। बड़े-बड़े विद्वानों से मित्रता की। वह धन पैदा करके बड़े सुख और शान के साथ अपना जीवन बिता सकता था। लेकिन उसने तपस्या कंगाली और सेवा का जीवन पसन्द किया। उसने एक उपन्यास प्रकाशित किया, जिसमें स्पेन के शासकों और पादरियों के फिलिपाइन वालों पर अत्याचारों के उदाहरण देकर स्पेन के कुशासन का चित्र खींचा गया है। वह क्रान्तिकारी न था। उसका ध्येय सुधार था क्रान्ति नहीं। पर स्पेन की सरकार ने उसे क्रान्तिकारी समझा और उसपर दाँत रखने लगी। उसके कुटुम्बी कैद कर लिये गये। उसे फिलिपाइन द्वीप छोड देना पडा। उसकी मातृ-भूमि के बाहर भी स्पेनी सरकार ने उसका पीछा किया और उसपर अभियोग लगाया। उसे गिरफ्तार करके न्याय का प्रहसन हुआ। वह क्रान्तिकारी ठहराया गया और १८९६ ई० मे गोली से मार डाला गया। वह केवल ३५ साल का था लेकिन उसके दृढ़-व्रत ने फिलिपाइन वालो के जीवन मे क्रान्ति कर दी। उसके बध ने स्पेन के कुशासन का अन्त सा कर दिया। उसकी पुण्यतिथि राष्ट्रीय दुर्घटना की स्मारक बन गई। आज इस युवक शहीद की स्मृति एक अवतार की भाँति पूजी जाती है। रिजल का दृढ विश्वास लोगो के पुनरुत्थान का कारण बना।

सचमुच दृढ़ निश्चय ही इतिहास के निर्माता हैं। क्योंकि मनुष्य इतना कमजोर प्राणी नहीं है, जितना कि अबतक वह अपने आपको समझता है। मनुष्य तो, वस्तुतः, सृष्टि का विधाता है।

टी० एल० वास्वानी

'दरिद्रनारायण' का पुजारी

(१)

सभी मनुष्यों के हृदय में कभी-न-कभी तो सात्विक भावों का सचार होता ही है। उनकी असद्-वृत्तियों को सद्-वृत्तियों के सामने हार माननी ही पडती है। उस समय उनका हृदय कहता है, "कैसा अच्छा होता, यदि हम भी किसीके कुछ काम आ सकते!" धन्य है वह निर्मल हृदय, जिसमें परोपकार की यह भावना एक बार उठ कर शीघ्र ही मिट नही जाती किन्तु उत्तरोत्तर बढती ही जाती है—और यहाँ तक बढती है कि फिर उसे अपना सर्वस्व भी दूसरो की सेवा मे लगाकर सतोष नहीं होता, वह चाहता है कि दधीचि की भाँति उसकी हड्डियाँ भी किसी के काम आ जायँ।

इसी श्रेणी के एक बौद्ध भिक्षु आज से कोई ३० वर्ष पूर्व उत्तर पूर्वीय जापान के कोरियामा नामक जिले मे हो गये हैं। सन १८४२ के मार्च मे, एक बहुत ही साधारण परिवार में, उनका जन्म हुआ था। माता पिता ने उनका नाम शिन्को सुजुकी रक्खा। अपने बाल्य-काल में उन्होंने चियेकिन नामक बौद्ध-मन्दिर मे शिक्षा पाई और २५ वर्ष की आयु मे वह 'नपोजी' मन्दिर के पुजारी बना दिये गये। अपने जीवन के अन्तिम दिन तक वह यहीं रहे, और ५० वर्ष की साधारण आयु में तो उनका स्वर्गवास ही हो गया। वह इस ससार मे बहुत दिन नहीं जिये। उन्होंने समाज में कोई विशेष ऊँचा स्थान भी नही प्राप्त किया। उनकी कोई विशेष ख्याति भी नहीं हुई। किन्तु, उनके जीवन में 'त्याग और सेवा' का भाव ऐसा कूट-कूट कर भरा हुआ था कि, हम उनको 'त्याग और सेवा की मूर्ति' के अतिरिक्त और कुछ कह ही नही सकते।

(२)

आज के ५० वर्ष पूर्व जापान में, बहुत से स्थानों पर, अनेक अमानुषिक उपायों से लोग अपने बच्चों की हत्या कर डालते थे। कोई तो उन्हे समीप के जलाशय में फेंक देता, कोई उन्हे वृक्ष पर लटका कर मार डालता, किन्तु

अधिकतर लोग अपनी सन्तान के साथ 'कोगशी' का व्यवहार करते थे। 'कोगशो' का शब्दार्थ है, "प्रकृति को लौटा देना," और उसका मतलब है, बच्चे के मुँह और नाक में गीला कागज ठूँसकर उसका साँस बन्द कर देना।

इस प्रकार की सबसे अधिक घटनायें महात्मा सुजुकी के अपने जिले 'कोरियामा' में ही होती थीं। इसलिए वह अपने आस पास इस प्रकार का अत्याचार होता देख व्याकुल हो उठे। उन्हें बच्चों से बहुत प्यार था। वह कहते थे, "यदि मैं इस कुरीति को बन्द कर सकूँ, तो मुझे और अधिक कुछ न चाहिए"। उन्होंने देखा, इस कुरीति का मूल और महान् कारण दरिद्रता है। निर्धन माता-पिता अपने बच्चों की परवरिश करने मे असमर्थ होने ही के कारण उन्हें मार डालते हैं। इसलिए पहले उन्होंने अपने आस-पास के लोगों को आर्थिक सहायता देनी आरम्भ की। जो कुछ उन्हें इधर-उधर से दान में प्राप्त होता, वह किसी न किसी रूप में दरिद्रों के यहाँ पहुँचा देते। अपने लिए वह बहुत ही थोड़ा खर्च करते थे। प्राय नमक के साथ थोड़ा भात खाकर रह जाते और तन को एक फटे-पुराने वस्त्र से ढक कर सन्तोष करते थे।

(३)

किन्तु, यह बीमारी तो बहुत गहरी थी। इस साधारण औषध से दूर होने वाली न थी। वह दिन रात यही सोचते रहते, "इन निरीह बच्चों के प्राण कैसे बचें?" एक दिन आस पास के गाँवों के बहुत से लोग महात्मा सुजुकी का उपदेश सुनने के लिए इकट्ठे हुए। महात्मा सुजुकी ने कहा, 'मैं देखता हूँ कि तुममें अभी तक अनेक लोग ऐसे है, जो इस महान् पाप को करते हैं। यदि तुम स्वयं अपने बच्चों का पालन नहीं कर सकते, तो मैं उन सबका पालन करूँगा। अपने बच्चे की हत्या करने से पूर्व मुझे उसकी सूचना दे दिया करो। ज़रा एक बार आकर कह दिया करो कि हमारे पास इसे पालने के लिए धन नहीं है। बस, फिर मैं उसकी सम्हाल कर लिया करूँगा। शायद तुम समझते हो कि निरपराध बच्चे की हत्या कर के हम एक बोझ से मुक्त हो जाते हैं, लेकिन, याद रक्खो, इस पाप के बदले में तुम्हें महान् कष्ट सहना होगा।" यह कहते-कहते महात्मा सुजुकी का गला रुँध गया, और आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली। अपने व्याख्यान की समाप्ति पर वह खूब रोये—और, जनता भी उनके साथ रो पड़ी। लोगों को अपने पिछले बुरे कृत्यों का बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उस दिन से अनेक स्त्रियाँ, जो महात्मा सुजुकी के उपदेश से प्रभावित हुई थीं, इस कुरीति को मिटाने के लिए सतत उद्योग करने लगीं, जिसका फल यह हुआ कि कुछ काल के बाद कोरियामा के जिले में यह कुरीति बिलकुल मिट गई।

(४)

यह सत्य है कि महात्मा सुजुकी के उपदेश से हज़ारों निरपराध बालक पैदा होते ही मृत्यु का ग्रास होने से बच गये, किन्तु, इसके लिए, उन्हें कुछ कम तपस्या न करनी पड़ी। आगे चलकर उन्होंने बड़े ही कठिन दिन व्यतीत किये। एक दिन कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। प्रातःकाल ही एक मजदूर अपने बालक को लिये महात्मा सुजुकी के पास आया और बालक को उनकी गोद में देकर बोला—"महात्मन्, यह मेरा बालक है, आप इसका पालन करें।" बच्चा अत्यन्त ही दुबला पतला था, और उसके तन पर फटे-पुराने चीथड़ों के अतिरिक्त और कुछ न था। मजदूर कहने लगा—"इस लड़के की माँ को मरे एक मास हो गया है। इस एक मास में, मैं कुछ भी ता नही कमा सका, जो कुछ मेरे पास था, वह सब समाप्त हो गया। मेरे पास इसकी माता के तथा अपने कुछ कपड़ों के अतिरिक्त और था ही क्या? अब मैं इस लड़के को साथ रखकर मजदूरी भी नहीं कर सकता। महात्मन्, मेरे लड़के की पालना करें।" यह कहता हुआ वह रो पड़ा और बोला—"महात्मन्! कल मुझे घर के मालिक ने भी घर से निकाल दिया। रात भर मै आपके इस बरामदे में ही ठिठुरता रहा। दिन चढ़े मुझे एक स्त्री ने आपका पता बताया। मैं आपकी शरण आया हूँ। मेरे बच्चे की रक्षा करें, मैं सदा आपका ऋणी रहूँगा।" महात्मा सुजुकी ने कहा—"कोई हर्ज नहीं; तुम अपने बच्चे को मेरे पास छोड़ जाओ, और जब तुम इसका पालन करने योग्य हो जाओ, या यह तुम्हारी कुछ

सहायता करने योग्य हो जाय, तो जब जी चाहे आकर दे जाना।" कृतज्ञता से उस मनुष्य का मस्तक झुक गया। वह कुछ कहना चाहता था—अपनी कृतज्ञता को शब्दों द्वारा प्रकट करना चाहता था—किन्तु, कर न सका। बड़ी मुश्किल से उसने दो चार शब्द कहे, और चलने के लिए तैयार हुआ। लेकिन महात्मा सुजुकी ने उसे रोक कर रुपये देते हुए कहा—"यह लो, इससे नये वस्त्र खरीद लेना। यह चीथड़े पहने हुए शायद तुम्हें मजदूरी भी न मिले।"

(५)

ऐसी घटनायें ज के कानों तक पहुँचने लगीं और लोगों में यह प्रसिद्ध हो चला कि महात्मा सुजुकी दया के अवतार हैं। जिन बच्चों को उनके माता-पिता नहीं पाल सकते, उन सबके पालने का भार अपने सिर पर लेते हैं। तब क्या था, अनेक लोग आकर अपने बच्चे उनके सुपुर्द करने लगे। यहाँ तक कि कुछ दिनों में बच्चों की संख्या काफ़ी हो गई। महात्मा सुजुकी उन सभी बच्चों का पालन करने लगे। मन्दिर के पुराने लेखे से मालूम होता है कि उन दिनों में जब 'येन' की क्रय-शक्ति आज से लगभग २० गुनी थी, वह प्रत्येक बालक पर एक 'येन' माहवार खर्च करते थे। इससे मालूम होता है, वह बच्चों को खाने की कमी नहीं होने देते थे। मन्दिर में चावल आदि की जो आमदनी होती थी, वह उतने बड़े परिवार के लिए बिलकुल अपर्याप्त थी। क्योंकि कभी-कभी उनके पास पचास-पचास बालक इकट्ठे हो जाते थे। धनाभाव के कारण इतने बच्चों के लिए दाइयाँ तो रक्खी ही नहीं जा सकती थीं, इसलिए प्राय हर रोज़ महात्मा सुजुकी को, एकाध बच्चा गोद में लिये और एकाध कमर पर उठाये, दूध माँगने जाना पड़ता था। उनका ध्यान इन बच्चों की शिक्षा की ओर भी था। उन दिनों जापान में अनिवार्य शिक्षा न थी। अनेक लोग गरीबी के कारण अपने बच्चों को पढ़ा न सकते थे। महात्मा सुजुकी ज्यों ही किसी बालक को स्कूल जाने योग्य हुआ देखते, उसे किसी पास के प्राइमरी स्कूल में भर्ती करा देते थे। बच्चों के स्वास्थ्य की ओर भी उनका पूरा-पूरा ध्यान था। यदि कोई बच्चा बीमार पड़ जाता, तो माता पिता से भी अधिक वह उसकी सेवा करते। कभी-कभी बीमारों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाने पर वह किसी दाई को भी नौकर रख लेते थे। लेकिन दाइयों को देने के लिए उनके पास धन कहाँ था? बहुत बार बच्चों के लिए दवाई इत्यादि का भी प्रबन्ध नहीं हो सकता था। जब वह किसी बच्चे के तन पर कपड़ा न देखते तो नौकर को बुलाकर कहते—"यह लो मेरे बदन का कपड़ा, और इसे बेच कर तुम बच्चे के लिए कोई वस्त्र ले आओ।" इसलिए यद्यपि कभी-कभी कुछ धनी दाता उनके लिए मूल्यवान वस्त्र भी भेज देते थे, किन्तु उनके तन पर प्राय फटे पुराने वस्त्र ही रहते थे।

(६)

महात्मा सुजुकी की दानशीलता का यह समाचार सरकारी अफसरों के कानों तक भी पहुँचा। उन्होंने उनके प्रति आदर प्रकट करने के लिए उन्हें एक चाँदी का प्याला भेंट करना चाहा। महात्मा सुजुकी ने वह पात्र लेना स्वीकार न किया। कहने लगे—"भिक्षु के लिए दानशील होना एक साधारण गुण है, इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं।" एक बार कुछ सरकारी आदमियों ने चाहा कि वह अपने कार्य की रिपोर्ट लिखकर ऊँचे सरकारी अफसरों तक पहुँचा दें, जिससे उन्हें कुछ सरकारी सहायता मिल जाय। किन्तु महात्मा सुजुकी ने किसी प्रकार की रिपोर्ट आदि भेजना स्वीकार न किया। वह यही सोचते थे कि यह उनका अपना निजी कार्य है।

(७)

एक बार जब जापान के स्वर्गीय सम्राट् मेयजी कोरियामा के जिले की ओर गये, तो महात्मा सुजुकी की कीर्ति उनके कानों तक पहुँची। उन्होंने अपने मन्त्री के हाथ महात्मा सुजुकी के पास तीन चाँदी के पात्र भेजे। मन्त्री ने महात्मा सुजुकी को सरकार से कुछ सहायता माँग लेने की सम्मति दी। किन्तु महात्मा सुजुकी का एक ही उत्तर था—"मुझे भगवान् बुद्ध की सहायता के अतिरिक्त और किसी की सहायता नहीं चाहिए।"

(८)

महात्मा सुजुकी ने सैकड़ों ऐसे बच्चों की परवरिश की

होगी, जिनको या तो उनके माता-पिता मार डालते या वे स्वयं भोजन न मिलने से मर जाते। किन्तु यह तो उनके "त्याग-मय जीवन" का केवल एक कार्य था। उन्होंने अपने जीवन में अनेक ऐसे कार्य किये। कोई भी मनुष्य कैसे भी दुःख से पीड़ित होता, यदि महात्मा सुजुकी को उसकी खबर लग जाती, तो वह अवश्य उसका कुछ-न-कुछ दुःख दूर करते। एक बार बहुत रात गये उनके द्वार पर एक भिखमंगा आया और कुछ खाने के लिए माँगने लगा। महात्मा सुजुकी उस समय दिन-भर की थकावट को दूर करने के लिए स्नान कर रहे थे। उन्होंने अपने नौकर को कहा—"इसको यहाँ स्नानागार में ही मेरे पास ले आओ।" नौकर ने कहा—"उसे यहाँ लाने के लिए आज्ञा न दें, वह कोढ़ी है।" दयावान भिक्षु ने फिर कहा—"कोई डर नहीं, ले आओ।" भिखमंगा अन्दर आया। वह वास्तव में कोढ़ी था। महात्मा सुजुकी ने उसे अपने साथ नहलाया और कितने ही दिनों तक अपने पास मन्दिर में ही रक्खा।

(६)

एक बार तोटूकू के जिले में बड़ा भारी अकाल पड़ा। याकामा के जिले के लोगों को भी बड़ा कष्ट हुआ। वे भूख से मरने लगे। भूखों मरते लोग कभी-न-कभी चावलों की चोरी करने के लिए महात्मा सुजुकी के मन्दिर में घुस आते। जब कभी उनका नौकर इसकी शिकायत करता, तो महात्मा सुजुकी कहते—'चोरी किये बिना ये अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकते। इसलिए हमारी दया के पात्र हैं। जब कभी किसी को चोरी करते देख लो, तो उसे लज्जित कभी मत करो।' *

कौसल्यायनि आनन्द (सोलोन)

"कोई अप्रकट शक्ति राष्ट्र की प्रगति को आगे बढ़ा रही है। प्राचीन काल के भारत-वीरों का गौरव क्रियाशीलता से बढ़ा है, निष्क्रियता से नहीं। उस वक्त तक हम में से किसी एक को भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता, जबतक हम सबके लिए सम्मिलित रूप से सुख प्राप्त न कर लें। इसलिए आज मैं, अनन्त आशा-सहित, शक्ति प्राप्त करने के सिद्धान्त पर जोर देता हूँ।" —विज्ञानाचार्य बोस

---

* "यंग ईस्ट" के एक लेख के आधार पर।

विज्ञानाचार्य बोस

इसी पहली दिसम्बर १९२८ के दिन विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र बोस की ७०वीं वर्षगाँठ बड़ी धूम-धाम के साथ कलकत्ते में मनाई गई। उस दिन भारतीय-विज्ञान के पुनरुद्धारक और विश्व-विज्ञान के इन महारथी आचार्य को बंगाल की अनेक सुप्रसिद्ध सार्वजनिक संस्थाओं ने मान-पत्र अर्पण किये। कविवर ठाकुर ने अपनी एक रचना इस अवसर के लिए बनाई थी और विश्व के कोने-कोने से उनकी गुणावली का गान करने वाले बधाई के पत्र आये थे, जिनमें हरएक में उनके आविष्कारों की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की गई और उनकी महत्ता एवं विश्व-हितकारिता की दाद दी गई। इन सब मान-पत्रों और बधाइयों का उत्तर देते हुए उस दिन आचार्य बोस ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में आविष्कार-सम्बन्धी अपनी प्रारम्भिक कठिनाइयों और जीवन-घटनाओं का शिक्षा-प्रद वर्णन किया था, जिससे उनके अतुल धैर्य, अदम्य उत्साह और अनुकरणीय विनम्रता आदि गुणों का अच्छा परिचय मिलता है।

सर जगदीश का जन्म ३० नवम्बर १८५८ ई० में बंगाल के रारखल नामक ग्राम में हुआ था। यह गाँव उनके पूर्वजों को जागीर में मिला था। उनके पिता श्री भगवानचन्द्र बोस फ़रीदपुर के मातहतेदार थे। बंगाल में भगवानबाबू की लोकप्रियता के विषय में अनेक बातें प्रसिद्ध हैं। जिस समय श्री भगवानचन्द्र महाशय बर्दवान के असिस्टेण्ट-कमिश्नर होकर वहाँ ५ साल रहे, उस समय बालक जगदीश के दिन आराम में बीतते थे। खेल-कूद और घोड़े पर सवारी करने का उन्हें खास शौक था। सृष्टि-सौन्दर्य के निरीक्षण की ओर उनकी प्रवृत्ति उसी समय से थी। इस प्रकार पिता की प्रेम-पूर्ण वृत्ति और निरन्तर प्रोत्साहन मिलते रहने के कारण बालक जगदीश की जन्मसिद्ध प्रतिभा को विकास का अवसर मिलता ही गया।

अपनी वय के १६वें वर्ष में जगदीशचन्द्र ने कलकत्ते के सेंट-जेवियर कॉलेज में प्रवेश किया। वनस्पति-शास्त्र में उनकी रुचि प्रथम से थी ही, तिसपर पदार्थ-विज्ञान के अध्यापक श्री लाफ़ू का सहयोग प्राप्त हो जाना सोने में

सुगन्ध बन गया। अध्यापक लाफ् के व्याख्यानों का प्रभाव जगदीशचन्द्र पर अधिक कारगर हुआ। उन्होंने इसी शास्त्र में बी० ए० की परीक्षा पास की। पास हो जाने पर युवक जगदीश की इंग्लैण्ड जाने की इच्छा प्रबल हो उठी। पर आर्थिक संकटों और कौटुम्बिक आपदाओं के कारण जगदीश-बाबू शीघ्र ही इंग्लैण्ड न जा सके। फिर भी अपनी माता की अनुपम उदारता और दूरदर्शिता के कारण उनकी विदेश-यात्रा का प्रबन्ध हो गया। और माता की आशीष एवं पिता का प्रोत्साहन पाकर जगदीशबाबू इंग्लैण्ड चले गये।

जगदीशबाबू ने इंग्लैण्ड जाकर डॉक्टरी सीखने का निश्चय किया था, लेकिन मार्ग में उन्हें बहुत तकलीफ हुई और इंग्लैण्ड पहुँचने पर भी ४-६ महीनों तक उनकी मन-स्थिति शान्त न हुई। उद्देश्य को सिद्ध होते न देख उन्होंने डॉक्टरी का विचार छोड़ दिया और अपने चिरप्रिय विषय का अभ्यास आरम्भ किया। केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के प्रमुख विद्वानों से पदार्थ-विज्ञान, रसायन और वनस्पति-शास्त्र का अध्ययन करके उन्होंने बी० ए० तथा बी० एस-सी० परीक्षायें पास कीं।

इस प्रकार उपाधि प्राप्त कर अपनी वय के २५वें वर्ष में ही बोस महाशय भारत लौट आये। इनके विदेशी मित्रों में एक डॉ० फॉसेट नामक सज्जन थे। इन महाशय ने भारत के तत्कालीन वाइसराय से बोस महाशय की सिफारिश की। उसपर वाइसराय ने शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टरों की अनिच्छा रहते हुए भी यूरोपियनों के लिए सुरक्षित स्थान पर बोस महाशय की नियुक्ति कर दी। इस नियुक्ति पर यूरोपियन अध्यापकों में बहुत समय तक असन्तोष बना रहा। लेकिन उससे श्री बोस की कोई हानि नहीं हुई, उलटे विद्यार्थियों में लोक-प्रियता बढ़ गई।

सर जगदीशचन्द्र ने आजतक अनेक आविष्कार किये हैं। पहले उन्होंने सचेतन और अचेतन पदार्थों में समान-प्रतिक्रिया (Response) का होना प्रमाणित किया। उन्होंने यह बात सिद्ध कर दी कि उष्ण, शीत या कैसी भी औषधि का जो परिणाम प्राणि-मात्र पर होता है, वही अथवा वैसा ही परिणाम वनस्पति के प्रत्येक भाग तथा प्राणि के किसी भी स्नायु पर होता है। इसके बाद वह और भी आगे बढ़े और यह सिद्ध कर दिखलाया कि वही परिणाम अचेतन द्रव्य पर भी होता है। उपर्युक्त सम्पूर्ण आविष्कारों को ग्रथित करके उन्होंने एक "रिस्पॉन्स इन् दी लिविंग एण्ड नॉनलिविंग्" (सचेतन और अचेतन की प्रतिक्रिया) नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिसकी श्रेष्ठता को विश्व-विख्यात् शास्त्रज्ञों ने स्वीकार किया है। इसके पश्चात् डा० बोस का ध्यान वनस्पतियों के भिन्न-भिन्न अवयवों की हलचल की ओर गया। इन हलचलों की सूचना देने वाले, अनेक-विध यन्त्रों का उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा के बल पर नवीन निर्माण किया। इन यन्त्रों के द्वारा दो बातें प्रधानतया जानी जाती हैं, एक तो उन वृक्षों की अन्तर-रचना के गुण दोषों का ज्ञान, दूसरी बाह्य वायु आदि की परिस्थिति का ज्ञान। डा० बोस के तीसरे आविष्कार ने प्राणी और वनस्पतियों के बीच अति-कतर साम्य होना प्रकट किया है। मद्यार्क और क्लोरो-फ़ॉर्म आदि का जो असर प्राणि-मात्र पर होता है, वही असर वनस्पति पर भी होता है। जैसे क्लोरोफॉर्म का प्रयोग किया हुआ व्यक्ति स्वच्छ वायु प्राप्त करने पर धीरे-धीरे चेतना-शक्ति प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार वनस्पतियाँ भी क्लोरोफ़ॉर्म के प्रयुक्त किये जाने के बाद स्वच्छ वायु में रख देने से प्रफुल्लित हो जाती हैं।

इस प्रकार सभी आविष्कारों में सफलता प्राप्त करने के लिए श्री बोस को बहुत परिश्रम और मस्तिष्क-शक्ति खर्च करनी पड़ी है। पहले-पहल अनेक विज्ञानवेत्ताओं ने डॉ० बोस का मज़ाक उड़ाया। उन्हें इन सभी कठिनाइयों से पार होना पड़ा है। आरम्भ में लोग उनपर बहुत कम विश्वास करते थे। उनके लेखों को कोई प्रकाशित करने को तैयार न होता था। परन्तु धीरे-धीरे यह प्रतिकूल वातावरण साफ़ हो गया। आज डॉ० बोस अपने उन्हीं आविष्कारों के बल पर, जिनका किसी समय लोग मज़ाक उड़ाते थे, संसार के महापुरुषों में गिने जाते हैं। सच है, कठिनाइयों से पार पा जाना यद्यपि अत्यन्त कठिन है, तथापि धैर्य रखने से उनका अन्तिम परिणाम सुन्दर होता है। आचार्य बोस इसके अच्छे उदाहरण हैं। आज उनके आविष्कारों को सारा संसार आदर-पूर्वक स्वीकार कर रहा है।

आचार्य बोस का वनस्पतियों के पोषक द्रव्यों की शोषक-क्रिया का आविष्कार अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। उन्होंने अनेक प्रयोग करके यह सिद्ध कर दिया है कि वनस्पतियाँ अपने पोषक पदार्थों का सजीव पेशियों की सहायता से ही ग्रहण करती है। आज भी लोगों की यह धारणा है कि वृक्षों को ज़मीन मे डाल कर पिलाया जाने वाला जल उनकी जड़ों की नालियों द्वारा ऊपर चढ़ता है तथा भाफ बन कर पत्तियों द्वारा झरता है। किन्तु आचार्य बोस ने इस धारणा को ग़लत सिद्ध किया है। उनका कहना है कि किसी वृक्ष की सारा जड नहीं-सी कर दी जाय तो भी पानी ऊपर चढ़ेगा। जड़ को रोकने का और पानी के चढ़ने का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। एक प्रयोग में आचार्य बोस ने एक शाखा को चारों ओर से "वेसलीन" लगा दिया, ताकि जल कहीं से भाफ बन कर उड़ न जाय, तो भी उस शाखा ने जल ऊपर खींचा ही लिया। इस प्रयोग से यह प्रमेय सिद्ध हुआ कि पेशियाँ जहाँतक सजीव रहेंगी, जड़ न रहने पर भी, उस वृक्ष या शाखा में जल-शोषण की शक्ति रहेगी।

कलकत्ते में बोस-इन्स्टीट्यूट नामक उनकी एक स्वतन्त्र संस्था है। अनेक अपूर्व आविष्कारों की यहीं से सृष्टि होने के कारण जगत् में इस संस्था की ख्याति हो गई है। सरकार से भी इस संस्था को सहायता मिलती है। कई विद्यार्थी इन नवीन प्रयोगों का अध्ययन कर रहे हैं। इस संस्था को सुदृढ़ बनाने मे और अपने आविष्कारों को एक-मत से स्वीकार करवाने मे आचार्य बोस को आकाश-पाताल एक करना पड़ा है।

गत अप्रैल महीने में आचार्य बोस पुन एक बार यूरोप गये थे। वहाँ अपने आविष्कारों का प्रत्यक्ष परिचय देकर उन्होंने पाश्चात्य जगत् के महान् विज्ञानवेत्ताओं को मन्त्र-मुग्ध-सा कर लिया है। अब वह अकेले भारत के ही नहीं, सारे भू-मण्डल के आदर-भाजन हो गये हैं।

आज इस जरा-जीर्ण वय में भी आचार्य बोस का युवकों जैसा उत्साह और अथक कर्तृत्व-शक्ति देखकर आश्चर्य होता है। ईश्वर उन्हें और श्रीमती बोस को चिरायु करे, एवं उनके हाथों से अनेक महत्व-पूर्ण आविष्कारों की निरन्तर सृष्टि होती रहे, यही हमारी हार्दिक कामना है।

सूर्यनारायण व्यास

विप्लव की

(१)

[फाँसी पर चढ़ने को जाते हुए नवयुवक बन्दी और एक विदेशी मे बातचीत]

"बन्दी! क्या अन्तिम अभिलाषा आज है?"
"नष्ट भ्रष्ट साम्राज्य विदेशी शीघ्र हो।"
"शान्त! शान्त! जीवन की घड़ियाँ शेष कुछ,
उनमे श्यामल–पद–अम्बुज–वन्दन करो।
अब छोड़ो ससारी बन्धन, मोह यह,
शान्त बनो प्राणों को देते समय तो।"
"अरे! शान्ति कैसी? इन अन्तिम क्षणों तक,
माँ न मुक्त, पददलित निरन्तर हो रही।
फिर भी कहते शान्त बनो। यह मोह है!
माँ के दुख हरने की इच्छा मोह है?
यह अभिलाषा यदि अशान्ति, तो शान्ति की
इच्छा त्याज्य–जघन्य। माँ त्रसित, शान्त मै!
अरे! शान्ति कैसी? मै तो यह चाहता।
भड़के यह अशान्ति, भड़के सब दिशा में।
निकलें लपटें प्रलयंकारी अग्नि की,
फैलें धू-धू करती चारो ओर वे
उनमे तुम भी जलो और हम भी जलें,
जले साथ मे माँ के सब दुख–त्रास भी।
निखरे माँ की प्रभा और अति उज्ज्वला,
कुन्दन–सी दमदम करती वह विश्व में
फैलावे प्रकाश निज निर्मल ज्योति का।"

बालकृष्ण बलदुवा

साहित्य-संगीत-कला

अपूर्णता के चरणों पर

आँखो मे घूमा करता है
निशि दिन एक यही सपना—
"बना पराया सा बैठा है
कहीं रूठ मेरा अपना" ॥ १ ॥

किसने देखा पार क्षितिज के—
अन्धकार या स्वर्ण-प्रभात ?
किसी हृदय के अंतरतम का
कब रहस्य होता है ज्ञात ? २ ॥

किस उजियारे से देखूँ मै
अपनी आँखो का तारा ?
है प्रसिद्ध यह बात जगत मे
'दीप-तले ही अँधियारा' ॥ ३ ॥

अमरबेलि-सी बनकर स्मृति
मेरी आँखो मे छाई है,
अन्तर का सारा रस पीकर
देखो अब रँग लाई है ॥ ४ ॥

सारी गत व्यथा मेरी, तारो—
में है चम-चम करती,
होते ही प्रभात अन्तर के
आँसू फूलो मे भरती ॥ ५ ॥

छिपी हुई थी हास्य-ज्योति में
ही मेरी करुणा काली;
हरे रंग से ढकी हुई है
जैसे महँदी में लाली ॥ ६ ॥

जीवन की असफलता का ही
एक सफल अभिनय मैं हूँ ।
परिचय हीन विश्व की झाँकी—
पीड़ा का परिचय मै हूँ ॥ ७ ॥

'वह कोई अपना सपना था'
कह कर जी बहला लूँगा ।
शून्य गगन के सूनेपन मे
सूना प्रियतम पा लूँगा ॥ ८ ॥

नयनो का तप, विफल प्रतीक्षा,
यह बुझता दीपक अपना !!
निष्ठुरता की दया, सरस भावी
का वह अस्थिर सपना ॥ ९ ॥

सूने स्वप्नो के आँचल में
क्यो पालूँ प्राणो की प्यास ?
क्यो अभिलाषा को तरसाऊँ
आशा का कर-कर उपहास ॥ १० ॥

जग का बन्दी हूँ बन्धन से
हिल-मिल गया हृदय का मौन।
सिसक-सिसक थक गई उसासें
जी की जलन जतावे कौन ? ११ ॥

आशा की वे तिरछी किरणें
अब न करेगी उरमें घाव ।
अर्पित है अपूर्णता के
चरणो पर आज पूर्णता-भाव ॥१२॥*

हरिकृष्ण "प्रेमी"

* अप्रकाशित "आँखों मे" काव्य से

कला और विज्ञान

साहित्य मनुष्य समाज का दर्पण है। जिस काल में समाज की जैसी अवस्था रहेगी, साहित्य भी उसी वेश-भूषा में, उसी ठाठ बाट में दिखाई पड़ेगा। यही कारण है कि साहित्य का स्वरूप सर्वदा समान रहने नहीं पाता, मानव-समूह के आदर्शों के बदलते रहने के कारण साहित्य का आदर्श भी बदलता रहता है। मानव-समाज के साथ साथ साहित्य का उत्थान-पतन अवश्यम्भावी है। यही कारण है कि जब देश में शान्ति का साम्राज्य रहता है तो सत्साहित्य का निर्माण विशेष होता है। पर यह भी देखने मे आता है कि कोई जाति जब अवनति के गह्वर गर्त में पतित हो जाती है तो अचानक उसमें जागरण होता है और अच्छे-अच्छे कवि और लेखक आदि उत्पन्न होते हैं, जो अपनी उत्कृष्ट रचना से सबके हृदय में एक नवीन जोश—नई स्फूर्ति—पैदा करते हैं; उस समय उस जाति के देश का साहित्य उन्नत हो जाता है। ऐसी अवस्था में यह विचारना आवश्यक है कि साहित्य की सृष्टि का क्या कारण है? देश, काल और पात्र के अनुसार ही साहित्य की सृष्टि होती है अथवा देश और समाज के प्रतिकूल भी?

कितने विद्वानों का मत है कि जब मनुष्य प्रकृति के सौन्दर्य-विकास पर मुग्ध हो जाता है तब वह अपने मन के भावों को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। यही सौन्दर्य्य-अनुभूति की लिप्सा साहित्य-निर्माण का मूल कारण होती है और इसीलिये कला का विकास होता है। पर इस विचार मे एक दोष प्रत्यक्ष है। प्राय सभी जानते और मानते हैं कि जब मनुष्य सभ्यता और ऐश्वर्य की परम-सीमा पर पहुँच जाते हैं तब सौन्दर्यानुभूति* और सौंदर्योपभोग-शक्ति के बढ़ते रहने पर भी साहित्य और कला की उन्नति के बदले अवनति ही होती है। जाति के ऐश्वर्य के साथ न साहित्य का ऐश्वर्य बढ़ता है और न कला की ही श्रीवृद्धि होती है।

ऐसी अवस्था में यह परमावश्यक है कि कोई ऐसा कारण ढूँढ निकाला जाय, जिसपर साहित्य के विकास और ह्रास का परिणाम निश्चित हो। इसके लिए सबसे पहले हमें यह देखना होगा कि साहित्य की सृष्टि कैसे हुई और क्यों हुई? यदि इसका पता हम लगा सकें, तो विकास और ह्रास का पता लगाना असम्भव नहीं रह जायगा। अस्तु। जर्मनी के प्राणि-तत्त्व-विचारकों का कथन है—"जो जाति सभ्यता की पहली सीढ़ी पर रहती है, वह नैसर्गिक सौंदर्य से मुग्ध होने पर विस्मय से अभिभूत होती है विस्मय के कारण हृदय मे आतंक भी उत्पन्न होता है, आतंक से उपासना और धर्म की सृष्टि होती है।" हमें यह देखना है कि वह "विस्मय" क्या है और क्यों होता है? हमारा शास्त्र कहता है कि मनुष्य में जब "द्वैत-भाव"—"मैं और प्रकृति या संसार"—का आविर्भाव होता है तभी विस्मय की सृष्टि होती है। विश्व की नवीनता का अनुभव इसका प्रधान कारण होता है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य जीव तत्त्व-विशारद बिर्चाउ (Birchow) ने भी विस्मयोद्रेक का यही कारण बताया है। बर्बर जातियों के लोग जन्म ग्रहण करने पर जो कुछ देखते हैं वह उनके लिए नवीन ही रहता है। उसकी नवीनता अवलोक कर वे मुग्ध बने रहते हैं, नवीनता से उन्हें विस्मय, और विस्मय से भिन्न भिन्न भावों का जन्म होता है। आगे जाकर यही भाव साहित्य का रूप धारण करता है। यह विस्मय-जन्य भाव दो रूपों में व्यक्त होता है, दोनों की भावनायें अलग-अलग होती हैं। पहले जब मनुष्य प्राकृतिक विस्मयोत्पादक पदार्थों का पर्य्यवेक्षण करता है तो उसकी शक्तियों को पराभूत कर स्वायत्त कर लेने की अभिलाषा करता है। इस भावना को हम "जिगीषा" कह सकते हैं। दूसरा, नैसर्गिक पदार्थों के रूप-सागर में ओत-प्रोत होकर

---

* यहाँ हमारी समझ से योग्य लेखक भूल कर रहे हैं। सभ्यता और ऐश्वर्य के विकास के समय उपभोग की शक्ति अवश्य बढ़ती है। पर अनुभूति नहीं बढ़ती, उलटे कम होती है। भोग सदैव रचना के बाद और अनुभूति सदैव रचना के पूर्व होती है। —'स्या० भू०' सम्पादक

मनुष्य नित्य नवीनता को प्राप्त कर लेने की अभिलाषा रखता है। इस भावना को "तन्मयता" कह सकते हैं। इन्हीं दोनों भावनाओं की दृढ़ भित्ति पर मनुष्य-जीवन की नींव रक्खी जाती है। पहली भावना अर्थात् जिगीषा से विज्ञान के और दूसरी भावना अर्थात् तन्मयता से धर्म और साधना के भाव प्रकट होते हैं। इसीसे काव्य और साहित्य का निर्माण होता है। जिस जाति की भावनायें जैसी रहेंगी, जिस समय जैसा संघर्ष होगा, उसी प्रकार भावनायें उत्पन्न होंगी और फिर उसी क्रम से साहित्य में परिवर्तन होगा। यही कारण है कि साहित्य का रूप कभी स्थिर नहीं होने पाता।

उपर्युक्त अन्वेषण से साहित्य के दो भेद दीख पड़े, एक विज्ञान और दूसरा कला। दोनों भिन्न भिन्न भावनाओं के कारण उत्पन्न होते हैं। इसलिए दोनों के विकास में भी अन्तर—महदन्तर रहता है। एक बाह्य जगत का प्रतिबिम्ब होता है तो दूसरा अन्तर्जगत् का, एक मनुष्य-समाज की बाह्य बातों का अनुकरण करता है तो दूसरा समाज की भीतरी बातों पर पूरा-पूरा प्रकाश डालता है। दोनों की उन्नति या अवनति समाज की महत्वाकांक्षा पर निर्भर करती हैं। जब मनुष्य समाज में धर्म की प्रवृत्ति जागृत होती है, तो कला अपने पूर्व स्थान से आगे—बहुत आगे बढ़ जाती है, उसका रूप विकसित और परिवर्तित हो जाता है, और जब समाज धर्म-कर्म को छोड़ कर पार्थिव-समृद्धि की ओर झुकता है तो विज्ञान की गति तीव्र हो जाती है। यह बात किसी एक देश के लिए नहीं बल्कि सभी देशों पर लागू है। जब कला की अवनति होती है तो विज्ञान की उन्नति होती है और विज्ञान की अवनति होने पर कला में पुनर्जीवन आता है। आधुनिक युग में जब कि विज्ञान की उन्नति चरम सीमा पर पहुँच चुकी है या पहुँचती जा रही है तो कवित्व-कला का प्रत्यक्ष ह्रास दीख पड़ता है। ❀ इस स्थान में हमें एक बात का विशेष ख्याल रखना पड़ेगा, वह यह कि कला में व्यक्तित्व की छाप रहती है पर विज्ञान में व्यक्तित्व का प्रभाव नहीं रहता। विज्ञान उन्नतिशील है, दिनों-दिन नये-नये आविष्कार होते जाते हैं, जिस से पुराने आविष्कार महत्व-हीन मालूम पड़ते हैं, लेकिन कला का विकास होने पर भी पुराना भाग फीका नहीं पड़ता। मतलब यह कि विज्ञान की घुड़-दौड़ मे कला नहीं टिक सकती। कवि चाहे छोटा हो या बड़ा, उसकी रचना सर्वदा उसीकी कही जायगी। हाँ, यह ठीक है कि बड़े कवियों की रचना चिरकाल तक लोगों मे प्रचलित रहेगी और छोटों की कम काल तक, पर विज्ञान का स्रोत वैज्ञानिकों की स्मृति मे बढ़ता-बढ़ता अन्त में एक विशाल रूप धारण कर लेता है, जिसमें किसी खास की महत्ता न रह कर वह सामूहिक बन जाती है।

कला नियम हीन है, पर विज्ञान नियमों का समूह। कला का जीवन वैयक्तिक जीवन से है, अतएव जीवन-वैचित्र्य के कारण कला का वैचित्र्य सर्वदा रहेगा, वैचित्र्य बिना कला नीरस और फीकी मालूम पड़ती है। मानव-सभ्यता की सरलता या जटिलता पर कला भी सरल या जटिल बनती है, और उसकी विशालता पर विशाल। अतएव सामाजिक सभ्यता की गति जिस ओर रहेगी, कला भी उसी ओर प्रबल वेग से दौड़ेगी। इसमें कुछ भी मीन मेख नहीं।

मनुष्य सम्पूर्णता का उपासक है वह सम्पूर्णता को उपलब्ध करना या तन्मय होना चाहता है। अगर यह तन्मयता उसे बाह्य जगत् से ही मिल जाती तो साहित्य और कला का नामो-निशान भी नहीं होता। पर तन्मयता आन्तरिक वस्तु है, वह कवि की कल्पना और शिल्पी की जल्पना मे है, वहीं उसके सौन्दर्य का पूरा विकास होता है, जब वह विकसित होकर हमारे सम्मुख आता है तो हमें आश्चर्य-चकित और मुग्ध कर देता है। "जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि' इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है।

कला हमारे जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। सभ्य या असभ्य सभी जातियों में यह कुछ-न-कुछ विद्य-रहती है। किन्तु, सभ्य जाति आगे बढ़ती है—उसकी

❀ अभी इसके सम्बन्ध में कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य देशों में विज्ञान और कला का तीव्र संघर्ष आज भी जोरों से चल रहा है।

—'त्या० भू०' सम्पादक

कला चमक उठती है और असभ्य जाति की कला जहाँ-की-तहाँ ही पड़ी रह जाती है। कला की उन्नति वैयक्तिक स्वातंत्र्य पर निर्भर करती है। जब मनुष्य स्वतंत्र रहेगा, और उसके हृद्गत-भाव स्वतन्त्र-रूप से सौंदर्य की अनुभूति में लगेंगे, तभी कला की उन्नति होगी पर स्वतन्त्रता सयत और नियमित होनी चाहिए। अगर चित्त-वृत्ति निरंकुश हुई तो सभी गुड़-गोबर ही समझिए।

कला की उन्नति के बारे में दो मत प्रचलित हैं। कुछ लोगों के मत मे कला की उन्नति तभी संभवनीय है जब देश में सर्वत्र शान्ति हो। पर ब्राउन (Brown) साहब इस मत के विरोधी हैं, उनकी राय है कि शान्ति के समय कला उन्नति नहीं कर पाती, केवल ज्ञान का विस्तार कर सकती है किन्तु, जब समाज क्षुब्ध होता है, तब जिगीषा का भाव मनुष्य के हृदय में जागृत होता है जिससे कला में धड़ल्ले के साथ वृद्धि होती है। इसके प्रमाण में वह यूनान, यूरोप आदि के इतिहास सम्मुख रखते हैं। ब्राउन साहब कला के साथ धर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध बतलाते हैं। आपका कथन है कि प्रकृति के सौन्दर्य के भीतर जो अनन्त रूप विद्यमान है उसे धर्म ही विश्वास और कल्पना के द्वारा, मनुष्य के लिए अनुभव-गम्य कर देता है। अतएव जब समाज में धर्म का और धर्म में सौन्दर्य का भाव रहेगा तो कला की उन्नति अवश्य होगी।

धर्म मनुष्य को एक सूत्र में पिरोता है। ज्यों-ज्यों धार्मिक परिवर्तन होते हैं त्यों-त्यों समाज का पारस्परिक सम्बन्ध भी बदलता जाता है, जिसका स्पष्ट प्रभाव साहित्य में परिलक्षित होता है। यही कारण है कि धर्म और साहित्य का सम्बन्ध अटूट माना जाता है। जिस जाति का जो धर्म होगा उस जाति की भाषा, सभ्यता और साहित्य उसी धर्म के अनुकूल होगा। साहित्य का धर्म से विच्छेद नहीं हो सकता, साहित्य में धार्मिक अवस्था का चित्र अवश्य ही अंकित होगा।

किन्तु कालक्रम से धार्मिक अवस्था में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। जातियों का समय तीन भागों में बाँटा जा सकता है अर्थात् आदिकाल, मध्यकाल और उत्थानकाल। तीनों की धार्मिक अवस्थाओं में भी उसी क्रम से अन्तर होता है। आदिकाल में धर्म की प्राकृतिक, मध्यकाल में नैतिक और उत्थानकाल में आध्यात्मिक अवस्था वर्तमान रहती है। ख़ासकर भारत में यह इतना सुस्पष्ट है कि इस पर विशेष लिखने की आवश्यकता ही नहीं। आदिकाल में मनुष्य प्रकृति-पूजा में संलग्न रहते हैं, प्रकृति की उपासना ही उनका प्रधान उद्देश्य रहता है। मध्यकाल में सभ्यता विकसित होती है और मनुष्य के साथ प्रकृति का घनिष्ट सम्बन्ध नहीं रह जाता। वह बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् की ओर प्रधावित होता है और तब प्रकृति को गौण स्थान मिल जाता है, यहाँ तक कि कितने लोग प्रकृति को त्याग ही देते हैं। इस अवस्था में मनुष्य अपने अनुभव से विशेष काम लेता है।

इसके पश्चात् ही आध्यात्मिक भावों की लहर चलती है। लोग अपने अनुभव को एक ख़ास मूर्त रूप दे देते हैं और उसे ही एकात्म भाव में परिणत कर देते हैं। आधुनिक साहित्य के आध्यात्मवाद की धारा इसी ओर है। वह चरित्र का विश्लेषण कर उसकी आत्मा का सौन्दर्य देखना चाहता है पर इस अन्तर्सौन्दर्य-दर्शन में जड़वाद के बदले आत्म चिन्ता और आत्म-परीक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है।

नृसिंह पाठक 'अमर'

कोयल

कानन में आती ऋतुराज की सवारी जब,
होके मद-माती मधु-गान है सुनाती तू?
झूमते हैं कोमल कुसुम मतवाले, उन्हें—
घोल कर कौनसा है आसव पिलाती तू?
चाँदनी छिटकती सुनील नभ-मंडल में;
बैठ पल्लवों की ओट माधुरी चखाती तू?
किन्तु, जब कानन-कुसुम कुम्हलाते तब,
कौनसी कुटी में मौन साध बैठ जाती तू?

सोनाराम वर्मा "साधक"

कला, कला के लिए

(१)

कला का अन्तिम ध्येय, सत्य है अथवा कल्याण (शिव) या सुन्दरता ?

यह प्रश्न जितना आवश्यक है, उतना ही पुराना और रहस्यगर्भ भी है। इस प्रश्न को हल करने के लिए अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, परन्तु निश्चित रूप से अभी तक यह हल नहीं हो पाया है।

इस प्रश्न पर विचार करने के पहले हम लोगों को भली भाँति यह समझ लेना चाहिए कि इसका अभिप्राय क्या है ?

संसार में कई प्रकार के कलाविद् पाये जाते हैं, कोई मूर्ति-कला का ज्ञाता है, तो कोई संगीत-कला का आचार्य है। कोई साहित्य का मर्मज्ञ है, तो कोई नृत्य कला मे प्रवीण है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि कलाविद् का उद्देश्य क्या होना चाहिए ? क्या उसे संसार के कल्याण के लिए ही अपनी कला में प्रयत्न करना चाहिए ? क्या उसे एक धर्मोपदेशक की तरह अपनी कला की सहायता से संसार के कल्याण के लिए ही उपदेश करना चाहिए ? अथवा उसे केवल सत्य की खोज करनी चाहिए ? जिस प्रकार वैज्ञानिक सत्य की खोज करता है, उसी प्रकार कलाविद् को भी सत्य का ही आश्रय लेना चाहिए ? अथवा कलाविद् को न तो कल्याण की चिन्ता करनी चाहिए और न सत्य की, उसे केवल सुन्दरता की चिन्ता करनी चाहिए ?

कला के सम्बन्ध में ये प्राचीन तथा प्रसिद्ध प्रश्न हैं। कुछ लोगों की राय है कि कलाविद् को सत्य अपना अन्तिम ध्येय मानना चाहिए। परन्तु ऐसे दूसरे लोग भी हैं, जो कहते हैं कि कलाविद् को केवल संसार के कल्याण का ही प्रयत्न करना चाहिए। इन लोगों का विचार है कि जो कलाविद् संसार के कल्याण को अपना अन्तिम उद्देश्य नहीं बनाता, वह भारी भूल करता है और वह प्रथम श्रेणी का कलाविद् नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत कुछ ऐसे लोग भी हैं जो कहते हैं कि कला का उद्देश्य सत्य तथा कल्याण नहीं होना चाहिए। जिस कला में केवल सत्य अथवा केवल कल्याण अन्तिम ध्येय माना जाता है, वह वास्तविक कला है ही नहीं। वास्तविक कला वही है जिसका अन्तिम ध्येय सुन्दरता हो। 'कला, कला के लिए' का यही अभिप्राय है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि जिस कला का अन्तिम उद्देश्य तथा ध्येय सुन्दरता हो, वही 'कला, कला के लिए' कहलाती है।

(२)

संसार में ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक है, जो कला का ध्येय सुन्दरता मानते हैं। अर्थात्, जो यह कहते हैं कि कला, कला के लिए है। इस कथन से स्पष्ट है कि

कला कला के लिए=कला का अन्तिम ध्येय सुन्दरता।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब कला का अन्तिम ध्येय सुन्दरता है, तब उस कला से संसार तथा समाज की हानि होगी अथवा नहीं ? जिस कला मे संसार के कल्याण का विचार नहीं होगा, उससे संसार का अमंगल अवश्य होगा। जिस साहित्य-कला में देश के मंगल पर ध्यान नहीं दिया जायगा, उससे देश की हानि अवश्य होगी और इन सब की अधिकता के कारण समाज रसातल को अवश्य ही पहुँच जायगा। इन लोगों का विचार है कि जिस—साहित्य, संगीत, मूर्त्त तथा अन्य किसी—कला में देश के मंगल, समाज के कल्याण तथा सदाचार की महत्ता न मानी जाय और जिसके ये सब अन्तिम ध्येय न हों, उस कला को जला देना चाहिए और किसी भी दशा में उसका प्रचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसी कला के प्रचार मे देश का कल्याण तो हो ही नहीं सकता।

जो लोग 'कला, कला के लिए' के पक्षपाती हैं, अर्थात्, जिन के विचार ये हैं कि कला का उद्देश्य सुन्दरता है, वे कहते हैं कि उक्त कथन मिथ्या है, ग़लत है और वास्तव में सत्य से बहुत ही अधिक दूर है। जिस कला मे सुन्दरता को ध्येय माना जाता है, उस से भी देश का परम कल्याण होगा और होता भी है। इन लोगों का विचार है कि सुंदरता से देश का कल्याण ही होता है, अमंगल नहीं, क्योंकि सुन्दरता मंगल तथा कल्याण की ओर आकर्षित करती है।

इसके जवाब में ' के पक्षपाती कहते हैं कि

सुन्दरता से देश का कभी कल्याण हो ही नहीं सकता। कौन नहीं जानता कि सुन्दरता के कारण प्रत्येक देश की भारी हानि हुई है। जिन लोगों ने इतिहास का अध्ययन किया है, वे भली भाँति जानते हैं कि केवल एक सुन्दर स्त्री के कारण सारे देश में रक्त की नदी बह गई है और लाखों आदमी मार डाले गये हैं। प्रत्येक देश का इतिहास ऐसी अनेक घटनाओं से भरा हुआ है। प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन काल में भी सुन्दरता की उत्पन्न की हुई हानियों के अनेक उदाहरण देखता है। ऐसी दशा में सुन्दरता से मंगल की इच्छा करना अनुचित तथा असंगत है। सुन्दरता एक बड़ा भारी तथा भयंकर जाल है और जो मनुष्य एक बार उस जाल में फँसता है, वह फिर कभी नहीं निकलने पाता।

इन सब बातों के उत्तर में 'कला, कला के लिए' के पक्ष-पाती भी अनेक उत्तर देते हैं। इस सम्बन्ध में असली प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सुन्दरता से कल्याण हो सकता है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए दर्शन-शास्त्र, कला (Art) और सौन्दर्य-शास्त्र (Aesthetics) आदि सभी का दरवाजा खटखटाना आवश्यक है। यह सब कर लेने पर भी इसका यथार्थ उत्तर सुगमता से नहीं मिल सकता क्योंकि इस बहस में कई ऐसे विषयों का भी समावेश हो जाता है, जिनके सम्बन्ध में स्वयं विद्वानों में भी मतभेद है। जो लोग इस प्रश्न का स्वयं उत्तर निकालना चाहें उन्हें कला, सुन्दरता, कल्याण आदि विषयों का अर्थ निश्चय करना चाहिए और तब उसी के अनुसार अपना मत स्थिर करना चाहिए। इसका निश्चय करने के लिए धर्म तथा दर्शन शास्त्रों के सिद्धान्तों का उपयोग करना आवश्यक होगा। दर्शन और धर्म भी विवादमय विषय हैं। इसलिए इसकी कठिनता और भी अधिक हो जाती है।

(२)

इस प्रश्न पर यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने बहुत प्राचीन काल में विचार किया था। इसमें सन्देह नहीं कि प्लेटो के विचार इस सम्बन्ध में दोष से खाली नहीं हैं। क्योंकि उसने कहीं-कहीं स्वयं अपने कथनों का भी खण्डन कर दिया है। तथापि इसमें तो लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि प्लेटो ने अति प्राचीन काल में भी इन सब बातों पर विचार किया था। इस समय हम प्लेटो के 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ के दसवें परिच्छेद का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। उसमें उसने लिखा है—"सुन्दरता ही, सत्य और शिव (कल्याण) की जननी है। सुन्दरता गुप्तरूप से इन्हें (सत्य और शिव को) उत्पन्न करती है। इसकी सहायता से मनुष्य मुक्ति भी पा सकता है।"

प्लेटो के इस कथन से स्पष्ट है कि वह सुन्दरता को बड़ा ऊँचा स्थान देता था और वह यह भी मानता था कि सुन्दरता से कल्याण हो सकता है। सुन्दरता से प्लेटो का अभिप्राय केवल आकार प्रकार का ही सुन्दरता नहीं है, किन्तु राग और लय आदि की भी। दूसरे स्थानों पर भी प्लेटो ने लिखा है कि सुन्दरता के प्रभाव से मनुष्य का आचार बहुत अच्छा बन सकता है और वह यथार्थ विचार भी कर सकता है। प्लेटो का विचार है कि हम लोगों की चालचलन पर भी सुन्दरता का अच्छा प्रभाव पड़ता है।

इस सम्बन्ध में महाकवि शेक्सपियर ने भी लिखा है—

Love is too young to know what conscience is, yet who knows not, conscience is born of love?

अर्थात् प्रेम तो समझ ही नहीं सकता कि अन्तःकरण क्या वस्तु है। परन्तु इस बात को कौन नहीं जानता कि प्रेम से ही अन्तःकरण की सृष्टि होती है?

इस पद्य में शेक्सपियर ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया है कि प्रेम से अन्तःकरण का निर्माण होता है। प्रेम से सुन्दरता का घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि सुन्दरता से भी अन्तःकरण का सम्बन्ध हो सकता है। शेक्सपियर के उक्त कथन से स्पष्ट रूप से तो यह नहीं कहा जा सकता कि सुन्दरता से कल्याण हो सकता है, परन्तु उसका उक्त कथन इस ओर संकेत अवश्य करता है। इसलिए शेक्सपियर का उक्तकथन यदि 'कला, कला के लिए' के पक्ष में नहीं कहा जा सकता, तो उसके विपक्ष में भी नहीं कहा जा सकता और एक प्रकार से वह पक्ष में ही कहा भी गया है।

अन्तःकरण एक बहुत ही अधिक प्रधान तथा आव-

स्थक शक्ति है। इसमे तथा मनुष्यों के कल्याण से बहुत ही अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। इसीलिए शेक्सपियर के उक्त कथन को कला, कला के लिए' के पक्ष में कह सकते हैं।

(४)

संसार मे कुछ ऐसे दार्शनिक भी पाये जाते हैं, जो सत्य, शिव और सुन्दर—इन तीनों—को एक ही मानते हैं। ऐसे लोगों के लिए तो यह प्रश्न ही नहीं उत्पन्न हो सकता कि सुन्दरता से कल्याण हो सकता है या नहीं? क्योंकि ये सुन्दरता और कल्याण (शिव) में कुछ भी भेद नहीं मानते। परन्तु जो लोग 'कला, कला के लिए' के पक्षपाती हैं, उनका कथन है कि इन लोगों की बातों से भी उन्हीं के मत का समर्थन होता है। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सत्य, शिव और सुन्दर को साधारणतः सापेक्ष्य क्षेत्र में एक नहीं मान सकते। इसमे सन्देह नहीं कि निरपेक्ष्य क्षेत्र में सत्य, शिव (कल्याण) और सुन्दर एक ही है परन्तु वे सब सापेक्ष्य-क्षेत्र में एक नहीं माने जा सकते। क्योंकि 'कला कला के लिए' के प्रश्न में ही इन तीनों को भिन्न-भिन्न मान लिया है।

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध दार्शनिक कैण्ट का मत उद्धृत करना आवश्यक जान पड़ता है। कैण्ट कहता है कि सुन्दरता की सृष्टि करना तथा सुन्दरता पर मुग्ध होना, अच्छे तथा प्रशंसनीय कार्य का द्योतक है। जिस मनुष्य में सदाचार की शक्ति अधिक रहती है, उसी मनुष्य में सौन्दर्य विवेकिनी बुद्धि भी रहती है। कैण्ट सुन्दरता और आचार के संबंध को स्वीकार करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कैण्ट 'कला कला के लिए' के मत का समर्थन करता है। इससे यह भी प्रकट ही है कि कला में हम लोग सुन्दरता को आदर्श मान सकते हैं और उसी आदर्श के मानने से हम लोगों का कल्याण हो सकता है।

रस्किन ने 'माडर्न पेण्टर्स' नामक एक बहुत ही बड़ा तथा प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है और उसमें उसने इस प्रश्न पर भी विचार किया है। उसने यह भी लिखा है कि सुन्दरता से सदाचार का बड़ा ही अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक प्रकार से रस्किन भी 'कला कला के लिए' के मत का समर्थन करता है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सुन्दरता से वास्तव में कल्याण हो सकता है या नहीं? यह वास्तव में दर्शन का प्रश्न है। इस प्रश्न पर मैं किसी दूसरे लेख में विचार करूँगा।

अवध उपाध्याय

दुर्लभ दर्शन

सुधांशु के हास्य-विलास ने मुझे सम्मोहित करके मेरे म्लान मुख पर मुग्धता की छाप डाल दी थी। प्रभात का पूर्ण प्रकाश अभी होने ही को था। निशा देवी मुझे अपने स्नेह पूर्ण अंक मे लिए मेरे भविष्य के चिन्तन में निमग्न हो आकुल हो रही थी।

मैं अचेत-सा पड़ा था। इतने में मेरी धमनियों में एक शक्ति का संचार होता हुआ प्रतीत हुआ। मुझे कुछ-कुछ जागृति हुई। मैंने अपनी आँखे खोलनी चाहीं, पर वे जरा-सी खुल कर पुनः स्वयमेव बन्द हो गईं—विस्मयान्वित हो कर, आनन्दोल्लसित होकर।

अहा! उस मे कितना तेज था, कितनी स्निग्धता थी, कितनी मनोहारिता थी। मेरी दुर्बल आँखें उसकी सौंदर्यराशि का उपभोग करने में असमर्थ थीं! पूरी तरह आँखें खोलकर उसका पूर्ण अवलोकन भी न कर सका। उसका दुर्लभ दर्शन मुझे अकस्मात् हुआ—विद्युत् की चमक की तरह हुआ।

उसकी एक ही रश्मि ने मेरी हृतन्त्री को झंकृत कर दिया। मैंने अभूतपूर्व सुख का स्वप्न देखा, स्वर्गीय आनन्द की कल्पना की और स्थूल जगत् की सीमा के परे आह्लादकारी दृश्य देखे। मुझे एक ही रश्मि मिल पाई थी। उसके पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ।

मैंने एक बार फिर अपनी आँखें खोलीं। किन्तु हा, इस बार बाल-सूर्य को अपनी ओर व्यंग की हँसी हँसते देखा। मैं खीझ उठा, व्यग्र हो गया। मैंने पुनः अपनी आँखें मूँद लीं। भय और आशंका से मेरा सारा शरीर काँप उठा। क्या वह रूठ कर चली गई!

दिन चढ़ रहा है। जीवन की घड़ियाँ एक-एक कर के

बीत रही हैं। भुवन-भास्कर मध्याकाश को सुशोभित करने के लिए दौड़े जा रहे हैं। किन्तु मैं निश्चेष्ट खड़ा हूँ—असह्य ताप से तप्त होता हुआ, अपनी आँखों में अश्रु-बिंदु भरे खड़ा हूँ। अब भी मेरी आँखें बन्द हैं, किन्तु आनन्दोद्रेक से नहीं, वरन् उसकी उन्मादकारिणी स्मृति से।

क्या ही अच्छा होता, यदि मैंने उसका पूर्ण रूप से दर्शन किया होता। उसके तेज और सौन्दर्य के सर्वहिम-समूह को अपने हृदय के कोष में रख लिया होता। किन्तु नहीं, आज मैं एकाकी निस्तब्ध खड़ा हूँ। आज मेरे साथ एक मात्र उसकी धुँधली स्मृति है। उसका दर्शन कितना क्षणिक था, एकांगी था, अपूर्ण था!

सूर्य के प्रखर तेज से मैं झुलसा जा रहा हूँ। भूख और प्यास से मेरा शरीर निष्प्राण हो रहा है। मेरी धमनियों में रक्त संचार बन्द होता जा रहा है। किन्तु मैं अब भी खड़ा हूँ—एक मात्र उसकी स्मृति के आधार पर, उसके चिन्तन का आनन्दोपभोग करते हुए। पर क्या मैं अपनी जीवन-लीला समाप्त करने के पहले अपने इन अतृप्त नेत्रों को फिर से एक बार खोल सकूँगा, उन्हे सफल कर सकूँगा?

"शिशु-हृदय"

साहित्य की दुनिया में—

क्षुद्र से महान् में

भारत के प्राणों के अन्दर, आज मुक्ति का जो सदेश गूँज रहा है, जो लहर चल रहा है, उसमें हमारा सर्वस्व नवजीवन के विद्युत् से अनुप्राणित होने के लिए विकल है। भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जो पीड़ा, जो वेदना आज अनुभव हो रही है, वह एक नूतन सृष्टि के पूर्व की प्रसव-वेदना है। समाज में राजनीति में साहित्य में—सर्वत्र एक सघर्ष मचा हुआ है, एक व्याकुलता दीख पड़ती है। यह तो निश्चय है कि यह व्याकुलता कुछ करना चाहती है। बहुतेरे मित्र और आचार्यगण घबड़ाकर इन परिवर्तन लानेवालों की 'उच्छृंखलता' की दोहाई दे कर उन्हें कोसते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि नूतन सृष्टि के पहले सदैव संहारक शक्तियों का काल आता है। वे यह भूल जाते हैं कि सघर्ष में जो कुछ असत् है, नाशमान है, अयोग्य है, वही नष्ट होता है। संघर्ष तो है ही इसलिए कि जो कुछ क्षुद्र है वह नष्ट हो जाय, जो महान है, वह रह जाय।

आज समस्त संसार, समाज, देश तथा साहित्य के स्थानीय वा क्षुद्र बन्धनों को तोड़कर एक दूसरे से मिलना चाहता है, एक होना चाहता है। एक मानव समाज हो, एक मानवी विश्व-धर्म हो, एक भाषा हो, एक साहित्य हो, इसके लिए सर्वत्र संघर्ष चल रहा है। दुनिया के जितने सुधार आन्दोलन हैं, सब इस प्रेरणा के छोटे-बड़े साधन-यंत्र बनकर विश्वात्मा को आत्मार्पण करने के लिए विकल हो रहे हैं। भारतीय और विशेषतः हिन्दी-साहित्य में यह विकलता आज बहुत स्पष्ट रूप में फैलती जा रही है। अभी तक केशव, दास, बिहारी, तुलसी और बहुत हुआ तो मम्मट, गोवर्धन, कालिदास एवं भवभूति इत्यादि दो चार हिन्दी और संस्कृत के आचार्यों एवं कवियों तक ही हमारे साहित्य का दायरा महदूद था। अब हमने अपने समाज में शेक्सपियर और गेटे, दान्ते और इब्सन, नगोची और रोमाँ रोलाँ, शा और गोर्की को भी मिला लिया है। इस का फल यह हुआ है कि हमें साहित्य की अपनी पहले की व्याख्या और परिभाषा बदलनी पड़ रही है—अधिक विस्तृत, अधिक उदार संसार का निर्माण करना पड़ रहा है। इस से जो प्राचीनतावादी हैं, जो अपने को अपने तक और दूसरों को दूसरों तक ही रखना चाहते थे, नये प्रवाह में न बह सकने वा बहुत लम्बे मार्ग से घबड़ा जाने के कारण, इन बातों का विरोध कर रहे हैं। इसका दूसरा भी एक परिणाम हुआ है। क्षुद्र में जो चीजें बड़ी दिखाई पड़ती थीं, सीमा विस्तृत हो जाने के कारण वही आज छोटी दिखाई देने लगी हैं। यही कारण है कि नवीन प्रवाह के साथ जो चल रहे हैं उन्हें पहले के महारथी गण सन्तुष्ट करने में असमर्थ हो रहे हैं। पहले के सकुचित ससार में वे बहुत बड़े दिखाई पड़ते थे, आज न रहे। अनुपात के बढ़ जाने से परिमाण में लघुता आनी ही है। यही बातें जब नये पथिक कहते हैं तो गलतफ़हमी के कारण पुराने लोग नाक भौंह

करा आह्वान करते हैं—आजाओ, होजाय दो पकड़। इस प्रकार का निर्णयकारी साधन पराजय का अन्तिम लक्षण है—विपक्षी का क्रोध और झुँझलाहट अपनी विजय का श्री-गणेश है। इस प्रकार के परिवर्तनों का जगत् में सदैव विरोध हुआ है, इसमें कोई नई वा तर्क करने की बात नहीं है। सारे विरोधों और असत्य बातों के बीच भी क्षुद्र से महान् में अपने को बदलने का यह प्रयत्न सफल होगा और हो रहा है—क्योंकि क्षुद्र कभी विजयी नहीं होता, जो महान है, वह रह जाता है!

* * *

रूसी छाया-चित्र

विगत दस वर्षों के अन्दर जहाँ रूस ने अन्य अनेक क्षेत्रों में उन्नति की है, वहां फिल्मों के निर्माण-सम्बन्धी व्यवसाय में भी काफ़ी तरक्की हुई है। अभी कुछ ही दिन हुए सीलिया सिम्पसन ने रूस की यात्रा के बाद 'दि स्पेक्टेटर' में लिखा था—For the Russian film industry, although of course it is still in its healthy experimental stage, has already achieved a standard of production rarely excelled by even the best German films.'

अर्थात्, रूसी फिल्म-व्यवसाय यद्यपि अभी अपनी स्वस्थ प्रायोगिक अवस्था में ही है, फिर भी उसकी उपज की व्यवस्था इतनी उन्नत हो चुकी है कि सर्वश्रेष्ठ जर्मन फ़िल्में भी उससे अधिक उन्नत उदाहरण बहुत कम पेश कर सकती हैं।"

'अक्टोबर' नाम की एक फ़िल्म पिछले वर्ष, सोवियट शासन के दशम वार्षिकोत्सव के लिए बनाई गई थी। इसमें पेशेवर नटों के स्थान पर किसानों एवं देशभक्त नेताओं ने अभिनय किये थे। अरल प्रान्त के एक ग्रामवासी किसान ने लेनिन का और ट्राटस्की ने स्वयं अपना पार्ट किया था। इसमें कैसी सादगी थी! देखते हुए मालूम पड़ता था, मानो देश के जीवन के सच्चे दृश्य देख रहे हैं!

जनता में व्यवसाय एवं देशी उद्योग-धन्धों के प्रति अनुराग उत्पन्न करने के लिए कितनी ही फ़िल्में तैयार कराई गई हैं, जो सर्वत्र, प्रचार की दृष्टि से प्रायः मुफ्त दिखाई जाती हैं। किसानों को समझाने के लिए आदमी नियुक्त रहते हैं। इन फ़िल्मों के द्वारा बड़ा काम हो रहा है। जनता में शिक्षा का प्रचार बढ़ता जाता है और वह देश के सम्पूर्ण आन्दोलनों से वाक़िफ़ रहती है।

भारत के फिल्म-व्यवसाय का कब ऐसा सदुपयोग होगा?

* * *

उपनामों का दुरुपयोग

मुंगेर (बिहार) के उत्साही लेखक श्री नृसिंह पाठक ने हमारा ध्यान हिन्दी-जगत् में बढ़ते हुए उपनामों के दुरुपयोग की ओर आकर्षित किया है। उनका कहना है कि 'मैं 'अमर' नाम से बहुत दिनों से कवितायें लिखता रहा हूँ, अब दूसरे किसी सज्जन ने भी 'अमर' नाम रख लिया है। × × × इस प्रवृत्ति से भविष्य में अनेक प्रकार की गड़बड़ी उत्पन्न होने का डर है।'

मैं स्वयं इस प्रकार की ज़बर्दस्ती का शिकार हो रहा हूँ। अनेक सज्जनों ने विगत ३-४ वर्षों के अन्दर 'सुमन' नाम से कवितायें करनी शुरू कर दी है। इन्हें क़ानूनन रोका नहीं जा सकता पर जो लेखक या कवि होने का दावा करते हैं, उनपर समाज एवं साहित्य के प्रति एक नैतिक ज़िम्मेदारी भी होती है। अतएव उन्हें उन उपनामों का मोह छोड़ देना चाहिए, जो दूसरों के द्वारा उनके पूर्व ही अपनाये जा चुके हों। व्यथित-हृदय सुमन नाम से एक सज्जन इस सम्बन्ध में बड़ा अनर्थ कर रहे हैं। 'माधव' 'नवीन' इत्यादि उपनामों के भी कई कवि पैदा हो गये हैं। खण्डवा के 'कर्मवीर' ने इस कुप्रवृत्ति का विरोध भी किया था, पर किसी ने ध्यान न दिया। दो समान-उपनामधारी कवियों में जो पहले से लिख रहा है, नैतिक दृष्टि से उसका ही उस उपनाम पर अधिकार है। पीछे से जिन्होंने अपना लिया है, उनको हठ छोड़कर नये उपनाम रखने चाहिए। कोष में शब्दों की कमी नहीं है।

आशा है, इधर सुकविगण ध्यान देंगे।

'सुमन'

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है। एक प्रति आने पर आलोचना न हो सकेगी। प्रत्येक पुस्तक का साहित्य-सत्कार तो उसी अंक में हो जाया करेगा—आलोचना, यदि हुई तो, सुविधानुसार बाद में होगी।]



अथर्ववेद-हिंदी-भाष्य

(भाग १)

भाष्यकार—पं० जयदेव शर्मा, विद्यालंकार। प्रकाशक—आर्य साहित्य मंडल, अजमेर। पृ० सं० ७७७। कागज और छपाई अच्छा। सजिल्द। मूल्य ४)

वेद हिन्दू-जाति के सबसे अधिक प्राचीन और सबसे अधिक महत्वपूर्ण धर्मशास्त्र हैं। संसार के पुस्तकालय में भी वेदों से अधिक प्राचीन कोई ग्रन्थ विद्यमान नहीं दीखता। हिन्दू-जाति की तो वेदों में इतनी श्रद्धा है कि इसके कई दार्शनिक आचार्यों ने ईश्वर के अस्तित्व से तो इन्कार कर दिया, परन्तु उन्हें वेद-विरुद्ध प्रचार करने का साहस नहीं हुआ। उन्होंने भी वेद को प्रमाण-ग्रन्थ माना। काल-प्रवाह के प्रभाव से हमारे अनन्त प्राचीन साहित्य के साथ बहुत-सा वैदिक-साहित्य भी नष्ट हो चुका है। आज-कल उपलब्ध सब वेदभाष्यों में प्राचीन भाष्य आचार्य सायण का है। उवट महीधर-कृत भाष्य भी उपलब्ध होते हैं। परन्तु इन भाष्यों को और प्राचीन ब्राह्मणों एवं वैदिक कोष (यास्क-कृत निरुक्त) को देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनकी भाष्य-शैली में कहीं भारी त्रुटि अवश्य है। इन भाष्यों के पढ़ने पर वेदों में उस अगाध श्रद्धा का कोई कारण ज्ञात नहीं होता, जिसका निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेदों का भाष्य करते हुए सायण आदि के भाष्य को ही मुख्य आधार माना है। भारतीय नवयुग के आचार्य और वेदों के प्रगाढ़ विद्वान् महर्षि दयानन्द ने सायण आदि की भाष्य-पद्धति से भिन्न और निरुक्त तथा प्राचीन ग्रन्थों को आधार मानते हुए एक नवीन पद्धति से वेदों का भाष्य किया—एक भिन्न दृष्टि-कोण से वेदों का स्वाध्याय किया। ऋषि की दृष्टि बहुत अधिक व्यापक और उदार थी।

ऋषि ने वेदमन्त्रों में से केवल कर्मकाण्ड-परक अर्थ न देखकर व्यापक मानव-जीवन की सत्यताओं और जीव, ब्रह्म, प्रकृति, सृष्टि-रचना एवं सामाजिक, वैयक्तिक, धार्मिक और नैतिक कर्त्तव्यों का दर्शन भी उन वेदमन्त्रों की उस तह में छिपा देखा, जो वेदमन्त्र-गत शब्दों के यौगिक या मूल धातु जनित रूप में विद्यमान हैं। यह शैली प्राचीन ऋषियों की थी। उस शैली से वेद आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक और आधिब्रह्म आदि सब पक्षों के व्यापक नियमों को बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से दर्शाता है। उस शैली को स्पष्ट करते हुए पं० जयदेव जी ने भी ऋषि दयानन्द की पद्धति से ही अथर्ववेद का भाष्य किया है। इससे पहले भी योग्य लेखक सामवेद का सम्पूर्ण भाष्य कर चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका में लेखक ने क्या अथर्ववेद अर्वाचीन है? अथर्ववेद संहिता, अथर्ववेद के शाखा-भेद, अथर्ववेद में जादू-टोना आदि अनेक भ्रमपूर्ण और विवाद-ग्रस्त समस्याओं को युक्ति और प्रमाण देते हुए विद्वत्ता-पूर्वक सुलझाने का प्रयत्न किया है। लेखक का मत है कि पाश्चात्य विद्वानों का अथर्ववेद को अर्वाचीन कहना भ्रमपूर्ण है। अथर्ववेद जादू-टोनों की किताब नहीं है। प्राचीन अथर्ववेद-संहिता २० काण्डों की है, न कि १८ काण्डों की। इसके बाद विद्वान् ग्रंथकर्त्ता ने अथर्ववेद से समाज के वैदिक आदर्श पर, गृहस्थ-धर्म, कृषि, व्यापार, आयुर्वेद, विज्ञान, राजनीति, सदाचार आदि के उदाहरण देते हुए प्रकाश

डालने का प्रयत्न किया है। यह भूमिका विद्वानों के बहुत काम की चीज है।

भाष्यकार की भाष्य-शैली सरल और उत्तम है। प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में विषय, ऋषि, देवता और छन्द का निर्देश किया गया है। स्थल स्थल पर पाठ-भेद और ब्राह्मण गृह्यसूत्रों तथा अन्य प्रामाणिक ग्रंथों के वचन देने से भाष्य की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है। जो मन्त्र दूसरे वेदों में जहाँ आया है उसका प्रतीक भी दिया गया है। मूल मन्त्र देकर उसका सान्वय सरल हिन्दी में भाष्य किया गया है, जिससे सर्वसाधारण भी उसे समझ सकें। विवादास्पद स्थलों पर विभिन्न आचार्यों के मत देकर अपना मत रक्खा गया है। एक ही मन्त्र के विभिन्न अर्थों को अच्छी तरह दिखाया गया है। भाष्य प्रायः सभी दृष्टियों से अच्छा है और प्राचीन साहित्य के प्रेमी विद्वानों एवं हिन्दू शास्त्रों के स्नेहियों के काम की चीज़ है।

भारतवर्ष का इतिहास

(खण्ड १)

[गतांक से आगे]

आगे लेखक ने ब्राह्मण-कालीन शिक्षा, शिक्षणालय आदि पर लिखते हुए ब्राह्मणों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उस समय तक वेदों के सिवा इतिहास, भाषाशास्त्र (Philology), त्रिविध गणित, प्राकृतिक भूगोल (Physical Geography), खनिज-विद्या (Mineroloy), तर्क, आचार-शास्त्र (Ethics), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या (Zoology), ज्योतिष, राजनीति, सर्पविद्या आदि विषय पढ़ाये ही नहीं जाते थे बल्कि इन विषयों का बहुत उन्नत दर्जे तक विकास भी हो चुका था। चतुर्थ परिच्छेद में तत्कालीन राजनैतिक उन्नति का वर्णन करते हुए राजा-प्रजा के कर्त्तव्य और अधिकार, राजा का निर्वाचन और अभिषेक, शासन-पद्धति, दण्ड-सम्बन्धी नियम, दायभाग-सम्बन्धी राज-नियम, भूमि-कर-सम्बन्धी नियम आदि का दिग्दर्शन कराकर यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि तत्कालीन राजनैतिक उन्नति भी बहुत अधिक थी। यह अध्याय बहुत अधिक महत्व का है। इसको पढ़ने से यह अच्छी तरह मालूम हो जाता है कि यूरोपीय विद्वानों का यह दावा कि वर्तमान राष्ट्रीय विकास का जनक यूरोप है, बिलकुल निर्मूल है। पंचम परिच्छेद में ब्राह्मण कालीन सामाजिक संगठन, वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्य तथा अधिकार, समाज में स्त्रियों की स्थिति, शिष्टाचारादि विविध प्रकार की बातों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इसकी कोई स्थापना बिना आधार के नहीं की गई। प्रत्येक कथन के लिए पूरे प्रमाण दिये गये हैं। इस अध्याय के पढ़ने से तत्कालीन उन्नत सामाजिक स्थिति पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। द्वितीय भाग के अन्तिम षष्ठ परिच्छेद में जनता की स्थिति, तत्कालीन राज्यों, तत्कालीन देशों, नगर और ग्रामों का संक्षिप्त परिचय देने के बाद एक और महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठाया गया है कि 'क्या प्राचीन आर्य गो-मांस-भक्षक थे ?'

यूरोपीय इतिहासज्ञों और उनके अनुयायी राजेन्द्र-लाल मित्र, रमेशचन्द्रदत्त प्रभृति भारतीय विद्वानों ने इस बात को माना है कि प्राचीन आर्य गो मांस-भक्षक थे; परन्तु प्रस्तुत लेखक ने ब्राह्मणों के आधार पर ही इस मत का प्रबल विरोध किया है। लेखक का दृढ़ विश्वास है कि यूरोपीय विद्वानों ने ब्राह्मण-ग्रन्थों को न समझ कर ही उनके अयथार्थ अर्थ किये हैं। ब्राह्मणों में गौ को मारने वाले को बड़ा पापी बताया है और बौद्धायन सूत्र में उसके लिए प्राय श्चित्त बताया है कि वह छ मास तक तप्तकृच्छ्रव्रत करे। यूरोपीय विद्वान् संस्कृत के शब्दों की यौगिकता पर ध्यान न देकर केवल उन्हें रूढ़ि मान लेते हैं, इसलिए यह भ्रम होता है। श्री० रामदेवजी ने बहुत से ऐसे उदाहरण देकर अपने मत को अच्छी तरह पुष्ट किया है। इसी सम्बन्ध में एक विवाद श्री० चिन्तामण विनायक वैद्य और श्री सातवलेकर-जी में चला था, जो महात्मा गांधी ने 'नवजीवन' में प्रकाशित किया था। षष्ठ परिच्छेद में लेखक ने ब्राह्मणों, महाभारत, पुराणों, बाइबल तथा चाल्डियावालों के क्रैन्यूज टैबलेट और ग्रीक पुस्तकों से जल-प्लावन की कथायें देकर यह बताया है कि कथाओं की इतनी अधिक समानता से सिद्ध होता है कि कभी संसार की सभी जातियाँ एकत्र रहती होंगी।

तृतीय भाग में मनुस्मृति के काल पर विचार किया गया है। लेखक ने भिन्न-भिन्न विद्वानों की सम्मति तथा युक्तियाँ देकर मनुस्मृति ग्रन्थ के निर्माण को महाभारत और रामायण के निर्माण से पूर्व का माना है। महाभारत और रामायण में बहुत से श्लोक मनुस्मृति से लिये गये हैं। समय-समय पर मनुस्मृति में परिवर्तन होते रहे हैं। इस प्रसंग में लेखक ने एक बात बहुत ठीक लिखी है कि आधुनिक यूरोपीय विद्वान् किसी ग्रन्थ की एक भी आधुनिक बात देख कर सम्पूर्ण ग्रन्थ को अर्वाचीन मान लेते हैं; क्योंकि उनका प्रयत्न हर समय यही रहता है कि प्रत्येक घटना को अर्वाचीन सिद्ध किया जाय। ईसाई विद्वान् बाइबल प्रतिपादित सृष्टि-काल पर विश्वास करते हैं। वे उस ग्रन्थ की प्राचीन बात को देख कर यह कल्पना नहीं करते कि ग्रन्थ पहले बना होगा और पीछे से कोई बात बढ़ा दी गई होगी। मनुस्मृति में बहुत से ऐसे श्लोक भी थे, जो आज नहीं हैं, क्योंकि, अन्य ग्रंथों मे मनु के नाम से उद्धृत किये हुए बहुत से श्लोक मिले हैं, जिनकी संख्या करीब ३०० है। लेखक ने इसका समय महाभारत और रामायण से पूर्व ब्राह्मणों के बाद रक्खा है। लेखक का यह काल-निर्णय कहाँ तक युक्ति-संगत है, यह कहना कठिन है। रामायण और महाभारत का वर्त्तमान रूप बहुत पीछे बना है, इसलिए उनमे मनुस्मृति के श्लोक आने कठिन नहीं है। इस कल्पना का केवल एक आधार हो सकता है कि पुराणों में रघुवंश की वंशावली के अनुसार मनु राम से बहुत पूर्व हुए है और राम के बाद किसी प्रसिद्ध मनु का उल्लेख पाया नहीं जाता। इसलिए मनुस्मृति का सबसे प्राचीनतम रूप राम से सैकड़ों वर्ष पूर्व बना होगा। यह तो निश्चय है मानव-धर्म-शास्त्र पहले सूत्रों में था, श्लोक में पीछे से बना। जो भी हो, लेखक ने वर्त्तमान मनुस्मृति के आधार पर प्रक्षेप भाग को, जिसे उसने तर्क की कसौटी से प्रक्षिप्त समझा, छोड़कर तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर उसी तरह विचार किया है, जिस तरह ब्राह्मणों के आधार पर ब्राह्मण काल की। इस भाग में भी सामाजिक संगठन, आश्रम-व्यवस्था, स्त्रियों की स्थिति आदि सामाजिक, राजा, उसके कर्तव्य और अधिकार, मन्त्री-सभा, भिन्न भिन्न राजकीय परिषदों, शासन और प्रबन्ध, युद्ध, दण्ड और न्याय तथा मुद्रा आदि राजनैतिक बातों पर विस्तार से विचार किया गया है। लेखक की यह शैली रही है कि वह प्रत्येक वक्तव्य के साथ मूल ग्रन्थ का श्लोक अवश्य उद्धृत करता है, जिससे पाठक को विचार करने में पर्याप्त सुविधा होती है।

चतुर्थ काल में रामायण-कालीन इतिहास पर विचार किया गया है। यहाँ लेखक ने अपनी परिपाटी के अनुसार वैबर आदि यूरोपीय विद्वानों के इस मत का विरोध किया है कि रामायण की घटना आलंकारिक है। इस विषय पर यदि लेखक कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डालते तो अच्छा होता। बहुत से भारतीय विद्वान् भी रामायण आदि को आलंकारिक मानते हैं, जो वस्तुतः भ्रम ही है। संस्कृत शब्दों की यौगिकता और आलंकारिक पद्धति की बहुलता से बहुत से विद्वान् इस भ्रम में पड़ गये हैं। यदि यह केवल कथा होती, तो राम के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले कई स्थान तथा त्योहारों की सत्ता ही न होती। यदि आलंकारिक दृष्टि से ही सब घटनाओं को देखा जाय, तो रामायण ही नहीं, सम्पूर्ण जगत् का इतिहास आलंकारिक कथा हो जाय। इंग्लैण्ड का सफेद और लाल गुलाबों का युद्ध (War of Roses) तथा भारत का असहयोग-संग्राम सत्त्व और रजोगुण का युद्ध कहे जा सकते हैं। इसके बाद लेखक ने रामायण से तत्कालीन सामाजिक और भौतिक उन्नति पर विशेष प्रकाश डाला है। रामायण-कालीन भौतिक उन्नति—पुष्पक विमान, अयोध्या और लंका नगरी का अद्भुत निर्माण, भिन्न-भिन्न शस्त्रास्त्रों की रचना, सेतुबन्ध आदि—को देखकर आज से बहुत अधिक उन्नत गौरवपूर्ण भारत की याद आती है। रामायण की घटना भी दी गई है। वस्तुत यह ग्रन्थ राजनैतिक इतिहास नहीं, सामाजिक इतिहास—सभ्यता का इतिहास—है। इस भाग के अन्त में लेखक ने कई युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सम्पूर्ण उत्तर-काण्ड प्रक्षिप्त है, जिसमें वह सफल भी हुए है।

पचम भाग में महाभारत ग्रंथ का निर्माण, महाभारत-घटना का काल (जिसे उन्होंने ३१०० ई० पू० माना है)

और महाभारत की कथा संक्षेप से देकर इस खण्ड को समाप्त किया है।

ग्रन्थ के उपर्युक्त परिचय से पाठकों को यह मालूम हो गया होगा कि यह ग्रन्थ वर्तमान ऐतिहासिक जगत् में क्रान्ति करने वाला है। वर्तमान इतिहास का निर्माण जिन मूलों पर हुआ है और जिनका निर्देश हमने ऊपर किया है, उनपर विचार करते हुए लेखक का यह प्रयत्न बिलकुल मौलिक और क्रान्तिकारक है। इसीलिए इस ग्रन्थ का विस्तृत परिचय दिया गया है, ताकि पाठक लेखक के विचारों को जान सकें। यह सम्भव है कि पाश्चात्य ऐतिहासिकों के अनुयायी इन विचारों पर हँस दें, परन्तु लेखक की तर्कनाशैली और मौलिक पद्धति को देखकर एक बार अपने माने हुए सिद्धान्तों पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता जरूर मालूम होती है। इतिहास का दूसरा भाग भी इसी तरह क्रान्तिकारक और मौलिक है, जिसका परिचय फिर दिया जायगा।

कृष्णचन्द्र विद्यालंकार

सरल भारतीय शासन

लेखक—श्री भगवानदास केला। प्रकाशक—भारतीय ग्रंथमाला, वृन्दावन। पृ० स० १३२, मूल्य ॥)

श्री केलाजी अपने विषय के अनुभवी लेखक हैं। उनकी 'भारतीय शासन' पुस्तक का हिन्दी-संसार में पर्याप्त आदर हुआ है। प्रस्तुत 'सरल भारतीय शासन' 'भारतीय शासन' का ही सरल, संक्षिप्त और सुबोध संस्करण है। इसमें विषय के विवेचन के बदले उसका सरल वर्णन-मात्र दिया गया है। पुस्तक कुल १४ पाठों में विभक्त है। इनमें देश के शासन से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक बात का विवरण आ गया है। पुस्तक के अन्त में ५ उपयोगी परिशिष्ट भी दिये गये हैं, जिससे पुस्तक का महत्व बढ़ गया है। अन्त में पारिभाषिक शब्दों का संक्षिप्त शब्द-कोश भी जोड़ दिया गया है। संक्षेप में, पुस्तक को हर तरह उपयोगी और बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया गया है।

हमारी पाठशालाओं में व्यावहारिकता की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। वैसे देखा जाय तो प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को सुयोग्य नागरिक होना चाहिए, लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा हो नहीं रहा है। साधारण पढ़े-लिखे भाइयों को क्या और कई उच्च शिक्षितों को क्या, देश की शासन-व्यवस्था, राजनीति और नागरिकता के अधिकारों का कुछ नहीं के बराबर ज्ञान होता है। स्वराज्य के इच्छुक देश की यह अवस्था सन्तोष-जनक नहीं कही जा सकती। इसके लिए वर्तमान प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा प्रणाली में सुधार होना आवश्यक है। और उस सुधार के साथ प्रस्तुत पुस्तक जैसी पुस्तकों का पाठ्य-क्रम में सम्मिलित किया जाना वाञ्छनीय है।

लेकिन एक बात है। ऐसी पाठ्य-पुस्तकों का लक्ष्य विषय का परिचय-मात्र करा देना नहीं होना चाहिए। शिक्षा के साथ-साथ संस्कार का ख़याल भी पुस्तक की रचना के समय रक्खा जाय तो अच्छा हो। ख़ासकर उन पाठ्य पुस्तकों की रचना तो उक्त ढंग से ही होनी चाहिए, जो कोमल वय के बालकों और भाषा के सीखने वालों के हाथ में दी जानी हों। 'सरल भारतीय शासन' के निर्माण में इस बात का ख़याल नहीं रक्खा गया है, यह खटकता है। पुस्तक मे छापे की अशुद्धियाँ तो हैं ही, ऐसी अशुद्धियाँ भी हैं, जो व्याकरण की दृष्टि से आक्षेप-योग्य और व्यवहार में असम्बद्ध कही जा सकती हैं और जिनसे बालक पाठकों की दृष्टि का संस्कार जैसा होना चाहिए नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, सामासिक शब्दों का बहुधा अलग-अलग और कहीं एक साथ छापा जाना, एक ही शब्द को दो तरह लिखना—जैसे मदरास-मद्रास, और "ऐक्स्ट्रा ऐसिस्टण्ट" जैसे अंग्रेज़ी शब्दों का हिन्दी रूप।

उक्त त्रुटियों के अभाव में पुस्तक का महत्व अधिक बढ़ेगा, इसमें सन्देह नहीं। अपने वर्तमान रूप में भी पुस्तक का जितना प्रचार और आदर हो उतना अभीष्ट है।

गीता-डायरी

प्रकाशक—गीता-प्रेस, गोरखपुर। मूल्य ।), सजिल्द ।-)

१९२९ ई० की गीता-डायरी हमारे सामने है। पढ़े-लिखे काम-काजी भाइयों के लिए यह काम की चीज़ है। इसमें आरम्भ में धर्म, यम नियम, रेल यात्रा, डाक-घर, तार-घर, अदालत, आय-कर, गोपालन, प्रा० चिकित्सा, माप-

तौल के कोष्टक, घरेलू नुसखे, तथा अन्य उपयोगी बातों की अच्छी सूचनायें छापी गई हैं। आगे डायरी के प्रत्येक पृष्ठ पर गीता के दो-दो श्लोक भी छपे हैं, जिनसे अनायास गीता-पाठ का सुयोग प्राप्त हो सकता है। इस डायरी की यही सबसे बड़ी विशेषता है। अगर इसमें वर्ष-भर का पंचांग, जमा-खर्च के लिए कुछ पृष्ठ तथा यादृदाश्त के लिए १०-१२ पृष्ठ और जोड़ दिये जाते, तो इसकी उपयोगिता अधिक बढ़ जाती।

त्रिवेदी

कविता-कुसुम (प्रथम भाग)

सम्रहकार और प्रकाशक—श्री शंकरलाल मेहता, प्रधानाध्यापक मिडिल स्कूल, धरमपुरी (धार राज्य)। पृ० सं० ६८, मूल्य ।-)

प्रस्तुत पुस्तक ब्रजभाषा के चुने हुए पद्यों का संग्रह है। इस संग्रह का उद्देश्य है, मिडल के छात्रों को द्वितीय प्रश्न-पत्र के अध्ययन में सहायता पहुँचाना। संग्रह की विशेषता यह है कि इसमें ऐसा कोई पद्य नहीं आने पाया है, जिससे छात्रों की रुचि पर बुरा असर पड़े। संग्रहकार का प्रयत्न श्लाघ्य है। हिन्दी मिडल के विद्यार्थियों तथा ब्रजभाषा के पद्य-प्रेमियों को इस सुन्दर संग्रह से लाभ उठाना चाहिए।

दीक्षित

आर्यमार्तण्ड (ऋष्यङ्क)

सम्पादक—अध्यापक श्री सुधाकर, एम० ए०। प्रकाशक—आर्य-प्रतिनिधि-सभा, राजस्थान व मालवा, अजमेर। मूल्य ।=)

इसमें सन्देह नहीं कि इस अंक को निकालने में प्रतिनिधि सभा को काफी सफलता मिली है। लेखक प्रायः सभी विद्वान् और प्रतिष्ठित हैं। इस अंक के पूरे पढ़ जाने से महर्षि की महत्ता के साथ ही वर्त्तमान आर्य-समाज की कुछ कमी अथवा भूलों का भी ज्ञान होता है।

सारा अंक पठनीय है। छपाई सफ़ाई सुन्दर है, चार रंगीन चित्र भी हैं।

'आँखोंवाला'

साहित्य-सत्कार

हिन्दी

१—लगन—लेखक—श्री वृन्दावनलाल वर्मा। प्रकाशक—श्री अयोध्याप्रसाद शर्मा, स्वाधीन प्रेस, झाँसी। पृ० सं० ११५, मूल्य ॥।)

२—सुन्दर सरोजनी—लेखक और प्रकाशक—श्री प० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय बनारस पृ० स० १३१, मूल्य ॥)

३—नागरिक शिक्षा—लेखक—श्री भगवानदास केला। प्रकाशक—भारतीय ग्रन्थमाला, वृन्दावन। पृ० स० १२०, मूल्य ॥)

४—भावना—लेखक—श्री स्वामी आनन्द भिक्षु सरस्वती। प्रकाशक—वही। पृ० सं० २१२, मूल्य ॥।=)

५—लेखाञ्जलि—लेखक—श्री पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी। प्रकाशक—हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, २०३, हरिसन-रोड, कलकत्ता। पृ० सं० १९६, मूल्य १॥)

६—पगली—लेखक—श्री वियोगहरि। प्रकाशक—वही। पृ० सं० १३१, मूल्य १)

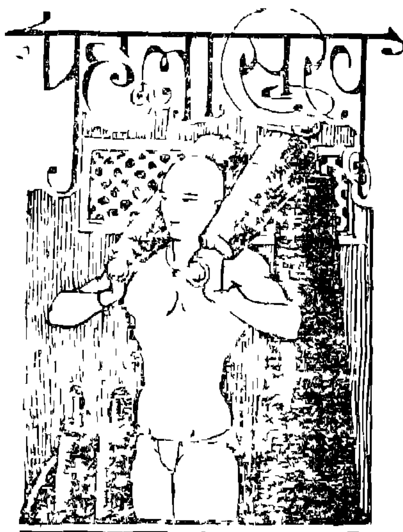
अंग्रेजी

Soviet Russia—लेखक—पण्डित जवाहरलाल नेहरू। प्रकाशक—लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। पृ० सं० १९९, मूल्य ३)

पत्र-पत्रिकायें

सुधा—(साहित्य संख्या नं० २)—प्रधान सम्पादक—श्री पद्मसिंह शर्मा। सम्पादक—श्री दुलारेलाल भार्गव, श्री रूपनारायण पाण्डेय, श्री नन्दकिशोर तिवारी। प्रकाशन स्थान—लखनऊ।

चारण—सम्पादक—श्री ठाकुर किशोरसिंह बार्हस्पत्य एम० आर० ए० एस०। प्रकाशन-स्थान—शान्ति प्रेस, शीतला गली, आगरा। पृ० सं० २४, मूल्य २)



सौर-चिकित्सा

सूर्य की रश्मियों से रोग दूर करने और स्वास्थ्य प्राप्त करने की प्रणाली का अंग्रेजी नाम हिलियोथैरापी (Heliotherapy) है। इस विश्वास का आधुनिक संसार में दिन-प्रति-दिन अधिक प्रचार हो रहा है कि सूर्य की रश्मियों से मनुष्य सबसे अधिक परिमाण मे जीवन-शक्ति ग्रहण कर सकता है। सूर्य से ही समस्त संसार की स्थिति है। जैसे वनस्पति-वर्ग सूर्य से शक्ति पाकर पनपते हैं, वैसे ही मनुष्य भी सूर्य की किरणों से अमित जीवन ले सकता है। इस मत के माननेवालों का हाल में एक सम्मेलन जेनेवा नगर में अन्तर्राष्ट्रीय-संघ के ही उद्देश्यों से प्रेरित होकर किया गया था। उसमें इस बात का पुन विशेष रीति से प्रतिपादन किया गया कि सौर-चिकित्सा मनुष्य के लिए बड़ी कल्याणकारक है। साथ ही एकत्र हुए वैज्ञानिकों ने एक बात यह भी कही कि इस चिकित्सा-विधि का प्रयोग वैज्ञानिक रीति से शिक्षा पाये हुए लोगों को ही करना चाहिए। अपने आपको चिकित्सक कहने-वाले अर्ध-शिक्षित और कुशिक्षित मनुष्यों के हाथों इस चिकित्सा-विधि को बड़ी आशंका है। ये लोग अपने अज्ञान के कारण लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँचा देते हैं। सूर्य का रश्मियों का उपयोग करते हुए इस बात का ध्यान रखना बड़े महत्व का है कि कहीं एकदम बहुत ज्यादा परिमाण मे रश्मि-ताप त्वचा के ऊपर न पहुँचा दिया जाय। जिस प्रकार अन्य औषधियों का प्रयोग मात्रा में किया जाता है, उसी प्रकार सूर्य रश्मियों की भी मात्रा रोगी और रोग की स्थिति के अनुसार घटानी बढ़ानी चाहिए। वैज्ञानिकों ने कई प्रयोग स्वय करके बताये, जिनमें रोगी को चिकित्सारम्भ से पहले कई दिन तक बन्द कमरे में रक्खा गया, जिससे उसकी त्वचा रश्मि-बुभुक्षित हो उठी। फिर उसकी देह के चवन्नी-भर भाग पर किरणें डाली गईं। इस प्रकार नित्य स्थान और किरणों का परि-माण बढ़ाया गया। इस रीति से जो आश्चर्य-जनक लाभ देखा गया, वह पहले कभी नहीं हुआ था। डाक्टरों के मत में यूरोप मे स्विटजलैंण्ड सौर-चिकित्सा के लिए सबसे अच्छा स्थान है। पर सामान्यतया जहाँ भी संसार मे सूर्य है (और सूर्य कहाँ नहीं है?) वहीं इस प्रयोग से मनुष्य लाभ उठा सकते हैं।

सूर्य की किरणें जब सतरंगो पट्टी (स्पैक्ट्रम) में डाली जाती हैं, तो वे सात रंगों में बिखर जाती हैं। ये सात रंग ही सूर्य्य के रथ के सात 'हरित्' रंग के घोड़े हैं। सातों रंगों का जो सम्मेलन है, वह हरित् वर्ण ही है। परन्तु कितने ही रंग ऐसे हैं, जो इस वर्ण-दर्शक यन्त्र में दिखाई नही देते। वे बन्धन से परे हैं। उनका नाम 'अल्ट्रा वायलट्' और 'इन्फ्रा-रैड' है। उनको धारणा करने वाली किरणें भी इसी नाम से विख्यात हैं। इन किरणों को असित (अ + षिञ् बन्धने + क्त) अर्थात् बन्धन में न आने वाली अदृश्य कह सकते हैं। इन अल्ट्रा-वायलट् या असित रश्मियों में ही सूर्य की समस्त रासायनिक परि-वर्तन की (Actinic) शक्ति छिपी हुई है।

ये रश्मियाँ मनुष्य के लिए अमृत हैं। इनकी रोग निवारिणी शक्ति बहुत अधिक है। सूर्य की संज्ञा 'सहस्रांशु' है। उसमें अभी न जाने कैसी-कैसी चमत्कारिक रश्मियों का भण्डार है। सूर्य को हिरण्यपाणि भी कहते हैं। हिरण्य (सोने) के समान दीप्तिमन्त किरणों का जाल इन्फ्रारैड किरणें हैं।

प्राचीन आर्यों ने सूर्य की किरणों के महत्व का बहुत अच्छी तरह अनुभव किया था। सूर्य की महिमा अनेक मन्त्रों में है। प्राकृतिक चिकित्सा-विधि के पण्डित चाहें तो इन सूर्य-परक मन्त्रों से सौर ज्ञान का बहुत कुछ अंश प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य सविता है' संसार में प्रेरणा करने का गुण (urging to action) सूर्य के समान और कहीं नहीं है। सूर्य के अभाव में हम सो जाते हैं। सूर्य के निकलने पर हम बिना किसी के कहे ही उठने की इच्छा का अनुभव करते हैं। सवितत्व-गुण सूर्य में सदा वर्तमान रहता है। जहाँ प्रमाद आलस्य और तन्द्रा होती है वहाँ सवितृत्व का अभाव हो जाता है। तन्द्रा अस्वस्थता का लक्षण है। इसलिए पुनः स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए हम सूर्य की सविता के रूप में उपासना या उपस्थान करते हैं। सूर्य के सम्मुख प्रातःकाल बैठकर उसे 'देव सवितः' कहकर सम्बोधन करते हैं। उस सविता के वरेण्य भर्ग (ग्रहण करने के योग्य तेज) का ध्यान करते हैं, जिससे हमें चोदना शक्ति (Auto-suggestion) प्राप्त हो। सूर्य स्वयं भगवान् है। उसमें तेज और ऐश्वर्य भरा हुआ है। यही हम चाहते हैं।

सूर्य की सबसे बड़ी प्रशंसा एक मन्त्र में इस प्रकार है—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥

यह एक आश्चर्य है, महदाश्चर्य है, कि देवों का मुख निकल आया। मित्र (प्राण), वरुण (अपान), अग्नि (समान) का चक्षु (प्रकाशक) निकल आया। चारों ओर से भर रहा है, देखो यह भरता चला जाता है, द्युलोक और अन्तरिक्ष को, जो सब चर और अचर सृष्टि का आत्मा है।

सूर्य निखिल प्राण-शक्ति का स्रोत है। शरीरस्थ प्राण आदि वायु सूर्य से ही स्व-कार्य में समर्थ होते हैं। द्युलोक और पृथिवी का उदर भाग रात को प्राण से रीता हो जाता है। प्रातःकाल उदय होता हुआ सूर्य उसको भरने लगता है। वह सूर्य स्थिर और अस्थिर सबकी आत्मा है। हमारे शरीर में प्राण मुख्य देव है। इसके उत्क्रान्त होने (निकल जाने) पर और देव उत्क्रान्त हो जाते हैं। उस प्राण का चक्षु सूर्य है। फिर अथर्ववेद के पृथ्वी-सूक्त में लिखा है—

उद्यन्त्सूर्यो मर्त्येभ्योऽमृतं रश्मिभिराजनीति ।

अर्थात्, हम लोग मर्त्य (मरणधर्मा) हैं, हमारे लिए उदय होता हुआ सूर्य अपनी किरणों से अमृत बाँटता है। मर्त्य और अमृत इन दो शब्दों का गहरा सम्बन्ध है। वेद में अमृत-विद्या एक महत्व की विद्या है। किन-किन पदार्थों से हमें अमृत मिल सकता है इसकी खोज अमृत विषय के सब मन्त्रों का समन्वय देखने से की जा सकती है। अमृत का तात्पर्य है शारीरिक अमरता (Physical immortality)। यद्यपि आत्मज्ञान से भी अमृत प्राप्त हो जाता है, पर उसका भाव यह है कि मनुष्य आत्मा के सच्चे स्वरूप को जान लेने पर मरने के भय से छूट जाता है, वह मृत्यु को एक स्वाभाविक क्रिया समझता है। मृत्यु एक अवस्थान्तर मात्र है, एक वस्त्र को त्याग कर दूसरे वस्त्र का पहन लेना मात्र है। ऐसी भावना आत्मज्ञानी के मन में चौबीसों घण्टे सोते-जागते बनी रहती है। परन्तु सूर्य की रश्मियों से अमृत ग्रहण करने का जहाँ ज़िक्र है वहाँ शारीरिक अमरता से ही तात्पर्य है। हमारे शरीर में जितने घटकावयव (Cell) हैं, वे सब विकास और ह्रास इन दो नियमों के अधीन हैं। जिन उपायों से शरीर के घटकतन्तु बढ़ते और सचेत होते हैं वे सब अमृतत्व की प्राप्ति के साधन हैं। यदि हम वृद्धावस्था तक प्राकृतिक रीति से जीवन व्यतीत करते हुए अपने शरीर के घटकावयवों और तन्तुओं को सदा चैतन्य युक्त रख सकें और उनकी स्फूर्ति का नष्ट न होने दें तो अन्तिम साँस तक हम अमृत का पान करते रहेंगे। जरा (वार्धक्य) एक व्याधि है, मृत्यु उस व्याधि का अन्तिम परिणाम है। मृत्यु व्याधि का कुपिततम अवस्था ही है, वह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। अनेक मनुष्यों को युवावस्था में ही जरा चिन्ह पकड़ लेते हैं। होता यह है कि उनके शरीर का 'तनूनपात्' अग्नि की संरक्षण-शक्ति रोग के आक्रमण करने वाले कीटाणुओं के आगे हार जाता है। इसलिए जरा-रूप व्याधि अकाल में ही उन्हें धर दबाता है। जीते हुए भी वे मृत्यु के आयाम-प्रसारित पाश में पड़ जाते हैं। शरीर में बढ़ने की तथा मृत्यु और विनाश के कीटाणुओं को निकालकर शुद्धि करने की क्रिया प्रकृति ने ही रक्खी है, जिसे अंग्रेज़ी में

'मैटेबोलिज्म' कहते हैं। यही 'तनूनपात' अग्नि है, जो इस देह को सावधानी के साथ एक क्षणभर के लिए भी गिरने नहीं देती—अर्थात्, कैटेलिसिस नाम की शरीर-नाशक प्रवृत्ति से उसकी रक्षा करती है। यदि मनुष्य सदा अपनी 'तनूनपात्' अग्नि के 'भर्ग' को सुरक्षित रख सके, तो वह इसी भौतिक शरीर से अमर हो सकता है। इन्हीं रहस्यों को जानना अमृत-विद्या की प्राप्ति है, और इन नियमों का पालन कर लेना साक्षात् अमृत की प्राप्ति है। सूर्य की रश्मियाँ नित्य इस प्रकार का एक अमृत का घट अपनी पद्मराग शलाका निर्मित बहँगियों में लाद कर लाती हैं। जो उस बटते हुए अमृत को लेने की पर्वाह करते हैं, उनके घरों में वे सूर्य की योषा (किरणें) उसे बाँट जाती हैं। उषा-सूक्त में उषा से कहा गया है 'हे देवी उषे! तुम्हारे आगे-आगे अमृत देनेवाली धेनु सविन चलती हैं।' जो उनके होते हुए अमृत दुग्ध को पी लेते हैं, वे ही अमर होजाते हैं।

इस प्रकार अनेक वैदिक मन्त्रों में सूर्य की रश्मियों मे पाये जानेवाले अमृत का विस्तृत वर्णन है। कितने ही स्थान पर सूर्य को प्राण की बड़ी बैटरी की तरह कहा गया है। ऋषियों ने इस मर्म को समझ कर सूर्य के सम्मुख गायत्री मन्त्र जपने का उपदेश किया है।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि

इसमें 'धीमहि' अर्थात् हम ध्यान करते हैं, यह पद मनोविज्ञान की आत्म-निवेदन-क्रिया की ओर संकेत करता है। जिन सज्जनों ने मा० कुई की Auto-suggestion प्रणाली का नाम तथा परिचय सुना है वे समझ सकते हैं कि धीमही पद में कितना जोर भरा है।

इन सब प्रमाणों को दिखाने से हमारा तात्पर्य यह है कि सौर-विधि से लाभ उठाने के लिए हमारे नित्य कर्मों में ही कितनी गुञ्जाइश है। हमारे पूर्वज इन उपायों को काम में लाते रहे। हम लोग सन्ध्योपासन की रीति से अथवा गायत्री-जाप के लिए तथा प्राणायाम के लिए सूर्योपस्थान करके हीलिओथैरापी से लाभ उठा सकते हैं। अपने यहाँ के पुराने माल का नये लेबिल के लग जाने से ही मूल्य समझ लेना भी बुद्धिमानी ही है।

वासुदेवशरण अग्रवाल

अन्न की कमी से शरीर की हानि

मनुष्य-शरीर की बढ़ती, उसकी तन्दुरुस्ती और दृढ़ता के लिए कुछ खास पोषक तत्त्वों की जरूरत रहती है। जब ये पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलते, तब मनुष्य-शरीर की बाढ़ रुक जाती है और वह कई तरह के रोगों का घर बन जाता है। इस सम्बन्ध मे वैज्ञानिकों ने कुछ प्रयोग किये हैं और उनमें वे सफल भी हुए हैं। लेफ्टिनेण्ट-कर्नल आर० मैक-कैरिसन ने कुनूर की "पाश्चर इन्स्टिट्यूट" मे चूहों, बिल्लियों, बन्दरों आदि मूक जानवरों पर शास्त्रीय पद्धति द्वारा अन्न के अनेक प्रयोग करके यह सिद्ध किया है कि भारत के लोगों को अपने शरीर की बाढ़ के लिए जरूरी पौष्टिक तत्त्वो वाला अन्न काफी तादाद में खाने को नहीं मिलता, इसी कारण वे दुर्बल, जर्जर और रोगों के घर बन रहे हैं। कर्नल महोदय को अपने इन प्रयोगों मे और भी कई महत्त्व की बातें मालूम हुई हैं। पोषक अन्न की कमी या अभाव के मानी उपवास करना अथवा आधे पेट खा कर रह जाना नहीं है। सम्भव है कि लोगों को काफ़ी अन्न मिलता हो। परन्तु यहाँ सवाल तो यह है कि जो अन्न मनुष्य खाता है उसमे पर्याप्त पोषक तत्त्व भी रहते हैं या नहीं? अन्न खाकर मनुष्य में नया जीवन, नई स्फूर्ति और नूतन उत्साह पैदा होता है या नहीं? डाक्टर मैक-कैरिसन ने इस सवाल को हल करने में खूब मेहनत की है।

इस सम्बन्ध में उन्होने अपने सारे प्रयोग आरम्भ में उपर्युक्त जानवरों पर किये। उन्हें अलग-अलग रख कर भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न खिलाये जाते और प्रयोग के आरम्भ में तथा फिर तीन महीने बाद उन्हें तौला जाता था। इस तरह के सूक्ष्म प्रयोगों और अनुभवों के बाद डाक्टर साहब इस नतीजे तक पहुँचे हैं कि भारतीय स्त्री-पुरुषों की बढ़ती हुई कमजोरी और क्षीणता का कारण योग्य पौष्टिक अन्न का अभाव है। भारत के सिवा दुनिया के और किसी देश की ऐसी बुरी हालत नहीं है। भारत की भिन्न-भिन्न जातियों की ओर दृष्टिपात करने से यह भेद जल्दी ही स्पष्ट हो जायगा। जल-वायु की भिन्नता का भी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ महत्त्व है। परन्तु हमारी तथा कलकत्ता में कर्नल मैक-कैरि-

सन की खोज के फल-स्वरूप यह बात तो स्पष्टतया निश्चित हो चुकी है कि शरीर की दुर्बलता का मुख्य कारण पोषक अन्न की कमी है। हमने अपने यहाँ चूहों पर प्रयोग करके यह बात सिद्ध की है कि जुदी जुदी तासीर के प्राणियों पर कुछ खास-खास अन्नों का प्रयोग करने से उनमें के दोष दूर हो जाते हैं।

यह तो ऊपर कह ही दिया गया है कि भरपूर अन्न के मानी पोषक अन्न नहीं हैं। इस सम्बन्ध में उक्त प्रयोगशाला में चूहों पर कुछ प्रयोग किये गये। थोड़े से चूहों को सादा और मामूली अन्न दिया गया। इस अन्न में 'विटामीन बिल्कुल नहीं होता था। इसका फल यह हुआ कि जानवर जिन्दा-भर रहे, उनकी बाढ़ नहीं हो पाई। भारत के एक बड़े हिस्से में लोगों का एक मात्र आहार चावल हैं। गेहूँ की अपेक्षा चावल हर दृष्टि से घटिया अन्न है। अत इनके खानेवालों की तन्दुरुस्ती में फर्क होगा ही। गेहूँ में चावल की अपेक्षा ज्यादा पोषक द्रव्य रहते हैं। प्रयोगशाला में इसपर भी प्रयोग किये गये। भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के चूहे इकट्ठे किये गये। ये चूहे समान-उम्र और समान-वज़न के थे। इन्हें वही अन्न दिया गया जो उन-उन प्रान्तों में खाया जाता है। नतीजा यह निकला कि सिख पठान और मराठों का अन्न अपेक्षाकृत अधिक बलिष्ठ और पौष्टिक होता है। बंगाली और मद्रासी बहुत हलके दर्जे के सिद्ध हुए। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोगों की अन्न-पूर्ति में, दूध, मक्खन या मांस मिला देने पर यह भी अनुभव हुआ कि केवल भात खाने वालों का शरीर सुधरने लगता है।

नि:सत्त्व अन्न के सम्बन्ध में दूसरा अनुभव बड़ा ही विचित्र रहा। जहाँ-जहाँ नि:सत्त्व अन्न खाया जाता है वहाँ कोढ़ के समान भयकर रोग अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। उत्तरीय बगाल, मद्रास प्रान्त और पंजाब में ऐसे रोगों की संख्या बहुत थोड़ी है। पजाब की अपेक्षा मद्रास में ४० प्रति सैकड़ा अधिक लोग हैज़े के शिकार बनते हैं, यह इसी निःसत्त्व अन्न के कारण।

समान-वजन के चूहों की दो टुकड़ियों में से एक को पौष्टिक अन्न दिया गया और दूसरी को सत्त्वहीन। प्रारम्भ में दोनों का वज़न २,५०० ग्राम था। कुछ दिनों बाद जब जाँच की गई तो पता चला कि पौष्टिक अन्न खानेवालों में १७ जिन्दा हैं और २,५०० ग्राम वज़न के बजाय वे इस बार तौल में ३,१६० ग्राम उतरे। सत्त्वहीन अन्न खानेवालों में ११ जिन्दा रहे और उनका वजन घट कर केवल १,३०० ग्राम रह गया। इस और ऐसे ही अनेक प्रयोगों के द्वारा यह बात सिद्ध हो चुकी है कि भरपूर अन्न की अपेक्षा लोगों को पौष्टिक अन्न अधिक चाहिए।

भारत में खान-पान की जो रीति अबतक चली आई है उसे एक-दम बदल डालना तो टेढ़ी खीर है, फिर भी अगर धीरे-धीरे भोजन के पौष्टिक साधनों में परिवर्तन होता रहे तो हमें विश्वास है कि देश की तन्दुरुस्ती में आशाप्रद उन्नति हो सकेगी।

'झोलीवाला'

छुट्टियाँ शक्ति की जननी हैं!

सुप्रसिद्ध शरीर-शास्त्रज्ञ महाशय बरनर मैकफैडन अपने एक लेख मे लिखते हैं—

छुट्टियों का उपयोग किया जाना चाहिए। उनसे शरीर और मन को सुदृढ़ बनाने और उन्हें शक्ति में अनुप्राणित करने में सहायता लेनी चाहिए।

लगातार वर्षभर एक ही तरह का काम करने के बाद मनुष्य के लिए छुट्टी या अवकाश आवश्यक हो जाता है।

इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री श्री ग्लेडस्टन ने एक बार कहा था कि काम में हेर फेर करना आराम का सबसे अच्छा तरीका है।

छुट्टियों का समय शरीर और मन के लिए शक्ति-संचय का समय है। मनचाहा और उपयुक्त उत्कर्ष पाने के लिए महत्त्वाकांक्षा और उत्साह दो जरूरी चीजे हैं। इसके लिए शारीरिक स्फूर्ति की जरूरत है और शारीरिक स्फूर्ति के लिए ऐसे स्वास्थ्य की जरूरत है जिसका पाचन अच्छा हो, स्नायु बलिष्ठ हों और शरीर सिर से पैर तक सुदृढ़ हो।

अगर तुम अपने देश के महत्वपूर्ण अंग बनना चाहते हो तो अपने शरीर और मन को सम्पूर्ण बनाओ—उसके लिए 'सेन्ट पर सेन्ट' पूर्णता प्राप्त करो।

त्रिवेदी



पूर्ण या आंशिक स्वतंत्रता

देश के सम्मुख इस समय एक जबर्दस्त समस्या उपस्थित है; और वह है, पूर्ण या आंशिक स्वतत्रता की। देश के समस्त जिम्मेवार नेता और जागृत नवयुवक इस समस्या के कारण अत्यन्त चिन्तित हैं और हर तरह की दलबन्दी एवं मतभेद को मिटा-कर एक सर्व-सम्मत निर्णय पर पहुँचने के लिए आकुल हैं। आशा है, ऐसे समय आयर्लैण्ड की स्वतंत्रता के लिए लड़ने वाले वारवर मैक्स्विनी के निम्नलिखित उद्गार हमारे देश के युग-निर्माताओं के मार्ग-दर्शक होंगे—

"हम स्वतत्रता के लिए लड़ रहे हैं न कि सांसारिक लाभ या सुख की आशा से। हम इसलिए लड रहे है कि मनुष्य की उदार वृत्तियाँ उसे बाध्य करती है कि वह स्वतन्त्रता का अपना स्वत्व प्राप्त करे, जिससे उसका जीवन सुन्दर और पराक्रमी बन सके। वस्तुत उससे बढ़-कर आश्चर्य और क्या हो सकता है कि ऐसे धर्मयुद्ध में पामर, कपटी और कोरे स्वार्थी मित्र हमारे दल मे हों? हमें सोलह आने अपने सिद्धान्त का भक्त होना चाहिए और आरम्भ मे अपनी थोड़ी सख्या देखकर विचलित नहीं होना चाहिए। सौ सियारों के बदले एक सिंह का हमारे दल में होना अच्छा है। समय पाकर हमारे दल की सख्या और शक्ति बढ़ेगी एवं अन्त में हमारे चारों ओर वह सेना एकत्र होगी, जिसे कोई न हरा सकेगा। × ×

"विचार और व्यवहार की एकता का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर हम समझ सकेंगे कि हमें निरुत्साही किन्तु शुद्ध-हृदय मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। निरुत्साही पुरुष कहता है कि इस समय इंग्लैण्ड से अलग हो जाना सम्भव नहीं है अत होमरूल या आयर्लैण्ड के लिए स्वतन्त्र पार्लमेण्ट स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। सरसरी तौर पर देखने से हमें उसकी यह बात उचित ऊँचती है। हममे देश के दूसरे दलों से सन्धि करने की इच्छा उत्पन्न होती है और हम सन्धि कर भी लेते हैं। फलत ऐसे लोग एक स्थान पर एकत्र होते हैं। इनमें कुछ तो पूर्ण स्वतन्त्रता पर विश्वास करते हैं, कुछ आंशिक स्वतन्त्रता को पूर्ण स्वतत्रता की पहली किश्त मान लेते हैं, और कुछ केवल आंशिक स्वतन्त्रता को ही अपना ध्येय मान कर उससे सन्तुष्ट हो जाते हैं। थोड़े दिनों में यह सन्धि टूट जाती है और लोग बिखर जाते हैं। दूरदर्शी पुरुष जानते हैं कि प्रत्येक प्रस्तुत कार्य अन्तिम ध्येय और सिद्धान्त के अनुकूल होना चाहिए, इसीसे हमारे उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है। उसके प्रत्येक काम में उसका सिद्धान्त छिपा रहता है। ऐसे समय उसे अपने पक्ष का कट्टर अनुयायी बना रहना चाहिए और उस सिद्धान्त में विश्वास रखना चाहिए जिसे, और लोगों के न मानते हुए भी, वह अपने जीवन का व्रत समझता है। × × ×

"अकर्मण्यता को दूर करने के लिए कई बार हम आपस में ही लड बैठते हैं। इस तरह आपस में न लड़ते हुए हमें पूरे बल के साथ अपने समान-शत्रु का सामना करना चाहिए। हमें ध्यान रखना चाहिए कि यह बड़े परा-क्रम का काम है, इसमे स्थिति स्वय धीरे-धीरे अधिका-धिक निश्चय होती जाती है और ऐसा मालूम होता है कि हमें अपनी सारी शक्ति इसके पीछे लगा देनी होगी। जब यह सारी शक्ति लग जायगी और हम सिद्धान्त पर डटे रहेंगे तो देश भर में ज्योति फैल जायगी, पुराना तेज फिर प्रकट हो जायगा, नीच मनुष्यों की नीचता धुल जायगी,

डरपोक लोगों में उच्च कोटि की वीरता आजायगी और निडर लोगों का पक्ष सिद्ध हो जायगा। ऐसे समय मातृ-भूमि जाग उठती है, उसमें सिद्धान्त के लिए लड़ने का जोश आ जाता है, और वह विजय की ओर प्रयाण करती है।"

हम चाहते हैं, भारत के लिए वह दिन शीघ्र ही आवे।

कर्मण्यों और तपस्वियों की ज़रूरत है।

ऐसे समय जब हमारे प्यारे राष्ट्र का भविष्य-निर्माण होने जा रहा है, वर्षों पहले कहे हुए योगी अरविन्द के निम्नलिखित विचारो को एक बार फिर दुहरा जाना आवश्यक प्रतीत होता है। आशा है, इससे देश के लिए तड़पनेवालों को स्फूर्ति मिलेगी, उनकी आत्मा पर प्रकाश पड़ेगा और वे अपना कर्तव्य निश्चित कर सकेंगे—

"हमारे राष्ट्र को जीवित रखने के लिए हमें अब बहुत ही उच्च विचारों और कार्यों तक पहुँचना पड़ेगा। आन्दोलन की ये रस्में (परिषद् सम्मेलन, महासभा आदि के वार्षिक अधिवेशन) अदा करने से कोई लाभ नहीं होगा। इधर कुछ दिनों से शान्ति रही है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारा तेज और ध्येय और भी बढ़ रहा है। शीघ्र ही किसी अच्छे और बहुत बड़े काम में उसका उपयोग होने लगेगा। हमारा कल्याण तभी हो सकता है, जब हमारी मानसिक तथा आत्मिक जागृति पूर्ण-रूप से हो। अभी तो हमारा ज्ञान और कार्य-क्षेत्र आदि बहुत ही परिमित तथा संकुचित है। इसीलिए हम संसार के विस्तृत जीवन मे प्रवेश नहीं कर पाते। पर सौभाग्यवश लोगों मे जागृति और विकास के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। आजकल कोई राष्ट्र केवल राजनीति के सहारे ही महान् नहीं हो सकता। अब तो सर्वांगपूर्ण और सम्पन्न जीवन से ही किसी राष्ट्र का अस्तित्व रह सकता है। भारतीय राष्ट्रीयता के भाव केवल भारतवासियों में ही उत्पन्न नहीं हुए हैं, बल्कि यूरोप के राष्ट्रों तथा हमारे शासकों ने भी उन्हें मान्य कर लिया है। इस समय हमें केवल अपनी स्वतन्त्र राष्ट्रीयता की ही चिन्ता नहीं करनी चाहिए, बल्कि उसे सारे मानव संसार का एक अंग समझना चाहिए। अपना राष्ट्रीय विकास करने के बाद भारत को संसार के सभी राष्ट्रों से एकता उत्पन्न करनी पड़ेगी। मानव-जाति तो दिन-पर-दिन बढ़ती ही रहेगी। इसलिए हमे अब यह भी सोचना चाहिए कि उसकी किन-किन जगहों की पूर्ति मे हमें सहायक होना पड़ेगा। हमें सबसे अलग रहकर केवल आत्म-रक्षा का ही विचार नहीं करना चाहिए, बल्कि अधिक उदारता पूर्वक सभी जातियों और सभी राष्ट्रों मे प्रीति तथा भ्रातृ-भाव उत्पन्न करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। हमें अपने देश के हित के संकीर्ण-क्षेत्र से निकल कर सारे संसार के हित के विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए। किसी राष्ट्र की उन्नति के लिए उसकी आत्मिक *जागृति की बहुत अधिक आवश्यकता हुआ करती है।* यदि इस मार्ग पर चलकर भारत चाहे तो सारे संसार का मार्ग-दर्शक बन सकता है। हमें अपने सामाजिक और जाति-सम्बन्धी नियमो मे शीघ्र ही बहुत परिवर्तन करना पड़ेगा। आगे चलकर मानव-कुल इतना अधिक ज्ञान, इतना अधिक नया बल और इतनी अधिक नई योग्यता सम्पादित करेगा, जिससे सारे संसार में एक अभूतपूर्व क्रान्ति हो जायगी और उस क्रान्ति में भारत बहुत अधिक सहायक हो सकता है। आजकल लोग छोटी-मोटी राजनैतिक बातों की ओर ही विशेष ध्यान देते है, पर मैं उन बातों को छोड़कर और भी आगे की तथा विस्तृत बातों का ध्यान कर रहा हूँ। मेरे त्याग और एकान्तवास के यही कारण हैं। तपस्या पर मेरा पूर्ण विश्वास है। चाहे मेरे लिए उसका अर्थ अब प्राचीन ऋषियों के अर्थ से कुछ भिन्न ही क्यों न हो, पर आजकल संसार में कोई बड़ा काम करने के पहले तपस्या करना ही बहुत अधिक आवश्यक है।'

क्या यह सच नहीं है? अगर है, तो देश की तरुण आत्माओं से यूनान के प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी महात्मा एपिक्टेटस के स्वर मे स्वर मिलाकर हम विनीतभाव से पूछते हैं—

'और कितने दिन?'

देश को उनके निर्णय की प्रतीक्षा और कितने दिन करनी पड़ेगी? महात्मा एपिक्टेटस कहते हैं—

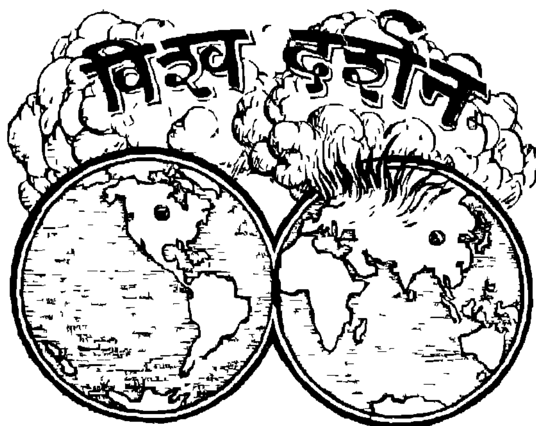
"कितने दिनों में तुम श्रेष्ठ कार्य करने की योग्यता प्राप्त करोगे ? विवेक बुद्धि की किसी प्रकार भी उपेक्षा न करो— यह शिक्षा तुम्हें कब प्राप्त होगी ? उपदेश तो बहुत पा चुके हो, किन्तु क्या तुम उसके अनुसार कार्य करते हो ? अपने चरित्र के संशोधन के लिए अभी तक किसी गुरु की राह देख रहे हो ? तुम तो बालक नहीं हो, तुम अब जवान मनुष्य हुए। अपने चरित्र का संशोधन करने में अब भी यदि |ला-पर्वाही करो, यत्न में ढिलाई करो, बराबर प्रतिज्ञा पर प्रतिज्ञा करो, प्रति दिन ही यदि सोचो कि आज नहीं कल से मैं कार्य आरम्भ करूँगा, तो तुम उन्नति के पथ पर एक पग भी आगे न बढ़ सकोगे। जो लोग जीवन्मृत अवस्था में है उन्हीं तुच्छ हतभाग्य दूसरे लोगों की तरह तुम्हे जीवन-निर्वाह करना होगा।

"अतएव जवान मनुष्य के लिए जो उपयुक्त है— उन्नतिशील मनुष्य के लिए जो उपयुक्त है, वैसे कार्य में अभी लग जाओ। जो कुछ तुम उत्तम समझते हो उसे ही अपने जीवन का बीजमंत्र बना लो। वृथा समय नष्ट न करो। शुभ अवसर को मत खोओ। तुम लोगों का यह जीवन एक भारी रण-क्षेत्र है। एक दिन के युद्ध में ही जय अथवा पराजय हो सकती है।

"सुकरात की दृष्टि विवेक के सिवा और किसी वस्तु के प्रति आबद्ध नहीं थी, इसीसे वह इतना महत्व प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। तुम सुकरात नहीं हो सकते, किन्तु सुकरात की तरह अपनी जीवन-यात्रा का निर्वाह करना तुम्हारी शक्ति के बाहर नहीं है।"

परमात्मन् ! हमे बल और सद्बुद्धि दो कि हम इन राष्ट्रवीरों, योगियों और महात्माओं की शुद्ध-बुद्ध-जागृत वाणी से अपना सच्चा मार्ग पहचानें और देश के युग-निर्माताओं के कार्य में सहायक हो कर अपनी विपन्ना देश-माता की लोह-श्रृंखलाओं को एक साथ तोड़ डालें।

त्रिवेदी



यूरोप

(१)

यूरोप के देश

संसार का कुल क्षेत्रफल १३,०९,९९,८६३ वर्ग किलोमीटर* है, जिसमे से यूरोप का क्षेत्रफल केवल ०६,४१,-७३९ वर्ग किलोमीटर है, अर्थात यूरोप संसार का करीब बारहवाँ भाग है। सम्पूर्ण संसार की आबादी १,८९,५०,-००,००० है और यूरोप की आबादी ४१,५६,००,००० है। यूरोप में कुल छोटे-बड़े सभी देशों की संख्या ३८ है, जिनके नाम यह हैं—अल्बानिया, आयरिश-फ्रीस्टेट, आइसलैण्ड, आस्ट्रिया, इटली, इस्टोनिया, उत्तरी आयर्लैंड, ग्रेट ब्रिटेन, ग्रीस, चैनल द्वीप-समूह, जर्मनी, जिबराल्टर, जैकोस्लोवेकिया, टर्की, डैनमार्क, डैन्जिग फ्री-स्टेट, नार्वे, पोलैण्ड, पोर्तुगाल, फिनलैण्ड, फ्रांस, बलगेरिया, बेलजियम, माल द्वीप, माल्टा, मोनैको, युगोस्लेविया, रूमानिया, रूस, लक्सम्बर्ग, लिथुआनिया, लटविया, सनमेरिनो, स्पेन, स्विटजर्लैंण्ड, स्वीडन, हालैण्ड और हंगरी। इनमें से जिबराल्टर और मोनैको आदि कई देश इतने छोटे हैं कि केवल एक नगर ही हैं, परन्तु उनकी महत्ता के कारण वे देश कहलाते हैं।

अबतक हम यूरोप की राजनीति के सम्बन्ध में पाठकों को बहुत कुछ परिचय देते रहे हैं। आज हम उसके

*एक किलोमीटर पाँच फ़र्लांग के लगभग होता है।

सम्बन्ध में कुछ अन्य बातें स्वास्थ्य, कृषि, व्यापार, श्रम और शिक्षा आदि सम्बन्धी बताने का यत्न करेंगे।

(२)

यूरोप का स्वास्थ्य

किसी देश की उन्नति मे उसके निवासियों का स्वास्थ्य अत्यन्त आवश्यक अंग है। इस बात को यूरोप ने बहुत अच्छी तरह समझ लिया है। उसने जहाँ भौतिक जीवन के अन्य अंगो में उन्नति की है, वहाँ उसने स्वास्थ्य के सुधार के लिए भी बहुत प्रयत्न किया है।

गत महायुद्ध के बाद से उसकी जन्म और मृत्यु-सख्या मे बहुत परिवर्तन हुआ है। दोनों ही कम हो रहे है, परन्तु आश्चर्य तो यह है कि मृत्यु-सख्या के अनुपात में जन्म-सख्या और भी अधिक तेजी से घट रही है। इस लिए ग्रेटब्रिटेन, बैलजियम, जर्मनी, स्विटजलैंण्ड, नार्वे, स्वीडन आदि मे जन-संख्या की वृद्धि शनै शनै हो रही है। इसलिए फ्रास की जन्म सख्याओं में और उक्त देशों की जन्म सख्याओं में विशेष अन्तर नहीं रहा। ग्रेटब्रिटेन, स्विट्जलैंण्ड, स्वीडन और इस्टोनिया की जन-सख्या की दर फ्रास की उक्त दर से कम हो गई है, और जर्मनी, जिसकी जन्म-सख्या की दर आज से बीस वर्ष पूर्व फ्रांस से ६० प्रतिशत अधिक थी, अब केवल ४० प्रतिशत ही अधिक रह गई है। उत्तरी, पश्चिमी और मध्य यूरोप में भी जन्म-सख्या की दर कम हो रही है।

इसका मुख्य कारण वहाँ की सभ्यता है। वहाँ की स्त्रियो मे उच्छृंखलता की प्रवृत्ति चली हुई है। वे माता बनने—बच्चे की तकलीफें उठाने से घबराती हैं और इसमें अपना अपमान समझती है। फिर सन्तति-निग्रह के लिए कृत्रिम उपायों की वृद्धि ने भी जन-सख्या की वृद्धि की गति को रोकने मे कुछ सहायता दी है। पुरुष भी विवाह करके बन्धन मे पड़ना नही चाहते।

साधारणत आयु की औसत अब पहले से बढ़ रही है। १९११ से १९२१ तक इंग्लैण्ड में २ साल, फ्रांस में १७ साल और जर्मनी में ३३ साल की वृद्धि हुई है। यह सख्या और भी अधिक होती, यदि गत यूरोपी महायुद्ध न होता। विशेषज्ञों का विचार है कि यूरोप के व्यवसाय-प्रधान देशों में जन-संख्या मे स्थिरता रहेगी। बच्चों की मृत्यु-सख्या में भी बहुत कमी हुई है।

बहुत से रोगों की संख्या भी उतनी खतरनाक नही रही। छूत की बीमारी से मृत्युओं की सख्या में विशेष कमी हुई है। परन्तु हार्दिक रोग, भगन्दर और मधुमेह से मृत्यु-संख्या बढ़ी है। शीतला, मधुज्वर, आन्तरिकज्वर, लाल बुखार और डिफ्थेरिया प्राय सम्पूर्ण यूरोप में अधिक फैले हैं। महामारियों की कमी हुई है। हैज़ा तो यूरोप मे बिलकुल नष्ट हो गया। १९२७ ई० में एक भी हैजे के रोगी की रिपोर्ट नहीं मिली। प्लेग केवल भूमध्यसागर के समीपवर्ती प्रदेश में बची है। १९२५-२६ में इनफ्लुएंजा से पहले सालों की अपेक्षा कम मरे हैं।

राष्ट्र-संघ की ओर से स्वास्थ्य-समिति और युवक-संरक्षण-समिति (Health Committee और Committee for the Protection and welfare of the children and young people) ने भी यूरोप के स्वास्थ्य-सुधार की तरफ़ बहुत ध्यान दिया है।

(३)

कृषि

यद्यपि यूरोप अधिकतर व्यवसाय-प्रधान है, तथापि वहाँ के कई प्रदेश खेती के लिए भी बहुत अच्छे हैं। जहाँ यूरोप का क्षेत्रफल संसार का १२ वाँ हिस्सा है, वहाँ वह आबादी में ससार का चौथा भाग है। इसलिए वहाँ के निवासियों के लिए भूमि का उपयोग बहुत महत्त्व-पूर्ण है। कुछ पदार्थों को छोड़कर जो गर्म प्रदेशों में ही पैदा हो सकते हैं, वहाँ प्राय सब पदार्थ यूरोप के किसी न किसी भाग में सफलता-पूर्वक पैदा किये जा सकते हैं। यूरोप के विविध प्रान्तों के विविध जल-वायु के कारण कृषि भी अनेक प्रकार की है। यूरोप के एक तिहाई क्षेत्र में कृषि होती है।

१९२७ ई० में रूस (एशियायी भी सम्मिलित है), फ्रांस, इटली और स्पेन में क्रमशः ७०, १३, १२ और ११ मिलियन एकड़ भूमि में गेहूँ बोया जाता था। यहाँ की

भूमि तथा वैज्ञानिक प्रणाली के अधिक अच्छे होने से अमेरिका से भी अच्छी खेती यहाँ होती है, परन्तु फिर भी यहाँ के निवासियों के लिए काफ़ी नहीं होती। इसलिए बाहर से पर्याप्त गेहूँ मँगवाया जाता है। पिछले साल १॥ मिलियन टन गेहूँ मँगवाया गया था। गेहूँ मँगवाने वाले देशों मे मुख्य इंग्लैण्ड, इटली, जर्मनी, बेल्जियम, फ्रांस, हालैंण्ड और स्विट्जरलैण्ट हैं। रूस, हंगरी, यूगोस्लेविया और रूमानिया केवल चार देश ऐसे है, जो गेहूँ बिलकुल नहीं मंगवाते।

गेहूँ के बाद राई (Rye एक प्रकार का अनाज, जो गेहूँ से निकृष्ट होता है), जुआर, जई (Oats) और मकई बोये जाते है। इन अनाजो के सिवा यूरोप में आलू की खेती ३५ मिलियन एकड़ भूमि मे होती है, जिसका ... भाग तो रूस जर्मनी, पोलेण्ड और फ्रांस में होता है। शकरकन्दी प्राय प्रत्येक देश मे थोड़ी बहुत बोई जाती है। अगूर की खेती २० मिलियन एकड़ो मे होती है, जिसका आधे से अधिक भाग तो केवल इटली मे और बाकी फ्रांस और स्पेन मे होता है। तमाखू की खेती १३ देशो मे होती है, जिनमे रूस, बल्गेरिया, ग्रीस, इटली, यूगोस्लेविया और फ्रांस आदि मुख्य हैं। हौप (एक प्रकार का पौधा, जिससे शराब बनती है) बहुत थोड़ा बोया जाता है।

खेती की उन्नति के लिए वैज्ञानिक आविष्कारो के साथ संगठन की भी अत्यन्त आवश्यकता है। जबतक किसानों का भी संगठन और सहयोग उतना दृढ़ नहीं होता, जितना कि कारखानो के मजदूरों का, तबतक कृषि को हानि होगी ही। युद्ध के बाद से कृषि मे सहयोग-संस्थाओं का प्रचार यूरोप में बहुत बढ़ा है। परन्तु कारखानों के मजदूरों की सहयोग-समितियां से किसानों की सहयोग-समितियों में महान् अन्तर है। इस विषय के प्रामाणिक विद्वान् श्रीयुत प्लकैट (Plunkett) ने किसानों की सहयोग समिति के तीन उद्देश्य बताये हैं—उत्तम कृषि, उत्तम व्यापार और उत्तम जीवन (Better farming better business and better living) इसमें किसान हिस्सेदार होकर सम्मिलित नहीं होते, परन्तु इसका उद्देश तो यही है कि किसान को उसके व्यापार का लाभ मिल सके। इसलिए प्रत्येक किसान सदस्य को एक ही मत देने का अधिकार होता है, चाहे वह धनी हो या गरीब हो, जिससे वे सभी व्यापार पर नियन्त्रण रख सकते हैं। धनी किसानो का अल्पसंख्यकदल उसे अपने नियन्त्रण मे नहीं रख सकता। और न कोई बाहरी प्रभाव सहयोग समिति के कार्य पर असर डाल सकता है। इस प्रकार की कई सहयोग-समितियाँ मिलकर व्यापार के लिए केन्द्रीय समिति बना देती है।

इस सहयोग-संस्था का पूरा विकास डैनमार्क मे हुआ है। ई० सन् १९२३ में वहाँ कृषि का ९० प्रतिशत कार्य सहयोग-समितियों के द्वारा ही हुआ था। जर्मनी मे इस संस्था का बहुत प्रचार है। वहीं सबसे पहला ग्राम बेंक खुला था। युद्ध के बाद वर्सेलीज़ की सन्धि के परिणाम स्वरूप उसकी ३२०० ग्राम्य सहयोग-समितियाँ टूट गई थी, परन्तु केवल दो साल मे ही १०,००० सहयोग समितियाँ फिर बन गई। आयर्लैंड का सहयोग सम्बन्धी श्रम (Co-operative labour) सबसे अधिक कठोर है। श्रीयुत प्लकैट ने इसे बहुत उन्नत किया और अब वे केन्द्रीय सहयोग-समितियाँ स्थापित कर रहे है, जिसकी नकल इग्लैण्ड वेल्स, और स्काटलैण्ड में भी हुई है। हाँ, अभी आयर्लैंड की सहयोग-समितियो ने बाजार पर अपना प्रभुत्व नहीं डाला, परन्तु इसपर भी अब विचार हो रहा है। इग्लेण्ड मे अब केन्द्रीय सहयोग-समितियो का कार्य राष्ट्रीय कृषक संघ (National Farmers Union) और वहाँ की सरकार के कृषि-विभाग ने ले लिया है, इसलिए अब वे टूट रही हैं। अन्य यूरोपीय देशो की अपेक्षा इग्लैण्ड में यह आन्दोलन बहुत पिछड़ा हुआ है। इटली मे इस संस्था को प्रसिद्ध लुजाति (Luzzatti) ने जन्म दिया था। वहाँ पर राजनैतिक झगड़ों ने इस आन्दोलन पर विशेष प्रभाव डाला है। रूस में यह संस्था इतनी अच्छी तरह जड़ पकड़ गई है कि आज के बोल्शेविक-शासन मे उसे सरकारी संगठन बनाने मे विशेष कठिनता हुई। फ्रांस मे सहयोग-समितियों ने उजड़े हुए बड़े नगरों को ठीक करने का काम ले लिया है। बेलजियम, बल्गेरिया और रूमानिया मे तो ये समितियाँ कृषि के लिए अत्यन्त

आवश्यक सिद्ध हुई है। स्पेन में भी प्रत्येक गाँव में ऐसी संस्थायें स्थापित हो रही है। जैकोस्लोवेकिया मे बड़े परिमाण पर और दृढ़ आधार पर इन्हे स्थापित किया जा रहा है। इस्टोनिया की कृषि को भी इन समितियों से बहुत अधिक लाभ पहुँचा है। फिनलैंड में भी केन्द्रीय सहयोग-समितियाँ स्थापित हुई है। नार्वे, स्वीडन, हालैण्ड और स्विटजलैण्ड के ग्रामीण-जीवन में इन समितियों ने मुख्य स्थान प्राप्त कर लिया है।

खेती के लिए पशु बहुत आवश्यक तथा उपयोगी है। यूरोप में इनकी ओर भी विशेष ध्यान दिया जाता है। ऊन, मांस आदि के लिए भेड़, बकरी और सुअरों की भी वहाँ बहुत पर्वाह की जाती है। सम्पूर्ण संसार में जितने ढोर है उनका एक चौथाई भाग यूरोप में है और एक चौथाई से भी अधिक भेड़ें और ½ भाग बकरियाँ है। सम्पूर्ण संसार के घोड़ो की आधी संख्या यूरोप मे है। बैलों और घोड़ों मे खेती का कार्य लिया जाता है। गधे और खच्चर भी सम्पूर्ण यूरोप में विशेषतः इटली, फ्रांस और स्पेन मे काम मे लाये जाते हैं। परन्तु अब ज्यों-ज्यो खेती मे यन्त्रों का प्रयोग बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों पशुओं की संख्या भी घटती जाती है।

जर्मनी में सबसे अधिक सुअर पाले जाते है और उसके बाद क्रमशः रूस, फ्रांस और डैनमार्क का स्थान है।

कृषि के साथ-साथ दूध, मक्खन आदि की भी बहुत उत्पत्ति होती है, परन्तु वह यूरोप के लिए पर्याप्त नहीं होती।

अन्त मे हम वर्ल्ड एकानोमिक कान्फ्रेंस की रिपोर्ट से यूरोप के कुछ देशो की कृषि की अवस्था का संक्षिप्त परिचय देकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। फ्रांस और बेल्जियम मे खेती की स्थिति अच्छी है। इटली मे लिरा के मूल्य के गिरने से पूर्व तक खेती अच्छी रही। डैनमार्क, हालैंड और स्विट्जर्लैंड मे डेयरी से उत्पन्न पदार्थों के मूल्य में वृद्धि होने के कारण खेती मे कुछ उन्नति मालूम पड़ती है। कृषि-जन्य और कारखानो के पदार्थों मे मूल्य की विषमता के कारण यूरोप के अन्य देशों मे खेती की दशा अच्छी नहीं है। बल्गेरिया, इस्टोनिया रूमानिया, और युगोस्लेविया मे, जहाँ कहीं कृषि सम्बन्धी सुधार किये गये हैं, उनसे कुछ और कठिनाइयाँ पैदा हो गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय कृषि संघ (International Institute of Agriculture), जो १९०५ में स्थापित हुआ था, किसानों के सम्बन्ध में काफ़ी काम कर रहा है।

(असमाप्त)

शान्ति-दशक

गत युद्ध को समाप्त हुए दस साल हो गये। ११ नवम्बर १९१८ के दिन प्रसिद्ध संधि हुई थी। उक्त संधि के परिणाम-स्वरूप यूरोप में कई परिवर्तन हुए थे, कई नये राष्ट्र बने थे। उन राष्ट्रो ने अपने प्रथम दस वर्ष शान्तिपूर्वक बीत जाने के उपलक्ष्य मे दश वार्षिक उत्सवों का आयोजन किया है। जैकोस्लेवोकिया ने गत २८ अक्तूबर को यह उत्सव किया। ११ नवम्बर को हालैंड ने अपनी स्वतन्त्रता की दश वार्षिक जयन्ती का समारोह किया। बृहत्तर रूमानिया ने भी अपना जन्म-दिन इसी तरह मनाया है। केवल युगोस्लेविया ऐसा देश है, जो पारस्परिक विद्वेष के कारण, जिसका वर्णन किसी गतांक मे किया जा चुका है, इस प्रकार उत्सव-समारोह नहीं कर सका।

यद्यपि ११ नवम्बर १९१८ को संधि हो गई थी, तथापि वस्तुतः जर्मनी ने २८ जून १९१९ को संधि की ४४० धाराओ को स्वीकृत किया था। इसलिए आगामी वर्ष सब शत्रु या मित्र राष्ट्र मिलकर संधि-उत्सव का आयोजन करेंगे और आगामी दशक को अधिक शान्तिपूर्ण बनाए रखने का दृढ़ संकल्प करेंगे।

क्या गत दशक शान्ति-दशक था? इस सम्बन्ध में 'त्यागभूमि' के पाठक बहुत कुछ पढ़ चुके हैं। सभी बड़े राष्ट्र गत युद्ध से थक कर आराम ले रहे हैं और आगामी युद्ध की तैयारी कर रहे हैं बहुत सम्भव है कि आगामी दशक ही युद्ध-दशक प्रसिद्ध हो।

इटली और अलबानिया

पिछले किसी अंक में इटली के बलकान-राष्ट्रों के विशेष स्वार्थ के सम्बन्ध मे लिखा जा चुका है। अलबानिया एक छोटा-सा राष्ट्र है, जिसकी आबादी सवा लाख के क़रीब है। इसकी ७१ फ़ी सदी जनता मुसलमान हैं, इसलिए यहाँ मुसलमानों का ज़ोर बहुत बढ़ा हुआ है।

कुछ समय से वहाँ का राष्ट्रपति अहमद जोगु था। इटली की सहायता से उसका प्रभाव और बल बहुत बढ़ गया था। गत सितम्बर में उसने इटली के जोर पर अपने को अलबानिया का राजा घोषित कर दिया। इससे वहाँ की ग़ैर-मुस्लिम जनता, जो उसे राजा नही बनाना चाहती, उसके बहुत विरुद्ध हो गई और उसे मार डालने के षड्यन्त्र करने लगी। उसके कई पक्षपाती मार भी डाले गये है, परन्तु जोगु भी वीर-प्रकृति है। वह विश्वस्त रक्षकों के साथ रहता हुआ, अलबानिया और इटली की पुलिस की सहायता से, षड्यन्त्रकारियों का दमन कर रहा है। कई विद्रोही मार दिये गये और बहुत से पकड लिये गये। इन षडयन्त्रों के कारण उसका राज्याभिषेक स्थगित होगया है। बहुत सम्भव है कि इटली के जोर पर वह विद्रोह को दबाकर स्थिर राजा बन जाय। यह सहायता देकर मुसोलिनी ने जोगु को अपने अधीन कर लिया है। अलबानिया को वह अपने प्रभाव में लाकर बलकान की राजनीति में विशेष भाग लने के प्रयत्न में है।

अफ़ग़ानिस्तान में उपद्रव

बहुत दिनो से अफ़ग़ानिस्तान की सीमा पर जलालाबाद में अमीर के खिलाफ़ शिनवारी लोगों के भयकर उपद्रव के समाचार आ रहे है। इन समाचारो मे कहाँ तक सत्यता है, यह नहीं कहा जा सकता। अभी कुछ समय पूर्व बम्बई-स्थित अफ़ग़ान दूत ने उनका खण्डन किया था। कई राजनीतिज्ञो का अनुमान है कि इसमे अंग्रेजी सरकार का छिपा हाथ है। परन्तु अब काबुल मे भी अमीर के विरुद्ध उपद्रव होने के समाचार आये है। इसका कारण अमीर के धार्मिक और सामाजिक सुधार-विरोधी मुल्लाओं का बहकाना बताया जाता है। एक खबर यह भी है कि अमीर और महारानी काबुल से कन्धार भाग गये है। पर दिल्ली-स्थित अफ़ग़ान-राजदूत का कहना है कि अमीर काबुल ही है।। उसका कहना यह भी है कि वहाँ कुछ गड़बड हुई जरूर है, पर वह ऐसा नहीं कि जो स्थिति हाथ से बाहर निकल गई हो। जबतक पूरे और सच्चे समाचार न मिलें, तबतक इस पर विचार करना कठिन है।

कृष्ण



आदर्श खादी-कार्य-कर्ता के कुछ नियम

[एक खादी सेवक की नियम-पुस्तक से]

१—खादी-सेवा ईश्वरीय काम है, इसलिए कार्य कर्ताओं मे ऐसे दोष न होने चाहिएँ, जो इस कार्य को न शोभें। अतएव असत्य, चोरी, क्रोध, अहकार, ईर्ष्या, जबर्दस्ती इत्यादि खादी-कार्यकर्ता के पास एक क्षण भी नहीं रह सकते।

२—खादी-सेवक का जीवन-क्रम ऐसा न होना चाहिए कि उसे देखकर ग्राम वासियो में कोई ऐसा व्यवहार प्रचलित हो, जो उनके लिए शोभाजनक न हो। उसका खान-पान, कपड़े और रहन सहन सबमे सादगी होनी चाहिए। अपने गहने-कपड़े खेल-कूद या खान-पान मे उसे ऐसी किसी वस्तु का उपयोग न करना चाहिए, जो उस गाँव के निवासियो को न प्राप्त हो। अर्थात् उसी गाँव में पैदा होने अथवा बन सकने वाली चीजों का ही उसे इस्तैमाल करना चाहिए, बाहर से आनेवाली चीजों का नहीं। जैसे ग्राम-वासी साबुन से कपडे नहीं धो सकते, अतएव सेवक को भी साबुन का व्यवहार न करना चाहिए।

३—खादी-सेवक को सामाजिक आदर्शो का भी पालन करना चाहिए। बाल विवाह, वृद्ध-विवाह इत्यादि वह नहीं कर सकता, भग, शराब, तमाखू के व्यसन नही रख सकता, और आपस के झगड़े फ़िसाद में वह नहीं पड़ सकता।

४—सेवक का जीवन विचार-मय होना चाहिए। अतएव वह विनोद नहीं कर सकता, न आलस्य कर सकता है; अर्थात् तमाम दिन के पल-पल का वह उपयोग करे, व्यर्थ की गपशप न करे। ताश, शतरंज, चौपड आदि में व्यर्थ समय नष्ट न करे, सुगन्धित तैल-इत्र का उपयोग और शृंगार आदि नहीं कर सकता। खर्चीले विवाह, भोज, पोशाक गाजे-बाजे इत्यादि ऐसे कामों को कि जो पराधीन प्रजा को शोभा न दें, वह न करे न उनमें भाग ले।

५—खादी-सेवक की खादी में सम्पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए—मानसिक, वाचिक और कायिक। खादी के अलावा बाजार मे बिकनेवाला कोई कपड़ा वह न ले, दूसरों के द्वारा और दूसरों के लिए लेने मे भी वह सहायक न हो।

६—खादी का मूल फुर्सत के समय के उपयोग के मूल मे है, इसलिए खादी-सेवक अपना समय व्यर्थ नहीं बिता सकता। एक-एक मिनट का हिसाब वह दे सके, ऐसा उसे होना चाहिए। काम न होने पर काते, निकम्मा न रहे।

७—अपना कोई काम जिसे करने की शक्ति, ज्ञान और फुर्सत उसे हो, वह दूसरों से न करावे, बल्कि आवश्यकतानुसार स्वयं भी करे।

८—जीवन-निर्वाह के लिए खर्च उतना ही लेना चाहिए कि जितने में बिना किसी चिन्ता के सादगी के साथ कुटुम्ब का पोषण हो सके। रहन सहन में खादी का उद्देश्य भूल कर बेकारी, गरीबी और परतन्त्रता जरा भी न आनी चाहिए। खर्च कम हो तो पोषण की चिन्ता न मिटेगी और खर्च से अधिक लेने से लोभ-वृत्ति पैदा होकर सेवा-भाव नष्ट होगा।

९—खादी कार्यकर्ता खादी कार्य के अलावा दूसरा क्रियात्मक-कार्य नहीं कर सकता, सलाह देने मात्र से कुछ आमदनी हो तो भी वह नहीं कर सकता। वह तो सारा समय, शारीरिक कार्यों को छोडकर, खादी मे ही देगा।

१०—कार्यकर्ता में प्रचार की उत्कट इच्छा होनी चाहिए, पोषण की चिन्ता तो हर्गिज न हो। इस प्रकार जैसे व्यापारी को तमाम दिन अपने धन्धे की फ़िक्र रहती है, और सारी शक्ति के साथ वहाँ उसमें मस्त रहता है, वैसे ही खादी-कार्यकर्ता को खादी-कार्य में ही मस्त रहना चाहिए।

काश्मीर का ऊनी वस्त्र-व्यवसाय

भारतवर्ष की समृद्धि के दिनों में काश्मीर का ऊनी वस्त्र-व्यवसाय भी संसार के बाजार में अपना विशिष्ट स्थान रखता था। आज भी जब कि यह व्यवसाय अपने विकृत रूप और अल्पतम मात्रा में काश्मीर में जीवित है, विदेशों से बनकर आनेवाला करोड़ों का ऊनी और रेशमी माल पुराने काश्मीरी वस्त्रों के नाम से ही अधिक बिकता है। यह काश्मीर के बने वस्त्रों की लोक-प्रियता का अच्छा और जोरदार प्रमाण है।

आज काश्मीर मे अधिकतर आबादी खेती करने वालों की है, वे लोग फुर्सत के समय में और-और उद्योगों के साथ कताई बुनाई का काम विशेष रूप से करते हैं। बहुत से किसानों के पास अपनी भेड़ें होती हैं। जाडे के मौसिम से कुछ पहले भेडों पर ऊन तैयार हो जाता है, जिसे जाड़ा लगते ही किसान भेडों पर से निकाल कर कातना शुरू कर देते हैं। प्रायः प्रत्येक काश्मीरी स्त्री ऊन कातना जानती है। पुरुष बुनाई कर लेते हैं। इस तरह काश्मीर मे पड़नेवाले भयंकर जाड़े से किसान अपने कुटुम्ब की और अपनी रक्षा करते हैं। लेकिन अब उनके इस काम को व्यवसाय का रूप प्राप्त नहीं है। जो कुछ है, वह भी ऐसी हालत में है कि अगर देश का ध्यान उसे जीवित रखने और उन्नत बनाने की ओर शीघ्र ही न गया तो भविष्य मे उसे बड़ी क्षति उठानी पड़ेगी।

आज देश मे काश्मीरी दुशालों आदि के नाम से जो गर्म कपडा बिकता है उसमे शुद्ध कारीगरी और माल बहुत थोडा होता है। अधिकांश गर्म कपडा विदेशों से काश्मीर में आता है और वहाँ विदेशी रेशम के धागों से उसपर रंग-बिरंगे बेल-बूटे भर दिये जाते हैं और वही कपडा टुकड़ों मे दुशालों के नाम से देशी बन कर बिकता है। इस विकृत व्यवसाय-नीति के कारण काश्मीर का देशी व्यवसाय कुछ नहीं के बराबर रह गया है, चर्खे बन्द हो गये हैं, करघों की संख्या इनी-गिनी रह गई है और कुशल कारीगरो, बुनकरों तथा रंगवैयों को अपना परम्परागत धन्धा छोड कर गुलामी—नौकरी—में फँसना पड़ा है। जिस गाँव मे पहले सौ जुलाहे रहते थे, उसमे अब मुश्किल

से दस मिलते हैं—और उनकी जीविका का भी कोई समुचित साधन नहीं रहा है। काश्मीर में आज भी कुशल कारीगर मौजूद हैं, जो हर तरह की बुनाई कर सकते हैं। लेकिन इनके लिए काम की व्यवस्था नहीं है। आज भी ये लोग शुद्ध स्वदेशी ऊनी वस्त्र बनाने के लिए तैयार हैं, लेकिन देश की उदासीनता इन्हें और खादी-सेवकों को पंगु बनाये हुए है।

इन लोगों के बालकों के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। वे अपने उस्तादों और बड़ों से घर का धन्धा ही सीखते हैं तथा छः सात वर्ष की छोटी उम्र में अपनी रोटी आप कमा लेते हैं।

लेकिन यन्त्र युग के आगे ये भी लाचार हैं। अब बेल-बूटे के काम के लिए मशीनें चल पड़ी है, जिनसे इन लोगों के हाथ अपंग-से बन रहे हैं! क्या देश अब भी इन लोगों की सुध न लेगा? क्या ये यों ही नष्ट हो जायँगे—इन के साथ देश की अनुपम कला और कारीगरी भी?

सन्तोष की बात है कि ऐसे समय अखिल-भारतीय चर्खा-संघ ने अपनी एक उत्पत्ति शाखा काश्मीर में खोली है और गत दो वर्षों से वह अच्छा काम भी कर रही है। हमें आशा है, देश की उदासीनता अब अधिक नहीं टिकेगी और उसके प्रोत्साहन से काश्मीर का ऊनी वस्त्र-व्यवसाय जी उठेगा, उन्नत होगा, और अद्वितीय बनेगा।

सहयोग-समितियाँ और खादी

उस दिन निजाम रियासत के अर्थ-मंत्री सर हैदर नवाज जंग बहादुर ने रियासत की सहयोग-संस्था-परिषद् के अध्यक्ष के नाते कहा था—

"मगर सबसे बड़ी चीज गृह-उद्योग है। इन्हें बचाना और इनकी मदद करना सहयोग-समितियों का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है। अगर सहयोग-समितियाँ गृह-उद्योग के लिए औजार और कच्चा माल तकसीम करने को खड़ी की जा सकें तो यह मुल्क के ऊपर बड़ा अहसान होगा। मिसाल के तौर पर मैं कातने और बुनने के रिवाज का जिक्र करता हूँ। अगर हमारे गाँवों और कस्बों में और रिआया में यह रिवाज फिर से जिन्दा किया जा सके, तो यह एक बड़ी बात होगी। अभी कल तक हमारे घरों में कातना और बुनना आम तौर पर जारी था। गरीबों के घरों में ही नहीं, बल्कि अमीरों और शरीफ खानदानों में भी लड़कियाँ और बीबियाँ फुर्सत का वक्त कातने में लगाती थीं और इस तरह करते हुए सूत से कई किस्म की चीजें तैयार होती थीं, जैसे दरियाँ, चाँदनियाँ, चादर दस्तरखान वगैरा। गरीब बेवायें जिनके पास रोजी का कोई दूसरा जर्या न था, कातने और सीने से अपने और अपने बच्चों का पेट पालती थीं। इन उद्योगों का प्रचार करने से न सिर्फ आप लोग उनकी आमदनी में कुछ बढ़ती करेंगे बल्कि फुर्सत के वक्त के लिए एक अच्छा काम देकर उनको तरह तरह के प्रलोभनों से बचावेंगे। × × × मैं आयन्दा साल की रिपोर्ट को गौर से पढ़ूँगा और देखूँगा कि हममें से कितने ऐसे हमदर्द हैं, जिन्होंने यह काम शुरू कर दिया है।'

चर्खा-आन्दोलन की उपयोगिता और हितकारिता का यह कितना अच्छा प्रमाण-पत्र है? हमें आशा है, देश की रियासतें और सरकारी सहयोग-समितियाँ सर हैदर के इन शब्दों पर न केवल विचार करेंगी, बल्कि उन्हें अमल में लाने के लिए भी कुछ उठा न रक्खेंगी। खासकर निजाम रियासत से, जो कपास का घर है, हमें इस सम्बन्ध में बहुत अधिक आशा है।

मैसूर में खादी ने जड़ पकड़ली है

चर्खा-संघ के एक कार्य-कर्त्ता श्री पुजारी ने कुछ समय पहले मैसूर से गांधीजी को लिखा था—

"पहली नवम्बर १९२ ई० के दिन राज्य में खादी-काम शुरू हुआ था। अब तो उसने जड़ पकड़ ली है। जुलाई १९२८ के अन्त में राज्य के ६० गाँवों में १,००० चर्खे चल रहे हैं, जिनसे ५२ कर्घों को खुराक मिलती है। जुलाई में २,००० रु० की खादी बनी है।

"अपने नौ महीने के अनुभव से मैं विश्वास-पूर्वक कह सकता हूँ कि इस प्रान्त में सहायक गृह उद्योग की आव-

दायकता है। अकेला चर्खा ही इसे पूर्ण कर सकता है। देश के अन्य प्रान्तों में भी इन परिस्थितियों में यह काम इतना ही उन्नत हो सकता है। देश के ६,८५००० गाँवों मे बसनेवाली मनुष्य-शक्ति का सदुपयोग चर्खो द्वारा भली-भाँति किया जा सकता है। चर्खा गरीबों की आय को प्रति घण्टा तीन पाई के हिसाब से बढ़ा सकता है, जो वर्तमान स्थिति मे कम नहीं है।"

मैसूर मे शुरू शुरू कपास खरीदने और कतवैयों, बुनकरों आदि को अगाऊ देने के लिए ३,५००) रु० का खर्च मंजूर हुआ। १,७२५) वेतन वगैरा के लिए मंजूर हुए। पहले साल ५००) की घटी की आशंका थी। उसके लिए भी मंजूरी लेली गई। बाद मे पूँजी बढा कर १०,०००) की कर दी गई।

८-१० महीनों मे इस पूँजी ने बड़ा आश्चर्य कर दिखाया। हजारों चर्खे बदनवाल केन्द्र के आस-पास चलने लगे। पचासों करघे शुरू हो गये। कई गरीबों की रोजी खुल गई। रियासत ने अपने नौकरों की वर्दी के लिए खादी खरीदना शुरू कर दिया। सारा केन्द्र एक संगठित सूत्र मे बँध गया।

जून के अन्त में हिसाब मिलने पर पता चला कि पूंजी घटने के बदले ८५२) रुपये बढ़ी है। घटी के ५००) अनावश्यक ठहरे।

इस रिपोर्ट ने रियासत को खादी काम के लिए उत्साहित किया है। और आगे से रियासत के प्रत्येक जिले में दो-दो, चार-चार उपयुक्त खादी केन्द्रों की योजना की जा रही है।

खादी और समाज सुधार

उस दिन गुजरात के सरदार वल्लभभाई पटेल ने बारडोली ताल्लुका की स्त्रियोंकी एक सभा मे उनकी कठिनाइयों का उत्तर देते हुए एक लम्बा शिक्षा-प्रद भाषण किया था। उसका अंतिम भाग इस प्रकार है—

"तुम अपनी दीनता दूर करो। बारडोली-सत्याग्रह के वक्त जो वीरता तुमने दिखलाई है, वही वीरता—बहादुरी अपनी आन्तरिक दशा को सुधारने मे दिखलाओ। तुम्हारी दीनता अपने आप ही टल जायगी। सब सुधारों का आधार यह है कि तुम अपने ही खेत का कपास चुनो, ओटो, धुनो, कातो और उसे बुनकर खादी पहनो। तुम तो खेतों में काम करती हो, तुम्हे कातने, धुनने या बुनने से चिढ़ कैसे हो सकती है? अगर मेरी लड़की को धुनना आ सकता है, तो तुम्हे क्यो नहीं आ सकता? तुम चाहो तो तुम्हे सिखाने के लिए उसे तुम्हारे पास भेज दूं—चाहे जो हो, मै अगले मौसिम मे ऐसे गाँव देखना चाहता हूँ, जिनमे एक गज भी परदेशी सूत न हो, एक भी बाल विवाह न हो, विवाह में ज्यादा खर्च न हो, मरने पर श्राद्ध का भोजन न हो। तुम इन कामों मे खूब मदद दे सकती हो।"

सरदार वल्लभभाई के व्याख्यान अरण्य-रोदन नहीं होते। वे प्राय जल्दी ही अमल मे लाये जाते है। उक्त उद्धरण द्वारा हम पाठकों को यह बतला देना चाहते हैं कि खादी के पीछे कितना रचनात्मक कार्य पड़ा हुआ है और खादी से उसका कितना अन्योन्य सम्बन्ध है।

चर्खे का प्रभाव

खादी के अनन्य सेवक भाई फूलचन्द लिखते हैं—

"मेरा विश्वास है कि चर्खे के दाखिल होते ही दुर्गुण नष्ट होते हैं, सद्गुण जन्म लेते और बद्धमूल होते हैं, भीरुता तथा भय भागते है और निडरता उनका स्थान ग्रहण करती है। आज यह सब मैं अपनी आँखो देख रहा हूँ—शराब-बन्दी, निडरता, सादगी, खादी-प्रचार और कुरीति निवारण के लिए तो इसके जैसा प्रचण्ड साधन दूसरा नहीं है।"

नेताओं के उद्गार

"देश के नौजवानो को खादी पहनना चाहिए। खादी ही उनकी राष्ट्रीय पोशाक है।

"खादी का ही एक ऐसा गृह उद्योग है, जो देश की वर्तमान आर्थिक दशा मे उसके लिए सर्वोपरि उपयुक्त है। इसी के द्वारा हम करोडों की सख्या मे बसे हुए अपने गरीब देहाती भाइयों से प्रेम और समता का रिश्ता जोड़ सकते है। यही एक ऐसा धन्धा है, जो थोडी ही मात्रा में क्यो न हो, देश के नगेपन, भुखमरी, गरीबी और अकाल-सकटो को कम कर सकता है।

"पूंजीपति और अर्थशास्त्री भले ही खादी-आन्दोलन की उपयोगिता को और उसके द्वारा कमाई हुई आय को महत्त्व न दें, उसका अपना महत्त्व तो बना ही रहेगा। मेरी राय मे खद्दर पर जितना जोर दिया जाय, कम होगा। जो लोग सदा खद्दर पहनते हैं, उन्हें कम से कम इतना तो सन्तोष रहता है कि अपनी वस्त्र-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ ही वे आधे पेट जीनेवाले देश के ग़रीब भाइयों की सहायता कर सकते है।

"आज देश मे जो अनेक तरह का खद्दर पैदा होता है उसमे तो नाजुक-से-नाजुक रुचि वालों की आवश्यकता पूरी हो सकती है। ऐसी दशा में उनका खद्दर न पहनना या उसके विरुद्ध आक्षेप करना कुछ अर्थ नहीं रखता। मैं आशा करता हूँ कि देश के सभी पढ़े लिखे भाई-बहन खद्दर को आश्रय देंगे, देश की विशाल जनता के लिए उदाहरण बनेंगे और बराबर खद्दर पहनने लगेंगे। खद्दर ही हमारी राष्ट्रीय पोशाक है। खद्दर ही स्वाधीन पुरुषो का आभूषण है।" —डा० अन्सारी

"मेरी राय मे खद्दर हमारे स्वराज्य-आन्दोलन का एक आधार-स्तम्भ है।" —श्रीनिवास आयंगर

हमारी विपत्ति का कारण

भारत के बाज़ार मे अंग्रेज़ी माल

(रुपयों में)

	सन् १९२०	१९२३	१९२६
तम्बाकू	१,४१,४७,८८०	१,७[illegible],७८,४५४	२,१२,१६,५४४
खिलौने	६४,६८,८५०	१३,७१,२२३	१४,६५,५०६
जूते	१५,५६,२८०	१८,०६,८८१	३०,५४,२५६
बाजे	४,४२,५४०	७,४०,४५२	१०,५४,५४५
जवाहिर	४,४६,६३०	१३,५१,२२३	३०,०८,६४३
साबुन	१,१२,२२,७४०	१,१४,५६,८५७	१,३८,२६,४१०

देश का धन इस तरह विदेशों मे चला जा रहा है। ऐसी दशा में हम गरीब और परावलम्बी के सिवा और क्या बन सकते हैं?

त्रिवेदी

———



'ग्वालियर'

पिछले अप्रैल महीने में ग्वालियर मे जो अखिल भारतीय मराठी साहित्य-सम्मेलन हुआ, उसमे ग्वालियर का नाम एकबार केवल उत्तर-हिन्दुस्थान मे ही नहीं परन्तु दक्षिण हिन्दुस्थान मे भी विद्वान लोगो को एक नई दृष्टि से ज्ञात हुआ। इस साहित्य-सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष श्री चिंतामणि विनायक वैद्य थे। उन्होंने अपने स्वागत-भाषण में ग्वालियर शब्द की व्युत्पत्ति तथा ईसा की दसवीं सदी से लेकर आजतक के ग्वालियर के इतिहास का निरीक्षण किया। इस छोटे से स्फुट मे इन्हीं दो विषयों पर कुछ निवेदन करना है।

ग्वालियर का प्राचीन इतिहास दसवीं सदी से भी प्राचीन है। कन्नौज के प्रतिहार राजाओं के तथा कछवाह राजाओं के शिलालेखों का उन्होंने अपने भाषण मे उल्लेख किया ही है। पर ग्वालियर का सबसे प्राचीन शिलालेख 'मिहिरकुल' नामक राजा का है। यह 'तोरमाण' राजा का पुत्र था। उसने ग्वालियर की चट्टान पर एक सूर्य-नारायण का मन्दिर बनवाया था। सूर्यकुण्ड अब भी ग्वालियर के किले मे है। इस मन्दिर के लेख मे निम्नलिखित आया है—

नाना धातु विचित्रे
गोपाह्वय नाम्नि भूधरे रम्ये।
कारितवाञ्छैलमय
भानु प्रासादवर मुख्यम्।

फ्लीट साहब ने 'गुप्त शिलालेख' नामक जो ग्रन्थ प्रकाशित किया है, उसमें यह लेख दिया हुआ है।

मिहिरकुल तथा उसके पिता तोरमाण दोनो के शिलालेखों मे केवल अपने राज्य-वर्ष का उल्लेख है, जिसपर से इनका काल निश्चित करना कठिन है। पर तोरमाण के शिलालेखों मे से एक मे जिन धन्यविष्णु और मातृविष्णु नामक दो भाइयो का वर्णन है, उन्हींका वर्णन बुधगुप्त के एक शिलालेख मे है। बुधगुप्त का यह शिलालेख गुप्त संवत् १६५ का है। अर्थात् इसी काल के लगभग तोरमाण का काल है। मिहिरकुल राजा का वर्णन मन्दसौर के यशोवर्म्मन् राजा के शिलालेखो में भी है। इस पर से विद्वान् लोगों ने यह अनुमान किया है कि मिहिरकुल ईसा की पाँचवी सदी के अंत में तथा छठवीं सदी के प्रारम्भ मे राजा था और उसी समय अपने राज्य के पन्द्रहवे वर्ष मे उसने यह सूर्य-मन्दिर बनवाया था। उस समय भी यह 'गोपगिरि' 'रम्य' और 'नाना धातु विचित्र' माना जाता था।

श्री वैद्य ने ग्वालियर' शब्द की नहीं किन्तु 'ग्वाल्हेर' शब्द का जो व्युत्पत्ति दी है, वह भी चिन्त्य है। गोपालगिरि, गवालगिरि, ग्वालइरी, ग्वालेहरी, ग्वाल्हेर इस क्रम से व्युत्पत्ति देकर वह कहते है कि "आखिरी इकार का लोप होकर 'ग्वाल्हेर' शब्द बना है और इस इकार की स्मृति 'ग्वाल्हेर' शब्द के स्त्रीलिंग मे बची हुई है।' आगे चल कर उन्होंने धार, इन्दौर, ग्वाल्हेर इन तीनो अकारांत शब्दो के विषय मे लिंग-भेद की जो चर्चा की है, वह भी युक्ति संगत नहीं है। वह कहते है, "शब्द का मूल संस्कृत रूप जैसा हो वैसा (मराठी में) लिंग-भेद रहता है।' धारा तथा इन्दुपुर इन दो शब्दों के विषय मे यद्यपि उनका कहना ठीक है, तथापि यदि 'गोपालगिरि' ही मूलरूप माना जाय तो भी 'गिरि' शब्द पुल्लिंग होने के कारण मराठी का स्त्रीलिंग अनिर्धारित ही रहता है। इसके सिवाय गोपालगिरी शब्द प्राचीन लेखो मे कहीं नहीं मिलता। फिर यह शब्द मराठी 'ग्वाल्हेर' के इकार को हल नहीं करता तथा 'ग्वालियर' इस हिन्दी नाम की भी सामान्य व्युत्पत्ति नहीं देता। अतः प्राचीन नाम, हकार-विशिष्टता, मराठी लिंग-भेद और मराठी-हिंदी-सामान्य व्युत्पत्ति इन चार प्रमाणों के आधार पर ग्वालियर शब्द की व्युत्पत्ति ढूँढनी चाहिए।

प्राचीन नामो में से सबसे पहले नाम का उल्लेख पूर्व-निर्दिष्ट आर्या मे आ ही गया है। इसके बाद के विक्रम संवत् ९३३ के भोजदेव राजा के शिलालेख मे 'गोपगिरि' शब्द आया है। 'गोपाद्रि' तथा 'गोपाद्रिदुर्ग' ये शब्द राजा महीपाल के विक्रमी संवत् ११५० के शिलालेख मे आये है। इसके सिवाय इसी चट्टान पर 'आदिनाथ' का जो प्रचण्ड मूर्ति खुदी हुई है उसके आसन पर वि० संवत् १४९७ का एक लेख है, जिसमें इसे 'गोपाचल दुर्ग' कहा है। इन नामों से पाठक इतना तो जान सकते है कि न कहीं गोपाल शब्द है, और न 'गिरि' शब्द ही कहीं मुख्य रहा है। गिरि, अद्रि, अचल, ये शब्द सामान्यतया केवल पहाड के वाचक है, नाम के वाचक विशेषतया नहीं है। इतना ही नहीं, सबसे प्राचीन लेख में तो पहाड का नाम केवल 'गोप' ही दिया है। 'गोवर्धन' नाम से 'गोप' पहाड़ का वाचक होना असम्भव नहीं प्रतीत होता।

फिर 'ग्वालियर' शब्द कहाँ से आया? यह 'गोपालिकेर' शब्द का प्राकृतरूप है। विक्रम संवत् ११६१ के शिलालेख मे पाँचवाँ श्लोक इस तरह है—

तमन्वक्प्रतापा वन प्रारि मौलि—
प्रगन्यर्चनी याधि पीठापकण्ठ।
अधिष्ठाय **गोपालिकेरा**धिपत्ये
बभौ भूमि पालो महीपाल देव ॥

फ्लीट साहब 'गोपालिकेर' के साथ ही 'गोपालिखेर' नाम भी बतलाते है। और इन दोनो नामों पर से हिन्दी तथा मराठी दोनो शब्द सिद्ध हो सकते है। गोपालिकेर और अपभ्रष्ट गोपालिखेर दोनो मूल मे विशेषण है, जिसका अर्थ होता है 'गोपालों का'। विशेषणात्मक शब्द अध्याहृत विशेष्य के लिंग का होता है। अर्थात् नगरी शब्द अध्याहृत समझे तो हिन्दी मे पुल्लिंग होगा, नगर, ग्राम इत्यादि समझें तो हिन्दी मे पुल्लिंग और मराठी मे नपुंसकलिंग होगा। आज भी मराठी मे 'ग्वाल्हेर' शब्द सर्वथा स्त्रीलिंग ही नहीं है। खासकर ग्वालियर की मराठी मे तो यह नपुंसकलिंग ही माना जाता है। गोपालिकेर—गवालिएर-गवालियर-और गोपालिखेर—गवालिहेर—ग्वाल्हेर इस क्रम से हिन्दी ग्वालियर तथा मराठी ग्वाल्हेर दोनों शब्द

सिद्ध होते है। यह मेरा व्यक्तिगत मत है। अन्तिम निर्णय भाषा-शास्त्रज्ञ कर सकते हैं।

हरि रामचन्द्र दिवेकर (पेरिस)

चन्देरी

सुन्दर और महीन कपडे के लिए प्रसिद्ध चन्देरी ग्वालियर-राज्य का एक पुराण-प्रसिद्ध स्थान है। ऐसा कहा जाता है कि सतयुग मे यहा सूरदानवों का राज्य था, द्वापर में शिशुपाल यहा का राजा था, और त्रेतायुग मे इसका नाम चैतनगर था। कोई दो हजार वर्ष पहले यहा परिहार क्षत्रियों का राज्य था। इसके बाद क्रमश नागवंशियों, चन्देले राजपूतों और खंगार राजपूतो के राज्य हुए। फिर, ईस्वी सन् १३०० के करीब, मुसलमानो ने इसपर कब्जा किया। तबसे तो इसका क्रमबद्ध प्रामाणिक इतिहास भी उपलब्ध है। मुगलों के राज्य मे मालवे का सूबा यहाँ रहता था। कपडे के व्यापार-सम्बन्धी आज इसकी जो प्रसिद्धि है, उसका बहुत-कुछ श्रेय मुगल-राज्य की तत्कालीन सुव्यवस्था को ही है। मुसलमानो के बाद यहाँ बुन्देलों का राज्य हुआ और सेंधिया के प्रसिद्ध सेनानायक जानबत्तास ने, बुन्देलो को पराजत करके, सवत् १८६८ में इसे सेंधिया के राज्य मे मिला लिया। सवत् १९१४ के गदर में मर्दनसिंह बुन्देला ने यहा फिर अपना राज्य कायम कर लिया था, पर अंग्रेजी सेनापति सर हिवरोज ने मर्दनसिंह को हरा कर यहाँ अंग्रेजी राज्य कायम किया और संवत १९१८ मे अंग्रेजो ने (स्थानो के) तबादले मे इसे फिर से सेंधिया को दे दिया। तबसे अबतक यहाँ सेंधिया का ही राज्य चला आ रहा है।

इसके आस-पास का दृश्य बडा ही मनोहर है। नैसर्गिक तट का नाईं एक-के-बाद-एक ऐसी दो पवत-श्रेणियाँ इस स्थान का सरक्षण करती है। पहाड के एक हिस्से पर पुराना किला स्थित है। किले का पुराना दर्वाजा भी मौजूद है, जिसे खूनी दर्वाजा कहते है। इसके बारे मे ऐसा कहा जाता है कि बाबर के आक्रमण के समय बचने की उम्मीद न देखकर राजपूत-स्त्रियों ने यहाँ पर जौहर स्वीकार किया था और फिर राजपूत वीरो ने इस दर्वाजे में बड़ी बहादुरी के साथ मुसलमानों से युद्ध किया था, जिसमे खून की नदियाँ बह निकली थीं। किले के अन्दर का हिस्सा वीरान है। हाँ, एक हिस्से में स्वर्गीय माधवराव महाराज का बनवाया हुआ एक बंगला है, जहाँ से आस पास की पहाडियों और मैदान का दृश्य बडा सुन्दर दिखाई देता है। किले के नीचे ही चन्देरी शहर बसा हुआ है। कहा जाता है कि पहले इस शहर का क्षेत्रफल कई मीलों का था, जिसमें १२०० बावडियाँ और ३०० से अधिक धर्मशालायें थीं। कुछ पुरानी बावडियाँ अब भी अच्छी दशा मे है।

यहाँ के निवासियों मे अधिक सख्या कपडा बुनने वालों की है। यह काम विशेषत दो जातियों मे होता है—(१) कोली और (२) मेमन। कोली हिन्दू है और मेमन मुसलमान है। कोली तो मामूली पगडी, दुपट्टे आदि बुनते है, पर मेमन बडे कुशल कारीगर है। कोलियों से मेमन लोगो की संख्या भी ज्यादा है। अब यहाँ का कारबार गिरती पर है, पर ८००—१००० रुपये के माल के एक-एक दुपट्टे यहा अब भी बनाये जाते हैं। जरी के बेल-बूटों का काम यहाँ बडा नामी होता है। पहले तो इन कपडों का कुल सूत यहीं पर काता जाता था, लेकिन अब यह बात नहा रही। अंग्रेजी राज्य के साथ ही अंग्रेजी व्यापार ने इस उपर्युक्त कला का समूल नाश कर दिया, जो लोग पहले २००, ३०० नम्बर का सूत कातते थे—यहाँ तक कि इसके कारण उनकी जाति का नाम ही 'कतिया' पड गया था,—वे आज जगल की लकडी काट-कूट कर किसी तरह अपने पेट की आग बुझाते है। कई लोगों के कथनानुसार तो बारीक सूत कातना ऐसा समझा जाता है, मानों वह कोई गुनाह है। यह ग़लतफहमी क्यों व कैसे फैली, इसका पता नहीं चलता, लेकिन यह निश्चय है कि कोई ५०-६० वर्षों से ही यह बात फैली है। एक कारण कपडे का व्यापार गिरने का यह भी बताया जाता है कि पहले उसे जितना सरकारी आश्रय प्राप्त था उतना अब नहीं है। स्वर्गीय जयाजीराव महाराज रोजमर्रा के काम मे यहाँ का धोती-जोडा पहरते थे और 'कटीबाजी' नाम की उनकी प्रसिद्ध सेना मे चन्देरी का ही कपड़ा इस्तै-

माल किया जाता था। इससे स्वभावतया ग्वालियर-दरबार में इस कपड़े की खूब खपत होती थी। लेकिन अब यह बात नहीं पाई जाती। स्वर्गीय जयाजीराव महाराज की इस दूरदर्शिता तथा उनके इस स्वदेशी-पन के स्वाभिमान को ग्वालियर राज्य के कर्मचारी यदि ध्यान में रक्खें, और उस-पर अमल करने की कोशिश करें, तो रियासत का यह गिरता हुआ उद्योग बहुत-कुछ सम्हल सकता है। साथ ही इसके, हाथ कताई को तरक्की देना भी आवश्यक है। यहाँ आज भी १८० नम्बर तक का बारीक सूत कातनेवाले मौजूद हैं, पर उनके लिए उद्योग नहीं है। बाहर के विदेशी सूत को मनमाने दामों पर खरीदना पड़ता है, जो काफी मजबूत भी नहीं होता। फलतः तरह-तरह के नकली सूत यहाँ आ रहे हैं और उनका इस्तैमाल बढ़ जाने से लोगों की नजरों में चन्देरी के कपड़े की वकत कम होगई है तथा यहाँ का पेट दिनोंदिन बैठ रहा है। चन्देरी के आस-पास मुँगावली व ईसागढ़ में भी चन्देरी के जैसा बारीक कपड़ा बुननेवाले मेमन लोग मौजूद हैं। पर उनकी हालत भी गिरी हुई ही है। क्या ही अच्छा हो कि ग्वालियर राज्य के व्यापार मंत्री इस ओर ध्यान दे इस स्थिति को सुधारने का कुछ प्रयत्न करें!

पुरातत्व-विभाग के लिए भी चन्देरी में बहुत कुछ सामग्री है। करीब ७ मील पर पचमनगर गाँव है, जहाँ 'रणनिवास' नाम का एक छोटा परन्तु बड़ा सुन्दर महल बना हुआ है। दूसरी ओर " मील पर बुढ्ढी चन्देरी है, जहाँ शिशुपाल के समय चन्देरी बसा हुआ बताया जाता है। पास ही सिंहपुर में देवासिंह बुन्देला का बनवाया हुआ तालाब और पहाड़ी पर एक महल है। चन्देरी-भर में इसके समान सुन्दर दृश्य और कहीं नहीं है। इस स्थान पर पहुँच कर मानो नन्दन-वन का अनुभव होता है। अनेक प्रकार के पुष्पों की सुगन्धि, ऊँचे-ऊँचे वृक्ष, चारों ओर के पहाड़ों से झरता हुआ पानी, तालाब में खिले हुए कमल, मयूरादि पक्षियों की मीठी गूँज, गहरी-गहरी खाइयाँ और उनमें चीते, व्याघ्र, भालू आदि हिंस्र जानवरों का जहाँ-तहाँ घूमते फिरना—इन सब बातों से यह स्थान अत्यन्त रमणीक और मनोहर प्रतीत होता है। इस स्थान को छोड़ते समय "कोलाय तस्मै नमः" पद का स्मरण हुए बिना नहीं रहता।

चन्देरी के किले के नीचे जागेश्वरीदेवी का स्थान भी बहुत प्राचीन है, लेकिन इस स्थान को राज्य से पर्याप्त सहायता नहीं मिलती। चन्देरी में पुराने मकान बहुत कम हैं, परन्तु राजपुरोहित तिवारीजी के मकान पर खुदी हुई नक्काशी देखने योग्य है। चन्देरी से ३-४ मील पर 'कोषक' नामक महल है, जिसे सन् १४४५ में मालवे के सूबेदार सुलतान महमूद ने बनवाया था। यह महल माण्डव (धार-राज्य का प्रसिद्ध प्राचीन गढ़) की इमारतों से मिलता-जुलता है। कहा जाता है कि पहले यह सात मंजिल था, पर आज सिर्फ चार मंजिल है। ग्वालियर-राज्य के पुरातत्व-विभाग की ओर से इसकी देख-भाल होती है। महल से थोड़े फासले पर मुण्डिया नाम की एक पहाड़ी है, जहाँ कई प्रकार की औषधियाँ होती बताते हैं। मालूम हुआ है कि बाहर के कई लोग यहाँ से औषधियाँ ले जाते हैं। आशा की जाती है कि ग्वालियर-राज्य भी इस सम्बन्ध में प्रयत्नशील होगा।

टेक्सटाइल इंस्टीट्यूट (Textile Institute) नाम की एक सरकारी संस्था भी यहाँ है। इसमें मशीन से बुनाई का काम होता है, डाइंग वगैरा भी सिखाया जाता है। इस संस्था के कारण यहाँ के लोगों में नये प्रकार की बुनाई की जानकारी बढ़ी है। मगर व्यापार में फिर भी कोई उन्नति नहीं हो रही है। इसका कारण? इसका उत्तर मिलना कठिन है। मेरी राय में तो परवशता, दरिद्रता, परदेशी (बाहरी) व्यापार और अज्ञान ही इसके मुख्य कारण हैं—और, इन्हीं चार आपत्तियों के बादल आज चन्देरी ही पर नहीं किन्तु सारे भारतवर्ष पर छाये हुए हैं। चन्देरी तो इसका केवल एक द्योतक है।

त्र्यम्बक दामोदर पुस्तके (उज्जैन)

* इस लेख में जो पौराणिक एवं ऐतिहासिक बातें दी गई हैं वे चन्देरी के पुराने निवासी श्री काशीनाथजी वैद्य द्वारा चन्देरी के इतिहास के लिए एकत्र की हुई सामग्री के आधार पर हैं। लेखक

पश्चिममें भारत विरोधी प्रचार

अमेरिका से "मेडिकल वीमन्स जर्नल" नाम का एक पत्र निकलता है। यह पत्र चिकित्सा जगत् में अन्तर्राष्ट्रीय महत्व रखता है। इसके दिसम्बर के अंक में दो महिला डाक्टरों के लेख छपे हैं, जिनमें भारत के बाल-विवाह, बाल मातृत्व और सामाजिक पतन पर विचार प्रकट किये गये हैं।

अपनी चालू लेख-माला के प्रस्तुत अंक के लेखांश में "माता पिताओं को परामर्श" शीर्षक से लन्दन की एलिजा बेथ ब्लैकवेल, एम० डी०, नामक महिला डाक्टर ने बाल विवाह और स्त्री पुरुष-विज्ञान पर अपने विचार प्रकट किये हैं। एक पेरे में भारत के विवाहित गृहस्थ-जीवन और वैषयिक जीवन का वर्णन है। उसने अपने सर्व सामान्य विचारों का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"आत्म-संयम के पूर्वाभ्यास के बिना बाल-विवाह सामाजिकजीवन को उच्चतर बनाने में निरर्थक होता है। रोगी स्त्री-पुरुष के लिए विवाह कोई औषधि नहीं हो सकती। छोटी उम्र से ही व्यभिचार और विषय-विलास की प्रवृत्ति होना एक तरह का रोग है, जैसा कि मैं पहले ही कह चुकी हूँ।" आदि।

दूसरे पेरे में वह लिखती है—

"यह महत्व पूर्ण सत्य हमारे भारतीय साम्राज्य के सामाजिक जीवन से भली-भाँति पुष्ट और प्रमाणित होता है। वहाँ बाल-विवाह और शिशु-विवाह के साथ-साथ विषय विलासिता का स्थायी संग रहता है, जो अपने ढंग का बहुत भयंकर और प्रबल है। सोलह वर्ष के लड़के, जो बचपन से ही बिगड़े रहते हैं, निर्बल जाति के पिता बन जाते हैं और बाल-मातायें स्वाभाविक विषयेच्छा की निराशा-जनक गुलाम बनी रहती है। बाल-विवाह तभी समाज का संरक्षक हो सकता है जब समाज में चरित्र की पवित्रता के साथ आत्म-संयम का अस्तित्व हो—वह आत्म-संयम, जो मर्दाने गुणों के निर्माण और सुखी शीतल स्वास्थ्य के लिए परम-आवश्यक है।"

एक दूसरा लेख सिटल, वाशिंगटन, संयुक्तप्रान्त, अमेरिका की डा० एडीलेड वुडवर्ड, एम० डी०, का है, जो उक्त पत्र के सम्पादक के कथनानुसार "अनेक वर्षों के प्रचार-कार्य के बाद स्वदेश (अमेरिका) लौटा है, उनकी सेवाओं का अधिकांश भारत की स्त्रियों के बीच बीता था, और प्रस्तुत अंक के उनके लेख में भारत की वस्तु-स्थिति का सुन्दर परिचय कराया गया है।"

'भारत में दाई का धन्धा' शीर्षक से डा० वुडवर्ड ने लिखा है—"एक तंग नीचे के कमरे में, जिसमें कोई खिड़की न थी, केवल एक दर्वाजा था, जिससे घर के आँगन में आना जाना होता था, सूर्यास्त के समय रामकली नाम की १४ वर्ष की एक छोटी, दुबली, पतली अपरिपक्व लड़की बैठी हुई पहली बार प्रसव वेदना से कष्ट पा रही थी।

"एक छोटे से मिट्टी के बरतन में गीली घास और गोबर के उपलों से आग जलाई हुई थी, जो ढेरों धुआँ उगल रहा थी। भूत प्रेतों से सुरक्षा के लिए यह सब किया गया था।

'रामकली भयभीत और अकेली थी, क्योंकि कुटुम्ब का कोई भी व्यक्ति उसके पास नहीं जा सकता था। अपने जीवन के इस अवसर पर भारतीय स्त्रियाँ बहुत ही गन्दी रहती हैं। अगर कुटुम्ब का कोई भी व्यक्ति उन्हें छूता है तो नापाक समझा जाता है और वह कुटुम्ब के दूसरे लोगों को नहीं छू सकता।"

इस प्रकार भारतीय सामाजिक जीवन पर आक्रमण करने के लिए पश्चिम में प्रत्येक सम्भवनीय मार्ग का आश्रय लिया जा रहा है। उत्तेजक समाचारपत्र सार्वजनिक स्थान, रंगभूमि (नाटकघर) और नैतिक एवं वैज्ञानिक पत्र एक निश्चित पद्धति से संसार के सामने अपने कुत्सित असत्य प्रकट कर रहे हैं। यह सब "मदर इण्डिया" की लेखिका मिस मेयो के भारत-विरोधी प्रचार का फल-स्वरूप है। भारतीयों को चाहिए कि वे सचेत हो जायँ और सावधानी के साथ इसके संक्रामक विष से बचने का प्रयत्न करें। "त्यागभूमि" के द्वारा अपने भारतीय भाइयों तक इस दूर-देश से मैं अपना यह विनम्र निवेदन पहुँचाना चाहती हूँ। क्या वे इसपर ध्यान देंगे?

रागिनीदेवी (अमेरिका)



जब मनुष्य दिन रात यही सोचने लगता है कि मेरी बातों का प्रभाव दूसरों पर पड़े, तो क्या वह अपनी मर्यादा के बाहर नहीं जाता है ?

× × ×

मनुष्य सिर्फ इतना ही क्यों न सोचे कि मेरा कर्तव्य क्या है और मैं उसका कहाँ तक सच्चाई के साथ पालन कर रहा हूँ। जो सच्चा कर्तव्य परायण है उसका प्रभाव अपने साथियों पर और दूसरों पर क्यों न पड़ेगा ?

× × ×

पर यदि नहीं पड़ता है, तो क्या यह अपना दोष नहीं है ? जरूर अपना कर्तव्य-परायणता में कमी है—जरूर अपनी तपस्या अधूरी है।

× × ×

और तपस्या क्या है ? अपने विचार और उच्चार के अनुसार आचार। यदि मैं ऐसा क्रियावान् हूँ, तो फिर मेरे बिना कहे ही मेरे साथी कर्तव्य-परायण बनने का उद्योग करेंगे।

× × ×

यदि विनोद-पूर्ण व्यंग्य, स्नेहपूर्ण उपालम्भ और मधुर आलोचना से मेरा साथी सजग नहीं होता है, अपने कर्तव्य का यथावत पालन नहीं करता है तो फिर कठोर वचन उसके लिए बेकार है। कठोर वचन कहने की अपेक्षा मैं अपनी आत्म-शुद्धि, आत्म-ताड़ना का उद्योग क्यों न करूँ ?

× × ×

संसार में जो दोष और बुराई है वह मेरी ही बुराई का प्रतिबिम्ब है। मुझे अपनी इस जिम्मेवारी को खूब समझ लेना चाहिए।

× × ×

पर क्या दुनिया के बोझ को अपने सिर लेना अहंकार नहीं है—ईश्वरत्व का दावा नहीं है ?

\+ \+ \+

यदि इस-भाव का परिणाम यह हो कि मेरी आत्म-शुद्धि बढ़ती हो और दूसरों की सेवा करने की वृत्ति दृढ़ होती हो, तो यह हद दर्जे की नम्रता और सच्चाई है—यदि दूसरों से सेवा लेने की वृत्ति बढ़ती हो, अपने बड़प्पन का भाव तीव्र होता हो, तो यह अवश्य अहंकार और पाखण्ड है।

\+ \+ \+

क्रोध और आतुरता के मूल में क्या अहंकार नहीं है ? क्रोध प्रायः तभी आता है जब कोई हमारी इच्छा की पूर्ति नहीं करता। क्या दूसरा मनुष्य इसके लिए बाध्य है ? उसे ऐसा समझ लेना क्या मेरा अहंकार नहीं है ? और क्या आतुरता इस बात को नहीं सूचित करती कि मनुष्य-समाज को तथा प्रकृति को वश में रखने की सत्ता मुझे प्राप्त है ?

\+ \+ \+

यह सत्ता वास्तव में जिसके पास होती है उसे आप अधीर और आतुर न पावेंगे।

\+ \+ \+

सत्ता शासन के लिए नहीं, कार्य की सुव्यवस्था और सुचारुता के लिए मिलती है, । सत्ता जहाँ सुव्यवस्था में असफल होती है वहाँ प्रेम की जीत अवश्य होती है।

× × ×

जो अपने प्रति कठोर और साथियों के प्रति सहृदय होता है वह बिना सत्ता के शासक हो जाता है। उसके हुक्म प्रेम के सन्देश होते हैं और साथी उनके लिए उत्सुक रहते हैं।

\+ \+ \+

पर जहाँ अपने प्रति रिआयत का, विशेषाधिकार का भाव हो और साथियों के प्रति कठोरता का, तो वहाँ सत्ता का शासन भी बेकार होता है। उसका पुरस्कार मिलता है—अप्रतिष्ठा।

× × ×

कड़ाई के साथ नियमों का पालन कार्य की सुचारुता और सुव्यवस्था के लिए अनिवार्य है। जो सेवक इसकी उपेक्षा करता है वह दूसरे के आराम को अपनी सुविधा पर कुरबान कर देना चाहता है।

× × ×

काम तो पूरा और अच्छा किसी के मन लगाकर करने से ही होगा। यदि मैं उसमें जी चुराता हूँ तो क्या मै अपना भार दूसरों पर नही डालता हू ? क्या मैं अपनी त्रुटि का दण्ड दूसरों को नही देता हू।

× × ×

सदा दूसरो के दोष देखना, सदा दूसरों पर अविश्वास रखना, अपने ही हृदय की मलीनता का लक्षण है। सावधानता, जागरूकता एक बात है, और अविश्वास दूसरी।

× × ×

अपने कार्यों के परिणाम की अपेक्षा हम अपने हृदय की प्रवृत्तियों को ही क्यो न देखते रहे ? फल तो आखिर वैसा ही निकलेगा जैसा हमारा भाव होगा ? फल के सम्बन्ध मे हम लोगों को धोखा दे सकते हैं, अपने मनोभाव के सम्बन्ध मे तो हम अपनेको धोखा नहीं दे सकते।

× × ×

हृदय की सचाई के साथ बाहरी आवभगत मनुष्यता का भूषण है, इसके विपरीत वह मलीनता और पाखण्ड का अचूक प्रदर्शन है।

+ + +

कठोर व्यवस्थापक यदि लोकप्रिय भी है, तो समझ लो, वह पूरा साधु है।

+ + +

आजकल पूज्य विशेषण बड़ा सस्ता हो रहा है। मैं जब अपने पूज्य व्यक्तियों के चरित्र को देखता हूँ तो अपनी पामरता पर ग्लानि होने लगती है, और ऐसा जान पड़ता है, मानों इन विशेषणों का प्रयोग करने वाले अपने प्रेम का पुरस्कार नहीं, वरन् मेरी पामरता का दण्ड मुझे दे रहे हैं।

+ + +

यह उनके प्रति कृतघ्नता नही, अपनी अपात्रता के प्रति लज्जा प्रदर्शन है।

+ + +

भय से उच्चार अच्छा, उच्चार से आवेश अच्छा, आवेश से संयम अच्छा, संयम से मौन अच्छा। भयमूलक मौन पतनकारी है, संयमोत्तर मौन अविराम प्रबल कार्यकर्ता है।

+ + +

जब निराशा आने लगे तो पीछे वालों का पिछले मुकामों को देखना चाहिए, जब अहंकार आने लगे तो आगे वालों का अगले मुकामों को देखना चाहिए।

× × ×

कोई मेरे सामने नम्र नत-मस्तक होकर आता है। तो मुझे शर्म मालूम होनी चाहिए—वे लोग कैसे होंगे, जो किसी बाहरी बल के द्वारा दूसरों को अपने सामने झुकाने मे अपना गौरव समझते है ?

+ × +

यह भी कैसी आश्चर्य की और अटपटी बात है कि मैं स्वयं तो नम्र बनकर जाना पसन्द करता हूँ—उसे आत्मा की उन्नति का लक्षण मानता हू, पर दूसरों को अपने सामने नम्र बनकर आते हुए देखकर शर्म और ग्लानि से घबराता हूँ।

× × ×

जिसे अपने दोष और त्रुटियाँ देख पड़ती है, वह नम्र होता है, जिसे दूसरो के गुण और बुराइयाँ देखने की आदत होती है, वह उद्धत।

× × ×

जो समय-असमय अपने बल और निर्भय होने की घोषणा करता रहता रहता है, वास्तव मे उसकी निर्बलता और भय ही उछल उछल कर उससे यह कहलाते है।

हरिभाऊ उपाध्याय

हमारे अछूत भाई

प्रगति-पथ पर

भारत का वर्तमान युग संघर्ष, प्रगति, सुधार और क्रान्ति का युग है। देश के कोने कोने से यही आवाज उठ रही है, चारों ओर एक ही लहर बह रही है, और इस सब का ध्येय है सुधार और प्रगति, समानता और स्वतन्त्रता। हमें लिखते हर्ष होता है कि हमारे अछूत भाई भी जमाने की इस आवाज को सुनकर आगे बढ़ने और ध्येय को पाने के लिए कटिबद्ध हो गये हैं। जगह-जगह के सम्मेलनों, सभाओं, वार्षिक विवरणों और शिक्षा-संस्थाओं की प्रगति के समाचार इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अधिक हर्ष की बात तो यह है कि ऊँची जाति के हिन्दू भी अछूत भाइयों को समानता का अधिकार देने और छाती से लगाने के लिए विकल हो उठे हैं। जबलपुर में हिन्दू महासभा के ११वें अधिवेशन में अछूत भाइयों के लिए जो एक-से एक बढ़िया प्रस्ताव पास हुए हैं, उनसे यही ध्वनि निकल रही है। जैसे, सार्वजनिक स्कूलों में पढ़ने, कुओं व जलाशयों से पानी भरने, सभाओं में साथ बैठने, आम रास्तों पर चलने, देवालयों में देव-दर्शन करने, पुरोहितों, नाई भाइयों और धोबी भाइयों से अछूतों की सेवा का अनुरोध करने, समान सामाजिक और राजनैतिक अधिकार देने, म्युनिसिपल बोर्डों से अछूतों खासकर भंगी भाइयों के लिए स्वास्थ्य-प्रद मकानों के प्रबन्ध की प्रार्थना करने, अछूत भाइयों के स्थानीय बोर्डों, प्रान्तीय कौंसिलों तथा व्यवस्थापिका सभा में सरकार द्वारा नामन्जूर होने का विरोध करने और "आदि-हिन्दू-आन्दोलन" का, जो कतिपय स्वार्थी लोगों द्वारा खड़ा किया गया है, विरोध करने आदि आशय के निश्चय उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं।

इधर महाराष्ट्र, पंजाब, काठियावाड़, बिहार, युक्त-प्रान्त आदि के सम्मान्य नेता भी अछूत भाइयों को समानता के हक दिलाने और उन्हें सब तरह उन्नत बनाने के लिए जी-जान से कोशिश कर रहे हैं। महाराष्ट्र में बैरिस्टर सावरकर और उनके इष्ट-मित्र उपयोगी साहित्य का प्रकाशन तथा विधायक कार्य-क्रम द्वारा अछूतों के उद्धार का प्रयत्न कर रहे हैं। वाई के श्री महादेव शास्त्री दिवेकर जैसे उद्भट शास्त्रीय विद्वान् भी अपने व्याख्यानों तथा लेखों द्वारा अनुकूल वातावरण पैदा कर रहे हैं। सेठ जमनालालजी भी इसी ओर प्रयत्नशील हैं और उनके वर्धा-मन्दिर को अछूतों के लिए खुला कर देने के समय से अबतक उन्हें कई जगह सफलता भी मिली है।

काठियावाड़ में सन् १९२५ से एक अन्त्यज-समिति बड़ा ही उपयोगी और विधायक कार्य कर रही है। समिति के अधीन १२ अन्त्यज-पाठशालायें हैं, जिनमें ४५० विद्यार्थी पढ़ते हैं। समिति की तरफ़ से एक अन्त्यज-आश्रम भी चल रहा है। गत वर्ष भावनगर राज्य और गांधीजी के द्वारा आश्रम को १३,०००) की आय हुई, जिससे मकान, गौशाला, कुएँ और मन्दिर बनाये गये हैं। आश्रम में पढ़े हुए कुछ भाई शिक्षक का काम करते हैं। समिति और भी कई काम करती है। जैसे, हैजा, मलेरिया आदि के समय मुफ्त दवाई बाँटना, रेलों में अन्त्यजों के लिए सुविधा करवाना आदि। समिति को इस समय ४०००) रुपया की जरूरत है। आशा है, देश के धनी अछूत-प्रेमी भाई इस ओर ध्यान देंगे।

सूरत के पास नवसारी में भी एक अन्त्यज-सेवा-मण्डल दो वर्षों से काम कर रहा है। मण्डल का कार्य क्षेत्र गुजरात और काठियावाड तक परिमित है तथापि इन दो वर्षों में मण्डल ने अछूत भाइयों की सर्वप्रिय सुन्दर उन्नति के लिए जो कार्य किया है वह अभिनन्दनीय और अनुकरणीय है। मण्डल, २ आश्रम, ७ पाठशाला और १ भजन-शाला चला रहा है। अन्त्यजों की मदद के लिए एक सहकारी बैंक-सा खोला गया है। नवसारी-आश्रम में बालकों को सुतारी, बुनाई और सिलाई का काम सिखाया जाता है, विद्यार्थी स्वावलम्बी बनना सीखते हैं। 'अन्त्यज-सर्वसंग्रह' नामक एक अन्त्यज विश्वकोष का काम मण्डल

द्वारा हो रहा है। गणना चल रही है। मण्डल के अध्यक्ष सुप्रसिद्ध भाई अमृतलालजी ठक्कर हैं।

बिहार में बाबू राजेन्द्रप्रसाद और उनके सहकारी बन्धुगण अछूत भाइयों के उद्धार का प्रयत्न कर रहे हैं। युक्तप्रान्त में स्वर्गीय लाला लाजपतराय द्वारा संस्थापित 'लोक-सेवा-संघ' के सदस्य बड़ी तत्परता से काम करते रहे हैं। भारतवर्षीय अछूतोद्धार कमिटी की छ माही रिपोर्ट भी हमें मिली है। उसमें मेरठ, मुजफ्फरनगर, अलीगढ़, आगरा, झाँसी, उझान (बदायूँ), लखनऊ, बनारस और बरहज (गोरखपुर) केन्द्रों में समिति के ५० सुयोग्य कार्यकर्त्ताओं द्वारा किये गये ठोस एवं आशाजनक काम का वर्णन है। कमिटी ने अछूत भाइयों की सेवा का कोई क्षेत्र नहीं छोड़ा है। छोटी-मोटी हरएक अछूत एवं दलित जाति की सेवा में तन, मन, धन लगा दिया है। और अपनी वृहत योजना के अनुसार गत छः महीनों में ५८१ गाँवों, ५० कस्बों तथा १५ नगरों में सुन्दर काम किया है। व्याख्यानों, सभाओं, सम्मेलनों और पर्चों द्वारा लोक-शिक्षण का अत्यन्त उपयोगी काम समिति उत्साहपूर्वक कर रही है। अछूत भाइयों को आर्थिक एवं अन्य सहायतायें भी दी गई है। जगह-जगह मुफ्त अस्पताल खोले गये हैं। शुद्धि का काम भी किया जाता है और कानूनी सलाह देने तथा अखाड़ों और दंगलों द्वारा देशी व्यायाम को सर्व-प्रिय बनाने की सफल कोशिश की गई है। ये सब बातें अछूत-हित की द्योतक और उन्नति की विधायक हैं। आशा है, कमिटी की ओर से देश के इस कलंक को शीघ्रातिशीघ्र दूर करने की जी जान से कोशिश की जायगी।

दयानन्द दलितोद्धार मण्डल ने अपने हिसार वाले अधिवेशन में अछूत-हित के अनेक उपयोगी और अनुकरणीय प्रस्ताव पास किये हैं। उनमें खास-खास ये हैं—सार्वजनिक कुओं से पानी लेने का समान अधिकार, सरकारी संस्थाओं में अछूत बालकों के लिए निःशुल्क उच्च शिक्षा का प्रबन्ध, योग्य छात्रों को अधिक संख्या में छात्रवृत्ति देने का प्रबन्ध, औद्योगिक शास्त्रीय तथा अन्य उपयोगी धन्धों की शिक्षा-संस्थाओं में अछूत बालकों के लिए विशेष प्रबन्ध और छूट, हेरी, बावरी जातियों को अपराधी जातियों की श्रेणी से निकालने की प्रार्थना, नेहरू-रिपोर्ट में दी गई सुविधाओं का समर्थन, स्व० लालाजी की दिल्ली धारा-सभा वाली १ करोड़ की माँग को अस्वीकृत कर देने के सरकारी कार्य का विरोध, अछूतों में परस्पर एक दूसरे से परहेज या छूत-छात की भावना के प्रचार का विरोध, हिन्दू नाम और शिखा धारण का निश्चय, गोमांस खाने का निषेध, सेवा के बदले रोटी के टुकड़े न लेकर पैसे या धान लेने का निर्णय, 'आदि हिन्दू आन्दोलन' का निषेध और जातिभ्रष्टों को फिर से जाति में ले लेने के निर्णय आदि हैं।

बम्बई-सरकार ने एक समिति नियुक्त की है, जो प्रान्त की अछूत तथा भील, गोंड और पर्वतीय जातियों की सामाजिक दशा की जाँच करेगी और उनकी शिकायतों को सुन कर उन्हें दूर करने के उपाय सुझावेगी। समिति के कुछ सदस्य देशी हैं। उन्हें अछूतों से प्रेम है और उनकी अछूत सेवायें आदर की चीज हैं। अधिकांश सदस्य बम्बई-धारासभा के सभासद हैं। भारत सेवक समिति के सभासद श्री ठक्कर भी इस समिति के सदस्यों में से हैं। अस्पृश्यों में धारा-सभा के सदस्य डाक्टर आम्बेडकर और डाक्टर सोलंकी भी इस जाँच-समिति में हैं। समिति के अध्यक्ष स्टार्ट नामक एक सिविल-सर्वेण्ट हैं। समिति ने अपने जाँच का काम आरम्भ कर दिया है। उसके फल की प्रतीक्षा है।

नई दिल्ली में हारटॉग समिति के सामने अछूतों की शिक्षा के सम्बन्ध में गवाही देते हुए श्री थवारे ने उपर्युक्त बातें ही दुहराई हैं। और उनसे मध्यप्रान्त और बरार के अछूतों की दशा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इन प्रान्तों में 'अछूत शिक्षण समिति' नामक एक संस्था स्थापित है, जो उपयोगी काम कर रही है। हम चाहते हैं कि समिति के मंत्री श्री थवारे महोदय अपने भाइयों को स्वावलम्बी बनाने में जी-जान से मिहनत करें तो अच्छा हो। सरकारी सहायता की आशा रखना व्यर्थ है।

त्रिवेदी

———

चंक्रम्

महासभा के सामने कार्य

इस वर्ष कलकत्ते में हमारे राष्ट्रीय साप्ताहिक पर्व की तैयारियाँ जोरों से हो रही हैं। साइमन कमीशन के बहिष्कार, सर्वदल सम्मेलन की नेहरू-रिपोर्ट, स्वाधीनता-संघ, मुसलमानों का अलग आलाप, पू० लालाजी की मृत्यु, पं० जवाहरलालजी पर आक्रमण, ये विषय देश में खूब हलचल और खलबली मचा रहे हैं। सब लोगों की दृष्टि महासभा की ओर लग रही है। जहाँतक स्थिति का अध्ययन एक मामूली संपादक को ले जा सकता है, वह कहना चाहता है कि महासभा के सामने मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि नेहरू-रिपोर्ट को अर्थात् औपनिवेशिक स्वराज्य को वह स्वीकार करे अथवा पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा करे, बल्कि असली प्रश्न तो यह है कि इस दिमाग़ी और काग़ज़ी कार्रवाई के बाद वह क्या करेगा, लोगों को क्या आदेश देगी? जहाँतक हालत देखी जाती है, देश के प्रायः सब दल के नेताओं ने, कई बातों में असहमत होते हुए भी, नेहरू रिपोर्ट का समर्थन करना ही उचित समझा है, क्योंकि उससे देश के सब दल एक व्यासपीठ पर आ जाते हैं और यह कोई ऐसी-वैसी बात नहीं है। ऐसी दशा में, महासभा में, नेहरू-रिपोर्ट का स्वीकृत हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। पर प्रश्न तो यह है कि नेहरू-रिपोर्ट महासभा में स्वीकृत हो जाने पर भी आगे क्या होगा? वह साइमन कमीशन को भेंट की जायगी, या पार्लमेण्ट की रद्दी की टोकरी में दीमक का शिकार होती रहेगी, या महासभा उसपर अमल कराने के लिए भी सरकार को किसी तरह मजबूर करेगी और लोगों के सामने उसके लिए कोई कार्य-क्रम रक्खेगी? साइमन-कमीशन का आना ही एक तो हमारे लिए कम अपमान की बात नहीं है, फिर उसके लिए कुछ लोगों का सहयोगी के और गवाहों के रूप में मिल जाना और भी लज्जा-जनक है, इसके बाद लालाजी जैसों का पिटकर अन्त को प्राण छोड़ देना और पं० जवाहरलाल आदि पर डण्डे पड़ना—ये एक से-एक बढ़कर घाव हमारे कलेजे पर पहुँच रहे हैं। अब यदि नेहरू-रिपोर्ट को भी सरकार ने मान्य नहीं किया—और न करेगी, यह मानकर ही चलना चाहिए—तो क्या यह घाव भी हमारे नेताओं को किसी उग्र काम के लिए उत्साहित न करेगा? यदि महासभा के तथा दूसरे नेतागण नेहरू-रिपोर्ट को सचमुच सफल बनाना चाहते हैं, तो उसके लिए जबतक कोई क्रियात्मक उग्र कार्य-क्रम देश के सामने नहीं रक्खा जायगा तबतक, स्वराज्य का खाका खींचने से, स्वराज्य उनकी जेब में नहीं आ जायगा—इसे वे अच्छी तरह समझ ले। और वे यह बात हमसे ज्यादा अच्छी तरह समझते भी है, पर वे कहाँ तक इसमें पड़ने और मिटने के लिए तैयार हैं, यही हम व्याकुल, उतावले युवकों को देखना है। अन्यथा युवकों ने तो अपना शंख फूँक ही दिया है—आगे भगवान् मालिक है।

सत्ता या सज्जनता?

एक रोज़ मित्रों में अखबारों की वर्तमान स्थिति और कर्तव्य के सम्बन्ध में बातचीत निकल पड़ी। एक ने कहा कि असहयोग के बाद से अखबार वालों में ग़ैर-जिम्मेदारी के भाव बहुत बढ़े हुए पाये जाते हैं, दूसरे ने कहा—डरा-धमका कर या पोल खोलने की धमकी देकर रुपये ऐंठने की प्रवृत्ति भी आजकल बढ़ रही है। ग़ैर-जिम्मेदारी के उदाहरण में बिना जाँच किये खबरें छाप देने, बात को बिना तौले टीका-टिप्पणी कर डालने, कार्यों की अपेक्षा व्यक्तियों की आलोचनाओं को लक्ष्य बनाना आदि बातें पेश की गईं। तब बात इस नतीजे पर पहुँची कि समाचारों के छापने का और टीका टिप्पणी करने का उद्देश्य क्या है? मैंने कहा—समाचार दो उद्देश्य से छापे जाते हैं। एक तो यह कि महत्वपूर्ण घटनाओं से लोग परिचित हो जायँ, दूसरा यह कि जिन व्यक्तियों का सम्बन्ध उन घटनाओं से है, उनपर लोकमत का प्रभाव पड़े। टीका-टिप्पणी के भी दो उद्देश्य हैं—एक तो अन्याय-कर्ता अपने अन्याय को समझ ले और उसका सुधार करने में प्रवृत्त हो, दूसरे लोग उस

अन्याय से वाकिफ हो जायं । आजकल प्राय एक ही बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है और वह है लोकमत को क्षुब्ध करना । इस बात का कम विचार किया जाता है कि यह घटना महत्त्वपूर्ण है या नहीं, यह मामला व्यक्तिगत है या नहीं, और टीका-टिप्पणियों में भी अन्यायकर्त्ता को दबाने और जलील करने की तरफ़ जितना ध्यान रहता है उतना उसके सुधार की ओर नहीं। कुछ ऐसा प्रवृत्ति होती चली है कि हम चूँकि देश-सेवकों में खपते हैं, सम्पादक माने जाते हैं, इसलिए हम सब तरह से अच्छे, हम जो-कुछ करते है ठीक करते हैं, और दूसरे, जिनके पास धन है, सत्ता है, या प्रतिष्ठा है वे सब तरह से बुरे और जालिम हैं, और कोशिश यह होती है कि इन जालिमों के हाथ से धन या सत्ता निकलकर, धन, सत्ता या प्रतिष्ठा हम भले आदमियों के हाथ में आ जाय । एक सम्पादक मित्र ने कहा—हम तो जनता के वकील हैं। जनता का लाभ करना और उसके हकों का प्रस्थापन करना हमारा काम है। वकील जिस तरह अपने मवक्किल की तरफ से लड़ता है और उसे हर तरह जिताने की कोशिश करता है उसी तरह हम सम्पादक प्रजा की विजय की धुन में रहते हैं और उसके सामने दूसरी बातों का लिहाज नहीं करते। मेरा कहना आपसे यह है कि मनुष्यता अथवा यों कहिए कि सज्जनता असली चीज है । सत्ता, धन और प्रतिष्ठा स्वय ऐसी बुरी या निन्दनीय वस्तु नहीं हैं । भले आदमी के पास रहने से इनका सदुपयोग होता है, बहुजन समाज का हित होता है, और बुरे के पास चले जाने से इनका दुरुपयोग और प्रजा का अहित होता है । इसलिए सत्ता, धन आदि सब काम के हाथ से निकलकर दूसरे के हाथ चला जाना गौण है, मुख्य बात तो है धनियों, सत्ताधारियों और समाज में बड़े माने जाने वालों के अन्दर मनुष्यता और सज्जनता के विकास का होना । यदि धन, सत्ता, प्रतिष्ठा स्वय ऐसी बुरी चीज है, जो भले आदमियों को भी बुरा बना सकती है, तो फिर हम अपनेको भला समझने वाले इन वस्तुओं को अपने हाथ में लेकर जनता के हित की आशा कैसे कर सकते हैं ? फिर जब हम प्रत्यक्ष यह देखते हैं कि धन, सत्ता, प्रतिष्ठा से हीन होते हुए भी कितने ही देश-सेवक समझे जाने वाले बड़े उद्दत, बड़े अभिमानी, बड़े जालिम और बड़े सत्ता-लोलुप हैं, तो धन, सत्ता और प्रतिष्ठा की जोड मिल जाने पर वे कितने भले साबित होंगे, जनता की कितनी पर्वा करेंगे, व जनता का कितना हित उनसे होगा ?

इसलिए मेरी नाकिस राय में तो हमें सज्जन बनने का उद्योग पहले करना चाहिए । यदि इसमें हम सफल हो गये तो धन, सत्ता और प्रतिष्ठा अपने आप हमारे पास दौड़ी चली आवेगी और हमारे पास रह कर अपनेको कृतार्थ समझेगी । और यदि वे नहीं आये तो उनके बिना भी हम जन-हित करने में सफल हो सकेंगे । इसके विपरीत आचरण करके हम "अनाभ्रष्ट स्ततोभ्रष्ट" होकर कहीं के न रहेंगे, न सत्ता ही हमारे साथ लगेगी और न सज्जनता ही । सत्ता से सज्जनता अवश्य बड़ी है । अतएव मेरी राय में तो हमारे सम्पादक और देश-सेवक बन्धु अपनेको प्रजा-पक्ष अथवा राज्य-पक्ष, धनी-पक्ष अथवा निर्धन-पक्ष में न बाँटकर सत्य और न्याय का पक्षपाती अपनेको मानें तो इसमे लोगों का अधिक से अधिक कल्याण है। सत्ता और न्याय का घात करके कोई पक्ष अपनेको सबल नहीं बना सकता, क्योंकि बल वहीं होता है जहाँ सत्य और न्याय का अस्तित्व होता है । इसीलिए कहा गया है—'सत्यमेव जयते' 'यतो धर्मस्ततो जय' । ये बड़े अनुभवसिद्ध वचन हैं । इनके मूल मे ससार की आजतक की सफलता और सबलता का इतिहास लिखा हुआ है ।

नीतिमत्ता की पुकार

हाल ही मुझे मालवा और मेवाड में कोई १॥ मास निरन्तर यात्रा करनी पड़ी । इसमें कुछ बातें मेरे कान पर ऐसी आई, जिन्हे सुनकर मेरे हृदय को असह्य वेदना हुई। एक तो यह कि एक शख्स साधु का बाना बना कर, कभी अखबार के नाम पर तो कभी व्यापार के नाम पर, कभी किसी संस्था के लिए तो कभी और तरह से झाँसा देकर भोले-भाले देहाती लोगों से चन्दा लेते फिरते हैं और अपना पेट भरते हैं । उनका जीवन भी रहस्यमय है ।

दूसरे, एक बड़े राज्याधिकारी ने एक संवाददाता की

चिट्ठी बनाई। उसमें लिखा था कि इतने रुपये, इतनी मीयाद के अन्दर, फलाँ पते पर भेज दो, नहीं तो आपके लिए ऐसा-ऐसा पर्चा छप जायगा। यह देखकर तो एक पत्र-सम्पादक के नाते मेरा सिर उनके सामने झुक गया। संवाददाता सम्पादकों की आँखे हैं। वे यदि ऐसी करतूतें करने लगें तो पत्र-व्यवसाय का गला घुट गया समझिए। और फिर ऐसे संवाददाताओं के लेखों, खबरों, टिप्पणियों का क्या असर किसी पर हो सकता है?

एक जगह यह सुना कि दो-तीन शख्स जो पहले देश-सेवकों में खपते थे, अब सी० आई० डी० में हो गये है।

एक बात यह भी सुनी कि एक सेवक का एक स्त्री से अनुचित सम्बन्ध वर्षों से था, जब लोगों को पता लगा तो उन्होने कह दिया, मैंने तो इनसे तभी से गन्धर्व विवाह कर लिया था—सिर्फ लोगों से जिक्र नहीं किया था।

एक कार्य-कर्त्ता की यह चिन्ता मेरे कान तक पहुँची कि देखो भाई, फलाँ बात का जस फलाँ को न मिल जाय—आप-हम को मिले इसका ध्यान रखना।

ये सब बातें ऐसी हैं, जिनमें कुछ अत्युक्ति चाहे हो, पर जिनकी सचाई पर अविश्वास करने का मुझे कोई कारण नहीं है। हम देश-सेवकों को ये नमूने इसलिए पेश कर रहा हूँ कि दूसरे देश-सेवेच्छु इनसे और ऐसी बातों से सावधान रहें, और सेवा का सन्मार्ग उन्हें ठीक-ठीक दिखाई दे। देश-सेवकों की त्रुटियों पर टीका-टिप्पणी करने से मेरे कुछ मित्र मुझ पर नाराज़ होते हैं और उनकी दृष्टि से यह ठीक भी है, पर मेरा यह अटल विश्वास है कि देश-सेवक जितना ही अधिक निर्दोष होगा उसकी सेवा उतनी ही अधिक ठोस, प्रभावकारी और बलवती होगी। यह कहना कि राज्याधिकारी या प्रतिपक्षी इससे बेजा फायदा उठाते हैं और देश-सेवकों को दबाने का, उन्हें नीचा दिखाने का, उन्हें अवसर मिलता है, मुझे नहीं जँचता। क्योंकि एक तो हमारे ये दोष राज्याधिकारियों से छिपे नहीं रह सकते—और छिपे नहीं भी हैं। हमें विश्वास रखना चाहिए कि हमारी छोटी से छोटी त्रुटि को देखने के लिए उनके बड़ी से बड़ी सैकड़ों आँखें हैं। अपनी त्रुटियों को छिपाकर नहीं, उनसे इन्कार करके नहीं, बल्कि उनको दूर करके ही हम समाज और प्रतिपक्षी के आदर-पात्र बन सकते हैं और उनकी वास्तविक सेवा कर सकते हैं। हम अपनी सच्ची कीमत पर समाज में बिकें—बनावटी और दिखावटी मुलम्मा कै दिन तक हमारी कीमत बढ़ा सकता है? समाज-सेवक का एक-मात्र बल है उसकी नीतिमत्ता, यदि वह उसके पास नहीं है तो उसका कोई असर किसी पर अधिक दिन तक नहीं रह सकता। उसकी अन्तिम हालत पहली से बदतर होती है और वह समाज में मुँह दिखाने लायक नहीं रह जाता। कम से कम नीतिमत्ता मे हम प्रतिपक्षी से बहुत ऊँचे न उठ जावेंगे तबतक हमें विजय प्राप्त होना कठिन है। और नीतिमत्ता की सर्वोच्च कसौटी मैं पिछली एक संख्या मे प्रकाशित कर चुका हूँ। धन, बल, सत्ता, धूर्तता मे बढ़ा चढ़ा पर नीतिमत्ता में कमजोर व्यक्ति बालू पर खड़े महल की तरह है और नीतिमान् परन्तु धन, सत्तादि बातों से हीन मनुष्य शामियाने के मध्य-स्तम्भ की तरह है, जिनके पुण्य-प्रभाव के बल पर समाज स्थिर रहता है। फिर देश-सेवक, जो जनता का भला करने और उसे सुधारने के लिए ताल ठोंक कर खड़ा हुआ है, नैतिक दोषों को अपना कर कैसे अपना और समाज का हित कर सकता है?

वर्तमान मजूर-आन्दोलन

मैं स्वयं अपनेको एक मजूर मानता हूँ और मजूर ही रहना चाहता हूँ। जिस दिन मैं एक सच्चा मजूर हो जाऊँगा उस दिन मैं अपनी कलम में आज से ज्यादा जोर का अनुभव करूँगा। उस दिन मजूरों को दो कड़ी बात कहने का मुझे ज़्यादा अधिकार होगा। इन्दौर मे मजूरों की हड़ताल के समय मुझे अपने मजूर-भाइयों की मनोवृत्ति तथा गुण-दोषों के निरीक्षण का खूब मौका मिला। यह मानना पड़ता है कि अभी वे सच्चे अर्थ में पूरे मजदूर नहीं हैं। मजूर की उच्चता, नियमितता, कार्य-दक्षता, प्रामाणिकता और फुर्ती अभी उनमें कम है। वे कई कुरीतियों और दुर्व्यसनों में फँसे हुए हैं और बहुत जल्दी इधर या उधर

बहकाये जा सकते है। अशिक्षा, गन्दगी, बीमारियों, दरिद्रता का तो उन्हें अवतार ही समझना चाहिए। ये सब बुराइयाँ और कमियाँ जबतक दूर नहीं हो जातीं तबतक उनके सगठन और आन्दोलन मे सच्चा और स्वास्थ्यकर बल नहीं आ सकता। अतएव मेरी राय मे मजदूर नेताओं का केवल यही कर्तव्य नहीं है कि वे उन्हें सदा अपने अधिकारों और माँगों के लिए मालिकों से लडाते और हडताले ही कराते रहें, बल्कि इससे भी बडा कर्त्तव्य उनके सामने है, उनके जीवन को उच्च, त्रुटि-हीन और बलिष्ट बनाना। यह उनके अन्दर विभिन्न सुधार-कार्यों की आयोजनायें करके हो सकता है, केवल आन्दोलन या सक्षोभ से नहीं। आन्दोलन, हडताल, सक्षोभ आदि से जो शक्ति उत्पन्न होती है वह यदि इस प्रकार उनके दोषों का दूर करने में न लगाई जायगी तो उससे विशेष और स्थायी लाभ मजूरों को कदापि न होगा। पिछली मई मे जब मैं कलकत्ते मे था तब एक मिल मे मजूरो ने हडताल कर दी थी। जब मजूर नेताओं के सब प्रयत्न व्यर्थ जाने लगे तब उन्होने मजूरों को समझाया—अपने मालिक है, पकड लो उनके पैर। मजूर जब हाथ जोडकर गिडगिडा कर मिल के मैनेजर से कहने लगे—"हजूर, हम आपके बेटा-बेटी हैं, आपकी दी रोटी खाते हैं हमारे बाल बच्चों की तरफ देखिए"—इस दृश्य को देखकर मेरे हृदय को जो वेदना हुई उसे मै प्रकट करने में असमर्थ हूँ। यदि मैं कलकत्ते मे महज एक यात्री न होता, और मजूर-नेताओं से परिचित होता, तो अवश्य उन्हें दस-पाँच भली बुरी सुनाता। लडाया जब तो इतना और अब झुकाया भी इस बुरी तरह कि हाथ जोडकर उन्हें गिडगिडाना पडे। ऐसे नेता नामधारियों का क्या प्रभाव मालिकों और सरकारी लोगों पर पड सकता है और उनसे मजूरों की मान-रक्षा की क्या आशा की जा सकती है? आजकल नेतागिरी जोर पर है—मजूरों के हित की दुहाइयों का जोर है, इसलिए अपना यह कटु अनुभव पाठकों के सामने रख देना मैंने मुनासिब समझा है। मजूरों के सच्चे हित चिन्तक हम उनके दोषों को सुधार कर और गुणों को बढ़ाकर ही कहलाये जा सकते हैं, न कि अपनी लहरों या क्षुद्र महत्त्वाकांक्षाओं का शिकार उन्हें बनाकर।

जिम्मेवार कार्यकर्ताओं के लिए

(एक मित्र को लिखे पत्र से)

" मेरी नाराजगी है आपकी विकार-वशता पर। वह क्षणिक ही क्यों न हो, पर परिणामत भयकर है। आपको उसपर हर हालत में विजय प्राप्त कर लेनी चाहिए। विकार बल नहीं निर्बलता है। वह एक नशा है, जिसमें मनुष्य को सहसा कुछ सूझता नहीं। विकार जब विचार का अनुयायी होता है, तो उसके बल को कोई नहीं रोक सकता। विकार हमारे बल को कई गुना बढ़ाकर हमारे सामने दिखाता है, पर वह धोखा होता है, आत्मवञ्चना होता है। इससे आपको बहुत सावधान होना चाहिए।

असयत उद्गारों का प्रभाव क्षणस्थायी होता है। उनका प्रभाव साधारण लोगों पर ही होता है। सुसस्कृत लोगों पर नहीं। जिस बात का असर सु-सस्कृत लोगों पर नहीं होता उससे सर्व-साधारण का विशेष लाभ होता हुआ नहीं दिखाई देता। गाली की प्रतिक्रिया गाली है। गाली देना गाली मोल लेना है। यह मार्ग शिष्टजनोचित नहीं। हृदय राग-द्वेष-हीन होने पर एक तो गाली निकलती नहीं, दूसरे निकलने पर भी वह गाली ही कहलाती है। महात्माजी यदि गाली देने लगें तो एक तो महात्मापन खो बैठें, और दूसरे लोगों के सामने बहुत बुरी मिसाल पेश करेंगे।

हमारे कार्य का असर केवल हमीं पर नहीं होता; हमारे मित्र और कुटुम्बी जनों पर भी होता है। जबतक उनसे हम लाभ उठाते है तबतक हमें इस बात का भी विचार करना चाहिए कि इससे उन लोगों को क्या-क्या सहना पड़ेगा और उसके लिए वे कहाँ तक तैयार हैं? अर्थात् इसके लिए या तो उनसे सलाह ले लेनी चाहिए, या उसके बुरे फल से उनको बचाने का सामर्थ्य हमारे अन्दर होना चाहिए। हमें कार्य इस तरह करना चाहिए कि हमारे साथियों को कम-से-कम कष्ट हो—हमें अधिक से अधिक हो तो चिन्ता नहीं। हाँ, साथी खुशी-खुशी हमसे अधिक कष्ट झेलने को तैयार हों, तब तो हमारी सफलता निश्चित है, और तपस्या सिद्ध हो रही है, ऐसा समझना चाहिए।

सत्य का मार्ग सीधा और सरल होता है। असत्य का टेढ़ा और अर्ध-सत्य का महाविकट और हानिकर होता है। अर्ध सत्य दोनों को डुबोता है। असत्य उतना भयकर नही, जितना अर्ध-सत्य। असत्य से सिर्फ प्रतिपक्षी को ही धोखा होता है। ये दोनों मार्ग बडे विकट और कण्टकाकीर्ण होते हैं और मुझे तो विश्वास है कि ये मनुष्य को आगे चलकर ऐसा गिराते है कि फिर निराशा के सिवा दूसरा फल शायद ही मिलता हो। अतएव कार्य-कर्ता को सत्य का सरल मार्ग ही ग्रहण करना चाहिए। बल सत्य मे ही होता है। जिसके मूल मे असत्य हो वहाँ बल और शान्ति कैसे रह सकती है?

मेरी राय में आपको कोई भारी काम उठाने के पहले बहुत तैयारी की (Training की) आवश्यकता है। यह बात पुस्तकों के अध्ययन से उतनी नही आ सकती, जितनी ऐसे लोगों के ससर्ग से और प्रत्यक्ष कार्य में उनके साथ पडने से आता है। आपका त्यागभाव, सेवाभाव, लगन और कार्यतत्परता मुग्ध कर लेने वाले हैं, परन्तु इनका सच्चा और पूरा लाभ आपको तथा समाज को तभी मिलेगा, जब पूर्वोक्त सब बातो का पालन हो।

कपट बुरी चीज है, पर विवेक और कुशलता आवश्यक गुण है। सत्य के अनुयायी मे ये दोनों गुण बिना उद्योग किये, अपने आप आजाते है। सत्य जहाँ सूर्य की तरह तेजस्वी, अग्नि की तरह पावक है, वहाँ चन्द्र की तरह शीतल और अमृत की तरह मधुर भी होना है। विवेक और कौशल के मूल में सत्य होता है और अहिसा उसके साथ मिली रहती है। मनुष्य को सत्य का आचरण तो करना चाहिए, पर इस तरह जिससे दूसरे को दुःख न हो, दूसरे का अहित न हो, यही अहिसा की और फलतः विवेक अथवा कौशल की उत्पत्ति होती है। जब हम दूसरे के दुःख का—प्रतिपक्षी के भी दुःख का विचार करेंगे तब वह अपने आप हमारी ओर खिचेगा, और हमारी बात उसे सुननी पडेगी। हम उसे ज़लील करेंगे तो वह भी हमें जलील करने का मार्ग खोजेगा। इसमे यदि हम सत्य और विवेक पर दृढ रहेंगे तो हमारी जीत हो सकती है। अन्यथा नही।

मेरी राजी और नाराज़ी की आप पर्वा मत कीजिए। सभव है, मेरे ही विचार गलत हों। पर मुझे उनपर दृढ़ विश्वास है। मै तो इन्हींके बल पर आपकी सहायता और सेवा कर सकता हूँ।''

सुधारक की भाषा

एक मित्र को लिखे पत्र का यह अंश उपयोगी समझ कर छाप रहा हूँ—

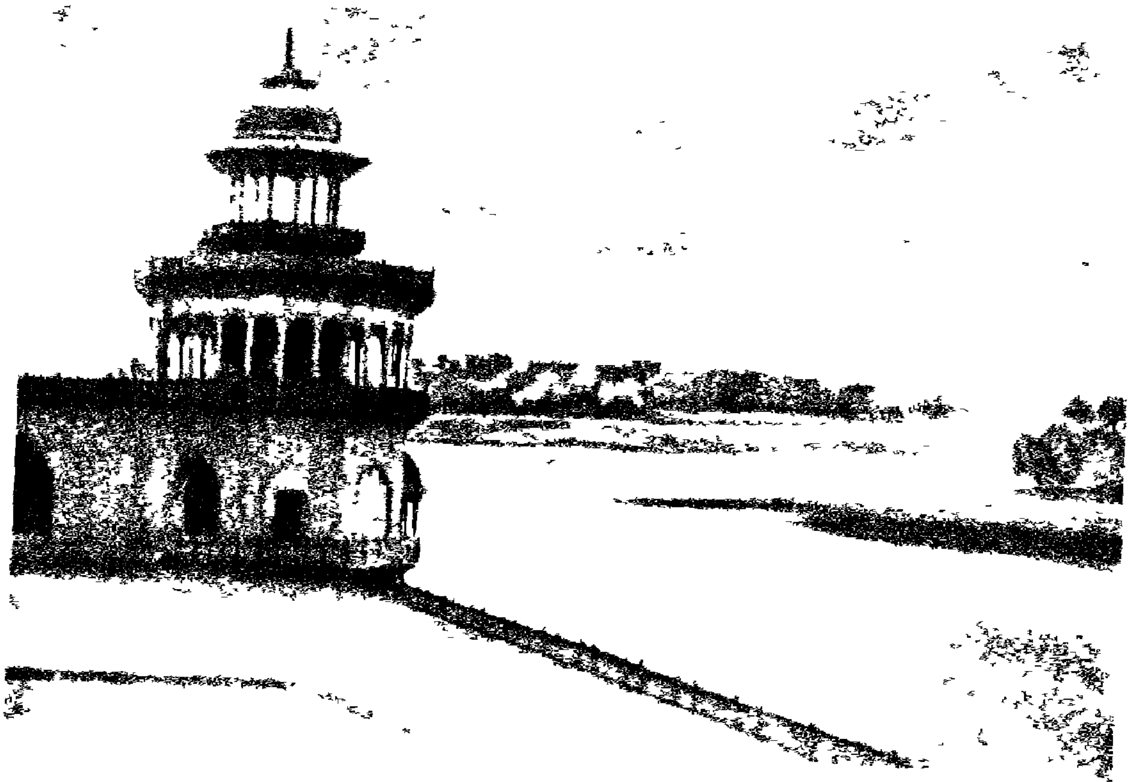
"आपके सब पत्र मिले, आपके दुःख को मैं खूब समझ सकता हूँ। मेरा लिखना व्यक्ति-विशेष के लिए नही, पद्धति के सम्बन्ध मे था। मेरा यह दृढ विश्वास होता जाता है कि रोष और कटुता जिस भाषा मे होते हैं वह सत्य के बहुत नजदीक प्रायः नही होती। सच्चा लेखक और सफल सुधारक बनने के लिए हृदय में अखण्ड और असीम प्रेम भाव होना चाहिए। प्रेम की भाषा तीखी होते हुए भी मीठी लगती है। रोष की भाषा मीठी होते हुए भी कटु मालूम होती है। सुधारक का दुहेरा कर्तव्य होता है—खुद अपना सुधार और दूसरे का सुधार। पहले अपना, पीछे दूसरों का। जबतक हम कम से कम महात्मा गाधी नहीं हो जाते तबतक हमारे अपने सुधार के लिए भी बहुत जगह है। जितना ही हम अधिक सुधरेंगे उतना ही हम थोडे श्रम में दूसरे को सुधार सकेंगे। प्रभाव या बल तेज और कड़ी भाषा में नहीं, निश्चय, निर्भय सत्य आचरण में है। आपके हृदय की मृदुलता मूल्यवान् वस्तु है, परन्तु सुधारक का मन फूल से कोमल, और पत्थर से मजबूत होना चाहिए। दूसरों के दुःखों पर मृदुल और अपने दुःखो-चोटों पर कठोर। शेष फिर।'

विकार बनाम विचार

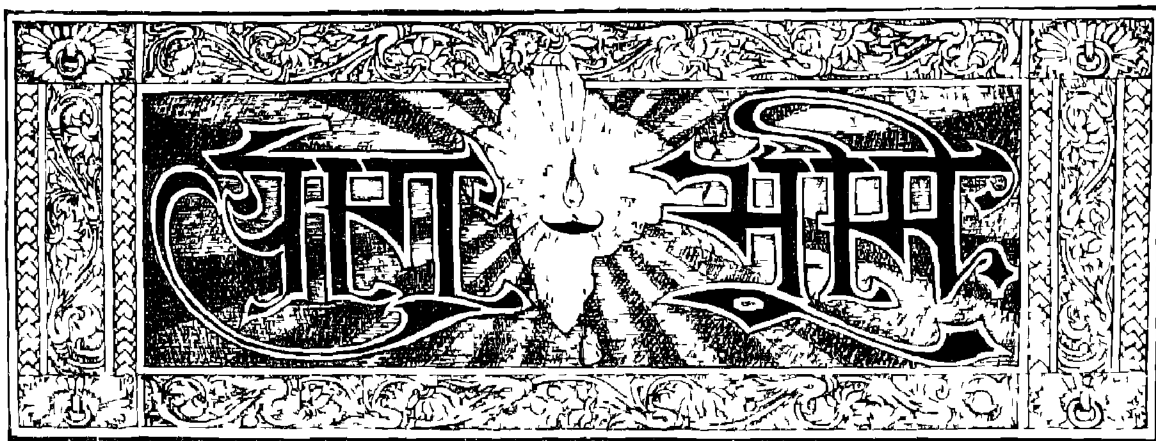
पिछले तीन वर्षों से मेरा बिछौना प्रायः रेल मे या ऊँट आदि पर रहता है इन यात्राओं मे मुझे राजा-रईस, बडे-छोटे अधिकारी, धनी-मानी देशनेता, देश-सेवक, प्रजाजन, दीन-हीन-दुखी प्रायः सब श्रेणी के लोगों से मिलने का अवसर मिलता है। इससे मैंने अच्छी तरह से अनुभव किया है कि देश में सबल और निर्बल दो पक्ष बडी तेजी से संगठित हो रहे है। सत्ता और धन-मान रखने वालों को मैं सबल-पक्ष मे और प्रजापक्ष तथा निर्धन पक्ष को मैं निर्बल-पक्ष में गिन रहा हूँ। दूसरे और कठोर शब्दों मे

विषय-सूची

चित्र-सूची



'त्यागभूमि



(जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका)

आत्मसमर्पण होत जहँ, जहँ विशुद्ध बलिदान।
मर मिटबे की साध जहँ, तहँ हैं श्रीभगवान॥

वर्ष २ — सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर। — अंक ५
खण्ड १ — माघ संवत् १९८५ — पूर्ण अंक १७

विनिमय की आकांक्षा

ऊपर शून्य अनन्त और नीचे है उसकी छाया।
    इनके बीच नाचती है किस मायावी की माया?
विश्व स्तब्ध, नीरव निशीथ, कम्पन में थामा सम है।
    आज त्रिपथगा की लहरों में मिलनादेश विषम है।
क्यों न जीर्ण यह तरी खोल दें आज अगाध किनारे?
    उस तट पर है मलय कर रहा कितने मधुर इशारे।
मधुराका-अञ्चल में हँसता है अमरों का स्वामी।
    आज न रह जाये रहस्य अन्तर में अन्तर्यामी।
इस जीवन से उस जीवन का जो विनिमय हो जावे।
    तो यह क्षुद्र अनन्त गर्भ में प्रियतम के मिल जावे॥

रामनाथलाल 'सुमन'

मुस्लिम काल में हिन्दू-मुस्लिम-समस्या

['त्यागभूमि' के लिए]

(२)

यदि आजकल की तरह उस समय हिन्दू-मुस्लिम जनता में वैमनस्य होता, तो उसकी झलक हमें लौकिक साहित्य में अवश्य दिखाई देती। क्योंकि, किसी समय का साहित्य उस समय की लिखित प्रतिकृति होता है। यह ठीक है कि इस समय राजशक्ति के प्रबल होने से, गरीब किसान प्रजा के हिन्दू-मुसलमान जमींदारों के अत्याचारों से तंग होने से, सेनाओं में भर्ती होने के लिए नीच जाति के लोग मुसलमान बन जाते थे। ऊंची जाति के हिन्दू सरदारों ने बादशाहों के यहाँ नौकरियाँ कर ली थीं, पर साधारण हिन्दुओं के पास कोई मार्ग न था कि जिससे वे हिन्दू रहते हुए आसानी से जीविका चला सकें। अतः अवस्थाओं से लाचार होकर वे हिन्दू मुसलमान बन जाते थे, परन्तु अवस्थाओं के बदलते ही वे बदल भी जाते थे— जैसे, राजा हरदत्त, महमूद गजनी के सामने ससैन्य मुसलमान बन गया और फिर उसके वहाँ से बाहर होते ही हिन्दू बन गया था। ऊंची जाति के कुलीन हिन्दू अपने गुणों के कारण हिन्दू रहते हुए भी जीवन-निर्वाह कर सकते थे, परन्तु नीची जातियों के पास कोई चारा न था। इसीलिए हम देखते हैं कि भारतीय राष्ट्र में नीची जातियों से होने वाले मुसलमानों की संख्या ज्यादा है। बंगाल में नीची जाति के 'काला पहाड़' नामक हिन्दू ने इस्लाम स्वीकार करके बंगाल में इस्लाम का प्रचार किया। मद्रास में भी इस्लाम का प्रचार सद्भियारों तथा अछूतों में ही हुआ था। उत्तर-भारत में किसानों तथा नीची जाति के लोगों में इस्लाम का ज्यादा प्रचार किया गया। इतनी अनुकूल अवस्थाओं के होने पर भी भारत में इस्लाम उस जोर से नहीं फैला, जैसा कि दूसरे देशों में। इसका कारण यह है कि दूसरे देशों में राजशक्ति और ब्राह्मण-शक्ति कमजोर थी, परन्तु यहाँ—भारत में—ब्राह्मणों का जनता पर प्रभाव था—यहाँ के सन्त तथा कवि-लोगों के सामने यह आदर्श रखते थे कि हमें राजशक्ति की परवाह नहीं करनी चाहिए, स्वतन्त्र रहना चाहिए। जनता को अपने हाथ में रखने के लिए भिन्न भिन्न समयों में भारत में आने वाले राजवंशों— राजपूतों, अफगानों, पठानों तथा मराठों—ने ब्राह्मणों को अपनाकर उनके द्वारा जनता को अपने काबू में रखने की नीति रक्खी थी। ब्राह्मणों की शक्ति तथा स्थिति मुसलमान शासन काल में किस प्रकार अबाधित रही, इसके लिए फ्रेन्च सेना के एक अफसर की पुस्तक का यह उद्धरण देखिए—

"बनारस में, जिसकी प्रतिष्ठा वहाँ के विद्वानों के कारण अब भी बनी हुई है, *ब्राह्मणों का अध्ययन आज भी जारी है।* नवाब ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति खो दी है और अब वह अंग्रेज कम्पनी का एक दीन गुलाम मात्र रह गया है।

"यदि बनारस किसी विजेता के शस्त्रों द्वारा भस्म भी कर दिया जाय तो भी उस युद्ध के अन्धकार में ब्राह्मण लोग अपने अध्ययन से च्युत नहीं होंगे। मुगल साम्राज्य में जितनी क्रान्तियाँ हुईं, तथा मुसलमानों के आक्रमण से बंगाल की जो दुर्दशा हुई, उन सबके बीच भी वे लोग अपने अध्ययन, अपने गुण, अपने रीति-रिवाजों की कोमलता, अपने सिद्धान्तों की गोपनीयता, अपने वंश एवं सदाचार की उच्चता की रक्षा में ज्यों-के-त्यों बने रहे। उनके इन गुणों की, उनके उन विजयी शत्रुओं ने भी प्रशंसा की है जिन्होंने स्वतः अपना नीचपन स्वीकार किया और उनके प्रति विश्वव्यापी आदर-प्रदर्शन में भाग लिया है। इस प्रकार राज्यक्रान्तियों और दुनिया की घटनाओं की अपेक्षा अधिक उच्च विधि के साथ उन्होंने प्रत्येक जाति के मन पर अपनी महत्ता की छाप कायम रक्खी है। शस्त्रों द्वारा विजित साम्राज्य के बिना ही उन्होंने सब पर विजय पाई है, और विश्व के बीच अकेले होकर भी उन्होंने स्वयं समय की गति पर भी विजय प्राप्त की है।"

इन ब्राह्मणों ने अपने प्रभाव से, अपने तत्त्वज्ञान के द्वारा, मुसलमानी शासन-काल में भी जनता पर किसी

किस्म के अत्याचार की आँच नहीं आने दी। हिन्दुस्थान की इस ब्राह्मण-वृत्ति ने मुसलमानों पर भी असर किया। उनके विचारों को और उनकी कल्पना को भारतीय बना दिया। मुसलमान होने पर भी उन्हें देश भाषा हिन्दी में ब्रज-रंग-रलियों का वर्णन करने में मजा आता था। इस काल के साहित्य को देखिए तो मुसलमान संस्कृत सीखते और यहाँ के तत्त्वज्ञान को अपनाते थे। संस्कृत के हिन्दू विद्वान मुगल बादशाहों से धार्मिक मतभेद होने पर भी उन्हें राजा की तरह मानते थे, उनके दरबारों में जाते और उन्हें अपनी कृतियाँ भेंट करते थे। राजकवि राज दरबारों में जो कविताएँ बनाते थे, उनसे पता लगता है कि वे उन राज-दरबारों को विदेशी राज-दरबार नहीं समझते थे। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि राजपण्डित जगन्नाथ देश के भिन्न भिन्न राज-दरबारों में भटक कर अन्त में यह श्लोक कहते हैं—

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा, मनोरथान्पूरयितु समर्थः ।
अन्यैर्नृपैः परिदीयमानं, शाकाय वा स्याल्लवणाय स्यात् ॥

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि देव ने अपनी कृति औरंगजेब के पुत्र आजमशाह को भेंट की थी —

... आजमसाहि सपूत ।
... अष्टयाम सजूत ॥

केशव ने जहाँगीर-चन्द्रिका लिखकर बताया कि मतभेद या धर्मभेद होने पर भी वह राजा को राजा समझते थे। हिन्दी-भाषा में इस काल के जितने भी महाकवि—सूरदास, केशव, बिहारी, तुलसीदास आदि—हुए हैं, उनमें से भूषण को छोड़ और किसी ने कलि-वर्णनों तक में मुसलमानों के प्रति घृणापूर्ण भाव प्रकट नहीं किये। नहीं तो इनके जैसे कवियों के लिए उस समय की जनता का स्थिति को अपने काव्यों में चित्रित करना कठिन कार्य नहीं था। इन महाकवियों के काव्य पढ़ने से मालूम होता है कि साधारण जनता उस समय अमन-चैन में थी।

हिन्दी-भाषा के साहित्य का इतिहास जानने वाले जानते हैं कि इस साहित्य को बनाने में मुसलमानों तथा हिन्दुओं का सम्मिलित हाथ था। आजकल की तरह उन्हें अपनी फारसी या उर्दू से विशेष पक्षपात नहीं था। बैरामखाँ के पुत्र रहीम की कविता का एक उदाहरण हम पेश करते हैं, जिससे पता लग सकता है कि मुसलमानों ने हिन्दुस्थान की कल्पनाओं को किस प्रकार कविताओं में स्वीकार किया था—

अहल्या पाषाणः प्रकृतिपशुरासीत् कपिचमू ॥
र्गुहोभूच्चाण्डालस्त्रितयमपि नीतं निजपदम् ॥
अहं चित्तेनाश्मा पशुरपि तवार्चादिकरणे ।
क्रियाभिश्चाण्डालो रघुवर न मामुद्धरसि किम् ॥

इस प्रकार मलिक मुहम्मद जायसी आदि कवियों ने अपने काव्यों में स्पष्ट दिखा दिया है कि काव्य के भाव संसार में वे भी हिन्दुस्थानी हैं। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका (कार्तिक) में प्रकाशित यह सूची हमारे इस आशय को और भी अधिक स्पष्ट कर देगी—

ग्रन्थ का नाम	संवत्	लेखक
मृगावती	१५६६	कुतबन शेख
मधुमालती	१६ वीं सदी	मंझन कवि
पद्मावती	१६०५	मुहम्मद जायसी
माधवानल कामन्द०	१६४८	आलम कवि
चित्रावली	१६७०	उस्मान कवि
ज्ञानदीपक	१६७६	शेख नवी
हंस जवाहिर	१७२४	कासिमशाह
इन्द्रावती	१८०१	नूरमुहम्मद
प्रेमरतन	१९०५	फाजिलशाह
चित्रमुकुटकी कथा	२० वीं सदी	अज्ञात

राज दरबारों के कवि तथा अन्य प्रसिद्ध कवि समय-समय पर अवस्था तथा परिस्थिति भेद के कारण जनता की मनोवृत्ति को असली रूप में चित्रित करने में संकोच भी कर सकते हैं, परन्तु दिन-रात जनता में भ्रमण करने वाले सन्त, फकीर, तथा साखी गाने वाले लोगों की साखियाँ और वाणियाँ लोगों की जबान पर चढ़ जाती हैं, और जनता के भावों को बनाने तथा प्रकट करने वाली होती हैं। रामानन्द, कबीर, नानक, दादू, पलटू, बुल्लाशाह, यारी, ये सब अपने गीतों में हिन्दू-मुसलमानों के साम्प्रदायिक भावों की निन्दा करके उन्हें कूपमण्डूकता और अन्धविश्वासों से ऊपर उठाने का यत्न करते हैं।

बुल्लाशाह मुसलमान थे, उनकी यह साखी सुनने लायक है—

ना खुदा मसीत लभदा न खुदा खाना काब
ना खुदा कुरान किताबा ना खुदा नमाज
मसीतां विच कौन रहंदा आशिक रहंदा अलग

इस प्रकार के सन्त प्राय जनता मे भ्रमण करते थे, वहाँ लोकमत को बनाते थे। आज भी देहातो के मेले-त्योहारो को देखिए। गाने वाले देहाती जिन गीतों को गाते है, उनमे हिन्दू-मुसलमान का फर्क नहीं किया जाता—दोनो अपनी-अपनी धुन मे मस्त होकर जनता को मुखातिब करते है। इन गानो ने लोगो के दिलो से कट्टरता को दूर कर दिया था। परन्तु आज 'मेरे मौला बुलाले मदीने मुझे' आदि बाजारो के गीत, तथा देहातों और गाँवों तक मे सरकारी अफसरो का हिन्दू मुसलमान-भाव को फैलाना, इस वैमनस्य को बढ़ा रहा है। एक उद्धरण देकर इस विषय को समाप्त करते है।

संवत् १७२५–८० दिल्लीवासी मुसलमान यारी साहब रत्नावली मे लिखते है—

ना वह रहत ना रहत अकेला, हिन्दू तुरक-से न्यारा है।
साइ दरवेश दरस जिन पायो, सोई मुसलिम सारा है?
आवे न जाय मरै नहीं जीवै, 'यारी' यार हमारा है॥

भीमसेन विद्यालंकार

यूरोप के अनुभव

['त्यागभूमि' के लिए]

(१)

जर्मनी, फ्रांस और स्वीजरलैण्ड सहित इस महाद्वीप मे यह मेरा दूसरा भ्रमण है, और भिन्न-भिन्न अवसरो पर इंगलैण्ड के प्रत्येक भाग मे जाकर वहाँ के मनुष्यों के सब हाल-चाल और दशाओं को भी मै देख चुका हूँ। अलावा इसके अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के आदमियो से लम्बे वार्तालाप करने का अवसर भी मुझे मिला है, जिन्होंने महायुद्ध से लगातार अबतक बड़ी सावधानी के साथ स्थिति का अध्ययन किया है और जो बढ़ती हुई आशा-आशंकाओं के साथ प्रगति के उतार चढ़ाव का सूक्ष्म निरीक्षण करते रहते हैं। अतएव, इंग्लैण्ड तथा शेष महाद्वीप मे यूरोप की आज जो स्थिति मैने देखी है, उसपर अपने विचार प्रकट करने के लिए मुझसे कहा गया है।

इसमे सन्देह नहीं कि यूरोप की सामान्य दशा धीरे-धीरे उन्नत हो रही है, हालांकि यह उन्नति अभी तक निश्चित तौर पर राजनैतिक क्षेत्र मे नहीं पहुँची है। वहाँ तो अभी भी वही पुरानी धूर्ततापूर्ण सन्धियाँ अबाध्यरूप से चली आ रही है और एक दूसरे राष्ट्र के प्रति स्पर्धा भी लगभग अटूट ही बनी हुई है। इसका कारण बतलाना बड़ा मुश्किल है, क्योंकि राजनीति के बाहर का यूरोप का सारा वातावरण निश्चित तौर पर बदल गया है। इससे तो केवल यही जाहिर होता है कि राजनीति की भित्ति पर स्थापित यूरोप का राष्ट्रवाद अभी भी कितना दृढ़ बना हुआ है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय विचार का प्रवेश कराना कितना अधिक कठिन है।

हाँ, आर्थिक दृष्टि से सब ओर बन्धन टूटते हुए मालूम पड़ते हैं और पूँजी अपने सतत वृद्धिगत प्रवाह से एक देश से दूसरे को जा रही है। संसार के बड़े बड़े धनिक एक दूसरे से मिलते और अपने आर्थिक-हितों की व्यवस्था करते हैं—और, उन्हें उतनी अधिक कठिनाई नहीं होती, जितनी राजनीतिज्ञों को अपनी सन्धियों की व्यवस्था करने मे

होती है। युवक-आन्दोलन, स्त्री-आन्दोलन इत्यादि अधिक सर्व-प्रिय हलचलें बड़ी आसानी के साथ राष्ट्रीय सीमाओं से आगे बढ़ी जा रही हैं। हर साल ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की वृद्धि ही दिखाई पड़ती है, जो सारे ग्रीष्म-भर एक सिरे से दूसरे सिरे तक होते रहते हैं। फिर स्वयं जेनेवा में संसार की सारी बड़ी-बड़ी हलचलें और साहचर्य (Fellowships) सम्मिलित केन्द्र पा रहे हैं और वहाँ इसे सम्भव बनाने के लिए धन की कठिनाई भी बहुत कम है। स्वयं जेनेवा नई दिल्ली की तरह, एक ओर पुराने शहर की सीमाओं से कहीं आगे बढ़ रहा है और झील के किनारों पर संसार की एक नई राजधानी बन रही है। हालाँ कि अभी तक यह वृद्धि लगभग पूरे तौर पर यूरोप तक ही परिमित रहा है, एशिया तो केवल एक परिशिष्ट या पुछल्ले के तौर पर रहा है, मगर इतने पर भी सारे महाद्वीपों को शामिल रखने वाले विश्वव्यापी आन्दोलन का आरम्भ हो चुका है और यह लगभग निश्चय है कि जेनेवा में जो श्रीगणेश हुआ है वह जारी भी अवश्य रहेगा। ऐसे काम के लिए स्विज़रलैण्ड में इस शहर के चुनाव के कई कारण हैं। सर्व-प्रथम तो स्विज़लैण्ड को ही लीजिए। यह तो एक ऐसा देश है जो बिलकुल तटस्थ है। साथ ही वहाँ राजनैतिक तथा धार्मिक दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता एवं प्रगति की वायु भी बहती है। फिर संसार की यह नई राजधानी कई प्रकार से प्रगति का अपना ही रास्ता पकड़ेगी। यह एक बड़े महत्व की बात है कि संसार की यह भावी राजधानी किसी पुरानी महान राजसत्ता के साथ जकड़ी हुई नहीं है और इसलिए अतीत के जाल में पड़े बिना अपने खुद व्यक्तित्व को उन्नत कर सकती है।

यहाँ यूरोप में मैं देखता हूँ कि इंग्लैण्ड प्रगति के बजाय प्रतिक्रिया के लिए ही मशहूर हो चुका है। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति यूरोप में कोई प्रेम नहीं रहा है। स्वार्थपूर्ण हितों के लिए चाहे ग्रेट-ब्रिटेन में मित्रता के प्रयत्न होते रहे, परन्तु यह निश्चय है कि साथ-साथ यूरोप-भर में यह ख़याल फैला हुआ है कि अतीत काल की नाई भविष्य में भी ग्रेट-ब्रिटेन अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा करेगा। इसीलिए जब उसके विश्वव्यापी साम्राज्य में कोई कठिनाई उपस्थित होती है, जिससे कि किसी हद तक राजनैतिक क्षेत्र में उसकी शक्ति और प्रभाव को धक्का पहुँचने की सम्भावना हो, तो करीब करीब सबको सन्तोष सा होता है।

मेरे लिए निश्चयात्मक रूप से यह कहना कठिन है कि क्या हो रहा है, परन्तु जब कि मैं यहाँ यूरोप में हूँ, मुझे इस बात का पता है कि आज न केवल फ्रांस और जर्मनी जैसी महाशक्तियों में, बल्कि छोटी-छोटी शक्तियों (देशों) में भी ग्रेट-ब्रिटेन के प्रति सद्भाव का अभाव है। सारे महाद्वीप में इस तरह का एक ख़याल बद्धमूल है कि यूरोप का वास्तविक संघ, चाहे वह आरम्भ में बिलकुल आर्थिक ही क्यों न हो, सम्भवतः अमल में नहीं आ सकता, जब कि ग्रेट-ब्रिटेन एक ओर तो अपने विश्वव्यापी साम्राज्य के द्वारा यूरोप के प्रभाव के दायरे से बाहर रहता है और दूसरी ओर यूरोपीय राजनीति में भी बराबर दख़लदराज़ी कर रहा है। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, इसे शब्दों में रखना और इसका कारण बतलाना कठिन है, परन्तु स्वयं यूरोप में जितना ही अधिक अध्ययन मैंने उसकी स्थिति का किया है, उतना ही अधिक मैंने इस बात को जाना है कि ग्रेट ब्रिटेन दिन-ब-दिन अधिक से-अधिक अकेला होता जा रहा है और साथ-ही-साथ यूरोपीय शक्तियों द्वारा अधिक-से अधिक नापसन्द किया जा रहा है।

सी० एफ० एण्ड्रूज़ (लन्दन)

अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यवित्परिषद्

['त्यागभूमि' के लिए]

सति विविध विधर्म्ये देश भाषादि भेदे
हृदि विलसति विद्या प्रीति साधारणो यः ।
मिलितुमपि च नानापार्श्वतान्मचकर्ष
स जयतु खलु लोके दुर्लभो बन्धुभाव ॥

विद्या का आनन्द असीम है और विशेषतः उस विद्या का, जो इस स्वार्थी दुनिया मे प्रत्यक्ष लाभदायक नहीं, और इसीलिए जिसकी ओर जन-साधारण का प्राय दुर्लक्ष्य रहता है। समय और स्थल दोनो की दृष्टि से प्राचीन बातो का ज्ञान प्राप्त करने वाले या उसकी खोज मे परिश्रम करने वाले लोग प्रत्येक देश मे बहुत थोडे रहते है। परन्तु इसी क्षेत्र मे कार्य करने वाले विशेषतः पाश्चात्य प्राच्यवित लोगो की अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् कई सालो से होती आ रही है। इस परिषद् का प्रथम अधिवेशन पेरिस मे सन् १८७३ मे हुआ था। तबसे १९१२ तक एक, दो, तीन या चार सालो के अन्तर से इस परिषद् के १६ अधिवेशन हो चुके थे, जिनके स्थान और वर्ष नीचे लिखे अनुसार है —

(१) पेरिस १८७३ (२) लन्दन १८७४
(३) सटपीटर्सबर्ग १८७६ (४) फ्लारेन्स १८७८
(५) बर्लिन १८८१ (६) लइडन १८८३
(७) वीएना १८८६ (८) स्टाकहोम १८८९
(९) लन्दन १८९२ (१०) जिनेवा १८९४
(११) पेरिस १८९७ (१२) रोम १८९९
(१३) हैम्बर्ग १९०२ (१४) अलजियर्स १९०५
(१५) कोपनहेगेन १९०८ (१६) एथेन्स १९१२ ।

एथेन्स के अन्तिम अधिवेशन के बाद अगला अधिवेशन ऑक्सफ़ार्ड मे सन १९१५ मे होना निश्चित हुआ था। पर इस बीच महायुद्ध छिड गया और पाश्चात्य लोग स्वभावत उसमे मग्न हो गये। युद्ध समाप्त होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष, विद्वेष, प्रद्वेष तथा आर्थिक और मनुष्य-विषयक हानि आदि कारणो से यह अधिवेशन भविष्य पर टाला जाता रहा। अन्त मे १९२८ ई० मे यह अधिवेशन ऑक्सफोर्ड मे हुआ, जिसमे थोडा भाग लेने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ। 'त्यागभूमि' के पाठको के लिए इसी का कुछ हाल यहाँ दिया जाता है।

प्रबन्धकारिणी समिति की स्थापना जून १९२७ मे ही हो चुकी थी। ऑक्सफोर्ड के संस्कृत अध्यापक डा० टामस इसके अध्यक्ष थे। अधिवेशन की सफलता का अधिकांश श्रेय आप ही को है। सब प्रबन्ध बडी कुशलतापूर्वक किया गया था। आरम्भ मे अधिवेशन के निम्नलिखित नौ विभाग किये गये थे —

(१) साधारण विभाग
(२) असीरिया, मेसोपोटामिया तथा एशिया माइनर-विभाग
(३) मिश्र और आफ्रिका-विभाग
(४) मध्य-एशिया या उत्तरी-एशिया-विभाग
(५) इन्डोचीन, मलाय-एशिया तथा पालिनेशिया विभाग
(६) भारतवर्ष तथा ईरान विभाग
(७) हिब्रू तथा एरामिक भाषा-विभाग
(८) इस्लाम विभाग
(९) प्राच्यकला-विभाग

सब देशों के प्राच्यवित पण्डितों को अपने-अपने अभ्यस्त विषयो पर एक लेख लिखकर भेजने की विज्ञप्ति प्रकाशित की गई थी। विज्ञप्ति के अनुसार कई लेख आये। खासकर भारतवर्ष विषयक लेखो की संख्या इतनी बढ गई कि अन्त मे छठे विभाग के पहले दो और फिर तीन विभाग करने पडे। लेखो के लिए फ्रेंच, जर्मन और अंग्रेजी तीन भाषाये नियत थी, पर लेखक की इच्छा हो तो अन्य भाषा मे भी लेख लिखकर पढने की उसे मुमानियत न थी। कुछ लेख अरबी मे भी पढे गये। प्रबन्धकारिणी-समिति ने लेख पढे जाने का समय ऐसी बुद्धिमत्ता से निश्चित किया था कि अपने विषय के सब लेख सुनने मे किसी को ज़रा भी

असुविधा न होती थी। कुछ लेख मैजिकलैण्टर्न की सहायता से चित्र दिखाकर भी पढ़े गये। कुल मिलाकर २५२ लेख पढ़े गये, जिनमें ६३ छठे विभाग में थे। भारतीय विद्वानों के कुल मिलाकर २६ लेख थे। प्रतिनिधियों की संख्या २१३ थी जो १८ राष्ट्रों, ५८ विद्यापीठों और ६५ संस्थाओं की ओर से चुने गये थे।

लेख भिन्न-भिन्न विषयों पर थे। अपने-अपने विभाग में विद्वान् लोगों के लेख पढ़ने के लिए समय नियत किया जाता था, जिसके पश्चात् उस विषय पर थोड़ी चर्चा भी होती थी। कुछ लेख बड़े महत्त्व के और अत्यंत खोज-पूर्वक लिखे हुए थे। पर कुछ ऐसे भी थे, जिनमें कुछ तत्त्व न था, प्रसिद्ध विद्वानों के थे, इसीलिए उपस्थित सज्जन उन्हें सुनते थे। भारतीय विद्वानों के लेखों में से बहुत-से, अत्यंत खेद के साथ कहना पड़ता है, इसी श्रेणी के थे। तिसपर भी बहुतेरे लेखक अनुपस्थित थे, जो मिल जाता वही ऐसे लेख पढ़ने के लिए खड़ा कर दिया जाता। लेखों में नवीनता का नाम न था। कई तो पहले छपे हुए और पढ़े हुए भी थे। ऐसी दशा में यदि भारतीय विद्वत्ता का नाम ऊँचा न रहे तो आश्चर्य ही क्या? यदि दो चार लेख ऐसी ऊँची श्रेणी के न होते जो लेखक की अनुपस्थिति में पढ़े जाने पर भी सर्वमान्य हुए तो हमारी विद्वत्ता की पूरी भद उड़ती। जान पड़ता था, बहुत से लेखकों ने केवल अपना नाम छपाने की गरज से कुछ लिखकर भेज दिया था। आगे से हमें इस विषय में अधिक सचेत रहना चाहिए।

अधिवेशन का आरंभ २७ अगस्त को रात के ९ बजे हुआ। सभापति लार्ड चामर्स ने छोटी-सी वक्तृता के बाद सब प्रतिनिधियों का केवल मीठे शब्दों से ही नहीं बल्कि मीठी-मीठी चीजों से भी स्वागत किया। तत्पश्चात् लगातार चार दिन सुबह ९॥ से १ बजे तक और शाम को ५॥ से ७ और ९ से १०॥ तक लेख पढ़े जाते रहे। रोज कहीं-न-कहीं भोज या चाय-पार्टी भी होती। २८ तारीख की दोपहर को अंग्रेजी सरकार की ओर से सब प्रतिनिधियों को भोज दिया गया था। ३१ ता० को परिषद का रात्रि-भोज था। इस भोज में जाते समय बड़ी अव्यवस्था रही। न तो समय ठीक रहा, न बैठने का प्रबंध। थोड़ी देर के लिए तो यह भ्रम होने लगा कि हम अत्यंत सुसंघटित और वक्त के पाबंद लोगों के देश में आहूत अतिथि हैं या टाउनहॉल के प्रसाद के लिए बिना बुलाये आये हुए अव्यवस्थित भारतीय देहाती? पर थोड़े ही समय में सब व्यवस्था जम गई। शाकाहारी लोगों के लिए भी अच्छा इंतजाम था।

साधारण सभा के समय और विशेषतः भारतीय विभाग के अधिवेशन में अमेरिका के वयोवृद्ध अध्यापक लॅनमन साहब ने एक बड़ी मार्के की बात कही। भारतीय विषयों का विचार करते समय प्रायः यूरोपीय विद्वान् उन्हें केवल प्राचीन वस्तु की दृष्टि से ही देखते हैं। इसपर कटाक्ष करते हुए आपने कहा कि भारतीय वस्तुओं से और प्राचीन भारतीय सभ्यता के अनेक अंगों से यूरोपीय सभ्यता बहुत कुछ सीख सकती है। परिषद् के रात्रि-भोज के समय भी बैरिस्टर यूसुफअली साहब ने यही बात बड़े अच्छे ढंग से दुहराई। आपने कहा, 'एक समय वह था, जब हम भारतवासी सब पाश्चात्य बातों को बुरी नजर से देखते थे और केवल अपनी ही सभ्यता की डींग हाँकते थे। पर समय पलट गया है। भारतवासियों को आध्यात्मिक उन्नति के लिए आधिभौतिक पाश्चात्य संस्कृति की अनेक बातें सीखनी चाहिएँ और साथ-साथ पाश्चात्य संस्कृति को भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि जबतक वह पूर्व की आध्यात्मिक बातें न सीखेगी उसकी आधिभौतिक उन्नति अपूर्ण ही रहेगी।'

इसी दृष्टि से परिषद ने एक प्रस्ताव पास किया। सब विद्वान् लोग इस एक बात पर सहमत थे कि भारत के बाहर रहकर भारतीय बातों के सीखने से उनका यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता। आँख और कान के बीच का यह अंतर निकाल डालने के लिए यह प्रस्ताव पास किया गया कि भारत-सरकार से प्रार्थना की जाय कि भारतवर्ष में प्राच्यविद्या की एक ऐसी संस्था खुले, जहाँ पाश्चात्य तथा अन्य देशों के विद्वान भारतीय विद्वानों के साथ रहकर सुविधापूर्वक विचार-विनिमय कर सकें। इस प्रस्ताव के अनुसार भारत-सरकार कुछ करे या न करे, पर अंतर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्याविद लोगों की दृष्टि किस ओर झुक रही है, यह प्रस्ताव उसका स्पष्ट प्रमाण है।

शनिवार ता० १ सितम्बर के दिन अंतिम साधारण सभा हुई, जहाँ सब प्रस्ताव पास किये गये और आगामी अधिवेशन के लिए लैडेन (इंग्लैंड) का निमंत्रण स्वीकार किया गया। प्राच्यविद्या इस समय दुनिया भर में भ्रातृभाव उत्पन्न करने का एक बड़ा साधन है, इस बात पर जोर देते हुए श्री लॉनमन साहब ने कहा, 'सांसारिक स्वार्थों के वशीभूत होकर स्वार्थी लोग एक दूसरे के प्रति द्वेष फैलावें या चाहे जो करें, पर इस निरपेक्ष विद्या से विभूषित हम लोगों को यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि विश्वबन्धुत्व का प्रसार ही हमारा कर्त्तव्य है।' सच मुच यह देखा गया है कि जब हृदय किसी एक ही भाव से भरा रहता है तब न तो धर्म-भेद चित्त दूषित करता है, न देश-भेद, न भाषा-भेद। एक भाषा, एक धर्म, एक देश के रहने वाले लोगों में बधुता हो तो आश्चर्य ही क्या? विश्वबधुत्व इन भेदों की ओर नहीं देखता। इन भेदों में जो व्यापक आत्म भेद है वही उसका लक्ष्य है। परमात्मा करे, यह विश्वबधुत्व दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता रहे।

हरि रामचन्द्र दिवेकर (पेरिस)

सोवियट रूस में शिक्षा-प्रचार

(१)

मानव समाज की उन्नति और किसी देश के उत्थान में शिक्षा का कितना महत्वपूर्ण स्थान है, यह किसी भी समझदार मनुष्य से छिपा नहीं है। जिस देश में शिक्षा का समुचित प्रचार उसके लिए वांछनीय सहूलियतें और उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शिक्षण-संस्थायें हैं, वह देश संसार में आज अपना सिर ऊँचा उठाये अपनी गौरव-पताका फहराता रहता है। जहाँ शिक्षा का अभाव है, और जहाँ के लोग अज्ञान-अन्धकार में पड़े हैं, वह देश न तो किसी भी प्रकार अपनी उन्नति कर सकने में समर्थ होता है, और न ऐसे देश की संसार में कहीं कुछ पूछ होती है। आधुनिक रूस ने शिक्षा के इस असली महत्व को भलीभाँति समझा है और यही कारण है कि सोवियट शासन के आरम्भ-काल से ही वहाँ वाले अशिक्षा का अन्त करने के लिए जी-जान से जुटे हुए हैं। सिर्फ गत दस वर्षों में इस दिशा में उसने जो उन्नति की है, वह चकित करने वाली तथा किसी भी देश के लिए सर्वथा अनुकरणीय है।

जार के जमाने में रूसी जनता की शिक्षा का प्रबन्ध विशेषकर पादरियों के हाथ में दे दिया गया था। देश की विभिन्न श्रेणियों के लोग प्रारम्भिक शिक्षा तक प्राप्त करने से रोके जाते थे। कुछ थोड़े से आदमी जो प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त भी कर लेते थे, उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने की मनाही थी। लोग तड़प तड़प कर रह जाते थे, पर उन्हें उच्च तथा अच्छी शिक्षा प्राप्त करने की इजाजत नहीं मिलती थी। उन दिनों वहाँ पर शिक्षा सिर्फ खास और धनी मानी व्यक्तियों के लिए रक्षित-सी कर दी गई थी। जो थोड़ी सी शिक्षा दी भी जाती थी, उसका उद्देश्य शिक्षार्थी को जार की भक्ति सिखाना, कट्टर धार्मिक बनाना, तथा सरकारी दफ्तरों के लिए क्लर्क तैयार करना मात्र था। चतुर्थ शिक्षा-मन्त्री शिशकोव ने जार अलेकजैण्डर की अनुमति से उस समय इस आशय की एक घोषणा प्रकाशित करा दी थी—"ज्ञान तभी लाभदायक है, जब वह जनता को परिस्थिति और जरूरत के अनुसार नमक के समान स्वल्प परिमाण में उसे दिया जाय . सभी जनता को अथवा उनमें से अधिकांश को शिक्षित करना लाभप्रद होने के बदले हानिकर अधिक है।" इसी जमाने के एक और शिक्षा मंत्री ने तो यह एक नियम बना रक्खा था कि "कोचवान, नौकर, रसोइये, धोबी और ऐसे

अन्य लोगों को नीची श्रेणी से ऊपर उठने के लिए उत्साहित नहीं करना चाहिए। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वहाँ पर शिक्षा की क्या हालत होगी।

उस समय बालकों को पूजा, राजभक्ति, गुलामी और प्रार्थना करने मात्र की शिक्षा दी जाती थी। १९०४ ई० में कुल पढ़े-लिखे आदमियों की संख्या सिर्फ़ ३ फ़ी सदी थी। सारी शिक्षा-पद्धति तथा अध्यापकों और विद्यार्थियों पर कड़ी निगरानी रक्खी जाती थी। अध्यापकों को वेतन भी बहुत कम मिलता था। विद्यार्थी संयुक्त रूप से न तो कोई प्रार्थना-पत्र दे सकते थे, और न कोई पर्चा या नोटिस ही निकाल सकते थे। उन्हें किसी भी प्रकार की सभा-समितियों में शामिल होने या उनके सदस्य बनाने की भी सख्त मनाही थी। किसी प्रकार का चन्दा वसूल करना जुर्म समझा जाता था और इसके विरुद्ध आचरण करने वाले विद्यार्थियों को बड़ी कड़ी सज़ा दी जाती थी। किसी सरकारी सभा या क्लब में भाग लेने के लिए भी विद्यार्थियों को अलग-अलग, व्यक्तिगत रूप में, आज्ञा लेनी पड़ती थी। इन सब बन्धनों और नियन्त्रणों का एकमात्र कारण यह था कि ज़ार को सदा भय रहता था कि विद्यार्थियों में कहीं स्वतन्त्रता, स्वाभिमान, संघ-शक्ति और क्रान्ति के भाव न भर जायँ, जिससे मेरे अत्याचार और निरंकुशता का दुर्ग भस्मसात् हो जाय! फिर उसकी निरंकुशता और उच्छृंखलता सिर्फ़ इसी दिशा में न थी, वह तो सर्वतोमुखी थी। भला यह भीषण लीला कबतक चल सकती थी। जनता क्रूरताओं और अत्याचारों से ऊब उठी और उसके लिए अब और कुछ सहना असह्य हो गया। फलस्वरूप प्रचण्ड क्रान्ति काली का प्रादुर्भाव हुआ और उसके साथ ही हुआ सारे अनाचारों का विनाश—

क्रान्ति के बाद, सोवियट शासन प्रणाली क़ायम होते ही, सबके लिए शिक्षा प्राप्ति की पूरी स्वतन्त्रता ही नहीं प्राप्त हो गई, बल्कि वह अनिवार्य कर दी गई और निश्चय किया गया कि सोवियट शासन-काल के दसवें वार्षिकोत्सव (१९२७ ई०) तक शिक्षा का इतना अधिक प्रचार कर दिया जाय कि रूस में एक भी व्यक्ति अनपढ़ न रह जाय। विदेशियों के आक्रमण, उनके घेरे, घरेलू लड़ाई, आर्थिक कठिनाई आदि के कारण उसे अपने इस निश्चित लक्ष्य की पूरी प्राप्ति तो न हुई, फिर भी इन दस वर्षों में, इतनी दिक़्क़तों के होते हुए भी, उसने शिक्षा-प्रचार में कमाल की उन्नति कर दिखाई। सोवियट सरकार का शिक्षा का उद्देश मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति करना है। वह शिक्षा द्वारा अपने राष्ट्र के एक-एक व्यक्ति को स्वस्थ, साहसी, सबल, कार्यक्षम, विचार और कार्य में पूर्ण स्वतन्त्र, अनेक विषयों में पारंगत और मज़दूरों तथा किसानों के लिए कार्य करने में अपनेको गौरवान्वित मानने वाला बनाना चाहती है। इसी उद्देश्य को लेकर वह आगे बढ़ रही है।

सोवियट रूस की शिक्षा-पद्धति की उल्लेखनीय विशेषता जनता के लिए ही अपनेको शिक्षित और संगठित करना है। आजकल संसार के अधिकांश देशों में उच्च और उन्नत शिक्षा सम्पत्तिशालियों की बपौती-सी हो गई है। पर रूस में ठीक इसके विपरीत सरस्वती-मन्दिर का द्वार न केवल सबके लिए खोल ही दिया गया है, बल्कि उस पुनीत मन्दिर में प्रवेश कर अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए प्रशस्त मार्ग और सुलभ पूजा सामग्री पर्याप्त परिमाण में प्रस्तुत करने का प्रचुर प्रयत्न किया जा रहा है। वहाँ की शिक्षा सहयोगमूलक सिद्धान्त पर अवलम्बित है। अर्थात् वहाँ शिक्षा प्राप्त करने का मुख्य उद्देश्य व्यक्तिगत कुशलता और ख्याति प्राप्त करना नहीं, बल्कि उससे परोपकारिणी शक्ति प्राप्त करना तथा उसे कार्यरूप में परिणत करना है। वहाँ की शिक्षा-प्रणाली की दूसरी विशेषता अध्यापकों और शिक्षकों का बाहरी दुनिया से सदा सम्बन्ध बनाये रखना है। अन्य देशों—ख़ासकर भारतवर्ष—के समान यहाँ के विद्यार्थियों के दैनिक या भावी नागरिक जीवन से शिक्षा अलग नहीं रक्खी जाती। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए रूस के विद्यार्थियों को इस तरह शिक्षित बनाने की कोशिश की जाती है कि वे जीवन-संग्राम में पूरी विजय प्राप्त करें। सभी अध्यापकों पर इस बात का ज़ोर दिया जाता है कि वे अपने छात्रों की जीवनचर्या और मनोवृत्ति से अच्छी तरह वाक़िफ़ हों, जिससे उन विद्यार्थियों की रुचि और शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक उपयोगी शिक्षा-क्रम बनाया जा सके। तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता मातृ-भाषा

द्वारा शिक्षा देना है। साधारण दृष्टि से देखनेवाले लोग यही कहेंगे कि मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने में कौनसी विशेषता है—यह तो एक मामूली बात है ? परन्तु रूस जैसे देश में जहाँ पचासों जातियाँ और पचासों भाषायें प्रचलित हैं, उन सब जातियों की शिक्षा का माध्यम एक-मात्र रूसी भाषा न बनाकर उनकी ही मातृभाषाओं-द्वारा उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना कुछ कम महत्त्व की बात नहीं है। यद्यपि यह मार्ग अत्यन्त कठिन है, फिर भी सोवियट सरकार बड़ी दृढ़ता के साथ इसपर आरूढ़ है।

शिक्षा का सारा काम शिक्षा-विभाग (Commissariat for Education) के द्वारा होता है। इसके अधीन निम्नलिखित ११ उप-विभाग हैं—

(१) शासन-संगठन-बोर्ड (The administrative organising board)। यह शिक्षा की केन्द्रीय, प्रान्तीय आदि संस्थाओं के प्रबन्ध तथा संगठन का कार्य करता है। इनकी आर्थिक व्यवस्था का कार्य तथा नये शिक्षणालयों की स्थापना का कार्य भी इसीके सुपुर्द है।

(२) प्रधान शिक्षा बोर्ड (The chief board for general and technical education)। इसका काम बच्चों तथा नाबालिगों की शिक्षा और रक्षा है।

(३) व्यावसायिक-शिक्षा-बोर्ड (The chief board for technical education)। इसका काम कृषि, व्यवसाय, कला, स्वास्थ्य तथा ऐसे अन्य विषयों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करना है।

(४) पूर्व-स्कूल शिक्षा तथा वयस्क निरक्षर शिक्षा बोर्ड (The chief board for pre-school education and adult education)। इसका काम स्कूली जीवन के पूर्व, बच्चों तथा निरक्षरों की शिक्षा की व्यवस्था करना है।

(५) गैर-रूसी भाषा शिक्षा बोर्ड (The board for education in non-Russian languages)। इस बोर्ड का काम सोवियट सरकार के अधीन गैर-रूसी-भाषा-भाषी जातियों की शिक्षा का, उनकी ही मातृभाषा-द्वारा, प्रबन्ध करना है।

(६) सरकारी वैज्ञानिक कौंसिल (The state scientific council)। इसका काम विभिन्न शिक्षा-प्रणालियों का अध्ययन करके उनकी विशेषता जानना तथा सभी विद्यालयों के लिए पाठ्य-क्रम तैयार करना है।

(७) विज्ञान-कला बोर्ड (The chief board for scientific and art institutions)। इस बोर्ड का काम विद्या परिषदों, वैज्ञानिक समितियों, खोज-संस्थाओं आदि की देख-भाल करना तथा ऐतिहासिक स्थानों, वस्तुओं तथा अजायब घरों की रक्षा करना और सरकारी थियेटर, सरकस एवं संगीत-विद्यालयों का सञ्चालन करना है।

(८) साहित्य-प्रकाशन बोर्ड (The chief board for literature and publication)। इसका काम प्रकाशित पुस्तकों, सिनेमा के फिल्मों आदि की निगरानी करना है।

(९) सरकारी प्रकाशन एजेन्सी (The state publishing agency) इसका काम अच्छी से अच्छी और सस्ती से सस्ती पुस्तकें प्रकाशित करना है।

(१०) सिनेमा-प्रबन्धक बोर्ड (The Managing board of state cinematograph enterprises)। इसका काम सरकार द्वारा संचालित सिनेमाओं का प्रबन्ध करना है।

(११) सप्लाई बोर्ड (The supply board)। इसका काम विद्यार्थियों को साधारण शिक्षा की सामग्री प्रदान करना है।

समस्त देश में शिक्षा-विभाग की स्थानिक शाखायें खुली हुई हैं। ये स्थानिक शाखायें किसानों और मजदूरों के प्रतिनिधियों (डिपुटियों) की कार्यकारिणी समिति के अधीन होती हैं। केन्द्रीय शिक्षा-विभाग में ८४, प्रान्तीय शिक्षा-विभाग में अमूमन ३५, और अन्य शिक्षा शाखाओं में साधारणत ५ कार्यकर्त्ता होते हैं। इनके सिवा बहुत सी स्थानिक पचायतों (लोकल सोवियटों) में शिक्षा का एक विशेष भाग भी होता है और उसमें तत्स्थानीय आदमी बड़ी स्वतन्त्रता और उत्साह के साथ भाग लेते हुए शिक्षा की समुचित व्यवस्था और उन्नति करते हैं। लेनिनग्राड के इस प्रकार के शिक्षा-विभाग में ३६३ व्यक्ति हैं, जो विभिन्न कमिटियों द्वारा अलग-अलग भागों में काम करते हैं।

(२)

सोवियट साम्यवाद प्रजातंत्र शासन-मंडल (unions of Socialist soviet Republics) की शिक्षा-प्रणाली मुख्यत तीन विभागों में बाँटी जा सकती है—(१) साधारण (General), (२) औद्योगिक (Technical), और (३) वयस्क शिक्षा (Adult)।

साधारण शिक्षा सम्बन्धी संस्थायें तीन प्रकार की हैं—(१) पूर्व स्कूल-शिक्षा (Pre-school education), (२) प्राथमिक शिक्षा (Elementary education), (३)माध्यमिक शिक्षा (Secondary education)।

वर्तमान समय में रूस में बच्चों को पूर्व स्कूल शिक्षा अर्थात् स्कूलों मे भर्ती होने के पहले की शिक्षा का बहुत अधिक ध्यान रक्खा जाता है। पूर्व-स्कूल-शिक्षा ३ से ७ वर्ष तक के बच्चों को दी जाती है। प्रत्येक कारखाने के साथ 'शिशु-गृह' और 'किण्डरगार्टन' नामक दो प्रकार की संस्थायें होती है। कारखानों में काम करनेवाली स्त्रियाँ अपने बच्चों को, काम के समय, इन्हीं संस्थाओं में रख जाती हैं। शिशु-गृह में २ मास से लेकर ३ साल तक के और 'किण्डरगार्टन' में ३ से ७ साल तक के बच्चे रहते हैं। जबतक मातायें कारखाने से लौटती है, उनके बच्चे इन्हीं संस्थाओं में बड़े आराम से रक्खे जाते हैं। प्रतिदिन सवेरे इन गृहों में बच्चों के आते ही उनके घर के कपड़े उतार लिये जाते हैं और उन्हें नहला धुलाकर वहाँ के साफ कपड़े पहना दिये जाते हैं। इस बीच में नियत समय पर उन्हें खाना खिलाया जाता, खेल खिलाया जाता, खेलना सिखलाया जाता, दवा खिलाई जाती तथा निश्चित समय पर सुला भी दिया जाता है, और उनमें कोई बीमार हुआ तो योग्य डाक्टरों द्वारा उसकी चिकित्सा भी कराई जाती है।* अब तक लगभग दस हजार ऐसे शिशु शिक्षणालय खुल चुके हैं। इस उम्र तक कारखानों के किण्डरगार्टन के तथा इसके बाहर रहनेवाले इस उम्र के बच्चों को और शिक्षा देने की अपेक्षा चरित्र-निर्माण पर ही अधिक जोर दिया जाता है, उनमें साहस, निर्भीकता, वीरता, स्वाभिमान आदि के उत्कृष्ट भाव भरे जाते हैं। स्वच्छ रहना और गन्दी आदतों को छोड़ अच्छी आदतें ग्रहण करने का अभ्यास कराया जाता है। इन सब बातों पर ध्यान रखने और बालक-बालिकाओं को अधिक उन्नतिशील बनाने के लिए सरकारी शिक्षा-विभाग की ओर से विभिन्न प्रकार की समितियाँ खुली हुई है, जो बड़ी मुस्तैदी के साथ अपना-अपना काम करती हैं। बच्चों की मनोवृत्ति और रुचि का ठीक-ठीक पता लगाने के लिए जगह-जगह केन्द्र कायम हैं। इन केन्द्रों में शिक्षक, डाक्टर और मनोवैज्ञानिकों की एक मण्डली बनी होती है। यह मण्डली लड़के-लड़कियों की रुचि का ठीक-ठीक पता लगा कर उन्हें उनके अनुकूल शिक्षणालयों में भेजने का यत्न करती है।

रूस में अनाथ, लूले, लँगड़े, अन्धे, बहरे गूँगे आदि असमर्थ बच्चो को रक्षा तथा शिक्षा-दीक्षा का भी पूरा खयाल रक्खा जाता है। इनकी शिक्षा-दीक्षा और उन्नति के लिए १९२५ तक ५४० संस्थायें खुल चुकी थीं, अपराधियों और अवगुणियों के लिए जगह-जगह एक कमीशन होता है। इस कमीशन (समिति) मे एक अध्यक्ष, एक शिक्षक, एक मजिस्ट्रेट और एक डाक्टर होते हैं। इसका मुख्य काम अपराधी (Criminals) और अवगुणी (Defectives) बच्चों की शिक्षा की उत्तम से उत्तम युक्ति सोच निकालना है। कमीशन के शिक्षक उन बातों और परिस्थितियों का पता लगाते हैं, जिनके कारण बच्चे अपराध करते है। साथ ही उनका यह भी काम होता है कि पता लगावें कि बच्चों पर सजा का क्या असर पड़ता है। उन्हे बच्चों के घर पर के, स्कूल के, अथवा अन्य जगहों के आचरण की निगरानी भी करनी पड़ती है और उनके आचरण-सुधार में अपना नैतिक प्रभाव डालना पड़ता है। शिक्षक जैसी रिपोर्ट देते हैं, कमीशन सब बातों को सोचकर उसके अनुसार काम करता है। एक शिशु-निरीक्षक-विभाग भी होता है। इसका काम रेलवे-स्टेशनों, बन्दरगाहों, सार्वजनिक स्थानों, या ऐसी अन्य जगहों में

---

* माताओं के निश्चिन्ततापूर्वक काम करने और बच्चों के समुचित पालन-पोषण के लिए ही यह व्यवस्था की गई है। इसके लिए माताओं को कुछ खर्च भी नहीं करना पड़ता, क्योंकि कारखानों की ओर से यह व्यवस्था होना अनिवार्य है।

बच्चों द्वारा किये गये दुर्व्यवहारों का पता लगाना है। घर-हीन तथा माता-पिता-रहित बच्चों के लिए अनाथालय खुले हुए हैं। ये दिन-रात खुले रहते हैं। इनमें भूले-भटके, अ-रक्षित, अनाथ आदि प्रकार के बच्चों का पालन-पोषण अच्छे से अच्छे ढंग से होता है। भूले भटकों के घर-बार का जबतक पता नहीं लग जाता, तबतक वे वहीं रक्खे जाते हैं। ये संस्थायें लड़के और लड़कियों के लिए अलग-अलग खुली हुई हैं। इनमें एक जगह साधारणतः ४०-५० बच्चे रहते हैं।

७ वें साल के बाद बच्चों का स्कूली जीवन आरम्भ होता है। ८ से १२ साल तक के लड़के-लड़कियाँ प्रथम श्रेणी (First standard) में रक्खे जाते हैं और उन्हें शिक्षा की आरम्भिक बातें सिखाई जाती हैं। दूसरी श्रेणी (Secondary education or second standard) १३ से १६ वर्ष की अवस्था तक रक्खी गई है। इस समय उन्हें साधारण ज्ञान (जैसी कि हिन्दुस्थान के इन्ट्रेन्स स्कूलों में पढ़ाई होती है) की शिक्षा दी जाती है। प्राथमिक और माध्यमिक दो विभागों में विभक्त होते हुए भी यह संयुक्त समझा जाता है, तथा इस संयुक्त विभाग की पूरी शिक्षा ७ से ९ वर्षों के अन्दर समाप्त हो जाती है। स्कूलों में प्रवेश के लिए या उत्तीर्ण करने के लिए विद्यार्थियों की परीक्षायें नहीं ली जातीं, बल्कि विद्यार्थियों की योग्यता तथा एक वर्ष के कार्य को देखकर उन्हें भर्ती या उत्तीर्ण कर दिया जाता है। उनकी योग्यता की जाँच उनकी एक दिन की परीक्षा से नहीं, बल्कि उनके साल भर के काम से होती है।

इन सभी विद्यालयों में लड़के-लड़कियाँ एकसाथ पढ़ते हैं। उनके स्वास्थ्य की सदा परीक्षा कराई जाती है और इस बात का ख्याल रक्खा जाता है कि पढ़ाई का बोझ विद्यार्थी या विद्यार्थिनी पर इतना न पड़ जाय कि उसके स्वास्थ्य को हानि पहुंचे। जो बच्चे कमजोर होते हैं, उन्हें उनकी शक्ति के अनुसार ही पढ़ने दिया जाता है। जिनकी आँखें कमजोर होती हैं, वे क्लासों में आगे बैठाये जाते हैं। विद्यार्थियों को योग्य बनाने की दृष्टि से इस बात का भी पूरा ख्याल रक्खा जाता है कि वे जो कुछ पढ़ें उसे अच्छी तरह से समझकर ग्रहण कर लें—अपना लें। विद्यार्थी और विद्यार्थिनी अध्ययन इसलिए नहीं करते कि वे परीक्षा पास करें और गुलामी की जंजीरों से अपनेको जकड़ दें बल्कि इसलिए करते हैं कि शिक्षित होकर मानव-कर्त्तव्य को समझें और फिर मानव-समाज का अधिक-से-अधिक उपकार कर सकें। स्वतन्त्र और गुलाम देश के बच्चों की मनोवृत्ति में यही अन्तर है।

१९२६ ई० में प्राथमिक तथा माध्यमिक स्कूलों को शहर और देहात के दो भागों में बाँट दिया गया। इस प्रकार उस वर्ष शहरों में सात वर्ष के कोर्स वाले ऐसे स्कूलों की संख्या ६९६० थी, जिनमें १८,२३,३८६ बच्चे पढ़ते थे। देहात में ऐसे स्कूल ९२६३० थे, जिनमें पढ़ने-वाले विद्यार्थी और विद्यार्थिनियों की संख्या ७७,९८,३२२ थी। इस प्रकार के सेकेण्ड-क्लास के स्कूल, जिनमें ९ वर्ष का कोर्स था, उस वर्ष शहरों में १२१८ (विद्यार्थियों की संख्या ३,६४,५५२) और देहातों में ४७ (विद्यार्थियों की संख्या १,७३,३५०) थे।

माध्यमिक शिक्षा-समाप्ति के बाद विद्यार्थी टेक्निकल स्कूलों में प्रवेश करते हैं। टेक्निकल स्कूलों में विद्यार्थी अमूमन अपनी जीविका-निर्वाह-सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त करते हैं। रूस के ये टेक्निकल स्कूल हिन्दुस्थान या अन्य देशों के कृषि, इन्जिनियरिंग, मेडिकल या ऐसे ही अन्य कालेजों के समान होते हैं। परन्तु हिन्दुस्थान के या अन्य देशों के इन कालेजों के विद्यार्थियों की अपेक्षा रूस के इन टेक्-निकल स्कूलों के विद्यार्थी और विद्यार्थिनियों को कहीं अधिक सुविधायें और साधन प्राप्त होते हैं। ये टेक्निकल स्कूल कई विभागों में बँटे होते हैं और उनमें अनेक प्रकार की शिक्षा दी जाती है। विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार कोई एक विषय पसन्द कर लेता है और उसीका अध्ययन करता है। इसमें किसी विषय में ३ और किसी में ४ वर्ष लगते हैं। इस अवधि में विद्यार्थियों को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती है, बल्कि सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यवहार पर ही अधिक जोर दिया जाता है। व्यावहारिक शिक्षा के लिए शिक्षणालयों के साथ बड़े-बड़े कारखाने, प्रयोगशालायें आदि भी खुली हुई हैं। ऐसा भी प्रबन्ध किया गया है कि जो लोग दिन में

नियमित रूप से यह शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते, वे रात्रि में आकर शिक्षा प्राप्त करें। १९२५-२६ ई० में विभिन्न प्रकार के टेकनिकल स्कूलों की संख्या ४५८६ थी, जिनमें ७,४६,६८७ शिक्षार्थी अध्ययन कर रहे थे।

टेकनिकल स्कूल की साधारण शिक्षा समाप्त करके अगर कोई विद्यार्थी और भी उच्च शिक्षा प्राप्त कर किसी विषय का महान् विशेषज्ञ बनना चाहे, तो उसके लिए ऐसी संस्थायें अलग स्थापित हैं। इन उच्च विद्यालयों और संस्थाओं में प्रविष्ट होकर विद्यार्थी खोज, आविष्कार या अपने विषय में विशेषता प्राप्त करने के लिए विशेष रूप से अध्ययन करते हैं। १९२५ ई० में यहाँ (साधारण टेकनिकल स्कूलों के सिवा) ऐसी ९१२ संस्थायें थीं, जिनमें १,५९,१०६ व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर रहे थे।

ऐसे लोग जिनकी उम्र तो बहुत अधिक हो गई है पर जारशाही जमाने की निर्दयीय और दूषित शिक्षा-प्रणाली के कारण शिक्षा नहीं प्राप्त कर सके, उन्हें भी शिक्षित करने के लिए सोवियट सरकार बड़े जोरों से काम कर रही है। ऐसे वयस्क निरक्षर व्यक्तियों को पढ़ाने के लिए वहाँ तीन प्रकार के स्कूल खोले गये हैं—(१) आन्हिक (Day school), रविवार के (Sunday school), और (३) राजनैतिक स्कूल (Political school)। आन्हिक स्कूल दो प्रकार के होते हैं—(क) कृषि सम्बन्धी, और (ख) औद्योगिक। जहाँ जैसी परिस्थिति और क्षेत्र होता है, उसके अनुसार वहाँ ये कृषि या औद्योगिक स्कूल खोले जाते हैं। इनका कोर्स दो वर्ष का होता है। किन्तु जहाँ जरूरत समझी जाती है वहाँ तीसरे वर्ष की शिक्षा की भी व्यवस्था की जाती है, जिससे वहाँ अध्ययन करनेवाला चाहे तो उच्च शिक्षा प्राप्त करने लायक योग्यता प्राप्त कर सके। रविवार के स्कूल बिलकुल दूसरे तरीके के होते हैं और उनमें केवल वे मजदूर या किसान जाकर मामूली शिक्षा प्राप्त करते हैं, जो सप्ताह-भर प्रतिदिन पढ़ने में अपना समय लगाने में असमर्थ होते हैं। राजनैतिक स्कूल दो प्रकार के होते हैं—प्राथमिक और उन्नत। प्राथमिक राजनैतिक विद्यालयों में स्थानीय और जिला सोवियट (पंचायत), ट्रेड-यूनियन (मजदूर-संघ) तथा ऐसी अन्य संस्थाओं की शाखाओं में काम करने के योग्य कार्यकर्त्ता तैयार किये जाते हैं। उन्नत राजनैतिक विद्यालयों में केन्द्रीय और प्रान्तीय कार्यालयों में काम करने लायक कार्यकर्त्ता तैयार किये जाते हैं। अप्रैल १९२३ ई० में ऐसे विद्यालयों की संख्या २३२ थी, और उनमें १६,००० विद्यार्थी शिक्षा पा रहे थे। (गत ५ वर्षों के अन्दर तो उनकी संख्या दुगुनी से भी अधिक हो गई होगी।) इनके सिवा वयस्क अनपढ़ व्यक्तियों की शिक्षा के लिए, उपरोक्त सरकारी विद्यालयों के सिवा, वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी के भी कई खास विश्वविद्यालय हैं, जो साधारण शिक्षा-ज्ञान प्रदान करने के बाद कम्युनिज्म के सिद्धान्तों और उनके व्यवहारों की उच्च-शिक्षा प्रदान करते हैं। वयस्क व्यक्तियों को शिक्षित करने वाले विभिन्न प्रकार के स्कूल १९२५-२६ ई० में १,०८,९८७ थे, जिनमें १९,०३,४१६ आदमी शिक्षा पा रहे थे। इनके साथ ही और भी कुछ ऐसे मजदूर-शिक्षणालय (Workers' faculties) खुले हुए हैं, जिनमें वयस्क निरक्षरों को तीन वर्ष तक शिक्षा देकर काफी योग्यता प्राप्त करा दी जाती है। १,९२० ई० में ऐसे शिक्षणालयों की स्थापना का आरम्भ हुआ और १९२१ ई० में ही विभिन्न मजदूर-संघों ने अपने १७,००० सदस्य इन संस्थाओं में पढ़ने के लिए भेजे। १९२२ ई० में इन शिक्षणालयों की संख्या ८१ हो गई और उनमें पढ़ने वालों की संख्या ४०,००० तक पहुँच गई। इन शिक्षणालयों में मजदूर और किसान दोनों ही समुदाय के आदमी शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते हैं। ऐसे शिक्षणालय अधिकांश में मास्को और लेनिनग्राड में ही हैं।

(३)

स्कूलों और कालेजों में पढ़नेवाले छात्र और छात्राओं को भी स्कूल-कालेजों के संचालन में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, और इस प्रकार उन्हें मानो किसी सरकार के शासन-सूत्र को हाथ में लेने की व्यावहारिक शिक्षा प्रदान की जाती है। प्रत्येक स्कूल, कालेज और विश्व विद्यालय में विद्यार्थियों की ऐसी परिषद् होती है, जो विद्यार्थियों के सम्बन्ध की सब बातों पर अधिकार रखती है। उसे अपने स्कूल या कालेज के विद्यार्थियों के सम्बन्ध में कार्य-क्रम निश्चित करने का अधिकार होता है। उसे विद्यार्थियों

के हित के प्रत्येक कार्य करने की पूरी स्वतंत्रता होती है। वह नियम-पालन, खेल-कूद आदि बातों के लिए जिम्मेदार होती है। प्रत्येक स्कूल या कालेज में माता-पिताओं और शिक्षकों की भी एक निरीक्षक सभा होती है, जिसे इन संस्थाओं के सब मामलों में सर्वोपरि अधिकार होता है। विद्यार्थी-परिषदों का सभापति भी, जो एक विद्यार्थी ही होता है, इस निरीक्षक-सभा का सदस्य होता है और उसका यह अधिकार है कि वह उस सभा में अपने सहपाठी विद्यार्थियों की शिकायतों और माँगों को रक्खे तथा वहाँ पर सब विद्यार्थियों की तरफ से उनके हितार्थ लड़े। स्कूलों और कालेजों में इन दो संस्थाओं के अतिरिक्त एक प्रबन्ध समिति भी होती है, जो संस्कृति-रक्षा, वाचनालय, पुस्तकालय आदि की व्यवस्था करती है।

जीवनक्षेत्र में अधिक से अधिक सफल और उपयोगी बनने-बनाने के लिए रूसी विद्यार्थियों को कोरी अक्षर-विद्या के अलावा अन्य प्रकार की साधारण शिक्षा भी दी जाती है। उनमें एक मिश्रित (Complex or Project) प्रणाली है। इस प्रणाली में ऐसा होता है कि किसी एक विषय को ले लेते है और विद्यार्थी को उसकी हरएक बात की पूरी जानकारी प्राप्त कराते हैं। जैसे ग्राम-संघटन की बात ले लीजिए। इसमें ग्राम्य-जीवन, वहाँ के रीति-रिवाज, वहाँ की फ़सल और व्यापार, ग्राम और नगर का परस्पर संबन्ध, ग्राम्यजीवन का कठिनाइयाँ और त्रुटियों तथा उनके सुधारने के उपाय, ग्राम का शासन, ग्रामों की सफ़ाई, वहाँ की उन्नति, वहाँ के सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के सहयोग की आवश्यकता आदि विषयों की शिक्षा दी जायगी।

इसी प्रकार अगर किसी छात्र को स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातों की शिक्षा दी जाती है तो उसे व्यक्तिगत स्वास्थ्य, उसके घर के लोगों के स्वास्थ्य तथा समाज के लोगों के स्वास्थ्य रक्षा की विधि बतलायी जाती है। उसे शरीर-विज्ञान, खाद्य, सामग्री, पाचन-क्रिया आदि का भी साधारण ज्ञान कराया जाता है। इसके साथ ही शराब तथा अन्य मादक पदार्थों के सेवन की बुराइयाँ बतला कर उनसे दूर रहना सिखाया जाता है। इसी प्रकार अन्य अनेक विषयों की भी शिक्षा दी जाती है। छात्रों में समाज-सेवा का भाव जागृत किया जाता है, जिससे वे ज्ञान-प्राप्ति को केवल व्यक्तिगत स्वार्थ में खर्च न कर सार्वजनिक हित के लिए उपयोग करने की चेष्टा करें।

इन विषयों की शिक्षा का विस्तृत कार्य-क्रम शिक्षा-विभाग द्वारा शिक्षकों के पास भेज दिया जाता है पर, साथ ही उन्हें यह भी बतला दिया जाता है कि वे परिस्थिति के अनुसार सब शिक्षकों तथा छात्रों के परामर्श से अपना कार्यक्रम निश्चित करें। छात्रों को केवल नैतिक शिक्षा दी जाय, इस भाव को निरुत्साहित किया जाता है, और इस बात के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है कि वे स्वाधीनता-पूर्वक सोचना और अपने सिद्धान्तों को स्वयं निश्चित करना सीखें।

हिन्दुस्थान या अन्य गुलाम देशों के समान रूस के विद्यार्थियों और बच्चों को राजनीति से हौआ के समान डराया नहीं जाता, बल्कि वहाँ उन्हें अधिक से अधिक और न केवल रूस की ही बल्कि उनकी योग्यता के अनुसार समस्त संसार की वर्त्तमान राजनीति के सम्पर्क में रखने और उसकी वाक़फ़ियत प्राप्त कराने का प्रयत्न किया जाता है। सामाजिक तथा राजनैतिक शिक्षा सभी बच्चे और विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य है। रूस का एक १४-१५ वर्ष का लड़का राजनीति या अन्य किसी भी विषय पर उतनी ही अच्छाई और आसानी के साथ बातचीत कर सकता है, जितना कि दूसरे देशों का एक योग्य और वयस्क शिक्षित व्यक्ति। इस सम्बन्ध में यहाँ पर एक घटना का जिक्र करना अप्रासंगिक न होगा। महात्मा लेनिन के जीवन-काल की बात है। एक अंग्रेज पर्यटक (Tourist) ने, जो रूस में भ्रमण कर रहा था, एक दस वर्ष के लड़के से पूछा—"तुम्हें जारशाही शासन-प्रणाली की अपेक्षा सोवियट शासन-प्रणाली क्यों पसन्द है? लेनिन भी तो एक जार ही है, फिर उसे क्यों पसन्द करते हो।" यह बात सुनते ही वह दस वर्ष का लड़का आग बबूला होगया और अकड़ कर बोला —"आप की बात बिलकुल थोथी और द्वेष से भरी हुई है। हम लोग जार के भयंकर शासन के अधीन नहीं हैं। हम लोग स्वयं अपनी सोवियट सरकार (पंचायती

प्रजातन्त्र सरकार) के संरक्षण में हैं, इस सरकार का ज़ार-शाही से भला क्या मुकाबला हो सकता है ? यह सरकार ऐसी है, जिसमें मेरे पिता और लेनिन के अधिकार बिलकुल बराबर हैं। लेनिन को हम लोगों ने देश का अधिपति बनाया है और चाहे तो उसे आज इस पद से हटा सकते हैं। सोवियट सरकार आप लोगों के देशों के जैसे पूँजीपतियों के हाथ में नहीं है, वह सर्व साधारण के हाथों में है। सोवियट हमारा एक बड़ा परिवार है और हम सब उसके मेम्बर हैं। हमारे ग्रामों और नगरों से जिला-सोवियट के लिए, जिलों से प्रान्तीय सोवियटों के लिए, और प्रान्तों से केन्द्रीय सोवियट के लिए प्रतिनिधि चुने जाते हैं और इस प्रकार हमारे देश के सभी आदमी अपने शासन-कार्य में समान रूप से भाग लेते हैं।" इस छोटे-से लड़के की इन बातों को पढ़कर पाठक भलीभाँति समझ सकते हैं कि वहाँ के विद्यार्थियों का राजनैतिक शिक्षण कैसा होता है और उनमें अपनी शासन-प्रणाली की श्रेष्ठता एवं स्वाभिमान का भाव कितना कूट-कूट कर भरा होता है।

फिर शिक्षा-सम्बन्धी जिन व्यवस्थाओं का विवरण ऊपर दिया गया है, वह शहरवासी और ग्रामीण दोनों ही के लिए समान रूप से हैं और दोनों ही देश में फैली हुई इन शिक्षा संस्थाओं से लाभ उठाते हैं। पर इतना जरूर है कि शहरों से अनेक ग्रामों के दूर पड़ने तथा कुछ अन्य असुविधाओं के कारण वहाँ शहरों के ही अनुपात में शिक्षा का प्रचार नहीं हो सका है। किन्तु ऐसे स्थानों में भी अधिक से अधिक शिक्षा प्रचार का पूरा प्रयत्न किया जा रहा है। सरकार तो यत्नवान है ही, इसके साथ ही ग्रामीण जनता स्वयं भी इस कार्य में बड़ी दिलचस्पी ले रही है। कई स्थानों में तो उन्होंने स्वयं अपने हाथों स्कूलों के मकान बना दिये हैं। वे इस बात के लिए स्वयं ही परेशान दीखते हैं कि वे सब के सब जहाँ तक जल्द हो सके, लिखने-पढ़ने लग जायँ। इनके उत्साह और लगन का अन्दाजा इसीसे लगाया जा सकता है कि १९१३ ई० में देहातों में जहाँ केवल २८०० लेटरबक्स थे, वहाँ १९२६ ई० में इनकी संख्या ६४ हजार तक पहुँच गई थी और अबतक शायद ७० हजार से भी अधिक हो गई होगी। सड़क से दूरस्थ ग्रामों के लिए सफरी डाकखाने भी हैं। इन सफ़री डाकखानों के डाकिये खेती के सामान भी बाँटा करते हैं। पहले किसानों की पत्र-पत्रिकायें नहीं के बराबर थीं, परन्तु १९२५ ई० में किसानों के १३१ पत्र निकलते थे और उनकी ग्राहक-संख्या १९,१३,००० थी। 'किसान-गजट' नाम का अखबार जो १९२३ में निकाला गया था, १९२४ ई० में उसकी दो लाख प्रतियाँ निकलती थीं— और, आजकल दस लाख से भी ऊपर प्रकाशित होती हैं। इस अखबार में किसानोपयोगी सभी बातों का उल्लेख रहता है। इस पत्र के कार्यालय में ऐसे लाखों पत्र आते रहते हैं, जिनमें कृषि-सम्बन्धी बातें और अफसरों की शिकायतें आदि होती हैं। इसे दिनों दिन किसानों के लिए और भी अधिक उपयोगी बनाने का यत्न किया जा रहा है।

रूस की राज्यक्रान्ति का श्रीगणेश वहाँ के नगर-निवासी श्रमजीवियों ने ही किया था और शुरू में जोर-शोर के साथ भाग भी उन्होंने लिया था। पर बाद को किसान भी धीरे-धीरे इस आन्दोलन की ओर आकृष्ट हुए और फिर बड़ी दिलचस्पी से भाग लेने लगे। पर महात्मा लेनिन के साम्यवाद की शुरू की आर्थिक नीति के कारण नगर और ग्राम वासियों का कुछ मेल नहीं खाता था, जिससे आगे चलकर उन्हें कुछ परिवर्तन करना पड़ा। इसके बाद धीरे-धीरे दोनों में काफ़ी सहयोग बढ़ रहा है। वर्तमान सोवियट सरकार के अधिकारी नगरवासियों और ग्रामीणों के परस्पर सहयोग के लिए बड़े उत्सुक हैं और इसके लिए अन्य प्रकारों के साथ शिक्षा द्वारा भी सहयोग पैदा करने का यत्न कर रहे हैं। १९२३ ई० में इस उद्देश्य से मजदूरों की एक सभा की गई थी, जिसकी अनेक शाखायें आजकल देश भर में फैली हुई हैं और जिसके इस समय तक लाखों किसान और मजदूर सदस्य हो चुके हैं। जहाँतक होता है यह भी कोशिश की जाती है कि नगर में रहनेवाले और वहाँ के आस-पास के ग्रामीणों की शिक्षा एकसाथ एक ही जगह हो। इसके अलावा कारखानों के दल, मजदूर-क्लब आदि भी गाँवों की दशा सुधारने में ग्रामीणों की पूरी सहायता करने की कोशिश करते और इस ढंग से उनकी सहानुभूति प्राप्त करके सहयोग बढ़ाते हैं। गाँवों में रहने और पढ़नेवाले विद्यार्थी कभी-कभी

शहरों में और शहर के विद्यार्थी कभी-कभी देहातों में इस उद्देश्य से घूमने भी जाया करते हैं।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि सोवियट रूस में ऐसी अनेक अल्पसंख्यक जातियाँ हैं, जिनकी मातृभाषा अलग-अलग हैं, परन्तु इन अल्पसंख्यक भाषा-भाषी जातियों के लिए भी उनकी मातृभाषा द्वारा ही शिक्षा देने का अधिक से अधिक यत्न किया जा रहा है। उन विभिन्न जातियों की स्थानीय भाषाओं की उन्नति की पूरी चेष्टा की जाती है। विभिन्न प्रान्तों के सोवियट शासन का कार्य उन प्रान्तों की भाषा में ही करने के लिए उत्साहित किया जाता है। सरकारी समाचारपत्र और पुस्तकें उन्हीं भाषाओं में प्रकाशित होते हैं। लेनिनग्राड, मास्को तथा अन्य कई स्थानों में इन भाषाओं में लोगों को शिक्षित करने के लिए खास स्कूल खोले गये हैं। इस समय तक ऐसे ४५ विद्यालय खुल चुके हैं। सोवियट रूस में पोलस, यूक्रेनियन, लतवियन, जर्मन, एस्थोनियन, फिन, हिब्रू, अर्मीनियन, गोरेरूसी, समाजेड, ओस्टिम, मंगोलियन, याकुत, तातार, वशकिर, हुंगा, वरयट, युकागिर, कामकाडोल, एस्किमो, किरगिज, हकानियन, ओयरात, टोहुतास, कोमी, मारी, कलमुक, कोरियन, मोर्डवान, उत्तर काकेशिया केअसीरियन, इगश आदि अनेक अल्प-संख्यक जातियाँ हैं। इनमें प्रत्येक को शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी उन्नति करने की पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त है। इस समय वहाँ की केवल ६ कुछ बड़ी अल्प-संख्यक जातियों की पाठशालाओं की संख्या ५,६३६ से भी ऊपर है। इस समय यहाँ की ६२ विभिन्न भाषाओं में प्राथमिक शिक्षा दी जाती है। इनकी उच्च शिक्षा के लिए भी प्रबन्ध है और ऐसे शिक्षणालयों की संख्या १९२७ ई० में २८ थी। इन छोटी जातियों की ५२ भाषाओं में पत्र प्रकाशित होते हैं और १९२७ ई० में केवल इन लोगों के २०१ समाचारपत्र निकलते थे, जिनकी ग्राहक-संख्या ९,२८,५८० थी। इन छोटी जातियों की शिक्षा-दीक्षा का भी कहाँ तक खयाल किया जाता है, उसका पता एक इस बात से लग सकता है—साइबेरिया के इर्कुटस्क प्रान्त में कारकस नामक एक खानाबदोश जाति रहती है। इस जाति के कुल मनुष्यों (आबाल वृद्ध) की संख्या सिर्फ ४०१ है। इनकी भाषा अपभ्रंश तुर्की है। पर, इतनी अल्पसंख्या और खानाबदोश होते हुए भी इनके बच्चों की शिक्षा के लिए स्कूल खोले गये हैं, जहाँ उन्हें जाड़े के दिनों में शिक्षा दी जाती है, क्योंकि गर्मियों में ये लोग घूमते रहते हैं। इसी प्रकार जिप्सी आदि अन्य कई, बहुत छोटी-छोटी जातियों के लिए भी स्कूल खोले गये हैं और खुलते जा रहे हैं। राज्य-क्रान्ति के पूर्व ऐसी अनेक जातियाँ थीं, जिनकी भाषा की कोई लिपि न थी। इस समय ऐसी जातियों के लिए वर्णमालायें तैयार की जा रही हैं अथवा जिनकी वर्णमाला कठिन और खराब थी, उनको वैज्ञानिक ढंग से सुधार कर सुगम बनाया जा रहा है। अबतक १६ जातियों के लिए नई लिपि तैयार की जा चुकी है। और तारीफ की बात तो यह है कि न केवल पुरुषों के लिए ही, बल्कि इनकी स्त्रियों के लिए भी शिक्षा आदि का प्रबन्ध पुरुषों के समान ही किया गया है।

अभी कुछ दिन हुए, समाचारपत्रों में यह समाचार प्रकाशित हुआ था कि लेनिनग्राड (रूस की वर्तमान राजधानी) के विज्ञान-विभाग ने बौद्ध-सभ्यता के अध्ययन के लिए एक विश्वविद्यालय की स्थापना की है। इस विश्वविद्यालय की ओर से बौद्ध साहित्य का एक विश्वकोष भी तैयार किया जा रहा है तथा इस सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रकाश डालने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस करने की भी व्यवस्था की जा रही है।

देवव्रत शास्त्री

वीर बनो !

बजी दुन्दभी भेरी धमकी,
उठो शूर रण-धीर बनो ।
जन्म-भूमि की रक्षा कर लो,
आन रखो प्रण-वीर बनो ।
असुर-नाश हित त्रिपुरारी के,
सुभटो ! तीखे तीर बनो ।
देश-जाति पर मर मिटने को,
भारतीय अब वीर बनो ॥१॥

× × ×

कायरता दो छोड़ अड़ो अब
युद्ध-स्थल मे बन चट्टान ।
हो नृसिंह गर्जो केहरि-सम,
जय निश्चय, लो मन मे ठान ।
अविचल गिरि से रहो विपद मे
सागर-सम गम्भीर बनो ।
देश-जाति पर मर मिटने को
भारतीय ! अब वीर बनो ॥२॥

× × ×

अहा ! तुम्हारे पूर्व पुरुष तो
करते थे भूतल पर राज ।
वहीं देश अपना अब अपना
पड़ी तुम्हीं पर ऐसी गाज ।
हाँ ! दधीचि सन्तान कहा कर,
अब तो वज्र शरीर बनो ।
देश-जाति पर मर मिटने को,
भारतीय ! अब वीर बनो ॥३॥

× × ×

इसी भूमि पर तो जन्मे थे
वीर शिवाजी और प्रताप ।
'हो स्वतन्त्र' यह मन्त्र हमारा,
करते रहें इसी का जाप ।
पैज पालने को तत्पर हों,
हठ-धारी हम्मीर बनो ।
देश, जाति पै मर मिटने को,
भारतीय ! अब वीर बनो ॥४॥

× × ×

नन्दन-बन सा फूल रहा था,
लगी उसी मे है अब आग ।
सदा दैव अनुकूल रहा था,
हाय ! उसी का यह दुर्भाग ।
उजड़ गया जो उपवन उसको
तुम ही सुरभि-समीर बनो ।
देश, जाति पर मर मिटने को
भारतीय ! अब वीर बनो ॥५॥

× × ×

एक बार तो ज्योति जगाकर,
अन्धकार को करो विलीन ।
चाहे क्षण में जीवन-दीपक
हो अनन्त मे अन्तर्लीन ।
चपला-सी उर-नभ में दमके,
ऐसी ललित-लकीर बनो ।
देश, जाति पै मर मिटने को
भारतीय ! अब वीर बनो ॥६॥

× × ×

गिरे हुए जो भाई नीचे,
उन्हें उठाकर, करलो प्यार ।
मिले तुम्हारे हृदय-सिन्धु मे
उनके क्षुद्र-प्रेम की धार ।
पतितों के पावन करने को,
निर्मल गङ्गा-नीर बनो ।

देश, जाति पर मर मिटने को,
भारतीय ! अब वीर बनो ॥७॥

× × ×

कातर जन को शीतल कर दे,
निकलें ऐसे मीठे बोल।
शान्त मूर्त्ति अभिराम राम सी,
परशु-हृदय का ले मन मोल।
क्षमा-शील वसुधावत् होकर,
मृदुभाषी कल-कीर बनो।
देश, जाति पर मर मिटने को,
भारतीय ! अब वीर बनो ॥८॥

× × ×

तुम भविष्य के निर्माता हो,
अत न होना कभी निराश।
विफल-मनोरथ आज हुए तो,
कल निश्चय हो सुफल-प्रयास।
जननी की आशा के अम्बर,
मत चिन्ता के चीर बनो।
देश, जाति पर मर मिटने को,
भारतीय ! अब वीर बनो ॥९॥

× × ×

द्वार-द्वार पर अलख जगाते,
राष्ट्र-गीत की छेड़ो तान।
जन्म-सिद्ध स्वाधीन सभी हैं,
यह ही गाओ तुम भी गान।
जगे जाति हो यही कामना,
सब कुछ त्याग फ़कीर बनो।
देश, जाति पर मर मिटने को,
भारतीय ! अब वीर बनो ॥१०॥

× × ×

देख-भालकर भी दृग मींचें,
जो अन्धों की करते होड़।
सत्य मार्ग पर लाना उनको,
विनय-सहित दोनों कर जोड़।
भूले-भटकों के दुख हरने,
तुम रमते रहगीर बनो।
देश, जाति पर मर मिटने को,
भारतीय ! अब वीर बनो ॥११॥

× × ×

चाहे विपदाओं का सिर पर,
भारी पर्वत टूट पड़े।
हो न धैर्य्य का बन्धन ढीला,
पड़ें कष्ट पर कष्ट कड़े।
क्लेश न दे औरों को किञ्चित,
ऐसी पर की पीर बनो।
देश, जाति पर मर मिटने को,
भारतीय ! अब वीर बनो ॥१२॥

× × ×

हृदय-कुञ्ज में हे बलवीरो,
विकसे नव आशा का फूल।
जन्म-भूमि को भेंट करो फिर,
कञ्ज-कलेवर मङ्गल-मूल।
सद्योदित सौभाग्य-सूर्य्य हो,
मत फूटी तकदीर बनो।
देश, जाति पर मर मिटने को,
भारतीय ! अब वीर बनो ॥१३॥

× × ×

शौर्य्य-शील योधागण ! बढ़कर,
नूतन युग में करो प्रवेश।
महावीर बलधाम बनोगे,
तो सीधे होंगे भुवनेश।
विश्व विदित यह सत्य समझकर,
बस 'मराल' मतिधीर बनो।
देश, जाति पर मर मिटने को,
भारतीय ! अब वीर बनो ॥१४॥

हरिशरण श्रीवास्तव "मराल"

समाज-संगठन

जब मनुष्य-समाज असभ्यावस्था में था, तब वह शिकार खेलता या जंगली कंद-मूलों और फलों को खाकर जीवन-निर्वाह कर लेता था। शिकार के लिए, जंगली पशुओं से रक्षा के लिए, या अन्य किसी शत्रु से लड़ने के लिए धनुष-बाण आदि शस्त्र भी स्वयं ही बना लेता और स्वयं ही अपने शिकार को भूनकर या कंद-मूल उबालकर खा लेता था। शीत से रक्षा के लिए जिन पत्तों वा छाल से तन ढकता वह भी खुद ही प्राप्त करता और गुफा इत्यादि भी स्वयं खोदकर तैयार कर लेता था। उस समय उसको किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता न थी। बिना किसी दूसरे मनुष्य की सहायता के वह अकेला जीवन-निर्वाह कर सकता था तथा वह जो भी काम करता था, केवल अपने और अपने परिवार के लिए। अधिक से अधिक अपने साथियों के लिए। उसका ज्ञान भी उस समय बहुत सीमित था।

धीरे धीरे मनुष्य ने उन्नति की। मनुष्य-समाज में श्रम-विभाग का प्रारम्भ हुआ। अब भोजन पैदा करने वाले अलग हैं, कपड़ा बनाने वाले अलग, लड़ने वाले और देश की रक्षा करनेवाले अलग, और समाज को शिक्षा देने वाले अध्यापक और सदाचार-शिक्षक (धार्मिक गुरु) अलग हैं। अब भोजन पैदा करना या कपड़ा बनाना प्रत्येक का काम न होकर समाज के कुछ व्यक्तियों का काम हो गया है। और ये व्यक्ति (वैश्य) अन्न या कपड़ा केवल अपने लिए अर्जन नहीं करते, प्रत्युत सारे समाज के लिए, लड़ने वाले (क्षत्रिय) केवल अपनी रक्षा के लिए शस्त्र धारण नहीं करते, बल्कि समाज के लिए। अध्यापक तथा धार्मिक गुरु अपने ही बच्चों को शिक्षा-दान तथा सन्मार्ग-प्रदर्शन नहीं करते, प्रत्युत समाज को। अर्थात् अब कोई व्यक्ति किसी काम को केवल अपने ही लिए नहीं करता प्रत्युत् सारे समाज के लिए करता है।

ये वर्ण या पेशे प्रत्येक समाज और देश में पाये जाते हैं और उनके बिना कोई समाज नहीं चल सकता। समाज की उन्नति इसीपर निर्भर है कि प्रत्येक मनुष्य जिस काम को करता है वह उसको यथाशक्ति अच्छी तरह करे और अपना सारा ध्यान और शक्ति उसीमें लगा दे। उसको इसीमें दिलचस्पी हो कि वह जिस काम को करता है उसको किस प्रकार अच्छी तरह करे कि उससे समाज को अधिक से अधिक लाभ हो, अर्थात् वह समाज की अधिक से अधिक सेवा कर सके।

किन्तु वर्तमान समाज-संगठन इस प्रकार का है कि यह उद्देश्य पूरा नहीं होता। आजकल के समाज-संगठन में वर्णों का संकर हो गया है, या यों कहिए कि वैश्यत्व अर्थात् रोटी कमाना सब वर्णों में मिल गया है। कोई व्यक्ति किसी पेशे को यह समझता हुआ नहीं करता कि 'उससे समाज-सेवा होगी और उस समाज का लाभ और उन्नति होगी, जिसका वह भी एक सदस्य है; यदि समाज को लाभ पहुँचेगा तो उसको भी लाभ पहुँचेगा।' उसका मुख्य उद्देश्य अपना पेट भरना रहता है और समाज-सेवा गौण। इस प्रकार वह पहले यह सोचता है कि उसको अधिक से अधिक धन-प्राप्ति किस तरह हो सकती है और पीछे वह समाज की सेवा कैसे कर सकता है। यही नहीं, उसका लक्ष्य सदा यही रहता है कि वह किस प्रकार समाज की कम-से-कम सेवा करके अधिक-से-अधिक लाभ उठा सके। उदाहरणार्थ एक दूकानदार या कारखाने का मालिक सदा यह सोचता रहता है कि वह कैसे रद्दी से रद्दी माल देकर अधिक से अधिक नफा उठा सकता है, दूसरे शब्दों में किस प्रकार अपने ग्राहकों को अधिक-से-अधिक ठग सकता है—धोखा दे सकता है। क्योंकि आजकल की व्यापार-विधि का यह मूलमन्त्र है कि कम से कम खर्च करना और अधिक से अधिक नफा उठाना। यदि वह कभी शुद्ध और अच्छा माल देता है तो इसलिए नहीं कि उसका ग्राहकों, चीज़ का उपयोग करने वालों को अच्छा माल देना, समाज की अच्छी सेवा करना, अभीष्ट है, बल्कि इसलिए कि बुरा माल पहचान लिया जायगा और वह अच्छे माल से साफ़ तौर पर भिन्न मालूम होगा, जिससे अन्त में बिक्री घटेगी। इसी प्रकार एक क्षत्रिय शस्त्र-धारण केवल वेतन

के लिए करता है और ब्राह्मण भी शिक्षा देने तथा समाज के मार्ग-प्रदर्शन का कार्य केवल वेतन के लिए ही करता है—उसको शिक्षा के कार्य से सच्ची दिलचस्पी नहीं है। अधिकांश अध्यापक स्कूल में जाकर समय पूरा कर देना ही अपना उद्देश्य समझते हैं।

इसपर कुछ लोग कहते हैं कि स्वार्थ हुए बिना तो कोई आदमी कुछ कार्य न करेगा। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि हमारे समाज की इस स्वार्थमय मनोवृत्ति का कारण हमारा वर्तमान समाज-सगठन और उसकी स्वार्थमयी नींव हैं। प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही यह सीखता है कि जो कोई काम भी करना अपने लिए ही करना। इसके विपरीत यदि जन्म से ही प्रत्येक बच्चे को सिखलाया जाय कि जो कर्म भी करना समाज के लिए करना, समाज के फायदे से उसका भी फ़ायदा है, तो वह जो भी कर्म (काम, व्यवसाय आदि) करेगा उसको उसी की धुन लग जायगी और वह उसको यथाशक्ति अच्छी तरह से पूर्ण करेगा।

यह सब होते हुए भी समाज में दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। एक वे जो प्रत्येक काम केवल अपने व्यक्तिगत फायदे के लिए करते हैं। ये साधारण श्रेणी के मनुष्य हैं और समाज में अधिकांश व्यक्ति इसी श्रेणी के पाये जाते हैं। किन्तु स्वार्थमयी मनोवृत्ति उत्पन्न करनेवाली इन परिस्थितियों के होते हुए भी कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो अपने फायदे के लिए नहीं बल्कि समाज के हित का ध्यान रखकर ही काम करते हैं। बुद्ध, ईसा और दयानन्द आदि बड़े बड़े महात्मा और न्यूटन, लाप्लास आदि बड़े-बड़े आविष्कारक और विद्वान् इसी श्रेणी के लोगों में हुए हैं। इन महात्माओं ने अपने जीवन को मनुष्य-जाति के हित के लिए उत्सर्ग कर दिया, अपने व्यक्तिगत सुख के लिए उनको किसी प्रकार की कोई इच्छा नहीं थी। वराहमिहिर, भास्कराचार्य तथा न्यूटन आदि विद्वानों ने अपना जीवन खपाकर ज्ञान–सागर का आलोडन करके जिन रत्नों को प्राप्त किया उनको अपने किसी स्वार्थ की पूर्ति का साधन बनाने के लिए नहीं। रेलवे इंजिन के तथा अन्य बड़े आविष्कारों के आविष्कारकों ने उनका आविष्कार सिर्फ इसलिए नहीं किया कि वे उनको पेटेण्ट कराके उनसे धनी बनें। किन्तु, उनको उन आविष्कारों की—कोई नया साधन निकालने की—धुन थी। प्रायः सभी बड़े बड़े आविष्कारों के आविष्कारक, जिनके आधार पर हमारी भौतिक सभ्यता स्थित है, रात-रात और दिन-दिन भर उसी में लगे रहते थे, किन्तु उनको कोई ऐश्वर्य प्राप्त नहीं हुआ, वे प्रायः गरीब ही रहे। उनको किस फल की प्राप्ति हुई? केवल आत्म-सन्तोष की। उन आविष्कारों से लाभ पहुँचा सारी मनुष्य-जाति को। इसी प्रकार व्यापार-क्षेत्र में देखिए। सहयोग-समितियों जैसी संस्थाओं का सगठन करने वालों ने ये सब काम केवल जनता के हित के लिए किये। इससे एक लाभ यह भी होता है कि स्वार्थी श्रेणी के लोगों को भी अपने स्वार्थों को कुछ सीमित करना पड़ता है और जनता की सेवा का ख्याल रखना पड़ता है। इस श्रेणी के लोगों को जिस सुख की—जिस आत्म-सन्तोष की—प्राप्ति होती है, उसीको हमारे यहाँ ब्रह्मानन्द नाम से पुकारा गया है। इसी प्रकार के लोगों पर मनुष्य-समाज स्थित है। यह निःस्वार्थ भाव पाया सबमें जाता है, किन्तु किसी में कम, किसी में अधिक। किसीमें स्वार्थी प्रवृत्ति इस प्रवृत्ति को दबा लेती है और किसीमें यह स्वार्थी प्रवृत्ति को दबा लेता है। जिनमें यह बहुत प्रबल होता है वे ही महात्मा, विद्वान्, आविष्कारक आदि बनते हैं।

आजकल का हमारा समाज-सगठन इस प्रकार का है कि वह प्रारम्भ से ही मनुष्य में इस प्रवृत्ति को अनुत्साहित करता है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य कर्म (पेशे) के मुख्य उद्देश्य की ओर से ही उदासीन हो जाता है और इस कारण उसमें अच्छी तरह उन्नति नहीं कर सकता। फल यह होता है कि समाज में स्वार्थ का राज्य छा जाता है और संसार में जितने अपराध होते हैं, उन सब का मूल भी स्वार्थ में ही पाया जा सकता है। दूसरी बड़ी हानि इस स्वार्थमयी प्रवृत्ति से यह होती है कि समाज की भौतिक उन्नति तो किसी अंश में उसके रहते भी हो सकती है, किन्तु आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक उन्नति में एक बड़ा विघ्न उपस्थित हो जाता है। क्योंकि प्रत्येक काम तो धन की प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता है। इस हालत में ज्ञान-वृद्धि तथा कला की उन्नति

के लिए कौन उद्योग करे, क्योंकि उससे तो धन-प्राप्ति नहीं होती ? अस्तु।

समाज की उन्नति इसीमें है कि उसका आत्मिक, मानसिक, शारीरिक, और भौतिक—चतुरस्त्र विकास हो। इन चारों प्रकार की उन्नति से ही सुख की अधिकतम मात्रा की प्राप्ति हो सकती है। केवल धनी होने से ही कोई सुखी नहीं हो सकता।

सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ

आश्रम-व्यवस्था के पुनरुद्धार की आवश्यकता

भारतवर्ष की जो पुरानी बातें सर्वकालीन भली थीं, उन्हींमें आश्रम-व्यवस्था की गणना होनी चाहिए। इस व्यवस्था के लोप हो जाने से देश की बड़ी हानि हुई है। प्राचीन आश्रम व्यवस्था में मानव-शरीर और स्वभाव की आवश्यकताओं का पूरा-पूरा विचार था, साथ ही उसमें जीवन के आदर्शों को, अन्तिम उद्देशों को, अंगाङ्गि-सम्बन्ध के नाते जोड़ दिया था। प्राचीन आश्रम-व्यवस्था में मनुष्य-जीवन के मोटे तौर से १०० वर्ष मान लिये गये थे। प्रथम पाँच वर्ष घर पर बिताने पर लड़के का उपनयन-संस्कार होता था, यानी कुछ विशिष्ट संस्कार द्वारा वह शिक्षा-दीक्षा के लिए किसी गुरु के पास भेज दिया जाता था। आजकल उपनयन (यानी व्रतबंध) संस्कार का इतना विकृत और हास्यास्पद स्वरूप हो गया है कि कुछ कह नहीं सकते। उसका सार तो उसमें नाम को भी नहीं है पर उसके ढाँचे को उत्सव का स्वरूप प्राप्त हो गया है। इसके सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है। उपनयन-संस्कार होने पर लड़का पच्चीस वर्ष की उम्र होने तक गुरु के पास व्रतपूर्वक रहता, भिक्षा माँगकर अपनी और गुरु की उदरपूर्ति करता, तथा शिक्षा प्राप्त करता था। शिक्षा समाप्त होने पर गुरु की आज्ञा पाकर वह विवाह करता, यानी अब गृहस्थ होता, कोई धन्धा करके अपना, अपनी पत्नी और बाल-बच्चों का निर्वाह करता तथा इस जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे कार्य करता था। पचास वर्ष की उम्र के बाद बाल-बच्चों और सम्पत्ति से दूर होकर वन में जाकर धर्मार्जन करता था। वहाँ पच्चीस वर्ष बिताने पर वह निःसंग होकर रहता था, यानी सन्यासी हो जाता था।

जैसा ऊपर कह चुके हैं, इस व्यवस्था में शरीर और मन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी, साथ ही जीवन का अन्तिम उद्देश भी उससे सिद्ध होता था। मनुष्य-शरीर के लिए भोजन, आच्छादन और वासस्थान की अत्यन्त आवश्यकता है। इन बातों के बिना उसकी रक्षा हो ही नहीं सकती। इसलिए उनका अर्जन करना प्रत्येक प्रौढ़ पुरुष का कर्तव्य होना चाहिए। मनुष्य में काम-वासना स्वभावतः रहती है। प्रौढ़ होने पर पुरुष और स्त्री का मैथुन-सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। इसीसे मानव-सृष्टि का क्रम भी चलता है। विवाह करके गृहस्थाश्रम में रह कर द्रव्यार्जन करना और बाल-बच्चे होने पर उनका पालन पोषण-शिक्षण करना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है। परन्तु इस गृहस्थाश्रम में केवल अर्थ और काम की ही सिद्धि की बात नहीं थी, उसमें धर्म की भी सिद्धि हो सकती थी। क्योंकि नियम-पूर्वक जीवन बिताने से धर्म की उच्च सीढ़ी पर पैर रखने की क्षमता प्राप्त होती थी। गृहस्थाश्रम में कुछ तो काम की सिद्धि होती है और कुछ उसे दमन करना भी सीखना पड़ता है। क्योंकि एक पत्नी-व्रत और एक पति-व्रत स्वयं यथेष्ट कठिन व्रत है। इस दुनिया में जो इनके अनुसार रहते हैं, वे नीति के मार्ग पर चलते कहे जाते हैं। फिर जिन्हें बाल-बच्चों का पालन-पोषण शिक्षण करना पड़ता है उन्हें तो अपनी वासनायें दमन करने के, शान्ति से सारे सांसारिक कष्टों को सहने के, न जाने कितने प्रसंग आया करते हैं ! उनसे मानव प्राणी के पशुत्व का दमन अवश्य होता है। इस प्रकार कुछ-काम सिद्धि करने पर और मनोविकारों का दमन होने पर मनुष्य अपना उच्च उद्देश्य प्राप्त करने की तैयारी में लग सकता है। इसी-

लिए हमारे यहाँ गृहस्थाश्रम चलाने का सब के लिए आदेश किया है। तीसरे आश्रम में सारी कामनाओं का दमन हो-कर ईश्वर-चिन्तन में लगना चाहिए। इस समय पति-पत्नी दोनों इस कार्य में लगे रहते थे और यहाँ भी पर-स्पर के कार्य में एक दूसरे की सहायता करते थे। इस प्रकार मनोदमन, मन की शुद्धि और ईश्वर में सलग्नता प्राप्त होने पर मनुष्य इस संसार के सब सम्बन्धों से दूर हो सकता था। इसलिए 'सन्यास' लेने पर किसीसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रह जाता था। अब स्त्री-पुरुष वाला भेद भी मानने की आवश्यकता न थी। इस समय मनुष्य पूर्ण निःसङ्ग हो कर रहता था। किसी प्रकार की सम्पत्ति पास में रखना या एक ही स्थान में बहुत काल तक रहना भी मना था। ऐसे पुरुष जनता के धर्म के रक्षक, उपदेशक और आदर्श होते थे। शरीर को आवश्यकताओं के कारण यदि वे समाज पर अवलंबित रहते थे, तो धर्म-रक्षा, उपदेश और आदर्श द्वारा वे समाज की सेवा भी करते थे। साथ ही वे ऐसे होते थे, जिन्होने संसार के समस्त अनुभव प्राप्त तो कर लिये हैं पर अब किसी प्रकार का बन्धन नहीं रहा है। ऐसे ही पुरुष समाज को उपदेश दे सकते हैं और उसके आदर्श-स्वरूप हो सकते है। इस प्रकार समाज का क्रम सयमपूर्वक चलता था और व्यक्ति अपने उच्च उद्देश्य प्राप्त कर सकता था। समाज-व्यवस्था के साथ व्यक्ति के ऐहिक और पारलौकिक उद्देशों की सिद्धि की संभावना इस प्रकार बड़े ही अच्छे ढग से गूँथ दी गई थी।

पर समय के साथ सभी बातें बदल जाती हैं। और-और बातों के साथ हिन्दुओं की आश्रम-व्यवस्था में भी बहुत रद्दोबदल हो गया है। वास्तव में यह कहना अनुचित न होगा कि अब यह व्यवस्था रह ही नहीं गई। पहले तो केवल शूद्रों को ही इस व्यवस्था से वंचित रक्खा था—द्विज यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण इस व्यवस्था से बधे थे। पर अब क्षत्रिय और वैश्यो मे तो इस सम्बन्ध का कोई बंधन रहा ही नहीं है। उन्हे तो प्राचीन काल के उपनयन-सस्कार से अब कोई वास्ता है नहीं। इनमें से कुछ लोग विवाह के अवसर पर जनेऊ धारण कर उपनयन-सस्कार की पूर्ति कर लेते हैं। अन्यथा, कई लोगों मे उपनयन-सस्कार की नकल भी नहीं रही। ब्राह्मणों मे भी उपनयन-सस्कार के अनेक संस्कार हो चुके हैं। उसके मूल उद्देश्य का तो कहीं पता ही नहीं है। हाँ, दक्षिणी ब्राह्मणों-जैसे कुछ लोगों में उसने एक बड़े भारी उत्सव का रूप धारण कर लिया है और उसमे सैकड़ों रुपये खर्च हो जाते हैं। कुछ ब्राह्मणों में वह क्षत्रियों के समान जनेऊ धारण करवा कर विवाह के अवसर पर पूर्ण कर लिया जाता है। अब हिन्दुओं में उपनयन या व्रतबंध सस्कार होना चाहिए या नहीं, और यदि हो तो वह किस रूप मे हो, यह एक अच्छा विचारणीय विषय है। वह इस लेख का विषय न होने के कारण हम उसका यहाँ पर विशेष विचार नहीं करेंगे। हाँ कुछ थोड़े से विचार यथास्थान दे दिये हैं। इसका एक उद्देश्य यह था कि लड़के पच्चीस वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहें। पर आज तो इसका कहीं ठौर-ठिकाना रहा ही नहीं। कई लोगो में नाम-मात्र के विवाह बचपन में ही होजाते है। बाल-विवाह की प्रथा आम तौर से प्रचलित होगई है। १८ से २० वर्ष के भीतर लड़के एक-दो बच्चों के बाप हो जाते हैं और पच्चीस वर्ष तक चार-पाँच बच्चों के बाप बन जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि विवाह शीघ्र न भी हुआ तो नीति हीन मार्गों से लड़के अपने वीर्य का नाश १६-१७ वर्ष से ही करने लग जाते हैं। क्षत्रिय और वैश्य तो क्या, सैकड़ों ब्राह्मण भी 'निरक्षर भट्टाचार्य' बने बैठे हैं—अपनेको 'पण्डित' और 'महाराज' कहते है और छुआछूत द्वारा ही अपनेको सबसे श्रेष्ठ दिखलाते हैं। विद्या के नाम से वे कोसों दूर है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि छुआछूत और जात-पाँत की बलिहारी के कारण उत्तर-हिन्दुस्थान में कई ब्राह्मणो का धन्धा रसोई बनाने का होगया है और 'महाराज' का अर्थ रसोइया बन गया है। हाँ, गृहस्थाश्रम का एक कार्य यानी विवाह करके प्रजोत्पत्ति सब हो किया करते हैं। इस कार्य ने तो इधर ब्रह्मचर्य की अवस्था पर थोड़ा-बहुत अधिकार कर लिया है और वानप्रस्थाश्रम तथा सन्यास को पूरी रीति से निगल डाला है। सारांश, आज-कल प्रजोत्पत्ति के कार्य के सिवा प्राचीन आश्रम-व्यवस्था का और कोई कार्य हिन्दू लोग सामान्य रीति से नहीं करते। इससे अनेक हानियाँ हुई हैं। पहले तो छोटी अवस्था से

विवाह-बन्धन में फँस जाने के कारण शिक्षा, संयम और ब्रह्मचर्य का कोई महत्व नहीं रह गया। इसके कारण शरीर, शील और विद्या समाज में बहुत कम रह गई है। इसलिए यदि हममें से बहुतेरे दुर्बल और रोगी, दुश्चरित्र और अपढ़ हों तो हमें आश्चर्य न करना चाहिए। गृहस्थाश्रम में भी संयमपूर्वक न रहने के कारण हमारे दुर्बल और रोगी शरीर और दुश्चरित्र एवं ख़राब होंगे। प्रजोत्पत्ति का कार्य बिना रोक-टोक के जन्म भर चलते रहने के कारण हम अर्थोत्पादन में भी जन्म-भर ऐसे संलग्न रहते हैं कि कोई भी हमें देख कर यह कह सकता है कि अर्थ और काम के सिवा इनका और कोई उद्देश्य है ही नहीं। धर्म का ढकोसला हममें बहुत घुस गया है, परन्तु वाणी और हाथ की धार्मिक बातों का हमारी आत्मा पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। धर्म केवल दिखाने और कहने भर को रह गया है, आत्मा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वानप्रस्थाश्रम और संन्यास द्वारा व्यक्ति की जो धार्मिक उन्नति होती थी, उसका अब कहीं पता ही नहीं देख पड़ता। लोग यह समझे बैठे हैं कि ढकोसलों से ईश्वर-प्राप्ति हो सकती है। वानप्रस्थाश्रम और संन्यास के लोप हो जाने से सच्चे और पूरे समाजसेवी अब देख नहीं पड़ते। अब लोग इधर गृहस्थाश्रम चलाते हैं और उधर समाज-सेवा के बड़े-बड़े कामों में भी हाथ बँटाते हैं। इसके कई बुरे परिणाम होते हैं। धर्म के ढकोसले के समान यह भी एक ढकोसला हो गया है। आजकल आर्थिक उन्नति के लिए और समाज में अग्रणी कहलाने के लिए समाज-सेवा का स्वाँग भरने वाले पुरुष बहुत अधिक हो गये हैं। वे बहुत-कुछ स्वार्थ में रत हैं, समाज-सेवा उनके लिए एक व्यवसाय है। यदि कोई सच्चे समाज-सेवक बनने का प्रयत्न करते हैं, तो वे आर्थिक हानि उठाते हैं और उनका गृहस्थाश्रम दरिद्र, दुःखी और क्लेशपूर्ण हो जाता है। इसका परिणाम उनके बालकों के शरीर, शक्ति और शिक्षा पर पड़ता है। क्योंकि इसके लिए उनके पास न तो यथेष्ट समय रहता है, और न आवश्यक द्रव्य ही होता है। गृहस्थाश्रम और सच्ची समाज-सेवा हमारी समझ में कुछ अंश तक असंगत बातें हैं। निःस्वार्थ सेवा अच्छी तरह से पूरी तौर पर वे ही कर सकते हैं कि जो अपना अर्थ और काम सिद्ध कर चुके हैं, जिनका मन अब निःस्वार्थ और शुद्ध हो चुका है, जो अपनी वासनाओं को दबा चुके हैं। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न सभाओं के सदस्य होने के लिए लोग जो इतने मरे जाते हैं, वह क्या केवल सच्ची समाज-सेवा की इच्छा की प्रेरणा है? चाहे जिस प्रौढ़ पुरुष को चाहे जिस सभा का सदस्य होने का अधिकार होने से और उच्च सभाओं का सदस्य होने पर स्वार्थपूर्ति की आशा अधिक होने से लोग स्वार्थवश ही भिन्न-भिन्न सभाओं का, और बहुधा उच्च सभाओं का, सदस्य होने के लिए तड़फड़ाते रहते हैं और अर्थ और काम की सिद्धि में संलग्न रहते हैं। इसलिए हमारी समझ में तीस वर्ष के पहले किसी को भी किसी सभा का सदस्य होने का अधिकार न होना चाहिए। पच्चीस से तीस वर्ष तक पाँच साल वे समाज में रहकर उसके कार्यों, आवश्यकताओं और कठिनाइयों को जानें-समझें। तदनन्तर दस वर्ष तक उन्हें केवल म्युनिसिपैलिटी, लोकलबोर्ड, डिस्ट्रिक्ट कौंसिल आदि का, यानी ज़िले के भीतर की सभाओं का, स्थानीय स्वराज-शासन का, सदस्य होने का अधिकार होना चाहिए। जो कोई पुरुष इन सभाओं का सदस्य कम-से-कम तीन साल रह चुका हो, वही पुरुष प्रान्तीय धारा-सभा का सदस्य हो सके, पर यह अधिकार उसे चालीस वर्ष का होने पर ही प्राप्त हो। प्रान्तीय सभा का सदस्य कम-से कम तीन साल रहने पर और पचास वर्ष का होने पर ही अखिल-भारतीय धारा-सभा का सदस्य होने का अधिकार किसी को प्राप्त हो। वानप्रस्थ पुरुष भी इन सभाओं के सदस्य हो सकें, पर सन्यासी नहीं। स्त्रियों के सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि चालीस वर्ष की विधवा स्त्रियाँ तथा पचास वर्ष की सधवा स्त्रियाँ ही इन सभाओं की सदस्या हो सकें। उनके विषय में अन्य रोक-टोक रखना कठिन है। परन्तु हिन्दू स्त्री और पुरुष का जो सम्बन्ध समझा जाता है, उसके अनुसार वानप्रस्थ स्त्रियों को छोड़ अन्य सधवा स्त्रियों को इन सभाओं की सदस्या होने का अधिकार नहीं दिया जा सकता, क्योंकि गृहस्थाश्रम में स्त्री और पुरुष में

हिन्दू समाजतत्त्व के अनुसार अभेद भावना रहती है। स्त्रियों पर गृह-सचालन और सन्तति-पोषण की भारी जिम्मेदारी रहने के कारण उन्हें इन कार्यों से वंचित करना ठीक नहीं है। साथ ही, इस बात पर भी ध्यान रखना जरूरी है कि पति और पत्नी में भेदभाव पैदा करना और इस प्रकार उनके गार्हस्थ्य में फूट के बीज बोना अनुचित है।

हमने प्रसंगवश स्त्री और पुरुषों के भिन्न-भिन्न सभाओं के सदस्य होने के विषय में कुछ संक्षेप में कह डाला। परन्तु हमें अब मुख्य बात की ओर दृष्टि फेरनी चाहिए। आश्रम-व्यवस्था के लोप होने से और इस प्रकार गृहस्थाश्रम के कार्यों में रोक-टोक होने से गृहस्थों के अर्थोपार्जन के मार्ग बदल जाते हैं और जहाँ केवल निःस्वार्थ समाज-सेवा होनी चाहिए, वहाँ भी लोग स्वार्थ की पूर्ति का प्रयत्न किया करते हैं। इसके विपरीत बूढ़े लोग घर पर रहकर अनेक अनैतिक अत्याचार किया करते है। हमें ऐसे उदाहरण मालूम हैं और हमने कुछ समाचारपत्रों में पढ़े भी हैं कि बूढ़े पिता ने अपने लड़के की तरुण पत्नी पर पुत्र के समाज सेवा में संलग्न और अनुपस्थित रहने के कारण बलात्कार किया है। बहुत काल तक गृहस्थी के सुखों में लगे रहने से और घर पर खाली मन और शरीर को कोई कार्य न होने से ऊपर बताये अनैतिक अत्याचारों का पैदा होना अवश्यम्भावी है।

इन सब हानियों और बुराइयों को दूर करने के लिए आश्रम-व्यवस्था का पुनरुद्धार होना अत्यन्त आवश्यक है। 'सर्वेण्ट आव् इण्डिया सोसायटी' जैसी जो-कुछ संस्थायें स्थापित होने लगी हैं उनमे भी यह आवश्यकता प्रतिपादित होती है। आज आवश्यकता इस बात की है कि समाज में कुछ लोग ऐसे रहे जो पूर्ण रीति से समाज-सेवा में लगे रहें। हम बता ही चुके हैं कि मानवी मन और शरीर की आवश्यकताओं के कारण बहुत-से तरुण लोगों का ऐसे कार्यों में लगे रहना असम्भव है। यह कार्य उन्हींसे हो सकता है जिन्होंने संयमपूर्वक गृहस्थाश्रम बिताया है और अब लड़कों बच्चों में बहुत अधिक संलग्न रहने की आवश्यकता नहीं है। जिनपर भारी जिम्मेदारी है, जिन्होंने सांसारिक सुखों का अनुभव नहीं किया है, जिन्हें अभी तक इन्द्रिय-सुखों की लालसा बनी हुई है, वे सच्चे दिल से समाज-सेवा नहीं कर सकते। जिन्होंने पचीस-तीस वर्ष गृहस्थाश्रम में बिताये है वे ही समाज-सेवा करने के योग्य हैं। उन्हींसे निःस्वार्थ और सच्ची समाज-सेवा हो सकती है। तरुण लोगों की समाज-सेवा में शीघ्र ही स्वार्थपरता की धुन लग जाती है। इसलिए आश्रम-व्यवस्था के पुनरुद्धार की आवश्यकता बिलकुल स्पष्ट है। प्रश्न केवल इस बात का है कि आश्रम-व्यवस्था का स्वरूप क्या हो?

पहले पाँच वर्षों के सम्बन्ध में कोई प्रश्न है ही नहीं। यह तो बहुधा खेल-कूद का समय है। यदि कुछ शिक्षा हो भी सकती है तो वह केवल खेल कूद से ही। उसे 'विहित शिक्षा (Formal education) की श्रेणी में नहीं रख सकते। इस प्रकार की शिक्षा पाँच वर्ष के बाद ही शुरू हो सकती है। इसलिए छठे वर्ष मे 'विद्याव्रत' की दीक्षा देकर विद्यारम्भ कराना चाहिए। प्राचीनकाल मे इसी वय में 'व्रत-बन्ध' या 'उपनयन' संस्कार कराके लड़के गुरुजी के हाथ शिक्षा-कार्य के लिए सौंप दिये जाते थे और वहाँ वे विद्या पढ़ते, गुरु की सब प्रकार की सेवा करते, उसकी आज्ञा में रहते और भिक्षा माँगकर अपना और अपने गुरु का निर्वाह करते थे। अब आज प्राचीनकाल के गुरु दुर्लभ हैं। आजकल शिक्षा के कार्य पर सरकारी नियंत्रण भी है। 'रिकगनाइज्ड' (सरकार द्वारा स्वीकृत) पाठशालाओं और कालेजों के लड़कों को ही सरकारी नौकरी मिल सकती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि सरकार द्वारा स्वीकृत पाठशालाओं और कालेजों की ओर सब लड़के दौड़ पड़ते हैं। खानगी विद्यालयों का कीमत कुछ भी नहीं रही। इसका भी परिणाम बुरा हुआ है। यदि नौकरियों के लिए अलग-अलग परीक्षायें रहे और चाहे जिस शाला से पढ़े विद्यार्थी को उनमे प्रवेश करने का अधिकार रहे, तो प्राचीन काल के विद्यालय और विद्यापीठ थोड़े-बहुत अवश्य चल निकलेंगे। तथापि अब जो थोड़े-बहुत विद्यालय हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि कुछ विद्यालय अब भी चल सकते हैं। यदि विद्यालयों के सब लड़कों को (ग़रीब और श्रीमान् का भेदभाव दूर करके) भिक्षार्जन करने मे लगाया जाय और इस प्रकार जो द्रव्य एकत्र हो, वह विद्यालय में लगाया जाय

तो कई विद्यालय चल निकलेंगे। जिस भारतवर्ष में अच्छे भले-चंगों को भीख अच्छी तरह मिल सकती है, वहाँ विद्यार्थियों को विद्यालयों के नाम अवश्य भिक्षा मिलेगी। विद्यार्थियों से यह काम लेने में हम कोई बुराई नहीं समझते। इससे अनेक प्रकार की शिक्षायें मिल सकती हैं। ग्यारहवें वर्ष में लड़कों से धर्मव्रत कराया जाय और उन्हें धर्म की आचारात्मक, और आख्यायिकाओं और सरल पुस्तकों द्वारा विचारात्मक शिक्षा दी जाय। इसी समय समाज-सेवा का भी व्रत उनसे कराया जाय, अर्थात् समाज को साधारण बातों में सहायता देने का काम उनसे लिया जाय। आज-कल की स्काउट-सभा के समान उद्देश्य उसमें सम्मिलित कर लिये जायँ, पर इसके व्रत का प्रारम्भ धर्मव्रत के साथ होना चाहिए। वह आज-कल की नाईं सरकार-प्रणीत कार्य न होना चाहिए। चौदहवें वर्ष में ब्रह्मचर्य-व्रत की दीक्षा दी जाय। इसी समय लड़के इसका महत्त्व समझ सकते हैं। समय-समय पर इस विषय में उपदेश देना अत्यन्त आवश्यक है। ये तीनों संस्कार अत्यन्त सादी रीति से सम्पन्न किये जायँ। आज-कल के नाममात्र के 'व्रतबन्ध' की नाईं वे खर्चीले उत्सव न बन जायँ। इस प्रकार आज-कल के व्रतबन्ध के सब उद्देश्य उचित समय पर सिद्ध हो जायँगे। जनेऊ वग़ैरह धारण करने के प्रश्न कम महत्त्व के हैं। हाँ, हम यह मानते हैं कि प्रत्येक व्रतसंस्कार का कुछ चिह्न लड़कों को धारण करना अत्यावश्यक है, ताकि वे अपने व्रत का स्मरण सदैव बनाये रक्खें।

हमने लड़कियों के विषय में अबतक कुछ नहीं कहा है। हमारी समझ में लड़कों की नाईं लड़कियों के भी संस्कार हों। भेद केवल इतना ही रहे कि लड़कियों का ब्रह्मचर्य-व्रत १४ वर्ष के स्थान में बारहवें वर्ष से ही हो। बारहवें वर्ष के बाद लड़कियों से भिक्षार्जन का कार्य बन्द करा दिया जाय।

लड़के पचीस वर्ष के और लड़कियाँ सोलह वर्ष की पूर्ण होने पर उन्हें विवाह करने की अनुमति दी जाय, परन्तु इन अवस्थाओं के पूर्व नहीं। पुरुष ५० वर्ष तक और स्त्रियाँ ४० वर्ष तक विवाह कर सकें, परन्तु तदनन्तर नहीं। स्त्री-पुरुषों की अवस्था में हमारी समझ में विशेष अन्तर न होना चाहिए। दस या बारह वर्ष से अधिक अन्तर हमारी मति में अनुचित होगा। आजकल क्या यूरोप-अमेरिका और क्या भारतवर्ष, सभी देशों में स्त्रियों-पुरुषों की अवस्था के अन्तर के विषय में कोई नियम नहीं है। यूरोप-अमेरिका में तो इस सम्बन्ध में बड़ी ही विचित्र बातें दिखाई पड़ती हैं। कभी पत्नी की उम्र ७५ वर्ष की और पति की उम्र १५-१६ वर्ष की रहती है तो कभी पत्नी की उम्र १५-१६ वर्ष की और पति महाशय ७५ वर्ष के रहते हैं, और लड़के स्वयं अपनी बूढ़ी माता का "कन्यादान" करते हैं! इससे अधिक हास्यास्पद और हानिकारक बात और भी कोई हो सकती है? हमारे देश में तरुण पति की पत्नी बूढ़ी नहीं रहती, पर दस या पाँच वर्ष की लड़की के पति महाशय ६०-७० वर्ष के हो सकते हैं। इससे जो अनाचार होते हैं वे सब पर प्रकट ही हैं। पति-पत्नी की अवस्था में दस-बारह वर्ष से अधिक अन्तर होना कानूनन नाजायज कर दिया जाय तो प्रौढ़ विधुर पुरुष विधवाओं से अवश्य विवाह करेंगे। इस प्रकार विधवा-विवाह का प्रश्न हल हो जायगा और बूढ़े पतियों की तरुण पत्नियाँ होने से जो बुराइयाँ होती हैं वे बहुत-कुछ दूर हो जायँगी। प्रत्येक पुरुष को पत्नी-व्रत और स्त्री को पतिव्रता होना चाहिए। इसका उल्लङ्घन करने पर वे कानून की रू से समाज में किसी प्रकार कलङ्कित किये जायँ। नियोग की प्रथा को जायज करना बुरा न होगा। पर इसके लिए दोनों पक्षों के पति पत्नियों की स्पष्ट सम्मति रहे, अन्यथा ऐसा कार्य अनाचार समझा जाय। समाज के लोगों को बंधन में रहकर संयम सीखना होगा। पहले-पहल नैतिक अनाचार करने वाले पुरुषों को बेंतों की सजा दी जाय अथवा उनके नामों का रजिस्टर प्रत्येक जिले के सरकारी दफ्तर में रहे, अथवा प्रसङ्गानुसार दोनों सजायें दी जायँ। दूसरी बार वही अपराध करने पर उनका नाम सरकारी दफ्तरों में लिखा जाना आवश्यकीय हो। तीसरी बार वही अपराध करने पर कैद की कुछ सजा दी जाय। इस प्रकार अपराध के गुरुत्व और संख्या के अनुसार उत्तरोत्तर अधिक दण्ड दिया जाय। स्त्रियों को बेंत की सजा न दी जाय, पर शेष दण्ड सामान्य रहे। इसी प्रकार आजकल नैतिक अनाचार दूर होने की संभावना है। पाश्चात्य संसर्ग के

कारण हम लोग भी विलासी बन बैठे हैं और इसलिए इसमें कोई बुराई नहीं देखते। पर इससे चरित्र और शरीर की जो हानि हो रही है, उसके कारण समाज रसातल को जा रहा है। इस अधोगति को रोकने के उपाय करने ही होंगे।

५५ वर्ष की अवस्था होने पर पुरुष और ४५ वर्ष की अवस्था होने पर स्त्रियाँ चाहें तो गृहस्थाश्रम को त्याग कर प्राचीन वानप्रस्थाश्रम के स्थान में 'सेवाश्रम' में पैर रक्खें। परन्तु प्रत्येक ६० वर्ष के पुरुष को तथा ५० वर्ष की स्त्री को गृहस्थाश्रम त्यागना ही होगा। इसके लिए प्रत्येक गाँव और शहर में सेवाश्रम रहे। उनको चलाने के लिए प्रत्येक गृहस्थी से हैसियत के अनुसार कुछ कर लिया जाय और उनका संचालन अर्ध-सरकारी रीति से हो। इनके नियम वगैर सरकार ही बनावे। ईश्वर-चिन्तन, अध्यात्मशास्त्र और दर्शनादि के मनन के सिवा प्रत्येक सेवाश्रमी को समाज की हर प्रकार की सेवा करने का व्रत धारण करना ही होगा। कोई भी सेवाश्रमी निजी तौर से द्रव्य न कमावे। सरकारी नौकरी करने के कारण मिलने वाली पेंशन की आमदनी हो तो वह चाहे अपने लड़कों-बच्चों को देता जाय अथवा सेवाश्रम को दे दे। हमारी समझ में पेंशन के नियमों की अपेक्षा सरकारी नौकरी पूर्ण होने पर एक मुस्तकिल रकम उसे दे देना अधिक उचित है। इससे वह अपने लड़कों-बच्चों के आवश्यक पालन-पोषण का प्रबंध कर सकता है। सब जायदाद उसे अपने लड़कों-बच्चों को या अन्य किसी को पहले ही सौंप देनी होगी। सेवाश्रम में वह 'वधत्रिनिर्मुक्त' रहे, उसका सारा निर्वाह सेवाश्रम से ही हो, और वह भी अत्यन्त सादा हो। यदि सेवाश्रमी को उस समय के कार्यों के कारण कुछ सरकारी आमदनी हो तो वह सेवाश्रम की सम्पत्ति में दाखिल की जाय। जनता में से कोई उन्हें कुछ न दे, जिसे जो कुछ देना हो वह उसके बाद सेवाश्रम को हा दे। सेवाश्रमी अपने बाल-बच्चों को उपदेश भले ही दे सकें, पर अपने घर पर न रहें। इस प्रकार सेवाश्रमी लोभ-मोहादि से दूर हो सकेगा।

७० वर्ष की अवस्था पर सेवाश्रमी चाहे तो संन्यास धारण कर ले। इस अवस्था में समाज का उसपर और उसका समाज पर कोई विशेष बन्धन न रहेगा। सर्वसाधारण नियमों का पालन उसे भी करना होगा, पर इनके सिवा उसके लिए कोई विशेष नियम न रहेंगे। उसका निर्वाह समाज की ऐच्छिक उदारता पर निर्भर रहेगा। उसका कार्य केवल ईश्वर-चिन्तन, दर्शनादि का मनन, और समाज को उपदेश देना होगा।

इस प्रकार समाज की बिगड़ी दशा बहुत-कुछ सुधर सकती है। यह स्पष्ट ही है कि हमने जात-पाँत के झगड़े को अपनी इस व्यवस्था में कोई स्थान नहीं दिया है। वास्तविक बात यह है कि अब उसके और उसके अनुषंगी छुआछूत के अस्तित्व की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। और न हमने किसी एक दल को इस आश्रम-व्यवस्था से वंचित ही रक्खा है। हम सबको मनुष्य के नाते पूरी तरह आश्रम-व्यवस्था के अधिकारी मानते हैं, सब को आत्मिक विकास के अवसर देना न्याय्य और आवश्यक है। हम नहीं समझ सकते कि प्राचीन काल में शूद्रों को क्यों इस अधिकार से वंचित रक्खा गया था। कदाचित् प्रारम्भ का द्वेषभाव ही इसके लिए जिम्मेदार हो, अथवा गृहस्थों की घरू चाकरी के लिए जिस प्रकार शूद्रों को विद्या से वंचित रक्खा कदाचित् उसी प्रकार द्विजों ने उन्हें आत्मिक विकास से भी वंचित रक्खा हो।

केवल एक प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है। जो लोग पूर्ण पच्चीस वर्ष तक विद्या-प्राप्ति में लगे न रह सकें वे क्या करें? इसका उत्तर यह है कि दश वर्ष तक सबको सरकारी तौर पर अनिवार्य शिक्षा दी जाय। तदनन्तर लड़के-लड़कियाँ किसी काम-धन्धे में लग जायँ। घरू काम-काज के लिए इन्हींमें से सैकड़ों लोग मिल जायँ। दस वर्ष के बाद शिक्षा का पाना ऐच्छिक रहे। हाँ, विद्या प्राप्त करनेवालों को थोड़ी बहुत सहायता देना समाज का कर्तव्य है। परन्तु लड़के-लड़कियाँ दस वर्ष के बाद कहीं पढ़ें या न पढ़ें, पर उनके इस अवस्था के बाद संस्कार होना और उन व्रतों का पालन सब के लिए आवश्यक होना चाहिए।

क्या हम आशा करें कि विद्वान् लोग उपरिलिखित सूचनाओं पर विचार करेंगे?

गोपाल दामोदर तामस्कर

———

आँसू

(१)

स्वर्गलोक-भर में बुद्धदेवता हँसी और मखौल के पात्र बने हुए थे। उनके छोटे क़द और चौड़े डील-डौल के कारण, जो देवता उन्हे देखता था, उनपर कोई न कोई आलोचना करने के लोभ का संवरण न कर सकता था। ख़ास कर देवराज इन्द्र की सभा मे उनके प्रवेश करते ही सदस्यों के हास्य का फ़व्वारा छूट पड़ता। जब वह सभा मे प्रवेश करते, तब सारी सभा खिलखिला कर हँस उठती। प्रतिदिन देवराज इन्द्र स्वयं बुद्ध से विचित्र-विचित्र प्रश्न करके उन्हे खूब परेशान किया करते थे। इस प्रश्नोत्तरी मे तंग आकर जब बुद्ध खीझ उठते थे, तब उनका चेहरा और उनके हाव-भाव देखने योग्य हो जाते थे। देवताओं को बुद्ध का यह खीझना बहुत ही पसन्द था, इन्द्र प्राय. उनकी इस इच्छा को पूरी किया करते थे।

बुद्ध शान्तस्वभाव चन्द्र के पुत्र थे। चन्द्रदेव को अपने एक-मात्र पुत्र की यह दशा बहुत अखरती थी, परन्तु वह लाचार थे। देवराज इन्द्र के सामने भला वह क्या कर सकते थे? इसलिए, वह मन मार कर चुपचाप अपने पुत्र के इस भयकर अपमान को सहन कर लिया करते थे। अस्तु।

एक दिन देवराज इन्द्र मात्रा से अधिक सुरा-पान कर गये। प्याले पर प्याला चढ़ाते-चढ़ाते वह बिलकुल ज्ञान-शून्य हो गये। इसी अवस्था मे उन्होंने सुरा-पात्र को उछाल कर दूर फेंक दिया। बुद्ध उनके सामने ही बैठे थे; देवराज ने बड़े कर्कश स्वर मे उनसे कहा—"अरे बुद्धू! जा, सुरापात्र उठा ला।" एक देवता को इस प्रकार की आज्ञा देना उसका घोर अपमान करना था, अत बुद्ध अपने स्थान से नहीं हिले।

बुद्ध के पिता चन्द्र भी पास ही बैठे थे, वह पुत्र का यह भयंकर अपमान न सह सके। उन्होंने बिगड़ कर कहा—"इन्द्र! होश सम्हाल कर बात करो।"

चन्द्रदेव जोश मे आ कर यह बात कह तो बैठे, परन्तु दूसरे ही क्षण अपने दुस्साहस के परिणाम को सोच कर उनका हृदय काँप उठा। इतने मे ही कुपित देवराज ने गरज कर कहा—"क्या बकता है छोकरे! अभी पतित हो कर मर्त्य-लोक मे जन्म ले।" चन्द्रदेव के मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। इतनी छोटी-सी अवज्ञा का इतना भयंकर दण्ड!

सारी सभा में सन्नाटा छा गया। सब देवता यह सुन कर काँप गये, परन्तु देवराज से कुछ कहने की हिम्मत किसीको न हुई। केवल गुरु बृहस्पति ही इस अवस्था मे भी ज़रा न घबराये। उन्होने खूब गम्भीर हो कर देवराज इन्द्र को उपदेश देना प्रारम्भ किया। बृहस्पति की बादल की गरज के समान गम्भीर वाणी के प्रभाव से शीघ्र ही देवराज का नशा उतर गया। चेतनावस्था मे आ कर उन्हे अपने कार्य का अनौचित्य स्पष्ट दीखने लगा। थोड़ी देर में खूब शान्त होकर उन्होंने कहा—"जाओ चन्द्रदेव, मेरा शाप नही टल सकेगा। मर्त्यलोक मे जाओ और वहाँ की सर्वोत्कृष्ट वस्तु लाकर मुझे दो। उस वस्तु में स्वर्ग-लोक की मधुरता हो, पापियों को कँपा देने की वह शक्ति रखती हो, वह सबसे अधिक करुणापूर्ण और पवित्र हो, वह आदर्श प्रेम का उज्ज्वल और मधुरतम स्वरूप हो। जाओ, चन्द्र, मर्त्यलोक में जाकर मेरे लिए शीघ्रही ऐसा उपहार ढूँढ लाओ।"

चन्द्रदेव अभीतक थर-थर कॉंप रहे थे।

(२)

खूब तपी हुई बालुका पर वह गौर-वर्ण देवदूत बिलकुल नंगा होकर बैठा था। गरम लू चल रही थी; कहीं हरियाली का नाम भी नहीं था। दूर पर श्यामल वर्ण के कुछ वृक्ष अस्पष्ट रूप मे दिखाई पड़ रहे थे। देवदूत—निर्वासित देवदूत—इस दशा मे अत्यन्त कष्ट अनुभव कर रहा था। जिस मर्त्यलोक को वह अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना से प्रतिदिन शीतल किया करता था वह लोक इतना गरम, नीरस और शून्य होगा, इसकी उसे कल्पना भी न थी। देवदूत का शरीर जल रहा था, उसमे मनुष्यो की अपेक्षा बहुत अधिक सहनशक्ति थी, अत ऊपर अनन्त नीले आकाश की ओर ऑंखें किये हुए पड़ा रहा। शायद वह तृषित नेत्रो से स्वर्ग की ओर ताक रहा था।

सहसा देवदूत को अपना कर्तव्य याद आया, वह एकदम उठ खड़ा हुआ। वह सोचने लगा कि इस नीरस-निर्जन मर्त्यलोक मे से मैं देवराज का वांछित उपहार कहाँ प्राप्त कर सकूँगा? परन्तु उसे प्राप्त किये बिना भी तो काम नहीं चल सकता। वह दूर पर दिखाई देनेवाले वृक्षों के झुरमुट की ओर चला। वहाँ पहुँच कर उसने देखा कि वृक्षों के पास ही मटियाले रग के विविध प्रकार के सैकड़ों स्तूप-से बने हुए हैं। देवदूत पहले-पहल यह निर्धारित न कर सका कि ये क्या हैं; परन्तु, थोड़ी देर बाद, जब वह अपना कौतूहल शान्त करने के लिए, एक स्तूप के पास गया, तब उसे मालूम हुआ कि ये मिट्टी के बेढंगे ढेर इस अभागे लोक के निवासियो के घर हैं। चन्द्रदेव बिना किसी प्रकार की झिझक के एक मकान में प्रविष्ट हो गये।

मकान के दालान की बाईं ओर एक बरामदा था। इस बरामदे में तीन चारपाइयाँ बिछी हुई थी। एक चारपाई पर बिछे हुए मैले-कुचैले कपड़ों पर एक छ: बरस का बालक लेटा हुआ था; शेष दो पर एक वृद्ध स्त्री और एक वृद्ध पुरुष लेटे हुए थे। ये सब प्राणी सर्वथा क्षीण, दीन और दुर्बल थे। बालक की शय्या बीच मे थी और वृद्धा तथा वृद्ध उसके दोनों ओर लेटे हुए थे। बालक बड़े करुण स्वर मे "हाय-हाय" कर रहा था। दोनो वृद्ध पति पत्नी बड़ी व्यथा से उसकी ओर देख रहे थे। विचित्र दृश्य था। चन्द्रदेव बहुत ही आश्चर्य तथा दु ख मे पड गये। ओह! इस लोक के निवासी इतने हीन, क्षीण और शक्ति रहित होते हैं! थोड़ी देर मे बालक रोती हुई आवाज़ मे, चिल्ला कर, पुकार उठा—"पानी, पानी!" दोनो वृद्ध व्यक्तियो ने, मानो बालक की आवाज़ को प्रतिध्वनित करते हुए, क्षीणस्वर मे धीरे से कहा—"पानी, पानी!"

देवदूत को अब पूरी बात समझने में देर न लगी। वह स्वर्गलोक मे अनेक बार मर्त्यलोक के भयकर अकालो का वर्णन सुन चुका था। परन्तु इन कष्टो की इतनी भीषणता की उसे कल्पना भी न थी। बात यह थी कि इस वर्ष फ़ारस देश मे भयंकर दुर्भिक्ष पडा हुआ था। अन्न तो क्या, कहीं पानी का भी नामा-निशान न था। ये तीनो अभागे प्राणी इसी दुर्भिक्ष के शिकार थे। तीनो प्यासे थे, तथापि दोनो वृद्ध व्यक्तियो को अपनी अपेक्षा पुत्र की प्यास बुझाने की अधिक चिन्ता थी; परन्तु वे लाचार थे, कुछ हो ही नहीं सकता था। चन्द्रदेव हृदय थामकर इस करुण दृश्य को देखते रहे, उन्हे मर्त्यलोक मे किसी जीव की सहायता करने का अधिकार नहीं था।

थोड़ी देर बाद बालक फिर चिल्लाया—"पानी, पानी!" परन्तु इस बार उसका स्वर पहले की अपेक्षा बहुत क्षीण था। शायद बालक की निष्पाप ऑंखों ने उसकी मॉंग पूरी करने का यत्न किया।

उसकी आँखों के दोनो गड्ढे आँसुओं से भर गये। थोड़ी ही देर मे बालक को हिचकी आई, और इसके बाद उसकी देह प्राण-शून्य होगई। दोनो वृद्ध पति-पत्नी अनिमेष नेत्रों से अपने प्राणाधिक पुत्र की ओर देखते रह गये।

देवदूत एकदम प्रफुल्लित हो उठा; नहीं मालूम, इस प्रसन्नता का क्या कारण था? उसने शीघ्रता से बालक के आँसुओं का संग्रह कर लिया और इसके बाद वह अपने शुभ्र पखों की सहायता से स्वर्गलोक को चला गया।

× × ×

देवराज इन्द्र स्नान-ध्यान समाप्त करने के अनन्तर सभा-भवन की ओर जा ही रहे थे कि चन्द्रदेव ने आकर उन्हे प्रणाम किया। चन्द्र के हाथ मे क्या चीज़ है—यह देखते ही देवराज उसकी सारी कथा स्वय जान गये। उन्होंने धीरे से कहा—"यह मर्त्यलोक का सर्वोत्कृष्ट उपहार नहीं है। जाओ!"

चन्द्रदेव मन मारकर रह गये।

(३)

ऊंची अट्टालिका की छत पर से ही चन्द्रदेव उन प्रेमी और प्रेमिका की बातें सुनने लगे। प्रेमिका ने अपनी आवाज़ को स्थिर करके धीरे से कहा—"प्रियतम, मातृ-भूमि शत्रुओ से घिरी हुई है।"

"सो मैं जानता हूँ" कहकर वह अपनी प्रेमिका के मुँह की ओर देखने लगा।

युवती कुछ कहना चाहती थी, परन्तु लज्जावश वह उसे कहते-कहते रुक जाती थी। उसकी अन्तरात्मा बार-बार जिस बात को उसके गले तक लाती थी, उसका हृदय उसे मुँह से बाहर निकलने का अवकाश न देता था। दोनो थोड़ी देर तक चुपचाप बैठे रहे। इसके बाद प्रेमिका ने बड़े यत्न से कहा—"प्रियतम हेरिस, कल शायद हमारी मातृ-भूमि की स्वतन्त्रता का अन्तिम दिन है; इसके बाद पराधीनता का घना अन्धकार हमारी मातृ-भूमि फ़्रास को सदा के लिए आच्छादित कर लेगा।"

नवयुवक हेरिस इसपर भी कुछ न बोला। उसने एक बार अपनी प्रेमिका की ओर देखकर ठण्डा स्वास लिया। मानों वह कह रहा था—'प्रिये, अभी तो हमे परस्पर मिले थोड़े ही दिन हुए हैं। क्या इतनी शीघ्र इस स्नेह-बन्धन का विच्छेद कर देना पड़ेगा?'

थोड़ी देर और चुप रहने के बाद प्रेमिका ने फिर कहा—"प्रिय हेरिस, मैं चाहती हूँ कि मैं भी तुम्हारे साथ मातृ-भूमि के शत्रुओ का मुक़ाबला करने चलूँ।"

यह वाक्य कहते हुए उसका स्वर काँप रहा था। नवयुवक हेरिस डरपोक नहीं था। अपनी प्रेमिका की अन्तिम बात सुनकर उसकी अस्थिरता दूर हो गई। उसने शीघ्रता से अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया। इसके बाद दोनो प्रेमी एक दूसरे के गले में हाथ डालकर प्रेमभरी बातें करते रहे। चन्द्रदेव उन सब बातो को सुन रहे थे।

सारी रात दोनों प्रेमी बिलकुल नहीं सोये। उनकी बातों का कभी समाप्त न होनेवाला अक्षय कोष प्रातःकाल के नवीन सूर्य की नरम किरणों ने बीच मे ही बन्द कर दिया। नवयुवक हेरिस की बिदाई का समय आ गया।

अन्त में वीर-स्वभाव हेरिस ने ठण्डी आह भर कर अनिश्चित काल के लिए बिदा ले ली। जबतक वह गली में दीखता रहा, प्रेमिका दर्वाज़े पर खड़ी होकर अनिमेष नेत्रों से उसे निहारती रही। इसके बाद युवती ऊपर की छत पर जाकर नगर के राजमार्ग पर जाते हुए हेरिस के साथ रूमाल हिला-हिला कर प्रेमालाप करती रही।

जब नवयुवक हेरिस बहुत दूर जाकर, प्रातःकाल की धुंध मे लीन होकर, प्रेमिका की आँखो से ओझल हो गया, तब उस देवी ने दूर पर धुधले परन्तु शून्य आकाश की ओर देखते रहकर एक ठण्डी आह भरी, इसके साथ ही उसकी बडी-बड़ी आँखों से दो बूँद आँसू टपक कर उसके गुलाबी चेहरे पर से ढुलकते हुए नीचे की ओर खिसक गये। चन्द्रदेव अभी-तक शान्त होकर इस दृश्य को देख रहे थे, उन्होने अदृश्य रूप मे पास आकर पवित्र प्रेम की पुण्य-स्मृति-स्वरूप उन आँसुओ को चुरा लिया। इसके बाद वह अपने पंखो की सहायता से स्वर्ग की ओर उड़ गये।

× × ×

देवराज इन्द्र बडी गम्भीरता से गुरु बृहस्पति का प्रातःकालीन उपदेश सुन रहे थे। इतने मे चन्द्रदेव वहाँ आ पहुँचे। उन्होने बड़ी नम्रता से देवराज को नमस्कार किया। परन्तु देवराज ने एक बार चन्द्र की ओर देख कर बड़ी शान्ति से केवल इतना ही कहा—"चन्द्र! तुम्हारा यह उपहार सचमुच बहुत उत्कृष्ट है, तथापि यह मर्त्यलोक की सर्वोत्कृष्ट वस्तु नही है।"

चन्द्रदेव का दिल टूट गया। वह मर्त्य लोक के भयंकर चित्र की कल्पना करके काँप उठे।

(४)

एक सुन्दर बाग मे एक सोने का पिंजरा टँगा हुआ था। चारों ओर विविध रंगो के बड़े-बड़े फूल खिले हुए थे। ठण्डी हवा चल रही थी, हरे-हरे वृक्षों के पत्तो से मधुर शब्द उत्पन्न हो रहे थे। पिजरे के अन्दर किशमिश, अगूर, अनार आदि कई फल पड़े हुए थे। इस पिजरे मे एक काबुली तोता, जिसके गले पर लाल रग की कुण्डली बनी हुई थी, सिर नीचा किये बैठा था।

मगध के सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपनी कन्या अपराजिता के लिए खास काबुल से यह तोता मंगवाया था। अपराजिता इस तोते को बहुत प्यार करती थी, उसे सब प्रकार से सुखी करने का प्रयत्न करती थी। परन्तु, वह कभी प्रसन्न न होता था। अपराजिता के प्रेम के प्रभाव से, वह उसके रटाये हुए वाक्य तो अवश्य सुना देता था, परन्तु उसका मन सदैव उदास रहता था। इस बात को राजकुमारी अपराजिता भी जानती थी कि यह काबुली तोता इस रमणीक उद्यान को कन्धार की सूखी पहाड़ियो के सामने कुछ भी मूल्य वाला नही समझता।

सायंकाल का समय था, लता-कुञ्जो मे लटके हुए पिजरे में वह काबुली तोता सिर नीचा किये बैठा था। इसी समय चन्द्रदेवता उसके पास आकर खड़े हो गये। आज सम्राट् समुद्रगुप्त के इस सुन्दर उद्यान को देख कर उनकी यह धारणा नष्ट हो गई, कि मर्त्यलोक सर्वथा नीरस है। सहसा कुञ्जो की घनी छाया के नीचे पिजरे मे बैठे हुए तोते पर उनकी नजर पड़ी। पहली नजर मे उसकी शोकमग्नता उनसे छिपी न रही। वह चुप-चाप खड़े होकर उसकी ओर देखने लगे।

ठीक इसी समय पश्चिमी दिशा से एक और तोता आकर पिजरे के पास वाले मौलश्री के पेड़ पर बैठ गया। इस तोते के गले पर भी लाल रंग का कुण्डल बना हुआ था। वृक्ष पर बैठते ही तोता चिल्ला उठा—"टी, टी"। पिजरे मे बैठे हुए तोते की मानो सहसा नींद टूट गई। वह झुकी हुई गर्दन को उठा कर बैठ गया और सामने वाले मौलश्री के पेड़ पर बैठे हुए अपने देश-बन्धु की ओर देखकर कातर स्वर से वह भी पुकार उठा—"टी!, टी!!" इसके साथ ही साथ उसकी आँखों से दो बूँद। आँसू टपक पड़े। चन्द्रदेव शेष दृश्य को देखने की प्रतीक्षा न करके शीघ्रता से उन आँसुओं के जल से भीगी हुई मिट्टी को उठाकर स्वर्गलोक की ओर चल दिये।

× × ×

देवराज इन्द्र स्वर्ग की अप्सराओं का नाच देख रहे थे। इसी समय चन्द्र ने आकर मरकतमणि से बनी हुई हलके नीले रंग की थाली में रक्खी हुई वह अश्रु-जल-सिंचित मिट्टी उन्हें भेंट की। देवराज ने प्रसन्न होकर कहा—"चन्द्रदेव, अब तुम पाप-मुक्त हुए। सचमुच यह मर्त्यलोक का सर्वोत्कृष्ट उपहार है।"

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

अन्तिम दृश्य

पथ में अगम अथाह सिन्धु लख,वीर-हृदय,मत घबराना।
क्यों? यह कठिन परीक्षा तेरी, आह नहीं मुँह पर लाना।
शान्त वायु-मंडल मे तुमने नाविक बन कर खेला है।
उसी परिधि मे सागरोर्मि की, भीषणता का मेला है।

× × ×

केवल माया का आडम्बर, देख रूप मत फँस जाना।
जीवन-मरण समझ क्रीड़ा-सा,अन्तिम दृश्य दिखा जाना॥

चन्द्रदीप पाण्डेय 'पुलकित'

बृहत्तर भारत

[त्यागभूमि' के लिए]

[५]

कम्बुज-सम्राट् यशोवर्मन्

यशोवर्मन् के (जो नवीं शताब्दी के अंतिम भाग मे राज्य करता था और जयवर्मन् द्वितीय के बाद तीसरा राजा था) राज्य-काल मे भी हम एक ही लेख को ग्यारह विभिन्न शिलालेखों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर उद्धृत किया हुआ पाते हैं। इनमें से प्रत्येक शिलालेख पर एक ही लेख दो-दो जगह खुदे हुए हैं। एक जगह तो दक्षिण-भारतीय उद्गम के कम्बुज वा कम्बोडियन अक्षरों मे और दूसरी जगह बंगला से कुछ-कुछ मिलते-जुलते उत्तर-भारतीय अक्षरों में। इन शिलालेखों में दोहराई गई विज्ञप्ति में कम्बुज-सम्राट् की राजधानी के शिव-मन्दिरों के नियमादि के सम्बन्ध में बड़े मनोरंजक विवरण मिलते हैं। लिखा है—"सम्राट् यशोवर्मन् ने मोती, सोना, चाँदी, गाय, घोड़े, भैंसें, हाथी, पुरुष, स्त्रियाँ, वाटिकायें इत्यादि जितनी भी चीजें यशोधराश्रम को दी हैं, उन्हें सम्राट् वा दूसरा कोई व्यक्ति ले नहीं सकता। केवल राजा, ब्राह्मण और क्षत्रिय ही अपने आभूषण उतारे बिना आश्रम के भीतरी भाग मे प्रवेश कर सकते हैं। जमींदारों तथा श्रीमानों के सहचर बिना माला के दीन वेश में प्रवेश कर सकते हैं। साधारण जन वहाँ अपने साथ किसी प्रकार का भोजन वा चबाने की, पान इत्यादि, चीजें न ले जायँ × × बुरे आचरण के साधु-संन्यासी इसमें प्रवेश न करने पायँगे। × × × सम्राट् के अतिरिक्त और सबको आश्रम के सामने से गुजरते समय रथ से उतर जाना और बिना छाते के चलना चाहिए। × × × आश्रम के अभ्यस्त-पद पर नियुक्त तपस्वी को, ब्राह्मण, क्षत्रिय,

मंत्री, सेना-नायक, शैव एवं वैष्णव-सम्प्रदायों के साधु तथा साधारण जन मे से श्रेष्ठ लोगों की, अतिथि के रूप में, सदैव भोजन-पानी एव पान से अभ्यर्थना करनी चाहिए । इस स्थान पर लिखी मर्यादा के अनुसार उनका आदर-सत्कार किया जाना चाहिए। जबतक सूर्य-चन्द्र स्थित हैं, तबतक इस प्रकार निश्चित 'शासन' (नियम) को तोड़ने एवं उल्लंघन करनेवाले नरक में जावें।"

एक दूसरे मन्दिर पर, इन ग्यारह शिलालेखों से भिन्न एक और शिलालेख है, जिसमें कहा गया है— "नीले या अनेक रंगों के वस्त्र पहनकर लोग इस मन्दिर में न जायँ। देवों की पूजा करने के इच्छुक सच्चे स्त्री पुरुष, अपनी मर्यादा एवं सुविधा के अनुसार, भेंट-सामग्री ले जा सकते हैं। जिनके पास भक्ति के सिवा दूसरा धन नहीं है, वे केवल एक फूल लेकर भी प्रवेश कर सकते हैं। भग्नाङ्ग, अकृतज्ञ, कुबड़े, बौने, महापापी, गुण्डे, विदेशी, कोढ़ी एवं दण्डित व्यक्ति शिव-मन्दिर की परिधि मे नहीं जा सकते। मन्दिर मे प्रतिष्ठित भगवान की सेवा एवं पूजा उन्हें ही करनी चाहिए, जो माहेश्वर-सम्प्रदाय के हों, जिनका अपने ऊपर अधिकार हो, जो अच्छे कुटुम्ब एवं अच्छे चरित्र के हों, तथा जिन्हें मन की शान्ति प्राप्त हो चुकी हो। जो लोग इन नियमों का उल्लंघन करेंगे, उनमें जो ब्राह्मण होंगे, चूँकि जुर्माने की वा अन्य शारीरिक सजा उन्हें नहीं दी जा सकती इसलिए, वे केवल मन्दिर की सीमा के बाहर कर दिये जायँगे। राजकुमारों को २० पला सोना और सम्राट के सम्बन्धियों एवं मत्रियों को इसका आधा अर्थात् १० पला सोना जुर्माना देना पड़ेगा। जो लोग सोने के हैण्डिल का छाता ले चलने के अधिकारी हैं उन्हें इसका आधा अर्थात् ५ पला और प्रधान व्यापारियों को इसका भी आधा अर्थात् ढाई पला जुर्माना होगा। शिव और विष्णु के उपासकों को इसका आधा अर्थात् १$\frac{1}{4}$ पला और साधारण जनों को $\frac{5}{8}$ पला दण्ड देना पड़ेगा। साधारण जनो मे जो जुर्माना नहीं दे सकेंगे उनकी पीठ पर बेंत लगेंगे। यदि पूजा-विधि, मन्दिर के पात्रों एवं उपासना के समय पवित्रता के विरुद्ध कोई काम किया जायगा, तो प्रधान वा अध्यक्ष से लेकर साधारण कर्मचारी तक, मन्दिर के समस्त रक्षकों पर, अपराधी के साथ ही जुर्माना किया जायगा। इस जुर्माने की मात्रा २० पला सोने से लेकर पद के विचार से निश्चित नियम के अनुसार होगी।"

एक दूसरे शिलालेख मे एक दूसरे आश्रम के सम्बन्ध मे—जो उस स्थान पर है, जिसका नाम इण्डोचीनी भाषा में थानलबरे है—विशेष विवरण मिलता है। लिखा है—"जो आचार्य शैव एवं पाशुपत धर्म के सिद्धान्तो और संस्कृत व्याकरण के पण्डितों मे सबसे अधिक विद्वान होगा, उसे इस महाआश्रम में सर्वोच्च सम्मान दिया जायगा। धन, मित्र, अवस्था (आयु), पुण्य, कर्म और विद्या—ये क्रमानुसार उच्चतर मर्यादा एवं सम्मान पाने के कारण हैं (यह मनु का वाक्य है)। युवक, वृद्ध, अशक्त, दीन एव अनाथ सबको भलीभाँति भोजन एव दवा देनी चाहिए। जिन्होंने कर्तव्य-पालनार्थ रणक्षेत्रों मे प्राण उत्सर्ग किये हैं, जिन वफ़ादार मनुष्यों का देहावसान हो गया है, और जिनके पास कोई सम्बन्धी तर्पण करनेवाले नहीं रह गये हैं, उन सबके लिए मास के अन्त में श्राद्धाञ्जलि देने की व्यवस्था की जाय। पहले सब सामग्री आश्रम में प्रस्तुत की जाय, फिर वहां से यशोधराझील के तट पर लाकर श्राद्धाञ्जलि दी जाय।"

सुदूर इण्डोचीन में नवीं शताब्दी में हिन्दू प्रभाव कितना अधिक था, इसके ये कतिपय प्रमाण हैं।

बिजनराज चटर्जी

जैन सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार

इतिहास के पाठकों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि आधुनिक शृंखलाबद्ध इतिहास जैन सम्राट् श्रेणिक से ही आरम्भ होता है। और उनसे पूर्व के ऐतिहासिक काल को सभी ऐतिहासिक विद्वान् एक स्वर से इतिहास-पूर्वकाल (Pre historic age) मानते हैं। अर्थात्, उनकी सम्मति में, जैन सम्राट् श्रेणिक ही प्रथम निश्चित भारतीय सत्ता-सम्पन्न शासक हैं। यह भगवान् महावीर के शिष्य थे, इसलिए उनके समकालीन होने के कारण इनका समय जो ईसा से पूर्व ५४३ से ४९१ का माना गया है वह ठीक बैठता है। अपने राज्यकाल में इन्होंने राजगृह नामक अपनी राजधानी को फिर से निर्माण किया था और अपने वंश-परंपरागत प्राप्त राज्य की वृद्धि भी की थी। *

यह अपने प्रारम्भिक जीवन में बल्कि युवावस्था के बाद तक बौद्धधर्मावलम्बी रहे थे, ऐसा जैनियों के शास्त्र स्वयं व्यक्त करते हैं, परन्तु अवशेष जीवन भर अपनी रानी चेलना के प्रयत्न से जैनी बने रहे। सम्भवतः इसी कारण बौद्धशास्त्रों में इनके अन्तिम जीवन का कोई निश्चित वर्णन नहीं है, जिसका न होना ठीक भी है—क्योंकि, महाराज श्रेणिक का बौद्ध से जैन हो जाना जैनधर्म की विजय थी। भला कोई भी व्यक्ति अपने प्रतिपक्षी की विजय का वर्णन क्यों करेगा? यही कारण है कि बौद्धों ने उनके पुत्र कुणिक को—जो अपने पिता की भाँति अपने प्रारम्भिक जीवन में जैनधर्म का श्रद्धालु था—'सर्व दुष्कृत्यों का समर्थक और पोषक' लिखा है। आज हम इस लेख में यह दिखलावेंगे कि इतिहास-काल के प्रथम सम्राट् को ही मारकर इतिहास में 'प्रथमग्रासे मक्षिकापात' वाली नीति चरितार्थ की गई है।

जैनशास्त्रों में महाराज श्रेणिक के पिता का नाम उपश्रेणिक लिखा है। वह राजगृह में रहकर मगध देश पर राज्य करते थे। मगध देश के अतिरिक्त और भी कई देश उनके शासन में थे, चन्द्रपुर के दुर्दण्ड राजा सोमशर्मा ने भी उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। सम्भवतः उनकी इसी शूरवीरता के कारण हिन्दुओं के विष्णुपुराण में शिशुनाग वंश के चौथे राजा का नाम क्षत्रोजस् लिखा है, जब कि श्रेणिक उसी वंश के पाँचवें राजा हैं। इस प्रकार क्षत्रोजस जैनशास्त्रों के उपश्रेणिक ही प्रतीत होते हैं।

श्रेणिक का जन्म महाराज उपश्रेणिक की इन्द्राणी के गर्भ से हुआ था। कुमार श्रेणिक क्रमशः बढने लगे। वह अपने बाल्यकाल से ही बुद्धि की चतुराई के कारण सज्जनों को मान्य हो गये थे।

एक समय महाराज उपश्रेणिक एक नये घोड़े की परीक्षा कर रहे थे कि वह घोड़ा उनको अज्ञात स्थान को ले भागा और उन्हें एक गहन वन में जा पटका। वहाँ पर भीलों के अधिपति यमदण्ड ने उन्हें अपने यहाँ रक्खा। यह यमदण्ड एक क्षत्रिय राजा था, जो राज्यभ्रष्ट होकर वहाँ रहता था। महाराज उपश्रेणिक उसकी सुन्दर कन्या तिलकवती के रूप लावण्य पर मुग्ध हो उससे उसकी याचना करने लगे। उसने इस शर्त पर वह कन्या इनको दे दी कि उसका ही पुत्र राज्याधिकारी होगा। तदनुसार इस तिलकवती के पुत्र चलाती को आगे चलकर गद्दी दी गई थी। कुमार श्रेणिक को कुछ दोष लगाकर देशनिकाले का कठोर दण्ड मिला था और मन्त्री आदि के कहने से उन्होंने पितृ-आज्ञा का उल्लंघन न कर उसको पालन किया था। ऐसा ही उल्लेख सर रमेशचन्द्र दत्त ने अपने 'भारतवर्ष की सभ्यता के इतिहास' में पृष्ठ २२ पर किया है—" मगध के एक राजकुमार को ईसा के पहले पाँचवीं शताब्दी में उसके पिता ने देश से निकाल दिया था।" अधिक सम्भव यही है कि यह राजकुमार श्रेणिक ही हों। राजगृह से निकलकर वह नन्दिग्राम पहुँचे, परन्तु वहाँ के ब्राह्मणों ने उनको आश्रय नहीं दिया, इसलिए वह आगे चलकर बौद्ध संन्यासियों के आश्रम में गये, और वहाँ उनका आतिथ्य स्वीकार किया और बौद्धधर्म के पक्के अनुयायी

* Oxford History of India by V Smith Page 56.

हो गये। यद्यपि गौतम बुद्ध इनके समकालीन ही थे, किन्तु इस बात का पता नहीं चला कि वह बौद्धाचार्य गौतम बुद्ध थे, अथवा कोई अन्य व्यक्ति। जो हो, कुमार श्रेणिक कुछ दिनों तक वहीं रहे।

कुछ दिनों के पश्चात् वह बौद्धाश्रम से इन्द्रदत्त सेठ के साथ-साथ चलते हुए उसके नगर बेणपद्म में पहुँच गये। इन्द्रदत्त के यहाँ एक नन्दिश्री नाम की सर्वगुण-सम्पन्न कन्या थी। वह कुमार श्रेणिक के गुणों की श्रेष्ठता के कारण उनपर आसक्त हो गई। इन्द्रदत्त ने उसका पाणिग्रहण कुमार श्रेणिक के साथ कर दिया। अब कुमार श्रेणिक यहाँ आनन्द से रहने लगे। इधर महाराज उपश्रेणिक का देहान्त हो गया और चलाती प्रजा पर अन्याय करने लगा, जिसके कारण प्रजा ने दुःखी होकर कुमार श्रेणिक को बुला भेजा। कुमार का आगमन सुनकर चलाती भयभीत होकर भाग गया और श्रेणिक राज्यारूढ़ होकर नीति-पूर्वक प्रजा का पालन करने लगे।

इस समय कुमार श्रेणिक के, नन्दिश्री के गर्भ से, अभयकुमार नामक पुत्र उत्पन्न हो चुका था। यह बड़ा धार्मिक, न्यायी और बुद्धिमान था। भगवान् महावीर से भेंट होने पर, इसने, युवराज होते हुए भी राजपाट को लात मार कर परम-प्रशंसनीय मुनि मार्ग का आश्रय लिया था।

कुमार अभय का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में भी है। उनमें कुमार अभय को महाराज श्रेणिक बिम्बसार का पुत्र लिच्छवी स्त्री के गर्भ से हुआ लिखा है। बौद्धों के तिब्बतीय दुल्व नामक ग्रन्थ में उसका इस प्रकार वर्णन है—"वैशाली में एक लिच्छावी महानामन नामक था, इनके बग़ीचे के आम्रकुंज में एक कदली के वृक्ष से सुन्दर कन्या उत्पन्न हुई, जिसके सम्पूर्ण अंग सुडौल थे। उसको इसने आम्रपाली कह कर प्रसिद्ध किया। जब यह युवावस्था को प्राप्त हो गई, तो वैशाली के नियमानुसार—कि सुन्दर स्त्री की शादी न की जाय, बल्कि जनता के लिए उसको रख छोड़ा जाय—वह वेश्या (courtezan) हो गई। गोपाल के द्वारा मगधेश बिम्बसार ने इसके विषय में सुना और वह उसके निकट वैशाली में आये, यद्यपि उस समय वह वैशाली से युद्ध कर रहे थे, और सात दिन तक उसके यहाँ रहे। आम्रपाली को उनसे गर्भ रह गया और एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसको उसने उसके पिता के पास भेज दिया। यह बालक राजा के निकट निर्भयरूप से पहुँचा और उनकी छाती पर चढ़ गया। इसपर उन्होंने कहा कि इस बालक को भय तनिक भी नहीं है। अतएव, वह अभय नाम से विख्यात हुआ।"

उक्त कथा श्री विमलचरण लॉ (एम० ए०, बी० एल०) की पुस्तक (The Kshatriya Clans in Buddhist India, पृष्ठ १२७- २८) में दी गई है। उसपर श्री लॉ ने कहा है—"यह कथा जो अभय, अथवा जैनशास्त्रानुसार अभयकुमार, को वैशाली की वेश्या आम्रपाली का पुत्र व्यक्त करती है, पाली (बौद्ध) ग्रन्थों के विरुद्ध है।" बहुत सम्भव है कि अभयकुमार के पक्का जैन होने के कारण जैनियों से अपना द्वेष निकालने के लिए बौद्धों ने इस कथा को यह रूप दे दिया हो।

अभयकुमार का जैन होना बौद्ध ग्रन्थों के निम्न-लिखित वर्णन से प्रकट है—

"जब आनन्द (बुद्ध के मुख्य शिष्य) वैशाली में थे, तब अभय नामक लिच्छावी और एक अन्य पण्डित कुमार नामक लिच्छावी आनन्द के पास आये। अभय ने आनन्द से कहा—"निग्रन्थ नातपुत्त (भगवान् महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, वह ज्ञान के प्रकाश को जानते हैं, उन्होंने जाना है कि ध्यान द्वारा पूर्व कर्मों को नष्ट किया जा सकता है। कर्मों के नष्ट होने से दुःख का होना बन्द हो जाता है, दुःख के बन्द हो जाने से हमारी विषय-वासना नष्ट हो जाती है और विषय-वासना के क्षय हो जाने से संसार पर आगे दुःख नहीं होगा। इस वर्तमान जीवन में दुःख से निवृत्ति शुद्धता द्वारा है।"*

राजकुमार श्रेणिक के गद्दी पर बैठते ही दक्षिण की केटला नगरी के राजा मृगांक ने अपनी पुत्री बिलासवती महाराज को भेंट भेजी। सम्भवतः इसीका उल्लेख बौद्धों

---

* अंगुत्तर निकाय, Vol. I. (P. T. S.). P. P. 220 221.

के तिब्बतीय दुल्व में वासवी नाम से है, और उसके गर्भ से कुणिक अजातशत्रु का होना लिखा है। सम्भवत कुणिक को महाराज चेटक की पुत्री चेलना से उत्पन्न न बता कर वासवी से उत्पन्न हुआ इसीसे बताया गया है कि कुणिक प्रारम्भ में जैन-धर्म का पक्षपाती था, और इसीलिए उक्त बौद्ध ग्रन्थ में वासवी को एक साधारण लिच्छावी नायक की पुत्री लिखा है, जब कि लिच्छवी जाति की कन्या चेटक राजा की पुत्री और श्रेणिक की रानी चेलना है। बौद्ध ग्रन्थों में महाराज श्रेणिक की एक अन्य रानी कौशल के राजा की बहन बताई गई है। इनका उल्लेख जैनशास्त्रों मे नहीं है। सम्भवत यही रानी खेमा होगी, जो बौद्ध हो गई थी।‡

राज्याधिरूढ होते ही पहले श्रेणिक ने नन्दिग्राम के ब्राह्मणों को दण्ड देना चाहा, किन्तु अभयकुमार की चतुरता से उनको रक्षा हो गई।

इस समय मगध, कौशल, वत्स, काशी और अवन्ती में राजतन्त्र थे तथा दूसरी ओर शाक्य, कालाप, कोलीय, मोदीय, मल्ल, लिच्छवी और विदेह में लोकतन्त्र शासन था।

इस समय विदेह देश की वैशाली नगरी के अधिपति चेटक की सात कन्यायें थीं। इनमें से प्रथम प्रियकारिणी का विवाह कुण्डलपुर के स्वामी महाराज सिद्धार्थ के साथ हुआ था, जिससे भगवान् महावीर उत्पन्न हुए थे। द्वितीय कन्या वत्सदेश में कौशाम्बीपुर के स्वामी महाराजनाथ अथवा सार को व्याही गई थी। तीसरी कन्या वसुप्रभा का विवाह दशार्ण (दशासन) देश में हेरकच्छपुर (कमैठपुर) के स्वामी सूर्यवंशी राजा दशरथ से किया गया था। चतुर्थ कन्या प्रभावती का विवाह कच्छदेश के दोसकपुर के स्वामी महातुर के साथ हुआ था। जैनियों के उत्तरपुराण में कच्छदेश के स्वामी का नाम उदायन तथा श्रेणिक-चरित्र में महाहुर बतलाया गया है। इधर डॉ० डी० आर० भाण्डारकर स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिज्ञायौगन्धरायण नामक दो मुख्य ग्रन्थों से प्रकट करते हैं कि 'सहनीक के पुत्र और सहश्रेणिक के पौत्र उद्दायन भारत-वंश में हुए प्रतीत होते हैं और वह 'विदेहपुत्र' अपनी माता के कारण कहलाते थे, जो कि विदेह के राजा की पुत्री थीं।' हम जानते हैं कि शतनीक कौशाम्बी के नृपति थे, परन्तु श्रेणिक-चरित्र और उत्तरपुराण में वहाँ के राजा का नाम क्रम से नाथ और सार लिखा है। इसलिए यह सम्भव हो सकता है कि कौशाम्बी के राजा का तीसरा नाम अथवा यथार्थ नाम शतनीक हो, जिसके पुत्र उद्दायन विदेह-पुत्र कहलाते थे। और यदि डॉ० भाण्डारकर के सहश्रेणिक एवं श्रेणिक-चरित्र के उपश्रेणिक एक व्यक्ति है, तो उद्दायन सम्राट् श्रेणिक के पिता उपश्रेणिक के पौत्र हो सकते है, क्योंकि, राजा श्रेणिक की रानी चेलना इनकी माता की बहन थीं। इस तरह श्रेणिक-चरित्र मे रोहकपुर स्वामी का नाम महाहुर लिखना ठीक प्रतीत होता है, और उद्दायन कौशाम्बी के राजकुमार थे, यह भी ठीक प्रतीत होता है।

अब कौशाम्बी और कच्छदेश का सम्बन्ध प्रकट करना शेष रह जाता है, क्योंकि राजा चेटक की राजधानी विशाला (वैशाली) का श्रेणिक-चरित्र में कच्छदेश में होना लिखा है, जब कि विशाला अथवा वैशाली विदेह में थी। अत यह सम्भावना प्रकट होती है कि जैनाचार्यों ने उस देश को कच्छदेश के नाम से लिखा था, जिसमें विशाला कौशाम्बी और रोहकपुर अवस्थित थे। फलत नृप उद्दायन कौशाम्बी के नृपति शहनीक के पुत्र मृगावती से थे, जो राजा चेटक के धेवते थे और राजा उपश्रेणिक के नाती थे।

महाराज चेटक की शेष तीन कन्यायें अभी कुँवारी ही थीं। इनमे से एक की योजना गाधार-देश के महापुर के राजा महीपाल के पुत्र सात्यकी ने की थी। सम्भवत. बौद्धों के जातक कथानक के गाधार-देश के राजा बोधिसत्त ही यह सात्यकी हैं, बोधि शब्द सत्त के साथ बौद्धलेखकों ने व्यवहृत किया होगा। इस कथानक मे इन्हीं बोधिसत्त को पचव्रत धारण करते लिखा है और संन्यास लेना भी लिखा है।❀ इससे सात्यकी और बोधिसत्त का एक व्यक्ति होना प्रतीत होता है। अस्तु, इन सात्यकी की याचना को चेटक ने स्वीकार नहीं किया, जिसके कारण वह दीक्षा ले गया।

‡ Gotam Buddha, by K J Saunders, Page 53

❀ The Kshatriya clans in Buddhist India, p. 152.

उत्तरपुराण की छन्दोबद्ध हिन्दी आवृत्ति में यह उल्लेख है कि राजा चेटक मगध पर आक्रमण के समय राजगृह के निकट ठहरा हुआ था। वहाँ पर इसे किसी चित्रकार ने इसकी पुत्रियों का चित्रपट दिया था। इस लड़ाई का उल्लेख डॉ० भाण्डारकर भी करते हैं और कहते हैं कि राजा श्रेणिक का पाणिग्रहण वैदेही (चेलना) के साथ इस युद्ध के आपसी निपटारे के उपरान्त हुआ था। और उत्तरपुराण के वर्णन से भी, जो श्रेणिक-चरित्र की निम्न घटना के सदृश ही है, यही प्रकट होता है कि इस युद्ध के पश्चात राजा श्रेणिक का विवाह चेलना के साथ हुआ था। राजा चेटक का एक अन्य युद्ध अंगदेश के राजा कुणिक के साथ भी हुआ था। इसी सम्बन्ध में श्रेणिक-चरित्र मे वर्णन है कि चित्रकार ने वही पट ले जा कर महाराज श्रेणिक को दिया और इसका सर्व वृत्तान्त बताया और यह भी जतलाया कि महाराज चेटक अपनी पुत्रियो को जैनी के अतिरिक्त अन्य किसीको नही देते। श्रेणिक उनपर आसक्त हो गये थे। कुमार अभय वैशाली से उन कन्याओं को छल से लेने गये और वहाँ पर अपनेको जैनी प्रकट करते हुए उक्त कन्याओं को राजा श्रेणिक की ओर विशेष उपायों से आकर्षित करने लगे। अन्त मे वे सब उनके साथ चलने को राजी हो गईं, परन्तु बड़ी दो पिता के भय से लौट गईं। चेलना यद्यपि अकेली रह जाने के कारण जाने को तैयार न थी परन्तु अभयकुमार उसे लिवा ही ले गये; और, राजगृह मे जा कर, उसका पाणि-ग्रहण श्रेणिक से कराया। परन्तु जब उसे यह ज्ञात हुआ कि श्रेणिक बौद्ध धर्मानुयायी हैं, तो उसे अति दुःख हुआ, और मलीन चित्त रहने लगी। श्रेणिक के इसका कारण पूछने पर उसने कहा, 'यह राजसी भोगोपयोग की सामग्री किस काम की, जब प्राणों को हितवर्धक प्यारे सत्यधर्म का पालन ही न हो सके?' इसपर श्रेणिक ने उसको अपने गुरुओं की विनय आदि करने की आज्ञा दे दी।

बौद्ध ग्रन्थों में चेलना का उल्लेख है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के प्रख्यात ग्रन्थ निर्यावली सूत्र में भी चेलना को वैशाली के राजाओं में एक राजा चेटक की पुत्री लिखा है, जिसकी बहन क्षत्राणी रानी त्रिशला महावीर स्वामी की माता थी। बुद्ध के एक तिब्बतीय जीवनचरित्र में चेलना का नाम श्रीभद्रा और कहीं-कहीं भद्रा भी लिखा है, सम्भवतः राजा श्रेणिक की पहली रानी नन्दश्री को ऐसा लिखा होगा। वैसे साधारण-रीत्या बौद्ध ग्रन्थों में चेलना का उल्लेख वैदेही के नाम से आया है और उसके पुत्र कुणिक अजातशत्रु का नाम विदेहपुत्र के नाम से व्यवहृत हुआ है। बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान के एक अवदान में अजात-शत्रु को वैदेही-पुत्र करके लिखा है। और उसी ग्रन्थ में अन्यत्र वर्णन है कि "राजगृह में राजा बिम्बसार राज्य करता है, वैदेही उसकी महादेवी (पटरानी) है, और अजातशत्रु उसका पुत्र एवं युवराज है।" * इससे प्रकट है कि अजातशत्रु का जन्म राजा चेटक की पुत्री वैदेही (चेलना) के गर्भ से हुआ था।

यह बतलाया जा चुका है कि राजा श्रेणिक ने चेलना को अपने गुरुओं की विनय पूजा और जैन-धर्म पालन करने की अनुमति दे दी थी। इसके आगे श्रेणिक-चरित्र मे वर्णन है कि इस बात को सुनकर बौद्ध-गुरु राजा श्रेणिक के पास आये थे और रानी चेलना को बौद्ध धर्म स्वीकार कराने के प्रयत्न मे लगे थे। उन्होंने अपने को सर्वज्ञ बतलाया। चेलना ने उनकी परीक्षा ली, जिसमें वह अनुत्तीर्ण हुए। इस परीक्षा के कृत्य से उनकी अवज्ञा भी हुई, जिसके कारण जैन गुरुओं के प्रति श्रेणिक महाराज के हृदय में द्वेष धधकने लगा।

महाराज एक दिन आखेट को गये थे कि उन्होंने मार्ग में एक जैन मुनि को ध्यानारूढ़ देखा। देखते ही अपने गुरु की अवज्ञा का बदला चुकाने के लिए महाराज श्रेणिक ने उनके गले में एक मरा हुआ साँप डाल दिया और वापस राजगृह को लौटे। उधर दिगम्बर मुनि ने अपने पर उपसर्ग आया जान अपनी ध्यानमुद्रा और भी चढ़ा दी।

बौद्ध गुरुओं का यह सब हाल राजा श्रेणिक ने कह सुनाया, जिससे वे अति प्रसन्न हुए। परन्तु यह सुनकर रानी चेलना को बहुत दुःख हुआ, और उसके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह निकली। राजा श्रेणिक से अपनी प्रिया का रुदन नहीं देखा गया, वह उसे सान्त्वना देने के

* The Kshatriya clans in Buddhist India, P. 125.

लिए कहने लगे—"प्रिये, तू इस बात के लिए तनिक भी शोक न कर; वह मुनि गले से सर्प फेंककर कब का वहाँ से चल बसा होगा।" यह सुनकर रानी ने कहा—"नाथ! आपका यह कथन भ्रममात्र है। मेरा विश्वास है, यदि वह मेरे सच्चे गुरु हैं, तो कदापि उन्होंने अपने गले से सर्प न निकाला होगा।" इसपर महाराज श्रेणिक रानी-सहित उसी स्थान पर गये, जहाँ उन्होंने मुनि को छोड़ा था। वहाँ पहुँचकर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि वह अविचल ध्यानी मुनि अपने ध्यान से ज़रा भी चल नहीं हुए हैं और वह मृत सर्प उनके गले में पड़ा हुआ है, यद्यपि उसमें अब चींटियाँ लग गई थीं।

राजा और रानी ने उनके गले का सर्प निकाल कर उनके शरीर के ताप को दूर करने के लिए चन्दन से उनका अभिषेक किया। मुनिराज के समयानुसार ध्यान खोलने पर, राजा और रानी, दोनों ने उन्हें प्रणाम किया। इसपर उन्होंने कहा, 'तुम दोनों को धर्मवृद्धि हो।' मुनि महाराज के इस आशीर्वाद से श्रेणिक अवाक् रह गये, उनको मुनि महाराज के शत्रु मित्र से समान-बर्ताव के कारण उनपर बड़ी भक्ति हो गई। राजा ने उनसे कई प्रश्न करके धर्म का स्थूल रूप पूछा, जिसका उन्होंने विस्तार से वर्णन किया।

मुनिराज के पास उपदेश पाकर राजा श्रेणिक को जैनधर्म से कुछ प्रीति-सी हो गई थी, परन्तु बौद्धाचार्यों के समझाने पर उन्हें पुनः जैन गुरुओं में अश्रद्धा हो गई। इन्होंने जैन मुनियों की फिर परीक्षा ली, जिससे सन्तुष्ट हो कर उनके हृदय में पुनः जैनधर्म के प्रति सद्भाव हो गये।

इसके कुछ दिनों पश्चात् भगवान् महावीर का समवशरण (जैन तीर्थंकरों के उपदेश देने का संगठित रूप) राजगृह के निकट विपुलाचल पर्वत पर आया, तब श्रेणिक, भगवान् के समवशरण में गये। वहाँ जाकर उन्होंने उनकी वन्दना-पूजा की और जैनधर्म का वास्तविक स्वरूप समझा, जिससे उनको जैनधर्म में पूर्ण श्रद्धा हो गई। अन्त में महाराज श्रेणिक भगवान् महावीर के सबसे प्रधान गृहस्थ शिष्य होकर परमोच्च श्रावक हो गये और सदा ही जैनधर्म की प्रभावना में लीन रहने लगे। इतिहासज्ञों का विचार है कि हजारीबाग़ के पारसनाथ पर्वत (जैनियों के सम्मेदशिखर) पर तीर्थंकरों के मोक्षस्थानों पर उन्होंने ही टोंकें (Shrines) बनवाई थीं, जैसा कि टी० डी० बनर्जी, सब-जज, पटना-हाईकोर्ट, ने अपने उस पर्वत-सम्बन्धी मुकद्दमे के निर्णय में लिखा है—

"जनवरी १९२४ के एशियाटिक सोसायटी के पत्र में जो हिन्दू यात्री ने हाल प्रकट किया है, उसमें प्रकट है कि श्री महावीर स्वामी के समकालीन मगध देश के राजा श्रेणिक ने तीर्थंकरों के मोक्षस्थानों की खोज की और वहाँ चरण स्थापित किये।"

इन्हीं दिनों में महाराज के कुणिक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस पुत्र के, गर्भ और जन्म से ही ऐसे लक्षण प्रकट हुए थे, जिनसे प्रकट हो गया कि वह अवश्य ही महाराज श्रेणिक का शत्रु है। कुणिक का जन्म महाराज श्रेणिक के जैनमुनियों की परीक्षा होने के पश्चात् और भगवान् के समवशरण में आने के पूर्व हो चुका था। रानी चेलना ने इसको अपने पति का शत्रु जान कर अन्यत्र भेज दिया था, परन्तु राजा ने पुत्र मोह से उसे मँगवा लिया। राजकुमार कुणिक दिन-प्रति दिन बढ़ते बढ़ते यौवनावस्था को प्राप्त हो गये। महारानी चेलना के कुणिक के अतिरिक्त वारिषेण, हल्ल, विहल, जितशत्रु और गजकुमार ये पुत्र और भी उत्पन्न हुए। किन्तु अभयकुमार के समान ये सब भी गृहस्थ-बन्धन को तोड़कर मुनि बन गये थे, जिससे कुणिक को ही युवराज-पद मिला।

इसके कुछ वर्ष पश्चात् महाराज श्रेणिक ने अपना समय धर्मध्यान के लिए सुरक्षित रखने के विचार से समस्त राजों को एकत्र करके बड़े समारोह-पूर्वक अपना विशाल राज्य युवराज कुणिक को दे दिया। युवराज कुणिक अजातशत्रु नाम धारण करके मगध के सिंहासन पर बैठे।

अपनी बाल्यावस्था में जैन होने पर भी यह बौद्ध लोगों से मिलते जुलते रहते थे, गौतमबुद्ध के प्रतिस्पर्धी देवदत्त से इनका बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था और वह प्रति दिन बढ़ता ही जाता था। इस समय कुणिक अपने माता-पिता की लज्जा के कारण केवल ऊपर से जैन बना हुआ था, किन्तु अन्दर से वह पूर्णतया बौद्ध बन गया था। देवदत्त उसके मन की परिस्थिति को समझ गया, उसने उसको अपने पिता के ही विरुद्ध इस प्रकार उकसाना आरम्भ किया कि अजातशत्रु की बुद्धि एकदम फिर गई। पिता के

प्रति उसका रोष दिन-प्रति-दिन बढ़ने लगा और अन्त में यहाँ तक बढ़ा कि उसने अपने पिता को पकड़ कर एक काठ के पिंजरे में कैद कर दिया। महाराज कुणिक के साथ पुत्र का ऐसा व्यवहार देखकर रानी चेलना ने उसे बहुत रोका, किन्तु उसने एक न मानी। वह अपनी माता को ही मर्मभेदी दुर्वाक्य सुनाने लगा। आरम्भ में महाराज को खाने के लिए रूखा-सूखा कोदों का अन्न दिया जाता था, भोजन के समय अजातशत्रु अनेक प्रकार के कुवचन भी कहा करता था। महाराज श्रेणिक चुपचाप उस पिंजरे में पड़े रहते और कर्म के वास्तविक स्वरूप को जानते हुए पाप के फल पर विचार करते रहते थे। यह घटना भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् की प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह घटना अजातशत्रु के ईसा-पूर्व ४११ में सिंहासन पर बैठने के कुछ ही दिनों पीछे की है। कुछ दिनों के पश्चात् महाराज श्रेणिक को वह कोदों का अन्न मिलना भी बन्द हो गया। इसपर चेलना अपनी पीठ को भोजन से सान कर राजा श्रेणिक के पास जाने लगी, राजा पींजरे में से जीभ निकाल कर उस भोजन को चाट लेते थे। कुछ दिनो तक राजा के न मरने पर अजातशत्रु ने पहरे वालों से पूछा तो उसे यथार्थ कारण विदित हो गया। तब उसने आज्ञा दी कि रानी चेलना अपने वस्त्र दिखाकर ही राजा श्रेणिक के पास जा सकेगी। इस प्रकार बेबस होने पर रानी चेलना अपने हार में अंगूरों का रस छिपाकर राजा के दर्शन को जाने लगी। बौद्ध ग्रन्थ अमितायुरध्यानसूत्र में इस घटना के सम्बन्ध में निम्न-लिखित बातें पाई जाती हैं—"अजातशत्रु ने देवदत्त के कहने पर अपने पिता बिम्बसार को पकड़वा लिया और उन्हें सात दीवारों से घिरे हुए कारावास में डाल दिया। बिम्बसार की परम-हितैषी महादेवी वैदेही (चेलना) ने स्नानादि किया कर अपने हार में अंगूरों का रस छिपा कर उनके दर्शन कर रस देकर उनके प्राण बचाये। अजातशत्रु ने अपने पिता के विषय में पहरे वाले से पूछ कर जाना कि वैदेही ने क्या किया था। इससे वह क्रुद्ध हो गया और उसने अपनी माता को मारना चाहा। परन्तु इसपर मन्त्रियों ने उसको रोका और उसने ऐसा करने का भाव छोड़ दिया। वैदेही को भी एकान्त स्थान में रक्खा गया।" इस प्रकार अंगूर के रस से प्राण बचाने पर बेचारी चेलना की अपनी स्वतन्त्रता भी छीन ली गई।

जिस देवदत्त का वर्णन ऊपर किया गया है, वह बुद्ध के स्थान पर स्वयं संघ का नायक होना चाहता था। कुणिक का बौद्धों से कुमारावस्था में सम्बन्ध होने के विषय में श्री के० जे० सॉण्डर्स अपनी 'गौतम बुद्ध' नामक अंग्रेजी पुस्तक के पृष्ठ ७० में लिखते हैं—

"यद्यपि इस समय वह (गौतम बुद्ध और अजातशत्रु) पहले-ही-पहल मिले, परन्तु यह प्रकट है कि कम-से-कम संघ के कुछ व्यक्तियों का अजातशत्रु से सम्बन्ध उनकी राजकुमारावस्था से था।"

इससे प्रकट है कि बौद्धों के उकसाने से अजातशत्रु कुणिक ने अपने पिता श्रेणिक बिम्बसार को, जो कि जैन-धर्मानुयायी थे, कष्ट दिया था और इसीसे बौद्ध ग्रन्थ उनके अन्तिम परिणाम का कुछ निश्चित उल्लेख नहीं करते।*

श्रेणिक-चरित्र में लिखा है कि अन्त में रानी चेलना ने कुणिक को बहुत समझाया और पिता के मोह को दर्शाया, कि राजा श्रेणिक ने कुमार कुणिक के लिए कितने कष्ट सहे थे; इससे कुणिक को दया आ गई और वह श्रेणिक को बन्धनमुक्त करने के लिए बहुत दिनों पीछे उसके पास गया। राजा श्रेणिक ने जो उसे आते देखा, तो घबरा गये और सोचने लगे कि न जाने आज यह क्या अनर्थ करेगा! उससे डरकर, अथवा पुत्र के द्वारा अपमान या त्रास सहने की ग्लानि से, उन्होंने अपना सिर दीवार से दे मारा! कई दिन के भूखे तो थे ही, प्राण न जाने कहाँ अटके हुए थे। निदान दीवार में सिर मारते ही उनका देहान्त हो गया!

इस घटना से कुणिक और चेलना, दोनों ही दुःखी हुए। चेलना ने चन्दना नाम की आर्यिका के निकट दीक्षा ले ली और तपकर देवगति को प्राप्त हुई।

कुणिक ने पिता की मृत्यु पर पहले तो ब्राह्मणों को दान दिया, किन्तु फिर शीघ्र ही वह बौद्ध हो गया। इसी कुणिक अजातशत्रु के पुत्र उदायी ने पाटलिपुत्र बसाया था और मगध की राजधानी राजगृह से उठाकर पाटलिपुत्र में बनाई थी।

चन्द्रशेखर शास्त्री

*Saunder's Gotama Buddha, P 71

हिन्दी पत्रों के ह्रास के कारण

किसी गुलाम देश में उन्नति के साधनों का जिस प्रकार गला घोंटा जाता है, उसी प्रकार का व्यवहार भारतवर्ष के साथ भी हो रहा है। यह भी एक गुलाम देश है। और गुलामी का पाप मेघमाला की भाँति उन्नति के आतप को सदा ढके रहता है। विदेशी शासक स्वभावतः यह चाहते हैं कि शासित जाति सदा कमजोर बनी रहे, ताकि उसको चूसने का अवसर कभी हाथ से छूट न जाय। इसके लिए सबसे प्रधान उपाय शासित देश की संस्कृति और शिक्षा को कुचल देना है। इसीलिए ज्योंही कोई राष्ट्र किसी देश पर अधिकार जमाता है, त्योंही वह उसकी शिक्षा और उसकी संस्कृति को बदल देने का प्रयत्न करने लगता है। इन दोनों बातों को—शिक्षा और संस्कृति को—उन्नत करने के जितने उपाय होते हैं, विदेशी शासन का प्रहार पहले उन्हीं पर होता है। समाचारपत्र, शिक्षा-संस्थायें आदि इनकी उन्नति के प्रधान साधन हैं, इसलिए, विदेशी शासकों का ध्यान पहले इन्हीं संस्थाओं पर पड़ता है। हमारे समाचारपत्रों के गत्यवरोध का सबसे प्रमुख कारण यही है। पण्डित माखनलालजी के शब्दों में "भारत के समाचारपत्रों का उत्थान तथा विकास विदेशी सरकार के क़ानून के अस्त्रों द्वारा बार-बार रेता गया है।" रेतने की यह क्रूरक्रिया आजतक जारी है। ज्यों-ज्यों पत्रों के स्वर में उन्नति देखी जाती है, त्यों-त्यों उनको दबाने के नये-नये उपाय सोच निकाले जाते हैं। समाचारपत्रों का स्वर तनिक ऊँचा होते ही झट प्रेस-ऐक्ट का अनुसन्धान किया गया। यह भयानक दैत्य न-जाने कितने नवजात और उन्नति-शील समाचारपत्र निगल गया। ज़रा-ज़रा-सी बात में ज़मानतों की तलबी, उनकी ज़ब्ती, स्वयं प्रेस तक की ज़ब्ती आदि से अनेक समाचार-पत्र-विशेषकर वे जिनके पास धन की या धन के साधनों की कमी थी—अकाल में ही काल कवलित हो गये। अनेक समाचारपत्र इस राक्षस के भय से निकले ही नहीं। जो पत्र निकलते रहे और प्रहार पर प्रहार तथा आपदाओं पर आपदायें झेलते हुए भी चलते रहे, वे अपनी गति में आवश्यक और अपेक्षित उन्नति न कर सके। हमारे समाचार-पत्रों के गत्यवरोध का सबसे प्रमुख कारण यही है। अब यद्यपि जनता की जागृति के कारण प्रेसऐक्ट को वह भयंकरता दूर हो गई है, तथापि अभी ताज़ीरात हिन्द, जाब्ता फ़ौजदारी आदि में अनेक ऐसी धारायें मौजूद हैं, जिनके कारण हमारे मुँह और कलम पर सदा ताला पड़ा रहता है। कहीं १०७ धारा दिखाई जाती है कहीं १२४ अ का प्रदर्शन होता है, कहीं १५३ अ का प्रयोग किया जाता है, कहीं क्रिमिनल ला अमेण्डमेण्ट ऐक्ट सामने आता है और कहीं पुलिसऐक्ट की लाल-लाल आँखें गुर्राती दिखलाई पड़ती हैं। शासकों की क्रूर-वृत्ति इतने पर भी सन्तोष नहीं करती। इन शस्त्रास्त्रों के होते हुए भी यह प्रयत्न बना ही रहता है कि लिखने और बोलने की आज़ादी छीनने के लिए नये-नये कानून सोचे और गढ़े जायँ। इसी उद्देश्य से धर्म-संरक्षण के नाम पर एक क़ानून अभी हाल ही में और बनाया गया है। अब बताइए। जहाँ शासक स्वयं नंगी तलवार लिए सदा सिर पर खड़ा रहता हो, वहाँ पत्रों की उन्नति हो तो कहाँ से? हमें बात-बात में फूँक-फूँक कर क़दम रखना पड़ता है। एक ओर राष्ट्र की उन्नति के अर्थ अपने पत्रों को अधिक-से-अधिक उपयोगी बनाने के लिए छटपटाया करते हैं, और दूसरी ओर यह देखना पड़ता है कि कहीं कानून के फ़ौलादी पंजे में न आ जायँ। इस खींचा-तानी के कारण हमारे समाचारपत्रों का मार्ग बहुत संकीर्ण और कंटकाकीर्ण हो गया है। पण्डित माखनलाल जी ने समाचारपत्रों के गत्यवरोध के कारणों की ओर इशारा करते हुए, सम्पादक-सम्मेलन के सभापति की हैसियत से, कहा था—"हमारे समाचारपत्रों को तीन बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं—एक तो यह कि कहीं क़ानून न धर दबाये, दूसरे यह कि राष्ट्र की उन्नति कैसे हो। और तीसरे यह कि व्यावसायिक दृष्टि से समाचारपत्र कैसे जारी रक्खे जायँ।" हमारे समाचारपत्रों को इस प्रकार एक साथ

तीन-तीन बातों की ओर ध्यान रखना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि वे अपने निश्चित उद्देश्य की ओर निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त होकर बढ़ ही नहीं पाते। और इसीलिए अपेक्षित उन्नति में व्याघात होता है। ये दोष और अवरोधक कारण विदेशी शासन के पाप के कड़ुए फल हैं।

शासक गण हमें अन्य प्रकार की असुविधायें भी आये दिन डालते हैं। पोस्टआफ़िस, तार, रेलवे आदि में भी हमारे लिए इतने कड़े नियम और इतने अधिक महसूल रक्खे गये हैं कि उनको पूरा करने में हमें बहुत बड़ी क्षति उठानी पड़ती है। ये महसूल दूसरे देशों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं। इन बातों के अलावा सरकार की ओर से हमें सरकारी रिपोर्ट, कानूनी मसविदे तथा अन्य सरकारी कागज़ात भी प्राप्त नहीं होते। अंग्रेजी पत्रों को ये बिना मूल्य भेजे जाते हैं, परन्तु हिन्दी पत्रों को नहीं मिलते।* इससे सरकारी हलचलों के सामयिक सम्पर्क में रहने में हमें बहुत अड़चन का सामना करना पड़ता है। अधिकांश में हमें उन हलचलों का पता बहुत दिन बाद ही मिलता है, या फिर शक्ति से अधिक व्यय-भार उठाकर कागज़ात प्राप्त करने की चेष्टा में असीम कष्ट उठाना पड़ता है।

यह तो हुई शासकों के कारण समाचारपत्रों के गत्यवरोध की बात। अब समाचारपत्रों के संचालकों, संपादकों और पाठकों के कारण पैदा होनेवाले अवरोध की बात सुनिए। श्री श्रीप्रकाशजी ने 'साहित्य-समालोचक' के एक विशेषांक में लिखा था—"हमारे यहाँ योग्य व्यक्ति पहले सरकारी नौकर होना चाहते हैं। इसे न पाकर वे वकील होने की चेष्टा करते हैं। जब इसमें असफल हुए और व्यापार-व्यवसाय के लिए अपने को अनुपयुक्त समझा, तब वे शिक्षक बन जाते हैं। जब किसी विद्यालय आदि में बड़ी तनख्वाह पर शिक्षक न हो सके तो किसी पत्र के सम्पादन, लेखन आदि विभाग में जाने का यत्न करते हैं। 'पत्रों की जो दुर्दशा अपने देश में है उसका प्रधान कारण यह है कि हम लेखक लोग ही अपने काम से प्रसन्न नहीं हैं। हमने अपने पेशे को खुद ही बिगाड़ रक्खा है।" मेरे विचार से यह बात लेखकों और सम्पादकों के सम्बन्ध में न कही जाकर यदि संचालकों के लिए कही जाय तो अधिक उपयुक्त होगी। संचालकगण (जहाँ संपादक स्वयं संचालक होता है वहाँ की बात नहीं) इस काम को अधम समझते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि अन्य व्यापारों की अपेक्षा इसमें व्यापार की दृष्टि से आमदनी कम है—कम-से-कम इस समय कम है। इसीलिए संचालक—खासकर ऐसे संचालक जो देश सेवा, साहित्य सेवा, समाज-सेवा, धर्म-सेवा आदि सात्विक भावनाओं से प्रेरित होकर समाचारपत्रों का संचालन नहीं करते वरन् धनोपार्जन की दृष्टि से करते हैं—इस पेशे को अधिक आदर की दृष्टि से नहीं देखते। इसका परिणाम यह होता है कि वे इस काम को पूरे उत्साह से नहीं, कुछ दबे हुए मन से, करते हैं, और यह उत्साह हीनता पत्रोन्नति के मार्ग में बाधक होती है। एक बात और भी होती है। वह यह कि उन्हें इस काम से अधिक आमदनी की आशा तो होती ही नहीं, इसलिए वे इसमें अधिक धन लगाने की भी इच्छा नहीं करते। सस्ते-से सस्ते कागज, सस्ती से-सस्ती स्याही, सस्ते से-सस्ते अन्य सामान तथा सस्ते-से-सस्ते ही कर्मचारी रखने की कोशिश करते हैं। कर्मचारियों की नियुक्ति के अवसर पर वे इस बात का विचार नहीं करते कि अमुक मनुष्य योग्य है वरन् उनका ध्यान यह होता है कि अमुक मनुष्य सस्ता मिल रहा है इसलिए उसे रख लेना चाहिए। सस्ते के साथ ही साथ वे कर्मचारियों की कमी पर भी बहुत ध्यान रखते हैं। उनका ध्यान सदा यह रहता है दो आदमियों का काम एक ही आदमी से लिया जाय। सम्पादकीय विभाग में तो उनका यह दृष्टिकोण और भी अधिक प्रखर होता है। उस विभाग के लिए वे एक ही कर्मचारी को पर्याप्त समझते हैं। बेचारे सम्पादक को ही सम्पादक से लेकर रिपोर्टर, संवाद-दाता, आलोचक, प्रूफरीडर के सब काम करने पड़ते हैं। इन तमाम बातों का समाचारपत्रों की उन्नति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। किन्तु सन्तोष की बात है कि हालत सुधर रही है और व्यापारिक दृष्टि से भी समाचारपत्रों का महत्त्व धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

---

* अब सरकार ने सामग्री देना सबके लिए बन्द कर दिया है। 'त्या०—भू०'—सम्पादक

सम्पादक और लेखकगण अपने काम को गिरा हुआ नहीं समझते। यह ठीक है कि इससे उन्हें उतनी आमदनी नहीं होती, जितनी अन्य व्यापार-व्यवसाय से हो सकती है; किन्तु इससे सम्पादक या लेखक काम को ही बुरा मानते हों, या 'अधर्म' कहते हों सो बात नहीं। बात इसके बिलकुल प्रतिकूल है। वे लोग इस कार्य को उलटा अधिक सम्मान और आदर की चीज़ समझते हैं। अधिकांश में तो यह कार्य इतना आकर्षक हो गया है कि लोग विद्यालयों के अन्दर से ही विद्यार्थी-अवस्था में यदि लिखने का थोड़ा-बहुत अभ्यास हुआ तो, सम्पादक या लेखक बनने की चेष्टा करने लगते हैं। उनका सम्पादक या लेखक बनने का भाव यहाँ तक ज़ोर मारता है कि जल्दी-से-जल्दी उस पद पर पहुँच जाने के लोभ में वे इस बात की भी पर्वाह नहीं करते कि उनमें उन पदों की प्राप्ति के लिए उपयुक्त योग्यता है भी या नहीं। अपनी अर्ध-शिक्षित और अनुभव-शून्य अवस्था में विद्यालय से निकलते ही वे सम्पादक के गुरुतर पद पर आसीन होने के लिए छटपटाने लगते हैं। इस प्रकार की भावना बहुत बढ़ रही है। इसीलिए कुछ दिन हुए म० गांधी को, इस बढ़ती हुई भावना को किंचित संयत करने के लिए, 'नवजीवन' में कुछ पंक्तियाँ लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। बात यह है कि लोग सम्पादकीय कार्य के सम्मान से आकर्षित तो हो जाते हैं, किन्तु उसकी ज़िम्मेदारी का उन्हें ज्ञान नहीं होता। वे विद्यालय से निकलते ही, साहित्य में किंचित अच्छा ज्ञान हुआ तो, अपने को सम्पादकीय कार्य के सर्वथा योग्य समझ लेते हैं। सम्पादन-कला सम्बन्धी ज्ञान की उनमें बड़ी न्यूनता रहती है और तत्सम्बन्धी अनुभव का तो नितान्त अभाव। हमारे यहाँ दुर्भाग्य से सम्पादनकला-सम्बन्धी शिक्षा का कोई साधन भी नहीं है। इसलिए विद्यालयों में तो इस विषय में इनकी शिक्षा होती ही नहीं और बाहर निकल कर भी हमारे उत्साही और महत्वाकांक्षी विद्यार्थीगण इस कला का ज्ञान प्राप्त करने की धीरता नहीं दिखाते, वे तुरन्त ही सम्पादकीय पद पर आसीन हो जाना चाहते हैं, इसलिए समाचारपत्रों की उन्नति में आघात होता है। सम्पादक जैसे गुरुतर और उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर आसीन होने के लिए तत्सम्बन्धी उपयुक्त शिक्षा और अनुभव पहले प्राप्त कर लेना अनिवार्यतः आवश्यक होता है। इसके लिए पहले से ही सम्पादक बनने की आकांक्षा न करके पहले पत्र-कार्यालय का रिपोर्टर आदि निम्न श्रेणी का कर्मचारी बनकर अनुभव और ज्ञान बढ़ाते हुए ऊँचे पद को ग्रहण करने की कोशिश करनी चाहिए।

सम्पादकों के सम्पादनकला-सम्बन्धी ज्ञान, सम्पादकीय कर्त्तव्य और तत्सम्बन्धी अनुभव से शून्य होने के कारण समाचारपत्र आदर्श समाचारपत्र नहीं बन पाते। हमारे समाचारपत्र अधिकांश में उन समाचार-समितियों द्वारा भेजे हुए समाचारों से ही भरे होते हैं, जो नौकरशाही के हाथ की कठपुतली होती हैं। ये समितियाँ अधिकांश में लड़ाई-झगड़े और बाहरी आन्दोलनों के सम्बन्ध के समाचार भेजती हैं, वे भी नौकरशाही के रंग में रंगे हुए। हम उन्हीं समाचारों को छाप कर इतिकर्तव्यता मान बैठते हैं। प्रथम सम्पादक-सम्मेलन के सभापति श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर के शब्दों में "हम और गहरे जाने का प्रयत्न नहीं करते। हमारे पाठक किन-किन श्रेणियों के हैं, उनका रहन-सहन कैसा है, उनकी जीविका के साधन क्या हैं, उनको जीवन-संग्राम में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उनका आमोद प्रमोद क्या है, उनकी रुचि कैसी है, वे क्या सोचते हैं, और क्या चाहते हैं, इन बातों का सम्पादकों को पता तक नहीं होता।"

सम्पादकों की ओर से पैदा होनेवाला गत्यवरोधक एक कारण और भी है। वह यह कि सम्पादक को पत्र-सम्पादन के विस्तृत कार्य के अतिरिक्त सार्वजनिक कार्यों में काफ़ी भाग लेने की आवश्यकता पड़ती है। यह तो सर्वमान्य बात है कि प्रतिष्ठा का प्रभाव अवश्य पड़ता है। अतः अपने पत्र का प्रभाव बढ़ाने के विचार से सम्पादक को इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि वह सार्वजनिक कार्यों में, प्रचलित आन्दोलनों में, भाग लेकर प्रतिष्ठा प्राप्त करे। प्रतिष्ठा-प्राप्ति के इस प्रयत्न में उसकी शारीरिक, मानसिक और आर्थिक तीनों प्रकार की शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। परिणाम यह होता है कि उनका उत्साह और उनकी कार्यशीलता तथा अन्य शक्तियाँ, जो अन्यथा केवल

सम्पादकीय कार्य में ही लगतीं, दो तरफ—दो ही तरफ क्यों, अनेक ओर—बँट बिखर जाती हैं और सम्पादकीय कार्य की यह विशदता, जो शक्ति संचय से आ सकती, नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है।

अब रही पाठकों के कारण उत्पन्न होने वाले गत्यवरोध की बात। इस सम्बन्ध में सबसे प्रधान कारण जनता में साक्षरता का अभाव है। हमारे पाठकों का बहुत बड़ा समुदाय अशिक्षित अथवा अर्ध-शिक्षित है। जो पढ़े-लिखे हैं—शिक्षित हैं—वे हिन्दी पत्रों को हाथ से उठाना भी शान के खिलाफ़ समझते हैं, वे तो अंग्रेजी के ही अनुचर होते हैं। और जो अशिक्षित या अर्धशिक्षित हैं—उन्हींकी संख्या अधिक है—वे समाचारपत्र पढ़ने की कभी इच्छा नहीं करते। कहीं-कहीं यदि इच्छा होती है तो शक्ति नहीं होती और कहीं पर शक्ति होती है तो इच्छा नहीं होती।* ऐसी दशा में समाचार पत्रों की क़दर हो तो कैसे और क़दर हुए बिना कोई समाचारपत्र उन्नति करे तो कैसे? जनता में एक दोष और भी पाया जाता है। हमारे यहाँ प्राय यह संस्कार-सा चला आ रहा है कि हम सांसारिक घटना-कर्मों को एक माया-जाल समझकर उससे उदासीनता दिखाते हैं। समाचारपत्रों में, संसार में आये दिन घटनेवाली घटनाओं का उल्लेख होता है। उन घटनाओं को हमारे पाठक मायाजाल और असार कह कर टालते हैं। यह उपेक्षा भाव भी समाचारपत्रों की उन्नति का अवरोध करता है। हमारे अनेक पाठक यह समझते हैं कि समाचारपत्रों का पढ़ना अनावश्यक और केवल विलासिता है। इसलिए स्वतः पढ़ने की बात तो दूर रही हम दूसरों को भी समाचार पत्र पढ़ने के लिए उत्साहित नहीं करते। इतना ही नहीं प्रत्युत् कहीं कहीं तो पढ़ने की रुचि रखनेवाले लोग निरुत्साहित तक किये जाते हैं। यह बात हमारे व्यापारी भाइयों के यहाँ अधिक पाई जाती है। उनमें कुछ कहावत है कि अपने काम से काम रखना चाहिए, दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है, इससे हमें क्या पड़ी है? दूसरे लोग यह कहते हैं कि इनके पढ़ने में समय नष्ट होता है, उतने समय में कोई काम किया जा सकता है। कुछ व्यापारी ऐसे हैं, जो इसीलिए समाचारपत्र नहीं मँगाते कि दूकान मे आने से दूकान के कर्मचारी उन्हें पढ़ने में लग जायँगे और इस प्रकार काम को हानि पहुँचेगी। जहाँ पर इतना बारीक काता जाता हो वहाँ समाचारपत्रों की उन्नति में यदि बाधा पड़े तो आश्चर्य ही क्या?

जनता की दरिद्रता भी समाचारपत्रों की उन्नति को बहुत बड़ा आघात पहुँचाती है। जिन्हें शौक है, जो समझते हैं, और समाचारपत्रों से लाभ उठाना चाहते हैं, वे बेचारे इतने गरीब हैं कि पेट भरने के लाले पड़ रहे हैं, समाचारपत्र कौन खरीदे? जिन्हें थोड़ा बहुत अवकाश है वे भी भिन्न भिन्न विषयों के अलग-अलग समाचारपत्र नहीं मँगा सकते। इसलिए वे चाहते यह हैं कि कोई ऐसा समाचारपत्र मिले, जिसमें एकत्र ही अनेक विषय पढ़ने को मिल जाय। इस रुचि के कारण समाचारपत्र अधिकाधिक विषयों का समावेश करने की कोशिश करते हैं, किन्तु संचालकों के धनाभाव के कारण भिन्न-भिन्न विषयों के विभिन्न सम्पादक नहीं रक्खे जाते, एक ही सम्पादक से सब विषयों का सम्पादन कराया जाता है। परिणामतः अनेक विषय बिना योग्यतापूर्ण सम्पादन के ही प्रकाशित होते हैं। एक मनुष्य को सब विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए इस प्रकार की त्रुटि रह जाना स्वाभाविक है। यह त्रुटि समष्टि रूप से हमारे समाचारपत्रों की उन्नति के मार्ग में बाधक सिद्ध होती है।

गत्यवरोध के कुछ कारण और भी हैं। एक तो कागज स्याही आदि ऊपरी सामान हमें जितना चाहिए उतनी सस्ती दर से नहीं मिलता। सर युद्धारम्भ के सम्बन्ध में भी कुछ असुविधायें होती हैं। हमारी वर्णमाला के दोषपूर्ण (छापे के सम्बन्ध में) होने के कारण टाइप बनाने और अक्षर जोड़ने आदि में बड़ी असुविधायें होती हैं।

---

* हमारे समाचारपत्र ऐसी सामग्री भी तो बहुत कम देते हैं, जिनका देश के अधिकांश निवासियों—किसानों एवं मजदूरों—से सम्बन्ध रहता है? बहुत कम सम्पादक उनकी पर्वाह करते हैं। जब उन्हींकी प्रवृत्ति इस ओर से उदासीन हो, तो दूसरी ओर से आशा ही क्या की जा सकती है?

—सम्पादक

श्री रामानन्द चटर्जी ने गत्यवरोध का एक और कारण बताया है। कुछ दिन हुए आपने 'माडर्नरिव्यू' में एक लेख लिखा था जिसमें हिन्दी के समाचारपत्रों पर भी प्रकाश डाला था। उसमें आपने लिखा था कि हिन्दी भाषी जनता देश में दूर-दूर प्रान्तों में बसी है। इस प्रकार दूर-दूर बसे होने के कारण एक स्थान से निकलकर हिन्दी के समाचारपत्र सबके पास सहूलियत से नहीं पहुँच सकते। इसलिए उनको ग्राहक संख्या कम होती है। यह बात, अधिक महत्त्वपूर्ण न होने पर भी, तथ्यशून्य नहीं है। इन सब बातों के अलावा हमारे व्यवसायी समुदाय की ओर से एक बहुत बड़ा अवरोधक कारण पेश होता है। पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता के कारण यह तो स्पष्ट ही है कि समाचारपत्रों के संचालकगण अपने पत्रों का अधिक मूल्य नहीं रख सकते, इसलिए उनकी आमदनी विज्ञापन पर ही अवलम्बित रहती है। किन्तु हमारा व्यवसायिवर्ग विज्ञापन के महत्त्व से अपरिचित-सा है इसलिए पत्रों को काफ़ी विज्ञापन नहीं मिलते और इसीलिए श्री श्रीप्रकाशजी के शब्दों में "हमारे समाचारपत्र पनपने नहीं पाते।"

इस प्रकार हमारे समाचारपत्रों की अवनति के नानाविध कारण हैं। समाचारपत्रों की उन्नति चाहनेवालों को इनके निराकरण का प्रयत्न करना चाहिए।

विष्णुदत्त शुक्ल

गांधीजी के साथ पन्द्रह दिन

जंगल की ओर से एक बैलगाड़ी को तेज़ी से दौड़ाते हुए तीन वृद्ध किसान आ रहे थे। गांधीजी को देख कर सहसा उन्होंने गाड़ी रोकी। बड़ी फुर्ती के साथ अटपटे-से एक के बाद एक ने उतरकर गांधीजी के चरणों में अपने सिर रक्खा और चुप-चाप जैसे आये वैसे ही गाड़ी में बैठ कर आगे चल दिये। न कुशल पूछी, न क्षेम। न अपना दुखड़ा रोया, न आँसू बहाया। वे खूब जानते हैं कि गांधीजी का तो हर एक साँस ग़रीब के लिए ही निकलता है, इसलिए कहे तो क्या और पूछे तो क्या? उनके लिए तो मौन होकर सिर झुकाना ही काफ़ी था। कोई पढ़ा-लिखा होता तो छप्पन बातें पूछता, उलाहना देता, समालोचना करता, किन्तु ग़रीब में इतनी कृतघ्नता कहाँ? वह तो दूर से ही दर्शन करके सन्तुष्ट है। यह तो अनेक घटनाओं में की एक छोटी-सी साधारण घटना है, किन्तु ग़रीबों के हृदयों में गांधीजी का क्या स्थान है, कैसा सिक्का है, यह जानना हो तो ऐसे उदाहरण ही उपयुक्त हैं। बछड़े की मृत्यु के बाद किसी ने कहा था—"आज से महात्मा नहीं, मिस्टर गांधी कहो, अब तो गांधी का कोई नाम भी न पूछेगा।" किन्तु ग़रीब इस झमेले में क्यों पड़ें? अहिंसा किसे कहते हैं और हिंसा किसे कहना चाहिए, यह तात्त्विक विवाद तो उन्हींको शोभा दे सकता है। जो कलाकन्द खाके बिजली के पंखे के नीचे लेट सकते हों। फ़ुरसती आदमियों के लिए वेदान्त का यह तात्त्विक विवेचन जी बहलाने का एक अच्छा साधन साबित हो सकता है। किन्तु ऊँट को पापड़ से क्या काम? आये साल अकाल और महामारी; न खाने को पूरा अन्न, न शरीर ढकने को वस्त्र, ज़मींदार की ज़्यादती, साहूकार की ज़्यादती; और ऊपर से उपदेशकों की हिमायत। उन्हें क्या पता कि ग़रीब को रोग रोटी का है, न कि धर्म्म का। सुदामा की तरह ग़रीब को ज्ञान नहीं चाहिए, रोटी चाहिए। गांधी ग़रीबों को उपदेश देने नहीं जाता, गांधी उनके हृदय में प्रवेश करके ग़रीब के दुःख से दुःखी होता है—ग़रीब बनके रहता है और ग़रीबों के लिए जीता है, यही कारण है कि ग़रीबों के हृदय पर गांधी का एकछत्र अधिकार है। भारत के एक छोटे से छोटे ग्राम में जाइए और पूछिए, गांधी कौन हैं? तुरन्त उत्तर मिलेगा कि ग़रीबों का भला चाहने वाले। गांधी क्या पढ़े हैं, क्या लिखे हैं, क्या कहते हैं, यह उनके लिए व्यर्थ की चर्चा है। गांधी बाबा अनाथों के, ग़रीबों के हितचिन्तक हैं, इसीमें उनके लिए गांधीजी की सारी जीवनी आ जाती है। चाहे यह जीवनी सूत्र-रूप से हो,

किन्तु संसार का अच्छे से अच्छा ग्रन्थकार इससे अधिक संक्षेप में और क्या कह सकता है? थोडे-से लोग चाहे गांधीजी को गोहत्यारा कहकर सन्तोष कर लें, किन्तु "गांधीजी की जय" आज भी आकाश को कँपा देती है।

× × ×

आजकल गांधीजी वर्धा आये हुए हैं। वर्धा में जमनालालजी की प्रेरणा से श्री विनोबा ने एक सत्याग्रह-आश्रम खोल रक्खा है और गांधीजी वहीँ ठहरे हुए हैं। गांधीजी क्या आये, मानों घर में कोई बड़े-बूढ़े दादा आ गये हों। आश्रमवासी तो गांधीजी को बापू के ही नाम से पुकारते हैं किन्तु बापू होने पर भी बच्चों के साथ गांधीजी बच्चों की तरह ही रहते हैं। खाना, पीना, काम-काज भी आश्रम के नियमों के मुताबिक। आश्रमवासी शुद्ध घृत के अभाव में आजकल अलसी के तेल का व्यवहार करते हैं। गांधीजी ने भी बकरी के दूध की जगह अलसी का तेल खाना शुरू कर दिया है। जमनालालजी को इस फेरफार की खबर मिलते ही चिन्ता शुरू हुई। गांधीजी इस तरह के प्रयोग कर-करके कहीं अपना स्वास्थ्य न खो बैठें, इस आशंका से जमनालालजी ने गांधीजी को समझाना शुरू किया। बहस हुई, झगड़ा हुआ, अंत में जमनालालजी ने बल-प्रयोग किया—"बापू आप यहां मेरी देख रेख में हैं, जैसा मैं कहूं वैसा कीजिए। इन प्रयोगों के कारण आप यहां से बीमार होके जायँ, यह मैं नहीं बर्दाश्त करने का।" "तो दे डालो नोटिस मुझे, यहाँ से चला जाऊँगा" गांधीजी ने खिलखिलाकर कहा। जमनालालजी अब क्या कहते? चुप रहे, गांधीजी का हठ क़ायम रहा।

अग्रवाल-पंचायत ने जमनालालजी को जाति-बहिष्कृत कर रक्खा है। उनका सबसे बड़ा गुनाह यह बताया गया कि उन्होंने अस्पृश्यों के हाथ का खाया। जमनालालजी के कारण वर्धा में भी अग्रवालों में दो दल हैं। एक दल तो कट्टर पुराने विचार के लोगों का है, दूसरा दल भी यद्यपि पुराने विचारों का ही अनुयायी है, तो भी जमनालालजी को छोड़ना नहीं चाहता। जमनालालजी ने उन्हें समझाया कि मुझे निबाहना कठिन काम है, इसलिए आप सामाजिक मामलों में मुझसे मोह तोड़ लें। किन्तु जिनका प्रेम है, वे जमनालालजी को कैसे त्याग दें? एक दिन कुछ वृद्ध सज्जनों को अगुआ करके दूसरे दल की मण्डली जमनालालजी के पास पहुँची। "जमनालालजी विधवा-विवाह में शरीक हों, अस्पृश्यों की छुआछूत न मानें, उनके लिए मन्दिर खोलें, इसमें तो हम शामिल हैं, किन्तु अस्पृश्यों के हाथ का खान-पान हमें भी नहीं रुचता। चाहे हमारे सन्तोष के लिए ही सही, क्या जमनालालजी हमें इतना विश्वास नहीं दिला सकते कि भविष्य में वे अछूतों के हाथ का पकाया नहीं खायँगे? जब हम लोग इतने आगे बढ़ने को तैयार हैं, तो जमनालालजी हमारे सन्तोष के लिए थोड़ा-सा पीछे क्यों न हटें?" यह संक्षेप में इनकी दलील थी। जमनालालजी कहने लगे कि "आश्रम में तो सभी जाति के लोग रहते हैं, क्या मैं आश्रम में खाने से इन्कार करूँ?" "आश्रम को कौन कहता है, यह तो पुण्यभूमि है, तीर्थस्थान के लिए कोई रुकावट नहीं, आप अन्य स्थानों पर ऐसा न करें, यही हमारा माग है।" इस तरह से बहस होती रही। अन्त में तय हुआ कि गांधीजी के सामने मामला पेश किया जाय। दूसरे दिन वृद्ध लोगों का एक डेप्युटेशन गांधीजी के पास पहुंचा। गान्धीजी ने चर्खा चलाते चलाते समाज के अगुओं से बातें प्रारम्भ कीं। गांधीजी ने पूछा—"जमनालालजी अस्पृश्यों के हाथ का न खायँ, इसमें आपको कौन-सा डर है? समाज का या धर्म का?" एक वृद्ध ने कहा—"धर्म तो हम क्या समझें, समाज की रूढ़ि है कि ऐसा नहीं करना चाहिए। हम जमनालालजी की सब बातें मानते हैं, तो फिर हमारी इतनी बात जमनालालजी क्यों नहीं मानें?" गांधीजी ने कहा—"क्यों न मानें, किन्तु यदि रूढ़ि का जुल्म हो तो उस रूढ़ि का नाश कर देना चाहिए। प्राचीन काल में ऐसा रूढ़ी का बन्धन था यह मैं तो नहीं जानता। मैं तो समझता हूँ कि जो स्वच्छ है, शराबी नहीं है, व्यभिचारी नहीं है, उसके द्वारा स्वच्छता से पकाया हुआ खाने योग्य पदार्थ हमारे लिए अवश्य भोज्य है। उनको यदि हम कहें कि तुम्हारे हाथ का हम नहीं खावेंगे, तो वे क्यों हमारे साथ रहेंगे? वे अवश्य हमारा त्याग कर देंगे। मैं तो केवल उनकी धमकी से भी नहीं डरता, किन्तु यदि हमारे दोष के कारण वे हमारा त्याग कर दें तो मैं उसे कैसे बर्दाश्त कर

सकता हूँ ? जो अपवित्र रहते हैं, मुर्दे का मांस खाते हैं, शराबी हैं, उनके हाथ का खाने को तो मैं भी नहीं कहता। उनसे तो मैं कह सकता हूँ कि पहले तुम अपनी बुराइयाँ दूर करो तो मैं तुम्हारे हाथ का खाऊँ। किन्तु जो स्वच्छ हैं उनके हाथ का तो न खाने से धर्म का नाश हो जावेगा। आपमें यदि साहस न हो तो आप ऐसा न करें। चाहे जमनालालजी को छोड भी दें। किन्तु आप जमनालालजी को आशीर्वाद तो दें, क्योंकि वह तो धर्म ही के लिए ऐसा करते हैं। आप इनको क्यों पीछे हटाना चाहते हैं ? चाहे तो जमनालालजी से प्रतिज्ञा करा लो कि जो शौचादि को न मानते उन ब्राह्मण या अब्राह्मण किसी के भी हाथ का वे न खायँ। किन्तु इससे थोडे ही आपका काम बनेगा। आप तो पंचों के त्रास से भयभीत हैं और इसीलिए जमनालालजी से आग्रह करते हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि समाज को तो मैं भी मान देता हूँ, हमें हर बात में समाज से नहीं लड़ना चाहिए। किन्तु आज का समाज कैसा समाज है। यदि गंगोत्री मैली हो जाय तो क्या फिर गंगा का पानी स्वच्छ रह सकता है ? आज के पंच पंच कहाँ रह गये ? पंच तो गंगोत्री है। और जैसे गंगोत्री का पवित्र प्रवाह गंगा में बहता है वैसे ही पंच समाज को पवित्र प्रेरणा और न्यायबुद्धि देते हैं। किन्तु वर्तमान के पंच तो राक्षसी हैं। आज के पंच पाखण्ड से, स्वार्थ से, क्रोध से और द्वेष से भरे हुए हैं। मेरी तो यह भविष्यवाणी है। आप इसे सच मानिए कि आज के पंचों का अन्याय हम नहीं मेट सके तो इस समाज का नाश हो जायगा। पंच न्याय कहाँ करते हैं ? धर्म की बड़ी-बड़ी बातें बनाने से न्याय नहीं हो सकता। वर्तमान के पाखण्डी पंचों से तो डरना भी अन्याय है। उनके जुल्म का सामना करके मरना ही अच्छा है। पंच-गंगोत्री मैली हो गई है। इसे शुद्ध करने के लिए हरएक को मर मिटना चाहिए। यह धर्म के नाम पर पाप फैलाया जाता है। उसी का जमनालालजी सामना कर रहे हैं। उन्हें आप आशीर्वाद दें। आगे की पीढ़ी तो कहेगी कि जमनालालजी ने धर्म को बचा लिया। लाखों अछूतों को हिन्दू रख लिया। रावण के दस सिर क्या थे, यह तो उसकी दस तरह की दुष्ट बुद्धि थी। उसी दुष्ट बुद्धि का सामना विभीषण ने किया। आप यदि सामना नहीं कर सकते, इतना साहस नहीं है, तो जमनालालजी आपको नहीं कहते कि आप भी उनके साथ चलें। जमनालालजी तो कहते हैं कि आप उनके साथ न चल सकें तो उन्हें छोड दें, किन्तु आप इनका मोह क्यों करते हैं ? उन्हें भी अग्रवाल समाज के सुधार का मोह छोड़ देना चाहिए। जो सन्यासी हो गया उसे कौन बाँधता है ? जमनालालजी का तो आज विशेष धर्म बन गया। वह तो अब व्यापक समाज की ही सेवा कर सकते हैं। उसीमें अग्रवाल-समाज की सेवा भी आ जाती है। आप जमनालालजी को छोड़ दें, किन्तु उनके लिए प्रेम कायम रक्खें और पंचायत के जो लोग विरोधी हैं उनके प्रति भी क्रोध न करें। हम क्रोध को अक्रोध से और अशान्ति को शान्ति ही से जीत सकते हैं। पंचायत के लोग क्रोध के पात्र नहीं हैं, दया के पात्र हैं। वे तो अवश्य ही समझते हैं कि हम समाज का भला कर रहे हैं। उन्हें क्या पता कि वे धर्म के नाम पर जुल्म करना चाहते हैं। इसलिए आप तो उनसे भी प्रेम करो और जमनालालजी को आशीर्वाद दो कि वह धर्म की रक्षा और अन्याय का सामना करने में कृतकार्य हों।"

गांधीजी का वक्तव्य समाप्त होने पर सब लोग चुप हो गये, सन्नाटा-सा छा गया, किसीसे उत्तर देते नहीं बना। एक वृद्ध सज्जन ने चुपके से पगड़ी उतारकर गांधीजी के पैरों में रख दी और कहने लगे—"महाराज, आपने जो कहा उसे सुनकर तो मैं गद्‌गद हो गया।" उस वृद्ध से अधिक कहते न बन पड़ा, किन्तु पंचों के त्रास से वह भी भयभीत था।

हिन्दू-समाज, भगवान् तेरा भला करे!

× × ×

गांधीजी जब चर्खा चलाने बैठते हैं तो कातने की धुन में इतने मस्त रहते हैं, मानों त्रिलोक का राज्य मिल गया हो। और किसी भी गहन से गहन विषय पर उनसे बातें कीजिए, उनके कातने में कोई विघ्न नहीं पड़ता। असल में तो एक ओर सूत को अपने आप उनकी हाथ की पूनी में से निकलते जाना, दूसरी ओर उनकी अबाधित वचन-धारा का प्रवाह, और साथ में चर्खे का संगीत, यह हर भावुक के मन मोहने को पर्य्याप्त है। मैं तो हर रोज़ उनके कातने के

समय अपनी चरखी चलाने आ बैठता हूँ। एक दिन वही बछड़े की कथा छिड़ी। मैंने कहा—"महात्माजी, श्रीकृष्ण ने भी बछड़ा मारा था। किन्तु वह तो अलंकारिक जमाना था, इसलिए बछड़े का वत्सासुर हो गया। किन्तु इस बीसवीं शताब्दी में तो लोग सीधी-सादी भाषा में ही बोलते हैं, इसलिए आपके इस काम ने लोगों में खासी हलचल पैदा कर दी। आपने बहुत से साहस किये, किन्तु इसमें तो हद हो गई। मुझे तो मालूम होता है, आपने इससे अधिक साहस का कोई और काम अपने जीवन में नहीं किया होगा।" गांधीजी ने कहा,—"ऐसी तो क्या बात है, मैंने तो सब कुछ सहज स्वभाव से ही किया है।" "तो आपने ऐसा कौनसा काम किया है जिसे साहस की दृष्टि से आप अपने जीवन में ऊँचे से ऊँचा स्थान दे सकें?' मैंने पूछा।

"इस दृष्टि से तो मैंने कभी नहीं विचारा,' गांधीजी ने कहा, "किन्तु, मैं समझता हूँ, बारडोली-सत्याग्रह स्थगित करके मैंने बहुत बड़े साहस का परिचय दिया। २४ घण्टे पहले सरकार को चुनौती देकर ललकारना और फिर अचानक सत्याग्रह को स्थगित करना, यह अपने आपको बेहद हास्यास्पद बनाना था, किन्तु मैं तनिक भी नहीं झिझका। जो सत्य था वही मेरा राजमार्ग था, और इसलिए मेरी अपनी हँसी होगी, इस विचार ने मुझे कभी भयभीत नहीं किया। मेरे जीवन के बड़े साहसिक कामों में का यह एक था, ऐसा मैं मान सकता हूँ।"

"सविनय आज्ञाभंग अचानक बन्द करना पड़ा, इससे आपको क्लेश नहीं हुआ?"

"किंचित भी नहीं" दृढ़ता से गांधीजी ने कहा। जिस सीता के लिए लाखों बन्दर और राक्षसों के प्राण गये, उसे छोड़ देने में राम को कुछ हिचकिचाहट न हुई। और जिस सविनय आज्ञा भंग के लिए हजारों लोगों का जेल-यातनाएं मिलीं उसे ढाह देने में गांधीजी को कोई संकोच न हुआ। त्रेता में राम को लोगों ने भला-बुरा कहा होगा। कलि में गांधीजी को लोगों ने खरी-खोटी सुनाई। किन्तु कौन कह सकता है कि गांधीजी ने जो किया वही ठीक न था? असल में तो बड़े लोगों को समझने के लिए कुछ प्रयास की जरूरत पड़ती है। गांधीजी लंगोटी मारके रहते हैं, सस्ते से सस्ता खाना खाकर निर्वाह करते हैं, तो भी उस सबके नीचे छिपी हुई चमक कभी-कभी लाखों में चका-चौंध मचा ही देती है। गांधीजी लंगोटी मारके गरीब की तरह रहते हैं, इससे उनकी बुद्धि गरीब नहीं हो गई। वस्तुस्थिति तो यह है कि बाज बाज मौकों पर गांधीजी के वचन और कर्म को ठीक-ठीक समझने के लिए मनुष्य को विशेष प्रयास की ज़रूरत पड़ती है। हम रोज़मर्रा देखते हैं कि अखबारवाले गांधीजी से वार्तालाप करके अखबार में कुछ छाप देते हैं और पीछे गांधीजी को उसका खण्डन करना पड़ता है। कारण यह है कि गांधीजी को लोग ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। गांधीजी अहिंसा-अहिंसा पुकारते न कभी थके, न थकते हैं। अहिंसा के तो वह मानों अवतार बन गये हैं। फिर भी बछड़े की प्रख्यात हिंसा करते न केवल उन्हें हिचकिचाहट नहीं हुई, उलटा उन्होंने उसे धर्म माना। साधारण लोग तो सुनते ही हक्के-बक्के रह गये। किसीने आँसू बहाये, किसी ने गालियाँ दीं, किन्तु साबरमती के महात्मा पर उसका क्या असर हो सकता था? उन्हें तो लेना-देना है बस एक ही से। चर्खा चलाते हैं तो उसमें ईश्वरीय संगीत सुनते हैं। अलसी के तेल से मिली रोटी खाते हैं तो उसमें ईश्वरीय स्वाद का अनुभव करते हैं। दुख में, सुख में, हँसने में, रोने में, जागने में, सोने में, चलने में, फिरने में, अविच्छिन्न रूप से जो मनुष्य ईश्वरीय अनुभव करता हो उसे जगत् की क्या पर्वाह? "सन्तन संग बैठ-बैठ लोक-लाज खोई, अब तो बात फैल गई जाने सब कोई।"—यह गांधीजी का हाल है। जगत् से न उनको शर्म है, न जगत् का भय है।

मैंने एक रोज पूछा—"महात्माजी, उत्तरोत्तर आपकी आत्मोन्नति हो रही है, ऐसा कुछ आपको अनुभव होता है?" थोड़े-संकोच से गांधीजी ने कहा, "मेरा तो ऐसा ही ख़याल है।" मैंने कहा—"महात्माजी, आपके इर्द-गिर्द की मण्डली क्या समझती है, मैं नहीं जानता, किन्तु मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, असहयोग-आन्दोलन के बाद आपकी आत्मा में बहुत चमक आ गई है।" महात्माजी मौन रहे। एक बार लार्ड रीडिंग से गांधीजी की चर्चा चली थी, उसका

मुझे स्मरण हो आया। गांधीजी उन दिनों जेल में थे। देश के नेताओं का जिक्र निकलने पर मैंने कहा, मेरी राय में गांधी संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। वाइसराय ने कहा—"हां, यह ठीक हो सकता था, यदि उनके संगी साथी सबके सब ईमानदार होते।" मैं वाइसराय का मतलब समझ गया। यह कोई नहीं कह सकता कि असहयोग के दिनों की गांधीजी की सारी की सारी मण्डली भली थी। किन्तु गांधीजी को इससे क्या। मैंने उन दिनों एक बार कहा था—"महात्माजी, आपके इर्द गिर्द के लोगों में तो कितनेक बुरे आदमी भी आ गये हैं।" महात्माजी ने कहा "मुझे क्या डर है, मुझे कोई धोखा नहीं दे सकता। जो मुझे धोखा देने में अपनेको दक्ष समझते हैं वे स्वयं अपने आपको धोखा देते हैं। मैं तो शैतान के पास भी रहने को तैयार हूँ, किन्तु शैतान मेरे पास कैसे रहेगा ? जो बुरे हैं वे स्वयं मुझे त्याग देंगे।" हुआ भी ऐसा ही। आज महात्माजी की मण्डली में इने-गिने लोग बचे हैं। शुरू से आजतक के इनके जीवन पर दृष्टिपात करें तो सारा चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है। राजा ने छोड़ा रौलेट ऐक्ट (Rowlette Act) के जन्म के समय। प्रजा ने छोड़ा बारडोली (Bardoli) के निश्चय के समय। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, आर्यसमाजी, सनातनी, जात-पाँत, मित्र, स्नेही, सबने—किसीने कब किसीने कब—महात्माजी को समय पर छोड़ दिया। युधिष्ठिर स्वर्ग में पहुँचे तो केवल एक कुत्ता साथ में निभा। महात्माजी के स्वर्गारोहण तक कौन उनके साथ टिक सकेगा, यह भविष्य के गर्भ में है। मैंने एक दिन कहा—"महात्माजी आप इतनी तेजी से दौड़ लगा रहे हैं, मैं नहीं समझता अन्त तक बहुत व्यक्ति आपके साथ रह सकते हैं।" गांधीजी ने कहा—"यह तो मैंने २० साल पहले ही सोच लिया था और मुझे तो इसीमें सुख है।" मैंने कहा-"यदि प्राचीन समय होता और भारतवर्ष के बाहर आप पैदा हुए होते तो इतनी तेजी की चाल लोग बर्दाश्त न करते, या तो ईसा की तरह आपको सूली पर चढ़ना पड़ता, अथवा सुकरात की तरह जहर का प्याला पिलाया जाता। किन्तु यह तो ऋषियों का देश है और बीसवीं शताब्दी है इसलिए लोगों ने आपके महात्मापन को टाइटल छीन कर ही सन्तोष कर लिया।" गांधीजी ने हँसकर धीरे से कहा—"तो चढ़ा दें लोग मुझे भी सूली पर, मैं भी तैयार हूँ और प्रसन्नता के साथ तैयार हूँ।" पास बैठे लोगों ने लम्बी सांस ली। मेरे तो मन में आया कि इस मिश्रित अधर्म से तो कहीं अन्धकार ही अच्छा, जो अवतार को निकट ला देता। आज न तो अधर्म का ह्रास ही होता है और न अवतार ही आता है। यह दशा तो असहनीय है। किन्तु कोई क्या करे ?

घनश्यामदास बिड़ला

दुर्भिक्ष की राधा

मैं तो चाह रही हूं वैभव, 'उनके' अंकासन का राज
गली-गली गोकुल की गायें तृण को तरस रही हैं आज।
मेरा तो है कण्ठ अकेला कहता—"कहाँ छुपे गोपाल"
आकुल कोलाहल करते हैं कितने कँगलों के कंकाल !
मेरी तो दो ही आँखे हैं खोज रहीं पथ पर चितचोर
कितनी सूखी आँखे अपलक ताक रही हैं नभ की ओर !
बरसो घन, मत मिलें हृदयधन, चरण-चिन्ह मिट जाने दो
कृश-कृषकों को लुटी कुटी में हँसकर दीप जलाने दो

"मिलिन्द"

पवित्र मेरु

उक्त शीर्षक से एक लेख 'त्यागभूमि" के प्रथम वर्ष की भाद्रपद संख्या में प्रकट हुआ है और उसमें मान्य लेखक ने हिन्दूकुश पर्वत के पार्श्व में स्थित "कोह मोर' को पवित्र मेरु प्रमाणित किया है। और यह एक हद तक ठीक है। किन्तु मान्य लेखक ने लोकमान्य तिलक के मत को उस पर विशेष ध्यान दिये बिना ही टाल दिया है। अतएव यहां पर सक्षेप में लोकमान्य तिलकजी की एव अन्य मान्यताओं का दिग्दर्शन कर लेना समुचित है।

इस विषय का एक लेख मराठी के 'विविध ज्ञान बिस्तार' नामक पत्र (वर्ष ५२) में स्वर्गीय मिस्टर गोखले की कलम से प्रकट हुआ था, जिसका किञ्चित उपयोग "वीर" (वर्ष २ पृ० २८५) में प्रकाशित हुये 'मेरु-पर्वत' शीर्षक लेख में हुआ है। इससे प्रकट है कि मत्स्य पुराण (अध्याय ११६) के अनुसार मेरु-पर्वत सर्व देशों के उत्तर में था। ("सर्वेष मुत्तरे मेरु") इसी कारण उसे उत्तर-ध्रुव में स्थित अनुमान किया जाता है। इस अनुमान की पुष्टि महाभारत (वन पर्व अ० १६३) के इस वर्णन से होती है—"रात्रि होने पर वह मेरु पर्वत अपने अग के तेज से अन्धकार को मेट-सा देता है और दिवस जैसा प्रकाश अपने चारोंओर फैला लेता है। उसको देखकर वहाँ पर यह जानना कठिन हो जाता है कि यह रात्रि है अथवा दिन।" इस प्रकाश को विद्वानों ने "ऑरोरा बोरीअलिस" (Aurora Borealis) अनुमान किया है। इस विषय में स्वर्गीय लोकमान्य तिलक महोदय ने यह लिखा था कि—

"These quotations are quite sufficient to convince anyone that at the time when the great Epic (महाभारत) was composed, Indian writers had a tolerably accurate knowledge of the meteorological and astronomical characteristics of the North Pole and this knowledge cannot be supposed to have been acquired by mere mathematical calculations, The reference to the lustre of the mountain is specially interesting in as much as, in all probability it is a description of the Aurora Borealis Visible at the north pole." Arctic home in the Vedas, pp 69-70

भावार्थ—उपरोक्त अवतरणों से यह स्पष्ट है कि जिस समय महाभारत रचा गया था उस समय भारतीय लेखकों को उत्तरध्रुव का वायुचक्र एवं ज्योतिष विषयक ज्ञान क़रीब करीब बिलकुल ठीक था और वह गणित पर ही अवलम्बित नहीं था। पर्वत के प्रकाश विषय का उल्लेख मनोरंजक है, क्योंकि सम्भवत वह उत्तरध्रुव में दृष्टि पड़ने वाले प्रकाश "ऑरोरा बोरीयलिस" का द्योतक है।

अब यदि हिन्दूकुश के समीप का कोहमोर मेरु माना जाय, तो वह सर्व देशों से उत्तर में प्रकट नहीं होता और उसपर "ऑरोरा बोरीयलिस" के समान किसी प्रकाश का होना असम्भव दीखता है। इतने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि "त्यागभूमि" के पूर्वोक्त लेख में कोहमोर को निराधार ही पवित्र मेरु प्रकट किया गया है। तो फिर इन दो विरोधों का एकीकरण कैसे हो?

स्व० श्री गोखले प्रकट करते हैं कि जिस समय उत्तर-ध्रुव में हिम-प्रलय जैसी शीत बढ़ गई था, तब वहां रहना दुष्कर हो गया था। इसी वजह से वहाँ से सब लोग देवादिक सहित दक्षिण की ओर चले गये थे और वहाँ उन्होंने नये मेरु की स्थापना की थी। यह स्थान मध्य एशिया में था। महाभारत के लिखे जाने के बहुत वर्षों पहले ही यह घटना घटित हो चुकी थी। इस काव्यग्रंथ के रचनाकाल के समय वे लोग उत्तरध्रुव की ओर अपने स्वर्गासीन पूर्वजों को नमस्कार करते थे। किन्तु मध्य-

एशिया में आकर जहाँ उन्होंने नवीन मेरु की स्थापना की, उसका वर्णन "भीष्मपर्व" (अ० ६) में आता है। वहाँ इस मेरु की चारों दिशाओं में भद्राश्व, केतुमाल, जम्बूद्वीप व उत्तर कुरु, ये चार द्वीप बनाये हैं। किन्तु श्री गोखले ने इन चारों का ठीक पता लगाये बिना ही मेरु की नवीन स्थापना का केन्द्र स्थापित किया है और इसमें वह सफल-प्रयास हुए नहीं कहे जा सकते। उनके लेख का सारांश यह है, जो उन्होंने भीष्मपर्व के आधार से लिखा है, कि "उत्तर ध्रुव में अधिक ठण्ड पड़ने के कारण वहाँ से निकलकर लोग दक्षिण की ओर आये तो साइबेरिया में पहुँचे और विन्दुसरोवर के निकट केतुमाल प्रदेश में बस गये। इस प्रदेश के पूर्व पार्श्व में उन्होंने मेरु पर्वत स्थापित किया। उस मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए जम्बू नदी उत्तर-कुरु से निकलती है। मेरु के दक्षिण में निषध पर्वत है। उसपर नाग व सर्प रहते हैं। सर्प तुरक है और उनका देश तुरक प्रान्त। यह प्रान्त मंचूरिया से खिंगण पर्वत तक विस्तरित है। खिंगण पर्वत ही नवीन मेरु है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। मेरु के दक्षिण का सुदर्शन द्वीप और जम्बू द्वीप कहाँ हैं, इसकी खोज करना शेष है। खिंगण पर्वत के दक्षिण में चीन देश है। शायद उस का ही नाम सुदर्शन द्वीप होगा। सुदर्शन द्वीप का वर्णन चीन देश के सिवा एशिया-खण्ड के दूसरे कोण तक के किसी देश को समान लागू नहीं है।" इसके उपरान्त वह "भागवत" (स्कंध ५ अ० १६) के अनुसार नौ वर्षों के मध्य स्थित "इलावर्त्त" वर्ष के नाभि-स्थान में स्थित कुलपर्वतों में श्रेष्ठ मेरु पर्वत को मानकर उसे खिंगण पर्वत से भी हटाकर तिब्बत में ले जाते हैं, क्योंकि 'भागवत' के अनुसार इलावृत्त हिमालय के उत्तर में है। किन्तु मध्य-एशिया से हटकर तिब्बत में आने के लिए कोई कारण भी होना चाहिए? जिस प्रकार हिम-प्रलय के समय शीत से भयभीत होकर लोग उत्तर-ध्रुव से मध्य-एशिया में आ बसे थे, उसी प्रकार मध्य-एशिया को छोड़कर तिब्बत में आ बसने के लिए कोई पर्याप्त कारण नहीं दिखाई पड़ता। अतएव श्रीयुत जयशंकर 'प्रसाद' जी के मतानुसार नवीन मेरु हिन्दूकुश के पार्श्व में मानना ही उचित प्रतीत होता है। भद्राश्व, केतुमाल, जम्बूद्वीप और उत्तर कुरु का उसके चारों ओर होना सम्भवनीय है।

स्व० श्रीयुत नन्दूलाल ने भी 'मेरु पर्वत' को हिन्दूकुश पर प्रमाणित किया था।* उनका कथन है कि रामायण (उत्तर० अ० २४-२५) के अनुसार रसातल के नागों और दानवों को परास्त करके रावण उसी गुफाद्वार (Hole) में से बाहर निकला, जिसमें से वह घुसा था और उसने वह रात सुमेरु (=मेरु) पर्वत पर बिताई थी। इससे प्रकट है कि रसातल के निकट मेरु था। महाभारत (भीष्म० अ० २) और मत्स्यपुराण (अ० १२१) में साफ़ लिखा है कि मेरु अथवा सुमेरु पर्वत शाकद्वीप में है। 'महाभारत' (आदि०, अ० ३०, उद्योग० अ० १००) में यह भी वर्णन है कि पातालवासी गरुड़ ने एक हाथी और एक कछुये को पकड़कर उन्हें एक वटवृक्ष की शाखा पर बैठकर खाना चाहा। शाखा टूट गई। कई बालखिल्य ऋषि उसपर तपस्या कर रहे थे। उनकी रक्षा करने के भाव से गरुड़ शाखा को अपनी चोंच में दबा कर गंधमादन पर्वत की ओर ले उड़ा, जहां उसके पिता काश्यप तपश्चर्या में लीन थे। काश्यप के आग्रह से उन ऋषियों ने गंधमादन पर्वत पर उस शाखा को छोड़ दिया और वे हिमालय पर जाकर तप करने लगे। नागों के राजा शेष ने गंधमादन पर्वत की यात्रा करके हिमालय पर स्थित बद्रिकाश्रम के दर्शन किये थे।' (महाभारत, आदि० अ० ३६) हिमालय पर्वत का गढ़वाल से पश्चिमकी ओर का भाग गंधमादन कहलाता है। इसलिए गंधमादन और हिमालय सुमेरु पर्वत से पूर्व की ओर प्रमाणित होते हैं। साथ ही यह निर्विवाद है कि गंधमादन का सम्बन्ध शाकद्वीपस्थ सुमेरु से था। मत्स्यपुराण (अ० ११३, श्लो० ४२-४३) में भी कथन है कि सुमेरु के पश्चिम में केतुमाल वर्ष था और मार्कण्डेयपुराण के अनुसार शक लोगों (Scythians) का निवास केतुमालवर्ष में था। (मार्कण्डेय० अ० ५९) इसलिए सुमेरु या मेरु हिन्दूकुश पर्वत है; जिसे एरियन ने Mount Meros लिखा है और जो पुराणवर्णित निशादपर्वत के न्यसगिरि के निकट

* इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वाटर्ली, भा० १, पृ० १३४-३५.

स्थित था। इसी पर्वत को यूनानियों ने Paropamisus कहा है।

अतएव 'त्यागभूमि' के पूर्वलेख में जो हिन्दूकुश पर मेरुपर्वत सिद्ध किया गया है, वह ठीक है। पहले मूल में मेरु उत्तर-ध्रुव में था। उपरान्त जब वहां से लोग मध्य-एशिया में चले आये, तो उन्होंने मेरु की नवीन स्थापना हिन्दूकुश पर की। इस प्रकार स्व० लो० तिलक के और श्रीयुत 'प्रसाद' के विभिन्न मतों का ऐकीकरण स्पष्ट है।

मेरु के इस चर्चा प्रसंग में जैनमतानुसार मेरु का संक्षिप्त परिचय करा देना भी कुछ अनुपयुक्त न होगा। खास बात जो इस विषय में दृष्टव्य है वह यह है कि जैन-मतानुसार जम्बूद्वीप के अन्तर्गत स्थित भरतक्षेत्र के आर्य-खंड में आजकल की जानी हुई सारी दुनिया आ जाती है। हिन्दू मान्यता के अनुसार वर्तमान के भारतवर्ष को ही आर्यावर्त (आर्यखंड) समझा जाता है; किन्तु जैनशास्त्रों के आर्यखंड में यूरोप, आफ्रिका, एशिया आदि देशों का समावेश हो जाता है। अतएव यह स्पष्ट है कि जैनों का मेरु पर्वत उपलब्ध दुनिया के किसी बाह्य प्रदेश में अवस्थित है। जैनशास्त्रानुसार उसका स्थान "आर्यखण्ड में न होकर उसके उत्तर में एक बड़े अन्तर पर है। यह अन्तर ठीक अठानबे लाख चौबीस हजार कोस का है। उस पर्वत के नितंब पर भद्रशाल वन है। उस वन से पाण्डुक वन पर्यन्त मेरु की ऊंचाई ९९ हजार योजन है। फिर उस पाण्डुक वन से मेरु का शिखिर ४० योजन पर्यन्त इन्द्रनीलमणि का है। प्रारंभ में वह १२ योजन विस्तार का है। फिर कम होते-होते ऊपर टोंक पर ४ योजन है। उस शिखर से केवल एक बाल के अन्तर से सौ धर्म इन्द्र का सभास्थान (इन्द्रक विमान) ४५ लाख योजन का है। जम्बूद्वीप उसके दक्षिणोत्तर व पूर्वपश्चिम एक एक लक्ष योजन का है। उसके लवणसमुद्र का विस्तार ४ लाख योजन है, जिसकी दूसरी ओर ८ लाख योजन लम्बी 'धातकी खड' हैं। धातकी खड के कालोदधि समुद्र का विस्तार १६ लाख योजन का है। कालोदधि के सम्मुख १६ लाख योजन विस्तार का पुष्करार्धद्वीप है। यहा तक ढाई द्वीप के ४५ लाख योजन होते हैं। जम्बूद्वीप, धातकीखंडद्वीप व अर्धपुष्करद्वीप-इनको अढ़ाईद्वीप कहते हैं। इस अढ़ाई द्वीप तक ही मनुष्य की गम्यता है। उसके उपरान्त मनुष्यों का निवास नहीं है। इसलिए मनुष्य वहा पहुच ही नहीं सकता है।" * संक्षेप में जैनो के मेरु का यह परिचय है और इसका सादृश्य हिन्दुओं के उस मेरु से प्रकट होता है जो सब देशों के उत्तर मे बताया गया है। हिन्दुओं के सब देशों का समावेश जैनों के जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में ही हो जाता है, जिसके उत्तर में मेरु है। विशेष के लिए 'त्रिलोकसार' आदि जैनग्रंथों को देखना चाहिए।

कामताप्रसाद जैन

वज्राघात

असमय में ही कुटिल काल ने, उन निर्दय हाथो के द्वारा,
मेरे इस कोमल मानस मे, पीड़ा का पत्थर दे मारा।
उन्नति के इस नव-प्रभात मे, गिनती थी मैं 'कलि' की घड़ियाँ,
मेरी निर्बल आशाओं पर, हाय! बज उठीं फिर हथकड़ियाँ।
मेरे छोटे से प्याले मे, संचित थी जीवन की क्रीड़ा,
हाय निठुर ने टक्कारों से सोती हुई जगा दी पीड़ा।

× × × ×

जीर्ण हृदय पर, रे प्रतिपक्षी, करले तू गिन-गिन आघातें,
साध न मन की रहने पाये, फिर न मिलेंगी ये दिन-रातें।

देवीदीन दीक्षित "दिवाकर"

---

* वीर, वर्ष २, पृ० २६३-२६४.

मित्र-धर्म

मित्र धर्म को निबाहना बड़ा कठिन है। यह तो भ्रातृ-धर्म से भी कठिन है। 'त्यागभूमि' और उसके पाठकों में आज यही प्रेम है। 'त्यागभूमि' के अभी लगभग तीन हजार ग्राहक हैं। अभी उसका मूल्य ७) प्रति ग्राहक पड़ता है। इस तरह अपने प्रत्येक पाठक भाई के लिए प्रतिवर्ष

तीन रुपये की घटी सहकर

यह पत्रिका निकाली जा रही है। सम्पादन, लेख-सामग्री तथा सात्विक आकर्षकता की दृष्टि से भी उसे सर्वोत्तम बनाने के लिए हम कोशिश कर रहे हैं। पर पाठक भाइयों की एक बात में हमें भारी सहायता की जरूरत है। इसने [illegible] तय किया है कि [illegible] ग्राहक हो जाने पर 'त्यागभूमि' अपना खर्चा सम्हाल लेगी। अतः

पाठक भाई थोड़ा सा भी प्रयत्न करें

[illegible] कोई कठिन बात नहीं है। यदि आप मानते हों कि 'त्यागभूमि' [illegible] तो उसे चिरंजीवी बनाये बिना आप कैसे रह सकते हैं? भला [illegible] बर्दाश्त करेगा कि 'त्यागभूमि' तो आपका [illegible] और आप से उसे स्वावलम्बिनी बनाने के लिए कुछ भी न बन पड़े।

बहुत भार नहीं

[illegible] आदमी अगर अपनी ही जिम्मेदारी पूरी करने लग [illegible] हो जाय। प्रत्येक ग्राहक यदि कम से कम

एक एक ग्राहक बना देने का संकल्प कर लें

तो [illegible] हजार ग्राहक साल भर में हो जावें और अगले वर्ष के अन्त में तो [illegible] ग्राहक [illegible] यह पत्रिका [illegible] इसमें त्रुटि [illegible] 'त्यागभूमि' का ग्राहक बनावें। अपने गाँव वाले उस मित्र व सम्बन्धी को अभी पत्र लिख दें। यदि यह न हो तो

एक उपाय और भी है

कई विद्यार्थी, बालिकाएँ और पुस्तकालय वाले हमसे एक दो रुपये कम मूल्य पर 'त्यागभूमि' माँगा करते हैं। आप अपनी शक्ति के अनुसार रुपये भेजकर उनके लिए रिआयती मूल्य पर 'त्यागभूमि' मिलने की सुविधा कर सकते हैं। आपकी ओर से 'त्यागभूमि' में सूचना प्रकाशित हो जायगी।

बताइये, आप क्या कर सकते हैं? जो कर सकें वह तुरन्त ही शुरू कर दीजिए।

निवेदक—व्यवस्थापक, 'त्यागभूमि'



स्त्रियाँ और शृंगार-प्रियता

आज-कल यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है कि सृष्टि में स्त्री जाति की अपेक्षा पुरुष-जाति सुन्दरतर है। हमें स्वयं इसकी सचाई पर पूर्ण विश्वास नहीं। पर जान पड़ता है कि स्त्रियों को सदा ही इसका ज्ञान रहा है और उन्होंने अपनी उपर्युक्त न्यूनता की पूर्ति के निमित्त शृंगार-सम्बन्धी कृत्रिम साधनों का आश्रय लेना हमेशा ठीक समझा है। परन्तु उन्हें यह भी जान लेना चाहिए कि जबतक सौन्दर्य का कोई निश्चित आदर्श न हो तबतक उनके इस कार्य का अनुमोदन कदापि नहीं किया जा सकता। ऐसे आदर्श का निश्चय करना अत्यन्त कठिन है। कारण कि इसकी निर्भरता मानवी रुचि के वैभिन्न्य पर है और वैभिन्न्य में स्थायित्व कहाँ? यदि आज पुरुष को उसकी दाढ़ी-मूँछ के सबब स्त्री से सुन्दरतर समझा जाता है, यदि आज हस्ति को उसका सदन्त होना हस्तिनी से अधिक शोभायुक्त बनाता है, यदि आज मयूर सपुच्छ होने के कारण मयूरी पर प्रधानत्व पाता है, तो क्या यह सम्भव नहीं कि कल स्त्री की कान्ति-पूर्ण स्निग्धता और हस्तिनी तथा मयूरी की सारल्य-मयी मनोहरता विचारकों की दृष्टि में अधिक चित्ताकर्षक प्रतीत होने लगे और उन्हें अपनी राय बदलनी पड़े? असल बात तो यह है कि संसार में क्या पुरुष और क्या स्त्री, सभी अपना-अपना विशेष स्थान रखते हैं और इसी कारण सभी में अपना-अपना विशेष सौन्दर्य है, जो वस्तुत अनुपम है शायद बुद्धिमान मनुष्य की अपेक्षा पशु-पक्षी इस बात को अधिक समझते हैं, अन्यथा वे अपने अन्य आवश्यक कामों के साथ ही अपने शरीर को भी वन्य-लताओं, पत्रों एवं पुष्पों से सुसज्जित कर लेते, जो सदा सुलभ ही हैं। अथवा यों कहो कि परमात्मा ने उन्हें आवश्यक कार्यों के लिए क्षमता ही नहीं दी। यह क्षमता केवल मनुष्य में है कि वह आवश्यक कार्यों के साथ ही अनावश्यक कार्य भी कर सकता है और प्राय. ऐसा ही करता भी है। स्वेच्छाचारिता का परिणाम यह होता है कि वह आवश्यक कार्यों के सम्पादन में बहुत-कुछ असमर्थ हो जाता है।

यह प्रकट है कि जीवन की दृष्टि से समय अत्यन्त अल्प एवं परिमित है। मनुष्य के सुविस्तृत उत्तरदायित्व को देखते हुए उसका विस्तार कुछ भी नहीं। इसी अल्प समय में उसे अगणित आवश्यकताओं की पूर्ति करनी है। उसका अपने प्रति, देश के प्रति, संसार के प्रति, तथा ईश्वर के प्रति कुछ कर्त्तव्य है। ऐसी दशा में उसके पास व्यर्थ की बातों के लिए अवकाश ही कहाँ है? यह ठीक है कि मनुष्य व्यष्टि-रूप से अपने कर्त्तव्यों का पर्याप्त

पालन नहीं कर सकता, परन्तु उनके पालनार्थ यथा-शक्ति प्रयत्न करना तो नितान्त आवश्यक ही है। फिर जब यही व्यष्टि समष्टि-रूप में परिणत हो जाता है तो निस्सन्देह बहुत बड़ा प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। इस महान् कार्य में पुरुष-स्त्री दोनो के लिए अपना-अपना विशेष सहयोग प्रदान करना अनिवार्य है—यदि वे पापी और कृतघ्न न बनना चाहते हो। इसे दृष्टि मे रखते हुए जब हम विश्वविजयी नेपोलियन के इस कथन पर विचार करते हैं—"The future of the child depends entirely on the mother"—अर्थात्, "बच्चे के भावी सदाचार या दुराचार की पूर्ण निर्भरता केवल उसकी माँ पर है," तो हमे ज्ञात होता है कि स्त्री का दायित्व पुरुष की अपेक्षा गम्भीरतर है। प्रसिद्ध आंग्ल विद्वान् स्माइल्स इसी उक्ति का अन्य रीति पर समर्थन करता है—"A pure womanhood must be accompanied by pure manhood." अर्थात्–'शुद्ध स्त्रीत्व का अवश्यम्भावी परिणाम शुद्ध पुरुषत्व है।" इमर्सन इन दोनो से बहुत आगे जाता है। वह कहता है,—"A sufficient measure of civilisation is the influence of good women" अर्थात्, "उत्तम स्त्रियो का प्रभाव पर्याप्त सभ्यता का सूचक है"। अब सोचना चाहिए कि जिस कार्य पर मानवी सभ्यता के बनने-बिगड़ने का प्रश्न निर्भर है उसे अनाप-शनाप के आडम्बरो से तो कभी पूरा नही किया जा सकता।

इसमे सन्देह नहीं कि संसार में स्त्रियो का बहुत बड़ा दायित्व है। उनका पद उन्हे इस दायित्व के योग्य बनाता है। "मातृमान पितृमान, आचार्यमान पुरुषो वेद" मे माता को प्रथम स्थान दिया गया है। जगत्प्रसिद्ध व्यवस्थाकार भगवान् मनु ने भी माता को पिता की अपेक्षा सहस्रगुणा सम्मानास्पद माना है। कारण कि माता शिशु की जननी और आदि गुरु है। प्रारम्भ में नवजात शिशु का सामीप्य माता ही से होता है, जो स्वाभाविकतया कई वर्षों तक बना रहता है। माता अपने उत्तम आचार-विचार द्वारा गर्भस्थ शिशु पर प्रभाव डालती हुई उसमें जन्म के पूर्व से ही सुशिक्षा के संस्कार उत्पन्न कर सकती है। परन्तु सम्प्रति संसार में ऐसी कितनी स्त्रियाँ हैं, जो इस सुकार्य के निमित्त से उपर्युक्त पद की अधिकारिणी प्रमाणित हो सके? पश्चिमी स्त्रियाँ प्रेमोन्माद-वश नित-नये फैशनो के आविष्कार और उनके धारण करने मे व्यस्त हैं, और हमारी भारतीय स्त्रियो को माँग-चोटी, तेल-फुलेल, पाउडर-साबुन, गहनो-कपड़ो की चिन्तनाओं मे अवकाश नही। यह सब किस लिए? स्त्री-सुलभ मर्यादा को भंगकर स्व-प्रकाशन के निमित्त—फिर चाहे तत्सम्बन्धी कार्य-क्षेत्र विस्तीर्ण हो या संकुचित। पर पश्चिमी स्त्रियो मे अनेक अवगुणो के होते हुए भी कुछ गुण होते हैं, वे हैं उनकी मौलिकता और स्वातन्त्र्य-प्रियता, जब कि भारतीय स्त्रियो मे स्वातन्त्र्य-प्रियता तो नाम को नहीं और अब मौलिकता से भी वे प्राय वंचित होती जा रही हैं। परिणाम-स्वरूप एक की सन्तान साहसी और यशस्वी होकर संसार को पैरो-तले लाने का स्वप्न देख रही है, जबकि दूसरे की सन्तति प्राय कायरो के सदृश अपने दासत्व मे ही अपना गौरव समझती है। इस प्रकार भारतीय स्त्रियाँ अपनी व्यसन-पूजा-द्वारा देश की भावी संतति को भी बिगाड़-कर अधिकाधिक पुण्य-संचय का प्रयास कर रही हैं। ग़नीमत यह है कि अभी यह पूजा शहरो और क़स्बों तक ही परिमित है। शायद अन्नाभाव के कारण देहातो मे इसकी पहुँच नही। अस्तु।

शृंगार-प्रियता विलास-प्रियता की द्योतक है और विलास-प्रियता का अन्त होता है अहंकारी, आलसी

तथा कर्तव्यच्युत होने में। इतिहास साक्षी है कि जब किसी जाति में विलास-प्रियता आ जाती है, तो फिर उसका सर्वनाश ही करके छोड़ती है। उसके हाथों बड़ी-बड़ी सभ्यतायें निःशेष हो गईं और बड़े-बड़े साम्राज्यों का नामोनिशान मिट गया। फिर जब यह विलास-प्रियता किसी अन्य देश की नकल होती है, तो निश्चय ही इसका परिणाम अधिक भयंकर होता है। नकल करनेवालों में असल के गुण तो आते नहीं, उलटे उन्हें अपने गुणों से भी हाथ धोना पड़ता है। बस, वही मसल होती है—'न, खुदा ही मिला न विसाले सनम—न इधर के हुए, न उधर के हुए।' अस्तु। जबतक यह व्यसन पुरुष तक ही सीमित रहता है तबतक बहुत डरने की बात नहीं। कारण कि, विद्वद्वर स्माइल्स के कथनानुसार, "A wife may be the making or the unmaking of the best of men"—अर्थात्, "पत्नियाँ सर्वोत्तम पुरुषों को बना वा बिगाड़ सकती है।" स्त्री की सुसंस्कृति पुरुष को पुनः सुधार भी सकती है और कम-से-कम भावी सन्तति के तो फिर भी सुरक्षित रहने की आशा की जा सकती है। पर जब एक बार स्त्रियों में व्यसन का सचार हो गया, तो समझिए कि सब मामला ही चौपट हुआ। बच्चे स्वभाव से ही अनुकरण-प्रिय होते हैं। सम्भव है कि वे माता के पवित्र संस्कारों तथा उपदेशों से प्रभावित होकर आगे भी ठीक बने रहें। पर जब उन्हें प्रारम्भ से ही व्यसन के विषाक्त वातावरण में रहने का अवसर मिले, तो फिर भगवान् ही मालिक हैं। हार्दिक दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज-कल भारत के सम्पन्न घरानों में प्रायः यही बात दीख रही है। जिस रव में पुरुष बह रहे थे, उसी रव में स्त्रियाँ भी बह चली हैं। पाश्चात्य स्त्रियों की अंधा-धुन्ध नक़ल हो रही है। पर किसमें ? केवल व्यसन-पूजा में, और किसी बात में कहीं। पाश्चात्य स्त्रियों में वीरत्व है। वे परिश्रमी और स्वावलम्बिनी होती हैं। बड़ी-से-बड़ी अमीरज़ादी छोटे से-छोटे शारीरिक कार्य से घृणा नहीं करती, प्रत्युत वह उसे अपने कर्तव्य-पालन तथा स्वास्थ्यप्रद व्यायाम का साधन समझती हैं। सारांश यह कि वे प्रकृति-पूजा के साथ प्रकृति के प्रत्येक अंश से लाभ उठाने की भर-पूर कोशिश भी करती है। यही बात उन्हें वर्तमान व्यसनजन्य परिस्थिति में भी सक्षम एवं सजीव बना रही है। इसके प्रतिकूल हमारे यहाँ की स्त्रियों को तो हाथ-पैर हिलाना कठिन है। उन्हें तनिक भी सुविधा हुई कि वे काम करना अपनी शान के खिलाफ़ समझती हैं और पंगु बने रहने में अपना बड़प्पन मानती हैं। इसका परिणाम है रुग्णता तथा निर्जीवता। अभी देखिए, गत-यूरोपीय महा-समर में वहाँ की स्त्रियों ने किस-किस प्रकार योग दिया। आज तो वे अपनी सेनायें तक बनाने पर आमादा हैं। पर भारत में कितनी स्त्रियाँ हैं, जो महारानी कैकेयी की तरह समर-भूमि में अपने पति के रथ के टूटे हुए धुरे के स्थान में अपना हाथ डाल दें, या राजपूत रानी की तरह अकबर प्रभृति सम्राट् को नीचा दिखाकर उसे मीना-बाजार नामक मेला बन्द कर देने पर मजबूर करें, या झाँसी की रानी की तरह किले में आक्रमणकारी सेना से घिर जाने पर भी अपने शौर्य-प्रदर्शन-द्वारा उसके बीच से साफ निकल जायँ ? हम मानते हैं कि इस अवनति के और भी कारण हैं, फिर भी हमारी दृढ़ सम्मति है कि इसका एक प्रबल कारण है हमारी स्त्रियों की विलास-प्रियता।

अब हम इस बात का निराकरण करेंगे कि यह दोष क्योंकर उत्पन्न हुआ। हम प्रथम ही कह चुके हैं कि स्त्री-जाति सदा से ही शृंगार-प्रिय रही है। पर निस्सन्देह यह रुचि अत्यन्त न्यूनता के साथ तथा

अवसर-विशेष तक के लिए ही सीमित रही होगी और विलासिता की हद तक तो कदापि न गई होगी अन्यथा आर्य-जाति के अतीतकालिक अभ्युत्थान का दृश्य कभी न दीखता। और न भारतवर्ष मे उन नर-नारियो का पुण्यकाल उपस्थित होता, जिनके नाम पर हमें आज भी अभिमान है और जिनका स्मरण होते ही गर्व-जनित उत्साह से आज भी हमारी छाती फूल उठती है। अस्तु! पर जब पौधा एक बार अकुरित हो गया, तो यह हो सकता है कि वह किसी प्रतिकूल ऋतु में कम बढ़े पर अनुकूल ऋतु पाकर अवश्य बढ़ेगा। और जब सयोग से ऋतु की अनुकूलता बराबर बनी रहे, तो फिर उसकी बढ़ती का क्या कहना? यही बात प्रत्येक अच्छी-बुरी आदत के विषय मे कही जा सकती है। व्यसन का भी यही हाल समझिए। अत जबतक सुशिक्षा का प्रचार और तद्द्वारा कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान रहा तब तक व्यसनो की ओर से अधिकतर उदासीनता ही रही और जीवन की सादगी मे ही काफी बनाव-सिंगार समझा जाता रहा। अस्तु। हमारी धारणा है कि मुस्लिम शासन काल के पूर्व से ही भारतीय स्त्रियो में इन दुर्गुण का आधिक्य होना शुरू हुआ। देश धन-धान्य से परिपूर्ण था ही, फिर कौन-सी रुकावट हो सकती थी? इसका कु-फल था आलस्य और कर्तव्य-पालन से पराङ्मुख होना, जिसका असर भावी संतति पर भी पड़ना स्वाभाविक ही था। फिर देश मे मुस्लिम शासन का दौर-दौरा हुआ। इस शासन काल में और चाहे खूबियाँ रही हो, पर उसकी विलास-प्रियता प्रसिद्ध ही है। परिस्थितियो से सभी प्रभावित होते हैं। फलतः स्त्रियाँ भी अक्षुण्ण न रह सकी और उनकी कुरुचि मे अधिक वृद्धि हुई। परिणाम-स्वरूप आर्य-जाति अधिक आलसी और निकम्मी होती गई। पर अब भी बहुत बड़ी कसर बाकी थी। संसार मे असंख्य शृंगारी वस्तुओं का निर्माण न हुआ था और न भारत मे आयात के हेतु अब-जैसी सुगमता थी। वह कसर अंग्रेजी राजत्व-काल मे पूरी हो गई—हमारा देश यूरोपीय माल की खपत के लिए अच्छी-खासी मण्डी बन गया, और हमारी रही-सही सजीवता भी नष्ट हो गई।

परन्तु इन पंक्तियो से हमारा यह अभिप्राय नहीं कि हम अपनी आधुनिक अवनति की सारी जिम्मेदारी स्त्रियो पर ही डाल दें और पुरुषो को सर्वथा निर्दोष प्रमाणित करें। हमने अंग्रेजी के जो वाक्य ऊपर उद्धृत किये हैं उनमे या तो स्त्री के दायित्व का वर्णन है या उसके प्रभाव का। पर इन बातो को क्रियात्मक रूप देने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि स्त्री मे काफी जानकारी हो। जानकारी या तो पुस्तकावलोकन से हो सकती है, या मौखिक शिक्षण से। पर इसका एक प्रबलतम साधन और भी है, और वह है उदाहरण की उपस्थिति। पर्याप्त पुस्तकीय शिक्षा के अभाव मे यह अन्तिम साधन बहुत बड़ा काम करता है। उदाहरण के वैपरीत्य की दशा मे मौखिक शिक्षा कभी पूरा काम नहीं देती। स्त्री की पुरुष मे नैसर्गिक घनिष्ठता है। दोनो एक-दूसरे की सम्पूर्ति करते हैं। अब तनिक देर के लिए संतति के बनाव-बिगाड़ के प्रश्न को छोड़ दीजिए-और समकालिक तथा समवयस्क मनुष्यो पर ध्यान दीजिए, तो विदित होगा कि जहाँ स्त्री पुरुष को प्रभावित कर सकती है वहाँ पुरुष भी स्त्री पर मनचाहा प्रभाव डाल सकता है। फलतः जो योग्यतर होगा वही दूसरे को स्वानुकूल बना लेगा। अब हम जानकारी की जाँच के निमित्त तनिक विचार करें तो ज्ञात होगा कि भारत में शिक्षा का ह्रास पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे शीघ्रतर हुआ होगा। पुरुषो में तो अब भी जानकारी है और तब भी रही

होगी। ऐसी दशा मे पुरुषों का यह कर्तव्य था कि वे स्त्रियों को पर्याप्त सुविज्ञ बनाये रहने की ओर निरन्तर ध्यान देते जाते। पुस्तकों-द्वारा न सही तो वाणी तथा उदाहरण से। पर जब पुरुष स्वयं वासनाओं से प्रेरित होकर अपनी रीति पर शृंगारी बनें और स्त्रियो को भी वैसा बनने के लिए प्रोत्साहित करें, तो फिर अनजान स्त्रियो की स्वाभाविक शृंगार-प्रियता के बढ़ जाने में कौन-सी कसर बाकी रह सकती है? ऐसा ही हुआ होगा, और ऐसा ही हो रहा है। विशेषत वर्तमान समय मे पाश्चात्य शिक्षा से सुशिक्षित कहलानेवाला हमारा 'आँख का अंधा और कान का बहरा पर गाठ का पूरा' पुरुष वर्ग ही अपने शृंगार-वैचित्र्य मे स्त्रियो को भी मात करने की कोशिश कर रहा है और साथ हो इस बात की प्रतीक्षा भी कि स्त्रियाँ उसे मात करे। इस होड़ में स्वदेश की निर्धनता बढ़ती जा रही है और विदेश माला-माल हो रहे हैं। यदि देश का धन देश ही में रहता तब भी हमारी कुछ-न-कुछ तसकीन होती रहती—आधे से अधिक भारतीयो के भूखो मरने के अनेक कारणों मे यह एक कारण तो न होता।

सारांश यह कि स्त्रियो की वर्तमान दयनीय अवस्था के हेतु पुरुषवर्ग अवश्य उत्तरदायी है और बहुत बड़ी सीमा तक। अन्य बातो की तरह इसमे भी उसने अपनी स्वाभाविक सबलता का दुरुपयोग किया है। प्रतिक्रिया का घटित होना भी अनिवार्य था और आज वही हम भारतीयों की कायिक तथा मानसिक निर्बलता के रूप मे प्रतिलक्षित हो रही है, जो अब सहस्र प्रयत्नो से भी दूर होने का नाम नहीं लेती। भारत मे असहयोग-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। देश ने पराधीनता से मुक्ति पाने के लिए व्यसन-त्याग द्वारा शुद्धतर होने की पावन प्रतिज्ञा की, पर उसे पूरी न कर सका। पूरी कैसे करता? मर्दों की पुरानी आन मिट जाती न! और औरतों का त्रिया-हठ तो मशहूर ही है। स्वराज्य हो या न हो, हमे अपने हलुए-मॉडे से काम—उसमें तो कोई कमी बेशी नहीं होने की! फिर जब शरीर की शोभा ही न रही, तो स्वराज्य लेकर क्या भाड़ मे झोंकना है? जले वह सोना, जिससे कान फटे! यह है हमारे उस मध्यमश्रेणी के पुरुष-स्त्रियों की मानसिक प्रवृत्ति, जो स्वर्गीय लाला लाजपतराय के कथनानुसार किसी राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रारम्भ-कर्त्री हो सकती है। अस्तु। महात्माजी ने अहिंसा के खयाल से देशी मिलो तक के कपड़ो को हेय बतलाकर खद्दर-प्रयोग का आदेश किया; पर उन्हें यह खयाल नही कि खद्दर से तो हमारा, विशेषत हमारी कोमलागी कामिनियो का तो, कलेवर ही क्षत विक्षत हो जायगा! हमारे शरीर को तो बस रेशम, टसर तथा कोसा इत्यादि से ही आराम मिल सकता है, जो असंख्य कीटों की हत्या-द्वारा तैयार किया जाता है। फिर यदि सूती कपड़े का ही प्रश्न हो, तो ऐसा मोटा कपड़ा किस काम का, जिससे शरीर की आभा ही प्रफुल्लित न हो? इसके अतिरिक्त मोटे कपड़ो का बोझ कौन सम्हाले? यह कोई आभूषण थोड़े ही है कि जितने अधिक और भारी हों उतने ही कम और हलके जान पड़ें। आभूषण के मामले मे तो हमारी शृंगार-प्रिय स्त्रियों ने कमाल ही कर दिया है। हम ऊपर कह आये हैं कि भारतीय स्त्रियाँ व्यसन-पूजा मे पाश्चात्य स्त्रियो की अन्धानुयायिनी बन रही हैं। इसका अभिप्राय केवल यही है कि वे अपनी अधिक-से-अधिक नुमाइश करना चाहती हैं। नक़ल करनेवाले प्राय: ऐसा करते ही हैं। इसके निमित्त उन्हे पाश्चात्य स्त्रियो की अपेक्षा कहीं अधिक आभूषणो की आवश्यकता है और फिर इस प्रकार मानो वे अपनी भारतीय मौलिकता भी बनाये हुए

हैं, अत सभ्य हैं (?)। भारत दिनों-दिन गरीब हो रहा है और इस गरीबी को प्रकट करने के हेतु यहाँ की स्त्रियों में चाँदी के स्थान में सोने के जेवरो की बढ़ती है ! इन्हें यह मालूम नही कि ऐसा करना भारत के गरीबों का उपहास करना है। इन बेचारियो को इस बात का पता नहीं कि जिसे वे अपने घर का धन समझती हैं वह वस्तुत देश का धन है, और करोड़ों देशवासियों के भूखों मरते हुऐ इस धन-प्राप्ति को इस भाँति बेकार बना देने का उन्हे कोई नैतिक अधिकार नहीं है। उन्हे यह ज्ञात नही है कि "दानेन पाणिर्नतु कंकणेन"—अर्थात्, हाथ की शोभा दान से है, कंकण से नहीं। इसके अतिरिक्त भोजन-वस्त्र की बात तो समझ मे भी आती है, पर आभूषण-भार से शरीर को पीडित करना कहाँ की बुद्धिमानी है ? स्त्रियाँ तो स्त्रियाँ, परन्तु हम उन पुरुषों को क्या कहें, जो सब जानते बूझते हुए, कभी-कभी कष्ट सहकर भी, अपनी या अपनी स्त्रियो की व्यसन-पूर्ति कर रहे हैं ? संक्षिप्त यह है उस शृंगार-प्रियता का हाल, जिसकी शृंखलाओं में हमारा पुरुषवर्ग और अधिकतर हमारा स्त्री-समाज आज जकडा हुआ है और जिसे छोड़े बिना कम-से-कम उस रीति पर तो हमारा देश स्वाधीन हो नहीं सकता, जिस रीति पर वह स्वाधीन होकर अपनी आध्यात्मिकता द्वारा समस्त ससार को नवयुग का संदेश देना चाहता है। हाँ, पशुबल की प्राप्ति तो चाहे थोडे ही त्याग और प्रयत्न से हो सके, पर यह तो तयशुदा बात है कि अभीष्ट स्वाधीनता के निमित्त देश को उस बल की आवश्यकता नही।

जैसा हम इस लेख के आरम्भ में बतला चुके हैं यह बात तो स्वय-सिद्ध हैं कि शारीरिक शृंगार का उद्देश्य है सौंदर्य-वृद्धि। पर सत्य तो यह है कि प्रकृति स्वय सुन्दर है और उसे शृंगार की जरूरत नही। हाँ, वास्तविक सुन्दरता लाने के लिए यह जरूर होना चाहिए, कि प्राकृतिक विधानों का पूर्णत पालन किया जाय। खान-पान, आचार-विचार, रहन-सहन की उत्तमता, शरीर एव आत्मा दोनो के लिए स्वास्थ्यप्रद है, और इस स्वास्थ्य मे जो सौन्दर्य है, उसे दुनिया-भर का बनाव-सिंगार पैदा नहीं कर सकता फिर जो सौन्दर्य केवल कृत्रिम साधनो द्वारा प्राप्त किया जाय, उसका न तो कोई मूल्य है और न उससे कोई स्थायित्व है, प्रत्युत कामवासना को अस्वाभाविक रीति पर उत्तेजित कर वह हानिकारक अवश्य हो सकता है। अत मानवी जीवन के निमित्त मे अधिक विचार करने पर ज्ञात होगा कि आत्मा का शृंगार ही उस जीवन का सर्वस्व है, जिससे शरीर मे भी ऐसे आकर्षण का प्रादुर्भाव निश्चित है, जो आयु-भर समान-रूपेण स्थिर रहते हुए लाभदायक ही होगा। इसके हेतु स्त्रियो को सद्गृहणी बनने की आवश्यकता है। उन्हे समझना चाहिए कि संसार मे उनका अपना व्यक्तित्व भी है, जिसका उद्देश्य पवित्र एवं महान है। उनका जन्म स्वय अवनत होकर पुरुषों को अवनत बनाने के लिए नहीं हुआ, प्रत्युत स्वय उन्नत होकर उन्हे भी उन्नत बनाने के लिए हुआ है। महात्मा गांधी अपनी "यङ्ग इण्डिया" नामक पुस्तक मे कहते हैं—"Woman must cease to consider herself the object of man's lust. The remedy is more in her hands than man's" अर्थात्, "स्त्रियो को यह खयाल छोड़ देना होगा कि वे पुरुष की भोग-सामग्री हैं। उपाय पुरुष की अपेक्षा अधिकतर उन्हींके हाथो में है।" प्रकट ही है कि जिस दिन स्त्रियाँ अपने व्यक्तित्व को अनुभव करके और कराके अपने कर्तव्यो की ओर ध्यान देंगी, उसी दिन इस आडम्बर-पूर्ण शृंगार की इतिश्री हो जायगी—उसी दिन उनके शुद्ध शृंगार से वह आभा विकीर्ण होगी,

जिससे पुरुषों के तमाच्छन्न हृदय भी आलोकित हो जायँगे। हमारे यहाँ की स्त्रियों को यह ख़याल रखना चाहिए कि सुधार अधिकतर अपने आप ही हुआ करता है, चाहे उसमे अन्यों का साहाय्य ही क्यों न हो। पर वर्तमान अन्यायी संसार मे पुरुषों से यह आशा रखनी व्यर्थ है। कारण कि कोई अपने उस अधिकार से सहज ही वंचित होना पसन्द न करेगा, जिसके बरतने का वह शताब्दियो से अभ्यस्त हो रहा है। ऐसी दशा मे क्या स्त्रियाँ स्वय ही जगद्विख्यात रूसो (Rousseau) के इस कथन को कि "स्त्री की पुस्तक संसार है और संसार से वह जितना समझती है उतना पुस्तकों से नहीं" चरितार्थ कर पर्याप्त सुशिक्षिता बनती हुई उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने का पुण्य-प्रयास करेगी? क्या जिन पाश्चात्य स्त्रियों की वे नकल कर रही हैं, उनके बाह्य वेष-भूषा के स्थान मे वे उनके आन्तरिक गुणों को इस प्रकार अपनाना सीखेंगी कि उसपर अपनेपन की गहरी छाप हो? यह भी खयाल रहे कि पहले कार्य मे उनका असफल होना जितना निश्चित है, उतना ही दूसरे मे सफल होना भी। फिर ऐसा होने पर नकल करने का इलजाम भी नही लग सकता। सद्गुणों पर जाति-विशेष का इजारा नहीं, वे तो मनुष्य-मात्र की सम्पत्ति है। हाँ, यह दूसरी बात है कि जाति-विशेष की बाह्य क्रियाओं की दृष्टि से उपर्युक्त गुणों मे भी कुछ हेर-फेर दीखने लगे।

ऊपर यह भी कहा जा चुका है कि स्त्रियों की वर्तमान अवनति मे पुरुषों का बहुत बडा हाथ है। पर साथ ही यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि अपने भले बुरे का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्रायः प्राणि-मात्र में पाया जाता है। फिर स्त्रियाँ तो मनुष्य हैं; अतः शिक्षा के अभाव मे भी वे ऐसी बहुत बातो को समझ सकती हैं, जिनसे उनका हित या अहित हो। परिस्थितियों के प्राबल्य को मानते हुए भी यह बात टाली नही जा सकती। सभी स्त्रियाँ साधारणतः इतना तो जान ही सकती हैं कि उनके जिन व्यसनात्मक व्यवहारों से शरीर की नुमाइश होती अथवा गृह-कार्यों में अड़चन पड़ती है, वे सब त्याज्य हैं, अतः इस जानकारी की हद तक वे अवश्य दोषी हैं। इसमे तनिक भी सन्देह नहीं कि जितना शारीरिक शृंगारों को परित्याग किया जायगा उतना ही आत्मा शृंगारमयी होती जायगी जिससे उत्तरोत्तर उन्नति होना निश्चय है। असहयोग-काल मे जब महात्माजी देश-भ्रमण करते हुए आसाम पहुँचे थे, उस समय वहाँ की स्त्रियों की शृंगार-शून्य तथा आभूषण-रहित सादगी पर मुग्ध होकर उन्होंने वैसी ही स्त्रियों मे भावी उन्नति के लक्षण होने की बात प्रकट की थी। हमे विश्वास है कि भारतीय स्त्रियाँ इस बात को हृदयङ्गम करती हुई अपने शरीरों को अनावश्यक बोझ से हलका कर "सरल जीवन और उच्च विचार" के अनुसार अपना रहन-सहन बनाने की कोशिश करेंगी और अपने सद्प्रयत्नों से पुरुषों—विशेषतः बच्चों—को सुधार कर भारत के प्रति अपने उस सहज वात्सल्य का परिचय देंगी, जिसके बिना आज उसकी यह अधोगति हो रही है। तथास्तु।

इकबाल वर्मा 'सेहर'

कामना

जग के झूठे वैभव को
लेकर क्या नाथ करूँगी मै।
कुम्हलाये आशा-कुसुमो से
पुनः न अङ्क भरूँगी मै।
रोम-रोम मे रमो तुम्हीं नित—
नाम तुम्हारा ही गाऊँ।
इच्छा है बस यही, तुम्हारे—
चरणों की रज बन जाऊँ॥

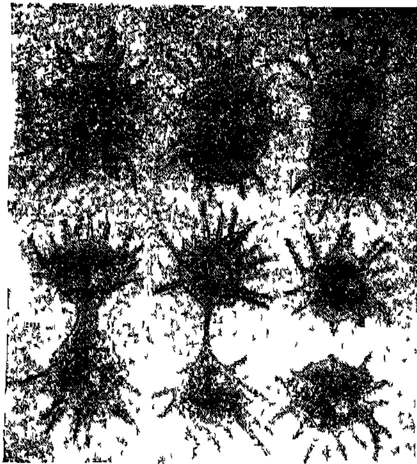
लीलावती 'सत्य'

जनन-प्रक्रिया

(त का शेष)

पौधे

'फूल' पौधोकी जनन-सम्बन्धी इन्द्रियाँ हैं। कुछ फूल 'नर'-तत्त्व को उत्पन्न करते हैं और कुछ फूल 'मादा'-तत्त्व को। फूलो के नर-भाग को अंग्रेजी मे 'स्टेमन' तथा मादा-भाग को 'पिस्टिल' कहते हैं। नर-भाग (स्टेमन) एक प्रकार की सूक्ष्म शुद्ध धूलि होती है, जिसे पुँ-केसर (पोलन) कहते हैं। यही फूल का जनन-सम्बन्धी नर-तत्त्व है। मादा-भाग (पिस्टिल) फूल के मध्य मे होता है और वहीं पर फूल का जनन-सम्बन्धी मादा-तत्त्व (ओव्यूल) रहता है। यदि नर तथा मादा-तत्त्व एक ही फूल के भीतर हो तो वहीं 'बीज' की सृष्टि हो जाती है, परन्तु यदि ये दोनो तत्त्व भिन्न-भिन्न पौधो पर स्थित हो तो नर-पुष्प के पुँ-केसर को वायु उडाकर निकटस्थ मादा-पुष्प के भीतर पहुँचा देती है। इस विधि से कई अवस्थाओ मे नर तथा मादा-जाति के पुष्पों के बहुत दूर स्थित होने पर भी 'सयोग' हो जाता है। मधु-मक्खियाँ, पतगादि अपने पखो और पाँवो द्वारा उत्पादक धूलि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर जनन-प्रक्रिया मे बड़ी सहायता पहुँचाते हैं। छोटी चिडिया और बेचारी 'स्नेल' इस दृष्टि से बड़े काम की हैं। पौधो की जनन-प्रक्रिया मे भाग लेने वाले कई कीट, पतगो का इतना महत्व है कि कविता की भाषा मे इन्हे 'फूलो' के विवाह का 'पुरोहित' कहा गया है।



अमीबा और उसका विभजन

छोटे प्राणी

कुछ छोटे प्राणियो मे जिन विधियो द्वारा 'सयोग' अथवा 'जनन-प्रक्रिया' होती है, वे पौधो की अपेक्षा विभिन्न, अनेक तथा अधिक आश्चर्यजनक हैं। उदाहरणार्थ, मछलियो तथा साँपो मे, माता पिता के शरीर से, उनके आपस मे मिले बिना ही, नर तथा मादा तत्त्व निकल आते है और उन तत्त्वो का माता-पिता के शरीर के बाहर ही सयोग हो जाता है। इस अवस्था मे एक का दूसरे से स्पर्श बिलकुल नही होता। प्राणियो की इस श्रेणी मे जनन-प्रक्रिया ठीक वैसी ही होती है, जैसी उन पौधो मे, जिनमें नर तथा मादा पुष्प एकही पौधे के भिन्न-भिन्न भागो मे स्थित होते है। मादा मछली के शरीर मे बहुत-से अण्डे खास मौसम मे पैदा हो जाते हैं। कई बार इनकी सख्या हजारो तक होती है। इसी समय नर-मछली के अण्डकोष, जो कि उसके शरीर मे (कोष्ठगुहा—एबडोमिनल कैविटी मे) विद्यमान होते हैं, बढने लगते हैं। इन्हीं अण्डकोषो मे वीर्य-कण होते है। जब मादा अपने अण्डो को सुरक्षित रखने के लिए जगह ढूँढती है तो नर चुपचाप उसके पीछे हो लेता है और ज्योही वह अण्डे देती है त्योंही वह उनपर वीर्य-कण डाल देता

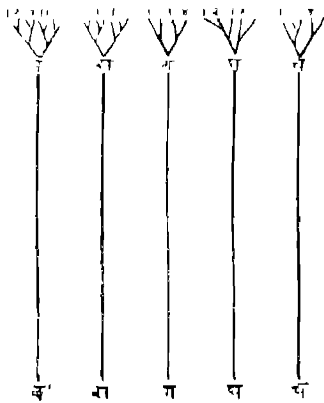
मछला

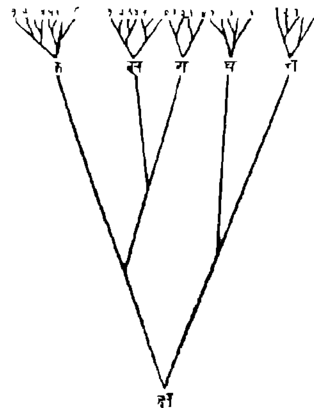
है। इसीसे संयोग हो जाता है और नई मछलियों का जीवन प्रारम्भ हो जाता है। उत्तरी समुद्र का जल कई स्थानों पर मछली के अण्डों से गदला हो जाता है।

यह प्रक्रिया मेढक की कई जातियों मे ज्यों-की-त्यों मिलती है। जिस समय मादा अपने अण्डे सुरक्षित रखने वाली होती है, नर उसकी पीठ पर चढ़ जाता है, और तबतक चढ़ा रहता है, जबतक कि सब अण्ड सुरक्षित तौर पर रख नहीं दिये जाते। मादा-द्वारा अण्डों के रक्खे जाते ही नर उनपर वीर्यकण डाल देता है। इस प्रकार नर तथा मादा दोनों के उत्पादक-तत्त्वों के संयोग से जनन प्रारम्भ होता है। मादा को अण्डे रखने मे काफ़ी समय लगता है। तबतक नर उस-की पीठ पर चढ़ा ही रहता है। इस समय उसके पाँवों मे अजीब प्रकार के अँगूठे-से निकल आते हैं जिनसे वह मादा की पीठ पर चिपटा रहता है। ये अँगूठे इसी समय निकलते हैं। बच्चा पैदा करने का मौसम समाप्त हो जाने पर ये क्षणिक अँगूठे लुप्त हो जाते है—क्योंकि, फिर उनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। ये दोनों उदाहरण "बहि संयोग" के हैं—इनमे नर तथा मादा तत्त्वों का संयोग मादा के शरीर के बाहर होता है।

मेढक

कुछ जातियों मे, जिनमे "अन्त संयोग" होता है, नर और मादा एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते परन्तु फिर भी कई अज्ञात कारणों से नर का वीर्य-कण मादा के शरीर में पहुँच जाता है और वहाँ पर नर-तत्त्व के संयोग से अण्डा बढ़ने लगता है। इस प्रकार की जनन-प्रक्रिया मे नर तथा मादा का शारीरिक संयोग नही होता। संस्कृत-साहित्य मे बादल के गर्जने से बगुली के गर्भ हो जाने का वर्णन पाया जाता है।





उत्पत्ति और उत्क्रान्ति

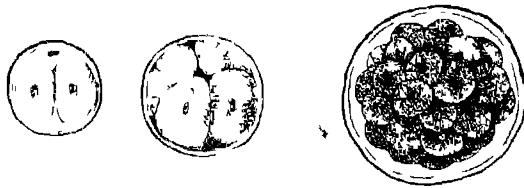
साँपों मे नर तथा मादा की जननेन्द्रियों के पारस्परिक स्पर्श मात्र से संयोग हो जाता है। स्नेल उभय-लिंगी प्राणी है—अर्थात्, एक ही स्नेल नर और मादा दोनों एक साथ होता है। टी आर. जोन्स ने इसका वर्णन निम्न प्रकार किया है—

स्नेल

"इनमे जिस विधि से संयोग होता है, वह कुछ कम आश्चर्यजनक नही है। इस संयोग का प्रारम्भ असाधारण रीति से होता है। देखने वाला समझता है कि यह दो प्रेमियों का मिलाप नहीं परन्तु शत्रुओं की लड़ाई है। यह प्राणी स्वभाव से शान्त प्रकृति का है, परन्तु संयोग के समय दोनों में अजीब फुर्ती आ जाती है। शुरू-शुरू मे प्रगाढ़ आलिंगन होता है, फिर दोनों मे से एक अपनी ग्रीवा के दाईं ओर से एक चौड़ी और छोटी-सी थैली को खोलता है। यह थैली तनकर कटार जैसी हो जाती है और गले के साथ ऐसी लगी होती है, मानो दीवार के साथ चिपकी हुई हो। इस अजीब हथियार से दूसरे प्रेमी के असुरक्षित भाग पर प्रहार किया जाता है। वह भी जल्दी से अपने खोल मे घुस कर इस आघात से बचने की पूरी कोशिश करता है। परन्तु अन्त में

किसी खुले स्थान पर चोट लग ही जाती है और उसके लगते ही इस प्रेम-प्रहार का बदला लेने के लिए आहत स्नेल उद्विग्न हो उठता है और अपने प्रतिद्वन्द्वी को चोट पहुँचाने मे कुछ उठा नहीं रखता। इस प्रेम-कलह में उनकी कटारो पर लगे छोटे छोटे काँटे प्राय टूट कर जमीन पर गिर पडते हैं अथवा इनके जख्मो पर चिपक जाते है। इस प्रारम्भिक उत्तेजना के कुछ देर बाद दोनो स्नेल चेतन होकर अधिक प्रबलता से लड़ने के लिए आगे बढ़ते है। अब वह कटार सकुचित होकर शरीर मे आ जाती है और एक दूसरी छोटी थैली दोनो के उत्पादक

मनुष्य की गर्भावस्था मे होने वाली सूक्ष्म वृद्धि



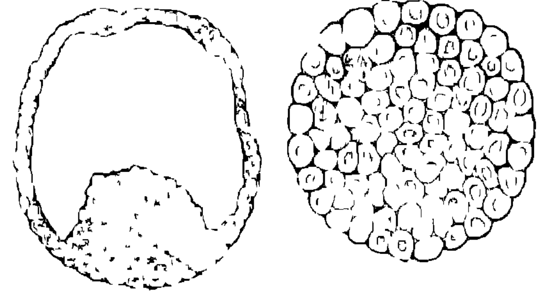
गर्भपेशी का विभजन,—अनेक गर्भ पेशियों का बन जाना, प्रत्येक की लम्बाई [illegible] इञ्च।

छिद्रो मे से निकलकर आगे को बढ़ जाती है। यह स्नेल की जननेन्द्रिय है, और इसपर दो छिद्र दिखाई देते हैं। क्योकि स्नेल उभय-लिंगी है—अर्थात् नर तथा मादा दोनो है—इसलिए इन दोनो छिद्रो मे से एक तो स्नेल का मादा होने का छिद्र है और दूसरा नर होने का। इस दूसरे छिद्र मे से दोनो की एक इञ्च लम्बी चाबुक-जैसी नर-इन्द्रिय धीरे-धीरे खुलती है। तब दोनो स्नेल परस्पर सयोग करते हैं और दोनो के, एक दूसरे से, गर्भ ठहर जाता है।"

ओयस्टर भी उभय-लिंगी प्राणी है, उसमे भी आत्म-सयोग हो जाता है। आरगोनट एक प्रकार

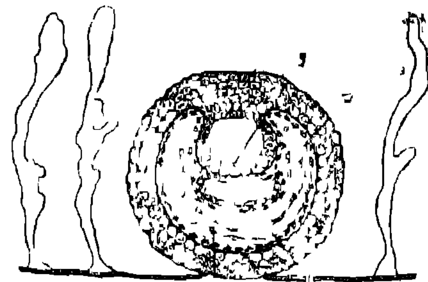
आरगोनट

की मछली होती है। इसमे संयोग बहुत ही विचित्र रूप मे होता है। नर के शरीर के बायें हिस्से पर एक छोटी-सी थैली होती है, जिसमे एक कुण्डलीदार उपकरण



शनै शनै गर्भ-पेशियों की रचना ऐसी हो जाती है

रहता है। यह उपकरण वस्तुत एक नलिका होती है, जिसका सम्बन्ध अण्डकोषो से होता है। उस नलिका मे वीर्य-कण सचित रहते हैं। पूर्ण वृद्धि होने पर वीर्य-कणो से भरी हुई यह थैली आरगोनट के शरीर से जुदा हो जाती है, जल मे तैरती-तैरती मादा को ढूँढ लेती है और उसके साथ सयोग से मादा के बच्चे पैदा होने लगते है।



भीतर का वह शून्य स्थान तीन भागों में विभक्त हो जाता है। पहले भाग से अन्नपचन संस्था, दूसरे से त्वचादि बाह्य भाग और तीसरे से आगे चलकर अस्थि-संस्था, स्नायु संस्था आदि का निर्माण होता है।

मक्खी

एक विशेष प्रकार की मक्खी पाई गई है, जो लाश की सड़ाँद की गन्ध से अण्डे देने लगती है। यदि इस मक्खी के गन्ध लेने वाले ज्ञान-तन्तु काट लिये जायँ, तो वह अण्डे देना बन्द कर देती है। नाक पर आघात लगने के अलावा उसे दूर स्थानों पर कितनी बड़ी भी चोट क्यों न लगे, वह अण्डे देना बन्द नहीं करती। जननेन्द्रिय के साथ घ्राण के सम्बन्ध का यह अद्भुत उदाहरण है।

मधु-मक्खी

कभी-कभी मधु-मक्खी, नर के साथ संयोग किये बिना ही, अण्डे देने लगती है और उन अण्डों से हमेशा नर-मक्खी पैदा होती है। नर के साथ संयोग के बाद वह छत्ते के कोष्ठों मे अण्डे देती है और उन अण्डों से हमेशा मादा-मक्खी पैदा होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसमे अपनी इच्छा के अनुसार, बिना संयोग के, अण्डे पैदा करने की शक्ति है, जिससे नर-मक्खियाँ पैदा होती हैं। मधु-मक्खियाँ, बड़ी मेहनत से, सैकड़ों नर-मक्खियों को रानी-मक्खी के सुख के लिए पालती हैं। जब मधु-मक्खियों की 'रानी' संयोग के लिए आकाश में उड़ती है, तो नर मक्खियाँ उसके पीछे हो लेती हैं। जब एक नर-मक्खी का रानी-मक्खी से संयोग हो जाता है, तब वह अपनी जननेन्द्रिय को उसके शरीर मे छोड़कर मर जाता है। अन्य नर-मक्खियाँ अब किसी काम की नहीं रहती, अत पतझड मे शक्तिशाली मक्खियाँ उनका संहार कर देती है।

चार महीने के अन्दर गर्भ-वृद्धि

(१) दो सप्ताह (२) तीन सप्ताह (३) चार सप्ताह (४) पांच सप्ताह (५) छः सप्ताह (६) सात सप्ताह (७) आठ सप्ताह (८) तीन महीने (९) पन्द्रह सप्ताह।

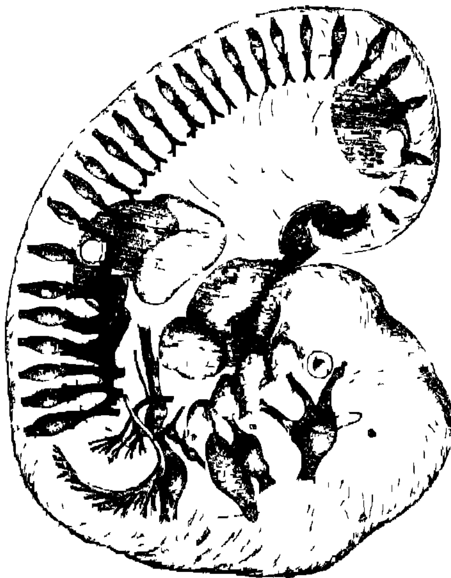
तितली

तितली का जनन-सम्बन्धी जीवन भी अनोखा है। वह कुछ महीनो तक रोमावृत्त अवस्था मे रहती है—फिर साल-दो साल तक चमकते हुए कीट की अवस्था धारण करती है। इसके पीछे दीवार की दराज मे या पेड़ की छाल के नीचे, रेशम के कीडे के घर की तरह, एक खोल बनाकर सोई रहती है। अन्त मे शानदार, रंगबिरंगे परो का शृंगार कर एक टहनी से दूसरी टहनी पर मँडराने लगती है। इसे भोजन की भी आवश्यकता नहीं होती। मादा बडी शान्त होती है, चुपचाप पडी रहती है। नर की घ्राण-शक्ति इतनी तीव्र होती है कि उसे कई मीलों से मादा की गन्ध आ जाती है और ज्योंही वह उड़ने योग्य हो जाता है, फौरन खेतों और जंगलों को पार करता हुआ अपनी प्रिया के

पास जा पहुँचता है। प्रणय के प्रथम मिलन मे ही वह अभागा इस संसार से चल बसता है। इसके बाद मादा भी अनगिनत अण्डे जनकर तत्क्षण अपने प्रीतम के पास उस लोक में पहुँच जाती है। यह प्रेम की कैसी करुण कहानी है।

प्रकृतिवादी फेबर महोदय ने चींटियों के जनन-सम्बन्धी जीवन के विषय मे अनेक आश्चर्यजनक बातो का पता लगाया है। उनका कथन है कि कई चींटियाँ ऐसा होती हैं, जिनमे मादा संयोग के लिए उड़ती है। अनेक नर-चींटे उड़-उड़ कर उसका आलिंगन करते हैं और उसके पीछे ही वे मर जाते हैं। इस प्रकार मादा के पास वीर्य-कणो की एक धरोहर हो जाती है, जिसमे नरो के वीर्य-कण सुरक्षित रक्खे रहते हैं। इसके बाद वह कई साल तक—कम-से-कम ११ या १२ साल तक—बिना किसी नर के संयोग के अंडे पैदा कर

चींटी



तीसरे सप्ताह में मनुष्य का गर्भ-पिण्ड (बड़ा चित्र)

सकती है। वस्तुत यह बड़े अचम्भे की बात है कि इतने समय तक वीर्य-कण सुरक्षित रूप से पड़े रह सकते हैं।

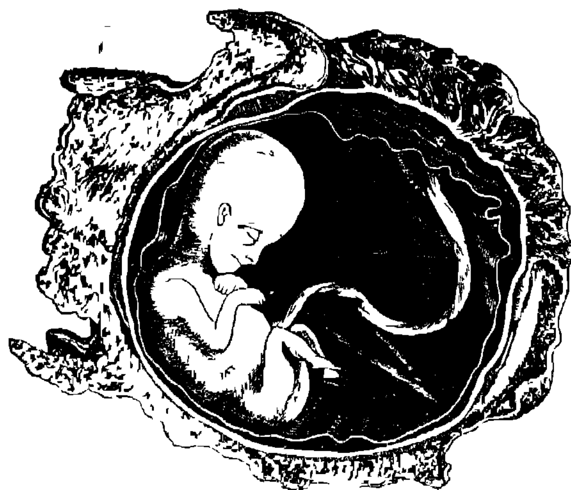
बड़े प्राणी और मनुष्य

बड़े प्राणियो मे नर तथा मादा के उत्पादक तत्त्वो के मिलने से जीव उत्पन्न होता है। इस क्रिया के लिए कुछ सहायक तथा आवश्यक इन्द्रियाँ भी परमात्मा ने बनाई हैं—नर मे 'शिश्न' तथा मादा मे 'योनि'।

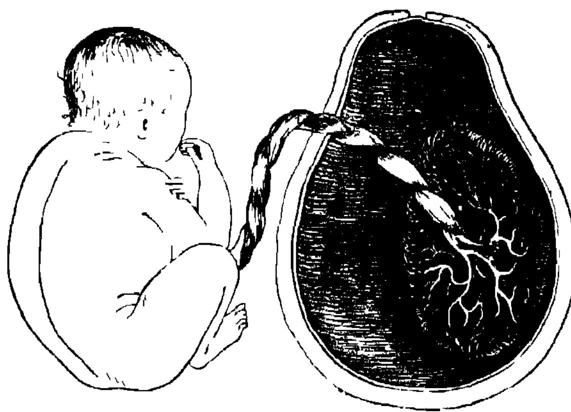
प्रत्येक जाति मे—आदमी घोड़ा, बकरी सभी मे—नर तथा मादा के जनन सम्बन्धी गुह्य अग एक दूसरे को दृष्टि मे रखकर ही बनाये गये है। प्रत्येक जाति के नर तथा मादा के गुह्य अगो मे एक-आश्चर्यजनक पारस्परिक अनुकूलता पाई जाती है। यह प्रकृति का बड़ा भारी चमत्कार है। यह आवश्यक आयोजन अपनी जाति को हमेशा बनाये रखने का जहाँ शक्तिशाली उपाय है, वहाँ दो विभिन्न जातियो के मिलने के मार्ग मे रुकावट भी है।

नर तथा मादा की जननेन्द्रियो के मेल को 'संयोग' कहते है। संयोग ही जनन-प्रक्रिया है। जनन-प्रक्रिया मे वीर्य-कण, रज कण से सिर्फ मिल ही नहीं जाता, परन्तु रज कण की पतली-सी झिल्ली को चीरकर अन्दर घुस जाता है और उसके अन्दर के द्रव्य से मिल जाता है। फिर रज.कण की वृद्धि होने लगती है और उसका क्रम वही होता है, जिसका वर्णन 'कोष्ठ विभजन' की क्रिया मे पहले किया जा चुका है। कई मछलियो के रज कणो में छोटे-छोटे छिद्र देखे गये हैं, जिनके द्वारा वीर्य-कण को उनके अन्दर प्रविष्ट होने का मार्ग मिल जाता है। वीर्यकण की एक लम्बी-सी पूँछ होती है, उसकी सहायता से वह रज.कण को ढूंढता हुआ योनि मे गति करता है।

रज कण की पृष्ठ को छूते ही वह उसे चीर कर जल्दी से अन्दर घुस जाता है। तत्पश्चात् रज कण की पृष्ठ का द्रव्य बाहर से जम जाता है, जिससे कोई अन्य वीर्य-कण उसे चीरकर प्रविष्ट नहीं हो सकता। यह जमाव रज कण की रक्षा के लिए कवच का काम देता है। जब कभी रुग्ण रज कण में कई वीर्य-कण प्रविष्ट हो जाते हैं, तो एक अद्भुत प्राणि की उत्पत्ति होती है। यदि रज कण में दो वीर्य-कण प्रविष्ट हो जायँ, तो एक मिला हुआ जोडा पैदा होता है। परन्तु वह अस्वाभाविक अवस्था है।



परिणत गर्भ



'अरे, मैं कहां आ गया!'

रज कण वीर्य-कण से सयुक्त हो जाता है तब 'गर्भ' रह जाता है। रज कण शीघ्र ही गर्भाशय की आभ्यन्तरिक झिल्ली पर चिपक जाता है और गर्भावस्था का समय प्रारम्भ हो जाता है। मनुष्य-जाति मे प्राय यह समय कलैंडर के नौ महीनो या चान्द्रमास के दस महीनो का होता है। इस समय स्त्रियो को मासिक-धर्म नही होता। यद्यपि कई स्त्रियो में, गर्भ ठहरने पर भी, विशेषत. प्रारम्भिक महीनो मे, मासिक-धर्म कुछ विस्तृत रूप मे पाया जाता है, तथापि यह असाधारण अवस्था है।

गर्भ के समय रज कण विकास की विविध अवस्थाओ में से गुजरता है। इनमे से कई परिवर्तन हूबहू वही होते हैं जो हमें भिन्न-भिन्न प्रकार के छोटे प्राणियो मे मिलते हैं। एक समय आता है जब बढता हुआ मानवीय भ्रूण अण्डे से पैदा हुई छोटी-सी चिडिया जैसा होता है। फिर समय आता है, जब कि वह कुत्ते की शक्ल से इतना मिलता है कि बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ता धोखा खा सकते हैं। ऐसा भी समय आता है, जब भ्रूण के हाथ-पाँव एक खास मछली के बाजुओ से बिलकुल मिलने लगते हैं। इसके बाद भ्रूण का सारा शरीर बन्दर की तरह बालोसे ढक जाता है।

भ्रूण की क्रमिक वृद्धि के इन दृष्टान्तो को देकर विकासवादी कहा करते हैं कि मनुष्य तथा अन्य छोटे प्राणियो का उद्भव-स्थान एक ही है। परन्तु यह उनकी भूल है। इन उदाहरणो से यह सिद्ध नहीं होता कि सबकी उत्पत्ति एक ही स्थान से

हुई है। हाँ, यह अवश्य पता चलता है कि इन विविध योनियों को बनानेवाला एक ही हाथ है, जिसकी कारीगरी के एक ही से निशान सर्वत्र बिखरे हुए दिखाई देते हैं।

सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार

स्फुट प्रसंग

स्त्रियों की हलचल

"स्त्रियों का आन्दोलन आज संसार की बड़ी-से बड़ी हलचलों में से एक है और एक ऐसी हलचल है कि जिसके अन्दर संसार-भर के मानव-समाज के जीवन का निर्णय समाविष्ट है।" यह कहते हुए अखिल-भारतीय महिला-शिक्षा-सुधार-सम्मेलन की संगठन-मन्त्री श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय ने, कलकत्ते की एक सभा में, इसे तीन भागों में विभाजित बताया है—राजनैतिक, शिक्षा सम्बन्धी और सामाजिक। इसमें, उन्हीं के कथनानुसार, मताधिकार का आन्दोलन तो वस्तुतः भारत में है ही नहीं, जैसा कि यूरोप में है। (क्योंकि यूरोप में शिक्षा-द्वारा जागृति फैलने से स्त्रियों में स्वदेश सेवा की इच्छा जागृत हुई है, अत इससे पहले शिक्षा की जरूरत है) इस प्रकार शिक्षा-सम्बन्धी और सामाजिक सुधार ही भारतीय स्त्रियों के आन्दोलन का तात्कालिक प्रश्न है। और ये अन्योन्याश्रय हैं। शिक्षा बिना प्रगति कठिन है और शिक्षा में पूर्णता तबतक सम्भव नहीं जबतक कि सामाजिक कठिनाइयों को न दूर कर डाला जाय। इसलिए, उनके कथनानुसार, हमें अपने सामाजिक जीवन में बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन करना है। और, इसके लिए, उनका कहना है—

"अगर आप समाज-सुधार चाहते हैं तो घरों में ही उसकी शुरुआत करनी होगी। सिर्फ पर्दे और बाल-विवाह का ही सवाल नहीं है, हमें तो स्त्रियों के प्रति (पुरुषों की) सारी मनोवृत्ति को ही बदल देना है। अगर हम इसे पूरी तरह कर सकें, तभी हमें किसी कदर वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है।"

दुहरी प्रगति

इस प्रकार, हम देखते हैं, इस समय भारतीय महिलाओं के सामने प्रगति की दुहरी समस्या है—शिक्षा-सम्बन्धी और सामाजिक। हर्ष की बात है, इन दोनों दिशाओं में उन्होंने जोरों के साथ कार्यारम्भ भी कर दिया है। हम देखते हैं, आजकल उनकी हलचलों की धूम है। पहले अखबारों में ढूँढने पर मुश्किल से उनके सम्बन्ध में कोई हलचल या बात दिखाई पड़ती थी, पर अब यह बात कहाँ है? अब तो प्रायः रोजाना उनके सम्बन्ध में कोई न-कोई बात दृष्टिगोचर होती जाती है। फिर यह महीना तो खास तौर पर उनकी हलचलों का रहा है, कई सभा-सम्मेलन हुए हैं, और होते चले जा रहे हैं। पटना में ३, ४, ५ जनवरी को अ० भा० महिला शिक्षा सुधार सम्मेलन हुआ है, उधर कलकत्ता में—कांग्रेस के दिनों—महिला समाज सुधार सम्मेलन हुआ है और अम्बाला आदि में छोटे छोटे सम्मेलन हुए हैं। इधर अखबारों में विभिन्न लेख भी स्त्रियों के सम्बन्ध में निकल रहे हैं। निस्सन्देह, ये सब बातें महिला-जागृति की द्योतक हैं।

महिला समाज-सुधार सम्मेलन

ट्रावनकोर की छोटी महारानी श्रीमती सेतु पार्वतीबाई की अध्यक्षता में (कलकत्ता में) यह सम्मेलन हुआ। महारानी ने अपने भाषण में वैदिक काल की स्त्रियों की स्थिति से आज की स्थिति पर तुलनात्मक प्रकाश डालते हुए कहा कि पश्चिमी स्त्रियों को अपने अधिकार बिना युद्ध किये नहीं मिले हैं। हमारे विश्वास और व्यवहार में जो भिन्नता है, उसकी ओर उन्होंने बड़े कटाक्ष के साथ न केवल स्त्रियों का बल्कि पुरुषों का भी ध्यान आकर्षित किया। सचमुच उनका यह कहना बिलकुल ठीक है—"बहुत से उत्कट समाज-सुधारक सभामञ्च पर तो बड़े-बड़े जोशीले भाषण करते हैं, किन्तु अपने व्यवहार में उस जोश और उत्साह को भूल जाने के आदी हैं।" स्त्रियों की उन्नति के लिए उन्होंने शिक्षा का व्यापक कार्यक्रम तैयार करके उसके अनुसार कार्य करने की आवश्यकता पर जोर दिया।

सम्मेलन में पर्दा तोड़ने, विधवा-विवाह करने, स्त्रियों की रक्षा करने, लड़कियों को निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा मिलने, दहेज बन्द करने, स्त्रियों को पुरुषों के समानाधिकार मिलने तथा कारखानों में काम करने वाली स्त्री-मजूरनियों का काम करने का समय प्रतिदिन आठ घण्टा करने और उनके लिए स्त्री डाक्टर नियुक्त करने आदि के प्रस्ताव पास हुए।

महिला शिक्षा-सुधार सम्मेलन

इसका तीसरा अधिवेशन मण्डी की रानी श्रीमती ललितकुमारीदेवी की अध्यक्षता में (पटना में) हुआ। इसमें इस विषय पर बड़ा वाद्-विवाद हुआ कि सम्मेलन के कार्य क्षेत्र में समाज-सुधार को भी शामिल किया जाय। सभानेत्री ने अपने अभिभाषण में ही कह दिया था—"सब मानते हैं कि हिन्दुस्थान की स्त्रियों की सामाजिक तरक्की सामाजिक सुधार पर निर्भर है। × × × ऐसी सूरत में इन सम्मेलनों द्वारा हमारी यह भी कोशिश होनी चाहिए कि इन सामाजिक कुरीतियों के, जो हमारी तालीम के रास्ते में बहुत बड़ी बाधा डालती हैं, हटाने की कोशिश करें। × × × अपनी सामाजिक दुर्दशाओं को सुधारते हुए अपनी तालीम (शिक्षा) बढ़ाने की यदि हम लोग पूरी कोशिश करेंगी तो शीघ्र ही हमारे स्त्री-समाज में बड़ी तरक्की होगी।" फिर भी एक मत यह था कि इस सम्मेलन का कार्य-क्षेत्र शिक्षा-सम्बन्धी विषयों तक ही परिमित रहे। इसलिए जब श्रीमती कमलादेवी चटोपाध्याय, श्रीमती बृजलाल नेहरू, श्रीमती फ़रीदूँजी आदि ने इस बात पर ज़ोर दिया कि सम्मेलन अपनी नीति बदले बिना अपना कार्य-क्षेत्र इतना फैला दे कि स्त्रियों के हिताहित से सम्बन्ध रखने वाले सभी विषय उसमें आ जायँ तो श्रीमती सरलादेवी चौधरानी और कुमारी लक्ष्मी कुट्टीआला आदि महिलाओं ने उसका विरोध किया। उन्होंने कहा—यह प्रस्ताव स्वीकार करके तो यह सम्मेलन अपने शिक्षा के आदर्श की जड़ को ही काट देगा और शिक्षा ही वह चीज़ है, जो समस्त सामाजिक बुराइयों को दूर कर सकती है। अन्त में श्रीमती फ़रीदूँजी के इस संशोधन के साथ यह स्वीकृत हुआ कि सामाजिक और शिक्षा-संबंधी कार्य दो भिन्न-भिन्न समितियों के सुपुर्द किये जायँ, जो स्थायी समिति के अधीन रहकर काम करें। एक विचार इस प्रस्ताव पर भी छिड़ा कि स्त्रियों को औद्योगिक शिक्षा देने की व्यवस्था की जाय। प्रस्तावक बम्बई की कुमारी इंजीनियर ने सच-मुच यह बड़ी अच्छी बात सोची है और उनका यह कहना ठीक ही है कि अगर जगह-जगह स्त्रियों को शिक्षा देने के लिए उद्योग गृह खोले जायँ तो गरीब स्त्रियाँ आत्म-सम्मान के साथ जीवन बिताते हुए स्वावलम्बी हो सकेंगी। अन्त में पञ्जाब की श्रीमती माइकल अर्विन के इस संशोधन के साथ यह पास हुआ कि ऐसी संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने के लिए प्रान्तिक सरकारों से अनुरोध किया जाय। साथ ही यह प्रस्ताव भी प्रशंसनीय है कि जिन स्कूलों में ग़रीब बच्चे पढ़ते हों उनमें दोपहर के समय मुफ्त जल-पान देने की व्यवस्था की जाय। इनके अलावा और भी कई उपयोगी प्रस्ताव पास हुए। बाल-विवाह का विरोध किया गया। लड़के-लड़कियों के विवाह की वय क्रमशः २१ व १६ रखने को कहा गया। श्री हरविलास सारडा के बालविवाह-विधान का समर्थन किया गया। सरकार से एक कमिटी क़ायम करने के लिए कहा गया, जिसमें स्त्रियाँ भी सदस्य हों और जो स्त्रियों के स्वास्थ्य, सफ़ाई तथा आर्थिक अवस्था की जाँच करे और स्त्री-मजूरनियों को खानों के अन्दर काम न करने दिया जाय। एक प्रस्ताव यह भी पास हुआ है कि सम्मेलन राजनैतिक दल-बन्दी में नहीं फँसेगा। समझ में नहीं आता, राजनैतिक मामलों से यह घबराहट हमारी बहनों को क्यों है—कहीं बात-बात में सरकार पर आधार रखने ही के लिए तो यह उपादान नहीं है? ख़ैर। [संगठन-मंत्री [इस वर्ष भी] श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय हुई हैं और कोष में मण्डी की रानी सा० ने एक हजार रुपया प्रदान किया है। आशा है, इस वर्ष कार्य और अच्छाई के साथ होगा। क्या ही अच्छा हो कि हमारी ये 'बड़ी-बड़ी' बहनें अपने 'बड़े' वातावरण से जरा 'छोटे' वातावरण पर भी ध्यान दें—नहीं, उस ओर अधिक मुड़ें, और सरकार के बजाय जनता पर अपना आधार बढ़ाने पर अधिक प्रयत्नशील हों! भारत की सर्व-साधारण जनता की स्थिति का ख़याल करके उन्हें

सादगी पर भी ध्यान देना चाहिए और यह तभी हो सकता है, जब बढ़िया और महीन विदेशी साड़ियों तथा दूसरे कपड़ों के बजाय शुद्ध खादी का आदर्श उपस्थित किया जाय। क्या हमारी प्रगति-शील बहनें ऐसा करेंगी?

शिक्षा कैसी हो?

महिला शिक्षा सुधार-सम्मेलन की सभानेत्री श्रीमती रानी ललितकुमारी देवी ने अपने अभिभाषण में स्त्री-शिक्षा पर बहुत-कुछ विचार किया है। भारतीय स्त्रियों की शिक्षा-हीनता पर वे कहती —"× × × हमारे देश में हजार में केवल इक्कीस स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी हैं।' उन इक्कीस फी हजार में वे भी शामिल हैं, जो केवल अक्षर का बोध रखती हैं और मुश्किल से चिट्ठी पत्री लिख-पढ़ सकती हैं। भला आप विचार कर सकती हैं कि किसी देश का सुधार और उसकी तरक्की केवल हरफ़ पहचान लेने से कैसे हो सकती है, जब उसकी अधिकांश स्त्रियाँ अन्धकूप में पड़ी हों और अक्षर का बोध भी न रखती हों? ऐसी दशा में हम अपने विषय में और क्या कह सकती हैं?" आगे वह कहती हैं, "यद्यपि हमारी शिक्षा की हीन दशा है, पर जो उसके लिए अब-तक उद्योग किये गये हैं, वे भी संतोष-जनक नहीं हैं।" "स्त्रियों की शिक्षा की तरक्की की रफ्तार संतोष-जनक नहीं है। १९१६ ई० में १००० में ९ लड़कियाँ पढ़ी-लिखी समझी जाती और अब दस वर्ष के बाद १९२६ ई० में केवल १३ लड़कियाँ ऐसी मिलेंगी, जो मुश्किल से अपना नाम व पता लिख सकें। अब आप स्वयं अनुमान लगा सकती है कि जब दस वर्ष में यह तरक्की हुई है तब कितनेसौ वर्ष लगेंगे, जब हमारी बहनें अन्य देशों की तरह पढ़-लिख कर तैयार हो सकेंगी।" उनका कहना है—"मुझे तो इस बात में भी सन्देह है कि हमारे देशके लोगों ने इस बात पर पूरी तरह से विचार भी किया है या नहीं कि हमारे बच्चों की, खासकर लड़कियों की, तालीम किस उसूल पर होनी चाहिए?" निस्सन्देह, इस बात में बड़ा तथ्य है। और इसमें भी शक नहीं कि, जैसा उन्होंने कहा है, "लड़कियों की तालीम लड़कों से कहीं नाजुक है और इसपर विशेष ध्यान देने की ज़रूरत है। अस्तु।

अब रहा यह कि लड़कियों की तालीम या शिक्षा हो कैसे? इस सम्बन्ध में भी उन्होंने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

"यदि मुझे किसी छोटी-सी लड़की को तालीम देनी पड़े और वह मेरी जिम्मेवारी पर छोड़ दी जाय, तो मैं उसे बजाय पंडिता बनाने के उन बातों की तालीम पर ज्यादा तवज्जह दूँगी, जिनसे उसकी जिंदगी सुख-शांति से व्यतीत हो। मैं उसे एक तेज़ ज़िन्दा-दिल और समझदार लड़की बनाना पसन्द करूँगी। उसके मन में हरएक सुन्दर उत्तम वस्तु की, चाहे वह प्राकृतिक हो या बनावटी, प्रशंसा करना सिखाऊँगी। मैं यह पसंद करूँगी कि वह हरएक सुंदर वस्तु से हमदर्दी करे। सुंदर पहाड़, पेड़, नदी के दृश्य, कवि-ताओं की मनोहर वाणी, उत्तम, लाभदायक और मनोहर बातें हैं, उनसे प्रेम करना सीखे। उसको सीने-पिरोने तथा दस्तकारी के काम का शौक़ होना चाहिए। खाना बनाने तथा आये हुए अतिथि को खिलाने में प्रसन्नता होनी चाहिए। घर कितना ही छोटा झोंपड़ा क्यों न हो, उसे साफ़ रखने की तमीज़ होनी चाहिए। कुत्ता, घोड़ा, और गाय, जो बोल नहीं सकते, उनसे प्रेम और दया करनी चाहिए। स्त्री को घर की मालिक होने के कारण दान करना भी जानना उचित है। और सबसे बड़ी तालीम धैर्य की तालीम होनी चाहिए और हिम्मत की होनी चाहिए। ये बातें एक स्त्री के लिए जरूरी हैं। लड़कियों को बचपन ही से अच्छी और इन रीतियों पर तालीम देने के बारे में मेरा यही विचार है। रसकिन और रूसो का भी यही ख़याल था।"

लेकिन आजकल क्या हाल है? कितने सुन्दर ढंग से वह कहती हैं—"आजकल की शिक्षा-प्रणाली में बिना नुकता-चीनी किये एक प्रश्न पर आप सबका ध्यान दिलाती हूँ कि भारत की आजकल की कन्या पाठशालाओं में कहाँ तक ये बातें पूरी की जाती हैं।' खूब!

उच्च शिक्षा में आप स्त्री-पुरुषों की समान-शिक्षा के पक्ष में हैं। क्योंकि, 'स्त्रियों को उतना ही लाभ ऊँची तालीम से पहुँचेगा, जितना मर्दों को। आशा है, इस विषय के विचारक इन बातों पर ध्यान देंगे।

पुरुषों की सहानुभूति

भारत की वर्तमान स्त्री-हलचल में एक बात मार्के की है। यहाँ पुरुष स्त्रियों की प्रगति का विरोध नहीं बल्कि ज़ोरों से समर्थन कर रहे हैं। यह भारतीय पुरुषों की न्याय-बुद्धि और उनके औचित्य का प्रमाण है। सच तो यह है कि आज पुरुष स्त्रियों से भी अधिक ज़ोरों से उनके आन्दोलन का समर्थन कर रहे हैं। स्त्रियों के अधिकारों की पुकार तो जितनी पुरुषों की ज़बान पर है, उतनी स्त्रियों की ज़बान पर नहीं। यह उचित भी है। अस्तु। भारत के राष्ट्रीय समाज-सुधार-सम्मेलन के सभापति-पद से श्रीयुत जयकर ने जिस ज़ोर के साथ स्त्रियों के साम्पत्तिक तथा विवाह, तलाक आदि के अधिकारों की आवाज़ उठाई है, वह उन्हींने उपयुक्त है। उधर राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के मंच से स्वागताध्यक्ष श्रीयुत जतीन्द्रमोहनसेन गुप्त ने आवाज़ उठाई है—"हमारे सम्पूर्ण सामाजिक भवन की पूरी मरम्मत की आवश्यकता है। इसमें क्रान्ति की आवश्यकता है। यदि हिन्दू सभ्यता का अर्थ है वर्ण-व्यवस्था और मुसलिम सभ्यता का अर्थ है बहुविवाह, तो दोनों को ही दूर करना चाहिए।" और इस वर्ष के हमारे राष्ट्रपति पण्डित मोतीलाल नेहरू ने भी अपने अभिभाषण में इस वर्ष के कार्यक्रम में एक बात यह भी रक्खी है—"उन सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध प्रचार करना, जो सामाजिक ऐक्य और राष्ट्रीय उन्नति मे बाधक हैं—खासकर पर्दे और महिलाओं की अन्य अयोग्यताओं को दूर करना।' और इस वर्ष का जो कार्यक्रम कांग्रेस मे स्वीकृत हुआ, उसमें इसका समावेश भी हो गया है।

सच्ची सलाह

भारतीय महिला-शिक्षा-सुधार सम्मेलन को प्रेषित सन्देश में चीन के त्राता स्वर्गीय सनयातसेन की सहधर्मिणी ने बर्लिन से लिखा है—

"चीन की स्त्रियों की तरह आप लोग भी एक प्राचीन समाज का अंग हैं। उसके सार्वजनिक जीवन में आप लोगों को अपना स्थान अवश्य ग्रहण करना चाहिए और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पंजे से उसका उद्धार कर उसे पूर्ण स्वतंत्र बनाने के प्रयत्न में पुरुषों का हाथ बढ़ाना चाहिए।"

कितना सुन्दर सन्देश है यह! और मानों इसके स्वागतार्थ ही सभानेत्री ने अपने अभिभाषण में कहा—

"भारत-माता की जिसकी गोद में हम पली हैं, सेवा करना हमारा धर्म है।"

लेकिन, हमें भय है, उस वक्त तक यह बात पूरी तरह हो सकती है, जबतक कि भारतीय महिला समाज-सुधार सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष की हैसियत से दी गई महारानी साहबा मयूरभंज श्रीमती सुरुचिदेवी की इस सच्ची सलाह पर पूरा ध्यान न दिया जाय—

"यह सच है कि प्रगति की भावना के साथ हमें चलना चाहिए; लेकिन जो कुछ भी सफलतायें हम प्राप्त करना चाहे, यह आवश्यक है कि वे भारतीय इतिहास और आदर्शों की परम्पराओं के अनुसार ही हों। जैसे कि भारतवर्ष अपने हिमालय, सिन्धु और गंगा के बिना सच्चा भारत नहीं हो सकता, उसी प्रकार वर्तमान सन्तति भी उन विशेषताओं के बिना हर्गिज देश के प्रति सच्ची नहीं हो सकती, जो कि भारतीय नारीत्व के सर्वोत्तम गुण हैं।"

आपने हमारी बहनो के प्रकृतिवादी और राष्ट्रवादी (Natural and National) होने पर ज़ोर दिया है, जिसका आशय स्वर्गीय केशवचन्द्रसेन के शब्दों में है—'पृथ्वी पर परमेश्वर का निवासस्थान बनाने वाले इस विस्तृत संयुक्त परिवार के वक्षःस्थल में रहना।' महारानी का कहना है—"बहनो! आज हमारे सामने एक महान् कार्य है। हमें अपने आन्दोलन को सम्पूर्णतया स्वाभाविक और साथ ही राष्ट्रीय भी बनाये रखना है। हमें प्रगति करना है, पर देश और अपने आपके प्रति सच्चे रहकर। हमें अन्य राष्ट्रों से सबक सीखना है, पर अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए। आइए हम सेवा के लिए अपने आपको अर्पण करें और भारत में परमात्मा के पुण्यधाम की रचना करें!"

आशा है, हमारी भारतीय बहनें इस सच्ची सलाह पर पूरा-पूरा ध्यान देंगी और अपना अमल-दरामद इसी के अनुसार रक्खेंगी।

मुकुट

वतन के वास्ते

क्या हुआ गर मर गये अपने वतन के वास्ते।
बुलबुलें कुर्बान होती हैं चमन के वास्ते ॥
तर्स आता है तुम्हारे हाल पै ऐ हिन्दियो !
ग़ैर के मोहताज हो अपने कफन के वास्ते ॥
देखते हैं आज जिसको शाद है, आज़ाद है।
क्या तुम्हीं पैदा हुए रंजो मुहिन के वास्ते ॥
दर्द से अब बिलबिलाने का ज़माना हो चुका।
फिक्र करनी चाहिए मर्ज़े कुहिन के वास्ते ॥
हिन्दुओं को चाहिए अब क़स्द काबे का करें।
और फिर मुस्लिम बढ़ें गंगो जमन के वास्ते ॥

रामचरणलाल शर्मा



आह्वान

"साहसवान बनो। स्वतन्त्रता आपके लिए हर समय विचारने की चीज़ हो। भारत के बच्चे और बच्चियाँ एक स्थान पर खड़े होकर समानता और मातृ-प्रेम को युद्ध की आवाज बनावें। आगे की ओर बिना आलस किये, बिना थकावट का अनुभव किये, और निर्भय होकर बढ़ो। अपनी सारी शक्तियाँ लगा दो। भारत के भविष्य को चमका दो। विशाल भारत को कला-विज्ञान मे, अर्थात् सब प्रकार से, एक शक्तिशाली राष्ट्र बना दो। भारत हिन्दमहासागर का स्वामी हो। फिर एक बार यह संसार के गुरुदेव के आसन पर विराजमान हो।"

जतीन्द्रमोहनसेन गुप्त
(स्वागताध्यक्ष, कलकत्ता-कांग्रेस)

आत्म-सम्मान का सिद्धान्त

मानवता एक है। दूसरे गंभीर अर्थ में मानवता का इतिहास भी एक है, और एक है उसकी स्वतन्त्रता का इतिहास। स्वातन्त्र्य का ससारव्यापी आन्दोलन एक है। भारत की भावी स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे मेरा दृढ़ विश्वास मानवता के स्वतन्त्रता-संग्राम पर टिका हुआ है और मेरा विश्वास है कि जबतक भारत स्वाधीन नही होता मानवता भी स्वतन्त्र न होगी। लेकिन इस समय मैं इस विषय पर विचार नहीं करूँगा। इस अवसर पर तो मैं आप लोगों के सामने एक विचार उपस्थित करना चाहता हूँ। जिस तरह मानवता एक है, उसी तरह ससार के मनुष्यों के धर्म का इतिहास भी एक है। आपको पता चलेगा कि मानव-जाति के महान अवसरों पर महान् आत्मायें एकसाथ अवतरित होती रही हैं। इसी कारण, विश्व कभी भी महान् विभूतियो के नेतृत्व से, उनके मार्ग-दर्शन से वचित नही रहा। इस शांत प्रभात मे मेरे विचार उस काल की यात्रा में तल्लीन हैं, जिसका सम्बन्ध हम ईसा के पूर्व छठी शताब्दी से जोड़ते हैं। वह छठी शताब्दी, जो मानवता के विकास की एक महान् सन्धि थी। उस समय विश्व के तीन विभिन्न भागों में तीन महापुरुषो ने अवतार लिया। एक भारत में प्रकट हुआ, वह महान् और था लाखों आज भी उसकी महानता की पूजा करते हैं। उसका नाम गौतम बुद्ध था। इसी शताब्दी में चीन के क्षितिज पर महर्षि कन्फ्यूशस का उदय हुआ और

यूनान में सुकरात ने अवतार लिया। तीनों आत्म-ज्ञान, आत्म-बोध और आत्मानुभव के प्रतीक थे। तीनों योगज्ञान और बुद्धि की प्रकाशमयी प्रतिमा थे। आज मैं कन्फ्युशस और सुकरात का जिक्र न करूँगा। इस समय केवल बुद्ध के सम्बन्ध में दो बातें कहूँगा। यह भारत मे जन्मे और उनके जीवन मे एक आश्चर्यकारक ज्योति जगमगा उठी। उनका जीवन सौरभपूर्ण था—हाँ, कमल के सौरभ से भी अधिक सुवासित था। उनका जीवन सौन्दर्यमय था। उन्होंने आश्चर्यजनक सत्य सिखाये। धर्म का महान् सन्देश लेकर वह आये थे। उन्होने कहा—"खून बहाने और अन्ध रूढ़ियाँ (पूजा-पाठ) पालने से तुम्हें मुक्ति नहीं मिलेगी।" हमारा यह विचार गलत है कि देवताओं की खुशामद करने से हमारे पाप छूट जायँगे। खुशामद धर्म नहीं हो सकती। अगर हम सचमुच सत्य की गवेषणा में हैं, तो हमे धर्म का पालन करना चाहिए और, धर्म क्या है? वह जो "धारण करता है"—जीवन का नियामक सिद्धान्त। धर्म का मार्ग संन्यासियो का मार्ग नहीं है। सात वर्षों की लम्बी तपस्या, समाधि और कष्टों के बाद जब बुद्ध वन-प्रान्त से जनपद में आये, लोगों ने उनसे पूछा—"स्वामिन! हमारे लिए कौन-सा मार्ग उचित है?" बुद्ध ने कहा—"मैं संन्यास-जीवन का उपदेश न दूँगा, शरीर को कष्ट देने से तुम्हे मुक्ति न मिलेगी। हमीने भ्रम से धर्म को अन्ध-विश्वासों, मतों, सम्प्रदायो और संन्यास-जीवन का रूप दे दिया है।" तथागत ने फिर कहा—"दोनों पराकाष्ठाओं को छोड़ो। एक कठोर तपस्या की पराकाष्ठा का जीवन है और दूसरा भाग विलास-की पराकाष्ठा का। इन दोनों को जाने दो।" इस तरह वह महात्मन अपना सन्देश लोक-समूह के अन्तरतम तक पहुँचाता हुआ जगह-जगह पर्यटन करता रहा। लेकिन इस समय उन महापुरुष के सन्देश विस्तारपूर्वक सुनाने के लिए मेरे पास समय नहीं है। हाँ, उनके जीवन का एक सुन्दर चित्र है, जिसे आज मैं आपके हृदयों पर अंकित कर देना चाहता हूँ। ८० वर्ष की उम्र में बुद्ध अपनी मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए हैं। स्थूल-शरीर मरणशील है। अमर भी स्थूल-शरीर का त्याग करते हैं—हमारे अमर महात्मा बुद्ध भी रोगशय्या पर पड़े हुए हैं। उनके मर्त्य जीवन का वह आखिरी दिन है। वह चारों ओर अपने अनेक शिष्यों से घिरे हुए हैं। वे जानते हैं—महात्मा बुद्ध शीघ्र ही महा-प्रयाण करेंगे, इसी-लिए वे आँसू बहा रहे हैं। तथागत का प्यारा आनन्द करुणापूर्ण आक्रोश कर रहा है। वह बुद्ध के निकट-सम्पर्क में रह चुका है। महान् पुरुषो की भाति बुद्ध के हृदय में भी आनन्द के प्रति निःसीम स्नेह है। महान् विभूतियाँ एकदम संन्यासी नहीं होतीं। ईसा को देखो, वह सन्यासी नहीं था। यह बाल-ब्रह्मचारी मेरे हृदय का प्यारा, आश्चर्यजनक रूप में पवित्र और प्रेममय था। ये महापुरुष अपने शिष्यों से अनन्य प्रेम करते हैं। ईसा जोन पर प्रेम करता था और कहा जाता है कि जोन माता की गोद के समान ईसा की गोद में लेटा करता था। बुद्ध ने भी आनन्द पर मातृनिर्विशेष वात्सल्य बर-साया था। एक बार तथागत आनन्द से मिले और उससे कहा—"तुम मेरे साथ नहीं चलोगे?" उस दिन से लेकर अन्तिम दिन तक आनन्द ने तथागत की अनन्य सेवा की। अपने गाँव-गाँव और नगर-नगर के भ्रमण में बुद्ध और आनन्द एक साथ दीख पड़ते थे। दोनों, वर्षों तक, एक साथ रहे हैं। इसी कारण बुद्ध के बीमार पड़ने पर आनन्द अपने आँसू नहीं रोक सकता था। उसने अश्रुपूर्ण नेत्रों से

कहा—"स्वामिन् ! आप जा रहे हैं। आपके बिना मैं किस तरह रहूँगा ? आप मुझे अपने साथ लेकर जगह-जगह घूमे हैं, आपने मुझ पर अपार आशीर्वादों की वर्षा की है, रात-दिन मैं आपके साथ रहा हूँ, आपने अपने बालक की तरह मेरी चिन्ता की है। आपने मुझे माता के कोमल प्रेम से सींचा है। मुझे और हम सबको छोड़कर आप जा रहे हैं।" मानव-जाति के इतिहास में यह एक अत्यन्त हृदय द्रावक दृश्य था। आनन्द रो रहा है, लेकिन बुद्ध शान्त हैं-अविचलित हैं। बुद्ध ने आनन्द से कहा—"मेरे प्यारे, रोओ मत।" और, एक सच्चे शिष्य की भांति, आनन्द अपने मन से कहने लगा—"मुझे स्वामी की आज्ञा पालनी चाहिए, वह कहते हैं मैं न रोऊँ।" वह अपने आँसू सुखाकर, आत्म-संयम के साथ, तथागत के पास बैठ जाता है। और कहता है-"स्वामिन् ! आप प्रयाण कर रहे हैं, हमे अन्तिम सन्देश देते जाइए।" तथागत ने कहा—"तुम अपने प्रदीप आप बनो।" इस अन्तिम सन्देश मे तथागत ने *आत्मबोध* के एक महान् सिद्धान्त का सुन्दर विवेचन किया है। धर्म का संगीत-प्रार्थनाओं और भावुक क्रियाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म विज्ञान है, और विज्ञान सिद्धान्तों का समूह है। धर्म भी सिद्धान्तों का समूह है। धर्म जीवन के नियामक सिद्धान्तों का विज्ञान है। जीवन का एक सिद्धान्त तथागत के अन्तिम सन्देश में समाविष्ट है। क्या मैं उसे आत्म-सम्मान का सिद्धान्त न कहूँ ? जो मनुष्य अपना सम्मान करता है, वह धार्मिक है। आत्म-सम्मान का मतलब शरीर और मन का सम्मान है। अपने शरीरों का निर्माण करो, उन्हें सुदृढ़ और पवित्र बनाओ। भारत दुःखी हुआ, इसलिए कि उसने सुदीर्घ काल तक भौतिकता का निरादर किया। शरीर आत्मा का आधार है ! मैं चाहता हूँ, मेरे प्यारे नौजवानो ! तुम अपने साथ महा-विद्यालयों, गाँवों और नगरों में आत्म-सम्मान के इस सन्देश को ले जाओ। अपने शरीर सशक्त और पवित्र रक्खो। शरीर आत्मदेव का मन्दिर है। अपने मन का भी सम्मान करो—केवल इसलिए कि बहुमत उस ओर है, किसी गन्दी रूढ़ि के गुलाम मत बनो। अन्धानुकरण के मार्ग पर मत दौड़ो। किसी का अनुसरण (नकल) न करो। सबके प्रति सम्मान रक्खो लेकिन अन्तरतम के आत्म-प्रकाश-के इंगितो पर चलना सीखो। "तुम अपने प्रदीप आप बनो !" यही वह सन्देश है, जो भारतीय राजनीति के लिए जरूरी है। भारत की परिस्थिति का सिंहावलोकन कर जाओ। हम क्यो बेभान पड़े हुए हैं ? हमारे अंग-अंग क्यों पराधीनता की पाश मे जकड़े हुए हैं ? हमने अपने राष्ट्र का और अपना सम्मान करना नहीं सीखा। मेरे कुछ मित्र स्वराज्य के लिए इंग्लैंड के किसी दल-विशेष की कृपा या सरकार की रियायतों पर उधार खाये बैठे हैं। स्वाधीनता के लिए किसी पाश्चात्य राष्ट्र की मुँहजोई मत करो। तुम्हारा पराक्रम ही तुम्हे स्वतन्त्रता के निकट खींच लायेगा, तुम अपनी शक्ति के बल पर ही स्वातन्त्र्य-लक्ष्मी का वरण कर सकोगे। स्वाधीनता तभी मिलेगी, जब तुम अपनी शक्ति का विकास करोगे। भारत की समस्या को अर्जियाँ और धारासभाओं के प्रस्ताव हल नहीं कर सकते। स्वाधीनता हृदय की चीज है। मैं तुम्हें पुकारकर कहता हूँ, "अपना सम्मान करो, अपने देश का सम्मान करो, और अपने देश के आदर्शों—भारतीय आदर्शों का सम्मान करो। ऐ भारत ! अपने प्रति सच्चा बन, तू स्वाधीन होगा, तुझे सुख मिलेगा और तेरे साथ सारी दुनिया सुखी होगी।"

टी० एल० वास्वानी

नव-निर्माण कैसे हो ?

हाल ही में साधु टी० एल० वास्वानी ने 'तरुण भारत तथा नव-निर्माण' पर हमारे देश के युवकों के सामने एक भाषण दिया था। उसमें उन्होंने हमारे आदर्श तथा भावी कार्य-क्रम की चर्चा की थी। उसपर 'अमृतबाजार-पत्रिका' ने हाल ही के एक अंक में एक अग्रलेख लिखा है। 'पत्रिका' लिखती है—"साधु वास्वानी ने युवकों को भविष्य का निर्माणकर्ता कहा है। और उनको बताया है कि किस तरह वे अपना चरित्र-गठन करें। साधुजी ने अपने व्याख्यान में पूर्वीय और पश्चिमी सभ्यता के उन आधारभूत सिद्धान्तों की चर्चा की और उनमें जो मूलतः विरोध है उसकी ओर खास तौर से उनका ध्यान आकर्षित किया है। उन्होंने हमारे राष्ट्र के इन नव-विधाताओं को यह भी कहा कि वे नक़ल करना नहीं निर्माण करना सीखें। कोई कारण नहीं कि भारतीय युवक-आन्दोलन अपना संगठन यूरोप के युवक-आन्दोलन के ढंग पर करे। यूरोपीय सभ्यता मे एक ऐसी प्रवृत्ति है, जिससे प्रत्येक संघ अपने आपको दूसरे से पृथक् समझता है। हमे इस वृत्ति से दूर रहना चाहिए। और हमें तो मानव-जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को, यह समझ कर कि प्रत्येक सम्पूर्ण है और उसका दूसरी प्रवृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है, एक दूसरे से पृथक् करने की गलती नहीं करनी चाहिए। मतलब यह कि धर्म और राजनीति तथा मनुष्य की अन्य स्वाभाविक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों को पृथक् करने की जो चाल चल पड़ी है उसके विरुद्ध साधुजी ने बड़े जोरों से आवाज उठाई है। पिछले दिनों जो अनिष्ट घटनायें हुई हैं उनका कारण धर्म नहीं बल्कि उन लोगों की मानसिक संकीर्णता है, जो धर्म को जानते ही नहीं। वास्वानीजी का भाषण भारतीय संस्कृति के आदर्शों का विशदीकरण है, इसलिए वह अत्यन्त उपयुक्त है। हमारे लिए उसका महत्व इस समय तो और भी ज्यादा है, जब कि हम विचारों की उलझनों के कारण सर्व-सामान्य ध्येयों से दूर भटके जा रहे हैं।"

हाल ही में मगलोर के युवक और वहाँ के भारत युवक-संघ के कार्य और महत्वाकांक्षाओं की चर्चा करने वाला "देशबन्धु" नामक एक पत्र वहाँ से प्रकाशित हुआ है। उसके सम्पादक द्वारा लिखे एक पत्र का उत्तर देते हुए वास्वानीजी ने जो विचार प्रकट किये हैं, वे भी इस सिलसिले में महत्वपूर्ण हैं। वह लिखते हैं—"राजनीति, समाज-सुधार, शिक्षा, अर्थशास्त्र, उद्योग और धर्म आदि आधुनिक भारत के राष्ट्रीय जीवन के तमाम अंगों में जिस बात की सबसे बड़ी आवश्यकता है, वह है ईश्वर-निष्ठा। और यही आधुनिक ससार की भी आवश्यकता है।" इसी प्रकार 'इण्डियन रिव्यू' के एक ताजा अंक में 'भारतीय शिक्षा का तत्त्वज्ञान' शीर्षक लेख में वास्वानीजी लिखते हैं—"शिक्षा मानव-जीवन का सबसे बड़ा प्रश्न है। शिक्षा के मानी हैं आत्मा को सुसंस्कृत करना। शिक्षा के इस उद्देश को आधुनिक पाठशालाओं में बड़ी उपेक्षा हो रही है। प्राचीन भारत ने इस सत्य को जान लिया था कि प्रत्येक विद्यार्थी एक आत्मा है। और वह पूर्व-जन्मों के संस्कार लेकर आता है। इसलिए विद्यार्थियों के विकास में सहायक होने के लिए शिक्षक के अन्दर एक नैतिक शक्ति और आध्यात्मिक वृत्ति होनी चाहिए, जिससे वह सद्ज्ञान को प्राप्त कर सके। भारत के प्राचीन आश्रमों में इसी तत्त्व को ध्यान में रखकर शिक्षा दी जाती थी। विश्व की एकता और चराचर सृष्टि में वही आत्मा निवास करती है। यह उनकी शिक्षा का मध्यवर्ती दृष्टिबिन्दु था।

आज यदि हमारा जीवन हीन है, तो उसका कारण केवल यही है कि हमारी शिक्षा भारतीय आदर्शों से बिछुड़ गई है। हमारे पास संगठन है। शिक्षा के लिए सुसंचालित संस्थायें हैं। पर उनमें आत्मा कहाँ है? हमारे विद्यार्थियों को विज्ञान और अच्छे नागरिक होने के गुण सिखाये जाते हैं। लेकिन उनमें से ऐसे कितने विद्यार्थी होंगे, जो किसी महान् विपत्ति के समय भी दृढ़ रहेंगे? उनमें ऐसे कितने लोग हैं, जिनके अन्दर अपने देश के प्रति ऐसा सच्चा प्रेम हो, जिससे वे विदेशियों के प्रति द्वेष या उन्हें हानि पहुँचाने के विचार को भी अपने हृदय में बिना स्थान दिये मातृ-भूमि की सेवा कर सकते हों? यदि भारत अपनी शिक्षा में आश्रम-जीवन के आध्यात्मिक आदर्शों को तथा आधुनिक विज्ञान के गहरे रहस्य को समझ ले और उसे अपने जीवन में परिणत कर दे, तो वह एक बार फिर सारे संसार को भव्य बना सकता है। तब यूरोप के विश्व विद्यालय भारत के ऋषियों के प्रति अपना आदर-भाव प्रकट करेंगे और भारत एक बार फिर अपने पुराने संदेश को लेकर दूसरे राष्ट्रों के पास जा सकता है।"

भारत-युवक-सघ के हृदय में आधुनिक विज्ञान के प्रति सम्पूर्ण आदर है, पर वह अर्वाचीन सभ्यता के भ्रम तथा निरर्थक बातों को अस्वीकार करता है। इनमें से एक भ्रम वही धर्म का विरोध करने वाली वृत्ति है। भारत के ऋषियों ने आत्मा के मूल्य को जान लिया है, और यह उन ऋषियों के प्रति अपना अगाध आदर प्रकट करता है। और इस राष्ट्र के नवयुवकों को आह्वान करता है कि वे भारत का नव-निर्माण पश्चिमी सभ्यता की नक़ल करके नहीं बल्कि भारतवर्ष की प्रतिभा और उसके जीवनादर्शों को सामने रखकर करें।

आनन्द स्वामी

जीवन का लक्ष्य

शैशव और किशोरावस्था के बिदा होने पर, विद्यार्थी जीवन के अन्त में, हम जीवन के कर्मक्षेत्र पर अग्रसर होते हैं। उस समय हमें अपने-अपने जीवन का लक्ष्य ठीक-ठीक निश्चित कर लेना पड़ता है। जो मनुष्य लक्ष्य स्थिर किये बिना ही कर्मक्षेत्र में चला आता है, वह आँखों के होते हुए भी सूर है, उसे अंधे ही के समान इधर उधर भटकना पड़ता है। लक्ष्य-हीन जीवन शैवाल-जाल के समान है, जो अपनी उलझन में जल-तल पर इधर-उधर निरुद्देश तैरता रहता है। अथवा, वह जीवन उस नाव के समान है, जिसकी यात्रा का कोई स्थान नहीं। बहुत-से लोग इस प्रतीक्षा में लक्ष्य-हीन बैठे रहते हैं कि जब अनुकूल समय आवेगा तब वह स्वत हमें किसी महत्वपूर्ण दिशा की ओर ले जायगा। किन्तु, उस नाविक के लिए, जो अपना गंतव्य स्थान स्वयं निश्चित नहीं करता, कभी अनुकूल वायु नहीं मिलती।

कभी-कभी आकस्मिक घटनायें भी हमारे जीवन का लक्ष्य निश्चित कर देती हैं। ऐसी घटनायें प्राय सभी के जीवन में संघटित होती हैं, परन्तु उनका मर्म शायद ही कोई समझ पाता है। उसे समझना भी भाग्यवान होना है। गोस्वामी तुलसीदास को विषयांध होकर जिस आकस्मिक घटना का सामना करना पड़ा, और पत्नी-द्वारा कटुशब्दों में जो ज्ञान मिला, उससे उनकी जीवन-धारा कहाँ से-कहाँ चली गई? भगवान् बुद्ध ने एक जख्मी बैल को दर्द और चोट से पीड़ित देख कर जो ज्ञान पाया, जीवन का जो लक्ष्य बनाया, उससे सभी परिचित हैं। ऐसी घटनायें हम नित्य अपनी आँखों देखते हैं। किन्तु हमारी ऐसी समझ कहाँ, जो उनका सदुपयोग करे?

आप अपने अंत.करण से पूछिए—आप अपने जीवन में क्या किया चाहते हैं, क्या बना चाहते है? जो उत्तर मिले, वही आपका लक्ष्य होना चाहिए। उस लक्ष्य को समझ लेने पर अपना सम्पूर्ण उत्साह, बल, बुद्धि, प्रतिभा और जीवन उत्सर्ग कर देना चाहिए। एक अनुभवी लेखक का कथन है कि "किसी कार्य को आरम्भ करने से पहले मैं

भली-भाँति समझ लेता हूँ कि वह कार्य-रूप में परिणत किया जा सकता है या नहीं, तब मैं उसे पूरा करने में कोई बात उठा नहीं रखता। मेरी सारी सफलता का मूल नियम यही है।" ऐसा ही विचारशील अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित करने वालों को भी होना चाहिए। आप प्राण-पन से अपनी लक्ष्य-सिद्धि में लग जाइए। पर्वाह नहीं, यदि आप मरते दम तक सफल-मनोरथ न हों, आपकी यह दृढ़ प्रेरणा आपकी सन्तानों की नसों में संचरित होकर आपकी अन्तरात्मा को निश्चय शान्ति देगी।

लक्ष्य-पथ पर जाते समय हममें पूरी एकाग्रता होनी चाहिए। ठीक वैसी ही एकाग्रता, जैसी अर्जुन की उस लक्ष्य वेध में थी—जिसमें वह अपने सामने सिर्फ पक्षी ही देखता था। एक लेखक का उपदेश है—"कभी कल्पनाओं और कोरी बातों के गोरखधन्धे में मत पड़ो। एक उपाय सोचो, एक लक्ष्य सामने रख लो, फिर उसपर कार्य करो और उस विषय की सम्पूर्ण सामग्री एकत्र कर लो; अवश्यमेव विजय और सफलता तुम्हारी है।" इस उपदेश के अनुकूल आचरण करना तभी सभव है, जब हममें पूरी एकाग्रता हो। एकाग्रता केवल ध्यान ही की नहीं चाहिए। अपनी सम्पूर्ण क्षमताओं को एक ओर प्रेरित कर देने का नाम भी एकाग्रता है। जिस काम में हम अपना सम्पूर्ण शरीर लगा सकते हैं, उसमें सिर्फ एक हाथ लगाना सफलता के इच्छुकों के लिए उपहासास्पद है। यदि हम तन-मन-धन तथा मनसा-वाचा-कर्मणा से एकाग्र होकर ही लक्ष्य-पथ की ओर अग्रसर हों, तो हम अभीष्ट सीमा पर वैसी ही आसानी से पहुँचेंगे, जैसे तागा सूई के पार। हमें अपनी एकाग्रता को लक्ष्य की सीध में उसी प्रकार रखना चाहिए, जैसे चुम्बक की सुई ध्रुवतारा की ओर रहती है।

लक्ष्य-पथ पर जाते समय हमें अपने छोटे-बड़े उन सभी दूषणों को छोड़ना होगा, जो हमारी इष्ट-सिद्धि के लिए बाधक हों। उन दूषणों को छोड़ने में आपको कष्ट होगा, किन्तु यह कष्ट तो आपका एक व्यसन-मात्र है। इसमें ग्रस्त न होने में ही तो आपकी बुद्धिमानी है। यह तो कुछ नहीं, पग-पग पर न-जाने कितनी वास्तविक कठिनाइयों का कष्ट आपको उठाना पड़ेगा। यदि आप चूकते हैं, तो अकर्मण्य हैं। इससे अच्छा तो यही है कि आप हाथ-पर-हाथ रक्खे सड़क के किसी एक कोने में पड़े रहें, और प्रत्येक पथिक आप पर हँसता हुआ, आपकी बदनसीबी को चिढ़ाता हुआ, चला जाय। आप जो लक्ष्य अपने सामने रखते हैं, उसके मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को भी अपने सामने रख लें। इतने पर भी आपमें वहाँ तक जाने का उत्साह और प्रेरणा रहे, तो खुशी से आगे बढ़िए।

जीवन का लक्ष्य वह सबसे आखिरी स्टेशन है, जहाँ पहुँचकर हम अपने अभिलषित को पाते हैं, और जब लक्ष्य स्थिर करते हैं, तो वह प्रारम्भ पहला स्टेशन है। क्या आप यह पसन्द करेंगे कि भूल से ऐसे स्टेशन पर पहुँच जायँ, जहाँ आपको फिर पीछे लौटने की जरूरत पड़े? इसीलिए लक्ष्य स्थिर करते समय खूब सोच-समझ से काम लेना चाहिए। इसीमें आपकी उत्कट योग्यता और बुद्धिमत्ता की परीक्षा है।

अपना लक्ष्य स्थिर करने में आपको अपना सहायक आप होना पड़ेगा। क्योंकि, अपनी योग्यता और क्षमता को जितना आप समझ सकेंगे उतना कोई और नहीं। जितने लोग उतनी हो रायें। किन्तु क्या बनना होगा, इसका ठीक-ठीक निर्णय तो आप स्वयं ही कर सकते हैं। इस निर्णय के योग्य आपकी बुद्धि भी परपक्व हो जानी चाहिए, ताकि अपना आगा-पीछा और दीन-दुनिया को आप समझ सकें। हमारा विद्यार्थी-जीवन वस्तुतः इसी समझ की तैयारी के लिए है; पर, वह तो आजकल सिर्फ नौकरी करने की तैयारी-भर रह गया है!

अक्सर देखा जाता है कि माँ-बाप चाहते हैं, मेरा लड़का बड़ा होकर मास्टर बने या अन्य कोई नौकरी करके खूब माल पैदा करे। अपरिपक्व बालक की कोमल मति के सामने वे अपनी ही इच्छाओं से एक जटिल बोझ खड़ा कर देते हैं। इस कारण हम संसार के उन कितने ही होनहार नवयुवकों के उस मौलिक जीवन को नहीं देख पाते, जो अपनी इच्छा और बुद्धि से हमारे सामने न-जाने किस महान् रूप में आते!

हाँ, आगे चलकर जिन बालकों को स्वानुभूति और समझदारी मिलती है, वे माता-पिता के इच्छित छोटे-बड़े

साँचे में न ढलकर अपनी महान् व्यापक इच्छाओं के अनुकूल लक्ष्य बनाते हैं। एक उदाहरण लीजिए। किसी बालक के माँ-बाप की इच्छा है कि वह पढ़-लिखकर अपनी ज़मींदारी का काम सम्हाले। वे उसकी सम्पूर्ण ज़िन्दगी की सफलता इसीमें देखते हैं। किन्तु बड़ा होने पर बालक की तबीयत ज़मींदारी में नहीं लगती। माता-पिता अपनी इच्छानुकूल बनाने के लिए, उसे गृहस्थी के जूए में जोत देते हैं। किन्तु, वह, ऐसा न होने देने के लिए, एक दिन भाग निकलता है। वर्षों बाद हम एक तपस्वी ब्रह्मचारी को दीन-दुखियों की सेवा करते, ग़रीबों की झोंपड़ी में महात्मा की तरह पूजित होते, देखते हैं। यह कौन है? —वही नवयुवक!

मैं अन्य देशों की बात नहीं जानता, किन्तु वर्तमान भारतवर्ष के अधिकांश माता-पिता, संसार की विस्तृत सीमा से अपरिचित और अशिक्षित होने के कारण, अपनी संकुचित अभिलाषाओं से, होनहार बालकों की जीवनोन्नति में बाधक ही होते हैं। ऐसे समझदार माता-पिता या भाई-बन्धु शायद ही मिलें, जो बालकों की मनोवृत्तियों के विकास पर ध्यान देते हुए, बड़े होने पर, उनके अनुकूल लक्ष्य के लिए प्रोत्साहन और साधन देते हों। यदि वे ऐसा करें, तो उनका बड़प्पन सार्थक हो जाय।

इन छोटे-छोटे पौधों के सामने, सीखने के लिए बृहत् क्षेत्र होना चाहिए। एक देहाती बालक जबतक कि वह अपनी तहसील के मिडल स्कूल में पढ़ता था, चाहता था कि मैं हिन्दी स्कूलों का इन्सपेक्टर बनूँ। क्यों? इसीलिए कि उसके सामने उस लघु क्षेत्र में इसके अतिरिक्त और कोई महत् आदर्श न था। किन्तु, जब वह बड़ा हुआ, देहात से शहर में आया, तब हजारों लोगों के रंग ढंग उसकी आँखों के सामने गुज़रने लगे। तरह-तरह के लोगों के साथ उठते-बैठते, उनके विचारों को सुनते, बड़े-बड़े नेताओं के भाषणों से लाभ उठाते, एवं उन्नत आत्माओं के जीवन का अध्ययन करते हुए, उसका लक्ष्य बदल गया। उसने मुझसे कहा—भाई, मैं तो अपनी शिक्षा समाप्त कर किसानों का सेवक बनूँगा। एक आदर्श कृषि-शाला खोलूँगा और उसके द्वारा किसानों की उन्नति करने में जीवन लगा दूँगा। हम-तुम दोनों मिलकर उस कृषिशाला की नींव डालेंगे। मैंने उत्साहित करते हुए कहा—ज़रूर-ज़रूर!

लक्ष्य पर मर-मिटने के लिए तैयार होनेवालों को कुछ प्रोत्साहन की भी जरूरत है न? पर, लोगों में उत्साह देने की भी कृपणता दिखाई पड़ती है। उत्साह तो उगते हुए अंकुर को जल देने के समान है, जलदान देकर आप उसकी प्रत्येक नस में अपने प्रति कृतज्ञ भाव पावेंगे। वह अंकुर एक दिन अपने उन्नत रूप में, परमात्मा के सामने, आपके उस पुण्य कर्त्तव्य का प्रतिनिधि रहेगा। फिर, यह कृपणता क्यों?

यथोचित उत्साह न मिलने से, कितने ही नवयुवक बीच रास्ते में ही रह जाते हैं। समझ में नहीं आता कि लोग उन्हें उत्साह नहीं दे सकते, तो फिर हतोत्साह क्यों करते हैं—बचा-बचाया उत्साह व्यर्थ क्यों छीनते हैं? दूसरों के पथ में रोड़े अटकानेवालों की संसार में सर्वत्र भरमार है। हमारा कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि उनके रोड़ों को अपने सबल पैरों से गेंद की तरह लुढ़काते हुए, उनकी तरफ़ बिना देखे ही, आगे बढ़ते चले जायँ।

और एक बात यह भी तो है—किसी के अनुत्साहित करने से हतोत्साह होना ही क्यों? हमारा हतोत्साह होना ही बतलाता है कि हमने या तो अपने लक्ष्य के महत्त्व को नहीं समझ पाया है, अथवा हमे अपनी क्षमता पर विश्वास नहीं है। भाई, यह कैसा अविश्वास! अविश्वास तो अकर्मण्य लोगों के अन्धकार में ढकेलने वाला है। जो दृढ़-निश्चयी है और अपने कर्तव्य की महत्ता को भली-भाँति समझता है, उसके मन में यह अविश्वास स्वप्न में भी नहीं आता। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक जब छात्रावस्था में थे, तब उनकी यह दृढ़ प्रेरणा हुई कि किसी तरह अमेरिका पहुँचकर वहाँ शिक्षा प्राप्त करूँ। अमेरिका जाने के लिए काफ़ी धन चाहिए और काफ़ी साहस। स्वामीजी ने अपना यह इरादा दो-एक मित्रों को सुनाया। उन्होंने स्वामीजी की बात को दूर की डींग समझकर हँसी में उड़ा दिया। जब स्वामीजी के माता-पिता और भगिनी ने यह इरादा सुना, तो उनकी हँसी का ठिकाना न रहा। उन्होंने कहा—पागल

हो गये हो क्या, जो ऐसे ख़्वाब में पड़े हो? चारों तरफ से स्वामीजी को निराशा ही निराशा मिली। किन्तु, वह अपने विचार से डिगे नहीं। ग़रीब होते हुए भी वह अपने अदम्य उत्साह के कारण अमेरिका जा ही पहुँचे। वहाँ वर्षों तक मजबूरी करके पढ़ा-लिखा और जो कुछ अनुभव प्राप्त किया उससे अपने भाषणों और ग्रन्थों द्वारा देश को लाभान्वित किया और कर रहे हैं। उनकी पुस्तकें पढ़कर कितने ही नवयुवकों का पौरुष और उत्साह जाग उठता है, और कर्मक्षेत्र में आकर कुछ कर गुज़रने की इच्छा होती है। हमारा उत्साह और निश्चय ऐसा ही दृढ़ होना चाहिए कि दूसरों के निराशा भरे शब्दों से छुईमुई की तरह मुरझा न जायँ, बल्कि दूसरों को भी साहस और प्रगति प्रदान कर सकें।

तरुण-हृदयों को चाहिए कि वे अपने मनोभाव उन्हीके सामने खोलें, जो उनके व्यक्तित्व और लक्ष्य के महत्व को समझ सकें। उनसे उत्साह तो मिलेगा ही, साथ ही हम अपनी मनोवाञ्छाओं को सबके सामने रखकर अपनी जो शक्ति क्षीण करते हैं, उसकी रक्षा होगी। और यदि कोई भी उत्साह नहीं देगा, तो भगवान् तो साथ हैं ही।

अपने जीवन का लक्ष्य ढूँढ़ते समय किसीका अनुकरण न कीजिए। क्योंकि, एक मनुष्य जो लक्ष्य अपने लिए स्थिर करता है वह अपनी ही क्षमता के अनुसार न कि दूसरों की। आजकल हम देखते हैं कि कालेज के जो भी विद्यार्थी निकलते हैं, वे सब एक दूसरे की देखा देखी वकील, बैरिस्टर या डाक्टर बन जाना चाहते हैं। यदि अपने काम में असफलता हुई तो कहते हैं कि मेरी किस्मत ही खोटी है। किंतु खोटी तो उनकी वह धुन है, जो अन्धाधुन्ध बिना समझे-बूझे कुछ कर बैठती है। यह तो स्वाभाविक ही नहीं कि एक ही लक्ष्य के उपयुक्त सभी की मन शक्ति हो जाय। संसार में इतने प्राणियोंके, भिन्न-भिन्न रूप में, उत्पन्न होने का कारण यह है कि हम जीवन के भिन्न-भिन्न ढाँचों को देख सकें, ताकि यह दुनिया हमारे लिए एक प्रदर्शिनी के समान शिक्षाप्रद और मनोरंजक हो।

जिन लोगों में बड़े होने पर भी इतनी बुद्धि नहीं कि वे अपने जीवन का ठीक-ठीक लक्ष्य स्थिर कर सकें, उन्हें चाहिए कि वे अपने आस-पास ऐसे महापुरुषों की तलाश करें, जो उनके जीवन की सूई को उस चिन्हित पथ की ओर लगा दें, जिस लक्ष्य तक पहुँचना उनके लिए अनिवार्य है।

हमारा लक्ष्य ऐसा होना चाहिए, जो हमें निरन्तर उन्नत करता रहे। यदि जीवन का उद्देश्य अवनति करना भी होता, तो हमें दो आँखें खोपड़ी के पीछे भी चमकती मिलतीं। हमें आगे ही बढ़ना है, इसीलिए दृष्टि आगे है। जितने आगे बढ़ सकें, बढ़ना चाहिए। हमारा लक्ष्य दूरतक जाना चाहिए। सुदूरगामी लक्ष्य बनाने से, जो लोग जहाँ के तहाँ रह जाने वाले हैं, वे कुछ तो आगे बढ़ेंगे ही। कुछ न बनने से कुछ बनना तो अच्छा है। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि तीर आकाश को भेदकर पार हो जाय। यदि यह सम्भव न हुआ तो वह कम-से-कम एक ताड़ से ऊँचा तो जायगा ही।

किसी अनुभवी का कथन है—तुम सोचो, वह पाओगे, तुम इच्छा करो, वह तुम्हारी होगी। स्वामी रामतीर्थ भी कहा करते थे कि जो तुम इच्छा करोगे, वह अवश्य पूरी होगी यदि वह तुम्हारे अन्तःकरण से उठी हो। इच्छा ही हमारे लक्ष्य की सीमा बनाती है। जितनी महान् या बलवती हमारी इच्छा होगी, वह वैसी ही गति से हमें लक्ष्य की ओर अग्रसर करेगी। इच्छा तो जीवन के एंजिन को चलाने वाली भाफ है, जितनी ही उसमें शक्ति होगी, वह उतनी ही दूर जिन्दगी को ले जायगी—और, वह जहाँ तक पहुँचा देती है वहीं तक हमारा लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। लोग कहते हैं कि हम जो इच्छा करें वह प्राप्त हो, पर यह अनहोनी बात है। हाँ, जो इच्छा हमारे अन्तःकरण में बिजली की तरह उठती है, वह अपनी पूर्ति के लिए हमें इतना प्रयत्नशील बना देती है कि हमारा लक्ष्य सफल होकर ही रहता है।

अन्त में यही कहना है—

जिस पथ का अवलम्बन करके
हुए महज्जन स्मरणीय,
उसी मार्ग को लक्ष्य बनाकर
हो सकते तुम भी वरणीय।

शांतिप्रिय द्विवेदी

———

साहित्य-संगीत-कला

अरुणोदय

(१)

रात अभी धुँधलाई हुई थी, तारीकी-सी छाई हुई थी,
लैलिए शब शर्माई हुई थी, तारों को नींद आई हुई थी,
नूरे सेहर उनवाने शफ़क़ था।
फीके चाँद का चेहरा फ़क़ था॥

(२)

महो थीं ख़ाबे नाज़ में कलियाँ, थीं ख़ामोश फ़िज़ाये बुस्ताँ,
चश्मों की आँखें थी लरज़ा, दुनिया थी जुलमाते बदामाँ,
करती थी जब रात इशारा।
हँस देता था सुबह का तारा॥

(३)

ज़र्रों में इक ख़ामोशी थी, सब्ज़े में गफ़लतकोशी थी,
तारी शाने बेहोशी थी, मस्त अदाये रूपोशी थी,
पोशीदा दुनिया थी ऐसे।
बुरक़े में दूल्हन हो जैसे॥

(४)

सुबह के कुछ आसार ऐसे थे, चाँद के जलवे माँद पड़े थे,
बासी फूलों के गहने थे, सोने वाले ऐंड रहे थे,
आँख अभी मस्ताई हुई थी।
जुल्फ़ अभी बिखराई हुई थी॥

(५)

आखिर ख़त्म हुआ यह आलम, शानसे निकला नैयरे आज़म
रोशनतर इक नूरे मुजस्सिम, हाथों में किरनों का परचम,
आँखों को चमकाता निकला।
"भैरों राग" सुनाता निकला॥

(६)

ज़र्रेंये दरपन करने वाला, नज्मे गुलशन करने वाला,
कोह को मादन करने वाला, चाँद को रौशन करने वाला,
दम भर में दुनिया चमका दी।
नूर की इक चादर फैला दी॥

(७)

पहले धरती माता जागी, फिर राजा फिर परजा जागी,
कोयल उट्ठी, मैना जागी, मस्त आँखों में निंदिया जागी,
मस्जिद ने दरवाजे खोले।
मन्दिर जाग उठा, धुन बोले॥

(८)

कमसिन भोले-भाले उट्ठे, नींदों के मतवाले उट्ठे,
तनकर सोने वाले उट्ठे, मुँह पर आँचल डाले उट्ठे,
सखियाँ चल उपमान को उट्ठी।
शलवारें अशनान को उट्ठीं॥

(९)

हर दर जागा, हर घर जागा, नज़रें जागीं, मंज़र जागा,
मैकश शीशा दरबर जागा, साक़ी जागा, 'सागर' जागा,
चश्मे जादूखा जाग उट्ठी।
वह जागे दुनिया जाग उट्ठी॥

समद्‌यारखाँ 'सागर'

स्मृति-चिन्ता

मैं यहाँ हूँ और वह ? वह है पवित्र गंगा-संगम पर। वह कैसे होंगे ? चिन्तित, व्यथित, दुःखित। सामने की दूब वैसी ही हरी-भरी होगी। पौधे वैसे ही खिल रहे होंगे। सबेरे सूर्य वैसे ही उनकी खिड़की में से झांकता होगा और सन्ध्या समय वैसे ही उनको अन्तिम प्रणाम करके चला जाता होगा। सब वैसे ही होंगे, जैसे थे। पर क्या वह भी वैसे ही होंगे ?

क्या किसी का विरह-वेदना बार-बार उनको व्याकुल न कर रही होगी ? क्या उनके जी में रह-रहकर यह प्रबल लालसा न उठती होगी कि 'उनके' केवल 'उनके'—एक बार दर्शन ही हो जायँ। क्या इस जीवन में उनकी, उनकी × × × से और मेरी, पूज्य और पवित्र पदों से, कभी भेंट हो सकता है ?

जिस समय परमात्मा ने पावन आत्मा को उस मणि मन्दिर में से निकाला, उस समय भगवान् भुवन-भास्कर, श्याम-घना से घनघोर युद्ध करते हुए अन्य लोक को चले गये थे।

रजनी थी, रजनीपति नहीं थे और घन सुन्दरियाँ तारिकायें ? वे भी बादल की काली चादर से मुँह ढांपे आँसू टपका रही थीं।

चारों ओर अन्धकार था। ऊपर, नीचे, आगे, पीछे, दायें, बाये। आकाश उड़ता हुआ मालूम पड़ता था। धरा धसकती हुई। कदाचित् कराल-काल के कठोर-कृत्य को देखने में वे असमर्थ थे।

पेड़ थे और पत्ते। सब नीरव, सब निस्तब्ध। पास के पीपल के पत्ते भी 'खर-खर' नहीं कर रहे थे। 'चल-दल' अचल था।

टप-टप बन्द हुई। कठिन कन्धों पर दिव्य देह धरी। श्मशान ले गये। जिस समय मैं यहाँ कांपते हुए करों से कमनीय कलेवर को कठिन काठ पर सदा के लिए स्वाहा कर देने का आयोजन कर रहा था वह वहाँ कैसे थे ? उफ़ कैसा हृदय है मेरा ?

चिता चुनी। 'उनको' उस पर लिटा दिया। वह मिंची हुई आँखें और ललित ललाट। वह अधस्फुटित ओंठ और दमकते हुए दाँत। भान होता था, सौन्दर्य सो गया है; लावण्य मूर्छित हो गया है।

एक सज्जन बोले, 'आभूषण उतार लो।' मैंने प्रश्न किया—'मैं ?' बोले—'हाँ।' संसार की सारी असारता सामने केन्द्रीभूत होकर खड़ी हो गई। सोचा—'सब यहीं रक्खा रह जाता है।' उतारे।

दाह देने की बारी आई। कौन दे ? मुझ अभागे को वह भी करना पड़ा। उस समय अगर वह यहाँ होते ?

तारिकायें फिर व्याकुल होने लगीं। फिर आर्द्र। यदि मुझे मालूम होता कि नटवर के नाटक के इस दिव्य दृश्य का ऐसा कारुणिक यवनिका-पतन होगा तो क्या मैं कभी ऐसे दुःखान्त नाटक को देखने के लिए तैयार होता ?

सबेरा हुआ। ऐसा सबेरा ईश्वर किसी का न करे। सूरज का अब भी पता न था। और उनका ? उन्हें तो कुछ ज्ञात ही न था। तार दिया—'चले आइए।'

तार देने के पश्चात् पत्र मिला। लिखा था—"मैं बड़ा बेचैन हूँ। लिखो या फौरन जवाब दो तो चला आऊँ। अपनी . . की बड़ी सावधानी रखना।"

पत्र पढ़ा। सनाका खिंच गया। हाय अब मैं क्या लिखूँ ? मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ? क्या मुँह दिखाऊँगा ? क्या कहूँगा ? 'वह रही नहीं ?' हाय मैं भी .

सारा दिन इसी उथल-पुथल में बीता। और रात ? रात इतनी लम्बी, इतनी दीर्घ। कुछ जागते, कुछ झपते, कुछ सोचते, कुछ देखते।

फिर प्रातःकाल हुआ। वह आ रहे थे। उस समय उषा एक समस्या हो रही थी। कभी-कभी कोई-कोई कली अब भी चीत्कार कर उठती थी।

सूरज बड़ी शीघ्रता और उत्सुकता से उषा से मिलने के लिए चला आ रहा था। मन में बड़ी-बड़ी आशायें लिये हुए और मग्न। साथ में उसके शृंगार के हेतु 'कुमकुम' भी लिये था। किन्तु ज्योंही वह क्षितिज के ऊपर पहुँचा, उषा तिरोहित थी !

वह भी उत्सुक, व्यग्र और उनको देखने के लिए

लालायित शीघ्रता से चले आ रहे थे। साथ में कुम-कुम की एक शीशी भी थी। उन्हें क्या ख़बर थी कि वह उनका मुँह भी न देख पावेंगे और कुमकुम न जाने कहाँ रक्खा रह जायगा।

मुझे देखते ही बोले "क्या हाल है ?" "बहुत बुरा," मैंने उत्तर दिया। मेरा चेहरा लटक गया। वह समझे, "यद्यपि दशा अच्छी नहीं है, पर जीवन अभी शेष है,।" बोले—"बहुत बुरा कैसा ?"

उन्हें मालूम न था कि मर्ज़ और मरीज दोनों ही दुनिया से उठ गये हैं। मैंने कोई उत्तर न दिया। रो दिया। मेरी दशा देखकर बोले, "यह सब क्या है ?" मैंने रोते हुए उत्तर दिया—"जीवन लीला समाप्त हो गई।" बोले—"एँ !!!"

इस एक शब्द में कितनी व्यथा-भरी शक्ति थी ? कितना कठिन कष्ट था ? कितना दारुण दुःख था ? और साथ ही वीभत्स, आश्चर्य ? मैं तौल न सका।

विस्तृत ललाट पर बल देते हुए बोले—"तब आपने मुझे व्यर्थ ही बुलाया है। अगर साफ़ लिख देते तो कभी न आता।"

बल में विचित्रता थी, स्वर में कठोरता। और हृदय में ?

कुछ उत्तर न दिया। दे न सका। उनके चरणों से लिपट कर रोने लगा। उन्होंने उठाया। सम्हाला। हृदय से लगाया। धधक रहा था। मेरे कंधे पर सर रखकर स्वयं रोने लगे।

पास ही दो गुलाब आपस में मिल रहे थे। पँखड़ी बिखेर रहे थे। क्यों ? पँखड़ी क्यों बिखेर रहे थे ?

मैंने सूक्ष्मता से देखा। एक भौंरा उनके नीचे पड़ा था। उड़ नहीं रहा था। उड़ सकता भी न था। उस समय मन्द-मन्द मारुत झकोरे ले रहा था। निर्जीव, अशक्त। पखड़ियाँ टूटतीं और सीधी भ्रमर पर गिरतीं। वह उनसे ढकता जा रहा था।

मैंने मन में कहा—"भौंरे ! तुम धन्य हो। और पुष्प। तुम हम लोगों से लाख गुने उत्तम।"

वह दृश्य उन्हें नहीं दिखाया। न मालूम क्या हाल होता ? कहा—"इधर से चलिये।" बोले—"क्यों ?" बहाना किया—"जी घबराता है।" बोले—"चलो। मैं भी भस्म-दर्शन करना चाहता हूँ।" मैंने सोचा—"ये इसके अधिकारी हैं।" और उन्हें वहाँ ले गया।

वहाँ अब क्या था ? भस्म और इधर-उधर बिखरी हुई अस्थियाँ। उन्होंने हृदय की हड्डी उठाकर हृदय से लगाई। जहाँ-की-तहाँ रख दी। रोने लगे।

मेरे भी आँसू आने को हुए, रोक लिये। बोला—"अब आप क्यों रोते हैं ?"

आत्मा की अमरता पर गीता के दो एक श्लोक सुनाये; स्वयं रोने लगा। आँसू रुके नहीं। निकल ही पड़े। श्लोकों का उन पर क्या प्रभाव पड़ा होगा ? मुझे मालूम नहीं। पर उनके आँसू बन्द हो गये। पता नहीं श्लोकों के कारण या मेरे आँसुओं के कारण ?

रूमाल से मेरे आँसू पोंछते हुए बोले—"अब आप ही क्यों रोते हैं ? मैं आपको दुःखी नहीं देखना चाहता।" मैंने कहा—"यहाँ से भी चलिये।" बोले—"चलो।"

उन्होंने थोड़ी-सी भस्म उठाई। माथे पर लगानी चाही। वह सब-की-सब खिसककर उनके चरणों में जा पड़ी।

यह क्या हुआ ? क्यों हुआ ? कैसे हुआ ?

उन्होंने फिर उठानी चाही। मैंने रोक दिया। कहा—"जहाँ जाना चाहती थी, गई। स्वर्गीय आत्मा को जिसमें सुख मिले, वही होगा।"

मैंने थोड़ी-सी चरण-भस्म उठाई। अपने माथे पर लगाई। उन्होंने अपने चरणों की ओर देखा। न मालूम आँखों से क्यों एक धारा छूट पड़ी ? बोले—"चलो, चलो, जल्दी चलो, अब यहाँ ठहरा नहीं जाता।"

मेरे कन्धों पर आ पड़े। उनके आँसू पोंछे। दोनों हाथ मेरे गले में डाल दिये। अर्धचेत से हो गये।

उन्हें सम्हालता हुआ घर की ओर बढ़ा। पहुँचा। बोले—"चैन कहाँ मिलेगा ? यहाँ तो कहीं नहीं दिखाई पड़ता।"

"कहाँ मिलेगा ?" देर तक आकाश में गूँजता रहा। किसी ने सुना होगा। फिर वह वहाँ से चल दिये।

और अब वह...?

मुकुल

उपालम्भ

प्रकृति के प्रति

(१)

शैल-शिखर पर मुकुट धार कर
रजत-कान्तिमय हिम का ।
रवि की आभा से आलोकित
उज्ज्वल धवल तुहिन का ॥

(२)

करती हो उपहास देवि ! क्या
निराधार निर्धन का ?
अथवा, मणि-मुक्ता से सज्जित
सुन्दर राज-वदन का ?

(३)

मत करना अभिमान देवि ! तुम
इस अस्थिर वैभव का ।
दो दिन का यह रूप तुम्हारा
यही नियम है भव का ॥

(४)

रौद्र सूर्य के प्रखर ताप से
जब तुषार बह करके ।
प्रकट करेगा नग्न रूप तब,
नयनों में जल भरके ॥

(५)

अश्रुपात-सम जल-प्रपात से
अपने करुण-रुदन में ।
बिलख-बिलख कर किसे कहोगी
मन का भार विपिन में ?

श्रीगोपाल नेवटिया

मराठी-साहित्य की गति

मराठी भाषा के वाङ्मय के क्षेत्र की ओर अग्रसर होते समय पहले साहित्य की कार्य-नियामक संस्था की ओर नजर जाना स्वाभाविक है। कार्य करने के लिए मराठी-साहित्य-सम्मेलन तथा परिषद् की स्थापना हुई, परन्तु कार्य इतने धीरे-धीरे चल रहा था कि उनकी जागृति का भी कोई चिन्ह बीच में दिखाई न देता था। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का कार्य देखकर अब जरा मराठी-साहित्य-सम्मेलन शर्माता हुआ कार्यशील हो रहा है। अबतक इस मध्यवर्ती संस्था के कार्य केवल उपदेशात्मक और अधिकार मर्यादित थे। साहित्य के जीवन में इस संस्था का नाम कभी साल में एकाध बार सुनने में आता था। न कोई इसका अधिकार मानता था, न इससे सलाह पूछता था। इस अकर्मण्यता को दूर करने की सदिच्छा से ग्वालियर में गत वर्ष के साहित्य-सम्मेलन के शुभ अवसर पर एकत्र सज्जनों ने एक अपूर्व प्रस्ताव स्वीकार किया। मराठी के साहित्य-क्षेत्र में एक कार्यशील परिषद् (Royal Academy) स्थापित करके वाङ्मयिक जीवन में नियन्त्रण का अधिकार पूर्ण रूप से इ के अधीन किया जायगा। ग्रन्थ-रचना, खोज, नये विचार फैलाना और साहित्य के चिरस्थायित्व पर ध्यान देना इस संस्था का प्रधान कर्त्तव्य रहेगा। साहित्य में आजतक अंधाधुन्ध फैल रही थी, अब कुछ नियन्त्रण का प्रभाव देखने में आयगा।

प्रकाशित साहित्य के क्षेत्र में भी एक तरह की सजीवता का प्रादुर्भाव होता जा रहा है। परोपजीवी साहित्य अब पहले से अधिक कार्यक्षम, अधिक स्वतन्त्र और सुदृढ़ हो रहा है। स्वतन्त्र साहित्य की उपज अब दिन-दिन बढ़ती जाती है। परोपजीवी साहित्य से ग्रन्थ-संख्या बढ़ती है और स्वतन्त्र साहित्य से वाङ्मय की मर्यादा का पता चलता है। स्वतन्त्र साहित्य भावी उत्कर्ष की ध्वजा है। आशा है कि स्वतन्त्रता के विकास की गति दिन-दिन बढ़ती जायगी। प्रकाशित पुस्तकों में पहले ही लोकमान्य तिलक की जीवनी पर दृष्टि पड़ती है। इसके लेखक प्रसिद्ध नेता श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर हैं। तीन अंश में चरित्र समाप्त हुआ है। इसका हिन्दी अनुवाद भी निकल चुका है। स्वतन्त्र पुस्तकों में श्री वामन मल्हार जोशी कृत विचार-विलास, डॉ० द० जावडेकर का राजनीति-शास्त्र परिचय, अध्यापक लिमये कृत भारती यांच्या शासन पद्धति, कॅ० मोडक-कृत 'प्रतापगढ़चे युद्ध,' श्री फड़के-कृत नवयुग-धर्म इत्यादि पुस्तकें साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। श्री जोशी की अगाध विद्वत्ता का परिचय उनके नीतिशास्त्र-प्रवेश ने अखिल-महाराष्ट्र को दिया है और रसिकता की याद तो 'रागिणी' चिरकाल सबको देती ही रहेगी। आपके कुछ लेख 'त्यागभूमि' में निकल चुके हैं। जावडेकर और लिमये की पुस्तकें मराठी में राजनीतिशास्त्र-विषयक पहली कृतियाँ हैं। ऐतिहासिक रूप में प्रतापगढ़ के युद्ध का वर्णन करके कॅ० मोडक ने राज-काज के एक महत्वपूर्ण अंग की आलोचना की है। आप ग्वालियर सेना के एक अनुभवी सेना-नायक हैं और सेना-नायक की दृष्टि से प्रतापगढ़ के चारों ओर घूमकर, निसर्ग की रचना आँखों से देखकर, आपने श्री शिवाजी महाराज और अफजलखाँ के बीच प्रतापगढ़ के दर्रे में हुए युद्ध का वर्णन किया है। सैनिक बातों पर प्रकाश डालने वाली ऐसी पुस्तक मराठी-साहित्य में पहली है। इन्दौर के श्री केलकर ने तुकाराम महाराज के अभंगों से उनके जीवन की आलोचना करके एक पुस्तक लिखी है, वह भी मननीय है। धार्मिक वाङ्मय में सदाशिव शास्त्री भिडे-कृ रहस्यदीपिका और श्री महादेव शास्त्री दिवेकर कृत ब्राह्मण-धर्म इत्यादि पुस्तकें भी न भूली जायँगी।

ललित वाङ्मय में डा० केतकर कृत आशावादी, देशपांडे लिखित बधनाख्या पलीकडें, 'नवाकाल" के प्रसिद्ध संपादक श्री खाडिलकर कृत सवतीमत्सर, श्री वरेरकर कृत रंकाचें राज्य, अध्यापक बहुरे कृत ५७ साल के बंड इत्यादि पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं। डा० केतकर लिखित आशावादी और देशपांडेजी की बधनाख्या पलीकडें दोनों ही प्रचलित सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार करने वाली पुस्तकें हैं। आशावादी अपने घर के बंधन तोड़कर समाज-कार्य में कटिबद्ध हो जाने से कुछ आदर्श-सा बन गया है, परन्तु बन्धनों से मुक्त होनेवाला नायक सामाजिक बंधन तोड़कर अपनी प्रिया के लिए परिवार को छोड़कर अलग रहने की चेष्टा करता है। आशावादी और इसके बीच में यह ज़मीन-आस्मान का फ़र्क़ है। आशावादी समाज का सहायक है और यह विषय-लालसा का चित्र। भारत जबतक विषयलिप्त-जनों को हीन समझता है तबतक ऐसे लोगों को सामयिक बन्धन के बाहर ही रहना पड़ेगा। काव्य-पुस्तकों में अध्यापक पटवर्धन कृत सुधारक और गिरीशकृत आंबराई पढ़ने योग्य हैं। श्री पटवर्धन सुधारक एवं नये मत के प्रचारक हैं और गिरीश अपनी प्राचीन प्रणाली को न छोड़के भी सामाजिक अत्याचारों के ऊपर गाढ़ प्रकाश डालते हैं। काव्य-शास्त्र में अध्यापक पटवर्धन की छन्दो रचना एक विद्वत्तापूर्ण और संस्कृत 'काव्य-प्रकाश' जैसा नया और स्वतंत्र उपक्रम है।

मासिक पत्रिकाओं में विविधज्ञान विस्तार का महत्व अधिक है। विस्तार के साथ क्रमशः प्रकाशित होने वाले इसके लेखों में 'आमचा गांव' अवश्य मननीय है, वैसे ही दादाबा पांडुरंग का आत्मवृत्त। हमारे पत्रों में या मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले लेख बहुधा अल्पजीवी होते हैं, परन्तु मासिक रत्नाकर में आधुनिक मराठी पोवाडे, सामाजिक सुधारणा और रंगभूमि इत्यादि लेख वास्तव में ऐतिहासिक विवेचना से पूर्ण होने के कारण स्थायित्व प्राप्त कर सकते हैं। मनोरंजन पहले से ही स्त्रीवर्ग के लिए काम कर रहा था, अब गृहलक्ष्मी स्त्रियों के लिए अवतीर्ण हुई है और महत्वपूर्ण कार्य भी

कर रही है। 'लोकशिक्षण' ने अवतार लेकर थोड़े ही दिनों में उच्च पद प्राप्त कर लिया है और उसमें प्रकाशित लेखों को देखकर अनुमान होता है कि इस स्थान से वह च्युत न होगा। किर्लोस्कर खबर ने इधर बहुत तरक्की की है। उसमें प्रकाशित होने वाली सब बातें अनुकरणीय होती हैं। जो आरम्भ में ही व्यंग-चित्र रहता है, उसमें भी कर्तव्य का मार्ग बतलाने वाली कुछ बात रहती है। उस पृष्ठ पर जो अवतरण रहता है वह भी आदर्श होता है। जैसा कि एक अंक के पृष्ठ पर लिखा था—"अपयश का कारण, अवसर ही न मिला यह नहीं होता वरन अवसर पाने पर भी कार्य नहीं किया यह होता है।" इसमें एक दैव और प्रयत्न के सम्बन्ध में लेखमाला महादेव शास्त्री दिवेकर ने लिखा है, जिसमें उन्होंने योगवाशिष्ट और दूसरे संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों में से उदाहरण उद्धृत करके यह साबित किया है कि प्रयत्नवाद ही सर्वथा आदरणीय है। उसमें श्री समर्थ रामदास का यह वचन उद्धृत किया है कि प्रयत्न से भालपट्ट के ऊपर लिखी हुई ब्रह्मा की रेखा भी पोंछी जा सकती है, यह हम सन्देश देखते हैं तो फिर प्रयत्न के सम्बन्ध में टालमटोल करना कैसे उचित हो सकता है, अस्तु।

स० वा० जोशी

पंखड़ियाँ

स्वामी! जब सुनता हूँ कि प्रलय-पयोधर की प्रबल वारि-धारा जगती-तल को आत्मसात् कर लेगी तब मेरा मन ज़रा भी शंकित नहीं होता। मैं सोचता हूँ, भय किसका है? आपके प्रेम-पयोधि में तो मैं प्रथम ही डूब चुका हूँ।

× × ×

देव! तुमको सुमधुर स्वर-लहरी की तान छेड़ कर बुलाऊँ अथवा मौन रखकर भीतर ही भीतर तुम्हारी आर्त्ती उतारा करूँ—इन दोनों में कौन-सा मार्ग चुनूँ?

× × ×

उपासक-वृन्द को जब तेरी अर्चना के लिए विविध द्रव्य लाते देखता हूँ, तो मैं रिक्तहस्त लज्जावनत हो जाता हूँ। क्या मेरे नन्हे हाथ, हृदय का कुम्हलाया फूल लिये तुम्हारे चरणों तक नहीं पहुँच सकते?

विनोदचंद्र

साहित्य की दुनिया में—

महान् लेखकों की जयन्तियाँ

कलकत्ते के सुकवि "गुलाब" ने एक पत्र द्वारा मेरा ध्यान हमारी भाषा के महान् लेखकों की जयन्तियाँ मनाने की ओर आकर्षित किया है। वह शीघ्र ही प्रेमचन्दजी की जयन्ती मनाने की आयोजना भी करना चाहते हैं। प्रेमचन्द जी ने निस्सन्देह हिन्दी की गौरव-वृद्धि की है, उनके द्वारा हिन्दी का सन्देश बहुत दूर तक फैला है। वह हमारे जातीय लेखक हैं और उन्होंने हिन्दी की परिधि में व्यापकता लाने का सफल उद्योग किया है। उनकी कितनी ही रचनाओं के अनुवाद अन्य भाषाओं में हो चुके हैं और बराबर होते जा रहे हैं। यद्यपि अनेक बातों में उनसे मेरा मत-भेद है किन्तु इससे उनकी सेवा का महत्व कम नहीं हो सकता।

प्रेमचन्दजी या अन्य किसी बड़े लेखक के सम्मान में, उसकी सफलता के उपलक्ष में यदि कोई सम्मेलन किया जाय तो उसमें कौन हिन्दी-प्रेमी सम्मिलित न होगा? परन्तु जयन्ती मनाने की प्रथा की यों अपनी कोई उपयोगिता नहीं है। आप किसी को बधाई देते हैं, उसके किसी कार्य में सफलता प्राप्त करने पर अथवा उसके लिए प्रसन्नता का कोई अवसर उपस्थित होने पर, न कि इसलिए कि वह साठ वर्ष का हो गया है या उसकी सत्तरवीं वर्षगाँठ पड़ती है। इसका बड़ा अच्छा चित्र महान् जर्मन कवि, लेखक तथा 'नोबेल'-पुरस्कार-विजेता कार्ल स्पिटलर ने खींचा है—

"आप किसी सज्जन के पास बधाई के लिए पहुँचते हैं। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि बधाई किस बात पर? जब

कोई आदमी अपने प्रयत्न या उद्देश्य में सफल होता है तब उसे बधाई दी जाती है किन्तु एक वार्षिकोत्सव के सम्बन्ध में पूछा जा सकता है कि बेचारे ने क्या चीज, क्या सफलता प्राप्त की ? अपना सत्तरवाँ वर्ष ! यह तो बड़ा ख़राब पुरस्कार हुआ ! यह तो पेट में 'कैन्सर' की उत्पत्ति वा दिमाग की कमजोरी की अवस्था प्राप्त करने की बात हुई !"

जातीय दृष्टि से महान् कवियों, लेखकों एवं महापुरुषों के सम्मान में उत्सव मनाये जा सकते हैं और उन महापुरुषों की ज्योति को जगाये रखने के लिए एक प्रकार से इसकी आवश्यकता भी है पर ऐसे उत्सव सर्व-साधारण के स्वाभाविक और स्वप्रसूत उद्‌गार के द्योतक होने चाहिएं, एक खास तिथि पर ही वे मनाये जाया करें, ऐसा निश्चय बुद्धि और कार्य-क्रम की व्यावहारिक सफलता दोनों दृष्टियों से उपयुक्त और उचित नहीं होगा।

मेरी समझ से प्रेमचन्दजी की जयन्ती की अपेक्षा योंही उनके सम्मान में कोई उत्सव मनाया जाय तो अधिक अच्छा होगा।

❀ ❀ ❀

प्रगतिशील हिन्दी-साहित्य

विश्व के महागान से अपनी एकस्वरता स्थापित करने के उद्देश्य से भारत में जो महायज्ञ हो रहा है, उसने प्रत्येक क्षेत्र में हलचल उत्पन्न कर दी है। हलचल जीवन की प्रतिध्वनि है। समाज में, साहित्य में, राजनीति मे, धर्म में, रहन-सहन मे शिक्षा एवं विचार-जगत् में सर्वत्र क्षुद्र सीमायें कटती जाती हैं, नदी-कूल के करारे धारा की चोट और संघर्ष से अस्थिर हो रहे हैं। लोगों में प्यास उत्पन्न हो गई है—वह प्यास, जो ज्ञान के सम्पूर्ण रहस्यों को समझकर उसे प्राणों में स्थान देने को विकल है।

जीवन के इस धूप-छाँह में साहित्य की प्यास सबसे आगे है। भारत में तो सदैव ही साहित्य ने समाज का नेतृत्व किया है—इस समय भी कर रहा है। हमारी राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षणिक सब प्रकार की वर्तमान वेदनायें उसी से व्यक्त हुई हैं।

वर्तमान हिन्दी-साहित्य पर भी जीवन की इस प्रक्रिया ने बड़ा प्रभाव डाला है। क्षुद्र से महान् की ओर, अपूर्ण से पूर्ण की ओर उसकी गति बढ़ती ही जाती है। चारों ओर पूर्णता लाने की चेष्टा हो रही है। प्यास बढ़ रही है और प्यास के साथ पीने और पिलाने वाले भी बढ़ रहे हैं।

इधर तीन महीनों के अन्दर नये ढंग की कविता ने कोई ख़ास उन्नति तो नहीं की पर मर्यादा बनी रही। सम्पादकों के अनिश्चित सिद्धान्तों और परख की कमी के कारण घास-भूसे से लेकर सुन्दरतम रचनाओं तक को एक ही पत्रिका में एक ही अंक में स्थान मिलता रहा है। राजनैतिक पत्रिकाओं के लिए तो इस प्रकार की कठिनाई एक सीमा तक क्षम्य हो सकती है पर साहित्यिकता का दम भरनेवाली पत्रिकाओं की मर्यादा इससे नष्ट हो रही है। हिन्दी में कोई पत्रिका इस समय, अपनी कविताओं की सुन्दरता के कारण प्रख्यात नहीं है। यह बड़े क्षोभ और दुःख की बात है।

फिर भी पाठकों की रुचि सुधर रही है और उनकी मांग के कारण सम्पादकों को भी कविताओं के निर्वाचन में जरा ध्यान देना पड़ रहा है—यद्यपि इस ध्यान की मात्रामें बहुत कम है। पत्रिकाओं में कभी-कभी अच्छी फुटकर कवितायें पढ़ने को मिल जाती हैं। 'सुधा' में 'एक भारतीय आत्मा' की 'विदा' कविता बहुत सुन्दर निकली। श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री रामअवध द्विवेदी, श्री रामकुमार वर्मा, 'परम', श्री काले तथा श्री श्यामापति की कुछ अच्छी कवितायें निकली हैं। निराला, सुमित्रानन्दन, गोविन्दवल्लभ तथा महादेवी वर्मा की कवितायें इधर देखने में नहीं आईं। पाठक इनसे आशा रखते हैं।

इधर किसी कवि का कोई अच्छा संग्रह नहीं निकला है पर पता लगा है कि 'मधुप' की कविताओं का संग्रह निकलने वाला है और भावुकता के उपासक श्री माखनलाल चतुर्वेदी उसकी भूमिका लिखने वाले हैं। श्री माहेश्वरी सिंह नाम के कोई सज्जन विहार के हिन्दी कवि नाम की एक पुस्तक लिख रहे हैं।

इधर गद्य के क्षेत्र में पद्य की अपेक्षा अधिक उन्नति हुई है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा का 'लगन' उपन्यास हाल में ही निकला है। 'अनाख्या' और 'कलानिधि' नाम से रायकृष्णदास की छोटी कहानियों के दो संग्रह निकल रहे हैं

उधर गम्भीर विषयों पर भी पुस्तकें लिखने का क्रम जारी है। काशी-विद्यापीठ के शास्त्री श्री कमला-पति त्रिपाठी की 'मौर्य साम्राज्य' नामक पुस्तक मनोरंजन-पुस्तक माला में पहले ही प्रकाशित हो चुकी थी, इधर इंडियन प्रेस से गुरुकुल कांगड़ी के अध्यापक श्री सत्यकेतु विद्यालंकार का लिखा हुआ 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' नामक एक सुन्दर और प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसे देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हो चुका है और मैं सहज ही कह सकता हूँ कि इस ग्रन्थ से हिन्दी-साहित्य के एक अभाव की पूर्ति हुई है। ग्रन्थ लगभग ६०० पृष्ठों का है और मूल्य ५) है।

'त्यागभूमि' के पाठकों के सुपरिचित श्री श्रीगोपाल नेवटिया की 'काश्मीर' नामक एक सुन्दर पुस्तक अभी 'हिन्दी मन्दिर' प्रयाग से निकली है। नेवटियाजी हाल में काश्मीर की यात्रा करके लौटे हैं और उन्होंने इस पुस्तक में अपना यात्रा तथा काश्मीर सम्बन्धी अन्य बातों का बड़ा सजीव वर्णन किया है। पुस्तक अनेक रंगीन चित्रों से भूषित है और सादे चित्र तो प्रत्येक पृष्ठ के साथ दिये गये हैं। सुन्दर सजिल्द पुस्तक है। भिन्न-भिन्न देशों के सम्बन्ध में ऐसी पुस्तकों की हिन्दी में बड़ी कमी है। कोई प्रकाशक इधर ध्यान दें तो इस विषय का बड़ा सुन्दर साहित्य उत्पन्न हो सकता है। सुना है, काश्मीर पर ही श्री दीन-दयालु शास्त्री की लिखी एक पुस्तक इंडियन प्रेस से और निकलनेवाली है।

इन बात से मालूम होता है कि साहित्य के अभ्युदय की गति दिन-दिन बढ़ती जाती है और वह समय बहुत दूर नहीं है, जब उन्नत यूरोपीय भाषाओं के साहित्यों के समान हिन्दी का अध्ययन करने के लिए भी रवि बाबू-जैसी मनोवृत्ति रखने वाले हमारे देशी पर अन्य भाषा-भाषी भाई एवं विदेशी विद्वान बाध्य होंगे।

श्री रामनाथलाल 'सुमन'

[नोट—प्रत्येक अंक मे प्रगति की ऐसी सचित्र सूचनायें देने का प्रबन्ध किया गया है। आशा है मेरे स्नेही मित्र और कृपालु लेखकगण अपनी महत्वपूर्ण अप्रकाशित रचनाओं के सम्बन्ध मे समय-समय पर सूचित करते रहेंगे। 'सुमन']



सुधारक-संघों की आवश्यकता

अपनी वर्तमान सामाजिक अवस्था के प्रति असंतोष की जो लहर इस समय देश मे चल रही है, उसका आरम्भ लगभग सवा सौ वर्ष पहले हुआ था। समाज की कुरीतियों को दूर करने तथा उचित रूप से उसका नियमन करने का प्रयत्न भी तभी से किया जा रहा है। इस प्रयत्न ने अबतक अनेक रूप बदले हैं, किन्तु उसका उद्देश्य वही रहा है। समय और परिस्थिति के अनुसार कार्य-प्रणाली बदलती ही रहती है। वर्तमान युग के महापुरुषों में राजा राममोहनराय का ध्यान सबसे पहले इस ओर आकर्षित हुआ था। उन्होंने देख लिया था कि घातक रूढ़ियों का नाश किये बिना समाज की उन्नति नहीं हो सकती। उन्होंने हिन्दुओं की प्रत्येक धार्मिक और सामाजिक कुरीति के प्रति आवाज़ उठाई और उसे दूर करने का समयानुकूल प्रयत्न किया। यह वह ज़माना था, जब हिन्दुओं के आचार-विचार उनके प्राचीन शास्त्रों के बहुत कुछ प्रतिकूल होते हुए भी वे अपना सब काम शास्त्र की दुहाई देकर ही करते थे। उन्हें अपनी प्राचीन सभ्यता का गौरव और अभिमान था। इसी कारण जिन बातों को उन्होंने भ्रमवश भी शास्त्रानुमोदित समझ लिया, उन्हें छोड़ना उनके लिए असम्भव था। अतः उन कुरीतियों को दूर कराने के लिए भी शास्त्रों के प्रमाण की आवश्यकता थी। राजा राममोहनराय ने यही किया। अपने लेखों और व्याख्यानों में शास्त्रों के उद्धरण दे-देकर वह बतलाते थे कि इसरी मौजूदा रहन-सहन शास्त्रों के विरुद्ध है और इसे

त्याग कर सच्चा मार्ग ग्रहण करने की आवश्यकता है। वह शास्त्रों को ईश्वर-कृत नहीं मानते थे और आवश्यकता पड़ने पर उनके विरुद्ध जाने में भी उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं था। वह सत्य-मार्ग के पथिक थे। किन्तु समाज को इस मार्ग पर लाने के लिए जिस हद तक शास्त्रों की सहायता ली जा सकती थी, उस हद तक उनकी सहायता लेना उन्होंने अनुचित नहीं समझा। उनके कार्यों की कठिनाइयों का इस समय पूरी तरह अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। आज सती-प्रथा का नाम सुनकर ही प्रत्येक व्यक्ति के मन में उसके प्रति विरोध का भाव उत्पन्न हो जाता है। पर उस समय वह एक धार्मिक पवित्र कृत्य समझा जाता था। उसे दूर करने के लिए भी यह साबित करने की आवश्यकता थी कि यह शास्त्र के प्रतिकूल है। अतः राजासाहब ने शास्त्रों का प्रमाण पेश किया।

धीरे-धीरे और भी कुरीतियों की ओर निगाह जाने लगी। श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवाओं की करुणा-जनक अवस्था पर तरस खाया और उसे सुधारने के लिए तत्पर हो गये। उन्होंने निश्चय-पूर्वक इस बात का अनुभव किया कि किसी भी अवस्था में विधवाओं को विवाह न करने देने की प्रथा अमानुषिक है। पर समाज को अपने पक्ष में लाने के लिए फिर भी शास्त्रीय प्रमाण की आवश्यकता थी। वह शास्त्रों का अध्ययन करने लगे और जब उन्हें अपने अनुकूल व्यवस्था मिली तब प्रसन्नता से उछल पड़े। आगे चलकर स्वामी दयानन्द ने समाज की गति-विधि को ही बहुत-कुछ बदल दिया। समाज में एक नई स्फूर्ति आगई। एक नया प्रवाह बहने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे चरण में राजनैतिक आन्दोलन के साथ-साथ समाज-सुधार का कार्य भी संगठित रूप से होने लगा। कांग्रेस के साथ-साथ समाज-सुधार-सम्मेलन के अधिवेशन भी होने लगे। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों सुधार की प्रणाली भी बदलती गई। जैसा कि हमने अभी देखा है, आरम्भ के सुधारक स्मृतियों आदि का सहारा लेकर ही सुधार का प्रस्ताव रखते थे। किन्तु धीरे-धीरे धर्मग्रन्थों का सहारा लेने की आवश्यकता दूर होती गई। यद्यपि वर्तमान समाज में भी ऐसे लोग हैं, जो स्मृतियों और पुराणों के अपने किये हुए अर्थ से एक इंच भी दायें या बायें हटने के लिए तैयार नहीं हैं, तथापि अब साधारण-तया हमारा समाज स्वतंत्र रूप से अपने पुराने नियमों में परिस्थिति के अनुसार परिवर्त्तन कर लेने की आवश्यकता का कायल हो गया है। किन्तु अभी तक का कार्य अधिक-तर मानसिक क्षेत्र में ही हुआ है। इतने दिनों के आन्दोलन ने जन-साधारण की विचार-शैली तो परिवर्तित कर दी है, पर व्यावहारिक क्षेत्र में अभी बहुत-सी त्रुटियाँ ज्यों-की-त्यों मौजूद हैं। आज से बीस-पचीस बरस पहले समाज-सुधार-सम्मेलनों के द्वारा जो प्रस्ताव पास होते थे, वे अभी तक बार-बार पास होते चले जा रहे हैं। पर उनमें से अनेक अभी तक कार्य-रूप में परिणत नहीं हो रहे हैं। किन्तु अब आवश्यकता इस बात की है कि सुधार के जो तरीके निश्चित किये जायँ उनपर अमल भी किया जाय। प्रत्येक स्थान पर ऐसे व्यक्तियों का समुदाय हो, जो नवीन रूप से समाज को संगठित करने में व्यावहारिक सहायता पहुँचावे।

हमारे पीछे एक बहुत लम्बा इतिहास है। संसार के कई शताब्दियों के अनुभव से हम लाभ उठा सकते हैं। अतीत और वर्तमान के आधार पर ही भविष्य का स्वरूप निश्चित होता है। पिछले सौ वर्षों से समाज-सुधार-सम्बन्धी विचारों और कार्यों के पश्चात् अब हम एक निश्चित नतीजे पर पहुँच चुके हैं। अब हमें भिन्न-भिन्न नियमों के स्वरूप और आदर्शों का निश्चय नहीं करना है। यह नहीं देखना है कि अमुक कार्य के लिए शास्त्र की आज्ञा है या नहीं, और न इसी बात पर विचार करना है कि अमुक रूढ़ि तोड़ी जा सकती है या नहीं। यह सब काम बहुत हद तक हो चुका। अब मुख्य कार्य है अपने निश्चित किये हुए सिद्धान्तों पर अमल करने का। इसके बिना न तो हम सुधार के कार्य में सहायक हो सकते हैं, और न अपनी गिरी हुई अवस्था में कोई लाभ-जनक परिवर्त्तन ही कर सकते हैं। यों तो हमें बहुत सी कुरीतियों को दूर करना है, किन्तु विशेष रूप से जो समस्यायें हमारे सामने हैं, वे हैं—स्त्री-जाति की अवस्था, विवाह-सम्बन्धी कुप्रथायें, ऊँच-नीच और जाति-गत छुआ-छूत का भाव, दलित जातियों की

अवस्था, धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यों में होनेवाले अपव्यय तथा धर्म और परम्परा के नाम पर होने वाली कुछ दूसरी बुराइयाँ।

स्त्रियों की अवस्था बहुत ही शोचनीय है। स्वर्गीय राजा राममोहनराय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि ने उनका बहुत-कुछ उद्धार किया है। किन्तु उनकी साधारण अवस्था अभी बहुत गिरी हुई है। शिक्षित-समाज का एक अंश यह समझता है कि स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार बढ़ने से उनकी अवस्था सुधर जायगी। किन्तु इसके पहले स्त्री समाज के प्रति पुरुषों की मनोवृत्ति बदलने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से स्त्री-जाति के सुधार का प्रश्न भी बहुत हद तक पुरुष-जाति की शिक्षा पर निर्भर है। किन्तु यहाँ शिक्षा का अर्थ साक्षरता नहीं वरन् विवेक है। जबतक हम इस बात का अनुभव नहीं करेंगे कि स्त्रियों की उपयुक्त सहायता और सहयोगिता के बिना हमारा उद्धार न होगा, तबतक हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे। स्त्रियों की शिक्षा आवश्यक है, लेकिन पुरुषों का मनोभाव ही इसके मार्ग में बाधक है। स्त्रियों को पर्दे में रहने के लिए मजबूर करना, बालिकावस्था में ही उनका विवाह कर देना, विधवा हो जाने पर उन्हें दूसरा विवाह करने की अनुमति न देना, और इतना करते हुए भी स्त्रियों को शिक्षित करने का प्रयत्न करना उपहासास्पद है। इन बातों के कारण स्त्रियों की अवस्था जितनी खराब हुई है उतनी उनकी निरक्षरता के कारण नहीं, बल्कि उनकी निरक्षरता उनकी इसी परवशता का अनिवार्य परिणाम है। पर्दे की प्रथा कैसे शुरू हुई, उसके क्या लाभ थे, प्राचीन हिन्दू-समाज में उसका क्या रूप था, शास्त्रों में इसके सम्बन्ध में क्या व्यवस्था है इत्यादि प्रश्न इतिहास के विद्यार्थियों के काम के हैं। हमारे लिए यह बात स्पष्ट है कि वर्तमान समाज में स्त्रियों को पर्दे में रखकर हम न केवल उन्नति नहीं कर सकते वरन् दिनोंदिन अवनति के गड्ढे में गिरते जायँगे। चाहे किसी समय यह प्रथा हमारे लिए लाभदायक रही हो, पर अब इसकी हानियाँ प्रत्यक्ष हैं। यही बात विधवा-विवाह के सम्बन्ध में है। हम यह नहीं कहते कि प्रत्येक विधवा का विवाह कर ही देना चाहिए। विवाह का आदर्श तो यही है कि यह सम्बन्ध सचाई के साथ जन्म-भर निबाहा जाय। पुरुष का देहान्त होने पर स्त्री और स्त्री का देहान्त होने पर पुरुष अपना शेष जीवन संयम और ब्रह्मचर्य से बितावें। किन्तु यह आदर्श है और साधारण समाज का नियम नहीं हो सकता। अतः जो स्त्री विधवा होने पर अपना शेष जीवन ब्रह्मचर्य से न बिता सके उसे अपना दूसरा विवाह करने का पूरा अधिकार होना चाहिए। किन्तु यह तो हुई बड़ी उम्र की विधवाओं के सम्बन्ध की बात। हमारे समाज में आज ऐसी भी लड़कियाँ विधवा कहलाती हैं, जो विवाह शब्द का अर्थ भी नहीं समझ सकतीं। वास्तव में तो वे विधवायें नहीं हैं और उनके अभिभावकों का कर्त्तव्य है कि उनका विवाह अवश्य ही कर दें। ऐसा न होने से समाज आदर्श की ओर बढ़ने की अपेक्षा दिन-बदिन गिरता ही जायगा।

दूसरी समस्या है विवाह सम्बन्धी कुरीतियों की। कम उम्र में विवाह कर देना, पुरुषों का एक स्त्री के रहते और विवाह करना, अधिक उम्र के पुरुषों का कम-उम्र की लड़कियों से विवाह करना, विवाह के सम्बन्ध में तिलक-दहेज आदि के लिए मोल-भाव करना इत्यादि बुराइयाँ हमारे समाज को रसातल पहुँचा रही हैं। यद्यपि अब इनके सम्बन्ध में किसी तरह का मतभेद नहीं रह गया है। किन्तु खुले-आम परम्परा को तोड़ने की झिझक बाक़ी है यह कमजोरी बहुत ही घातक साबित हो रही है। उचित तो यही है कि पचीस वर्ष की उम्र के पहले लड़कों का और सोलह वर्ष के पहले लड़कियों का विवाह न हो, किन्तु यदि एकाएक यहाँ तक पहुँचने में कठिनाइयाँ अधिक पड़ती हों, तो लड़कों और लड़कियों का विवाह १८ और १४ वर्ष के पहले तो कदापि न किया जाना चाहिए। अनमेल विवाह का प्रश्न भी बड़ा जटिल है। पैंसठ-पैंसठ बरस के बूढ़े १२-१४ बरस की लड़कियों से विवाह कर लेते हैं। यह अमानुषिक प्रथा शीघ्र ही बन्द होनी चाहिए। पहले तो एक स्त्री के रहते दूसरा विवाह करने की अनुमति ही न होनी चाहिए। और यदि उस स्त्री के मरने पर कोई व्यक्ति अपना दूसरा विवाह करना चाहे तो उसे उचित है कि वह अपनी समवयस्क विधवा से ही अपना विवाह करे। तिलक-

दहेज की प्रथा ने वर-कन्या का एक बाजार ही खड़ा कर दिया है। इसके कारण गरीबों को कितना कष्ट उठाना पड़ता है,यह प्रत्येक आदमी जानता है—और, अधिकांश ने इसका अनुभव किया है।

तीसरी समस्या है जात-पाँत और ऊँच-नीच की। इसके पोषक भी इतिहास और पुराण के उद्धरण पेश करते हुए इसकी उपयोगिता साबित करना चाहते हैं। उनका दावा है कि जातियों का विभाग स्वाभाविक है। जहाँ तक स्वाभाविकता का प्रश्न है वहाँतक इसकी सत्ता के सम्बन्ध में किसीको एतराज नहीं हो सकता, और न इसी बात पर कोई झगड़ा हो सकता है कि सम्भवतः प्राचीन काल में हमारे समाज को इससे लाभ रहा हो। किन्तु इससे यह नहीं साबित होता कि जाति-प्रथा प्राचीन काल में जिस रूप में थी, उसी रूप में इस समय भी है। और यदि उसकी स्वाभाविकता की दुहाई दी जाय तो उसके लिए किसी प्रकार के कृत्रिम उपाय की आवश्यकता नहीं है। इसके अनुसार तो जो व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति और अपने गुण के अनुकूल जिस पेशे को अख्तियार करे वही उसकी जाति होनी चाहिए। लकड़ी के काम में रुचि रखनेवाला बढ़ई, खेती में प्रवीण किसान और जूता बनाने वाला चमार कहा जाना चाहिए। किन्तु इस समय वर्तमान जाति-प्रथा के समर्थक उसकी आवश्यकता तो बतलाते हैं मनोवैज्ञानिक कारणों से, लेकिन उसकी रक्षा का उपाय उसके बिलकुल प्रतिकूल करते हैं। किसी व्यक्ति ने यदि ब्राह्मण के घर जन्म लिया हो तो, चाहे उसकी रुचि बढ़ई का काम करने की ही क्यों न हो, पर उसे 'ब्राह्मण' संज्ञा ही देंगे। यह उपरोक्त वैज्ञानिक सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल है। इसके अतिरिक्त वर्तमान जाति-प्रथा की सबसे भयानक बुराई है—ऊँच-नीच का भाव। कुछ जातियाँ ऊँची समझी जाती हैं और कुछ नीची। किन्तु जिन-जिन पेशों की समाज को आवश्यकता है उन-उन पेशों के करने वाले—केवल अपने पेशे के कारण—एक दूसरे से ऊँचे या नीचे नहीं समझे जा सकते। व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण कोई भी व्यक्ति अपने समाज में सर्वश्रेष्ठ हो सकता है और इसी प्रकार व्यक्तिगत दूषणों के कारण दूसरा व्यक्ति पतित भी हो सकता है। लेकिन कोई भी पेशा दूसरे पेशों से अच्छा या बुरा उस समय तक नहीं कहा जा सकता, जबतक समाज को उसकी भी उतनी ही आवश्यकता हो, जितनी कि दूसरे पेशों की। नाई, धोबी, दर्जी और अध्यापक—सभी एक दूसरे के बराबर हैं, क्योंकि किसी के भी बिना समाज का काम नहीं चल सकता। हाँ, परोपकारिता, दयालुता, ईमानदारी, पवित्रता, सफ़ाई आदि गुण जिस व्यक्ति में जितनी ही अधिक मात्रा में होंगे वह उतना ही अधिक पूज्य समझा जायगा—चाहे वह किसी भी पेशे का करनेवाला हो। वर्तमान जाति-प्रथा से अस्वाभाविकता को प्रोत्साहन मिलता है और प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुकूल मार्ग पर उन्नति करने का अवसर नहीं पाता। साथ ही ऊँच-नीच के भाव से परस्पर द्वेष और घृणा के भावों की ही वृद्धि होती है। खान-पान में इस जातिगत छुआछूत के भावों के कारण और भी अनर्थ होता है। केवल किसी जाति-विशेष में जन्म लेने के कारण ही कोई व्यक्ति इतना पवित्र मान लिया जाता है कि उसका रहन-सहन का तरीक़ा कितना ही गन्दा क्यों न हो पर उसका बनाया हुआ भोजन सभी खा सकेंगे। दूसरी ओर किसी दूसरी जाति में जन्म लेने के कारण ही सफ़ाई और पवित्रता से रहने वाला व्यक्ति भी अयोग्य और नीच समझा जाता है। यह कृत्रिम और अस्वाभाविक बन्धन समाज की प्रगति में बाधा पहुँचता है। भिन्न-भिन्न जातियों में केवल वर्तमान जातिगत भिन्नता के कारण ही विवाह न हो सकने की बाधा भी इसी प्रकार अस्वाभाविक है।

चौथी समस्या अछूत कही जानेवाली जातियों की है। इनके सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न इनके सामाजिक और नागरिक अधिकारों का है। इनकी वर्तमान गिरी हुई अवस्था के लिए भी आजकल की ऊँची कही जाने वाली जातियाँ ही जिम्मेदार हैं। किन्तु यदि इस दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार न करें तो भी इन लोगों के नागरिक और सामाजिक अधिकारों में हस्तक्षेप करने का किसीको अधिकार नहीं है। जलाशयों से पानी लेने, पाठशालाओं में शिक्षा प्राप्त करने तथा देवालयों में देव-दर्शन करने के लिए जाने से इन्हें कोई रोक नहीं सकता। वह दया नहीं वरन् अधि-

कार का प्रश्न है। साथ ही इनकी अवस्था सुधारने का प्रयत्न करना भी प्रत्येक ऊँची कही जाने वाली जाति के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है, क्योंकि इन्हें गिराने में उसका हाथ रहा है।

पाँचवाँ प्रश्न है अपव्यय का। विवाह आदि सामाजिक कृत्यों के अवसर पर होने वाले अपव्यय के कारण मध्यम श्रेणी के लोगों की अवस्था बहुत ही ख़राब होती जाती है। सभी लोग इस क्लेश का अनुभव करते हैं, लेकिन इज़्ज़त का झूठा ख़याल उन्हें सच्चे रास्ते पर आने से रोकता है। बड़ा अच्छा हो कि अधिक पैसे वाले व्यक्ति आगे बढ़ें और ऐसे अवसरों पर होने वाले ख़र्चों को एकदम बन्द करके साधारण स्थिति के मनुष्यों की झिझक दूर करें। किन्तु साधारण स्थिति के लोगों को भी अब इसके लिए अमीरों की प्रतीक्षा न करनी चाहिए। बहुत कम ऐसे अमीर होंगे, जो लोक-हित को सामने रखकर इस मामले में अग्रसर होंगे।

इनके अतिरिक्त अनेक दूसरी बुराइयाँ भी हैं, जो सारे समाज में या स्थान-विशेष में भ्रम अथवा परम्परा के नाम पर प्रचलित हैं। जैसे मृत्यु के अवसर पर भोज देने, कुपात्रों को दान देने आदि सम्बन्धी कुप्रथायें। इन सबके सम्बन्ध में अब किसी तरह का तीव्र मत-भेद नहीं रह गया है। साधारणतया समाज अपने वर्तमान नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव करने लगा है। अब सुधार की प्रगति के लिए आवश्यकता इसी बात की है कि व्यावहारिक क्षेत्र में इस ओर अग्रसर हुआ जाय। अर्थात्, प्रत्येक स्थान पर एक ऐसा समुदाय बने, जिसके सदस्य यह सकल्प कर लें कि —

(१) अपने अथवा अपने आश्रितों के विवाह के सम्बन्ध मे इस बात का ख़याल रक्खेंगे कि विवाह के समय वर और कन्या की उम्र क्रमश: १८ और १४ वर्ष से कम न हो।

(२) विधुर होने पर यदि विवाह की आवश्यकता प्रतीत होगी तो अपनी समवयस्क विधवा से ही विवाह करेंगे।

(३) एक स्त्री के रहते अपना दूसरा विवाह न करेंगे।

(४) परिवार में यदि बाल-विधवायें होंगी तो अवश्य ही उनका विवाह कर देंगे।*

(५) अधिक उम्र की विधवायें यदि चाहेंगी तो उनका भी विवाह कर देंगे।

(६) विवाह के सम्बन्ध में तिलक-दहेज़ अथवा अन्य किसी रूप में लेन-देन का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ठहराव नहीं करेंगे।

(७) अपने घर में पर्दे की प्रथा न रहने देंगे।

(८) किसी भी व्यक्ति को उसके पेशे के कारण ऊँचा-नीचा नहीं समझेंगे।

(९) परस्पर एक दूसरे के हाथ का भोजन करने में जातिगत छुआछूत का भाव न रक्खेंगे वरन् शुचिता का विचार करेंगे।

(१०) जाति-भिन्नता को विवाह-सम्बन्ध के मार्ग में बाधक नहीं समझेंगे।

(११) अछूत कही जाने वाली जातियों को उनके सामाजिक तथा नागरिक अधिकार दिलाने का प्रयत्न करते रहेंगे।

(१२) किसी ऐसे कृत्य में सहयोग न करेंगे, जिसमें उपरोक्त सिद्धान्तों के प्रतिकूल व्यवहार हो रहा होगा।

ऐसा होने पर, हमारा ख़याल है, हमारे समाज की दशा अब से कहीं उन्नत हो जायगी।†

रामशरण,
कन्हैयालाल शास्त्री

---

* हमारी समझ में अवश्य ही विवाह कर देने के बजाय उन्हें विवाह की पूरी छूट दे देना और तदनुसार व्यवस्था कर देना अधिक उपयुक्त होगा। —सम्पादक

† इन्हीं उद्देश्यों को सामने रखकर समाज में प्रचलित कुरीतियों को दूर करने की दृष्टि से काशी में एक सुधारक-संघ की स्थापना की भी गई है। वे सब सज्जन इस संघ के सदस्य हो सकेंगे, जो इसके उद्देश्यों और साधनों से सहमत होते हुए उसमें बतलाये गये सिद्धान्तों पर पूरी तरह अमल भी करेंगे। इस बात का विशेष रूप से ध्यान रक्खा गया है कि यह संघ केवल सुधार के सिद्धान्त

चीनी तुर्किस्तान में खरोष्ठी लिपि

आक्सफ़ोर्ड की अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्परिषद् में जो अनेक लेख पढ़े गये थे उनमें से केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के संस्कृताध्यापक अध्या० रायसन साहब का उपरिनिर्दिष्ट शीर्षक लेख बड़े महत्व का था। 'त्यागभूमि' के पाठकों के लिए उसका सारांश यहाँ दिया जाता है।

प्राचीन लिपि के जानने वालों को यह भली-भाँति विदित है कि सम्राट अशोक मौर्य के काल में भारतवर्ष के वायव्य प्रदेश में खरोष्ठी नाम की एक लिपि प्रचलित थी। यह दाहिनी से बाँई ओर लिखी जाती थी। शाहबाजगढ़ी नामक स्थान में अशोक की आज्ञायें इसी लिपि में खुदी हुई मिली हैं। विद्वान् लोगों की राय है कि ईरानी साम्राज्य काल में अर्थात् ईसा के पूर्व ५५८-३३० तक के काल में यह भारतवर्ष के वायव्य प्रदेश में प्रचलित हुई थी। यह लिपि अरमिक लिपि से निकली हुई है और ईरानी साम्राज्य में अरमिक ही सर्वसाधारण लिपि मानी जाती थी। खरोष्ठी लिपि यद्यपि भारतवर्ष में उत्पन्न हुई, तथापि उसका विकास खासकर चीनी तुर्किस्तान में हुआ था। संस्कृत के वर्णों को व्यक्त करने के लिए तो सब अक्षर इनमें निकाले ही गये थे पर ईरानी ح, ب, ر, ز, जिनका प्रचार चीनी तुर्किस्तान की 'निया' नामक भाषा में था, वर्णों के उच्चारण के लिए भी भिन्न-भिन्न चिन्ह (अक्षर) बनाये गये थे।

सर ऑरेल स्टीन साहब ने चीनी तुर्किस्तान में जो खोज की है, उसमें ये सब खरोष्ठी लेख मिले हैं। वहाँ के रेगिस्तान में इन लेखों की प्राप्ति यह बात स्पष्टतया सिद्ध करती है कि उस प्रान्त तक भारतीय संस्कृति उन दिनों पहुँच चुकी थी। बहुत संभव है कि कुशाण राजाओं के काल में बौद्ध धर्म के साथ-साथ इसका विस्तार वहाँ हुआ हो। जब चीनी तुर्किस्तान के रेतीले प्रदेश की सीमा पर उपजाऊ और निवास-योग्य कुछ स्थान थे और जब स्थलमार्ग से ही चीन और पश्चिमी देशों में आमद-रफ्त होती थी उस समय की सामाजिक और राजकीय स्थिति का थोड़ा थोड़ा पता इन लेखों से मिलता है। लेख अधिकांश में मामूली बातों के विषय में ही हैं और इनका काल लगभग ई० सन् ३८० का है। लेखों की भाषा अभीतक अज्ञात थी और बिलकुल नई है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से यह बड़े महत्व की है और भारतीय एवं ईरानी भाषाओं से निकली हुई और मध्यएशिया की भाषा के अनेक शब्दों से भरी हुई है'।

लेखों की प्राप्ति 'लाप नोर' 'खुतन' नामक स्थानों के बीच में जो पुराने खण्डहर थे, वहाँ से हुई है। खुदाई के मिले हुए पदार्थ तथा लेखों मे उल्लिखित पदार्थों के नाम साफ़-साफ ज़ाहिर करते हैं कि उस समय चीन, भारतवर्ष, पश्चिमी एशिया और यूरोप में खासी आमदरफ्त थी। चीन का रेशमी कपड़ा, भारत के मसाले, शक्कर, कालीमिर्च इत्यादि पदार्थ, ईरानी गलीचे और यूनानी सिक्के तथा जवाहिर प्रायः अवशेष रूप में मिले हैं या लेखों में उल्लिखित हैं।

लेखों में खुतन, शानशान जिसका कि पुराना नाम क्रोरैम्न था और कूचा इन तीन स्वतन्त्र राज्यों का उल्लेख है। यद्यपि कूचा के राजा का नाम नहीं मिला है तथापि खुतन के राजा 'अविजितसिंह और शानशान के पेपिय, तजक, अंगोक, महिरी और वदमन नामक राजाओं के नाम मिले हैं। देवपुत्र श्री महाराज जितुध अंगुवक (अंगोक)

निश्चित करके उनका प्रचार करनेवाली संस्था ही न रहे; वरन् ऐसे व्यक्तियों का एक समुदाय हो, जो उन सिद्धान्तों पर पूरी तरह अमल भी कर रहे हों।

यह संघ कोई साम्प्रदायिक संस्था नहीं है। समाज-सुधार ही इसका एकमात्र उद्देश्य है। किन्तु हिन्दुओं के सामाजिक और धार्मिक रिवाज एक दूसरे से इस तरह मिले हुए हैं कि कई जगहों पर उन्हें अलग करना बड़ा कठिन है। इस कारण यह संघ उन सब कुरीतियों को भी दूर करने का प्रयत्न करेगा, जो धर्म के मूल तत्वों के विरुद्ध होते हुए भी वर्तमान समय में धर्म के नाम पर प्रचलित हैं और समाज को नुक़सान पहुँचा रही हैं। धार्मिक विश्वास के सम्बन्ध में संघ की नीति पूर्णतया उदार है। सभी तरह के धार्मिक विश्वास रखनेवालों के लिए इस संघ के भीतर स्थान है। —लेखक

के राज्य के १७ वें वर्ष में लिखे हुए दो लेखों पर एक चीनी मुहर है। मुहर में लिखे हुए चीनी लेख का अर्थ है 'शानशान के अधिकारी की मुद्रा'। इससे जान पड़ता है कि शानशान के अधिपति महाराज अंगोक थे। इन्हीं में मिले हुए एक चीनी लेख का काल ई० सन् २६६ निश्चित किया गया है। इसपर से अनुमान किया जाता है कि इन खरोष्ठी लेखों का भी वही काल होगा।

शानशान के राजाओं का क्रम भी प्रायः इन्हीं लेखों पर से लगाया जा सकता है। यद्यपि राजाओं का वंश-क्रम नहीं दिया गया है, तथापि जिन दूसरे लोगों का लेखों में उल्लेख है उनका वंश क्रम दिया हुआ है और उसपर से इन राजाओं का क्रम निश्चित किया गया है। कायस्थ लेखकों के दो कुलों का वर्णन पाया गया है।

एक कुल का लेखक, उसका पिता और उसका पितामह क्रमशः अंगोक, नजक और पेपिय के राज्य-काल में थे। नजक के जमाने के लेखक के लड़के तथा नाती के नाम क्रमशः अंगोक और महिरी के समय में पाये जाते हैं। इसी प्रकार वश्मन के राज्य-काल में अधिकारारूढ़ एक मन्त्री के पिता का महिरी के समय में मन्त्री रहने का भी उल्लेख मिलता है। इन राजाओं के राज्य-काल के जिन वर्षों के लेख मिले हैं वे नीचे लिखे अनुसार हैं—

पेपिय	वर्ष ३—८
नजक	वर्ष ३
अंगोक	वर्ष ५—३८
महिरी	वर्ष ४—२७
वश्मन	वर्ष ३—११

मिले हुए लेखों की संख्या लगभग ७५० है। इनमें से कुछ लकड़ी के टुकड़ों पर लिखे हुए हैं, कुछ चमड़े पर हैं और बहुत थोड़े कागज पर लिखे हुए हैं। लकड़ी के जिन टुकड़ों पर ये लेख हैं उसमें से कुछ त्रिकोणाकृति पच्चड से हैं और कुछ सादे चतुष्कोण तख्तियों पर हैं। त्रिकोणाकृति पच्चडों पर के लेख प्रायः राजा की ओर से अधिकारियों को भेजे हुए हुक्म हैं, जिनमें से कुछ में अपराधियों को दण्ड देने की आज्ञा है और कुछ में झगड़ों का फैसला दिया हुआ है। ये सब लेख निश्चित नमूने के हैं। राजा के पास जब कभी कोई शिकायत की जाती थी, तब वहाँ से अधिकारियों को उसकी जाँच करने का हुक्म छूटता था। अधिकारी गवाही लेता था और क़ायदे के मुताबिक फ़ैसला करता था। जब स्थानीय अधिकारी फैसला न कर सकता था तब वह मुकद्दमा राजा के पास भेजा जाता था और वहाँ आखिरी फ़ैसला किया जाता था। चौकोनी तख्तियों पर के लेख प्रायः इक़रारनामे और खरीदनामे हैं। मामूली ख़त भेजने के लिए भी कभी-कभी इन तख्तियों का इस्तेमाल किया गया है। चमड़े पर के लेख चडोत (निया का पुराना नाम) के अफ़सर को राजा की ओर से लिखे हुए हुक्म हैं। कुछ थोड़े एक अफसर ने दूसरे को लिखे हुए पत्र रूप में भी हैं।

एक किसान की कुछ टिप्पणियों में थोड़े संस्कृत श्लोक भी पाये गये हैं। खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए शुद्ध संस्कृत के केवल यही उदाहरण हैं। श्लोक अनेक वृत्तों में हैं और प्रायः रीति-विषयक—संपत्ति की चंचलता, दान का माहात्म्य इत्यादि विषयों पर हैं। उदाहरणार्थ—

यथा मनुष्य पथिवर्तमान
क्षणे क्षणे विश्रमति स्वकाले।
तथा मनुष्यस्य धनानि लोके
काले क्रमेणैव पुनर्भजन्ति ॥

श्लोक प्रायः सब शुद्ध संस्कृत में हैं और प्राकृत या अपभ्रंश शब्दों का नाम तक उनमें नहीं है।

इन सब बातों पर से भली-भाँति जाना सकता है कि ईसा की तीसरी सदी में बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय संस्कृत चीनी तुर्किस्तान तक पहुँच चुकी थी।

हरि रामचन्द्र दिवेकर (पेरिस)

अजमेर-प्रान्त में शिक्षा-प्रचार

(१)

प्रान्तीय शिक्षा-विभाग की ३१ मार्च १९२७ तक की पंचवर्षीय रिपोर्ट १९२८ के अक्तूबर मास के लगभग प्रकाशित हुई है। हमारे विचार में इसका प्रकाशन १९२७ के अन्त तक हो जाना चाहिए था। ख़ैर, जो हो, रिपोर्ट स्थानीय शिक्षा- सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य विषयों से परिपूर्ण है। प्रान्तीय शिक्षा के हिताकांक्षियों को इसका अवश्य अध्ययन करना चाहिए। इसके कई कारण हैं। अनेक अंशों में यह रिपोर्ट सरकार की ओर से प्रकाशित होने वाले अधिकांश विवरणों की भाँति एक ही दृष्टिकोण से संकलित की हुई प्रतीत नहीं होती। इसमें जहाँ एक ओर सरकार की नीति के प्रति संतोष तथा प्रशंसा के भाव प्रदर्शित किये गये हैं, वहाँ, दूसरी ओर, उसके प्रबन्ध की न्यूनताओं तथा त्रुटियों को भी दिखाने का प्रयत्न किया गया है, जिससे लेखक के विचारों की उदारता का परिचय मिलता है।

रिपोर्ट काफ़ी लम्बी है, अतएव हम उसके केवल मुख्य-मुख्य अंगों का सिंहावलोकन करेंगे।

१९२१–२२ में स्कूलों और विद्यार्थियों की संख्या क्रम से ३०४ तथा १५१२६ थी। यही १९२६-२७ में ३१५ तथा १७२६४ हो गई। समय को देखते हुए यह वृद्धि नहीं के तुल्य है। शिक्षा-विभाग का कुल व्यय १९२१-२२ में ६४१३५९) रु० हुआ, जिसमें से ३९५३६५) रु० भारत-सरकार के कोष से दिये गये। १९२६-२७ में कुल-व्यय ६३२९०६) रु० हुआ, जिसमें से २८४६७४) रु० सरकारी कोष से प्राप्त हुए। १९२१-२२ की अपेक्षा १९२६-२७ में व्यय क्यों कम हुआ, इसका रहस्य हमारी समझ में नहीं आया। हाँ, सरकारी दान में कमी इस कारण कर दी गई बताते हैं कि शुल्क की आय में बहुत वृद्धि हो गई थी।

इन पाँच वर्षों में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए वे निम्नलिखित हैं—

१—दिल्ली और अजमेर-मेरवाड़ा के सुपरिण्टेण्डेण्ट शिक्षा-विभाग का कार्य भारत-सरकार के शिक्षा-कमिश्नर को सौंप दिया गया।

२—स्थानीय गवर्नमेण्ट कालेज उठते-उठते रह गया।

३—प्राथमिक पाठशालाओं में उर्दू भी शिक्षा का माध्यम घोषित कर दी गई तथा देहातों में प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क कर दी गई। परन्तु इससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

४—नार्मल स्कूल अजमेर में एंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूलों के लिए एक शिक्षक-क्लास खोली गई।

५—शिक्षकों की सहायक निधि की आयोजना को लगभग सब ग़ैर-सरकारी पाठशालाओं ने स्वीकार कर लिया।

६—प्रान्त में बालचर्य (Scouting) का भी अच्छा प्रचार हुआ।

रिपोर्ट में बतलाया गया है कि इन पाँच वर्षों में शिक्षा के सभी विभागों में उन्नति हुई। परन्तु, क्या अविद्यान्धकार में पड़ी हुई अधिकांश जनता के उद्धार का भी कोई प्रयत्न किया गया? हमारे विचार में विद्या का प्रकाश फैलाने की सबसे अधिक आवश्यकता देहातों में है। आशा है कि भविष्य में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यथासाध्य कोशिश की जायगी। इस आवश्यकता को स्वयं लेखक ने भी स्वीकार किया है।

क्या राजनैतिक और क्या शिक्षा-विषयक, शासन-प्रबन्ध के विचार से इस प्रान्त की अवस्था बहुत गिरी हुई है। इसका मुख्य कारण यहाँ की शोचनीय आर्थिक स्थिति है। यहाँ के विभिन्न विभागों के व्यय का भार भारत-सरकार के ऊपर है, फल-स्वरूप यहाँ उपयुक्त अधिकारियों का सदा से अभाव रहा है। इस समय शिक्षा-विभाग में केवल निम्न-लिखित चार अधिकारी हैं, जिनमें से दो को तो "बेगारी" ही समझना चाहिए—

१. भारत-सरकार के शिक्षा-कमिश्नर, जो दिल्ली और अजमेर-मेरवाड़ा के शिक्षा-विभाग के भी सुपरिण्टेण्डेण्ट हैं।	बहुत थोड़ा समय देते हैं।
२ गवर्नमेण्ट कालेजके प्रिंसिपल, जो यूरोपियन शिक्षा के सुपरिण्टेण्डेण्ट हैं।	"

३. अजमेर-मेरवाड़ा शिक्षा-विभाग के असिस्टेण्ट (सहायक) सुपरिण्टेण्डेण्ट।	पूरा समय देते हैं।
४. पाठशालाओं के सब-डिप्टी इन्सपेक्टर।	"

यह बात निर्विवाद है कि प्रान्तिक शिक्षा-विभाग की सम्पूर्ण शासन-प्रणाली में भारी परिवर्तन की आवश्यकता है। इस विषय मे लिटलहेल्स साहब (लेखक) की निम्न सम्मति अवश्य ध्यान देने योग्य है—

"उक्त प्रणाली में तीन गुरुतर दोष हैं। इसका प्रबन्ध और देख-भाल एक ऐसे अधिकारी के सुपुर्द है, जिसको ७ मास शिमला तथा ५ मास दिल्ली में रहना पड़ता है। भारत-सरकार के शिक्षा-कमिश्नर, जो प्रान्तिक शिक्षा विभाग के सुपरिण्टेण्डेण्ट हैं, वर्ष भर में कठिनाई से एक या दो बार यहाँ सरसरी तौर पर भ्रमण कर जाते हैं। उनको अजमेर के अतिरिक्त और कहीं जाने का अवकाश नहीं मिलता, अतएव उनका यहाँ की आवश्यकताओं से अनभिज्ञ रहना अनिवार्य है। तीसरे प्रान्तिक सुपरिण्टेण्डेण्ट की हैसियत से वे जो आयोजनायें प्रान्तीय सरकार के सम्मुख रखते हैं, वे ही फिर भारत-सरकार के शिक्षा-कमिश्नर की हैसियत में उन्हीं के पास अन्तिम निर्णय के लिए पहुँचती हैं। इन सम्मिलित दोषों के होते हुए वर्तमान प्रणाली किसी प्रकार भी प्रान्तीय शिक्षा-विभाग के हित में लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकती।"

भारत-सरकार के शिक्षा-विषयक प्रधान परामर्शदाता एक उच्च अधिकारी हैं। कार्यक्षेत्र विस्तृत होने के कारण उनको अपने ही कार्य से अवकाश मिलना कठिन है। ऐसी अवस्था में उनसे यह आशा करना असम्भव है कि वे अजमेर-मेरवाड़ा प्रान्त की आवश्यकताओं और परिस्थितियों का स्वयं आकर अध्ययन करें। अब रहे एक असिस्टेण्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट। उनके अकेले के लिए भी प्रान्तिक शिक्षा के सारे कार्य-भार को सम्हाल लेना असम्भव-सा ही प्रतीत होता है। तीसरे असि० सुप० का स्थान वेतन के लिहाज़ से प्रान्त के दो हेडमास्टरों से नीचा है। इससे भी प्रबन्ध में बड़ी अड़चनें उत्पन्न हो जाती हैं। सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब तो यहाँ रहते नहीं; अतएव असि० सुप० को ही उक्त हेडमास्टरों के कार्य की देख-भाल करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इसी कारण कई बार आपस में मनमुटाव तक की नौबत पहुँच चुकी है, जिससे शिक्षा-विभाग के कार्य में बाधायें उपस्थित हो गई हैं। किसी यन्त्र के सुचारु-रूप से चलने के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रत्येक अंग एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्य करे। उपर्युक्त त्रुटि को देखते हुए इस बात की बड़ी भारी आवश्यकता है कि कोई दूसरे प्रकार का प्रबन्ध किया जाय अथवा इस प्रान्त का शिक्षा-विभाग अन्य प्रान्तों की तरह स्वतन्त्र तथा सुव्यस्थित किया जाय। शिक्षा-विभाग के कुल व्यय ६३२९०६) रु० में से निरीक्षण-विभाग का कुल व्यय १५०००) रु० अर्थात् केवल २-३ प्रतिशत ही ठहरता है। इसमें अधिक मितव्ययिता का विचार करना ऐसा ही है, जैसा शरीर को भोजन से वंचित रख कर उत्तमोत्तम वस्त्राभूषणों से उसे सुसज्जित करके रखना।

प्रान्तिक शिक्षा की नौकरियों में वेतनों की सीमा बढ़ा दी गई, परन्तु इससे केवल कालेज के अध्यापकों तथा हेड-मास्टरों को ही लाभ हुआ। मातहत शिक्षकों—विशेषतया देहाती स्कूलों के अध्यापकों की शोचनीय दशा पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पर वृद्धि होने पर भी उक्त वेतन, युक्तप्रदेश, पंजाब इत्यादि में निर्धारित सीमाओं से अभी बहुत कम है। युक्तप्रदेश इत्यादि की भाँति इस प्रान्त में शिक्षकों के लिए सामयिक वेतन वृद्धि का कोई प्रबन्ध नहीं है। इस विषय में यह आपत्ति की जाती है कि सामयिक वेतन-वृद्धि की प्रणाली से स्थायी होने के पश्चात् शिक्षक अपने कार्य में ढील डाल देते हैं। परन्तु अच्छा वेतन न मिलने के कारण बहुधा शिक्षकगण अपने समय का बहुत-सा भाग अन्य कार्यों-जैसे लड़कों को घर पर पढ़ाना इत्यादि में व्यय करते हैं, और इससे भी पाठशाला के कार्य में शिथिलता आती है। अथवा कोई अच्छी जगह मिलने पर वे तत्काल छोड़ कर चले आते हैं। सबसे अच्छा तरीक़ा यही हो सकता है कि वेतन की सीमायें अवश्य अच्छी

हृदय का आदेश

अपने हृदय के आदेश के अनुसार चलना कितना कठिन है ? व्यक्तिगत संपत्ति को बुरी समझ कर उसका त्याग करने की इच्छा करने वाले एक व्याकुल हृदय की यह झांकी है। वह अपने आदर्श के लिए घर के लोगों को अनुकूल करने की जो चेष्टा करता है उसका बड़ा ही करुण चित्र महात्मा टाल्सटाय ने

अंधेरे में उजाला

नामक इस छोटे से नाटक में किया है। सर्वस्व त्याग कर देशसेवा व आत्मोन्नति करना ही जीवन का सार है यही इस नाटक का प्रधान विषय है। पृष्ठ १०८ मूल्य ।=)

संसार को कबूल करना पड़ेगा

आश्चर्य की बात है कि विज्ञान और अर्थशास्त्र के जानकार तो खादी की प्रशंसा करते हैं और वे लोग शोर मचाते हैं जो जानते नहीं कि विज्ञान अर्थशास्त्र काला है या पीला। आप पहले खद्दर का सम्पत्ति शास्त्र पढ़िए। इसे पढ़ने पर आपको विश्वास हो जायगा कि हाथ का कता बुना कपड़ा भारतवर्ष के लिए ही नहीं, वरन् समस्त संसार के लिए आर्थिक, वैज्ञानिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक सभी दृष्टि से हितकर है।

खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र

(श्री रिचार्ड ग्रेग का 'Economics of Khaddar' का हिन्दी अनुवाद)

इसका अनुवाद श्री रामदास गौड़ एम. ए. ने किया है। यह वही पुस्तक है जिसे महात्मा गांधी, ला० लाजपतराय और पं. मालवीयजी ने प्रत्येक भारतवासी को पढ़ने की सिफ़ारिश की है। एक अमेरिकन की खद्दर के पक्ष में लिखी हुई यह पुस्तक पढ़ने योग्य है। पृष्ठ २०४ मूल्य ।।।=)

श्री चरणों का प्रताप

ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भारत का शासन अपने हाथ में लेने के पहले इस बात की तहकीकात के लिए कि पहले के भारतीय शासन में और कम्पनी के शासन में क्या अन्तर रहा है, एक कमेटी बिठाई थी। सरकार ने तो सोचा होगा कि यह कमेटी अंग्रेजों के राज्य शासन की खूब प्रशंसा करेगी पर इस कमेटी ने तो जाँच कर सारी ऊट-पटाँग बातें कह डालीं। उसने तो बताया कि अंग्रेजों के जहाँ-जहाँ भी श्री चरण पड़े हैं भारत श्मशान सा हो गया है।

जब अंग्रेज नहीं आये थे !

नामक पुस्तक में इसी रिपोर्ट का अनुवाद है। प्रत्येक भारतवासी के पढ़ने की चीज़ है। पृष्ठ १०० मूल्य ।)

मिलने का पता:—सस्ता-मंडल, अजमेर

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। एक प्रति आने पर आलोचना न हो सकेगी। प्रत्येक पुस्तक का साहित्य-सत्कार तो उसी अंक में हो जाया करेगा— आलोचना, यदि हुई तो, सुविधानुसार बाद में होगी।]



वीर मराठे

लेखक—प० भीमसेन विद्यालंकार। मिलने का पता—मैनेजर पुस्तक भंडार, गुरुकुल कांगड़ी, जि० बिजनौर (यू० पी०)। आकार डिमाई अठपेजी, पृष्ठसंख्या २१२। मू० १) रु०

इस पुस्तक में महाराष्ट्र के उत्थान से लेकर पतन तक का सारा इतिहास संक्षिप्त रूप से लिखा गया है। लेखक को महाराष्ट्र के इतिहास का अच्छा ज्ञान है। लिखने की शैली बहुत अच्छी, परिष्कृत और मनोरंजक है। पुस्तक के पढ़ने में उपन्यास का सा आनन्द आता है, फिर भी ऐतिहासिक सत्यों को तोड़ा-मरोड़ा नहीं गया। लेखक ने केवल इतिहास की नीरस घटनाओं का उल्लेख न कर तत्कालीन राजनैतिक व सामाजिक परिस्थितियों और उनके इतिहास पर क्या-क्या प्रभाव पड़े, इसका भी उत्तम विवेचन किया है। केवल अतीत घटनाओं के ज्ञान से इतिहास का कार्य पूर्ण नहीं हो सकता। इतिहास-ज्ञान का उद्देश्य तो है अतीत घटनाओं का स्वाध्याय करके अपने पूर्वजों के अनुभवों से वर्तमान अवस्था में लाभ उठाना। आजकल के प्रायः सब इतिहास-लेखक केवल ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख कर देने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं। परन्तु प्रस्तुत पुस्तक इस दोष से बिलकुल शून्य है। अतीत घटनाओं से हम आज क्या सीख सकते हैं और हमें आज क्या करना चाहिए, यह इसमें लेखक ने स्थान-स्थान पर अच्छी तरह समझाने का प्रयत्न किया है। यही इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता है। प्रस्तुत पुस्तक की तीसरी विशेषता यह है कि इसमें लेखक ने महाराष्ट्र के इतिहास की प्रगतियों (Movements) का उल्लेख करते हुए अन्य प्रान्तों या देशों के इतिहासों से भी तुलना कर व्यापक ऐतिहासिक नियमों को बताने का प्रयत्न किया है। इससे इतिहास के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक विशेष उपयोगी हो गई है। प्रत्येक पृष्ठ पर लेखक के राष्ट्रीय विचारों की छाप स्पष्ट मालूम होती है।

लेखक का यह दृढ़ विश्वास है कि महाराष्ट्र के अभ्युदय का मुख्य कारण राजनैतिक था, धार्मिक कट्टरता नहीं। उसमें स्वतन्त्रता की वह प्रबल भावना काम कर रही थी, जैसी भारत के अन्य प्रान्तों के इतिहास में नहीं पाई जाती। मराठा इतिहास को हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष का कारण बनाना बड़ी भारी भूल है। इसी सिलसिले में लेखक ने लिखा है कि यदि अंग्रेजों ने बंगाल की खाड़ी की जगह महाराष्ट्र की ओर से यह राजनैतिक जाल फैलाने का यत्न किया होता तो भारत का इतिहास दूसरी तरह लिखा जाता। इसी तरह लेखक ने अन्यत्र भी स्थल-स्थल पर ऐतिहासिक दृष्टि से सम्पूर्ण विषय का विवेचन किया है, जिसके उदाहरण हम स्थानाभाव से नहीं दे सकते। प्रारंभ में श्रीयुत नरसिंह चिन्तामणि केलकर की संक्षिप्त भूमिका से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। परन्तु यदि यह भूमिका अंग्रेजी में न होकर हिन्दी में होती, तो अधिक अच्छा होता।

पुस्तक का अन्तिम भाग अधिक संक्षिप्त कर दिया गया है, जो कुछ खटकता-सा है। पुस्तक में यदि चित्र और मानचित्र दिये जाते, तो इसकी उपयोगिता और भी बढ़

जाती। आशा है कि आगामी संस्करण में इन त्रुटियों को दूर कर दिया जायगा।

पुरुष-परीक्षा

लेखक—श्री जनार्दन झा। प्रकाशक—हिन्दी पुस्तक भंडार, लहेरियासराय (बिहार)। पृष्ठसंख्या १७६। सजिल्द। मू० १) रु०।

संस्कृत साहित्य में हितोपदेश और पंचतन्त्र आदि कथाग्रन्थों की तरह विद्यापति ठाकुर का बनाया हुआ पुरुष-परीक्षा भी एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें भी विभिन्न कथाओं द्वारा नीति, धर्म, व्यवहार आदि के उपदेश दिये गये हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसकी कथाओं के पात्र पशु-पक्षी न होकर सब मनुष्य हैं। इस कारण यह कुछ ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों के लिए भी लाभप्रद और मनोरंजक है।

इसी संस्कृत पुस्तक के आधार पर श्रीयुत जनार्दन झा ने इसकी रचना की है। मूल पुस्तक के गद्य-पद्य का इसमें भी गद्य पद्य में ही भाषान्तर किया गया है। भाषा अच्छी है, परन्तु कहीं-कहीं भाषा बालकों के लिए अधिक कठिन हो गई है।

भगवान बुद्ध

लेखक—पं० शशिनाथ चौधरी, बी० ए०। प्रकाशक—हिन्दी-पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय। पृष्ठ संख्या १५४। सजिल्द। मू० १) रु०

यों तो महात्मा बुद्ध के कई छोटे-बड़े जीवनचरित्र हिन्दी में लिखे गये हैं, परन्तु उनमें से कोई बालकों को लक्ष्य में रखकर ही लिखा गया हो, ऐसा हमारे देखने में नहीं आया। प्रस्तुत पुस्तक केवल बालकों का ख़याल कर के लिखी गई है। भाषा और लेखनशैली सरल है, जिसे बालक बख़ूबी समझ सकते हैं। बुद्ध के जीवन के बाद बुद्ध की कही हुई कुछ उत्तम कथायें तथा उपदेश आदि भी दिये गये हैं, जिनसे पुस्तक और भी अधिक उपयोगी हो गई है।

यह सब होते हुए भी हमारी सम्मति में दो-एक त्रुटियाँ रह गई हैं, जिनकी तरफ़ ध्यान दिया जाना आवश्यक था। बालकों के लिए लिखी गई पुस्तकों में अवैज्ञानिक चमत्कारों का देना युक्तियुक्त नहीं है। इससे उनके दिलों में झूठे वहमों का ख़याल पैदा हो जाता है। कहीं-कहीं बुद्ध के गंभीर उपदेशों में कुछ कठिन स्थलों का समावेश हो गया है, जिन्हें बालक सरलता से नहीं समझ सकते। बालकों के लिए लिखी गई पुस्तकों की क़ीमतें भी कम होनी चाहिएँ।

कृष्णचंद्र विद्यालंकार

आयर्लैण्ड का स्वातंत्र्य-युद्ध

आयर्लैण्ड भी कुछ समय पूर्व हमारी तरह ब्रिटेन के अधीन था। उस समय वहाँ के स्वातंत्र्य-वादियों ने गुप्त रूप से जो प्रयत्न किये, वे वीरता के इतिहास में देदीप्यमान हैं। आज वहाँ जो बहुत-कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है, वह उन्हीं प्रयत्नों—वीर स्वातंत्र्य-वादियों के चुपचाप कष्ट-सहन और साहसी कार्यों का ही परिणाम बताया जाता है। श्रीयुत डेन ब्रीन भी इन्हीं में के एक प्रमुख वीर योद्धा हैं। उन्होंने इस युद्ध में जो-जो किया, 'आयरिश स्वतन्त्रता के लिए मेरा युद्ध' नाम से अंग्रेज़ी में उसका रोचक और हृदयस्पर्शी वर्णन लिखा है। उसी पुस्तक का श्रीयुत 'बलवन्त' द्वारा किया हुआ यह भावानुवाद है। सारी पुस्तक इतनी रोचक है कि एक बार शुरू करके ख़त्म किये बग़ैर छोड़ने को जी नहीं चाहता। क्रान्तिकारियों के साहस और आत्मोत्सर्ग की गाथा पढ़ते-पढ़ते हृदय में कैसे-कैसे भाव उठते हैं। उनके आत्मोत्सर्ग और स्वार्थ-त्याग की भावना का तो प्रत्येक देशभक्त को अनुकरण करना ही चाहिए। अन्त में आयरिश स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद वर्तमान शासन के समर्थकों और पूर्ण स्वातंत्र्य-वादियों के मतभेद से उत्पन्न गृह-युद्ध का जो हानिकर परिणाम वर्णित है, वह हमारे देशवासियों के लिए पहले से चेत जाने का सबसे अच्छा दृष्टान्त है। हमारी समझ में अपने देश की स्वतंत्रता के उत्सुक व्यक्तियों का इससे मनोरंजन ही नहीं होगा बल्कि उन्हें स्फूर्ति भी प्राप्त होगी। पुस्तक की पृष्ठसंख्या सौ और कागज-छपाई साधारण है। मूल्य ।≈) और मिलने का पता है—'प्रताप'-कार्यालय, कानपुर।

मुकुन्द

प्राकृतिक आरोग्य-विज्ञान

अनुवादक—श्री नारायण गोविन्द नावर। प्रकाशक—आध्यात्मिक अन्वेषण सभा, उज्जैन। मूल्य ।)

प्रस्तुत पुस्तक उक्त सभा द्वारा प्रकाशित राजयोग-ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प है। इस पुस्तक में भोजन के नियम, उपवास, शारीरिक व्यायाम, विचार अथवा वस्तु, विविध प्रकार के स्नान आदि बहुत से प्रकरण हैं, जो काफ़ी उपयोगी हैं। पर ४० पृष्ठ की इस पुस्तिका में इन सब विषयों का ठूँस देना ठीक नहीं हुआ। आशा है, यह सभा शीघ्र ही इन सब विषयों पर अनुभवी लेखकों के द्वारा मौलिक पुस्तकें लिखाकर प्रकाशित करेगी और इस प्रकार समाज-सेवा और देश-सेवा का पुण्य उठायगी।

ध्यान से आत्म-चिकित्सा

रूपान्तरकार—श्री व्योमचन्द्र। प्रकाशक—आध्यात्मिक अन्वेषण सभा, उज्जैन। मूल्य ।।)

राज-योग-ग्रन्थमाला का यह दूसरा पुष्प श्री अर्नेस्ट ई० मण्डे की एक पुस्तिका का हिन्दी-रूपान्तर है। अनुवाद में काफ़ी स्वतन्त्रता ली गई है—कहीं पर ईसाई-धर्म की छाप नहीं पड़ने पाई है। हाँ, हिन्दूधर्म की छाप स्पष्ट है।

"मानसिक दशा शारीरिक विग्रह का कारण होती है," इस सिद्धान्त पर चलकर "ये निबन्ध" मूल-लेखक के शब्दों में "रोगों के प्राचीनकाल में प्रचलित मानसिक या आध्यात्मिक चिकित्साओं के आधार-भूत सिद्धान्तों के व्यावहारिक प्रयोगों" के रूप में लिखे गये हैं।

पुस्तक में १२ अध्याय हैं, जिनके अनुसार चलकर मनुष्य निस्सन्देह आत्म-चिकित्सा कर सकता है—बशर्ते कि वह उनपर अपना विश्वास जमा सके; क्योंकि ध्यान करते समय मानसिक स्थिति आलोचनात्मक नहीं, ग्राही होनी चाहिए।

"परमात्मा स्वस्थ नहीं स्वास्थ्य है। मैं परमात्मा का हूँ, अतः स्वास्थ्य मेरा जन्म-सिद्ध स्वत्व है। मेरा शरीर रुग्ण है, क्योंकि मैंने आजतक इस महान् सत्य की अनुभूति नहीं पाई है। अब मैं कभी इससे अलग न होऊँगा।" एक या दूसरे दृष्टिकोण से सभी ध्यानों का लक्ष्य इसी केन्द्र पर है। तर्क सीधा सादा है, सच्चा है, ज़बर्दस्त है। प्रश्न यह हो सकता है कि उसे समझ कितने सकेंगे? उन थोड़े से समझनेवालों से हमारी प्रार्थना है कि वे इन ध्यानों का भलीभाँति मनन करें और नियमानुसार पाठकर इनके आन्तरिक अर्थ को खोज निकालने की चेष्टा करें। ये अवश्य उपयोगी सिद्ध होंगे।

६६ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ॥) अधिक जान पड़ता है। छपाई की भूलें भी बहुत हैं।

शान्तिप्रसाद वर्मा

सामर्थ्य, समृद्धि और शान्ति

लेखक—श्री रामचन्द्र वर्मा। प्रकाशक—हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाव, बम्बई। पृ० स० २५५। मू० ।।।) रु०

प्रस्तुत पुस्तक डा० स्वेट मार्डेन की Peace Power and Plenty नामक पुस्तक के आधार पर लिखी गई है। इसमें १९ लेखों में आत्म-विश्वास, दृढ़ निश्चय इत्यादि का महत्त्व बतलाया है। पुस्तक उपदेशपूर्ण एवं उपयोगी है। भाषा भी मँजी हुई है परन्तु यदि संस्कृत श्लोकों का हिन्दी में अनुवाद दे दिया जाता तो अच्छा रहता। इस ढंग के ग्रन्थों की हिन्दी में आवश्यकता है।

गोपालस्वरूप भटनागर

खल-मण्डल

लेखक—श्री खल-कण। प्रकाशक—श्री अयोध्याप्रसाद शर्मा, स्वाधीन प्रेस झाँसी। पृष्ठ सं० ५३। मूल्य ≡)

प्रस्तुत पुस्तिका व्यङ्ग्य-साहित्य के निर्माण का अधिकांश सफल प्रयत्न है। इसमें देश के जीवन के विविध अंगों की बुराइयों का व्यङ्ग्य द्वारा मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद परिचय कराया गया है। हमारी राय में अगर श्री खल-कणजी इसमें व्यक्तिगत व्यंग्य को स्थान न देते तो अच्छा होता। वैसे पुस्तिका में मनोरंजन और शिक्षा की काफ़ी सामग्री है।

त्रिवेदी

साहित्य-सत्कार

हिन्दी

१ बाल-विभव—रचयिता—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'। प्रकाशक—हिन्दी-मन्दिर, शीतलपुर, पो० एकमा, ज़ि० सारन। पृ० ५१, मूल्य ≡)

२. घरौंदा—रचयिता—श्री जगन्नाथप्रसादसिंह। प्रकाशक वही। मूल्य ।-)

३. जैनियों की तरक्की—लेखक व प्रकाशक—श्री लक्ष्मीलाल सखसेया, जावद (मालवा)। पृ० स० १५२, मू० ॥)

४. काश्मीर—लेखक—श्री श्रीगोपाल नेवटिया। प्रकाशक—हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग। सजिल्द-सचित्र। मू० ५)

५ औषधि विज्ञान अर्थात् एलोपेथिक मेटीरिया मेडिका—अनुवादक-डा० महेन्द्रलाल गर्ग। प्रकाशक—प० क्षेत्रपाल शर्मा, मालिक सुखसंचारक कम्पनी, मथुरा। पृ० सं० ६३९, मूल्य ६)

६ काकोरी के शहीद—संकलनकर्ता—श्री "भीष्म" प्रकाशक—प्रताप-कार्यालय, कानपुर। पृ० सं० ३५२ मू० ॥≡)

७ मायाक्षेत्र का महात्म और हरिद्वार का इतिहास—लेखक और प्रकाशक—श्रीयुत शामलाल पृ० स० १७६, मू ।॥)

८. सुदर्शन (नाटक)—लेखक—प मूलचंद जैन 'वत्सल'। प्रकाशक—साहित्य-रत्नालय, बिजनौर। पृ० स० ११२, मू० ॥)

गुजराती

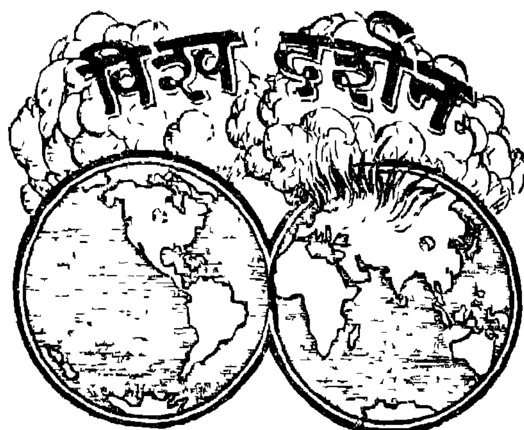
१ राजाजीनी वातो—लेखक—चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य। प्रकाशक—प्रस्थान-कार्यालय, अहमदाबाद। पृ० स० ६२, मूल्य ≡)

पत्र-पत्रिकायें

१ क्रान्ति (साप्ताहिक)—सपादक व प्रकाशक—प० सन्तराम 'विचित्र', दिल्ली। पृ० १८। वा० मू० ३)

२. युवक (मासिक)—संपादक—श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी प्रकाशक—युवक-आश्रम, बांकीपुर, पटना। वा० मू० ४)

———



अफ़ग़ानिस्तान की समस्या

वर्तमान समय में प्रचलित राजपद्धतियों से सम्बन्ध रखनेवाली समस्यायें इतनी जटिल हो गई हैं कि उनका अन्धकार भेद कर जगत् के भविष्य को देख लेना अथवा उसका अनुमान कर लेना, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक अच्छे विद्यार्थी के लिए भी, असम्भव हो रहा है। व्यक्ति, दल, समाज और राष्ट्र के पारस्परिक संघर्ष ने राजनीति को इतना अनिश्चित, इतना आकस्मिक और इतना विरूप कर दिया है कि ऊपर की घटनाओं के सहारे पर्दे के अन्दर की, भीतर-ही-भीतर चलने वाली चीज़ों का मुँह स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता—उनका पहचानना मुश्किल हो रहा है। जो कुछ आज है, उसके सहारे कल का अनुमान लगाना एक हास्यास्पद चेष्टा है। कल क्या होगा, यह कोई नहीं कह सकता। ऊपर से विश्व-शान्ति स्थापन की चेष्टा कर रहा है और भीतर-ही-भीतर ज्वालामुखी का वह होम-कुण्ड तैयार हो रहा है, जिसकी लपटें, जब बाहर होंगी तो, आकाश के कलेजे फाड़ देंगी और बेचारे असहाय मानव-समाज के कितने ही कुटुम्ब उसमें कीट-पतंग बन होम हो जायँगे!

ऐसा ही एक विस्फोट अफ़ग़ानिस्तान में हुआ है। अभी कल तक वहाँ सब काम शान्ति के साथ और ठीक-ठीक चल रहे थे; पर इस शान्ति के भीतर ही भीतर अज्ञान के बारूद की जो खानें एकत्र हो रही थीं, वे फट पड़ीं। आज वहाँ चारों ओर अशान्ति और विद्रोह है।

सम्राट् अमानुल्ला के शासन का इतिहास उनके अनेक प्रशंसनीय साहसिक कार्यों की एक सूची है। १ जून १८९२ ई० से, जो उनका जन्मदिवस है, आज तक वह कभी विलासिता के वातावरण में न रहे। इनके दादा आधुनिक अफ़गानिस्तान के जन्मदाता अमीर अब्दुर्रहमान की मृत्यु के बाद १९०१ ई० में जब इनके पिता अमीर हबीबुल्लाखां गद्दी पर बैठे तब भी देश के विभिन्न फ़िरक़ों में भीतर ही भीतर मनोमालिन्य बढ़ रहा था। गिलज़ाई लोग (जो अपना उद्गम तुर्कों से बताते हैं) उस समय भी अशान्त थे और अन्त में उसी अशांति की आग में २० फ़रवरी १९१९ ई० को उन्हें होम हो जाना पड़ा। गिलज़ाइयों ने उनकी हत्या कर डाली। इस समय मौक़ा देखकर जलालाबाद में (जहाँ उस समय राजनिवास था) हबीबुल्ला के भाई नसरुल्ला ने अपनेको बादशाह घोषित कर दिया। अमानुल्ला उस समय काबुल के गवर्नर थे। जब उन्हें यह बात मालूम हुई तो, युवराज न होते हुए भी, उन्होंने अपनी शक्ति एकत्र करके २८ फ़रवरी १९१९ को गद्दी पर अधिकार कर लिया। सबको उनका अधिकार मानना पड़ा।

गद्दी पर बैठने के बाद ही अमीर अमानुल्ला को स्वदेश के विकास की चिन्ता लग गई। अभी तक अफ़गानिस्तान अंग्रेज़ों की छत्र-छाया में था। यह बात स्वाभिमानी अमानुल्ला के लिए असह्य थी। उन्होंने साधारण तैयारी करके भारतीय सीमा-प्रान्त पर आक्रमण कर दिया और अन्त में भारत एवं ब्रिटिश सरकार को बराबरी की सन्धि करने पर बाध्य किया। इस प्रकार नवम्बर १९२२ में काबुल में जो सन्धि हुई उससे अफ़गानिस्तान अन्य स्वतंत्र देशों की श्रेणी में आ गया और आज उसके दूतावास सभी प्रधान राष्ट्रों की राजधानियों में बने हुए हैं।

अमानुल्ला ने संसार के राष्ट्र समूह में अफ़गानिस्तान की उच्चतर मर्यादा ही नहीं स्थापित की वरन् आन्तरिक सुधारों पर भी ध्यान दिया। १९२३ के अन्त में उन्होंने पार्लमेण्टरी शासन का आरम्भ करने के उद्देश्य से एक नवीन विधान बनाया और विगत वर्ष की यूरोपीय यात्रा के बाद कट्टरता को नष्ट करने और लोगों में सभ्य नागरिकता के भाव फैलाने के उद्देश्य से अनेक सामाजिक सुधारों की घोषणा की।

अशिक्षा और कट्टरता की गोद में सैकड़ों वर्ष से पलने वाले अफ़गानिस्तान-निवासी राजनीति का महत्त्व क्या जान सकते थे? उन्हें क्या पता था कि इन सुधारों से देश की मर्यादा बढ़ेगी? अफ़गान एक साहसी, अधिकार-प्रिय, स्थिति पालक और प्रतिहिंसक मनुष्य है। जब अमानुल्ला यूरोपीय यात्रा में थे, उनकी विरोधी शक्तियाँ, भीतर ही भीतर प्रजा को उत्तेजित कर रही थीं। जिन मुल्लाओं का अफ़गानिस्तान में जाना रोक दिया था, उनका भी इसमें हाथ रहा होगा। यूरोप-यात्रा से लौटकर जब उन्होंने नये सुधार जारी किये तो कुछ फ़िरक़े बिगड़ खड़े हुए, धर्म की दोहाई दे-देकर लोगों को उभाड़ा गया। देखते-देखते आग दूर तक फैल गई। मौक़ा देखकर बच्चा सक़ाऊ नामक एक अफ़गान ने (जिसे सेना से निकाल दिया गया था) इन बलवाइयों का नेतृत्व ग्रहण कर लिया। विद्रोहियों और राजकीय सेना में चार गहरे युद्ध हुए, जिसमें लगभग छः-सात हज़ार आदमी मारे गये। विद्रोहियों की शक्ति बढ़ती गई, फल-स्वरूप पहले तो अमानुल्ला ने उन्हें शान्त करने के लिए सुधारों के लौटा लेने की घोषणा की, किन्तु इससे भी शान्ति स्थापित होने की संभावना न देख निरीह प्रजा की रक्षा के लिए वह अपने बड़े भाई इनायतुल्ला को सिंहासन पर बैठा स्वयं कंदहार चले गये।

पिछली खबरों से मालूम होता है कि विद्रोही इस परिवर्तन से भी शांत नहीं हुए हैं और लड़ाई जारी है। बच्चा सक़ाऊ ने काबुल एवं उसके आस-पास के सब स्थानों पर अधिकार कर लिया है और हबीबुल्ला-ए-गाज़ी नाम से अपनेको अमीर भी घोषित कर दिया है। इनायतुल्ला ने बिना किसी प्रतिरोध के गद्दी छोड़ दी। सुना गया है वह भी सकुटुम्ब कंदहार गये हैं। सबसे पिछली खबर यह है कि बच्चा सक़ाऊ की हत्या की भी अफ़वाह ज़ोरों से फैल रही है। उधर खबर आई है कि ग़ज़नी एवं कन्दहार की प्रजा के सहारे अमानुल्ला काबुल पर क़ब्ज़ा करने जा रहे हैं। जलालाबाद पर उनके गवर्नर अहमदअली जान का अब भी अधिकार है, शिनवारी लोगों पर उनका

प्रभाव है। ऐसी हालत में यह सभावना की जाती है कि अमानुल्ला अफ़ग़ानिस्तान को अपने सामने नष्ट होते न देख सकेंगे और यदि दूसरी कोई दृढ एव शक्तिमान केन्द्रीय सरकार स्थापित न हुई, तो अपनी बिखरी शक्तियाँ एकत्र कर पुन. सम्पूर्ण अफग़ानिस्तान मे केन्द्रीय सरकार स्थापित करने के प्रयत्न मे लग जायँगे। भारत के मुसलमान भी जगह-जगह सभाये कर उनके साथ सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं। सुनते हैं शिनवारियों ने नवीन सरकार के विरुद्ध काबल पर चढ़ाई कर दी है और उधर अमानुल्ला भी सेना एकत्र कर रहे हैं।

इन बातों पर विचार करते समय इस बात पर भी पाठकों का ध्यान जाना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय और विशेषत एशिया की राजनीति में अफगानिस्तान का क्या महत्व है। अभी हाल में किसी अग्रेज लेखक ने लिखा था—"It is the buffer between Red Russia and British India, one of the most coveted countries in the world × × ×" अर्थात् "यह सोवियट रूस और ब्रिटिश भारत के बीच का राज्य है और दुनिया का एक ऐसा देश है जिस पर बहुतों के दाँत लगे हुए हैं।" पहाड़ों ने इस राज्य को बहुत सुरक्षित और लगभग अजेय बना रक्खा है, ब्रिटेन की सम्पूर्ण शक्ति भी लगातार चार वर्ष तक इस पहाड़ी किले-बन्दी से टक्कर खाकर हार चुकी है। अफगानिस्तान इस समय आधुनिक राजनैतिक ससार की कुंजी है। ऐसे देश के बहुत बलवान हो जाने मे सोवियटरूस या ब्रिटिश भारत दोनों में से किसका कितना हानि-लाभ है, यह कहना कठिन है पर यह कहा जा सकता है कि अफ़गान की उन्नति और स्वतन्त्रता का प्रभाव उसके पडोसी भारत की प्रजा पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता था।

इन बातों के अतिरिक्त निम्न लिखित बातों पर भी विचार करना चाहिए—

१—अमानुल्ला पूर्वी राष्ट्रों का एक सघ बनाने के इच्छुक थे। इस संघ का प्रभाव स्वभावतः ही भारत पर पड़ता क्योंकि राजा महेन्द्रप्रताप का, सुनते हैं, इस कार्य-क्रम में बड़ा हाथ था। इस पूर्वीय राष्ट्र-संघ का जेनेवा के सघ से, जिसमें ब्रिटेन की तूती बोलती है, विरोध पड़ना स्वाभाविक था और इस कार्य की सफलता से सम्भव था कि एशिया में ब्रिटिश-शक्ति की मर्यादा को कुछ धक्का पहुँचता।

२—अखबारों से मालूम होता है कि अमानुल्ला ने यूरोप यात्रा के आरम्भ में, बम्बई मे, अपने पडोसी भारत के स्वतन्त्र होने की कामना नमाज पढते समय प्रकट की थी, यहाँ के कट्टर मुल्लाओं को फटकारा था।

३—रोम में ब्रिटिश मिनिस्टर के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा था उससे जहाँ उनकी मनोवृत्ति का ठीक पता नहीं लगता, वहाँ यह भी मालूम होता है कि वे ब्रिटेन-प्रेमी (Pro-British) न थे।

४—लन्दन के "इम्पायर न्यूज" में डाक्टर फ्रांसिस हैवलाक ने एक लेख प्रकाशित कराया है। फ्रीप्रेस के लण्डन के प्रतिनिधि द्वारा भेजी सूचना के अनुसार डा० हैवलाक स्वयं साम्राज्यवादी है। उनके जीवन का बहुत बडा भाग भारत और अफ़गानिस्तान में बीता है और वह यूरोप-यात्रा मे कुछ समय तक अमानुल्ला के साथ भी थे। वह कहते हैं कि सीमाप्रान्त पर युद्ध के पूर्व एक विचित्र मनुष्य देखा गया था। वह जब-जब आता तब-तब उसके बाद बहुत-सा युद्ध का सामान तथा सोना इत्यादि अफगानिस्तान की ओर जाता दीख पड़ता। इसमे ब्रिटिश रायफलें भी थीं, जो विद्रोहियों के लिए भेजी गई थी। अन्दाज किया जाता है कि यह ब्रिटिश पार्लमेण्ट का भूतपूर्व सदस्य ट्रेविश लिंकोलन था। कहते हैं चीन मे भी इसने कुछ झगडे फैलाये थे। डा० हैवलाक यह भी कहते है कि नवम्बर के तीसरे सप्ताह मे अफगानिस्तान मे एकाएक कर्नल लारेन्स का आगमन हुआ था और उन्होंने अमानुल्ला, पुलिस के अध्यक्ष तथा युद्ध-सचिव से भेंट भी की थी। भेंट करके वह कहाँ गायब हो गये, इसका फिर पता न लगा। यह लारेन्स वही हैं जिन्होंने नाना प्रकार के कहानी-किस्से फैलाकर और स्वयं अरबों जैसी रहन-सहन धारण कर उन्हें ब्रिटेन के पक्ष में कर लिया था। लारेन्स दुनिया का एक बहुत ही रहस्यमय व्यक्ति है। उसके सम्बन्ध में बहुत-सा

साहित्य निकल चुका है, फिर भी उसका ठीक ज्ञान किसी को नहीं है। जैसा कि भारत-सरकार की विज्ञप्ति से मालूम होता है, अभी १० दिन पूर्व तक यह लॉरेन्स "एयरक्रैफ्टस-मैन शा" नाम से भारतीय वायुयान-विभाग का एक अधिकारी भी था। यदि डा० हैवलाक का विवरण ठीक है और दोनों लारेन्स एक ही हैं तो भारत-सरकार का अधिकारी होते हुए भी उसका नवम्बर के अन्त में अफगानिस्तान जाने का क्या उद्देश्य हो सकता है? यह एक रहस्यमय बात है। सब से पिछला समाचार यह है कि अमानुल्ला ने वायसराय को एक 'केबुल' दिया था कि क्या आवश्यकता पड़ने पर मुझे भारत मे आश्रय मिल सकता है? यह तार वायसराय को कलकत्ते मे मिला था। सुनते हैं, उन्होंने भारत सचिव से इसकी बाबत पूछा भी था और वहाँ से उत्तर मिला—हाँ। ठीक बात क्या है, कुछ समझ नहीं पड़ता।



अमीर अमानुल्ला और बेगम सुरैया

५—इधर प्रयाग से भूतपूर्व अमीर अयूबखाँ के बड़े पुत्र के गायब हो जाने का समाचार गतमास में मिला था। पेशावर के कुछ लोगों का कहना है कि वह अफ़ग़ानिस्तान पहुँच गया है। एक अफवाह तो ऐसी भी है कि बच्चा सकाऊ ने उसे ही काबुल का गवर्नर नियुक्त किया है। हाल मे भारत-सरकार और केन्द्रीय गुप्तचर विभाग की सूचना के आधार पर देहरादून, लाहौर और प्रयाग में इस भागे हुए शाहजादे के चार भाई तथा अन्य अफ़गान शाहजादे गिरफ्तार किये गये और रंगून भेज दिये गये हैं। गिरफ्तारी के समय ये लोग खुश थे और एक ने कहा कि "ऐसी गिरफ्तारी तो खुशी की बात है।" न जाने क्या रहस्य है?

६—पिछले समाचारों से मालूम होता है कि काबुल एवं उसके पास की बाघी-बाला और डेल-कोहेक पहाड़ियो पर विद्रोहियों के नेता बच्चा सकाऊ का अधिकार है। ब्रिटिश दूतावास इन पहाड़ियों के पास ही है और फिर भी वहाँ विद्रोहियों द्वारा कोई कठिनाई उपस्थित किये जाने अथवा किसी खतरे का समाचार नहीं मिल रहा है। यह भी कहा जाता है कि बच्चा सकाऊ पहले ब्रिटिश-दूतावास से चन्द मील के ही फ़ासले पर रहता था।

इन बातों पर विचार करने से मन में अनेक भाव

उदय होते हैं। यह तो कहना ही पड़ता है कि जैसी भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, वह केवल मुल्लाओं के विरोध की उपज नहीं हो सकती। उसमे अन्य राजनैतिक उपकरण भी मिश्रित है। ये राजनैतिक उपकरण क्या हैं। यह कहना कठिन है। फार्म छपते छपते मालूम हुआ है कि भारत-सरकार ने एक विज्ञप्ति द्वारा डा० हैवलाक की बातों का खण्डन किया और उसे कोरी गप्प बताया है। कहा जाता है कि अफ़गानिस्तान के विद्रोह से भारत-सरकार का कुछ लाभ नहीं हो सकता, हानि ही होगी। किसी समाचार पर एक दम विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि इनमे अफ़वाहों की अधिकता है।

इस समय जो परिस्थिति है, उसमें अफ़गानिस्तान मे गृह-युद्ध की आशका बढ़ गई है और केन्द्रीय सरकार की स्थापना होने में देर लगेगी। लोगों ने आशा प्रकट की है कि यदि इधर की खबरे ठीक हैं, तो अमानुल्ला के फिर सम्राट हो जाने की सभावना की जाती है।

इस अशान्ति का भारत पर क्या प्रभाव पड़ेगा, कहा नहीं जा सकता। पर यह कहना ही पड़ता है कि इस समय अफ़गानिस्तान एक ख़तरे की चीज़ हो रहा है और बहुतेरे पत्रों ने तो 'पूर्व का बेलजियम' कहकर भावी सघर्ष के प्रति भयप्रद आशंका भी प्रकट की है।

'सुमन'

यूगोस्लेविया में

'त्यागभूमि' के किसी पिछले अक मे हमने 'यूगोस्लेविया का भविष्य' लेख मे बताया था कि वहाँ क्रोट लोगो के विद्रोह की आशका बहुत अधिक है, और यूगोस्लेविया का भविष्य अच्छा नहीं है। आखिर वही हुआ। यूगोस्लेविया के राजा अलेक्जैंडर ने, अभी कुछ दिन हुए, एक घोषणा प्रकाशित कर यूगोस्लेविया के वर्तमान विधान को तोड़ दिया है, जिसके परिणामस्वरूप क्रोटिया एक स्वतन्त्र राज्य बन गया है।

कृष्ण

———



सामान्य वातावरण

कलकत्ता-कांग्रेस में स्वीकृत कार्यक्रम को दृष्टि में रखकर और कांग्रेस के जोश को देखते हुए जिस प्रगति की आशा की जाती थी, उसका प्रारम्भ अभी तक नहीं हुआ है। कांग्रेस मे पूर्ण स्वतन्त्रता के आन्दोलनकारी भी इस समय महात्मा गांधी के प्रस्ताव को कोसने के सिवा कुछ करते नहीं दीख रहे। अछूतोद्धार, शराब-बहिष्कार, विदेशी वस्तु-बहिष्कार आदि अनेक ऐसे कार्य है, जो बहुत जोश के साथ किये जा सकते हैं, परन्तु ऐसा मालूम होता है कि इनकी तरफ किसीका ध्यान ही नहीं गया। अबतक किसी प्रान्त में इस कार्यक्रम की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। यद्यपि कांग्रेस-कार्यक्रम के कारण देश में कोई देशव्यापी हलचल नहीं हो रही और न पूर्ण स्वतन्त्रतावादियो के दल ने ही कोई निश्चित कार्यक्रम उपस्थित किया है, तथापि सरकार उनसे बहुत भयभीत हो गई है। सुना गया है कि सरकार पूर्ण स्वतन्त्रतान्दोलन को कुचलने का विचार कर रही है। बहुत सभव है कि वह दमन-नीति प्रारम्भ भी करदे। देश के पत्रों ने इस अफवाह का स्वागत किया है। महात्मा गांधी ने तो लिखा है कि भारत यही चाहता है कि दमन हो, जिससे उसकी राजनैतिक भावना फिर दृढ़ और सगठित हो जायगी। इससे यह भी मालूम हो जायगा कि सरकार औपनिवेशिक स्वराज्य के क्या अर्थ

लगाती है। अभी नहीं कहा जा सकता कि सरकार क्या करेगी।

मध्यप्रान्तीय कौंसिल राष्ट्रीय दृष्टि से सबसे अधिक सफल रही है। श्री उमेशदत्त पाठक दोनों मन्त्रियों पर अविश्वास का प्रस्ताव पेश करने वाले थे कि उससे एक दिन पूर्व ही श्रीयुत राघवेन्द्रराव और श्रीयुत केदार ने त्यागपत्र दे दिया। अब इस समय वहाँ कोई मन्त्री नहीं है।

पञ्जाब-सरकार पहले सेण्डर्स के हत्याकाण्ड की जांच करने में परेशान थी कि एक नई आफ़त आ खड़ी हुई। और वह है—

लाहौर का सैनिक-सत्याग्रह

पिछले यूरोपीय युद्ध में अंग्रेजी सरकार जिन भारतीय सिपाहियों के बल पर जीती थी, युद्ध समाप्त होते ही उसने उन सिपाहियों से किनारा कर लिया। बेचारे ग़रीब भारतीय सिपाही किसी तरह गुज़ारा करते रहे। उन कष्टों को अधिक सहने में असमर्थ होकर पञ्जाब के सैकड़ों सैनिकों ने गत दिसम्बर में लाहौर में इकट्ठे होकर सरकार से प्रार्थना की कि वह उनके खाने-पीने का यथोचित प्रबन्ध करे। उन सैनिकों ने सरकार को यथोचित प्रबंध करने के लिए एक मास की अवधि दी। परन्तु सरकार ने उस प्रार्थना पर कुछ ध्यान नहीं दिया। इसपर अपने निश्चय के अनुसार हजारों सैनिक गवर्नर की कोठी पर उनसे मिलने को लाहौर चले। पुलिस ने उन्हें रोक लिया और उनके नेता को पकड़ लिया। दृढ़निश्चयी सैनिकों ने इसपर अनशन व्रत प्रारम्भ कर दिया और उसी सड़क पर धरना दे दिया। श्रीमती अनूपसिंह उनका नेतृत्व कर रही हैं। इस अवसर पर लाहौर की अनेक संस्थाओं ने भोजन वस्तु आदि से उनकी सहायता की। शनैः-शनैः स्थिति गंभीर हो गई। सरकार ने उन्हें एक ऐसा डेपुटेशन चुनने के लिए कहा जो गवर्नर से मिले। परन्तु सैनिकों ने जवाब दिया कि हमारे नेताओं के छूटने पर हम प्रतिनिधि चुनेंगे। अन्त में निराश होकर सरकार ने उन नेताओं को छोड़ दिया और उन सैनिकों की जांच के लिए एक तहसीलदार नियुक्त किया है, जो प्रत्येक सिपाही का नाम, पता, और उसकी शिकायत दरयाफ्त कर एक रिपोर्ट तैयार करेगा।

अहमदाबाद-कालेज के वीर विद्यार्थी

उधर अहमदाबाद में गुजरात कालेज के विद्यार्थी भी सत्याग्रह कर रहे हैं। अहमदाबाद में साइमन कमीशन के आने के दिन कालेज के विद्यार्थियों ने कालेज की परीक्षा में उपस्थित न होकर हड़ताल की थी। प्रिंसिपल ने उनसे जुर्माना देकर दूसरे किसी समय परीक्षा में बैठने को कहा, परन्तु विद्यार्थियों ने स्वीकार नहीं किया। प्रिंसिपल ने अब तीसरा समय निश्चित कर विद्यार्थियों से जुर्माना वसूल करना चाहा, परन्तु विद्यार्थी इस तरह परीक्षा देने को तैयार न हुए। परीक्षा के दिन कई गुजराती महिलाओं ने भी परीक्षा-भवन के दर्वाजे पर धरना दिया। स्थिति गंभीर हो गई है। ७५० विद्यार्थी दो सप्ताहों से हड़ताल किये बैठे हैं। प्रिंसिपल ने दो बार विद्यार्थियों के डेपुटेशन के सामने समझौते के लिए विभिन्न शर्तें पेश की, परन्तु डेपुटेशन ने उन्हें अपमानजनक कह कर स्वीकार नहीं किया। महात्मा गांधी, श्री जवाहरलाल नेहरू और नरीमन प्रभृति नेता विद्यार्थियों को दृढ़ रहने का उपदेश दे रहे हैं। यदि इसमें विद्यार्थियों को सफलता मिल गई, तो उसका गहरा प्रभाव देश के विद्यार्थियों पर अवश्य पड़ेगा। गत २१ जनवरी को अहमदाबाद के सब स्कूलों के विद्यार्थियों ने कालेज के विद्यार्थियों से सहानुभूति दिखाने के लिए हड़ताल की। श्रीयुत नरीमन इसी सम्बन्ध में भारत-भर के स्कूल-कालेजों में हड़ताल कराना चाहते हैं।

कलकत्ता में बहिष्कार

साइमन-कमीशन अपना काम करता हुआ १२ जनवरी को कलकत्ते पहुँचा। नगरवासियों ने पहले ही से उसके बहिष्कार-प्रदर्शन का प्रबन्ध कर रक्खा था। शहर में बहुत अधिक जोश था। आसाम से आनेवाली गाड़ी सियालदह स्टेशन पर आती थी, इसलिए उसी स्टेशन पर कमीशन के उतरने का निश्चय था। जनता हजारों की तादाद में वहाँ काले झण्डे लेकर सबेरे पहुँच गई थी। सरकार ने

इस बहिष्कार-प्रदर्शन के भय से कमीशन का रास्ता नैहाटी स्टेशन से बदल कर उसे बहुत सबेरे हवड़ा स्टेशन पर उतारा । परन्तु इतना छिपाने पर भी जनता ने पता लगा ही लिया । फिर भी कुछ शंका के कारण जनता दो दलों में बँट गई और एक दल हवड़ा स्टेशन की ओर चला । पुलिस ने इन्हें हवड़ा पुल के इधर रोक लिया और स्टेशन पर न पहुँचने दिया ।

दोनो स्टेशनों तथा उधर जाने वाली सड़कों पर पुलिस का कड़ा पहरा लगा दिया गया था । हवड़ा स्टेशन के सब मुख्य फाटक बन्द कर दिये गये थे और ६, ७ नम्बर के प्लेटफार्म टीन के चादरों से घेरे गये थे । कमीशन के हवड़ा पहुँचने की खबर सुनकर हजारों लोग हरिसन रोड में आ गये । ६॥ बजे कमीशन हवड़ा पुल से गुजरा । उस विशाल जनसमूह ने एक स्वर से "साइमन लौट जाओ" की आवाज से आकाश को गुंजा दिया । कमीशन शीघ्र ही निश्चित रास्ते से चला गया ।

तब जनता ने भी सुभाषचन्द्र बोस आदि के नेतृत्व में कई दलों में विभक्त होकर शहर की मुख्य-मुख्य सड़कों पर जुलूस निकाले । सुबह से ४ बजे शाम तक नगर में हिन्दुओं की बस्ती में पूरी हड़ताल रही, परन्तु अंग्रेज और कुछ मुसलमानों ने दुकानें खोलीं । सभी गैर-सरकारी स्कूल और कालेज बन्द रहे और जो बन्द नहीं हुए, उनमें बहुत कम विद्यार्थी गये । शाम को श्रीयुत जे० एम० सेन गुप्त के सभापतित्व में श्रद्धानन्द पार्क में सभा हुई । गत १९ ता० को कमीशन-बहिष्कार के सम्बन्ध में बड़ा भारी जुलूस निकला और सभा हुई । इसमें मजदूरों ने बहुत भाग लिया ।

मज़दूर-प्रगति

गत मास में झरिया में मजदूर-संघ का अधिवेशन हुआ । उसमें मजदूरों के हित-सम्बन्धी अनेक प्रस्ताव पास हुए, परन्तु उस सम्मेलन से मजदूरों की प्रगति का इतना अच्छा ज्ञान नहीं हुआ, जितना कि कलकत्ते में इस अफवाह से कि २०००० मजदूर आकर कांग्रेस-पण्डाल को अपने अधिकार में कर लेंगे । उस समय एक बार तो दिल में मजदूरों के प्रश्न की ओर ध्यान खिंचे बिना न रहा और भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक जबर्दस्त क्रान्ति की कल्पना हो उठी । अच्छा हुआ, यह अफवाह ठीक नहीं थी । मजदूर आये, उनके साथ बंगाली स्वयंसेवकों ने जो दुर्व्यवहार किया, उससे सम्भव था कि कोई दुर्घटना हो जाती, परन्तु मजदूरों की शान्ति और मोतीलालजी की दूरदर्शिता ने वैसा अवसर न आने दिया, मजदूरों की शान्तिपूर्ण विशाल सभा हुई । कांग्रेस-पण्डाल पर उन्होंने अधिकार नहीं किया । परन्तु उस प्रदर्शन और विशाल सभा से यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय राजनीति में अब मजदूरों के प्रश्न की उपेक्षा करना बहुत हानिप्रद होगा । मजदूरों की यह बड़ी भारी जीत हुई कि कांग्रेस ने अपने मुख्य कार्यक्रम में मजदूरों के संगठन को भी स्थान दिया ।

अबतक कलकत्ता, बम्बई, कानपुर आदि में तो मजदूरों के संगठन हो चुके हैं, परन्तु दिल्ली में भी कुछ समय से मजदूरों ने एक संगठन-समिति बना ली है । अहमदाबाद की जिनिंग मिल में जो झगड़ा चल रहा था, वहाँ भी मजदूरों की विजय हुई ।

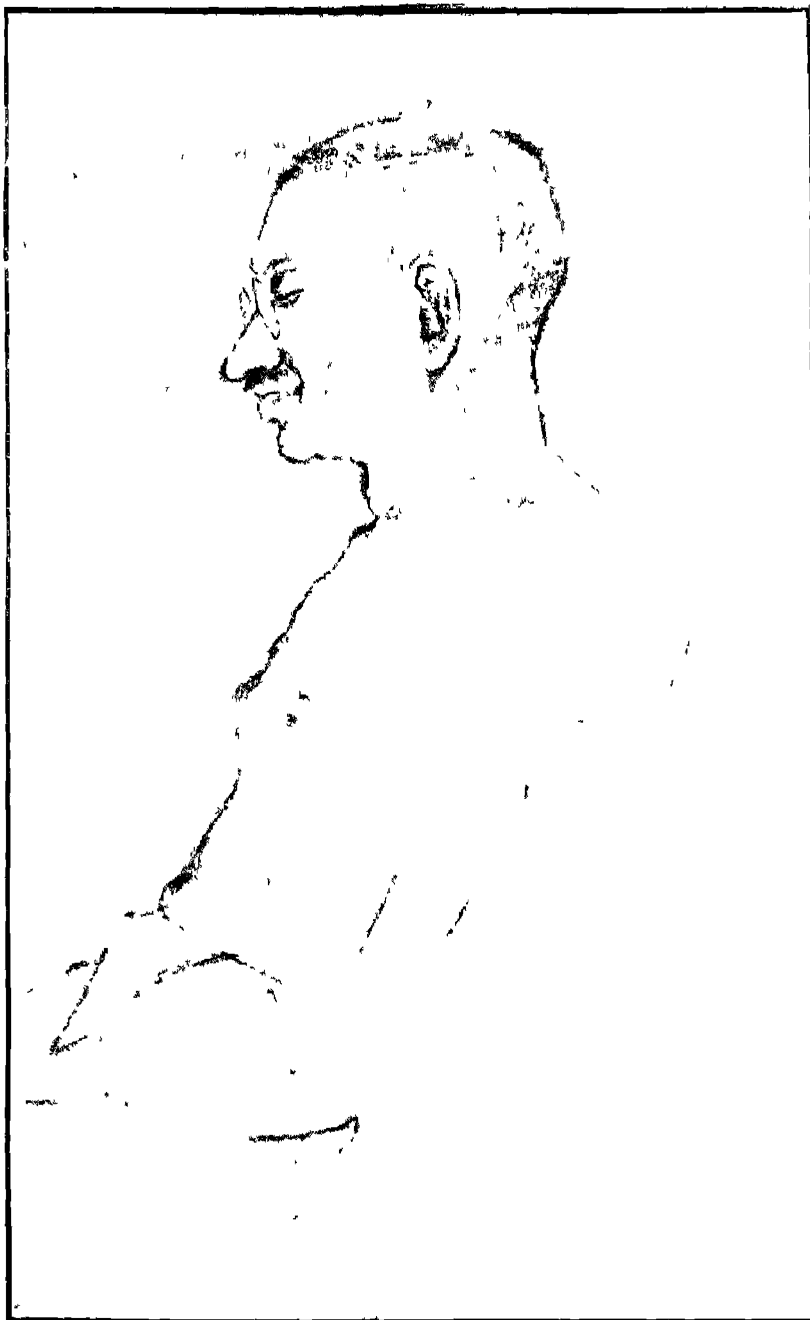
परन्तु जहाँ हम मजदूरों की प्रगति की प्रशंसा करते हैं, वहाँ बम्बई में मजदूरों के उपद्रवों की तरफ भी उनके नेताओं का ध्यान खींचना चाहते हैं । मजदूरों के ये उपद्रव किसी तरह क्षन्तव्य नहीं हैं ।

कांग्रेस सप्ताह

कांग्रेस सप्ताह में कलकत्ता में बड़ी हलचल रही । कांग्रेस के अधिवेशन के साथ राष्ट्रभाषा-सम्मेलन, स्वाधीन भारत-संघ, पूर्ण स्वतंत्रता-संघ, युवक-सम्मेलन, भारतीय सामाजिक सम्मेलन आदि अनेक सम्मेलनों के साथ कई जातीय सम्मेलन भी हुए । कांग्रेस में अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए, जिनमें से मुख्य प्रस्ताव आगे दिये जा रहे हैं । सर्व दल सम्मेलन का विशेष महत्त्व रहा है ।

कांग्रेस के कार्य क्रम तथा प्रस्तावों पर आगे विचार किया गया है । उसकी सफलता या असफलता का विचार यहाँ नहीं करना । परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जितना वाह्याडम्बर था, उतनी गम्भीरता नहीं थी ।

प्रेरक शक्ति



महात्मा गांधी

लोगों में जितना जोश था। उसके अनुकूल उनमें सच्ची लगन नहीं थी। कांग्रेस के संगठन की त्रुटियाँ साफ़ दीख रही थीं। स्वयंसेवकों में जिस सेवा के भाव की आवश्यकता थी, वह उनमें नहीं था। वे वर्तमान पुलिस के सिपाही-से मालूम होते थे। उनका व्यवहार प्रशंसनीय नहीं था। महात्मा गांधी ने कांग्रेस की जो समालोचना की है, उसका प्रत्येक अक्षर सत्य है।

भूतपूर्व राष्ट्रपति



डा० असारी

कांग्रेस का प्रबन्ध बहुत अच्छा था। पण्डाल बहुत बड़ा था, जिसमें सब प्रतिनिधि और दर्शक अच्छी तरह बैठ सकते थे। प्रतिनिधियों के रहने का प्रबन्ध बहुत अच्छा था। देशबन्धु नगर की सफाई वगैरा बहुत प्रशंसनीय थी। वहाँ की प्रदर्शिनी तो एक अजीब चीज़ थी। यदि उस में विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया जाता, तो उसकी उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं था। पर स्वदेशी

विदेशी सामानों को देखकर उसका वास्तविक उद्देश्य समझ में नहीं आता था। बहुत से लोगों का यह खयाल था कि केवल अर्थ-संग्रह के लिए इसका आयोजन किया गया है। प्रदर्शिनी की विशाल आयोजना को देख कर कभी-कभी यह सन्देह अवश्य होता था कि कांग्रेस बड़ा है या प्रदर्शिनी !

वर्तमान राष्ट्रपति



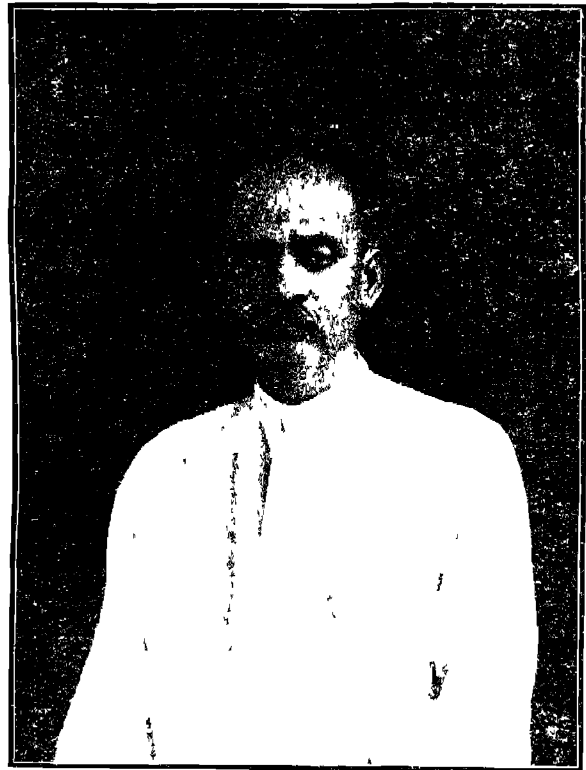
पं० मोतीलाल नेहरू

स्वतंत्र-पक्ष एवं युवक-दल के नेता



पं० जवाहरलाल नेहरू

बारडोली संग्राम के विजयी सेनापति



श्री वल्लभभाई पटेल

एक बहुत दुःखजनक बात देखी गई कि वहाँ ग़रीबों के लिए कोई विशेष स्थान न था। किसी भी सम्मेलन में-चाहे वह युवक सम्मेलन, सामाजिक सम्मेलन या राष्ट्र-भाषा सम्मेलन ही क्यों न हो—कोई व्यक्ति बिना टिकट के नहीं जा सकता था। कांग्रेस के अधिवेशनों—विषय-निर्धारिणी समिति, सर्वदल सम्मेलन आदि किसी अधि-

हमारी खोई धरोहर



लाला लाजपत राय

वेशन में दर्शक का टिकट १०) रुपये से कम नहीं था। ग़रीब प्रतिनिधियों के निवास के लिए ५) रुपये फीस बहुत अधिक मालूम होती थी। बिहार से ४०० किसान पैदल कलकत्ता में आये थे, स्वागत-समिति ने उन्हें मुफ्त टिकट नहीं दिये, जैसा कि हर एक कांग्रेस के अवसर पर दिये गये थे। देशभक्त राजेन्द्र बाबू अड़ गये। बिहारी प्रतिनिधियों ने कांग्रेस में भाग लेने से इनकार कर दिया। आखिर सुभाष बाबू ने आकर माफ़ी मांगी, किसानों को टिकटें देनी पड़ीं।

कांग्रेस में साधारण जनता में विशेष जोश था। वह किसी अच्छे नेतृत्व की प्रतीक्षा कर रही थी, उस समय की समस्याओं को महात्माजी ने जितनी अच्छी तरह से सुल-

आया, उसमे किसी अधिक की आशा भी नहीं की जा सकती थी। यदि महात्माजी न आते, तो कांग्रेस की सफलता में सन्देह था।

कांग्रेस-स्वागताध्यक्ष का भाषण

(साराश)

कार्य्यारम्भ करने के साथ ही हमें अपनी वर्तमान अवस्था पर दृष्टि डालनी है। आज देश के सामने नेहरू-रिपोर्ट की सिफ़ारिशें उपस्थित हैं। उसपर ही कार्य करने से हमारे देश मे वर्तमान समय मे एकता हो सकती है। कुछ लोग पूर्ण स्वतन्त्रता की भी बात कह रहे हैं। किन्तु, सारा भारत उनकी राय से सहमत नही है। लोग एक होकर औपनिवेशिक स्वराज्य के लिए कार्य कर सकते है। नेहरू-रिपोर्ट पूर्ण स्वतन्त्रतावादियों के कार्य में अडंगा नहीं लगाती। अत हम सबको मिलकर काम करने की जरूरत है। अब प्रश्न यह है कि इस रिपोर्ट का उपयोग किस प्रकार हो। सरकार की ओर से सहयोग की आवाज़ आ रही है, किन्तु भारत इतना बेवकूफ नहीं है कि उनके भुलावे में आ जाय। हम बहुत सहयोग कर चुके। हमारे सहयोग से ही ब्रिटिश राज्य स्थापित हुआ। अनेकों अवसरों पर भारतीयों ने सहयोग के लिए स्वयं माँग पिया और सरकारी अधिकारियों को मान दिया। हमारे सहयोग से ही आफ्रिका में उनका झण्डा फहराया था। सन् १८५७ ई० के समय, जब बोरिया-बँधना बँध रहा था, तब हमने ही इनके प्राण बचाये और यहाँ टिकाया। इनके सहयोग के लिए हमने क्या नही किया ? सहयोग में अपना व्यापार नष्ट किया, प्राण दिये, बच्चों को भूखा मारा। किन्तु सच्ची बात तो यह है कि ये सहयोग करना नहीं जानते। इन्होंने तो दमन का पाठ पढ़ा है और उसे ही बरतते है। इन्होंने किसी भी सहयोगी देश से सहयोग का व्यवहार नहीं किया। अमेरिका, टर्की, दक्षिण आफ्रिका, कनाडा, आयर्लैण्ड, मिश्र सभी देशों को इनके अन्याय की शिकायत थी और है। ब्रिटिश सरकार हमारी उन्नति की ठेकेदार बनती है। किन्तु इसने हमारी कैसी उन्नति की है, इसका अन्दाजा पूर्व और वर्तमान अवस्था का मिलान करने से लग जायगा। इनकी ठेकेदारी ने हमारा व्यवसाय, शिल्प, कला, शिक्षा, खेती, जहाजी शक्ति सभी कुछ चौपट कर दिया। हमारी सभी शक्ति इनके हाथ चली गई और अब ऐसे नियम बन गये हैं कि हमें सिर उठाना भी मुश्किल हो गया है। यहाँ के गोरे लोग स्कूल, कालेज, रेल, तार, डाक, बैंक का नाम लेकर हमारी उन्नति का राग अलापा करते हैं। किन्तु, ज़रा सा ही ध्यान देने से स्पष्ट हो जायगा कि इससे भारत का लाभ नहीं है, बल्कि इससे तो लाभ है तो



जुलूस में सुभाष बाबू



राष्ट्रपति का जुलूस

इन्हीं ठेकेदारों का। इन उपर्युक्त बातों से यह बात कहने को बाकी नहीं रह जाती कि वर्तमान प्रणाली से सहयोग करना अथवा न्याय की आशा रखना महज दुराशामात्र है। फिर, अपने जन्मसिद्ध अधिकार की प्राप्ति अच्छे-से-अच्छे परराज्य से अधिक आवश्यक है। परराज्य के सुखों से स्वराज्य की तुलना नहीं हो सकती। यही एक उपाय है, जिससे अपने को शान्ति हो सकती है। देश में न्याय और शान्ति-स्थापन के लिए गुलामी का नाश करना है। हमारे स्वराज्य के मार्ग मे बाधा डालने वाली चीज वर्तमान शासन-पद्धति है। सहयोग से हम इस चीज को दूर नहीं कर सकते। असहयोग-आन्दोलन का जन्म इसी कारण हुआ था और ऐसे ही शस्त्रों से हमारा काम भी चल सकता है। हमारे स्वराज्य-प्राप्ति के मार्ग मे बाधक कुछ हमारी घरू बुराइयाँ भी हैं। सामाजिक रूढ़ियाँ हमारे राजनैतिक कार्य की प्रगति को रोक देती हैं। कुछ लोग अपने जातीय दोष प्रकट करना ठीक नहीं समझते, किन्तु इससे काम न चलेगा। सभी जातियों में बुराइयाँ हैं। अमेरिका मे नीग्रो और दक्षिण आफ्रिका में वहाँ के मूल अधिवासी हमारे यहाँ के अस्पृश्यों से कम नहीं समझे जाते। लेकिन कुछ भी हो, हमे राजनैतिक प्रगति को तीव्र करने के लिए इन बुराइयों और रूढ़ियों का निर्दयता-पूर्वक हनन करना पड़ेगा। हमे अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए बड़े-बड़े परिवर्तन करने पड़ेंगे। जिन रूढ़ियों का हमें मोह है, उनसे पल्ला छुड़ाना होगा। थोड़े शब्दों में यह कि स्वतन्त्रतादेवी के मन्दिर तक पहुँचने और उसका दर्शन पाने के लिए बड़े से बड़ा त्याग और प्रिय वस्तुओं का बलिदान हमें करना होगा।



स्त्री स्वयंसेविकायें

राष्ट्रपति का भाषण

(सारांश)

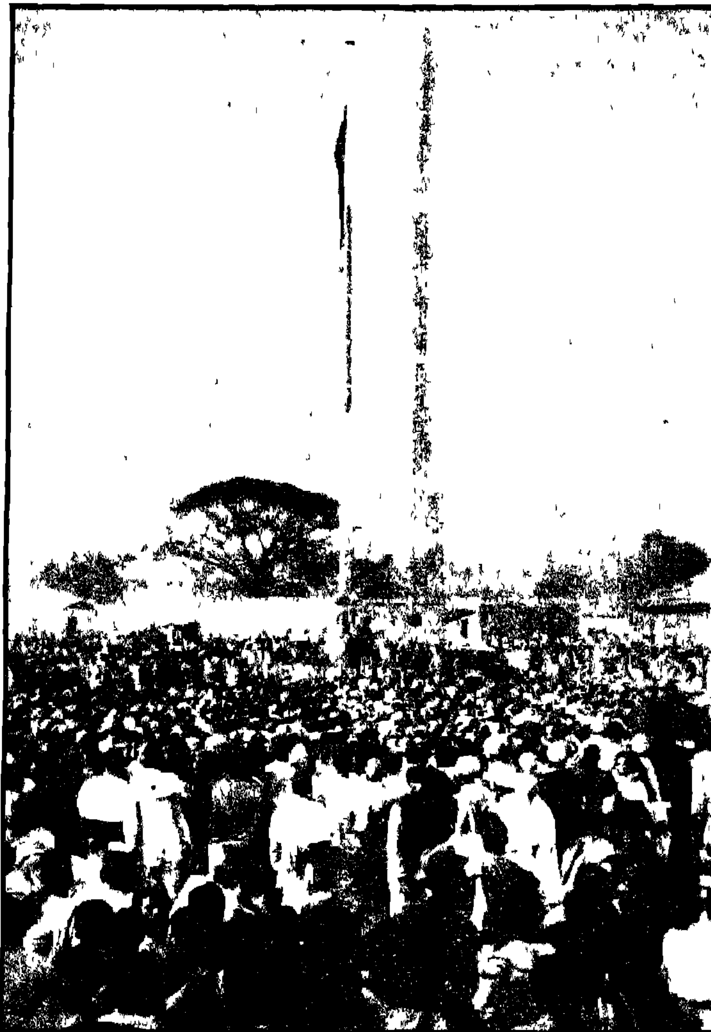
मित्रो, मैं व्यापक आदर्शवाद को बुरा नहीं समझता, किन्तु आदर्श कितना ही ऊँचा क्यों न हो, उसकी प्राप्ति के लिए जो उपाय करने होते हैं वे प्रकृत अवस्था देखकर ही। मेरा विश्वास है कि सब का आदर्श एक ही है, केवल उसके नाम अलग-अलग दिये गये हैं। किन्तु खेद है कि इस मामूली मत-भेद को इतना बढ़ा दिया गया है कि सत्य बिल्कुल ही छिप गया है। अपने देश को रहने योग्य बनाने मे सहायता देना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। किन्तु देश-देश की अवस्था और उसका सुधार समयानुसार भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। हमारे सामने प्रश्न यह है कि हम जिस देश और जिस अवस्था में रहते हैं उसके अनुसार तथा जो साधन हमें प्राप्त हैं उनके सहयोग से हम क्या कर सकते हैं। हमें क्या करना है इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें तीन सवालों का जवाब देना होगा। हम कहाँ हैं? हम कहां जाना चाहते हैं? वहां कैसे पहुँच सकते हैं? इनका उत्तर मैं अपनी व्यवहारिकता से दूँगा। हम कहाँ हैं? इस प्रश्न के दो स्वरूप हैं। एक सरकार के सम्बन्ध का, दूसरा अपने सम्बन्ध का। पहले विषय में यह जान लेना चाहिए कि हमें जो अधिकार मिले हैं, वे उपहार के रूप में, और उनका उपयोग हम तभी तक कर सकते हैं जब तक शासक हम से प्रसन्न रहें। अपने विशेषाधिकारों से, जिनको उन्होंने अपने पास सुरक्षित रख लिया है, वे हमें सकारण या अकारण जब चाहें तब इन अधिकारों से वंचित भी कर सकते हैं और अब तक किया भी है। सभी जानते हैं कि वर्तमान सरकार ने राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों मे क़ानूनी तथा शासन-विषयक कार्यों से अपनी शक्ति बढ़ा ली है। उत्तरदायी शासन का शपथपूर्वक दिया गया वचन आज कमीशन के रूप में सामने आया है, जो खून से लथपथ सिर और टूटी हुई हड्डियाँ बखेरता हुआ हमारी गलियों में चक्कर लगा रहा है। 'स्टेटसमैन' आदि पत्र कमीशन को यह राय देने को उकसाते हैं कि "बीस साल

तक भारत में दृढ़ता पूर्वक शासन करो"। किन्तु मैं कहना चाहता हूँ कि भारत को गुलामी के पुरस्कार में उत्तरदायी शासन पाने की इच्छा नहीं है। वह कड़े शासन का स्वागत करता है। इस समय कड़े शासन से बढ़कर और कोई बात अच्छी नहीं हो सकती, जिससे सारे प्रश्न का तुरन्त निपटारा हो जाय। बड़े लाट ने कमीशन-बहिष्कार-प्रदर्शन के बारे मे धमकी दी है। हम कहते है कि प्रदर्शन में उपद्रव होने की जिम्मेदारी पुलिस पर है। नेताओं ने ऐसे वक्तव्य भी निकाले हैं, किन्तु उनका खण्डन नहीं न हुआ। भारत के लिए जितना अप्रिय यह कमीशन है उतना अंग्रेजों का अप्रिय कमीशन क्या इग्लैण्ड में ऐसी ही स्वतंत्रता से घूम सकता, दावतें उड़ा सकता, अथवा पुलिस प्रदर्शकों के घर मे घुस कर उन्हें बेइज्जत कर सकती? राष्ट्रीयता को कुचलने वालों के लिए लाहौर के पुलिस अफसर की हत्या का एक बहाना मिल गया है। अब तक किसी ने भी, चाहे वह पूर्ण स्वतंत्रतावादी हो और चाहे औपनिवेशिक स्वराज्यवादी, कभी उपद्रव का समर्थन नही किया है। ऐसे समय यह कहना असम्भव है कि लाहौर वाली घटना का राजनीति से सम्बन्ध है और यदि हो भी तो इसकी ज़िम्मेदारी सरकार पर है। नौकरशाही केवल दमन ही करती है, इतिहास से कुछ सीखने की पर्वा नही करती। अब हम आर्थिक स्थिति पर दृष्टि डालते हैं। हमारे खर्च से यहाँ ससार से सब से अधिक व्यय के फौजी और मुल्की कर्मचारी रखे गये हैं। ब्रिटेन की बनी हुई वस्तुओं की बिक्री का बाजार भारत बनाया गया है। आज सभी स्थानो पर विदेशियों का कब्जा है। सरकार की मुद्रा-नीति ने भारत की बड़ी हानि की है। लंकाशायर ने न केवल भारत को ही लूटा है, बल्कि इग्लैण्ड मे भी अपने आस-पास के देहातों को नष्ट कर दिया है। भारतवासियों का जहाज़ बनाने का शिल्प बुरी तरह नष्ट किया गया है।



राष्ट्रीय सैनिक, महासभा-मण्डप के सामने

इतिहास का अंगभंग करके ही इस वणिक राज को संतोष नहीं हुआ। इसके साथ ही हमारी गुलामी की जिम्मेदारी भीतरी बुराइयों पर भी है। धर्म की उच्च कल्पना चाहे जो हो, हमारे नित्य के जीवन में उसका अर्थ स्वमत-विषयक दुराग्रह और उन्माद, असहिष्णुता और संकुचित आदि ही हमारी दुर्बलता का कारण है। नेहरू कमिटी ने जो रिपोर्ट इस सम्बन्ध में दी है, वह ही इसका इलाज है। परिस्थिति के वर्णन से आपको मालूम हुआ होगा कि हमारे मार्ग में दो अड़चनें है—एक तो परदेशी राज्य से उत्पन्न हुई, दूसरी खुद अपने से। यही हमारे पहले प्रश्न का उत्तर है। अब हमें दूसरे प्रश्न पर विचार करना है। सच्ची स्वतन्त्रता हमारा लक्ष्य है। यह ठोस होनी चाहिए। आप उसे चाहे जिस नाम से पुकारें। मैं पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य का विरोधी नहीं। उतना ही पूर्ण, जितना किसी भी उपनिवेश को मिल गया हो—बशर्ते कि वह ऐसे समय मिले, जब-तक कि उसका आकर्षण समाप्त न हो गया हो। आज जो ब्रिटेन से हमारा सम्बन्ध है, उसे तोड़ डालने के मैं पक्ष में हूँ, परन्तु जैसा कि ब्रिटेन और दूसरे उपनिवेशों में सम्बन्ध है, उसका मैं विरोधी नहीं। अगर हमें औपनिवेशिक स्वराज्य मिला तो हमारा पद स्वतंत्र राष्ट्र, ब्रिटिश स्वतन्त्र राष्ट्रसमूह, का समानाधिकार सदस्य-सा होगा। हमने साम्राज्य के भीतर स्वराज्य प्राप्त करने की बहुत चेष्टा की, किन्तु ब्रिटेन ने हमारी सहायता न की। इसलिए मेरी सहानुभूति उन लोगों के साथ है, जो पूर्ण स्वाधीनतावादी हैं। किन्तु यह उस समय की बात है, जब हमारा बल अधिक हो जायगा। यदि हमे औपनिवेशिक स्वराज्य मिल गया तो हम ब्रिटेन-विच्छेद को देखगे भी नहीं। पर जैसा कि गांधीजी ने कहा है कि यदि ब्रिटेन के दोष से हमें सम्बन्ध-विच्छेद करना आवश्यक हो जाय तो हम इसमें भी आगा-पीछा न करेंगे। यदि उपस्थित की गई

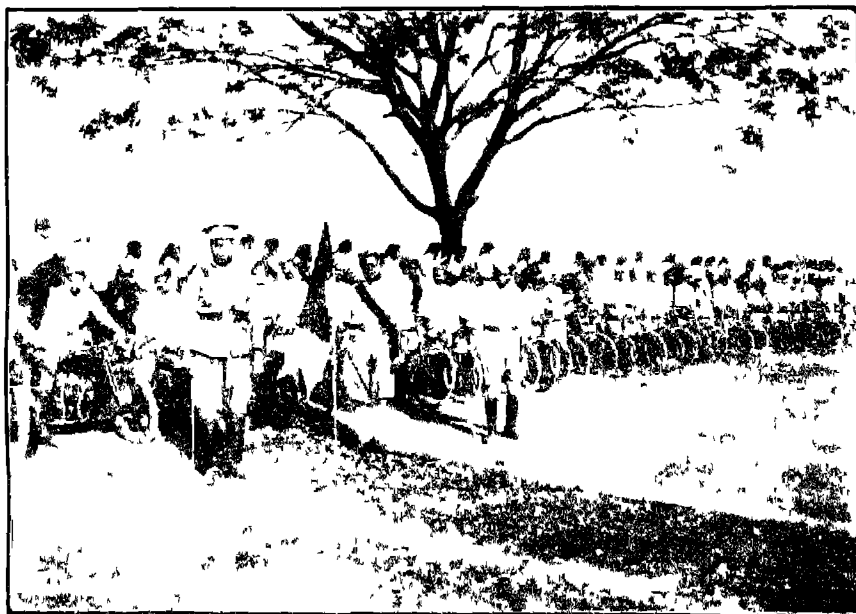


महात्माजी मोटर के ऊपर से मजूरों को उपदेश दे रहे हैं।

शर्तें दोनों पक्ष के लिए सम्मानास्पद हैं, तो हमें इसकी पर्वा नहीं कि कौन पेश कर रहा है। ब्रिटेन ने हमें औपनिवेशिक अधिकार देने की घोषणा की थी। किन्तु वह हमें मिला नहीं। इसका उचित उपाय यही है कि हम अपनी ओर से जाहिर करें कि हम क्या चाहते हैं। हमें अपनी शर्तें मनवाने के लिए शक्ति का सचय करना चाहिए। यही हमारे दूसरे प्रश्न का उत्तर है कि हमारा लक्ष्य स्वतन्त्रता है। उसका स्वरूप और विस्तार उस समय पर निर्भर है, जिसमें वह हमें मिलनी चाहिए। रिपोर्ट मे दो प्रकार की सिफारिशे है—एक तो सामान्य, दूसरी साम्प्रदायिक। कांग्रेस का यह कर्तव्य है कि सब दलों के लोग जिस स्थान तक पहुँच चुके हैं उस स्थान से अपनी यात्रा आरम्भ करे और जहाँ तक वे जायँ उनके साथ आगे बढ़ती चले। राष्ट्रीय कार्यक्रम यह है—सभाओं, अखबारों द्वारा रिपोर्ट को लोकप्रिय बनाना, अछूत तथा दलित जातियों सम्बन्धी कार्य, मजर किसानों का संगठन, ग्राम-सगठन, स्वदेशी-प्रचार, सामाजिक सुधार, मादक द्रव्य निषेध और प्रकाशन-कार्य। अब धन-संग्रह कैसे होगा? इसके लिए सन् २० की भांति धनी से गरीब तक अपना हिस्सा दें। कांग्रेस को अनेक उपसमितियाँ बनाकर कार्य बाँट देना चाहिए। यही सब दलो के लिए कार्यक्रम है। मैं सरदार पटेल को बधाई देता हूँ और शास्त्रीजी के दक्षिण आफ्रिका के कार्य की प्रशंसा करता हूँ। अब दो शब्द युवकों के प्रति कहना है। मुझे धैर्य और उतावलेपन—दोनों—की जरूरत है। किन्तु मैं अपील करता हूँ कि युवकगण दल न बढ़ावें और एक साथ मिलकर काम करें। हम कन्धे से कन्धा मिलाकर चलें तो हमारी विजय निश्चय है।

कांग्रेस का मुख्य प्रस्ताव

"यह कांग्रेस सर्वदल समिति द्वारा प्रस्तावित शासन-योजना पर विचार कर उसको भारतकी राजनैतिक और सांप्रदायिक समस्याओं को हल करने मे बहुत अधिक सहायता देनेवाली मानते हुए उसका स्वागत करती है और अपनी सभी सिफारिशे वस्तुत: सर्वसम्मति से हां करने के



कांग्रेस के साइकल वाले स्वयंसेवक

लिए समिति को बधाई देती है, और यद्यपि यह कांग्रेस मद्रास के पूर्ण स्वाधीनता के निश्चय पर क़ायम है तथापि समिति की तैयार की हुई शासन-योजना को राजनैतिक प्रगति का बहुत बड़ा साधन मानकर पसन्द करती है-खास कर इस विचार से कि वह देशके मुख्य राजनैतिक दलों के अधिक मतैक्य के आधार पर बनाई गई है। यदि ब्रिटिश सरकार ने ३१ दिसम्बर १९२९ तक इस योजना को मंजूर कर लिया, तो कांग्रेस-बशर्ते कि राजनैतिक स्थिति बदल न गई—इस शासन-विधि को स्वीकार कर लेगी, पर यदि उक्त अवधि तक ब्रिटिश सरकार ने इस योजना को मंजूर न कर लिया या उसके पहले ही नामंजूर कर दिया तो कांग्रेस पुनः अहिंसात्मक असहयोग आरम्भ कर देगी और सरकार को कर तथा दूसरी सहायतायें देना बन्द कर देने की सलाह देश को देगी। इस प्रकार यह निश्चय कांग्रेस के नाम पर पूर्ण स्वाधीनता के लिए आन्दोलन करने में कदापि बाधक न होगा। इस निश्चय से उसका विरोध न हो।"

आगामी वर्ष का कार्य-क्रम

(१) व्यवस्थापक सभाओं में और उनके बाहर मादक द्रव्यों का व्यवहार और मद्यपान बिलकुल बन्द करने के सम्बन्ध में पूरा प्रयत्न किया जायगा और शराब तथा मादक द्रव्यों की दूकानों पर यथोचित और यथासम्भव पहरा देने का प्रबन्ध किया जायगा। (२) व्यवस्थापक सभाओं के भीतर और बाहर, स्थिति के अनुसार विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के उपायों का अवलम्बन किया जायगा। इसके साथ ही हाथ के कते खादी और हाथ के बुने वस्त्र के तैयार करने और पहनने की सलाह दी जायगी और लोगों को ऐसे वस्त्र पहनने को उत्साहित किया जायगा। (३) जहाँ कहीं शिकायतें मालूम होंगी और जहाँ के लोग उन्हें दूर करने को तैयार होंगे, वहाँ की शिकायतों को दूर करने के लिए उसी तरह अहिंसात्मक कार्य किया जायगा, जिस तरह हाल में बारडोली में किया गया था। (४) कांग्रेस की ओर से खड़े होकर जो उम्मीदवार व्यवस्थापक सभाओं के सदस्य चुने जायँगे वे भारतीय कांग्रेस कमिटी द्वारा समय-समय पर निर्धारित कार्य पूरा करने मे अपना अधिकांश समय लगावेंगे। (५) कांग्रेस के सदस्य बढ़ाना। (६) स्त्रियों की अयोग्यतायें दूर करने के सम्बन्ध में कार्य किये जायँगे और उन्हें राष्ट्र निर्माण के कार्य में उचित भाग लेने के लिए निमंत्रित तथा उत्साहित किया जायगा। (७) देश की सामाजिक कुप्रथाओं को दूर करने के सम्बंध में कार्रवाई की जायगी। (८) सब हिंदू कांग्रेस वालों का कर्तव्य होगा कि जहाँ तक हो सके वे अस्पृश्यता दूर करने के सम्बन्ध में प्रयत्न करें और अछूत कहे जाने वालों को अपनी अयोग्यतायें दूर करने और अपनी स्थिति सुधारने के सम्बन्ध में प्रत्येक सम्भव मार्ग से सहायता दें। (९) वस्त्रों और खादी के सम्बन्ध में जो कार्य हो रहा है उसके अतिरिक्त शहरों और गावों में स्वयसेवक भर्ती किये जायँगे। (१०) अन्य ऐसे कार्य किये जायँगे जिनसे राष्ट्र-निर्माण के सब विभागों के कार्य आगे बढ़ेंगे और जिनसे कांग्रेस राष्ट्रीय कार्यक्रम को पूरा करने में विभिन्न पेशों के लोगों का सहयोग प्राप्त कर सके। कांग्रेस के कार्यक्रम को चलाने की आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रत्येक कांग्रेस के सदस्य को अपनी मासिक आय का कुछ अंश कांग्रेस को देना चाहिए। इन दो प्रस्तावों के अतिरिक्त अखिल एशिया-सम्मेलन को निमन्त्रण देने, चीन को बधाई देने, विदेशी वस्तु और ब्रिटिश माल के बहिष्कार, सरकारी उत्सवों में भाग न लेने, भावी महासमर में सहायता न देने आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रस्ताव स्वीकृत हुए।

कृष्ण

चंक्रम

हमारी भावी पार्लमेण्ट

देश में राष्ट्रीय महासभा ही एक ऐसी बड़ी और प्रातिनिधिक संस्था है, जो हमारी भावी पार्लमेण्ट कही जा सकती है और जो समय आने पर पार्लमेण्ट का स्थान ले सकती है। कलकत्ते में इसका जो अधिवेशन त्यागमूर्ति पं० मोतीलालजी के सभापतित्व में हुआ, उसमें भीड़-भड़क्का, बाहरी सजधज और धूमधाम को छोड़ दें तो काम की बातें तो सिर्फ दो ही हुईं और वे भी समय और स्थिति को देखते हुए आशा से अधिक अच्छी हुईं। एक तो यह कि स्वाधीनता-वादियों और नेहरू-रिपोर्ट के हिमायतियों का समझौता यद्यपि शब्दतः नहीं हुआ तथापि कार्यतः हो गया, क्योंकि जो कार्यक्रम १९२९ के लिए देश के सामने रक्खा गया है उससे दोनों विचार के लोग सहमत हैं, और दोनों की संयुक्त कार्य-समिति ने उसे सफल बनाने का बीड़ा उठाया है, एवं स्वाधीनतावादी युवकों के नेताओं ने आश्वासन दिया है कि शब्दों और आदर्शों की लड़ाई इस साल के लिए अब खतम हो गई है और अब हम सबके लिए काम में जुट पड़ना ही चाहिए। दूसरी बात है स्वयं कार्यक्रम। इस कार्यक्रम के अभाव में, यह तय कर लेने पर भी कि महासभा नेहरू-रिपोर्ट को अर्थात् औपनिवेशिक स्वराज्य को स्वीकार करती है या पूर्ण स्वाधीनता को जिससे कि अंग्रेज़ी साम्राज्य का कुछ भी सम्बन्ध न रहे, महासभा का अधिवेशन एक तमाशा ही रहता। क्योंकि औपनिवेशिक स्वराज्य और स्वाधीनता के शब्दों पर जो कुछ खींचातानी हुई उसका मूल्य शब्दों के झगड़े से अधिक नहीं है। मद्रास में और बाद को दिल्ली में नवयुवकों के साथ-साथ प० मोतीलालजी भी ब्रिटिश सम्बन्ध-रहित स्वाधीनता के प्रस्ताव को स्वीकार कर चुके थे, पर बाद को जाकर उन्होंने देखा कि जहाँ तक जाब्ता कार्रवाई से सम्बन्ध है औपनिवेशिक स्वराज्य और पूर्ण स्वाधीनता दोनों बातें महासभा एक साथ नहीं कह सकती; फिर ऐसी दशा में तो पण्डितजी की स्थिति और भी विषम हो गई, जब कि स्वयं महासभा के ही प्रस्ताव से नेहरू-कमिटी बनी और अब उसीकी रिपोर्ट इतनी उलझन और विवाद का कारण बन रही है। इधर प० जवाहरलाल आदि युवक-दल के और स्वाधीनता-पक्ष के नेता देहली में जितना कदम बढ़ा चुके थे, उससे पीछे हटना न चाहते थे, न चाह सकते थे। इस तरह दोनों की कठिनाइयाँ वास्तविक थीं। इसमें से रास्ता निकालने के लिए भारत के बूढ़े बाबा को पण्डितजी के बुलाने पर साबरमती के कोने से दौड़कर कलकत्ते जाना पड़ा। उन्होंने दोनों पक्ष वालों से खूब दिल खोलकर बातें की। उन्हींकी एक ऐसी हस्ती थी, जिसका असर दोनों दलों पर पड़ता था और जो दोनों को दो-दो बातें कह सकते थे। उन्होंने यह हल पेश किया कि महासभा अभी नेहरू-रिपोर्ट को स्वीकार कर ले, वह देश की सम्मिलित माँग के रूप में वाइसराय को भेज दी जाय और १९३० तक यदि वह स्वीकार न हो तो असहयोग का युद्ध छेड़ दिया जाय और आवश्यक समझा जाय तो स्वाधीनता का झण्डा फहरा दिया जाय। परन्तु पण्डित जवाहरलाल ने युवकोचित दृढ़ता और अधीरता से कहा—मैं आपकी बात को समझता तो हूँ, पर स्वाधीनता की बात किये बिना मैं दो साल तो क्या दो घण्टे भी नहीं जी सकता। स्वाधीनता के आदर्श के बिना मुझे अपने जीवन में कुछ उत्साह ही नहीं मालूम होता। अन्त को यह तय पाया कि नेहरू-रिपोर्ट स्वीकृत न की जाय, सिर्फ पसन्द की जाय, १९३० की जगह १९२९ मीयाद रक्खी जाय और वाइसराय को रिपोर्ट भेजने की बात निकाल दी जाय, क्योंकि युवकों को ऐसा करना असहयोग-सिद्धान्त के और आत्माभिमान के विरुद्ध मालूम हुआ—हालांकि महात्माजी ने बड़ी सुन्दरता और मार्मिकता के साथ यह समझाया था कि स्वयं मैं, असहयोग का जनक, इसमें असहयोग के विपरीत कोई बात नहीं देखता। हमारा असहयोग व्यक्तियों के साथ नहीं, बुराइयों के साथ है। स्वराज्य की चर्चा या समझौते के लिए वाइसराय से बात-चीत करना असहयोग के खिलाफ़ नहीं है और यदि हम जोर से काम

करें तो इसी साल यह स्थिति ला सकते हैं कि वाइसराय को हमसे शर्तें करने के लिए मजबूर होना पड़े और साइमन-कमीशन को कहना पड़े कि हमारी रिपोर्ट और कुछ नहीं, नेहरू-रिपोर्ट ही है। अस्तु।

पर यहाँ यह लिखते हुए बड़ा दुःख होता है कि स्वाधीनतावादी समझौता करके भी, वचन देकर भी, उस पर क़ायम न रह सके। समझौता प्रस्ताव अच्छा है या बुरा, त्रुटियुक्त है अथवा नहीं, यह प्रश्न नहीं था। स्वयं महात्माजी भी मानते थे कि पहले प्रस्ताव से बाद का प्रस्ताव अच्छा नहीं है। और समझौते के प्रस्तावों में तर्क और न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों और विधियों का पालन असम्भव हो जाता है, परन्तु एक बात कहकर, हाँ करके, बदल जाना स्वाधीनता-वादियों के लिए श्रेय की बात नहीं हुई। उनकी तरफ से बंगाल के युवक नेता श्री सुभाषचन्द्र वसु ने समझौता-प्रस्ताव का, जो कि महात्माजी ने पेश किया था विरोध किया। अन्त में १३०० विरुद्ध ९०० मतों से महात्मा जी का प्रस्ताव पास हुआ। इससे न केवल स्वाधीनता दल में अनुशासन की कमी मालूम होती है, बल्कि प्रामाणिकता की भी प्रतिष्ठा कम दिखाई देती है। यह अनुभव कम से कम मुझ जैसे युवक के लिए बुरा साबित हुआ। चूँकि महात्माजी ने स्वयं इसपर इन्हें फटकार बताई है, इसलिए यहाँ उसपर अधिक लिखना अनावश्यक है।

पर इस विवाद और विरोध का कोई यह अर्थ न समझे कि युवकों और बूढ़ों में खाई पड़ गई और दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं, नहीं। दोनों एक दूसरे की स्थिति को और कठिनाइयों को समझ रहे हैं और अपने-अपने विचारों और कार्यक्रमों में दोनों एक-दूसरे को उचित स्थान दे रहे हैं। यद्यपि कहीं से चुनाव, कहीं नेतागिरी, कहीं से प्रतिद्वन्द्विता, और कहीं से कुछ अनिष्ट बातों की भनक कान पर आ जाया करती है; फिर भी मेरी तो यही धारणा है कि जहाँ तक स्वराज्य या स्वाधीनता की प्राप्ति से सबंध है क्या युवक और क्या बड़े-बूढ़े-दोनों एक-दूसरे से बढ़कर अधीर हैं। बड़े-बूढ़ों का सिर्फ इतना ही कहना है कि भाई, कोरी गरमागरम बातों से काम न चलेगा, बढ़-बढ़कर बातें करने के साथ ही ठोस संगठन का काम भी दिलोजान से करना होगा। एक तो युवक स्वभाव से ही जोशीले होते हैं, दुनिया का अनुभव कम होता है, इसलिए हर चीज़ को आसान और अपनी शक्ति के अन्दर मान लेते हैं। यदि उनमें इतना आशावाद, इतना उत्साह, इतनी उमंग न हो, तो फिर वे युवक ही क्या रहे? पर बड़े बूढ़े कटु अनुभवों के कारण अधिक विचारशील और फलतः धीमे हो जाते हैं। यदि ऐसा न हो तो उनके सफेद बालों का, चेहरे की झुर्रियों का कुछ मूल्य न रहे। फिर कुछ लोग स्वभावतः वक्ता, लेखक या प्रचारक अच्छे होते हैं और कुछ लोग कार्य-प्रिय, कार्य-कुशल। समाज और देश को दोनों के उपयोग की आवश्यकता होती है और रहती है। ऐसी दशा में दोनों प्रकृति वाले एक दूसरे के विभेदों पर जोर दें, इससे यह कहीं अच्छा है कि दोनों के समान गुणों, समान स्थितियों की ओर ध्यान दिलावें और 'अंध कंध पर बैठकरि पंगु यथा फल खाय' की कहावत को, स्वराज्य-प्राप्ति के महायज्ञ में सार्थक करें और मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि दोनों ऐसा ही मान और कर रहे हैं। दोनों के दिमाग़ में चाहे अन्तर हो, अवस्था और अनुभव में अन्तर हो, पर दोनों का दिल एक है और वह मजबूत है। यह स्वराज्य या स्वाधीनता-प्राप्ति की पूरी और सच्ची गारण्टी है।

इस तरह इस महासभा ने दो बड़े कार्य किये-(१) युवकों और बूढ़ों को एक कार्यक्रम में जोत दिया और (२) देश के सामने ठोस काम का संगठन और अनुशासन का सर्वांगपूर्ण कार्यक्रम रख दिया। वर्तमान परिस्थिति में इससे अच्छा रास्ता देश को नहीं दिखाया जा सकता था। महासभा के इस कार्य के सामने स्वागताध्यक्ष और अध्यक्ष के भाषणों का पर्यालोचन या समालोचन अपने-आप पीछे रह जाता है। दोनों अध्यक्षों के भाषण एक-दूसरे के पूरक थे और दोनों भाषणों ने इन प्रस्तावों की स्वीकृति के लिए जमीन तैयार की। पण्डितजी ने अपने भाषण में जो उपाय स्वराज्य के लिए सुझाये वही कार्यक्रम के रूप में प्रस्ताव में स्वीकृत हुए हैं। अध्यक्षों ने या वक्ताओं ने भाषण में क्या कहा, कैसी दलीलों के साथ अपनी बात या दावे को पुष्ट

किया, कैसी खूबी से व्यंग या उपालम्भ किया, प्रतिपक्षियों को कैसा बनाया, कैसा निरुत्तर किया, इन बातों में अब देश को उतना अनुराग नहीं रह गया है, जितना इस बात में उनकी दिलचस्पी बढ़ रही है कि महासभा में हमारे नेताओं ने क्या तय किया है, हमारे लिए अब उनका क्या आदेश है हमें क्या क्या करना होगा और सबसे बढ़कर यह कि महात्माजी कब देश का नेतृत्व ग्रहण करेंगे ? अतएव व्याख्यानों की समालोचना को मैं भी यहाँ छोड़ देता हूँ। पण्डितजी और श्री सेनगुप्त के व्याख्यानों के महत्वपूर्ण अंश पाठकों को अन्यत्र मिलेंगे ही। देश ने क्या निर्णय किया है, और हमे इस एक साल में क्या-क्या करना है, यह महासभा के प्रस्तावों से प्रकट ही है। अब सिर्फ महात्माजी के नेतृत्व का प्रश्न रह जाता है। इसका सर्वोत्तम और सच्चा उत्तर वही है जो पण्डित मोतीलालजी ने एक मित्र के प्रश्न करने पर दिया था—"अरे भाई, महात्माजी कब बागडोर हाथ में लेंगे, यह सवाल ही क्या है ? महात्माजी ही तो अगुआ हैं—चाहे साबरमती में बैठकर डोर हिलावें चाहे इलाहाबाद से।" और श्रीमती एनी बेसेंट ने भी अपनी एक बातचीत में कहा है कि यह कांग्रेस तो गांधी-कांग्रेस हुई है। गांधी आया, उसने एक दृष्टिपात किया, और विजय ने उसके गले में माला डाली। महात्माजी कब देश का संचालन सूत्र ग्रहण करेंगे, यह एक प्रकट रहस्य-सा है। पहला प्रस्ताव महासमिति में महात्माजी के उपस्थित करते ही सारे कलकत्ते में बिजली दौड़ गई थी कि अब महात्माजी मैदान में आ गये। पर महात्माजी तो ठहरे भुक्तभोगी, दुनिया की रगड़ खाये हुए। उन्होंने कहा—भाई तुम स्वच्छता से, सचाई से और अनुशासन को मानकर काम करना चाहते हो तो मुझे अपने बीच में ही समझो। इस एक साल में यह और अच्छी तरह मालूम हो जायगा कि देश सचमुच महात्माजी जैसे कठोर और दीर्घदृष्टि सेनापति की कमान का ताप सहन कर सकता है या नहीं। यदि देश ने इस अरसे में काफ़ी तैयारी कर ली तो आगामी वर्ष पंजाब में या तो हमें स्वराज्य मिला होगा, या उग्र असहयोग और कर न देने का संग्राम छिड़ जायगा। दोनों बातें देश के हाथ में हैं। अब देखें, परमात्मा क्या चाहता है !

भावी रूप ऐसा हो—

महासभा में होने वाली भारी भीड़ और अनाप-शनाप खर्च को देखते हुए तथा इसके कारण महासभा की कार्रवाई की गंभीरता का महत्व घटता देखकर महासभा के अधिवेशन के रूप में परिवर्तन करने की आवश्यकता मालूम होती है। यदि स्वराज्य, या स्वाधीनता के भाव और रूप का प्रचार हमें देश के कोने-कोने और घर-घर में करना है, एक-एक गाँव को इसके लिए तैयार करना है, तो फिर अब बड़े-बड़े शहरों में महासभा के अधिवेशन होने से इस उद्देश की पूर्ति नहीं हो सकेगी। और बिना बड़े शहरों के इतना भारी आयोजन आज की स्थिति में होना असम्भव है। अतएव या तो ग्राम-वासियों को महासभा के संदेश, कार्यक्रम और लाभ से वंचित रहना होगा, या महासभा का ऐसा रूप बनाना होगा जो गाँवों में फैल सके, या महासभा का ऐसा बेतुका और अस्तव्यस्त रूप रहेगा जो न अपनी पूरी गंभीरता, कार्यक्षमता और विचारशीलता की रक्षा कर सकेगा, न लोगों को ही भले प्रकार संगठित कर सकेगा। कई विचारशील मित्रों ने इस विचार को पसन्द किया है कि अब से महासभा का अखिल भारतीय रूप घट कर प्रान्तीय रूप का विकास हो। अर्थात् महासभा पार्लमेण्ट का रूप धारण करे, देश के चोटी के चुने हुए प्रतिनिधि ही इसमें उपस्थित रहें और वे खूब शान्ति के साथ विवाद और विचार करके अपने निर्णयों, मन्तव्यों और संदेशों को प्रान्तिक परिषदों के द्वारा जनता तक पहुँचावें। इधर प्रान्तिक परिषदों को महासभा का महत्व प्राप्त हो जाय और वे अपने प्रान्तों के छोटे-छोटे गाँवों तक में अपनी बैठकें करें। अपने लोकमत के द्वारा वे अखिल भारतीय महासभा को प्रभावित करें और महासभा के निर्णयों का प्रचार लोगों में करें। प्रचार और प्रभाव के ख्याल से कुछ अखिल भारतीय नेता भी बारी-बारी से उनमें उपस्थित हों। और हर पाँचवें साल सारी महासभा का विस्तृत और विराट् अधिवेशन हुआ करे। पूरे एक वर्ष

पहले से उसकी तैयारी और तालीम का प्रबन्ध हो और वह सब तरह से हमारी प्रबन्ध-पटुता, कार्यदक्षता, विचारशीलता, योग्यता, संगठन-निपुणता और देशभक्ति तथा सहयोग का नमूना हो। यदि ये पंक्तियाँ नेताओं तक पहुँचें तो, आशा है, वे इन पर विचार करने की कृपा करेंगे।

कांग्रेस संस्थाओं की शुद्धि

कलकत्ता-महासभा में इस बात की चर्चा अन्धाधुन्धी रही कि कितने ही प्रान्तों से झूठे प्रतिनिधि बना लिये गये और कहीं तो रुपये ले लेकर भी ऐसे लोग प्रतिनिधि बनाये गये, जो शायद ही उस प्रान्त के सदस्य भी हों। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हमारे अजमेर की भी गिनती इन प्रान्तों में हुई है और इस बार भी यहाँ के बनाये प्रतिनिधि खारिज कर दिये गये। यद्यपि कई कारणों से हम यहाँ की प्रान्तिक समिति से उदासीन और अलिप्त रहे हैं तथापि प्रान्तवासी के नाते हमें इस बुराई पर खेद होता है। अच्छा होता यदि यहाँ के जिम्मेवार पदाधिकारी, जिनकी पिछली सेवाओं के प्रति हमारे हृदय में मान है, इस बुराई से अपनी समिति को बचा पाते। अब सुना गया है कि कार्य-समिति ने स्थानिक कांग्रेस कमिटी को तोड़ दिया है और उसकी जगह नई कमिटी और नये पदाधिकारी चुने जाने वाले हैं। अतएव यह परम आवश्यक है कि आगे जो सज्जन इस भार को उठाना चाहें वे इससे काफी सबक लें और अपनी जिम्मेवारी को पूरा-पूरा समझकर उसे पवित्रता के साथ निबाहें।

और जब कि कुछ दूसरे प्रान्तों में भी गन्दगी पाई गई है तो यह बहुत ही जरूरी है कि तमाम प्रान्तिक समितियों की एक बार शुद्धि कर दी जाय और उनका संगठन ठोस और दृढ़ बना दिया जाय जिससे आगामी वर्षों में देश सरकार से लोहा ले सके और आगे दक्षता के साथ स्वराज्य-संचालन कर सके। इसके सम्बन्ध में महात्माजी ने अपने जो विचार प्रदर्शित किये हैं, वे सब तरह से मनन और आचरण करने योग्य हैं। वह 'यंग इण्डिया' में लिखते हैं—

"यदि लड़ाई, फिर वह स्वतन्त्रता के नाम से पहचानी जाय या औपनिवेशिक स्वराज्य के नाम से,—को सुखद और सच्ची लड़ाई बनाना है, तो कार्यकारिणी समिति का सबसे पहला और आवश्यक काम महासभा का पुनःसंगठन करना और उसकी ओर अपना ध्यान गड़ाना है। कोई भी बात दबाई नहीं जानी चाहिए। चुपचाप की नीति से हमें तनिक भी लाभ नहीं होगा। इस रोग का सफलतापूर्वक निवारण करने के पहले महासभा की दुनिया में इसका सब ओर प्रचार हो जाना चाहिए। कोई भी संगठन हो, यदि वह जिन्दा रहना चाहता है तो, उसमें वृद्धि होनी चाहिए। लेकिन महासभा तो आन्तरिक क्षय से पीड़ित है। और जिस तरह तपेदिक का बीमार अकसर सुर्ख-तन्दुरुस्त और मोटा-ताजा दीखता है, उसी तरह महासभा भी एक क्षयरोग से पीड़ित रोगी की सुर्खी और मोटाई का प्रतिवर्ष प्रदर्शन करती हुई अपने हकीम के चर्मचक्षुओं को उसके निकट नाश के अचूक लक्षणों को देखने नहीं देती। आज जैसा संगठन है, उसके द्वारा महासभा कैसा भी सच्चा, संगठित और अकाट्य विरोध नहीं कर सकती।"

आगामी तूफ़ान

जैसी कि आशा की जाती है, एक ओर यदि स्वाधीनतावादियों ने ब्रिटिश-सम्बन्ध को तोड़ देने का आन्दोलन जारी रक्खा और उसे ज़ोर-शोर के साथ बढ़ाया, तथा दूसरी ओर यदि महात्माजी ने विदेशी-वस्त्र के बहिष्कार के और श्री राजगोपालाचार्य ने मद्यपान निषेध के आन्दोलनों को जोर से चलाया और तीसरी ओर यदि महासभा का संगठन प्रत्येक प्रान्त में स्वच्छ और सुदृढ़ कर दिया गया तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि सरकार के लिए स्वराज्य की इस प्रगति को रोके बिना चारा नहीं। ऐसी दशा में शीघ्र ही धरपकड़ और दमन की अपेक्षा चारों ओर से की जा रही है। स्वाधीनतावादियों पर तो क़ानूनी कार्रवाई करने की अफवाह अभी से उड़ने लगी है। ऐसी दशा में यदि देश आगामी कुछ महीनों में अधिक उत्तेजना और दोनों ओर से लड़ाई की गम्भीरता को देखे तो आश्चर्य नहीं। यदि देश एक ओर पूर्ण शान्ति के साथ अपने आन्दोलन, संगठन और विधायक

कार्यों में जुट पड़ा और जुटा रहा तो १९३० ई० की महासभा में कुछ चमत्कार अवश्य नजर आ सकता है। क्या देश १९३० ई में कुछ उथल पुथल कर दिखाने की चेष्टा करेगा? क्या वह उसकी शर्तें पूरी करने और उसकी पूरी कीमत चुकाने के लिए तैयार हो रहा है? देश के जीवन में यह समय ऐसा आ रहा है जब या तो उसे उठकर, जुटकर और डटकर काम करना होगा और या एक साल के बाद फिर खिन्न हुए मन से विघ्न-सन्तोषियों के ताने सुनने होंगे—"बस, ले लिया स्वराज्य १९३० में। हम तो पहले ही कहते थे कुछ होना जाना नहीं है।" देखना है ईश्वर गुलामी का और अत्याचार का पोषण करता है या बलिदान और कष्ट-सहन की हिमायत। जैसा कि महात्माजी ने कहा है—यह दमन की आशंका सच निकल जाय तो हमें पता चल जायगा कि औपनिवेशिक स्वराज्य का अर्थ सरकार क्या करती है और हम क्या करते हैं। हमें जब चाहें पूर्ण स्वाधीन बनने की स्वतन्त्रता उसमें है या नहीं। साइमन-कमीशन के बहिष्कार का बदला दमन के रूप में देना ब्रिटिशों के फौलादी पंजे के लिए अस्वाभाविक नहीं है। इसमें एक शंका यह उठती है कि अभी हिन्दुओं और मुसलमानो का समझौता और मेल नहीं हो पाया है। हिन्दुओं ने न्याय से अधिक मुसलमानों को देना स्वीकार कर लिया, फिर भी मुसलमान ऐसे नाजुक अवसर पर जिद से बाज नहीं आते, यह चिन्ता की बात अवश्य है, परन्तु कइयों की अन्तरात्मा और सब के अन्तःकरण को हिलानेवाली स्वराज्य की अधीरता कहती है कि जब दमन और अत्याचार अपना नग्नरूप धारण करेगा तब दोनों के और खासकर मुसलमानों के आजादी और उसके लिए दरियादिली के भाव अवश्य जागृत होंगे और या तो वे अपना हठ छोड़कर हिन्दुओं से मिल जायँगे या हिन्दू उन्हें सर्वस्व देकर अपना बना लेंगे। यदि गरीबों की आह में कुछ जोर है, यदि अत्याचार के प्रहार अन्त में अत्याचारी पर ही पड़ते हैं और यदि भारत में एक ओर गरीबी, गुलामी और बेबसी है और दूसरी ओर अन्याय और अत्याचार है तो—

"अन्यायी अपराधि का, पतन कुकृति का कुफल है।
लाखों की तो बात क्या, तृण तक उसमें सफल है॥"

अलवर-नरेश की ज्युबिली!

श्रीमान् अलवर-नरेश संस्कृत के अच्छे पण्डित कहे जाते हैं। सुनते हैं, अंग्रेज़ी, हिन्दी और संस्कृत का उनका अस्खलित भाषण मुग्ध कर लेता है। वह प्राणायाम भी अच्छा करना जानते हैं। मीठी-मीठी बातें करने में भी कुशल हैं। मेधावी भी सुने जाते हैं। यदि यही गुण किसी व्यक्ति को राज्यपद के योग्य, अपने को प्रजा का 'प्रभु' कहलाने के योग्य और ज्युबिली मनाने के योग्य समझे जाते हों, तो बात दूसरी है। अन्यथा, यदि प्रजा की सेवा, दिन रात प्रजा हित की चिन्ता, प्रजा के जीवन में एक-रस हो जाना, ये बातें सच्चे राजा की कसौटी हों तो आजकल के कितने राजा और शासक अच्छे साबित होंगे? फिर श्रीमान् अलवर-नरेश, जो नीमूचाणा-हत्याकाण्ड के लिए भारत में प्रसिद्ध हो चुके हैं, जिनके अन्तःपुर की घृणित कहानियाँ अखबारों में छपती रहती हैं, कैसे 'प्रभु'-पद के अधिकारी मान लिये गये, यही आश्चर्य की बात है! फिर जब मैंने यह पढ़ा कि उनकी ज्युबिली में केवल बहुतेरा धन ही बर्बाद नहीं हुआ, बल्कि श्री शंकराचार्य जैसे धर्म-गुरु और पण्डित मोतीलाल नेहरू तथा डा० अन्सारी जैसे लोक-नेता सम्मिलित हुए, तब तो आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा। कुछ दुःख भी हुआ। लोग कहते हैं कि ऐसे उत्सव अपने कुकृत्यों को ढांकने के लिए किये जाते हैं और हमारे धर्म-गुरुओं और नेताओं से अपनी ढाल का काम लिया जाता है। यदि ऐसा ही हो तो यह और भी दुःख की बात है। पर मेरा अनुमान है कि ये लोग इतने मूर्ख नहीं हैं कि अलवर-नरेश की ढाल बनने के लिए वहाँ गये हों। अलवर-नरेश यदि धूर्तराज हों तो पण्डित मोतीलालजी को गुरु-घण्टाल समझना चाहिए। जरूर वह और डा० अनसारी किसी गुरुतर उद्देश्य से वहाँ पहुँचे होंगे। एक अनुमान तो सहज ही किया जा सकता है। वह है नेहरू-रिपोर्ट में स्थिर की गई देशी राज्यों के सम्बन्ध की नीति पर परामर्श करना। इधर ज्युबिली में जाकर महाराज पर उपकार करना तो उधर उनसे अपना कुछ काम निकाल लेना, राजनीतिज्ञों और राजकाजियों के लिए कोई नई बात नहीं है। पर

राजनीति की इन तथा और गहरी बातों को न समझने वाले हम मोटी बुद्धि के लोगों को तो इसपर आश्चर्य और दुःख ही होना है कि जो लोग प्रजा की बात नहीं सुनते, उसे चूसते ही चले जाते हैं, और जिनके व्यक्तिगत आचरण की बड़ी शिकायतें सुनी जाती हैं, उनको अपने आतिथ्य का लाभ देना, प्रजा को गुमराह करने-जैसा है। मैं खुश होता यदि इम ज्युबिली के अवसर पर श्रीमान् अलवर-नरेश को इस अवसर की बधाई भेज पाता—आज तो दुःख के साथ उनके इस उत्सव पर टीका ही करने का अवसर है!

आश्रम का प्रसाद

अभी हाल ही कलकत्ते से लौटकर "हिन्दी नवजीवन" के सिलसिले में मुझे साबरमती-आश्रम में जाने का लाभ मिला था। बछड़ा जिस प्रकार अपनी माता के पास जाने के लिए दौड़ता है वैसा ही मेरा हृदय आश्रम के लिए दौड़ता रहता है। जब-जब अपनी दुर्बलतायें यहाँ की झंझटों से घबरा देती हैं तब-तब आश्रम की ओर मन दौड़ने लगता है और कहने लगता है कि वहाँ के प्रशान्त और पवित्र वायुमण्डल को छोड़कर यहाँ कहाँ उलझनों में आ फँसा? परन्तु ऐसे समय

"अंगीकृत सुकृतिनः परिपालयन्ति"

यह उत्साह-वचन मेरी सहायता के लिए दौड़ पड़ता है। ऐसी अवस्था में जब-जब आश्रम जाने का थोड़ा भी अवसर हाथ लगता है, तो मैं माता के स्तन की ओर झपट पड़ने वाले भूखे बालक की तरह झपट पड़ता हूँ।

कुछ महीनों से सत्याग्रहाश्रम का नाम "उद्योग-मन्दिर" रख दिया गया है। इसका कारण यह है कि ज्यों-ज्यों महात्माजी और आश्रमवासी आश्रम के व्रतों की सूक्ष्मता का विचार करते गये, त्यों-त्यों उन्हें यह मालूम होता गया कि सूक्ष्म अर्थ में सब व्रतों का सोलहो आना पालन अनेक आश्रमवासियों से नहीं हो रहा है। अतएव उन्होंने "सत्याग्रहाश्रम" नाम अपने लिए अपनी वर्तमान अवस्था से बहुत ऊँचा समझा और "उद्योग-मन्दिर" नाम उचित देखा। सुबह ४ बजे से रात के ९ बजे तक १७ घण्टे रोज अपने काम और उद्योग का हिसाब देने की तैयारी रखने वाले आश्रमवासियों ने "उद्योग-मन्दिर" अपने लिए अधिक सार्थक देखा और महात्माजी की छत्रच्छाया में और प्रोत्साहन तथा मार्गप्रदर्शन से वे फिर "सत्याग्रहाश्रम" का नाम धारण करने के योग्य बनने का उद्योग कर रहे हैं। यह उनके सत्यानुराग और नम्रता का अचूक प्रदर्शन है और अबकी मैंने देखा कि "सत्याग्रहाश्रम" का नाम धारण करके आश्रमवासी जितने ऊँचे नहीं उठे थे, उतने "उद्योग-मन्दिर" नाम रखकर उठ गये। इस समय उनके जीवन में जो स्वच्छता, गंभीरता, नियम निष्ठुरता, सुशृंखलता, और एकाग्रता दिखाई दी, वह पहले कभी न दिखाई दी थी।

आश्रम में महात्माजी सुबह-शाम अवसर पाकर, अपना हृदय आश्रमवासियों के सामने उँडेला करते हैं। इसमें आश्रमवासियों को अमोल आध्यात्मिक, धार्मिक, व्यावहारिक और राजनैतिक ज्ञान और उपदेश मिला करता है। आजकल आश्रम में महात्माजी को एक ही धुन है—आश्रम सब अर्थों में स्वावलम्बी और स्वाधीन हो जाय। इसके लिए वे एक तो इस बात पर जोर देते हैं कि सब लोग स्वेच्छापूर्वक अपने बनाये नियमों और व्रतों का पालन हृदय के पूरे अनुराग और सचाई के साथ करें और दूसरे प्रबन्ध में किसी प्रकार की कोई त्रुटि न रहने पावे और एक-एक मिनिट काम में लगा रहे। इसके लिए वे स्वच्छता, शान्ति और छोटी-छोटी बातों पर पूरा ध्यान देने का बराबर आग्रह करते रहते हैं। एक रोज किसी आश्रमवासी या अतिथि ने आश्रम के रास्ते पर थूक दिया। महात्माजी ने रास्ते पर थूक पड़ा देखा तो उसपर मिट्टी डाल दी और शाम को प्रार्थना के बाद कहा—"आश्रम में पाखाना पेशाब का स्थान तो निश्चित ही है; परन्तु लोग कभी-कभी रास्ते पर थूक देते हैं, या नाक साफ कर लेते हैं, यह भी ठीक नहीं। रास्ते के किनारे जहाँ लोगों के पैर या नजर न पड़े, ऐसी जगह थूकना या नाक साफ़ करना चाहिए और हो सके तो वहाँ भी उसपर मिट्टी डाल देना चाहिए। रास्ते पर यदि कहीं हमें ऐसी गन्दगी दिखाई दे तो हमारा काम है कि उसपर मिट्टी डालकर और उठाकर उसे ऐसी जगह फेंक दें, जहाँ सहसा किसी का पैर न पड़ता हो। आज मेरा कर्त्तव्य तो यही था कि मैं भी उस

पूर्ण हो सकता है। फिर यज्ञ के मानी हैं अपनी अच्छी से अच्छी और ज्यादा से ज्यादा चीज़ देश को अर्पण करना। रही मोटी-भद्दी खादी हम खुद पहन लें, अच्छी तैयार करें वह देश के लिए देदें। आज आश्रम का पका २६ तोले का टमाटर मुझे दिखाया गया। वह इतना बड़ा और ऐसा पका हुआ था कि खाने को जी ललचाता था, पर मैंने उसे एक ऐसे सज्जन के पास भिजवा दिया, जिनसे मैं देश की सेवा ले लूँगा। मैंने सोचा कि आश्रम की अच्छी चीज़ हमारे लिए नहीं, औरों के लिए है, देश के लिए है, यही यज्ञ का सच्चा अर्थ है।"

आशा है, आश्रम का यह थोड़ा-सा प्रसाद पाठकों के लिए बोध-प्रद होगा।

ह० उ०



चित्र-दर्शन

ताज के आँगन से

क्या कभी राजा के सिंहासन के पास खड़े होकर संसार को देखने का दृश्य आपने अनुभव किया है? जानते हैं, क्या होता है? हमारी दृष्टि बदल जाती है। सारा समाज विपर्यस्त मालूम होता है। जो सरदार और सेठ-साहूकार हमसे बातचीत करने में भी अपना अपमान समझते थे, वे झुक-झुक कर हमें सलाम करते हुए दिखाई देते हैं। जिस राज-वैभव को देखकर हमारी आँखों में चका-चौंध छा जाती थी, वह हमारा चरण-चुम्बन करता हुआ प्रतीत होता है।

ठीक यही अनुभव विश्व-विख्यात भुवन-मनोहर ताज के आँगन में खड़े होकर शेष संसार को देखने से होता है। सौंदर्य की खान जब बग़ल में हो तब सारा संसार दरिद्र नहीं मालूम होगा तो आख़िर क्या होगा? क्या ही अच्छा होता, अगर चितेरा यह न लिखता कि ताज के आँगन से दीखनेवाले दृश्य का यह चित्र है! क्योंकि उन अक्षरों को पढ़कर मेरी आँखें तो रह-रहकर इस चित्र में ताज की उस नयन-मनोहर, कोमल, करुण, काव्यमय, स्वप्निल रचना को ही खोजती हैं और व्यर्थ खोजती हैं। पर यही करुण उत्कण्ठा तो इस चित्र का प्राण है। × × महात्मा गाँधी या राष्ट्रीय महासभा के अध्यक्ष अथवा किसी प्रजा-बन्धु नरेश के जुलूस को देखकर हम अपने मित्र को बुलाते हैं—"अरे गिरीश, दौड़ो, महात्माजी जा रहे हैं!" पर वह देर से पहुँचता है। महात्माजी निकल जाते हैं। शेष जुलूस रह जाता है। ऐसे समय जो अतृप्त जिज्ञासा, एक अपूर्ण लालसा दिल में रह जाती है, वही इस चित्र को देखकर हमारे हृदय में पैदा होती है।

यह ताज का आँगन है। वह पास वाला बुर्ज है। नीचे यमुना बह रही है। सामने वह कुञ्ज है, जहाँ शाहजहाँ की इच्छा थी कि उसकी क़ब्र बने। दूर, पीछे क़िला और नगर हैं, और सान्ध्य गगन यमुना में अवगाहन कर रहा है।

पर मुझे तो यमुना के रूप में भी असीम करुणा और वात्सल्य दिखाई देता है। यमुना को देखकर भर्तृहरि के 'तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपाः' वाले श्लोक में उन नदियों के नाम भी जोड़ने की इच्छा होती है, जिन का जल असंख्य किसानों के पोषण के लिए सैकड़ों नहरों में बँट गया है और इसलिए जो क्षीण-शरीर हो गई हैं।

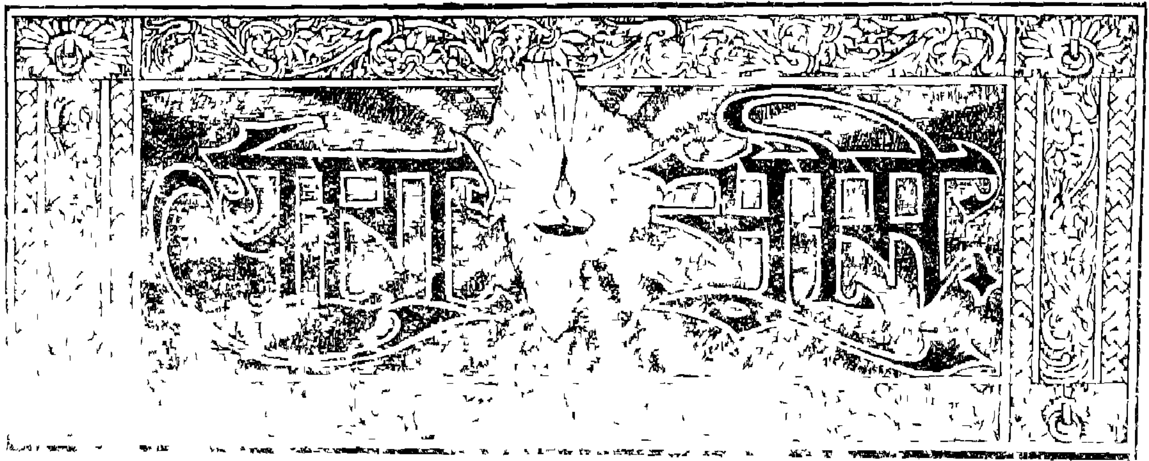
इस ताज के आँगन में बैठकर मुमताज़ की स्वर्गीय आत्मा मुग़ल साम्राज्य के गत वैभव पर रोदन कर रही है। बूढ़ी यमुना मानों उसको सान्त्वना देने के लिए धीरे-धीरे जा रही है।

वै० म०

विषय-सूची

चित्र-सूची





(जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका)

आत्मसमर्पण मोल जहँ, जहँ विशुद्ध बलिदान ;
मर मिटने की साध जहँ, तहँ हैं श्री भगवान ॥

वर्ष २ | खण्ड १ — सस्ता-साहित्य-मण्डल अजमेर — फाल्गुन संवत् १९८५ — अंक ६ | पूर्ण अंक १८

तपोवन

(१)

जीवन की इस निविड़ निशा में, द्वार दृगों का तेरा—
खुला, साधना का था जिसमें बन्द विश्व यह मेरा ।
कितने दिवस और कितने युग बीत चले इस पथ में ?—
कौन गिने जब है अब चढ़कर चलना हिमकर-रथ में ।

(२)

क्या कहते हो ! व्यर्थ लाभ क्या गिनकर नभ के तारे ?
अरे अबोध ! अचल यह रजनी, इनके मृदुल सहारे—
चलना होगा आज निकलकर कारागृह से अपने ।
उस जगती को जहाँ जी उठेंगे चिरदिन के सपने ॥

लक्ष्मीनारायण मिश्र

यूरोप के अनुभव

['त्यागभूमि' के लिए]

(२)

इंग्लैण्ड की परिस्थिति

अनेक वर्षों की अनुपस्थिति के बाद यहाँ लौटने पर, स्वयं ग्रेटब्रिटेन में, सबसे अधिक उत्साह-प्रद जो बात मुझे लगी वह यह है कि मेरे स्वदेश के युवा पुरुष-स्त्री उससे कहीं अधिक सच्चे, धुनी और स्वातंत्र्य-प्रेमी हैं, जितने कि २०—३० वर्ष पूर्व थे। मुझे भय था कि महासमर के बाद स्वदेश में—और खास कर युवकों में—युद्ध के भावों से उत्पन्न कठोरता एवं विरक्ति आ गई होगी। परन्तु अब मेरा यह भय मिट गया है और जहाँ कहीं भी मैं गया हूँ बड़े आश्चर्यपूर्ण ढग से विद्यार्थियों के समूहों ने मेरा स्वागत किया है। उन विद्यार्थियों ने, जो कि सचाई के साथ मेरी गम्भीर और महत्वपूर्ण बातों को, जो कि मुझे उनसे कहनी थी, सुनने के लिए उत्सुक थे और बहुत रात बीत जाने पर भी भारत और भारतीय मामलों के सम्बन्ध में जो कुछ सचाई मैंने जानी है उसे जानने और प्रश्नों द्वारा अपनी शंकायें निवारण करने के लिए तैयार थे।

इससे मुझे बड़ा उत्साह मिला है। क्योंकि, जब पहले मैं इंग्लैण्ड आया तो मैं प्राय. अधेड लोगों तथा राजनीतिज्ञों से ही मिला था, जिनपर महासमर के अनुभवों का प्रभाव पड़ा था और जिनमें युद्धजन्य कठोरता आ गई थी। उनसे सहानुभूति के साथ अपनी बातें सुनने की सुविधा पाना और उनमें अपनापन या आराम महसूस करना निश्चय ही मेरे लिए बड़ा कठिन था। इंग्लैण्ड में पहले दो महीने मुझे ऐसी ही अत्यन्त निराशा का सामना करना पड़ा था, इसीलिए उस समय भारत को मैंने जो पत्र लिखे वे सब मेरे स्वदेश के भविष्य के विषय में, खासकर भारत से उसके सम्बन्ध के विषय में उदासी एवं निराशा से भरे हुए थे। इसके बाद जब से मैं यहाँ के विश्वविद्यालयों में गया और उन विद्यार्थियों से मिला, जो महासमर के समय निरे बच्चे थे और महासमर के बाद के गत दस वर्षों में बढ़कर तरुण पुरुष-स्त्री हो गये हैं, तबसे स्वदेश की इस नई संतति की सच्ची लगन को, तथा उनके जीवन एवं कार्यों में समाविष्ट गहरी धार्मिक प्रवृत्ति को देखकर सचमुच मैं प्रफुल्लित हो उठा हूँ। कई बातों मे तो यहाँ अत्यन्त परिवर्तन हुआ है—खासकर स्त्रियों की दिशा मे। स्त्रियों का जीवन बिलकुल मुक्त और स्वाधीन हो गया है। अब इंग्लैण्ड की स्त्रियां जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे बिलकुल पुरुषों के समान ही स्थान ग्रहण करती हैं। पहले की तरह अपनी जाति की कमजोरी के नाम पर अब वे न तो रियायतों की माँग करती हैं और न रियायतें ग्रहण ही करती हैं। वह क्रम अब नहीं रहा। अब तो तरुण पुरुष-स्त्रियों में एक नये वीर-भाव (Shivalry) का उदय हुआ है, जिसमें पुरानी बहादुरी की अपेक्षा बन्धुता और सौख्य के भाव की अधिकता है। पहले पहल तो इस परिवर्तन पर मैं चकित हो गया और सोचा कि इतनी पूर्ण मुक्ति—स्वतत्रता—हासिल करने में कहीं स्त्रीत्व में से कुछ गँवा तो नहीं दिया गया है? परन्तु

जितना ही अधिक मैंने इस परिवर्तन के नतीजों को देखा है, इस सम्बन्धी मेरी चिन्ता उतनी ही कम होती गई है। निस्सन्देह स्त्रीत्व पहले ही की तरह बिलकुल ज्यों-का-त्यों क़ायम है। पुरुषों के पुरुषत्व की तुलना में घटने के बजाय किसी क़दर इसमें वृद्धि ही हुई है। जिस बात ने मेरे इस विश्वास को सबसे अधिक दृढ़ किया है वह स्त्रियों के स्वास्थ्य एवं भावों की असाधारण संवृद्धि है, जिसे कि मैं आज देख रहा हूँ। पूर्वकाल में पीले, मुर्दनी चेहरों का जो फ़ैशन-सा था, वह अब बिलकुल नहीं रहा है। बजाय इसके सर्वत्र स्वास्थ्य एवं शुभभावनाओं की उल्लसित चञ्चलता दिखाई पड़ती है और जहाँ भी कहीं जाओ वहाँ यही दृश्य बड़ा सुखद है।

इस दिशा में जिन बातों ने मेरा ध्यान सबसे अधिक आकर्षित किया, उनमें पुरानी रूढ़ियों के बंधनों से छुटकारा सबसे मुख्य है—और, यह बात अब युवक-युवतियों में सर्वत्र मौजूद है। यहाँ भी आरम्भ में मुझे कुछ चिन्ता हुई थी। मुझे फ़िक्र हुई कि पुरानी रूढ़ियों को इस प्रकार बिलकुल छोड़ देने का परिणाम कहीं गम्भीरता का अभाव और छिछोरपन तो न होगा? परन्तु जो कुछ मैंने देखा उस सबसे ऐसे किसी भी विचार का ज़ोरों से खण्डन होता है, क्योंकि जो कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त की गई है उसने यहाँ के निवासियों को अधिक गम्भीर और कार्य का अधिक सच्चा ही बनाया है। जिन भिन्न भिन्न विश्वविद्यालयों में मैंने भाषण किये, उनमें प्रत्येक सभा में जो कुछ मैंने देखा वह यही था कि उनमें से किसी भी अवसर पर, जहाँ तक मुझे याद है, कोई भी प्रश्न सिर्फ़ छिछोरपन या केवल नुक़ताचीनी के लिए नहीं पूछा गया। शुरू से आख़ीर तक जो प्रश्न मुझसे किये गये वे सब सच्चाई के साथ किये गये और उन्हीं विद्यार्थियों ने प्रश्न पूछे जो वास्तव में यथासम्भव सर्वोत्तम उत्तर चाहते थे और उससे कम में सन्तुष्ट होने को तैयार न थे। ऐसे सच्चे प्रश्नों के जवाब देने का अकसर बड़ा भारी बोझ मुझपर पड़ता रहा है और घण्टों बिना रुके हुए मुझे उनके जवाब देते रहना पड़ा है। लेकिन जब मैंने इस तरह व्यतीत होने वाली सन्ध्याओं पर विचार किया है तो यह देखकर मैं बड़ा कृतज्ञ हुआ हूँ कि मेरे स्वदेश के नौजवानों में ऐसी पर्याप्त सामग्री मौजूद है, जिससे कि भविष्य का सुन्दर निर्माण होगा।

परन्तु, जहाँ तक कि इंग्लैण्ड के राजनैतिक जीवन से सम्बन्ध है, मैं कोई ऐसा सुखद चित्र चित्रित नहीं कर सकता। मुझे जो अधिक-से-अधिक प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है, वह यह है कि दल-बन्दी के भावों ने मेरे देश के राजनैतिक जीवन की सच्चाई को नष्ट कर दिया है और राजनीतिज्ञ लोग वास्तविक सत्य की अपेक्षा अधिकतर पद, स्थान एवं शक्ति ही के लिए लड़ रहे हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि राजनीति में हम एक मरणशील अन्त के निकट आ पहुँचे हैं और कोई सर्वांगीन परिवर्तन ही हमारे राजनैतिक जीवन को स्वास्थ्यप्रद क्षेत्र पर पहुँचावेगा। भिन्न-भिन्न दलों के जिन-जिन नेताओं के सम्पर्क में मैं आया उनमें किसी में भी मैं ऐसा कुछ अधिक नहीं पाता कि जिससे मैं उनमें विश्वास या आदर कर सकूँ। और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में निःशस्त्रीकरण के तथा आंग्ल-फ्रेंच समझौतों के सम्बन्ध में हाल में जो कार्रवाइयाँ की गई हैं, वे तो लगभग बिलकुल ही निराश करने वाली हैं। युद्ध की भावना अभी मिटी नहीं है और हमारे ब्रिटिश राजनैतिक मामलों में तो अन्तर्राष्ट्रीयता का भाव अभी मुश्किल से क्षितिज पर ही उदय हुआ है।

सी० एफ़० एण्डरूज़ (लन्दन)

गांधीजी के साथ पन्द्रह दिन

['त्यागभूमि' के लिए]

(२)

जीवन-निर्वाह की समस्या

गांधीजी के यहाँ त्याग का गुणगान रात-दिन रहता है। कम-से-कम कितने रुपयों में निर्वाह हो सकता है, इसीका प्रयोग होता रहता है। गांधीजी भी अलसी के तैल का प्रयोग इसीलिए करते हैं, जिसमे जीवन-निर्वाह का खर्च कम-से-कम हो। उनके इस आचरण के कारण वातावरण ही ऐसा बन गया है कि उनकी मण्डली में जीवन-निर्वाह की आवश्यक से आवश्यक सामग्रियों का उपभोग करना भी मानो गुनाह-सा हो गया है। सेठ जमनालालजी का चौका भी सेठाई से शून्य है। बेमसाले की स्वादहीन एक तरकारी, मोटे टिक्कड़, दूध-दही तो औषधि के रूप मे, यह रोजमर्रा की रसद है। किसी मोटे मरीज के लिए तो आश्रम का भोजन या जमनालालजी का चौका रामबाण औषध है। किन्तु हरिभाऊ उपाध्याय जैसे अधमरे ब्राह्मण के लिए भी वहाँ वजन बढ़ाने की कोई गुंजाइश नही। किसी भी आश्रमवासी बालक या बालिका के चेहरे पर मैंने शारीरिक ओज के चिन्ह नहीं पाये, यद्यपि त्याग का तेज काफी तादाद में टपकता है। संन्यासाश्रम का आदर्श भी यही था कि कम-से-कम खाओ, अधिक-से-अधिक उपजाओ। अर्थात् अल्प मात्रा से जीवन-निर्वाह कर अधिक से-अधिक संसार की सेवा करो। यह स्वेच्छा का त्याग था। आश्रमवासियों की भी यह स्वयं-निर्मित कैद है। किन्तु भारत के जन-साधारण को आश्रमवासियों से अधिक कहाँ मिलता है? भारतवर्ष के प्रत्येक मनुष्य की आय का औसत गोखले ने २) माहवार निश्चित किया था। किसी-किसी ने इससे अधिक का अन्दाजा किया। किन्तु भारतवर्ष को सब्ज बाग दिखलाने वाले अंग्रेज भी ४॥) माहवार से अधिक की आय नहीं साबित कर सके। भारतवासी की आय ४॥) माहवार और अंग्रेज की ५०) प्रति मास!

आश्रमवासी बेचारे कम-से-कम खर्च करके भी १५) माहवार से कम में गुजर नहीं कर सकते और भारत के दरिद्रनारायण ४॥) माहवार मे किसी तरह कीड़े-मकौड़े का जीवन व्यतीत करते हैं। आश्रमवासियों ने तो अपने-आप अपने ऊपर कैद लगाई है, सुख को तिलाञ्जलि दी है, देश के लिए फकीरी ली है, इसलिए हरिभाऊजी के अधमुए शरीर को देखकर तरस खाना बेकार है। किन्तु देश के जन-समुदाय ने कब सन्यास-दीक्षा ली थी, जो उनकी गरीबी को हम सन्तोष समझ बैठे? उनका सन्तोष क्या है, बुढ़िया का ब्रह्मचर्य है। उन्हे सन्तोष सिखाना उनकी गरीबी की निर्दय हँसी उड़ाना है। मैंने गांधीजी से कहा—"महात्माजी, त्याग तो आपको और आपके चेले-चाटियों को ही शोभा दे सकता है, किन्तु देश के असंख्य दरिद्रों को त्याग की कौनसी गुंजाइश है? ये तो पहले ही से आधा पेट भोजन करते हैं और फिर यदि ये लोग यह समझ बैठे कि ४॥) माहवार या इससे भी कम में निर्वाह करना ही हमारा कर्त्तव्य है, तो फिर स्वराज्य की भावना को प्रोत्साहन देना फजूल है। स्वराज्य की भावना दो ही कारणों से देश में पैदा हो सकती है; या तो धार्मिक असन्तोष के कारण, या आर्थिक

चेतना के कारण। यूरोपीय देशों में पेट की चिन्ता ने स्वराज्य की भावना को जाग्रत रक्खा। यहाँ धार्मिक असन्तोष ने समय-समय पर स्वधर्मियों के राज्य की भावना को प्रोत्साहन दिया। किन्तु अंग्रेजों ने न हमारे मन्दिर गिराये, न मुसलमानों की मस्जिदें तोड़ीं। इसलिए स्वराज्य की भावना तो तभी पैदा हो सकती है जब हम यह महसूस करें कि हमारी यह आर्थिक हीनावस्था बिना स्वराज्य के नहीं सुधर सकती। किन्तु इस दारिद्र्य को ही आदर्श मानें तब तो फिर स्वराज्य के लिए कोई क्यों लड़े? इसलिए मेरी बुद्धि में तो जहाँ यह अपने आप धारण की हुई ग़रीबी आश्रमवासियों एवं अन्य कार्यकर्ताओं के लिए भूषण है, जनता की बेबस ग़रीबी ग़रीबों का और देश का दूषण है। उन्हें तो हम यह कहें कि तुम्हारे पास जीवन-निर्वाह की सामग्री स्वल्प है—उसको मर्यादा के भीतर बढ़ाने का उद्योग करना तुम्हारा धर्म है।" महात्माजी ने कहा—"मैं ग़रीबों का जीवन की आवश्यकीय सामग्री घटाने के लिए कहाँ कहता हूँ? आज ग़रीब जितने में निर्वाह करता है वह तो हमारे लिए शर्माने की बात है। वर्तमान ग़रीबों का जीवन तो पशुओं का जीवन है। उनके सामने त्याग की बातें करना निर्दयता है। जिनके पास काफ़ी सामग्री है, या जो सेवा करना चाहते हैं, मैं तो उन्हें ही ग़रीब बनने का उपदेश करता हूँ।" मैंने कहा—"आपके साहित्य के पढ़ने से तो कुछ भ्रम पैदा हो सकता है। आप अलसी के तैल पर निर्वाह करें और आपकी मण्डली आपका अनुकरण करे तो फिर लोग शायद यह भी समझ सकते हैं कि देश का हर मनुष्य कम-से-कम खाकर जिये।" गाँधीजी ने कहा—"लेकिन मेरा साहित्य ग़रीबों के लिए थोड़े ही है। जब ग़रीब लोग पढ़े-लिखे होने लगें और मेरा साहित्य पढ़ने लगेंगे तो शायद मुझे कुछ थोड़ा-सा फेरफार करना पड़े। किंतु आज तो मैं त्याग का गुण-गान धनी या मध्यमवर्ग के लोगों के लिए ही करता हूँ। ग़रीबों को त्याग क्या सुनाऊँ, वे तो परवशात् त्यागी बने बैठे हैं। उन्हें तो इससे अधिक की आवश्यकता है।" मैंने पूछा-"आपकी राय में हर मनुष्य को खाने, पहनने और सुख से रहने के लिए कितने व्यय में निर्वाह करना चाहिए?" गाँधीजी ने कहा—"जितने में सुखपूर्वक स्वस्थ रहते हुए निर्वाह कर सके।"

"यानी रोटी, दाल, भात, तरकारी, फल, घी, दूध, सूती-ऊनी कपड़े, जूते?"

गाँधीजी ने कहा—"जूते की आवश्यकता मैं इस देश में नहीं समझता; शायद खड़ाऊँ की आवश्यकता हो, घी तो ज्यादा नहीं चाहिए।" मैंने पूछा—"दन्त-मंजन, साबुन, ब्रश इत्यादि?" गाँधीजी ने कहा—"अरे इसकी कहाँ आवश्यकता हो सकती है?" मैंने पूछा—"घोड़ा?" सब लोग हँसने लगे। मैंने पूछा—"खैर, आपकी राय में ग़रीब आदमी का बजट कितने रुपये का होना चाहिए?" १००) से कम माहवार में कैसे कोई सुख-पूर्वक गुज़र करे, यह तो मेरे-जैसे मनुष्य की बुद्धि के बाहर की बात थी इसलिए मैंने १००) का तख़मीना रक्खा। हरिभाऊजी ने कहा—"मैंने साधारण आदमी का बजट गढ़कर देखा था, ५०) प्रति माह काफ़ी हैं।" महात्माजी को तो ५०) भी ज्यादे जँचा। "२५) माहवार तो काफ़ी है," यह उन्होंने अनुमान लगाया। मैंने कहा—"यह तो असम्भव है।" गांधीजी ने कहा "अच्छा, जो स्वास्थ्य के लिए चाहिए उतनी सामग्री का तख़मीना करलो। यदि २५) से ज्यादे आता है तो भी मुझे क्या उज्र है, किन्तु मैं जानता हूँ कि २५) माहवार हर मनुष्य को खाने को मिले तो यहाँ राम-राज्य आजाय"। "और यदि किसी-किसी को ५०)

से ज्यादे मिल जाय तो ?" मैंने पूछा। "ज्यादे मिल जाय तो वह उसका उपभाग करे," गांधीजी ने उत्तर दिया। "किंतु वह तो फजूल खर्ची है, ऐसे मनुष्य को तो मैं त्याग का ही उपदेश करूँगा।" मैंने पूछा—"महात्माजी, यदि भारत में प्रत्येक मनुष्य की आय २००) औसत या इससे भी अधिक होजाय तो आपको क्या उज्र हो सकता है ?" महात्माजी ने आवेश के साथ कहा "उज्र नहीं हो सकता है ? उज्र तो हो ही सकता है। संसार मे प्रकृति जितना पैदा करती है वह तो इतना ही है कि हर मनुष्य को आवश्यक वस्त्र और जीवन-निर्वाह की अन्य आवश्यक सामग्री सुख पूर्वक मिल जाय, किन्तु प्रकृति मनुष्य के अपव्यय के लिए हर्गिज पैदा नहीं करता। इसके माने यह हैं कि यदि एक मनुष्य आवश्यकता से अधिक उपभोग कर लेता है तो दूसरे मनुष्य को भूखा रहना पड़ता है और इसलिए जो अधिक उपभाग करता है उसे मैं लुटेरे की उपमा देता हूँ। इस हिसाब से ५०) से अधिक जो अपने लिए खाते हैं वे लुटेरे हैं। इंग्लैंड एक छोटा-सा देश है। वहाँ के ३॥ करोड़ आदमियों के भोग-विलास के लिए आज सारा एशिया उजड़ा जा रहा है। किन्तु भारत के ३२ करोड़ मनुष्य यदि २००) माहवार या अधिक खा जाने का प्रयत्न करें तो संसार तबाह हो जाय। भगवान वह दिन न लावे, जब भारत के लोग अंग्रेजों की तरह उपभोग करना सीखें। किन्तु यदि ऐसा हुआ तब तो ईश्वर ही रक्षा करे। ३॥ करोड़ की भोग-पिपासा मिटाने में तो यह देश मरा जा रहा है, ३२ करोड़ आदमियों की भोग की भूख मिटाने के लिए तो संसार को मरना होगा।"

मैंने कहा—"महात्माजी, यदि ५०) या १००) से अधिक खाने वालो को लुटेरे समझें तब तो मारवाड़ी, गुजराती, पारसी, चेट्टी, इत्यादि सभी लुटेरे हैं।" महात्माजी ने गम्भीरता से कहा—"इसमे क्या शक है ? वैश्यों के हित प्रायश्चित करने के लिए ही तो मैंने वैश्यपन छोड़ा है।"

घनश्यामदास बिड़ला

उन से

क्यों आये थे, अब जाते हो तज अशान्त के सुन्दर कूल—
दुखिया की सूनी झोली में क्यों बिखरा प्रिय मंजुल फूल ?
सुप्त-सौख्य पर प्रलय! विश्व था तन्मय छवि पर तेरी—
क्यों ठुकराते, अश्रु-कणों की, निहित-विश्व की ढेरी ?

× × ×

टूट रही हैं हृदयातल से—
प्रणय-श्रोत की कड़ियां !
पगले! सिहर स्नेह की तेरे—
छूट रहीं फुलझड़िया !!

रामविलास शुक्ल 'अपरिचित'

दक्षिण आफ्रिका में भारतीयों का जीवन

['त्यागभूमि' के लिए]

दक्षिण आफ्रिका से सम्बन्ध रखनेवाली समस्यायें बड़ी जटिल हो रही हैं। यह विषय जितना गम्भीर है, उतना ही व्यापक भी—जितना महत्वपूर्ण है उतना ही आवश्यक भी। इस विषय पर यथार्थ प्रकाश डालने के लिए जितना अवकाश चाहिए उसका मेरे पास सर्वथा अभाव हो है, तो भी 'त्यागभूमि' के पाठकों के मनोरंजनार्थ कुछ लिखना उचित प्रतीत होता है।

× × ×

जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ, यह विषय इतना व्यापक है कि इसके अन्तर्गत भारतीयों की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी अवस्थाओं का भी समावेश हो जाता है। अतएव हम एक-एक विषय पर थोड़ा बहुत प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

जन-संख्या

दक्षिण आफ्रिका की रमणीक भूमि पर अफ्रिकन, एशियन और यूरोपियन जातियों की त्रिवेणी बह रही है। यह देश तो है अफ्रिकनों का, किन्तु यूरोप और एशियावासी भी यहाँ अच्छी संख्या में आ बसे हैं। और सच पूछिए तो आफ्रिका महाद्वीप पर आज विदेशियों की ही तूती बोल रही है। जिनका यह ईश्वर-प्रदत्त देश है और जिनका इसपर सर्वोपरि अधिकार होना चाहिए, उनको आज टके सेर भी कोई नहीं पूछता—वास्तव में उनकी दशा क्रीत-दासों से भी गई-बीती है। किन्तु बाहर से आकर कुछ श्वेतांग महात्मा यहाँ के एकमात्र स्वामी बन बैठे हैं और लूट के इस माल की बदौलत चैन की बंशी बजा रहे हैं। दक्षिण आफ्रिका की संहति (Union) में चार प्रदेश हैं—नेटाल, ट्रांसवाल, केप और ऑरेंज फ्री स्टेट। संहति भर में भारतीयों की कुल संख्या १,६१,३३९ है। यूरोपियनों की तादाद १५,०८,९५१ और अफ्रिकनों की ५९,५०,११५ है।

धार्मिक अवस्था

सन् १८६० में भारतीय मजदूरों को लेकर पहला जहाज वहाँ आया और १ जुलाई १९११ ई० को स्वर्गीय श्री गोपाल कृष्ण गोखले के स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार कुलियों का आना सदा के लिए बन्द हुआ। मजदूरी करने के अभिप्राय से विशेषतः हिन्दू ही आये, उनके लिए—रसद की व्यवस्था करने के हेतु—पीछे से गुजरात के कुछ मुसलमान सौदागर पहुँचे और फिर उनको भव-बन्धन से विमुक्त कर स्वर्ग की सीढ़ी तक पहुँचा देने के लिए पादरियों का गुट्ट आ धमका। आज से ५० साल पहले खुद भारतवर्ष में हिन्दूधर्म की जो हीनावस्था थी उसको कौन नहीं जानता? फिर उन प्रवासी हिन्दुओं की धार्मिक अवस्था का अनुमान कर लेना कुछ कठिन नहीं है, जो गांव-गँवई से बहकाकर लाये गये थे और जिनका धर्म चूल्हे-चौके में या कच्ची रसोई में ही चक्कर काटा करता था। बेचारे जब कलकत्ता या मद्रास के कुली डिपो में पहुँचे और सर्व-जातियों को एक पंक्ति में बैठकर खाना पड़ा, तब उनके धर्म का दिवाला निकल गया। समुद्र-यात्रा ने और भी गजब ढाया। कहाँ उस समय का सनातन-धर्म और कहाँ समुद्र यात्रा? ब्राह्मण और क्षत्रियों ने यज्ञोपवीत उतारकर भगवती भागीरथी को अर्पण करते हुए कहा—"गंगामैया! धर्म डूब गया, जात चली गई, अब इस जनेऊ को क्यों भ्रष्ट करें? लो, यह मेरी धरोहर है, यत्नपूर्वक रखना। जब कभी लौटूँगा तो अपनी चीज़ वापस लूँगा और इसके बदले में तुमको चुनरी चढ़ाऊँगा, नहीं तो इस अभागी सन्तान को भूल जाना। घर-द्वार छूटा, माता-पिता छूटे, पुरजन-परिजन से बिछोह हुआ, और अब देश भी छूटा जाता है। कहाँ जा रहे हैं, कुछ पता नहीं। हम तो डूब ही रहे हैं फिर अपने धर्म और जाति को क्यों डुबावें?"

पाठक! इसे मेरे मन की कल्पना न समझें, यह सत्य

घटना है। ऐसा कोई भी प्रवासी हिन्दू नहीं था, जो यह समझता हो कि सब देश और सब काल में धर्म का पालन किया जा सकता है। देश के साथ ही प्रवासी हिन्दुओं ने धर्म भी छोड़ दिया, नाम-मात्र के हिन्दू बने रहे किन्तु हिन्दुत्व के सारे चिन्ह और लक्षण केवल स्मृति-पट पर शेष रह गये। डिपो में ही नियम और संयम की पाबन्दी मिट गई; अथवा यों कहिए कि हृदय हीन सरकार की ओर से जबर्दस्ती मिटा दी गई। जहाज पर स्वेच्छाचारिता का सूत्रपात हुआ और उपनिवेश में पहुँचकर उच्छृंखलता का प्रचंड साम्राज्य स्थापित हो गया। 'नेटाल में भी हिन्दूधर्म का पालन किया जा सकता है—ऐसा कहना, उस समय तक प्रवासी हिन्दू समाज के सम्मुख, अपनी अज्ञानता का परिचय देना था। हिन्दुओं की इस आत्म-विस्मृति से मुसलमान और ईसाइयों ने अच्छा लाभ उठाया। गन्ने की कोठी, चाय के बगान और रेल्वे के बैंकों में ईसाई पादरी पहुँचकर भोले-भाले हिन्दुओं को मसीह का पैगाम सुनाने और उनको खींच-खाँचकर अपनी जमात की सख्या बढ़ाने लगे। मुसलमान भी इस लावारिस माल को लूटने में क्यों किसी से पीछे रहते? जर-जर्मान इत्यादि का लोभ दिखाकर वे भी हिन्दुओं को अपने धर्म में मिलाने लगे। हिन्दुओं का हिन्दुत्व विस्मृति के अथाह सागर में डूब गया। यहाँ तक कि त्यौहारों को भी तिलांजलि दे दी गई। होली-दिवाली, कृष्णाष्टमी-रामनवमी इत्यादि हिन्दू पर्व केवल स्मृति की सामग्री रह गये—ये कब आते और कब चुपचाप चले जाते, इसका किसीको कुछ पता न लगता। हाँ, मुहर्रम और क्रिसमस अवश्य हिन्दुओं के गले पड़े ताजिये बनाना, मर्सिया गाना, छाती पीट-पीटकर चिल्लाना, ध्वजे चढ़ाना, मुहर्रम के समय परस्पर लाठियाँ खड़काना, एक दूसरे का सिर फोड़ना और फिर अदालत तक पहुँचकर मुकदमे लड़ना, हिन्दुओं का सर्वोपरि धर्म बन गया। 'क्रिसमस' और 'गुड फ्राइडे' तो राजकीय त्यौहार ही ठहरे। इस अवसर पर हिन्दुओं का अन्य जातियों की भांति आमोद-प्रमोद में लीन होना स्वभाविक ही था, किन्तु ताजियेदारी में हिन्दुओं का धार्मिक भाव अन्तर्हित था।

यद्यपि कुलीगीरी में ब्राह्मणों की भर्ती वर्जित थी, किंतु वे भू-देव नाम और जात बदलकर पहुँच ही तो गये। इनमें कोई रामलीला पढ़ सकता था और कोई नागलीला, इससे अधिक योग्यता वालों को यहाँ आने की आवश्यकता भी क्या थी? खैर, यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि कुली-प्रथा के प्रथम युग में इनके द्वारा हिन्दुत्व की कुछ-न-कुछ रक्षा अवश्य हुई। 'नेटाल में धर्म का पालन नहीं होसकता है,—इस मनोभाव का प्रतिवाद करने की इनमें शक्ति तो नहीं थी, किन्तु एक नई बात इन्होंने हिन्दुओं को सुझाई जो उनके दिल पर बैठ गई और वह यह कि यही रावण का देश लंका है और यहाँ के हबशी रावण के वंशज हैं। लंका जलाते समय हनुमानजी ने इनका बाल फूँक दिया था, इसीसे इनका बाल भेड़ की भांति ऐंठा हुआ होता है। यह सत्य है कि इस राक्षसी देश में धर्म का पालन तो नहीं हो सकता है किन्तु महावीरजी को रोट चढ़ाने और झंडा उड़ाने में बड़ा फल है।' फिर क्या कहना था?—घर-घर हनुमानजी के नाम पर लाल पताका फहराने लगी और 'बाल समै रवि भक्ष्य लियो तब तीनहूँ लोक भयो अँधियारो' का मन्त्र पाठ होने लगा। सत्यनारायण की कथा और महाकवि तुलसीदास की रामायण भी हिन्दुत्व की रक्षा में सहायक सिद्ध हुई। यद्यपि आर्य-संस्कृति का सर्वथा लोप हो चुका था, तोभी रामायण, सत्यनारायण की कथा और हनुमान-चालीसा ने उस अन्धकार-पूर्ण युग में हिन्दुत्व को किसी-न-किसी रूप में बचाये रक्खा।

किन्तु ऐसा कबतक चलता? हिन्दू युवक, जिनको मिशनरी पाठशालाओं में शिक्षा मिली, धड़ाधड़ ईसाई होने लगे और अगर यह प्रवाह रुकता नहीं तो आज इस उपनिवेश में भारतीय संस्कृति का चिन्ह भी शायद ही दृष्टिगोचर होता। इस देश में भारतीयता की रक्षा का अधिकांश श्रेय आर्यसमाज के धर्मोपदेशकों को प्राप्त है। भाई परमानन्द एम० ए०, स्वामी शंकरानन्दजी, स्वामी मंगलानन्दजी पं० ईश्वरदत्त विद्यालंकार, पं० कर्मचन्द इत्यादि आर्योपदेशकों ने समय-समय पर यहाँ आकर वैदिक धर्म और आर्य संस्कृति का प्रचार किया। इन उपदेशकों के प्रचार का फल यह हुआ कि हिन्दुओं में वैदिक धर्म पर भक्ति, सन्ध्या-हवन में श्रद्धा, भारतीय त्योहारों

पर निष्ठा, परस्पर नमस्ते का व्यवहार, अपनी सभ्यता पर अभिमान, हिन्दी भाषा की ओर अभिरुचि, सभा-समितियों से प्रेम, कुरीतियों से घृणा और अपने उज्ज्वल भविष्य में विश्वास जम गया। नेटाल के जो हिन्दू अर्द्ध-मुसलमानी और अर्द्ध-क्रिस्तानी रस्मोरिवाज के शिकार बने हुए थे, उनमें स्वधर्मानुराग और स्वदेशाभिमान भरकर अपने पैरों पर खड़ा कर देना कोई सहज काम नहीं था, किन्तु आर्य-समाजी उपदेशकों ने यह कार्य कर दिखाया और हिन्दू-जाति के सच्चे सेवक, सहायक और रक्षक सिद्ध हुए।

इस समय भारतीय जीवन में धर्म की पवित्र धारा बह रही है। आर्य-समाज के प्रताप से हिन्दुओं को अपने धर्म और अपनी संस्कृति पर अटल अनुराग पैदा हो गया है। जगह-जगह हिन्दू मन्दिर और हिन्दू श्मशान बन गये हैं। दिवाली के समय यहाँ के हिन्दुओं में जो उत्साह देखने में आता है वह वर्णनातीत है। संक्षेप में कहा जाय तो हिन्दुत्व आज दक्षिण आफ्रिका में जीवित-जागृत रूप में विद्यमान है। ईसाई और मुसलमान भाई भी अपने-अपने मज़हब फैलाने में कटिबद्ध हैं। सबसे बड़ी और अच्छी बात यह है कि यहाँ सब सम्प्रदाय के लोग मिल-जुलकर रहते हैं—धर्म के नाम पर भारत की भाँति यहाँ टंटा-बखेड़ा नहीं होता। हमें ईसाई और मुसलमान भाइयों से कोई द्वेष नहीं है, किन्तु इनकी एक बात मुझे अच्छी नहीं लगती, और वह यह कि इन मजहबों में प्रवेश करते ही भारतीय संस्कृति को तिलाञ्जलि देकर अरबी और यूरोपीय सभ्यता का दास या भक्त बनना आवश्यक हो जाता है। जबतक धर्म से सभ्यता और संस्कृति को अलग नहीं किया जाता तबतक परस्पर सद्भावना और भ्रातृत्व का विकास कदापि न होगा। एक हिन्दू आज ईसाई हो जाता है—कल से वह यूरोपीय संस्कृति का पक्का अनुयायी बन जाता है और अपने ही पूर्वजों को गालियाँ सुनाने से बाज़ नहीं आता। मुसलमान हो जाने पर स्वदेश से भी नाता टूट जाता है—वह मातृभूमि को हिकारत की निगाह से देखने लगता है और टर्की तथा अरब का यशोगान करने में गौरव अनुभव करता है। जबतक हिन्दुस्थानी लोग यह तत्व हृदयङ्गम न कर लेंगे कि धर्म एक वस्तु है और राष्ट्र दूसरी वस्तु, धर्म बदल जाने से राष्ट्र नहीं बदल जाता, देश नहीं बदल जाता, पूर्वज नहीं बदल जाते, सभ्यता नहीं बदल जाती, तबतक विदेशी धर्म भारतीयता के लिए घातक ही सिद्ध होंगे। खैर, इस उपनिवेश में एक यह बात अच्छी है कि गोरे प्रभुओं द्वारा सब भारतीय एक ही लाठी से हाँके जाते हैं—उनकी दृष्टि में भारतभूमि के रहने वाले सब एक हैं, चाहे कोई हिन्दू हो, चाहे मुसलमान और चाहे क्रिश्चियन—उनके लिए सब 'इण्डियन' हैं और एकही क़ानून और एकही व्यवहार के पात्र हैं। गौराङ्गों की इस दया-दृष्टि के कारण ही भारतीयों में मज़हबी झगड़ों का अभाव है अन्यथा यहाँ भी ऐसे मलाव्य लोग मौजूद हैं, जो मज़हबी जंग कराये बिना चैन न लेवें। सब एकही नाव पर सवार हैं, यदि नाव डूबी तो सभी डूबेंगे, कोई बचेगा नहीं, इसी भाव के कारण यहाँ का धार्मिक वातावरण शान्त और शुद्ध है।

राजनैतिक अवस्था

सन् १८९३ ई० में दक्षिण आफ्रिका में महात्मा गाँधी का शुभागमन हुआ—इसके साथ ही भारतीयों के राजनैतिक इतिहास का प्रथम अध्याय शुरू हुआ। तबसे अबतक राजर्षि गोपालकृष्ण गोखले, श्रीमती सरोजिनीदेवी, माननीय श्रीनिवास शास्त्री, सर देवप्रसाद सर्वाधिकारी, सर हबीबुल्ला इत्यादि अनेक विख्यात भारतीय नेता यहाँ आ चुके—उस इतिहास में अनेक अध्याय जोड़े जा चुके। सबका विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिए मेरे पास न तो अवकाश ही है और न इसकी कोई आवश्यकता ही। "त्यागभूमि" के पाठक महात्मा गाँधी की आत्म-कथा* और सत्याग्रह के इतिहास में अतीत की झलक देख सकते हैं। यहाँ हम केवल वर्तमान अवस्था पर ही कुछ प्रकाश डालेंगे।

जबसे केपटाउन में गोल-मेज परिषद् हुई और यूनियन तथा भारत सरकार के मध्य समझौता हुआ तबसे प्रवासी भारतीयों के इतिहास में एक नवीन खण्ड का

* सस्ता-साहित्य मण्डल, अजमेर, द्वारा प्रकाशित।

श्रीगणेश हुआ है। इस खण्ड का अन्त कहाँ होगा और इसमें कितने अध्याय जोड़े जा सकेंगे, इसका उत्तर भविष्य के गर्भ में अन्तर्हित है। हम यहाँ केवल यह विचार करेंगे कि प्रवासी भारतीयों के लिए यह समझौता कहाँ तक लाभदायक सिद्ध हुआ है। केपटाउन-समझौते में दो शर्तें अधिक आपत्तिजनक कही जाती हैं। एक तो यह कि यहाँ के भारतीयों की संख्या घटाई जाय, और दूसरी यह कि जो किसी प्रकार यहाँ से टलना पसन्द न करें और सदा के लिए यहीं बसना चाहें वे पश्चिमीय जीवनादर्श अंगीकृत करें। पहली शर्त को अमल में लाने के लिए भरपूर कोशिश हो रही है। प्रति मास सैकड़ों भारतीय—औरतें, मर्द और बच्चे—इस देश को सदा के लिए नमस्कार करके विदा हो रहे हैं। इनको राह-खर्च के सिवाय हरेक बालिग को २० पौण्ड और नाबालिग को १० पौण्ड के हिसाब से इनाम भी मिलता है। केपटाउन-समझौते के बाद लगभग छः हजार भारतीय इस देश को छोड़कर चले गये और स्वराष्ट्र-सचिव डाक्टर मलान का अनुमान है कि इस साल के अन्त तक लगभग १० हजार भारतीयों से नेटाल का पिंड छूट जायगा।

यह स्वेच्छापूर्वक प्रत्यागमन की अवस्था कोई नई नहीं है। सन् १९१४ के इण्डियन रिलीफ ऐक्ट में महात्मा गांधी की सम्मति से एक धारा ऐसी जोड़ी गई कि जो लोग राजी खुशी देश को जाना चाहेंगे उनको सरकार की ओर से राह खर्च दिया जायगा किन्तु शर्त यह होगी कि फिर उन्हें नेटाल लौटने का अधिकार नहीं रहेगा। इसके कई साल बाद राह खर्च के सिवाय फी आदमी ५ पौण्ड इनाम भी दिया जाने लगा और फिर इनाम की रकम बढ़ा दी गई और आदमी पीछे १० पौण्ड मिलने लगा। निम्नलिखित अंकों से पता लगेगा कि सन् १९१४ ई० से अबतक कितने भारतीय स्वेच्छा पूर्वक प्रत्यागमन की इस नीति के शिकार हो चुके हैं—

सन्	पुरुष	स्त्री	बालक	जोड़
१९१४	१६०	५३	७७	२९०
१९१५	५११	२१२	२६८	९९१
१९१६	९०१	४४०	५२४	१,८६५
१९१७	६६५	३१०	३८०	१,३५४
१९१८	६९२	३५४	४८६	१,५८२
१९१९	६४०	२६७	४१२	१,८१९
१९२०	८५६	३८०	५२०	१,८१६
१९२१	१,४०८	६७४	८४५	२,९२७
१९२२	१,३४७	५१०	५६७	२,४२४
१९२३	१,३९७	६००	७१९	२,७१६
१९२४	५६९	२२०	२७४	१,०६३
१९२५	७०९	२९२	३९९	१,४००
१९२६ (३० जून तक)	३७८	१६४	२३३	७७५
जोड़	१०,११५	४,४७६	५,७७३	२०,३६४

केपटाउन-समझौते के बाद स्वेच्छा-प्रत्यागमन (Voluntary Repatriation) का नाम बदलकर सहायता-प्राप्त प्रवासी (Assisted Emigrant) रख दिया गया है और इसके विधान तथा व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन हो गया है। नवीन विधान के अनुसार जो स्वदेश जाते हैं, उनके लिए इतना सुभीता अवश्य है कि यदि वे चाहें तो एक साल के बाद तीन साल के अन्दर नेटाल वापस आ सकते हैं—बशर्ते सरकार का सब खर्च मय सूद के लौटा दें। इसका यही अर्थ हुआ कि 'न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी।' माननीय श्रीनिवास शास्त्री ने भी अपने कई भाषणों में गोरे लोगों को विश्वास दिलाया है कि यद्यपि नवीन विधान में नेटाल लौटने की शर्त है तो भी उनमें से ५ प्रतिशत भी नहीं लौट सकेंगे, यह निश्चित है। बात बिल्कुल ठीक है। ऐसे सैकड़ों अभागों को मैं जानता हूँ जो आज लौटने को तैयार हैं, किन्तु अर्थ के अभाव से लौटने में असमर्थ हैं।

दूसरी शर्त है यहाँ रहने वाले भारतीय गोरे लोगों के भांति रहन-सहन (European Standard) इख्तियार करें। यह शर्त भोले-भाले भारतीयों के लिए नागपाश है। कहाँ साधारण नौकरी करके निर्वाह करने वाले और कहाँ यूरोपियन रहन-सहन ? जिस मामूली काम के लिए एक भारतीय को ३ पौण्ड मासिक मिलता

है, ठीक उसी धन्धे के लिए एक यूरोपियन को १० पौण्ड से कम नहीं, फिर दोनों के रहन-सहन में समता कैसी? और अगर निकट-भविष्य में अभागे भारतीय रहन-सहन में परिवर्तन कर गोरों की श्रेणी में न पहुँचे, तो अपने देश की राह घरें और नेटाल को खाली कर दें। यह बड़ी विकट समस्या है।

एक बात और। भारतीय पश्चिमी रहन सहन अवश्य अंगीकार करें, अगर उनको इस देश में रहना है, किन्तु उनको राजनैतिक (Parliamentary) और नागरिक मताधिकार (Municipal Franchise) नहीं मिलेगा, क्योंकि आखिर वे काले ही हैं न? यदि केपटाउन-समझौते में यह बात तय होती कि भारतीय यूरोपियन रहन-सहन अंगीकार कर ले तो उनको नागरिक का सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जायगा, तब तो आपत्ति की गुञ्जाइश न होती। किन्तु यहाँ तो 'मीठा-मीठा गप्प, कड़ुवा-कड़ुवा थू' का कहावत चरितार्थ हो रही है। जिससे गोरी सरकार और गोरी प्रजा की भलाई होती हो, वह तो अवश्य होना चाहिए—चाहे भारतीय भले ही जहन्नुम में जायँ।

मुझे तो इस देश में भारतीयों का जीवन संकटापन्न और उनका भविष्य अन्धकारपूर्ण दिखाई देता है। पार्लमेण्ट-कौंसिल या म्युनिसिपैलिटी में सदस्य बनकर बैठना तो दूर की बात है, यहाँ तो भारतीयों को किसी राजनैतिक संस्था में मताधिकार भी नहीं है। हाँ, भारतीयों की संख्या घटाने के लिए एक और उपाय ढूँढ़ निकाला गया है। नवीन एशियाटिक ऐक्ट में एक धारा ऐसी जोड़ी गई कि जो लोग १८९७ का इमिग्रेशन कानून पास होने के बाद इस देश में आ गये हैं, वे अब वर्जित प्रवासी हैं। वे यदि ३० सितम्बर १९२८ से पहले सरकारी अमलदार के सामने उपस्थित होकर क्षमा की याचना करेंगे, तो उनको क्षमा-पत्र दे दिया जायगा किन्तु जिनके बीबी-बच्चे यहाँ आ नहीं चुके हैं, उनको भविष्य में स्वदेश से लाने का अधिकार नहीं होगा और उक्त अवधि के पश्चात् ऐसे वर्जित प्रवासी पकड़कर इस देश से निर्वासित कर दिये जायँगे। इस विधान से कुछ दिनों तक यहाँ बड़ा कोलाहल मचा हुआ था और लगभग एक हज़ार भारतीयों ने क्षमा-पत्र प्राप्त किये—शेष ऐसे भारतीयों का प्रवासाधिकार तलवार की धार पर लटक रहा है। बात असली यह है कि सन् १८९७ ई० के प्रवास कानून के पास होने के बाद बहुत-से भारतीय लुक-छिपकर इस देश में घुस आये हैं और यहाँ के स्थायी प्रवासी बन गये हैं। इस बात के लिए बड़ी चेष्टा की गई कि सन् १९१४ ई० के गांधी स्मट्स-समझौते के बाद जो इस देश में आये हैं, उनको भले ही वर्जित प्रवासी मान लिया जाय, किन्तु उससे पहले के आने वालों को नहीं, किन्तु नक्कारखाने में तूती की आवाज़ कौन सुनता है? यहाँ तो भारतीयों की संख्या घटाने की बात ठहरी और वह भी उतनी, जिससे अधिक घटाई हो न जा सके। फिर जिस प्रकार भी हो सके, इस योजना को कार्य-रूप में परिणत करना ही होगा। धीरे-धीरे वर्जित प्रवासी कहकर लोग पकड़े जा रहे हैं और उनको निर्वासन का कठोर दण्ड मिल रहा है। भारत के राजदूत माननीय श्रीनिवास शास्त्री प्रवासी भारतीयों की हर प्रकार से सहायता करने को उद्यत रहते हैं, किन्तु गुलाम देश के राजदूत का महत्व ही क्या? जो देश स्वतन्त्र होता है वहाँ के राजदूत की वाणी में बल होता है और उसके कथन को सुनी-अनसुनी करना कोई सहज काम नहीं होता। किन्तु गुलाम भारत के राजदूत शास्त्रीजी एक स्वराज्य प्राप्त उपनिवेश के सामने अकड़कर बोलने का साहस कैसे कर सकते हैं?

आर्थिक अवस्था

यहाँ के भारतीयों को तीन श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है—व्यापारी, किसान और मजदूर। दक्षिण आफ्रिका का सारा भारतीय व्यापार मुसलमान सौदागरों के हाथ में है। उनकी आर्थिक अवस्था बहुत अच्छी है और वे दक्षिण आफ्रिका में अपनी जड़ खूब मजबूत बना चुके हैं। इस देश में व्यापार के लिए लाइसेन्स लेना पड़ता है। सन् १९२५-२६ ई० में एशिया वासियों को केप प्रान्त में १५८२, ट्रांसवाल में ४९८१, आरेञ्ज फ्री स्टेट में १०, और नेटाल में ३७३३ तिजारती सनदें दी गईं। इसमें चीनी व्यापारियों का भी समावेश है। सच बात तो यह है कि मद्रासी और हिन्दुस्थानी तिजारती इने-गिने हैं, कोनियों

की संख्या भी बहुत कम है। एशियाइयों में गुजराती व्यापारी ही अधिक हैं और उनमें भी हिन्दू बहुत थोड़े और मुसलमान अधिक हैं। इन व्यापारियों की अवस्था उन्नत और आशाजनक है। इन मुसलमान सौदागरों में सबसे बुरी आदत यह है कि ये हिन्दुओं को व्यापार की पंक्ति में आने देना पसन्द नहीं करते और खासकर हिन्दुस्थानियों और मद्रासियों को। जहाँ कोई हिन्दू व्यापार करने को तैयार हुआ, झट मुसलमान सौदागर पहले उसकी सहायता करने के लिए बे-बुलाये दौड़े पड़ते हैं और फिर उसको अपने चंगुल में फँसाकर बिगाड़ देते हैं। इसलिए हिन्दू व्यापार में पनप नहीं पाते। जो थोड़े से हिन्दू दूकानदार हैं भी, उनको व्यापारी न कहकर "नून-तेल बेचने वाला" बनिया ही कहना चाहिए। खैर, हम यहाँ इतना ही कहकर सन्तोष करेंगे कि भारतीय व्यापारियों की आर्थिक अवस्था सर्वथा सन्तोषजनक है। पर उन्हें आतिगत् झगड़ों में न पड़कर पारस्परिक सहयोग से काम करना चाहिए।

दूसरा वर्ग है भारतीय किसानों का। इन किसानों में हिन्दुओं और विशेषतः मद्रासी और हिन्दुस्थानियों की संख्या अधिक है। कुछ गुजराती हिन्दू और मुसलमान भी किसान हैं। किसानों में कुछ लखपती भी हैं किन्तु अधिकांश तो महा कंगाल हैं। नेटाल में ८९, ८७१ एकड़ जमीन के मालिक भारतवासी हैं और ८८, २०१ एकड़ ज़मीन भारतीयों ने पट्टे पर ले रक्खी है। अधिकांश किसान कर्ज़ के भार से दबे हुए हैं तो भी किसी प्रकार अपना निर्वाह किये जाते हैं। उनके ऊपर जितना ऋण है, उससे अधिक उनके पास ज़मीन भी तो है। साधारणतया उनकी आर्थिक अवस्था बुरी नहीं कही जा सकती।

तीसरे वर्ग में हम मजदूरों की गणना करेंगे। इनकी हालत सबसे खराब है। केप मे ४५३, नेटाल में ८७१२ और ट्रान्सवाल मे २३२ भारतीय खानगी रोजगारियों के यहां भिन्न भिन्न प्रकार की नौकरी करते हैं। सरकारी, म्युनिसिपैलिटियों और रेलवे विभाग में भारतीय नौकरों की संख्या इस प्रकार है—केप १, नेटाल ९५२, और ट्रांसवाल २। ईख के खेतों और आम के बगीचों में काम करनेवाले भारतीय मजदूरों की संख्या इससे पृथक् है। यह ध्यान रहे कि म्युनिसिपैलिटियों में पाखाना उठाने, सड़कों पर झाडू लगाने तथा इसी प्रकार के अन्य गन्दे काम करने के लिए ही भारतीय नियुक्त हैं। सरकारी नौकरियों में दुभाषिया और पुलीस के काम के अतिरिक्त भारतीयों के लिए और कोई काम नहीं मिल सकता और रेलवे में सबसे गन्दा काम भारतीयों के जिम्मे है। उनका वेतन भी क्या है? किसी प्रकार पापी पेट की ज्वाला शांत करने भर को मिल जाता है। यदि दासत्व की सजीव मूर्ति देखनी हो तो बारकों में जाकर भारतीय मजदूरों को देख आइए।

केपटाउन-समझौते में समान काम के समान वेतन (Equal pay for equal work) का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। किन्तु इस सिद्धान्त ने तो और भी गजब ढाया है। अबतक गोरी कम्पनियाँ कम वेतन पर भारतीय मजदूरों को रखने में फायदा समझती थीं, किन्तु जब गोरों के बराबर वेतन देना है तो फिर भारतीयों को नौकर रखने में लाभ? गोरे मालिक समान वेतन पर भारतीय को नौकर रक्खें और अपने गोरे भाई को नहीं, यह कैसे संभव हो सकता है? फल यह हुआ है कि सैकड़ों भारतीय कारीगर काम से बरखास्त कर दिये गये और मौकूफ किये जा रहे हैं। उनके लिए केवल दो ही मार्ग हैं, या तो भूखों मरकर नेटाल में रहें, अथवा अपना बोरिया-बँधना लेकर सरकारी खर्चे से स्वदेश चले जायँ।

अब भारतीय मजदूरों को अपनी अधमावस्था का ज्ञान होने लगा है, वे संगठित होने का प्रयास कर रहे हैं। हाल ही में नेटाल इण्डियन कांग्रेस ने लेखक की ही अध्यक्षता में एक मजदूर-समिति कायम की थी और इस समिति ने अपने जीवन के अल्पकाल में भारतीय मजदूरों को संगठित करने के लिए जो उद्योग किया है, वह आशाजनक है। संगठन का अभाव भी मजदूरों की दुर्दशा का एक कारण है। वे तितर-बितर पड़े हुए हैं, उनको चारों ओर से धक्के मिल रहे हैं, और वे घबराकर स्वदेश भागे जा रहे हैं। अतः कांग्रेस की मजदूर-समिति ने विभिन्न काम करने वाले भारतीय मजदूरों का अलग-अलग संघ स्थापित

करना शुरू कर दिया है और इन संघों को एक सूत्र में ग्रंथित करने के लिए मजदूर कांग्रेस की स्थापना हुई है।

गत पहली दिसम्बर को डरबन के टाउनहाल में लगभग तीन सहस्र मनुष्यों की उपस्थिति में माननीय श्रीनिवास शास्त्री द्वारा मजदूर परिषद् का उद्घाटन हुआ। इस परिषद् में पार्लमेण्ट के मजदूर सदस्य श्री रैवर्न, रजिस्ट्रार ऑफ़ लेबर श्री मैगरेगर, मजदूरों के चीफ़ इन्स-पेक्टर श्री वाकर और लोकल इन्सपेक्टर श्री मोफट के सिवाय और भी बहुत-से प्रतिष्ठित यूरोपियन नर-नारी पधारे थे। सरकार ने अपने अमलदारों को भेजकर परिषद् के प्रति सहानुभूति प्रकट की थी। इस अवसर पर शास्त्री-जी का अभिभाषण इतना महत्वपूर्ण हुआ कि अर्द्ध शताब्दी से भी अधिक काल तक दासतापूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले भारतीयों में एक विलक्षण जागृति उत्पन्न हो गई। शास्त्री जी का भाषण क्या था, अन्तरतम की पीड़ा की प्रतिध्वनि थी। उस दिन आपने जैसा व्याख्यान दिया, कहा जाता है कि, उससे पहले दक्षिण अफ्रिका में आपने वैसा व्याख्यान कभी नहीं दिया था। आपने सरकार, सर-कारी अमलदारों और गोरे लोगों की स्वार्थपरता की बड़ी कड़ी आलोचना की। आपका भाषण सुनकर सभी दङ्ग रह गये। आपके सिवा नेटाल इण्डियन कांग्रेस के प्रधान श्री सौराबजी रुस्तमजी, परिषद् के प्रधान एडवोकेट अलबर्ट क्रिस्टोफर और लेखक के व्याख्यान हुए। दूसरे दिन की बैठक में बाक़ायदा मजदूर-काँग्रेस की स्थापना हो गई। सरकारी प्रतिनिधियों के भी भाषण हुए और उन्होंने वचन दिया कि वे यथाशक्ति इस कॉंग्रेस की सहायता करने को तैयार हैं।

अन्त में इतना ही कहना पर्याप्त है कि वहाँ के भार-तीय किसान और मजदूरों की आर्थिक स्थिति भारत के इस वर्ग के लोगों से अच्छी है। जो लोग घबराकर भागे जा रहे हैं, वे बड़ी भयंकर भूल करते हैं और भारत पहुँच-कर उनको घोर पश्चात्ताप होता है। किन्तु 'समय चूकि पुनि का पछिताने?'

शिक्षा-सम्बन्धी स्थिति

इस देश में गोरे, रंगीन और भारतीय विद्यार्थियों के लिए पृथक् पृथक् पाठशालायें हैं। कोई भारतीय विद्यार्थी किसी भी दशा में यूरोपियन स्कूलों में प्रविष्ट नहीं हो सकता। जिस प्रकार हिन्दुस्तान की कुछ जातियाँ अपनी श्रेष्ठता के मद में चूर हैं और मनुष्य-जाति के एक भाग को अछूत कहकर उनका स्पर्श करना भी पाप समझती हैं। उसी प्रकार वहाँ के गोरों की दृष्टि में सभी भारतीय अछूत और नीच हैं। भारतीयों के लिए नेटाल में दो प्रकार की पाठशालायें हैं। एक तो वे जो सरकारी पाठशालाओं के नाम से प्रसिद्ध हैं, और दूसरी वे जो सरकारी सहायता प्राप्त पाठशालायें कह-लाती हैं। इस समय नेटाल में ९ सरकारी और ४४ सहायता-प्राप्त पाठशालायें हैं, जिनमें ११ का सञ्चालन ईसाई संस्था-ओं द्वारा होता है। कन्याओं के लिए अलग तीन पाठशालायें हैं, इनका संचालन सूत्र ईसाइयों के हाथ में है। शिक्षा पाने योग्य वय के ११ सहस्र बालक हैं, जिनमें केवल एक-चौथाई को शिक्षा मिलती है, शेष निरक्षरता की गोद में पल रहे हैं। डरबन में एक भारतीय हाइस्कूल भी है, जिसमें मेट्रिक्युलेशन तक शिक्षा दी जाती है। अन्य पाठशा-लाओं में अंग्रेजी के सिवाय भारतीय भाषाओं के पढ़ाने का कोई प्रबन्ध नहीं है। ट्रांसवाल में भारतीय बालकों को अंग्रेजी के साथ भारतीय भाषायें भी पढ़ाई जाती हैं, किन्तु नेटाल में नहीं। इस विषय पर किम्बर्ली-कांग्रेस में माननीय श्रीनिवास शास्त्री से मेरा जो गहरा मत-भेद हुआ था उसका वृत्तान्त समाचारपत्रों के पाठक पढ़ चुके हैं। देशी भाषा की कुछ खानगी पाठशालायें अवश्य हैं, जिनमें अधि-कांश की आर्थिक अवस्था दयाजनक है और बड़ी कठिनाई से उनका सञ्चालन होता है।

केपटाउन-समझौते में एक शर्त यह भी थी कि भार-तीयों की शिक्षा-सम्बन्धी अवस्था की जाँच की जाय; तद-नुसार नेटाल की प्रान्तिक कौंसिल ने एक शिक्षा-कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन में कौंसिल के केवल अंतरंग सदस्य ही निर्वाचित किये गये। कमीशन बैठा, उसके सामने प्रान्तभर के भारतीयों की गवाहियाँ गुजरीं, सभी ने अपने-अपने दुखड़े रोये और अधिक शिक्षा के लिए याचना की गई। कमीशन की जो रिपोर्ट निकली, वह 'केप टाइम्स' के कथनानुसार रद्दी की टोकरी में फेंकने योग्य सिद्ध हुई, तो

भी कमीशन को यह स्वीकार करना ही पड़ा कि भारतीयों की शिक्षा-सम्बन्धी सामयिक व्यवस्था अपर्याप्त और अ-सन्तोषजनक है। किन्तु इसके उद्धार के लिए जो उपाय बतलाये गये हैं, वे तो नितान्त निराशाजनक हैं। इस कमीशन की रिपोर्ट में यदि कोई तथ्य की बात है तो एक यही कि यूनियन सरकार से भारतीय शिक्षा के लिए जो धन मिलता है वह अब इसी कार्य में खर्च किया जाय। पाठक शायद कहेंगे कि यह बात तो समझ में ही नहीं आती। अच्छा, हम जरा विस्तार से इस बात का स्पष्टीकरण कर देते हैं। सन् १९२५-२६ में यूनियन सरकार से भारतीय शिक्षा की मद में ३६, १७१ पौण्ड मिला, किन्तु प्रान्तिक कौंसिल ने इस काम में खर्च किया केवल २७, ९१८ पौण्ड। सन् १९२६-२७ में जो ३८, ९८५ पौण्ड मिला, उसमें से केवल २८,४२९ पौण्ड खर्च करके शेष धन बचा लिया गया। पिछले दो साल में भारतीय शिक्षा का १८, ८१७ पौण्ड प्रान्तिक कौंसिल की जठराग्नि में भस्म हो गया। यह नैतिक अपराध क्यों किया गया? इसका भी कारण सुन लीजिए। यहाँ हब्शी स्त्रियों और गोरे पुरुषों से एक नई जाति उत्पन्न हो गई है। इसको 'कलर्ड रेस' या रंगीन जाति कहते हैं। अपने वंशधरों पर गोरों का प्रेम होना स्वाभाविक ही ठहरा। किन्तु अपने असली बच्चों की हानि करके इनका भला करना कैसे सम्भव हो सकता है? इसलिए अभागे भारतीयों के सिर पर हथौड़ा जमाया गया। दृष्टान्त और प्रमाण लीजिए—सन् १९२५-२६ में यूनियन सरकार से कलर्ड शिक्षा के लिए मिला तो ८,७०३ पौण्ड, लेकिन खर्च किया गया २०, २७८ पौण्ड। इसी प्रकार सन् १९२६-२७ में इस जाति के लिए ८, ६७८ पौण्ड मिला और २०, ०६७ पौण्ड खर्च कर डाला गया। इस डकैती का भण्डाफोड़ होने पर प्रान्तिक कौंसिल के सदस्य और कमिश्नर ऐसे चकराये कि मानो उनपर वज्र टूट पड़ा। यूरोपियन शिक्षा की तो बात ही मत पूछिए। इनके लिए तो प्रान्तिक कौंसिल, यूनियन सरकार की सहायता के अतिरिक्त, अपने खज़ाने से भी बहुत-कुछ खर्च करती है। उदाहरणार्थ सन् १९२६-२७ को ही लीजिये। इस साल गोरे बालकों की शिक्षा के लिए यूनियन सरकार से ३५०, ५७३ पौण्ड मिला, जिसमें प्रान्तिक कौंसिल ने अपनी ओर से ७०, १२८ पौण्ड मिलाकर कुल खर्च किया ४२०, ७०१ पौण्ड। यह ध्यान रहे कि नेटाल में गोरों की संख्या भारतीयों से अधिक नहीं है।

कमीशन ने सम्मति दी है कि यूनियन सरकार से भारतीय शिक्षा के मद में जो धन मिलता है, वह अब इसी काम में लगा देना उचित होगा। प्रान्तिक कौंसिल भी कुछ खर्च करेगी या नहीं, इस विषय पर कमीशन ने रिपोर्ट का मंगलाचरण ही इस बात से किया है कि प्रान्तिक कौंसिल केपटाउन समझौते के विरुद्ध एक प्रस्ताव पास कर चुकी है। अब यूनियन सरकार जो चाहे सो करे, प्रान्तिक सरकार को इससे कोई वास्ता नहीं। हिसाब लगाने से पता लगा है कि अबतक भारतीय शिक्षा का एक लाख पौण्ड प्रान्तिक कौंसिल के पेट में चला गया है, लेकिन अब वह उसे उगलने का नाम नहीं लेती!

हाँ, कमीशन ने एक बात अवश्य मार्के की कही है कि डरबन में जो शास्त्री-कालेज बनने वाला है, सरकार उसके संचालन और प्रबन्ध का सूत्र ग्रहण करे। इस विद्यालय के लिए शास्त्रीजी को प्रवासी भारतीयों की ओर से बीस हजार पौण्ड का अभिवचन मिला है, जिसमें १६ हजार पौण्ड से अधिक वसूल भी हो चुका है। छः एकड़ जमीन के लिए शास्त्रीजी ने डरबन के कार्पोरेशन से याचना की थी, किन्तु उसने मन्जूरी दी है केवल २ एकड़ जमीन की और वह भी २५ वर्ष के पट्टे पर। इसपर शास्त्रीजी ने कौंसिलरों को बहुत समझाया, किन्तु वे अपने निर्णय पर पत्थर की चट्टानों की भाँति अटल रहे। विवश होकर शास्त्रीजी को दो एकड़ जमीन पर ही सन्तोष करना पड़ा है। फिलहाल शास्त्री कालेज में मैट्रिक तक पढ़ाई होगी और टीचर्स ट्रेनिंग क्लास भी होगा। कालेज की बुनियाद पड़ गई है और उसका नामकरण शास्त्री कालेज उपयुक्त ही हुआ है।

अच्छा तो, कमीशन की सम्मति के अनुसार प्रान्तिक कौंसिल ने भी अपना निर्णय सुना दिया। कौंसिल की बैठक में बहुत वाद विवाद के बाद यह निश्चय हुआ कि यूनियन सरकार की ओर से भारतीय शिक्षा की मद में जो

रकम मिलती है, वह अब इसी मद में खर्च की जाय और बस। इसका मतलब यह हुआ कि इस साल नौ हजार पौण्ड और भी मिलेगा अर्थात् हर साल जो नौ दस हजार पौण्ड की लूट होती थी वह इस साल नहीं होगी। किन्तु प्रान्तिक कौंसिल अपनी जेब से एक अधेला भी खर्च नहीं करेगी। इस अवसर पर भारत-सरकार के शिक्षा-विशेषज्ञ श्री कैलासप्रसाद किचलू और कुमारी गोर्डन ने प्रवासी भारतीयों को जो सहायता पहुँचाई थी वह चिर-स्मरणीय है।

कठिनाई तो यह है कि भारतीयों पर यह दबाव डाला जाता है कि यदि वे यहाँ रहना चाहें तो यूरोपीय रहन-सहन इख्तियार करें अन्यथा यहाँ से अपना डेरा-डण्डा उखाड़ें; किन्तु सरकार की ओर से भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में बड़ी कंजूसी से काम लिया जा रहा है। फिर यूनियन सरकार और शास्त्रीजी की यह मनोकामना कि भारतीय यूरोपियन जीवनादर्श (European standard of life) अंगीकृत करें, कैसे पूरी होगी?

सामाजिक अवस्था

दक्षिण अफ्रिका के भारतीयों की सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि यहाँ की सामाजिक स्थिति सामान्य रूप से भारतवर्ष की अपेक्षा अधिक उन्नत और आशाजनक है। यहाँ भारतीयों में कोई भेद-भाव नहीं है, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और पारसी एक ही मेज पर बैठकर भोजन कर सकते हैं—इससे न किसी का धर्म डूबता है और न जाति जाती है। हाँ, विवाह-सम्बन्ध अवश्य अपने-अपने सम्प्रदाय वालों में होता है; किन्तु खान पान का कोई बन्धन नहीं है। कुली-प्रथा के प्रारम्भ में छोटी उम्र के बच्चे बच्चियों की शादी हो जाती थी; किन्तु अब यह कुप्रथा लुप्त हो चली है। अब भी कहीं कहीं सनातन-जीव पुरानी लकीर को पीटते जाते हैं, किन्तु उनकी यह कार्रवाई नफ़रत की निगाह से देखी जाती है। यह रिवाज भी जारी हो गया है कि विवाह से पहले कन्या-वर परस्पर एक दूसरे को देख लिया करें और बात-चीत भी कर लिया करें। कुछ चुने हुए मुसलमानों की स्त्रियों को छोड़कर साधारणतया भारतीय महिलाओं में पर्दे की प्रथा बिलकुल नहीं है। आर्यसमाजियों के उद्योग से स्त्री-शिक्षा का भी प्रचार हो रहा है। यहाँ की दो आर्य-कुमारियाँ जालंधर के कन्या-महाविद्यालय में और दो आर्य कुमारियाँ देहरादून के कन्या-गुरुकुल में शिक्षा पा रही हैं। एक मद्रासी बहन इंग्लैण्ड भी गई हैं, वहाँ वह डाक्टरी का अध्ययन कर रही हैं। वैदिक विधि से जो विवाह होते हैं वे प्रवासी भाइयों में आदर्श विवाह समझे जाते हैं। विधवा-विवाह का विरोध करने वाले ही बेवकूफ़ समझे जाते हैं।

यह सब कुछ है, किन्तु हिन्दुओं में जाति-बन्धन का एक ऐसा रोग है, जिसकी औषधि अप्राप्य है। मरहमपट्टी से यह घाव अच्छा न होगा, इसमें नश्तर लगाने की ज़रूरत है। जबतक जाति बन्धन क़ायम रहेगा तबतक हिन्दुओं का उत्कर्ष कदापि नहीं हो सकता। नेटाल के भाइयों ने इस रोग की भयंकरता का अनुभव किया है और इलाज भी कर रहे हैं। हिन्दी-भाषियों में इस रोग का प्रभाव मिट रहा है। भारत में जो जातियाँ नीच और अछूत मानी जाती थीं वे भी यहाँ ईसाई या मुसलमान होना पसन्द नहीं करतीं। उनको समानता के अधिकार मिले हुए हैं, फिर वे दूसरे समाज में क्यों जाय? किन्तु मद्रासी हिन्दुओं की बुद्धि बड़ी विचित्र है। उनमें विशेषता यह है कि चाहे वे होटलों में जाकर मांस-मदिरा उड़ावें और चाहे अपने बर्तनों में यूरोपियनों या हबशियों को खाना खिलावें, इससे उनकी पवित्रता में कोई अन्तर नहीं आता, किन्तु 'परिया' की परछाहीं से भी उनकी जाति दुम दबाकर ऐसी भागती है कि कोई हास्यरस का लेखक ही उसका सम्यक वर्णन कर सकता है। ये हिन्दू धर्म के ठेकेदार परियाओं को अपने बर्तन में भोजन नहीं देते, उनका छुआ पानी नहीं पीते—यहाँ तक कि उनको छूने से भी परहेज करते हैं, और अपने धर्म-मन्दिर में उनका प्रवेश अनुचित समझते हैं। इस अमानुषिक व्यवहार से व्याकुल होकर मद्रासी परिये मसीह के झण्डे के नीचे चले गये और अब सूटेड बूटेड जेण्टिलमैन बन कर समानता के अधिकारी बन गये हैं। ख़ैर, इस प्रदेश में जाति-बन्धन का रोग अधिक दिन तक नहीं ठहर सकता, जिस तरह प्लेग के

कीटाणुओं का नाश किया जा सकता है उसी भांति उसका भी नाश किया जा सकता है।

उपसंहार

किसी सहृदय ने बहुत ठीक कहा है कि यदि बदन में एक-दो घाव होते तो उघाड़कर उन्हें दिखा देता किन्तु जब सारा शरीर ही जख्मी हो चुका है तो फिर कौन अंग दिखावें और कौन नहीं ? इसी उदाहरण को दोहराते हुए हम भी कहते हैं कि हमारे प्रवासी भारतीयों पर दो-चार आपदायें होतीं तो हम उनका विस्तार-पूर्वक वर्णन करने की चेष्टा करते, किन्तु यहाँ तो आपत्तियों की ऐसी अन्धा-धुन्ध आँधी चल रही है कि उसकी झकझोर से हमारा अस्तित्व ही डाँवाडोल हो रहा है। हम विपत्तियों के किस अंश की आलोचना करें, और किसको छोड़ दें ? हम अबतक इसी अभिमान में फूले थे कि यह उपनिवेश अंग्रेजों का है और हम भी भाग्य की विडम्बना से ब्रिटिश साम्राज्य की प्रजा हैं, कम से कम इसी नाते से हमारे साथ मनुष्योचित व्यवहार होगा, किन्तु अब हमारे घमण्ड का नशा बहुत-कुछ उतर चुका है और जिनको रतौन्धी—नहीं नहीं, दिनौन्धी—न होती हो, वे इस सुनहले सूरज के प्रकाश में आँख खोलकर देख लें कि ब्रिटिश साम्राज्य में ब्रिटिश भारतीयों के साथ कैसा बर्ताव होता है।

जिस साम्राज्य में हमारी परछाही से भी गोरों को छूत लग जाती है, जहाँ हम वर्ण-संकरों से भी नीच और अधम समझे जाते हैं, जहाँ हमें व्यापार करने की स्वतन्त्रता नहीं है, जमीन खरीदने का अधिकार नहीं है, एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में प्रवेश करने की मनाही है, जहाँ हमें रजिस्ट्रेशन सर्टिफ़िकेट लेने के वास्ते दस अंगुलियों की अलग-अलग और चार चार अंगुलियों की एकसाथ कुल अठारह अंगुलियों की छाप उसी प्रकार देनी पड़ती हो जिस प्रकार चोर, डाकू और बदमाशों को देना जरूरी है, जहाँ हम छुतिहों की भाँति अलग लोकेशनों में बसाये जाते हैं, जहाँ हमें पार्लमेण्टरी वोट की तो कौन कहे—म्युनिसिपल वोट देने का भी अधिकार नहीं है, जहाँ हमें रेलों और ट्रामों में नित्य ही धक्के खाने पड़ते हैं और बात-बात में अपमान की ठोकरें लगती हैं, जहाँ हमारी मनुष्यता को लातों से कुचला जाता है, हिन्दुस्थानियों का हृदय कुली-कुवाच्य से दग्ध किया जाता है, उस साम्राज्य में समानाधिकार का विचार करना बड़ी नासमझी की बात है।

अपमानों की चोट से रह-रहकर हमारा हृदय तड़फड़ा उठता है और सहसा यह प्रश्न उठता है कि इस साम्राज्य से नाता कबतक ? कबतक हम गोरों की जूतियाँ खाया करेंगे ? कबतक उनका थूक चाटा करेंगे, कबतक हमारी नैया मझधार में डगमगाया करेगी ? कबतक हम मनुष्यता को विसारकर जानवरों की तरह जिन्दगी के दिन काटते रहेंगे ? कबतक हम जोर-जुल्मों के शिकार बने रहेंगे ? कबतक हमारे भाग्य का सूर्य बादलों से ढका रहेगा ? कबतक हमारी विपत्तियों का अन्त न होगा ? और, कबतक हम आँखों से खून के आँसू बहाया करेंगे ?

अन्तर्ध्वनि कहती है कि तबतक हमारे कष्टों, अपमानों, दुखों, यातनाओं और विपत्तियों का अन्त नहीं हो सकता, जबतक कि मातृभूमि के पाँवों में गुलामी की बेड़ी झनकती रहेगी, जबतक कि माता की छाती पर बैठकर साम्राज्य-राक्षस रक्त चूसता रहेगा, जबतक कि घर के विभीषण और जयचन्द माता के दूध को लजाया करेंगे, जबतक कि भारतीयों के अन्तस्तम में स्वाधीनता प्राप्ति की लालसा न पैदा हो जायगी, जबतक भारत अपने पैरों पर खड़ा होकर स्वराज्य के सिंहासन पर प्रतिष्ठित न होगा, और जबतक साम्राज्यवाद को समाधि के अन्दर सुला न दिया जायगा।

भवानीदयाल संन्यासी
(जैकब्स, नेटाल)

सोवियट रूस में शिक्षा-प्रचार

(४)

निरक्षरता का अन्त

आजकल रूस में कोई व्यक्ति चाहे जहाँ जाय, उसे 'अशिक्षा—निरक्षरता—का अन्त' की ध्वनी सुनाई पड़ेगी। चारों तरफ़ अशिक्षा का अन्त करने की आन्धी-सी आ गई है। शिक्षा के सम्बन्ध में रूस वालों की ठीक वही हालत है, जो एक अत्यन्त तृषार्त व्यक्ति की होती है। लोगों की गति विधि देखकर मालूम होता है कि कुछ ही दिनों में यहाँ पर मनुष्यों का न पढ़ना बिलकुल अप्राकृतिक समझा जाने लगेगा। प्रथम तो सरकार ने ही बालक-बालिकाओं की शिक्षा दीक्षा का पूरा भार अपने ऊपर ले रक्खा है, पर इसके सिवा निजी संस्थाओं और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भी शिक्षा-प्रचार का कार्य बड़े वेग से चलाया जा रहा है। सभी मजदूरों, कार्यकर्त्ताओं और उनके लड़कों को प्राथमिक शिक्षा से लेकर हर तरह की उच्चातिउच्च शिक्षा निःशुल्क दी जाती है। यही नहीं बल्कि उनमें अधिकांश को भोजन, वस्त्र तथा पढ़ने-लिखने की अन्य सभी आवश्यक वस्तुयें भी मुफ्त में मिलती हैं। पुस्तकें, कापियाँ तथा ऐसी अन्य पाठ्य-सामग्री तो स्कूल तथा कालेज के सभी विद्यार्थियों को प्रदान की जाती है। इसके लिए शिक्षा विभाग की एक अलग शाखा खुली हुई है। तात्पर्य यह है कि यहाँ के विद्यार्थियों को सिवा अपने पढ़ने-लिखने के और किसी भी बात की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। इस प्रकार रूस ने शिक्षा-संसार में बिलकुल नव-युग उपस्थित कर दिया है। रूस ने राष्ट्र के एक-एक व्यक्ति के लिए—यहाँ तक कि लूले, लंगड़े, अन्धे, गूँगे और बहरों तक के लिए—शिक्षा का समुचित प्रबन्ध कर रक्खा है। वह कोशिश कर रहा है कि अपने पूर्ण सुशिक्षित, सुसभ्य और सुदक्ष व्यक्तियों की सेवा द्वारा संसार के करोड़ों पीड़ित और दुखी श्रमिकों का वह उद्धार करे। इसके लिए वह जी-जान से जुट पड़ा है और जिस प्रकार से भी वह अपने इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है, करने का उद्योग कर रहा है। सरकार का कोई भी विभाग ऐसा अछूता नहीं छोड़ा गया है, जहाँ पर किसी भी विधि से अनपढ़ों के पढ़ने के लिए कुछ किया जा सकता हो। शिक्षा-प्रचार के कार्य में सरकार अपनी पूरी आमदनी का एक-चौथाई हिस्सा (लगभग दो अरब पचास करोड़ दस लाख रुपये) ख़र्च करती है। इसके अलावा एक अशिक्षा समाप्त-कारिणी-समिति (The down with illiteracy society) भी है, जिसके सदस्य स्वेच्छया शिक्षा-प्रचार का कार्य करते हैं। इस समय समस्त देश में इस समिति की ३०,००० शाखायें खुली हुई हैं और उसके सदस्यों की संख्या १२,००,००० है। इस-को अपने कार्य में बहुत कम ही ख़र्च करना पड़ता है, क्योंकि इसके प्रायः सभी सदस्य बिना कुछ लिये काम कर देते हैं। किसान और मज़दूर-संघों की ओर से भी बहुतसी शिक्षा संस्थायें खोली गई हैं और उनका पूरा ख़र्च वे ही बर्दाश्त करती हैं। बहुत थोड़े में यहाँ की शिक्षा-सम्बन्धी प्रगति का अनुमान केवल एक इस बात से लगाया जा सकता है कि केवल गत चार वर्षों में (१९२५ से १९२८ तक) यहाँ के अशिक्षितों की संख्या ८० फ़ीसदी से घटकर ३० फ़ीसदी से भी कम हो गई है।

यहाँ एक प्रान्त की शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति का ब्यौरा दिया जाता है, जिससे वहाँ की शिक्षा-सम्बन्धी प्रगति का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो जायगा। ब्लाडीमीर नामक प्रांत में प्रारम्भिक शिक्षा-सम्बन्धी स्कूलों की संख्या १,७९३ से २,३०० हो गई है और मिडल स्कूल ड्योढ़े बढ़े हैं। विद्या-र्थियों की संख्या दूनी से भी अधिक बढ़ गई है। पहले इस प्रान्त में एक किण्डरगार्टन-स्कूल, चाय पीने की दूकानें (जिनके साथ वाचनालय भी होते हैं), ५० पुस्तकालय, २ थियेटर और १० सिनेमा थे। पर आजकल वहाँ २०० किण्डरगार्टन-स्कूल, ६० क्लब, ७५० पुस्तकालय, १७५ वाचनालय, ९०० व्याख्यानशालायें, १००० एकान्त-

अध्ययनागार, १४० थियेटर, ५० सिनेमा, १५ संगीत विद्यालय, १२ चित्रकला-कालेज और १० संग्रहालय खुले हुए हैं। पर सरकार इस प्रगति से सन्तुष्ट नहीं, और अपने पिछले दशाब्दी-उत्सव के समय उसके शिक्षा-विभाग ने यह निश्चय किया कि और भी ज़ोरदार आन्दोलन करके १९३३ ई० तक सोवियट रूस में एक भी व्यक्ति अशिक्षित (निरक्षर) नहीं रहने दिया जायगा। यहाँ पर सरकार के स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों के सिवा अन्य विभिन्न प्रकारों से तथा मजदूर-किसान-संस्थाओं द्वारा अशिक्षितों को किस प्रकार शिक्षित बनाया जा रहा है, उसका थोड़ा विवरण यहाँ दिया जाता है।

यहाँ की जेलों में रहनेवाले प्रत्येक कैदी को जहाँ अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धों की शिक्षा दी जाती है, वहाँ अनपढ़ों को पढ़ने लिखने का भी ज्ञान अनिवार्य रूप से कराया जाता है। गत चन्द वर्षों में यहाँ के हजारों व्यक्ति जेलों से शिक्षित होकर निकल चुके हैं। कैदियों को पढ़ाने के लिए जेल से बाहर के शिक्षकों का भी प्रबन्ध रहता है, परन्तु अधिकांश में जेल के पढ़े लिखे कैदी ही अनपढ़ कैदियों को पढ़ाते हैं। कैदी-शिक्षकों के लिए यह नियम बना दिया गया है कि जितने दिन वह पढ़ाने का कार्य करेगा उसकी सजा की मीयाद उसकी एक-तिहाई कम हो जायगी; अर्थात् अगर किसी को ३ वर्ष कैद की सजा दी गई है, और दो वर्ष तक जेल में वह बराबर पढ़ाने का कार्य करेगा, तो इतने ही दिनों में वह जेल से मुक्त हो जायगा।

सेना में यहाँ अधिकतर किसान हैं, जो प्रायः अशिक्षित हैं। उनको शिक्षित करने तथा उनके द्वारा दूसरों को भी पढ़ाने का यत्न जारी है। जिन दो वर्षों तक सेना में किसानों को रहना पड़ता है, उनके भीतर सैनिक शिक्षा के अलावा उन्हें पढ़ने-लिखने की भी एक निश्चित शिक्षा दी जाती है, जिससे वे अपने गाँवों में शिक्षा-विषयक कार्य कर सकें। इस प्रकार बहुत-से आदमी सेना में जाते तथा सैनिक और साधारण शिक्षा प्राप्त कर जब अपने गाँवों को लौटते हैं, तब गाँवों की अवस्था में सुधार करने और शिक्षा प्रचार करने की बहुत-कुछ योग्यता प्राप्त कर आते हैं।

सोवियट सरकार शिक्षा की साधारण प्रणालियों के सिवा सिनेमा (छायाचित्र) द्वारा भी शिक्षा-प्रचार का उद्योग कर रही है। सिनेमा में जारशाही जमाने की शोचनीय अवस्था, क्रान्ति, जारशाही का अन्त, किसानों तथा मजदूरों की दशा सुधारने के सम्बन्ध में छायाचित्र दिखलाये जाते हैं। अभी कुछ दिन हुए यहाँ के एक प्रसिद्ध चित्रकार ने 'ग्राम्यनीति' नामक एक फ़िल्म तैयार किया है। इसमें किसानों के जीवन की सभी अवस्थायें, उनकी कठिनाइयाँ तथा उनको दूर करने के उपाय आदि बातों का उल्लेख किया गया है। सिनेमा तो यों भी मनोरंजक होता है। पर रूस में उपदेशप्रद और उपयोगी बातों का सम्मिश्रण करके इसे और भी आकर्षक बनाया जा रहा है तथा जनता बड़े चाव से इसमें भाग लेती है।

यहाँ शिक्षणालयों में भ्रमण पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है। शुरू में तो उपयोगी पाठ्य पुस्तकों के अभाव में पर्यटन की प्रथा प्रचलित की गई थी, और अब यह भी शिक्षा का एक मुख्य अंग समझी जाने लगी है। विद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों को अजायबघरों, ऐतिहासिक स्थानों, कला-प्रदर्शिनियों, प्राकृतिक दृश्यों आदि को दिखाने के लिए शिक्षक लोग ले जाते हैं और उन्हें उन स्थानों की विशेषताओं की साक्षात् और व्यावहारिक जानकारी प्राप्त कराते हैं। कभी-कभी दूर दूर के स्थानों की भी यात्रा की जाती है और अगर रास्ते में कहीं ख़र्च की कमी पड़ी तो छात्रगण काम (मजदूरी) करके रुपया कमा लेते और उससे अपना ख़र्च चलाते हैं। गर्मी के दिनों में तो छोटे छोटे बच्चे भी भ्रमण तथा जलवायु-परिवर्तन की दृष्टि से शीतल और स्वास्थ्यकर स्थानों में ले जाये जाते हैं और इसके लिए उनके माता पिताओं को एक पैसा भी ख़र्च नहीं करना पड़ता—संस्थाओं के द्वारा ही उनका सारा ख़र्च अदा किया जाता है।

जो लोग किसी स्कूल या कालेज में न जाकर अथवा वहाँ साधारण शिक्षा प्राप्त करने के बाद अपने घर पर ही स्वाध्याय करना चाहते हैं, ऐसे लोगों को अधिकारीवर्ग की ओर से समुचित प्रोत्साहन दिया जाता है। इसके लिए अलग एक कमीशन नियुक्त है, जो स्वयं पढ़ने वालों को सदा उचित परामर्श देता रहता है।

अधिक अवस्था वाले व्यक्तियों की शिक्षा के लिए कई प्रकार के स्कूल खुले हुए हैं, यह पहले लिखा जा चुका है। उपरोक्त विधियों के सिवा लोगों के मनोरंजन, साधारण ज्ञान की वृद्धि और ज्ञान-पिपासा को शान्त करने की दृष्टि से जगह-जगह पुस्तकालय और वाचनालय खुले हुए हैं। देहातों में जहाँ अभी काफ़ी पुस्तकालय नहीं खुल पाये हैं वहाँ चलते-फिरते पुस्तकालयों का प्रबन्ध किया गया है। इन पुस्तकालयों और वाचनालयों की संख्या हजारों तक पहुँच गई है तथा दिनों-दिन बढ़ती ही जा रही है। किसानों और मजदूरों के रोजमर्रे की बातों की विभिन्न विषयों की छोटी-छोटी उपयोगी और सस्ती पुस्तिकायें लाखों की संख्या में बराबर प्रकाशित होती रहती हैं।

रूस के प्रत्येक कारखाने में क्लब होते हैं, और प्रत्येक क्लब में आम तौर से व्याख्यान-भवन, भोजनालय, विश्राम-गृह, शिशुगृह, वाचनालय, पुस्तकालय, खेल-गृह, डाक्टरी सलाहघर आदि होते हैं। 'रेडियो' तो प्रायः सभी क्लबों में लगे होते हैं। इधर गत कुछ वर्षों में रूस वालों की शारीरिक उन्नति भी बहुत हुई है और इस कार्य में वहाँ के मजदूर संघों ने एक बहुत बड़ा भाग लिया है। रूस का क़रीब ६० फ़ी सदी शारीरिक उन्नति-शालायें (Physical culture clubs) मजदूर संघों द्वारा ही संचालित होती हैं। मजदूर-संघों द्वारा उनके मुख्य कार्यालयों के पुस्तकालयों के अलावा क्लबों में तथा चलते-फिरते पुस्तकालय भी चलाये जाते हैं। रेलवे कर्मचारी संघों के कई सौ स्टेशन-पुस्तकालय और लगभग ३,००० चलते फिरते पुस्तकालय तथा नियमित क्लब हैं। अशिक्षा-समाप्त कारिणी समिति में भी मजदूर-संघ के सदस्य काफ़ी हाथ बटाते हैं। १९२२ ई० में विभिन्न संघों के ऐसे लाखों सदस्य थे, जो कुछ भी पढ़-लिख नहीं सकते थे; अब इनके ऐसे सदस्य बहुत कम रह गये हैं। मजदूर-संघों के प्रकाशन-विभाग भी हैं और इनके द्वारा दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्र तथा पुस्तक-पुस्तिकायें प्रकाशित की जाती हैं। १९२२ में इन संघों के सिर्फ ७८ प्रकाशन कार्यालय थे, पर दिसम्बर १९२७ में उनकी संख्या बढ़कर २०० से भी अधिक हो गई। इस समय उनके २३ पत्र और ९० पत्रिकायें निकलती हैं, जिनमें पत्रों की ग्राहक-संख्या लगभग ९,००,००० और पत्रिकाओं की ८,००,००० है। संघ के किसी-किसी पत्र की ग्राहक-संख्या एक-एक लाख तक है। संघों के पत्र-पत्रिकाओं के लेखक प्रायः मज़दूर ही होते हैं। पुस्तकों के प्रकाशन के सम्बन्ध में इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि सिर्फ १९२६ ई० में मजदूर संघों के विभिन्न प्रकाशन-विभागों से विभिन्न पुस्तकों की एक करोड़ प्रतियाँ प्रकाशित हुई। मजदूर-संघों के सिवा देश में बहुत-सी सहयोग-समितियाँ (Co-operative societies) और किसान-संघ (Peasants' union) भी स्थापित हैं और उनके द्वारा भी शिक्षा-प्रचार के लिए काफ़ी कोशिश की जा रही है।

साहित्य की वृद्धि वहाँ दिनों-दिन होती जा रही है। रूस का प्राचीन साहित्य भी संसार के साहित्यों में एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है और आज भी उसे अपनी श्रेष्ठता के कारण संसार के साहित्यों में एक अमर स्थान प्राप्त है। रूस का नाट्य-साहित्य संसार के नाट्य-शास्त्र-विशारदों के लिए एक गौरव की चीज है। टाल्सटाय, मैक्सिम गोर्की, तुर्गनीव आदि रूस के ऐसे अनमोल रत्न और साहित्य संसार के चमकीले नक्षत्र हैं, जिनके अमर आलोक से विश्व-साहित्य सदा प्रकाशमान रहेगा। बोलशेविक रूसी अपने इस प्राचीन-रत्न भाण्डार की समुचित रक्षा के साथ वर्त्तमान साहित्य की उन्नति में लगे हुए हैं। महायुद्ध के पूर्व उनकी अर्वाचीन साहित्यिक प्रगति बहुत मन्द थी। १९१२ ई० में उनकी नई और पुरानी पुस्तकों की संख्या १३,३५,६१,८८६ थी, पर १९२५ में वह संख्या बढ़कर २४ २०,३५,८०४ हो गई। साहित्य की इस अभिवृद्धि में मास्को और लेनिनग्राड का नाम सर्वोच्च है। समस्त रूस में इस बीच जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई उनमें आधी अकेले मास्को में, चौथाई लेनिनग्राड में तथा शेष चौथाई सारे रूस में प्रकाशित हुई। इन पुस्तकों में ६० प्रतिशत पुस्तकें खास सरकार द्वारा प्रकाशित हुई। १९२५ ई० में प्रकाशित की गई पुस्तकों में समाज-शास्त्र-सम्बन्धी प्रतिशत ७५, वैज्ञानिक अन्वेषण-विषयक प्रतिशत ११, उपन्यास प्रतिशत ११ रसायनशास्त्र-

सम्बन्धी प्रतिशत ७ तथा विविध विषयों की प्रतिशत १६ पुस्तकें प्रकाशित हुईं। १९२५ ई० में प्रकाशित पुस्तकों में फ़ी सदी ९४ पुस्तकें मौलिक तथा सिर्फ़ ६ फ़ी सदी अनुवादित थीं। १९२५ ई० में रूसी भाषा के सिवा वहाँ की अन्य भाषाओं में विषय के अनुसार इस प्रकार संख्या में पुस्तकें प्रकाशित हुईं—किसान सम्बन्धी ७७७ (५८,५०,००० प्रतियाँ); अर्थशास्त्र और राजनीति सम्बन्धी ६०२ (३८,१४ ७५० प्रतियाँ), स्कूली किताबें ४८६ (८७,६७,००० प्रतियाँ) और विविधदलों की पुस्तकें २०२ (१६,८३,५०० प्रतियाँ)। और १९२३ से लेकर १९२६ ई० तक अख़बारों की प्रगति इस प्रकार रही—

सन्	अख़बार-संख्या	ग्राहक-संख्या
१९२३	४०७	१५,३२,११०
१९२४	४९४	२२ ८८,०८०
१९२५	५७१	६६,५६,०९८
१९२६	५९२	८२,८१,८२०

अख़बारों की संख्या जिस प्रकार इन चार वर्षों में बढ़ती गई, क़रीब-क़रीब उसी अनुपात में उनकी पाठ्य-सामग्री, सुन्दरता, छपाई-सफ़ाई आदि में भी उन्नति होती गई। किसानों के लिए निकलने वाले सिर्फ़ एक "किसान" पत्र के मार्च १९२४ ई० में ६०,००० ग्राहक थे और सिर्फ़ दो महीने के बाद इसकी ग्राहक-संख्या बढ़कर २,००,००० हो गई थी। "पावर्टी" (Poverty) नामक पत्र की ग्राहक-संख्या १९२३ ई० में ४१,००० थी, पर १९२४ ई० में उसकी ग्राहक-संख्या भी बढ़कर ५५,००० हो गई। सोवियट सरकार के राजकीय विभाग द्वारा १९२५ ई० में विभिन्न श्रेणियों के पत्रों की संख्या इस प्रकार थी—

विषय	पत्र-संख्या	ग्राहक-संख्या
कृषि	१३१	१९,१३,०००
राष्ट्रीय	१००	६,१८,९४३
मजदूर	५८	१२,७१,३१०
सेना	१५	९५,०८०
युवक साम्यवादी	५३	४,७१,७५३
ट्रेड यूनियन	१७	८,७०,५००
विविध	१३५	१७,१५,१३७

पाठकों को इन अंकों से वर्तमान रूस की साहित्यिक प्रगति का पता लग जायगा। उन्हें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पुस्तकों और पत्रों के जो अंक यहाँ दिये गये हैं, वे दो-तीन वर्ष पहले के हैं। इधर तीन वर्षों में रूस वालों ने और भी बहुत अधिक उन्नति कर ली होगी।

श्री लुनाचर्स्की रूस के शिक्षा विभाग के अध्यक्ष हैं, जो बड़े भारी विद्वान् तथा साहित्य और कला के पूरे पंडित हैं। इन्हें उन विषयों से बड़ा प्रेम है और इनकी अभिवृद्धि और रक्षा के लिए इन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया है। सभी शिक्षण संस्थाओं, पुस्तकालयों, अजायबघरों कला और विज्ञान विषयक संस्थाओं, थियेटरों और सिनेमागृहों पर इनका ही नियन्त्रण रहता है। उनकी उन्नति के साथ ही इन्हें प्राचीन साहित्य और कला की रक्षा का बहुत ख़याल रहता है। सौभाग्यवश रूस का प्राचीन साहित्य और कला संसार के अन्य देशों से बहुत बढ़ा-चढ़ा है। श्री लुनाचर्स्की को अपनी इन प्राचीन अमूल्य रत्नों की रक्षा का अभिमान एवं गौरव है। वर्तमान कला और साहित्य के प्रति उनका जो कुछ प्रेम है वह तो इस बात से प्रकट हो ही जाता है कि वर्तमान शिक्षा संसार में एक ज़बर्दस्त उथल-पुथल मचाने वाली शिक्षा-प्रणाली के वह सर्वेसर्वा—अध्यक्ष—हैं। प्राचीन कला तथा साहित्य की रक्षा के लिए उनके हृदय में कितना सम्मान है, यह नीचे के एक उदाहरण से भलीभाँति स्पष्ट हो जायगा। कहते हैं कि रूस की राज्यक्रान्ति के आरम्भिक दिनों में जब गृह-युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय श्री लुनाचर्स्की को ख़बर मिली कि क्रेमलिन (एक कलापूर्ण प्राचीन ऐतिहासिक भवन) का एक भाग नष्ट कर दिया गया। पीछे यह ख़बर झूठ निकली। परन्तु ख़बर पाते ही श्री लुनाचर्स्की इससे इतने क्षुब्ध हुए कि आँसू-भरी आँखों के साथ वह लेनिन के पास गये और अपना त्यागपत्र देते हुए बोले—'प्राचीन काल के बनाये गये सुन्दर भवनों की बर्बादी मुझसे नहीं देखी जा सकती।" इसके बाद रूसी कला की रक्षा का कार्य जब उनके सुपुर्द किया गया, तभी उन्होंने अपना त्यागपत्र वापस लिया।

रूस में शिक्षा को उन्नत-पथगामी बनाने वाली दूसरी महान् शक्ति स्वर्गीय महात्मा लेनिन की धर्मपत्नी क्रुप्स-

काया की है। शिक्षा प्रचार के विषय की उन्हें असाधारण योग्यता प्राप्त है। वह बहुत ही सीधा सादा जीवन व्यतीत करती हैं। उनमें एक अद्‌भुत तेज और एक विचित्र शक्ति है। कुछ ही देर की बातचीत में वह लोगों को बहुत प्रभावित कर लेती हैं। महात्मा लेनिन की सहधर्मिणी इस देवी को अपने देश की रक्षा और उन्नति का कितना ख़याल है, यह महात्मा लेनिन की मृत्यु के बाद सोवियट कांग्रेस में उनके दिये गये भाषण के निम्नलिखित वाक्यों से प्रकट होगा—"भाइयो, पुरुष और स्त्री श्रमजीवियो तथा पुरुष और स्त्री किसानो! मैं आपसे यही कृपा-भिक्षा मांगती हूँ कि लेनिन के व्यक्तित्व के प्रति बाहरी श्रद्धा न प्रकट करो। उनके स्मारक में उनकी मूर्तियाँ न बनाओ। उन्होंने अपने जीवन में इन वस्तुओं का कभी कोई पर्वा नहीं की। याद रक्खो, इस देश में दरिद्रता और बर्बादी बहुत है। अगर तुम लेनिन के नाम की प्रतिष्ठा चाहते हो तो बालकों के पालन और शिक्षा के लिए शिक्षणालय बनाओ और स्कूलों, पुस्तकालयों, अस्पतालों, अपाहिजों तथा अन्य प्रकार के अपभंगों के लिए स्थान खोलो।"

*　　　*　　　*

वर्तमान सोवियट रूस की शिक्षा-प्रणाली और उसके प्रचार-कार्य का यह संक्षिप्त विवरण पाठकों के समक्ष उपस्थित किया गया है। इससे उन्हें वहाँ की सरकार और जनता के आदर्श शिक्षा-प्रेम की एक झलक मिलेगी और वे अनुमान कर सकेंगे कि शिक्षा की इस अनुकरणीय प्रगति के कारण रूस इस संसार में कितना अधिक उन्नति कर चुका है तथा आगे करेगा। किसी महाशय को यह शंका हो सकती है कि वहाँ की सरकार ने पहले दस वर्षों में ही अशिक्षा का अन्त करने का निश्चय किया था, परन्तु वह नहीं हो पाया और इस कारण १९३३ तक भी उसकी घोषणानुसार वहाँ अशिक्षा का पूर्ण रूप से अन्त होना सन्देहास्पद है। परन्तु उन्हें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि सोवियट सरकार का दस वर्षों का समय उसकी शैशवावस्था थी, दूसरे उसको विदेशियों के आक्रमणों, घरेलू युद्धों, शत्रुओं के घेरों, दूसरे राष्ट्रों द्वारा बहिष्कृत होने और आर्थिक असुविधाओं के कारण बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। अब इन आपत्तियों से वह बहुत-कुछ मुक्त हो चुका है। साथ ही लोगों के अधिक शिक्षित हो जाने, साधनों के अधिक उपलब्ध हो जाने, सरकार के इसके लिए और भी जोरों से प्रयत्न करने आदि बातों को देखते हुए यह सन्देह बिलकुल नहीं रह जाता कि वह १९३३ तक अपने राष्ट्र के पढ़-लिख सकने वाले व्यक्तियों में एक-एक को अवश्य पढ़ा-लिखा न लेगा। यह है एक स्वतंत्र, सच्ची, प्रजावत्सल, दृढ़ और आदर्श प्रजातंत्र सरकार की शुभेच्छाओं का सुफल

इस प्रकार रूस ने अपने राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी नवीन धारा-प्रवाह से संसार में एक ज़बर्दस्त उथल-पुथल मचा रक्खा है। टर्की और अफ़ग़ानिस्थान पर उसका ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ता है, चीन भी अपनी प्रगति में उसका अनुगामी हो रहा है। ये तीनों राष्ट्र—ख़ासकर टर्की और अफ़ग़ानिस्तान—बेतहाशा आगे बढ़े चले जा रहे हैं। रूस प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उनको अधिक से अधिक आगे बढ़ाता ही जा रहा है। अपने उदार भाव सच्ची सहानुभूति और अनोखे त्याग के कारण एशिया में उसका प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया है और उपर्युक्त राष्ट्र तो बहुत-कुछ उसी के पथ के अनुगामी हो रहे हैं। हमारे गुलाम हिन्दुस्थान की दशा बड़ी दयनीय है। जबतक इसकी यह दशा रहेगी, तबतक हमारा उद्धार असम्भव है। पर आज हममें ऐसे कितने हैं, जो गुलामी की इस भयंकर जंजीर की तकलीफ़ों को महसूस भी करते हैं? यहाँ संसार के एक ज़बर्दस्त क्रान्तिकारी देश की उत्कृष्ट शिक्षा प्रणाली का ख़ाका रक्खा गया है; वे इसे पढ़ें, समझें तथा सोचें की अगर सरकार उनके तथा उनके बच्चों की शिक्षा के लिए कुछ अधिक नहीं कर सकती, तो वे स्वयं क्या कर सकते हैं? शिक्षा ही मानव-जीवन के निर्माण और श्रेष्ठीकरण का आधार है। हमारे देशवासी भाई रूस की क्रान्तिकारी शिक्षा-पद्धति के विकास को पढ़ें, समझें और सोचें कि अपने गुलाम देश के बच्चों की शिक्षा के लिए कहाँ तक प्रचार और सुधार की आवश्यकता है और इसके लिए वे स्वयं क्या करने को तैयार हैं।

देवव्रत शास्त्री

कलाकार

स्वतन्त्र देश था।

आकाश-विहगम, सायंकाल छोटे-छोटे रंग-बिरंगे बादलों के दल में जैसे अपना पंख फैलाये नीलाम्बुधि के पार उड़ा जा रहा था। इस विश्व मोहिनी छटा में कलाकार की उन्मादिनी आँखें उलझ गई थीं। उसके गौरव के सम्मान में चञ्चल वात स्तब्ध था।

"देव! तुमने अमृत की जो अबाध वर्षा अपनी लेखनी से की है, उसका बल वर्तमान संस्कृति में चिर-जीवन की सत्ता भरेगा। तुम धन्य हो! तुमसे देश गौरवान्वित है।" पास खड़ी युवती ने विनम्र होकर अभ्यर्थना की।

"आह · देवी! तुम्हारा हृदय—माताओं का हृदय सहज ही करुणार्द्र एवं कोमल-पूजारत रहता है। अपनी यात्रा में अपार कष्ट पाकर भी जो तुम यहाँ आशीर्वाद देने आई हो, वह मेरे मार्ग का सम्बल होगा," कलाकार ने घूमकर उत्तर दिया। उसकी विश्वविजयिनी प्रतिभा आँखों में झलक रही थी।

वह सुंदरी युवती स्तब्ध खड़ी थी। उसके आगे उसका दुलारा बच्चा खड़ा था, जिसे वह हाथ से दबाये रही। कलाकार ने समीप से बच्चे की ठुड्डी को हिलाते हुए कहा—"यह तुम्हारा बच्चा है? कितना सुन्दर ! तुम्हारे हृदय का स्नेह सदैव इसकी रक्षा करे।"

"तुम्हारी पवित्र वाणी इसके भविष्य को प्रशस्त एवं उज्ज्वल करे।" युवती ने बालक के मुख पर अपने हृदय की सारी करुणा बिखेरकर कहा। सब लोग क्षण-भर चुपचाप खड़े रहे। युवती ने उल्लसित होकर फिर स्तब्धता भंग की—"महोदय! सायंकाल के धूमिल पट में इस नगर का सौन्दर्य प्रस्फुटित हो उठता है, ऐसी सहृदयों की सम्मति है। प्रायः आगन्तुक इस समय टहलने निकलकर उसका निरीक्षण करते हैं। यदि कष्ट न हो ..।" युवती प्रत्याशित भाव से उसे देखने लगी।

"हाँ-हाँ, सादर मैं इस निमन्त्रण को स्वीकार करता हूँ देवी!" वह टहलने चला। रमणी उसके कितने ही प्रश्नों का उत्तर देती बढ़ रही थी।

"अहा ." दूर जाने पर युवती ने एक ओर संकेत करके कहा—"इनका स्वर कितना करुण है। हाँ . यह तो तुम्हारी ही कविता है—विदग्ध हृदय में पीयूष वर्षण करने वाली।" उसके उज्वल दाँतों की पंक्ति अधर पर आ लगी।

कलाकार ने उधर देखा—पटरी पर पिंजड़ेदार गाड़ी में एक पंगु अवशेष दृष्टि से पथिकों से याचना कर रहा है और अपने सन्तोष के लिए—"दुख और सुख ये दो मानवी प्रवृत्तियाँ हैं, हम उन्हें रूप देकर उनके आवरण में भूल जाते हैं, भ्रम में अपने को खो देते हैं" का—छन्दबद्ध पाठ कर रहा है। तबतक युवती ने बढ़कर उसकी अञ्जलि स्वर्ण-मुद्राओं से भर दी।

पंगु ने साश्चर्य देखा, हाथों ने गुरुता का अनुभव किया। आँखों ने मोती न्योछावर कर दिये। फिर भी वह अबतक मौन था।

"तुम्हारे हृदय को अमृत से सींचने वाले कवि यही हैं, इन्हें देखो।" युवती ने पंगु से कहा।

पंगु उधर टकटकी बाँधकर देखने लगा। फिर बोला—"कवि, मेरे हृदय के अश्वासन, देश के आत्मा की ध्वनि तुम्हीं हो—मुझ सुदामा के साक्षात् कृष्ण

हो !" स्वर्ण-मुद्रायें लुटाकर पंगु ने दोनों हाथ रमणी को धन्यवाद देने के लिए बढ़ा दिये।

मुद्राओं के आकर्षक झंकार में उलझे दल के दल लोग एकत्र हो गये। कलाकार स्तब्ध खड़ा था। पंगु ने आये हुए लोगों से कहा—"देखो, ये हमारे कवि हैं, माता के आल्हाद हैं " आवेग में आगे वह कुछ न कह सका।

आई हुई जनता, उसको जान कर, व्यवहार में विनम्र स्तव तथा गान से उच्चनाद का प्रदर्शन करने लगी। बालकों ने भी कितने ही नारे लगाकर स्वागत किया। दो-चार ने करुणामयी हेमलता (युवती का नाम) की जय की आवाज लगाई।

कलाकार ने किञ्चित मुस्कराकर युवती की ओर देखा—वह आनन्द-विह्वल खड़ी थी। कलाकार घूम-फिरकर शीघ्र ही लौट आया। उसके साथ अत्यधिक जनता वहाँ तक आई।

× × ×

कलाकार अपने समय का सबसे बड़ा कवि, लेखक एवं कुशल नाट्यकार था। उसके एक एक शब्द पाठकों के हृदय पकड़ते थे। समाज का नग्न-चित्र, संस्कार की रूढ़ियों से दलित भावनाओं का फल तथा प्रवृत्तियों का प्रतिघात उसकी लेखनी को सहज लभ्य था। उसकी उदार एवं कोमल कल्पनायें मनुष्य-हृदय की विस्मृत गलियों को भी सींच आती थीं। उसका स्पर्श सजीव एवं साकार कर देता था। उसके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में हम अपने को पा जाते थे। वह आज का नहीं, अनन्त का, चिरन्तन का, प्रतिनिधि था—दर्शक था।

उसकी पूजा का सच्चा अवसर देश को आज मिला, जब उसके संकेत से मेरी चेतना ने जान लिया था, उसकी गुरुता का अनुभव कर लिया था। मस्तक स्वयं उसके अभिमान के लिए उन्नत एवं अभिवादन के लिए नत हो जाता था। सभी का हृदय-सिंहासन उसके लिए प्रस्तुत था।

सम्पूर्ण नगर दीपमालिका से आच्छादित किया गया। जगह-जगह तोरण द्वार मानों आकाश चूमने को अड़े थे। वातायनों से स्त्रियों का समूह पथ पर जाने वालों पर खील बताशे और फूल बरसा रहा था। जनस्रोत वर्षा की उन्मादिनी नदी की भाँति अग्रसर था। बाजों की ध्वनि, बालकों का कलरव और उत्फुल्ल पथिकों का विनोदपूर्ण वार्तालाप आपस में टक्कर ले रहे थे। आनन्द पागल होकर आज मानों नगर में फेरी दे रहा हो।

कलाकार को सवारी बड़ी धूम-धाम से निकाली गई। जगह-जगह उसे रुककर लोगों की पूजा ग्रहण करनी पड़ी। विद्वत्परिषद् ने अपनी सर्वश्रेष्ठ 'उपाधि' सादर अर्पित की, अन्य कई प्रतिष्ठित समितियों ने भी उसका यथोचित सम्मान किया।

कलाकार, विदुषी हेमलता का सहयोग सभी जगह व्यापक रूप में देखकर उसके अथक परिश्रम से चकित था। वह अपनी हार्दिक नम्रता से सबको परितोष देकर हेमलता के साथ नाट्यगृह में उपस्थित हुआ। यहाँ उसके स्वागत का अपूर्व आयोजन था। नाट्यगृह वालों ने उसीका लिखा 'देव-प्रणय' नामक नाटक दिखलाना निश्चित किया था। कलाकार के लिए यह नवीन दृश्य था।

यश और सम्मान की आँधी ने आज कलाकार को झकझोर डाला। अपने विश्वास को अतिक्रमण कर आज वह जहाँ पहुँचा था, वहाँ तक उसकी कल्पना कदाचित् नहीं पहुँची थी। वह आश्चर्य से आँखें फाड़कर वहाँ उसकी माप करने लगा।

नाट्य-गृहपति ने कलाकार का स्वागत करते हुए कहा—"मैं आज आपका सुप्रसिद्ध नाटक 'देव-प्रणय' खेलना चाहता हूँ। आशा है। यह आपके लिए

अधिक मधुर होगा।" फिर जनता को लक्ष्यकर उसने सूचित किया—"इस नाटक को सफल करने के लिए आज बहुत दिनों के बाद रंगमंच पर अभिनेतृ-श्रेष्ठ मल्लिकादेवी उपस्थित होंगी।" जनता करतलध्वनि से नाट्यगृह को विकम्पित करने लगी।

"मल्लिका ..वेश्या .. छि:" चौंककर घृणा से कलाकार ने कहा। फिर सम्हलकर उसने देखा, लोग आनन्द में मग्न हैं। वह एक गहरी साँस निकालकर चुपचाप बैठा रहा।

नाटक प्रारम्भ हुआ। लोगों ने कलाकार की जय की घोषणा की। 'इन्द्र और अहिल्या का प्रेम एवं उसका परिणाम' नाटक का विषय था। दृश्य चलने लगा। सुन्दरी मल्लिका अहिल्या के रूप मे कमाल कर रही थी। वाणी के अनुरूप भावों का प्रदर्शन, सूक्ष्म मनोभावों की सफल व्यंजना, उसकी सजीव कला के रूप थे। जनता इस अभूतपूर्व उपभोग में उन्मत्त हो रही थी। अब जोरों से मल्लिका का जय-जयकार होने लगा। कलाकार अब दूर पड़ गया था। लोग इस आनन्द में उसे भूल गये।

गौरव के महोच्च-शिखर पर कलाकार उपस्थित था। वहीं उसके पैर काँपने लगे। वह अपने भीतर देख रहा था—'गाँव में अपना बाल्य-काल, स्वजनों से घिरा हुआ; उसके बीच एक छोटी प्रतिमा जैसे देव प्र. ' घृणा ने उसी समय दृढ़ स्वर से कहा—'ना ।' कलाकार सिहर उठा, आँखें खुल पड़ीं। फिर दृढ़ मन शक्ति से उसने नाटक की ओर देखा—अहिल्या —सुन्दरी संकुचित अहिल्या—अपने हृदय का अतीव अतृप्ति-जन्य व्याकुलता से रोम-कटकों मे धँसी हुई अपनी वासना का प्रेम सूखी आँखों से ढार रही है; इन्द्र उसे आलिंगन करने जा रहा था, वह अनजाने भय से दो क़दम पीछे हट गई।

उसी समय बावली जनता ने उन्मत्त होकर कहा—"अभिनेत्री मल्लिका की जय!"

कलाकार लड़खड़ाकर पृथ्वी पर आ गया।

× × ×

"आह . कैसी विडम्बना।" आँख खोलते हुए कलाकार ने कहा।

नाट्यगृह में मूर्च्छा दूर हो जाने पर वह सभी लोगों से बिदा लेकर एकान्त की इच्छा से अपने मकान के दालान में आकर लेटा था। उसके भीतर जो घोर विप्लव हो रहा था जो आँधी चल रही थी, उसमें कलाकार तूल की नाईं अपने अस्तित्व की रक्षा में असमर्थ था। उसका अधीर-आकुल मन जैसे हृदय के एक-एक स्पन्दन में फटा पड़ता था। तभी उसके मुँह से अनायास निकल पड़ा—'आह, कैसी विडम्बना।" उसके जीवन की सम्पूर्ण गम्भीरता इन दो ही शब्दों में उड़ गई थी।

"स्वामी! थोड़ा-सा गर्म दूध पीना हितकर होगा, आज्ञा हो।" त्रस्त अनुचर के अनुनय से पूछा।

"कुछ नहीं, अब तुम जाओ, मुझे यहीं पड़े रहने दो।" उसे आज्ञा मिली।

अनुचर चला गया। कलाकार स्तब्ध नेत्रों से देखता रहा। लम्बी साँस लेकर कलाकार ने फिर आँखें मूँद लीं। होंठ हिलने लगे, स्वर स्पष्ट होने लगा।

"तिल तिल लेकर जिसे अपने भीतर से काँटे की भाँति निकाल फेंका था, और जिसके प्रतीकार में पहाड़-सी घृणा एकत्र करके सन्तोषपूर्वक मैंने एक बार सिर उठाया—हाय, वही इतना विराट बनकर जीवन की सम्पूर्ण तपस्या को अपने एक ही क्षुद्र श्वास-बयार में उड़ा ले गया। मेरे हृदय! सच कह दे क्या तूने भी मेरे संग छल किया था? मेरी प्रत्येक वाणी की प्रतिध्वनि में घृणा घृणा का उच्चनाद फिर आज क्यों? मैं गलकर पानी की बूँद बन एक-एक क़तरे में आज वहीं डूब जाना चाहता हूँ ना यह सब

कुछ भी नहीं, हा, एक दिन मैंने बड़े प्यार से, दुलार से, देवता के समीप अपनेको उत्सर्ग करना चाहा था। मिथ्या ··मैं कुछ भी नहीं ·कौन कहता है देवता ··वह राक्षस · पतित हाँ छल वञ्चना मैं आज भी घृणा करूँगा बस कुछ नहीं, घृणा करूंगा · घृणा।"

उसकी पलकें निद्रा से भर उठी थीं। वह सो गया। सोते-सोते स्वप्न देखने लगा—

निर्मल दीपालोक से प्रकाशित प्रकोष्ठ, निभृत राका की मनोरम शान्ति से गम्भीर होकर स्वच्छ एवं सुन्दर था। कलाकार आत्म-विस्मृत होकर कविता लिखने बैठा। सहसा वर्ण-समूह जैसे ऊपर की ओर उठने लगे। पश्चात् क्रमश परिवर्तन मे वह देवरूप-सा आकार हो गया। कलाकार ने नत-मस्तक होकर उसकी वन्दना की। जब मनोरम पाणि-पल्लवों के स्पर्श से आकृष्ट होकर फिर उसने मूर्ति की ओर दृग्पात किया, तो वह मल्लिका थी। वह चौंककर दो कदम पीछे हट गया। उस समय उसके अन्तस्तल मे कितने रस इकट्ठे हुए इसे वह भी न जान सका। वह फिर भी देखता रह गया। अपनी जवानी और प्रौढ़ावस्था में जिस रूप को वह नहीं भूल सका था, एक-एक विश्राम में नयन-पट पर छा जाने वाली वही किशोरावस्था की देवी मल्लिका को कलाकार ने पुन: अपने अनन्त सशय-भरे नेत्रों मे देखा। वह क्षण-भर के लिए सब-कुछ भूल गया। जब चेत हुआ तब कलाकार ने आश्चर्य से पूछा—"मल्लिका! तुम हो? ·आश्चर्य।"

"हाँ, हमी तो हैं, आश्चर्य क्यों?" दृढ स्वर में मल्लिका ने कहा।

"तुम्हे उस जीवन से घृणा हो गई है इसासे · क्यों ·मल्लिका ··पर अब ··आह!" नि:श्वास लेकर कलाकार ने कहा।

मल्लिका जैसे वज्रपात सहन कर भी अविचल खड़ी रही। ऐसे धैर्य से कुछ क्षण मौन रहने के बाद उसने कहा—"तुम्हारा व्यंग्य मुझे कहीं से भी मर्माहत न कर सका, तुम भले ही इसे देखकर दुखी होगे। पर इससे क्या तुम अहंकारवश जो न जान सके, जिसे न पहचान सके, उसपर ही तो तुम आक्रमण करना चाहते थे ··।" कहकर फिर वह बड़ी व्यथा से बोली—"नारी-हृदय के कितने ईमान और धैर्य से अपनी रक्षा करती है, इसे तुम नहीं जानते!" कौमार्य की उज्ज्वल आभा से मल्लिका की मूर्ति चमक उठी।

"अरे तो तुम्हारा वह घर से पलायन और वह वेश्यावृत्ति सब क्या मिथ्या है? ·नहीं! · " कलाकार ने आँखें फाड़कर प्रसन्नता से पूछा—पर जब अन्तिम शब्द उसके मुँह से निकला, तब जैसे उसका ब्रह्माण्ड फटने लगा।

मल्लिका से अब न रहा गया, आँखों से झर-झर आँसू की बूँदें गिरने लगीं। वह बैठ गई। फिर कहा—"तुम इसे जानकर क्या करोगे? हाँ · मैं घर में भी रहकर तो तुम्हें किसी तरह नहीं पा सकती थी, क्या तुम इसे भी नहीं जानते?"

कलाकार बीच ही बोल उठा—"हाँ। यह सब सच हो सकता है, क्यो पर··।"

मल्लिका ने बिजली की तरह कौंध कर कहा—"पर··पर क्या हाय, मुझे दुःख है, मैं अपनी माता को सुखी न कर सकी। वह भी तो मुझे बेचना ही चाहती थी। मेरे रूप के कारण उसे जो कुछ अधिक मूल्य मिलता उससे उसकी वृद्धावस्था मजे में कट जाती। · पर ओह, मेरे पलायन से, सुनती हूँ, वह तड़प कर मरी···निष्ठुर!· पर जिस कामना से अपनी दुर्बलता के ढोंग में मैंने एक पवित्रता ढोई है, उसकी आकाँक्षा अब मुझे नहीं ··माँ बेचारी तड़प तड़प कर मरी मैं भी उसके प्रायश्चित्त में हृदय में

जलन लिये मरूं, यही कामना है।" कहकर उसने तीक्ष्ण छुरी छाती में चुभा ली।

"हैं-हैं, यह क्या ?" कहता कलाकार दौड़ पड़ा। पर वहाँ कुछ भी नहीं था। अब उसके प्रभात का स्वप्न नष्ट हो चुका था। वह शून्य आँखों से उसे अनन्त में खोजने लगा। उस समय आकाश में लाल-लाल बालरवि जैसे मल्लिका के रक्त में सद्यः स्नान किये आये थे, और धरणी का अञ्चल नन्हे-नन्हे ओस-कणों से भीगा पड़ा था। कलाकार की आँखों से भी दो बूँद आँसू उसपर चू पड़ीं। कलाकार कटे वृक्ष की भांति लड़-खड़ा कर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

सहसा हेमलता भीतर आई। कलाकार को गिरते देख, उसने अपनी कोमल बाहुलता से उसे उठाया। उस सुख-स्पर्श से कलाकार की आँखें खुलने लगीं। उसने भय से पूछा—"कौन, मल्लिका ?"

हेमलता ने आँखें नीची किये हुए कहा—"यह तो मैं हूँ हेमलता, मल्लिका तो रात ही अभिनय के बाद हैजे से मर गई।" उसके हाथ मे कलाकार की बाहु ढीली पड़ गई थी।

हेमलता ने सचेत होकर देखा, कलाकार की आँख मुँदते-मुँदते रह गई। पुन शरीर चेतना शून्य है। तबतक नगर नींद की खुमारी में बिकल था।

वाचस्पति पाठक

विस्मृता उर्मिला

(चौथे अंक से आगे)

(६९)

"शुभ्र हिमाच्छादित गान्धार देश की घाटी घाटी—
हुई निनादित, उसको वीरों ने निज तन से पाटी।
उमड चली शोणित की सरिता, आर्यवीर सब कड़के।
ढेर लग गए मुण्ड-मुण्ड के और सहस्रों धड़ के!

(७०)

"राजकुमार अनार्य्य दलो में ऐसे टूट पड़ा था,—
पूर्वकाल में इन्द्र वृत्र पर जैसे टूट पड़ा था।
किन्तु बहन उर्मिले, अरी कुछ बात हो गई ऐसे—
बैरी की कौटिल्यमयी कुछ घात हो गई ऐसे।

(७१)

"नर-शार्दूल नृपति को और कुमार सुभट को प्यारी,
दुष्ट वैरियो ने छल-बल से बन्धन-युक्त किया री,
इसे देख कर आर्य्य वीर दल सब हत-बुद्ध हुआ री,
प्रत्यचाएँ ठिठकीं, कुछ धीमा सा युद्ध हुआ री।

(७२)

"सुनती हो उर्मिले," "कहे जाओ तुम, मैं सुनती हूँ,
बहुत ध्यान से जीजी, मैं सारी बातें गुनती हूँ,
फिर क्या हुआ बताओ जल्दी, कहां गई सुकमारी ?
आर्यों के, गान्धार देश की थी जो परम दुलारी ?"

(७३)

"सुनो, खबर जब यह पहुँची उस सुन्दर राज-भवन में,
तब लग गई आगसी राजकुमारी के मृदु तन में,
तमक उठी वह, कस कर बाधी उसने अपनी वेणी,
कटि बांधी, तूणीर कसा, फिर बोली वह पिकबैनी,

(७४)

"आर्य्यों की बेटी हूँ, मा, अनार्य्य को मैं समझूंगी,
तेरा दूध पिया है, आज युद्ध मे मैं जूझूँगी।
हूँ गान्धार देश की बाला, देखूगी इस शठ को,
ठोकर मार चूर्ण कर दूगी इसके कच्चे घट को!

(७५)

"यह कृतघ्न अपने घमंड के कच्चे घट को लाकर,
टकराता है आर्यों की मेदिनी शिला से आकर ?
विश्व देख ले आज आर्य-पुत्री किसको कहते हैं;
सिंहों के दुर्दान्त दांत का बल किस को कहते हैं ?

(७६)

"फूल उठी माता सुन उसके विकट वीर वचनों को,
अपनी प्यारी पुत्री के उन निपट धीर वचनों को,
वह बोली—'मैं धन्य हुई हूँ मेरी बेटी प्यारी,
चलो आज हम चलें जूझने की करके तैयारी।

(७७)

"दासी, अश्वों को लाओ, मेरे शस्त्रों को लाओ,
आज राज-महिषी के सारे युद्ध-वस्त्र ले आओ।'
यों कह वीर राजरानी जब खड़ी हुई सज्जित हो,—
तब कोमलता आई वीर सरोवर मे मज्जित हो।

(७८)

"उछल तुरङ्गों पर वे बैठीं ज्वलित अग्नि-ज्वालाएं,
राजमार्ग मे आकर खड़ी हुईं वीरा महिलाएं,
तब सारे गान्धार नगर मे उमड़ा एक उदधि था,—
वह वीरत्व उछल कर छोड़ रहा सीमान्त परिधि था।

(७९)

"गगन भेदन-क्षम स्वर से तब बोली राजकुमारी,
माना बिजली कड़क कड़क कर दूर करे अंधियारी;
'सुनो वीर गान्धार देश की वीराङ्गना सुनो तुम—
जल्दी साजो अपनी अपनी तुराङ्गना सुनो तुम।

(८०)

"आई अति भारी विपत्ति है आज देश पर अपने,
नीच अनार्य्य शशक आया है सिंह देश में खपने,
मेरे पिता और भाई को उसने छल के बल से—
बन्धन युक्त किया है;—चलो जूझने को उस खल से।

(८१)

"भाई, पिता, पुत्र जा अपने करने युद्ध गये हैं—
वे नरपति के पकड़े जाने से हत-बुद्धि हुए हैं,
बहनो, चलो आज इस पूर्ण यज्ञ में आहुति डालो,
अपने अपने तीर धनुष को तुम सब आज संभालो।

(८२)

"विश्व कहीं यह कह न उठे कि आर्य्य बाला कायर हैं;
दिखला दो कि तुम्हारे हृदय कठोर शिला पत्थर हैं!
कस लो वेणी, कटि पट बाधो, ले लो धन्वा भाले!
चलो, करो ऐसे प्रहार जो अरि के हिय मे शाले!

(८३)

"आर्य्य देश के वृद्ध पितामह, कहूँ आप से क्या मैं ?
आज भेजिए अपनी बहुएं और कहूँ अब क्या मैं ?
अपने शोणित को देकर गान्धार स्वतन्त्र करें वे,—
अरि की कुटिल नीति का यह कटु, निष्फल मंत्र करें वे!

(८४)

"आज आग लग जावे ऐसी, धुआं उठे चहुँ ओर।
उन्मत्तों के सदृश वीर ललना थामे धनु डोर!
अरि के कलुषित हृदय-देश को बेधें, करदे क्षीण!
आज दिखादें वे अपने असि-धनु के हाथ प्रवीण!

(८५)

"स्वर्गादपि गरीयसी प्यारी जन्मभूमि का पल्ला—
खींचा है दुष्टों ने, कर इस प्रिय स्वदेश पर हल्ला,
कौन हृदय है जो न उबाल उठेगा इस दुर्गति मे ?
कौन आंख है देख सके जो मां को कठिन कुगति मे ?

(८६)

"आज लहलहाती उपत्यका रक्त धार से सींचो!
रोष कंपा दे तुम्हें! कोष से खर तलवारें खींचो!
भूखी सिंहिनियों के सम बस टूट पड़ो तुम रण में!
कर दो प्यारी मातृभूमि की व्यथा दूर तुम क्षण मे!

(८७)

"सुन कर राजकुमारी के ज्वलन्त वचनाङ्गारों को—
थर्रा गई मेदिनी, सुन कर धनु की टङ्कारों को।
उछल पड़ा बल्लियों हृदय का जोश, कृपाणें चमकीं
वीर भावनाओं से आर्य बधूटियां सभी दमकीं।

(८८)

"वृद्ध नागरिक बोल उठे —सुन बेटी राजदुलारी,—
इन्हीं भुजाओं ने की थी गान्धार देश रखवारी,
खड्ग थाम सकती हैं, यद्यपि अब कुछ निर्बल पड़ी हैं
हाथों में प्राणों की धारा अब भी प्रबल बड़ी है।

(८९)

"यह धारा जब बह निकलेगी तब अरि-दल काँपेगा,
कण्ठ हमारा फिर से कड़खे का स्वर आलापेगा!
चलें आज हम और हमारी बहुएँ सग चलेंगी,
उनकी और हमारी तलवारें अरि मुण्ड दलेंगी!'

(९०)

फिर तो मेरी विमल उर्मिलें चलीं अनोखी सेना,
अश्व हिनहिनाए, चमका कुंवरी का भाला पैना!
आगे वृद्ध वीर थे पीछे थीं गान्धारी नारी,—
मानो विजय भावना ने मति का अनुगमन किया री!

(९१)

"मतवाले वृद्धों ने अपनी सुध-बुध सब बिसराई,
मानो अश्वों पर आ बैठी मूर्तिमती ठकुराई,
दाढ़ी के वे शुभ्र केश मारुत में लहराते थे—
मानो विजय निशान आर्यगण के वे फहराते थे!

(९२)

"जिन कर में भाले थे, वे थे वृद्ध किन्तु बलशाली,
रवि किरणें उन पर पड़ नाच रहीं थीं हो मतवाली,
उन बूढ़े हाथों में शोभित होते थे यों भाले,—
मानो स्थविर सँपेरे लाये विषधर काले काले!

(९३)

वे बधूटियां, हा, कठोर कादण्ड धारण-क्षम थीं,
अरि दल के कलुषित हृदयों में तीर वेधन-क्षम थीं;
उनकी कान्ति मुक्त वेणियां सुपट से यों आवृत थीं,
मानो यज्ञ अग्नि की ज्वाला वेदी से परिवृत थी,

(९४)

चाप मौर्वी ने सुकुमार स्कन्ध देश घेरा था,
कठोरता ने कोमलता के घर डाला डेरा था;
वह कोमल सुस्कन्ध देश औ' वह कठोर प्रत्यञ्चा,—
रण देवी से आर्य्य विजय की करती थी शुभ याञ्चा।

(९५)

"घिरी मेखला से कटियाँ, थीं लटक रहीं तलवारें,
उद्गीरित होती थीं कण्ठों में जय की ललकारें,
रण में रङ्ग खेलने चल दीं थीं ये सब पार्वतियाँ,
चल दीं थीं गान्धार देश की लज्जा रखने सतियाँ।

(९६)

"ये बालाएँ पहुँच गईं क्षण भर में युद्ध-स्थल में,
नये प्राण आ गए आर्य योद्धाओं के उस दल में,
मा, बहनों, पुत्री, नारी को देख बढ़े दिल उन के,
फिर क्या था? वे लगे बेधने अरि दल को चुन-चुन के।

(९७)

"क्षण भर में गान्धार देश की अक्षौहिणी बढ़ी यों,—
सहसाऽऽक्रमण कारिणी सरिणी की हो धार चढ़ी ज्यों।
योद्धाओं की हुंकारों से दिशा गूँज उट्ठी सब,
पर्वत-मालाओं से प्रति गर्जना घोर उट्ठी तब।

(९८)

"परशु परशु से लड़ा, भिड़ीं करवालों से करवालें,
गदा गदा से जुटी और खनके भालों से भाले;
धन्वा से उड़ चले बाण, बरसी वे तीखी बरछीं;
करने लगे प्रहार वीर सब लिये कटारें तिरछीं।

(९९)

"रण-चण्डी के सदृश जूझ उट्ठी वीराङ्गना कुमारी;
उसकी आँखों में छाई थी रण की एक खुमारी;
उस कृतघ्न राजा की छाती मे था उसने साधा,—
अपना तीर, फिर से उसने खूब जकड़ कर बांधा।

(१००)

"बस फिर तो अनार्य दल भागा पीठ दिखाकर ऐसे—
भाग खड़ा होता है शशक सिंह को पाकर जैसे,
आर्य्य नृपति नरवर कुमार हो मुक्त आ गये दोनो,
देख दृश्य वे निज आँखो का सुफल पा गये दोनो।

(१०१)

"राजा ने सब ललना-गण को दण्ड प्रणाम किया तब,
अपने लोचन के पानी से सबको अर्घ्य दिया तब;
हो प्रसन्न भाई ने चूमा था भगिनी के शिर को,—
ज्यो हेमन्त चूम लेता है छोटी बहिन शिशिर को।

(१०२)

मेरी कथा खतम होती है अब तेरी बारी है,—
क्यो न उर्मिले ? तू तो मेरी नन्ही-सी प्यारी है,
मा ने तुझे कहानी जो थी कही, उसे तू कहना,
देख कहीं पागलपन कर के चुप बैठा मत रहना।"

(१०३)

"सीता जीजी, अब मैं सकुचाती हूँ वह कहने मे,
भला समझती हूँ मैं अपना बस अब चुप रहने मे;
की है श्रवण तुम्हारे मुख से यह सुन्दर-सी गाथा,—
जिस में वर्णित अद्भुत बल उस आर्य सुन्दरी का था।

(१०४)

"मेरी कथा बहुत छोटी-सी है, क्या उसे सुनाऊँ ?
उसको कह कर के जीजी, मैं कैसे तुम्हें लुभाऊँ ?
रहने दो वह मेरी गाथा तुम्हें नहीं भावेगी;
मेरी कथा भला अब तुम्हे पसन्द कहीं आवेगी ?"

(१०५)

यह सुन सीता रूठ गई कुछ हुई अनमनी-सी वह;
कहने लगी उर्मिला से कुछ रोष मे सनी सी वह;
"अब तुम मुझसे कभी कहलवाना कुछ नई कहानी—
तब मै जानूँगी हाँ, हो तुम नटखट और सयानी।

(१०६)

"देखो मैं तुमसे अब जाओ कभी नही बोलूँगी,
सारे उपवन मे बस आज अकेली ही डोलूँगी,
माता से मैं कह दूँगी कि तुम्हारी बेटी प्यारी—
खूब भूल जाती है कही हुई निज बातें सारी।"

(१०७)

"यह क्या बात-बात मे रूठ बैठना कब से सीखा ?
मेरी जीजी बन मानिनी ऐंठना कब से सीखा ?
जरा-जरा-सी बातो पर मुझ से क्या मुह मोड़ोगी ?
अपनी बहिन उर्मिला को जीजी क्या यो छोड़ोगी ?"

(१०८)

यह सुन सीता हँसकर उससे लिपट गई प्रमुदित हो—
ज्यो गिरजा से आ लिपटी हो नव-शशि कला उदित हो,
फिर धीरे से बोली, "प्यारी बहिन उर्मिला मेरी—
कहो कहानी जल्दी से क्यो लगा रहा हो देरी ?

(क्रमशः)

'नवीन'

मुस्लिम-काल में हिन्दू-मुस्लिम समस्या

['त्यागभूमि' के लिए]

(३)

मुसलमान शासन-काल में जिस प्रकार साधारण जनता राजा की दृष्टि में एकसी थी, वही अवस्था अंग्रेजों के भारत में आने के समय भी थी। जिस समय पञ्जाब को ब्रिटिश भारत के साथ मिलाने की चर्चा हो रही थी उस समय, १८४२ ई० में, एक अंग्रेज ने गवर्नर-जनरल को पंजाब के सम्बन्ध में यहां के लोगों के स्वभाव तथा रहन-सहन-विषयक चिट्ठियां लिखी थीं। उन चिट्ठियों के निम्न-लिखित अंश सुनने लायक हैं—

He established a regular army; he entertained in his services without distinction Sikhs and Mohammedans and Europeans and he entered in his regular ranks villager Jats of Malwa and Mojha who serving a Sikh ruler generally passed for Sikhs —

In India itself although there are several Mohammadan classes, professing the religion bearing the name, and in some degree assuming the character of foreign races—yet—*they have in fact socially and morally as well as in their blood become amalgamated in the country of their birth.*

अर्थात्, उसकी सेना में सिख, हिन्दू, मुसलमान और यूरोपियन एक साथ रहते थे। मुसलमान भारतीयों के साथ अच्छी तरह मिल गये थे। अंग्रेज जब भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में राज्य स्थापित करते हैं, तब उन्हें जनता में हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य नहीं दिखाई देता, और न ही वे इसका विशेष वर्णन करते हैं। जनता के सम्बन्ध में तो उनकी यही धारणा थी कि वह निष्क्रिय आज्ञाकारिता की आदी है। अंग्रेजों ने भेद-नीति का प्रयोग प्रायः एक ही मज़हब के माननेवाले दरबारियों में भी किया है। पंजाब में तेजासिंह आदि सिक्खों को सिक्खों के विरुद्ध भड़काया था, बंगाल में सिराजउद्दौला के विरुद्ध मीरजाफिर तथा मीरकासिम जैसे मुसलमानों को खड़ा किया था। महाराष्ट्र में हिन्दू पेशवाओं में भी इसी नीति का प्रयोग किया था। अवध का नवाब जब पदच्युत किया गया तब भी वहाँ की साधारण जनता ने धार्मिक पक्षपात के कारण राजद्रोह के कार्य नहीं किये थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय की जनता में तीव्र वैमनस्य नहीं था। यदि वैमनस्य होता तो यूरोपियन शक्तियाँ इससे अवश्य लाभ उठाकर उन्हें आपस में लड़ातीं। परन्तु उस समय के इतिहास में हम तरह हिन्दू-मुसलमानों के आपस में लड़ने के कोई उदाहरण नहीं मिलते।

अब हम राजाओं की पारस्परिक ईर्ष्या पर विचार करेंगे। भारत के मुसलमान राजवंशों का इतिहास पढ़कर हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि इन राजवंशों के राजाओं में धार्मिक कट्टरता की अपेक्षा सांसारिक महत्वाकांक्षा का प्राबल्य था। इन्होंने जो भी अत्याचार या सख्तियाँ की हैं उनका प्रेरक भाव धर्म प्रचार नहीं था। इन वंशों में औरंगजेब ही एक ऐसा मुसलमान बादशाह है जिसके राज्य-काल में धार्मिक अत्याचार होते हैं। यही एक मुसलमान बादशाह है, जो खुले शब्दों में हिन्दुओं पर अत्याचार करता है।

औरंगजेब के साथ बंगाल के मुर्शिदकुलीखाँ तथा फिरोजशाह तुगलक और किसी अंश में अलाउद्दीन खिलजी के भी नाम याद किये जाते हैं। इन तीन-चार राजाओं के सम्बन्ध में विशेष विचार करने से पहले हम दूसरे मुसलमान बादशाहों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करना आवश्यक समझते हैं।

महमूद गजनी वीर आक्रमण करने वाला विजेता था। उसके हृदय में धार्मिक कट्टरपन भी थोड़ा-बहुत था। परन्तु भारत की भिन्न-भिन्न विजय-यात्राओं के करने का, मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट करने का मुख्य कारण यह भी था कि भारत के धर्म मन्दिर भारतीय ऐश्वर्य के कोष थे। गक्खर आदि जातियों को मुसलमान बनाने का जहाँ यह भी एक कारण था कि उसका इस्लाम से प्रेम था, वहाँ यह भी एक कारण था कि वह अपनी सेना में एकता रखने के लिए आवश्यक समझता था कि सब सिपाही मुसलमान हों। महमूद ने समय-समय पर प्रतिद्वन्द्वी मुसलमान राजाओं को नष्ट करने में लिहाज नहीं किया।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ एलफिन्स्टन लिखते हैं कि महमूद गजनी कट्टर मुसलमान नहीं था। उसने बलात् मुसलमान नहीं बनाया। उसकी इन वृत्तियों के कारण फ़ारस में उसे नास्तिक कहा जाता था। ऐसे महत्त्वाकांक्षी लोग समय-समय पर साधारण सिपाहियों को पागल बनाने के लिए उनके धर्म-ग्रन्थ के नाम पर उसी प्रकार अपील करते थे, जिस प्रकार रणजीतसिंह समय-समय पर सिक्ख सेनाओं को उत्साहित करने के लिए 'गुरु ग्रन्थसाहब' के नाम पर। यह काल हिन्दुस्तान में ही नहीं सारे संसार में धार्मिक असहिष्णुता का काल था। भारत में दूसरे देशों की अपेक्षा यह धार्मिक असहिष्णुता बहुत कम थी। वह केवल राजाओं तक सीमित थी। राजा राजनैतिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिए हिन्दुओं से मिल भी जाते थे। महमूद गजनी ने कन्नौज के राजा से सन्धि कर ली और समयानुसार हिन्दू राजाओं को हराकर उनकी जगह हिन्दुओं को ही राजा बनाया।

श्रीयुत् सी० वी० वैद्य (हिस्ट्री आफ मीडिएवल हिन्दू इण्डिया की तीसरी जिल्द में) लिखते हैं कि शहाबुद्दीन ने जो विजय-यात्रायें की थीं, उनका उद्देश्य धर्मप्रचार नहीं था, अपितु राज्य-विस्तार था। इसी प्रकार वही विद्वान् आगे लिखते हैं कि कुतुबुद्दीन तथा अल्तमश आदि ने राजनैतिक भावनाओं से प्रेरित होकर इस्लाम का प्रचार करने पर जोर देना बन्द कर दिया था।

हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ तथा शेरशाह सूरी ने धार्मिक कट्टरता को छोड़कर राजनैतिक दृष्टि से प्रजा के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार किया। अकबर के सम्बन्ध में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। दीनेइलाही का सगठन तथा अरबी नामों का बहिष्कार, स्वयं खलीफा बनना, गो-हत्या और जजिया-कर बन्द करना—ये सब बातें उसके स्वभाव को प्रकट कर रही हैं। अकबर ने उन्नतिशील राजा की तरह धर्मान्धता और युक्तिहीन मुस्लिम रीति-रिवाजों को नष्ट करने का निश्चय किया था। उसने समझ लिया था कि भारतीय राष्ट्र या दिल्ली दरबार की प्रतिष्ठा तबतक कायम नहीं हो सकती जबतक भारत के रहनेवाले राजदशों को अपनाया न जाय। इसी प्रकार शेरशाह ने भी जो सुधार किये उनमें हिन्दू-मुसलमान सब-को धार्मिक स्वाधीनता दी थी। धार्मिक मुबाहसे द्वारा उसने कट्टर मुसलमानों तथा विदेशियों को म्लेच्छ समझने वाले हिन्दुओं के दिमाग़ को उदार करने का यत्न किया। औरंगजेब के नाम शिवाजी ने जो चिट्ठी लिखी थी, वह मुग़ल-शासनकाल के राजाओं का स्वभाव दिखाने के लिए पर्याप्त है।*

दक्षिणी-भारत में हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य को देखने के लिए हम यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्तों का आश्रय लेंगे।

इटालियन यात्री Petro de la Valle (1623) लिखता है—'The presence of the Dutch in Surat *on the absolute freedom of religion extended to all in Gujrat*' अर्थात्, गुजरात में धार्मिक स्वतन्त्रता थी।

मैंथोल्ड (१७ वीं सदी) यात्री ने भी मुसलमानों की धार्मिक सहिष्णुता का वर्णन किया है।

यूरोपियन यात्री ब्रटन ने भी जगन्नाथ के विषय में लिखा है कि वहाँ अकबर के समय से कोई कर नहीं लगता था।

दक्षिणी भारत में मुगल दरबार के मुक़ाबले में हिन्दू और मुसलमान राजा कई बार एक होकर लड़े। परन्तु पीछे से विजयनगर के हिन्दू राजाओं तथा दक्षिणी पाँच

---

* यह चिट्ठी शिवाजी ने नहीं, महाराणा राजसिंह ने औरंगजेब को भेजी थी। —सम्पादक

मुसलमान रियासतों की पारस्परिक ईर्ष्या ने वहाँ के धार्मिक वातावरण को भी विक्षुब्ध कर दिया ।

इस सामान्य विवेचन के बाद हम औरंगजेब और फिरोजशाह तुगलक, अलाउद्दीन खिलजी और बलबन जैसे मुसलमान बादशाहों के धार्मिक सामान्य अत्याचारों के विषय में विशेष रूप से विचार प्रकट करना चाहते हैं। अलाउद्दीन खिलजी ने जितनी भी सख्तियाँ कीं वे सब राजनैतिक थीं। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता एल्फिन्स्टन लिखते हैं कि अलाउद्दीन ने लोगों के अन्दर समानता का भाव लाने के लिए हिन्दू-मुसलमान दोनों की निजी सम्पत्ति को छीन लिया था। पृष्ठ३७ में वह यह भी लिखते हैं कि अलाउद्दीन ने स्वयं पैगम्बर बनने का प्रयत्न भी किया था। इसके पूर्ववर्ती राजा जलालुद्दीन ने सीदी मौला के १०००० भक्तों को राजद्रोह के अपराध में मरवा दिया था। अलाउद्दीन के नाम से जो पद्य मशहूर है, उसका भाव एल्फिन्स्टन ने इस प्रकार अंग्रेजी में प्रकट किया है कि धर्म का राजकीय शासन से कोई सम्बन्ध नहीं है—वह तो व्यक्तिगत जीवन का एक कार्य या आमोद है ।

फिरोजशाह तुगलक, बलबन तथा सिकन्दरशाह लोदी ने हिन्दुओं पर जो अत्याचार किये थे उनका कारण राजाओं का व्यक्तिगत स्वभाव था। एल्फिन्स्टन ने भी इस बात का समर्थन किया है ।

औरंगजेब की धर्मान्धता के विषय में सबसे पहले हमें फ्रायर के यात्रा वृत्तान्त में यह लेख मिलता है —

"This religious bigot of an Emperor, Aurangazeb" says Fryer, "is on a project to bring them all over to his faith, and has already begun by two several taxes or polls, very severe ones which have made some rajahs revolt. Early in his reign the puritan Emperor had reimposed the hated जजिया—the tax, which Mr Lanepool says, Akbar had desdained and Shahjahan had not dare to think of it."

औरंगजेब एक कट्टर मुसलमान की तरह मुसलमानी राज्य बनाना चाहता था। उसकी इच्छा थी कि चर्च और राष्ट्र दोनों में मुसलमान राजा का ही मुख्य अधिकार हो। यूरोप के महत्त्वाकांक्षी रोमन कैथलिक राजाओं की तरह अपनी राजनैतिक तथा धार्मिक महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए उसने अत्याचार करने में कमी नहीं की। अध्यापक यदुनाथ सरकार ने प्रारम्भिक ऐतिहासिक लेखों से औरंगजेब के धार्मिक अत्याचारों को सिद्ध किया है। औरंगजेब ने प्रान्तीय शासकों को मन्दिर तोड़ने, ब्राह्मणों के स्कूल बन्द करने तथा हिन्दुओं पर अत्याचार करने की आज्ञा दी थी। उसके अत्याचारों ने शान्त-प्रकृति हिन्दू सन्तों को उत्तेजित कर दिया। इन सन्तों ने हिन्दू राजाओं को औरंगजेब के मुकाबले खड़ा किया। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि राजपूत मराठे और सिख औरंगजेब के अत्याचारों से तंग आकर मुसलमान राज्य के विरुद्ध हो गये। इस विरोध के कारण मुग़ल-शासनकाल में जो थोड़ा-बहुत राष्ट्र निर्माण का कार्य हुआ था वह कुछ समय के लिए नष्ट हो गया। इस अत्याचारपूर्ण नीति के कारणों पर विचार करना आवश्यक है ।

क्या औरंगजेब इतना अदूरदर्शी था कि वह समृद्ध साम्राज्य को अपनी अत्याचार पूर्ण नीति से नष्ट कर देता? क्या वह इतना कट्टर धार्मिक था कि उसने इस्लाम की खातिर त्यागी आत्मा की तरह साम्राज्य की पर्वाह नहीं की? उसने जो युद्ध किये हैं और जो सुलहनामे तथा अहदनामे लिखे हैं, उनसे पता लगता है कि वह भी अन्य मुगल बादशाहों की तरह मुगल साम्राज्य को चिरस्थायी तथा संगठित रखना चाहता था। उसने जो अत्याचार किये, उनमें भी एक राजनैतिक चाल थी। वह दाराशिकोह का प्रतिस्पर्धी था। वह उसे नष्ट कर स्वयं निष्कण्टक राज्य करना चाहता था। दाराशिकोह हिन्दुओं का पक्षपाती था, इसलिए वह हिन्दुओं का द्वेषी बनकर कट्टर मुसलमानों को अपने साथ रखना चाहता था। इसलिए कट्टर मुसलमानों की भावनाओं से फायदा उठाने में उसने कमी नहीं की। राजपूतों, मराठों और सिखों की औरंगजेब की अपेक्षा दाराशिकोह के साथ अधिक सहानुभूति थी।

संशयात्मा औरंगज़ेब ने आत्म-रक्षा के ख़याल से जहाँतक बन सका, अपने राज्य-कार्य और दरबार में कट्टर मुसलमानों को ही रक्खा। उसके समय में शिया लोगों पर भी वैसे ही अत्याचार किये गये थे जैसे हिन्दुओं पर, क्योंकि शिया लोग दाराशिकोह के पक्षपाती थे। एक बार आग भड़कने पर औरंगज़ेब उसे शान्त नहीं कर सका। इस आग ने ही मुगल साम्राज्य की शक्ति को क्षीण कर दिया। हठ तथा अविश्वास पूर्ण नीति के कारण उसे यह सब कुछ करना पड़ा, परन्तु यदि हम उसके पत्रों को देखें, तो मालूम होता है कि वह भी अपनी भूल को स्वयं अनुभव करता था। वह समझता था कि शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए धार्मिक सहिष्णुता आवश्यक है।

औरंगज़ेब के सेनापति मुहम्मद आमीनख़ाँ ने बादशाह के पास रियायत तथा तरक्की के लिए प्रार्थनापत्र भेजा और उसमें लिखा था कि मुझे सुन्नी होते हुए भी तरक्की नहीं मिली और दूसरों को तरक्की दी गई है। इस चिट्ठी का जवाब देते हुए औरंगज़ेब ने लिखा था—

As for what you have written about the false creed . . I answer what connection have earthly affairs with Religion and what right have administrative Works to meddle with bigotry! For you is your religion and for me is mine. If this rule (suggested by you) were established, it would be my duty to extirpate all the (Hindu) Rajas and their followers. Wise men disapprove of the removal from office of able officers.

(Anecdotes of Aurangzeb and Historical essays)

अर्थात्, धर्म का शासन-कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारा धर्म तुम्हारे साथ और मेरा धर्म मेरे साथ है। यदि मैं तुम्हारे साथ चलूँ तो मुझे सब हिन्दू राजाओं को निकाल देना चाहिए।

औरंगज़ेब के अत्याचारों से केवल हिन्दू ही तंग नहीं थे, मुसलमान भी तंग थे। वह स्वेच्छाचारी सम्राट् था। यदि औरंगज़ेब निरा कट्टर सुन्नी मुसलमान होता तो वह अपने दरबार में हिन्दू कवियों को क्यों स्थान देता? लाला सीताराम (The Struggle between Farrukhsyar and Jahandar Shah पुस्तक की भूमिका में) लिखते हैं कि औरंगज़ेब हिन्दू-द्वेषी होते हुए भी अपने दरबार में हिन्दू कवियों को रखता था, जिनमें मुख्य कवि हजारा का कर्ता कालिदास त्रिवेदी था।

औरंगज़ेब कट्टर मुसलमान था, परन्तु ख़लीफ़ा आदि को मानने के सम्बन्ध में हिन्दुस्थानी ही था। उसने तथा उसके पूर्वजों ने खिलाफ़त के प्रभाव से हिन्दुस्थान के मुस्लिम चर्च को मुक्त रक्खा। जैसे आठवें हेनरी ने रोम के चर्च से इङ्गलैण्ड के चर्च को अलग कर दिया था। अ० यदुनाथ सरकार के शब्दों में औरंगज़ेब अपने आपको पैग़म्बर का उत्तराधिकारी समझता था। मक्का में उसकी भक्ति थी, परन्तु वह वहाँ स्वतंत्र रूप से मक्का के शरीफ़ परवाह न करके काम करने को भी तैयार था। चिट्ठी-पत्रियों में उसने अफ़ग़ानिस्तान के शासकों को लिखा कि वे विदेशियों को भारत में किसी तरह व्यापारी के रूप में या अन्य रूप में आने न दें। इससे पता लगता है कि औरंगज़ेब ने जो धार्मिक अत्याचार किये, उनका कारण मज़हबी नहीं था। इस विवरण से हमने देखा कि भारतीय सभ्यता ने—भारत की कमज़ोरियों ने—इनकी तीव्रता को नष्ट किया। राजनैतिक तथा आर्थिक स्वार्थों में दोनों को मिलाया। अस्तु।

(समाप्त)

भीमसेन विद्यालंकार

वेद और शिल्पविज्ञान

आज की अधोगति ने हमारे प्राचीन उज्ज्वल गौरव को भी मलिन कर दिया है। हजारों वर्षों के अधःपतन के काल में क्रम से हमारे प्राचीन शिल्प, विज्ञान, दर्शन और सदाचार को भी विकृत रूप प्राप्त हो गया है, जिसको देखकर आज के उन्नत देशों के विद्वान हँसते हैं और हम अपनी कूपमण्डूकता में फँसे हुए इस विकृत रूप पर व्यर्थ का अभिमान करते हैं। साथ ही हमारी सामाजिक दशा भी अधिकांश में ऐसी पराधीन हो गई है कि हम लोग अपने प्राचीन साहित्य के लिए भी अपने परिश्रम को इतना गौरव नहीं देना चाहते, जितना हम अपने साहित्य पर विदेशी आलोचना को देते हैं। हम अपने प्राचीन साहित्य से अनभिज्ञ हैं, इस बात में लज्जा अनुभव करने की अपेक्षा उसको तुच्छ, व्यर्थ और अनुपयोगी जानकर उसपर कुछ समय देना व्यर्थ समझते हैं। इसलिए जब विदेशी विद्वान अपना धन, समय और श्रम व्यय करके कुछ भी लिख देते हैं, वह हमें सिर झुका कर माननीय हो जाता है।

अपने प्राचीन इतिहास से अनभिज्ञता हमारी मानसिक दासता का बहुत बड़ा कारण है, इसमें सन्देह नहीं। भारतवर्ष की संस्कृति और उसके प्रकर्ष का इतिहास प्राचीन धर्मशास्त्रों में बन्द है। बिना उनको पढ़े हम अपने अतीत गौरव को नहीं समझ सकते। प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन से हम जान सकते हैं कि भारतवर्ष बहुत अधिक उन्नत था। किसी भी विदेशी विद्वान को यह कहने का अधिकार नहीं कि भारत के प्राचीन साहित्य में उन्नति के आदर्श नहीं थे, क्योंकि उन्हें कभी स्वप्न में भी अपने सुदूर अतीत में छिपे विशाल उन्नत युग का संस्कार नहीं था। उनके प्राचीन इतिहास में जंगली सभ्यता के सिवा कुछ नहीं, इसलिए वे औरों के उज्ज्वल अतीत की सत्ता को भी सहन नहीं कर सकते। वे जान-बूझकर भी उसपर पर्दा डालने की चेष्टा करते हैं। विदेशी शासकों ने तो हमारी पराधीनता को स्थिर बनाये रखने के लिए यह आवश्यक समझ लिया है कि वे विजित जाति के किसी भी प्रकार के गौरव को स्वीकार न करें।

अब तो केवल हमें अपनी दास मनोवृत्तियों को बदल कर गौरव-पूर्ण अतीत पर पड़े पर्दों को उठाते हुए उत्साह, स्वतन्त्रता और आत्म-सम्मान के भावों को प्रबलता से जागृत करना चाहिए। इसके लिए हमें स्वयं अपने साहस से अतीत काल में गड़ी गौरव की खानें खोदनी होंगी। उनमें छिपी उन्नति-प्रदर्शक सत्य मणियों को फिर से निकाल कर सब के सामने रखना होगा। और उनकी ज्योति से अपने भावी मार्ग को जगमगाना होगा।

आधुनिक विज्ञान और कला-कौशल की उन्नति पर जब भी हमारी दृष्टि पड़ती है, तब हम परतन्त्रता की शृंखलाओं में जकड़े हुओं की आँखें विस्मित हो जाती हैं। परन्तु जब हम अपने प्राचीन इतिहास को भी देखते हैं, तो हमें यह कहते संकोच नहीं है कि उसे देख कर भी वर्तमान वैज्ञानिकों को एक बार झेंपना पड़ेगा। वे अपने सब चमत्कारों को एकदम नया नहीं कह सकेंगे।

महर्षि दयानन्द ने जब सबसे प्रथम वेद में विमान, जहाज, तार और वायुयानों का वर्णन दिखाया तो पाश्चात्य प्रभाव में आये, नयी रोशनी में पले लोगों ने और वैदिक साहित्य को केवल पुरोहिताई का पोथा मानने वालों ने इसे विस्मय और उपहास से देखा। परन्तु अब ज्यों-ज्यों वैदिक अनुशीलन बढ़ा, त्यों त्यों विद्वानों की मति बराबर वेद के सत्य तत्त्वों पर झुकती चली जा रही है। सभ्यता के जिन-जिन भागों पर भी विकासवादी पश्चिमी विद्वान गर्व कर सकते हैं, उनमें से एक भी अंश वेद के काल में छूटा नहीं है। उन सब पर विस्तार से लिखने के लिए बहुत स्थान की अपेक्षा है। यहाँ तो हम केवल वैदिक काल के शिल्पविज्ञान के कुछ नमूने दिखलाना चाहते हैं, जिनसे पाठक समझ सकेंगे कि वेद साहित्य में शिल्पकला का ज्ञान कितनी उच्च कोटि का है।

महर्षि दयानन्द ने नीचे लिखा मन्त्र उच्च कोटि की शिल्पविद्या को दिखाने के लिए उद्धृत किया है, जिसमें वायुयान और जलयान का सम्मिलित यन्त्र बनाने का आदेश किया गया है—

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः ।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥

ऋ० १।११६।३॥

अर्थ—(कश्चित्) कोई भी पुरुष (भुज्युम्) भोग-योग्य (रयिम्) ऐश्वर्य का (तुग्र.) पालक (उदमेघे) जल से पूर्ण समुद्र में (न ममृवान्) अपने प्राण न देकर भी (अवाहा) अपनेको ऊपर ही रखने में समर्थ है। क्योंकि (अश्विनौ) अश्वि = जल और अग्नि दोनों तत्त्व (आत्मन्वतीभि) अपनी शक्ति से चलने वाली, और (अन्तरिक्ष-प्रुद्भि.) अन्तरिक्ष में भी जाने में समर्थ (अपोदकाभिः) जल के लेप से रहित रहने वाली (नौभि) नौकाओं द्वारा (तम् ऊहथु) उसको ऊपर उठाये रहते हैं।

तिस्रः क्षपास्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः ।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षडश्वैः ॥

ऋ० १।११६।४॥

अर्थ—(नासत्या) सदा सत्य रूप में या तत्त्व रूप में या शक्ति रूप में विद्यमान अग्नि और जल तत्त्व (तिस्रः क्षपः) तीन रात (त्रि अहा) तीन दिन तक (अति व्रजद्भिः पतङ्गैः) अत्यन्त वेग से गति करने वाले (शतपद्भि) सौ पैर या चक्रों और (षड-अश्वैः) छः अश्वों = छः इञ्जिनों से युक्त (त्रिभि रथै) तीन यानों या रथों से (भुज्युम्) भोग-ऐश्वर्यवान पुरुष को (समुद्रस्य, धन्वन् आर्द्रस्य पारे) समुद्र, मरुस्थल, गीले प्रदेशों के भी पार (ऊहथुः) पहुँचा देने में समर्थ हैं।

इस मन्त्र में वेद ने नासत्य अर्थात् प्राकृतिक सत् सूक्ष्म तत्त्वों के बल पर तीन रात और तीन दिन में समस्त पृथ्वी के समुद्र और सूखे स्थल अर्थात् जल, थल सब में विचर लेने वाले यन्त्र का वर्णन किया है, जिसमें छः इञ्जिन और सौ चरण या पक्ष हैं। उसकी क्या आकृति होगी, इसका हम अनुमान नहीं कर सकते। परन्तु वर्तमान वैज्ञानिकों ने अपनी खोज से ऐसे यन्त्रों का आविष्कार कर लिया है। बन्दूक की गोली से भी तेज जाने वाले विमान बना लिये हैं, जिनका वेग ३८४ मील प्रति घण्टा है। परन्तु तीन रात-दिन अर्थात् ७२ घण्टों में २४००० मील तय करने वाले वैदिक यन्त्र का वेग ३३३ मील प्रति घण्टा बैठता है।

पूर्व मन्त्र में 'आत्मन्वती' (Automobile) स्वयं अपने अपने बल से चलने वाली, अन्तरिक्ष में गति करने वाली अन्तरिक्ष-प्लुत् नौका का वर्णन है। वर्तमान विज्ञान ने भी ऐसे विमान तैयार कर लिये हैं, जो समुद्र और स्थल दोनों में समान वेग से चलते हैं।

महर्षि दयानन्द के उद्धृत मन्त्रों में से हमने केवल दो ही मन्त्र उद्धृत किये हैं। शेष मन्त्रों का हम यहाँ उल्लेख नहीं करते। और भी कतिपय विद्वानों ने वेद के मन्त्रों में विज्ञान के दर्शन किये हैं, जिनका हम इसलिए दिखलाना चाहते हैं कि उनसे, महर्षि दयानन्द ने वेद में विज्ञान होने की जो स्थापना रक्खी है, वह प्राचीन, एवं विद्वत्सम्मत सिद्ध हो और वेद के प्राचीन विज्ञान के चमत्कार का भी पता लगे।

नासिक के प्रसिद्ध शिल्पकार श्री कृष्ण शर्मा विनायक वझे ने काश्यपशिल्प नामक ग्रन्थ की भूमिका में वैदिक शिल्पविज्ञान के कुछ उदाहरणों को निम्नरीति से दर्शाया है—

यत् ते शिल्पं कश्यप रोचनावत् इन्द्रियावत् पुष्कलं चित्रभानु।
यस्मिन्त्सूर्या अर्पिताः सप्त साकम् तस्मिन् राजानम् अधिविश्रयेमम्॥

अर्थ—हे (कश्यप) ज्ञानी शिल्पज्ञ पुरुष ! (यत् ते रोचनावत् शिल्पम्) जो तेरा सुन्दर शिल्प (इन्द्रियावत्) देह में इन्द्रियों के समान नाना कार्य करने वाले नाना बलों से युक्त अंगों से बना (पुष्कलम्) अति अधिक बलयुक्त (शिल्पम्) कला-कौशल-युक्त रथ या गृह है (यस्मिन्) जिसमें (साकम्) एक साथ ही (सप्त सूर्याः) सात सूर्यों के समान सात प्रेरक बल या महादीप लगाये जाते हैं (तस्मिन्) उसमें (राजानम्) इस राजा को (अधिविश्रय) बिठलाओ।

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः ।
आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः ॥

अर्थ—हे (मरुतः) मरुत् गणो ! विद्वान पुरुषो ! (विद्युन्मद्भिः) जिनमें विद्युत लगी है ऐसे (स्वर्कैः) उत्तम गति वाले या अर्क फल के आकार वाले (ऋष्टिमद्भि.) विशेष शक्ति से युक्त (अश्वपर्णैः) पर्ण (पक्ष) रूप अश्वों अर्थात् गति साधनों वाले (रथेभि) रथों से (यात)

गमन करो। हे (सु-माया) सुबुद्धि पुरुषो ! और (वर्षिष्ठया हया) और बड़ी भारी तीव्र प्रेरक गति से मानों (वयो न) पक्षियों के समान (पतत) आकाश मे उड़ो।

इस मन्त्र में बिजली के बल पर चलने वाले और केवल पंखों पर चलने वाले अतिवेगवान् वायुयानों से पक्षियों के समान उड़ने के वर्णन से स्पष्ट आजकल के हवाई जहाजों का दृश्य सम्मुख आता है। इस मन्त्र पर श्री कृष्ण शर्मा जी की टिप्पणी बड़ी दर्शनीय है। आप लिखते हैं—

"विद्युता सम्पादितेन उदान नाम्नावायुना पूरितैरर्कफलाकृतिभिर्भाजनैः कृतेषु रथेषु स्थित्वा यूयं पर्णरूपपक्षैः रूर्ध्वगामिर्यात। अर्थात्—विद्युत् से उदान (हाइड्रोजन) वायु को उत्पन्न कर उससे भरे हुए आक के फल के समान लम्बोतरे ढोलों से बने रथों, वायुयानों में बैठकर तुम लोग पर्ण=पंखरूप अश्वों से नीचे ऊँचे चलने वाले रथो से यात्रा करो।" इससे जैप्लिन का स्वरूप और ऐरोप्लेन का रूप भी स्पष्ट हो जाता है। और साथ ही बैलून का भी भाव आता है। हमारा अनुमान है कि ऋष्टि शब्द भी विमान के किसी विशेष शक्तिदायक अंग या आगे तीव्र घूमने वाले पंखे का वाचक है।

शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥
ऋ० ४।५७।८

अर्थ—हल में लगी फालियाँ सुखपूर्वक भूमि को खोदें, किसान लोग सुखपूर्वक अपने बैलो आदि के साथ चले। पर्जन्य=मेघ (मधुना) अन्न सहित पुष्टिकारक जलों से वर्षे। उत्तम हल वाले, या जमींदार लोग हम प्रजावासियों में सुख बढ़ावे।

अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः।
उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम॥
ऋ० १।१७९।६

(अगस्त्यः) पर्वतों को भी खोदने मे समर्थ पुरुष अगस्त्य (खनित्रैः) खोदने के साधनों से (खनमानः) खोदता हुआ, और प्रजा, अपत्य और बल का इच्छा करता हुआ (उग्र ऋषि) तीक्ष्ण, ज्ञानदर्शी होकर आर्य और शूद्र दोनों वर्णों को पुष्ट करता है। देव, विद्वान, पुरुषों या राजाओं के बीच में भी सत्य कामनाओं को प्राप्त करता है।

तं युञ्जाथां मनसो यो जवीयान् त्रिवन्धुरो वृषणा यस्त्रिचक्रः।

हे अश्विनो! स्त्री-पुरुषो! मन से भी अधिक तीव्र वेग वाले ऐसे रथ को जोड़ो, जो तीन स्थान पर बँधा और तीन चक्र वाला है।

येनोपयाथः सुकृतो दुरोणं त्रिधातुना पतथो विर्न पर्णैः॥
ऋ० १।१८३।१

जिससे उत्तम सदाचारी पुरुष के घर पर तीन धातुओं से बने रथ से ऐसे तुम पहुँचो, जैसे पक्षी परों से उड़कर चला जाता है।

स्थिरं वः सन्तु नेमयो रथा अश्वास एषाम्
सुसंस्कृता अभीशवः ऋ० १।३८।१२

हमारे रथों के चक्रों के हाल, घोड़े मजबूत हों और बागडोर जो रथ को बराबर काबू में रक्खे, वे उत्तम रीति से स्वच्छ और सुन्दर बनी हों।

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥
ऋ० २।१।१॥

हे अग्ने! तू दिव्य पदार्थों से उत्पन्न होता है, तू (आशुशुक्षणि) शीघ्र शुष्क कर देती है। तू जलों से उत्पन्न होती है। तू पत्थर से उत्पन्न होती है। तू मनुष्यों के लिए सब प्रकार से शोधक है।

त्वामग्ने त्वष्टा विधते सुवीर्यम्। त्वमाशुहेमा ररिषे स्वश्व्यम् ऋ० २।१।१।५॥

हे अग्ने! तुझको त्वष्टा शिल्पी अधिक बलवाला बनाता है। तू शीघ्रगामी होकर उत्तम घोड़े का काम देती है।

इसी प्रकार निरुक्तकार यास्क ने 'वैश्वानर' का वर्णन करते हुए ताल या लैन्स द्वारा सूर्यरश्मियों को एकत्र करके अग्नि उत्पन्न करने की विधि का निर्देश किया है। विस्तार-भय से हम उनका उल्लेख नहीं करते। उपसंहार में इतना ही कह सकते हैं कि शिल्पविज्ञान के अद्भुत-अद्भुत मूल वेद में विद्यमान है, जिनको लक्ष्य करके शिल्पकलानिधि 'वझे' महाशय का विचार है कि 'वेद के सूक्त ही स्मृतियों में प्रकरण बन जाते हैं। पुराणों में उनको और विस्तृत करके ग्रन्थ का आकार दे दिया है। शिल्प-विषयक दश शास्त्र हैं। १ कृषिशास्त्र, २ जलशास्त्र, ३, खनिशास्त्र, ४, नौकाशास्त्र, ५, रथशास्त्र, ६, विमान-

शास्त्र, ७. वस्तुशास्त्र, ८ प्राकारशास्त्र, ९ नगर-रचना-शास्त्र, १० यन्त्रशास्त्र। इन सभी के मूल वेद में पाये जाते है। इनमें एक-एक शास्त्र की विस्तृत व्याख्या करने के लिए पीछे कश्यप, भृगु, मय आदि विद्वानों ने स्मृतियाँ बनाई है। शिल्पस्मृतिकार प्राचीन साहित्य में १८ प्रसिद्ध हैं। जैसे, मत्स्यपुराण (अ० २५२) में लिखा है—

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मामयस्तथा।
नारदो नग्नजिर्च्चैव विशालाक्ष पुरन्दर।
ब्रम्हा कुमारो नन्दीश शौनको गर्ग एवच॥
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती।
अष्टा दशत विख्याता शिल्पशास्त्रोपदेशका॥

इन विद्वानों के बनाये नाना शास्त्र लुप्त हो चुके हैं। तथापि साहित्य मे उक्त विद्वानों के बनाये शास्त्रों का उल्लेख आता है। कश्यप, भृगु और मय इनके शिल्पशास्त्र संगृहीत रूप में उपलब्ध हो चुके है। और बहुत से लुप्त हो चुके है, जिनमे से राजभोजकृत युक्तिकल्पतरु और समरांगणसूत्रधार दो नवीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। उनमें राजमन्दिर, दुर्ग, विशाल भवन, कूप, नहरें आदि बनाने के वर्णन के साथ साथ अद्भुत यन्त्रों का भी वर्णन है, जिनको देखकर विस्मय होता है। समरांगण-सूत्रधार में कलाओं द्वारा सचालित यन्त्रमय नर्तकी, यन्त्रमय सिपाही, यन्त्रमय पहरेदार, यन्त्रमय महाविहग (बड़े बड़े पक्षी) जिनमें बैठकर लोग आकाश-विहार कर सके, आदि का स्पष्ट वर्णन किया है, जिनका विस्मयकर वर्णन हम पाठकों का कालान्तर में भेंट करने का संकल्प करते हैं। इसी प्रकार ऋषि भारद्वाज-कृत 'विमान-सहिता' भी उपलब्ध हुई है, जो बम्बई-निवासी श्री पुरुषोत्तम श्रोमावजी के पास है। इसमें ३२ प्रकार के विमानों का वर्णन है, जिनमें से केवल अभी ११ प्रकार ही अविष्कृत हुए हैं। इसी प्रकार वैशम्पायन नीति-प्रकाशिका मे अद्भुत आग्नेय अस्त्रों और नाना युद्धोपकरणों का वर्णन है, जिसको देखकर विस्मय होता है। और खेद भी होता है कि वह सब विद्याओं के चमत्कार लुप्त हो गये। हम दुर्दशा ग्रस्त भाग्य को रोते है। ईश्वर करे, पुन: हमारे यहाँ फिर उन्नति हो और समस्त शास्त्र पुन: प्रचारित हों!

जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार

ब्रिटिश साम्राज्य की रीढ़

यूरोप के नक़शे में उत्तर-पश्चिम कोने में इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड और वेल्स को मिलाकर जो ग्रेट-ब्रिटेन के नाम से पुकारा जाता है, अथवा आयर्लैण्ड को मिलाकर जो छोटा-सा द्वीप-समूह ब्रिटिश टापू (British Isles) नाम धारण करता है, वह बड़ी कहलाने वाली अंग्रेज-जाति का निवास-स्थान है। बड़ी इसलिए नहीं कि वह संख्या मे बड़ी हो अथवा वह देश ही अपने क्षेत्र के लिहाज से विस्तृत हो। इन दोनों मे से एक भी बात नहीं। जाति भी छोटी-सी और देश भी छोटा-सा है। पर अंग्रेज-जाति आज यूरोप में ही नहीं प्रत्युत संसार भर की शक्तियों में प्रमुख है। और यह केवल अपने उस साम्राज्य के कारण, जो संसार के हर कोने मे फैला हुआ है। अधिक पुरानी बात नहीं, जब कि इस जाति के व्यापारी हमारे भारत में व्यापार के लिए साधारण व्यापारी दल के रूप में अन्य फ्रेंच, डच और पोर्चुगीज़ व्यापारियों की भाँति आये थे। वही अंग्रेज-जाति व्यापार करते-करते भारत की अधि-कारिणी बन गई, भारत पर अपना राज्य कायम कर लिया, और भारत पर ही क्या, आज संसार में उसका साम्राज्य ऐसा विशाल है कि उसके जोड़ का कोई साम्राज्य अन्य किसी का नहीं है। भाग्य ने—राजलक्ष्मी ने—जैसा इस जाति का साथ दिया वैसा कभी किसी का दिया हो, इसका कोई पता नहीं लगता। इस साम्राज्य की महत्ता का एक बड़ा कारण भारत पर अंग्रेजों का प्रभुत्व है।

इस 'सोने का खान' भारत पर विदेशियों की दृष्टि सदा से रही है। न जाने कितने विदेशी लुटेरे यहाँ आये और कितना धन-दौलत लूट कर ले गये! उस लूट से ही वे इतने निहाल और तृप्त हो गये कि उनको यहाँ रहने की या अपना आधिपत्य एव राज्य जमाने की कोई आवश्यकता

या इच्छा नहीं रही। उन्होंने यहाँ अपना अड्डा नहीं जमाया और इसकी उन्हें आवश्यकता ही क्या थी? जब चाहा आये, लूट मचाई और उससे इतना धन मिल गया कि उसे लादकर ले जाने में भी कठिनाई हुई। अलेक्ज़ेण्डर से लेकर न जाने कितने विदेशी कितना धन लूट-पाटकर भारत से ले गये। जब मुहम्मद गोरी यहाँ से लूटकर लौटा तो उसने लूटे हुए धन का अन्दाज नहीं बँध सका। अकेले नगरकोट की लूट से उसे ७ लाख स्वर्ण दीनार, ७०० मन सोने-चाँदी के पाट, २०० मन खालिस सोने की ईंटें, २००० मन बिना ढली हुई चाँदी और २० मन जवाहरात—जिनमें मोती हीरा, पन्ना आदि कई प्रकार के रत्न थे—हाथ लगे। नादिरशाह की लूट का अनुमान ९ अरब रुपये से अधिक किया गया है। इसी भाँति मुहम्मद बिन क़ासिम ने मुलतान विजय किया तो उसे केवल एक मन्दिर से १३२०० मन सोने के बराबर धन मिला। सुलतान मुहम्मद ने भीम नगर के एक मन्दिर को लूटा तो उस धन-दौलत और रत्न-भण्डार को लादकर ले जाना ही उसके लिए कठिन हो गया। जितने ऊँट मिले उनपर वह अपनी लूट का माल लादकर ले गया और उसमें चाँदी और सोने का वज़न ७,००,४०० (!) मन हुआ। जब गज़नी में पहुँचकर उसने उस लूटे हुए द्रव्य को खोला तो उसे देखकर उसके दरबारी दंग रह गये। वह सब माल इतना था कि उन बेचारों ने देखा तो क्या सुना तक न था। कन्नौज में वहाँ के वैभव को देखकर महमूद के मुँह से निकल गया कि, अहा! यह तो स्वर्ग ही है! आज उसी स्वर्गभूमि या स्वर्णभूमि भारत में धन-समृद्धि तो दूर रही उसकी जनता को भरपेट खाने को भी नहीं मिलता! कहना पड़ेगा कि आज भारत में दारिद्र्य रूपी राक्षस का साम्राज्य है। जो भारत सोने की चिड़िया था, जिसके यहाँ धन की नदी बहती थी, इतनी धन-राशि जहाँ मौजूद थी कि जो विदेशियों द्वारा खुले हाथ लूटी जाने पर भी समाप्त नहीं हो सकी, वही पिछले ज़माने का धनी, सभ्य, विशाल भारत आज रोटियों के लिए मुहताज हो रहा है! उसकी अधिकाँश जनता को भरपेट रोटी नहीं मिलती। तीन समय, दो समय क्या, अधिकांश को एक समय भी पेटभर खाने को अन्न नसीब नहीं होता। जिस भारत के धन, वैभव, सुख-सम्पन्नता, सभ्यता आदि की पूर्व समय में कोई भी देश थाह नहीं पाता था, आज उसी भारत के दारिद्र्य की बराबरी कोई भी देश नहीं कर सकता।

भारत के इस दारिद्र्य-दुख के प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं, प्रत्यक्ष बात के लिए क्या प्रमाण, और फिर जब उसके स्वयं शत्रु या शुभचिन्तक चाहे, जो कहो, इस बात को स्वीकार करते हैं कि वास्तव में भारत में दारिद्र्य बढ़ रहा है तब तो इस बात के प्रमाण की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती। भारत के उन शत्रुओं का कहना है कि भारतीय कृषक और श्रमजीवियों की जीविका का प्रश्न विचारणीय है और इस बात पर आज इंग्लैंड में भी विचार हो रहा है। इस तरह के विचार में दया या सहानुभूति की मात्रा कितनी है, यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि अपनी रोटी के नीचे सब आँच देते हैं, यह एक सनातन बात है और इस पर भी वर्त्तमान समय में तो सबको अपनी अपनी रोटी की फिक्र पड़ी है। ऐसे समय में कोई किसी के लिए क्या सहानुभूति दिखावेगा? पर मूल बात यह है कि आज भारत के दारिद्र्य की बात उन सहानुभूति दिखाने वालों की रोटी से बहुत कुछ सम्बन्ध रखती है। वे मोटी तोंद वाले धनी विदेश भारत के व्यापार पर जीते हैं और उन्हें यह इच्छा ही नहीं वरन् चिन्ता बनी रहती है कि भारत हमारे माल को ख़रीदने में समर्थ बना रहे, अर्थात् भारतीय जनता के पास हमारे माल का मूल्य चुकाने के लिए किसी तरह काफ़ी पैसा हो तो हमारी भी रोटियाँ पकती रहें। यही भीतरी ध्येय, भारतीय कृषक और श्रमजीवियों की दशा पर विचार का कारण हो रहा है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि इस बात का विचार करने वाले उन विदेशवासियों में से किसी के भी हृदय में सच्ची सहानुभूति या दया न हो। सच्ची सहानुभूति वाले सहृदय व्यक्तियों का होना सम्भव है, पर ब्रिटिश व्यापारियों को इस बात की फिक्र है कि भारत में सस्ती मजूरी उनको हानिकारक है, तो कई ब्रिटिश पूँजीपति तो भारतीय जनता के जीविकोपार्जन की मर्यादा को इसलिए उन्नत करना चाहते हैं कि इससे भारतवासी ब्रिटिश माल

को अधिक परिमाण में खरीद सकें। आजतक जो भारत उन विदेशों का पोषण करता रहा है, अब भी जिनके बल पर विदेशों की रोटी चल रही है वही भारत अब दीन-दुःखी हो रहा है, उसकी अधिकांश जनता को रोटियों के लाले पड़े हैं तो भला फिर विलायती माल खरीदने को पैसा ही कहाँ? भारत के दारिद्र्य की यह समस्या उन विदेशों की रोटी का प्रश्न उपस्थित कर देती है और इसीलिए अंग्रेजी पत्र और वहाँ की जनता को भारतीय दारिद्र्य पर विचार करने को बाध्य होना पड़ता है।

भारत में ऐसा दारिद्र्य क्यों फैला? क्या कारण है कि यहाँ की जनता भूखों मरती है? इसका यह कारण नहीं है कि आज भारत उन लुटेरों की लूट के कारण निर्धन हो गया हो या यहाँ पर अन्न की पैदावार समुचित रूप से न होती हो, जिससे भारत की जनता को भूखों मरना पड़े। नहीं, भारत पर उस लूट का भी ऐसा बुरा असर नहीं हुआ और न उसके यहाँ अन्न वस्त्र की ही कमी (?) है। अधिक तो क्या, अभी १८वीं, १९ वीं शताब्दी तक भारत की ऐसी अवनत—भूखों मरने की—दशा न थी। उसके यहाँ उद्योग और व्यापार दोनों चलते थे और भर-पेट अन्न ही नहीं मिलता था वरन वह समृद्धिवान भी न था। इसके बाद यहाँ कोई खुले लुटेरे नहीं आये। पर यूरोपीय व्यापारी दल-के दल आये। उन्हें भारत की बनी अद्भुत चीजों का मोह यहाँ ले आया। वे यहाँ आकर पहले व्यापार करने लगे और भारत के बने हुए पदार्थ अधिक से अधिक लेकर अपने देशों को भेजने लगे। इनमें पोर्च्युगीज, डच फ्रेंच, और अंग्रेज आदि जातियाँ यहाँ आई, पर अँग्रेजों को छोड़कर और किसी को सफलता नहीं मिली। अंग्रेज व्यापारियों के उस दल का नाम था ईस्ट इण्डिया कम्पनी। उसने यहाँ के पदार्थों का व्यापार करते-करते यहाँ के कला कौशल और उद्योग-धन्धों को ही मटियामेट कर दिया और इन बातों पर हाथ साफ करके चैन लिया। जिस भारत की कारीगरी पर स्वयं मोहित थे, जहाँ के बने पदार्थों के मोह के ही कारण वे यहाँ आये थे, वहीं की कारीगरी नष्ट ही नहीं की प्रत्युत् उसे अपने यहाँ के पदार्थों पर आश्रित भी बना लिया। इसका इतिहास बड़ा क्षुद्र और भयानक है और पहले के उन लुटेरों की बात से भी अधिक भयानक है। वह अंग्रेज जाति व्यापार और व्यापारिक हथकण्डों से केवल भारत की लक्ष्मी की ही नहीं पर राज्यलक्ष्मी की भी अधिकारिणी बन गई। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ग्रेट ब्रिटेन ने गत दो-तीन शताब्दियों में समुद्र-पार जो अपना अधिकार फैलाया है एवं अपने यहाँ उद्योग-धन्धे की जो उन्नति की है, उस सबमें एक बात उसके लिए बड़ी भयंकर छिपी हुई है, और वह यह है कि वह अपनी जीविका या पेट पालने के लिए विदेशी व्यापार पर आश्रित है। यहाँ अब जिस ब्रिटिश जाति के विशाल साम्राज्य का वर्णन किया जायगा उसकी रोटी व्यापार ही है और इसलिए उसके राज्याधिकार में राज्य करने की अपेक्षा इस व्यापार को सुरक्षित और अधिकृत रखने का ध्येय ही मुख्य और प्रधान है।

आज ब्रिटिश साम्राज्य का संसार के एक चतुर्थांश क्षेत्रफल से अधिक पर और ठीक एक चतुर्थांश अर्थात् दुनिया की १, ८५, २० लाख जनता में से ४६, ३० लाख जनता पर राज्याधिकार है। लेकिन इतने बड़े साम्राज्य की अधिकारिणी उस ब्रिटिश जाति की जन संख्या केवल ६ करोड़ है जिसमें तीन-चतुर्थांश से अधिक ग्रेटब्रिटेन ही में निवास करती है। इस भांति समझना चाहिए कि ४० करोड़ काली और भूरी जनता पर, जो मुख्यतया भारत और आफ्रिका में बसती है, ६ करोड़ ब्रिटिशों के राज्य का नाम ब्रिटिश साम्राज्य है। तीन लाख ब्रिटिश-जिनमें अधिक सैनिक और अफसर लोग हैं—भारत की ३३ करोड़ जनता एवं सीलोन, ब्रिटिश बोर्नियो, ब्रिटिश मलेसिया, पेलेस्टाइन, इराक आदि के २१, २६, २६३ वर्गमील के राज्य का प्रबन्ध करते हैं। आफ्रिका में ७, ०६, ००० ब्रिटिश ३८, २०, ०,० वर्गमील में बसने वाले ६ करोड़ आफ्रिकनों पर राज्य करते है। इसी भांति आस्ट्रेलिया में ६३, १३, ००० ब्रिटिश ३२, ७८, ००० वर्गमील के स्वामी हैं। इन सब पर केवल ६४, ००० वर्गमील वाले ग्रेटब्रिटेन का शासन चलता है।

ग्रेट ब्रिटेन की यह छोटी-सी भूमि संसार में कारखानों का सबसे बड़ा समूह-स्थान है। यहाँ प्रति वर्ष २७३ करोड़

मेट्रिकटन कोयला, ७५ लाख टन लोहा और ८२½ लाख टन फौलाद होती है। इसके जहाजों में आवागमन २ करोड़ टन का बैठता है। उसका समूचा वार्षिक विदेशी व्यापार ११ अरब डालर अर्थात् अनुमानतः ३३ अरब रुपये से भी अधिक का है। वहाँ से मुख्य निर्यात कोयला, रुई का बना माल, सूती कपड़ा, ऊन और अन्य कपड़ा, लोहा, फौलाद और मशीनरी का होता है। कपड़े का मुख्य निर्यात भारतवर्ष, चीन, आस्ट्रेलिया, मिश्र और स्विटजलैंड को होता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ब्रिटिश व्यापार की प्रधान लीला-भूमि भारत ही है, जिसने सन् १९२२-२३ में १½ अरब गज कपड़ा बाहर से मंगाया, जिसमें ९५ सैकड़ा हिस्सा ब्रिटिश कपड़े का था। इसी भाँति भारत ने ३३ करोड़ रुपये की मशीनरी मगाई, जिसमें ८५ सैकड़ा भाग ब्रिटिश मशीनरी का रहा। व्यापारिक पदार्थों के आयात के मूल्य स्वरूप भारत ने जो रुपया ब्रिटेन को दिया, उसके अतिरिक्त ४५ करोड़ रुपया ब्रिटिश शेयरहोल्डरों (भारत में रुपया लगाने वाले ब्रिटिश पूंजीपतियों) और अफसरों को दिया। ग्रेट ब्रिटेन के आयात व्यापार में अनुमानतः आधा हिस्सा खाद्य पदार्थों का और चतुर्थांश से अधिक भाग कच्चे पदार्थों का रहता है। ब्रिटेन के आयात का एक पाँचवाँ भाग अमेरिका से आता है और उसके निर्यात का दसवाँ भाग अमेरिका को जाता है।

ब्रिटेन की जनता भली चंगी है और वहाँ की पैदाइश से मृत्यु-संख्या निकाल देने पर प्रतिवर्ष ३½ लाख जन-संख्या की वृद्धि होती है। ब्रिटिश साम्राज्य १५५ हजार की फौज ६२ हजार का गैरिजन और १४० हजार की देशी फौज द्वारा रक्षित है। उसकी नौसेना संसार की नौसेनाओं में सबसे अच्छी गिनी जाती है, जिसमें २२ लड़ाकू जहाज, ५२ क्रूजर, ८ एअरप्लेनकेरियर, २०७ डिस्ट्रायर और ६२ सबमेरीन हैं। उसके बेड़े का अधिकांश भाग भूमध्यसागर में माल्टा के समीप रहता है। जल और स्थल सेना के अतिरिक्त वायु या आकाशी सेना में ५४ स्क्वाडरन हैं। प्रत्येक स्क्वाडरन १२ वायुयान का है। इसमें कुल ३५ हजार आदमी हैं। इस आकाशी सेना में से आधी इंग्लैण्ड में रहती है और आधी अन्य देशों में।

यों तो ब्रिटिश जाति एक ओर टापुओं में अलग बसी हुई है। पर उसका साम्राज्य दूरदेशीय विदेशी जातियों में फैला हुआ है। इतने बड़े साम्राज्य के भिन्न भिन्न प्रदेशों के आवागमन का मार्ग विदेशों में होकर अथवा विदेशों के अधिकृत समुद्रों में होकर पड़ना स्वाभाविक ही है। उदाहरणार्थ साउथम्पटन से बम्बई आने वाले जहाज को रास्ते में स्टेट आफ जिब्राल्टर में होकर भूमध्यसागर को पारकर स्वेज कैनाल और लाल समुद्र को पार करना होगा, तब कहीं जाकर हिन्दमहासागर आवेगा। समुद्री स्वतन्त्रता बनी रहे, अर्थात् समुद्र में उसके जहाज बिना किसी प्रकार की रोक टोक के आवागमन कर सके, इस हेतु राह में पड़ने वाले उन कई स्थानों पर अधिकार बनाये रखने का सदा से ग्रेट ब्रिटेन का ध्येय रहा है और इसलिए ब्रिटिश नौसेना समुद्रों में गश्त लगाती रहती है। इसी नीति के व्यवहार स्वरूप ग्रेट ब्रिटेन ने अठारवीं शताब्दी के आरम्भ में जिब्राल्टर पर अपना अधिकार जमाया, जिससे भूमध्यसागर में कोई अन्य जाति न कूद पड़े और उसके जहाजों का रास्ता न रोक सके। इस बात के लिए ब्रिटिश सरकार को श्रम और व्यय दोनों उठाना पड़ा है। यदि ब्रिटिश सरकार के सिवा अन्य कोई शक्ति जिब्राल्टर के समीप टेंजियर पर अपना अधिकार कर ले तो वह उससे लड़ने को उद्यत रहेगी, क्योंकि उसे अपना रास्ता निर्बाध रखना है। सन् १८७५ में डिसरायली (Disraeli) ने मिश्र के 'खदीव' से स्वेज नहर पर अपना अधिकार ४० लाख पौंड में खरीद लिया। लेकिन इससे ब्रिटिश साम्राज्य के लिए किसी तरह की समस्या हल न हुई, क्योंकि उसे साइप्रस-द्वीप के ले लेने पर (१९७८) एवं मिश्र पर अपना अधिकार प्राप्त कर लेने पर (१८८२) भूमध्यसागर से लेकर हिंदमहासागर तक बैठाये हुए अपने तारों (Cables) की रक्षा की भी फ़िक्र हुई।

ब्रिटिश साम्राज्य किसी विदेशी शक्ति से अपनी रक्षा करने के लिए अकेला नहीं रह सकता। वह अपने अधिकारों को थोड़ा कम भले ही करदे, पर उन्हें बिल्कुल छोड़ नहीं सकता। उसे हर समय यह ध्यान रखना पड़ना है कि कोई उसके अधिकारों पर, उसके हित में, किसी तरह

की बाधा न डाल दे। अलग हो जाने की बात उसके लिए बड़ी भयंकर है; क्योंकि साम्राज्य की शक्ति यद्यपि बहुत विशाल है, पर वह जबतक साम्राज्य है तबतक ही है। इसी कारण बहुत समय से उसे यूरोप में एवं आगे चलकर सारी दुनिया में शांति और शक्ति का तौल बनाये रखने की तथा अपना पलड़ा भारी रखने की सदा फिक्र रहती है।

ब्रिटिश राज्य दुनिया के आधे से अधिक तारों (Cables) का मालिक है। सबसे बड़ा व्यापारिक बेड़ा भी उसीका है और उसकी जलसेना ऐसी है, जिसने जल-युद्ध में गत २५० वर्षों में किसी से हार नहीं खाई। जिसका साम्राज्य दूर तक फैला हुआ है, उसके लिए ये तार कितने महत्व के हैं यह बात सहज ही समझी जा सकती है। इसके अतिरिक्त अन्य जो देश इन तारों पर आश्रित हैं वे कहना चाहिए कि व्यापारिक या सैनिक दृष्टि से इन तारों के स्वामी के आश्रित हैं। युद्ध के समय यह बात सबसे महत्व की हो जाती है।

तारों के साथ ही साथ ब्रिटिश सामुद्रिक शक्ति का जहाजी जाल भी बिछा हुआ है। दुनिया के प्रत्येक कोने में उसका साम्राज्य फैला हुआ है। इसलिए जहाजी आवागमन का सुभीता उसके लिए पूर्ण आवश्यक है। उसके जहाजों को हजारों कोस दूर के सैकड़ों बन्दरों से माल असबाब, डाक और यात्रियों को लाना पड़ता है और संकट के समय इन सबकी रक्षा भी करनी पड़ती है। ब्रिटिश साम्राज्य के जहाजी स्टेशन भी अपना सानी नहीं रखते। भूमध्यसागर में होकर आने वाला भारतीय समुद्री रास्ता जिब्राल्टर, माल्टा, साइप्रस, पोर्टसईद और अदन के स्टेशनों से सुरक्षित है; तो उधर दक्षिणी अटलांटिक और भारतीय समुद्रों का रास्ता सेंटहेलेना, केपटाउन, डरबन सिकोलीस और मारिशस से घिरा हुआ एवं सुरक्षित है। आस्ट्रेलिया और सुदूर पूर्व के मार्ग का नियंत्रण सिंगापुर से होता है, जहाँ विशाल समुद्री किलेबंदी का काम जारी है। इसी भाँति चीन की सरहद तक का छोटा रास्ता हाँगकांग और वी-हे-वी द्वारा सुरक्षित है। इतने बड़े साम्राज्य की जान उसका समुद्री व्यापार है। इसलिए ब्रिटेन का भला-बुरा पार्लमेंट के कानून-कायदों या किसी देश की विजय की अपेक्षा ब्रिटिश व्यापारी बेड़े की दशा, उसके आवागमन, भाड़े के भाव-ताव खर्च और पैदावार पर अधिक आश्रित है।

ग्रेट ब्रिटेन का राजा न केवल ग्रेट ब्रिटेन और आयर्लेण्ड का राजा है, वरन् वह भारत का सम्राट् और कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिण आफ्रिका का भी राजा है। उसका बड़ा भारी आदर-सम्मान है और उपाधियाँ एवं बड़े बड़े पद देना उसीके हाथ है। हाउस ऑफ़ कामन्स के मन्त्रियों तक को उससे अपना पद प्राप्त कर लेने की रस्म पालनी पड़ती है। ग्रेट ब्रिटेन ने उद्योग धन्धे और यन्त्र-कला में खूब उन्नति की है और उसका जीवन उसका विदेशी व्यापार है। समुद्र-पार के अपने ग्राहक देशों पर वह बहुत अधिक आश्रित है। अपनी भूख मिटाने को उसे न केवल अन्न और खाद्य पदार्थों की बाहर से आवश्यकता होती है, वरन् वह अपने उद्योग-धन्धों एवं कच्चे पदार्थों के लिए भी बाहर वालों पर आश्रित है। अपनी व्यापारिक और राजनैतिक परिस्थिति की रक्षा के लिए उसे संसार में सुख शान्ति बनाये रखने की फिक्र करनी पड़ती है। अपने व्यापार की रक्षा के लिए ही ग्रेट ब्रिटेन ने स्पेन वासियों को हराया; डच, फ्रेंच और जर्मनों को भी हराने में यही उद्देश्य था। यदि जापान या अमेरिका उसके व्यापार में आज किसी तरह की रुकावट डालें तो कल वह उनके साथ भी लड़ने को उद्यत रहेगा। ब्रिटिश टापुओं में ब्रिटिश जाति के योग्य केवल ६ सप्ताह की खाद्य सामग्री होती है और इसीलिए जो कोई उसके बाजारों में हस्तक्षेप करे, या उसके व्यापारिक हित में बाधा पहुँचावे, या व्यापारिक रास्ते में रुकावट डाले, वह मानों उसके जीवन पर ही आघात पहुँचाता है। इतने बड़े साम्राज्य शक्ति की मालिक उस जाति की यह एक ध्यान देने योग्य विचित्र बात है। यदि भारत हाथ से निकल जाय, तो साम्राज्य पंगु हो जायगा और पूर्व में ब्रिटेन का जो व्यापार है, वह नष्ट हो जायगा। अतएव अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए ब्रिटेन सदैव भारत को अपने चंगुल में रखना चाहता है। इसके लिए चाहे वह थोड़ी-बहुत राजनैतिक स्वतन्त्रता भारत को दे भी दे, पर इसकी मात्रा वह वहीं तक रखना चाहता है, जहाँ तक कि उसका व्यापार अक्षुण्ण रहे।

मोहनलाल बड़जात्या

डा० सुमन्त मेहता

['त्यागभूमि' के लिए]

डा० सुमन्त मेहता के नाम से आज गुजरात का घर घर परिचित है। भीलों और अछूतों के मित्र, नितान्त आडम्बर शून्य एवं शान्त समाज-सुधारक, श्रीयुत ए० वी० ठक्कर को छोड़ कर आज शायद ही कोई ऐसा आदमी है, जिसे प्रान्त के समाज-सुधारकों में डा० मेहता जैसा ऊँचा और अद्वितीय स्थान प्राप्त हो। किसी व्यक्ति के जीते-जी उसके जीवन-कार्य का अनुमान लगाना सदैव ही वाञ्छनीय नहीं होता। फिर उस वक्त तो कठिनाई और भी अधिक हो जाती है, जब कि उस व्यक्ति के साथ लेखक का घनिष्ठ मैत्री-सम्बन्ध हो। अतएव इस छोटे से लेख में पाठकों को उनका उतना ही परिचय देने का प्रयत्न किया गया है, जहाँतक कि सार्वजनिक जीवन से उसका सम्बन्ध है।

डा० मेहता को उनके सच्चे रूप में जानने के लिए हमें अपने दिमाग़ में उनके दो चित्रों की कल्पना करनी चाहिए—एक तो असहयोग-काल से पहले बिलकुल यूरोपीय वेष-भूषा में सज्जित अंग्रेजी रंग ढंग से रहने वाले एक 'फ़ैशनेबल' भारतीय नौजवान की, और दूसरी असहयोग काल के बाद गरीबों के बीच उन्हींकी तरह रहने वाले, जलते हुए सूर्य के नीचे—तेज धूप में—यहाँ-वहाँ ठहरते हुए, हाथ में झोली लेकर पैदल चलने वाले चिन्ता-निमग्न और देखने में किसान-जैसे समाज-सुधारक की। इससे हमें उनको समझने की वास्तविक कुञ्जी मिल जाती है। उनकी शिक्षा-सम्बन्धी सफलताओं, उनके आदर्शों, और उनके विश्वासों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है—अब भी वे सब ठीक वैसे ही हैं, जैसे कि बीस वर्ष पूर्व थे, सिर्फ उनकी दिशा में अब परिवर्तन हो गया है, और अब उनका जीवन बिलकुल दूसरे ढग का बन गया है।

शिक्षा और योग्यता तो उन्होंने विपुल प्राप्त की है। सुप्रसिद्ध गुजराती विद्वान और उपन्यासकार श्री नन्दशंकर मेहता के यह नाती (धेवते) हैं। यहाँ और इंग्लैण्ड में उपलब्ध सर्वोत्तम शिक्षा इन्हें मिली है। इस शताब्दी के प्रारम्भिक काल में आराम और सम्मान के साथ जीवन बिताने की महत्वाकांक्षा रखने वाले नौजवानों के लिए यह लगभग आवश्यक सा समझा जाता था कि किसी विदेश में जाकर वे शिक्षा प्राप्त करें और इंग्लैण्ड में तो अवश्य ही। डा० मेहता के लिए तो न केवल परिस्थितियाँ ही अनुकूल थीं, बल्कि साधनों का भी बाहुल्य था। उनके पिता महाराजा गायकवाड़ के निजी चिकित्सक थे इस-लिए प्रारम्भिक दिनों में उनके जीवन-क्रम में राजसी कुटुम्ब के वातावरण एवं उसकी स्थिति का प्रभाव और गहरी छाप पड़ी। परन्तु, उनकी धार्मिक वृत्ति, सामाजिक उपयोगिता या सेवा के उनके भाव, और स्वाधीनता के प्रति उनका प्रेम, आज ही की भाँति इन दिनों भी उनमें ऐसे के ऐसे ही विद्यमान थे। जो लोग उनके प्रारम्भिक दिनों को उनकी इस धार्मिक वृत्ति से परिचित थे उनके लिए अभी तक यह एक आश्चर्य ही है कि डाक्टरी धंधे की शिक्षा वह कैसे प्राप्त कर सके होंगे। परन्तु, भविष्य तो मनुष्यों के लिए एक मुहरबन्द पुस्तक है। शिक्षा-प्राप्ति के बाद यूरोप से वापस आने पर इन्होंने बड़ौदा राज्य की नौकरी में प्रवेश किया। उस समय समाज में हिले-मिले हुए इस नौजवान को शायद ही यह पता होगा कि एक ऐसा दिन उसकी प्रतीक्षा कर रहा है कि जब उसी नौकरी का उसे जबर्दस्त विरोध करना पड़ेगा, जिसमें कि एक बार वह भी एक बड़ा अधिकारी था। क्रिकेट का यह नौजवान खिलाड़ी उन दिनों नवसारी के मैदान में एक भय था, उसे ऐसी कोई कल्पना न थी कि उसके जीवन में कहीं एक प्रशस्त मैदान उसकी प्रतीक्षा कर रहा है, जहाँ कि उससे न केवल आनन्द-प्रमोद का क्रिकेट प्रत्युत उससे कहीं अधिक कष्टप्रद खेल—एक सच्चे कर्मचारी के तपस्या-पूर्ण जीवन का पार्ट—खेलने के लिए कहा जायगा। अस्तु, डा० सुमन्त मेहता को शीघ्र ही मालूम हो गया

कि भारत में केवल खेल ही जीवन का सब कुछ नहीं है, किन्तु उसका सिर्फ एक मनोरञ्जन है। गुजरात में तो आज वह एक महान सामाजिक शक्ति हैं ही, पर जिस नगर में यह नौकर थे उसके सार्वजनिक जीवन पर इस नौजवान मेडिकल आफ़िसर और इसकी विशालमना उदारता एवं प्राय: स्वाभाविक कृपालुता की जो गहरी छाप पड़ी, वह अब भी उसकी सर्व दिशाओं में विद्यमान है।

बाद में डा० मेहता ने राज्य के भिन्न-भिन्न पदों पर कार्य किया और बहुत ऊंचे दर्जे पर पहुँच गये। लेकिन सरकारी नौकरी—और वह भी एक रियासत की—उनके भाषण या कार्य की स्वतन्त्रता के प्रेम या उत्साह और उनकी भावना को कभी एकबार भी मन्द नहीं कर सकी। सरकारी नौकरी, उन दिनों की भाँति, आज भी गुलामी का ही पर्याय है। हमारे सर्वोत्तम और बुद्धिमान पुरुष, इनके नाशक प्रभाव से, दुर्भाग्य-वश, शान शौकत से भरे हुए जीवन के प्रलोभनों में पड़ चुके हैं। पर डा० मेहता ने इन प्रलोभनों को कभी अपने पर हावी नहीं होने दिया। यही कारण है कि पीछे हम उन्हें एक समय के प्रगतिशील राज्य (बड़ौदा) की शासन-सम्बन्धी बुराइयों के खिलाफ घोर युद्ध करते हुए पाते हैं। जहाँ बहुत से भारतीय नौजवान इंग्लैण्ड में जाकर विलासी बन जाते हैं, वहाँ इन्होंने इंग्लैण्ड से स्वतंत्रता की भावना ग्रहण की; और इससे आज भी वह काफ़ी लाभ उठा रहे हैं। डा० सुमन्त मेहता जैसी सुविधायें बहुत कम लोगों को प्राप्त हुई होंगी। उन्होंने कम से-कम पाँच बार संसार का भ्रमण किया है। महाराजा (गायकवाड़) के साथ के इन भ्रमणों में ही तरुण मिश्रियों, आयर्लैंड के उग्र प्रजातन्त्रवादियों तथा पार्नेल के अनुयायियों, और भिन्न-भिन्न देशों के सर्वोत्तम बुद्धिमानों के सम्पर्क में आने का उन्हें अवसर मिला और इस प्रकार जीवन का बड़ा प्रशस्त दृष्टिकोण बनाने का उन्हें सुयोग प्राप्त हुआ। देशभक्ति के पहली चिनगारियाँ उनमें इन्हीं देशों में प्रज्वलित हुई, जिसको कृतज्ञतापूर्ण हृदय के साथ आज भी वह स्वीकार करते हैं।

उनके प्रारम्भिक जीवन के परिचय के लिए यही काफी है। उस समय भी इस प्रान्त की बहुत-सी संस्थाओं से उनका सम्बन्ध था और समाज-सेवा के क्षेत्र में काफ़ी प्रशंसनीय कार्य उन्होंने कर लिया था। लेकिन असली ठोस काम तो तबसे शुरू हुआ, जब कि राज्य की सिविल-सर्विस की भारी नौकरी उन्होंने छोड़ दी। वैसे अधिकारी के रूप में भी वह बड़े लोकप्रिय थे। सर्व-साधारण के लिए वह ऐसे आतंक और स्वेच्छाचारी न थे, जैसे सामान्यत: अफ़सर लोग हुआ करते हैं कि कुछ चापलूसों पर तो उनकी कृपा रहती है और अपने अधिकार में उनको हर जगह स्थान देते रहते हैं पर और सब पर उनका प्रकोप और आतंक। डा० मेहता तो दूसरे ही साँचे में ढले थे। उन्होंने स्वतन्त्रता के साथ सर्व-साधारण में हिल-मिलकर उनके जीवन, उनकी कठिनाइयों और उनके दु:खों में प्रवेश करना शुरू किया। सरकारी काम से जब वह दौरे पर जाते, तो लोगों पर भार रूप नहीं होते थे—यहाँ तक कि उनके मित्र भी उनके बच्चों को कोई सुविधायें प्रदान करते तो उन्हें भी वे स्वीकार न करते। घोर कठोरता उनके जीवन का नियम था। अगर कोई एक ऐसा व्यक्ति है कि जिसने गुजरात में स्त्री-शिक्षा की प्रगति के लिए यथा-सम्भव अधिक सेवा की है, तो वह डा० सुमन्त हैं। इसमें शक नहीं कि उनकी सुशिक्षित सहधर्मिणी उनके प्रत्येक कार्य में उनकी सहयोगिनी रही हैं। सुमन्त और शारदा मेहता ने गुजरात में जो सुन्दर बीज बोये हैं, भविष्य में जब उनके सुन्दर फल आयगे, तब कृतज्ञ-भाव से गुजरात-वासी उनका स्मरण करेंगे और, इस प्रकार, इन दोनों के नाम गुजरात में सदा अमर रहेंगे।

आज ग्राम्य-जीवन और सुमन्त एक-दूसरे के पर्याय-वाची हैं, हालाँकि पहले दिनों से भी उन्हें ग्राम्य-जीवन कुछ कम प्रिय न था। रानीपरज की सीमा में एक झोंपड़ी से दूसरी झोंपड़ी का चक्कर काटते हुए अथवा झोंपड़ी के दर्वाजे पर आकाश की छत्रच्छाया में सोते हुए उन्हें कभी हिचकिचाहट नहीं हुई।

इंग्लैण्ड के आखिरी प्रवास से जब डा० मेहता लौटे तब अहमदाबाद में कांग्रेस का सन् १९२१ का ऐतिहासिक अधिवेशन होने वाला था। इस बीच वह बराबर यह महसूस करते रहे थे कि नौकरी में रहते हुए सेवा के उनके आदर्श पूरे नहीं हो रहे हैं, और इसलिए इस बन्धन

से वह मुक्त हो जाना चाहते थे। कांग्रेस के इस ऐतिहासिक अधिवेशन से उन्हें ऐसा मौक़ा मिल गया, उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया और खद्दरधारी बनकर कांग्रेस में उपस्थित हुए। इस आकस्मिक परिवर्तन से उनके अनेक मित्रों को अचम्भा हुआ, पर उनसे विशेष घनिष्ठता रखने वाले लोग जानते थे कि एक-न-एक दिन यही होना है। इसके पहले दो बार वह 'सर्वेण्ट्स आफ इण्डिया सोसायटी' (भारत-सेवक-समिति) में सम्मिलित होने की चेष्टा कर चुके थे, पर उनके स्वभाव की स्वतन्त्रता से सोसायटी की अत्यधिक नरम-नीति का मेल कैसे बैठ सकता था? कुछ दिनों बाद उत्साही कार्यकर्त्ताओं का एक छोटा-सा दल लेकर गुजरात के लिए 'सेवक' बनाने के उद्देश्य से उन्हें अहमदाबाद में एक संस्था स्थापित करनी पड़ी। उनमें नैतिक बल का एक स्वाभाविक एवं ग़लती की ओर न जाने वाली वह दृष्टि थी, जिसका शारीरिक शक्ति अथवा बौद्धिक योग्यता के पीछे होना आवश्यक है। उन्होंने विचार किया कि इस नैतिक बल का प्रथम उपकरण—त्याग, अपने देश के लिए पूर्ण आत्मोत्सर्ग तथा स्वाधीनता की प्राप्ति के कार्य में आत्म-विश्वास होना चाहिए। उनकी इच्छा थी कि हमारे कार्यकर्त्ता—सेवक—राजनैतिक वैरागी या फ़क़ीर हों, जिनके मन में सर्वोत्कृष्ट देवता—'माँ'—के प्रति कर्त्तव्य-पालन के भाव को छोड़ और कुछ सोचने का न हो। उस नैतिक बल का दूसरा उपकरण, उनके विचार से, आत्म-संयम और संगठन था। विगत सात वर्षों में उनकी इस 'फ़क़ीरी' या 'वैराग्य' ने बहुतेरे अविश्वासियों एवं विरोधियों के होश ठीक कर दिये हैं।

उनके अनेकांगी कार्यों में से कालीपरज समिति एवं पेटलाद के सत्याग्रह के कार्य मुख्य हैं। लोभी पारसी मादक-द्रव्य-विक्रेताओं की यान्त्रिकता और असहायों के विरुद्ध षड्यन्त्र करने वाले दूषित हृदय एवं घूसखोर अफ़सरों की हृदयहीनता के कारण कालीपरज के लोग मादक द्रव्यों के शिकार हो रहे थे। कालीपरज समिति द्वारा डाक्टर सुमन्त मेहता ने इन लोगों में मादक द्रव्य-निषेध का तीव्र आन्दोलन किया और इस प्रकार बड़ौदा-सरकार के क्रोध को अपने ऊपर आमन्त्रित किया। यह स्थान उस आन्दोलन का इतिहास लिखने के उपयुक्त नहीं है, जो लगातार तीन वर्षों तक राज्य के हृदयहीन और हठी अफ़सरों की आँखों में किरकिरी की भाँति खटकता रहा। ये अफ़सर एक ओर तो अपनेको उन्नति का हामी बतलाते और तत्सम्बन्धी बातों का विज्ञापन कर रहे थे, और दूसरी ओर राज्य में मादक-द्रव्य की बिक्री रोकने से हिचकते थे। बड़ौदा राज्य ने दमन की नीति इख़्तियार की और कालीपरज-मण्डल के कार्यकर्त्ताओं को आज्ञा दी कि वे उपर्युक्त क्षेत्र में प्रवेश न करें, न लोगों को मादक द्रव्य-बहिष्कार का उपदेश करें। उस ज़िले के तात्कालिक अनुदार एवं सुधार विरोधी सूबा श्री मुकर्जी ने आन्दोलन को दबा देने का बड़ा यत्न किया। उन्होंने 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के कालमों में सरकारी नीति का औचित्य सिद्ध करने के लिए कितने ही लेख लिखे। निरंकुश शासन के महापुरोहित सर मनुभाई मेहता ने, दीवान की हैसियत से, मुकर्जी का समर्थन किया। किन्तु इन निरंकुश आदेशों का उल्लंघन करके भी कार्यकर्त्ता अपना काम करते रहे। डा० मेहता के सुव्यवस्थित संगठन एवं बुद्धिमानी के फल स्वरूप अन्त में बड़ौदा के फ़ौलादी ढाँचे को झुकना पड़ा; सूबा की बदली हुई और आज्ञा वापिस ले ली गई। हज़ारों कुटुम्ब मादक-द्रव्यों के विनाशकारी प्रभाव से मुक्त हो गये और वे आज भी अपने उपकारी डा० मेहता और उनके कार्यकर्त्ताओं के छोटे-से दल को याद करते हैं। उन दिनों के इस कार्य का अनुकरण, ब्रिटिश भारत के समीपवर्ती ज़िलों के कार्यकर्त्ता आज भी कर सकते हैं। डा० मेहता को अपने कालीपरज सम्बन्धी कार्य में श्री अमृतलाल ठक्कर से पूर्ण सहयोग एवं सहायता प्राप्त हुई थी। डा० मेहता का दूसरा उल्लेखनीय कार्य बड़ौदा राज्यान्तर्गत पेटलाद के कर न देने के आन्दोलन से सम्बन्ध रखता है। यह आन्दोलन अनुचित लगान-वृद्धि के प्रतीकारार्थ किया गया था। खेड़ा, बारसद और बारडोली की भाँति पेटलाद-सत्याग्रह का भी गुजरात के गाथा-विवरण में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। पेटलाद ताल्लुक़ा के किसान, इस आन्दोलन में, बड़ौदा-सरकार के सम्पूर्ण अत्याचारों के बीच, चट्टान की भाँति डटे रहे। अन्त में किसानों के न्याय पक्ष की

विजय हुई, एवं डा० मेहता का यश और भी फैल गया। उनके जीवन की एक स्पष्ट धारा यह है कि वह किसानों और मिलों पर किसी के द्वारा—फिर चाहे वह मोटे पूँजीपतियों एवं जमींदारों द्वारा हो या पूँजीवादिनी सरकार द्वारा—किसी प्रकार का अत्याचार होते नहीं देख सकते और जब भी आवश्यकता पड़ता है ऐसी अनीति को दूर करने में अपना कन्धा लगा देते हैं। इस सम्बन्ध में जहाँ तक उनसे हो सका है, उन्होंने काम किया है और सम्पूर्ण प्रान्त की दलित एवं पीड़ित जनता में सामूहिक जागृति उत्पन्न करने में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहायक हुए हैं। कार्य परज और पेटलाद ही किसी मनुष्य के जीवन कार्य की पूर्ति के लिए पर्याप्त है। पर डा० सुमन्त ने तो और भी बहुत से कार्य किये हैं।

यदि वह बड़ौदा राज्य की सेवा में रहते तो डाक्टर और चिकित्सक की हैसियत से बहुत आराम और विलास का जीवन व्यतीत कर सकते थे। सर्जन (अस्त्र-चिकित्सक) की हैसियत से उन्होंने काफी नाम कमाया था। परन्तु वैसा होने पर अर्थात् एक दक्ष सर्जन पाने के लिए गुजरात को जनता का एक सुन्दर सेवक खो देना पड़ता। इस दृष्टि से डा० सुमन्त ने निश्चय ही अपना धन्धा चुनने में गुजरात की—जिसके भाग्य में भारत और राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व लिखा था—बहुत बड़ी सेवा की है। केवल स्वतन्त्रता की वाञ्छनीयता स्वीकार कर लेना कोई उत्साह-प्रद उदाहरण उपस्थित नहीं करता। राजभक्त, उदार वा राष्ट्रीय किसी प्रकार के राजनैतिक मत रखने वाले बहुत थोड़े ही ऐसे भारतीय इस समय मिलेंगे, जो अपने ऊपर मातृभूमि का कुछ अधिकार न स्वीकार करते हों, अथवा स्वतन्त्रता को वाञ्छनीय न मानते हों। किन्तु स्वतन्त्रता के समर्थकों में भी अधिकांश ऐसे हैं कि जब स्वदेश और अन्य व्यक्तिगत सेवाओं में से किसी एक के चुनाव का प्रश्न उनके सामने उपस्थित होता है, तो वे देश-सेवा को नहीं अपनाते। इसी प्रकार ऐसे तो बहुत से लोग हो सकते हैं, जो स्वतन्त्रता की प्राप्ति के इच्छुक हों, पर ऐसे बहुत थोड़े होते हैं, जो उसे प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय रखते हैं। और भी कई वस्तुयें हैं, जिन्हें हम अधिक प्रिय समझते हैं और स्वतन्त्रता के युद्ध वा उसकी प्रगति से उसपर खतरा आने वा उनकी हानि होने का अनुभव करते हैं। डा० मेहता इन सब बातों के ऊपर थे और देश को अपना जीवन अर्पण करते समय वह कभी एक मिनट के लिए भी यह सोचकर न हिचकिचाये कि ऐसा करने से मैं अपनी पेंशन को खतरे में डाल रहा हूँ। इस समय इन्होंने अपने जीवन को जैसा सादा और 'सुख हीन बना रक्खा है, उसे देखने से ही अनुमान किया जा सकता है कि जीवन में वर्षों तक अभ्यस्त आरामतलबियों को समाधिस्थ करने में उन्हें कितनी कठिनाई सहनी पड़ी होगी।

डा० मेहता एक अच्छे और उत्साहजनक लेखक भी हैं, पर इस क्षेत्र में भी उपयोगिता की दृष्टि से ही वह अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं। इसलिए वह ऐसे ही विषयों पर लिखते हैं, जिनसे प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप में उनके प्रचार-कार्य को सहायता मिल सके। जो लोग उनकी रचनाओं के भक्त हैं उन्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि आज से दस वर्ष पहले डा० सुमन्त अच्छी तरह गुजराती नहीं लिख सकते थे। अपने इस नवीन जीवन के आरम्भ में ही उन्हें यह समझते देर न लगी कि जिस नये साँचे में राष्ट्र ढल रहा है, उसकी अभिव्यक्ति और प्रकाशन-योग्य भाषा के बिना राष्ट्र का विकास असम्भव है, इसके लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है, जो राष्ट्र के विचारों और अनुभवों को स्थायी रूप दे सके और प्रत्येक नई भावना को शीघ्रता एवं दृढ़तापूर्वक सब लोगों के अन्तःकरण तक पहुँचा दे। इस बात का अनुभव करके उन्होंने अपने प्रान्त की उस जनता की भाषा का अधिक पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्यधिक श्रम किया, जिसकी सेवा के लिए उन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया था। जब श्री इन्दुलाल याज्ञिक येरवडा-जेल में थे तब दो वर्ष से भी अधिक समय तक डा० सुमन्त मेहता ने गुजरात के प्रसिद्ध मासिक 'युगधर्म' का सफलता-पूर्वक सम्पादन करके अपनेको साहित्यिक कार्य का भार उठाने योग्य भी सिद्ध कर दिखाया। उन्हें अपने युगधर्म के आदर्शों का प्रचार करने को 'युगधर्म' एक अच्छा साधन मिल गया। उनकी रचनायें साहित्यिक दृष्टि से भले ही प्रथम कोटि की न

हों; पर उनसे उनके उद्देश्य की सच्चाई विश्वास की दृढ़ता और हृदय एवं अन्तःकरण की पारदर्शी कोमलता का बोध होता है।

डा० मेहता और उनकी पत्नी का गुजरात की अनेक शैक्षणिक संस्थाओं से सम्बन्ध है। बारडोली सत्याग्रह में दोनों ही श्री वल्लभभाई पटेल के खास सहायकों में रहे हैं और इस सम्बन्ध में उन्होंने बड़ी सेवायें की हैं। किन्तु डा० मेहता के जीवन का मुख्य कार्य बड़ोदा-राज्य की प्रजा का उद्धार करना है। अपने राज्य से प्रायः अनुपस्थित रहने वाले राजा के शासन की सम्पूर्ण बुराइयों से ग्रस्त बड़ौदा के बीस लाख निवासियों के वह निर्विवाद नेता हैं। इन असहायों ने अपनी विपत्ति के समय में सदैव डा० मेहता की ओर दृष्टि डाली है और अपनी नाव को सुरक्षित अनुभव किया है। अभी तक कभी वे उनके नेतृत्व से वंचित नहीं हुए। डा० मेहता पर इन सबका अगाध विश्वास है। वह बड़ौदा-राज्य-प्रजा-मण्डल के प्राण हैं और प्रजा-मण्डल के बिलीमोरा विशेषाधिवेशन एवं सोजित्रा-कृषक कान्फरेंस में अध्यक्ष की हैसियत से दिये गये उनके भाषणों से कृषकों की समस्या के प्रति उनके अगाध परिचय और ग़रीब एवं विस्मृत प्राणियों के प्रति उनकी अभिज्ञता के भाव का पता लगता है। आज वह बीस लाख पीड़ित मनुष्यों के अधिकारों और स्वार्थों के सच्चे सन्तरी हैं।

इस वर्णन में श्रीमती शारदा मेहता का, जिनका नाम समस्त गुजरात में आदर और श्रद्धा से लिया जाता है, उल्लेख न करना एक अक्षम्य अभाव होगा। डा० मेहता के तूफ़ानी जीवन में उनका घर ही आशाप्रद स्थान,—धारण-शक्ति का केन्द्र रहा है। शारदा मेहता 'घर की प्रधान देवी, पीड़ित-हृदयवालों के लिए सान्त्वना हैं। दो युगों से भी अधिक समय तक दम्पती-युगल युवक गुजरात के लिए आदर्श स्वरूप रहे हैं। सयाजीगंज के उस झोंपड़े-सदृश बंगले में न जाने कितने आदमी उसके निवासियों के पास सान्त्वना पाने के लिए आये होंगे और वहाँ से आशा एवं प्रसन्नता लेकर घर लौटे होंगे! अनेक प्रचारकों को वहाँ से प्रचार के लिए उत्साह मिला होगा। इस दृष्टि से डा० मेहता का घर निवास-गृह नहीं वरन् एक संस्था एवं अनेक सफल कार्यक्रमों का उत्पादकस्थल है। अपनी सचाई, अपने हृदय में सबके प्रति बहने वाली सहानुभूति एवं प्रेम की धारा, अपनी संस्कृति एवं अपने सामाजिक स्वभाव में श्रीमती शारदा मेहता बेजोड़ हैं। वह एक आदर्श गृहिणी, एक प्रेममयी माता और एक सुन्दर मित्र हैं तथा अपने कार्य एवं व्यवहार द्वारा अनेक लोगों में फैलते हुए इस गलत विचार का खण्डन करती हैं कि शिक्षिता महिलायें अच्छी गृहिणियाँ नहीं बन सकतीं। अपनेको अपने पति के त्याग और सेवामय जीवन के अनुरूप बनाने में उन्होंने त्याग एवं उत्सर्ग का एक सुन्दर उदाहरण पेश किया है। इस समय श्रीमती मेहता अपने जीवन के पचासवें वर्ष में हैं। वह गुजरात की हिन्दू महिलाओं में प्रथम स्त्री हैं, जिन्होंने-बम्बई विश्वविद्यालय से बी० ए० की परीक्षा पास की। वह स्त्री-शिक्षा के आरम्भिक अग्रणियों में एक हैं। अपनी लड़कियों को सर्वोच्च-संभव शिक्षा देकर उन्होंने उस आन्दोलन को बहुत बल प्रदान किया है, जिसका शुरू से वह समर्थन करती रही हैं। एक लड़की विज्ञान की ग्रेजुएट है और दूसरी की शिक्षा लन्दन के अर्थशास्त्र-विद्यालय (लन्दन स्कूल ऑफ़ इकोनामिक्स) में हुई है। कर्वे-यूनिवर्सिटी में पढ़ने के कारण श्रीमती मेहता उसके कार्यों में बड़ा भाग लेती हैं और उसका शिक्षा-समिति एवं प्रबन्ध-सभा (Senate and Syndicate) दोनों की सदस्या हैं। ये उस स्त्री की दो-एक विशेषतायें हैं, जो आज गुजरात में एक बड़ी सामाजिक शक्ति समझी जाती हैं किन्तु उनका सबसे बड़ा आकर्षण उनका मातृत्व है—वह माता के दैवी भाव की मूर्ति हा जान पड़ती हैं। गोधरा के सामाजिक सम्मेलन के सभापति-पद के लिए उनके नाम का प्रस्ताव उपस्थित करते समय, महात्मा गांधी ने उनके उपर्युक्त गुण की, खास तौर से प्रशंसा की थी और कहा था—"× × मैं उनके उदर से जन्म पाने की इच्छा करूँगा।" यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि महात्मा गांधी ऐसे जीव नहीं हैं, जो किसी की अनावश्यक प्रशंसा करें। डा० मेहता को ऐसी ही सुन्दर जीवन-संगिनी पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनके जीवन की सफलताओं में उनकी पत्नी का कम

शेष नहीं है। डा० मेहता सब प्रकार के आदर के पात्र हैं, जो 'साधु' न होते हुए भी अपने कार्यों द्वारा 'साधुत्व' की प्राप्ति में सचेष्ट हैं। उनका जीवन अनेक परीक्षाओं, कठिनाइयों और प्रशंसनीय ग़रीबी का एक चित्र है। ईश्वर उन्हें दीर्घायु करे!

रँगीलदास एम० कापड़िया

उद्गार !

निकलो, निकलो, फिर से निकलो, हरे-भरे उर के उद्गार,
बाहर चलकर देखो क्षण-भर भावों का भावुक संसार।
अन्तस्तल के रङ्ग-मञ्च पर नव-अभिनय का उपसंहार,
होने को है, पागल-पीड़ा हँस-हँसकर करती शृङ्गार।
मनो‍ुग्धकर दिव्य-दृश्य आँखों के आगे फिरते हैं।
पता नहीं चलता है पर्दे किस क्षण उठते-गिरते हैं॥ १॥

देखा, हाँ, जी भरकर देखा, इन्द्रजाल, जग का जंजाल,
स्वप्न भङ्ग होगया, लख पड़े कंकड़ियाँ वे हीरा लाल।
सोना-चाँदी खोकर, ठुकरा सम्राटों की शक्ति विशाल;
फूला फिरता था मन ही मन वह निहाल कोरा-कङ्काल।
देख निराशा की गोदी में आशा का अजेय अवतार।
हँसते हुए दौड़ते आये मेरे अन्तर के उद्गार॥ २॥

पहली ही झाँकी पर रीझा, भक्त गया अपने को भूल;
अनायास कर फैलाया लेने को श्री-चरणों की धूल।
किन्तु परीक्षा की सीढ़ी पर पग पड़ते ही चुभा त्रिशूल,
ठोकर लगी, बुझ गया दीपक, अर्घ्य गिरा, बिखरे फल-फूल।
यह उतावली देख, हँस पड़ा वह पुजारियों का परिवार।
सहमे-सकुचाये-से निकले रुक-रुककर मेरे उद्गार॥ ३॥

अर्ध-निशा के अन्धकार में छिपने को आया असहाय,
लिये वेदना को अञ्चल में, जब न किये कुछ हुआ उपाय।
अरे! नियति की उस छलना ने आँख-मिचौनी के मिस हाय!
बहकाये वे पथिक, खोजते थे जो मेरी हृदय-सराय।
इङ्गित कर दिखला दो दुखिया को सुख के मन्दिर का द्वार।
निकलो, निकलो, फिर से निकलो उत्तेजित उर के उद्गार॥ ४॥

मित्र-धर्म

मित्र धर्म को निबाहना बड़ा कठिन है। वह सौभ्रात्र-धर्म से भी कठिन है। 'त्यागभूमि' और उसके पाठकों के बीच यही प्रेम है। 'त्यागभूमि' के अभी लगभग तीन हजार ग्राहक हैं। अभी उसका मूल्य ७) प्रति ग्राहक पीछे पड़ता है। इस तरह अपने प्रत्येक पाठक भाई के लिए प्रतिवर्ष

तीन रुपये की घटी सहकर

यह पत्रिका निकाली जा रही है। सम्पादन, लेख-सामग्री तथा सात्विक आकर्षकता की दृष्टि से भी इसे सर्वोत्तम बनाने के लिए हम कोशिश कर रहे हैं। पर पाठक भाइयों की एक बात में हमें भारी सहायता की जरूरत है। हमने हिसाब लगाकर देख लिया है कि बारह हजार ग्राहक हो जाने पर 'त्यागभूमि' अपना खर्चा संभाल लेगी। यदि

पाठक भाई थोड़ा सा भी प्रयत्न करें

तो इतने ग्राहक बन जाना कोई कठिन बात नहीं है। यदि आप मानते हों कि 'त्यागभूमि' देश और समाज की सच्ची सेविका है तो उसे चिरंजिवी बनाये बिना आप कैसे रह सकते हैं? भला आपका स्वाभिमानी उदार हृदय इस बात का कैसे बरदाश्त करेगा कि 'त्यागभूमि' तो आपकी सेवा के लिए प्रतिवर्ष हजारों की घटी सहे और आप से उसे स्वावलम्बिनी बनाने के लिए कुछ भी न बन पड़े।

बहुत भार नहीं

यह चिन्ता न करें कि १२००० ग्राहक कैसे बनेंगे? आदमी अगर अपनी ही जिम्मेवारी पूरी करने लग जाय तो सारे समाज का काम अपने आप सुव्यवस्थित हो जाय। प्रत्येक ग्राहक यदि कम से कम

एक एक ग्राहक बना देने का संकल्प कर लें

तो छः हजार ग्राहक बात की बात में हो जायँ और अगले वर्ष के अन्त में तो १२००० ग्राहक बनकर यह पत्रिका चिरंजिवी हो जाय। आइए हम अभी से इसमें जुट पड़ें। देखिए वे एक मित्र आ रहे हैं। उन्हें 'त्यागभूमि' का प्रेमी बनावें। अपने गाँव वाले उस मित्र व सम्बन्धी को अभी पत्र लिख दें। यदि यह न हो तो

एक उपाय और भी है

कई विद्यार्थी, बालिकाएँ और पुस्तकालय वाले हमसे एक दो रुपये कम मूल्य पर और कई मुफ्त में 'त्यागभूमि' माँगा करते हैं। आप अपनी शक्ति के अनुसार रुपये भेजकर उनके लिए रिआयती मूल्य पर या मुफ्त में 'त्यागभूमि' मिलने की सुविधा कर सकते हैं। आपकी ओर से 'त्यागभूमि' में सूचना प्रकाशित हो जायगी।

बताइये, आप क्या कर सकते हैं? जो कर सकें वह तुरन्त ही शुरू कर दीजिए।

निवेदक—व्यवस्थापक, 'त्यागभूमि'



"हम जाग उठीं, सब समझ गईं, अब करके कुछ दिखला देंगी ।
हाँ, विश्व गगन में भारत को, फिर एक बार चमका देंगी ॥"

दिव्य नेत्र

मंगल दीप ! मंगल गीत !

एक दिव्य ज्योति प्रकट हुई है । अन्धकार-प्रिय संसार को इसका सौम्य प्रकाश भी चकाचौंध में डाल देता है । इसकी प्रकाश-रेखा को देखते ही वह भाग खड़ा होता है । इसके आगमन को वह एक शाप समझता है । यह कैसी विपरीतता है ? अपनी मातृ-देवता को बाल-रूप में देखकर, ओ मनुष्य, तू इस तरह क्यों भागता फिरता है ? यह तो श्रेय है, परम-श्रेय है, इससे तू क्यों डरता है ?

अमर मानव लता की ओ सद्य:जात दिव्य कलिके ! तेरे इस मुकुलित हृदय में, इस प्रच्छन्न प्रकोष्ठ में, कितनी अज्ञात शक्तियां छिपी हुई हैं--भावी के कितने मनोहर स्वप्न विश्रब्ध विश्रान्ति में लीन हैं ?

हे दिव्य-आत्मा ! पुरुष जहां अपनी माता और बहन का ध्यान करके अन्त:करण को पवित्र करने की कोशिश करता है वहां तूने बाल-रूप में उसके यहां प्रवेश कर अपनी निर्दोष, मनोहर और पवित्र किल्लोलों द्वारा एक अभिनव शान्त आनन्द-रस में उसे मग्न कर दिया । हे भाग्यशाली पुरुष ! परमात्मा को इस कृपा के लिए धन्यवाद दे कि उसने तुझे स्त्री-जाति की ओर देखने के लिए दो अपूर्व और दिव्य नेत्र दिये हैं ।

वैजनाथ महोदय

हमारा स्त्री-समाज

मनुष्य जाति के जीवन-क्षेत्र में स्त्रियों का परमोत्कृष्ट स्थान है। मानव-समाज का सर्वस्व किसी-न-किसी रूप से उनपर निर्भर करता है। किसी भी देश तथा जाति की उन्नति बिना स्त्रियो के सहयोग के न हुई है, न हो सकती है। 'मनुस्मृति' में लिखा है—

नार्यस्तु यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रिया॥

सोचने की बात है कि स्त्रियाँ समाज का अर्धाङ्ग हैं, फिर उन्हे अवज्ञा की दृष्टि से देखने वाला कोई भी समाज कैसे उन्नत हो सकता है? पाठक जरा ध्यान दें कि सन्तान की भावी उन्नति तथा अवनति विशेषत माता ही पर निर्भर करती है। इसका मुख्य कारण यह है कि बाल्य-काल मे माता ही बच्चो की सर्वेसर्वा रहती है और वही एक मुख्य प्रभावोत्पादिका-शक्ति होती है। उस समय जो पाठ मातायें पढ़ाती हैं उसका बच्चो के भविष्य-जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है—"The hand that rocks the cradle rules the world"। इसके अतिरिक्त जो पाठ कि गुरु के डण्डो-द्वारा भी अभ्यस्त नहीं होता, उसे माता सहज ही में पुचकार और दुलार से पढा देती है। अत. यह भलीभाँति अनुमान किया जा सकता है कि केवल स्त्री-समाज के दोषो के निराकरण से समाज के सिर का कितना बोझ हलका हो जाता है। यदि स्त्रियों को समाज का कर्णधार कहा जाय, तो मेरी समझ मे कुछ भी अतिशयोक्ति न होगी। देखिए—

"पृथिव्यां यानि तीर्थानि सतीपादेषु तान्यपि,
तेजश्च सर्वदेवाना मुनीनां च सतीषु च।"

अर्थात्, पृथिवी के समस्त तीर्थ सती के पैरों में विद्यमान हैं और सब देवताओं और मुनियों का तेज सती मे होता है।

यदि हमें अपने देश तथा जाति को उन्नति की ओर अग्रसर करना हो, तो पहले स्त्री समाज को सुधारकर नये रूप से परिष्कृत करना अत्यावश्यक है।

शिक्षा एक ऐसी चीज है कि बुरी से बुरी प्रकृति को बदलकर विशिष्ट बना दे सकती है। अत अपने कार्य-क्षेत्र में स्त्रियो के साथ हाथ बटाकर शीघ्र ही सफलता प्राप्त करने के लिए हमे चाहिए कि उन्हे यथोचित शिक्षा से भूषित करें। स्त्री-शिक्षा का प्रश्न आजकल हम लोगो के लिए बहुत महत्त्व का हो गया है, क्योकि इसका अभाव बहुत ही अनिष्टकर हो रहा है। पर यहाँ पर 'शिक्षा' शब्द से लोग आधुनिककालिक पाश्चात्य विद्यावाले विश्व-विद्यालयो की शिक्षा समझकर बड़ी भूल कर रहे हैं। मेरा यह आशय नहीं है कि इन विश्व-विद्यालयों मे स्त्रियाँ पढने के लिए भेजी जायँ। जिस संस्था मे हमारी सुकेशी, पाउडर-चर्चितवदना, सुमध्यमा, तन्वाङ्गी, युवक-मण्डली सगठित होती है उसी संस्था मे बहू-बेटियो को भेजकर क्या आशा की जा सकती है? * स्त्री और पुरुष की शिक्षाओ का एक रूप होना श्रेयस्कर नही है। स्त्री और पुरुष का जीवन-कार्य-क्रम एक-दूसरे से भिन्न है। एक ही समाज के दो समान अङ्ग होते हुए भी दोनों की क्रियाओं मे विभिन्नता है। इसलिए स्त्री और पुरुष की शिक्षा का एक होना कैसे ठीक हो सकता है?

आजकल हमारे देश मे दम्पती के बीच परस्पर

* इस सम्बन्ध में देश में काफ़ी मत-भेद है। हमारी समझ में, आज जो दशा है उसको देखते हुए, फिलहाल बड़ी उम्र के लड़के-लड़कियों का साथ-साथ पढ़ना तो अवांछनीय ही है। —सम्पादक।

अधिकार का प्रश्न भी उठा करता है। यह कोरी पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव है। हमारे भारतवर्ष में स्त्री और पुरुष में कर्त्तव्य-प्रति-कर्त्तव्य का सम्बन्ध अभीष्ट है। भगिनी निवेदिता का कहना है—

"Wifehood is thought great in giving and not in receiving"—पत्नीत्व प्रदान करने के रूप में महान् है, न कि प्राप्त करने के।

हर एक विषय में पश्चिम का अनुकरण करना हमारे लिए हितकर नहीं है। विचारशील सज्जन इसको ध्यान से सोचें—"In Europe she has an independent individulity In India it is not so, she is a part of man and can not be separated"—अर्थात्, यूरोप में तो उसका (स्त्री का) स्वतन्त्र व्यक्तित्व है, पर भारत में ऐसा नहीं है—यहाँ तो वह पुरुष का एक अंग—अर्धाङ्ग—है, और उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। अतएव हमें प्रत्येक बात में पश्चिम ही का अनुकरण करने के बजाय महारानी मयूरभंज की इस सलाह पर ध्यान देना ज्यादा हितकर होगा—

"बहनो ! हमें प्रगति करना है, पर देश और अपने आपके प्रति सच्चे रहकर। हमें अन्य राष्ट्रों से सबक़ सीखना है, पर अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए। आइए, हम सेवा के लिए, अपने आपको अर्पण कर दें और भारत में परमात्मा के पुण्य धाम की रचना करें।"

ऐसा करने से हमारी बहनें न केवल अपना ही भला करेंगी, बल्कि हम पुरुषों को भी, जो कि बहुत-बहुत नीचे गिर चुके हैं, ऊपर उठायँगी—और, समष्टि रूप से, हमारे देश भारत का पुनरुत्थान करने में भी सहायक होंगी।

राजेन्द्रप्रसाद

वेश्यावृत्ति कैसे मिटे ?

पता नहीं कितने प्राचीन काल से वेश्यावृत्ति की प्रणाली चली आई है। प्राचीन होने के कारण ही जनता का ध्यान इस ओर विशेष आकृष्ट नहीं हुआ। हमारे देश के मनुष्यों में प्राचीनता के प्रति उचित से अधिक अन्ध-भक्ति है। कोई बात कितनी ही बुरी और हानिकारक क्यों न हो, परन्तु यदि वह प्राचीन काल से प्रचलित है तो जनता उसके गुणावगुण पर विचार करने का कष्ट नहीं उठाती। मैं इस बात को कदापि नहीं मानती कि प्राचीन काल के सब ही रीति-रिवाज और प्रणालियाँ हेटी अथवा त्याज्य हैं और दोषपूर्ण हैं। परन्तु मैं "बाबा वाक्य प्रमाणम्" के सिद्धान्त की भी सर्वेसर्वा पक्षपाती और समर्थक नहीं हूँ। यह संसार आदि-सृष्टि से ही बुराई और भलाई का मिश्रित क्षेत्र है। मनुष्य इस सृष्टि का सबसे उच्च और श्रेष्ठ प्राणी है। परन्तु इस उच्चता और श्रेष्ठता के साथ ही उसमें स्वार्थपरता, पक्षपात आदि अनेक मानसिक दुर्बलताओं के साथ अनेक प्रकार की भूल-चूकों का होना इत्यादि अवगुण भी लगे हुए हैं। फिर यह मान बैठना कितनी भारी भूल है कि प्राचीनकाल के मनुष्यों ने जितने कार्य किये वे सब सोलहो आने ठीक ही थे ?

मनुष्य अपनी मानवी दुर्बलता के कारण कई बार मोह में फँसकर अनुचित कार्य कर बैठता है। परन्तु यह जानकर भी कि मैं अपराधी हूँ, वह अपनी दुर्बलता के कारण उसपर पर्दा डालते हुए दूसरों को अन्धा बनाकर अपने को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा किया करता है। इस कारण यह सिद्धान्त विशेष माननीय, उपयोगी, और उन्नति-कारक एवं मान्य है कि जब कोई विचारणीय प्रश्न

मनुष्य के सम्मुख उपस्थित हो तो वह केवल प्राचीनता पर ही विश्वास करके उसका समर्थन न करे। प्राचीन और अर्वाचीन दोनों की समता करते हुए अपनी सद्सद्विवेक-बुद्धि से निर्णय करना ही उत्तम है।

वेश्यावृत्ति उचित है या अनुचित, इसका विचार भी यहाँ पर केवल इसी दृष्टि से किया जायगा।

यह देखा जाता है कि भारतीय महिला-मण्डल अपने पावन सतीत्व-धर्म के लिए देश मे ही नहीं बल्कि विदेशों तक मे पूजनीय, प्रसिद्ध और आदरणीय है। यदि कोई गुण्डा किसी की बहन-बेटी की ओर कुदृष्टि से देख ले, या कोई अश्लील शब्द कह दे, तो संरक्षकगण मरने-मारने पर उतारू हो जाते हैं। यदि कोई स्त्री किसी पुरुष के साथ हँसी-ठट्ठा या वार्तालाप करती देख ली जाय, तो वह पतित समझी जाने लगती है। और इस पतन के कारण ही वह पति तथा परिवार के अन्य व्यक्तियों द्वारा बहिष्कृत तक कर दी जाती है। यदि कोई पूछे, 'भाई' अमुक स्त्री का क्या अपराध था?' तो उत्तर मिलता है, उसका चरित्र अच्छा नहीं था, अमुक व्यक्ति के साथ हँसी-ठट्ठा करती थी, इत्यादि। इस पावन सतीत्व-धर्म की रक्षा के लिए ही अनेक महानुभाव अपनी बहू-बेटियों को ऐसे पर्दे वाले तहखानों के अन्दर बन्द रखते हैं, जहाँ सूर्य का प्रकाश तक नहीं पहुँच सकता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस पावन सतीत्व धर्म की रक्षा के कारण ही सहस्रों राजपूत बालाएँ जीवितावस्था में ही अपने सुवर्ण-सम तथा अमूल्य देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीर को जला-जलाकर खाक हो गईं।

परन्तु, शोक! महाशोक!! जिस पावन सतीत्व धर्म की रक्षा के लिए एक ओर नारी-मण्डल ने इतना भारी—प्रिय प्राणों का—बलिदान किया और पुरुष-समाज को जिसकी रक्षा की इतनी भारी चिन्ता है; जिसके लिए वह सदैव मर-मिटने को उद्यत रहता है, वही पावन सतीत्व धर्म दूसरी ओर संरक्षक और हितचिन्तक पुरुष-समाज के ही द्वारा नष्ट किया जाता है, बाजार मे सस्ते मूल्य बिकता है, और उसकी अमूल्यता, उसकी रक्षा एवं पवित्रता की ओर लेश मात्र भी ध्यान नहीं दिया जाता! कितने दुःख, कितने शोक, कितनी लज्जा, कितने अनर्थ, कितने अन्याय, कितने अन्धेर और कितने भारी अधर्म की बात है? एक ओर जो व्यक्ति अपनी बहन-बेटी पर कुदृष्टि तक डालने वाले गुण्डे की जान लेने पर उतारू था, दूसरी ओर वही स्वयं जाकर खुले बाजार दूसरे की बहन-बेटी का सतीत्व नष्ट करने मे लेश-मात्र भी संकोच नहीं करता!

शोक के साथ लिखा जाता है कि "आत्मवत् सर्वभूतेषु, मातृवत् परदारेषु" की उक्ति मानने और बात बात में धर्म की दुहाई देने वाला पण्डितवर्ग भी हमारी इन अभागी (वेश्या) बहनों की इस घृणित, लज्जाजनक, हेय, अपमान और नैतिक पतनकारक वृत्ति की ओर ध्यान देने का कभी कष्ट नहीं उठाता।

उच्छृंखल, कामलोलुप, अविवेकी और व्यभिचारी व्यक्तियों के द्वारा ही किसी काल मे इस घृणित तथा लज्जाजनक नीच वृत्ति की प्रथा प्रचलित हुई होगी जिसके मूल मे स्वार्थ-साधन और कामवासना की पूर्ति के सिवाय और कोई तत्त्व नहीं। मेरी समझ मे प्रत्येक विचारशील सुधारक को स्त्री-सुधार के इस आवश्यक प्रश्न पर विचार करते हुए इसे समूल नष्ट करने की भरसक चेष्टा करनी चाहिए।

हमारे देश-नेताओं और सुशिक्षित महिला-समुदाय को इस ओर से उदासीन रहना उचित नहीं। उनका कर्तव्य है कि अपनी वेश्या बहनों को सतीत्व का महत्व बतलावें, उन्हें इस नीचातिनीच वृत्ति से घृणा करावें, और अपने परम-पावन उपदेशों द्वारा

उन्हें इस कुकर्म से छुड़ाने का हर प्रकार से प्रयत्न करें। समाज-सुधार-सम्मेलनों के सभापतियों और महिला-परिषदों की सभानेत्रियों से मेरा यह साग्रह निवेदन है कि इस प्रश्न पर प्रत्येक स्थानपर विचार करें और देश के नर-नारियों का ध्यान इस ओर आकर्षित करने की चेष्टा करते हुए इस सामाजिक कलंक को जाति के मस्तक से मिटाने और स्त्री-जाति के उस पावन सतीत्व की रक्षा के लिए समाज मे एक बृहत आन्दोलन का आयोजन करें।

वेश्यागामी भाइयो ! सोचो, विचारो, ध्यान दो, और विवेकशीलता से काम लो। वेश्या-गमन कितना लज्जाजनक और घृणित कुकर्म है ? जिस नारी-जाति के पावन सतीत्व के कारण भारत का नाम गौरव के साथ लिया जाता है, ये आपका वेश्या बहनें भी उसी जाति का अग हैं—ये भी अपनी माताओ की प्यारी पुत्रियाँ हैं—अपने भाइयो की प्यारी बहनें हैं—आपके घरो मे रहनेवाली देवियो के समान इनका सतीत्व भी अमूल्य, पवित्र और आदरणीय एव रक्षणीय है।

प्यारी बहनो ! विचार करने का विषय है, ये वेश्या बहने, जिन्हे आप बाजारू औरते, रण्डियाँ, वेश्याये, पेशा करने वाली और कचनिया आदि नामो से सम्बोधन करती हैं, जिन्हे देखकर नाक-भौह सिकोड़ती हैं और हँसी उडाती एव घृणा करती हैं, आपका ही अंग, आपकी ही सन्तान, आपकी ही सहोदरा हैं। इनमे आपका ही रक्त-मांस और सर्वांश है। इनका अपमान आपका ही अपमान है। अत इस कारण इनके सुधार का पूर्ण प्रयत्न करो। जबतक देश मे एक भी स्त्री वेश्यावृत्ति करती है, तबतक स्त्री-समाज को अपनी सतीत्व-रक्षा का अभिमान करना व्यर्थ है। जिस देश की नारियाँ पेट के लिए अपना अमूल्य पावन सतीत्व खुले बाजार बेच रही हो, क्या वह देश धार्मिकता और विवेक-शीलता का दम भर सकता है ? हर्गिज नही।

इस बात की आवश्यकता है कि महिला-परिषद् के अन्तर्गत एक 'अखिलभारतीय वेश्या-सहायक समिति' की स्थापना हो और देश-भर की सुशिक्षिता बहनें, जो विदेशो तक में घूम चुकी है, इस गम्भीर तथा आवश्यक प्रश्न पर विचार करके एक बृहत् धन-राशि एकत्र करें और एक उपदेशक-मण्डली बनावें, जो स्थान-स्थानपर घूम-घूमकर वेश्या बहनो को उपदेश करे और उनसे पूछे कि "आप किस कारण से और किस लाभ के लिए यह वृत्ति करती हैं?" जो बहनें पेट पालने के लिए यह घृणित कार्य करती हैं, उन्हे सहायता देते हुए किसी अन्य उद्योग-धन्धे मे लगने का सदपरामर्श दिया जाय। जो बहनें केवल कामवासना की पूर्ति के लिए सदाचार से विमुख होकर वृत्ति करने लगी हैं, उन्हे सदाचार का महत्वपूर्ण उपदेश देकर विवाह करके नियमपूर्वक रहने की सम्मति देना ही श्रेयस्कर मार्ग है।

इस प्रकार का देशव्यापी आन्दोलन करने से इन घृणित वृत्ति करने तथा नारकीय जीवन व्यतीत करने वाली बहनो का बहुत-कुछ उद्धार हो सकता है। एव भारतीय नारी-मण्डल के इस अंश की सतीत्व-रक्षा के साथ ही यहाँ का वह पुरुष-समुदाय, जो खुले बाजार व्यभिचार-वृत्ति मे लज्जा, शका, भय और घृणा नही करता, इस पतनकारक भयकर पाप से बच सकता है। जो सक्रामक रोग व्यभिचार द्वारा ही शरीर मे प्रविष्ट होकर मनुष्य के जीवन का नाश कर देते हैं—गर्मी, सूजाक, भगन्दर आदि—उनको सक्रामकता भी रुक सकती है। क्योंकि वेश्याओ द्वारा ही वे भारतवर्ष में बहुतायत से फैल रहे हैं।

——— हुक्मादेवी छात्रा

अबला-औद्धत्य

स्त्रियो मे शिक्षा के साथ-साथ उच्छृंखलता की मात्रा भी बढती जा रही है, यह विचार लोगो के मस्तिष्क मे धीरे-धीरे जड़ पकड़ रहा है। और यदि वस्तुस्थिति ऐसी ही बनी रही, अर्थात् यदि स्त्री-पुरुषो की गलतफहमी को सुलझाने की चेष्टा न की गई, तो यह असम्भव नहीं कि शीघ्र ही मनुष्यता के इन दोनो अगो के बीच वैमनस्य की एक दीवार खड़ी हो जाय।

मुस्लिम काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक भारतीय समाज एकागी था। समाज-मच का एकमात्र खिलाड़ी पुरुष था, स्त्रियो का नेपथ्य से बाहर निकलना अभिनय के विरुद्ध था। घर की दीवार के परे क्या है, पुरुष बाहर जाकर क्या करते हैं, इत्यादि बातो की जिज्ञासा गृहिणियो के लिए अनधिकार-चेष्टा समझी जाती थी। इस कथन मे कुछ भी अत्युक्ति नही कि स्त्रियो का स्थान पशुओं से भी गया-बाता था।

यद्यपि परिस्थिति मे अब भी कोई महत्वशाली परिवर्तन नही हुआ है, तो भी कतिपय सहृदय विचारशील व्यक्तियो के मन मे यह भावना उदय हो चली है कि स्त्रियो मे भी पुरुषो के समान ही अन्तरात्मा होता है। यद्यपि इस देश मे इग्लैण्ड इत्यादि की भाँति स्त्रियो ने कोई खुल्लमखुल्ला आन्दोलन नहीं किया, परन्तु थोडे ही समय मे उन्होने यह सिद्ध कर दिखाया है कि पुरुषो के बराबर सहूलियते प्राप्त होने पर वे भी समाज की सदस्यता के योग्य हो सकती हैं। दूसरी ओर पुरुषो को परम्परागत स्वत्वो के छिन जाने का भय होने लगा, अतएव उन्होने स्त्रियो को सामाजिक जिम्मेवारियो के अयोग्य ठहराने का आन्दोलन आरम्भ कर दिया है। वर्तमान कलह का यह संक्षिप्त इतिहास है।

अब इस समस्या को हल करने के दो उपाय हो सकते हैं, या तो स्त्रियाँ पुन अपने पुराने क़ैदखानो को लौट जाँय, अथवा गर्वहीनता और सहन-शीलता के साथ प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्र मे उन्नति करता जाय। मुझे यह दूसरी बात ही अधिक पसन्द है।

यद्यपि यह कहते सकोच होता है कि सभी अवसरों पर पुरुष समानता का व्यवहार प्रदर्शित नहीं करते, पर बात है सच। अकसर उन्हे इस बात की शिकायत रहती है कि थोडा-सा भी पढ़ लेने पर स्त्रियाँ घमंड से फूल उठती हैं, उनमे फ़ैशन का भाव उत्पन्न हो जाता है, बात-बात मे तुनुक मिजाजी और चिड़चिडापन जाहिर होने लगता है, इत्यादि इत्यादि। यहाँ तक कि पुरुष कालेज मे पढ़ने वाली लड़कियो के चरित्र पर भी लाछन लगाने में नहीं हिचकते। मै पूछती हूँ, क्या ये अवगुण शिक्षित स्त्रियो के ही लिए सुरक्षित हैं? कर्कशता का आधिक्य प्राय अशिक्षिताओं मे पाया जाता है, शिक्षा के साथ मिथ्या दर्प नही बल्कि स्वावलम्बन का भाव बढ़ता है और यह पुरुषो को सह्य होना चाहिए। रही फ़ैशन की बात। सो अपढ़ औरतो का फ़ैशन है गोटा ठप्पा, चोटी-बिन्दी, और जर-जेवर, पढ़ी-लिखियो का फैशन है जूता, मोज़ा, साड़ी इत्यादि। फैशन का भाव दोनो मे ही पाया जाता है, केवल रुचि की विभिन्नता है। स्त्री सुलभ किसी भी भाव-भावना को शिक्षा या उपदेश न तो निकाल सकते हैं, और न निकालना उचित ही होगा। बोलचाल-सम्बन्धी शिकायत को मैं मानने को तैयार हूँ, यदि स्त्रियो के लिए मुहावरेदार और शिष्ट भाषा का प्रयोग करना अपराध है, तो निःसन्देह शिक्षित महिलायें इसकी भागिनी हैं। परन्तु यह कैसा अनर्थ कि शिक्षा से लड़कियाँ दुश्चरित्र हो जाती हैं! शिक्षा का तो अर्थ ही चरित्र-निर्माण

है। फिर एक बात यह भी है कि दूसरे की आँख का तिल देखना सरल है, पर अपनी आँख का शहतीर किसीको नहीं दीखता। क्या लड़कों के किसी भी कालेज का प्रिंसिपल ईमानदारी के साथ यह कह सकता है कि उसकी संस्था के बीस प्रतिशत भी विद्यार्थी मनसा-वाचा-कर्मणा पवित्र हैं ? यही बात फैशन और गर्व की है। नये फैशन की ओर लड़के-लड़कियों का झुकाव एक-सा ही हो रहा है। जब पुरुष अचकन पहनते थे, तब स्त्रियाँ लहँगे पर सन्तुष्ट थीं, जब पुरुषों ने कोट-पेण्ट धारण किया, तब स्त्रियाँ भी साड़ी और शू की इच्छा करने लगीं।

यदि शिक्षा से लड़कों को कोई हानि नहीं होती, तो लड़कियों को भी नहीं होनी चाहिए। वे किसी विपरीत सृष्टि का जीव नहीं। यदि किसी संस्था-विशेष की छात्राओं में उद्दण्डता की मात्रा अधिक पाई जाती हो, तो इसका कारण उनकी शिक्षिकायें हैं। औद्धत्य का इलजाम न तो शिक्षा पर और न छात्राओं पर लगना चाहिए, बल्कि इसका उत्तरदायित्व उन अर्धपठित अध्यापिकाओं पर है, जो प्रायः गृहस्थ के ललित आदर्शों और महिलाजनोचित सद्गुणों से अपरिचित होती हैं। बहुधा शिक्षिकाओं के चुनाव में बड़ी असावधानी और कजूसी की जाती है। घर-गृहस्थी वाली तथा ऊँचे खानदान की महिलाओं को नौकरी करने के लिए पहले तो समय ही कम मिलता है, फिर उस वेतन में उनका निर्वाह भी नहीं होता, जो प्रायः स्कूलों की अध्यापिकाओं को दिया जाता है। पाठशाला के अधिकारीवर्ग अधिक वेतन देना पसन्द नहीं करते, फलतः अधिकांश अविवाहिता 'मिसें' ही शिक्षा-विभाग में भर जाती हैं। इन "मिसों" को हिन्दू गृहस्थों के रस्म-रिवाज का बहुत कम ज्ञान रहता है। वे यह जानती ही नहीं कि बेटियों का क्या आचार-व्यवहार होना चाहिए, बहुओं को कैसे उठना बैठना चाहिए, बड़ी-बूढ़ियों के मान-सम्मान में कैसी सावधानी रखनी चाहिए, इत्यादि। पुस्तकीय ज्ञान के साथ साथ व्यावहारिक शिष्टता की शिक्षा भी अत्यावश्यक है। दूसरी बात मैं यह निवेदन कर देना चाहती हूँ कि यद्यपि मैं जातीय भेद भाव की पक्षपातिनी नहीं हूँ, तो भी मेरी सम्मति में जिन पाठशालाओं में हिन्दू छात्राओं की संख्या अधिक हो उनमें हिन्दू अध्यापिकायें ही रक्खी जायँ, क्योंकि हिन्दू-समाज के आचार-व्यवहार का ज्ञान अन्य धर्मावलम्बियों को नहीं हो सकता। शिक्षा-विभाग में प्रायः ईसाई अध्यापिकाओं की संख्या अनुपात से अधिक पाई जाती है। मैं इस बात का विरोध करती हूँ, और किसी विचार से नहीं, केवल उपर्युक्त कारण से।

बोर्डिंगहाउसों का भी मेरी दृष्टि में विशेष लाभ नहीं। लड़कियों को माता-पिता की कड़ी निगरानी में ही रहना चाहिए। पाठ्य पुस्तकों के चुनाव में भी बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। रसायन, भूगोल और भौतिक विज्ञान से पहले सदाचार, सलीके, और सादगी की शिक्षा दी जानी चाहिए। स्त्री-शिक्षा पर मैं अपने विचार 'त्यागभूमि' की किसी पिछली संख्या में प्रकट कर चुकी हूँ।

अन्त में, शिक्षिता महिलाओं को मैं पुरुषों के इस 'अबला-औद्धत्य' वाले लाञ्छन के प्रति सावधान करती हूँ। स्त्रियों को चाहिए कि अपनी सौम्यता और सज्जनता के आदर्श उपस्थित करके इस इलजाम को नितान्त मिथ्या सिद्ध कर दें।*

ब्रह्मावर्तीदेवी भटनागर

---

* इस लेख के कई विचार विवादास्पद हैं। इस सबंध में हम अन्यत्र अपने विचार प्रकट करेंगे।—सम्पादक

नेपोलियन की जननी

बालक के कोमल हृदय पर जितना अपनी जननी के विचारों का प्रभाव पड़ता है उतना शायद ही किसी और का पड़ता हो। मनुष्य का भावी जीवन—उन्नति तथा अवनति का सबसे बड़ा स्थान—उस माता ही की शिक्षा और बुद्धि का प्रतिफल होता है। उसका जीवन उस दर्पण के समान है, जिसमे उसकी माता का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। यह उस असीम प्रेम तथा बालक के भविष्य ही की चिन्ता का ज्वलन्त उदाहरण है कि बालक अथवा बालिका स्वभावत जन्म ही से माता की ओर अधिक आकर्षित होते हैं।

यह सब जानते हुए हम कहते हैं कि हमको किंचित भी विस्मित न होना चाहिए कि बालकगण अपनी माता की एक प्रेममयी मन्द मुस्कान से जितने प्रभावित होते हैं, तथा जितना बड़ा पाठ ग्रहण करते हैं, वे शायद ही कभी भविष्य मे किसी महाज्ञाता अथवा पुस्तक-भण्डार से ग्रहण कर सकें।

ससार को समय-समय पर जिन मनुष्यों ने अपने उच्च तथा महत्वपूर्ण कार्यों और चरित्रो मे आभूषित किया है, उनमे से फ्रास के प्रसिद्ध वीर नेपोलियन बोनापार्ट का स्थान अद्वितीय है। उस सेनापति, राजनीतिज्ञ और राज्य प्रबन्ध में दक्ष पुरुष को एक साधारण सैनिक से इतने उच्च सम्राट् के पद पर पहुँचने मे उसकी माता की प्रारम्भिक शिक्षा तथा स्वय के आदर्श चरित्र ने कितनी सहायता की, यह स्वय नेपोलियन के एक वाक्य से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। उसके उस अभेद्य वाक्य का फ्रासीसी से हिन्दी मे अनुवाद है—"बालक का भावी भला तथा बुरा चरित्र माता के ऊपर निर्भर करता है।" अस्तु।



रोमोलिनी लेटीशिया

लेटीशिया रोमोलिनी उसकी आदर्श जननी का नाम था। और उसके पति का नाम था चार्ल्स बोनापार्ट।

इतिहास पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस समय कोर्सिका द्वीप के वातावरण मे काले बादल छाये हुए थे। एकान्त निवासी कोर्सिकन उस समय (१७६७ ई० तक) इटली राज्य की प्रजा थे और वेश-भूषा तथा भाषा और साधारण रहन-सहन मे वस्तुत वे इटालियन ही थे। परन्तु १७६७ मे उस शान्त प्रदेश पर कालदृष्टि पड़ी और फ्रास राज्य उनकी स्वाधीनता हरण करने को तत्पर हो गया।

ऐसे युद्धो मे—जैसा सदा ही से होता आया है—देश-प्रेमियो की बलि और उनकी कीर्त्ति अमर होती है। ऐसा ही वहाँ भी हुआ।

देशभक्त पाओली तथा लेटीशिया के पति चार्ल्स ने एक सैनिक सगठन करके शत्रु का सामना किया।

परन्तु, दुर्भाग्य; ईश्वर उन शान्ति प्रिय कोरसिका-निवासियों को फ्रांस के अधीन ही देखने मे सन्तुष्ट था। वह छोटी-सी देशभक्तों की सेना शत्रुओं के प्रबल वेग को न रोक सकी और कई स्थानो पर अपने मनुष्यों की बलि देकर उसने हार स्वीकार करली।

लेटीशिया केवल एक आदर्श माता ही न थी, वरन् एक आदर्श अर्द्धांगिनी भी थी। उसने ऐसी विकट अवस्था में अपने पति के साथ घोड़े पर रहकर उसकी सहायता की। युद्ध में और फिर हारे हुए सैनिकों को जितने कष्ट मिलते हैं उन सबको शान्ति-पूर्वक सहन करने में लेटीशिया ने किसी पुरुष से कम वीरता नहीं दिखलाई।

ज्यों-त्यों करके युद्ध समाप्त हुआ। लेटीशिया के उदर से, नेपोलियन का जन्म युद्ध के समाप्त होने के दो सप्ताह बाद हुआ, और उसके बाद ६ बालक-बालिका और पैदा हुए।

अब उस स्त्री के चरित्र का सबसे महत्वपूर्ण भाग प्रारम्भ होता है।

चार्ल्स को उन्माद-रोग ने आ घेरा और उसकी उसीमे मृत्यु हो गई। आठ पुत्री-पुत्रों के लालन-पालन का भार उस अकेली स्त्री पर आ पड़ा। आर्थिक स्थिति की कठिन समस्या की पूर्ति नेपोलियन के चाचा की सहायता से बहुत-कुछ हो गई। तब उसने अपने बालकों को सच्चरित्र तथा सात्विक मनुष्य-जीवन की शिक्षा देने मे निरन्तर प्रयत्न किया और उसमें सफल भी हुई। प्रत्येक बालक उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करने में सबसे आगे था।

यद्यपि उसे स्वप्न में भी शायद ही यह ध्यान आया हो कि उसके इन आठ बालकों के नाम से यूराप के निरंकुश शासक थर्रा उठेंगे और अपने मस्तक को झुकाकर उनका आदर करेंगे, तो भी उसने उनको वीरोचित तथा ऐसी शिक्षा दी, जो मनुष्य के किसी भी प्रकार के जीवन में काम आसके।

आठों भाई-बहन यद्यपि किसी प्रकार से भी अपनेको धनी बालकों से कम नहीं पाते थे, तो भी उन्हें कुछ बाल-सामग्री अपनी क्रीड़ा के लिए मोल लेने की आवश्यकता थी। पर पैसा माँगने पर उनके चचा का सदा ही यह उत्तर होता था—"मेरे पास पैसा-वैसा तो है नहीं। हाँ, ज़मीन, मकान, बाग़ हैं।"

मकान मे एक आले पर कुछ सिक्कों से भरी थैली रक्खी थी। अपने चचा को तंग करने के लिए बालकों ने अपनी सबसे छोटी बहन को सिखलाया कि अबकी बार जब वह पैसा माँगें तब वह उस थैली को गिरा दे। ऐसा ही हुआ।

क्रोध तथा लज्जा से रुद्धकण्ठ चचा एक कोने में खड़ा था और बालकगण पैसे बीनने में लगे थे। ऐसे ही समय कमरे में लेटीशिया आगई। माता की एक दृष्टि ने उनका सारा कार्य बदल दिया और पैसे जेब में जाने के बजाय फिर थैली में रक्खे गये और थैली भी नियत स्थान पर रख दी गई।

बालक लेटीशिया की आज्ञा किसी डर के कारण मानते हों, सो बात नहीं, वे उसकी आज्ञा पालन करने में एक प्रकार का आनन्द पाते थे।

लेटीशिया में स्वाभिमान भी उतना ही था, जितना एक आदर्श स्त्री मे होना चाहिए। नेपोलियन जब सम्राट् होगया था, तब एक बार उसने हँसी में अपना हाथ अपनी माता के सन्मुख बढ़ा दिया—जिसका अर्थ था कि वह उसका चुम्बन करे। उस समय की प्रथा थी कि राजो-महाराजों के हाथ का उनके सभासदगण चुम्बन किया करते थे। ऐसे समय स्वाभिमानी लेटीशिया का उत्तर उसके हृदय की सरलता तथा महान् आदर्श का द्योतक है। उसका उत्तर था—"वत्स! मैंने तुमको जन्म दिया

है, इसलिए तुम्हें मेरा हाथ चूमना चाहिए।" और, यह कहकर, उसने अपना हाथ आगे बढ़ा दिया।

नेपोलियन को अपनी माता से कैसा अगाध प्रेम था, तथा उसमें कितना असीम विश्वास था, यह उसने सेंट हेलेना की बन्दी अवस्था में अपने एक वाक्य में कहा है—"यदि मेरी माता को मुझे छुड़ाने में अपने शरीर का वस्त्र भी बेचना पड़े तो वह इससे भी संकुचित न होगी।" अस्तु।

नेपोलियन के मरने के एक साल बाद, १८२२ ई० में, इस आदर्श स्त्री की मृत्यु हो गई। परन्तु इसके आदर्श जीवन की गाथा आज भी स्फूर्ति प्रदान कर रही है।

सूर्यप्रसाद

महाराष्ट्र की स्त्रियाँ

अलंकार की भाषा में कहा जाता है कि राष्ट्र के पालने की रस्सी स्त्रियों के हाथ में है। आर्य स्त्री के वैभव के वर्णन में हम चाहे जितने लेख क्यों न लिखें, वास्तव में आज भारत की स्त्रियों में इस कार्य की क्षमता और यह रस्सी हाथ में लेने की योग्यता क्वचित् ही दिखाई देती है। कहा जाता है कि उत्तरी हिन्दुस्थान में पर्दे की प्रथा ने स्त्रियों को अज्ञान-पंक में डुबो दिया। सौभाग्य से दक्षिण की महिलायें पर्दे के बन्धन में नहीं फँसी हुई हैं, फिर भी यदि कोई यह समझ ले कि इस कारण महाराष्ट्रीय महिलायें सुशिक्षित, ज्ञानी और कार्यक्षम होंगी, तो यह वस्तुस्थिति के अनुसार नहीं होगा। महाराष्ट्र में पर्दे की प्रथा जारी नहीं है, मिश्र समाज में स्त्रियों को कोई रोक-टोक नहीं है, तो भी साधारणतः सौ में ९० स्त्रियाँ अपनी पुरानी रूढ़िजन्य दिनचर्या में ही सुख मानने वाली, शिक्षा-प्रसार के प्रतिकूल, नवचैतन्य के विस्तार की ओर खास शत्रुता से नहीं तो भी उदासीन दृष्टि से देखने वाली ही मिलेंगी। नूतन चैतन्य से भरी हुई अगर मिलें तो पूना, बम्बई इत्यादि प्रधान और उद्योगोन्मुख शहरों में ही मिलेंगी। पर भारतवर्ष की अधिकांश जनता तो ग्रामवासी है, न कि नगरवासी। और कुछ भाग्यवान नगरवासी महिलाओं को छोड़कर ग्रामों में यदि दृष्टिपात किया जाय तो बहुतेरी स्त्रियाँ अज्ञान और अक्षर-शत्रु ही पाई जायँगी।

पुरानी प्रणाली में ही दिन काटने वाली ऐसी ग्रामवासी स्त्री के जीवन में प्रतिदिन की दिनचर्या के अतिरिक्त कोई नवीनता शायद भाग्य से ही कभी दिखाई पड़ती होगी। सवेरे से शाम तक अपने गृह-कृत्य में लगी रहने के कारण ऐसी गृहिणी को शायद ही बाहरी संसार की ओर नजर डालने का अवसर मिलता होगा। सवेरे से गृह की सफाई, सम्मार्जन, कुएँ से पानी लाना, दोनों ही समय का रन्धन-कर्म, बच्चों की रक्षा और शिक्षा इत्यादि आवश्यक गृह-कृत्यों में ही उसका सारा दिन व्यतीत होता है। नगरवासियों के आराम के साधन ग्रामों में कहाँ? इस कारण ग्रामवासी-जन भी अज्ञान-मग्न रहते हैं, तो फिर स्त्रियों का तो कहना ही क्या? न तो वे पुस्तकें पढ़ सकती हैं, न अखबार; न विद्वानों के नाम जानती हैं, न भूमण्डल की अवस्था। उनका जीवन भर्तृहरि के वचन के अनुसार पशु-समान ही व्यतीत होता है।

महाराष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में जिन स्त्री-रत्नों का नाम प्रसिद्ध है, उन पाँच-दस स्त्रियों के अतिरिक्त सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वाली विरली ही हैं। सार्वजनिक जीवन का महत्व जानकर अपने राष्ट्र के लिए अपनेको कुछ-न-कुछ करना है, यह कर्त्तव्य की ज्योति हृदय-दीप में प्रज्वलित होवे, इतनी भी

शिक्षा पाने वाली स्त्रियाँ बहुत ही कम होती हैं। महाराष्ट्र में स्त्री-शिक्षा-प्रचार के लिए बहुत-से प्रयत्न हो रहे हैं और शिक्षा पाने वाली लडकियो की संख्या प्रति मास बढ़ती ही जाती है। बम्बई प्रान्त में सन् १९११ मे एक हजार में १४ स्त्रियाँ शिक्षिता थी, परन्तु १९२१ मे यही सख्या २७ तक बढ़ गई है। गत पीढ़ी और आज की नई उदयोन्मुख पीढ़ी मे भी यह भेद स्पष्ट-रूप से दिखाई पड़ता है और उम्मीद है कि यह उत्तरोत्तर अधिक स्पष्ट होता जायगा।

बाल-विवाह के कारण लडकियो की शिक्षा एकदम रुक जाती है। विवाह के योग्य वय की मर्यादा धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। उच्चवर्णीय लोग इसे बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं और परिस्थिति भी इसके अनुकूल होती जा रही है। परन्तु निम्न-वर्णों मे जो स्थिति सौ साल पहले थी वही आज भी है। बाल-विवाह जैसे सर्व अमानुष प्रकार उनमें मौजूद हैं। यह प्रथा बहुत-सी लडकियो का सर्वनाश कर रही है और साथ ही दहेज की कृतान्त-काली मुँह फैलाये हुए लड़कियो का बलिदान लेने को बैठी है। दहेज का यह कठोर रीति नर्मदा के उत्तर में जितनी दु:खदायी बन गई है उतनी ही वह नर्मदा के दक्षिण मे भी ताण्डव कर रही है और सारे कुटुम्बी भय के मारे हैरान हो गये हैं। कई सुशिक्षित और विद्वान् महानुभावों ने विवाह-समय दहेज लेने से स्वयं इन्कार करके अनुकरण-योग्य और आदरणीय उदाहरण पेश किये हैं, किन्तु आज उनके कृत्यो को सफलता कम दिखाई पड़ती है। हाँ, यह बात जरूर माननी पड़ेगी, और इस प्रथा के पक्ष मे इतना कह सकते हैं, कि इसके सबब महाराष्ट्र में स्त्री-शिक्षा का प्रचार भी होता जा रहा है। जब लड़कियाँ और लड़के पढ़े-लिखे होते हैं, सुशिक्षा का प्रभाव हृदय पर पड़ता जाता है, तब दहेज का भयानक स्वरूप ज्ञात होते ही उसका प्रतीकार करने की कोशिश करते हैं। इसी कारण लड़कियों को अपनी मातृ-भाषा का अच्छा ज्ञान कराया जाता है और साथ ही कुछ अंग्रेजी लिखना-पढ़ना और गाना-बजाना भी। इससे सुशिक्षित और उच्चवर्णीय समाज मे दहेज ने कायापलट कर दिया है। पहले वर-पिता खुले मुँह दहेज माँगते थे, आजकल गहने-आभूषण के रूप में, या लड़के की उच्च शिक्षा के रूप में, या मेहमानो के आदर-सत्कार और कपड़े-लत्ते के रूप में—इस प्रकार किसी-न-किसी रूप में—रुपये माँगा करते हैं। यह प्रथा प्राय सब वर्णों में है। हाँ, कन्या-विक्रय करने वाले सब महाराष्ट्र में कम ही हैं।

स्त्री-शिक्षा के अभाव से उत्पन्न कई कुरीतियाँ आज महाराष्ट्र में मौजूद हैं, जिनमें सास और बहू के झगड़े घर-घर मे पाये जाते हैं। इनके पारस्परिक सम्बन्ध कभी प्रेम के, आत्मीयता के, और स्निग्ध नही होते। अपने अधिकार में सास बहू को पशु-समान समझती है—तो बहू भी समय आने पर सास को कष्ट देकर अपना बदला लेती है। मराठी में एक कहावत है—"चार दिन सास के तो चार दिन बहू के भी।" कभी कभी यह सम्बन्ध इतना तीव्र और विषाक्त होता है कि बहू आत्म-घात करके मुक्त हो जाती है या सास उसको किसी तरह मुक्ति दिला देती है। इसमे बहू अक्षर-ज्ञान और कुछ शिक्षा पाई हुई हो तो यह तीव्रता का सम्बन्ध अधिक ही तीव्र होता है। शिक्षिता और ज्ञानहीन के बीच ऐसे कलह होना स्वाभाविक है। हम आशा के साथ देखते हैं कि साक्षरता का प्रसार हो जाय और सास और बहू दोनों ही शिक्षिता बन जायँ तो ऐसे विषम प्रकार भी नष्ट हो जायँगे।

विधवा-विवाह क़ानून-सम्मत हो गया है तो भी उसका असर कम ही दिखाई पड़ता है। बहुजन-

समाज आज भी उसकी ओर विरोध-भाव से देखता है। शिक्षितों में भी एक तरह की उदासीनता-सी छाई हुई है। महाराष्ट्र की निम्नवर्णीय मराठे, कुणबी वगैरा जातियों मे विधवा-विवाह पहले से ही जारी था। क़ानून की सहायता इस कारण ली गई थी कि उच्चवर्णीय विधवा भी उससे लाभ उठावें। परन्तु आज इसकी सफलता के चिन्ह बहुत ही कम नज़र आते हैं। उसका एकमात्र लाभ यह हुआ है कि विधवा के बाल काटने के सम्बन्ध मे समाज पहले-जैसा निष्ठुर नही रहा बल्कि दिन-दिन सहिष्णु बनता जा रहा है। कुछ वर्ष पहले आठ-बारह साल की विधवा लड़कियाँ बाल काटे दिखाई पड़ती थीं। परन्तु आज केशी विधवा सम्मुख आ जाय तो अपशकुन माननेवालो की संख्या अत्यल्प हो गई है। विधवाओ की दुःस्थिति से नजर उठाके विधुरो की ओर देखा जाय तो उनके पुनर्लग्न के सम्बन्ध मे कोई प्रतिबन्ध न प्रतीत होगा। एक के पीछे दूसरा विवाह करने की प्रथा आज भी पहले-जैसी जारी है। इसके प्रतिबन्ध के प्रयत्न हो रहे हैं और आचार्य कर्वे जैसे शिरोमणि स्वय अमल करके अच्छे मार्ग दिखला रहे हैं—परन्तु, यह सब हो रहा है बिना सफलता के ही।

पर्दा न होने के कारण महाराष्ट्रीय महिला एक महत्वपूर्ण लाभ उठा सकती है। वर्णभेद और उच्च-नीचता की प्रखरता के बिना वह मिश्र समाज मे और सार्वजनिक कार्य मे सम्मिलित हो सकती है, सृष्टि की सुन्दरता प्रत्यक्ष देख सकती है, आँखो से परीक्षा करके सब बातो का ज्ञान पा सकती है। कार्यवश सार्वजनिक प्रसङ्ग मे भाग भी ले सकती है। अज्ञानजन्य कोई कल्पनायें उसका प्रतिबन्ध नही कर सकतीं। बस, इतना ही पर्दा न होने का अर्थ है। स्त्रीत्व के लज्जा, विनयादि गुणो में महाराष्ट्रीय महिलायें किसी तरह से कम नहीं हैं और अखिल-भारतवर्ष की स्त्री-जाति की स्थिति में और उनकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। सार्वजनिक कार्य में प्रयत्न करनेवाली महाराष्ट्र-महिलायें गिनती में थोड़ी ही होंगी, परन्तु वे स्त्री-जाति की उन्नति के लिए अविश्रान्त परिश्रम कर रही हैं और प्रति दिन सफल भी होती जाती हैं। महाराष्ट्रीय स्त्री-लेखिकाओ मे श्रीमती सौ० कमलाबाई किबे, सौ० गिरिजाबाई केलकर, सौ० यशोदाबाई भट्ट, सौ० अवन्तिकाबाई गोखले, डॉ० काशीबाई नवरंगे, सौ० भद्राबाई माड़गाँवकर, सौ० डॉ० मालिनीबाई सुखटणकर इत्यादि स्त्रियों के नाम सर्व प्रसिद्ध हैं। स्त्री-शिक्षा और सुधार के कार्य मे श्री० सौ० महारानी साहबा गायकवाड़, श्री० सौ० रानी-साहबा सांगली तथा श्री० सौ० रानीसाहबा इचल-करंजी इत्यादि राज-महिलाओ के नाम भी अवश्य याद आते रहेगे। अन्य व्यवसायो मे पूना मे स्त्री वकीलों की प्रणाली शुरू करने वाली कु० पाटे और मद्रास-कार्पोरेशन की सभासद श्री० सौ० पटवर्धन इत्यादि महाराष्ट्रीय महिलाओ के नाम भी सहसा भूले नही जा सकते। हिंगणे-महिला-विद्यालय मे शिक्षा प्राप्त करके स्त्री-जाति के उद्धार के लिए कटिबद्ध हुई महिलाओ के काम तथा पूना और बम्बई के सेवा-सदन मे जो काम किये जाते उन्हे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्री-जाति का उद्धार अब अधिक दूर नहीं है। किन्तु अखिल-भारतवर्ष की स्त्री-जाति के लिए इससे कई गुने अधिक प्रयत्नों की और संस्थाओं की आवश्यकता है।

सदाशिव वामन जोशी

बिहार को चेतावनी

बिहार प्रान्त पिछले दिनो भारत की उज्ज्वलता का कलंक-सा होरहा था, किन्तु जबसे महात्माजी का चरण-स्पर्श इस भूमि से हुआ, यह अपने दोषों के निराकरण मे सतत लगा हुआ है। अन्य दोषो के अलावा यहाँ के स्त्री-समाज के बीच पर्दे की प्रथा जिस प्रकार भयंकर अवस्था में थी वैसी शायद ही भारत के किसी हिस्से मे सुनी गई हो। इस प्रथा ने यहाँ की स्त्रियो के अधिकाश भाग को राजयक्ष्मा (Pthysis), पियरी (Gaundier) तथा अत्यधिक कमजोरी आदि बीमारियो का ग्रास बना दिया। यही नहीं, इसने स्त्री-समाज मे शिक्षा का तो बिलकुल अभाव कर प्राय शत-प्रतिशत अनुपयुक्त माताओ की सृष्टि कर पुरुष-विभाग की मानसिक तथा शारीरिक उन्नति पर भी गहरा धक्का लगाया।

स्वय मेरी धर्मपत्नी की मृत्यु पर्दे की ही भयकरता के कारण राजयक्ष्मा रोग से हुई और यही दशा बिहार के प्राय सहस्रा घरो मे प्रतिवर्ष देखी जाती है।

आज बिहार के किसी भी सहृदय नवयुवक को पर्दे के द्वारा हुई अपनी हानि का खयाल हुए बिना नहीं रहता। सबके हृदय मे इस कुप्रथा को यथाशीघ्र हटा देने की बात खटक रही है। यह खटक जगन्नियन्ता की वह प्रेरणा है, जो किसी भी व्यक्ति को कोई अकर्म करने के पूर्व और पश्चात् निश्चय ही होती है। जब हम इसी ईश्वरीय प्रेरणा को दबाते, उसकी उपेक्षा करते हैं, और उसपर अपनी कमजोरियो को विजय पाने देते हैं, तब उस कुकर्म के सम्पादन मे दृढ़ता आकर हम पटु हो जाते हैं। यही अवस्था हमारे यहाँ उच्च-समाज के पुरुषो की है।

किन्तु ससार के साधारण नियमानुसार इसमें भी परिवर्त्तन आवश्यक था। जब पर्दे की प्रथा तथा तज्जनित हानियाँ अपनी चरम-सीमा को पहुँची तब नवयुवकों को विरोध का झण्डा उठाना ही पड़ा। और विगत अप्रेल मास के अन्त में "पर्दा दूर हो" आन्दोलन आरम्भ हो गया।

इस प्रकार जब भी कोई सामाजिक, राजनैतिक वा धार्मिक क्रान्ति की लहर उठती है, भले ही वह अत्यल्प समय के ही भीतर समुद्र के गर्भ में विलीन हो जाय फिर भी, वह अपनी छोटी अवधि मे कुछ आवश्यक-वस्तुओ को तो अपने साथ बहाकर ले ही डूबती है; साथ ही अन्य अधिकाश वस्तुओं को भी अस्त-व्यस्त करके ही जाती है।

अतएव यह पर्दा-विरोधी क्रान्ति अधिक नहीं तो बिहार की स्त्रियो के प्राकृतिक अधिकारो के मार्ग में पुरुषो के बिछाये स्वार्थमय कण्टको और रोड़ो को बहाकर ले ही जायगी।

बिहार की स्त्रियो का साथ नवयुवकों तथा अग्रगण्य पुरुषो ने एक हृदय से दिया है। चारो तरफ सहानुभूति-पूर्ण आँखें लगी हैं। अत: निश्चित है कि बिहार अपने इष्ट की प्राप्ति करेगा। साथ ही ऐसे लोगो की भी कमी नही है, जो किसी भी आन्दोलन का विरोध और उसकी व्यर्थ टीका-टिप्पणी करने में ही अपनी शान समझते हैं—यद्यपि कोई भी क्रान्ति इनकी अपेक्षा नही करती।

हमने इस शुभ क्रान्ति का श्रीगणेश तो बड़े समारम्भ के साथ किया और सदियों की प्रचलित रूढ़ि के विरुद्ध। किन्तु साथ ही यह भय भी है कि परिणाम अभीष्ट के विरुद्ध न हो और समाज के साथ रोजे न गले पड़ें। कहीं यह लहर एकाएक पर्दे का बाँध तोड़कर हमारे आदर्श-रूपी पौधो को सोचने के बदले उन्हे बुरी तरह दबा न दे, जिससे अधिक जल-प्लावित होकर पीछे वे सड़ने लगें

और हमारी रही-सही आशा भी मिट्टी में मिले।

अन्यान्य देशों की उन्नति की प्रगति का इतिहास देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि वे पाश्चात्य सभ्यता की समता के लिए दौड़े जा रहे हैं, जिसका भारतीय सभ्यता से पृथ्वी-आकाश का अन्तर है। अन्य देशों के लोग अपने धर्म तथा सभ्यता-संस्कृति को अप्राकृतिक समझकर यूरोप के रंग से ओत-प्रोत हो रहे हैं, किन्तु हमे इसकी आवश्यकता नहीं। हम देख रहे हैं कि संसार की वैज्ञानिक उन्नति क्रमश: वैदिक रीति-रिवाजों की मूल-नीति पर झुकती आ रही है और एक दिन शायद उन्हे हमारे सारे तथ्य माननीय होगे।

यह दु:ख का विषय है कि उन्नीसवीं सदी के मुख्यत: मध्यकाल के बाद जितनी भारतीय स्त्रियों ने पर्दा तोड़ा है, वह अधिकाश पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होकर और उसी सभ्यता की समता के लिए। भारतीय आदर्श उनके समक्ष तुच्छ-सा है। इस प्रकार तो हम उनका नैतिक पतन ही देखते हैं। इसी शिक्षाजन्य स्वतन्त्रता की आड़ में विगत ५० वर्षों में कितनी महिलाओ ने, यहाँ तक कि कुछ भारतीय नेताओ की कन्याओ ने भी, ईसाई मत ग्रहण किया, अपना रहन-सहन पाश्चात्य ढंग का बनाया है, और विधर्मियो से वैवाहिक सम्बन्ध तक कर लिया अथवा अनुचित प्रणय के बन्धन में आगई हैं।

हम यह अवश्य मानते हैं कि ये सब उत्पात पर्दा तोड़ने के कारण ही नहीं है, फिर भी पर्दा-बहिष्कार के आन्दोलन के साथ इन सब बातों के महत्व का भी ध्यान रखना बहुत आवश्यक है।

बिहार के लिए अभी इतना ही काफ़ी है कि हम अपने घरों की स्त्रियो—खासकर दूसरे घरो से आई हुई बहुओ को पर्दे से निकालकर घर की बेटियों-सी स्वतन्त्रता देकर ससुर, जेठ तथा पति आदि घर के सभी व्यक्तियों के समक्ष होने दें और वे निःसकोच भाव से अपना कार्य्य कर सकें। वे आस-पास की पड़ोसी बहनों से खुलकर मिल सकें। इस प्रकार उन्हे विशुद्ध धूप और वायु तो मिलेगा ही, जिससे स्वास्थ्य की रक्षा होगी, साथ ही कम-से-कम प्राथमिक शिक्षा के साथ व्यायामादि की शिक्षाओं का समुचित प्रबन्ध किया जाय।

जिस दिन उपरोक्त बातो को पूर्ण कर हमारी स्त्रियाँ पञ्जाब, महाराष्ट्र और मद्रास प्रभृति प्रान्तों की समता में आ जायँगी, उस दिन उनकी अधिक उन्नति के मार्ग स्पष्ट और सरल हो जायँगे।

बिहार के पुरुष-समाज से मेरी प्रार्थना है कि जिस शिक्षा को हमने पुरुषो के लिए भी हानिप्रद घोषित कर दिया है और राष्ट्रीय स्कूलों, गुरुकुलों, ऋषिकुलो की पद्धति की ओर झुक रहे हैं, उससे अपने आधे अंग को, जो अबतक दुर्भाग्य वा सौभाग्य से बचा हुआ है, बिलकुल अछूता ही रक्खें। अन्यथा इस समय का आवेश पूर्व से ही सतर्क न रहने से, बिहार से पर्दा-बहिष्कार के साथ ही भारतीय आदर्श को भी बहिष्कृत करने का कारण बन जायगा।

हरिश्चन्द्रदत्त

कामना

सन्ध्या का वह सुखद समय हो, सूर्य-रश्मि-छवि पाती हो।
रवि-तनया का कलित कूल हो, लोल-लहर लहराती हो।
चरती हों कुछ ब्रज की गायें, कुछ निज वत्स पिलाती हों।
मुग्ध विहगम-वृन्द खड़ा हो, चकित हरिणियाँ आती हों।

× × ×

नटवर मुरली बजा रहे हों, मुग्ध-रूप मैं हो जाऊँ।
उस मधुवन का मधुकर होकर, वह अभीष्ट दर्शन पाऊँ॥

'भारत'

स्फुट प्रसंग

स्त्री-पुरुष-समस्या

वैसे तो सभी समस्याओं का अपना-अपना महत्त्व होता है, और एक दूसरे का थोड़ा-बहुत पारस्परिक सम्बन्ध भी रहता ही है, परन्तु स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध—उनका एक दूसरे से सम्बन्ध तथा समाज में उनके अपने अपने स्थान—की समस्या का तो जीवन के हर पहलू से सम्बन्ध है। प्राचीन समय में इस बात को समझ भी लिया गया था। 'मनुस्मृति' में लिखा है कि सृष्टि-कर्ता ब्रह्म ने अपने ही शरीर को दो भागों में विभक्त किया—एक भाग पुरुष बन गया और दूसरा भाग स्त्री। इसलिए विभक्त पुरुष और स्त्री एक पूर्ण पुरुष तभी बनते हैं, जब दोनों पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध से फिर एक में मिल जायँ। और 'विष्णुपुराण' में इन दोनों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"पुरुष विष्णु है, स्त्री लक्ष्मी। पुरुष विचार है, स्त्री भाषा। पुरुष धर्म है स्त्री बुद्धि। पुरुष तर्क है स्त्री भावना। पुरुष अधिकार है, स्त्री कर्त्तव्य। पुरुष रचयिता है, स्त्री रचना। पुरुष धैर्य है, स्त्री शान्ति। पुरुष हठ है, स्त्री इच्छा। पुरुष दया है, स्त्री दान। पुरुष मंत्र है, स्त्री उच्चारण। पुरुष अग्नि है, स्त्री ईंधन। पुरुष सूर्य है, स्त्री आभा। पुरुष विस्तार है, स्त्री सीमा। पुरुष आँधी है, स्त्री गति। पुरुष समुद्र है, स्त्री किनारा। पुरुष धनी है, स्त्री धन। पुरुष युद्ध है, स्त्री शक्ति। पुरुष दीपक है, स्त्री प्रकाश। पुरुष दिन है, स्त्री रात। पुरुष वृक्ष है, स्त्री फल। पुरुष संगीत है, स्त्री स्वर। पुरुष न्याय है, स्त्री सत्य। पुरुष सागर है, स्त्री नदी। पुरुष स्तम्भ है, स्त्री पताका। पुरुष शक्ति है स्त्री सौन्दर्य। पुरुष आत्मा है, स्त्री शरीर।"

दोनों, प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् बा० भगवानदास के शब्दों में, "समान रूप से महत्त्व-पूर्ण, अनिवार्य और अभिन्न हैं। दोनों में कुछ ऐसी मानसिक और शारीरिक विशेषतायें है कि वे परस्पर एक दूसरे की कमी को पूर्ण करती हैं। प्रत्येक के व्यक्ति-गत जीवन में दोनों विद्यमान रहते हैं, परन्तु कतिपय अवसरों पर एक अपने स्वरूप में और दूसरा अपने विशेष और समुन्नत स्वरूप में प्रकट होता है।" और ला० लाजपतराय के कथनानुसार "इस वर्णन से यह बात ज्ञात हो सकती है कि कतिपय अवस्थाओं में स्त्री को प्रधानता दी गई है, और कतिपय अवस्थाओं में पुरुष को।" उन्हींका कहना है—"यहाँ स्त्री के प्रेम को पति की बुद्धि की अपेक्षा अधिक उच्च स्थान दिया गया है।"

इस प्रकार, हम देखते हैं हमारे प्राचीन काल में इन दोनों का समन्वय था—और, हम कह सकते हैं, उस समय की स्थिति के अनुसार वह उत्तम ही होगा। परन्तु, आज क्या हालत है? भारत के पतन के साथ-साथ हमारे सारे समाज का पतन हुआ है और राष्ट्र ने जहाँ सात-समुद्र-पार की गुलामी पाई वहाँ हमारी स्त्रियाँ पुरुषों की क्रीतदासी बन गईं। आरम्भ में यह कुछ मालूम न हुआ; फिर इसका अभ्यास-सा पड़ता गया। परन्तु अवास्तविकता सदैव लुप्त नहीं रह सकती। आज संसार के अभ्युदय की लहर के साथ भारत में भी स्वतंत्रता की लहर उठी है और भारतीय स्त्रियाँ भी अपने बंधनों को न केवल महसूस बल्कि उनसे मुक्त होने के प्रयत्न भी करने लगी हैं। विशेष हर्ष की बात यह है कि उनकी इस न्याय्य आकांक्षा में भारत के समझदार पुरुष भी हाथ बटा रहे हैं। पुरुष-स्त्रियों के इस सम्मिलित प्रयत्न से जिस दिन भारत की महिलायें अपने बन्धनों से मुक्त होंगी, सचमुच वह भारत के लिए भी बड़ा आनन्ददायी और मंगलमय होगा।

सर सप्रू की सलाह

डा० सर तेजबहादुर सप्रू भारत के एक सुख्यात क़ानून-पण्डित और विद्वान् विचारक हैं। भारत-सरकार के क़ानूनी मेम्बर भी आप रह चुके हैं। 'स्त्री-धर्म' के एक अंक में 'स्त्रियों की मुक्ति' का जोरों से प्रतिपादन करते हुए इसके लिए उन्होंने निम्न उपाय सुझाये हैं—

(१) प्रान्तिक कौन्सिलों से प्रत्येक प्रान्त में स्त्रियों के स्कूल-कालेज खोलने और अबतक की अपेक्षा अधिक रक़म उनके लिए मन्जूर करने को कहा जाय।

(२) क़ानून बनाने वाले लोग अगर लड़कियों के

विवाह-सम्बन्धी क़ानून बनाने में अनुदार मालूम पड़ें तो देश के शिक्षित युवक एक संघ के रूप में संगठित होकर एक निश्चित आयु से कम उम्र की लड़कियों से विवाह करने से इंकार कर दें।

(३) शिक्षिता कन्याओं को, जहाँ तक उनसे हो सके, स्वतन्त्र धन्धे अख़्त्यार करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाय।

(४) हमारी प्रातिनिधिक संस्थाओं में जब समाज सुधार पर असर डालने वाला कोई विषय उपस्थित हो तब कुछ स्त्रियों को उसमें शरीक कर लेने का हमेशा ख़याल रहे।

(५) स्त्रियों की अपात्रता बिलकुल दूर कर देनी चाहिए, जहाँ तक कि स्थानिक संस्थाओं और कौंसिलों से उसका सम्बन्ध है।

(६) हमारे व्यक्तिगत कानूनों में ऐसा सुधार होना चाहिए कि जिससे आज की अपेक्षा अधिक सशक्त क़ानूनी स्थिति स्त्रियों को प्राप्त हो। × × × सुशिक्षा से भी इस सम्बन्ध में स्त्रियों की दशा कुछ सुधर सकती है, पर मैं समझता हूँ कि इसका पूर्ण हल हमारे कानून के मूल-परिवर्तन से ही हो सकता है।

सर सप्रू का कहना है—"मेरे ये उपाय किसी भी प्रकार बेज़ार करने वाले नहीं हैं। मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि भारत को राजनैतिक क्षेत्र में कभी भी अगर स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है तो पहले हमारी स्त्रियों को पूर्णतः मुक्त कर देने और उनके प्रति न्याय करने के लिए हमें तैयार हो जाना आवश्यक है।"

इसमें शक नहीं कि सर सप्रू के ये उपाय किसी क़दर कारगर ज़रूर हैं, लेकिन, हमें भय है, हर बात में सरकार और उसके कानूनों पर निर्भर रहने से हमें कहाँ तक सफलता मिलेगी। रायसाहब हरविलास सारडा को इस सम्बन्ध में अभी जो निराशा हुई, वह इस सम्बन्धी बिलकुल ताजा उदाहरण है।

सरकार का रुख़

रायसाहब हरविलास सारडा के बाल-विवाह-निषेधक बिल का परिचय देने की आवश्यकता नहीं। हमारे यहाँ इस समय उसकी कितनी आवश्यकता है, यह भी समय-समय "त्यागभूमि" में प्रकट किया जाता रहा है। बाल-विवाह की प्रथा इतनी खराब, इतनी नाशक और इतनी हास्यास्पद है कि इसका शीघ्र रोका जाना अत्यन्त आवश्यक है। सारडाजी ने इसके लिए पिछले तीन सालों से लगातार जो परिश्रम किया है, वह हम सब जानते हैं। उनकी यह लगन प्रशंसनीय ही नहीं, समाज-सुधार का कार्य करनेवालों के लिए स्पर्द्धा की चीज़ है। इसीलिए समाज-सुधार से दिलचस्पी रखनेवाले लोग बड़े उत्साह से इस बार के असेम्बली के अधिवेशन की प्रतीक्षा में थे, सरकार ने भी इस बिल के प्रति अपनी सहानुभूति का सारडाजी को विश्वास दिलाया था। परन्तु अफसोस, ऐन वक्त पर स्थिति बदल गई! सरकार ने उनका साथ न देकर श्री एम० के० आचार्य के इस संशोधन का समर्थन किया कि सहवास-वय-समिति की रिपोर्ट प्रकाशित होने तक इस-पर विचार न हो। फलतः सरकारी मेम्बरों और उनके इशारों पर चलनेवाले अधिकांश अंग्रेज तथा मुसलमान सदस्यों ने भी संशोधन ही का समर्थन किया और बाल-विवाह बिल इस बार भी अधर में ही लटका रह गया।

सारडाजी को कितनी आशा थी, जब सिलेक्ट कमिटी से संशोधित अपने इस उपयोगी बिल को पेश करते हुए अपने सुन्दर-सप्रमाण भाषण में उन्होंने कहा—

मैं इस बात को स्वीकार नहीं करता कि बाल-विवाह धर्म का अंग है। लेकिन अगर हो भी, तो भी यह किसी को अधिकार नहीं है कि वह अपनेको नरक में जाने से बचाने के लिए दूसरों का बचपन में ब्याह करके उनके जीवन को दुःखमय बना दे। असेम्बली के ऊपर बड़ी भारी जिम्मेदारी है। इंग्लैण्ड और अमेरिका के लोगों की आँखें हमारे ऊपर लगी हुई हैं। वहाँ के बहुत से लोग साफ तौर पर कह चुके हैं कि जबतक हिन्दुस्थान में बाल-विवाह जैसा अन्याय की बातें होती हैं तबतक उसे स्वराज्य नहीं मिल सकता। अमेरिका के लोग यह देखने को उत्सुक हैं कि क्या डेढ़ सौ साल के शासन के बाद भी ब्रिटिश सरकार इस तरह के अत्याचार होने देती है? अगर स्त्रियाँ असेम्बली की मेम्बर होतीं तो यह बिल जरूर पास हो ता। अन्त में मुझे यही कहना है कि कोई जाति आधी

स्वतन्त्र और आर्यों गुलाम नहीं बन सकती। राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही तरह की गुलामी से छुटकारा पाना जरूरी है। जो लोग इस बिल का समर्थन करेंगे वे देश की सच्ची सेवा करेंगे।

परन्तु अन्त में सरकार का रुख प्रकट होने पर उन्हें निराश ही होना पड़ा। निस्सन्देह सरकार का यह कार्य बड़ा अनुचित हुआ है और इसके लिए उसकी जितनी तीव्र निन्दा की जाय वह कम है। समाज-सुधार के प्रेमियों को इस बात से निराशा होना स्वाभाविक ही है, और उनका यह कहना ठीक ही है कि सरकार ही सामाजिक सुधार नहीं करना चाहती। हम भी इस बात से सहमत हैं। परन्तु हम निराशावादी नहीं। हमारी समझ में इस बात से निराश न होकर अब हमें दूने उत्साह से इस काम को उठाना चाहिए और हमारा प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि सरकार का समर्थन न भी मिले, वह कानून न भी बनाये, तो हम स्वयं जनता के बल पर इसे घर घर व्यापी कर दें। वैसे अभी तो असेम्बली में भी, सहवास-वय-समिति की रिपोर्ट के बाद, इसके लिए मौका है।

× × ×

एक बात इस सम्बन्ध में और। जहाँ पं० मोतीलाल नेहरू ने, अपने पक्ष का न होते हुए भी, इस विषय में रायसाहब की खूब मदद की, वहाँ स्वतन्त्र दल (जिसमें रायसाहब हैं) के नेता पं० मदनमोहन मालवीय का उदासीन और तटस्थ रहना खेदजनक है—हिन्दूमात्र को इससे दुःख होना चाहिए। सहयोगी 'भारत' का उनसे यह प्रश्न ठीक ही है—

"जब असेम्बली में, बाल-विवाह वाले बिल पर वोट लिये गये, तब आप तटस्थ क्यों रह गये? आप तो कोई पचास वर्ष से राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में देश-सेवा कर रहे हैं। क्या अभी तक आप इस सम्बन्ध में अपना मत स्थिर नहीं कर पाये कि इस प्रकार का कानून जल्द-से-जल्द बनने की जरूरत है या नहीं?"

क्या मालवीयजी इसपर प्रकाश डालेंगे?

६

'अबला-औद्धत्य'

इस शीर्षक का एक लेख, इसी अङ्क में, अन्यत्र प्रकाशित है। उसपर कुछ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। सबसे पहले हम लेखिका बहन की इस बात से अपनी असहमति प्रकट कर देना चाहते हैं कि "× × × थोड़े ही समय में उन्होंने (स्त्रियों ने) यह सिद्ध कर दिखाया है कि पुरुषों के बराबर सहूलियतें प्राप्त होने पर वे भी समाज की सदस्यता के योग्य हो सकती हैं। दूसरी ओर पुरुषों को परम्परागत स्वत्वों के छिन जाने का भय होने लगा, अतएव उन्होंने स्त्रियों को सामाजिक जिम्मेवारियों के अयोग्य ठहराने का आन्दोलन आरम्भ कर दिया है।" हमारी सम्मति में माननीय बहन का यह निष्कर्ष बहुत ठीक नहीं है। स्त्रियों ने अपनी सुपात्रता आज ही सिद्ध की हो, यह बात नहीं, समुन्नत प्राचीनकाल को छोड़ दें, तो भी, मुस्लिम काल में भी, क्या महारानी पद्मिनी और लक्ष्मीबाई आदि के सुन्दर उदाहरण नहीं मिलते? पुरुषों-सम्बन्धी निष्कर्ष भी कुछ उत्तेजना और जल्दबाजी में निकाला गया मालूम पड़ता है। जहाँ तक हमें पता है, किसी भी समझदार और प्रगतिशील पुरुष ने अभी स्त्रियों की प्रगति का विरोध नहीं किया है। हाँ, यह हो सकता है कि उनके किसी ढंग से किसीका कुछ मतभेद रहा हो और उसपर उसने आक्षेप किया हो। उलटे श्रीयुत जयकर जैसे विद्वानों को हम इस सम्बन्ध में स्वयं स्त्रियों से भी उग्र पाते हैं। सर सप्रू के विचार ऊपर आये ही हैं। ऐसी दशा में क्या यह उचित नहीं कि पुरुषों पर व्यर्थ दोषारोपण में समय-शक्ति खर्च न करके अपनी दिशा—प्रगति पर बढ़ने के ढंगों—पर ही वे अधिक सतर्कता एवं दृढ़ता के साथ बढ़ती जायँ? अपनी रफ्तार में आँख मूँदकर भागे जाने के बजाय चेतावनी देनेवाले की बात सुनते हुए चला जाय और ठोकर खाकर गिर पड़ने की ओर सावधानी रक्खी जाय तो क्या हर्ज है? इसी प्रकार उनका यह तर्क भी हमें बहुत सुन्दर और सुरुचि-दर्शक नहीं जान पड़ा कि लड़के भी तो दुश्चरित्र हैं, फिर लड़कियों ही को क्यों दोष दिया जाय? भला यह किसने कहा है कि हमारे युवक भाई स्कूल-कालेजों में बहुत पवित्र और सीधे-सादे-निर-

भिमान है ? फिर 'युवक ऐसे हैं तो युवतियाँ भी ऐसी ही क्यों न हो जायँ ?' यह कौन-सा तर्क है ? एक कुएँ में डूब रहा है, दूसरा अभी डूबा नहीं है, पर उस दिशा में जाने के प्रयत्न में है, ऐसी दशा में उसे भी गिरने देना चाहिए—यह सोचकर कि पहला भी तो गिरा हुआ ही है, या उसे रोकना चाहिए—इस खयाल से कि यह बाहर रहा तो शायद उस दूसरे को भी निकालने में समर्थ हो जाय ? अर्धशिक्षिताओं के चिड़चिड़ेपन, तुनुकमिजाजी, मिथ्या दर्प आदि पर हमें यही कहना है कि 'ओछे छलकें नीर घट पूरे छलकें नाहि' की उक्ति यथार्थ ही है। फिर जब कि ऐसा करनेवालियों को यह पता हो कि और स्त्रियाँ तो इतना भी नहीं जानतीं—देश में अधिकांश स्त्रियाँ तो बिलकुल निरक्षरा हैं, तब उनका ऐसा करना तो और भी स्वाभाविक हो उठता है। ऐसी दशा में क्या यह उचित नहीं कि इन बातों पर चिढ़ने के बजाय इन्हें दूर करनेही पर ध्यान दिया जाय ? फिर एक बात यह ध्यान में रखने की है कि जो कोई भी आक्षेप किया जाता है वह स्वयं शिक्षा पर नहीं, बल्कि उसकी वर्तमान प्रणाली पर। शिक्षा को कोई बुरा नहीं कह सकता, न कहता है, इलजाम उसकी वर्तमान प्रणाली पर है। और, माननीय बहन भी अन्त में इसी बात पर जा पहुँचती हैं, जब वह शिक्षिकाओं के चुनाव की असावधानी, व्यावहारिक शिष्टता की शिक्षा के अभाव आदि पर जोर देती हैं। उनके ये विचार निस्सन्देह विचारणीय हैं।

सुन्दर मनोवृत्ति

गत वर्ष सिन्ध-महिला-परिषद् के सभापति-पद से श्रीमती मेहता ने स्त्रियों से अपील की थी—

"पुरुष अपने छोटे-छोटे देवताओं के लिए लड़ते हैं तो लड़ने दो। × × × हमारे लिए तो यही ठीक है कि इस गन्दगी से हम बची रहें और उन्हें जता दें कि हम स्त्रियाँ तो आपस में मिली-जुली ही रहेंगी।"

अब, हाल में, सूरत में मनाये गये युवक-सप्ताह में भाषण करते हुए, बम्बई की प्रसिद्ध मुसलमान महिला श्रीमती अतियाबेगम ने भी बड़े सुन्दर उद्गार प्रकट किये हैं। कुछ मुसलमानों की आज जो मनोवृत्ति है उसको देखते हुए उनका यह कथन बड़ा महत्वपूर्ण है—

"मुसलमानों को अपने को मुसलमान कहने का कोई अधिकार नहीं। मुझको अपने आपको मुसलमान कहते शर्म मालूम होती है। जब मैं अपनेको हिन्दू कहती हूँ, तो मुझे गर्व होता है। हिन्दुस्थान के मुसलमान आज कुरान के अर्थ नहीं समझते। जो मुसलमान हिन्दुओं को मसजिदों के सामने बाजा बजाने से रोकते हैं, उन्हें अपनेको मुसलमान कहने का कोई अधिकार नहीं है। वे अच्छे व्यवहार तक नहीं जानते। खिलाफत अपने ढंग का वाहियात आन्दोलन है। नेता लोग यह आन्दोलन अपने निजी स्वार्थों के लिए कर रहे हैं।"

इस बहन का यह साहस प्रशंसनीय है। यदि सब मुसलमान स्त्रियों की यही मनोवृत्ति बन जाय तो कौन कह सकता है कि हिन्दू मुसलिम कलह का भी अन्त न हो जायगा ?

स्त्री-शिक्षा के लिए

जालन्धर का कन्या-महाविद्यालय स्त्री-शिक्षा की सुप्रसिद्ध संस्था है। उसके लिए उसकी मुख्याध्यापिका श्रीमती शन्नोदेवीजी ने एक लाख रुपये एकत्र करने का निश्चय किया है। इसके लिए आप मद्रास होते हुए कलकत्ता पहुँची हैं। पूज्य मालवीयजी ने भी अपील निकालकर सर्व-साधारण से चन्दा देने की प्रार्थना की है। आशा है, स्त्री-शिक्षा के प्रेमी इस अवसर को न चूकेंगे।

शुभ-संवाद

बिहार-उड़ीसा की कौंसिल में स्त्रियों के मताधिकार का प्रस्ताव १४ के विरुद्ध ४७ के बहुमत से पास हो गया है। अब वहाँ भी स्त्रियाँ कौंसिल की सदस्य हो सकेंगी। उधर मध्यप्रान्त की कौंसिल ने बाल-विवाह के विरुद्ध एक प्रस्ताव पास किया है और मद्रास-कौंसिल में श्रीमती डा० म्युथ्यु लक्ष्मी रेड्डी के सतत प्रयत्नों के फलस्वरूप देवदासी प्रथा रोकने के सम्बन्ध में जो बिल पास हुआ था वह अब कानून बन गया है। बधाई !

मुकुट

उगता राष्ट्र

हिन्दुस्थान

जो पहले देदीप्यमान था,
विश्व-गगन मे सूर्य-समान ।
सभी देश थे जिसके आगे
हीना-तारावली—महान ॥
जिसकी आभा पाकर चमका
अन्धकार सयुत यूनान
खिले कमल-वन नील-सरित् के
वह है प्यारा हिन्दुस्थान ॥
सबसे पहले जहाँ हुआ था
प्रकृति-नटी का सुन्दर-नृत्य ।
देखा गया जहाँ धाता का
पहले पहले अनोखा कृत्य ॥
सब से प्रथम सभ्य होकर दी-
जिसने जग को शिक्षा 'ज्ञान' ।
जिसने पहले प्रभु को पाया
वह है प्यारा हिन्दुस्थान ॥
हरिश्चन्द्र-सा जहाँ हुआ था
पैदा नृप-ऋषि सत्य-प्रतिज्ञ ।
कपिल-कणादि सदृश थे जिसके
सुतन सुभग षट्शास्त्राभिज्ञ ॥
जिसके बच्चों का रहता था,
सिंहों के दाँतो पर ध्यान ।
तोड़-फोड़कर गिन लेने का
वह है प्यारा हिन्दुस्थान ॥
राम-कृष्ण ने जन्म लिया था,
जिसमे दिखलाने को खेल ।
जहाँ हुआ था कुरु-क्षेत्र में
अनुपम योद्धाओं का मेल ॥
रक्त-सुधा छिड़का जिस भू पर
राजस्थान-सिंह 'मृत' जान ।
जिस वन का था शिवा केसरी,
वह है प्यारा हिन्दुस्थान ॥
अब भी जहाँ खिले रहते हैं
योगी होकर भी अरविन्द ।
जिनका रस चखने आते हैं,
दूर विदेशो से सु-मलिन्द ॥
गाँधी-सा नर-देव जहाँ है
अखिल विश्व का पुरुष-प्रधान ।
जिसका है हमको अति गौरव,
वह है प्यारा हिन्दुस्थान ॥

भरीनारायणसिंह 'चर्क'

सबका मूल कारण

[टाल्सटाय के The Cause of it all का हिन्दी-भाषान्तर]

पात्र

एकूलिना—एक सत्तर वर्ष की बुढ़िया।
माइकिल—एकूलिना का लड़का, आयु ३५ वर्ष।
मरथा—माइकिल की स्त्री, आयु ३२ वर्ष।
प्रकाशका—माइकिल और मरथा की लड़की, आयु १० वर्ष।
टेरस—गाँव का चौकीदार।
राहगीर—आयु ४० वर्ष।
इगनेट—गाँव का हँसोड़ और शराबी, आयु ४० वर्ष।
पड़ोसी—आयु ४० वर्ष।

पहला-दृश्य

[समय—वसन्त। स्थान—एक किसान की झोपड़ी, जिसमें एक कमरा अलग कटा हुआ है। एकूलिना बैठी कात रही है, गृह-स्वामिनी मरथा आटा गूंध रही है, और बालिका प्रकाशका पलना झुलाती है।]

मरथा—अम्मा, आज फिर मेरा दिल घबरा रहा है, तरह-तरह की आशंकायें उठती हैं। मुझे उनके इतनी देर तक वहाँ ठहरने का कोई कारण नहीं मालूम होता। पिछली बार जब वह लकड़ी बेचने शहर गये थे तब भी उन्होंने ऐसा ही किया था। यदि आज भी ऐसा किया तो और, इस सबका दोष मेरे मत्थे मढ़ा जाता है।

एकूलिना—तू पहले ही से अमंगल की आशंका क्यों करती है? अभी इतनी देर भी नहीं हुई। इसके सिवा शहर काफ़ी दूर है।

मरथा—अभी देर नहीं हुई! एकीमिच, जो उनके बाद गया था, न जाने कब का लौट आया है। किन्तु अभी तक उनका पता नहीं। अम्मा, सच कहती हूँ, मुझे तो रात-दिन परेशानी ही रहती है—चिन्ता, चिन्ता—बस, यही मेरे जीवन का सारा सुख है।

एकूलिना—एकीमिच का दूकानदार बँधा हुआ है, किन्तु माइकिल को अपना माल बाजार में बेचना पड़ता है। फिर देर क्यों न हो?

मरथा—यदि वह अकेले होते, तो मुझे कोई डर न था। किन्तु इगनेट, ईश्वर बचावे, पूरा पाजी है। उसने अवश्य ही शराब पिलाई होगी। यहाँ तो हम सूर्य निकलने से सूर्य डूबते तक काम करते-करते मरे जाते हैं, और वहाँ उनके मन में जो आता सो करते हैं। इसीलिए चिन्ता और आशंका है। चिन्ता और रात-दिन चिन्ता करना—यही मेरे जीवन का सुख है।

[दर्वाजा खुलता है और टेरस एक भिखारी राहगीर के साथ प्रवेश करता है।]

टेरस—प्रणाम। इस राहगीर को मैं आज तुम्हारे यहाँ ठहराने के लिए लाया हूँ।

राहगीर (झुककर) मेरा प्रणाम स्वीकार हो।

मरथा—तुम इन लोगों को बार-बार मेरे यहाँ क्यों लाते हो? पिछले बुधवार को ही हमने एक राहगीर ठहराया था, और आज तुम एक दूसरा लेकर आ खड़े हुए। मैं कहती हूँ, तुम इन्हें स्टीपेण्डा के यहाँ क्यों नहीं ले जाते? उसके बाल बच्चे भी नहीं हैं। मुझे तो अपने ही काम धन्धों से फुर्सत नहीं मिलती और तुम मेरे ही सिर यह बला ला खड़ी करते हो।

टेरस—बारी-बारी से सभी को इन्हें ठहराना पड़ता है।

मरथा—बारी बारी बस कहने-भर के लिए है। तुम्हें मेरे बाल-बच्चों पर भी दया नहीं आती। इसके सिवा गृहस्वामी भी आज घर पर नहीं हैं।

टेरस—इतनी घबराती क्यों हो? यह तो चुपचाप एक जगह सोता रहेगा और रात-भर इसके सोने से तुम्हारी जगह घिस न जायगी।

एकूलिना (राहगीर से)—आओ, यहाँ बैठ जाओ, मैं तुम्हारा आतिथ्य करूँगी।

राहगीर—मैं आपका बड़ा अनुगृहीत हूँ। यदि मुझे कुछ खाने को मिल जाता तो बड़ा अच्छा होता।

मरथा—बैठते तो देर नहीं हुई और खाने को माँगने लगे। गाँव में कुछ माँग क्यों न लिया?

राहगीर (साँस लेकर)—मुझे भीख माँगने का अभ्यास नहीं, क्योंकि कभी ऐसा काम नहीं पड़ा, किन्तु आज मेरे पास कुछ नहीं बचा।

[एकूलिना उठकर मेज़ के पास गई और डबलरोटी का एक टुकड़ा काटकर राहगीर को दे दिया]

ओर इशारा करके टेरस से कहती है)—यह कभी चुप नहीं रह सकती। यही क्यों, हम स्त्रियों का स्वभाव होता है कि बड़बड़ाने के बिना हमारा काम ही नहीं चलता।

मरथा—यदि वह अकेले होते तो मुझे कोई डर न था। किन्तु इगनेट उनके साथ है।

टेरस (हँस कर)—ठीक-ठीक, इगनेट के विषय में तुम्हारा सन्देह निरर्थक नहीं।

एकूलिना—किन्तु हमारा माइकिल भी इगनेट के स्व-



शैतान की लकड़ी से

भूखे बच्चे और स्त्री घर पर राह देख रहे हैं और यह मूर्ख नशे में मस्त होकर यहाँ पड़ा है।

राहगीर (रोटी लेता हुआ)-धन्यवाद।

टेरस—और माइकिल कहाँ है?

मरथा—अरे, वह तो सबेरे से शहर गये हुए हैं। अभी तक आजाना चाहिए था, किन्तु नहीं आये। उन्हें किसी की क्या पर्वाह है!

टेरस—कोई काम लग गया होगा।

मरथा—काम लग गया होगा! पत्थर। महाशय, काम-वाम कुछ नहीं। मुझे तो डर है कि कहीं शराब के नशे में चूर हो बेहोश न पड़े हों।

एकूलिना (फिर कातने बैठ जाती है और मरथा की

भाव से भलीभाँति परिचित है। वह उसके चक्कर में नहीं आ सकता।

मरथा—अम्मा, तुम चाहे जो कहो, पर मुझे विश्वास नहीं होता। मैं तो उनकी शराब से तंग आ गई हूँ। हाँ, जब वह अपने होश-हवाश में होते हैं तब मुझे उनके लिए किसी प्रकार का उलाहना नहीं देना पड़ता। किन्तु जब शराब चढ़ जाती है तब मैं एकदम किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाती हूँ। कोई कुछ कहे, उनके यहाँ किसी की सुनवाई नहीं होती।

टेरस—स्त्रियों का स्वभाव भी बड़ा विचित्र होता है। वे पुरुषों की कठिनाई को नहीं जानतीं। हम शराब पीते

और बड़बड़ाते हैं। किन्तु प्रातःकाल सोकर उठने पर सब ज्यों-का-त्यों ठीक हो जाता है। इसमें तुम्हारी क्या हानि होती है? व्यर्थ ही पुरुषों को दोष देती हो।

मरथा—जब नशा चढ़ जाता है तब लाख उपाय करो उन्हें कोई प्रसन्न नहीं कर सकता।

टेरस—किन्तु तुम्हें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि दो-एक दिन में दो-एक घूँट पिये बिना हम लोगों का काम नहीं चल सकता। तुम लोग तो दिन-भर घर में रहती हो, किन्तु हमें बाहर काम करना पड़ता है और इसके लिए दो-एक घूट पीने ही पड़ते हैं। और यदि किसीको इसकी लत न हो तो तुम्हारी क्या हानि?

मरथा—व्यर्थ की बड़ाई हाँकते हो, किन्तु मैं कहती हूँ कि अभी तुम्हें स्त्रियों की कठिनाई का पता नहीं। यदि एक ही सप्ताह के लिए तुम्हें हम लोगों के साथ काम करना पड़े तो, चीं बोल जाओ। आटा पीसना और रोटी बनाना, सूत कातना और कपड़े बुनना, दूध काढ़ना और पशुओं को पालना, इसके सिवा अपने बच्चों को खिलाना-पिलाना और साफ सुथरा रखना—इस सबका भार हमारे कंधों पर होता है। किन्तु एक इससे भी बड़ी कठिनाई है। यदि हम लोगों का कोई काम पुरुषों की रुचि के अनुकूल न हुआ तो बस, समझ लो, हमारी खैर नहीं। और जब पुरुष अपने होश हवास में न हों तब हम बेचारी उन्हें कैसे प्रसन्न कर सकती हैं?

राहगीर (रोटी चबाता हुआ)—ठीक कहती हो, देवी, यही सब पापों की जड़ है। मैं कहता हूँ कि जीवन के अनेक दुःखों का प्रारम्भ शराब से होता है।

टेरस—शायद तुम भी कभी इसके चक्कर में आ चुके हो?

राहगीर—नहीं, यह बात तो नहीं है, किन्तु, हाँ, इससे मुझे बहुत अच्छा लगा। यदि मैंने कभी इसका मजा न चक्खा होता, तो आज मेरा जीवन कुछ दूसरा ही होता।

टेरस—किन्तु मेरी धारणा कुछ दूसरी है। मैं समझता हूँ, यदि हम संयत-रूप से पियें तो हमें कभी कोई नुकसान नहीं हो सकता।

राहगीर—किन्तु मैं कहता हूँ वह बड़ी शक्तिशालिनी है। मनुष्य का सर्वनाश किये बिना उसका पीछा नहीं छोड़ती।

मरथा—यही तो मैं कहती हूँ। यहाँ हम रात-दिन



(शैतान की लकड़ी से)　　शराब के मानो हैं घर की बरबादी।

मेहनत करके अपनी जान लड़ा देती हैं और उसके बदले में हमें पुरस्कार मिलता है लात और घूँसे।

राहगीर—किन्तु मेरी समझ में इतने ही से बस नहीं होती। कुछ ऐसे आदमी भी मैंने देखे हैं, जो उसके वशीभूत होकर अपनी सारी बुद्धि खो बैठते हैं। फिर न उनकी बात का ठीक रहता है और न काम का। जबतक वह शराब के घूँट से दूर है तब तक आप उसे चाहे जो दीजिए, वह कभी किसी दूसरे की चीज़ नहीं ग्रहण करेगा। किन्तु जहाँ एक बार वह गले के नीचे उतर गई, वह तुरन्त दूसरों की चीजें हथियाने की चेष्टा करने लगता है। कभी कभी ऐसे लोग खूब पीटे जाते हैं और उन्हें जेल-यातना भी सहना पड़ती है। मैं भी जबतक नहीं पीता तबतक तो सब ठीक रहता है। मैं अपने आप को पक्का ईमानदार कह सकता हूँ। किन्तु जहाँ मुझे अथवा मुझ-जैसे लोगों को नशा चढ़ गया, तहाँ अपनी-पराई का ध्यान नहीं रहता।

एकूलिना—यह सब अपने-अपने स्वभाव की बात है।

राहगीर—मनुष्य का स्वभाव भी नशे के चक्कर में चकनाचूर हो जाता है। मैं तो इसे एक बीमारी समझता हूँ।

टॉम्स—निस्सन्देह बड़ी अच्छी बीमारी है। किन्तु बेतों की मार से, मैं समझता हूँ, यह बीमारी तुरन्त ही दूर हो सकती है। किन्तु अब तो मैं बिदा चाहता हूँ।

[प्रस्थान]

एकूलिना (यह देखकर कि राहगीर ने अपनी सारी रोटी खा ली है)—मरथा। ओ मरथा! इसे एक दूसरा टुकड़ा काट दे।

मरथा—मुझे फुर्सत नहीं, मैं चूल्हा जलाने जाती हूँ।

[एकूलिना फिर उठकर मेज के पास जाती और रोटी का टुकड़ा काटकर राहगीर को देती है]

राहगीर—धन्यवाद! मुझे बड़ी भूख लग रही थी।

एकूलिना—क्या तुम मज़दूर हो?

राहगीर—कौन, मैं? नहीं, मैं इञ्जिन चलाता हूँ।

एकूलिना—तुम्हें क्या वेतन मिलता है?

राहगीर—महीने में ५० रुपये, कभी-कभी ७० भी मिल जाते हैं।

एकूलिना—अच्छी रकम मिलती है। फिर तुम्हारी ऐसी फटी हालत क्यों हो गई?

राहगीर—फटी हालत! मैं ही अकेला ऐसा नहीं हूँ। अब तो समय की कुछ ऐसी विचित्र गति हो गई है कि भले-मानुषों की कहीं गुजर नहीं हो सकती।

मरथा (चूल्हा लाती है)—हे ईश्वर, मालूम होता है, आज तो उन्होंने अवश्य ही शराब पी है! रह-रहकर मेरा दिल दहल जाता है।

एकूलिना—मैं समझती हूँ, वह नाटक देखने चला गया होगा।

मरथा—सम्भव है। यहाँ तो हम आटा पीसते और रोटी पकाते पकाते मरी जाती हैं। सूत कातती हैं और कपड़ा बुनती हैं। पशुओं का भार भी हमारे सिर है (पालने में बच्चा रो उठता है) ओ प्रकाशका! जरा बच्चे को झुला दे। हम लोग तो इतना काम करें, फिर भी उन्हें हमारी पर्वाह नहीं होती। शराब पीते हैं और कोई कुछ कहे तो उल्टा डाटते हैं।

एकूलिना (चाय बनाती हुई)—क्या और चाय नहीं बची है? तूने तो बाजार से लाने के लिए कह ही दिया होगा?

मरथा—कह तो दिया है, किन्तु वहाँ पहुँचकर जब उन्हें याद रहे तब तो—(वह चूल्हा उठाकर मेज पर रख देती है)

[राहगीर कुछ दूर हट जाता है]

एकूलिना—हटते क्यों हो? क्या चाय नहीं पियोगे?

राहगीर—मैं आपके इस हार्दिक आतिथ्य के लिए चिरऋणी रहूँगा।

[अपना सिगार फेंककर फिर पास आ जाता है]

मरथा—अच्छा, तुम किस समाज के हो? किसान लोग अथवा और कोई?

राहगीर—न मैं किसानों में से हूँ, और न श्रीमानों में से। मैं तो बीच ही हिलगा हूँ।

मरथा—इसका मतलब? (उसे एक प्याला चाय देती है)

राहगीर—धन्यवाद! तुम इसका मतलब पूछती हो?

अच्छा, सुनो। मेरा पिता पोलिश काउण्ट था। इसके सिवा और भी अनेक मेरे पिता रहे होंगे। मेरे मातायें भी दो थीं।

एकूलिना — हे ईश्वर! यह तुम क्या कहते हो?

राहगीर—अब भी नहीं समझीं? मेरी माता वेश्या थी, ऐसी दशा में मैं किसे अपना पिता बताऊँ? और माता भी मेरे दो थीं—क्योंकि, जिसके गर्भ से मैं पैदा हुआ था उसने बचपन ही में मुझे छोड़ दिया था और दया करके एक कुम्हार की स्त्री ने मेरा लालन-पालन किया था। सच पूछो तो, मेरे जीवन-चरित्र में ऐसी सैकड़ों कठिनाइयाँ हैं।

मरथा—लो थोड़ी चाय और पीलो। क्या तुमने कुछ शिक्षा भी पाई है?

राहगीर—इसी प्रकार मेरी शिक्षा बहुत गड़बड़-सड़बड़ रही है। मेरी माँ ने तो मुझे छोड़ ही दिया था किन्तु फिर जिसे मैं माँ कहता रहा हूँ उसने पहले मुझे एक लुहार के हवाले किया। अब मैं उसकी योग्यता की बात क्या सुनाऊँ। वह अपने हथोड़े से निहाई को उतना नहीं पीटता था, जितनी कि मेरे इस अभागे सिर की खबर लेता था। किन्तु मैं भी बड़ा पक्का हूँ। उसने मुझे बहुत पीटा, किन्तु वह मुझे किसी प्रकार बुद्धिहीन न बना सका। वहाँ से मैं एक ताला बनाने वाली फैक्टरी में चला गया और कुछ दिनों काम करने के बाद इंजिनमैन हो गया। तब वहाँ मुझे शिक्षित लोगों के साथ रहने का अवसर मिला और मैं एक राजनैतिक दल में सम्मिलित हो गया। मेरी बुद्धि तीव्र तो थी ही, मैंने जल्दी ही बहुत-सा साहित्य पढ़ डाला। यदि मुझको यथेष्ट अवसर मिलता, तो मैं सचमुच बहुत बड़ा आदमी हो गया होता।

एकूलिना—इसमें शक नहीं।

राहगीर—किन्तु यहीं पर मेरे मार्ग में एक नूतन बाधा आई। राजसत्ता के प्रबल अत्याचार से लोगों का जीवन पिसा जा रहा था। मैं जेल में भेज दिया गया। मेरे कहने का मतलब यह कि मेरे स्वतंत्र विचारों के कारण अधिकारियों ने मुझे जेल की सजा दी।

मरथा—कैसे विचार?

राहगीर—अपने अधिकारों के विषय में।

मरथा—कैसे अधिकार?

राहगीर—कैसे अधिकार! ओ! अभी तुम इतना भी नहीं जानतीं? श्रीमान् लोग जो इतने ऐश-आराम से जीवन बिता रहे हैं, वास्तव में इसका उन्हें कोई अधिकार नहीं। वे मजदूरों की गाढ़ी कमाई को हड़प करके ही इतना आराम उठाते हैं।

एकूलिना—अच्छा, तो क्या तुमने जमीन पर अधिकार प्राप्त करने की कोशिश की थी?

राहगीर—क्यों नहीं? यही तो सबसे बड़ा प्रश्न है।

एकूलिना—ईश्वर तुम्हारी इच्छा पूरी करे, हम लोगों को जमीन की बड़ी तंगी है। अच्छा आजकल तुम क्या कर रहे हो?

राहगीर—आजकल, अब मैं मास्को जा रहा हूँ। वहाँ मैं किसी मजदूरों पर अत्याचार करनेवाले के पास जाऊँगा। कोई चारा नहीं। मैं नम्रतापूर्वक उससे विनती करूंगा कि जैसे बने वैसे मुझे कोई काम दे दो, मैं उसके लिए चाहे जैसी शर्तें स्वीकार कर लूँगा।

एकूलिना—थोड़ी-सी चाय और पियो।

राहगीर—धन्यवाद। मैं तुम्हारे आतिथ्य के ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकता।

[झूमते हुए माइकिल और इगनेट का प्रवेश]

इगनेट—तुम लोग क्या कर रहे हो? (वह स्वयं त्रिशूल के सामने घुटने टेक देता है।) लो, अब हम लोग आगये दिल खोलकर मौज करो—

हमलोग गिरजाघर गये थे किन्तु वहाँ प्रार्थना हो चुकी थी। हम लोग होटल में गये, किन्तु वहाँ भी भोजन के लिए कुछ नहीं मिला। किन्तु यहाँ हमारा भाग्य चमक गया। आते देर नहीं हुई और चाय तैयार है। किन्तु, घबराओ नहीं। चाय के बदले मैं तुम्हें बढ़िया शराब दूँगा। [हँसता है

माइकिल (राहगीर की ओर इशारा करके)—यह मरभुखा कहाँ से आया है? (अपने कोट की जेब से बोतल निकालकर मेज पर रखता है) जल्दी प्याला लाओ।

एकूलिना—शहर में सब ठीक-ठाक तो रहा?

इगनेट—इससे बढ़कर हो ही क्या सकता था? कैसा

बेहूदा सवाल करती है। खूब पी और खूब तमाशा देखा, और थोड़ी-सी घर भी लाये।

माइकिल (प्याला भरता है, एक माँ को देकर राहगीर की ओर इशारा करके)—एक तू भी ले।

राहगीर (प्याला लेकर)—मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ। ईश्वर तुम्हारा भला करे! (एकदम प्याला खाली कर देता है)

इगनेट—बहुत खूब! कैसी जल्दी गट कर लिया।

माइकिल—बहुत ठीक! ये सब फिजूल की बातें हैं। यदि जीवन में एक बार भी मौज न की तो जिन्दगी काहे की?

मरथा—इतना बड़बड़ाते काहे के लिए हो? ये बातें अच्छी नहीं। घर में भूजी भाँग नहीं और मियाँ नवाबी छाँटते हैं।

माइकिल (डाट कर)—मरथा!

मरथा—क्यों चिल्लाते हो मैं मरथा हूँ। मरथा का क्या करोगे? मैं तो तुम्हारी सूरत से बेजार हूँ।



वह अपनी मजदूरी को बरबाद करके आता है नशे में धुत्त होकर और देता है अपने बीवी-बच्चों को लात-घूँसे और गालियों का पुरस्कार
(शैतान की लकड़ी से)

ईश्वर इसका बुरा न हो। मैं समझता हूँ, भूख के मारे इसके पेट में चूहे दौड़ रहे हैं। (कुछ थोड़ी और डाल देता है)

राहगीर (पीता है)—ईश्वर, तुम्हारे सब काम सफल हों।

एकुलिना—क्यों, घास के लिए अच्छे दाम तो मिले?

इगनेट—अच्छे या बुरे, फिर बेहूदा सवाल! हम सब पी गये। क्यों माइकिल, ठीक कहता हूँ न?

माइकिल—मरथा, सम्हल जा!

मरथा—सम्हलने की कोई बात नहीं। मैं नहीं सुनना चाहती।

माइकिल—प्यालों को भरो और मेहमानों की खातिर करो।

मरथा—तुम खूँख्वार कुत्ते हो। मैं तुम लोगों से बात नहीं करना चाहती।

माइकिल (क्रोध से)—**ओ शैतान की बच्ची ! क्या कहा, नहीं करना चाहती ?**

मरथा (पालना झुलाती है, प्रकाशवती भी डर के मारे दौड़कर उसके पास आ जाती है)—**मैंने क्या कहा ? मैं तुम लोगों से बात नहीं करना चाहती, बस ।**

माइकिल—भूल गई इतनी जल्दी भूल गई ? (दौड़कर कर सिर पर चपत जमाता है और रूमाल छीन लेता है) **शैतान की बच्ची !**

मरथा— ओ, ओ, ओ, (दर्वाजे की ओर दौड़ती है)

माइकिल—दौड़कर कहाँ जायगी, ओ शैतान ! (उसी ओर दौड़ता है)

राहगीर (लपक कर उसका हाथ पकड़ लेता है)—**तुम्हें ऐसा अधिकार नहीं ।**

माइकिल (ठिठककर राहगीर की ओर आश्चर्य से देखता है)—**क्या तुम्हारी भी मार खाने की इच्छा है ?**

राहगीर—नहीं, तुम्हें इस प्रकार स्त्रियों को पददलित करने का कोई अधिकार नहीं ।

माइकिल ओ शैतान के बच्चे ! (घूसा दिखाकर) **इसे देखा है ?**

राहगीर—मैं स्त्री-जाति पर अत्याचार किसी प्रकार न होने दूंगा ।

माइकिल—मैं तुम्हारे ऊपर ऐसा अत्याचार करूँगा कि ये सब बातें बनाना भूल जाओगे ।

राहगीर—मैं कब डरता हूँ । लो मारो, खूब मारो । (सिर आगे कर देता है]

माइकिल (सिर उठाता है और भुजायें फैला देता है) — **अच्छा, जो मैं सचमुच तुझे मार उठूं तो**

राहगीर—हाँ, हाँ, मारो । मारो न ?

माइकिल—अच्छा, तुम सुधारक मालूम होते हो । अब मैं समझा । [बाहें नीची करके सिर हिलाता है]

इगनेट (राहगीर से)— **तेरा बुरा न हो, तुझे स्त्रियों से इतना अधिक प्रेम है ।**

राहगीर—मैं उनके अधिकारों का पक्षपाती हूँ ।

माइकिल (भारी स्वांसें लेकर फिर मेज पर लौट आता है । मरथा से)—**अच्छा, मरथा, लौट आ और 'क्रास' के आगे इसके नाम का एक बड़ा दीपक जला दे । यदि आज यह न होता तो तेरा मार मार के कचूमर निकाल देता ।**

मरथा—और तुमसे आशा ही क्या की जा सकती है ! हम यहाँ रात दिन मेहनत करते, रोटी बनाते और पानी भरते-भरते मरी जाती हैं और ज्योंही कुछ बात ··

माइकिल—अच्छा, चुप रह, चुप रह, (राहगीर को एक प्याला और देता है) **लो, पियो ।** (अपनी स्त्री से) **तू बड़बड़ाती क्यों है ? क्या कभी कोई हंसी-मजाक भी न करे ? लो** (रुपया देता है) **ठण्डी हो जाओ । इसमें बीस रुपये के नोट हैं ।**

मरथा—और चाय और शक्कर जो मैंने मँगाई थी ।

माइकिल (अपनी जेब से बण्डल निकाल कर स्त्री को देता है । मरथा रुपया और बण्डल लेकर छोटे कमरे में चली जाती है) **ये स्त्रियाँ कैसी पागल होती हैं ।** [राहगीर को फिर एक ग्लास देता है] **लो और पियो ।**

राहगीर (इन्कार करता है)—**तुम्हीं पियो ।**

माइकिल—पियो भी नखरे मत करो ।

राहगीर (लेकर)—**ईश्वर तुम्हारा भला करे !**

इगनेट (राहगीर से) **तुम सचमुच कोई बड़े आदमी हो । देखो न, कैसा सुन्दर कोट पहने हो ! एकदम नया फैशन ! कहाँसे तैयार कराया है ?** (राहगीर की फटी हुई वास्कट की ओर इशारा करके) **इसको कभी सुधारना मत, यह योंही भली मालूम होती है । कोई पुरानी निशानी है, इसको सुधारना ठीक नहीं । यदि मुझे भी कहीं से ऐसे कपड़े मिल जाते तो मुझे भी स्त्रियाँ इसी तरह प्यार करतीं ।** (मरथा से) **क्यों ठीक कहता हूँ न ?**

एकुलिना—कैसे बदतमीज हो । बिना कुछ समझे-बूझे किसीका दिल्लगी उड़ाना ठीक नहीं ।

राहगीर—अशिक्षा का यही फल होता है ।

इगनेट—मैं तो हँसी कर रहा हूँ (शराब देता है) **लो और पियो ।**

एकुलिना—वह तो स्वयं **कहता है कि यही सब पापों की जड़ है और इसके कारण वह जेल भी भुगत आया है ।**

माइकिल—तुम्हें जेल क्यों हुआ था ?

राहगीर (नशे में)—मुझे डाकेजनी में सजा हुई थी।

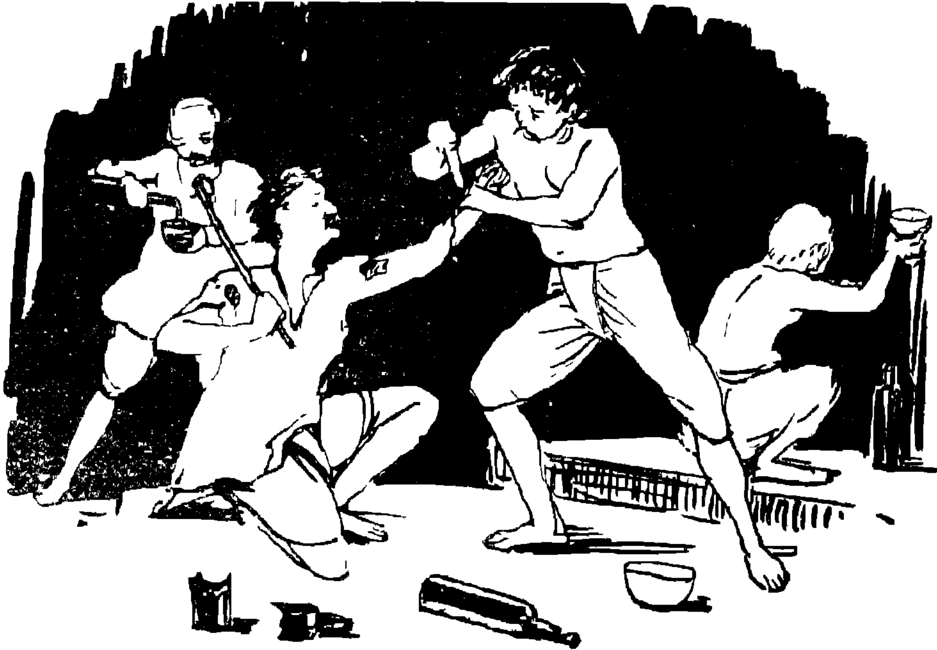
माइकिल—कैसी डाकेजनी ?

राहगीर (हँसकर)—कैसी डाकेजनी ? उसमें क्या, किसी सुनसान चौराहे पर जाकर खड़े हो गये, कोई राहगीर दिखाई दिया तो झट तन से उसकी छाती पर पिस्तौल तान दी। कहा—जो कुछ हो सो धर दो, नहीं तो बस ! वह पहले तो इधर-उधर करता है और फिर चुपचाप जेब खाली कर देता है।

तुमने रुपया चुराया है ? मैंने साफ़-साफ़ कह दिया—चोरी करना चोरों का काम है। हम लोग अपने दल के लिए रुपया इकट्ठा करते हैं। बस, फिर उससे कोई जवाब नहीं बन पड़ा। इधर-उधर करने लगा। अन्त में उसने कहा—जाओ, इसे जेल में ले जाओ। उस दिन से मेरा स्वतन्त्र जीवन छिन गया।

इगनेट—बड़ा शैतान है, चलता-पुरजा ! (शराब का गिलास देकर) ले, शैतान के बच्चे, और पी।

एकुलिना—बदतमीज, कैसे गन्दे शब्द मुँह से निका-



यहाँ तो बात-बात पर लड़ाई होने लगती है। (शैतान की लकड़ी से)

एकुलिना—हे ईश्वर !

राहगीर—किन्तु हम लोग कभी उस रुपये का दुरुपयोग नहीं करते। जेम्बीकेव हमारा नेता था। किन्तु झट से पुलिस के कुत्ते हमारे ऊपर टूट पड़े और हमें कैद कर लिया।

इगनेट—उन्होंने रुपया भी ले लिया होगा ?

राहगीर—क्यों नहीं ? किन्तु वे मुझे दोषी सिद्ध नहीं कर सके। अभियोग में जज ने मुझसे ये शब्द कहे थे—

लता है ?

इगनेट—नहीं, अम्माँ, मैं गाली थोड़े ही देता हूँ। मेरी बोली ही ऐसी है। तेरा नाश न हो

[मरथा लौट आती है और चाय के प्याले भरती है]

माइकिल—बहुत ठीक, नाराजी का भूत उतर गया। [राहगीर की ओर इशारा करके] यह सब इसकी बदौलत है, ठीक कहता हूँ न ? [फिर मरथा का आलिंगन करता है] मैं तो इसे बहुत प्यार करता हूँ, देखा न, कैसी सुन्दर

मालूम देती है। मैं तो संसार में कभी किसी दूसरी चीज़ से इसका परिवर्तन नहीं कर सकता।

इगनेट—बहुत ठीक, अम्माँ, मैं तुम्हारी मंगल-कामना करता हूँ [शराब पीता है]

राहगीर—मैं कहता था न, देखा शराब की शक्ति! पहले चारों ओर उदासी ही उदासी थी किन्तु अब आनन्द और प्रेमालाप के सिवा दूसरी बात नहीं। अम्माँ, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, सबको प्यार करता हूँ। प्यारे भाई! [क्रान्तिकारी गीत गाता है]

माइकिल—बच्चों की भूख कुछ शान्त हो गई मालूम होती है।

दूसरा दृश्य

[समय-प्रभात। स्थान—वही झोंपड़ी। मरथा और एकूलिना। माइकिल सोता है।]

मरथा (कुल्हाड़ी उठाता है)—मैं बाहर लकड़ी फाड़ने जाती हूँ।

एकूलिना (घड़ा लिये हुए)—सचमुच, मरथा उसने कल तुम्हारा हड्डा-पसली तोड़ डाला होता, किन्तु उस राहगीर ने बचा लिया। दिखाई नहीं देता, कहाँ चला गया। शायद उठ गया।

[दोनों का प्रस्थान]

माइकिल (तंदूर पर से नीचे उतरता है)—ओहो, सूरज कितना चढ़ आया! (जूते पहनता है) वह अम्माँ के साथ पानी भरने गई होगी। मेरा तो सिर दर्द करता है। अब कभी भूलकर भी न पिऊँगा। खुदा—कसम कभी न पिऊँगा। (सलीब के सामने घुटने टेककर प्रार्थना करता है, और फिर हाथ-पैर धोता है) चलूँ, घोड़ जोतूँ।

[लकड़ी लेकर मरथा का प्रवेश]

मरथा—और कल का भिखारी? क्या चला गया?

माइकिल—चला ही गया होगा, दिखाई तो नहीं देता।

मरथा—जाने दो, था बड़ा चलता पुर्जा।

माइकिल—क्यों नहीं, उसने तुम्हारी पैरवी की थी।

मरथा—तो क्या हुआ?

[माइकिल कोट पहनता है]

मरथा—चाय और शक्कर कहाँ हैं। रात को तुमने कहाँ रख दी थीं?

माइकिल—मैंने तुमको नहीं दी?

[घड़ा लेकर एकूलिना का प्रवेश]

मरथा (एकूलिना से)—अम्माँ, कल का बण्डल तुमने देखा है?

एकूलिना—मैं नहीं जानती, मैंने तो उसे देखा भी नहीं।

मरथा—रात को मैंने खिड़की में रख दिया था।

एकूलिना—ऐसा ही मुझे याद पड़ता है।

मरथा—फिर कहाँ गया?

[सबके सब ढूँढने लगते हैं]

एकूलिना—बड़े अफसोस की बात है।

[एक पड़ोसी का प्रवेश]

पड़ोसी—माइकिल, आज खेत पर नहीं चलोगे?

माइकिल—चलूँगा तो। मैं अभी घोड़े जोतने जा रहा था, किन्तु हमारी एक चीज खो गई है।

पड़ोसी—क्या?

मरथा—क्या बतायें? कल शहर से चाय और शक्कर लाये थे, एक बण्डल था। मैंने उसे खिड़की में रख दिया था। मुझे ठीक याद है, मैंने यहीं रक्खा था—फिर, न जाने कहाँ चला गया।

माइकिल—और भाई, कल रात को हमारे यहाँ एक राहगीर ठहरा था। हम लोग उसपर सन्देह करते हैं किन्तु, यदि उसने न लिया होगा तो हम लोग व्यर्थ ही पाप के भागी होंगे।

पड़ोसी—कैसा राहगीर?

मरथा—दुबला पतला था और उसके दाढ़ी भी न थी।

माइकिल—और उसके कपड़े बिलकुल चिथड़े-चिथड़े थे।

पड़ोसी—अच्छा, उसके बाल घुँघरवाले तो नहीं थे? और नाक कुछ टेढ़ी?

माइकिल—हाँ, हाँ!

पड़ोसी—तो मैंने उसे अभी देखा है। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि यह इतना तेज़ क्यों भागा जाता है!

माइकिल—अवश्य वही लेगया है। कहाँ पहुँचा होगा ?

पड़ोसी—मैं समझता हूँ। वह पुल तक नहीं पहुँचा होगा।

माइकिल (टोपी उठाता है और जल्दी में पड़ोसी के साथ बाहर की ओर भागता है)—मैं उस साले को पकड़ूँगा, वही चुरा ले गया है।

मरथा—हे ईश्वर, कैसे अफसोस की बात है! उसके सिवा कोई दूसरा नहीं ले जा सकता।

एकूलिना—और यदि वह न ले गया हो? बीस वर्ष पहले एक बार ऐसा ही, ठीक ऐसा ही, हो गया। लोगों ने एक आदमी की घोड़े की चोरी लगाई थी, भीड़ जमा हो गई। एक कहता था—मैंने स्वयं उसे घोड़ा छोड़ते देखा है, दूसरा कहता था—मैंने उसे ले जाते देखा है। बड़ा घोड़ा था, सभी उसे पहचानते थे। एकाएक सब ढूँढ़ने लगे। जंगल में उन्हें एक लड़का मिला। बस, फिर क्या था। सभी एक स्वर से चिल्ला उठे—इसीने घोड़ा चुराया है, इसीने घोड़ा चुराया है। लड़के ने साफ इन्कार किया और बीसों सौगन्धें भी खाईं, किन्तु वहाँ कौन सुननेवाला था? सभी कहते थे कि इसकी बात नहीं मानी जा सकती। एक स्त्री ने तो निश्चय पूर्वक कहा कि घोड़ा इसी लड़के ने चुराया है मैंने स्वयं अपनी आँखों देखा है। इसपर लड़के को भी क्रोध आया। वह अनाप शनाप बकने लगा। जार्ज लापस्किन जो मर गया है, बड़ा तेज आदमी था। उससे लड़के की बातें न सुनी गईं। उसने लड़के के मुँह पर एक चपत जमा दी, उसके मुँह से खून गिरने लगा। किन्तु फिर भी उसे दया न आई। वह बार बार कहता, 'तुम्हींने घोड़ा चुराया है,' और हर बार एक चपत जमा देता। फिर क्या था, देखा-देखी सभी लोग उस लड़के को पीटने लगे। किसी ने बेंत लगाये और किसी ने घूसे—यहाँ तक कि सबने मिल कर उस लड़के के प्राण पखेरू उड़ा दिये। कैसी करुणाजनक घटना थी! और लो, दूसरे ही दिन असली चोर मिल गया। जिस लड़के के इन लोगों ने व्यर्थ ही प्राणहरण किये थे, वह बेचारा जंगल में लकड़ियों के लिए एक पेड़ काटने गया था।

मरथा—मुझे भी डर है कि इस समय भी कहीं वैसी दुर्घटना न हो जाय। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय उसकी दशा बहुत खराब है। किन्तु फिर भी वह भला आदमी मालूम होता था।

एकूलिना—नहीं, भिखारियों से हम अधिक आशा नहीं कर सकते। जब एक बार मनुष्य का पतन हो जाता है, तब वह जो न करे सो थोड़ा।

मरथा—सुनो, वे चिल्ला रहे हैं। मैं समझती हूँ, उन्होंने उसे पकड़ लिया।

(माइकिल, पड़ोसी आदि राहगीर को ढकेलते हुए आते हैं)

माइकिल (बण्डल लिये हुए उत्तेजना से अपनी स्त्री से कहता है)—लो, देखो, यह इसीने चुराया था। (राहगीर से) चोर, कुत्ता कहीं का!

एकूलिना (मरथा से)—बहुत गरीब है। देखो, लज्जा से उसका सिर अपने आप झुक गया है।

मरथा—ओ हो, कल तो स्वयं उसने अपने मुँह से कहा था कि जब मैं शराब पी लेता हूँ तब मैं अपने आप को रोक नहीं सकता—मैं दूसरों की चीजें चुराने लगता हूँ।

राहगीर—मैं चोर नहीं हूँ। मैं जो काम करता हूँ, वह खुल्लम खुल्ला। मैं काम करता हूँ और गाढ़ी कमाई का पैसा खाता हूँ। किन्तु तुम मेरी बात नहीं समझ सकते, इसलिए जो तुम्हारे मन में आवे सो करो।

पड़ोसी—या तो इसे गाँव के मुखिया के पास ले चलो अथवा सीधे पुलिस के हवाले कर दो।

राहगीर—चाहे जो करो, मुझे किसी की पर्वाह नहीं। मैं किसी से नहीं डरता, क्योंकि अपने अपराधों की सजा भुगतने के लिए मैं सदैव तैयार रहता हूँ। यदि तुम पढ़े-लिखे होते तो मेरी बात समझते।

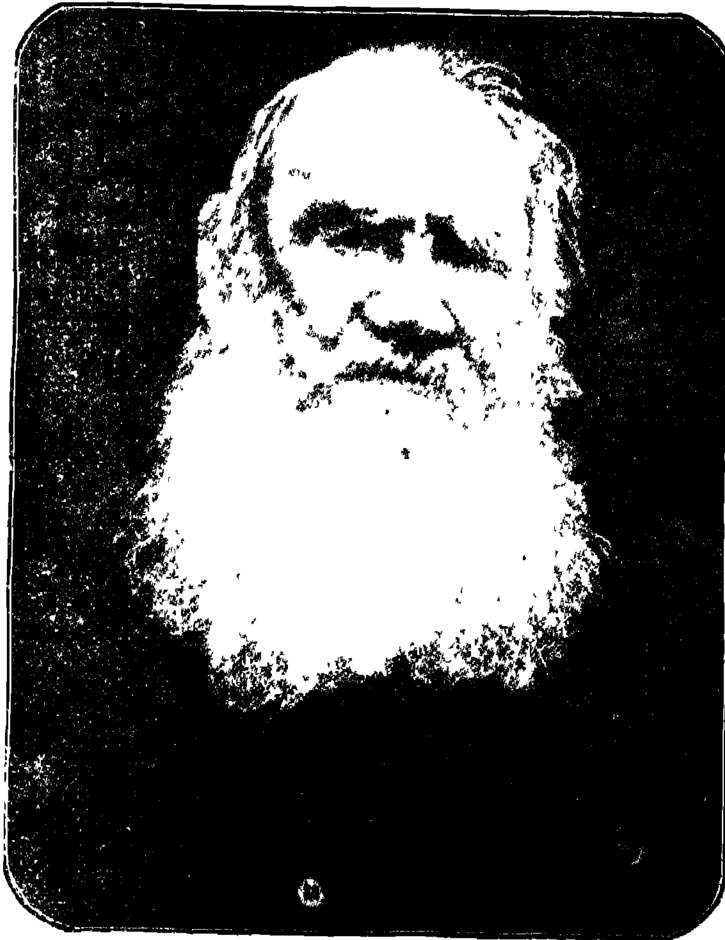
मरथा (अपने पति से)—मेरी राय में इसे छोड़ दो। बण्डल तो हम लोगों को मिल ही गया है। वह दरिद्र है, उसे सताना ठीक नहीं।

माइकिल (दुहराते हुए)—अच्छा, सताना ठीक नहीं, मुझे उपदेश देने चली है—मानो मैं कुछ जानता ही नहीं,

जैसे तू ही मेरे सब काम किया करती हो !

मरथा--उसे फिर जाने क्यों नहीं देते ?

माइकिल--उसे जाने क्यों नहीं देते, उसे जाने क्यों नहीं देते ? चुप रह बेवकूफ ! तू समझती है, मैं बड़ी जानकार हूँ, किंतु जानती खाक भी नहीं। वह जायगा तो सही, किन्तु इसे पहले दो-एक बातें तो सुना देनी होंगी, जो उसके दिल में चुभें। (राहगीर से) अच्छा, जनाब, सुनिए- मैं तुमसे एक बात कहना चाहता हूँ। यद्यपि इस समय तुम बड़ी फटी हालत में हो, फिर भी तुमने बहुत बुरा काम किया। यदि कोई दूसरा आदमी होता तो हड्डी-पसली एक कर देता। तुमने इतना बुरा काम किया, जितना कोई कर नहीं सकता। किन्तु तुम बहुत दरिद्र मालूम होते हो और मैं तुम्हें सताना नहीं चाहता (ठहर जाता है, सब सन्नाटे में रह जाते हैं। फिर गम्भीरता से कहता है) अच्छा, जाओ, ईश्वर तुम्हारा भला करे, फिर कभी ऐसा काम न करना [अपनी स्त्री की ओर] तू मुझे उपदेश देने चली थी, समझती है, मैं बड़ी पण्डित हूँ !



इस रचना के लेखक—टालसटाय

पड़ोसी—नहीं, नहीं, माइकिल, तुम्हें इसे कदापि न छोड़ना चाहिए। इस प्रकार तुम स्वयं पाप के भागी होगे।

माइकिल (बण्डल हाथ में झुलाता हुआ)—पाप का भागी हूँगा या न हूँगा, इससे तुम्हें क्या ? [स्त्री से] और ? मुझे उपदेश देने चली थी [बण्डल की ओर देखकर स्त्री की ओर देखता है और फिर पक्के इरादे से राहगीर को देता है] ले, इसे ले जा। रास्ते में तेरे काम आयगा।

राहगीर (बण्डल ले लेता है—फिर कुछ देर चुप रहने के बाद) तुम समझते हो कि मैं कुछ नहीं समझता (उसकी आवाज कांपने लगती है) किन्तु, नहीं मैं खूब समझता हूँ। यदि आज तुमने कुत्ते की भांति मुझे खूब मारा होता तो मुझे इतना दुख न होता। क्या मैं इतना भी नहीं समझता ? मैं नीच हूँ, मैं दरिद्र हूँ, किन्तु ईश्वर के लिए मेरे साथ ऐसा अन्याय न करो [सिसकियां भरता है, बण्डल मेज पर फेंककर जल्दी से भाग जाता है]

पड़ोसी—बेचारा बहुत दुःखी था।

एकूलिना--आखिर, वह भी आदमी है।

दीनदयालु श्रीवास्तव

साहित्य-संगीत-कला

उत्तर

इस एक बूंद आँसू में
　　चाहे साम्राज्य बहा दो।
अपने इन वरदानो से
　　यह सूनापन बिखरा दो।

इच्छाओं की कम्पन मे
　　सोया एकान्त जगा दो।
आशा की मुस्काहट पर
　　मेरा नैराश्य लुटा दो।

चाहे जर्जर तारो में
　　अपना मानस उलझा दो।
इन पलको के प्यालो मे
　　सुख का आसव छलका दो।

मेरे बिखरे प्राणो मे
　　अपनी करुणा ढुलका दो।
मेरी छोटी सीमा मे
　　अपना अस्तित्व मिटा दो।

पर शेष नही होगी यह
　　मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
पीड़ा में तुमको ढूँढा
　　तुममें ढूँढूँगी पीड़ा।

महादेवी वर्मा

चुनौती

रजनी के बिखरे बालो को गूँथ किरन से अपने—
नभ में जब हँस पड़े सुधाकर, तब वे मीठे सपने।
कल-कल से ले तोड़, विवश उस तरल-तरङ्गिनि-तीरे।
दौड़ा रुदन, लुटा आँखो को निधियाँ, धीरे-धीरे।
आकर्षण ने कहा गर्व से आकर मुझसे—"मेरे।
पागलपन में सो न सकेंगे और अधिक क्षण तेरे।"

'वीरात्मा'

हमारे यहां का पत्र-संचालन

पत्र-सचालन एक महान्, बड़े महत्व और उत्तर-दायित्व का काम है। आधुनिक सभ्य समय में इस का यथायोग्य सम्पादन करना विशेष कठिन और बड़े कौशल का कार्य्य हो गया है। इसका उद्देश्य सदा पवित्र और ऊँचा रहना चाहिए। इस भाव के बिना समाज का कल्याण-साधन नहीं हो सकता।

किन्तु हिन्दी-ससार की ओर देखिए ! हम लोगों की साहित्यिक जागृति के साथ साथ समाचार-पत्रों और सामयिक पत्र-पत्रिकाओं की भरमार हो रही है, कुछ ही वर्षों में इनकी अवस्था क्या से क्या हो गई है। है तो बात वास्तव में बड़ी प्रसन्नता की। कम से कम सामयिक पत्र-पत्रिकाओं की संख्या, काया और सजधज दिनों दिन बढ़ रही है। इससे यह जान पड़ता है कि कुछ लोग इन्हें पसन्द करने लगे हैं और इनके सम्पादकों को दो पैसे मिलने लगे हैं। इससे साहित्य, शिक्षा और ज्ञान की वृद्धि कुछ न कुछ अवश्य होती है। बहुत से सम्पन्न निकम्मे, जो पहले ताश और चौसर ही पर अपना मनोरञ्जन शेष समझते थे, अब चित्ताकर्षक आवरण वाली पत्रिकाओं के द्वारा दो अक्षर पढ़कर अपना मनोरञ्जन तथा ज्ञानवृद्धि दोनों कर लेते हैं। विद्यार्थीगण, जो व्यर्थ बैठे-बैठे योंही समय नष्ट करते थे, इन पत्रिकाओं द्वारा बहुत कुछ लाभ उठा रहे हैं। ये बड़े हर्ष की बातें हैं और हमारे भावी समाज की साहित्यिक उन्नति तथा शिष्टता की सुरुचि की द्योतक हैं।

किन्तु, खेद का विषय है कि हमारे यहाँ पत्र सचालन एक ढर्रे तथा देखा-देखी का कार्य्य हो गया है ! देशकाल और आवश्यकताओं की ओर विचार नही किया जाता। अधिकांश सम्पादकों और सचालकों को पत्र-सचालन की क्रियाविधि तथा मूलतत्वों का शायद ज्ञान नहीं है। बिना थोड़ा बहुत समाजशास्त्र के सिद्धान्तों के व्यावहारिक ज्ञान के, बिना सामाजिक समस्याओं और प्रश्नों के ऊपर युक्ति-सगत विचार के पत्र-सम्पादन का कार्य्य, (फिर चाहे उसका *सम्बन्ध समाचारपत्रों से हो या सामयिक पत्रों एवं* पुस्तिकाओं से) यथेष्ट रूप से नहीं हो सकता। पत्र-सम्पादक को उपर्युक्त विषयों के पूर्ण ज्ञान के साथ ही एक कुशल, निस्पृह और निष्पक्ष मनुष्य होना चाहिए। यहाँ कितने पत्र सम्पादक ऐसे हैं, यह सोचने की बात है—और इसका पता उनके द्वारा सम्पादित पत्र पत्रिकाओं की यथोचित जाँच से ही लग जाता है।

पहले की अपेक्षा आजकल समाचार-पत्रों की जगह सामयिक पत्र-पत्रिकाओं की सख्या ही अधिक बढ़ी है, इससे यह स्पष्ट है कि रोजमर्रा अखबार पढ़ने वालों की बनिस्बत नियमित रूप से कुछ गम्भीर विषय के पाठकों की सख्या हिन्दी-समाज में बढ़ गई है। याने हिन्दी ससार के सर्वसाधारण में शिक्षितों की सख्या बहुत कम होने पर भी कुछ पढ़े-लिखे मनुष्यों में एक प्रकार से विद्याभिरुचि बढ़ रही है। अतएव सामयिक पत्र-पुस्तिकायें अधिकतर निकलने लगी हैं। अब जरा इनके दोषगुण की तरफ दृष्टि डालनी चाहिए।

हिन्दी की सामयिक पत्र पत्रिकाओं के देखने से यही विदित होता है कि इनमें से अधिकाश के संचालकों का अधिक ध्यान 'कवर' के ऊपर है। हिन्दी में इसका व्यसन सब से पहले, जहाँ तक मुझे स्मरण है, चार-पाँच वर्ष निकलने के बाद 'सरस्वती' मासिक-पत्रिका को १९०४ या १९०५ में हुआ। इसके पहले भगवती सरस्वती का एक साधारण चित्र 'कवर' के ऊपर छपता था। कुछ दिनों बाद 'सरस्वती' की ही नकल में अन्य मासिक पत्र पत्रिकायें भी नाना प्रकार के रंगीन 'कवर' लगाने लगी। शायद इससे इनके प्रचार में सहायता प्राप्त होता हो। अब तो यहाँ तक चाल चल गई है कि कभी-कभी कवरों के ऊपर बड़ी कमर्ता रगबाजी कराई जाती है। परन्तु, यह स्पष्ट है कि जब एक *श्रृखला पूरी होकर समूची फाइल जिल्द बँधने जाती है तब ये कवर बेकार हो जाते हैं। यदि इनमें खर्च न करके इनके बदले दूसरी तस्वीरें पत्रिकाओं के किसी लेख के साथ लगाई जायँ, तो अच्छा हो। दूसरी त्रुटि चित्रों के सम्बन्ध में है। देखने से ऐसा जान पड़ता है कि बिना*

तस्वीरों के पत्रिकायें किसी काम की हो ही नहीं सकतीं ! यदि कभी विषय-सम्बन्धी कोई चित्र नहीं मिल सकता तो कम-से-कम दो-तीन चित्र सुन्दरियों के अवश्य लगा दिये जाते हैं। तस्वीरों की तरफ़ यह ध्यान नहीं दिया जाता कि जितनी तस्वीरें निकाली जायँ वे साफ़ और सुन्दर हों, यहाँ तो एक-दो तस्वीरें रंगीन निकलती हैं और बाक़ी सिर्फ़ स्याही के धुँधले धब्बे ! तस्वीरों के लगाने का वास्तविक अभिप्राय यह है कि किसी लेख-सम्बन्धी विषय को चित्रों-द्वारा अभिव्यक्त करें या जो चित्र बहुत ही सुन्दर और मर्म-स्पर्शी हों उन्हें सौन्दर्य तथा ललित कलाओं के उत्कृष्ट नमूने समझकर प्रकाशित करें। अन्यथा तस्वीरों से अधिक लाभ नहीं है। ऐसे तो आकर्षण के लिए भले ही तस्वीरों का उपयोग किया जाता हो जिससे ग्राहकों की संख्या बढ़े। उपन्यासों की भाँति चित्रों का भी प्रगाढ़ प्रभाव मनुष्यों के स्वभाव पर पड़ता है, और जब इन पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने वाले अनेकानेक युवक-युवतियाँ तथा बालक-बालिकायें होती हैं, तब चित्रों का प्रदर्शन और भी अधिक उत्तर-दायित्व का कार्य है। बहुधा देखा गया है कि इन बातों के ऊपर यथोचित विचार किये बिना ही पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी तस्वीरें निकाली जाती हैं, जिनसे यदि अश्लीलता नहीं प्रकट होती तो कम-से-कम कुरुचि का तो अवश्य बोध होता है। अतएव चित्रों के प्रदर्शन में सौन्दर्य, सुरुचि तथा शिक्षा इत्यादि की ओर अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

अब विज्ञापनों के विषय में देखना चाहिए। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि अर्थाभाव के कारण पत्र-पत्रिकायें या कोई भी सामाजिक काम नहीं चल सकता, अतएव धन-संचय बहुत ही आवश्यक है। जहाँ तक मनुष्य अधिक लाभ-प्राप्त करे, अच्छा ही है, किन्तु उचित प्रकार से, मान-मर्यादा के साथ, न कि उचित-अनुचित जिस प्रकार से भी हो। आज-कल हिन्दी के मासिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः देखा जाता है कि विज्ञापनों के सामने किसी दूसरे की क़दर नहीं है। लेखों के पृष्ठों के बीच विज्ञापनों के रंगीन काग़ज़ लगा दिये जाते हैं, यहीं तक नहीं बल्कि लेखों के पृष्ठों के बीच-बीच जहाँ-तहाँ जगह निकालकर विज्ञापन प्रकाशित किये जाते हैं। इनसे केवल पढ़ने वालों को कष्ट ही नहीं होता, किन्तु पत्रिकाओं की मर्यादा नष्ट होती है और सारा ढंग भद्दा और लोभग्रस्त दिखाई पड़ता है। पत्र-पत्रिकायें चिरजीवी साहित्य के अंग हैं, इनकी फ़ाइलें बनाकर भविष्य के लिए रक्खी जाती हैं। इनके सुरक्षित रखने के साथ-साथ उन पृष्ठों के बीच छपे हुए विज्ञापनों को भी जीवित रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। विज्ञापनों से आप नफ़ा उठाइए और ज़रूर उठाइए, किन्तु अपनेको उपहास के योग्य क्यों बनाते हैं ?

चौथी बात रही लेखों और पत्र-सम्पादन के विषय में। सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के लेख ऐसे होने चाहिएँ, जिनसे पढ़नेवालों की ज्ञान-वृद्धि हो, जिनसे समाज में भली बातों का प्रचार और बुरी बातों का ह्रास हो, समाज-संशोधन हो, जीवन का उद्देश्य ऊँचा हो, और मानव-समाज तथा सब-का कल्याण हो। इन पत्र-पत्रिकाओं द्वारा और समाचार-पत्र भी इन्हीं का एक वृहत् अंग है—समाज की शिक्षा एक विशेषरूप से तथा विस्तृत प्रकार से होती है। अतएव, सम्पादकों को चाहिए कि उन्हीं विषयों के लेखों को जगह दें, जो इस अभिप्राय को फलतः पूर्ण कर सकें, इसमें पक्ष-पात और परिवरिश की भावना को जगह न मिलनी चाहिए; नातेदारी, मित्रता या अपने दल और पक्ष का ख़याल न करके लेखों की वास्तविक उपयोगिता और श्रेष्ठता के ही ऊपर इनका प्रकाशन निर्भर रहना चाहिए। झगड़ालू विषयों को छोड़कर देश-विदेश के शिक्षाप्रद अथवा जानने-योग्य विषयों, संस्थाओं और महानुभावों के जीवन के सम्बन्ध में अवश्य यथेष्ट ध्यान देना चाहिए, और अपने यहाँ के दोषों को दूर करने के लिए यथोचित प्रकार से प्रयत्न करना चाहिए। आजकल की सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में बहुधा कितने ही ऐसे लेख निकलते हैं, जिन्हें पढ़कर शायद ही कोई लाभ उठाता हो। अब हिन्दी में शायद एक भी पत्र या पत्रिका ऐसी नहीं है जिसे मनुष्य आनन्द-पूर्वक प्रारम्भ से अन्त तक भली-भाँति पढ़ सके।* सार-

* 'त्यागभूमि' ही शायद एक ऐसी पत्रिका आजकल है, जिसमें 'कवर', चित्रों और विज्ञापनों का दुरुपयोग नहीं किया जाता, अतएव इसके संचालकों का प्रयत्न उदाहरणीय है। —लेखक।

गर्भ, सुखद तथा बुद्धि वर्द्धक लेखों का प्रायः अभाव-सा हो गया है। केवल मनोरंजन ही से काम नहीं चल सकता और यह भी इनसे अच्छी तरह नहीं हो पाता।

अतएव, पत्र-संचालकों से, पत्र सम्पादकों तथा लेखकों से यह विनम्र प्रार्थना है कि कृपा-पूर्वक इन बातों पर विचार करके ध्यान दें। आजकल हिन्दी की उन्नति हो रही है, लेखकों और विद्वानों की संख्या बढ़ रही है, बहुत-सी परीक्षायें और पद्वियाँ चल निकली हैं, साहित्य, शिक्षा और विज्ञान की चर्चा कुछ-न कुछ सभी जगह हो रही है; मानसिक, सामाजिक तथा राजनैतिक उन्नति के लिए प्रयत्न हो रहे हैं, इस समय देश और समाज के सभी हितैषियों को चाहिए कि अपने हाथ के कामों को ऐसी योग्यता और सचाई के साथ कर, जिससे किसी को आज या भविष्य में उलहना देने का अवसर न मिले।

ज्ञानेश्वरप्रसादसिंह

रस और नीति-धर्म

इतने दिनों से हम लोग साहित्य को रस का ही व्यापार समझकर विचार करते आये हैं। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को हम केवल काव्य-साहित्य की आलोचना के ही समय सामने लाते हों, ऐसी बात नहीं है, गल्प-साहित्य को भी हम काव्य का ही एक प्रकार का हेर-फेर स्वीकार करते आये हैं। इसमें तनिक भी कोई सन्देह हमारे मन में नहीं हुआ है।

उसके बाद ही रस को लेकर अनेक तरह के विचारों एवं विवेचनाओं का सूत्रपात होता है, किन्तु नाना प्रकार की जटिल आलाप-आलोचनाओं के बाद भी, जान पड़ता है कि, हम लोगों का ज्ञान रस के स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष गहरा नहीं हुआ है। जो चित्त को रसान्वित कर डाले, मधुर-रस के आस्वादन में जैसा आनन्द होता है, साहित्य में भी जो वैसा ही माधुर्य जगाकर आनन्दित करे, वही रस-वस्तु है; इतनी आलोचना के बाद भी हमें इसके सिवा और कुछ ज्ञान-गम्य नहीं हुआ। बल्कि इससे और यह बात भी जानी गई कि रसिकजनों के मनमें जिससे रस जागृत हो, वही हुआ सचमुच का रस, और अरसिकों ने जिसमें रस पाया, वह हुआ विरस। इस प्रकार रसतत्व, स्वयं एक रहस्यमय तत्त्व होगया। ऐसा देखा जाता है कि जिन्होंने अपनेको रसिक कहने का दावा किया है, उन सब आलंकारिकों एवं साहित्य-समालोचकों ने भिन्न-भिन्न समय में रस-विचार-सम्बन्धी कितने ही नियमों के निर्माण की चेष्टा की है, और यह भी देखा जाता है कि ठीक उन सबों के बाद ही अन्य ऐसे रस-स्रष्टाओं का भी आविर्भाव हुआ, जिन्होंने उन सब नियमों का उल्लंघन करके ही मानव चित्त को रसान्वित करने की साधना में सिद्धि लाभ की है। कुछ काल तक तो नियमानुवर्ती पाठकदल ने पूर्वसंस्कार वश इसमें कुछ गण्डगोल मचाया है, किन्तु उसके बाद ही वह धीरे धीरे नूतन भाव में रस की उपलब्धि करने का आदी हो गया है। परिणाम यह निकला कि किससे हमलोगों का चित्त रसान्वित हो उठेगा, इसकी किसी तरह की सीमा ही नहीं बाँधी जा सकती, और भविष्य में भी बाँधी जा सकेगी, ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता।

ऐसा विचार कि रस का जो आवेदन है वह रसिक मन के लिए ही है, सामाजिक भलाई-बुराई और हिताहित विवेचनाशील मन के लिए नहीं, कथा-साहित्य के क्षेत्र में भी उठा है, और इसका कारण समझना कठिन नहीं है। रस का जो आवेदन है, वह हम लोगों की सौन्दर्य बुद्धि के लिए है, न कि हिताहित बुद्धि के लिए। जिस समय हम लोगों के मन में किसी प्रकार का सौंदर्य जागृत हो उठता है, उस समय भलाई-बुराई का विचार ही नहीं उठता। जिस समय हम लोग फूल को सुन्दर कहते हैं, उस समय उससे हमारी कितनी भलाई होगी, यह विचार नहीं करते। नदी की सुन्दरता में

जिस समय अपनेको भुला देते हैं, उस समय भी कृषि-कर्म की दृष्टि से उसकी उपकारिता-अपकारिता का हिसाब नहीं करते। रस-बोध का क्षेत्र सौंदर्य-बोध का क्षेत्र है, नैतिकबोध का नहीं। इसी कारण रसिकों ने साहित्य-क्षेत्र—रस—क्षेत्र-में नैतिक स्वास्थ्य-रक्षा का कातरता को कौतुक का ही विषय समझा है।

मानवीय मनोजगत् मे यदि रसबोध और नीतिबोध का बिलकुल सम्पर्क नहीं रहता तो साहित्य जगत् में भी इस द्वन्द्व का जन्म नहीं होता, परन्तु रस-क्षेत्र में नीति का तर्क बहुत दिनों से चला आ रहा है। इस सम्बन्ध में वैष्णव साहित्य का बात याद पड़ता है। कीर्तन मण्डली के एक श्रोता ने कहा था कि जिस समय कीर्तन की रसाविष्टता के साथ कृष्ण-लीला की बात सुनता हूँ, उस समय एक अपूर्व तन्मयता आ जाती है, तब माधुर्य के सिवा अन्य किसी तरह की बात ही चित्त मे नहीं जगती, किन्तु, समयान्तर में पदावली के उन पट् सम्भोग-विलासों का चित्र मन में कुछ न-कुछ विकार ले आता है। उस समय कीर्तन करने वाले ने कहा था कि "जिन्होंने रस की साधना नहीं की है, उनके साथ ऐसी ही बात होगी। रस-साधना नैतिक जगत् का व्यापार नहीं है, इसीसे कीर्तन-मण्डली में जो सामयिक रसोपलब्धि होती है, कीर्तन से बाहर जाने पर नैतिक मन उसे विकृत कर डालता है और अपनी नैतिक दुर्बलता के फल-स्वरूप वह विकृत उत्तेजना का फल भी भोगता है।" मैं समझता हूँ, यह बात केवल वैष्णव-साहित्य ही पर लागू नहीं होती, इसके साथ जिन-जिन लोगों का सम्बन्ध है, उन सबके लिए भी ये बातें सत्य हैं।

एक ही मनुष्य में दो विभिन्न चेतनायें हैं। मैं समझता हूँ, यह बात एक दृष्टान्त देकर समझाने से अधिक स्पष्ट हो जायगी। ग्रीक मूर्तिकला में यह उदाहरण अधिक देखा गया है। एक खूब सुन्दरी स्त्री का नग्न चित्र लिया गया है, जिसके परिपूर्ण सुठामअस्य एव गठन में एक ऐसा अपूर्व सौन्दर्य है, जिसे देखकर हम लोग बिना विस्मित हुए रह ही नहीं सकते, अब वहाँ सुन्दर समझकर तन्मय हो जाने का जो भाव है, उसमें एक निविड़ रसोपलब्धि के सिवा और कुछ भी नहीं है। किन्तु, नग्न-नारी के चित्र-दर्शन के समय सुन्दरता की जो रसोपलब्धि है, वह चित्त में कितनी देर तक ठहरी रहती है? हम लोग चचल हो उठते हैं, हमारी तन्मयता दूर हो जाती है यौन-कामना (Sexual instinct) हमारी रसोपलब्धि को नष्ट कर देती है। किन्तु, यदि एक नग्न शिशु-मूर्ति हम लोगों के सामने रक्खी जाय, तो हमारी रस बोध की निविड़ता इतनी सहज नष्ट नहीं होती। कारण, वहाँ हमारे मन में किसी तरह की कामना जागृत होकर रसबोध की तन्मयता को नष्ट करने के लिए उद्यत नहीं होती। बल्कि यदि यह कल्पना की जाय कि वही नग्न शिशु मूर्त्ति एक ऐसे आदमी के सामने रक्खी गई, जिसका जीवन ऐसे ही एक लड़के की मृत्यु या अभाव से वेदनामय है, तब देख पड़ेगा कि वही नग्न-शिशु मूर्त्ति द्रष्टा के मन में रस न जगाकर दूसरी ही तरह की चंचलता जगा देती है।

काम और प्रेम की विपरीतता के सम्बन्ध में वैष्णव साहित्य का एक यह पद्य सम्भवतः अनेक लोग जानते हैं, जिसमें कहा गया है, कि आत्मेन्द्रिय-प्रीति का इच्छा ही काम और कृष्णेन्द्रिय-प्रीति की इच्छा ही प्रेम है। काम और प्रेम की सीमा और स्वरूप का ऐसा बढ़िया निर्देश अन्य किसी साहित्य में शायद ही कहीं किया गया हो। उसी वैष्णव-साहित्य का कामना की दृष्टि से एक रूप और प्रेम की दृष्टि से दूसरा रूप है। हम लोगों के मन में केवल काम ही रहता है, ऐसी बात नहीं है, प्रेम भी रहता है। इसीसे वैष्णव-साहित्य को हम लोग दो दृष्टियों से देख पाते हैं। यहाँ पर यह कह देना अच्छा होगा कि वैष्णव-साहित्य काम-दृष्टि से सम्भोग करने के लिए रचा नहीं गया। खैर, जो हो, यहाँ काम और प्रेम की आलोचना करना हमारा उद्देश्य नहीं है। मैं कहना यह चाहता था कि काम के साथ प्रेम का जैसा मूलतः भेद रहता है, उसके साथ रस का भी वैसा ही सुस्पष्ट भेद है। बाह्यतः एक ही व्यापार जिस प्रकार काम की दृष्टि में चचलता और प्रेमिक के चित्त में रसानुभूति का तन्मयता

जाता है, उसी प्रकार एक ही वस्तु कामी और रसिक के निकट भिन्न-भिन्न रूप में खड़ी होती है। कामी व्यक्ति जिस को कामोद्बोधन का सहायक समझते हैं, रसिकों के निकट पुन वही रसत्रन्त हो जाता है। इसी कारण, चित्रांगदा ॐ को लेकर भी श्लील-अश्लील का विचार साहित्य-क्षेत्र में उठा और यहाँ शिल्पी को 'हाँ-ना' करके मौनभाव का आश्रय लेना पड़ा।

मनुष्य का काम किससे जागृत होगा और किससे नहीं, उसकी सीमा का निर्देश करना क्या सहज-सम्भव है? रसिक के विषय में भी यही बात है। अतएव यदि इस-साहित्य को मनुष्य की कामना जगने के डर से भयभीत रहना पड़ा, तब उसकी साहित्य-सृष्टि नहीं चलेगी। इसी कारण, कामी-मनुष्य के नैतिक-जगत् के हित, कामी के अनुयोग का और विराम नहीं है। साहित्यिक शिल्पी अपनी सृष्टि के द्वारा मन को रसान्वित करते हुए माधुर्य एव सौंदर्य का उद्रेक कर पाठक, दर्शक एवं श्रोता को आनन्द प्रदान करते है। शिल्पी का यही लक्ष्य है, इससे अधिक वह कुछ भी नहीं चाहता।

किन्तु सुन्दर एवं मधुर होकर जिसने मेरे चित्त को इस मुहूर्त में तन्मय और विस्मयाविष्ट किया, वह तो मेरे स्मृति-प्रकोष्ठ में चिरकाल के लिए रह ही गया। जिस समय इस सौंदर्य और विस्मय का आवेश दूर हो जायगा, उस समय भी तो वह मेरी चेतना से बिलकुल शून्य नहीं हो जायगा। उस समय भी यही रस-वस्तु अपने व्यावहारिक रूप के अनुसार मेरे मनमें किसी-न-किसी प्रकार की भावना और वासना को चञ्चल कर ही डालेगी। उस समय उन्हीं सब कामनाओं और वासनाओं की उत्तेजना से मनुष्य जिस मार्ग में प्रवृत्त होगा, उसके ही ऊपर मनुष्य के समस्त-जीवन का सुख-दुःख, कल्याण-अकल्याण निर्भर करेगा। उसके लिए क्या, शिल्पी के भीतर जो मनुष्य है या शिल्पी जिस मनुष्य के हृदय मे बैठकर रस की सृष्टि करता है, उसे इतना दायित्व-बोध रखना उचित नहीं है?—यही नैतिक मनुष्यों का साग्रह प्रश्न है।

शिल्पी यहाँ पर प्रायः निरुत्तर हो जाते हैं। वे कहते है कि 'प्रवृत्ति भली हो या बुरी, रसबोध के मार्ग में दोनों ही विघ्न हैं। सौंदर्य हम लोगों के चित्त को रस में मग्न करता है, किसी प्रवृत्ति को जगाकर चञ्चल कर डालना उसका लक्ष्य ही नहीं है। किसी प्रकार की भी कामना के उदित होने से शिल्पी की सृष्टि नष्ट हो जाती है। किन्तु नैतिक मनुष्य शिल्प को सार्थक उस अवस्था में समझते, यदि वह मनुष्य को नैतिक-भले मार्ग पर चलाता। नैतिक मनुष्यों के निकट साहित्य या शिल्प का सौंदर्य एक सहायक गुण-मात्र है, कुनैन की गोली के ऊपर चीनी के पर्दे के समान है।

नैतिक मनुष्य के इस अनुरोध और दावे को साहित्यिक और शिल्पी कभी तो मानते हैं, और कभी नहीं। सामाजिक मनुष्य की हैसियत से जिन्होंने इस दायित्व का ध्यान रक्खा है, उन्होंने तो इसे माना है, और जिन्होंने नहीं रक्खा, उन्होंने नहीं माना। फिर भी शिल्पी को एक जगह समाजवश्यता स्वीकार करनी पड़ी है। साहित्य जिस समय शिल्पी-मात्र की रसोपलब्धि की चीज है, उतने समय तक तो उन्हें कोई जवाबदेही या पाबन्दी नहीं, किन्तु जिस मुहूर्त से साहित्य समाज की वस्तु होकर खड़ा होता है, अर्थात् जिस समय वह अपना आनन्द दस आदमियों से बाँटने को तैयार होता है, उस समय से उसको सामाजिक-मनोभाव का भी खयाल करना पड़ता है। प्रत्येक युग में सामाजिक-मनोभावों में कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता रहता है, यह बात सत्य होने पर भी किसी विशेष काल में सामाजिक-मनोभाव की एक विशिष्टता रहती ही है। मान लीजिए, वर्त्तमान-काल में किसी एक मानव-समाज में कितने भाव अत्यन्त घृणित माने जा रहे है, किन्तु ऐसी प्रतिज्ञा कभी नहीं निबहेगी, कि ये सब भाव सब काल में और सब मनुष्यों के निकट घृणा की वस्तु माने जायँ। बुनराम, वर्त्तमान-काल में भी कोई ऐसा मनुष्य हो सकता है, जिसने घृणा के उस आवरण को हटाकर इन्हीं भावों में एक विशिष्ट रस को प्रत्यक्ष किया है। यदि वह आदमी इसी समय के मनुष्यों के निकृष्ट उन्हीं भावों को लेकर रस-सृष्टि करे, तो कहना न होगा, कि यह रस-सृष्टि स्वय

ॐ रवि बाबू का एक काव्य है, इसमें बहुत अच्छा सौन्दर्य-वर्णन पाया जाता है। —सम्पादक

उसके निकट जितनी भी सार्थक हो, किन्तु वर्तमान-समाज के सामूहिक मनोभाव के निकट बिलकुल घृणित होने के कारण किसी तरह के रस का उद्रेक नहीं कर सकेगी। लेकिन समय-समय पर असम्भव भी सम्भव होते देखा जाता है, यथार्थ रस-सृष्टि के साथ नैतिक-जगत् का कोई अच्छेद्य-मौलिक बन्धन न रहने के कारण एक-एक समय में यथार्थ रस-सृष्टि, सामाजिक-विरुद्धता को काटकर उठ सकती है। किन्तु, अधिकतर रस-सृष्टि की सार्थकता सामाजिक-मनोभावों के अनुकूल होने से ही होती है, अतएव अनावश्यक विरुद्धता न जगाकर यदि शिल्पी विशुद्ध रस की ही सृष्टि करें, तो वह सार्थक हो।

मेरे विचार में, एक दृष्टान्त देने से यह बात जरा और स्पष्ट हो सकती है। इस तरह का एक मनोभाव हम लोगों के समाज में जोरों से फैल गया था कि जो पतित है, वह सब प्रकार से ही घृणा-योग्य है, उसमें कहीं भी मनुष्यत्व नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, मनुष्य, किसी हालत में भी उसकी श्रद्धा कर ही नहीं सकता। इसी कारण, शरच्चन्द्र से पहले के बँगला-साहित्य में हम लोग, पतिता को लेकर रस सृष्टि की एक विशेष भंगी देख पाते हैं। पतिता को यथा सम्भव दण्ड दिये बिना किसी भी शिल्पी में कलम रोकने का साहस ही नहीं देखा जाता और उसे निदारुण-यन्त्रणा भोगकर मरते देखे बिना हम लोगों का चित्त भी नहीं शान्त होता था। उस समय तो हम लोग उसी विशेष भंगी की चरित्र-सृष्टि को सुन्दर कहते थे, किन्तु शरत्चन्द्र ने उसी पतिता को लेकर पुनः अन्य प्रकार से रस-सृष्टि की है और उसमें सामाजिक-मनोभावों की विरुद्धता भी कम नहीं जगी है, फिर भी उनकी रस-सृष्टि विजयिनी हुई और फल स्वरूप सामाजिक मनोभाव भी परिवर्तित हुआ ही। हो सकता है, अनेक लोग इस अन्तिम उक्ति के बदले में कहें, कि सामाजिक मनोभाव का परिवर्तन हुआ है, इसीसे उक्त प्रकार की पतिता की चरित्र-सृष्टि करके रस जागृत करना सम्भव हुआ है परन्तु जो भी हो, फलतः एक स्थान में रस-बोध के साथ सामाजिक मनोभाव का भी योग है, यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

इससे यही कहना पड़ता है कि जीवन के सम्बन्ध में दृष्टि का परिवर्तन होने से हम लोगों के रसबोध में भी परिवर्तन आ जाता है। इसी कारण बंकिमचन्द्र की रोहिणी का चरित्र, शरच्चन्द्र को व्यथित कर डालता है। जहाँ पर हम लोगों के मन में रसानुभूति जागृत होती है और हम लोग सौन्दर्य की उपलब्धि करते हैं, वहाँ पर हम प्रत्यक्ष-भाव से कोई नैतिक भलाई बुराई का हिसाब नहीं रखते, जिस प्रकार यह बात सच्ची है, उसी प्रकार यह बात भी सच्ची है, कि किसी शिल्पी के रस की उपलब्धि करते हुए उसके जीवन-सम्बन्धी विशेष दृष्टि को भी बिना स्वीकार किये काम नहीं चलेगा। बंकिम ने जीवन-सम्बन्धी जिस नैतिक-धारणा या मतवाद को अपनी रचना में प्रकाशित किया है, उसके साथ सहानुभूति (अन्ततः सामयिक-भाव से) न रखने से उनकी रस-सृष्टि का कुछ भी उपभोग नहीं होगा। ग्रीक नाटकों की रसोपलब्धि के लिए पुनः इसी प्रकार, उसमें जीवन-सम्बन्धी जिस दृष्टि का प्रकाश पाया जाता है, उसे स्वीकार करना ही होगा। रसानुभूति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की जीवन-प्रणाली को स्वीकार करने की शक्ति रखने की आवश्यकता है। वैष्णव-मनोभाव लेकर जिस प्रकार ग्रीक-नाटक का रसस्वाद नहीं चल सकता, उसी प्रकार ग्रीक अदृष्टवाद लेकर भी शेक्सपियर के नाटकों का रसास्वाद नहीं हो सकता। फिर हम लोग अल्पाधिक-परिणाम में सब ही तरह के साहित्य का रसास्वाद करते हैं। यहाँ पर और भी एक प्रमाण पाया गया, कि भिन्न-भिन्न जीवन-पद्धति का आश्रय लेकर प्रकाश पाने पर भी, रस-वस्तु, किसी विशेष नीति-धर्म्म के द्वारा आबद्ध नहीं है।*

श्रीमहेन्द्रचन्द्र राय

---

* महेन्द्र बाबू बँगला के एक प्रतिष्ठित लेखक हैं। उनके भाषा की सजीवता और वाक्य-रचना का सौन्दर्य प्रसिद्ध है। मेरे अनुरोध पर उन्होंने कला के दोनों स्कूलों का समन्वय करते हुए यह विवेचनापूर्ण लेख लिखा है। इसके मूलधारा को मानते हुए भी सर्वांश में सम्मत होना, सम्पादक के लिए आवश्यक नहीं।

'सुमन'

साहित्य की दुनिया में—

गेटी और नेपोलियन

अभी तक गेटो और नेपोलियन को लोग क्रमशः कवि और वीर सेनापति के रूप में ही जानते रहे हैं परंतु इधर जो खोज हुई है उससे पता चलता है कि गेटी एक सुन्दर चित्रकार और नेपोलियन एक अच्छा लेखक भी था। एक शताब्दी के बाद गेटी के चित्रों की एक अप्रकाशित पुस्तक का पता चला है। इस पुस्तक में अनेक प्राकृतिक एवं मनोरम दृश्यों के 'स्केच' हैं। मालूम हुआ है कि 'वीमर से 'जेना जाते समय अपनी शारदीय यात्रा में गेटी ने ये चित्र बनाये थे और अपनी वृद्धावस्था में उसे इन चित्रों से बड़ा आनन्द और उत्साह प्राप्त हुआ था। ये चित्र 'वीमर' के 'गेटी-संग्रहालय' में रक्खे गये हैं।

उधर नेपोलियन के लिखित एक उपन्यास के शीघ्र ही प्रकाशित होने का समाचार 'वारसा' (पोलैण्ड) से आया है। यह उपन्यास उस समय लिखा गया था, जब नेपोलियन बहुत युवक और तोपखाने का एक अफ़सर था। इसमें उसने अपने जीवन के मानसिक आन्दोलन की कहानी कही है। उस समय उसके यौवनोन्मुख हृदय में स्नेह की जो चिनगारी जली थी, और जिसने पीछे उसकी जीवन-भर की अदम्य साहस की कमाई को एक क्षण में जलाकर उसकी असारता बतला दी, उसका वर्णन करने की उत्कण्ठा नेपोलियन रोक न सका। मानव हृदय के उथल-पुथल की शक्ति और गति का जिन्हें ज्ञान है उन्हें यह प्रेम-कथा पढ़कर आश्चर्य न होगा।

उपन्यास शीघ्र प्रकाशित होने वाला है। इसकी भाषा मुहाविरेदार, मँजी हुई और शैली आकर्षक और जोरदार है। जब यह रचना प्रकाशित होजायगी तो बर्नार्ड शा के विश्लेषक चित्र के साथ उसका समन्वय करके नेपोलियन के आन्तरिक जीवन पर और भी प्रकाश डाला जा सकेगा।

'हिन्दी-शब्द-सागर कोशोत्सव'

हिन्दी साहित्य-संसार में यह बात बड़े हर्ष के साथ सुनी जायगी कि काशी-नागरी प्रचारिणी सभा की संरक्षकता में प्रकाशित होने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा और प्रामाणिक कोश 'हिन्दी-शब्द सागर' पूर्ण हो गया है। और उसके उपलक्ष में विगत १४-१५ फरवरी को सभा-भवन में महामहोपाध्याय प० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के सभापतित्व में कोशोत्सव बड़े समारोह से मनाया गया। नवीन सभा-भवन का शिलान्यास संस्कार भी हुआ। इस अवसर पर कोश के सम्पादकों के अथक परिश्रम के प्रति हम आदर प्रकट करते हैं। कोश में अनेक आवश्यक शब्द छूट गये हैं और कहीं-कहीं अर्थों के सम्बन्ध में भी भ्रमात्मक बातें छप गई हैं। आशा है अगले संस्करण में हिन्दी-साहित्य का गौरव बढ़ाने वाला यह ग्रन्थ बिल्कुल निर्दोष हो जायगा।

प्रगतिशील हिन्दी-साहित्य

साहित्य, अन्तर्जगत की अनुभूति का प्रकाश है अतएव साहित्य की आन्तरिक पुष्टि के लिए लेखक समुदाय में आत्म-विश्वास की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है। समय के चक्र एवं युगोन्मुख आह्वान की तीव्रता के कारण जहाँ हिन्दी-संसार के प्रत्येक अंग में उथल-पुथल हो रही है, वहाँ हमारे लेखक समाज में आत्मविश्वास का अत्यन्त अभाव दिखाई पड़ता है। यह ठीक है कि जो लेखक जीवन की नूतन परिभाषाओं से परिष्कृत और यौवन की नूतन विभूतियों-अनुभूतियों से परिमार्जित एवं अनुप्राणित होकर ऊपर उठ रहे हैं उनमें साहस, विद्रोह और आत्म-विश्वास के भावों की कमी नहीं दिखाई पड़ती, उनको अपने में, अपने मार्ग में, अपनी अभिव्यक्ति में और अपने पवित्र 'स्व'-प्रकाश में विश्वास है, इसीलिए उनमें बल है और इसीलिए वे प्रबल विरोध की चट्टानों को लाँघकर भी बहुत दूर बढ़ सके हैं पर हिन्दी के अनुवाद युग के महारथियों पर अब भी अन्य भारतीय साहित्यों के बड़प्पन का ऐसा नशा चढ़ा हुआ है जिसके उतरने की सम्भावना नहीं दिखाई पड़ती। यह ठीक है कि बँगला-साहित्य का आधुनिक गद्य बाज-बाज विषयों में हिन्दी से उन्नत है किन्तु बँगला की यह उन्नति अधिकांश में उसके उपन्यासों और कुछ अंश में नाटकों तक ही सीमाबद्ध है। गति में तो हिन्दी इस दिशा में भी आगे है और आशा की जाती है कि वह इस

विषय में भी शीघ्र बँगला के बराबर हो जायगी। बँगला को छोड़ और किसी भारतीय भाषा के साहित्य से हिन्दी-साहित्य कम महत्वपूर्ण है, ऐसा निष्कर्ष आत्म-विश्वास के अभाव और तुलनात्मक समालोचना की कमी का फल है अथवा अपरिपक्व जीवन में व्यक्तिगत विश्वासों और संस्कारों पर किसी साहित्य के विशेष प्रभाव का।

हिन्दी-साहित्य की प्रगति की तौल करने में इस बात को भूल न जाना चाहिए कि जहाँ अन्य भारतीय साहित्यों की उन्नति आंशिक है, वहाँ हिन्दी की प्रगति सर्वांगीण है। उसे चारों ओर से भरने का उद्योग हो रहा है। नींव भी दी जा रही है, चूना-सुर्खी भी तैयार हो रहे हैं और दीवारें भी उठाई जा रही हैं।

प्राकृत के सम्बन्ध में एक पुस्तिका गंगा-पुस्तक-माला से प्रकाशित होने वाली है। सुनते हैं कि लखनऊ विश्व-विद्यालय के अध्यापक श्री आत्मादत्त ठाकुर एम० ए० इसके लेखक हैं। प्राकृत-व्याकरण पर काशी-विद्यापीठ' के आचार्य श्री नरेन्द्रदेवजी एम० ए० भी एक पुस्तक लिख रहे हैं। नरेन्द्रदेवजी का जैसा गम्भीर अध्ययन इस विषय में है उससे आशा की जाती है कि पुस्तक बहुत महत्त्व-पूर्ण होगी।

'काशी-विद्यापीठ' के श्री कन्हैयालाल शास्त्री 'भारतीय जागृति का इतिहास' लिख रहे हैं। 'काँग्रेस' का एक इतिहास भी लिखने का उनका विचार है। भारत के आधुनिक राजनैतिक इतिहास का ज्ञान सुलभ करने के लिए हिन्दी में इन दोनों पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है।

गणित सम्बन्धी उच्च कोटि की पुस्तकों की हिन्दी में बड़ी कमी है। स्वर्गीय श्री सुधाकर द्विवेदी ने 'गणित का इतिहास' लिखना आरम्भ किया था। इसका पहला भाग प्रकाशित भी हुआ था, जो अब अप्राप्य-सा है। इसे मैंने देखा है। यह इतिहास बड़ा विशद, महत्वपूर्ण और मनोरंजक है। श्री अवध उपाध्याय ने भी सुना है, अंकों के इतिहास पर कई अच्छा ग्रन्थ लिखा है। जो अभी तक अप्रकाशित है। डा० गणेशप्रसाद-जैसे लोग तो हिन्दी की ओर से उदासीन ही हैं अन्यथा ऐसे विश्व विख्यात गणितज्ञों से बहुत आशा की जा सकती थी।

धार्मिक ऐतिहासिक साहित्य में भी दो महत्वपूर्ण पुस्तकें शीघ्र ही निकलने वाली हैं। इनमें से एक तीर्थंकर पार्श्वनाथ की जीवनी है। यह छपने पर लगभग ५०० पृष्ठों की होगी। दूसरी पुस्तक में जैन दृष्टि से भारत का इतिहास लिखा गया है। इन दोनों पुस्तकों के लेखक श्री कामताप्रसाद जैन हैं जिनके कई खोज-सम्बन्धी लेख 'त्याग-भूमि' में प्रकाशित हो चुके हैं।

कविता-सम्बन्धी कोई महत्वपूर्ण पुस्तक इधर नहीं निकली। श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' 'श्मशान' और 'अग्नि-वीणा' नामक दो खण्ड काव्य लिख रहे हैं। 'श्मशान' शीघ्र ही पूरा हो जायगा और 'सुधा' में धारावाहिक रूप से छपेगा। इसमें भिन्न-भिन्न छन्दों में पाँच सर्ग होंगे और इनमें क्रमशः विरह, मृत्यु, शव, चिता और श्मशान का वर्णन होगा। पता नहीं 'अग्नि-वीणा' में क्या होगा? बँगला के काजी नजरुलइस्लाम के इसी नाम के काव्य का अनुकरण तो नहीं?

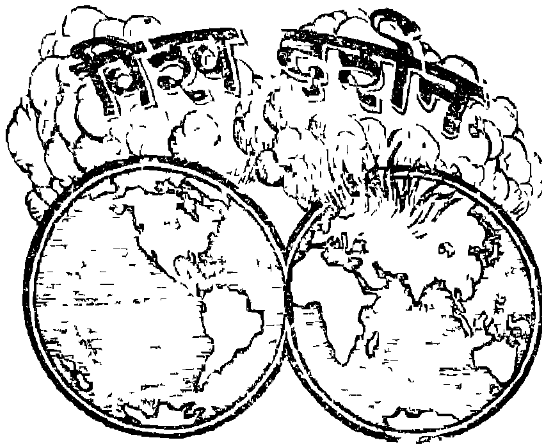
प्रयाग के 'ओझा बन्धु आश्रम' से इस महीने 'स्त्री के पत्र' नामक एक महत्वपूर्ण पुस्तक निकली है। यह स्त्रियों को देश-सेवा की ओर अग्रसर करने में बड़ा काम करेगी। इसके लेखक सुप्रसिद्ध प० चन्द्रशेखर शास्त्री, साहित्या-चार्य हैं।

विगत मास से पटना से श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी के सम्पादकत्व में 'युवक' नामक एक मासिक पत्र प्रकाशित होने लगा है। पत्र होनहार जान पड़ता है। लाहौर से टण्डनजी की संरक्षकता और श्री भीमसेन विद्यालंकार के सम्पादकत्व में 'पंजाब केसरी' नामक साप्ताहिक निकलने लगा है।

श्रीरामनाथलाल 'सुमन'

[नोट—प्रत्येक अंक में प्रगति की ऐसी संक्षिप्त सूचनायें देने का प्रबन्ध किया गया है। आशा है मेरे स्नेही मित्र और कृपालु लेखकगण अपनी महत्वपूर्ण अप्रकाशित रचनाओं के सम्बन्ध में समय-समय पर सूचित करते रहेंगे।]

'सुमन'



यूरोप
(४)

यूरोप का व्यवसाय

यूरोप में यद्यपि कृषि पर्याप्त परिमाण में होती है, तथापि व्यवसाय की अपेक्षा अधिक नहीं। यूरोप वस्तुतः व्यवसाय-प्रधान ही है। उद्योग-धंधे ही मुख्यतः उसके जीवन के आधार हैं। यही कारण है कि बड़ी-बड़ी यूरोपियन शक्तियाँ कच्चे माल वाले देशों को अपने अधिकार में रखना चाहती हैं। हम यहां संक्षेप में उसके व्यवसाय पर विचार करेंगे।

लोहा—व्यावसायिक प्रगति के मुख्य साधन हैं लोहा और कोयला।

युद्ध से पूर्व १९१३ में संसार में जितना कच्चा लोहा पैदा हुआ था, १९२५ में उससे २० लाख टन कम और कच्चा फ़ौलाद १९१३ की अपेक्षा १४० लाख टन ज्यादा हुआ। परन्तु यूरोप में दोनों ही क्रमशः ९० लाख और २० लाख टन कम हुए, जिनकी कमी शेष संसार ने—विशेषतः अमेरिका ने—पूर्ण की। १९१३ की अपेक्षा अमेरिका में लोहे की कुल खपत १९२५ में ५० प्रति सैकड़ा बढ़ गई, लेकिन यूरोप में लोहे की खपत में ५ प्रति सैकड़ा की कमी हुई। इसी तरह लोहे के व्यापार में भी अमेरिका यूरोप का स्थान लेता जा रहा है। अमेरिका में प्रति व्यक्ति लोहे का ख़र्च यूरोप के ख़र्च की अपेक्षा दुगना है।

१९१३ की अपेक्षा १९२५ में पोलैण्ड, रूस और इंग्लैण्ड में कच्चे लोहे और फौलाद की उत्पत्ति में काफ़ी कमी हुई है। फ्रांस और जर्मनी क्रमशः उन्नति करते हुए १९१३ के दर्जे तक पहुँच गये हैं, इटली, लक्जमबर्ग और बेल्जियम में भी कुछ तरक्की हुई है। सबसे अधिक क्षति इंग्लैण्ड की हुई है। इंग्लैण्ड, पोलैण्ड और स्वीडन का लौह-निर्यात बहुत कम हो गया है।

यूरोप के लोह व्यवसाय की अवनति में जहाँ वहाँ के सिक्कों की अस्थिरता बड़ा कारण रही है, वहाँ वहाँ के व्यवसाय में संगठन की कमी भी बहुत बड़ा कारण हुई है।

इस कमी को अनुभव करके ही जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम, लक्जमबर्ग और सार के प्रतिनिधियों ने मिलकर १९२६ में इस सम्बन्ध में एक समझौता किया है, जो लौह-व्यवसाय के इतिहास में बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। इस समझौते पर ३० सितम्बर को हस्ताक्षर हुए। इसका मूलभूत आधार माँग के अनुसार उत्पत्ति को नियत कर बढ़ती हुई पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को रोकना था। जर्मनी ने नवम्बर १९२४ में स्वयं अकेले इस बात का प्रयत्न प्रारम्भ किया था, परन्तु लौह-व्यवसायी अन्य देशों से मिले बिना उसमें सफलता नहीं मिली। इसके अनुसार प्रत्येक देश ने नियत राशि से अधिक लोहा न निकालने का निश्चय कर लिया। १९२६ के प्रथम तीन महीनों में इन पाँचों देशों ने कुल २,५२,८७,००० टन लोहा उत्पन्न किया, जिसे आधार मान कर उन्होंने क्रमशः ४० ४५, ३१.८९, १२ ५७ ८ ५५, और ६ ५४ फ़ी सदी लोहा निकालने का निश्चय किया। इसी समय यह भी निश्चय हुआ कि अधिक से अधिक २,९२,८७,००० टन लोहा उत्पन्न किया जाय, जिसका अनुपात क्रमशः यह हो—४३.१८, ३१ १८, ११५४, ८ ३० और ५.७८। उक्त देशों के प्रतिनिधियों ने इस व्यवस्था को कार्यरूप से संचालित करने के लिए यह भी व्यवस्था की है कि जो कोई सदस्य अपनी निश्चित राशि से जितना अधिक लोहा उत्पन्न करेगा, उसे उसपर ४ डालर प्रति टन के हिसाब से सम्मिलित कोष में दण्ड देना होगा। और इसके विप-

रील जो देश अपनी निर्दिष्ट राशि से जितना कम उत्पन्न करेगा, उसे प्रति टन दो डालर सम्मिलित कोश से दिये जायँगे। मूल्य-निर्णय या बाजार सम्बन्धी बातों के विषय में कोई निर्णय नहीं किया गया। इस समझौते की अवधि १ अप्रैल १९३१ तक है। कितना अच्छा संगठन है, क्या कभी भारतीय व्यवसायी भी इतने सुसंगठित होंगे ?

कोयला—लोहे के बाद कोयले का स्थान है। समस्त संसार के कारखानों आदि के चलाने की शक्ति १९२६ में इस तरह कूती गई थी। ९ प्रति सैकड़ा पानी से, ७ प्रति सैकड़ा तेल आदि ज्वलनशील द्रवों से और ६१ प्रति सैकड़ा कोयले से तथा शेष लकड़ी और हवा से।

गत यूरोपीय युद्ध के कारण संसार के व्यापार और व्यवसाय को, जो गहरा धक्का लगा, उसका प्रभाव १९२३ तक रहा। कोयले के सम्बन्ध में भी यही बात है। परन्तु यूरोप की अवस्था फिर भी नहीं सुधरी। १९१३ में संसार में जितना कोयला उत्पन्न हुआ था, उसका ५१ प्रति सैकड़ा यूरोप में हुआ था, परन्तु १९२५ में यूरोप ने कुल कोयले का ४५ सैकड़ा और १९२६ में और भी कम-४१ सैकड़ा कोयला उत्पन्न किया। इस कमी का मुख्य कारण वह कोयले की क्रांति (Coal-crisis) है, जो १९२५-२६ में यूरोप में हुई थी। इग्लैंड, रूस और पोलैंड में कोयला बहुत कम उत्पन्न हुआ। इग्लैंड में मजदूरों की हड़ताल के कारण १९२५ में २४,७०,७९,००० टन और १९२६ में १२,८०,३५,००० टन कोयला उत्पन्न हुआ। उस समय पोलैंड कोयले का इतने वेग से निर्यात कर रहा था कि उसे भी अपनी जरूरत के लिए जेकोस्लोवेकिया से मगवाना पड़ा। यह देखकर फ्रांस और बेलजियम ने भी कोयले का निर्यात बन्द कर दिया और आस्ट्रिया ने भी कोयले की कमी की सूचना दे दी। उधर जर्मनी में कोयला १९२५ से १,३०,०९० टन ज्यादा हुआ, तथा फ्रांस, बेलजियम इटली स्वीडन आदि कई प्रदेशों में कोयले की उत्पत्ति अधिक हुई परन्तु इससे भी यूरोप की आवश्यकता पूरी नहीं हो सकी। इसलिए अमेरिका से बहुत अधिक कोयला मंगवाना पड़ा। अमेरिका का कोयले का निर्यात १९२५ में २,११,५६,००० टन था, जो १९२६ में बढ़कर ४,२१,९१,००० टन हो गया। १९२७ में फिर इग्लैंड आदि में कोयले की वृद्धि हुई है।

वस्तुत लोहे की भांति कोयले के व्यवसाय में भी यूरोप बहुत अधिक उन्नति नहीं कर रहा है।

कपास—कपड़े के व्यवसाय में जिस अनुपात से एशिया और अमेरिका ने उन्नति की है, उस अनुपात से यूरोप ने नहीं की। १९१३ में एशिया में १००,००,००० के करीब और अमेरिका (सम्पूर्ण, उत्तरी और दक्षिणी) में, ३४२६०००० तकुए थे, वे १९२६ में बढ़कर क्रमश १,७५,१९,००० और ४२,०७५००० हो गये। परन्तु यूरोप में १९१३ में ९,९५,०५,००० तकुए थे, जो १९२६ में बढ़कर १०,२९,२८,००० हो गये अर्थात् ३४,२३,००० तकुए बढ़े।

यद्यपि कपड़े की खपत कम नहीं हुई, तथापि संसार का कपड़े का व्यापार जरूर कम हो गया है और इससे लंकाशायर को काफी क्षति पहुँचा है। इसका बड़ा कारण यह है कि भारत ने इस व्यवसाय में काफी उन्नति की है। १९१३ की अपेक्षा १९२६ में २५,००,००० तकुए भारत में बढे हैं। चीन ने भी अपने व्यवसाय को बढ़ाया है, जिससे इग्लैंड का निर्यात कम हो गया है। युद्ध में फँसे रहने के कारण इग्लैंड, पोलैंड और जर्मनी ने अपने बाजार खो दिये है, सबसे अधिक क्षति इग्लैंड को ही हुई है। लंकाशायर के सामने एक भारी कठिनता यह उपस्थित हुई है कि बड़ी भारी पूँजी से लगाई हुई मशीनों को किस तरह बदलें कि वे कम मात्रा में उत्पन्न करने के लिए उपयोगी बन जावें। उसे वह सस्ता श्रम भी नहीं मिलता, जो पूर्वीय देशों को प्राप्त होता है, जिससे वह प्रतिस्पर्द्धा में नहीं खड़ा हो सकता। व्यापारिक आयातकरों के बढ़ने, कपास की कीमत के स्थिर न रहने से भी वस्त्र निर्यात करने वाले यूरोप के देशों को क्षति पहुँची है। अब जर्मनी-इटली, फ्रांस और बेलजियम वस्त्र व्यवसाय में उन्नति कर रहे हैं।

अभी नये आये हुए समाचारों से ज्ञात होता है कि इंग्लेण्ड में अब फिर कपड़े के कारखानों की अवस्था संभालने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है। कुछ समय पूर्व

लंकाशायर और मांचेस्टर के कारखानों ने बैंकों से बहुतसा कर्जा लिया था परन्तु फिर भी उन्हें लाभ न हुआ। इस दुरावस्था से बचने के लिए सब कारखानों को एक कर देने की चर्चा चली, परन्तु बिना सरकारी सहायता के यह काम कठिन था, इसलिए अब ब्रिटिश सरकार ने बैंक आफ इंग्लैण्ड की मदद से 'लंकाशायर काटन कार्पोरेशन लिमिटेड' नामक एक संगठन बनाने का निश्चय कर लिया है। यह कारपोरेशन सब कारखानों को काम करने की स्वतन्त्रता देकर उनके माल की खरीद फ़रोख्त अपने द्वारा करायगा। तथा कारखानों के उत्तमर्णों (Creditors) को कर्ज के बदले अपने हिस्से दे देगा। इससे कारखाने कर्ज के बोझ से मुक्त हो जायँगे। कपड़े के व्यवसाय को अन्य सुविधायें देने के लिए भी प्रयत्न हो रहा है और इस बात की तरफ पूरा ध्यान दिया जा रहा है कि एक बार फिर दुनिया के बाजार में इंग्लैण्ड अच्छी तरह मुकाबला कर सके।

ऊन—संसार की ऊन की कुल उपज का चतुर्थांश यूरोप में उत्पन्न होता है। इंग्लैंड और फ्रांस में इसका बहुत अधिक व्यवसाय होता है। ऊन के व्यवसाय में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। १९१३ मे जो उत्पत्ति थी, १९२६ में उससे बहुत थोड़ी वृद्धि हुई है।

रेशम—रेशम भी १९१३ की अपेक्षा १९२६ में जिस अनुपात से एशिया (भारत, चीन और जापान) में अधिक उत्पन्न हुआ है, उस अनुपात से यूरोप में नहीं। जितने अधिक क्षेत्र में रेशम के कीड़ों की उत्पत्ति होती है, उतने क्षेत्र में कपास की नहीं। फ्रांस, इटली, हंगरी, डैन्यूब नदी के तट का प्रदेश बलकान देश, टर्की, काकेशस, फारस, तुर्किस्तान, भारत, इण्डोचीन, चीन और जापान में रेशम की उत्पत्ति होती है।

१९२६ में इटली, पूर्व-दक्षिणी यूरोप (आस्ट्रिया, हंगरी, यूगोस्लेविया, रूमानिया और बल्गेरिया), फ्रांस, ग्रीस और स्पेन में क्रमश ३८५१, ३००, २४०, २२५ और ८५ टन कच्चा रेशम पैदा हुआ था। अमेरिका में रेशम नहीं उत्पन्न होता, इसलिए वह रेशम बहुत अधिक मँगवाता है। नकली रेशम के बहुत सस्ता होने के कारण रेशम के व्यवसाय के भविष्य के सम्बन्ध में चिन्ता हो रही है। फिर भी यह सम्भावना नहीं है कि नकली रेशम सच्चे रेशम को बिलकुल निकाल देगा। आजकल दोनों रेशम को मिलाकर कपड़ा बनाने की प्रवृत्ति चल पड़ी है। नकली रेशम का अधिक प्रचार होते हुए भी सच्चे रेशम का प्रचार कम नहीं हुआ, वह भी बढ़ रहा है।

नकली रेशम—नकली रेशम का आविष्कार फ्रांस में १९ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में हुआ था और वहां उसका व्यवसाय भी होने लगा था। फ्रांस से ही मध्य यूरोप में यह व्यवसाय फैला। यह व्यवसाय उन्हीं देशों में अधिक फैला, जहाँ रासायनिक व्यवसाय की बहुत सुविधायें थीं। नकली रेशम की मजबूती और चमक में उन्नति होने के कारण उसका प्रचार बढ़ा है।

अमेरिका मे जहाँ रेशम पैदा नहीं होता नकली रेशम सबसे अधिक तैयार होता है। १९२६ में वहां २९५०० टन रेशम तैयार हुआ, जब कि इटली, इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, हालैण्ड और अन्य यूरोपीय देशों में क्रमश १७५००, १५३००, १२००० ७५००, ६५०० और १३००० टन नकली रेशम तैयार हुआ है।

मोटर—पिछले आठ दस वर्षों से मोटरों का प्रचार बहुत अधिक बढ़ रहा है। १९२१ में जितनी मोटरें रजिस्टर्ड हुई थीं उससे १९२५ में इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी और इटली में ९७, १५०, १९० और ९४ प्रतिशतक और अधिक मोटरें रजिस्टर्ड हुईं। १९२५ तक कुल यूरोपमें २६,७५,६९१ मोटरें रजिस्टर्ड हुईं, जब कि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में १,९९,५४,३४१ अर्थात यूरोप से करीब सात गुनी मोटरें रजिस्टर्ड हुईं। इस समय अमेरिका में प्रति ११ व्यक्तियों के पास दो मोटरें है, जब कि यूरोप तक में १७७ व्यक्तियों में एक मोटर है। इसलिए अभी यूरोप में मोटर-व्यवसाय की उन्नति के लिए बहुत अधिक गुंजाइश है। १९२५ में अमेरिका व कनाडा में ४३,००,००० मोटरें तैयार हुईं थीं, परन्तु यूरोप में केवल ३,६५ ००० ही हुईं।

कृष्ण

अशान्त अफ़ग़ानिस्तान

पिछले अङ्क में अफगानिस्तान की समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया था—"इस समय जो परिस्थिति है, उसमें अफगानिस्तान में गृह-युद्ध की आशंका बढ़ गई है और केन्द्रीय सरकार की स्थापना होने में देर लगेगी। × × × × अमानुल्ला के फिर से सम्राट् हो जाने की सम्भावना की जाती है।" हमें सन्तोष है कि हमारा अनुमान पूर्णतः सत्य सिद्ध हो रहा है। अफ़ग़ानिस्तान इस समय भयानक गृह-युद्ध का क्रीड़ास्थल हो रहा है बच्चा-ए-सक्को उर्फ़ 'हबीबुल्ला ए-गाजी' (काबुल), अहमद-अलीजान (जलालाबाद) और अमानुल्ला (कन्दहार) के अतिरिक्त तख्त के और भी दो एक उम्मीदवार उठ खड़े हुए हैं। अहमदअलीजान काबुल पर चढ़ाई करने की चेष्टा में है। इधर कन्दहार में अमानुल्ला ने युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ कर दी है। अत्यधिक शीत और बर्फ की अधिकता के कारण इन योद्धाओं की गति में बाधा पड़ रही है।



अमानुल्लाखां

इस सम्बन्ध में दो बातें ध्यान रखने लायक हैं। एक तो यह कि भारत के प्राय. सभी बड़े नगरों में लोगों ने सभा करके अमानुल्ला के प्रति सहानुभूति प्रकट की है। कांग्रेस-कमिटियों और कांग्रेस-नेताओं का भी इस सम्बन्ध में यही रुख रहा है। अब तो सरहद के कितने ही बड़े मुल्लाओं ने भी फतवा निकालकर अमानुल्ला की सहायता करने को लोगों से अपील की है। पंजाब के कई नेताओं ने घायलों की सेवा सुश्रूषा के लिए एक 'रेड-क्रास सोसायटी' बनाई है। ये लोग कन्दहार जाना चाहते थे, पर सरकार ने उदासीन रहने की नीति का बहाना करके उन्हें पासपोर्ट देने से इन्कार कर दिया। अमानुल्ला के प्रति लोगों की सहानुभूति भारत में तो सार्वत्रिक है ही किन्तु विभिन्न स्थानों के अफगान राजदूतों की सहानुभूति भी उन्हीं की ओर मालूम पड़ती है।

इधर पत्रों में दो बहुत महत्वपूर्ण समाचार प्रकाशित हुए हैं। एक तो यह कि फारस की सरकार ने अमानुल्ला की सहायता करना स्वीकार कर लिया है और सेना की कुछ टुकड़ियाँ सहायतार्थ कन्दहार को रवाना भी हो चुकी हैं। दूसरा समाचार मास्को से आया है और वह यह कि प्रसिद्ध भारत-भक्त राजा महेन्द्रप्रताप मास्को से कन्दहार को रवाना हो गये हैं। सम्भव है, अमानुल्ला के लिए उन्होंने भी सहायता प्राप्त की हो।

एक ओर यह हाल है और दूसरी ओर ऐंग्लो-इण्डियन पत्रों का रुख देखकर हमें आश्चर्य होता है। इनमें कई पत्रों का तो कहना है कि अब जो हुआ सो हुआ, आगे युद्ध होना अफ़ग़ानिस्तान के लिए ठीक न होगा। इसका अर्थ यह है कि अंग्रेजों-द्वारा संचालित पत्र बच्चा-ए-सक्का के बादशाह बना रहने में ही अच्छा समझते हैं। सरकार ने भी समाचारों पर सेन्सर बैठा दिया है और अब इधर बच्चा-ए-सक्को की वीरता की कथायें बड़ी तेजी से छपने लगी हैं। लोगों का कहना है कि ऐसे समाचार छापकर उसके प्रति सहानुभूतिमय लोकमत जागृत करने की चेष्टा की जा रही है। पेशावर में भी क़ानून की कड़ाई की जा रही है।

इन बातों को देखते हुए कुछ ठीक निर्णय पर पहुँचना तो कठिन है, पर देखा जा रहा है कि ऐंग्लो-इण्डियन पत्रों

की आन्तरिक सहानुभूति अमानुल्ला की अपेक्षा बच्चा एसक्को के साथ ही अधिक है। इसका कारण तो यही मालूम पड़ता है कि अमानुल्ला पर सोवियट रूस का प्रभाव अधिक पड़ रहा था, जिसे अंग्रेज़ फूटी आँखों नहीं देख सकते।

फिर भी अफगानिस्तान तथा वहाँ के निवासियों की परिस्थिति और प्रकृति का ख़याल रखते हुए कहा जा सकता है कि यदि कोई दूसरी आमूल परिवर्तनकारी शक्ति का रंगमंच पर आविर्भाव नहीं हुआ तो अन्त में अमानुल्ला विजयी होंगे। 'सुमन'

किलोग का प्रस्ताव

त्यागभूमि के पाठक किलौग के शान्ति-प्रस्ताव से पर्याप्त परिचित हैं। हम इन पृष्ठों में कई बार उसकी निरर्थकता पर विचार कर चुके हैं।



मुसोलिनी

अभी 'पीपल' में श्रीयुत् पी० एस० जोशी ने 'युद्ध या शान्ति' शीर्षक एक छोटा-सा लेख लिखा है। हम उस का सारांश यहाँ देते हैं—

गत दिसम्बर में मुसोलिनी ने एक प्रस्ताव पर भाषण करते हुए कहा—

"सारा संसार युद्ध के लिए तैयार हो रहा है, इस सचाई को छिपाना राष्ट्र के प्रति विश्वासघात करना होगा। यूरोप की राजनैतिक अवस्था के प्रति हमें कोई भ्रम नहीं होना चाहिए। आँधी आने से पूर्व सब लोग 'शान्ति' की चर्चा किया करते हैं। हम यूरोप के सतुलन को बिगाड़ना नहीं चाहते, मगर हमें भी तैयार रहना चाहिए। मेरी इस घोषणा पर किसी को आश्चर्यान्वित होने की जरूरत नहीं हमें एक और कुर्बानी करके अपनी हवाई, सामुद्रिक और पार्थिव ताकतों को मुकम्मिल और मजबूत बना लेना चाहिए।"

मि० लायड जार्ज ने कुछ दिन पूर्व लण्डन की एक सभा में कहा था कि जब सब राष्ट्र युद्ध के लिए कमर कस रहे हैं तो शान्ति की चर्चा करना व्यर्थ है। युद्ध-सामग्री से सुसज्जित कोई भी राष्ट्र शान्ति की चर्चा पसन्द नहीं करेगा, बशर्ते कि उसे युद्ध से डर हो अथवा उस का कोई और स्वार्थ सिद्ध होता हो। हाथ में तलवार लेकर शान्ति का उपदेश देना पहले दर्जे की मूर्खता है। ग्रेट



आत्मरक्षा के नाम पर शान्ति का बलिदान

ब्रिटेन बड़ा धूर्त है। केलोग पैक्ट पर हस्ताक्षर करने में तो उसे कोई आपत्ति नहीं होगी। मगर साम्राज्य रक्षा के नाम पर सैनिक शक्ति में कमी करने को वह कभी तैयार भी नहीं होगा।

मि० ब्रियाँ, फ्रान्स के विदेशी सचिव, निःशस्त्रीकरण के

प्रस्ताव पर तबतक अमल करने तथा राईनलैण्ड पर से भी तबतक कब्जा उठाने को तयार नहीं हैं जब तक कि जर्मनी अपना सब ऋण अदा नहीं कर देता। फ्रान्स की सेना में बढ़ती ही होती जाती है। ४ लाख रिपब्लिकन् गार्ड्स बढ़ जाने से फ्रान्स की सेना उस समय से भी बढ़ जायगी जिस समय कि १९१३ में उसे कैसर की सेना से मुकाबिला करना पड़ा था। अमेरिका सब यूरोपियन देशों का महाजन है। वह भी सेनासञ्चाह में व्यग्र है। रूस को भी ब्रिटेन से डर कर ६ लाख सेना रखनी पड़ी।

फ़ारस में पाश्चात्य सभ्यता

टर्की के कमालपाशा फारस और अफ़गानिस्तान का गुरु हैं। कमालपाशा की तरह ही रिजाखां और अमानुल्लाह महत्वाकांक्षी दूरदर्शी हैं, तथा अपने देश को उन्नत करने के लिए जीजान से कोशिश कर रहे हैं। अफगानिस्तान के सम्बन्ध में 'त्यागभूमि' के पाठक पढ़ चुके हैं। रिजाखां ने भी टर्की की देखा-देखी फारस में सुधार जारी किये हैं। वहाँ भी यूरोपियन वेश भूषा और रिवाज प्रचलित करने का कानून बन गया है। इसके प्रचार के लिए स्थान स्थान पर म्यूनिसिपैलिटियों के निरीक्षण में सिनेमा-घर खोले जायंगे। अरबी लिपि की जगह लैटिन लिपि का प्रयोग किया जायगा। और भी तरह-तरह के सुधार हो रहे हैं।

इन सुधारों से अफगानिस्तान की तरह यहाँ प्रबल विद्रोह की सम्भावना नहीं है, यद्यपि कुछ मौलवियों ने उठाया जरूर है। सुना गया है कि सरकार ने ३०० मुल्लाओं को देश निकाला भी दे दिया है। केवल सामाजिक सुधार ही नहीं, अन्य भी अनेक सुधार हो रहे हैं। दक्षिणी-उत्तरीय फारस को मिलाने के लिए एक रेलवे बन गई है। इस प्रकार फ़ारस भी बड़े धैर्य और शक्ति के साथ उन्नति कर रहा है।

ईराक

अब उसका पड़ोसी ईराक भी स्वतन्त्र होने के लिए कोशिश कर रहा है। अभी कुछ समय हुआ कि वहाँ के मन्त्रि-मण्डल ने त्यागपत्र दे दिया। इसका कारण यह कि वह ब्रिटिश सरकार का सैनिक प्रबन्ध स्वीकार नहीं कर सकता, इसपर ब्रिटिश सरकार ने एक घोषणा प्रकाशित की है कि इंग्लैण्ड को उस देश की सुरक्षा का कार्य सौंपा गया है वह अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होगा। सेना रखना इंग्लैण्ड के लिए नहीं, ईराक की रक्षा के लिए उपयोगी है इसलिए वह अभी सेनायें दूर न करेगा।

चीन की प्रगति

चीन के नये आये हुए समाचारों से ज्ञात होता है कि अब वहाँ गृह-युद्ध की कोई सम्भावना नहीं और न बाहर से विशेष भय की चिन्ता है। यद्यपि जापान अभी तक कभी-कभी चीन को कोई कोई धमकी दे देता है, परन्तु उसका परिणाम अभी तक कुछ नहीं निकला। अंग्रेजों ने अभी एक सन्धि द्वारा अंग्रेजी माल पर चीन-सरकार के लगाये हुए नये करों को स्वीकार कर लिया है।

अब चीन बहुत वेग से अपने रचनात्मक कार्य की ओर उन्नति कर रहा है। व्यापार और व्यवसाय की ओर पूरा ध्यान दिया जा रहा है। अभी एक मास पूर्व चीन के राष्ट्-



चियांग-काई-शेक

र्शल चिग-काई-शेक ने एक भाषण में चीन की समस्याओं पर विचार करते हुए कहा था कि 'चीन के सामने मुख्यतः तीन समस्यायें हैं। प्रथम सैनिकों की संख्या घटानी है जो इस समय १५ लाख के क़रीब हैं, परन्तु सैनिकों को बरखास्त करने के पूर्व उनकी आजीविका का प्रबन्ध, उनके घरों तक पहुँचाने के किराये आदि के लिए रुपये की जरूरत है। यदि उनकी आजीविका का प्रबन्ध न किया गया, तो बेकारी बढ़ने की सम्भावना है। दूसरा कार्य राष्ट्रीय संगठन का है। रेलवे सड़कों आदि के बनाने के लिए भी कर्जा लेना पड़ेगा, और पेकिंग-सरकार के पुराने लिये हुए कर्ज भी चुकाने हैं। बहुत आशा है कि अमेरिका चीन की सहायता देगा। कई अमेरिकन विशेषज्ञों ने यहाँ आना स्वीकार कर लिया है। वे यहाँ के रचनात्मक कार्य में सलाह देंगे। तीसरी समस्या राजनैतिक है। जापान-सरकार मंचूरिया



जापान की धमकी

और शाटुंग में अनधिकार-चेष्टा कर रही है, इस सम्बन्ध में दोनों देशों की सरकारों में बातचीत चल रही है। मंचूरिया शीघ्र ही चीन की राष्ट्रीय सरकार से सम्बन्ध स्थापित कर लेगा। मुकडन सरकार से हमें कोई झगड़ा नहीं है। उसके प्रधान मार्शलचैंग का चीन से सहानुभूति पूर्ण बर्ताव है।'

अभी नये समाचारों से ज्ञात होता है कि उत्तरी चीन में भयंकर दुर्भिक्ष फैल गया है। लोगों को खाने को नहीं मिलता। वे पशुओं को खा रहे हैं और डाका डाल रहे हैं सैकड़ों आदमी भूख से मर रहे हैं, जिन्हें कुत्ते और भेड़िये खा रहे हैं। परमात्मा यह दुःख दूर करे।

कृष्ण



सामान्य वातावरण

गत मास कोई ऐसा आन्दोलन नहीं हुआ, जिसे देश व्यापी कहा जा सके। कलकत्ता-कांग्रेस में स्वीकृत कार्य-क्रम की ओर अभी तक किसी प्रान्त ने विशेष ध्यान नहीं दिया। कई प्रान्तों में उस स्वीकृत कार्य-क्रम को क्रिया में लाने के लिए समितियाँ जरूर बन गई हैं। श्रीयुत जवाहरलाल नेहरू की सलाह पर लखनऊ में स्वयंसेवकों का संगठन करने का निश्चय किया गया है। अन्य भी कई स्थानों पर हिन्दुस्तानी सेवादल के आयोजन का प्रयत्न किया जा रहा है। महात्मा गांधी ने भी विदेशी वस्तु-बहिष्कार और खद्दर के प्रचार की एक योजना पेश की है, जो कांग्रेस की कार्यकारिणी-समिति में पेश होगी। इसके सम्बन्ध में उसके विचार हो जाने पर हम कुछ लिखेंगे।

साइमन कमीशन का बर्मा में भी अच्छा बहिष्कार हुआ। गत ३० जनवरी को कमीशन के रंगून पहुँचने पर

श्री यू० मांगसू के नेतृत्व में बहिष्कारवादियों का बड़ा भारी जुलूस निकला। श्री यू० टोक एम० एल० ए० की अध्यक्षता में विराट सभा हुई जिसमें ५००० स्त्रियाँ भी उपस्थित थीं। मद्रास में भी साइमन बहिष्कार की तैयारियाँ हो रही हैं। अकाली पटियाला में सत्याग्रह करने का आन्दोलन कर रहे हैं।

आजकल सभी प्रान्तों में कौंसिलें हो रही हैं। इधर दिल्ली में भी असेम्बली का अधिवेशन प्रारम्भ हो चुका है। यह अधिवेशन भी बहुत महत्वपूर्ण है, इसमें कई आवश्यक विषय पेश होने वाले हैं। २८ जनवरी को इस अधिवेशन का प्रारम्भ करते हुए वाइसराय लार्ड अरविन ने शुरू में इंग्लैण्ड नरेश जार्ज पंचम के नीरोग होने के लिए ईश्वर से प्रार्थना तथा लाला लाजपतराय और एस० आर० दास की मृत्यु पर समवेदना प्रकट करते हुए कहा कि भारत-सरकार अफगानिस्तान के सम्बन्ध में तटस्थ रहने का पूरा ध्यान रक्खेगी। कृषि कमीशन की अधिकांश सिफारिशें प्रान्तीय सरकारों के लिए हैं। भारतीय सरकार भी एक केन्द्रीय खोज-संस्था खोलेगी, जिसका कार्य कृषि-सम्बन्धी खोज, निरीक्षण और पशुपालन के सम्बन्ध में कार्यकर्ता तैयार करना, तथा विशेष जानकारी करना होगा। पूँजीपतियों और मजदूरों के झगड़ों के सम्बन्ध में वायसराय ने अपने भाषण में कहा कि यह खेद की बात है कि अब हड़ताल आदि झगड़े बहुत होने लग गये हैं इसीलिए सरकार ने ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल उपस्थित किया है जिससे परस्पर समझौता न हो सकने की सम्भावना में पंचायत द्वारा फैसला करा लिया जाय। परन्तु केवल इतने से यह बुराई दूर न होगी। मजदूरों की उचित शिकायतें दूर करनी चाहिएँ। इसलिए सरकार ने एक कमीशन नियत करने का निश्चय किया है, जिसके अध्यक्ष श्रीयुत ह्विटले होंगे। लेकिन हड़तालों का कारण केवल उचित शिकायतें ही नहीं हैं। बोल्शेविज्म के प्रचारक मजदूरों को अधिक भड़काते भी हैं। इन्हीं को रोकने के लिए सरकार ने गत अधिवेशन में 'पब्लिक सेफ्टी बिल' पेश किया था, जो पास नहीं हो सका था। उसे अब सरकार इस अधिवेशन में पेश करेगी।

भारतवर्ष की वर्तमान राजनैतिक समस्या के सम्बन्ध में आपने कहा कि इंग्लैण्ड और भारत के पारस्परिक समझौते से ही वह हल हो सकती है। स्वतन्त्र रूप से पार्लमेण्ट के अधिकार को न मानना बहुत हानिकर है तथा अनुदारता और बेसब्री का परिचय देना है। एक निश्चित समय तक यदि हमारी माँग पूरी न की जायगी, तो सविनय-अवज्ञा प्रारम्भ कर दी जायगी, इस धमकी से हानि के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं है। ऐसी शर्त का पूरा करना असम्भव है। नेहरू रिपोर्ट विचार करने लायक जरूर है। साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर भी सब लोगों को अपने विचार प्रकट करने का मौका मिलेगा और उसके बाद ही पार्लमेण्ट निर्णय करेगी। एक-दूसरे पर अविश्वास करने से हानि ही अधिक होगी। मैं यह मानता हूँ कि बहुत से नेता असहयोग के खतरनाक रास्ते पर नहीं जावेंगे, फिर भी उनमें से बहुत से अंग्रेज-सरकार की नीति पर विश्वास नहीं करते। मैं असेम्बली के द्वारा सारे भारत से कहता हूँ कि ब्रिटेन ने जो वचन सन् १९१७ में दिया था, उससे वह हटना नहीं चाहता।

वाइसराय के उक्त भाषण की प्रायः सभी नेताओं और समाचारपत्रों ने समालोचना की है।

बाल-विवाह-निषेध-बिल

असेम्बली के दूसरे दिन ही श्रीयुत हरविलास शारदा का बाल विवाह-निषेधक-बिल फिर पेश हुआ। यह दो बार सिलैक्ट कमिटी से पास हो चुका है। श्री शारदा का भाषण बहुत अच्छा था। जिस का सारांश पहले दिया गया है। श्री एम० के० आचार्य ने संशोधन पेश किया कि सहवास-वय समिति की रिपोर्ट प्रकाशित होने तक इस बिल पर विचार स्थगित कर दिया जाय। जब मत लिये गये तो सरकारी और सभी मुसलमान तथा यूरोपियन (दो के सिवा) सदस्यों ने संशोधन के पक्ष में मत दिया। प० मालवीयजी तटस्थ रहे। प० मोतीलाल नेहरू और जयकर आदि ने संशोधन का विरोध किया, परन्तु सरकारी सहायता के कारण संशोधन पास होगया।

सरकार के संशोधन के पक्ष में मत देने के कारण चारों ओर से सरकार की बड़ी आलोचना हो रही है। यह निश्चित है कि सरकार भारतवर्ष की सामाजिक उन्नति नहीं चाहती,

नहीं तो कोई कारण न था कि उस ने इस प्रस्ताव के पक्ष में रहने का वचन देकर भी ठीक वक्त पर धोका दिया। श्री हरविलास शारदा आदि ने इस धोके पर सरकार को बहुत कोसा। अब सरकार ने शिमला के अधिवेशन में इस प्रस्ताव पर तीन दिन देने का वचन दिया है। देखें क्या होना है।

भारतीय सिनेमा-संरक्षण

श्रीयुत रणजयसिंह ने प्रस्ताव किया कि सिनेमा जाँच-कमिटी के भारतीय सदस्यों की सिफ़ारिश के अनुसार सरकार भारतीय फिल्म बनाने वालों को सहायता दे। कर्नल क्राफ़र्ड ने कहा कि पहले उन्हीं सिफारिशों पर अमल होना चाहिए, जो सर्व-सम्मत हो। मत लिये जाने पर दोनों तरफ़ ३९-३९ मत आये। अध्यक्ष के अपना मत प्रस्ताव के विरुद्ध देने पर प्रस्ताव गिर गया। इसके अस्वीकृत होने से भारतीय व्यवसाय को जो हानि होगी, स्पष्ट ही है।

सैनिक शिक्षा

इस अधिवेशन में तीसरा महत्वपूर्ण प्रस्ताव डाक्टर मुंजे का था कि स्कूलों और कालेजों में १६ से २० तक की आयु के विद्यार्थियों को फौजी कवायद और बन्दूक चलाने की शिक्षा अनिवार्यरूप से दी जाया करे। सरकारी सदस्यों ने इसका विरोध करते हुए बताया कि शिक्षा का विषय प्रान्तीय सरकारों से सम्बन्ध रखता है, भारतीय सरकार उन पर दबाव नहीं डाल सकती। अभी इस प्रस्ताव पर और विचार होगा।

अन्य महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव

इस अधिवेशन में कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पेश हुए। ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल तो पिछले अधिवेशन से ही पेश हो चुका था। पब्लिक सेफ्टी बिल फिर नये रूप से पेश हुआ। इसमें एक यह भी धारा जोड़ी गई है कि विदेशों से मजदूरों की सहायतार्थ आनेवाला रुपया सरकार ज़ब्त करले। बिल विरोध करने पर भी विशेष-समिति के सुपुर्द कर दिया गया। श्रीयुत हाजी का भारतीय जहाज व्यवसाय के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पेश होगा।

अफ़गानिस्तान से सहानुभूति

हम त्यागभूमि के पिछले अंकों में कई बार लिख चुके हैं कि भारतवर्ष को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से बहुत अधिक परिचित रहना चाहिए और यथाशक्ति विदेशों से सम्बन्ध भी जारी रखने चाहिएँ। कलकत्ता-कांग्रेस ने अखिल एशियायी सम्मेलन को निमन्त्रण देने, चीन को बधाई देने, विदेशों से सम्बन्ध स्थापित करने, साम्राज्य-विरोधी संघ में अपना प्रतिनिधि भेजने आदि के अनेक प्रस्ताव स्वीकृत कर इस ओर विशेष ध्यान दिया। अब भारतवर्ष शनैः शनैः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के महत्व को समझ रहा है। इसका सब से अच्छा उदाहरण इसी मास मिला। अफगानिस्तान में क्रान्ति और अराजकता का समाचार पाकर राष्ट्रीय भारतवर्ष एक स्वर से उसकी सहायता करने को तैयार हो गया। प्राय सम्पूर्ण भारतवर्ष में अफगानिस्तान के सम्बन्ध में सहानुभूति-सूचक प्रस्ताव स्वीकृत किये गये। कई स्थलों पर अमीर अमानुल्ला के लिए चन्दा जमा किया गया और बहुत से स्वयंसेवक भी तैयार हुए यद्यपि सरकार ने स्वयंसेवकों को जाने नहीं दिया। इसके अतिरिक्त सभी नेताओं और समाचार पत्रों ने मद्रास और कलकत्ता-कांग्रेस में स्वीकृत किया भावी युद्ध में भाग लेने विषयक प्रस्ताव का ख़याल कराते हुए सरकार को चेतावनी दी कि वह अफगानिस्तान में उदासीन रहे। यह सब उन्नति के लक्षण हैं। अफगानिस्तान के भविष्य का प्रभाव भारत पर पड़े बिना न रहेगा। अमीर अमानुल्लाखां के सामाजिक सुधार और राष्ट्रीयता के भाव भारतीय मुसलमानों को भी उदार और राष्ट्रीय बनने की प्रेरणा कर रहे थे। इसके विरुद्ध हबीबुल्लाखां (बच्चा-ए-सक्को) के गद्दी बैठ जाने पर भारतीय मुसलमानों पर इनके विपरीत प्रभाव पड़ता। दूसरी बड़ी हानि यह कि अमीर अमानुल्ला और अंग्रेजों के संबंध देखते हुए सरकार के रणक्षेत्र में कूदने की सम्भावना हर समय लगी रहती है, जिससे भारत का असंख्य जन-धन-नाश होगा। इसलिए राष्ट्रीय नेता एक दिल से अमीर अमानुल्लाखां को चाहते हैं और सरकार से बीच में न पड़ने की प्रार्थना करते हैं। अभी नहीं कहा जा सकता कि क्या होगा?

मजदूर-प्रगति

वाइसराय ने मजदूरों की हड़तालों आदि के सम्बन्ध में कहते हुए एक शाही कमीशन का जिक्र किया है। श्रीयुत ह्विटले (ब्रिटिश हाउस आव् कामन्स के भूतपूर्व अध्यक्ष) उसके अध्यक्ष होंगे। इस सूचना को सुनकर कई मजदूर नेताओं ने प्रसन्नता प्रकट की है; जेनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ के भारतीय प्रतिनिधि ने मजदूरों को सलाह दी है कि वे अपने कष्ट उस कमीशन को जरूर सुनावें। यह स्वाभाविक है कि तरह-तरह के अत्याचारों से पीड़ित मजदूर इस तरह के कमीशन के सामने अपने दुःख कहें। परन्तु हमारी सम्मति इसके विपरीत है। यह अवसर मजदूरों की परीक्षा का है। सरकार से किसी तरह की आशा करना बड़ी भारी भूल है। जहाँ वह विदेशों से आई हुई सहायता को भी जब्त करना चाहती है, वहाँ वह मजदूरों का हित करेगी ऐसी आशा नहीं की जा सकती। इसी तरह इंग्लैण्ड आदि के मजदूरों से सम्बन्ध स्थापित करने की भी अभी आवश्यकता नहीं। श्रीयुत झाबवाला ने मजदूरों की समस्या पर विचार करते हुए बहुत ठीक कहा है—

"देश में मजदूरों के सगठन की अत्यन्त आवश्यकता है। सगठन का कार्य बड़ा टेढ़ा है। मुझे इसका पुराना अनुभव है। मैं कह सकता हूँ कि जबतक मजदूर लोग स्वयं अपने संगठन में अग्रसर न होंगे तबतक यह कार्य होना असम्भव है। जो बाहर के आदमी हैं, वे प्रायः अपने राजनैतिक स्वार्थों को पूरा करने के लिए या लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए ही मजदूर-आन्दोलन में भाग लेते हैं। ऐसे आदमियों से बचने का एक ही उपाय है। वह यह कि उनका नेतृत्व करने के लिए उन्हींमें से कुछ मजदूरों को शिक्षा और उत्तेजना दी जाय।

एक बात और आवश्यक है। सरकार को दखल देने का बहुत कम मौक़ा देना चाहिए। मजदूरों और पूँजीपतियों में परस्पर समझौता कराने का उद्योग होना चाहिए।

हम अपने व्यावसायिक झगड़ों में प्रायः यह बात भुला देते हैं कि हमपर विदेशी जाति का शासन है। जबतक यह विदेशी जुआ हमारे कन्धों पर से नहीं उठ जाता तबतक परस्पर समझौता होना असम्भव है।

मैं अन्य देशों के मजदूरों के साथ विश्व भ्रातृत्व का सम्बन्ध जोड़कर उनसे सहयोग करने के हक़ में हो सकता हूँ; मगर जबतक कि हिन्दुस्थान गुलाम है, तबतक उनके साथ सहयोग करना स्वीकार करने को उद्यत नहीं हो सकता।

दिल्ली के मजदूर-सगठन का समाचार हम पिछले अंक में दे चुके हैं। वहाँ पदाधिकारियों आदि का चुनाव भी हो गया। परन्तु उसके सगठन में कई त्रुटियाँ रह गई हैं। कुछ ही समय हुआ कि एक छोटी-सी बात पर बिड़ला मिल के कुछ मजदूरों ने हड़ताल कर दी। सम्भव था कि यह हड़ताल बढ़ जाती, परन्तु श्री घनश्यामदास बिड़ला की दूरदर्शिता ने उसे शान्त कर दिया। उन्होंने सब मजदूरों को, जो काम छोड़ गये थे, फिर ले लेने की आज्ञा दी और एक पंचायत बना दी, जिसमें चार मजदूरों के प्रतिनिधि और चार कारखाने के कर्मचारियों के प्रतिनिधि सदस्य होंगे। यही समिति पहले मजदूरों की सब शिकायतों पर विचार करेगी। यह समिति उन चार मजदूरों को फिर लेने या न लेने पर भी विचार करेगी, जिनके कारण उपर्युक्त हड़ताल हुई थी। यदि कोई समस्या यह पंचायत हल न कर सकी, तो उस पर डाक्टर अन्सारी या बिड़लाजी विचार करेंगे।

मजदूरों के सगठन के सम्बन्ध में हम दो बातें विशेष रूप से कहना चाहते हैं कि उन्हें अपना संगठन बनाते समय अपने ही में से यथासम्भव अधिकारी चुनने चाहिएँ, और दूसरे लोगों को सलाहकार बना लेना चाहिए। दूसरे यह कि मजदूरों को किसी दूसरी शक्ति का साधन या औजार बनकर नहीं रहना चाहिए। जैसा कि श्रीयुत झाबवाला ने मजदूरों के सगठन के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए कहा है।

उधर सरकार असेंबली में मजदूरों के झगड़े शान्त करने के लिए ट्रेडडिस्प्यूट्स बिल और पब्लिक सेफ्टी बिल पेश कर चुकी है, इधर बम्बई में मजदूरों और मिल-मालिकों ने आपस में एक समझौता कर लिया है। यदि क्रियात्मक रूप से सफल हुआ, तो उपर्युक्त बिलों की ज़रूरत भी नहीं रहेगी। गत ४ फरवरी को मिल-मालिकों के प्रतिनिधि एस॰ डी॰ सकलतवाला ने अपने भाषण में घोषणा की कि हमने भविष्य में मजदूरों से झगड़े

निबटाने के लिए जो नियम बनाये थे, वे सब मजदूरों के नेताओं और संयुक्त-हड़ताल-कमिटी ने मंजूर कर लिये हैं। इसके अनुसार जो कोई झगड़ा मजदूरों के साथ खड़ा होगा, वह पंचों के सुपुर्द कर दिया जायगा और पंचों से फैसला न हो सकने पर ही मजदूर हड़ताल करेंगे। मिलवालों को आशा है कि इस समझौते के अमल में आने पर पाँच-छः वर्ष से बम्बई में जो बार-बार हड़तालें हो रही हैं वे मिट जायँगी और सदा को शांति का राज्य हो जायगा।

कृष्ण

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। एक प्रति आने पर आलोचना न हो सकेगी। प्रत्येक पुस्तक का साहित्य-सत्कार तो उसी अंक में हो जाया करेगा—आलोचना, यदि हुई तो, सुविधानुसार बाद में होगी।]



ऋग्वेदालोचन

ग्रन्थकार—श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ। प्रकाशक—श्री सत्यव्रत शर्मा, शान्ति प्रेस आगरा (यू० पी०)। पृष्ठ, संख्या ३०८; मूल्य १|||)।

यह ग्रन्थ एक प्रसिद्ध विद्वान् एवं उत्तरदायी महानुभाव की लेखनी की उपज है, इस कारण इस ग्रन्थ को हमने आदि से अन्त तक दो बार पढ़ा। और कई स्थल तो कई बार पढ़े। हमें ऋग्वेदालोचन नामक पुस्तक और उसके कर्त्ता श्री नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ का नाम सुनने और प्रारम्भ के मुख-पृष्ठ पर देख लेने भर से जितनी भारी आशा उत्पन्न हुई, पुस्तक पढ़ लेने पर, उतनी ही निराशा अनुभव हुई। हम चाहते थे कि पुस्तक-भर में कहीं श्री शास्त्री वेदतीर्थ महोदय अपने निज विशेष अनुशीलन-रूप में प्रकट हों, या ऋग्वेद के भीतर से अश्रुतपूर्व रत्नों का मार्मिक संग्रह प्राप्त हो। परन्तु वह हमें कहीं भी देखने को न मिला। यदि इस पुस्तक का नाम शास्त्री महोदय ऋग्वेदालोचन न रखकर ऋग्वेदालोचन-संग्रह रखते तो सार्थक होता। क्योंकि आपने पुस्तक के अधिकांश भाग में ऋग्वेद के आलोचकों के मत का संग्रह-भर किया है। १०० पृष्ठों में तो आपने ब्रह्मवादी, शाकीय, निरुक्त, सायणीय, दयानन्द, ऐतिहासिक याज्ञिक, पाश्चात्य पण्डित, तिलक, दास, सामश्रमी, इन ११ पक्षों को न्यूनाधिक रूप में दिखाने का प्रयत्न किया है। और इतने भाग में पता नहीं चलता कि शास्त्रीजी स्वयं किस पक्ष को स्वीकार करते हैं। आपने स्थान-स्थान पर अपने गुरु सामश्रमीजी के गुणानुवाद किये हैं, इससे भान होता है कि कदाचित् आपको उनका ही पक्ष अभिमत हो। परन्तु नहीं। केवल २८१ पृष्ठ पर एक पंक्ति में आपने लिखा है कि "हम ग्रन्थ के आदि में दिये हुए ब्रह्मवादी सिद्धान्त को ही मानते हैं।" परन्तु ब्रह्मवादी-पक्ष के आपने केवल ग्रन्थ में अधूरे ६ पृष्ठ ही देने की कृपा की है। और शेष पक्षों को दर्शाते हुए आपने परिशिष्ट-सहित प्रथम प्रकाश के १७५ पृष्ठ व्यय किये हैं। इससे हमें खेद इतना ही है कि लेखक ने अपनी आत्मा को अन्य पक्षों के नीचे कुचलने दिया है। और उनकी अपने मत से विप्रतिपत्ति देखकर भी कहीं उनके मतों की आलोचना-प्रत्यालोचना करने का साहस नहीं किया। उनको अपनी कसौटी पर कसने का यत्न भी नहीं किया, प्रत्युत् २८७ पृष्ठ पर 'कतिपय आश्चर्य' शीर्षक देकर अपने पक्ष

को ऐसा कच्चा कर दिखाया है कि लेखक की अपनी स्थिति तिलक, दास, मैकडानल, पश्चिमी पण्डित आदि के मतों के समक्ष एक तिनके के बराबर भी नहीं रहती।

द्वितीय प्रकाश में शास्त्रीजी ने ऋग्वेदोक्त विषयों का संग्रह किया है। इसमें आपने कुछ सूक्तों का तो अनुवाद कुछ आचार्यों के अनुसार लिख दिया है। और बहुत से विषयों के प्रायः सहित मन्त्रोल्लेख करके हो अधकचरी भाषा में अस्पष्ट रूप से ऐसे टाल दिया है कि मानो पढ़नेवाला मन्त्र पढ़ते ही उन मन्त्रों को समझ जायगा। जैसे २०८ पृष्ठ पर अघमर्षण मन्त्र, २५६ पृष्ठ पर पाणिग्रहण, गर्भाधान आदि मन्त्र। सपत्नी-बाधन-सूक्त का उल्लेख करके शास्त्रीजी ने सौतों की परस्पर प्रतिस्पर्धा का वेदमन्त्रों में जो अद्भुत चमत्कार ढूँढ़ लिया है उसके लिए तो वेद-प्रेमी अवश्य उनके कृतज्ञ रहेंगे। इन सूक्तों के अर्थोल्लेख करते हुए स्वयं शास्त्रीजी बहुत-से स्थलों पर सन्दिग्ध हैं कि इन सूक्तों का क्या अभिप्राय है। पृष्ठ० २७५ पर 'यक्ष्मा' सूक्त पर आपकी टिप्पणी उसी प्रकार की है।

शास्त्रीजी ने स्थान-स्थान पर लिख दिया है कि 'इन सबपर गम्भीर विवेचना की आवश्यकता है'। अन्त में आपने लिखा है कि "अब हमारे ब्रह्मवादी-पक्ष के मार्ग में भी कई बड़ा दृढ़ शिलाएं हैं, जिनको पार करना अत्यन्त आवश्यक है—अपने सिद्धान्त के अनुसार वेदों की आद्योपान्त संगति लगाये बिना मनुनिर्दिष्ट स्थान पर वेदों का बैठाना कठिन हो जायगा।" इस प्रसंग में हमें शास्त्री जी से निवेदन करना है कि आपके ऋग्वेदालोचन में हम आशा करते थे कि वे-वे भारी शिलायें आपने पार की होंगी, परन्तु स्वयं आप अपने आगे उन शिलाओं को खड़ा पाकर अ-गतिक हो गये हैं। आप ऐसे स्वतन्त्र विचारक फिर ऐसे मार्गहीन मन्तव्य पर क्यों अटके खड़े हैं? अन्त में हम शास्त्रीजी का ध्यान एक बात पर और आकर्षित करते हैं कि आपने प्रथम प्रकाश में ब्रह्मवादी, शाखीय, निरुक्त, इन तीन पक्षों को पृथक् पृथक् माना है और याज्ञिक, स्वामी दयानन्द और सायण के पक्षों को भिन्न-भिन्न माना है, फिर क्या आपकी सम्मति में शाखों, निरुक्त और यज्ञ-विधायक ग्रन्थों में कोई परस्पर एकवाक्यता नहीं है? क्या महर्षि दयानन्द को निरुक्त पक्ष के ग्रन्थ ब्राह्मणादि सहमत नहीं हैं? अच्छा होता कि आप इन।परस्पर उपकारी मन्तव्यों की संगति लगाने का यत्न करते और अपने पक्ष के पोषण में और भी अधिक गहराई से जाते। यदि शास्त्री जी उपोद्घात पर ही सन्तोष करके 'Preface' में अंग्रेजी पंक्तियाँ न लिखते तो ग्रन्थ का गौरव घट न जाता। इसी प्रकार दास, तिलक, पाश्चात्य पण्डितों और मैक्डानल आदि के मन्तव्यों को सैकड़ों पृष्ठों में लिखकर अपने निज-पक्ष से पाठकों को बहुत दूर जा फेंका। उससे शास्त्री महोदय ने जिस जनता के लिए यह ग्रन्थ लिखा है उसके लिए किसी महत्व का नहीं है। और यदि अन्यों के नाना पक्ष दिखलाना अभीष्ट था, तो इस ग्रन्थ को और भी अधिक विशदता और पूर्णता से लिखना चाहिए था। इससे इस ग्रन्थ का महत्व इसी दृष्टि से बहुत अधिक हो जाता। इसमें संदेह नहीं कि प्रस्तुत पुस्तक में तिलक, दास, मैक्डानल आदि के पक्षों और याज्ञिक सिद्धान्तों को दर्शाते हुए पक्षों को स्पष्ट करने के लिए उनके कल्पित वैदिक उषा, वृत्र-वध आदि के चित्र, यज्ञवेदि और प्राचीनकालिक भारत का मानचित्र आदि देकर ग्रन्थ की उपयोगिता को बढ़ाया है। जो साधारण रूप से वेद के विषय में पाश्चात्य आलोचकों और पूर्वीय आलोचकों का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए यह पुस्तक पर्याप्त उपयोगी है।

'वेद-प्रेमी'

भारतवर्ष का इतिहास

(खण्ड २)

लेखक—आचार्य रामदेव जी। प्रकाशक—गुरुकुल-विश्व-विद्यालय, कांगड़ी (बिजनौर)। आकार-रायल अठपेजी। पृष्ठ-संख्या ३८०; मूल्य ३॥) रु०।

'त्यागभूमि' के पिछले किन्हीं दो अंकों में उक्त ग्रन्थ के प्रथम खण्ड का विस्तृत परिचय दिया जा चुका है। द्वितीय खण्ड में महाभारत-काल से लेकर प्राग्मौर्य-काल (बौद्ध से पूर्व) तक का सामाजिक, राजनैतिक व सभ्यता का इतिहास दिया गया है। यह काल भारतवर्ष के इतिहास में नितान्त अन्धकार-पूर्ण है। इतिहासज्ञ लोग

भारतीय इतिहास लिखते समय इस काल का वर्णन यों-ही छोड़ जाया करते हैं। इस काल का वर्णन पुराणों में भी केवल राजाओं की वंशावली-मात्र देकर समाप्त कर दिया है। काव्य, नाटक, साहित्य आदि भी इस काल के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखते। न कोई प्राचीन शिलालेख तथा सिक्के ही उपलब्ध होते हैं और न विदेशी यात्रियों के वर्णन ही मिलते हैं। वर्तमान इतिहासज्ञों में श्रीयुत पार्जिटर ने केवल वंशावली लिखकर इस काल को छोड़ दिया है। श्रीयुत दलाल भी इस काल पर छः पृष्ठ से अधिक न लिख सके। इस काल का राजनैतिक इतिहास ही नहीं, सामाजिक इतिहास भी लिखना कठिन है। श्रीयुत राय चौधरी ने अपने ग्रन्थ (Political History of Ancient India) में वैदिक और ब्राह्मण साहित्य को आधार मानकर इस काल का इतिहास लिखा है। परन्तु आचार्य रामदेवजी अपने इतिहास के प्रथम खण्ड में इन ग्रन्थों की प्राचीनता—महाभारत-काल से पूर्व सिद्ध कर चुके हैं। इन अवस्थाओं में इस काल का इतिहास लिखना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। अस्तु।

इस खण्ड के प्रथम भाग में योग्य लेखक ने महाभारत को आधार रखकर इस समय की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, शास्त्रीय और आर्थिक अवस्थाओं पर विस्तार से विचार करते हुए बताया है कि महाभारत का समय राजनैतिक दृष्टि से बहुत अधिक उन्नत था। सम्पूर्ण भारतवर्ष शासन की दृष्टि से एक हो चुका था। भौतिक सभ्यता में भी वह बहुत अधिक उन्नत था। इस सम्बन्ध में लेखक ने प्रथम अध्याय में युद्धनीति, शस्त्रास्त्र, सैन्य प्रबन्ध, शिविर-रचना, आदि पर —अपनी प्रमाण देने की शैली को अच्छी तरह निभाते हुए—बहुत अच्छा तरह विचार किया है। दूसरे अध्याय में तात्कालिक राज-शासन-पद्धति और शासन पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए लेखक ने बताया है कि उस समय एकायत्त शासक राज्य को अपनी सम्पत्ति समझता था। तभी युधिष्ठिर ने राज्य को जुए में हरा दिया था। राजा स्वेच्छाचारी हो रहे थे। फिर भी वे पूर्ण स्वतन्त्र नहीं थे। उनपर भी बहुत-से बन्धन रहते थे। ब्राह्मण राजाओं को अपने नीचे रखते थे। यदि प्रजा राजा के व्यवहार से अत्यन्त असन्तुष्ट हो, तो वह उसे राज्य-च्युत कर सकती थी। राजा भी प्रजा या विद्वान् ब्राह्मण से सलाह लिया करते थे। राजा वेन राज्य-च्युत कर दिया गया और उसके पुत्र पृथु ने गद्दी पर बैठते समय जो प्रतिज्ञायें कीं, वे बहुत अधिक महत्व की हैं। प्रजा ने राजा-रानी को भी राज्यच्युत कर दिया। राजा ययाति के छोटे पुत्र को युवराज बनाने पर प्रजा ने उससे उसका कारण पूछा। व्यवस्थापिका सभायें शासन की सुविधा के लिए होती थीं। उस समय भी दरिद्र-पोषण के नियम (Poor laws) बने हुए थे। कर-संग्रह का अच्छा प्रबन्ध था। कर लगाने के सम्बन्ध में महाभारत कहता है, राष्ट्र को बछड़ा समझकर ही प्रजा पर कर लगाना चाहिए। गौ को अधिक दुह लेने से बछड़ा काम का नहीं रहता। आपत्त के समय प्रजा से सामूहिक ऋण भी लिया जाता था। पशुओं के लिए मुफ्त चरागाहें रक्खी जाती थीं। तीसरे अध्याय में लेखक ने तात्कालिक आचार-व्यवहार पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि इस दृष्टि से उस समय का भारत अधिक उन्नत नहीं था। ब्राह्मण और स्त्री का अपमान होता था। राक्षस विवाह होने लग गये थे। स्त्रियाँ भी पति को वश में करने के लिए वशीकरणमन्त्र पूछती रहती थीं। बालविवाह प्रारम्भ हो गये थे। महाभारत में ७ साल की लड़की से विवाह करने का उल्लेख है। नियोग की की प्रथा प्रचलित था। आगे रिश्वत, नर-बलि, अपशकुन, शपथ, गालियाँ, दास-प्रथा आदि अनेक कुप्रथाओं और नैत्यिक भ्रष्टाचारों का वर्णन दिया गया है। चतुर्थ अध्याय में बताया गया है कि उस समय ज्योतिष, चिकित्सा, गर्भविज्ञान, शारीर-ज्ञान, सृष्टि रचना आदि विज्ञान बहुत उन्नत थे। पाँचवें अध्याय में तात्कालिक शिल्प-वैभव तथा वाणिज्य-व्यवसाय पर अच्छा विचार किया गया है।

परन्तु हमारी सम्मति में आचार्य रामदेवजी उक्त विवेचन में एक बड़ी भारी भूल कर गये हैं। सम्पूर्ण महाभारत-ग्रन्थ एक समय नहीं बना। स्वयं आचार्यजी ने इतिहास के प्रथम खण्ड (पृ० ३५५-५७) में स्वामी दयानन्द का एक उद्धरण देते हुए यह स्वीकार-सा किया है कि महाभारत का मा य भोज के समय (११वीं सदी में) बना

है। यदि मोज तक न भी जावें, तो भी उसे २००० वर्ष पूर्व से इधर का बना हुआ मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में महाभारत का बहुत बड़ा भाग आज से ५००० वर्ष पूर्व का इतिहास बताने में असमर्थ है। उसमें आई हुई विभिन्न कथायें और प्रश्नोत्तर महाभारत से बहुत पीछे के काल की सभ्यता का ही परिचय देते हैं, न कि महाभारत-युद्ध के समय की सभ्यता का। अस्तु।

द्वितीय भाग में महाभारत-काल से प्राग्बौद्ध-काल तक का राजनैतिक इतिहास दिया गया है। यह अध्याय बहुत अधिक स्वाध्याय के बाद लिखा गया मालूम होता है। परन्तु इस भाग के पिछले अध्यायों में प्रत्येक बात की पुष्टि के लिए स्थल-स्थल पर प्रमाण नहीं दिये गये, जिससे इतिहास के विद्यार्थियों के लिए स्वयं स्वाध्याय करने में बहुत कठिनता होती है। प्रथम अध्याय में महाभारत से भिन्न-भिन्न ४८ राज्यों और अनेक गणतन्त्रराज्यों का वर्णन किया गया है। अन्धक वृष्णिसङ्घ पर तो बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय में बताया गया है कि यूरोपीय विद्वानों का यह विश्वास बिलकुल निर्मूल है कि सार्वभौम राज्य या साम्राज्य की कल्पना पहले-पहल यूरोप में हुई। महाभारत के पढ़ने से साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। मगध का जरासंध ऐसा ही साम्राज्यवादी सम्राट् था। उसने बहुत-से राजाओं को अधिकार में कर रक्खा था। उसे नष्ट कर युधिष्ठिर भारत का सम्राट् बना। आगे के चार अध्यायों में बार्हद्रथ, प्रद्योत, शिशुनाग, चन्द्र सूर्यवंशों तथा काश्मीर के राजवंशों का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है। हम इतिहास के जानने की सामग्री ही नहीं मिलती, इसलिए अन्य सभी इतिहासज्ञों की भाँति आचार्यजी को भी पुराणों में समुपलब्ध वृत्तान्तों पर सन्तोष करना पड़ा है।

सातवें अध्याय में १९६४ ई० तक के विदेशी आक्रमणकारियों—ओसिरिस, हरक्यूलीज़ और असीरिया की रानी सैमिरेमिस—के आक्रमणों का संक्षिप्त वर्णन है। इस अध्याय में तो एक भी प्रमाण का न होना बहुत अधिक खटकता है। इससे पाठक स्वतन्त्ररूप से कोई जाँच नहीं कर सकता। आठवें अध्याय में बौद्ध-साहित्य के आधार पर प्राग्बौद्ध-काल के १६ राज्यों का वर्णन किया गया है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि यह पुस्तक ऐतिहासिक जगत् में क्रान्तिकारक है। इसमें आज के इतिहासज्ञों के सर्वसम्मत सिद्धान्तों को इतिहास का आधार नहीं माना गया। यही हाल दूसरे खण्ड का भी है। इस ग्रन्थ के लेखक ने यह ग्रन्थ लिखते समय दो बातें मान ली हैं कि महाभारत का युद्ध ३१०० ई० पू० हुआ और महात्मा बुद्ध १८,१९वीं शताब्दी ई० पू० हुए। इसलिए इस खण्ड में ३१०० ई० पू० से १९वीं शताब्दी ई० पू० तक का वृत्तान्त है। लेखक ने उपर्युक्त राजवंशों का समय निम्नलिखित माना है—बार्हद्रथ-वंश ३११९ ई० पू० से २११३ ई० पू० तक; प्रद्योतवंश २११३ ई० पू० से १९९५ ई० पू० तक; शिशुनागवंश १९९५ ई० पू० से १६३५ ई० पू० तक; चन्द्रवंश (हस्तिनापुर का) अभिमन्यु-पुत्र परीक्षित से उदान (महात्मा बुद्ध के समकालिक) तक।

उक्त तिथिक्रम बहुत विवादास्पद है। इसपर लेखक ने कुछ भी प्रकाश नहीं डाला। यह बड़ी भारी कमी है। बिना किन्हीं प्रबल युक्तियों के इस नवीन तिथिक्रम को इतिहास का कोई भी विद्यार्थी स्वीकार नहीं कर सकता। अन्य सभी इतिहासज्ञ बुद्ध को छठी सदी ई० पू० मानते हैं। दोनों मतों में १३०० सालों के इस महान् अन्तर के कारण आगामी मुसलमानों के समय तक सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में गड़बड़ी पड़ जाती है। यहाँ लेखक को इस पर पर्याप्त प्रकाश डालना चाहिए। बहुत सम्भव है कि विद्वान् लेखक इसपर अपने इतिहास के तृतीय खण्ड में मौर्यकाल पर विचार करते हुए प्रकाश डालें। परन्तु बिना अपने तिथिक्रम को सिद्ध किये आगे बढ़ना उचित मालूम नहीं होता। आशा है कि द्वितीय संस्करण में इसपर एक अध्याय जोड़ दिया जायगा।

प्रायः सभी पाश्चात्य इतिहासज्ञ प्राग्बौद्धकालीन इतिहास पर लिखते हुए ब्राह्मणों और सूत्र-ग्रन्थों का आश्रय लेते हैं, परन्तु आचार्यजी इन ग्रन्थों को महाभारत से भी प्राचीन काल का बना हुआ मानते हैं, जैसा कि वह प्रथम खण्ड में सिद्ध कर चुके हैं। उन्होंने इस काल का सामाजिक, राजनैतिक और सभ्यता-सम्बन्धी वृत्तान्त

एक नये ग्रन्थ से लिया है और वह है शुक्रनीति-सार। आधुनिक विद्वान् उपलब्ध शुक्रनीति को बहुत अर्वाचीन मानते हैं। केवल यूरोपियन विद्वान ही नहीं, कई भारतीय विद्वान् भी इसे बहुत अर्वाचीन मानते हैं। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तो इसे मुगलों के भारत में आने के बाद का बना हुआ मानते हैं। परन्तु आचार्यजी की मान्यता है कि यह ग्रन्थ महाभारत-युद्ध के बाद और महात्मा बुद्ध से पूर्व किसी समय बना है। इस सम्बन्ध में आपका कहना है कि शुक्राचार्य बहुत प्राचीन ऋषि हैं, महाभारत आदि में उनका उल्लेख है, पीछे से महाभारत के बाद किसी विद्वान् ने उसका संक्षेप कर शुक्रनीतिसार बनाया। कौटिल्य, कामन्दक, हरिवंश, और पञ्चतन्त्र में शुक्रनीति के उद्धरण पाये जाते है। हमारी सम्मति में इस विवादग्रस्त विषय पर अधिक विस्तार से लिखना चाहिए था। अस्तु।

विद्वान् लेखक ने तृतीय भाग के दूसरे से नवें अध्याय तक शुक्रनीतिसार ग्रन्थ के आधार पर तात्कालिक भौगोलिक अवस्था, राजा तथा शासन-प्रबन्ध, मन्त्री-मण्डल, प्रजाओं के अधिकार और स्थानीय स्वराज्य, तात्कालिक शासन का स्वरूप, न्याय, व्यवस्था, सेना-प्रबन्ध, तात्कालिक शस्त्रास्त्र (आग्नेयास्त्र तक), युद्धनीति, राष्ट्रीय आय-व्यय, कर, मुद्रा-पद्धति, समाज की आर्थिक दशा, शिल्प और व्यापार, व्यापार के जल और स्थल मार्ग, कृषि, भौतिक सभ्यता, धर्म और सामाजिक व्यवस्था पर विस्तार से विचार किया है। यह सम्पूर्ण प्रकरण ४४ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। यह वस्तुत शुक्रनीति का सार है। इसके पढ़ने से शुक्रनीति की आवश्यक बातें ज्ञात हो जाती हैं। प्रत्येक कथन के लिए शुक्रनीति से श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

इस ग्रन्थ का चतुर्थ भाग तो बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्राचीन भारत के विदेशों से सबंध और उनमें भारतीय सभ्यता के प्रसार पर गहरा विवेचन किया गया है। वैसे तो बहुत-से इतिहासज्ञों ने बृहत्तर भारत (Greater India) के सम्बन्ध में लिखते हुए चीन, जापान, स्याम, जावा, कम्बोडिया आदि से भारत का सबंध दिखाया है, परन्तु उन्होंने अधिकतर बुद्ध के बाद के भारत के विदेशों से सम्बन्ध पर ही विचार किया है। लेकिन आचार्य रामदेव जी ने प्राग्बौद्धकालिक भारत के विदेशों के संबंध पर विचार किया है, जो बहुत दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

इस भाग के प्रथम अध्याय में भारत और चीन के प्राचीन सम्बन्ध पर विचार किया गया है। दोनों देशों के साहित्य, धर्मशास्त्रों, धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों में आश्चर्यप्रद समानता पाई जाती है। लेखक ने इस समानता के बहुत से उदाहरण देकर अपने मन्तव्य की पुष्टि ऐतिहासिक प्रमाणों से भी की है। सर विलियम जोन्स ने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। यदि भारत का चीन से सम्बन्ध बुद्ध के बाद ही होता, तो चीन भारत की ऐसी प्रथाओं को स्वीकार न करता, जो बौद्धधर्म के प्रतिकूल हों। दूसरे अध्याय में भारत और ईरान के प्राचीन सम्बन्ध पर भी लेखक ने विचार, धर्म और भाषा की साम्यता के आधार पर विचार किया है।

आगे के आठ अध्यायों में एसनीज (पैलस्टाइन-निवासी), मध्यएशिया, यूनान, इटली, ड्रूइड लोग, अमेरिका, आफ्रिका और मिश्र से भारत के प्राचीन संबंध पर बहुत विद्वत्ता से विचार किया गया है। प्रत्येक देश के प्राचीन साहित्य, धर्म और रीति-रिवाजों में समानता दिखाकर उसके ऐतिहासिक प्रमाण दिये गये हैं। यह सम्पूर्ण भाग १०० से अधिक पृष्ठों में समाप्त होता है।

वस्तुत: यह भाग बहुत अधिक योग्यतापूर्वक लिखा गया है। प्रत्येक भारत के प्राचीन गौरव के प्रेमी को यह भाग अवश्य पढ़ना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि बुद्ध से पूर्व भी भारतीय संसार के प्राय: सभी देशों से परिचित थे और उनमें भारतीय सभ्यता का प्रचार था। इस खण्ड के अन्त में अनुक्रमणिका भी दी गई है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है।

अन्त में हम भारतीय इतिहास के प्रत्येक विद्यार्थी से इसके पढ़ने का अनुरोध करते हैं। बहुत संभव है कि वे लेखक के सभी विचारों से सहमत न हों, परन्तु फिर भी वे इसे पढ़कर समझेंगे कि उन्हें बहुत-सी नई बातें मालूम हुई हैं। उन्हें एक नये दृष्टिकोण का ज्ञान होगा। हम आशा करते हैं कि आचार्य रामदेव जी इसका तीसरा

करके भी शीघ्र ही हिंदी-जनता के सामने उपस्थित करेंगे।

कृष्णचन्द्र विद्यालंकार

श्री राधेश्याम-नाटकावलि

इन दिनों हिन्दी-जगत् में कितने ही नाटक ऐसे देखे जाते हैं, जिन पर "रंग मंच पर सफलता पूर्वक खेले जाने योग्य" तो लिखा रहता है, किन्तु उनमें के अधिकांश इस योग्य नहीं होते। इसीलिए स्टेज की बारीकियों से जानकारी रखने वाले व्यक्ति आधुनिक नाटक लेखकों की इस अनधिकार-चेष्टा को उपेक्षा की ही दृष्टि से देखते हैं। क्योंकि वे भलीभाँति समझते हैं कि किसी नाटक को लिख देने के बाद उसे सफलतापूर्वक अभिनय कर दिखाने के लिए साधारण एक्टर से लेकर स्टेज मास्टर तक को कितना दिमाग लड़ाना पड़ता है; किस प्रकार दृश्यों की योजना, पात्रों का कार्य-विभाजन, उनकी प्रसंगोपात्त भाषा एवं गद्य पद्यात्मक भाषण-शैली में रिहर्सल और स्टेज होने के पूर्व तक सुधार करना पड़ता है, उसे आजकल के निरे साहित्यिक नाटककार नहीं जान सकते; और इसीलिए उनका उपर्युक्त दावा निस्सार है। हाँ, उनके नाटक पढ़कर पाठकों को साहित्यिक आनन्द का अनुभव अवश्य हो सकता है। और बहुत हुआ तो केवल साहित्यिक दृष्टि से देखने वाला हजार में एक-आध दर्शक उनका अभिनय होते समय किसी अव्यक्त आनन्द का उपभोग भी कर सकता है। किन्तु शेष नौ-सौ-निन्यानवे व्यक्ति उस साहित्यिक नाटक को नीरस ही बतायेंगे। इसलिए स्टेज पर खेले जाने योग्य नाटक लिखने के उम्मीदवारों को पहले किसी नाटक-कम्पनी में जाकर, जिस किसी प्रकारसे हो, कुछ महीने स्टेज और अभिनय की बारीकियों का अध्ययन करना चाहिए। बरेली-निवासी कीर्त्तन-कलानिधि पं० राधेश्यामजी कथावाचक के नाटक आज पन्द्रह वर्ष से बम्बई की न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी द्वारा भारत के प्रायः सभी बड़े-बड़े शहरों में अभिनीत हो रहे हैं। जिस किसी ने एक बार उनके नाटकों को देखा है, वह कभी उनकी विशेषताओं को नहीं भूल सकता। उनके नाटकों में चरित्र की महत्ता, आदर्श की उच्चता और सामयिकता की छाप के साथ गम्भीर एवं मार्मिक विनोद इतनी सफलता के साथ प्रदर्शित किया जाता है कि प्रत्येक विचारवान् दर्शक उनकी इस सफलता पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। छन्दशास्त्र की दृष्टि से ढूँढने पर उनकी कविताओं में कहीं यति-भंग या मात्रा-दोष अथवा अनुप्रास की त्रुटि भले ही मिल जाय, किंतु भावों की दृष्टि से वे जितनी प्रभावशालिनी और मार्मिक हैं, उतनी आजकल की तुकबन्दियाँ नहीं हो सकतीं। इसी दृष्टि से उक्त पण्डितजी की "नाटकावलि" पर संक्षेप में कुछ विचार प्रकट किये जाते हैं। अस्तु।

वीर अभिमन्यु

पण्डितजी का सबसे पहला नाटक है 'वीर अभिमन्यु'। यह आज से ठीक पन्द्रह वर्ष पहले अर्थात् गत यूरोपीय महायुद्ध के समय लिखा गया था। यही कारण है कि इसमें तत्कालीन परिस्थिति का बड़ी ही खूबी के साथ प्रदर्शन किया गया है। यह नाटक पण्डितजी की सबसे पहली रचना होने के कारण उन्होंने मुरादाबाद-निवासी स्व. लाला शालग्राम कृत "वीर अभिमन्यु" से इसमें बहुत-कुछ सहायता ली, और बड़ी ही शिष्टतापूर्वक इसके लिए उन्होंने कृतज्ञता भी प्रकट की है। इसी प्रकार उक्त न्यू अल्फ्रेड कम्पनी के भूतपूर्व डाइरेक्टर तथा भारतीय रंगमंच पर हास्यरस का अभिनय करनेवाले अद्वितीय नेता सेठ सोराबजी फ्रामजी ओग्रा से भी उन्होंने अपने वीर अभिमन्यु नाटक को स्टेज के योग्य बनाने में यथेष्ट सहायता ली है, यही कारण है कि डेढ़-दो वर्ष प्रयत्न करने के बाद जब सबसे पहली बार इस नाटक का अभिनय हुआ, तो भाव, भाषा और वेष-भूषादि की दृष्टि से इस नाटक को देखकर दिल्ली की जनता आश्चर्य-मग्न हो गई! क्योंकि इसके पहले शायद केवल उर्दू के ही नाटकों का दौरदौरा था। अस्तु।

नाटक के आरम्भ में बरेली के सुयोग्य विद्वान् नेता श्रीयुत बाबू जियाराम सक्सेना एम० ए० की विचारपूर्ण, मार्मिक एवं आलोचनात्मक भूमिका है, जिससे पता चलता है कि उन्होंने इस नाटक को केवल पढ़ा ही नहीं बल्कि रंगमंच पर इसका अभिनय भी बारीकी के साथ निरीक्षण किया है। और इसी दृष्टि से उनकी आलोचना बड़े महत्त्व

की हुई है। इन पंक्तियों का लेखक भी इस नाटक को दो-एक बार ही नहीं बल्कि पूरे चौबीस बार रंगमंच पर अभिनय होते देख चुका है, और प्रत्येक बार उसे इसकी नई-नई विशेषताओं का अनुभव होने से बराबर अतृप्ति ही रही।

जैसा कि आजकल देखा जाता है, हिन्दी के अधिकांश नाटक भाव-भाषा की दृष्टि से उच्च रहने पर भी केवल पढ़ने ही के काम के रहते हैं और स्टेज पर सफलतापूर्वक नहीं खेले जा सकते। यह बात इस नाटक के विषय में नहीं कही जा सकती। क्योंकि पण्डितजी का यह नाटक स्टेज पर तो सफलतापूर्वक खेला ही जा रहा है, किंतु इसी-के साथ-साथ इसको पढ़ कर साहित्यिक आनंद का आस्वादन भी भलीभाँति किया जा सकता है। सारांश, यह नाटक सब प्रकार से उपयोगी और पठनीय हुआ है। यही कारण है कि पञ्जाब प्रदेश की हिंदी-भूषण और इण्टर-मीजियेट परीक्षा के लिए पाठ्यग्रंथ एवं संयुक्त प्रदेश के स्कूलों में इनाम देने और लाइब्रेरियों के लिए यह चुना गया है और अबतक चार आवृत्तियों के रूप में यह सत्रह हजार की संख्या में बिक भी चुका है। कागज़, छपाई आदि की दृष्टि से भी पुस्तक नयनाभिराम है। अच्छा हो, यदि इसके मुखपृष्ठ का चित्र बदल दिया जाय, साथ ही पाँचवें पृष्ठ पर का दोहा इस रूप में बदल दिया जाय—

इसी भाँति भूले रहे, यदि अपना कर्तव्य।
तो फिर हरि के हाथ है, भारत का भवितव्य॥

यद्यपि पूरा नाटक ११५ पृष्ठों में समाप्त हुआ है और उसमें प्रायः सभी घटनाओं का यथाक्रम विवेचन भी किया गया है; किंतु रंगमंच पर खेलने की सुविधा और तीन-चार घण्टे में खेल समाप्त कर देने के विचार से इसमें के कई दृश्य स्टेज पर संक्षेप में दिखाये जाते हैं। फिर भी विशेषता यह है कि कहीं शृंखला नहीं टूटने पाई है।

नाटक का नाम यद्यपि वीर अभिमन्यु रक्खा गया है, किंतु 'वीर अभिमन्यु' का वध तो प्रथमांक की समाप्ति के ही साथ-साथ हो जाता है। दूसरे अंक में अर्जुन के घातक जयद्रथ के वध के लिए तैयारी कराई जाती है तथा तीसरे अंक का अन्त जयद्रथ के वध के साथ होता है। ऐसी दशा में नाटक का नाम 'जयद्रथ-वध' ही रखना चाहिए था। किंतु शायद पण्डितजी को यह नाम ठीक नहीं जँचा और उन्होंने अपने वीर-स्वभाव के अनुकूल 'जयद्रथ-वध' के मूल कारण 'वीर अभिमन्यु' का ही नाम अधिक उपयुक्त समझा है। पण्डितजी के इस नाटक की बदौलत युक्तप्रदेश और पञ्जाब में बहुत-कुछ हिन्दी-प्रचार हुआ है। एतदर्थ हिन्दी-प्रचार के नाते भी पण्डितजी धन्यवादार्ह हैं।

गोपीवल्लभ उपाध्याय

विपंची

लेखक—श्री रामनाथलाल 'सुमन'। प्रकाशक—हिन्दी-पुस्तक-भण्डार, लहेरियासराय। मूल्य।)

'सुमन' जी की कविताओं का यह छोटा-सा संकलन अमूल्य है, चार आने तो निछावर-मात्र हैं। पहली ही कविता कमाल की है। 'अन्तर से', 'तुमसे' और 'मूक वेदना' भी बड़ी मर्मस्पर्शी हैं। यदि कविता का कोई उद्देश्य हो सकता है तो इस विपंची का उद्देश्य यह है—

'मैं रो दूँ, वे रो दें जग को आँसू से नहला दें।'

और निस्सन्देह इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई है।

कवि के मौलिक भाव तो अनूठे हैं ही, परन्तु अनेक स्थलों पर पुरानी शराब भी नये प्याले में निराली छटा दिखा रही है। जैसे—

Truth is Beauty, and Beauty truth,
that is all,
Ye know on earth and need ye know

कीट्स की इन पंक्तियों का यह कैसा सुन्दर अनुवाद है—

'सत्य और शिव में ही सुन्दर खोजूँगा पाजाऊँगा।'

अन्तिम कविता भी, जो रवीन्द्र बाबू के एक गीत के आधार पर लिखी गई है, बहुत अच्छी है।

पुस्तक में दो-एक वाक्यांश खटकते हैं। जैसे—

'मुझको जरा चूम लेने दे, अपनी तृषित मिटाने दे,' आलिंगन पा जाने दे' इत्यादि।

फिर भी, पुस्तक क्या है, 'यह तो दुखिया दिल की पीड़ा है।'

गोपालस्वरूप भटनागर

युवक

सम्पादक—श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी। प्रकाशक—युवक-आश्रम, पटना। सचित्र। साइज़ 'त्यागभूमि' का। पृष्ठ ६४, वार्षिक मूल्य ४) रु०

आज 'माँ' की पराधीनता की वेदना से युवक-हृदय अधीर और अशान्त हो रहा है। जो यह समझते थे कि भारतीय युवक जनाने हैं; उनमें जीवन नहीं जान नहीं, वे फैशन के खरीदे गुलाम हैं, उनके विश्वास को कड़ा धक्का पहुँचा है। युवकों के प्राणों में चोट लगी है, वे उद्वेलित हो उठे हैं। दुनिया में सिर ऊँचा करके खड़ा न हो सकने की लज्जा ने उनका मर्मस्थल बेध दिया है। 'माँ' की करुण वाणी और समाज एवं देश की गन्दगी ने उनमें क्षोभ उत्पन्न किया है। वे एक नूतन प्राण, एक नूतन चेतना को लेकर खड़े हो रहे हैं। ऐसे समय उनके प्राणों में जलने वाली आग और उनके इर्द-गिर्द उठने वाले धुएँ के प्रकाशन की, अभिव्यक्ति, की आवश्यकता थी, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है?

हमें हर्ष है कि बिहार ने इस सम्बन्ध में आगे कदम बढ़ाया है और 'युवक' निकालकर साहसिक एवं ओजस्वी साहित्य का हिन्दी में आविर्भाव करने का वह सफल प्रयत्न कर रहा है। इसके अभी तक दो अंक निकले हैं। दूसरा अंक पहले से अपने आदर्श के अधिक अनुकूल है और आशा है कि विकास का यह क्रम जारी रहेगा। शुरू से अन्त तक, दोनों अंक ऐसी रचनाओं से भरे हैं, जो युवक-हृदय में आशा, उत्साह और जीवन उत्पन्न करने वाली हैं। दूसरे अंक के तिरंगे चित्र से, और उससे भी अधिक उसके प्राणोत्कर्षक एवं काव्यमय चित्र-परिचय से और भी सन्तोष होता है। इसके सम्पादक श्री रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी, सुरुचि एवं चुनाव के लिए प्रसिद्ध और 'छपाई के शौक़ीन' हैं, अतएव इस सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है। हम हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में अपने इस सहयोगी का सादर स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि इसके सहयोग का मौक़ा सदा हमें मिलता रहेगा।

'सुमन'

साहित्य-सत्कार

गुजराती

१. डॉल्टन योजना—लेखक—श्री हरभाई त्रिवेदी। प्रकाशक—श्री दक्षिणामूर्ति-प्रकाशन-मन्दिर, भावनगर। सजिल्द। पृष्ठ-संख्या १७६, मू० १) रु०।

२ सतपुत्र कर्ण—लेखक—श्री नानाभाई। प्रकाशक वही। पृष्ठ-संख्या ६८; मूल्य ≡) आ०।

३ अमेरिकानुं स्वातन्त्र्य-युद्ध—लेखक—श्री जीवणलाल हरिप्रसाद दीवान। प्रकाशक—प्रस्थान-कार्यालय, अहमदाबाद। पृष्ठ-संख्या ८०, मूल्य ।) आना।

अंग्रेज़ी

४. The Awakening of Indian youth. (भारतीय युवक-जाग्रति)। लेखक व प्रकाशक—स्वामी आनन्द, बी० ए०, मन्त्री भारत-युवक-संघ, काशी (अब आगरा)। पृष्ठ-संख्या २०, मूल्य –) आना।

हिन्दी

५ चित्राङ्गदा (बँगला से पद्यानुवाद)—अनुवादक—श्री मुंशी अजमेरी। प्रकाशक—साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)। पृष्ठ-संख्या ६४, मूल्य ।=) आना।

६ हेमला सत्ता (पद्य)—लेखक—श्री मुंशी अजमेरी। प्रकाशक वही। पृष्ठ-संख्या ४२, मूल्य ।–) आ०।

७ विकट भट (पद्य)—लेखक—श्री मैथिलीशरण गुप्त। प्रकाशक वही। पृष्ठ संख्या १४, मूल्य =) आ०।

८ गुरुकुल (पद्य)—लेखक व प्रकाशक वही। सजिल्द। पृष्ठ-संख्या २२१, मूल्य २) रु०।

९ गीता-रहस्य (बँगला से अनूदित)—अनुवादक—श्री कृष्णानन्द गुप्त। प्रकाशक वही। सजिल्द। पृष्ठ-संख्या १९५, मूल्य २॥) रु०।

विविध

राष्ट्रीय गोरक्षण-साहित्य (मासिक पत्र)—सम्पादक—श्रीमहेशदत्त शर्मा। प्रकाशन स्थान—रामनगर, बनारस स्टेट। २० × ३० सोलहपेजी साइज़; पृष्ठ-संख्या १४। वार्षिक मू० ॥) आ०।



भा० व्यापार और राष्ट्रीयता

गत २८ दिसम्बर को कलकत्ता में होने वाले भारतीय व्यापारी संघ के अधिवेशन में उसके सभापति सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने अपने स्पष्ट भाषण में उक्त विषय पर उत्तम प्रकाश डाला था। उस अधिवेशन में वाइसराय और बंगाल के गवर्नर भी उपस्थित हुए थे। हम उक्त भाषण के कुछ उपयोगी अंश नीचे देते हैं—

भारतीय व्यापार और व्यवसाय का भी बहुत दीर्घ इतिहास है। बहुत प्राचीन काल से भारतीय राजनीति में व्यापारीवर्ग का महत्व रहा है। अंग्रेजी राज्य के प्रारंभ से देशी व्यापार की अपेक्षा विदेशी व्यापार की उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। इसे देखकर ही दादाभाई नौरोजी, रमेशचन्द्रदत्त और रानडे प्रभृति भारतीय विचारकों ने सरकारी नीति को बदलने के योग्य समझा। १९०५ में बंग भंग के कारण चले हुए स्वदेशी-आन्दोलन के समय से भारतीय व्यवसाय ने अपने विशेष अधिकार और उत्तरदायित्व को समझा और भारतीय व्यावसायिक प्रदर्शिनी और व्यावसायिक सम्मेलन, राष्ट्र-महासभा (कांग्रेस) से मिल गये। यह कहा जाता है कि व्यापार और व्यवसाय को राजनीति से पृथक् रखना चाहिए, परन्तु यह असंभव है। हम राजनीति से व्यापार को पृथक् नहीं कर सकते। इसके विपरीत हम दोनों को घनिष्ट सम्बद्ध देखना चाहते हैं। भारतीय व्यवसाय का इतिहास राष्ट्रीय प्रगति का ही भाग है, जो उसके पुष्ट होने से मजबूत बनता है। राजनैतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य भारत को संयुक्त, सम्पन्न और उन्नतिशील बनाना है। यही उद्देश्य भारतीय व्यापार और व्यवसाय का है। भारतीय व्यापार और व्यवसाय राष्ट्रीय प्रगति की बलि देकर सरकार या अंग्रेजी स्वार्थों से नहीं मिलना चाहते। भारतीय व्यापारी, जनता के साथ इतने अधिक सम्बन्ध में रहते हैं कि वे देश के असन्तोष को सबसे पहले अनुभव करते हैं। इसलिए वे जनता के हित की दृष्टि से किसी प्रस्ताव का समर्थन या विरोध करते हैं। व्यापारियों और सरकार में पारस्परिक विश्वास आपसी मतभेद के अवसरों को कम कर देगा।

मैं तो वह दिन देखना चाहता हूँ, जब कि व्यापार और व्यवसाय में अंग्रेज और हिन्दुस्थानी का भेद उठ जायगा और दोनों इकट्ठे काम करते हुए देश के आर्थिक हित की रक्षा करेंगे। ऐसा सहयोग आज भी असंभव नहीं है। भारतीय नेता अंग्रेजों को लूटना नहीं चाहते। स्वतन्त्र भारत में भी अंग्रेजी स्वार्थों की रक्षा पर उतना ही ध्यान दिया जायगा, जितना आज दिया जाता है। उनका वही अधिकार होगा, जैसा उनके देश में अन्य राष्ट्र वालों का होता है।

हमारे इस संघ का पूर्ण विश्वास है कि व्यापारियों और व्यवसायियों की समृद्धि कृषकों की समृद्धि पर निर्भर है। कृषकों की अवस्था सुधारने की तरफ़ सरकार को बहुत ध्यान देना चाहिए। उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा देना बहुत आवश्यक है। कृषकों को आर्थिक सहायता देने के लिए सहोयोग-समितियों और बैंकों का प्रचार होना चाहिए।

कृषि-कमीशन ने भारतीय कच्चे माल की क़ीमतों को संसार के बाज़ार में बढ़ाने के प्रश्न पर कोई विचार नहीं किया। कई ऐसे उपाय किये जा सकते हैं, जिनसे भारत के कच्चे माल की कीमत अधिक लगे। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने 'काटन स्टैण्डर्ड ऐक्ट १९२३' पास कराकर सारे संसार के बाज़ार को अमेरिका के कपास के व्यापार में आगे बढ़ने से रोक दिया है।

जूट के जो कारखाने विलायत में खुले हुए हैं, उनमें भारतीय विद्यार्थियों को नहीं रहने दिया जाता। यदि भारतीय सरकार इस सम्बन्ध में कुछ प्रयत्न करे, तो अनेक बाधायें दूर हो जावें।

इसके बाद वक्ता ने हाजी के जहाजी बिल और जहाजी-शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट करते हुए अपना भाषण समाप्त किया ।

कृष्णचन्द्र विद्यालंकार

❀ ❀ ❀ ❀

हाजी-बिल और भेदभाव

श्री एस० एन० हाजी बड़ी व्यवस्थापिका सभा के एक सदस्य हैं और उन्होंने भारत के सामुद्रिक व्यापार के लिए एक योजना पेश की है, जो व्यवस्थापिका सभा के सामने विचाराधीन है । इसके विरुद्ध भारत के अर्ध-सरकारी पत्रों और विदेशी व्यापारियों ने यह कहना आरम्भ किया कि 'यह बिल Discriminative (भेदजनक) है, इसलिए ऐसा क़ानून नहीं बनना चाहिए । जब कोई राष्ट्र किसी जाति विशेष के विरुद्ध कोई क़ानून बनाता है तो उस क़ानून को 'डिसक्रिमिनेटिव' कहते हैं ।

पर क्या भारत ही अकेला पहले-पहल ऐसा क़ानून बना रहा है ? नहीं ! ऐसे कानून की प्रत्येक देश को आवश्यकता होती है और साधारणतः प्रत्येक देश में वर्तमान भी हैं । यहाँ पर मैं यही दिखलाने का प्रयत्न करूँगा कि ब्रिटिश साम्राज्य में किन-किन देशों ने ऐसे क़ानून बनाये हैं ।

आस्ट्रेलिया

डाक और तार के कानून १९०१ की १२ वीं संख्या (The post and telegraph act of 1901, No. 12) के अनुसार आस्ट्रेलिया की सरकार क्वीन्सलैण्ड में डाक ले जाने या ले आने के लिए उस जहाज से सम्बन्ध नहीं कर सकती, जिसपर केवल गोरे मज़दूर न काम करते हों । उसी देश के क़ानून संख्या १२, १९०१ के अनुसार कोई एशिया-वासी कृषि विषयक सुविधाओं का अधिकारी नहीं हो सकता । आस्ट्रेलिया और क्वीन्सलैण्ड की सरकार ने १९१२–१३ में मिलकर ख़ास प्रबन्ध किया कि चीनी के व्यवसाय में कोई एशिया-वासी भाग न लेने पावे । 'बनाना'-व्यवसाय-रक्षक कानून (The Banana Industry preservation Act 1921, No 3) इसीलिए बनाया गया कि कोई एशिया-वासी 'बनाना'-व्यवसाय में भाग न ले सके । पश्चिमी-आस्ट्रेलिया ने १९०४ का खदान-कानून, १९०४ का फैक्टरी-कानून संख्या ११, और Early closing act Amendment Act 1904 पास किये, जिसके अनुसार कोई एशिया-वासी किसी फैक्टरी का मालिक या रक्षक नहीं बन सकता, यदि वह १ नवम्बर १९०३ के पहले वहाँ व्यापार न करता रहा हो । उसी शर्त के अनुसार वह नौकरी भी नहीं कर सकता । कोई एशिया-वासी किसी घी से अधिक समय तक काम नहीं कर सकता और न ८ बजे सवेरे के पहले या ५ बजे सन्ध्या के बाद । १९०१–०३ तक तो ऐसे क़ानूनों की हवा ही बह चली थी, जो ख़ासकर भारतीयों को तंग करने में सहायक होते । उत्तरी राज्य में १९०१ में एक नियम बना दिया गया कि कोई भारतीय किसी आदिम निवासी को नौकर नहीं रख सकता ।

न्यूज़ीलैण्ड

न्यूज़ीलैण्ड ने जब सिर पटककर देख लिया और कोई कानून भारतीयों के विरुद्ध नहीं पास कर सका तो अंत में १९२० में उसने एक नियम बनाया, जिसके अनुसार यूरोपियन ब्रिटिश प्रजा तो आसानी से न्यूज़ीलैण्ड में बस सके पर भारतीय ब्रिटिश प्रजा पर ऐसी शर्तें रखदी गई, जो पूरी न हो सकें और फीजी आदि से भारतीय न आने पावें ।

दक्षिण आफ्रिका

ट्रान्सवाल-सुवर्ण-क़ानून (The Transval Gold Act of 1908, No 35) के अनुसार कोई "काला" आदमी ज़मीन नहीं प्राप्त कर सकता, और अधिकारी उस के अनुसार (a claim-liscense or stand-liscense-holder) अपने नौकर को छोड़कर और किसीको रहने की आज्ञा न दे सकेगा । इसी तरह १९२३ ई० के कानून-संख्या २३ के अनुसार भी नये आगुन्तक को किसी यूरोपियन भाषा में पढ़ने-लिखने की परीक्षा देनी पड़ती है और धारा ४ (१—अ—Sc ५ 1—n) के अनुसार मन्त्री को अधिकार है कि वह किसी जाति के आदमी को "आर्थिक" अथवा जीवन के स्वभाव वा रहन-

सहन के विचार से यूनियन के लिए अयोग्य समझने पर निकाल सकता है और सारे भारतीय तत्काल निकाल बाहर किये गये केवल थोड़े-सों को छोड़कर—जिस दशा में कि सरकार ने उस क़ानून को नहीं माना। नेटाल में भारतीयों को कृषि के लिए खेत लेने की मनाही है। वर्ण-विभेद के बिल (Colour Bill) का झगड़ा तो अभी कल का है।

कनाडा में

समाचारपत्रों के पाठकों को 'कोमागाटा मारू' नाम के जहाज़ का वर्णन याद होगा। वहाँ के क़ानून के ही कारण उस जहाज़ के यात्री जहाज़ पर से उतरने भी न पाये थे। वहां पर आज भी किसी हिन्दू को अपने शव जलाने की आज्ञा नहीं मिलती, परन्तु यदि कोई गोरा अपने नये सिद्धान्त के अनुसार अपनी विरासत में अपनी शव जलाने के लिए लिख जाय तो उसकी आसानी से जलाई जा सकती है। धार्मिक कार्य में बाधा देने से अधिक और कौनसा अत्याचार या विभेदकरण होगा?

इंगलैण्ड

कुछ लोग यह कहा करते हैं कि यद्यपि उपनिवेश एक-दूसरे के विरुद्ध या भारतीयों के विरुद्ध क़ानून भले ही बनावें पर इंगलैण्ड में भारतीयों के विरुद्ध कोई भेदभाव की बात नहीं है। देखने में यह बात सही प्रतीत होती है, परन्तु कोई भी मनुष्य, जो आधुनिक ब्रिटेन के बारे में कुछ भी ज्ञान रखता है, समझ सकता है कि उपर्युक्त कथन कहाँ तक ठीक है। भारतीयों की बराबरी वास्तविक को अपेक्षा दिखावे की अधिक है। लड़ाई के पहले के क़ानून को देखिए। आज भी ब्रिटेन की शिक्षा-संस्थाओं में 'क्वोटा' (quota) विधि का उपयोग किया जाता है, जिसके अनुसार निश्चित संख्या से अधिक भारतीय न प्रवेश कर सकें जिसका अर्थ यह होता है कि वस्तुतः समानता अथवा मौके की स्वतन्त्रता बिलकुल नहीं है। कितनी व्यवसायी पाठशालायें अथवा मौखिक-शिक्षा-गृह भारतीयों को उनके कालेपन ही के कारण भर्ती नहीं करते। ब्रिटेन-सरकार ने न केवल जातीय भेदभाव का व्यवहार ही किया है, बल्कि खुल्लमखुल्ला यह प्रकट कर दिया है कि वह ऐसा करेगी। उदाहरणार्थ केनिया में गोरों के ही लिए हाइलैण्ड्स का सुरक्षित कर देना।

भारत-सरकार की नीति के बारे में कुछ कहना व्यर्थ होगा। तैल-युद्ध में शेल और स्टैंडर्ड आयल कम्पनी (Shell Group and Standard oil co) को झगड़ते देखने में सरकार की नींद भी हराम हो जाती है, पर भारतीय सिनेमा-व्यवसाय की रक्षा-सम्बन्धी बिल को अपने सौत के पुत्र की तरह काले होने के कारण रद्दी की टोकरी में फेंक देती है। यहाँ पर स्थान और अवकाश न होने के कारण भारतीय सरकार की भेदभाव-सम्बन्धी नीति की अधिक विवेचना नहीं की जा सकती।

अन्त में मैं इतना कहना चाहता हूँ कि हाजी बिल संसार में कोई अभूतपूर्व वस्तु नहीं है, जो पहले नहीं थी। और यह किसी जाति-विशेष के विरुद्ध नहीं बनाया गया है, यदि ऐसा होता तो सरकार के क़ानूनी सलाहकार कभी उसे धारा-सभा में ही पेश न होने देते।*

शिवप्रसादसिंह 'त्रिश्वेन'

* * * *

उदयपुर का जीवन

बिजोलिया के किसानों की लगान-वृद्धि के सिलसिले में इस बार एक हफ्ते से ज्यादा उदयपुर रहना पड़ा, जिससे मैं कुछ गहराई के साथ वहाँ के जीवन को देख सका। पर्वत-माला से आवृत और सरोवरों से सुशोभित उदयपुर नगर का प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही सुहावना है, जिसे देखकर यहाँ के जीवन की सादगी की कुंजी मिल जाती है। उदयपुर शहर होते हुए भी—कोई पैंतीस हज़ार की आबादी रखते हुए भी—देहात की सादगी की झलक इसमें पाई जाती है। यही बात यदि आलोचना की भाषा में कहें तो उदयपुर में न आधुनिक नगरों की शान-बान है, न देहात की सुन्दर सादगी और न पर्वती प्रदेश का स्वातन्त्र्य, सुदृढ़ और निर्भय जीवन। यद्यपि वर्तमान महाराणा साहब इस बीसवीं सदी में प्राचीनता के प्रतिनिधि हैं, उनके चरित्र की उच्चता का लोगों को अभिमान है, वे उनको तेज-

* 'फ़ारवर्ड' के आधार पर

रसिकता पर मुग्ध हैं, फिर भी मेरे हृदय ने दुःख के साथ यह अनुभव किया कि हम महाराणा प्रताप के उदयपुर में नहीं रह रहे हैं। जहाँ उस प्रतापी प्रातःस्मरणीय आदर्श-वीर और देश-भक्त धर्मरक्षक का कोई स्मारक तक नहीं, जहाँ हल्दी घाटी को जानने वाले लोग अँगुली पर गिनने लायक हैं, जहाँ मीरा के भक्ति-भीने भजन नहीं सुनाई पड़ते, वहाँ कैसे माना जाय कि हम महाराणा प्रताप के उदयपुर मे ठहरे थे। जहाँ लोग सच्ची बात कहते हुए डरते हैं, देश और समाज-हितकारी कार्यों में पड़ते हुए भय से हिचकते हैं, जहाँ ठकुर-सुहाती कहने की चाल-सी पड़ गई है, वहाँ कोई कैसे अपने मन को धोका दे सकता है कि वह तेजस्वी महाराजा फतहसिंह और प्रतापी प्रताप के उदयपुर में ठहरा था।

फिर भी उदयपुर की सादगी ने हमारे दिल पर गहरा असर डाला। पहले दृष्टिपात में ही यह बात दिखलाई पड़ जाती है कि उदयपुर के जीवन में रसिकता और विलासिता नहीं। जयपुर में क़दम रखते ही प्रतीत होने लगता है कि हम विलासिता और रसिकता के क़ैदी होने जा रहे हैं। वहाँ पुरुषों और स्त्रियों की वेष-भूषा एवं चालढाल मानो लुभा-लुभा कर बरबस हमारी आँखों को अपनी ओर खींचते हैं। इसके विपरीत उदयपुर में मानो हम प्राकृतिक सादगी के वायु-मण्डल में निर्भय होकर अपना क़दम बढ़ाते हैं। यहाँ के पुरुषों के वेष में हिन्दू, मुसलमान और अंगरेज़ वेष का ख़ासा सामञ्जस्य-मिश्रण है। चूड़ीदार पजामे के ऊपर पैर तक लटकता हुआ लंबा अंगरखा और उस पर कमर तक आकर रह जाने वाला छोटा कोट, सिर पर मेवाड़ी पगड़ी और मुँह पर दाढ़ी एक अनोखी सभ्यता का चित्र हमारे सामने खड़ा कर देती है। इस सादगी के रहते हुए कहा गया कि यहाँ स्त्रियों और पुरुषों तथा नवयुवकों में भी सुजाक और प्रमेह की बीमारी का ज़ोर है और नगर के भीषण पाप व्यभिचार की भी यहाँ काफ़ी मात्रा है। इसका कारण बताया जाता है राजपूतों में तो शराबखोरी और आस-पास के बिगड़े हुओं, पुरुषों की सोहबत, तथा दूसरे लोगों में बुराई की ज़िम्मेवार उदयपुर की ढोलनें बताई जाती हैं जो रुपये-दो रुपये लेकर रात-भर गाना गाती हैं। और लोगों को बिगड़ने का अवसर देती हैं। राज्य में कोई चौदह लाख की आबादी में सवा लाख विधवाओं का होना भी इस बुराई पर काफ़ी प्रकाश डालता है। इस कारण उल्लास और उत्साह के बजाय शिथिलता और बेकारी यहाँ अधिक दिखलाई पड़ती है। वोहरों के मुहल्लों में गन्दगी और परदे के क़ैदख़ाने के कारण स्त्रियों में क्षय रोग बुरी तरह बढ़ रहा है। शहर में म्युनिस्पल्टी के रहते हुए भी सफ़ाई का, तालाबों में पानी लबालब भरा रहते हुए भी सड़कों पर पानी छिड़कने का यथेष्ट प्रबंध नहीं। आस-पास फैलने की जगह रहते हुए भी शहर की घनी बस्ती को विस्तृत करने की तैयारी नहीं दिखाई पड़ती। चिकित्सा पर राज्य की ओर से १ फ़ी सदी से अधिक शायद ही खर्च होता हो। शरीर को खा जाने वाली जिन बीमारियों का ज़िक्र मैंने ऊपर किया है उनके निवारण का कोई उद्योग होता हुआ नहीं दिखाई देता।

राज्य की ओर से शिक्षा का प्रबंध तो है परन्तु उसके लिए उत्साह कम है। १) फ़ी सदी ख़र्च होता है। इतने अच्छे तालाबों के रहते हुए लड़कों के तैरने का कोई संगठन या साधन नहीं, कोई अच्छा पुस्तकालय नहीं, पहाड़ों पर घूमने और पहाड़ी जीवन की कठोरता अपने अन्दर लाने का कोई आयोजन नहीं। सार्वजनिक जीवन का तो यहाँ आरंभ ही समझिए। कुछ नवयुवकों में उत्साह है, पर सुयोग्य मार्ग-दर्शन के अभाव में उसका उपयोग नहीं हो रहा है। डाक्टर मोहनसिंह मेहता के उद्योग से सेवा-समिति के स्काउटों का संगठन अलबत्त यहाँ लोगों का ध्यान खींचता है। हुनरशाला और ब्रह्मचर्याश्रम भी योग्य हैं। पर अभी इनमें बहुत सुधार की आवश्यकता है। 'मेवाड़-दिग्दर्शन' मुझे यहाँ पढ़ने को मिला जिससे मुझे आनन्द और दुःख दोनों हुए। राज्य में बीसों सरोवर, बड़ी-बड़ी पर्वत माला और घने जंगल, तांबा, अभ्रक, लोहा, पत्थर की कई खानें और अच्छे कपास की काफ़ी पैदावार के रहते हुए यहाँ हाथ के उद्योग धन्धे और कला कौशल का राज्य की ओर से कोई प्रबंध नहीं। बिजोलिया में चरखा-संघ के उद्योग से छः हज़ार से ऊपर लोग अपने घर

का कताबुना कपड़ा पहनने लगे हैं, पर आज तक किसी बड़े राज्याधिकारी ने जाकर उसे देखने और उत्साह के दो वचन कहने की कृपा नहीं की। मेवाड़ की कई जगहें अच्छी हैं, पर खेती की उन्नति का भी कोई महकमा यहां नहीं है। कई किस्म की कारीगरी करने वाले लोग यहाँ हैं। इनके धन्धे कमजोर और ढीले पड़ रहे हैं पर राज्य का उन्हें ध्यान नहीं। कुछ उद्योगी लोग उद्योग और कृषि की प्रदर्शिनी करने का विचार कर रहे है। राज्य को उचित है कि उनका हर तरह उत्साह बढ़ावे। आगामी चैत सुदी १३ अर्थात् महावीर-जयंती के अवसर पर कुछ मित्र छोटी-सी खादी प्रदर्शिनी का भी आयोजन कर रहे हैं जिसके लिए लोगों को तथा राज्य को इनका उत्साह बढ़ाना उचित है।

उदयपुर राज्य का गौरव और कीर्ति अमर है। मैं यदि अपनी ओर से उसके स्तुति-गान में और सहायक बनता तो उसमें कुछ भी वृद्धि न कर पाता। इसलिए मैंने उन बुराई और त्रुटियों की ओर ही उदयपुर के राजा-प्रजा का ध्यान खींचना आवश्यक समझा, जिसके न रहने से उदयपुर और मेवाड़ की कीर्ति और भी उज्वल हो सकती है। मुझे कुछ राज्याधिकारियों ने विश्वास दिलाया है कि राज्य की नीयत सब बातों में सुधार और उन्नति करने की है, मगर कई आन्तरिक कठिनाइयाँ ऐसी है जिनसे सुधार का पग आगे नहीं बढ़ रहा है। पर मोटरकार और हवाई जहाज की दौड़ के इस युग में इतनी धीमी चाल से लोगों को कैसे सन्तोष हो सकता है?

महलों और मठों के पतन की कहानियाँ सुनने के इस युग में मुझे यह देखकर आनन्द और आश्चर्य हुआ कि उदयपुर में कम से कम एक ऐसे महन्त भी है जिनके सदाचार, साधुता और सादगी की प्रशंसा सुनी जाती है और जिन्होंने कहा— देश और धर्म का सुधार बहुत जल्दी हो जाय, पर हम लोग सम्पत्ति के लिए महन्त बनते हैं, धर्म के लिए नहीं।' यदि महन्त लोग इस 'लाख टके' की बात को समझ लें, तो धर्म पर और ईश्वर पर उनका बड़ा उपकार हो।

हरिभाऊ उपाध्याय

अजमेर-प्रान्त में शिक्षा-प्रचार

(२)

गतांक में हम शिक्षा विभाग के अधिकारियों को रिपोर्ट के सम्पादन पर बधाई दे आये हैं। परन्तु यह बधाई केवल सम्पादन तक ही परिमित है। वास्तव में शिक्षा-विभाग का कार्य (रिपोर्ट को देखते हुए) किसी प्रकार भी संतोषजनक कहलाने के योग्य नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस विभाग के विभिन्न पदाधिकारी अपने-अपने उत्तरदायित्व का पूर्णतया पालन नहीं कर रहे हैं। अन्यथा यह सम्भव नहीं है कि प्रान्त मे शिक्षा का प्रसार तीव्र गति से न हो सके। इस विषय में कई बातें ध्यान देने योग्य हैं —

(१) प्रान्त में उच्च शिक्षा के लिए एक ही कालेज है, परन्तु उसमें भी छात्रों को उपयुक्त विषय चुनने की स्वतन्त्रता नहीं है। दूसरे, किसी प्रकार की व्यावहारिक अथवा उद्योग धन्धों की शिक्षा देने का कोई प्रबन्ध नहीं है।

(२) आजकल अन्य सब प्रान्तो में छात्रों की शारीरिक उन्नति पर ध्यान दिया जाने लगा है, तथा छात्रों की डाक्टरी परीक्षा भी होने लगी है, पर इस प्रान्त में इस विषय की अभी कोई चर्चा नहीं प्रतीत होती।

(३) यह ठीक है कि बालचर्य का प्रचार हो रहा है, परन्तु यह भी अभी इच्छित अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है। हो भी कहाँ से? जहाँ युक्तप्रदेश इत्यादि की सरकार गैर-सरकारी बालचर-मण्डल को भी उसी प्रकार सहायता करती हैं, जितनी कि रजिस्टर्ड बेडनपावल-संस्था की वहाँ पर यहाँ के अधिकारियों को उसके नाम-मात्र से भी घृणा है।

(४) राजपूताना के खेलों का मेला बहुत दिनों से बन्द पड़ा है। उसको पुनर्जीवित करने की कोई चेष्टा नहीं की जा रही है। उसके विरुद्ध जो युक्तियाँ साधारणतया दी जाती हैं, वे इतनी मजबूत नहीं हैं कि ऐसे उपयोगी समारोह को पूर्णतया हटा दिया जाय।

(५) ग्रामीण शिक्षा की कमी का दोष बेचारे दीन

कृषकों की उदासीनता पर रख दिया गया है। क्या सरकार ने कभी यह जानने की चेष्टा की है कि इस उदासीनता का कारण क्या है तथा इसके प्रतीकार के क्या उपाय हैं? हमारे विचार में जिस पद्धति पर ग्रामीण शिक्षा का कार्य चल रहा है वह किसी रूप में भी हितकर नहीं है। क्या आवश्यकता है कि कृषकों की सन्तान भी अंकगणित अथवा बीजगणित के प्रश्नों को हल करने में समय नष्ट करें? उनके लिए ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध क्यों नहीं किया जाय, जो भविष्य में उनके धन्धे में उपयोगी सिद्ध हो?

(६) देहाती स्कूलों के अध्यापकों पर शिक्षाधिकारियों का विशेष प्रकोप मालूम होता है। उनके कार्य की शिथिलता के विषय में अनेक बातें कही गई हैं। परन्तु क्या इन बड़े बड़े वेतन भोगियों के ध्यान में कभी यह बात आई है कि देहाती अध्यापक किन-किन आर्थिक तथा अन्य कठिनाइयों के बीच में कार्य करने के लिए बाधित हैं? क्या यह खेद का विषय नहीं है कि जहाँ उच्च पदाधिकारियों तथा हाइस्कूलों के अध्यापकों की वेतन-वृद्धि के लिए इतना रोना रोया गया है, वहाँ देहाती पाठशालाओं के दीन अध्यापकों की अवस्था पर बजाय विचार करने के जले पर नमक छिड़कने का कार्य किया गया है?—यहाँ तक कि जहाँ कहीं उन अध्यापकों को १०) रु० मासिक डाकखाने के कार्य के मिल जाते हैं उसको भी हटा देने की राय दी गई है। हमारे विचार में यदि सबसे प्रथम शिक्षाधिकारियों का ध्यान आकर्षित करने वाला कोई विषय है तो वह केवल ग्रामीण शिक्षा तथा उसके अध्यापकों की शोचनीय दशा है।

उपरोक्त न्यूनताओं के अतिरिक्त रिपोर्ट में और खटकने वाली बात मुसलमानों को विशेष जातियों में स्थान दिया जाना है। यह राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के बिलकुल प्रतिकूल है। जहाँ देश के अन्य नेता हिन्दू मुस्लिम-वैभिन्य को यथासाध्य दूर करने की चेष्टा में लगे हुए हैं, वहाँ सरकार का अगुआ होकर इस वैभिन्य को और भी गुरुतर रूप में प्रकट करना कहाँतक समर्थनीय हो सकता है, इसका निर्णय करना कठिन नहीं है। यह गुत्थी और भी जटिल हो जाती है, जब कि इस्लामिया स्कूल की व्यवस्था को केवल यह कहकर टाल देने की चेष्टा की गई है कि इसकी अवस्था असाधारण (Peculiar position) है। हम मुस्लिम जाति में शिक्षा प्रचार के विरुद्ध बिलकुल नहीं हैं, परन्तु प्रान्तीय सरकार की इस नीति के अवश्य विरुद्ध हैं कि वह केवल एक जाति-विशेष के लिए एक पृथक् संस्था चलाकर सार्वजनिक धन का दुरुपयोग कर रही है। क्या मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य विशेष जातियाँ (Special classes) इसकी समान रूप से अधिकारिणी नहीं है? परन्तु यहाँ तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होती हुई प्रतीत होती है। हमारी सम्मति में तो, कम-से कम शिक्षा जैसे सार्वभौम विषय में जातीयता का प्रश्न उपस्थित कर सरकार एक बड़ा भारी अनर्थ कर रही है।

अन्त में हम प्रान्तीय शिक्षा विभाग का ध्यान उसमें फैली हुई स्वेच्छाचारिता की ओर आकृष्ट कर अपने लेख को समाप्त करते हैं। कहने को तो सार्वजनिक संस्थागत पाठशालाओं को ढीली बतलाया गया है, परन्तु ध्यान देने पर पता लगेगा कि सरकारी व्यवस्था उससे कहीं अधिक ढीली है।

गुप्त

● * ● ●

विश्व-धर्म-परिषद्

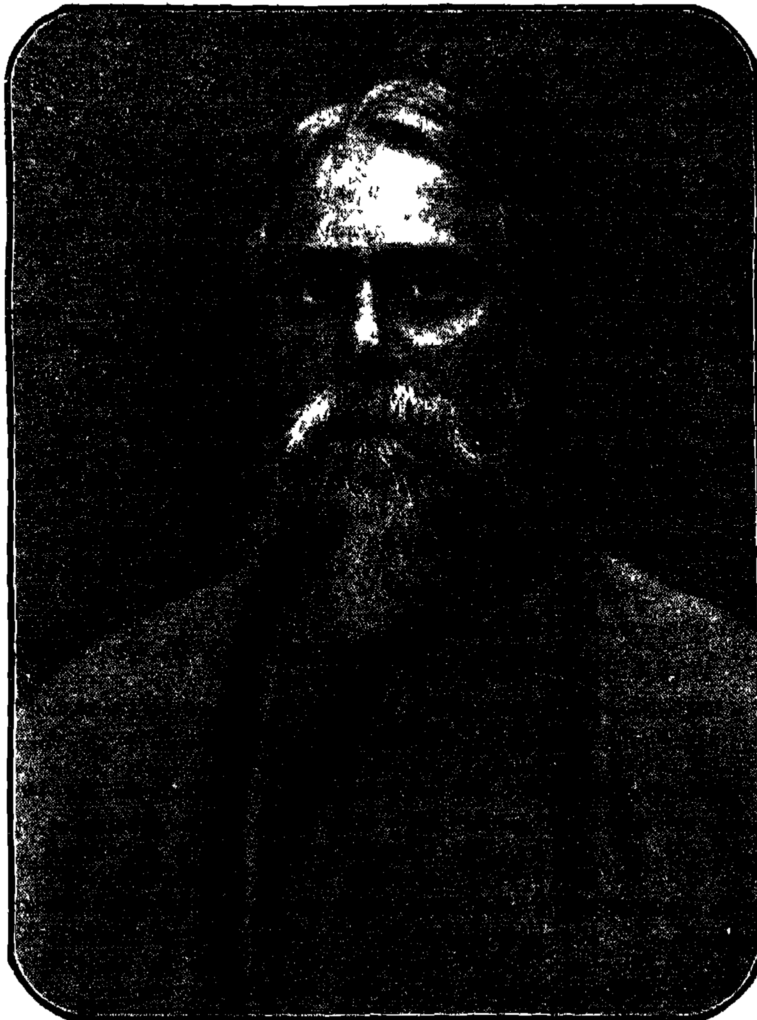
गत जनवरी मास में कलकत्ते में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सभापतित्व में विश्वधर्म परिषद् का अधिवेशन हुआ। इस प्रकार का अधिवेशन कई वर्ष पूर्व अमेरिका के शिकागो नगर में हुआ था। इस बार कलकत्ते के इस अधिवेशन में भी यूरोप, अमेरिका आदि के प्रतिनिधि आये थे। सभापति कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का भाषण सम्मेलन के अनुरूप ही था। उनके भाषण के कुछ अंश निम्न प्रकार हैं—

"धर्म में अंध विश्वास रखने के कारण हम उसके आध्यात्मिक महत्व को भूलकर ऊपरी बातों में ही उलझ जाते हैं। अज्ञान से अंधे होकर अपनी ही स्थिति का समर्थन करते हैं। धर्म के लिए मानवी मस्तिष्क का झुकाव विशेषकर वर्तमान युग में मानव-शांति के लिए अनिष्टकारी है।

"× × विभिन्न सम्प्रदाय वाले अपने अनुगामियों को कट्टरता सिखाते हैं, जिसके कारण गहरी लड़ाइयाँ होती हैं। आज विज्ञान के द्वारा मनुष्य-जातियाँ अधिक निकट आगई हैं, पर आश्चर्य है कि धर्म के कारण वे मिलने नहीं पातीं। पर अब वह समय आ-गया है कि हम सब धर्मों के तत्व समझकर एकता का महत्व समझें, जिससे अखिल विश्व में सबके लिए आ-ध्यात्मिक सह-योग का मार्ग खुल जाय। अब हमें किसी विशेष तरह का धर्म-प्रचार बन्द कर देना चाहिए, जो अपने पुराने सकुचित सिद्धा-न्तों के कारण हमारे लिए बा-धक बनता हो। हमें वर्तमान युग में प्रत्येक धर्म को समझना चाहिए, जो किसी भिन्न रूप से कोई आध्या-त्मिक सत्य ब-ताते हैं।

"कुछ लोग ऐसे हैं, जो अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ सम-झते हैं और कहते हैं कि 'समस्त मानव-जाति को हमारे ही धर्म का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।' परन्तु उनकी यह एकता की कल्पना मरुभूमि की तरह अर्थ-हीन और बंजर है।

"अवैयक्तिक सत्य विज्ञान है और इसे प्राप्त करने का मार्ग शुद्ध विवेक है। और जो महान् वैयक्तिक सत्य है वही ईश्वर है। उसे पाने का कोई एक मार्ग नहीं है बल्कि विभिन्न व्यक्तित्व के अ-नुसार उसकी प्राप्ति होती है। वह केवल विवेक से नहीं बल्कि सहानुभूति से प्राप्त होता है। उन कुछ मनुष्यों को छोड़कर, जिन्हें विशेष रूप से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त है, बाकी के सब मनु-ष्य अनजान में ईश्वर से विहीन हैं। ऐसे ही अ-ज्ञान मनुष्यों ने ईश्वर को मनु-ष्यों की कोटि में लाकर नाना प्रकार के नामों और विशेषणों से युक्त किया है।"



विश्व-धर्म-परिषद् के सभापति श्री रवीन्द्रनाथ

उसी रोज़ दोपहर को परिषद् की बैठक पुनः आरंभ हुई। उसके सभापति हिन्दू-विश्वविद्यालय के ओरियण्टल कालेज के आचार्य पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण थे। उन्होंने हिन्दू-

धर्म के महान् तत्व को बड़ी खूबी से समझाया। मौ० अब्दुलकरीम ने अपने व्याख्यान में इस्लाम-धर्म की महत्ता समझाते हुए कहा—"मुसलमानों का इस्लाम-धर्म बिलकुल शांति का है। सच्चा मुसलमान वही है, जिसने ईश्वर और मनुष्य से शांति करली हो। इस्लाम ने समस्त श्रेणियों के भेदभाव मिटाकर भ्रातृप्रेम स्थापित किया। इस्लाम कहता है, दूसरों को जबर्दस्ती मुसलमान मत बनाओ, क्योंकि वह प्रेम और शांति का धर्म है।"

शिकागो 'प्युरिटिन चर्च' के नेता डॉ० कर्टिस रीस ने अपने व्याख्यान में धर्म का अर्थ बताते हुए कहा कि कोई जाति चाहे उसका रंग कुछ भी हो अथवा चाहे जैसी महान् हो, किसी दूसरी जाति पर शासन करने के योग्य नहीं है। धर्म आजकल बहुत संकट में है। पैगम्बरों ने पैदा होकर नये-नये उपाय बताये और सुधारकों ने मंदिरों को तोड़कर ऊँचे ऊँचे कंगूरे बनाने के प्रयत्न किये। आजकल साधारण मनुष्य धर्म की उतनी पर्वाह नहीं करता। ऐसा मालूम होता है, धर्म लोगों के सुख बढ़ाने के बदले बाधक बनता है। धर्म का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि सब मनुष्यों को आवश्यक वस्तुयें मिल जाती हैं। वास्तविक धर्म मन्दिरों, गिरजाघरों और तीर्थस्थानों से मुक्त है। जहाँ कहीं भी अच्छी, पवित्र भावना है वहीं धर्म है।"

इनके अलावा अध्यापक तारापुरवाला आदि महानुभावों के भी व्याख्यान हुए थे।

भारतवर्ष स्वतंत्रता चाहता है। और बिना एकता के स्वतंत्रता मिलना असंभव है। आज-कल भारतवर्ष में परस्पर द्वेष का वातावरण दिखाई देता है और हमारी राय में इसके कारण हैं धर्म के असली तत्वों का अज्ञान तथा अन्य धर्मों के प्रति अनादर। क्या हम आशा करें कि प्रत्येक भारतवासी 'विश्व-धर्म परिषद्' से शिक्षा ग्रहण करेंगे और धर्म के असली तत्वों को समझ गुलामी के इस जुए को उतार फेंकेंगे?

मार्तण्ड उपाध्याय

'पब्लिक सेफ्टी बिल'

देश-दर्शन छप जाने के बाद मालूम हुआ कि असेम्बली में 'पब्लिक सेफ्टी बिल' पर बहस हुई और वह सिलेक्ट कमिटी में भेज दिया गया। सरकार की इस विजय का मुख्य कारण कई स्वराजी सदस्यों की अनुपस्थिति थी। यह प्रस्ताव असेम्बली के पिछले अधिवेशन में अस्वीकृत हो चुका था, अब कुछ परिवर्तन के साथ सरकार की तरफ़ से फिर पेश हुआ था। इस बिल के अनुसार सरकार किसी भी ऐसे विदेशी व्यक्ति को, जिसपर वह बोलशेविक होने और साम्यवाद का प्रचार करने या किन्हीं दो श्रेणियों—मजदूर और मिल-मालिक तथा किसानों और ज़मीदारों में—विद्वेष फैलाने का सन्देह करे, निश्चित अवधि और निश्चित मार्ग से अपने व्यय पर निश्चित विदेश के स्थान पर भेज सकती है और यदि अभियुक्त चाहेगा तो सात दिन के अन्दर वह अपील कर सकेगा, जो तीन जजों के सामने सुनी जायगी; परन्तु अभियुक्त उन घटनाओं या कारणों को नहीं जान सकेगा, जिनके आधार पर सरकार ने उसपर अभियोग लगाया है। इसके अनुसार सरकार विदेश से आनेवाले उस रुपये को भी जब्त कर सकेगी, जो मजदूरों की सहायता के लिए आयगा। यदि कोई अभियुक्त सरकार द्वारा निश्चित शर्तों पर नहीं चलेगा, तो उसे बिना वारण्ट के क़ैद कर एक साल तक की क़ैद की सज़ा दी जा सकेगी।

यह बिल सरकार के हाथ में बड़ी ताक़त दे देता है। असेम्बली में इसपर बहुत बहस हुई। दीवान चिमनलाल ने कहा कि बिल का न्यायालय-विषयक अंश इंग्लैण्ड में आज से पाँच सौ साल पूर्व प्रचलित स्टार चेम्बर के समान ही है। इस बिल के अनुसार अभियुक्त पर ऐसी गवाहियाँ ली जायँगी, जिनसे अभियुक्त स्वयं वाक़िफ़ नहीं होगा। स्टार चेम्बर में भी अफ़वाहों आदि के आधार पर ही न्याय किया जाता था। दण्ड मृत्यु-दण्ड से कम नहीं होता था।

× × × यदि अंग्रेज़ी सरकार में हिम्मत है, तो वह अपने देश इंग्लैंड में इस प्रकार के क़ानून पास करके दिखलावे। क्या ब्रिटेन में कोई कम्यूनिस्ट पार्टी नहीं है?

क्या उस पार्टी को ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिया गया है ? जब ब्रिटेन में इस प्रकार के किसी क़ानून की ज़रूरत नहीं है, तो हिंदुस्थान में ही क्यों इसकी आवश्यकता अनुभव की जा रही है ? सितम्बर महीने के अधिवेशन में श्री० क्रेरार ने कहा था कि यदि यह बिल पास न हुआ तो भारतीय समाज का संगठन नष्ट हो जायगा। आज ५ महीने गुज़र गये। क्या भारतीय समाज टूट गया ? किसी भी देश में ऐसा क़ानून नहीं है, जिसके बल पर विदेशियों को बिना न्यायालय के निर्णय के बाहर निकाला जा सके। वस्तुतः सरकार इस बिल द्वारा भारत के राजनैतिक स्वत्व को, जो अब मज़दूरों के हाथ में आ रहा है, कुचलना चाहती है।

सरकार की ओर से कहा गया कि सरकार इस बिल का दुरुपयोग नहीं करेगी। श्रीयुत घनश्यामदास बिड़ला ने सरकार के इस कथन का उत्तर बहुत ठीक दिया। आपने कहा कि मैं यद्यपि साम्यवाद के विरुद्ध हूँ, तो भी ऐसे दमनकारी क़ानूनों के पक्ष में नहीं हूँ। यदि सरकार १९१८ के रेगुलेशन नं० ३ के अनुसार लाला लाजपतराय और श्रीमती बेसेंट को पकड़ सकती है, तो इस बिल का दुरुपयोग नहीं होगा, इसका क्या प्रमाण ? पिछले तीस सालों के इतिहास से पता लगता है कि सरकार के दमन से असन्तोष की आग बहुत बढ़ी है, जिसके कारण साम्यवाद की भावना का प्रचार हुआ। बम्बई की हड़तालें भी साम्यवादियों के कारण नहीं हुईं, उनका वास्तविक कारण भी सरकार है। यदि विनिमय-दर १ ६ पेंस न कर दी जाती तो व्यापार और व्यवसाय इतना मंदा न होता और न हड़तालों की नौबत आती। मालवीयजी ने हड़ताल आदि के उक्त कारण का समर्थन करते हुए कहा कि मुझे आजकल की हड़तालों और दंगों पर कोई आश्चर्य नहीं होता। आश्चर्य तो इस बात पर है कि देश की ग़रीबी देखते हुए जितने दंगे होने चाहिए, उतने नहीं होते। पं० मोतीलाल नेहरू आदि ने भी इस बिल का विरोध किया।

उपर्युक्त भाषणों के अवतरणों के बाद किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं रह जाती।

—— कृष्ण

चंक्रम

आगे का काम

कलकत्ते की महासभा को डेढ़ महीना हो गया; अभी तक न तो महासभा की समितियों के संगठन का उद्योग ज़ोर-शोर से जारी हुआ है, और न स्वीकृत कार्य-क्रम के अनुसार काम ही धड़ाके से शुरू हुआ है। महात्माजी ने तो तुरन्त ही विदेशी वस्त्र के बहिष्कार की योजना बनाकर कार्य समिति को भेज दी और कार्य-समिति ने कम से कम उसके पूर्वार्द्ध को तुरन्त काम में लाने का प्रस्ताव पास कर दिया है। इधर महात्माजी ने अपना यूरोप जाना स्थगित कर दिया है और कहा है कि इस वर्ष रचनात्मक कामों की आवश्यकता है और अगले वर्ष असहयोग के श्रीगणेश की तैयारी के लिए मेरा देश में रहना ही उचित है और सरकार को गम्भीरता के साथ चेतावनी दे दी है कि यदि ३१ दिसम्बर १९२९ की आधी रात तक सरकार ने नेहरू-रिपोर्ट को स्वीकार नहीं किया तो १ जनवरी १९३० को सुबह मैं अपने को स्वतन्त्रतावादी घोषित कर दूँगा और फिर से असहयोग का झण्डा रोप दूँगा। इससे एक ओर देश में जहाँ उत्साह, उत्सुकता और संजीदगी की लहर ऊँची उठ रही है, वहाँ दूसरी ओर सरकार के मुहलके में भी खलबली मच गई है। वाइसराय ने दबी ज़बान से नेहरू रिपोर्ट की अध-कचरी स्वीकृति की आशा दिलाई है, जिसपर देश को किसी भी तरह सन्तोष नहीं हो सकता। यह भी सुना है कि साइमन-कमीशन वाले अब मन-ही-मन इस बात पर पछताने लगे हैं, कि कमीशन में हिन्दुस्थानी भी ले लिये गये होते तो अच्छा था। यह भी सुना गया है कि वे प्रान्तीय स्वतन्त्रता देने की सिफ़ारिश सोच रहे हैं। जो कुछ हो; जो बहुत अक़्लमन्दी का दावा रखता है उसकी स्वार्थान्धता उससे ऐसी भीषण भूलें कराती है कि शुरू में जो काम एक आने से चल जाता है उसके लिए बड़ी हानि उठाने और बदनामी कराने के बाद

फिर सोलह आने देना पड़ता है। मगर इन अफ़वाहों के चक्कर में आकर हमें अपने कर्त्तव्य में शिथिल न होना चाहिए। स्वराज्य या स्वाधीनता जो कुछ भी मिलने वाली है वह हमारे प्राण पण से किये गये उद्योग और प्रसन्नता के साथ किये गये बलिदान के ही बल पर मिल सकती है, इसे हम कभी न भूलें। इन बातों से हम यह नतीजा भले ही निकालें कि हमारे उद्योगों का असर हो रहा है और इसलिए हमें दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि हमारा आन्दोलन जितना ही तीव्र और हमारा कार्य जितना ही दृढ़ और ठोस होगा उतना ही सरकार को झुकना पड़ेगा एवं स्वाधीनता सात समुन्दर पार से दौड़ती हुई चली आवेगी। इसलिए हमारे सामने सबसे महत्व की चीज़ है हमारे आगे का काम। और उसका सबसे प्रभावकारी अंग है विदेशी वस्त्र का बहिष्कार और मद्यपान मिटाने का उद्योग। विदेशी-वस्त्र बहिष्कार की योजना के कार्य-समिति के द्वारा पूर्ण स्वीकृत होते ही हमारा काम होना चाहिए कि हम इस साल उसको सफल बनाके दिखा दें। देश में इस समय प्राय प्रत्येक वर्ग में जो जागृति देख पड़ती है उसका लाभ उठाकर यदि हम सच्चे दिल से इसमें जुट पड़ें तो यह कठिन नहीं है।

इस बहिष्कार को सफल बनाने के लिए कार्य-समिति ने यह तय किया है कि भिन्न भिन्न प्रान्तों का संगठन कार्य-समिति के भिन्न भिन्न सदस्यों के जिम्मे कर दिया जाय और वे हिन्दुस्थानी-सेवा-दल के स्वयं-सेवक बनाकर उनके द्वारा इस कार्य को पूरा करें। तदनुसार डॉ॰ अन्सारी देहली और अजमेर के संगठन के लिए नियुक्त किये गये हैं। हम अजमेर-प्रान्तवासियों का भी कर्त्तव्य है कि डॉक्टर साहब की सहायता का लाभ उठाकर दूसरे प्रान्तों के साथ क़दम मिलाते हुए अपने गौरव की रक्षा करें। यह समय आपस के मतभेद और झगड़ों को भुलाकर कन्धे से कन्धा भिड़ाकर काम करने का है।

पुष्टि या उत्कर्ष ?

एक दिन एक मित्र से इस बात पर चर्चा चल पड़ी कि समाज के सामने हम उत्तम मार्ग रक्खें या मध्यम? जो अच्छी से अच्छी चीज़ है वह समाज को दें या उत्तम, मध्यम, कनिष्ट सब प्रकार की? समाज पर सबसे श्रेष्ठ संस्कार ही डालने का उद्योग हम करें या जैसी हालत देखें वैसे संस्कार डालने का प्रयत्न करें? समाज का पोषण करें या उत्कर्ष? जैसे सात्विक वृत्ति, दैवी सम्पदा, ब्राह्मण वृत्ति या साधु-जीवन कुछ भी कहिए, यदि सबसे श्रेष्ट जीवन है तो फिर सारे समाज को हम उसी जीवन की शिक्षा देने की चेष्टा करें या जो ब्राह्मण है उसे अच्छा ब्राह्मण, क्षत्रिय को अच्छा क्षत्रिय, वैश्य को अच्छा वैश्य और शूद्र को अच्छा शूद्र बनाने का प्रयत्न करें? मित्र इस बात को तो मानते थे कि ब्राह्मण-वृत्ति सबसे श्रेष्ठ जीवन है; पर वह सारे समाज को सात्विक बनने देते हुए भी क्षत्रिय आदि वर्णों की आवश्यकता को अनुभव करते थे और कहते थे कि हमें क्षत्रिय और वैश्य आदि वृत्तियों और वर्गों को भी पुष्ट करना चाहिए। मेरा यह कहना था कि हम यह देखें कि समाज के लिए अच्छी से अच्छी चीज़ कौनसी हो सकती है और वही चीज़ उसे दें। उससे कनिष्ट चीज़ों की आवश्यकता यदि समाज को है तो समाज उन्हें भी रक्खेगा और उनका उपयोग अपने-आप करेगा, हमें उनके लिए और परिश्रम की आवश्यकता नहीं है। जैसे यदि हम यह मानते हैं कि सबसे सच्चा और श्रेष्ठ स्वदेशी कपड़ा खादी है, तो हमारी सारी शक्ति खादी के प्रचार में लगनी चाहिए, न कि मिल के या और किसी प्रकार के कपड़े के प्रचार में। उसी प्रकार यदि ब्राह्मण-वृत्ति समाज में सबके लिए अधिक हितकर और वाञ्छनीय है तो हमारा उद्योग इसी दिशा में होना चाहिए कि समाज में सात्विक जीवन की प्रचुरता हो, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय सब प्रकार की वृत्ति वालों पर हम ब्राह्मण-वृत्ति के संस्कार डालें—उन्हें ब्राह्मणत्व की ओर ही खींचने में हम अपनी शक्ति लगावें, फिर जो पिछड़ रहेंगे वे अपनी सुध आप ले लेंगे। मित्र का कहना था कि वे पिछड़े हुए कहीं के न रहेंगे—ब्राह्मण तो बनगे नहीं पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी न रह जायंगे; इसलिए जहाँ हम ब्राह्मणत्व का प्रचार करें, वहाँ क्षत्रियत्व आदि का भी पोषण करें। हमें *व्यावहारिक* बनना चाहिए और समाज की हर तरह की आवश्यकता को ध्यान में रखकर

तदनुकूल वृत्तियों का विकास करना चाहिए। जो क्षत्रिय ब्राह्मण होने के योग्य नहीं है उसे हमें उत्तम क्षत्रिय बनाना चाहिए, आदि। मेरा मत यह है कि क्षत्रिय आदि ब्राह्मण न भी बन सकें तो भी वे अपनी असली हालत से ज़रूर आगे बढ़ जायँगे। अच्छे भावों और सत्कारों का असर बुरा नहीं हो सकता और उससे मनुष्य का पतन तो हो ही नहीं सकता। समाज की आवश्यकता का निर्णय हम वर्तमान समाज को देखकर न करें; भावी श्रेष्ठ समाज को ध्यान में रखकर करें, और यदि ऐसा करते हैं तो इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि समाज के लिए वही चीज़ आवश्यक है, जो उसके लिए हितकर और श्रेष्ठ है — और सात्विक वृत्ति से राजस या तामस वृत्ति श्रेष्ठ और हितकर है, यह कोई दावे के साथ नहीं कह सकता। उत्तम क्षत्रिय सच्चे अर्थ में कनिष्ठ ब्राह्मण के निकट जा पहुँचेगा। क्षत्रियत्व के विकास के दो मानी हो सकते हैं; एक तो ब्राह्मणत्व की अर्थात् सात्विकता की ओर, दूसरा तमोगुण आसुरी वृत्ति की ओर। पहली बात क्षत्रियत्व का उत्कर्ष कही जायगी और दूसरा अपकर्ष या पतन। यदि क्षत्रिय के पोषण का यह अर्थ हो कि वह मांस आदि का सेवन करके अपने शरीर को लोहे की तरह बनाता हुआ रक्षण या आक्रमण में मारकाट करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करे तो यह तमोगुण का उत्कर्ष हुआ, न कि रजोगुण का। रजोगुण का उत्कर्ष सतोगुण का आरम्भ है। क्षात्रवृत्ति या वैश्यवृत्ति का लोप होकर यदि सारे समाज में ब्राह्मणवृत्ति का उत्कर्ष हो तो इसमें बुराई क्या है? वह समाज आज का समाज न रहेगा तो इसमें हानि? इस बात को भूल जाइए कि ऐसा हो सकेगा या नहीं, यही देखिए कि ऐसा होने में बुराई क्या है? अतएव जो लोग ब्राह्मणत्व के संस्कारों को ग्रहण करने योग्य न हों उनपर अपने मौजूदा वर्गों के संस्कार ही दृढ़ करते रहने से तो वे आगे न बढ़ सकेंगे। अतएव उनकी शिक्षा की व्यवस्था हमें इसी तरह करनी होगी, जिससे वे यदि क्षत्रिय हैं तो शीघ्र ब्राह्मण बन जायँ और यदि शीघ्र नहीं बन सकते हैं तो धीरे-धीरे बनें; पर उनके क्षत्रियत्व का पोषण इस तरह न होना चाहिए, जो तमोगुण की ओर उन्हें ले जाकर उनका पतन करे, बल्कि इस तरह होना चाहिए जो सतोगुण की ओर ले जाकर उनका उत्कर्ष करे। यदि यह विचार ठीक है तो वह क्षत्रिय मांस-मदिरा का सेवन दिन-दिन कम करेगा, शरीर की अपेक्षा मानसिक और आत्मिक बल की प्राप्ति और उन्नति के लिए दिन-दिन अधिक ध्यान देगा, भोग की अपेक्षा त्याग की तरफ़ उसकी रुचि अधिकाधिक होगी; दूसरे शब्दों में वह ब्राह्मण के निकट आता जायगा।

मेरे मित्र को इन दलीलों से सन्तोष तो न हुआ, शरीर-बल और क्षत्रियत्व आदि के लोप की कल्पना उन्हें असह्य मालूम हुई, पर मेरा दृढ़ मत है कि यदि सात्विकता या ब्राह्मण वृत्ति सबसे अच्छी चीज़ है तो समाज को वही चीज़ हमें देनी चाहिए, उसी का उत्कर्ष करना चाहिए, और उसके फलस्वरूप दूसरी कनिष्ठ वृत्तियों के लोप से न घबराकर हमें भविष्य पर ध्यान देने और उसके साँचे में वर्तमान को ढालने का उद्योग करते रहना चाहिए। एवं समाज के वर्तमान वर्गों की वर्तमान वृत्तियों को 'पुष्ट' करने के बजाय उनके 'उत्कर्ष' में अपनी शक्ति लगानी चाहिए तभी हम समाज को आगे बढ़ा सकते हैं।

ब्राह्मण-अब्राह्मण

मद्रास की ओर ब्राह्मण-अब्राह्मण-प्रश्न वर्षों से बड़ा तीव्र है। इसका कारण यह है कि वहाँ के ब्राह्मण अपनेको बहुत श्रेष्ठ मानते हैं और अब्राह्मणों को अपनेसे हीन। छुआछूत का भाव भी वहाँ इतना प्रबल है कि दूसरी जाति के लोग ब्राह्मणों से बहुत चिढ़ते हैं। वे कहते हैं, इन ब्राह्मणों ने ही आजतक हमको दबा और गिरा रक्खा है। खुद बड़े बन गये और हमें छोटा-का-छोटा ही बनाये रक्खा। उत्तर भारत में यह विवाद नहीं है, परन्तु यह भाव अवश्य पाया जाता है कि ब्राह्मणों ने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया, जिससे वे स्वयं भी गिर गये और सारा हिन्दू-समाज भी गिर गया। कोई माने या न माने, पर मेरी राय में इन आक्षेपों में और आक्रमणों में इतना सार, इतनी सचाई अवश्य है कि काल पाकर ब्राह्मण सच्चे ब्राह्मण न रहे और फलतः दूसरे वर्ण के लोग भी अपने-अपने वर्णों के सच्चे प्रतिनिधि नहीं रहे। एक समय अवश्य

था, जब ब्राह्मण समाज में बढ़े, समाज के नेता माने जाते थे। समाज की उन्नति का दारोमदार उनपर था। पर आज यदि सारा ब्राह्मण और हिन्दू-समाज निर्बल और हत-तेज और पराधीन हो गया है तो हम ब्राह्मण इसकी जिम्मेदारी से किसी तरह नहीं बच सकते। हमें बड़े दुःख परन्तु नम्रता के साथ इस सच्चाई को स्वीकार कर लेना चाहिए और इसके प्रायश्चित्त के लिए कमर कस लेना चाहिए जिससे कि हम ब्राह्मण फिर से सच्चे ब्राह्मण बनें और सारे समाज को ब्राह्मण बनावें। आज ब्राह्मणों में ज्ञान चाहे रह गया हो, पर तप उनके जीवन से निकल गया है। ग्रन्थ अथवा गुरु द्वारा उनके आँखों और कानों में ज्ञान के संस्कार पहुँचे हैं और उनकी बुद्धि ने उनको थोड़ा-बहुत अपना लिया है, परन्तु उनके जीवन में वह ज्ञान एकरस नहीं हो पाया है। तपस्या की आँच में शुद्ध होकर वह ज्ञान सिद्ध नहीं हुआ है। उन्होंने जान तो रक्खा है कि धर्म, ज्ञान अथवा कर्तव्य ऊँची चीज है; परन्तु उनका यह बुद्धिगत ज्ञान उनके जीवन से सैकड़ों मील दूर जा पड़ा है। जो वे समझते और कहते हैं उसके अनुकूल उनका आचरण नहीं है। ज्ञानानुसार कर्म का ही नाम है तप। इससे आज ब्राह्मण-समाज हीन हो गया है। इतना ही नहीं, मिथ्याभिमान के भूत ने उनको बुरी तरह पछाड़ रक्खा है। पूर्वजों के पुण्य के कारण दूसरे वर्ण के लोग आज भी उनके ब्राह्मण-शरीर का आदर करते हैं, पूजनीय मानते हैं। चाहे रसोई पकाते हों, धोती धोते हों, पानी भरते हों, पर 'पालागों पण्डितजी' सुनकर वे फूल उठते हैं और यदि कोई इस परिपाटी का पालन न करे तो पण्डित-जी बिगड़ उठते हैं और समझते हैं कि उनके ब्राह्मणत्व का घोर अपमान हो गया एवं उस व्यक्ति ने उनका अक्षम्य अपराध किया है। मेरी राय में यह वृत्ति ब्राह्मणोचित नहीं। ब्राह्मण स्वयं बड़ा कहलाने के लिए, दूसरों को छोटा रखने के लिए, बड़ा नहीं बना था, ब्राह्मण स्वयं उठा हुआ था और दूसरों को ऊँचा उठाता था, इसलिए बड़ा था। जो लोग स्वयं इस मिथ्याभिमान में फँसे हुए हैं वे अब भी अपना और समाज का पतन कर रहे हैं और जो लोग केवल परिपाटी का पालन करने के लिए, अयोग्य रहते हुए भी, ब्राह्मण को केवल शब्दों द्वारा बड़ा मानकर उनके मिथ्याभिमान का पोषण करते हैं वे भी उनकी और समाज की महा-हानि करते हैं। मुझे एक धनी मित्र ने पूज्य शब्द से सम्बोधित किया। मैंने इसपर एतराज किया तो अनेक कारणों में उन्होंने एक कारण यह बताया कि आप ब्राह्मण हैं इसलिए हमारे पूजनीय हैं। मैंने तुरन्त बताया कि ब्राह्मण होने के कारण मेरा पूजनीय कहलाना मुझे कभी पसंद नहीं हो सकता। इस मिथ्या बड़प्पन ने हम ब्राह्मणों को भी गिराया है और आप लोगों को भी। ब्राह्मणों ने पिछले समय में इन दूसरे वर्णों की कुछ भी सेवा की है तो उसका बदला चुकाने के लिए भी आप कम से कम उनके मिथ्याभिमान का पोषण न करें। मुझमें यदि ब्राह्मणत्व का कुछ भी अंश हो तो ही आप मुझे बड़ा समझ सकते हैं, सो भी उसी अंश तक। मनुष्य बड़ा अपने गुणों के कारण ही सकता है। फिर कोई बड़ा तभी तक है, जबतक दूसरों की सेवा उसके द्वारा होती हो और लोग उस सेवा को चाहते और मानते हों। हमने स्वयं अपने को बड़ा समझ लिया तो उसी क्षण हमारा पतन समझिए। बड़प्पन कोई अधिकार नहीं है; हमारी सेवा की स्वीकृति का चिन्ह-मात्र है। ब्राह्मण जबतक यह नहीं समझता कि समाज में जहाँ भी कहीं दुःख, दारिद्रता, और पराधीनता है वहाँ सेवा और सहायता के लिए दौड़ पड़ना हमारा कर्त्तव्य है, जो गिरे हुए या पिछड़े हुए हैं उनको जगाना और उठाना, और हो सके तो अपने से भी बड़ा बनने और ऊँचा उठने का अवसर दे देना मेरा धर्म है, तबतक वह सच्चा ब्राह्मण नहीं है। केवल जनेऊ पहनकर, तिलक लगाकर, ब्राह्मण बने रहकर हमने ब्राह्मणत्व को बहुत सस्ता बना दिया है और इसलिए दूसरे वर्ण के लोग भी इस सस्ते ब्राह्मणपन के लिए ललचाते रहते हैं। एक वैश्य मित्र ने मुझसे राय माँगी कि मैं 'यज्ञोपवीत धारण कर लूँ तो इसमें आपका क्या मत है?' मैंने उत्तर दिया, 'भाई! मेरा जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ है, कर्म भी मेरे ब्राह्मणधर्म के विपरीत नहीं हैं। फिर भी मेरा यह यज्ञोपवीत मुझे भार-रूप मालूम होता है; क्योंकि मैं मानता हूँ कि इस यज्ञोपवीत को धारण करने के योग्य बलतेज मुझमें नहीं है। आपको भी यज्ञोपवीत धारण

करने का अधिकार तो है, पर केवल छूने से न तो आप सच्चे वैश्य ही बन सकते हैं, न ब्राह्मण ही। यदि आपके अन्दर वह गुण और तेज है तो बिना यज्ञोपवीत के भी बड़े-बड़े ब्राह्मण आपके चरणों पर सिर झुकायँगे और यदि वह नहीं है तो यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मण भी रोटी पकायँगे, धोती धोयेंगे और पानी भरेंगे। ठलुवे रहकर भीख माँगने केवल पेट भरने के लिए पोथा-पत्रा बाँचकर लोगों को उलट-पुलट ज्ञान बताने से तो शारीरिक श्रम कर अपने पसीने की रोटी खानेवाले लाख दर्जे अच्छे हैं। परन्तु आज जो लोग उनको 'पालागी पण्डितजी' कहकर उनका आदर करते हैं वह इसलिए नहीं कि वे अपने पसीने की रोटी खाते हैं, बल्कि इसलिए कि उनके पूर्वज ब्राह्मण थे और ब्राह्मणों को 'पालागन' करने की परिपाटी चली आ रही है और इसे मैं दोनों पक्ष वालों के लिए हानिकर और पतनकारी मानता हूँ।

अब अपने अब्राह्मण कहलाने वाले भाइयों के लिए भी दो शब्द कह देना चाहता हूँ। वे ब्राह्मणों को कोसकर, उन्हें गालियाँ देकर, उनको जगाने का श्रेय तो अवश्य प्राप्त कर सकेंगे; परन्तु वे स्वयं कितना उठ और चढ़ सकेंगे, इसमें मुझे सन्देह है। शायद ब्राह्मणों को वे दुराग्रही बनने का भी अवसर दें। अब जब कि कितने ही ब्राह्मण यह समझने लगे हैं कि हमने अपने कर्त्तव्य में भूल की है, और वे उसके सुधार का उद्योग करने लगे हैं, तब अपनी उन्नति में उनका सहयोग प्राप्त करने का उपाय यह नहीं है कि उन्हें धिक्कारा जाय। यदि ब्राह्मणों का पतन हुआ है तो वह अब्राह्मणों के लिए भी कम दुःख की बात नहीं है; क्योंकि आखिर ब्राह्मण उन्हीं के हैं, उन्हींमें से हैं, वे कहीं आसमान से नहीं टपक आये। वे ब्राह्मणों के गुण और तेज अपने में लाने का सतत उद्योग अवश्य करें। अब्राह्मण इसमें उनके पूर्ण सहायक होंगे। पर वे इस भ्रम को हृदय में स्थान न दें कि ब्राह्मणों को गिराने से हम ऊँचे चढ़ जायँगे। ऊँचे दीखने भले ही लगें, पर ऊँचे चढ़ नहीं सकते। ऊँचे तो तभी उठेंगे, जब स्वयं ऊँचा उठने का प्रयत्न करेंगे और आवश्यकतानुसार दूसरे की भी सहायता लेंगे।

देहात की दीनता

(१)

यों तो मेरा जन्म देहात में ही हुआ है, लड़कपन देहात में ही बीता है; अब तक कई बार देहात में जाने का अवसर भी मिला है परन्तु इस बार देहात की दीनता ने जो गहरा असर मेरे दिल पर डाला, उसका अनुभव इससे पहले कभी नहीं हुआ था। बिजोलिया की बात है। वहां कई किसानों ने लगान-वृद्धि के सिलसिले में अपनी जमीन (माल) का इस्तीफा दे रक्खा है और उसके लिए राज से उनका झगड़ा शुरू है। उनकी एक पंचायत भी है। जिसके द्वारा वे अपने संगठन एवं सुधार का काम कर रहे हैं। इस बार उन्होंने मुझे वहाँ की स्थिति समझने को बुलाया था और उनकी स्थिति को देखने, उनके प्रश्न को समझने, और भरसक उन की सहायता करने के विचार से मैं बिजोलिया गया हुआ था। राजवालों का कहना है कि बंदोबस्त में लगान तो पहले से उलटा घट गया। किसानों का कहना है कि हम इतने लगान का भी बोझ नहीं सह सकते। मुझे किसानों की आर्थिक अवस्था, जमीन की पैदावार और खर्च की तफ़सील जाननी थी, अपनी आँखों उनके जीवन के कई दृश्यों को देखकर उनकी स्थिति के बारे में अपनी राय क़ायम करनी थी। मैं ४६ घरों के एक खेड़े (गाँव) में ठहरा हुआ था। सुबह शौच होकर जंगल से गाँव की ओर आ रहा था कि एक घर में से एक ३०-३५ बरस का आदमी निकला। जाड़ा इतना तेज़ था कि मैं अपना कोट डाटकर, टोपा चढ़ाकर, घर से बाहर निकला था। पर मैं ने देखा कि उस आदमी के बदन पर सिर्फ तीन कपड़े थे। कमर में एक फटी धोती जो घुटने के ऊपर ही रह जाती थी। उसमें छोटे-बड़े कई छेद थे और हवा अन्दर घुसकर उसका धोती पहनना—न पहनना बराबर कर देती थी। ऊपर बदन के वह एक मैला फटा पछेवड़ा (चादर) ओढ़े था जो कि सर्दी को रोकने के बजाय अपने अनेक छिद्रों से उसे बढ़ा ही रहा था। सिर पर एक पूरी पगड़ी के दस-पाँच आँटे इस तरह दिये थे कि ऊपर की सारी खोपड़ी खुली थी। उसके सिर को या मन को धोखा-भर था कि वह पगड़ी पहने है। नज़दीक से मैंने देखा कि वह आधे

…ठिकाने का है। घर से खेत की ओर जा रहा था। मैंने उससे पूछा, तुम्हारे कै बीघा ज़मीन है ? उसने कहा कि मेरी अपनी ज़मीन तो डेढ़ बीघा है और किसानों की माफ़ी दी हुई ज़मीन में से ४-५ बीघा राज वालों ने अमन मुझसे छुड़ाई है। दो-तीन प्राणी उसके घर में हैं और सिर पर कर्ज़ इतना है कि इस ज़िन्दगी में वह शायद ही सबका सब चुका सके। जब मैंने यह सब सुना तो इस दृश्य को देखकर मेरे दिल पर ऐसी चोट पहुँची कि जिसका वर्णन लेखनी की शक्ति के बाहर है। मुझे अपने कोट और टोपे पर शर्म और ग्लानि आने लगी राज वालों पर भी मन में रोष उत्पन्न हुआ, जिन्होंने आस-पास के इलाक़े से ज़्यादा लगान बिजोलिया में लगाया है और जो किसानों के विरोध और इस्तीफ़े के बाद भी लगान को कम ही समझते हैं। मेरा खयाल धनी, रईस सरदार, ठिकानेदार, राजा-महाराजा और अधिकारियों के ऐश्वर्य, भोग-विलास और फ़जूलखर्चियों की तरफ़ भी गया और मन में यह प्रश्न उठा कि यदि लोग कभी-कभी देहात में जाकर ऐसे करुण दृश्य देखें तो क्या देहात की यह मूर्तिमती दीनता उनको अपनी मूर्च्छा से कुछ भी जागृत न कर सकेगी ? अन्तर की आशा और श्रद्धा ने कहा—"अवश्य"। व्यावहारिक अनुभव इसपर मुँह बनाकर हँसने लगा। अस्तु।

(२)

इसी अवसर पर एक दूसरी जगह सुनी करुण-कथा याद आ रही है। जयपुर राज्य का ज़िक्र है। अमरसर, बांसा आदि अपने खादी-केन्द्रों में मैं घूम रहा था। एक साथी कार्यकर्ता से देश की दरिद्रता की बातें हो रही थीं। उन्हीं दिनों महात्माजी ने 'नवजीवन' में उड़ीसा की दीनता का एक दया-जनक दृश्य छापा था। एक मित्र ने पुर (जगन्नाथ) में केले लेकर खाये। उनके छिलके उठाकर भिखमंगे लोग खाने लगे, यह दृश्य करुण-भाषा में 'नवजीवन' में छपा था। प्रसंगवश मैंने इसका भी ज़िक्र साथियों से किया। एक ने दुःखित होकर कहा—हमारी दरिद्रता और दीनता का अन्त यहीं नहीं हो जाता है। उड़ीसा क्यों जाते हैं, आप अपने घर राजपूताना को ही लीजिए, सुनकर आपका सिर चकर खाने लगेगा। मैंने अपनी आँखों देखा है कि यहाँ कई गरीब लोग गोबर में से अनाज बीन-बीनकर ले जाते हैं और खाते हैं। सुनकर मैं अवाक् रह गया। मैंने समझा, ये मज़ाक कर रहे हैं। मैंने कहा, यह कैसे ? उन्होंने कहा—"सुनिए। एक रोज़ मैं दूसरे गाँव जा रहा था। रास्ते में मैंने देखा कि एक शख़्स बालू में से कुछ चुन रहा है। मुझे आश्चर्य हुआ कि यहाँ यह क्या चीज़ चुन रहा होगा ? नज़दीक जाकर मैंने पूछा, 'बुड्ढे ! यह क्या कर रहे हो ?' गोबर में से जौ का दाना उठाते हुए उसने कहा 'महाराज, इसमें से अनाज चुन रहा हूँ।' मैंने कुछ खेद और कुछ हँसी के साथ कहा—'अरे पागल, गोबर में अनाज कहाँ से आ गया ?' उसने दीन-भाव से कहा, 'महाराज ! सो तो आप देखही रहे हो। खलिहान में बैल बहुतेरा अनाज खा जाते हैं। वह सारा उन्हें पचता नहीं और उसे हम इस तरह गोबर में से बीन-बीनकर ले जाते हैं। मैंने पूछा, 'तो यह अनाज तुम्हारे किस काम आता है ?' उसने कहा, 'कई लोग इसको माड़ी बना लेते हैं और कई लोग खाते भी हैं।' तब तो मेरे आश्चर्य और दुःख की सीमा न रही।" जिस देश की जनता में दरिद्रता और दीनता इतनी छाई हुई हो, वहाँ लोग क्योंकर सुख-चैन से रहना गवारा कर सकते हैं ? मैंने ठंडी साँस ली और मिनटों तक शून्य आँखों से दोनों मित्रों को देखता रहा। भावों की उत्कटता और विह्वलता ने मुँह पर ताला लगा दिया था और आँखों की क्षीण ज्योति सहायता के लिए मानों शून्य में भटक रही थी। देश के इन दरिद्र-नारायणों के जीवन में अपना जीवन ओत-प्रोत न कर पाने की अपनी असहाय अवस्था, उदासीनता और विषाद बन कर चेहरे को मुरझा रही थी। अन्तर से करुण गान निकल रहा था—

"बिन काज आज महाराज लाज गई मेरी।
दुःख हरो द्वारिकानाथ शरण मैं तेरी॥"

एक समझौता

आर्य-समाजी अपनेको वैदिक धर्मानुयायी कहते हैं, सनातनधर्मी अपने को सनातनधर्मी। आज-कल आर्य-समाजी अपनेको सत्य-सनातनधर्मी के नाम से पुकारते हैं। कुछ 'आर्य-धर्म' शब्द का भी प्रयोग करते हैं। एक बार

आर्यसमाजी मित्रों में बातचीत चल पड़ी तो मैंने सुझाया कि धर्म के नाम के बारे में आर्यसमाजी और सनातनधर्मी बड़ी अच्छी तरह समझौता कर सकते हैं। वेद तो दोनों को मान्य हैं। वेद-प्रतिपादित धर्म से दोनों इंकार नहीं करते, और दोनों मानते हैं कि वेद सनातन हैं। सनातन-धर्म का अर्थ भी यही है कि वह धर्म कि जिसका जन्म मानव-जाति के साथ में हुआ है और जो मानव-जाति के अन्त तक क़ायम रहेगा। समय और स्थिति के अनुसार उसकी शाखा प्रशाखायें कट-छँट सकती हैं, उसके बाहरी रूप में सुधार और परिवर्तन हो सकता है; परन्तु उसका अन्तर, उसका प्राण, उसका सार-रूप पिण्ड वही रहेगा-उसके मूलभूत सिद्धान्त वही रहेंगे। सनातनधर्मी और आर्य-समाजी के धर्मतत्वों में कोई खास भेद नहीं है, जो है, वह उस-की शाखा-प्रशाखा अथवा बाहरी रूप में है। ऐसी दशा में यदि आर्यसमाजी भी अपने धर्म को सनातनधर्म कहें तो कोई हानि नहीं, उल्टा अधिक उचित है। जो धर्म सदा टिकता है, जो धर्म सतत रहता है, जो धर्म निरन्तर विद्यमान है, वही सनातनधर्म है। हाँ जाति अलबत्ते हमारी आर्य कही जा सकती है। और मैं समझता हूं कि प्राचीन काल की तरह हिन्दू मात्र अपनेको आर्य-जाति कहलाना पसन्द कर सकेंगे—फिर वे किसी सम्प्रदाय और मत के अनुयायी हों। आर्य-जाति की जगह हिन्दू-जाति शब्द इतना प्रचलित हो गया है कि उसका मूलार्थ अच्छा न रहते भी उसकी जगह आर्य शब्द का प्रचार करना कठिन होगा; परन्तु मुझे उचित और युक्तिसंगत तो यही मालूम होता है कि धर्म का नाम आते ही हिन्दू-मात्र अपनेको सनातनधर्मी कह उठें और जाति का प्रश्न उठते ही हम अपने को आर्य-जाति कहदें। आर्य शब्द गुणवाचक है। जिनका जीवन श्रेष्ठ है, उच्च है, वे आर्य है। अतएव प्राचीन समय में जो अनार्य कहलाते थे वे भी अपने गुणों की श्रेष्ठता और जीवन की उच्चता को बढ़ाकर अपने आप आर्य कहला सकते हैं। आर्य शब्द अभिमान का सूचक या वर्द्धक नहीं है; वह सबको अपनी श्रेष्ठता और उच्चता बढ़ाने के लिए आवाहन करता है। कुछ आर्यसमाजी भाइयों को तो ये विचार पसन्द आये हैं और सनातनधर्मी कहलाने वालों को तो इसमें कोई आपत्ति हो नहीं हो सकती। यद्यपि यह नाम की चर्चा अब व विशेष महत्व तो नहीं रखती है, तथापि यह एक ऐसा सं झौता जरूर है, जिसपर दोनों, जो आज एक दूसरे दूर पड़ गये हैं, निकट आ सकते हैं। आशा है, पाठक इ पर विचार करेंगे। ह० उ०



चित्र-दर्शन

वसन्त में ग्रीष्म! हां, अब ऋतुगणना में संशो करने की जरूरत है। अभी-अभी तक हमें कठोर शीत स रही थी। पर अब सूर्य की रश्मियाँ इतनी कठोर .. रही हैं कि इस मरु-भूमि में वसन्तागम में ही ग्रीष्म का अनुभव हो रहा है। बड़े-बड़े वृक्षों का यहाँ नाम भी न है, जिनकी छाया में बैठकर दोपहर में पशु दो घ विश्रान्ति कर सकें। जंगल में अगर हैं तो यही छोटे-छ पौधों की रूखी-सी झाड़ियाँ, जो सिवा बकरियों के ... किसी जानवर के काम की नहीं। यह चंचल प्राणि बक सुबह से कभी यहाँ कभी वहाँ मुँह मारती हुई आई, इ गड्ढे में भरा निर्मल जल इसने पिया, और अब वि‍श्र करने के लिए यहाँ लेटी हुई है। खेतों की हरियाली तो इ शीत में ही जल गई थी। अब बीच में कहीं नजर न सकती। यह जलती हुई भूमि खतम होकर आकाश क खतम हो रहा है, यह कहीं पता नहीं चलता। मानों प्रकाश और रूक्षता का सागर हमारी आँखों के सामने लह रहा है इस झाड़ी की डालियों के बीच से छन-छनकर आनेवा ठण्डी वायु इन दोनों प्राणियों की विश्रान्ति को और अधिक सुखदायिनी बना रही है। अपने स्मृति-पटल अंकित इस चित्र को देखकर हमारे मूक मित्रों से सि सहानुभूति न होगी!

बे० र
